चरकसंहिता

महर्षिणा भगवताग्निवेशेन प्रणीता

महामुनिना चरकेण प्रतिसंस्कृता

आयुर्वेदाचार्य श्रीजयदेव विद्यालङ्कारेण प्रणीतया
तन्त्रार्थदीपिकाख्यया हिन्दीव्याख्यया टिप्पण्या च समन्विता ।

(मध्यो: भाग:)

लवपुरीयपञ्जाबसंस्कृतपुस्तकालयाध्यक्षवर्यैः

मोतीलाल बनारसीदास

इत्येतैः स्वीये "मुम्बई संस्कृत" इत्याख्ये मुद्रणालये
सम्मुद्रय प्रकाशिता

संवत् १९९२ ५॥) रु०

प्रकाशक—
सुन्दरलाल जैन
पंजाब संस्कृत पुस्तकालय
सैदमिठ्ठा बाज़ार लाहौर

मुद्रक—
शान्तिलाल जैन
मैनेजर 'बम्बई संस्कृत प्रेस'
सैदमिठ्ठा बाज़ार लाहौर

विषयानुक्रमणिका ।

इति शारीरस्थानस्य विषयानुक्रमणिका ॥

विषयानुक्रमणिका ।

॥ इतीन्द्रियस्थानस्यविषयानुक्रमणिका ॥

चिकित्सास्थानस्य पञ्चदशाध्यायान्तर्गत-

विषयानुक्रमणिका

चिकित्सास्थान

प्रथमाध्याय

१ अभयामलकीय रसायनपाद

इय

ज्ञा

औ

ष्ठा

सव

न्थ

भ

भे

शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः कतिधापुरुषीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

चिकित्सा में शास्त्र के अधिष्ठानभूत पुरुष का जानना अत्यावश्यक है। जब तक हम को रोग वा आरोग्य के आश्रय पुरुष का ज्ञान नहीं हम आयुर्वेद के प्रयोजन अर्थात् स्वस्थ के स्वास्थ्य की रक्षा और रोगी के रोग की निवृत्ति में समर्थ नहीं हो सकते। अतएव अधिष्ठान के ज्ञान के लिये शारीरस्थान का उपदेश किया जाता है। सब से पूर्व पुरुष के सर्वथा ज्ञान के लिये कतिधापुरुषीय अध्याय की व्याख्या होगी।

अब हम कतिधापुरुषीय नामक शारीर की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

अग्निवेश उवाच—

कतिधा पुरुषो धीमन् धातुभेदेन भिद्यते ।
पुरुषः कारणं कस्मात् प्रभवः पुरुषस्य कः ॥ २ ॥

अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से पूछा—हे बुद्धिमन्! १ धातुभेद से पुरुष कितने प्रकार का है?

२—किस हेतु से पुरुष को कारण कहा जाता है?

३—पुरुष का उत्पत्तिस्थान वा उत्पत्तिकारण कौन है? ॥२॥

किमज्ञो ज्ञः स नित्यः किं किमनित्यो निदर्शितः ।
प्रकृतिः का विकाराः के किं लिङ्गं पुरुषस्य च ॥ ३ ॥

४—वह पुरुष क्या अज्ञ (ज्ञानरहित) है अथवा ज्ञानी है?

५—वह क्या नित्य है अथवा अनित्य बताया गया है ?

६—प्रकृति क्या है ?

७—विकार कौन हैं ?

८—पुरुष के क्या लिङ्ग हैं ? जिससे वह अनुमान द्वारा जाना जाता है ॥ ३ ॥

निष्क्रियं च स्वतन्त्रं च वशिनं सर्वगं विभुम् ।
वदन्त्यात्मानमात्मज्ञाः क्षेत्रज्ञं साक्षिणं तथा ॥ ४ ॥

आत्मज्ञानी लोग आत्मा को क्रियारहित स्वतन्त्र वशी (सब भूत भौतिक पदार्थों को वश में रखने वाला) सर्वगत, विभु (सर्वव्यापक) क्षेत्रज्ञ तथा साक्षी बताते हैं । 'तथा' से यहां निर्विकार का भी ग्रहण करना चाहिये ॥ ४ ॥

निष्क्रियस्य क्रिया तस्य भगवन् विद्यते कथम् ।
स्वतन्त्रश्चेदनिष्टासु कथं योनिषु जायते ॥ ५ ॥

९—हे भगवन् उस निष्क्रिय आत्मा की क्रिया किस प्रकार होती है ?

१०—यदि वह स्वतन्त्र है तो अनिष्ट--अप्रिय योनियों में वह किस प्रकार उत्पन्न होता है ? अर्थात् यदि वह स्वाधीन है तो वह क्यों कीड़े मकौड़े आदि बुरी योनियों में जाय । क्योंकि कोई भी अपनी इच्छा से अप्रियस्थान पर जाना नहीं चाहता ॥ ५ ॥

वशी यद्यसुखैः कस्माद्भावैराक्रम्यते बलात् ।
सर्वाः सर्वगतत्वाच्च वेदनाः किं न वेत्ति सः ॥ ६ ॥

११—यदि वशी है तो वह बलात् दुःखकर भावों से क्यों आक्रान्त होता है ? अर्थात् यदि वह सब को वश में रखने वाला है (यस्य सर्वमिदं वशे) तो दुःखकर भावों से उसके आक्रान्त होने में क्या हेतु समझते हैं ।

१२—आत्मा सर्वगत है तो सर्वगत होने से सब वेदनाओं को क्यों नहीं जानता ? ॥ ६ ॥

न पश्यति विभुः कस्माच्छैलकुड्यतिरस्कृतम् ।

१३–विभु आत्मा पर्वत वा दीवार आदि के पीछे छिपी वस्तु को क्यों नहीं देख पाता ? आत्मा यदि सर्वत्र व्यापक है उसमें व्यवधान नहीं हो सकता उसे सर्वत्र सब पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये ।

क्षेत्रज्ञः क्षेत्रमथवा किं पूर्वमिति संशयः ॥ ७ ॥
ज्ञेयं क्षेत्रं विना पूर्वं क्षेत्रज्ञो हि न युज्यते ।
क्षेत्रं च यदि पूर्वं स्यात्क्षेत्रज्ञः स्यादशाश्वतः ॥ ८ ॥

यदि आत्मा क्षेत्रज्ञ है तो यह संशय होता है कि—

१४ क्या क्षेत्रज्ञ पूर्व होगा वा क्षेत्र पूर्व है ?

यदि क्षेत्रज्ञ पूर्व माने तो वह हमारी समझ में नहीं आता । क्योंकि ज्ञेय है क्षेत्र । जब ज्ञेय ही नहीं तो ज्ञाता कहां से । अतएव क्षेत्रज्ञ का पूर्व होना युक्तिसंगत नहीं । यदि हम क्षेत्र को पूर्व माने तो आत्मा को अशाश्वत—अनित्य मानना होगा । क्योंकि क्षेत्र के बाद आत्मा उत्पन्न हुआ ॥ ७–८ ॥

साक्षिभूतश्च कस्यायं कर्ता ह्यन्यो न विद्यते ।
स्यात्कथं चाविकारस्य विशेषो वेदनाकृतः ॥ ९ ॥

१५–जब आत्मा के अतिरिक्त अन्य कर्ता ही नहीं है तो यह साक्षी किसका है ? एक व्यक्ति कर्म करता है और दूसरा उसको देखता है वह देखने वाला व्यक्ति साक्षी कहाता है, परन्तु जब कोई अन्य कर्ता ही नहीं तो हम आत्मा को साक्षी कैसे स्वीकार करें ।

१६–आत्मा को निर्विकार व विकाररहित कहा जाता है अर्थात् उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता । यदि वह निर्विकार है तो वेदनाजन्य भिन्नता उसमें कैसे होती है ? अर्थात् सुख दुःख आदि से उसमें भिन्नता क्योंकर होती है ॥ ९ ॥

अथ चार्तस्य भगवंस्तिसृणां कां चिकित्सति ।
अतीतां वेदनां वैद्यो वर्तमानां भविष्यतीम् ॥ १० ॥

भविष्यन्त्या असम्प्राप्तिरतीताया अनागमः ।
सांप्रतिक्या अपि स्थानं नास्त्यर्तेः संशयो ह्यतः ॥ ११ ॥

१७, १८, १९—हे भगवन् ! भूत वर्तमान वा भविष्यत् इन तीन प्रकार की वेदनाओं (रोगों) में से वैद्य रोगी के किस रोग की चिकित्सा करता है ?

भविष्यत् वेदना की चिकित्सा तो वह कर ही नहीं सकता क्यों कि वह तो अभी तक पहुंची ही नहीं । जो भूत वेदना है वह वापिस नहीं आ सकती । जो वर्तमान पीड़ा है वह भी स्थिर नहीं क्योंकि सब भावों का स्वभाव नित्य गमन करने का है ! काल भी नित्यग है। जब सम्वत्सरात्मक काल और आतुरावस्था रूपी काल नित्यग हैं तो रोग की चिकित्सा नहीं हो सकती। क्योंकि ज्यों ही हम रोगी की वेदना का विचार करेंगे वैसे ही नयी अवस्था आ पहुंचेगी और इस प्रकार चिकित्सा असम्भव होगी । अतएव हमको यह संशय होता है कि वैद्य किस वेदना की चिकित्सा करता है ॥ १०—११ ॥

कारणं वेदनानां किं किमाधिष्ठानमुच्यते ।
क चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः ॥ १२ ॥

२०—वेदनाओं का क्या कारण है ?

२१—उनका अधिष्ठान (आश्रय) क्या है ?

२२—और ये सब वेदनायें सम्पूर्णतया कहां निवृत्त होती हैं ? ॥१२

सर्ववित्सर्वसंन्यासी सर्वसंयोगनिःसृतः ।
एकः प्रशान्तो भूतात्मा कैर्लिङ्गैरुपलभ्यते ॥ १३ ॥

२३—सर्वज्ञ सर्वत्यागी सब संयोगों से हटा हुआ प्रशान्त भूतात्मा को किन लिङ्गों (लक्षणों) से हम जान सकते हैं ? ॥१३॥

इत्यग्निवेशस्य वचः श्रुत्वा मतिमतां वरः ।
सर्वं यथावत्प्रोवाच प्रशान्तात्मा पुनर्वसुः ॥ १४ ॥

अग्निवेश के इस वचन को सुनकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ शान्तात्मा भग-

वान् पुनर्वसु ने सब यथावत् कहा ॥ १४ ॥

खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः ।
चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः ॥ १५ ॥
पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ।
मनो दशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी ॥ १६ ॥

प्रथम प्रश्न—धातुभेद से पुरुष कितने प्रकार का है—का उत्तर-धातुभेद से पुरुष तीन प्रकार का है। धारण करने से धातु कहा जाता है। यहां 'धातु' से रस रक्त आदि का ग्रहण नहीं है। १ षड्धातुपुरुष २ एकधातुपुरुष ३ चौबीसधातु पुरुष।

षड्धातु पुरुष—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी; ये पांच महाभूत तथा छठा चेतनाधातु (आत्मा); इन छह धातुओं के समुदाय को 'पुरुष' कहते हैं। यह 'कर्मपुरुष' आयुर्वेद का अधिकरण है। आकाश आदि भूतों से ही उसके विकार शरीर वा इन्द्रियों का ग्रहण होजाता है॥ सुश्रुत शारीर में भी कहा है—

'यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति ।'

एकधातु पुरुष—अकेली चेतनाधातु को भी 'पुरुष' कहा जाता है। जैसे—सुश्रुत शारीर के प्रथम अध्याय में कहा है—

'तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकरणसंयुक्तश्चेतयिता भवति ।'

यहां पर केवलमात्र चेतनाधातु को पुरुष संज्ञा से कहा है। इसी प्रकार सांख्यशास्त्र में भी—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।'

यहां पर भी चेतनाधातु मात्र को ही 'पुरुष' कहा है।

चिकित्सा में—केवल चेतनाधातुमात्र पुरुष अधिकरण नहीं। प्रसङ्गवश यहां कह दिया है।

चतुर्विंशतिधातु पुरुष—और धातुभेद से चौबीस सत्त्वों की राशि को भी पुरुष कहते हैं । वे चौबीस तत्त्व वा चौबीस धातु निम्न हैं—

चौबीस धातु—मन, दस इन्द्रियें, पांच विषय और प्रकृति कही जाने वाली आठ धातुओं का समूह। अर्थात् १ मन २ चक्षु ३ श्रोत्र ४ घ्राण ५ जिह्वा ६ त्वचा ७ वाणी ८ हाथ ९ उपस्थ १० गुदा ११ पांव १२ रूप १३ शब्द १४ गन्ध १५ रस १६ स्पर्श १७ अव्यक्त १८ महत्तत्त्व १९ अहङ्कार २० रूपतन्मात्र २१ शब्दतन्मात्र २२ गन्धतन्मात्र २३ रसतन्मात्र २४ स्पर्शतन्मात्र । ये २४ धातु हैं। आगे कहा जायगा—

'खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥"

यहां पर आठ प्रकृतियों में जो आकाश आदि पञ्चमहाभूत का परिगणन किया है उससे आचार्य का अभिप्राय सूक्ष्म भूत वा पांच तन्मात्राओं से ही जानना चाहिये क्योंकि वह ही प्रकृति है। महाभूतों का पांच विषयों से ही ग्रहण हो जाता है । ये महाभूत विकार हैं । सुश्रुत शारीर १म अध्याय में कहा है—

'अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः । शेषाः षोडश विकाराः ।'

तथा सांख्यकारिका में भी—

'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।'

शेषाः षोडश विकाराः............

यहां पर महत्तत्त्व आदि सात तत्त्वों को प्रकृति और विकृति दोनों बताया है पर चूंकि ये प्रकृति भी हैं अतः आचार्य ने इन्हें प्रकृतियों में गिना है ।

सुश्रुत शारीर की सञ्जीवनी नामक व्याख्या में हमने एकत्र संग्रह करके २४ तत्त्व दिखाए हैं। वहां शब्द आदि विषयों की जगह पांच महाभूत गिने हैं। पतञ्जलिमतानुयायी शब्द आदि से ही इन महाभूतों की उत्पत्ति मानते हैं अतः महाभूत न गिन कर यदि शब्द आदि पांच विषयों को गिना दिया जाय तो कोई हानि नहीं। सांख्यवादी पांचतन्मात्राओं से पांच महाभूतों की उत्पत्ति मानते हैं और शब्द आदि विषयों को तन्मात्राओं के भेदक रूप में जानते हैं अतः वे २४ तत्त्वों में पञ्चमहाभूतों को गिनते हैं॥

ये चौबीस के चौबीस तत्त्व जड़ हैं यदि कोई चेतनाधातु न हो तो केवलमात्र इन जड़ पदार्थों के होने पर रोग वा आरोग्य दुःख वा सुख की प्रवृत्ति ही नहीं होगी अतः आत्मा को भी गिनना चाहिए। चूंकि विकारों का परिगणन किया गया है अतः आत्मा का भी परिगणन स्वयं हो जाता है। आत्मा के विना विकार नहीं हो सकते और अत एव सृष्टि भी न होगी। सांख्यशास्त्र में भी कहा है—

'पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः।'

अतः मूलप्रकृति और आत्मा के संयोग होने पर ही सर्ग की प्रवृत्ति होती है। अतः जहां अव्यक्त से मूलप्रकृति का ग्रहण होता है वहां अव्यक्त से ही आत्मा का भी ग्रहण होता है। कहा भी जायगा—

'अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः'

अथवा मूलप्रकृति क्षेत्रज्ञों का अधिष्ठान है। आश्रय के ग्रहण से आश्रित का भी ग्रहण हो जाता है—सुश्रुत शारीर प्रथम अध्याय में कहा है—

'सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम। तदेकं बहूनां क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानाम् भावानाम्'॥ १५-१६॥

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।

सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते ॥ १७ ॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्च वर्तते ।

मन का लक्षण—युगपत् ज्ञान का अभाव (न होना) और भाव (होना) मन का लक्षण है । अर्थात् जब आत्मा द्वारा अपने अभिमत विषय के ग्रहण के लिये प्रवृत्त किया गया मन उस विषय के ग्रहण के लिये उस २ विषय की ग्राहक इन्द्रिय की ओर जाता है तब वह मनोयुक्त इन्द्रिय उस विषय को ग्रहण करती है । दूसरी इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करने में युगपत् मन प्रवृत्त नहीं होता । अतएव एक ही काल में एक ज्ञान का होना और दूसरे ज्ञान का न होना यही मन का अनुमापक लिङ्ग है । न्यायदर्शन में कहा है—

'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ।'

अभिप्राय यह है—इन्द्रियों के विषय युगपत् इन्द्रियों से संयुक्त होते हैं परन्तु एक क्षण में किसी एक इन्द्रिय के विषय का ज्ञान होता है दूसरों का नहीं—यह देखा गया है । आत्मा विभु है उसका एक काल में ही सब के साथ योग रहता है । यदि मन की सत्ता स्वीकार न की जाय तो सर्वदा सब इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान होता रहे । अतएव जिसके द्वारा एक काल में एक ही विषय का ग्रहण होता है वह मन है ।

आत्मा इन्द्रिय और विषयों का संयोग होने पर मन का सान्निध्य न होने से ज्ञान नहीं होता और आत्मा इन्द्रिय विषयों का संयोग होने पर यदि मन का सान्निध्य (इन्द्रिय से सम्बन्ध) भी हो तो ज्ञान उत्पन्न होता है । अतएव आत्मा इन्द्रिय और विषय का सन्निकर्ष होने पर मन के दूर रहने पर ज्ञान का अभाव और पास रहने पर ज्ञान का भाव यह मन का लक्षण है । अर्थात् इस लक्षण द्वारा मन का अनुमान किया

---

१ 'वैवृत्यान्मनस इति इन्द्रियेणासंयोगात्, सान्निध्यादिति इन्द्रियेण मनसः सम्बन्धात्' चक्रः ।

जाता है। मन का सान्निध्य न होने से ज्ञान नहीं होता और सान्निध्य होने से ज्ञान होता है सुतरां मन को स्वीकार करना पड़ता है। वैशेषिक में कहा भी है—

'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावश्चाभावश्च मनसो लिङ्गम्[१]॥१७॥

अणुत्वमथ चैकत्वं द्वौ गुणौ मनसः स्मृतौ ॥ १८ ॥

मन के गुण—मन के दो गुण हैं। १ अणुता २ एकता। अर्थात् मन अणु है और एक है। प्रति शरीर में एक मन है और वह अणु है। यदि मन अनेक हों अथवा महत्परिमाण वाला हो तो युगपत् अनेक ज्ञान होने चाहियें। पर ऐसा नहीं होता, अतः उसे अणु और एक ही मानना होगा। आत्मा चाहे भी कि मैं युगपत् पांचों इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान प्राप्त करूं पर वह कर नहीं सकता। गौतम नें न्यायदर्शन में कहा भी है—

'ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः।'

तथा वैशेषिक में भी—

'प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम्।'

तथा च विश्वनाथकारिका—

'अयौगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहेष्यते।'

इन्द्रियोपक्रमणीयाध्याय में भी कहा जा चुका है—

'न चानेकत्वं, नाप्येकं ह्येककालमनेकेषु प्रवर्त्तते, तस्मान्नैककाला सर्वेन्द्रियप्रवृत्तिः।' ॥ १८ ॥

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ १९ ॥

मन के विषय—चिन्त्य, विचार्य, ऊह्य, ध्येय, सङ्कल्प्य तथा अन्य

---

१ सत्यप्यात्मेन्द्रियार्थसान्निध्ये ज्ञानसुखादीनामभूतोत्पत्तिदर्शनात् कारणान्तरमनुमीयते श्रोत्राद्यव्यापारे स्मृत्युत्पत्तिदर्शनात् बाह्येन्द्रियैरगृहीतसुखादिग्राहकान्तराभावाच्च। इति मनःसाधने प्रशस्तपादाः।

जो भी मन से ज्ञेय हैं वे सब मन के विषय कहाते हैं। जो कुछ सोचता है वह चिन्त्य कहाता है। जो कुछ गुण वा दोष द्वारा विचारता है वह विचार्य कहाता है। जो कुछ युक्ति द्वारा तर्कणा करता है वह ऊह्य कहाता है। जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है। जो कुछ कर्तव्याकर्तव्य की कल्पना वा निश्चय किया जाता है वह सङ्कल्प्य कहाता है ॥ १९ ॥

इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः।
ऊहो विचारश्च, ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २० ॥

मन के कर्म—इन्द्रियों में अधिष्ठित होना, अहित विषय से मन को रोकना, ऊहा और विचार; ये मन के कर्म हैं। अनिष्टविषय में गया हुआ मन, मन द्वारा ही रोका जाता है ॥ मन के कर्म के पश्चात् बुद्धि प्रवृत्त होती है।

अथवा इसका अर्थ यूं भी किया जा सकता है कि इन्द्रियाभिग्रह इन्द्रियनिग्रह ये दो मन के कर्म हैं। रूप रस आदि किसी अभिलषित इन्द्रियविषय के ग्रहण के लिये आत्मा द्वारा प्रेरित मन उस विषय की ग्राहक इन्द्रिय का जो ग्रहण करता है वह इन्द्रियाभिग्रह कहाता है। इन्द्रियनिग्रह से अभिप्राय इन्द्रियों को विषयों से रोकना है। गीता अध्याय ६ में कहा है—

'मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।'

अथवा एक ही काल में एक इन्द्रिय से सम्बन्ध और दूसरी इन्द्रिय को अपने विषय के ग्रहण में असमर्थ रखना ये दो कर्म हैं। अथवा विषयग्रहण के समय इन्द्रिय का ग्रहण और विषय का ज्ञान हो चुकने पर उस विषय से निवृत्ति ये दोनों कर्म मन के हैं। कर्म के पश्चात् तर्क, तर्क के पश्चात् विचार, तदनन्तर बुद्धि प्रवृत्त होती है ॥२०॥

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसाऽप्यूर्ध्वं गुणतो दोषतो यथा ॥ २१ ॥

---

१ 'स्वस्य निग्रहः' च०।

जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका ।
व्यवस्यति तया वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ २२ ॥

ज्ञान का क्रम—मनोयुक्त इन्द्रिय अपने विषय को ग्रहण करता है। इस समय का ज्ञान वस्तुमात्र होता है । इसे आलोचन नामक निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं । तदनन्तर मन द्वारा कल्पना की जाती है। अर्थात् यह वस्तु ऐसी है वैसी है हेय है उपादेय है यह मन कल्पना करता है। कहा भी है—

'संमुग्धं वस्तुमात्रं तु प्राग्गृह्णन्त्यविकल्पितम् ।
तत्सामान्यविशेषाभ्यां कल्पयन्ति मनीषिणः ॥'

तदनन्तर उस विषय में जो निश्चयात्मिक बुद्धि उत्पन्न होती है उस (निश्चयात्मिक बुद्धि) से पुरुष बुद्धिपूर्वक कहने वा करने का निश्चय करता है। तात्पर्य यह है कि सब से पूर्व पुरुष को आलोचन ज्ञान होता है। यह ज्ञान वस्तुमात्र होता है। यही निर्विकल्पक ज्ञान है। इसके पश्चात् यह ऐसा है यह वैसा है इत्यादि गुण दोष का मन द्वारा विचार होता है। तत्पश्चात्—ये सब विषय मेरे लिये ही हैं, यहां मुझ से अतिरिक्त और किसी का अधिकार नहीं, मैं ही इस कार्य के करने में समर्थ हूं इत्यादि अहङ्कार होता है। इसके बाद बुद्धि निश्चय करती है कि 'मैं करूंगा' । कुमारिल ने कहा है—

'अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम् ।
बालमूढादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम् ॥
ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्ध्यावसीयते सापि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥

यद्यपि आचार्य ने ' अहंकार ' का नाम नहीं लिया, तो भी जब बुद्धि यह निश्चय करती है कि 'छोड़ता हूं' 'ग्रहण करता हूं' तब वह अहङ्काराधीन ही होती है अतः बुद्धिव्यापार (अध्यवसाय) से ही अहङ्कार का भी ग्रहण कर लेना चाहिये ।

इन चारों अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय मन अहङ्कार और बुद्धि का व्यापार युगपत् भी होता है और क्रमशः भी होता है । ज्ञानेन्द्रियों का व्यापार आलोचन है । मन का व्यापार सङ्कल्प है । अहंकार का व्यापार अभिमान है और बुद्धि का व्यापार अध्यवसाय है । मन बुद्धि और अहंकार को दर्शन शास्त्रों में अन्तःकरणत्रय कहा जाता है । ये तीनों प्रधान है और इन्द्रियां गौण हैं । सांख्यतत्त्वकारिका में कहा भी है—

'सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।
तस्मात्त्रिविधं करणं द्वारि शेषाणि द्वाराणि ॥'

'द्वारि' से अभिप्राय प्रधान से है ॥ २१-२२ ॥

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु ।
पञ्च कर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २३ ॥

पांचों इन्द्रियों में क्रमशः आकाश आदि एक२ भूत अधिक होता है । अभिप्राय यह है वस्तुतः पांचों इन्द्रियां ही पाञ्चभौतिक हैं अर्थात् पांचों भूतों का विकार हैं । श्रोत्र भी पांचों भूतों का विकार हैं, आंख भी पांचों भूतों का विकार है, घ्राण भी पांचों भूतों का विकार है इत्यादि । परन्तु इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों में एक २ भूत का आधिक्य रहता है । सूत्रस्थान के इन्द्रियोपक्रमणीय नामक आठवें अध्याय में कह भी आये हैं ।

' पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि खं श्रोत्रे घ्राणे क्षितिरापो रसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते । तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुधावति तत्स्वभावाद्विभुत्वाच ॥'

इसकी व्याख्या अपने स्थल पर (२१२ पृष्ठ पर) देखनी चाहिये । सांख्यशास्त्र में इन्द्रियों को आहंकारिक माना गया है ।

'अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणः तन्मात्रपञ्चकश्चैव ॥'

तथा च—सात्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् ॥

सुश्रुत शारीरस्थान १म अध्याय में भी इसी मत को दर्शाते हुए कहा है—

'तत्र वैकारिकादहंकारात् तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते ॥'

परन्तु आयुर्वेद में इन्द्रियों को भौतिक ही माना जाता है। सुश्रुत शारीरस्थान १म अध्याय में कहा है—

'भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते तथेन्द्रियार्थाः ।'

आयुर्वेद में भौतिकत्व से अभिप्राय इतना ही है कि उस २ इन्द्रिय से उस २ भौतिक विषय का ग्रहण होता है। अत एव इन्द्रियों की भौतिकता औपचारिक है। इस भौतिकता के विना एक इन्द्रिय अपने उसी विषय का ग्रहण क्यों करती है इस का समाधान कठिन है। वहीं पर कहा भी है—

'इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः ।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥'

जिन इन्द्रियों द्वारा ज्ञानोपलब्धि होती है वे इन्द्रियां (ज्ञानेन्द्रियां) अपने २ कर्मों से अनुमान द्वारा जानी जाती हैं। जैसे श्रोत्र का विषय है सुनना, चक्षु का कर्म है देखना, त्वचा का कर्म है स्पर्शन, घ्राण का कर्म है गन्ध लेना, रसना का कर्म है रस लेना। सुनना आदि कर्म किसी साधन द्वारा सिद्ध होने चाहियें, क्रिया होने से, जैसे लकड़ी का चीरना। अर्थात् लकड़ी का चीरना यह क्रिया आरा रूप साधन से निष्पन्न होती है अतः श्रवण आदि क्रिया के भी कोई साधन होने चाहियें और वे ही इन्द्रियां हैं॥ २३ ॥

हस्तौ पादौ गुदोपस्थे जिह्वेन्द्रियमथापि च ।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव,

कर्मेन्द्रियां—१ दो हाथ २ दो पैर, ३ गुदा, ४ उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय

और जननेन्द्रिय) तथा ५ जिह्वा; ये पांच कर्मेन्द्रिय हैं।

पादौ गमनकर्मणि ॥ २४ ॥

पायूपस्थौ विसर्गार्थे हस्तौ ग्रहणधारणे।
जिह्वा वागिन्द्रियं, वाक्च सत्या ज्योतिस्तमोऽनृता ॥२५॥

कर्मेन्द्रियों के कर्म—पैर-चलने फिरने में, गुदा और उपस्थ-मलमूत्र के त्याग में (आनन्द भी उपस्थ का कर्म है), हाथ-पकड़ने और धारण में प्रयुक्त होते हैं। वचन की इन्द्रिय को जिह्वा कहते हैं अर्थात् जिह्वा वा वाणी वा कर्म वचन है। सांख्यकारिका में भी कहा है—

'बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाः कर्मेन्द्रियाण्याहुः ॥'
'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम् ॥'

'बुद्धीन्द्रिय' ज्ञानेन्द्रियों को कहते हैं। सुश्रुत शारीर १म अध्याय में-

'तत्र बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः; कर्मेन्द्रियाणां यथासंख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥'

वाणी दो प्रकार की है १ सत्य २ अनृत। सत्यवचन यथार्थ का प्रकाशक होने से ज्योति कहाता है। और अनृतवचन तत्व को छिपाने से तम वा अन्धकार कहाता है ॥ २४-२५ ॥

महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ २६ ॥

महाभूत--१ आकाश २ वायु ३ अग्नि ४ जल तथा ५ पृथिवी; ये महाभूत कहाते हैं।

महाभूतों के गुण—इनके क्रमशः १ शब्द २ स्पर्श ३ रूप ४ रस और ५ गन्ध ये गुण हैं। तन्त्रान्तर में भी कहा है—

'शब्दो वैहायसः स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः।
रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः ॥' २६ ॥

तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे ।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥ २७ ॥

आकाश आदि पांच गुणियों में से प्रथम गुणी (आकाश) में एक गुण (शब्द) होता है । इसके पश्चात् के भूतों में एक २ गुण बढ़ता जाता है । गुणियों में पूर्व की धातुएं वा भूत और पूर्ववर्ती धातुओं वा भूतों के गुण रहते हैं । जैसे—आकाश में शब्द । वायु में शब्द और स्पर्श । अग्नि में शब्द स्पर्श तथा रूप । जल में शब्द, स्पर्श रूप और रस रहता है । पृथिवी में शब्द स्पर्श रस तथा गन्ध रहता है । इस प्रकार उत्पत्तिक्रम के अनुसार एक २ भूत में एक २ गुण बढ़ता जाया करता है । उत्पत्तिक्रम इनका इस प्रकार है—

'आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी ।'

आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी । वायु में अपने गुण स्पर्श के अतिरिक्त आकाश का गुण शब्द भी रहता है । यह शब्द गुण इसी लिये रहता है चूंकि वायु में आकाश भी अनुप्रविष्ट रहता है । इसी प्रकार अग्नि में जहां अपना गुण रूप रहता है वहां आकाश और वायु के अनुप्रविष्ट रहने से उनके गुण शब्द और स्पर्श भी विद्यमान् रहते हैं । जल में जहां अपना गुण रस रहता है वहां आकाश वायु तथा अग्नि के अनुप्रविष्ट रहने से शब्द स्पर्श और रूप भी रहते हैं । पृथ्वी का गुण गन्ध है परन्तु आकाश वायु अग्नि और जल के अनुप्रविष्ट रहने से शब्द स्पर्श रूप रस ये चार गुण भी विद्यमान् रहते हैं । कहा भी है—

'विष्टं ह्यपरं परेण ।'

मनु ने भी कहा है—

'मनः सृष्टिं प्रकुरुते चोद्यमानं सिसृक्षया ।
आकाशं जायते तस्मात्तस्य शब्दगुणं विदुः ॥
आकाशात्तु विकुर्वाणात् सर्वगन्धवहः शुचिः ।

बलवान् जायते वायुः स वै स्पर्शगुणो मतः ॥
वायोरपि विकुर्वाणाद् विरोचिष्णु तमोनुदम् ।
ज्योतिरुत्पद्यते भास्वत् तद्रूपगुणमुच्यते ॥
ज्योतिषश्च विकुर्वाणादापो रसगुणाः स्मृताः ।
ताभ्यो गन्धगुणा भूमिरित्येषा सृष्टिरादितः ॥'
'आद्याद्यस्य गुणांस्त्वेषामवाप्नोति परः परः ।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद् गुणः स्मृतः' ॥ २७ ॥

खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम् ॥ २८ ॥

पृथिवी जल वायु और तेज (अग्नि) का क्रमशः खरता (कठिनता), द्रवता, चलता (अस्थिरता) तथा उष्णता (गरमी); ये लिङ्ग हैं। आकाश का अप्रतीघात—किसी प्रकार की रुकावट न होना वा स्पर्श ही न होना लिङ्ग है । इन लक्षणों से हम उस २ सूक्ष्म भूत (तन्मात्राओं) का अनुमान कर सकते हैं ॥ २८ ॥

लक्षणं सर्वमेवैतत्स्पर्शनेन्द्रियगोचरम् ।
स्पर्शनेन्द्रियविज्ञेयः स्पर्शो हि सविपर्ययः ॥ २९ ॥

यह सब लक्षण स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय हैं। यहां पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि खरता द्रवता चलता तथा उष्णता को तो हम स्पर्श करके जान सकते हैं परन्तु क्या अप्रतीघात वा अस्पर्श को स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा जाना जा सकता है—इसका उत्तर दिया है कि स्पर्श और इससे विपरीत (स्पर्शाभाव) ये दोनों स्पर्शनेन्द्रिय से ही जाने जाते हैं। जिस इन्द्रिय से हमें जिस वस्तु के भाव का ज्ञान होता है उस इन्द्रिय से उसी वस्तु के अभाव का ज्ञान भी होता है। यदि हम घर में चक्षु से घड़े को देख सकते हैं तो घटाभाव का ज्ञान भी हमें चक्षु से होता है। हम देख कर कहते हैं कि घड़ा नहीं है वा घट का अभाव है। अभाव का ज्ञान भी चक्षु ने ही कराया । अतः प्रतीघात स्पर्शनेन्द्रिय

द्वारा जाना जाता है तो उसका अभाव अप्रतीघात भी स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा ही ज्ञेय है ॥ २९ ॥

गुणाः शरीरे गुणिनां निर्दिष्टाश्चिह्नमेव च ।
अर्थाः शब्दादयो ज्ञेया गोचरा विषया गुणाः ॥ ३० ॥

शरीर में गुणियों—पृथिवी आदियों के गुण—खरता आदि चिन्ह वा लिङ्ग ही होते हैं । यद्यपि खरता (काठिन्य) आदि गुण हैं परन्तु गुण से गुणी का अनुमान हो जाता है । अतः वे गुण होते हुए भी लिङ्गरूप में यहां कहे गये हैं । और जो हमने प्रथम आकाश आदि के शब्द आदि गुण कहे हैं वे अर्थ गोचर वा विषय कहाते हैं । अर्थात् वे इन्द्रियों के विषय हैं । न्याय में कहा भी है—

' गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः । '

अथवा पाञ्चभौतिक शरीर में शरीरारम्भक आकाश आदि गुणियों के गुरुत्व आदि सकल गुण ही चिन्ह होते हैं । आत्रेयभद्रकाप्यीय नामक अध्याय में ये गुण पार्थिवादि क्रम से पृथक् २ कहे गये हैं ।

अथवा शरीरस्थित सूक्ष्मभूत रूप गुणियों के शब्द आदि गुण लिङ्ग होते हैं । गुण कहने से शब्द आदि व्यक्त ही जानने चाहियें । व्यक्त शब्द आदि भी सूक्ष्मभूतों के लिङ्ग वा लक्षण हैं । शब्द आदि गुण जो इन्द्रियगोचर विषय हैं उन्हें ' अर्थ ' जानना चाहिये । अथवा शब्द आदि अर्थ वा इन्द्रियगोचर विषय ही यहां गुण जानने चाहियें । अर्थात् श्लोक की ऊपर की पङ्क्ति में जो ' गुण ' शब्द है वह शब्द आदि विषय का ही वाचक है ॥ तथा च 'अर्थ' कहने से शब्द आदि विशेष स्थूल आकाश आदि के रूप ही जानने चाहियें । जिसका अभिप्राय यह होगा कि आकाश का परिणाम ही शब्द है, वात का परिणाम ही स्पर्श है इत्यादि यह 'अर्थाः' पर चक्रपाणि की व्याख्या है ॥३०॥

---

१ तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । सुश्रुत शारीर १म अध्याय ।
२ 'अर्थशब्देन तु ये शब्दादयो विशेषास्ते स्थूलखादिरूपा एव ज्ञेयाः । तेन

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धिः प्रवर्तते ।
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोभवा ॥ ३१ ॥

ज्ञानभेद—प्राणी की जो बुद्धि जिस इन्द्रिय में आश्रित होकर प्रवृत्त होती है वह बुद्धि वा वह ज्ञान उसी इन्द्रिय द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। और मन से उत्पन्न बुद्धि मन द्वारा निर्दिष्ट होती है। जैसे—चक्षुओं से प्रवृत्त ज्ञान चक्षुर्बुद्धि वा चाक्षुष ज्ञान कहाता है। श्रोत्रों द्वारा प्रवृत्त बुद्धि को श्रोत्रबुद्धि कहते हैं। इसीप्रकार अन्य ज्ञानेन्द्रियों की बुद्धियां भी जाननी चाहियें। चिन्त्य सङ्कल्प्य आदि विषयक बुद्धि को मनोबुद्धि कहते हैं—मानसिक ज्ञान कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस इन्द्रिय का आश्रय करके जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसे उसी इन्द्रिय के साथ निर्देश करते हैं। जैसे—चाक्षुष बुद्धि, श्रावण बुद्धि, स्पार्शन बुद्धि, रासन (रसना से) बुद्धि, घ्राण बुद्धि एवं मानस बुद्धि ॥ ३१ ॥

भेदात्कार्येन्द्रियार्थानां बह्वयो वै बुद्धयः स्मृताः ।
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैकसंनिकर्षजाः ॥ ३२ ॥

आत्मा इन्द्रिय मन और विषय; इन प्रत्येक के सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाली चाक्षुषबुद्धि आदि छह बुद्धियां घटपटादि कार्य तथा इन्द्रिय विषयों के भेद से बहुत हो जाती हैं। घड़े के शब्द के श्रवण का ज्ञान, ढोल के शब्द के श्रवण का ज्ञान। इन्हें घटीयशब्द—श्रवणबुद्धि, पटहीयशब्द—श्रवणबुद्धि कह सकते हैं। इस प्रकार श्रावण बुद्धि के कितने ही भेद हो जाते हैं। यही बात चाक्षुष बुद्धि आदि अन्य बुद्धियों के साथ भी है। प्रत्यक्ष ज्ञान में आत्मा मन के साथ मन इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय विषय के साथ संयुक्त होती है ॥ ३२ ॥

आकाशपरिणाम एव शब्दः, वातपरिणाम एव स्पर्श इत्यादि ज्ञेयम्। शब्दादिग्रहणे आकाशादिग्रहणं यत्, तत् आकाशादिपरिणाम एव शब्दादय इत्युक्तमेव। एतेन यच्छ्रोत्रग्राह्यं तत्सर्वमाकाशं शब्दश्च। यत्स्पर्शेन गृह्यते तत्सर्वं वायुः स्पर्शश्च।' चक्रः।

अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः ।
दृष्टः शब्दो यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा ॥ ३३ ॥

जैसे मध्यमांगुली अंगूठा और हाथ की तली के संयोग (चुटकी) से एक प्रकार का शब्द होता है। तन्त्री (तारें) वीणा (तारों का आधारकाष्ठ) तथा नख के संयोग से दूसरे प्रकार का शब्द होता है। इसीप्रकार आत्मा इन्द्रिय मन और विषय के संयोग से उत्पन्न होने वाली बुद्धि नानाप्रकार की होती है। शब्द संयोग से उत्पन्न होता है परन्तु यह शब्द संयुक्त पदार्थों की भिन्नता से नानाप्रकार का होता है। इसी प्रकार संयोगज बुद्धि भी कार्य वा विषय आदि की भिन्नता से नानाप्रकार की हो जाती है।

अथवा इसका अर्थ यूं भी कर सकते हैं कि जैसे शब्द अंगुली अंगूठा तथा हाथ की तली के संयोग से होता है अथवा जैसे शब्द तन्त्री वीणा और नख के योग से होता है वैसे ही बुद्धि वा ज्ञान भी संयोगज होता है। अर्थात् जब तक आत्मा मन इन्द्रिय और विषय का संयोग नहीं होगा तब तक बुद्धि वा ज्ञान नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परम् ।
चतुर्विंशक इत्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः ॥ ३४ ॥

अव्यक्त आत्मा को बुद्धि, इन्द्रिय, मन और विषय के संयोग को धारण करने वाला जानना चाहिये। अथवा ज्ञान के समय बुद्धीन्द्रिय (ज्ञानेन्द्रिय) मन और विषय के संयोग को धारण करने वाला आत्मा है। आत्मा ही मन को प्रेरणा करता है। जिससे वह इन्द्रियों के साथ सम्बद्ध होता है और इन्द्रियां विषयों के साथ।

इन चौबीस धातुओं की राशि को पुरुष कहते हैं। अव्यक्त, बुद्धि, अहंकार, पञ्च तन्मात्रायें पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय मन और पांच शब्द आदि विषय अथवा पांच महाभूत ये चौबीस धातु हैं इनके समूह को पुरुष कहते हैं। मूल प्रकृति तथा आत्मा का अव्यक्त से

ग्रहण होता है। अथवा अव्यक्त से मूलप्रकृति के ग्रहण की आवश्यकता ही नहीं क्योंकि वह केवल कारणरूप है। वही कार्यरूप में आकर महत्तत्त्व वा बुद्धि का रूप धारण करती है। बुद्धि से अहंकार की उत्पत्ति तो होती है पर इनका पुरुष में पार्थक्येन भान भी होता है, मूलप्रकृति का पार्थक्येन ज्ञान नहीं होता। आत्मा का परिगणन आवश्यक है क्योंकि इस चेतनाधातु के बिना न इनका संयोग ही अवस्थित रह सकता है और न कोई ज्ञान वा कर्म हो सकता है। अतः मूलप्रकृति को न गिनते हुए भी २४ तत्व पूरे होते हैं ॥ ३४ ॥

रजस्तमोभ्यां युक्तस्य संयोगोऽयमनन्तवान् ।
ताभ्यां निराकृताभ्यां तु सत्त्वबुद्ध्या निवर्तते ॥ ३५ ॥

रज और तम से युक्त पुरुष का यह संयोग (२४ धातुओं का) अनन्तता युक्त होता है। अर्थात् रज और तम ही पुरुष के बन्ध के कारण हैं। जब ये रज और तम सत्त्व की प्रबलता से पराभूत हो जाते हैं तब तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। सांख्यकारिका में कहा भी है—

'ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥' ३५ ॥

अत्र कर्मफलं चात्र ज्ञानं चात्र प्रतिष्ठितम् ।
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता ॥ ३६ ॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वेद प्रलयोदयौ ।
पारम्पर्यं चिकित्सां च ज्ञातव्यं यच्च किंचन ॥ ३७ ॥

इस राशिपुरुष में कर्म, कर्मफल, ज्ञान, मोह, सुख, दुःख, जीवन, मरण, ममता; ये प्रतिष्ठित हैं। जो इस बात को यथार्थ रूप से जानता है वह ही प्रलय और सृष्टि को अथवा पुरुष के जीवनमरण को जान सकता है। वह व्यक्ति ही शरीर के परम्पराभाव को अर्थात् एक शरीर के बाद दूसरे शरीर के धारण को, चिकित्सा को तथा जो कुछ भी ज्ञेय है उस सब को जान सकता है। चिकित्सा से अभिप्राय जहां

१ 'सत्त्ववृद्ध्या' च.। २ 'स्वता ममताज्ञानम्' चक्रः।

साधारण रोगनिवृत्ति साधन से है वहां आत्यन्तिक दुःख की निवृत्ति के साधन से भी हैं जिससे पुरुष बन्ध से मुक्ति पाता है ॥३६–३७॥

भास्तमः सत्यमनृतं वेदाः कर्म शुभाशुभम् ।
न स्यात्कर्ता वेदिता च पुरुषो न भवेद्यदि ॥ ३८ ॥
नाश्रयो न सुखं नार्तिर्न गतिर्नागतिर्न वाक् ।
न विज्ञानं न शास्त्राणि न जन्म मरणं न च ॥ ३९ ॥
न बन्धो न च मोक्षः स्यात्पुरुषो न भवेद्यदि ।
कारणं पुरुषस्तस्मात्कारणज्ञैरुदाहृतः ॥ ४० ॥

दूसरे प्रश्न–पुरुष किस हेतु कारण है–का उत्तर—यदि कर्ता और ज्ञाता पुरुष न हो तो दीप्ति अन्धकार सत्य झूठ वेद शुभ और अशुभ कर्म न हों । न शरीर न सुख न दुःख न गति (परलोक में जाना) न आगति (न संसार में आना) न वाणी न विज्ञान न शास्त्र न जन्म न मरण न बन्ध न मोक्ष ही हो यदि पुरुष न हो । अर्थात् पुरुष के होने पर ही इन सब की सार्थकता है । यदि पुरुष न हो तो ये भी उपपन्न नहीं होते । अतएव कारण को जानने वालों ने पुरुष को कारण बताया है । चक्रपाणि भा और तम से प्रतिभा और मोह का ग्रहण करता है । यहां पर पुरुष से आत्मा का ग्रहण है ।

गंगाधर के अनुसार यह पुरुष चतुर्विंशतिक ही है । अर्थात् यदि चौबीस धातु वाला पुरुष न हो तो दिनादि रूप प्रकाश रात्रि आदि रूप अन्धकार सत्य झूठ आदि की सत्ता नहीं रहेगी क्योंकि कोई ज्ञाता भोक्ता वा कर्ता ही न होगा ॥ ३८–४० ॥

न चेत्कारणमात्मा स्यात्खादयः[१] स्युरहेतुकाः ।
न चैषु संभवेज्ज्ञानं न च तैः स्यात्प्रयोजनम् ॥ ४१ ॥

यदि आत्मा कारण न हो तो आकाश आदि व्यर्थ हों । अर्थात्

१ 'स्याद्भादय.' च० ।

ये जड़ हैं जब तक चेतन न हो कोई कार्य नहीं हो सकता। अदृष्ट वा धर्माधर्म की प्रेरणा से ही ये महाभूत शरीर को उत्पन्न करते हैं। और धर्माधर्म का आश्रय आत्मा है। अथवा 'खादि' से केवल महाभूतों का ग्रहण न करके आत्मातिरिक्त शेष बुद्धि आदि सम्पूर्ण धातुओं का ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि २४ तत्व से ही राशिपुरुष होता है। अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त सब जड़ हैं। केवलमात्र जड़ से चेतन शरीर की उत्पत्ति नहीं होती। इन जड़ पदार्थों में ज्ञान भी नहीं हो सकता और आत्मा के न होने से ये निष्प्रयोजन हो जाते हैं। पुरुष के भोग के लिये ही शरीर की सृष्टि होती है यदि आत्मा ही न हो तो यह निष्प्रयोजन हों ॥ ४१ ॥

कृतं मृद्दण्डचक्रैश्च कुम्भकारादृते घटम्।
कृतं मृत्तृणकाष्ठैश्च गृहकाराद्विना गृहम् ॥ ४२ ॥
यो वदेत्स वदेद्देहं संभूय करणैः कृतम्।
विना कर्तारमज्ञानाद्युक्त्यागमबहिष्कृतः ॥ ४३ ॥

जो मूर्ख, कुम्हार के बिना मट्टी दण्ड और चक्र इन करणों (साधना) के समूह से ही घट बन जाता है यह कहता है अथवा जो मूर्ख गृहकार (राज) के बिना मट्टी तृण और लकड़ी के समूह से स्वयं घर बन जाता है यह कहता है वह ही युक्ति और शास्त्र से रहित अज्ञानी शरीर को कर्ता के बिना केवल जड़ धातुओं के समूह से उत्पन्न हुआ मान सकता है। अभिप्राय यह है—घड़ा वा घर केवल मात्र मट्टी आदि से स्वयं नहीं बन सकते वहां कुम्हार वा गृहकार की आवश्यकता होती है यह सब को प्रत्यक्ष ही है। इसी प्रकार जड़ महाभूतों से वा धातुओं से विना आत्मा के देह की उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि किसी कर्ता के बिना करण वा साधन स्वयं प्रवृत्त नहीं होते। कुल्हाड़ी स्वयं लकड़ी को नहीं चीरती जब तक पुरुष की प्रेरणा न हो। इसीप्रकार यहां पर भी साधनभूत पञ्चमहाभूतों से वा

अन्य जड़ धातुओं से स्वयं देह उत्पन्न नहीं होता जब तक अदृष्ट (धर्माधर्म) युक्त आत्मा की प्रेरणा न हो । आत्मा से प्रेरित तत्त्वों से ही भोगायतन शरीर उत्पन्न होता है । जो कर्ता के बिना कारण से स्वयं उत्पत्ति मानता है उसे मूर्ख जानना चाहिये ॥४२-४३॥

कारणं पुरुषः सर्वैः प्रमाणैरुपलभ्यते ।
येभ्यः प्रमेयं सर्वेभ्य आगमेभ्यः प्रमीयते ॥ ४४ ॥

जिन सब आगमों (प्रत्यक्ष अनुमान आगम प्रमाणों) से प्रमेय (द्रव्य गुण कर्म समवाय आदि प्रमाणगम्य) पदार्थ जाने जाते हैं उन्हीं सब प्रमाणों से 'पुरुष कारण है' यह बात जानी जाती है ॥४४

न ते तत्सदृशास्त्वन्ये पारम्पर्यसमुत्थिताः ।
सारूप्याद्ये त एवेति निर्दिश्यन्ते नवा नवाः ॥ ४५ ॥
भावास्तेषां समुदयो निरीशः सत्त्वसंज्ञकः ।
कर्ता भोक्ता न स पुमानिति केचिद्व्यवस्थिताः ॥ ४६ ॥

कई यह मानते हैं कि द्रव्य प्रतिक्षण परिणत होता रहता है क्योंकि उनका नित्यग स्वभाव है, वे क्षणस्थायी हैं। जब वह परिणत होता है तो द्रव्य भी भिन्न हो जाता है । पहिला रुक जाता है और दूसरा तत्सदृश उत्पन्न होता है । जैसे जो बाल्यपन में शरीर है वह यौवन में नहीं परन्तु तत्सदृश ही भाव परम्परा से उत्पन्न वा परिणत होते हुए चले जाते हैं । अतः वस्तुतः वे भिन्न होते हैं परन्तु सदृश रूप होने से ' वे ही ' कहे जाते हैं । बाल्यावस्था में देखे हुए देवदत्त को युवावस्था में भी यही कहते हैं कि यह ' वही देवदत्त है ' । यहां पर वस्तुतः देवदत्त भिन्न है परन्तु बाल्यावस्था से परिणत होता हुआ तत्सदृश रूप वाला ही युवावस्था में देवदत्त है अतः 'वही देवदत्त है' यह प्रतीति होती है । इसीप्रकार परम्परा से प्रकट होते हुए नये २

---

१ ' आगमयन्ति बोधयन्तीति आगमाः प्रमाणान्येव ' चक्रः । 'आगमेभ्य इत्यत्रादिशब्दलोपः' इति गङ्गाधरः ॥

भाव 'वे ही' द्वारा निर्दिष्ट होते हैं। उन्हीं भावों का समुदाय आत्मारहित प्राणीसंज्ञक है। बौद्ध शरीर को आत्मारहित और क्षणिक ज्ञान आदि का समुदाय मानते हैं। ज्ञान तत्सदृश ज्ञान को उत्पन्न करता है वह ज्ञान भी तत्सदृश ज्ञान को उत्पन्न करता है इस प्रकार ज्ञान को भी क्षणिक मानते हैं। वह पुमान् (आत्मा) को कर्म का करने वाला वा फल का भोक्ता नहीं मानते ॥४५-४६॥

तेषामन्यैः कृतस्यान्ये भावा भावैर्नवाः फलम्।
भुञ्जते सदृशाः प्राप्तं यैरात्मा नोपदिश्यते ॥ ४७ ॥

परन्तु जो नित्य आत्मा को नहीं मानते और क्षणिकवादी हैं उन के मत में यह दोष आता है—कि दूसरे भावों से किये गये कर्म का तत्सदृश उत्पन्न हुए२ नवीन भाव फल को भोगते हैं। देवदत्त ने कर्म किया और फल भोगा यज्ञदत्त ने। क्योंकि जिस ने कर्म किया वह तो फल को भोग ही नहीं सकता उसका तो वहीं निरोध हो गया और नवीन भाव तत्सदृश उत्पन्न हो गया। अन्य भी दोष आते हैं जैसे—जो बालकपन में हमने अनुभव किया उसका यौवन वा वृद्धावस्था में स्मरण न होना चाहिये क्योंकि देखा एक ने और स्मरण हो दूसरे को यह नहीं हो सकता कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने कहा भी है—

'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यो नैकं भूतमपक्रमात्[1]।
वासनासङ्क्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥'

इत्यादि। इनका विचार दार्शनिकों से करना चाहिये ॥ ४७ ॥

करणान्यान्यता दृष्टा कर्तुः कर्ता स एव तु।
कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ ४८ ॥

कर्ता के करण तो भिन्न २ वा विविध देखे जाते हैं पर कर्ता वह ही रहता है। करणों (साधनों) से युक्त कर्ता ही सब कर्मों का कारण होता

---

१ अपक्रमात् विनाशात् न एकं भूतं बाल्ययौवनयोरेकं शरीरं परिणामभेदे द्रव्यभेदात्।

है । जैसे एक बढई के पास आरी तेसा रन्दा आदि भिन्न २ नाना उपकरण रहते हैं वह एक ही बढ़ई उन नाना प्रकार के अस्त्रों से चीरना काटना वा छीलना आदि नाना कर्म करता है । ऐसे ही आत्मा कर्ता है और वह अपरिणामी—एक रस अकेला ही विविध करणरूप इन्द्रिय आदियों से युक्त हुआ २ दर्शन स्पर्शन आदि नाना कर्म करता है । शरीर क्षणिक है पर आत्मा अपरिणामी—एक रस मानना होगा । जिसे कर्ता स्वीकार करना होगा । शरीर से भिन्न एकरस आत्मा के मानने से पूर्वोक्त दोष नहीं आयेगा । तब जो कर्म एक ने किया है वह उसी को भोगना पड़ेगा अन्य को नहीं क्योंकि कर्ता एक है । इसी प्रकार बाल्यपन में अनुभूत विषय का स्मरण युवावस्था वा वार्द्धक्य में भी हो जायगा । क्योंकि करण के भिन्न होने पर भी कर्ता वही है ॥ ४८ ॥

निमेषकालाद्भावानां कालः शीघ्रतरोऽत्यये ।
भग्नानां न पुनर्भावः कृतं नान्यमुपैति च ॥ ४९ ॥
मतं तत्त्वविदामेतद्यस्मात्तस्मात् स कारणम् ।
क्रियोपभोगे भूतानां नित्यः पुरुषसंज्ञकः ॥ ५० ॥

भावों के विनाश में काल निमेषकाल से भी शीघ्रतर होता है । अर्थात् एक पलक मारने में जितना काल लगता है भावों (शरीर आदि) का विनाश उसकी अपेक्षया भी अतिशीघ्र होता है । नष्ट हुआ २ भाव पुनः नहीं आता । एक का किया हुआ दूसरे को प्राप्त नहीं होता । यह तत्वज्ञानियों का मत है । अतः आत्मा को कारण मानना पड़ेगा ।

अर्थात् शरीर इन्द्रिय आदि भाव क्षणिक हैं । एक २ क्षण में बदलते जाते हैं । प्रथम भाव के नष्ट होने पर वह पुनः नहीं आता नया ही उत्पन्न होता है । अतः एक भाव द्वारा किये गये कर्म का

१ 'च' ग० ।

उसे ही फल नहीं मिल सकता । क्योंकि काल इतना शीघ्रतर है कि उसका फल उस समय मिलना ही असम्भव है । अतः हमें एक ऐसी नित्य वस्तु स्वीकार करनी पड़ेगी जिस अकेले का इन सब शरीरों के साथ सम्बन्ध हो। और उसे ही कर्ता वा भोक्ता स्वीकार करना पड़ेगा वह आत्मा है। अतः उपर्युक्त हेतुओं से भूतों (प्राणियों) की क्रिया तथा फलोपभोग में नित्य तथा पुरुषसंज्ञक आत्मा कारण माना जाता है ४९–५०॥

अहङ्कारः फलं कर्म देहान्तरगतिः स्मृतिः ।
विद्यते सति भूतानां कारणे देहमन्तरा[1] ॥ ५१ ॥

प्राणियों के शरीर से भिन्न कारण के होने पर ही अहङ्कार फल कर्म देहान्तर में जाना स्मरण; ये होते हैं । अर्थात् देह से व्यतिरिक्त आत्मा के होने से ही 'मैं जानता हूं' 'मैं देखता हूं' इत्यादि अहङ्कार होता है । 'मैं गोरा हूं', 'मैं मोटा हूं' इत्यादि में 'मैं' यह उपचार से है । यदि आत्मा को न मानें तो जड़ शरीर भोक्ता वा कर्ता हो ही नहीं सकता । यदि कथञ्चित् क्षणिक शरीर को चेतन मान लें तो फल की इच्छा से पुरुष कर्म करता है परन्तु जो कर्म करने वाला है उसे तो फल मिलना ही नहीं तो कर्म क्या करेगा । इसी प्रकार जो कथंचित् कर्म करता है उसे फलप्राप्ति नहीं होगी । यदि नित्य आत्मा को कर्ता वा भोक्ता न माने तो मृत्यु के पश्चात् देहान्तरप्राप्ति नहीं हो सकती । आत्मा ही नवीन देह को धारण करता है इस विषय में गीता में भी कहा है—

'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥'

नित्य आत्मा के स्वीकार करने पर ही 'स्मरण' हो सकता है

१ 'देहमन्तरा देहमध्ये' इति गङ्गाधरः ।

अन्यथा नहीं यह पहिले कह चुके हैं । 'नान्यदृष्टं स्मरत्यन्यः' ॥५१॥

प्रभवो न ह्यनादित्वाद्विद्यते परमात्मनः ।
पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ॥ ५२ ॥

तीसरे प्रश्न–पुरुष का उत्पत्तिस्थान वा उत्पत्तिकारण कौन है–का उत्तर—यदि 'पुरुष' से परमात्मा वा चेतनाधातुमात्र का ग्रहण करते हो तो उसके अनादि होने से उसका उत्पत्तिकारण नहीं है।

राशिपुरुष का उत्पत्ति कारण है । मोह इच्छा वा द्वेष से किये गये शुभाशुभ कर्म से राशिपुरुष उत्पन्न होता है । मोह इच्छा और द्वेष इन तीन से ही प्रवृत्ति होती है । काम क्रोध आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है । न्यायदर्शन में कहा है—

'तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तराभावात् ।'

वात्स्यायन ने भाष्य करते हुए कहा है कि राग में काम मत्सर स्पृहा (इच्छा) तृष्णा और लोभ का समावेश होता है । द्वेष में क्रोध ईर्ष्या असूया (दूसरे के गुणों में दोषारोपण) द्रोह अमर्ष (असहिष्णुता) इनका अन्तर्भाव होता है । मोह में मिथ्याज्ञान संशय मान और प्रमाद का अन्तर्भाव होता है । अर्थात् पूर्वजन्म में राग द्वेष मोह से जो शुभाशुभ कर्म किये होते हैं उसी के फल रूप धर्माधर्म से यह जन्म होता है ॥ ५२ ॥

आत्मा ज्ञः, करणैर्योगाज्ज्ञानं त्वस्य प्रवर्तते ।
करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥ ५३ ॥

चौथे प्रश्न—क्या वह अज्ञ है वा ज्ञानी है—का उत्तर–आत्मा ज्ञानमय है । उस आत्मा के ज्ञान की प्रवृत्ति मन ज्ञानेन्द्रिय आदि करणों के योग से होती है । यदि करण (इन्द्रिय आदि) निर्मल न हों वा अयोग हो अर्थात् आत्मा का मन के साथ योग न हो मन का इन्द्रिय के साथ न हो । इन्द्रिय का विषय के साथ योग न हो तो भी ज्ञान नहीं होता ॥ ५३ ॥

पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्।
तत्त्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥ ५४ ॥

चक्षु युक्त होते हुए भी पुरुष को मलिन दर्पण में देखने से अपना रूप ठीक दिखाई नहीं देता अथवा जैसे मलिन जल में पड़ी हुई वस्तु दिखाई नहीं देती, वैसे ही मन का किसी प्रकार का विघात होने से ठीक २ दिखाई नहीं देता। मन यहां उपलक्षण मात्र है इससे इन्द्रियों का भी ग्रहण होता है अर्थात् इन्द्रियविघात से भी ज्ञान नहीं होता। अन्धा बहिरा होना आदि इन्द्रियविघात से समझा जाता है ॥ ५४ ॥

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च।
कर्तुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेव च ॥ ५५ ॥

करण—मन बुद्धि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय ये करण हैं। कर्ता—आत्मा का करणों के साथ संयोग होने से कर्म वेदना वा ज्ञान होता है। कर्म वेदना और ज्ञान ये आत्मा का करणों से संयोग होने पर होते हैं। सुख दुःख आदि के ज्ञान को वेदना कहते हैं। कर्मेन्द्रियों के कर्म ग्रहण धारण आदि कहे जा चुके हैं। ज्ञानेन्द्रियों के कर्म शब्द आदि विषय का ग्रहण है। मन का कर्म इन्द्रियों के प्रति जाना चिन्ता तर्क विचार आदि है। बुद्धि का कर्म त्याग ग्रहण उपेक्षा आदि का निश्चय करना है ॥ ५५ ॥

नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलम्।
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किंचन ॥ ५६ ॥

भूतात्मा अकेला किसी कर्म करने में प्रवृत्त नहीं होता। और नाहीं अकेला फल को भोगता है। सब कुछ संसार संयोग से ही है। संयोग के विना कुछ भी नहीं है। अर्थात् राशिपुरुष ही कर्म कर सकता है, वह ही फल को भोगता है। सांख्यकारिका में कहा है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

---

१ 'तद्वज्जले' ग.।

पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥'

पुरुष द्वारा सर्वकारणभूत प्रधान (प्रकृति) को देखने के लिये तथा पुरुष के मोक्ष के लिये लङ्गड़े और अन्धे की तरह संयोग होता है। इस प्रकार दोनों में उपकार्योपकारक भाव है। भोग और मोक्ष के लिये संयोग ही महत्तत्त्व आदि की सृष्टि करता है॥ ५६ ॥

न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ।
शीघ्रगत्वात्स्वभावाच्च भावो न व्यतिवर्तते ॥ ५७ ॥

भाव (उत्पत्तिधर्मा पदार्थ) अकेला नहीं होता अर्थात् संयोगज होता है। भाव हेतुरहित भी नहीं होता अर्थात् उसका कारण अवश्य होता है। भाव पदार्थ शीघ्र गमन करने के स्वभाव को लांघता नहीं-- अपने नित्यगस्वभाव को त्यागता नहीं। प्रतिक्षण परिणत होता ही रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि भावों की उत्पत्ति में तो कारण होता है, परिणाम में कारण नहीं होता, वह स्वभाव से ही होता है। सदृश उत्तरावस्था को उत्पन्न कर पूर्वावस्था का नाश होना ही परिणाम से अभिप्रेत है। यह परिणाम स्वभाव से ही होता है। और कोई हेतु नहीं। अर्थात् अभाव का हेतु नहीं और भाव का हेतु है। सूत्रस्थान के चिकित्साप्राभृतीय नामक १६ वें अध्याय में ४३८ पृष्ठ पर कह भी आये हैं--

'प्रवृत्तिहेतुर्भावानां न निरोधेऽस्ति कारणम् ॥' ५७ ॥

अनादिः पुरुषो नित्यो विपरीतस्तु हेतुजः ।
सदकारणवन्नित्यं दृष्टं हेतुजमन्यथा ॥ ५८ ॥

पांचवे प्रश्न–वह नित्य है वा अनित्य–का उत्तर—अनादि पुरुष (आत्मा वा परमात्मा) नित्य है। हेतु से उत्पन्न राशिपुरुष अनित्य है।

---

१ ननु भवत्वनयोः संयोगो महदादिसर्गस्तु कुत, इत्यत आह--'तत्कृतः सर्गः'—संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोतीत्यर्थः। इति कारिकाव्याख्याने वाचस्पतिमिश्राः ॥ २ '०त्स्वभावात्स्वभावो ' च.।

अर्थात् मोह इच्छा द्वेष से उत्पन्न होने वाला राशिपुरुष अनित्य है। जो द्रव्य सत् (सत्तायोगी) हो परन्तु उसका कोई कारण न हो तो वह नित्य होता है । जिसका कारण हो वह अनित्य होता है । अनादि पुरुष सत्तारूप तो है पर कारण कोई नहीं अतः वह नित्य है और राशिपुरुष की यद्यपि सत्ता है पर कारण भी है सुतरां वह अनित्य होगा । वैशेषिक का सूत्र भी है—

'सदकारणवन्नित्यम् ।।' ५८ ॥

तदेव भावादग्राह्यं, नित्यत्वं[1] न कुतश्चन ।
भावाज्ज्ञेयं, तदव्यक्तमचिन्त्यं व्यक्तमन्यथा ॥ ५९ ॥

जो उत्पत्तिधर्म से रहित है वह ही नित्य होता है । जो उत्पत्तिधर्मा है उसकी किसी हेतु से भी नित्यता नहीं हो सकती ।

जो नित्य पुरुष है वह अव्यक्त है अतएव अचिन्त्य है। जो राशिपुरुष अनित्य है वह व्यक्त है और चिन्त्य है ॥ ५९ ॥

अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः ।
तस्माद्यदन्यत्तद्व्यक्तं,

वह अव्यक्त आत्मा है। यह आत्मा क्षेत्रज्ञ है । 'क्षेत्र' शरीर को कहते हैं उसका ज्ञाता है। अनादि अनन्त है। व्यापक और अविनाशी है । इस से जो भिन्न वस्तु है (राशिपुरुष) वह व्यक्त है-कारण से उत्पन्न होता है—प्रकट होता है ॥ ६० ॥

जो उत्पात्ति धर्म से अग्राह्य है वह अव्यक्त होता है और जो उत्पात्ति धर्म से ज्ञेय है वह व्यक्त होता है यह ऊपर कहा गया है। अब इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य तथा अग्राह्य होने से व्यक्ताव्यक्तता जताते हैं-

वक्ष्यते चापरं द्वयम् ॥ ६० ॥

व्यक्तं चैन्द्रियकं चैव गृह्यते तद्यदिन्द्रियैः ।
अतोऽन्यत्पुनरव्यक्तं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ॥ ६१ ॥

अब अन्य प्रकार का व्यक्त अव्यक्त बताया जाएगा। जिसका

---

१ 'नित्यत्वान्न' ग.।

इन्द्रियों से ग्रहण होता है—ज्ञान होता है वह ऐन्द्रियक कहाता है और वह व्यक्त होता है । इससे भिन्न जो इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं—ज्ञेय नहीं वह अतीन्द्रिय कहाता है वह अव्यक्त होता है । परन्तु उसका ज्ञान लिङ्गों[1] से होता है । यहां पर यह समझ लेना चाहिए कि जिसका ग्रहण अनुमान द्वारा ही होता है वह अव्यक्त है । वैसे तो जिसका प्रत्यक्ष होता है उसका भी अनुमान द्वारा ग्रहण हो सकता है पर वह अव्यक्त नहीं होगा ॥ ६१ ॥

खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाऽष्टमः ।
भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा

छठे प्रश्न—प्रकृति क्या है और विकार कौन हैं—का उत्तर—आकाश आदि पांच सूक्ष्मभूत (पांच तन्मात्रायें), बुद्धि (महत्तत्त्व), अव्यक्त (मूल प्रकृति आत्मसंयुक्त मूलप्रकृति) अहङ्कार; ये आठ भूतप्रकृति हैं। इन में मूलप्रकृति तो प्रकृतिमात्र (कारणमात्र) ही है और शेष सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं पर प्रकृति भी होने से यहां प्रकृतियों में ही गिन दिये हैं ॥

विकाराश्चैव षोडश ॥ ६२ ॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च ।
समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः ॥ ६३ ॥

विकार सोलह हैं । पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन और रूप रस आदि पांच विषय । ये १६ विकार कहाते हैं ॥ ६२—६३ ॥

इति चेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम् ।

---

१ लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽप्रत्यक्षोऽर्थोऽनेनेति लिङ्गम् ।
'यदनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते ।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम् ॥'
जो पक्ष में वर्तमान हो । सपक्ष में प्रसिद्ध हो-जिसकी सत्ता हो । विपक्ष में न हो वह लिङ्ग अनुमान का साधन है । जैसे धूम (लिङ्ग) पर्वत (पक्ष) में वर्तमान है । रसोईघर (सपक्ष) में भी सत्तावान् है । तालाब (विपक्ष) आदि में नहीं है। अतः धूम पर्वत पर अग्नि का अनुमान करायगा ।

अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः ॥ ६४ ॥

अव्यक्त को छोड़ कर शेष भूतप्रकृति और विकार का नाम क्षेत्र है। ऋषि लोग इस क्षेत्र के क्षेत्रज्ञ को अव्यक्त जानते हैं। अथवा अव्यक्त क्षेत्रज्ञ को ऋषि ही जानते हैं। सामान्य पुरुष नहीं जान सकते। भगवद्‌गीता में कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञमिति तद्विदः॥
क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥
महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

यहां पर जो 'अव्यक्त' शब्द है वह सत्वरजतम इन तीन गुणों के साम्यरूप मूलप्रकृति के लिये है। और जो भगवान् आत्रेय ने क्षेत्र को बताते हुए 'अव्यक्त को छोड़कर' ऐसा कहा है वहां 'अव्यक्त' शब्द आत्मसंयुक्त मूलप्रकृति के लिये है। अतः दोनों में विरोध नहीं है। मोक्षाधिकार में प्रकृति और आत्मा को पृथक्तया जानना होता है पर शरीरशास्त्र में प्रकृति और आत्मा के संयुक्त रूप को जानना आवश्यक है॥ ६४॥

जायते बुद्धिरव्यक्ताद्बुद्ध्याऽहमिति मन्यते।
परं खादीन्यहङ्कारादुत्पद्यन्ते यथाक्रमम्॥ ६५॥

अव्यक्त (आत्मसंयुक्त मूलप्रकृति) से बुद्धि उत्पन्न होती है। बुद्धि से अहङ्कार पैदा होता है। अहङ्कार से आकाश आदि पांच-तन्मात्राएं और १६ विकार अपने क्रम से उत्पन्न होते हैं। याज्ञवल्क्य-संहिता में भी कहा है—

बुद्धेरुत्पत्तिरव्यक्तात्ततोऽहङ्कारसम्भवः ।
तन्मात्राणि ह्यहङ्कारादेकोत्तरगुणानि च ॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥

अहङ्कार तीन प्रकार का है । सात्त्विक राजस तामस । इन्हीं का नाम वैकारिक तैजस और भूतादि है । वैकारिक अहङ्कार से जिसमें तैजस का भी साथ होता है तथा किंचित् तम होता है ११ इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं । पांच ज्ञानेन्द्रिय पांच कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानकर्मोभयात्मक मन ये मिल कर ११ होते हैं । भूतादि अहङ्कार से जिसमें तैजस का साथ हो तथा कुछ सत्त्व हो पांच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं । शब्द-तन्मात्र स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र रसतन्मात्र और गन्धतन्मात्र । शब्द, स्पर्श रूप रस और गन्ध ये आकाश आदि के गुण हैं ॥ ६५ ॥

ततः संपूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते ।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते ॥ ६६ ॥

तदनन्तर सब अङ्गों से पूर्ण होकर प्रकट हुआ पुरुष 'उत्पन्न हुआ' ऐसा कहाता है । अर्थात् जब अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आता है तब 'उत्पन्न होना' यह शब्द व्यवहार में प्रयुक्त होता है । वह पुरुष प्रलय में बुद्धि आदि इष्टभावों से वियुक्त हो जाता है । अर्थात् पुनः व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में आ जाता है । कहा भी है—

यो यस्मान्निःसृतश्चैषां स तस्मिन्नेव लीयते ।'

अर्थात् जो जिससे निकला है वा प्रगट हुआ है वह उसी में लीन हो जाता है । इस प्रकार अव्यक्तावस्था ही अन्त में बचती है ६६

अव्यक्ताद्व्यक्ततां याति व्यक्तादव्यक्ततां पुनः ।
रजस्तमोभ्यामाविष्टश्चक्रवत्परिवर्तते ॥ ६७ ॥

पुरुष सृष्टि के समय अव्यक्तावस्था से व्यक्तावस्था में आता है, पुनः प्रलय में व्यक्तावस्था से अव्यक्तावस्था में चला जाता

है। इस प्रकार बन्ध के हेतु रज और तम से युक्त पुरुष संसार में चक्कर खाता रहता है। भगवद्गीता में भी कहा है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥' ६७॥

येषां द्वन्द्वे पराऽऽसक्तिरहङ्कारपराश्च ये।
उदयप्रलयौ तेषां, न तेषां ये त्वतोऽन्यथा॥ ६८॥

जिनको द्वन्द्वों में अत्यन्त राग है। अर्थात् जो काम क्रोध लोभ मोह इच्छा द्वेष से आक्रान्त है। अथवा संसार के कारण—रज और तम रूप द्वन्द्व से घिरे हुए हैं जो अहङ्कार में मस्त हैं अर्थात् 'यह मेरा है' इत्यादि जिन्हें मिथ्याज्ञान है। उन्हीं का ही उदय और प्रलय होता है—कल्प कल्प में जन्म और मरण होता रहता है। जो रज और तम से रहित हैं, जो अहङ्कार से परे हैं वे संसार के जन्म और मरण के बन्धन में नहीं आते॥ ६८॥

प्राणापानौ निमेषाद्या जीवनं मनसो गतिः।
इन्द्रियान्तरसंचारः प्रेरणं धारणं च यत्॥ ६९॥
देशान्तरगतिः स्वप्ने पञ्चत्वग्रहणं तथा।
दृष्टस्य दक्षिणेनाक्ष्णा सव्येनावगमस्तथा॥ ७०॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः।
बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः॥ ७१॥

आठवें प्रश्न—पुरुष का क्या लिङ्ग है—का उत्तर—प्राण अपान, निमेष उन्मेष, जीवन, मन का जाना, मन का एक इन्द्रिय से दूसरी इन्द्रिय में जाना, प्रेरणा करना, धारण करना, स्वप्न में दूसरे देश में जाना, मरना, दाहिनी आंख से देखी हुई वस्तु का बाईं आंख से 'वही है' यह ज्ञान हो जाना, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, प्रयत्न, चेतना, धृति, बुद्धि (ज्ञान), स्मृति,

अहङ्कार; ये सूक्ष्म आत्मा के लिङ्ग हैं। इन लिङ्गों से हम आत्मा का अनुमान करते हैं। वैशेषिक दर्शन में कणाद मुनि ने भी कहा है—

'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ।'

प्राण अपान आदि शरीरान्तःसञ्चारी वायु बिना प्रयत्न के ऊपर नीचे नहीं जान सकती। जैसे धौंकनी से स्वयं वायु बाहिर नहीं आती। उसके लिये धौंकने वाले की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वायु के ऊपर नीचे ले जाने वाला कोई चेतन होना चाहिये, वह आत्मा है। आंखों के मींचने और खोलने से भी आत्मा को स्वीकार करना पड़ता है। जैसे दरवाज़े को खोलने वा बन्द करने के लिये तीसरे की आवश्यकता है वैसे ही यहां पर निमेष उन्मेष कर्म के लिये कर्ता आत्मा की आवश्यकता है। जीवन से शरीर की वृद्धि वा घाव और भग्न के रोहण का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि मृत पुरुष में ये कार्य नहीं होते। जैसे गृह का स्वामी मकान को बनवाता, छोटे को बड़ा करवाता, टूटे हुए स्थान की मरम्मत करवाता है उसी प्रकार देह को बनाने वाले, छोटे को बड़ा करने वाले, टूटे हुए सैलों की पूर्ति करने वाले किसी चेतन को होना चाहिये और वह आत्मा है। जैसे घर के कोने में बैठा हुआ बालक गेंद को फेंकता है—गति देता है उसी प्रकार अभिमत विषय की ग्राहक इन्द्रिय की ओर मन को भेजने वाला कोई चेतन होना चाहिये, वह आत्मा है। आचार्य ने अगला लिङ्ग 'इन्द्रियान्तरसंचार' पढ़ा है जहां वैशेषिक न्याय आदि में 'इन्द्रियान्तरविकार' पढ़ा गया है। वैशेषिक का सूत्र हम ऊपर दे चुके हैं। न्याय में भी—'इन्द्रियान्तरविकारात् ।' यह पढ़ा गया है। अर्थात् अम्लरस युक्त द्रव्य को आंख से देखने पर आंख से भिन्न इन्द्रिय रसना (जिह्वा) में विकार देखा जाता है—लाला बहने लगता है। इस से हम यह जानते हैं कि कोई ऐसा व्यक्ति है जो अनेक खिड़कियों में बैठे हुए

दर्शक की तरह दोनों का द्रष्टा है । अन्यथा देखने से ही जिह्वा में पानी न आता। क्योंकि वह चक्षु इन्द्रिय का विषय नहीं। अतः कोई भिन्न चेतन है जिसका दोनों से सम्बन्ध है और वह आत्मा है। इन्द्रियान्तरसंचार से भी यही अभिप्राय लेना चाहिये। अथवा अभी एक इन्द्रिय चक्षु से देखता हूं और अभी घ्राण से सूंघता हूं। इससे भी आत्मा का अनुमान होता है। अर्थात् भिन्न २ विषयग्रहण रूप कर्म का करने वाला कोई एक चेतन होना चाहिये। मन को इन्द्रियों में प्रेरित करने वाला भी आत्मा है । उसी मन को उसी इन्द्रिय में स्थिरता पूर्वक कुछ देर रोक रखने वाला भी आत्मा है। इन्द्रिय और मन जड़ हैं वे कर्म नहीं कर सकते। यदि इन्द्रियों को चेतन मान लें तो जिसे हम ने दाहिनी आंख से देखा है उसे बांई आंख से देखने पर—'यह वही है जिसे दाहिनी आंख से देखा था'—यह ज्ञान (प्रत्यभिज्ञा) न हो। क्योंकि चैत्र ने देखा और मैत्र ने स्मरण किया यह नहीं हो सकता। अर्थात् चूंकि—जिसे मैंने देखा था उसे ही देख रहा हूं-यह प्रत्यभिज्ञा होती है अतः देह इन्द्रिय से भिन्न आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। नहीं तो एक आंख से देखे हुए को दूसरी आंख से—मैं उसे ही देख रहा हूं-यह प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती। न्याय-दर्शन में भी कहा है—

'सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्।'

इच्छा द्वेष आदि आत्मा के गुण हैं । इन गुणों से गुणी का अनुमान होता है। अनुमापक होने से गुण भी लिङ्ग कहाते हैं। मृत शरीर में इच्छा द्वेष आदि नहीं देखे जाते अतः जीवन के कारण आत्मा के ही ये गुण हैं। स्वप्न में देशान्तर में जाना यह भी आत्मा के बिना नहीं हो सकता ॥ ६९-७१ ॥

यस्मात्समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः।
न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥ ७२ ॥

ये सब लिङ्ग जीवित प्राणी में पाये जाते हैं मरे हुए

में नहीं अतः महर्षियों ने ये आत्मा के लिङ्ग कहे हैं । शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने पर ही प्राणी में ये लिङ्ग दीखते हैं । आत्मा का सम्बन्ध न रहने पर मरा हुआ न सांस लेता है न सांस निकालता न आंखें बन्द करता है न खोलता है इत्यादि देखा जाता है । जिससे यही समझना चाहिये कि ये आत्मा के ही लिङ्ग हैं ॥ ७२ ॥

शरीरं हि गते तस्मिन्शून्यागारमचेतनम् ।
पञ्चभूतावशेषत्वात्पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ ७३ ॥

उस आत्मा के चले जाने पर शरीर गृहपति से रहित गृह की तरह शून्य तथा जड़ हो जाता है । और छह धातुओं में से केवल पांच भूतों के अवशिष्ट रह जाने से 'पञ्चत्व को प्राप्त हुआ (मरगया)' यह कहा जाता है । अतः ' पञ्चत्वग्रहण ' भी आत्मा का अनुमापक लिङ्ग है । जिस चेतनाधातु का सम्बन्ध होने से षड्धातुक पुरुष चेतन रहता है और जिसके निकल जाने से पंचभूत मात्र शेष रह जाते हैं वह आत्मा है । याज्ञवल्क्यस्मृति में भी कहा है—

अहंकारः स्मृतिर्मेधा द्वेषो बुद्धिः सुखं धृतिः ।
इन्द्रियान्तरसंचार इच्छा धारणजीविते ॥
स्वर्गः स्वप्नश्च भावानां प्रेरणं मनसो गतिः ।
निमेषश्चेतना यत्न आदानं पाञ्चभौतिकम् ॥
यत एतानि दृश्यन्ते लिङ्गानि परमात्मनः ।
तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वग ईश्वरः ॥ ७३ ॥

अचेतनं क्रियावच्च मनश्चेतयिता परः ।
युक्तस्य मनसा तस्य निर्दिश्यन्ते विभोः क्रियाः ॥ ७४ ॥
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते ।
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते ॥ ७५ ॥

नौवें प्रश्न—निष्क्रिय आत्मा की क्रिया कैसे होती है—का उत्तर—मन जड़ है, क्रिया वाला है । आत्मा चेतन है—चेतना देने वाला है । उस विभु

आत्मा के मन से युक्त होने पर ही आत्मा की क्रिया कहलाती है। यतः आत्मा चेतनायुक्त है अतएव कर्ता कहाता है। मन जड़ होने से क्रियायुक्त होने पर भी कर्ता नहीं कहाता। अर्थात् प्राण अपान आदि जो कर्म आत्मा के लिङ्ग बताये हैं वे आत्मा के लिङ्ग कैसे हो सकते हैं जब कि आत्मा निष्क्रिय है। इसका उत्तर दिया है कि परमार्थतः आत्मा निष्क्रिय ही है पर उपचार से उसकी क्रिया कहाती है। मन क्रियायुक्त होता है पर जड़ होने से क्रिया में प्रवृत्त नहीं हो सकता। चेतन आत्मा के संयोग से ही मन की क्रिया होती है। अतएव मन की क्रिया के आत्मा के आधीन होने से आत्मा को ही कर्ता कह दिया जाता है। जैसे लकड़ी को कुल्हाड़ी काटती है॥ क्रिया कुल्हाड़ी में है। पर वह कुल्हाड़ी स्वयं पुरुष की प्रेरणा के विना नहीं काट सकती। कुल्हाड़ी की क्रिया मनुष्य के आधीन है। अतः वहां जैसे पुरुष कर्ता कहा जाता है वैसे ही आत्मा भी कर्ता कहाता है। लोक में कर्ता चेतन ही देखा जाता है अतः चेतन होने से आत्मा को ही कर्ता कहा जाता है। आत्मा मन को चेतनता देता है। तभी मन क्रियावान् होता है। अत एव आत्मा कर्ता है। क्रियावान् मन चेतन न होने से कर्ता नहीं कहाता। अथवा गेंद फैंकने वाले बालक की तरह आत्मा कर्ता है। बालक गेंद को प्रेरणा देता है जिससे गेंद गतिमान् होता है अतएव बालक को गेंद फैंकने वाला कहा जाता है॥ ७४-७५॥

यथास्वेनात्मनाऽऽत्मानं नयति सर्वयोनिषु।
प्राणैस्तन्त्रयते प्राणी न ह्यन्योऽस्त्यस्य तन्त्रकः॥ ७६॥

दसवें प्रश्न-यदि आत्मा स्वतन्त्र है तो वह अनिष्टयोनियों में क्यों जाता है-का उत्तर—सब प्राणी अपनी २ (धर्माधर्मसहाय) आत्मा द्वारा सब योनियों में आत्मा को वा अपने आप को प्राणों से युक्त करते हैं। अन्य कोई उसका नियमन करने वाला नहीं।

अर्थात् जिस प्राणी का धर्म अधर्म के विकल्प के कारण जैसा आत्मा होता है वैसी ही योनि में स्वयं उत्पन्न होता है। आत्मा कर्ता है वह जैसा कर्म करता है वैसा ही शरीर प्राप्त होता है। अर्थात् वह स्वयं ही उसमें जाता है। उस २ योनि को न चाहता हुआ भी वहां वहां पैदा होता है। इस प्रकार उस के स्वातन्त्र्य में कोई विघात नहीं होता। याज्ञवल्क्यसंहिता में भी—

निःसरन्ति यथा लोहपिण्डात्तप्तात्स्फुलिङ्गकाः।
सकाशादात्मनस्तद्वदात्मानः प्रभवन्ति हि॥
तत्रात्मा हि स्वयं किञ्चित् कर्म किञ्चित्स्वभावतः।
करोति किञ्चिदभ्यासाद् धर्माधर्मोभयात्मकम्।
निमित्तमक्षरः कर्ता द्रष्टा ब्रह्म गुणी वशी।
अजः शरीरग्रहणात् स जात इति कीर्त्यते॥

इत्यादि आत्मवर्णन करके प्रश्न किये गये हैं—

१—यद्येवमेव स कथं पापयोनिषु जायते।

तथा—

२—कथं भावैरनिष्टैः सम्प्रयुज्यते॥

इन के उत्तर में कहा है—

अन्त्यपक्षिस्थावरतां मनोवाक्कायकर्मजैः।
दोषैः प्रयाति जीवोऽयं भवं योनिशतेषु च॥
अनन्ताश्च यथा भावाः शरीरेषु शरीरिणाम्।
रूपाण्यपि तथैवेह सर्वयोनिषु देहिनाम्॥ ७६॥

वशी तत्कुरुते कर्म यत्कृत्वा फलमश्नुते।
वशी चेतः समाधत्ते वशी सर्वं निरस्यति॥ ७७॥

ग्यारहवें प्रश्न—यदि आत्मा वशी है तो दुःखकर भाव बलात् क्यों उसे दबा लेते हैं—का उत्तर—आत्मा वशी है वह जो कुछ चाहता है करता है। जब वह अपनी इच्छा से शुभ वा अशुभ कर्म करता है तो वह फल

भी भोगता है। वशी आत्मा चाहता है तो चित्त की वृत्तियों का निरोध भी कर लेता है। जब वशी चाहता है तब वह सब कुछ त्याग देता है। अर्थात् जब आत्मा फल की इच्छा से कर्म करता है तो फल भी वह ही भोगता है। क्योंकि कर्ता को फल अवश्य मिलता है। यह नियम है।

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

आत्मा कर्म करने में अपनी इच्छा के आधीन है अतएव वशी है। कर्म का फल तो अवश्य मिलना ही है।

गंगाधर के अनुसार इस की व्याख्या यह है—कि यहां वशी उसे नहीं कहा जो अपने वश में हो परन्तु वशी वह है जो वह कर्म करता है जिसको करके स्वयं फल भोगता है। आत्मा प्रज्ञा प्रज्ञापराध द्वारा शुभाशुभ कर्म करता है। उन में से शुभ कर्म करने वाला वशी सुखकर भावों से बलात् आक्रान्त होता है। और अशुभ कर्म करने वाला वशी दुःखकर भावों से बलात् दबाया जाता है। जो चित्त की वृत्तियों का निरोध करता है वह वशी है। जो सब त्याग देता है वह सर्वसन्न्यासी वशी है। वह २ दुःखकर भावों से बलात् आक्रान्त नहीं होते ॥७७॥

देही सर्वगतो ह्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये।
सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नात्माऽतो वेत्ति वेदनाः ॥ ७८ ॥

बारहवें प्रश्न—सर्वगत आत्मा सब की सब वेदनाओं को क्यों नहीं जानता—का उत्तर—आत्मा सर्वगत होता हुआ भी देही वा शरीरी है। उसका अपने शरीर की स्पर्शनेन्द्रिय से ही सम्बन्ध रहता है। अतएव सब शरीरों की सब वेदनाओं—सुख दुःख आदि को नहीं जानता। जब आत्मा के अदृष्ट की प्रेरणा से भूत शरीर को उत्पन्न करते हैं तब वह शरीर उसी आत्मा का होता है। वह आत्मा उस शरीर का स्वामी होता है। उस आत्मा का उस शरीर की स्पर्शनेन्द्रिय से सम्बन्ध होता है जिससे उसे उसी शरीर के सुख दुःख आदि का ज्ञान होता है।

याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी कहा है—

'वेत्ति सर्वगतां कस्मात्सर्वगोऽपि न वेदनाम् ।
सर्वाश्रयां निजे देहे देही विन्दति वेदनाम् ॥' ७८ ॥

विभुत्वमत एवास्य यस्मात्सर्वगतो महान् ।
मनसश्च समाधानात्पश्यत्यात्मा तिरस्कृतम् ॥ ७६ ॥

यतः आत्मा सर्वगत है परम महत्परिमाण वाला है अतएव विभु है । परन्तु देही होने से उस देह के अनुसार इसकी ज्ञानसाधन इन्द्रियां सीमित हैं अतः वह पर्वत वा भित्ति आदि से छिपी वस्तु को नहीं देख सकता । परन्तु यदि मन की समाधि हो—चित्तवृत्तियों का निरोध हो तो तिरोहित वस्तु भी दीख जाती है । अतएव योगी तिरोहित वस्तु को देख लेते हैं ॥ ७६ ॥

नित्यानुबन्धं मनसा देहकर्मानुपातिना ।
सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम् ॥ ८० ॥

देह के कर्म का अनुसरण करने वाले मन के साथ नित्य सम्बन्ध-युक्त एक योनि में स्थित आत्मा को सर्वयोनिगत जानना चाहिये । मोक्ष पर्यन्त मन और आत्मा का सम्बन्ध नित्य है । शरीर के नष्ट होने पर मन और आत्मा का सम्बन्धविच्छेद नहीं होता । जब आत्मा जीवशरीर में प्रविष्ट होता है तब वह मन के साथ ही होता है । सुश्रुत शारीर ३ अ० में कहा है—

'तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायुरुदीरयति, ततस्तेजोऽनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं योनिमभिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्निषोमसंयोगात् संसृज्यमानो गर्भाशयमनुप्रतिपद्यते, क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च

भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाणः गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥ '

आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध मन द्वारा होता है । जब हम मन की वृत्तियों को विषयों से हटा लेते हैं तो उसका शरीर के साथ सम्बन्ध नहीं रहता और उस समय उसका देहीपना नष्ट होता है वह सर्वयोनिगत वा असीम हो जाता है और अतएव अप्रत्यक्ष वा तिरोहित वस्तु को देख लेता है वा ज्ञान प्राप्त कर लेता है । अन्यथा उसके विभु वा परममहत्परिमाण वाला होने पर भी देही होने से छिपी हुई वस्तु का ज्ञान नहीं होता ॥ ८० ॥

आदिर्नास्त्यात्मनः क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम् ।
अतस्तयोरनादित्वात्किं पूर्वमिति नोच्यते ॥ ८१ ॥

चौदहवें प्रश्न—क्षेत्रज्ञ और क्षेत्र में कौन पूर्व है—का उत्तर— आत्मा का आदि नहीं और क्षेत्र की परम्परा भी अनादि है । अतः दोनों के अनादि होने से कौन पूर्व है यह नहीं कहा जाता । अर्थात् आत्मा अनादि है और सृष्टि प्रवाह से अनादि है । कब आत्मा का प्रथम शरीर के साथ सम्बन्ध हुआ यह नहीं कहा जा सकता । अतः क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में कौन पूर्व है इसका बताना सम्भव नहीं ॥८१॥

ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः साक्षी ह्यात्मा ह्यतः स्मृतः ।
सर्वे भावा हि सर्वेषां भूतानामात्मसाक्षिकाः ॥ ८२ ॥

पन्द्रहवें प्रश्न—आत्मा किसका साक्षी है—का उत्तर—ज्ञानवान् वा चेतन साक्षी हुआ करता है अज्ञ वा अचेतन साक्षी नहीं होता । अतः आत्मा साक्षी है, महत्तत्त्व आदि साक्षी नहीं । सब भूतों के सब भावों का आत्मा साक्षी है । भूत शब्द से आकाश आदि का ग्रहण है। महत्तत्त्व आदि का साक्षी भी आत्मा ही है परन्तु—

'भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ।'

अतएव 'भूत' शब्द ही पढ़ा है । जिसे विषय दिखाया जाता है

१ इस का अर्थ सुश्रुत की सञ्जीवनी नामक हिन्दी व्याख्या में देखिये ।

वह साक्षी होता है और वह चेतन ही हो सकता है । महत्तत्त्व आदि जड़ है । प्रकृति अपने भावों को आत्मा को दिखाती है अतएव आत्मा साक्षी है ॥ ८२ ॥

नैकः कदाचिद्भूतात्मा लक्षणैरुपलभ्यते ।
विशेषोऽनुपलभ्यस्य तस्य नैकस्य विद्यते ॥ ८३ ॥
संयोगपुरुषस्येष्टो विशेषो वेदनाकृतः ।
वेदना यत्र नियता विशेषस्तत्र तत्कृतः ॥ ८४ ॥

सोलहवें प्रश्न—निर्विकार आत्मा में वेदनाजन्य विशेषता क्योंकर होती है–का उत्तर—अकेले भूतात्मा को हम लिङ्गों से कदाचिदपि नहीं जान सकते । उस अकेले अज्ञेय भूतात्मा में कोई भिन्नता नहीं होती । वेदनाजन्य विशेषता वा भिन्नता संयोगपुरुष (२४ तत्वमय राशिपुरुष) में होती है । प्राण अपान आदि जो लिङ्ग पूर्व बताये गये हैं वे राशिपुरुष में दिखाई देने पर ही लिङ्ग होते हैं । अकेले भूतात्मा का तो कोई लिङ्ग ही नहीं दिखाई देता जिससे अनुमान हो सके । जब २४ तत्त्वमय वा षड्धातुक होता है तभी ये लिङ्ग दिखाई देते हैं; जिन से हम आत्मा का अनुमान करते हैं । वेदनाजन्य जो भिन्नता है वह भी राशिपुरुष में है । जिससे देवदत्त सुखी होता है उसी से यज्ञदत्त सुखी नहीं होता वा दुःखी होता है–इस प्रकार की भिन्नता अकेले आत्मा में नहीं होती । जब वह अन्य तत्त्वों के साथ संयुक्त होता है तो भिन्नता होती है । परन्तु अब प्रश्न यह हो सकता है कि जैसे उड़द की एक ढेरी का भार एक सेर है । यह भार उड़द के प्रत्येक दाने की गुरुता का समूहरूप है । अर्थात् जो समुदाय का धर्म है वह समुदायियों का ही होता है । जब राशिपुरुषरूप समुदाय में वेदनाजन्य भिन्नता होती है तो उसके समुदायियों आत्मा महत्तत्त्व आदि में भी वर्तमान होनी चाहिये । सुतरां अकेली आत्मा में भी भिन्नता होनी चाहिये ।

इसका उत्तर देते हैं—कि नहीं। जहां पर वेदना नियत है—एकान्त भाव से रहती है वहीं पर वेदनाजन्य भिन्नता होगी। अकेली आत्मा में वेदना नहीं है राशिपुरुष में एकान्तभाव से विद्यमान है तो वेदनाजन्य भिन्नता भी राशिपुरुष में स्वीकार की जाती है। जैसे घी और मधु में पृथक् २ मारक गुण न होने पर संयोग से मारकता दिखाई देती है वहां हम यदि कहें कि घी भी मारक है मधु भी मारक है तभी दोनों से मिश्रित पदार्थ भी मारक हुआ तो हमारी मूर्खता की सीमा न होगी। वह मारकता इन दोनों के समभाव में मिश्रित होने से उत्पन्न पदार्थ का ही गुण समझा जायगा। इस प्रकार वेदनाजन्य विशेषता राशिपुरुष में ही दिखाई देती है। अकेला आत्मा न सुखी है न दुःखी। अपितु उदासीन है। जब सत्त्व रज तम इन तीन गुणों का योग होता है तो 'मैं सुखी हूं' 'मैं दुःखी हूं' इत्यादि ज्ञान होता है। आगे कहा भी जायगा—

'वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ॥' ८३-८४ ॥

चिकित्सति भिषक्सर्वास्त्रिकाला वेदना इति ।
यया युक्त्या वदन्त्येके सा युक्तिरुपधार्यताम् ॥ ८५ ॥

सत्रहवें अठारहवें और उन्नीसवें प्रश्न—अतीत अनागत वा वर्तमान किस रोग की चिकित्सक चिकित्सा करता है—का उत्तर—वैद्य तीनों कालों की वेदनाओं की चिकित्सा करता है यह बात जिस युक्ति से कई एक आचार्य मानते हैं हे अग्निवेश ? वह युक्ति सुनो—८५

पुनस्तच्छिरसः शूलं ज्वरः स पुनरागतः ।
पुनः स कासो बलवांश्छर्दिः सा पुनरागता ॥ ८६ ॥
एभिः प्रसिद्धवचनैरतीतागमनं मतम् ।

अतीत वेदना की चिकित्सा में युक्ति—फिर वही सिर का दर्द आगया, फिर वही ज्वर आगया, फिर वही बलवान् खांसी आगई, फिर वही कै आगई—इस प्रकार लोक में कहा जाता है। इन प्रसिद्ध

वचनों से अतीत (भूत, गुज़री हुई) वेदनाओं का आना माना जाता है ८६

कालश्चायमतीतानामार्तीनां पुनरागतः ॥ ८७ ॥
तमर्तिकालमुद्दिश्य भेषजं यत्प्रयुज्यते ।
अतीतानां प्रशमनं वेदनानां तदुच्यते ॥ ८८ ॥

अतीत पीडाओं का पुनः यह काल आ उपस्थित हुआ है । उस पीडा-काल को लक्ष्य में रखकर जो औषध प्रयुक्त होती है वह अतीत वेदनाओं को शान्त करने वाली कहाती है ॥ ८७-८८ ॥

आपस्ताः पुनरागुर्मा[1] याभिः शस्यं पुरा हतम् ।
यथा प्रक्रियते सेतुः प्रतिकर्म तथाऽऽश्रये ॥ ८९ ॥

दृष्टान्त—वह जल पुनः न आजाय जिससे पहिले अनाज की खेती को हानि पहुंची थी-इसके लिये जैसे बांध बांध दिया जाता है वैसे ही पीडाकाल को लक्ष्य में रख कर शरीर वा मन में चिकित्सा (Preventive treatment) की जाती है । यह चिकित्सा अतीत-प्रशमन कहाती है ॥ ८९ ॥

पूर्वरूपं विकाराणां दृष्ट्वा प्रादुर्भविष्यताम् ।
या क्रिया क्रियते सा च वेदनां हन्त्यनागताम् ॥ ९० ॥

अनागत वेदना के प्रतिकार में युक्ति—उत्पन्न होने वाली व्याधियों के पूर्वरूप को देखकर जो क्रिया (चिकित्सा) की जाती है वह भविष्यत् व्याधि को नष्ट करती है ॥ ९० ॥

पारम्पर्यानुबन्धस्तु दुःखानां विनिवर्तते ।
सुखहेतूपचारेण सुखं चापि प्रवर्तते ॥ ९१ ॥

वर्तमान रोग की चिकित्सा और चिकित्सा का सिद्धान्त—सुख वा आरोग्य के हेतु के सेवन से दुःखों वा रोगों का प्रवाह रूप से अनुबन्ध निवृत्त हो जाता है और सुख वा आरोग्य की प्रवृत्ति होती है । भावार्थ यह है कि विषमहेतुओं के सेवन से धातुएं विषम हो

१ 'पुनरायाताः' च० ।

जाती हैं। विषम हुई २ धातु अपने सदृश ही उत्तरावस्था को उत्पन्न करती है वह अपने सदृश और वह अपने सदृश इस प्रकार परम्परा चली जाती है। परन्तु यदि हम सुखहेतु का सेवन करें तो दुःख हेतु के अभाव से वह परम्परा स्वयमेव नष्ट हो जायगी क्योंकि सब भाव क्षणभङ्गुर हैं, जब हेतु ही नहीं तो वह रोग स्वयं शान्त हो जायगा। जब हम आरोग्यहेतु का सेवन कर रहे हैं समधातुओं की परम्परा चल पड़ेगी और शरीर स्वस्थ रहेगा ॥ ६१ ॥

न समा यान्ति वैषम्यं विषमाः समतां न च।
हेतुभिः सदृशा नित्यं जायन्ते देहधातवः ॥ ६२ ॥
युक्तिमेतां पुरस्कृत्य त्रिकालां वेदनां भिषक्।
हन्तीति,

सम धातुएं विषम नहीं होतीं और विषम सम नहीं होतीं। देह की धातुएं सदा हेतुओं के सदृश ही उत्पन्न होती हैं। यदि असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग आदि विषम हेतु होंगे तो विषमधातुएं पैदा होंगी। यदि स्वस्थवृत्त आदि समहेतु होंगे तो सम धातुएं उत्पन्न होंगी। विषमधातु वा समधातु का नाश स्वभावतः ही होता है। क्योंकि भावों का स्वभाव नित्यग है। इसका विवरण सूत्रस्थान १६ वें अध्याय में हो चुका है॥ यह सिद्धान्त न केवल वर्तमान वेदना की चिकित्सा को बताता है अपि तु त्रिकालवेदना की चिकित्सा का ही निर्देशक है। विषमहेतु के परित्याग से जहां वर्तमान रोग की निवृत्ति होती है वहां अतीत विषमता का अनुबन्ध नहीं रहता। समहेतु—स्वस्थवृत्त के सेवन से अनागत विकार उत्पन्न नहीं होते क्योंकि इसके सेवन से समता का ही अनुबन्ध रहेगा। अतः इस युक्ति के अनुसार चिकित्सक त्रिकालवेदना की ही चिकित्सा करता है ॥ ६२ ॥

उक्ता चिकित्सा तु नैष्ठिकी या विनोपधाम्[1] ॥ ६३ ॥

जो उपधा के विना चिकित्सा होती है वह नैष्ठिकी कहाती है। ऐका-

---

१ उपधा भोगतृष्णा' चक्रः।

न्तिक और आत्यन्तिक होती है अर्थात् अवश्यम्भावी और अविनाशी होती है। 'उपधा' कहते हैं भावदोष को । प्रवृत्ति लक्षण दोष को भावदोष कहते हैं । जिस दोष के कारण पुरुष संसार में बंधा रहता है । वैशेषिक दर्शन में कहा है—

'भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ।'

ये दोष तीन हैं । राग द्वेष और मोह । आचार्य पहले कह चुके हैं—

'पुरुषो राशिसंज्ञस्तु मोहेच्छाद्वेषकर्मजः ।'

इसकी व्याख्या १२७७ पृष्ठ पर होचुकी है । अथवा १ धर्म २ अधर्म ३ ज्ञान ४ अज्ञान ५ वैराग्य ६ अवैराग्य ७ ऐश्वर्य ८ अनैश्वर्य; ये आठ भाव हैं । इनमें से ज्ञान को छोड़ कर शेष सात भावों को उपधा कह सकते हैं । सांख्यकारिका में कहा है—

'रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः ।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण ॥'

अर्थात् जो चिकित्सा हम करते हैं वह ऐकान्तिक वा आत्यन्तिक नहीं । क्योंकि रोग असाध्य भी होते हैं अतः चिकित्सा ऐकान्तिक वा अवश्यम्भावी नहीं । और विषमहेतु के सेवन से पुनः उत्पन्न हो जाते हैं अतः चिकित्सा आत्यन्तिक वा अविनाशी भी नहीं । परन्तु राग इच्छा द्वेष आदि से रहित जो चिकित्सा है वह ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है । मोक्ष होने पर फिर कोई वेदना नहीं होती । मुक्त पुरुष सर्वदा के लिए सब वेदनाओं से मुक्त हो जाता है । सांख्यकारिका में कहा है—

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥'

दुःख तीन प्रकार के हैं १ आध्यात्मिक २ आधिभौतिक ३ आधिदैविक । ये तीनों प्रकार के दुःख पुरुष को दुःखित करते हैं । अतएव उनके त्याग की इच्छा होती है । इच्छा होने पर उपाय को सोचता है । परन्तु यदि सुगम उपाय हो तो कठिन उपाय में कोई

नहीं फंसना चाहता। राग द्वेष आदि का छोड़ना अतिकठिन है। आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है। शारीर दुःख की चिकित्सा आयुर्वेद में वर्णित है वह सुगम है। मानस दुःख की भी सुन्दर स्त्री भोजन पेयपदार्थ वस्त्र अलङ्कार आदि विषयों की प्राप्ति सुगम उपाय है। आधिभौतिक दुःख की भी नीतिशास्त्र में कुशलता, दुर्ग आदि में रहना आदि सुगम उपाय हैं। आधिभौतिक वे दुःख होते हैं जो मनुष्य पशु वा कीड़े मकौड़े आदि से होते हैं। आधिदैविक दुःख का मणि मन्त्र औषधि आदि का धारण करना सुगम उपाय है। हम उपधा का त्याग क्यों करें? अतएव कारिका में कहा है—'एकान्तात्यन्ततोऽभावाद्'। अर्थात् ये निवृत्ति अवश्यम्भावी नहीं और पुनः न उत्पन्न हो—ऐसी बात नहीं। अतः उपधात्याग रूप कठिन उपाय काम में लाना ही होगा तभी दुःख निवृत्ति अवश्यम्भावी और अविनाशी होगी ९३

उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः।
त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥ ९४॥

उपधा ही निश्चय से दुःख और दुःख के आश्रय—शरीर को देने में मूलकारण है। बारम्बार संसार के बन्धन में आना ही दुःख है। शरीर दुःख का आश्रय है। सब उपधाओं का त्याग सब दुःखों का नाशक है। राग द्वेष और मोह से रहित होने पर सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, पुरुष बन्ध में नहीं आता। क्योंकि जब प्रवृत्ति का हेतु ही नहीं रहा तो कार्य कैसे हो॥ ९४॥

कोषकारो यथा ह्यंशूनुपादत्ते वधप्रदान्।
उपादत्ते तथाऽर्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः॥ ९५॥

जैसे रेशम का कीड़ा अपने ही मृत्यु के कारणभूत अंशुओं (रेशों) को स्वयं उत्पन्न करता है वैसे ही ज्ञानरहित पुरुष विषयों से तृष्णा को उत्पन्न कर लेता है। अर्थात् विषयों को देख कर उसे उनके उपभोग की लालसा होती है। जितना ही उपभोग करता है उतना

ही उसमें फंसा रहता है ।

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥'

अत एव संसार से छुटकारा नहीं होता । वह स्वयं अपने को संसार के बन्धन में फंसा लेता है ॥ ९५ ॥

यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते ।
अनारम्भादसंयोगात्तं दुःखं नोपतिष्ठते ॥ ९६ ॥

जो ज्ञानी विषयों को अग्नि के सदृश दुःखकर जान उनसे निवृत्त हो जाता है; कर्मों के न करने से अतएव कर्मों के फल अर्थात् शरीर आदि से संयोग न होने के कारण उस के पास दुःख (पुनर्जन्म) नहीं फटकता । कर्म से धर्माधर्म होते हैं । और धर्माधर्म के कारण ही शरीर इन्द्रिय सत्त्व (मन) के साथ संयोग होता है अर्थात् जन्म होता है । जन्म होने पर दुःख होता है । न्याय में भी कहा है—

'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ।'

जब विषय की तृष्णा नहीं रहती तब कर्म के न होने से जन्म नहीं होता । तथा च न्याय का यह सूत्र भी है—

'वीतरागजन्मादर्शनात् ।'

जब जन्म ही नहीं होता, सुतरां दुःख भी नहीं रहता । यह ही मोक्ष है ॥ ९६ ॥

धीधृतिस्मृतिविभ्रंशः संप्राप्तिः कालकर्मणाम् ।
असात्म्यार्थागमश्चेति ज्ञातव्या दुःखहेतवः ॥ ९७ ॥

बीसवें प्रश्न—वेदनाओं का क्या कारण है—का उत्तर—धी (बुद्धि), धृति (नियमात्मिका), स्मृति (ये तीनों प्रज्ञा के भेद हैं); इनका भ्रंश

(विचलित होना) काल और कर्म की सम्प्राप्ति अर्थात् योग अतियोग वा मिथ्यायोग रूप असम्यग्योग। असात्म्य इन्द्रिय के विषयों का संयोग। काल से परिणाम का ग्रहण किया जाता है। रोगों के तीन आयतन सूत्रस्थान में कहे जा चुके हैं।

'कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥

अर्थात् १ काल का अतियोग अयोग मिथ्यायोग, २ बुद्धि का अतियोग अयोग मिथ्यायोग, ३ इन्द्रियविषयों का अतियोग अयोग मिथ्यायोग। ये तीन प्रकार के रोगों के हेतु हैं। धी धृति स्मृति; ये बुद्धि के भेद हैं। इनके विभ्रंश का बुद्धिविभ्रंश से ग्रहण है। बुद्धि का अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग बुद्धि का विभ्रंश है। काल की सम्प्राप्ति से काल के अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग का ग्रहण है। और असात्म्यार्थागम से इन्द्रियविषयों के अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग का ग्रहण होता है। परन्तु चौथा हेतु यहां कर्म की सम्प्राप्ति बताई है अर्थात् कर्म का अयोग अतियोग मिथ्यायोग। इसे चौथा हेतु न समझना चाहिये वस्तुतः त्रिविध ही हेतु हैं। कर्म के अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग का धीधृतिस्मृतिविभ्रंश वा प्रज्ञापराध में ही अन्तर्भाव होता है। अभी स्वयं ही कहेंगे—

'धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात् सर्वदोषप्रकोपणम् ॥'

तथाच निदानस्थान ७म अध्याय में भी कह आये हैं—

'प्रज्ञापराधात्सम्भूते व्याधौ कर्मज आत्मनः।'

अर्थात् प्रज्ञापराध से ही दुष्ट कर्म किये जाते हैं। सूत्रस्थान ११ वें अध्याय (२७३ पृष्ठ) में भी—

'त्रीण्यायतनानि—अर्थानां कर्मणः कालस्य चातियोगायोगमिथ्यायोगाः।' इनका विस्तृत उपदेश करने के पश्चात्—

इत्यसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगः प्रज्ञापराधः परिणामश्चेति ।

यह उपसंहार किया है । कर्म के अतियोग अयोग वा मिथ्यायोग का ही नाम प्रज्ञापराध कहा है । क्योंकि वाणी मन वा शरीर की प्रवृत्ति रूप कर्म का अयोग अतियोग मिथ्यायोग बिना प्रज्ञापराध के नहीं हो सकता । प्रज्ञापराध होने पर कर्म का अयोग अतियोग मिथ्यायोग स्वयं ही हो जायगा । अब शङ्का यह ही रह जाती है कि यहां 'धीधृतिस्मृतिविभ्रंश' तथा 'कर्मसम्प्राप्ति' को पृथक् क्यों पढ़ा । इस का उत्तर यह है कर्मज रोग अत्यन्त बलवान् होते हैं जब तक कर्म का क्षय नहीं होता तब तक औषधों से शान्ति नहीं होती । इसी विशेषता को जताने के लिये पृथक् पढ़ा है । अथवा चूंकि यहां ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति वा मोक्ष का प्रकरण चल रहा था वहां यदि कोई दुःख का सब से प्रधान कारण हो सकता था तो वह बुद्धिविभ्रंश वा मिथ्याज्ञान है । अतः बुद्धिविभ्रंश को पृथक् पढ़ कर कर्मसम्प्राप्ति को भी कह दिया है ॥ ९७ ॥

विषमाभिनिवेशो यो नित्यानित्ये हिताहिते ।
ज्ञेयः स बुद्धिविभ्रंशः, समं बुद्धिर्हि पश्यति ॥ ९८ ॥

बुद्धिविभ्रंश का लक्षण—जो नित्य अनित्य में हित अहित में विषम ज्ञान है उसे बुद्धिविभ्रंश कहते हैं । अर्थात् नित्य को अनित्य जानना अनित्य को नित्य जानना हित को अहित जानना और अहित को हित जानना; ये बुद्धिविभ्रंश कहाता है । क्योंकि बुद्धि निश्चय से सम (यथार्थ) देखती है अर्थात् नित्य को नित्य, अनित्य को अनित्य, हित को हित और अहित को अहित । परन्तु जब इस से विपरीत ज्ञान होगा तो वह बुद्धिविभ्रंश कहायगा ॥ ९८ ॥

विषयप्रवणं चित्तं धृतिभ्रंशान्न शक्यते ।
नियन्तुमहितादर्थाद्धृतिर्हि नियमात्मिका ॥ ९९ ॥

---

१ 'सत्त्वं' च. ।

धृतिविभ्रंश—चूंकि धृति नियम रूप है—मन को नियन्त्रण में रखने वाली है, अतः जब उसका भ्रंश होता है तब विषयों की ओर झुकाव वाला चित्त अहित विषय की ओर से धृतिविभ्रंश के कारण रोका नहीं जा सकता ॥ ९९ ॥

तत्त्वज्ञाने स्मृतिर्यस्य रजोमोहावृतात्मनः।
भ्रश्यते स स्मृतिभ्रंशः, स्मर्तव्यं हि स्मृतौ स्थितम् ॥१००॥

स्मृतिविभ्रंश का लक्षण—जिस रज और मोह से आच्छादित आत्मा वाले पुरुष की स्मृति तत्त्वज्ञान से गिर जाती है वह स्मृतिभ्रंश कहाता है। क्योंकि स्मर्तव्य (स्मरण करने योग्य—स्मृतिविषय) स्मृति में ही आश्रित है। अर्थात् जब स्मृति ठीक होती है तब सब स्मर्तव्य विषय स्मरण रहते हैं। मैंने यह दुष्कर्म किया था उसका यह अशुभ फल हुआ था। मैंने यह औषध खाई थी उससे यह लाभ हुआ था। इत्यादि ठीक २ ज्ञान स्मृति पर आश्रित है। यदि स्मृतिभ्रंश हो तो उसे ठीक २ स्मरण न होगा। जिससे वह पुनः दुःख में पड़ जायगा। यदि स्मृति ठीक होगी तो वह दुःख से बचा रहेगा। मैंने यह दुष्कर्म किया था मुझे यह अशुभ फल हुआ था इसलिए अब वह दुष्कर्म नहीं करूंगा। मैंने यह शुभ कर्म किया था उसका शुभ फल हुआ था यह स्मरण कर वह शुभकर्म में प्रवृत्त होगा। इस प्रकार वह स्मृतिसम्पन्न पुरुष सदा सुखी रहेगा ॥ १०० ॥

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपणम् ॥ १०१ ॥

प्रज्ञापराध—धी (बुद्धि) धृति (नियमात्मिका प्रज्ञा) तथा स्मृति से भ्रष्ट हुआ २ पुरुष जो अशुभ कर्म करता है उसे प्रज्ञापराध जानें। यह प्रज्ञापराध सब दोषों को प्रकुपित करता है। अर्थात् इस प्रज्ञापराध से शारीर वा मानस सम्पूर्ण दोष कुपित होते हैं ॥ १०१ ॥

उदीरणं गतिमतामुदीर्णानां च निग्रहः।

सेवनं साहसानां च नारीणां चातिसेवनम् ॥ १०२ ॥
कर्मकालातिपातश्च मिथ्यारम्भश्च कर्मणाम् ।
विनयाचारलोपश्च पूज्यानां चाभिधर्षणम् ॥ १०३ ॥
ज्ञातानां स्वयमर्थानामहितानां निषेवणम् ।
परमौन्मादिकानां च प्रत्ययानां निषेवणम् ॥ १०४ ॥
अकालादेशसंचारौ मैत्री संक्लिष्टकर्मभिः ।
इन्द्रियोपक्रमोक्तस्य सद्वृत्तस्य च वर्जनम् ॥ १०५ ॥
ईर्ष्यामानभयक्रोधलोभमोहमदभ्रमाः ।
तज्जं वा कर्म यत्क्लिष्टं यद्वा तद्देहकर्म च ॥ १०६ ॥
यच्चान्यदीदृशं कर्म रजोमोहसमुत्थितम् ।
प्रज्ञापराधं तं शिष्टा ब्रुवते व्याधिकारणम् ॥ १०७ ॥

मूत्र पुरीष आदि गतिमान् भावों को (परन्तु जिनका वेग प्रवृत्त नहीं) बलात् प्रवृत्त करना, वेग के उपस्थित होने पर उन्हें रोकना, साहस का सेवन अर्थात् अपने बल की अपेक्षा अधिक कार्य करना, अत्यन्त स्त्रीसंग वा मैथुन, जिस कर्म का जो काल हो उसे टाल देना अर्थात् जिस काल में जो चिकित्सा होनी चाहिए उस काल में उपेक्षा कर देना, वमन आदि कर्मों का यथाविधि न करना, विनय (नम्रता) और शिष्टाचार का लोप, शास्त्र में विहित कर्म को आचार कहते हैं उसका अनुष्ठान न करना, पूज्य पुरुषों का अपमान, स्वयं जानते हुए भी अहितकारक विषयों का सेवन, उन्माद के हेतुओं वा निदान का सेवन, निषिद्ध समय पर और निषिद्ध देशों में घूमना, निन्दित कर्म वाले अर्थात् पापाचारियों के साथ मैत्री, इन्द्रियोपक्रमणीयाध्याय में कहे गये सद्वृत्त (सदाचार) का त्याग, इर्ष्या अहंकार भय क्रोध लोभ मोह मद भ्रम; ये और इनसे उत्पन्न निन्दित कर्म, शारीरिक निन्दित कर्म तथा अन्य भी इसी प्रकार के रज और मोह के कारण उत्पन्न जो विविध कर्म हैं उन्हें शिष्ट पुरुष प्रज्ञापराध जानते हैं और

रोगों का कारण कहते हैं ॥ १०२-१०७ ॥

बुद्ध्या विषमविज्ञानं विषमं च प्रवर्तनम् ।
प्रज्ञापराधं जानीयान्मनसो गोचरं हि तत् ॥ १०८ ॥

उपसंहार—बुद्धि से यथार्थ ज्ञान न होना, और विषमरूप से कर्मों में प्रवृत्त होना संक्षेप में प्रज्ञापराध कहाता है । यह प्रज्ञापराध मन का विषय है । यदि मन के दोष से ठीक ज्ञान न होगा तभी पुरुष कायिक और वाचिक दुष्कर्म करेगा । क्योंकि—

'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति ।' ॥ १०८ ॥

निर्दिष्टा कालसंप्राप्तिर्व्याधीनां हेतुसंग्रहे ।
चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथा पुरा ॥ १०९ ॥

कालसम्प्राप्ति—रोगों के हेतुसंग्रह में कालसम्प्राप्ति निर्दिष्ट है। सूत्रस्थान के दीर्घंजीवितीय नामक प्रथम अध्याय में—

'कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधो हेतुसंग्रहः ॥'

इस प्रकार रोगों के निदानसंग्रह में काल का मिथ्यायोग, अयोग और अतियोग बताया है । यही कालसम्प्राप्ति का निर्देश है । जैसे पहिले सूत्रस्थान कियन्तःशिरसीय अध्याय में (४९९ पृष्ठ) पित्त आदि दोषों का संचय प्रकोप तथा शान्ति कही गई है ।

'चयप्रकोपप्रशमाः पित्तादीनां यथाक्रमम् ।
भवन्त्येकैकशः षट्सु कालेष्वभ्रागमादिषु ॥'

वर्षा शरद् तथा हेमन्त ऋतु में क्रमशः पित्त का चय प्रकोप तथा शान्ति होती है । शिशिर वसन्त तथा ग्रीष्ममें कफ का चय प्रकोप तथा शान्ति होती है । ग्रीष्म वर्षा तथा शरद् में वात का चय प्रकोप तथा शान्ति

---

१ 'व्याधिसंग्रहे' च. ।

होती है। यह कालकृत गति स्वाभाविक है। शरद् वसन्त तथा ग्रीष्म में पित्त आदि का कोप होता है वह काल के स्वभाव से ही होता है। इन में पैत्तिक आदि रोग होते हैं। ये कालज कहाते हैं ॥ १०९ ॥

मिथ्यातिहीनलिङ्गाश्च वर्षान्ता रोगहेतवः ।
जीर्णभुक्तप्रजीर्णान्नकालाकालस्थितिश्च या ॥ ११० ॥
पूर्वमध्यापराह्णाश्च रात्र्या यामास्त्रयश्च ये ।
तेषु कालेषु नियता ये रोगास्ते च कालजाः ॥ १११ ॥

शरद् से लेकर वर्षापर्यन्त जो छह ऋतुएं हैं उनका मिथ्यायोग अतियोग वा हीनयोग (इनका वर्णन सूत्रस्थान के तिस्रैषणीय नामक ११वें अध्याय में हो चुका है), भुक्त जीर्ण तथा प्रजीर्ण; ये तीन जो अन्न के काल हैं अर्थात् भोजन करते ही भुक्तान्नकाल, पच्यमानावस्था में जीर्णान्नकाल तथा पच जाने पर प्रजीर्णान्नकाल कहा जाता है, तथा अकालभोजन 'कालाः कालस्थितिश्च या' यह पाठान्तर होने पर जो कालनियम है बाल्य यौवन वार्द्धक्य आदि वह, पूर्वाह्ण (प्रातः) मध्याह्न (दोपहर) अपराह्ण (सायं); ये दिन के जो तीन विभाग हैं, रात्रि के जो तीन याम हैं—पूर्वरात्र मध्यरात्र अपररात्र वे; इन समयों में जो रोग नियत हैं, वे कालज कहाते हैं। जैसे अन्न के खाते ही, पूर्वाह्ण तथा पूर्वरात्र में कफ प्रकुपित होता है । अन्न के पच्यमानावस्था में मध्याह्न तथा मध्यरात्र में पित्त का कोप होता है। अन्न के पच जाने पर, अपराह्ण (सायं) तथा अपररात्र (रात्रि के पश्चाद्भाग) में वात का कोप होता है। ये सब कालज रोग कहायेंगे । इसी प्रकार अवस्था के हेतु से बाल्य में कफज यौवन में पित्तज तथा वार्द्धक्य में जो वातिक रोग होते हैं, वे कालज कहाते हैं।

अन्येद्युष्को द्व्यहग्राही तृतीयकचतुर्थकौ ।
स्वे स्वे काले प्रवर्तन्ते काले ह्येषां बलागमः ॥ ११२ ॥

१ 'द्व्यहग्राही चतुर्थकविपर्ययो विषमज्वरविशेषः ।

अन्येद्युष्क, द्व्यहग्राही (दिन में दो बार होने वाला—सततक अथवा दो दिन होने वाला—चातुर्थकविपर्यय), तृतीयक (तिजारी), चातुर्थक (चौथिया); ये ज्वर अपने २ समय प्रवृत्त होते हैं अपने २ काल पर ही ये बलवान् होते हैं, अतः ये भी कालज हैं ॥ ११२ ॥

एते चान्ये च ये केचित्कालजा विविधा गदाः ।
अनागते चिकित्स्यास्ते बलकालौ विजानता ॥ ११३ ॥

बल और काल को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि ये और अन्य भी जो कोई विविध कालज रोग हैं उन सब रोगों की आगमन से पूर्व ही चिकित्सा करे—रोग के बलवान् होने के समय से तथा रोग के वेगागम के काल से पूर्व ही चिकित्सा करे ॥ ११३ ॥

कालस्य परिणामेन जरामृत्युनिमित्तजाः ।
रोगाः स्वाभाविका दृष्टा स्वभावो निष्प्रतिक्रियः ॥११४॥

काल के परिणाम से जरा और मृत्यु के हेतु (कालपरिणाम रूप) से उत्पन्न होने वाले रोग (जरा मृत्यु) आदि स्वाभाविक देखे जाते हैं। स्वभाव का प्रतिकार नहीं है । जब अकाल में जरा होती है तो उसकी तो चिकित्सा हो सकती है परन्तु जब काल के स्वाभाविक परिणाम से जरा होती है तो उसका प्रतिकार नहीं हो सकता । इसी प्रकार अकाल मृत्यु का प्रतिकार हो सकता है कालमृत्यु का नहीं । ये भी कालज रोग कहाते हैं और स्वाभाविक हैं । सुश्रुत सूत्रस्थान १म अध्याय में कहा भी है—

'स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः ।'

जरामृत्यु का हेतु देहोत्पादक भूतों का स्वभाव तथा अदृष्ट भी है॥

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदेहिकम् ।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते ॥ ११५ ॥

---

१ 'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः । मध्येऽहनी ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति ॥

पूर्वदेह में किये गये कर्म को ही 'दैव' शब्द से कहा जाता है। वह 'दैव' भी काल से रोगों का हेतु होता है। अर्थात् जब दैव के पकने का समय आता है तब वह भी रोग का कारण हुआ करता है॥

न हि कर्म महत्किंचित्फलं यस्य न भुज्यते ।
क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः, प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥११६॥

ऐसा कोई महान् कर्म नहीं जिसका फल न भोगा जाता हो। कर्मज रोग क्रिया (चिकित्सा) के नाशक होते हैं। अथवा 'किंचित्' का अर्थ स्वल्प करना चाहिये। अर्थात् स्वल्प वा महान् कर्म ऐसा नहीं जिसका फल न भोगा जाता हो। कर्म के क्षय होने पर ही उन रोगों का नाश होता है। अर्थात् जब तक कर्मज रोगी पुरुष कर्म के फल का उपभोग नहीं कर लेता तब तक लाख चिकित्सा करने पर भी वह शान्त नहीं होगा। फल का उपभोग कर चुकने पर ही वह कर्मज रोग शान्त हुआ करता है। भोगने के बिना कर्म का क्षय नहीं होता। कहा भी है—

'नाभुक्तं क्षीयते कर्म ॥ ११६ ॥

अत्युग्रशब्दश्रवणाच्छ्रवणात्सर्वशो न च ।
शब्दानां चातिहीनानां भवन्ति श्रवणाज्जडाः ॥ ११७ ॥

असात्म्येन्द्रियार्थागम का विवरण—असात्म्य इन्द्रियविषयों का संयोग रोग का हेतु है यह अभी कहा जा चुका है। इन्द्रिय के विषय हैं शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध। 'असात्म्य' कहने से उन के अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग का ग्रहण है।

शब्द का अतियोग और अयोग—अत्यन्त ऊंचे शब्द को सुनने से (शब्द का अतियोग), सर्वथा न सुनने से तथा अति धीमे शब्दों को सुनने से (शब्द का अयोग) श्रवणशक्ति लुप्त हो जाती है—पुरुष बहरे हो जाते हैं ॥ ११७ ॥

परुषोद्भीषणाशस्ताप्रियव्यसनसूचकैः ।
शब्दैः श्रवणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ ११८ ॥

शब्द का मिथ्यायोग—कठोर डरावने अशुभ अप्रिय तथा विपत्ति-सूचक शब्दों का श्रोत्र के साथ संयोग होना अर्थात् सुनना शब्द का मिथ्यायोग कहाता है ॥ ११८ ॥

असंस्पर्शोऽतिसंस्पर्शो हीनसंस्पर्श एव च ।
स्पृश्यानां संग्रहेणोक्तः स्पर्शनेन्द्रियबाधकः ॥ ११९ ॥

स्पर्श का अतियोग और अयोग—स्पृश्यों (स्पर्श से ज्ञेय भाव) का सर्वथा स्पर्श न करना, अत्यधिक स्पर्श करना, बहुत कम स्पर्श करना; ये संक्षेप में स्पर्शनेन्द्रिय (त्वक्) को हानि पहुंचाते हैं॥११९॥

यो भूत[1]विषवातानामकालेनागतश्च यः ।
स्नेहशीतोष्णसंस्पर्शो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ १२० ॥

स्पर्श का मिथ्यायोग—भूत (पिशाच आदि वा कीटाणु आदि), विषवात का स्पर्श तथा अकाल में स्नेह शीत वा उष्ण का स्पर्श होना मिथ्यायोग कहाता है। अकाल में कहने से-जिस अवस्था में और जिस क्रम से होना चाहिये वैसा न होने से तात्पर्य है। जैसे गरमी से अत्यन्त सताया हुआ पुरुष सहसा शीतल जल से स्नान कर ले इत्यादि ॥ १२० ॥

रूपाणां भास्वतां दृष्टिर्विनश्यति हि दर्शनात् ।
दर्शनाच्चातिसूक्ष्माणां सर्वशश्चाप्यदर्शनात् ॥ १२१ ॥

रूप का अतियोग और अयोग—अत्यन्त चमकदार वा चौंधिया देने वाले अथवा अत्यन्त सूक्ष्म रूपों को देखने से अथवा सर्वथा ही रूप को न देखने से दृष्टि नष्ट हो जाती है ॥ १२१ ॥

द्विष्टभैरवबीभत्सदूरातिश्लिष्टदर्शनात् ।
तामसानां च रूपाणां मिथ्यासंयोग उच्यते ॥ १२२ ॥

रूप का मिथ्यायोग—अप्रिय डरावने घृणित अति दूर के अति समीप के वा अतिनिन्दित तामस रूपों का देखना मिथ्यायोग

---

१ 'भूताः सविषक्रिमिपिशाचादयः' चक्रः ।

कहाता है ॥ १२२ ॥

अत्यादानमनादानमोकसात्म्यादिभिश्च यत् ।
रसानां विषमादानमल्पादानं च दूषणम् ॥ १२३ ॥

रस का अयोग अतियोग मिथ्यायोग—रस का अत्यधिक लेना, सर्वथा न लेना, ओकसात्म्य आदि से विरुद्ध रसों का लेना (इस से राशि के अतिरिक्त प्रकृति करण आदि आहारविधिविशेषायतनों से विरुद्ध रसों का लेना भी ग्रहण किया जाता है) तथा रसों का अत्यन्त थोड़ा लेना दूषक होता है ॥ १२३ ॥

अतिमृद्वतितीक्ष्णानां गन्धानामुपसेवनम् ।
असेवनं सर्वशश्च घ्राणेन्द्रियविनाशनम् ॥ १२४ ॥

गन्ध का अतियोग वा अयोग—अत्यन्त मृदु और अत्यन्त तीक्ष्ण गन्धों का सेवन अथवा सर्वथा गन्धों का न सूंघना ये घ्राणेन्द्रिय को नष्ट करते हैं ॥ १२४ ॥

पूतिभूतविषद्विष्टा गन्धा ये चाप्यनार्तवाः ।
तैर्गन्धैर्घ्राणसंयोगो मिथ्यायोगः स उच्यते ॥ १२५ ॥

गन्ध का मिथ्यायोग—दुर्गन्ध, भूतगन्ध, विष की गन्ध, अप्रिय गन्ध तथा अकाल में जो गन्ध हो उसका सूंघना मिथ्यायोग कहाता है। ये सब रोगहेतु सूत्रस्थान के ११ वें अध्याय में भी विस्तार से वर्णित हैं ॥ १२५ ॥

इत्यसात्म्येन्द्रियसंयोगस्त्रिविधो दोषकोपनः ।

यह तीन प्रकार का असात्म्य विषय का संयोग दोषों को कुपित करता है। अयोग अतियोग तथा मिथ्यायोग ये ही तीन प्रकार हैं। उपर्युक्त असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग के विवरणों में हीनयोग को भी पढ़ा है। वह हीनयोग अयोग में ही अन्तर्भूत होता है। अयोग का अर्थ जहां सर्वथा योग न होना है वहां ईषद्योग (स्वल्पयोग) भी है। अयोग में जो नञ् का प्रयोग है उसका अर्थ ईषत् वा

स्वल्प भी होता है ।

असात्म्यमिति तद्विद्याद्यन्न याति सहात्मताम् ॥ १२६ ॥

असात्म्य का लक्षण—जो देह वा मन के साथ आत्मीभाव को प्राप्त नहीं होता वह असात्म्य कहाता है । अर्थात् जो रूप रस आदि देह वा मन के अनुकूल नहीं—दुःख देने वाले हैं; वे असात्म्य कहाते हैं । रसविमान में कह भी आये हैं—

'सात्म्यं नाम तद्यदात्मनि उपशेते ।'

विषयों के अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग सुखकर नहीं—अनुकूल नहीं, अतः वे असात्म्य कहाते हैं ॥ १२६ ॥

मिथ्यातिहीनयोगेभ्यो यो व्याधिरुपजायते ।
शब्दादीनां स विज्ञेयो व्याधिरैन्द्रियको बुधैः ॥ १२७ ॥

शब्द आदि विषयों के मिथ्यायोग अतियोग वा हीनयोग (इसी से सर्वथा अयोग का भी ग्रहण होता है) से जो रोग उत्पन्न होता है वह रोग ऐन्द्रियक कहाता है । इन्द्रियों द्वारा विषय का अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग होने से रोग को ऐन्द्रियक कहा जाता है ॥ १२७ ॥

वेदनानामसात्म्यानामित्येते हेतवः स्मृताः ।

ये सब अर्थात् असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग, बुद्धिधृतिस्मृतिविभ्रंश तथा काल और कर्म की सम्प्राप्ति असात्म्य वेदनाओं (दुःखों) के हेतु हैं । इन्हें दूसरे शब्दों में असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग प्रज्ञापराध और परिणाम भी कहते हैं ॥

सुखहेतुर्मतस्त्वेकः समयोगः सुदुर्लभः ॥ १२८ ॥

एक समयोग ही सुख वा आरोग्य का हेतु है । परन्तु यह समयोग अत्यन्त दुर्लभ ही होता है । अर्थात् अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग; ये तीन रोगों के हेतु हैं और समयोग स्वास्थ्य का हेतु है । इनमें समयोग दुर्लभ होता है । काल कर्म आदि स्वभावतः भी दोषों के कोपक हैं, जिन पर हमारा कोई वश नहीं ॥ १२८ ॥

नेन्द्रियाणि न चैवार्थाः सुखदुःखस्य हेतवः ।
हेतुस्तु सुखदुःखस्य योगो दृष्टश्चतुर्विधः ॥ १२६ ॥
सन्तीन्द्रियाणि सन्त्यर्था योगो न च न चास्ति रुक् ।
न सुखं, कारणं तस्माद्योग एव चतुर्विधः ॥ १३० ॥

न इन्द्रियां न उनके विषय सुख वा दुःख के कारण हैं। सुख और दुःख का कारण तो चार प्रकार का योग है। इन्द्रियां भी हैं और विषय भी हैं, यदि इनका योग नहीं तो न सुख है न दुःख है। यदि योग हो तो सुख और दुःख होते हैं। यदि समयोग होगा तो सुख और यदि अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग होगा तो दुःख होगा। इन्द्रिय और विषय कहने से काल कर्म वा बुद्धि का भी ग्रहण कर लेना चाहिये ॥ १३० ॥

नात्मेन्द्रियमनोबुद्धिगोचरं कर्म वा विना ।
सुखदुःखं यथा यच्च बोद्धव्यं तत्तथोच्यते ॥ १३१ ॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय वा कर्म के विना सुख वा दुःख नहीं होता। आत्मा वेदयिता है—सुख दुःख का ज्ञान करने वाला है। इन्द्रिय मन बुद्धि; ये करण—साधन हैं। सुख दुःख भी किसी विषयक होते हैं वे हैं इन्द्रियों के विषय रूप रस आदि। कर्म प्रेरक है। कर्म वा धर्माधर्म द्वारा प्रेरित आत्मा ही सुख दुःख का भोक्ता होता है। अतः इन सब के होने पर ही सुख दुःख का ज्ञान होता है। परन्तु आत्मा आदि के होने पर भी जो सुख दुःख जिस प्रकार से (समयोग आदि चार प्रकार के योग से) जाना जाता है वह वैसे ही कहा जाता है। अर्थात् आत्मा आदि को भी यद्यपि सुख दुःख में कारण कहना चाहिये परन्तु कार्यवश से जिसे जिस प्रकार से जानना चाहिये उसे उसी प्रकार कहा जाता है। चिकित्सा में उपशय से सुख और अनुपशय से दुःख जाना जाता है। उपशय-कारक होने से समयोग सुख का हेतु कहाता है। अनुपशय होने से

अतियोग आदि दुःख के हेतु कहाते हैं ॥

अथवा इसका अर्थ दूसरी प्रकार भी कर सकते हैं—अथवा आत्मा इन्द्रिय मन और बुद्धि से ज्ञेय सुख दुःख कर्म (अदृष्ट धर्माधर्म) के बिना नहीं होता। अर्थात् सुख दुःख का कर्म भी कारण है। रूप रस आदि इन्द्रियविषयों का आत्मा आदि के साथ कर्म में संयोग होने पर जिस प्रकार सुख वा जिस प्रकार दुःख होता है वह उसी प्रकार जाना जाता है। अर्थात् जब समयोग होगा तब सुख जब अयोग आदि होते हैं तब दुःख होता है। अतः कर्म को कारण न कहकर चारों प्रकार के योग को कारण कहा है। अथवा यह भी अर्थ कर सकते हैं कि आत्मा आदि के बिना सुख दुःख नहीं होता। यह सुख दुःख जिस प्रकार से अनुभव किया जाता है, अब वैसा ही (अनुभव का प्रकार) कहा जाता है—॥ १३१ ॥

स्पर्शनेन्द्रियसंस्पर्शः स्पर्शो मानस एव च ।
द्विविधः सुखदुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः ॥ १३२ ॥

वेदना के अनुभव का प्रकार—सुख दुःख रूप वेदनाओं का प्रवर्तक दो प्रकार का स्पर्श है। १—स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) का स्पर्श। २—मानस स्पर्श। बाह्य विषय के ग्रहणमें स्पर्शनेन्द्रिय का स्पर्श एक प्रकार का प्रवर्तक है, मन के विषय (चिन्त्य आदि) के ग्रहण में मानसस्पर्श दूसरे प्रकार का प्रवर्तक है। स्पर्शनेन्द्रिय सम्पूर्ण इन्द्रियों में व्यापक है। सूत्रस्थान के ११ वें अध्याय में कह भी आये हैं—

' तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतःसमवायि ' इत्यादि

स्पर्शनेन्द्रिय का भी जब मन के साथ सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है। विश्वनाथकारिका में कहा भी है—' त्वचो योगो मनसा ज्ञानकारणम् ।' परन्तु स्पर्शनेन्द्रिय के सम्बन्ध से जो सुख दुःख की प्रवर्तना होती है वह बाह्येन्द्रियविषयक होती है। और चिन्त्य आदि जो

मन के अपने विषय हैं उन से जब मन का सम्बन्ध होता है उस से प्रवृत्त सुख दुःख मानस होता है। इस प्रकार सुख और दुःख के दो प्रकार के प्रवर्तक कारण आचार्य ने बताये हैं ॥ १३२ ॥

इच्छाद्वेषात्मिका तृष्णा सुखदुःखात्प्रवर्तते ।
तृष्णा च सुखदुःखानां कारणं पुनरुच्यते ॥ १३३ ॥

सुख और दुःख से इच्छा और द्वेष रूप तृष्णा की प्रवृत्ति होती है और यह तृष्णा पुनः सुख दुःख को कारण होती है। जिस प्रकार बीज अङ्कुर का कारण है और अङ्कुर बीज का कारण है ॥ १३३ ॥

सुख से इच्छा रूप तृष्णा उत्पन्न होती है और दुःख से द्वेष रूप तृष्णा उत्पन्न होती है। अर्थात् इस से सुख मिला था अतः उस में राग हो जाता है। और जिस से दुःख मिले उस से द्वेष होता है अतः यह तो ठीक है कि सुख से इच्छा और दुःख से द्वेष होता है पर इच्छा और द्वेष से सुख और दुःख कैसे होते हैं—इस का उत्तर देते हैं—

उपादत्ते हि सा भावान् वेदनाश्रयसंज्ञकान् ।
स्पृश्यते नानुपादाने[1] नास्पृष्टो वेत्ति वेदनाः ॥ १३४ ॥

वह तृष्णा वेदना के आश्रय कहलाने वाले भावों (देह इन्द्रिय मन) का अवलम्बन करती है। यदि तृष्णा उनका अवलम्बन न करे तो स्पर्शनेन्द्रिय और मन का स्पर्श नहीं होता और स्पर्श न होने से सुख दुःख आदि वेदना का ज्ञान नहीं होता। तृष्णा ही जन्म का कारण है। जन्म होने से ही सुख दुःख रूप वेदना होती है। जब विषयों की तृष्णा नहीं रहती तब उस देह में स्पर्शनेन्द्रिय का और मानस-स्पर्श नहीं रहता। और तब सुख दुःख नहीं होते। यही मोक्ष की अवस्था है ॥ १३४ ॥

वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः ।
केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना ॥ १३५ ॥

---

१ 'नानुपादानो' ग.।

इक्कीसवें प्रश्न-वेदनाओं का अधिष्ठान क्या है—का उत्तर—वेदनाओं का आश्रय मन और इन्द्रियुक्त देह है। 'सेन्द्रिय' (इन्द्रिययुक्त) कहने से जीवित शरीर जानना चाहिये-क्योंकि कहा भी आये हैं—

'सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।'

'सेन्द्रिय' कहने से ही केश लोम आदि का निरास हो जाता है। अतएव कहा है—केश लोम नख का अग्रभाग अन्न मल (पुरीष आदि) द्रव (मूत्र आदि वा शरीरान्तःस्थित रक्त आदि) तथा शब्द आदि गुण को छोड़कर मन और चेतन शरीर वेदनाओं का अधिष्ठान है। न्यायदर्शन में कहा भी है—

'चैतन्यस्य शरीरव्यापित्वात्।' 'तस्य केशनखादिष्वनुपलब्धेः।' 'त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशलोमादिष्वप्रसङ्गः॥' १३५॥

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे[1] निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥ १३६॥

बाईसवें प्रश्न-ये सब वेदनायें सम्पूर्णतया कहां निवृत्त होती हैं-का उत्तर—योग और मोक्ष में सभी वेदनाओं की सत्ता नहीं रहती। मोक्ष में वेदनाओं की निःशेष निवृत्ति होती है-सर्वथा निवृत्ति होती है। योग मोक्ष का प्रवर्तक है॥ १३६॥

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात्प्रवर्तते।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥ १३७॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥ १३८॥

योग का लक्षण—आत्मा इन्द्रिय मन और विषय; इनके संयोग से सुख और दुःख प्रवृत्त होता है। जब आत्मा में मन स्थिर भाव से अवस्थिति करता है तो किसी कार्य के न होने से सुख और दुःख निवृत्त होजाते हैं। तब शरीरयुक्त भी वह पुरुष वशी होजाता है।

---

१ 'मोक्षो' ग.।

योग को जानने वाले ऋषि उसे योग कहते हैं । अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है । इन वृत्तियों के निरोध से द्रष्टा पुरुष अपने रूप में अवस्थिति करता है—मुक्त होता है । योगी जीवन्मुक्त होता है । उस समय देह के रहते भी सुख दुःख आदि वेदना नहीं होती इसे सदेहमुक्ति कहते है । जब शरीर का भी त्याग हो जाता है तब मुक्त होता है । इस मुक्ति को विदेहमुक्ति वा कैवल्य कहते हैं । चित्त की वृत्तियों का निरोध होते ही पुरुष जीवन्मुक्त हो जाता है । और जब शरीर भी छूट जाता है तब कैवल्य वा विदेहमुक्ति होती है । वैशेषिक में भी योग का लक्षण बताया गया है—

'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ।' 'तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः ॥'

तथा योगदर्शन में—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।' तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥१३७-१३८॥

आवेशश्चतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया ।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम् ॥ १३९ ॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम् ।
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत्सर्वमुपजायते ॥ १४० ॥

योगियों का आठ प्रकार का ऐश्वर्य—१ अपने चित्त को दूसरे के शरीर में प्रविष्ट कर देना । योगदर्शन में कहा है—

'बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥'

२ सब ज्ञेय विषयों का ज्ञान, चाहे वे अत्यन्त सूक्ष्म हों अत्यन्त दूर हों वा मध्य में किसी का व्यवधान हो अतीत हो अनागत हो इत्यादि । योगदर्शन में कहा है—

'प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।' 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।' 'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।' 'ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।'

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।' 'हृदये चित्तसंवित् ।' 'परिणामत्रय-संयमादतीतानागतज्ञानम् ।'

३ अपनी इच्छा से जो चाहे वह कर्म करना। जैसे—इच्छा हो तो आकाश में भी उड़ सकता है। योगदर्शन में कहा है—

'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमात् लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।'

४ दिव्यदृष्टि होता है। जो चाहता है वह देख सकता है। योगदर्शन में कहा है—

'मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।'

५ दिव्य श्रोत्र होते हैं। जो चाहता है सुन लेता है। योगदर्शन में—

'श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ।'

६ स्मृति भी दिव्य हो जाती है। वह अपने पूर्व जन्म का स्मरण भी कर सकता है। योगदर्शन में—

'संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिविज्ञानम् ।'

७ उसकी कान्ति दिव्य होती है। योगदर्शन में—

'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।' 'रूपलावण्य बलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पद् ।'

८ जब चाहे अदृश्य हो सकता है। योगदर्शन में—

'कार्यरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ।'

ये आठ प्रकार का योगियों का दिव्य बल बता दिया है। यह सब बल शुद्ध मन (रज तम रहित) के समाधान से—संयम से वा आत्मा में स्थिर भाव से अवस्थिति करने पर उत्पन्न हो जाता है।

इन के विशेष ज्ञान के लिये योगदर्शन के विभूतिपाद का स्वाध्याय करना चाहिये॥ १३९—१४०॥

मोक्षो रजस्तमोऽभावाद्बलवत्कर्मसंक्षयात् ।

वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भाव उच्यते ॥ १४१ ॥

मोक्ष किसे कहते हैं ?—रज और तम की निवृत्ति होने पर बलवान् कर्मों के क्षय से जो कर्मबन्धनों से वियोग (संयोगाभाव) है वह ही अपुनर्भाव वा मोक्ष कहाता है । वैशेषिक दर्शन में भी कहा है—

'तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।'

बलवान् कर्म कहने का अभिप्राय यह ही है–जिसका फल अवश्य भोगना होता है उस कर्म के उपभोग द्वारा क्षीण होने पर । कई कर्म ऐसे भी होते हैं जिनका फल अवश्य ही नहीं भोगना होता । यह पहिले कहा जा चुका है--कर्म दो प्रकार के हैं—जिनमें से एक को दैव कहते हैं और दूसरे को पौरुष कहते हैं । जब दैव बलवान् होता है तो उसका फल अवश्य भोगना होता है परन्तु जब इन दोनों में पौरुष बलवान् होता है तो दैव मारा जाता है । विमानस्थान के तृतीय अध्याय में कहा है—

'दैवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।
दैवेन चेतरत्कर्म विशिष्टेनोपहन्यते ॥'

इसी अध्याय में प्रथम भी कहा है—

'न हि कर्म महत्किञ्चित्फलं यस्य न भुज्यते ।'

वहां पर 'महत्' शब्द का प्रयोग किया है । बलवान् कर्म का फल अवश्य भोगना होता है । वहां हम ने दूसरे मत वालों का अर्थ भी दिया है वे वहां 'किंचित्' से स्वल्प कर्म को भी ग्रहण करते हैं । पर वह मत ठीक नहीं है क्योंकि बलवान् पौरुष निर्बल दैव को पराभूत कर देता है । अन्यथा प्रायश्चित्त चिकित्सा आदि व्यर्थ हों ॥

जब अदृष्ट (धर्माधर्म) ही नहीं रहता तो महाभूतों के परमाणु आदियों का संयोग भी नहीं होता । सुतरां पुनर्जन्म नहीं होता ॥१४१

सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम् ।

---

१ 'सर्वसंयोगैरपुन०' च० ।

व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः ॥ १४२ ॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः ।
विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः ॥ १४३ ॥
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः ।
नैष्क्रम्यमनहङ्कारः संयोगे भयदर्शनम् ॥ १४४ ॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम् ।
तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सर्वमेतत्प्रवर्तते ॥ १४५ ॥

मोक्ष के उपाय—सत्पुरुषों के साथ सम्यक् प्रकार से रहना, असत्पुरुषों (पापियों) का त्याग, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, उपवास[2] (पाप से निवृत्त होकर अपने में गुणों का धारण), नानाप्रकार के नियम[3] (शौच सन्तोष तप स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान) धर्मशास्त्रों में अभ्यास और तदनुसार धर्माचरण करना, आत्मज्ञान, एकान्त में प्रीति अर्थात् निर्जन स्थान पर रहना, विषयों में प्रीति न होना, मोक्ष प्राप्ति में निश्चय अथवा मोक्ष के लिये चेष्टा, मन का सर्वथा नियन्त्रित रखना, बन्धन के हेतु कर्मों का उत्पन्न न होना, किये कर्मों का क्षय, संसारबन्धन से निकलने की इच्छा अथवा वैराग्य, अहङ्कार का त्याग (यह मेरा है इत्यादि बुद्धि का त्याग), संयोग (आत्ममनः-शरीरसंयोग वा जन्म) में भय का देखना (संसार में दुःख ही है), मन और बुद्धि का एकाग्र करना—वृत्तियों का निरोध, अर्थ अर्थात् वस्तुओं के तत्त्व का ज्ञान, ये सब यथार्थ स्मृति की उपस्थिति से प्रवृत्त होते हैं ॥ १४२–१४५ ॥

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपलभ्यते ।

१ 'नैष्क्रम्यं संसारनिःसरणेच्छा' चक्रः । 'नैष्कर्म्य०' पा० । २ 'उपावृत्तस्य पापेभ्यः सहवासो गुणे हि यः । उपवासः स विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम् ॥' ३ नियमों से ही यमों का अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का भी ग्रहण किया जाता है । क्योंकि मनु ने कहा है—

'यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ।' ॥

४ 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिन ।' योगदर्शने ॥

स्मृत्या स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात्प्रमुच्यते ॥ १४६ ॥

सत्पुरुषों के सेवन से लेकर धृति (मन को नियन्त्रण में रखना) पर्यन्त कहे गये लिङ्गों से स्मृति जानी जाती है । अर्थात् जो पुरुष दुराचारियों का संग इत्यादि रखता है उसमें स्मृति नहीं । क्योंकि इन अशुभ कर्मों से वह कितने ही जन्म और दुःख पा चुका है परन्तु अब भी वह दुराचारियों के संग आदि को नहीं छोड़ता । कोई भी पुरुष चाहे वह मूर्ख ही क्यों न हो अपने को दुःख में नहीं डालना चाहता । यदि वह जानता है कि मुझे इससे दुःख होगा वह कदापि उसमें नहीं पड़ेगा । प्रथम वह जब अनुभव कर चुका है कि इस प्रकार दुःख होता है यदि उसे वह स्मरण होता तो वह उसमें न पड़ता । परन्तु यदि स्मरण न हो फिर उसमें फंस जाता है । इसी लिये जब हम देखते हैं कि वह उन्हीं कर्मों में फंसा है जिन से दुःख होता है तो हम समझ जांयगे कि उसे तत्त्वस्मृति नहीं । स्मृति द्वारा भावों के स्वभाव को स्मरण करते हुए पुरुष दुःख से मुक्त हो जाता है । जितने भी उत्पत्तिधर्म वाली वस्तुएं हैं वे सब दुःख का कारण हैं, अतः उनसे बचने का उपाय करने पर दुःख से मुक्ति हो जाती है—संसारचक्र में पुनः नहीं आता ॥

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते ।
निमित्तरूपग्रहणात्सादृश्यात्सविपर्ययात् ॥ १४७ ॥
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात्पुनःश्रुतात् ।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात्स्मृतिरुच्यते ॥ १४८ ॥

स्मृति के कारण—आठ कारण हैं जिनसे स्मृति उत्पन्न होती है ॥

१—निमित्त (कारण) के ग्रहण से । २—रूप (आकृति) वा लिङ्ग के देखने से ३—सादृश्य (समानता) से । ४—विभिन्नता से । ५—मन के अनुबन्ध से अर्थात् मन को स्मर्तव्य विषय की ओर लगाने से । ६—अभ्यास से । ७—ज्ञानयोग से—तत्त्वज्ञान से । ८—दुबारा सुनने से ॥

कारण से कार्य का स्मरण जैसे पिता को देखने से पुत्र का। लिङ्ग ग्रहण से जैसे धूम को देखकर अग्नि का स्मरण। अभ्यास का अर्थ है—मन को स्थिरभाव से आत्मा में स्थित करने का यत्न। योग-दर्शन में चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय बताते हुए कहा है—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'॥

इस अभ्यास से सब विषयों का स्मरण होता है। शेष सब स्पष्ट ही हैं।

देखे सुने वा अनुभव किये हुए विषय का उपर्युक्त आठ कारणों से स्मरण करना स्मृति कहाती है॥ १४७–१४८॥

एतत्तदेकमयनं मुक्तैर्मोक्षस्य दर्शितम्।
तत्त्वस्मृतिबलं, येन गता न पुनरागताः॥ १४९॥

मुक्त पुरुषों ने मोक्ष का यह वह एक मार्ग दिखाया है जिसे तत्त्व-स्मृतिबल कहते हैं। इस मार्ग से गये पुनः इस संसार में वापिस नहीं आये। अर्थात् स्मृति तो इस लोक में भी है। यह गौ है यह घोड़ा है यह वृक्ष है इत्यादि ठीक २ स्मरण तो इस लोक में भी देखा जाता है परन्तु मुक्त तो नहीं होते। इसका उत्तर यह है कि तत्त्व दो प्रकार का है—१–लौकिक २–पारमार्थिक। यह घोड़ा है यह गौ है इत्यादि तत्त्वस्मरण लौकिक है। परन्तु यह पुरुष क्यों पैदा हुआ? कैसे पैदा हुआ? इसका क्या होगा इत्यादि दृष्ट श्रुत वा अनुभूत विषय का स्मरण पारमार्थिक तत्त्वस्मरण कहाता है। यह पारमार्थिक तत्त्व का स्मरण मोक्ष पर पहुंचने का मार्ग है। लौकिक स्मरण का तो निरोध करना होता है। उसे पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों में गिना है उनका निरोध करना आवश्यक है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः।' 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।' 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः॥'

अयनं पुनराख्यातमेतद्योगस्य योगिभिः।
संख्यातधर्मैः सांख्यैश्च मुक्तैर्मोक्षस्य चायनम्॥ १५०॥

योगियों ने तत्त्व की स्मृति के बल को योग का मार्ग कहा है और ज्ञातधर्मा (जिन्हों ने आत्मा और प्रकृति के धर्मों को जान लिया है) ज्ञानियों एवं मुक्त पुरुषों ने इसे ही मोक्ष का मार्ग बताया है॥१५०॥

सर्वं कारणवद्दुःखमस्वं चानित्यमेव च ।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता ॥ १५१ ॥
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यथा ।
नैतन्मम च विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते ॥ १५२ ॥

परमार्थिक तत्त्व—जो कुछ भी कारण वाला है वह सब दुःख है। अर्थात् जो उत्पन्न होता है वह सब दुःख ही है। अपना नहीं—आत्मा का नहीं है और सब अनित्य है। वह दुःख आत्मा का बनाया नहीं परन्तु अज्ञान से उस में अपनापन (ममता) उत्पन्न होता है। जब तक सत्या बुद्धि वा ऋतम्भरा प्रज्ञा उत्पन्न नहीं होती तब तक 'यह मेरा है' इत्यादि ममता विद्यमान् रहती है। प्रकृति भृत्य है आत्मा स्वामी है। आत्मा के पास प्रकृति स्व (अपने) की तरह रहती है जिससे अपरीक्षकों को प्रकृति के धर्म भी आत्मा के धर्म प्रतीत होते हैं। जब द्रष्टा (आत्मा) दृश्य (प्रकृति) का पार्थक्येन ज्ञान हो जाता है तब स्वता (ममता) नष्ट हो जाती है। एक आख्यानक है--जैगीषव्य को दश महासर्गों के पश्चात् तत्त्वज्ञान हुआ था। आवट्य ने उससे पूछा कि इन महासर्गों में आप बारंबार उत्पन्न होते रहे हैं और अब आप को तत्वज्ञान भी हो गया है आप ठीक २ बता सकते हैं कि आप ने उन दस महासर्गों में क्या देखा (तत्वज्ञान होने से जैगीषव्य को तत्त्वस्मृतिबल था)। जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि मैंने तो इन दस महासर्गों में दुःख ही दुःख देखा और कुछ भी नहीं। इस पर आवट्य ने पूछा—क्या आप प्रधान (प्रकृति) को वश में करना (ऐश्वर्य) तथा सर्वश्रेष्ठ सन्तोषसुख को भी दुःख ही गिनते हैं। जिस पर जैगीषव्य ने उत्तर दिया कि हां। विषयसुख की अपेक्षा से ही

सन्तोषसुख को सर्वश्रेष्ठ कहा है। मोक्ष की अपेक्षा तो वह दुःख ही है। त्रिगुण (सत्व रज तम) धर्म प्रकृति का है। यह अन्त में हेय ही है।

सत्याबुद्धि (ऋतम्भरा प्रज्ञा) उत्पन्न होने पर ज्ञानी 'यह मैं नहीं हूं' 'यह मेरा नहीं' इत्यादि ज्ञान होकर सब को लांघ जाता है—संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है, पुनः इस संसार में नहीं आता १५१-१५२

तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।
असंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥ १५३॥

जब अन्त में सब कर्मों का संन्यास (त्याग) हो जाता है तब कारण (बुद्धि आदि) सहित सब वेदनायें संज्ञा (आलोचनात्मक निर्विकल्पक ज्ञान), ज्ञान (सविकल्पक ज्ञान) विज्ञान (बुद्धि द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान) से रहित होकर सर्वथा निवृत्त हो जाती हैं। उस समय आत्मरूप ही हो जाता है, ज्ञान विज्ञान सुख दुःख कुछ नहीं रहता॥ १५३॥

अतःपरं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते॥ १५४॥
गतिर्ब्रह्मविदां ब्रह्म तच्चाक्षरमलक्षणम्।
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति॥ १५५॥

तेईसवें प्रश्न—सर्वज्ञ सर्वत्यागी सब संयोगों से परे प्रशान्त आत्मा को किन लिङ्गों से जानते हैं—का उत्तर——जब सर्वकर्मत्याग से सब वेदनायें निवृत्त होजाती हैं तब चिन्ह (लिङ्ग) से रहित, महत्तत्व आदि सब भावों से मुक्त तथा ब्रह्मरूप हुआ २ भूतात्मा नहीं जाना जाता। अर्थात् जबतक उसका योग महत्तत्व आदि के साथ रहता है तब तक प्राणापान आदि लिङ्ग होते हैं। जब इनके साथ संयोग नहीं तब प्राणापान आदि कोई लिङ्ग नहीं दिखाई देता॥

---

१ 'समज्ञाज्ञानविज्ञानात्' ग.। 'समग्रज्ञेयविज्ञानात्' यो०। २ 'ज्ञेयं' च.।

ब्रह्मज्ञानी ही ब्रह्म होते हैं—उनका आत्मा स्वतन्त्र होता है। वह ब्रह्म अविनाशी अद्वय तथा लिङ्गरहित है। ब्रह्मज्ञानी ही उसे जानते हैं। मूर्ख उसे नहीं जान सकता ॥

तत्र श्लोकः ।

प्रश्नाः पुरुषमाश्रित्य त्रयोविंशतिरुत्तमाः ।
कतिधापुरुषीयेऽस्मिन्निर्णीतास्तत्त्वदर्शिना ॥ १५६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने कतिधा-
पुरुषीयं शारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस कतिधा पुरुषीय नामक अध्याय में तत्त्वदर्शी आत्रेय मुनि ने पुरुष सम्बन्धी २३ उत्तम प्रश्नों का निर्णय किया है ॥ १५६ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

अथातोऽतुल्यगोत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब अतुल्यगोत्रीय शारीर की व्याख्या करेंगे—ऐसे भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

अतुल्यगोत्रस्य रजःक्षयान्ते रहोविसृष्टं मिथुनीकृतस्य ।
किं स्याच्चतुष्पात्प्रभवं च षड्भ्यो यत्स्त्रीषु गर्भत्वमुपैति पुंसः ॥२॥

प्रश्न—मासिक रजःस्राव के बन्द होने के बाद स्त्री से भिन्न गोत्र वाले पुरुष के स्त्री के साथ मैथुन करने पर वह एकान्त में बाहिर निकलने वाली (पुरुष की) कौनसी वस्तु है जिसके चार पैर हैं, जो छह से उत्पन्न होता है और जो स्त्रियों में गर्भ रूप को प्राप्त होता है ॥

इस से यह बताया है कि सगोत्र विवाह नहीं होता। जिन दिनों में रजःस्राव हो रहा हो वे दिन मैथुन के लिये त्याज्य हैं।

मैथुन एकान्त में होना चाहिये । यद्यपि समान गोत्र वाले स्त्री पुरुषों के मैथुन से भी गर्भ हो जाता है परन्तु उसमें कुष्ठ अक्षिरोग आदि नानाप्रकार के रोग होते हुए देखे जाते हैं । धर्मशास्त्रों ने समान गोत्र स्त्री पुरुषों का विवाह निषिद्ध ठहराया है । मनु ने कहा है—

' असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥ '

रजःस्राव के दिनों में मैथुन का निषेध है । आठवें अध्याय में कहा जायगा—

' पुष्पात् प्रभृति त्रिरात्रमासीत ब्रह्मचारिणी । '

इसी प्रकार सुश्रुत शारीर २ अ० में—

' ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी ...... ॥'

' दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं, त्र्यहं च भर्त्तुः संरक्षेत् । ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहनि ...... भर्त्तारं दर्शयेत् ।'

इस में हेतु बताते हुए आगे चलकर कहा है—

' तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते । द्वितीयेऽप्येवं, सूतिका गृहे वा । तृतीयेऽप्येवमसम्पूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति । चतुर्थे तु सम्पूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति । न च प्रवर्त्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेव द्रष्टव्यम् । तस्मान्नियमवती त्रिरात्रं परिहरेत् ॥ '

अभिप्राय यह है कि उन दिनों के मैथुन से या तो गर्भ नहीं होता या गर्भस्राव होता है अथवा गर्भपात हो जाता है । अथवा सब अङ्गों से युक्त वा दीर्घायु नहीं होता ॥ रजःस्राव के दिनों के बाद उचित काल में किये गये मैथुन से उत्तम दृढ बलिष्ठ सम्पूर्ण अङ्गवाली दीर्घायु सन्तान होती है ॥

एकान्त में मैथुन से भी पुरुष वा स्त्री कई प्रकार के रोगों से

बचते हैं। यदि एकान्त में मैथुन न हो तो लज्जा के कारण वह कर्म यथाविधि पूर्ण नहीं होता। अपूर्ण मैथुन का फल नानाप्रकार की शारीरिक वा मानसिक निर्बलताओं के रूप में स्त्री और पुरुष दोनों को उठाना पड़ता है ॥ २ ॥

शुक्रं तदस्य प्रवदन्ति धीरा यद्धीयते गर्भसमुद्भवाय ।
वाय्वग्निभूम्यब्गुणपादवत् तत्, षड्भ्यो रसेभ्यः प्रभवश्च तस्य ॥३

उत्तर—वह वस्तु जो गर्भोत्पत्ति के लिये पुरुष द्वारा स्त्री की योनि में आधान की जाती है उसे विद्वान् लोग शुक्र (वीर्य, semen) कहते हैं। वह शुक्र वायु अग्नि पृथिवी और जल इन प्रशस्तगुण युक्त चार पादों से युक्त है और छह रसों से उत्पन्न होता है।

शुक्र पाञ्चभौतिक है। परन्तु आकाश निष्क्रिय होने से गमन नहीं करता और सर्वत्र व्यापक है, इसका सर्वदा ही सम्बन्ध है। शेष चार भूत क्रियावान् है और गति करते हैं अतः ये चार ही पढ़े हैं। अन्यत्र भी कहा है—

'भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।'

पिता द्वारा खाये गये षड्रस भोजन का ही यह 'शुक्र' परिणाम है। उपनिषद् में कहा भी है—

तस्माद्वा एतस्माद्वाऽऽत्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधिभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतः । रेतसः पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः ३

संपूर्णदेहः समये सुखं च गर्भः कथं केन च जायते, स्त्री ।
गर्भं चिराद्विन्दति सप्रजा[1]ऽपि भूत्वाऽथवा नश्यति केन गर्भः ॥४॥

प्रश्न—गर्भ पूर्णदेह वाला होकर कैसे ठीक समय पर और कैसे सुखपूर्वक वा विना कष्ट उत्पन्न होता है ? किस हेतु से स्त्री के बन्ध्या न होते हुए भी देर से गर्भप्राप्ति होती है ? अथवा उत्पन्न होकर वह किस हेतु से लुप्त हो जाता है ? ४ ॥

१ 'सप्रजाऽपीति अवन्ध्याऽपीत्यर्थः,' चक्रः ।

शुक्रासृगात्माशयकालसंपद्यस्योपचाराश्च हितैस्तथाऽर्थैः।
गर्भश्च काले च सुखी सुखं च संजायते संपरिपूर्णदेहः ॥५॥

उत्तर—शुक्र आर्त्तव आत्मा गर्भाशय काल; इन गर्भकर भावों के प्रशस्त गुण युक्त होने से तथा हितकर विषयों के सेवन से गर्भ पूर्ण देह वाला नीरोग उचित काल (नवम वा दशम मास) में सुख से उत्पन्न होता है। अन्यथा असम्पूर्ण अंगों वाला रोगी काल से पूर्व वा बाद अर्थात् अकाल में दुःख से उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात्।
अकालयोगाद्बलसंक्षयाच्च गर्भं चिराद्विन्दति सप्रजाऽपि ॥६॥

योनिदोष से, मन के सन्ताप से, शुक्र वा आर्तव के दोष से अथवा आहार विहार के दोष से, मैथुन के लिये उचित काल (रजःस्राव के बाद के १२ दिन) से अतिरिक्त काल में मैथुन से तथा दुर्बलता से वन्ध्या न होते हुए भी स्त्री देर से गर्भ का धारण करती है ॥ ६ ॥

असृङ्निरुद्धं पवनेन नार्या गर्भं व्यवस्यन्त्यबुधाः कदाचित्।
गर्भस्य रूपं हि करोति तस्यास्तदस्रमस्रावि[1] विवर्धमानम् ॥ ७ ॥
तदग्निसूर्यश्रमशोकरोगैरुष्णान्नपानैरथवा प्रवृत्तम्।
दृष्ट्वाऽसृगेके न च गर्भसंज्ञाः[2] केचिन्नरा भूतहृतं वदन्ति ॥ ८ ॥

वायु द्वारा रुके हुए स्त्री के आर्तव को मूर्ख पुरुष कभी २-गर्भ हो गया है—ऐसा निश्चय कर लेते हैं। क्योंकि बाहिर न निकलने के कारण आशय में ही जमा होता हुआ वा राशि में बढ़ता हुआ रक्त गर्भ के लक्षणों को पैदा कर देता है। इसे False Pregnancy कहते हैं। वह रक्त जब अग्नि सूर्य थकावट शोक रोग अथवा गरम अन्नपान के सेवन से प्रवृत्त होने लगता है तब उसे देखकर कई एक मूर्ख मनुष्य—गर्भ को भूतों ने हर लिया है—ऐसा कहते हैं ॥७-८॥

---

१ '०स्तदाऽसृगस्रावि' ग.। २ 'दृष्ट्वाऽसृगेवं न च गर्भसंज्ञं' च.।

ओजोऽशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम् ।
गर्भं हरेयुर्यदि ते न मातुर्लब्धावकाशा न हरेयुरोजः ॥ ९ ॥

ओज को खाने वाले रजनीचरों (राक्षसगण) के आहार के लिये शरीर अभीष्ट नहीं । यदि वे अवकाश पाकर माता के ओज को नहीं हरते तो गर्भ को भी नहीं हरते । अर्थात् राक्षसगणों का आहार ओज है । वे ओज के अतिरिक्त अन्य शरीर आदि को नहीं खाते । जब शरीर को नहीं खाते तो केवल रक्त की प्रवृत्ति ही न होनी चाहिये । या तो गर्भस्राव हो या गर्भपात हो अथवा कुक्षि में ही मृतगर्भ की प्राप्ति हो । पर वह प्राप्ति नहीं होती । अतः उसे 'भूतहृत' नहीं कह सकते । निशाचर केवल ओज का आहार करते हैं । यदि कोई यह कहे प्रथम गर्भ के ओज को खाकर पश्चात् उस गर्भ शरीर को भी खा जाते हैं तो उससे पूर्व उन्हें माता के ओज को खाना चाहिये था। क्योंकि शरीर को वे तभी खा सकते हैं जब कि उन्हें उनकी इष्ट चीज न मिल सकती हो । जब माता का ओज मिल सकता है तो गर्भशरीर को क्यों खायें ॥

अभिप्राय यह है कि रोग और होता है मूर्ख समझते हैं कि गर्भ हुआ था और उस गर्भ को भूत खा गये हैं ॥ ९ ॥

कन्यां सुतं वा सहितौ पृथग्वा सुतौ सुते वा तनयान्बहून्वा ।
कस्मात्प्रसूते सुचिरेण गर्भमेकोऽभिवृद्धिं च यमेऽभ्युपैति ॥१०॥

प्रश्न—स्त्री किस हेतु से कन्या को उत्पन्न करती है ? किस हेतु से पुत्र को उत्पन्न करती है ? किस हेतु से कन्या और पुत्र की जोड़ी को उत्पन्न करती है ? किस हेतु से दो पुत्रों वा कन्याओं (जोड़ी) को पैदा करती है ? अथवा बहुत सी सन्तान को एक ही काल में उत्पन्न करती है ? और कभी २ बहुत देर से गर्भ का क्यों प्रसव होता है ? यमल (जोड़ी) में एक की अधिक वृद्धि क्यों होती है ॥ १० ॥

रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण, तेन द्विविधीकृतेन ।
बीजेन कन्यां च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन ॥११॥

उत्तर—रक्त के आधिक्य वा प्राबल्य से कन्या और शुक्र के

आधिक्य से पुत्र उत्पन्न होता है। जब शुक्रशोणित (मिलित) बीज के वायु द्वारा दो विभाग हो जाते हैं तो यदि एक विभाग में रक्त की और दूसरे में शुक्र की प्रबलता हो तो कन्या और पुत्र (युगल) इकट्ठे उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत शारीर ३ अ० में कहा है—

'शुक्रबाहुल्यात्पुमान्। आर्तवबाहुल्यात् स्त्री।'

तथा—'बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयते धर्मेतरपुरःसरौ॥' ११॥

शुक्राधिकं द्वैधमुपैति बीजं यस्याः सुतौ सा सहितौ प्रसूते।
रक्ताधिकं वा यदि भेदमेति द्विधा सुते सा सहिते प्रसूते॥१२॥

जिस स्त्री के शुक्रशोणितरूप बीज में शुक्र की ही अधिकता वा प्रबलता हो और उसके दो विभाग हो जांय तो दो पुत्र इकट्ठे पैदा होते हैं। अभिप्राय यह है कि विभक्त बीज के दोनों विभागों में शुक्र की प्रबलता होने से जो यमल उत्पन्न होगा वह पुत्रों का ही होगा। यदि रक्ताधिक बीज (शुक्रशोणित) के दो विभाग हों तो कन्याओं की जोड़ी उत्पन्न होगी॥ १२॥

भिनत्ति यावद्बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः।
तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात्प्रसूते॥१३॥

जब अत्यन्त प्रवृद्ध हुआ २ वायु शुक्रार्तव (बीज) को प्राप्त होकर उसे तीन चार पांच आदि भागों में विभक्त कर देता है तब विभाग के अनुसार उतनी ही अपने २ कर्माधीन सन्तानों को प्रसव देती है। यह बात स्त्री के अपने वश में नहीं होती। प्राक्तन कर्म वा धर्माधर्म पर निर्भर होती है। धर्माधर्म के अनुसार प्रेरित वायु से उस बीज के टुकड़े होते हैं। जितने विभागों में शुक्र की अधिकता होगी उतने पुत्र और जितने में रक्त की अधिकता होगी उतनी कन्यायें होंगी॥

आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा।
तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्॥१४॥

जब गर्भ को आहार नहीं मिलता अथवा योनि से कोई स्राव होता है तो वह सूख जाता है। तब स्त्री को बहुत देर से प्रसव होता है। जब गर्भ की बरसों में पुष्टि हो तो वह उतने काल के बाद भी उत्पन्न होता है॥ आठवें अध्याय में भी कहा जायगा—

'यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद्गर्भिण्या महति गर्भे सञ्जातसारे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिप्रस्रावस्तस्याः गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात्। स कालमवतिष्ठते ह्यतिमात्रम्। तमुपविष्टक इत्याचक्षते केचित्। उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणान्यासेवमानायाः गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति परिशुष्कत्वात्। स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रम्। अतिमात्रं स्पन्दमानश्च भवति। तं नागोदर इत्याचक्षते॥' १४॥

कर्मात्मकत्वाद्विषमांशभेदाच्छुक्रासृजोर्वृद्धिमुपैति कुक्षौ।
एकोऽधिको न्यूनतरो द्वितीय एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः॥१५॥

शुक्रार्तव (बीज) के कर्माधीन होने से तथा विषम (न्यूनाधिक) अंशों में वायु द्वारा विभक्त होने से यम (जोड़ी) में से एक अधिक वृद्धि को प्राप्त होता है और दूसरा कम। इसी प्रकार यम की वृद्धि में न्यूनाधिकता रूप भिन्नता होती है॥ १५॥

कस्माद् द्विरेताः पवनेन्द्रियो वा संस्कारवाही नरनारिषण्डौ।
वक्री तथेर्ष्याभिरतिः कथं वा संजायते वातिकषण्डको वा॥१६॥

प्रश्न—किस हेतु से १ द्विरेता २ पवनेन्द्रिय ३ संस्कारवाही ४ नरषण्ड ५ नारिषण्ड ६ वक्री ७ ईर्ष्याभिरति ८ वातिकषण्डक गर्भ उत्पन्न होता है॥ १६॥

बीजात्समांशादुपतप्तबीजात्स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति द्विरेताः।

---

१ '०सृजं वृद्धिं०' ग.।

२ 'स्त्रीपुंसलिङ्गीति स्त्रीपुरुषसाधारणनासिकाचक्षुरादिलिङ्गयुक्तः, यानि तु स्त्रीपुंसोरसाधारणानि उपस्थध्वजस्तनश्मश्रुप्रभृतीनि तानि चास्य न भवन्तीति;

शुक्राशयं गर्भगतस्य हत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम् ॥१७॥

उत्तर–द्विरेता—शुक्रशोणित रूप बीज में शुक्र और शोणित के अंश समान २ हो अथवा बीज (शुक्रशोणित) दोष दुष्ट हो तो स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षणों से युक्त द्विरेता उत्पन्न होता है।

अष्टाङ्गसंग्रह में तो—

'यदा स्त्रीपुंसयोः सममेवार्थो निष्पद्यते । बीजं वा तयोः समांशं संमुखं च। यदा च बीजं भागे दुष्यति तदा द्विप्रकृतिर्द्विरेता नपुंसकं भवति ॥'

पवनेन्द्रिय—वायु गर्भस्थित शिशु के शुक्राशय को नष्ट कर उसे पवनेन्द्रिय कर डालता है। अर्थात् जब वह बड़ा होकर मैथुन करता है तब केवलमात्र ध्वजहर्ष (वायु का कार्य) वा आनन्द का तो अनुभव करता है पर वीर्य का क्षरण नहीं होता (Congenital aspermia) अष्टाङ्गसङ्ग्रह में—

'यदा स्त्री प्रथमं कृतार्था भवति ततः पुरुषेण पश्चाच्छुक्रमुत्सृष्टं हर्षानवास्थितचेतसः स्त्रिया वातो विगुणीकरोति, पुंस्त्ववाहीनि चास्य स्रोतांसि चोपहन्ति तदा वातेन्द्रियं भवति तन्मैथुने वातमेवोत्सृजति ॥१७॥

शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं[2] हि करोति वायुः।
मन्दाल्पबीजावबलावहर्षौ क्लीबौ च हेतुर्विकृतिद्वयस्य॥ १८॥

किंवा स्त्रीपुंसयोर्लिङ्गमुपस्थध्वजरूपं तद्युक्त एव स्त्रीपुंसलिङ्गी, उत्तरकालभावीन्यत्र स्तनश्मश्रुप्रभृतीनि न भवन्ति' चक्रः।

१ 'पवनेन्द्रियत्वं पवनशुक्रत्वं, शुक्रहीनपवनस्य चेदं शुक्रत्वं यद्व्यवायकाले शुक्रसदृशरूपतया प्रवर्तनं, तद्वायुरेव परं व्यवायकाले याति' चक्रः। २ 'संस्कारेण वाजीकरणादिना परं यस्य शुक्रमदुष्टद्वारं सत्प्रवर्तते स संस्कारवाहः, अत्र च संस्कारवाहेन सुश्रुतोक्ता आसेक्यसौगन्धिककुम्भीका अन्तर्भावनीयाः, यत एतेऽपि संस्कारेणैव शुक्रं त्यजन्ति' चक्रः। ३ 'क्लीबाविति दुष्टबीजौ; हेतुर्विकृतिद्वयस्येति अत्र यथोक्तगुणा स्त्री स्त्रीषण्डस्य, यथोक्तगुणः पुरुषस्तु पुरुषषण्डस्येति ज्ञेयं' चक्रः।

संस्कारवाही—वायु शुक्राशय के द्वार को क्षुब्ध वा दूषित कर के सन्तान को संस्कारवाह कर देता है। अर्थात् वाजीकरण आदि औषधों से ध्वजहर्ष होता है और शुक्र की प्रवृत्ति होती है। अष्टाङ्गसंग्रह में—

यदा तु कार्त्स्न्येन नोपहन्ति, अनुपघ्नन्नेव वा स्रोतोमुखं पिधत्ते तदा संस्कारवाह्यं भवति। तत्र संस्कारो वाजीकरा वस्तयोऽभ्यवहारश्चेतो हर्षणानि च। तानि हि शुक्रे बलमादधानानि स्रोतांस्याप्यायन्तीति।

संस्कार द्वारा जो मैथुन में समर्थ होते हैं उन्हें संस्कारवाह कहते हैं। वे संस्कार से—वाजीकरणादि औषधों द्वारा संस्कार (गुणान्तराधान—ध्वजोत्थान आदि) होने से मैथुनसमर्थ होते हैं। अतः सुश्रुतोक्त आसेक्य कुम्भीक तथा सौगन्धिक नपुंसकों का इसी में अन्तर्भाव होता है, क्योंकि इन में शुक्र के खाने से, गुदा में मैथुन कराने से तथा योनि आदि की गन्ध के सूंघने रूप संस्कार से इन में प्रहर्ष होता है। इन के लक्षण इस प्रकार हैं—

'पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम्॥'
'यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः।
स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम्॥'
'स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते।
कुम्भीकः स च विज्ञेयः••• ॥' सु० शा० २ अ०

नरषण्ड-नारीषण्ड—मन्द एवं अल्प बीज वाले निर्बल, ध्वजहर्षरहित, अल्पकामी वा संकल्परहित स्त्री और पुरुष दोनों विकृति अर्थात् नरषण्ड और नारीषण्ड के कारण होते हैं। सुश्रुत शारीर २ अध्याय में तो—

'षण्डकं शृणु पञ्चमम्।
यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते।
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञितः॥
ऋतौ पुरुषवद्वापि प्रवर्तेताङ्गना यदि।

तत्र कन्या यदि भवेत्सा भवेन्नरचेष्टिता ॥'

इनकी व्याख्या के लिये सुश्रुत की संजीवनी नामक व्याख्या देखनी चाहिये।

मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री[1] स्याद्बीजदौर्बल्यतया पितुश्च ।
ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्यारतेरेव[2] वदन्ति हेतुम् ॥ १६ ॥

वक्री—माता और पिता के अनिच्छा होने पर मैथुन करने से वा बीज की दुर्बलता से वक्री उत्पन्न होता है। इसका शिश्न वक्र होता है। अथवा जब माता की मैथुन में इच्छा न हो और पिता का बीज दुर्बल हो तो दोनों के संयोग से जो गर्भ होगा वह वक्री होगा। अष्टाङ्गसंग्रह शारीर २ अध्याय में—

'यदा पुनरुभावपि भवतः स्त्रीपुंसौ तद्विधौ। तदा वक्रध्वजो भवति। तस्य नैव ध्वजः स्तभ्यते ॥'

अर्थात् जब स्त्री पुरुष दोनों निर्बल हों, दोनों में मैथुनेच्छा न हो, दोनों के बीज दुर्बल हों तो उन के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होगी वह वक्रध्वज होगी अर्थात् उसे कभी भी ध्वजहर्ष नहीं होगा।

यदि दोनों में से एक निर्बल आदि हो तो वृद्धवाग्भट के अनुसार आसेक्य[3] नपुंसक उत्पन्न होगा। यदि दोनों ही निर्बल आदि हों तो वक्री पैदा होगा।

ईर्ष्यारति—ईर्षा से ग्रस्त परन्तु मन्द हर्ष वाले स्त्री पुरुष ईर्ष्यारति नपुंसक का कारण होते हैं। इसे सुश्रुत में ईर्ष्यक नाम से कहा है। अर्थात दूसरों को मैथुन में प्रवृत्त देख कर इसकी मैथुन में प्रवृत्ति होती है। सुश्रुत शारीर २ अ० में—

---

१ 'व्यवायप्रतिघेन व्यवायकाले विषमाङ्गन्यासेन; प्रतिष्ठितं यस्य शुक्रं गर्भाशयं नियमान्नोपैति स वक्रीत्युच्यते' इति चक्रः। २ 'परव्यवायं दृष्ट्वा प्राप्तध्वजोच्छ्रायो व्यवायासक्तो भवति स ईर्ष्यारतिः' इति चक्रः।

३ 'यदाल्पबीजोऽल्पबलः पुमानुद्वेगः स्त्रीद्वेषयुक्तोऽन्यकामो वा नार्या व्यवायप्रतिघातं करोति तद्विधा वा नारी पुंसः। तदासेक्यं नाम भवति। तच्छुक्रास्वादाद्ध्वजोच्छ्रायं लभते ॥ अ० सं० शारीर २ अ० ॥

वस्तुतः यह हेतु नरषण्ड वा नारिषण्ड का होना चाहिए ॥

'ईर्ष्यकं शृणु चापरम् ।
दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते ।
ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः ॥' १९ ॥

वाय्वग्निदोषाद्वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकषण्डकः सः ।
इत्येवमष्टौ विकृतिप्रकाराः कर्मात्मकानामुपलक्षणीयाः ॥ २० ॥

वातिकषण्डक—वायु और अग्नि के दोष से जिसके वृषण नष्ट हों वह 'वातिकषण्डक' कहाता है । इसके वीर्य में शुक्राणु नहीं होते ।

Azoospermia (वीर्य में शुक्राणु न होना) का कारण बताते हुए Arther Cooper ने The Sexual Disabilities of Man नामक पुस्तक में कहा है—

Azoospermia, or absence of zoosperms from the seminal fluid, is the natural condition before puberty, and perhaps also in extreme old age. It may be congenital or acquired.

Congenital azoospermia is usually associated with absence or atrophy of the testes, or their retention in the abdomen or inguinal canals, or other misplacement or anomaly of the sexual organs.

भावार्थ यह है कि किशोरावस्था में तथा कथंचित् अत्यन्त वृद्धावस्था में शुक्रतरल में शुक्राणुओं का न होना स्वाभाविक है । यह सहज या दोषज होता है । सहज शुक्राण्वभाव में प्रायः कारण वृषणों का न होना, वा वृषणों का क्षीण हो जाना अथवा उदर वा वङ्क्षणनाली में रुका रहना—नीचे अण्डकोषों में न उतरना अथवा स्थानान्तरगमन अथवा प्रजनन सम्बन्धी अवयवों की विकृति होना है ॥

इस प्रकार ये कर्माधीन गर्भों के आठ विकृति के प्रकार जानने चाहियें ॥ २० ॥

गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य कुक्षौ स्त्रीपुंनपुंसामुदरस्थितानाम् ।
किं लक्षणं कारणमिष्यते किं सरूपतां येन च यात्यपत्यम् ॥२१॥

प्रश्न—गर्भाशय में सद्यःप्राप्त गर्भ के क्या लक्षण हैं? उदर में स्थित स्त्री पुरुष वा नपुंसक गर्भ के क्या लक्षण हैं? और वह क्या कारण है जिससे सन्तान सदृश उत्पन्न होती है? २१॥

निष्ठीविका गौरवमङ्गसादस्तन्द्राप्रहर्षौ हृदयव्यथा च।
तृप्तिश्च बीजग्रहणं च योन्यां गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिङ्गम् २२

उत्तर—लालास्राव, भारीपन, अङ्गों की शिथिलता, तन्द्रा, प्रहर्ष (लोमहर्ष), हृदयदेश में पीडा, तृप्ति (पेट का भरा मालूम होना), योनि द्वारा बीज का ग्रहण अर्थात् गर्भाशय में शुक्राणु तथा डिम्ब (मिलित) का चिपकना बाहिर न निकलना। ये सद्यःप्राप्त गर्भ के लक्षण हैं। सुश्रुत शारीर ३ अ० में—

'तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि। प्रसेको ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः॥' २२॥

सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनी स्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा।
सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते॥२३॥
पुत्रं त्वतो लिङ्गविपर्ययेण, व्यामिश्रलिङ्गा प्रकृतिं तृतीयाम्।

जो प्रायः वाम अङ्गों से चेष्टायें करती है, पुरुष को चाहती है, स्त्रीलिङ्ग वस्तुओं के स्वप्न आते हैं, जिसकी स्त्रीलिङ्ग वाची भोज्य वा पेय पदार्थों में रुचि हो, स्त्रियों के समान शील वा चेष्टा करनी, जिसके वामपार्श्व में गर्भ हो अतएव गर्भाशय का वह पार्श्व ऊंचा उठा हो, गर्भ गोल न हो, वामस्तन में दूध अधिक हो अथवा वामस्तन में दूध प्रथम उत्पन्न हुआ हो वह स्त्री स्त्री को ही उत्पन्न करती है। इससे विपरीत लक्षण हों तो पुत्र उत्पन्न होता है। अर्थात् दक्षिण अङ्ग में चेष्टा हो, पुरुष को न चाहती हो, स्वप्न भोजन पान पुंवाचक हों, कुक्षि के दक्षिण पार्श्व में गर्भस्थिति हो, गर्भ वृत्ताकार हो, दक्षिण स्तन में प्रथम वा अपेक्षया अधिक दुग्ध की उत्पत्ति हो तो जानना चाहिये कि पुत्र उत्पन्न होगा।

---

१ 'रुव्याङ्गगर्भा' ग.।

जिसमें कन्या और पुत्र दोनों की गर्भस्थिति के लक्षण मिलते हों वह स्त्री तृतीय प्रकृति अर्थात् नपुंसक को जनती है ॥ सुश्रुत शारीर ३ अ० में कहा है—

'तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिणाक्षिमहत्त्वं पूर्वं च दक्षिणं सक्थि उत्कर्षति बाहुल्याच्च पुंनामधेयेषु द्रव्येषु दौहृदमभिध्यायति स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुंनामान्येव प्रसन्नमुखवर्णा च भवति, तां ब्रूयात्पुत्रमियं जनयिष्यतीति । तद्विपर्यये कन्याम् । यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहितलक्षणं च तस्या नपुंसकमिति विद्यात् ॥' २३ ॥

गर्भोपपत्तौ तु मनः स्त्रिया यं जन्तुं व्रजेत्तत्सदृशं प्रसूते ॥२४॥

गर्भप्राप्ति के समय अर्थात् बीजग्रहण के समय स्त्री का मन जिस प्राणी की ओर जाता है वह उसके सदृश ही सन्तान को उत्पन्न करती है ॥ २४ ॥

गर्भस्य चत्वारि चतुर्विधानि भूतानि मातापितृसम्भवानि ।
आहारजान्यात्मकृतानि चैव सर्वस्य सर्वाणि भवन्ति देहे ॥२५॥
तेषां विशेषाद्बलवन्ति यानि भवन्ति मातापितृकर्मजानि ।
तानि व्यवस्येत्सदृशत्वहेतुं[1] सत्त्वं यथानूकमपि[2] व्यवस्येत् ॥२६॥

सब गर्भों के देह में सब मातृज पितृज आहारज तथा आत्मकर्मज चार २ प्रकार के चार भूत (पृथिवी जल अग्नि वायु) रहते हैं । इस प्रकार ये १६ भूत हो जाते हैं, आगे कहा भी जायगा—

'भूतानि विद्यादश षट् च देहे ।'

१ मातृज पृथिवी २ पितृज पृथिवी ३ आहारज पृथिवी ४ कर्मज पृथिवी ५ मातृज जल ६ पितृज जल ७ आहारज जल ८ कर्मज जल ९ मातृज अग्नि १० पितृज अग्नि ११ आहारज अग्नि १२ कर्मज

---

[1] 'सदृशत्वलिङ्गं' च. । [2] 'अनूकमिति प्राक्तनाऽव्यवहिता देहजातिः, तेन यथानूकमिति यो देवशरीराद्व्यवधानेनागत्य भवति स देवसत्त्वो भवति' चक्रः ।

अग्नि। १३ मातृज वायु १४ पितृज वायु १५ आहारज वायु १६ कर्मज वायु। अर्थात् चारों भूतों में से प्रत्येक के माता पिता आहार तथा आत्मकर्म से उत्पन्न होने के कारण १६ भेद हो जाते हैं। इन सब से ही गर्भशरीर बनता है। इन मातृज पितृज कर्मज भूतों में से जो विशेषतः बलवान् होता है उसे ही सादृश्य का कारण जानना चाहिये। कभी सन्तान माता के सदृश होती है वहां मातृज भूतों की प्रबलता को अनुरूपता का हेतु समझना चाहिये। जब पिता के सदृश हो तो गर्भारम्भक इन भूतों में से पितृज भूतों को प्रबल जानना चाहिये। यदि दोनों के सदृश न हो तो वहां कर्मज भूतों की प्रबलता समझनी चाहिये। सरूपता में आहारज भूत कारण नहीं होते। अथवा इन्हीं से ही आहारज का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। आहारज भूतों से उस आहार के सदृश वर्ण हो जाता है यह कई एक का मत है। परन्तु रूप में सादृश्य नहीं होता। सुश्रुत शारीर ३ अ० में–

'यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते।'

मन को भी माता पिता वा कर्म के अनुरूप जानना चाहिए। बीजग्रहण के समय गर्भारम्भकाल में मातृसत्त्व (मन) प्रबल होगा तो सन्तान का मन माता के मन के सदृश होगा। यदि पिता का मन प्रबल होगा तो पिता के मन के सदृश होगा। यदि दोनों से भिन्न होगा तो उसके मन को उसके कर्म के अनुरूप जानना होगा॥

अथवा इसका अर्थ यह भी होता है कि जैसे इसकी अनूक (पूर्वदेहजाति) थी उसी के सदृश अब मन होगा। यदि इस जन्म से पूर्व देवजन्म था तो मन देवसत्त्व होगा यदि पशु था तो पशुसत्त्व होगा यदि मनुष्य था तो मनुष्यसत्त्व होगा। इत्यादि। अथवा अनूक का अर्थ स्वभाव वा रूप स्वर चरित आदि का अनुरूप होना है। पूर्वजन्म के अभ्यास के संस्कार से गर्भ में मन का प्रवेश होता है। उस मन के प्रवेश से पुरुष उस २ रूप स्वर

वा आचरण आदि का अनुकरण करता है। अतः जैसा हम रूप स्वर चरित आदि देखें वैसे ही उसके मन को कहेंगे। जब देखेंगे कि पवित्रता आस्तिकता आदि है तब हम कहेंगे ब्राह्मसत्त्व है। जब ऐश्वर्य भीषणता शूरता आदि गुण देखेंगे तो कहेंगे ये आसुरसत्त्व है। जब देखेंगे निर्बुद्धि है मूर्ख है आदि तो उसे पशुसत्त्व कहेंगे। ये आठ प्रकार के होते हैं। इन आठों सत्त्व वा कायों के लक्षण सुश्रुत शारीरस्थान ४ अध्याय में कहे हैं॥ २५-२६॥

कस्मात्प्रजां स्त्री विकृतां प्रसूते हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रियां च।
देहात्कथं देहमुपैति चान्यमात्मा सदा कैरनुबध्यते च॥ २७॥

प्रश्न—स्त्री किस हेतु से विकृत आकृति (Monstarities) हीन (कम) वा अधिक अङ्ग वाली और विकलेन्द्रिय (दुष्ट इन्द्रिय) सन्तान को जनती है? आत्मा कैसे एक देह से दूसरे देह में जाता है? और आत्मा के साथ किनका सदा अनुबन्ध रहता है॥ २७॥

बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाऽऽहारविहारदोषैः।
कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि २८

उत्तर—शुक्रशोणित बीज, आत्मकर्म (अपने कर्म), गर्भाशय, काल; इनके दोषों से तथा माता के आहारविहार के दोष से दुष्ट हुए दोष आकृति वर्ण तथा इन्द्रियों की नाना प्रकार की विकृतियों को उत्पन्न कर देते हैं। सुश्रुत शारीर २ अ० में कहा है—

'सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम्॥
गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वावमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव वा॥
मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः।
वातादीनां च कोपेन गर्भो विकृतिमाप्नुयात्॥ २८॥

वर्षासु काष्ठाश्मघनाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य।
यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः ॥२६॥

जैसे वर्षाकाल में नदी के स्रोत वा बहाव में स्थित वृक्ष को काष्ठ (बहकर आने वाली शहतीर तथा अन्य लकड़ियां), पत्थर तथा वर्षाजल का वेग विकृत कर देते हैं वैसे गर्भाशय में कर्मवश से उपस्थित गर्भ को वात पित्त कफ तीनों दोष विकृत कर देते हैं ॥२६॥

भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् ।
कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् ॥३०॥

अत्यन्त सूक्ष्म चारों भूतों (गन्धतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र रसतन्मात्र) के साथ और मन की क्रिया से वेगवान् वा क्रियावान् आत्मा कर्मवश एक देह से दूसरे देह को प्राप्त होता है । सूक्ष्मभूतों का साथ रहना लिङ्गशरीर का उपलक्षण है । यह सूक्ष्म लिङ्गशरीर महाप्रलय वा मुक्ति पर्यन्त प्रति पुरुष के साथ रहता है । मुक्त होने पर यह लिङ्गशरीर नहीं रहता तब आत्मा आत्मरूप होता है । सांख्यकारिका में कहा है—

'पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥'

यह लिङ्गशरीर प्रधान द्वारा प्रतिपुरुष एक २ उत्पन्न किया गया है । इसे कहीं रुकावट नहीं—यह शिला में भी प्रविष्ट हो सकता है । यह आदिसर्ग से लेकर अन्त तक साथ रहता है । इसमें महत्तत्व ११ इन्द्रिय तथा पांचतन्मात्राएं होती हैं । धर्माधर्म आदि भावों से अधिवासित हुआ २ स्वयं भोगरहित लिङ्गशरीर स्थूल शरीर को ग्रहण करके छोड़ता है और छोड़ कर पुनः ग्रहण करता रहता है । उस आत्मा का वा लिङ्गशरीरयुक्त आत्मा का रूप दिव्यचक्षुओं के विना दिखाई नहीं देता । योगी ही उसे देख पाते हैं। जैसे चन्दन के बन में खड़े हुए

१ 'स सूक्ष्मै०' ग. ।

दूसरे वृक्षों की लकड़ी भी अधिवासित हो जाती है। इसीप्रकार स्थूल शरीर द्वारा किये गये धर्माधर्म आदि से लिङ्गशरीर भी अधिवासित हो जाता है। अधिवासित होने का ही यह फल होता है कि वह आत्मा एक देह से दूसरे देह को जाता है ॥ ३० ॥

स सर्वगः सर्वशरीरभृच्च स विश्वकर्मा स च विश्वरूपः ।
स चेतनाधातुरतीन्द्रियश्च स नित्ययुक् सानुशयः[1] स एव ॥३१॥

वह आत्मा चेतन जड़ सब में व्याप्त है। सब शरीरों का पालन वा धारण करने वाला है। वह विश्वकर्मा है, सम्पूर्ण जगत् उसी का कार्य है। वह विश्वरूप है, सम्पूर्ण जगत् ही उसका रूप है। वह चेतना धातु है। अतीन्द्रिय है—इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। मन और बुद्धि आदि के साथ उसका नित्य योग है, जब तक मुक्ति नहीं होती मन आदि का योग उसके साथ रहता है। और वह ही राग द्वेष आदि से युक्त होता है। जब आत्मा केवल आत्मरूप होता है तो रागद्वेष आदि नहीं होते। परन्तु जब उसका सम्बन्ध प्रकृति के साथ होता है तब वह रागद्वेष से युक्त होता है ॥ ३१ ॥

रसात्ममातापितृसंभवानि भूतानि विद्यादृश षट् च देहे ।
चत्वारि तत्रात्मनि संश्रितानि स्थितस्तथाऽऽत्मा च चतुर्षु तेषु३२

शरीर में रसज आत्मज मातृज एवं पितृज भेद से चार भूत सोलह प्रकार के हैं—इनका परिगणन हम पूर्व करा चुके हैं। ये चार भूत आत्मा में आश्रित हैं। तथा च आत्मा उन चारों भूतों में आश्रित होता है। अर्थात् स्थूल जीवित शरीर में वायु आदि चार भूत आत्मा पर आश्रित हैं और आत्मा उन चार भूतों पर आश्रित होता है ॥ ३२ ॥

---

१ 'सह अनुशयेन रागादिना वर्तत इति सानुशयः।' चक्रः।

भूतानि मातापितृसंभवानि रजश्च शुक्रं च वदन्ति गर्भे ।
आप्याय्यते शुक्रमसृक्च भूतैर्यैस्तानि भूतानि रसोद्भवानि ॥३३॥
भूतानि चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम् ।
स बीजधर्मा ह्यपरापराणि देहान्तराण्यात्मनि याति याति ॥३४॥

मातृज और पितृज भूतों को ही क्रमशः रज और शुक्र कहते हैं। मातृज चार भूतों के समुदाय का नाम रज और पितृज चार भूतों का नाम शुक्र है। शुक्र और रज की जिन चार भूतों के द्वारा परिपुष्टि होती है वे भूत रसज होते हैं।

जो कर्मज (आत्मकर्मज, पूर्वजन्म कृत शुभाशुभ कर्म से उत्पन्न होने वाले) चार भूत हैं वे आत्मा से नित्य युक्त ही गर्भ में प्रविष्ट होते हैं। वह बीजधर्मा—भूतात्मा युक्त लिङ्गशरीर आत्मा के देहान्तर में जाने पर उसके साथ ही साथ दूसरे दूसरे देहान्तरों में जाते हैं अर्थात् एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में जाते हैं। बीजधर्मा कहने से अभिप्राय—उत्पत्ति धर्म वाले से है। अर्थात् जब तक आत्मा के साथ लिङ्गशरीर रहता है वह स्थूलदेह को धारण करता रहता है। जिस प्रकार सूक्ष्मबीज स्थूलवृक्ष को उत्पन्न करता है इसी प्रकार सूक्ष्म देही भूतात्मा स्थूलशरीरों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार १६ भूतों का विवरण कर दिया है ॥ ३३—३४ ॥

रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः ।
भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्म हेतुः ॥३५॥

कर्मात्मक अर्थात् कर्माधीन वा कर्मज भूतों के रूप से ही रूप की उत्पत्ति होती है। मन से मन की। जो आकृति वा बुद्धि आदि में विभिन्नता होती है वहां रज तम तथा कर्म ही हेतु हैं। अर्थात् कर्मानुसार लिङ्ग-शरीर से स्थूल वा भौतिक शरीर की उत्पत्ति होती है। रूपरहित पदार्थ से रूपवान् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती। अतः आत्मा के

---

१ 'बीजधर्मी' च. । २ 'रूप्यत इति रूपं भौतिकं शरीरं' चक्रः ।

साथ लिङ्गशरीर मानना पड़ता है । यद्यपि शुक्र और आर्तव उत्पत्ति में कारण होते हैं परन्तु वे भी लिङ्गशरीर (वा कर्मज भूतों) के विना उत्पत्ति में कारण नहीं होते । आत्मयुक्त लिङ्ग शरीर के शुक्र शोणित रूप बीज में प्रविष्ट होने पर स्थूलदेह की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार जब लिङ्गशरीर युक्त भूतात्मा बीज में प्रविष्ट होता है वह अपने सूक्ष्मभूतों से स्थूल भूतों की उत्पत्ति करता है आहङ्कारिक इन्द्रियों से इन स्थूल इन्द्रियों की उत्पत्ति करता है । इत्यादि । परन्तु एक रूप से इतने नाना योनियों में विभिन्न रूप जो बनते हैं इस में प्राक्तन कर्म कारण होते हैं । अर्थात् अपने प्राक्तन कर्म के कारण वे उसी बीज में प्रविष्ट होते हैं जिस से वही रूप उत्पन्न होना होता है । इसीप्रकार पूर्वजन्म में जैसा मन होता है वैसा ही मन उत्पन्न हुआ करता है । इस मन के भी जो विभिन्न २ रूप हो जाते हैं उस में रज और तम कारण होते हैं । रज और तम ही मानस दोष हैं । ये ही विषमता उत्पन्न करते हैं और उसी विषमता के कारण मन में विभिन्नता हो जाती है ॥ ३५ ॥

अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः ।
न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥३६॥

आत्मा उन अत्यन्त सूक्ष्म रूप वाले इन्द्रियागोचर भूतों से कभी (मोक्ष से पूर्व) पृथक् नहीं होता, न कर्म से, न मन और बुद्धि से और न अहङ्कार के विकार रूप दोषों से अर्थात् इन्द्रियों से वा इद्रिन्यविषयों से । अर्थात् इनका आत्मा के साथ सदा अनुबन्ध रहता है ॥ ३६ ॥

रजस्तमोभ्यां तु मनोऽनुबद्धं ज्ञानं विना तत्र हि सर्वदोषाः ।
गतिप्रवृत्त्योस्तु निमित्तमुक्तं मनः सदोषं बलवच्च कर्म ॥ ३७ ॥

सत्त्वसंज्ञक मन सदा रज और तम से अनुबद्ध रहता है । ज्ञान के बिना मन में सब दोष रहते हैं । जब सत्त्व के उद्रेक से रज और तम अभिभूत होते हैं, तभी तत्त्वज्ञान होता है । जब तक

---

१ 'ज्ञानात्' च. ।

तत्त्वज्ञान नहीं होता मन सब दोषों से पूर्ण होता है। दोषयुक्त मन तथा बलवान् कर्म गति और प्रवृत्ति का हेतु है। गति से अभिप्राय एक देह को छोड़ कर दूसरे देह में जाने से है। और प्रवृत्ति से अभिप्राय धर्माधर्मजनक कर्म के करने से है। अथवा गति से एक देह से जाना और प्रवृत्ति से दूसरे देह में आना वा जन्म होने का ग्रहण है। मन के रज और तम से अभिभूत होने के कारण तथा दैवसंज्ञक कर्म के बलवान् होने पर आवागमन बना रहता है ॥ ३७ ॥

रोगाः कुतः संशमनं किमेषां हर्षस्य शोकस्य च किं निमित्तम्।
शरीरसत्त्वप्रभवा विकाराः कथं न शान्ताः पुनरापतेयुः ॥३८॥

प्रश्न—रोग कहां से उत्पन्न होते हैं? इनके शामक हेतु कौन हैं? हर्ष और शोक का क्या कारण है? शरीर और मन से उत्पन्न होने वाले रोग कैसे सर्वदा के लिये शान्त न होते हुए पुनः आ जाते हैं? ३८ ॥

प्रज्ञापराधो विषमास्तथाऽर्था हेतुस्तृतीयः परिणामकालः।
सर्वामयानां त्रिविधा च शान्तिर्ज्ञानार्थकालाः समयोगयुक्ताः ॥३९
धर्म्याः क्रिया हर्षनिमित्तमुक्तास्ततोऽन्यथा शोकवशं नयन्ति।
शरीरसत्त्वप्रभवास्तु दोषास्तयोरवृत्त्या न भवन्ति भूयः ॥४०॥

उत्तर—पहला प्रज्ञापराध, विषम विषय अर्थात् असात्म्येन्द्रियार्थ-संयोग दूसरा तथा परिणामसंज्ञक काल तीसरा हेतु है। इन तीन हेतुओं से रोग उत्पन्न होते हैं।

और सब रोगों की शान्ति भी तीन प्रकार की है। १ ज्ञान २ अर्थ (इन्द्रियविषय) तथा ३ काल; इन तीनों का समयोग। ज्ञान का समयोग, इन्द्रिय विषयों का समयोग तथा काल का समयोग रोगों की शान्ति में हेतु हैं।

धर्म की साधनभूत क्रियाएं वा कर्म हर्ष का कारण हैं और इन से विपरीत कर्म पुरुष को शोकयुक्त कर देते हैं।

अर्थात् अधर्मोत्पादक कर्म शोक के हेतु हैं ॥

शरीर और मन में उत्पन्न होने वाले रोग तब तक पुनः उत्पन्न होते रहते हैं, जब तक कि शरीर और मन विद्यमान है। शरीर और मन के न होने पर रोग भी पुनः नहीं होते। रोगों के आश्रय हैं शरीर और मन। आश्रय के अभाव से रोगों की भी असद्भाव (अविद्यमानता) हो जाता है ॥ ४० ॥

रूपस्य सत्त्वस्य च संततिर्या नोक्तस्तदादिर्न हि सोऽस्ति कश्चित्।
तयोरवृत्तिः क्रियते पराभ्यां धृतिस्मृतिभ्यां परया धिया च॥४१॥

रूप (शरीर) और सत्व (मन) की सन्तति अर्थात् अनवच्छिन्न धाराप्रवाह का आदि नहीं कहा गया क्योंकि कोई वह आदि नहीं है। सृष्टि का प्रवाह अनादि है। शरीर और मन की अवृत्ति (न होना, असद्भाव) श्रेष्ठ धृति (नियमात्मिका बुद्धि), श्रेष्ठ स्मृति तथा श्रेष्ठ बुद्धि द्वारा की जाती है। उत्कृष्ट धारणा, स्मरण एवं प्रज्ञा द्वारा आत्मा को शरीर और मन से छुटकारा मिलता है। अर्थात् वह पुनः सृष्टि में नहीं आता। जब आश्रय ही नहीं रहे तो उनके रोग कहां से होंगे ॥ ४१ ॥

सत्याश्रये वा द्विविधे यथोक्ते पूर्वं गदेभ्यः प्रतिकर्म नित्यम्।
जितेन्द्रियं नानुपतन्ति रोगास्तत्कालयुक्तं यदि नास्ति दैवम्॥४२॥

परन्तु जब रोगों के दोनों प्रकार के यथोक्त आश्रय अर्थात् शरीर और मन विद्यमान हैं, तब यदि तात्कालिक दैव न हो, तो रोगों से पूर्व ही सदा उनका प्रतिकार करने वाले जितेन्द्रिय पुरुष को रोग नहीं होते। यदि पुरुष चाहता है कि मैं रोगों से बचा रहूं तो रोग के होने से पूर्व ही प्रतिकार करना चाहिए—स्वस्थवृत्त का पालन करना चाहिए। इन्द्रियों को वश में रखना चाहिए। परन्तु यदि पूर्वजन्मकृत कर्म प्रबल होंगे और जिनका फल उसी समय मिलना होगा तो रोग हो ही जायगा। परन्तु यदि तात्कालिक दैव

न होगा तो पुरुष रोगों से बचा रहेगा ॥ ४२ ॥

दैवं पुरा यत्कृतमुच्यते तत्, तत्पौरुषं यत्त्विह कर्म दृष्टम्।
प्रवृत्तिहेतुर्विषमः स दृष्टो निवृत्तिहेतुस्तु समः स एव ॥ ४३ ॥

जो कर्म हम पूर्व कर चुके हैं वह दैव कहाता है। जो कर्म हम यहां—इस जन्म में करते हैं वह पौरुष कहाता है। दैव और पौरुष की विषमता—अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग युक्त होना रोगों की प्रवृत्ति का कारण है और दैव वा पौरुष का सम होना रोग की निवृत्ति का हेतु है। इसी प्रकार संसार का कारण भी दैव और पौरुष का विषम होना है और इनका सम होना मोक्ष का हेतु है ॥४३॥

हैमन्तिकं दोषचयं वसन्ते प्रवाहयन् ग्रैष्मिकमभ्रकाले।
घनात्यये वार्षिकमाशु सम्यक्प्राप्नोति रोगानृतुजान्न जातु ४४

रोगों से पूर्व प्रतिकार का उपाय—हेमन्त में सञ्चित हुए दोष (कफ) को वसन्त में, ग्रीष्मऋतु में संचित दोष (वायु) को प्रावृट् वा वर्षा काल में और वर्षा में संचित (पित्त) को शरद् में बाहिर निकाल देने से (संशोधन)ऋतुओं के कारण उत्पन्न होने वाले रोग कदाचित् पैदा नहीं होते। दोषों के निर्हरण के ठीक समय का निर्णय सूत्रस्थान के ७म अध्याय में हो चुका है ॥ ४४ ॥

नरो हिताहारविहारसेवी समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावानाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ॥४५॥

हितकर आहार विहार का सेवन करने वाला, सोच विचार कर तदनुसार कर्म करने वाला, विषयों में जो फंसा न हो, दानी, सब प्राणियों में समदृष्टि रखने वाला, मन वचन और कर्म में सत्य का सर्वदा पालन करने वाला, क्षमाशील, आप्त पुरुषों का संग करने वाला पुरुष नीरोग होता है ॥ ४५ ॥

मतिर्वचः कर्म सुखानुबन्धि सत्त्वं[1] विधेयं विशदा च बुद्धिः।

---

१ 'सत्त्वं विधेयं स्वायत्तं मनः' चक्रः।

ज्ञानं तपस्तत्परता च योगे यस्यास्ति तं नानुपतन्ति रोगाः ४६

सुख की देने वाली मति (मननात्मक बुद्धि), सुख का देने वाला वचन, सुख का देने वाला कर्म, स्वाधीन मन (सत्वप्रधान मन, उदार मन) निर्मल बुद्धि, ज्ञान, तप, योग में तत्परता—चित्त की वृत्तियों के निरोध में अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा लगन; ये जिसे हैं उसे रोग नहीं सताते ॥

तत्र श्लोकः ।

इहाग्निवेशस्य महार्थयुक्तं षड्विंशकं प्रश्नगणं महर्षिः ।
अतुल्यगोत्रे भगवान् यथावन्निर्णीतवाञ्ज्ञानविवर्धनार्थम् ॥४७॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने अतुल्य-
गोत्रीयशरीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भगवान् महर्षि आत्रेय ने इस अतुल्यगोत्रीय नामक अध्याय में ज्ञान की वृद्धि के लिये अत्यन्त उपयोगी छब्बीस प्रश्नों का यथावत् निर्णय किया है। 'अतुल्यगोत्रस्य०' इत्यादि द्वारा १प्रश्न, 'सम्पूर्णदेहः' इत्यादि द्वारा ३प्रश्न, 'कन्यां०' इत्यादि द्वारा ५ प्रश्न, 'कस्माद्द्विरेताः०' इत्यादि द्वारा ८ प्रश्न, 'गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य' इत्यादि द्वारा ३प्रश्न, 'कस्मात्प्रजां०' इत्यादि द्वारा ३ प्रश्न, 'रोगाः कुतः' इत्यादि द्वारा ३ प्रश्न। ये सब मिलाकर २६ प्रश्न होते हैं।

गंगाधर ने 'षड्विंशकं' की जगह 'षट्त्रिंशकं' पढ़ा है। उस का विवरण निम्न है—'अतुल्यगोत्रस्य' इत्यादि द्वारा १प्रश्न, 'सम्पूर्णदेहः' इत्यादि द्वारा ५ प्रश्न, 'कन्यां' इत्यादि द्वारा ९ प्रश्न, 'कस्माद्द्विरेताः' इत्यादि द्वारा ८प्रश्न, 'गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य' इत्यादि द्वारा ५ प्रश्न, 'कस्मात्प्रजां' इत्यादि द्वारा ३ प्रश्न, 'रोगाः कुतः' इत्यादि द्वारा ५प्रश्न, इस प्रकार मिलाकर ये ३६ होते हैं।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातः खुड्डीकां गर्भावक्रान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः ॥ इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम खुड्डीकागर्भावक्रान्ति नामक शारीर की व्याख्या करेंगे— ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

पूर्व अध्याय में 'शुक्रासृगात्माशयकालसम्पद्' इत्यादि श्लोक द्वारा गर्भ का पूर्ण देह युक्त होना सुख से यथाकाल उत्पन्न होना बताया है। उसी का ही वर्णन इस अध्याय में होगा । खुड्डीका—अल्प को कहते हैं । महती गर्भावक्रान्ति नाम से अगला अध्याय होगा ।

गर्भाशय में गर्भ कैसे उत्पन्न होता है, इस का वर्णन इस में होगा। अथवा गर्भ में जीवके अवक्रमण (प्रवेश—आना) करने से तत्सम्बन्धी शारीर का नाम गर्भावक्रान्ति रखा है ॥ १ ॥

पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्ग ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथैव युक्ते च संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति सत्त्वसंप्रयोगात्तदा[1] गर्भोऽभिनिर्वर्तते, स सात्म्यरसोपयोगादरोगोऽभिसंवर्धते सम्यगुपचारैश्चोपचर्यमाणः, ततः प्राप्तकालः सर्वेन्द्रियोपपन्नः परिपूर्णसर्वशरीरो बलवर्णसत्त्वसंहननसंपदुपेतः सुखेन जायते समुदायादेषां भावानाम् ॥ २ ॥

विकृति रहित शुक्रयुक्त पुरुष का योनि रज तथा गर्भाशय जिसके विकृत नहीं ऐसी स्त्री के साथ ऋतुकाल में जब संसर्ग होता है और जब उसी प्रकार के स्त्री पुरुष के वैसे ही (ऋतुकाल में) संसर्ग होने पर गर्भाशय में हुए शुक्र और शोणित के संयोग (बीज) में मन के

---

१ 'सत्त्वसंप्रयोगादिति मनोगमनादित्यर्थः' चक्रः ।

सम्पर्क से और उसी की क्रिया से क्रियावान् हुआ जीव आता है, तब गर्भ उत्पन्न होता है । वह सात्म्य रसों के उपयोग से तथा ठीक उपचारों से नीरोग रहता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है । तदनन्तर प्रसवकाल के उपस्थित होने पर सम्पूर्ण इन्द्रियों से युक्त पूर्ण शरीर वाला बल वर्ण मन और शरीर के गठन की श्रेष्ठता से युक्त हुआ २ इन (निम्नोक्त) सब भावों के समुदाय से सुखपूर्वक उत्पन्न होता है ॥२॥

मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्चास्ति च सत्त्वमौपपादुकमिति होवाच भगवानात्रेयः ॥ ३ ॥

यह गर्भ मातृज है, पितृज है, आत्मज है, सात्म्यज है, रसज है। और मन भी गर्भ का घटक है । मन के द्वारा ही आत्मा का शुक्रशोणित (बीज) के साथ सम्बन्ध होता है । यह भगवान् आत्रेय ने कहा । माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, रस, मन; इन छह भावों के समुदाय से ही गर्भोत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

नेति भरद्वाजः । किं कारणं, हि न माता न पिता नात्मा न सात्म्यं न पानाशनभक्ष्यलेह्योपयोगा गर्भं जनयन्ति, न च परलोकादेत्य गर्भं सत्त्वमवक्रामति ॥ ४ ॥

भरद्वाज ने कहा—नहीं । क्योंकि न माता न पिता न आत्मा न सात्म्य न पान अशन भक्ष्य लेह्य चारों प्रकार के आहार का उपयोग (रस) गर्भ को उत्पन्न करता है । और नाहीं मन परलोक से आकर गर्भ में प्रविष्ट होता है । अर्थात् गर्भ न मातृज है, न पितृज है, न आत्मज है, न सात्म्यज है, न रसज है और न सत्त्वज है ॥ ४ ॥

यदि हि मातापितरौ गर्भं जनयेतां भूयस्यः स्त्रियः पुमांसश्च भूयांसः पुत्रकामाः, ते सर्वे पुत्रजन्माभिसंधाय मैथुन-

१ 'सत्त्वसंज्ञमुपपादुकमिति' ग. । 'औपपादुकमिति आत्मनः शरीरान्तरसम्बन्धोत्पादकं' चक्रः ।

धर्ममापद्यमानाः पुत्रानेव जनयेयुर्दुहितॄर्वा दुहितृकामाः, न च काश्चित् स्त्रियः केचिद्वा पुरुषा निरपत्याः स्युः, अपत्यकामाश्च परिदेवेरन् ॥ ५ ॥

यदि माता पिता गर्भ को उत्पन्न करते हों तो बहुत सी स्त्रियां और बहुत से पुरुष पुत्र को चाहते हैं । वे सारे पुत्रजन्म की इच्छा से मैथुन धर्म का पालन करते हुए पुत्रों को ही उत्पन्न करें । जिन्हें कन्या की इच्छा हो वे कन्याओं को ही उत्पन्न करें । और नाहीं कोई स्त्रियां न पुरुष सन्तानरहित हों और नाहीं सन्तानोत्पत्ति के लिये रोते फिरें । आशय यह है कि यदि गर्भजन्म में माता पिता कारण हों तो जो वे चाहें वही सन्तान उत्पन्न हो । और चूंकि स्त्रीपुरुष कारण हैं तो उनके संसर्ग से सन्तान अवश्य ही हो, क्योंकि कारण के रहते कार्य अवश्य होता है । स्त्रीपुरुष हैं, अतः उन के मैथुन से सन्तान अवश्य ही होनी चाहिये । परन्तु यह नहीं होता । अतः माता पिता गर्भोत्पत्ति में कारण नहीं ॥ ५ ॥

न चात्माऽऽत्मानं जनयति; यदि ह्यात्माऽऽत्मानं जनयेज्जातो वा जनयेदात्मानमजातो वा? तच्चोभयथाऽप्ययुक्तं, न हि जातो जनयति, सत्त्वात्; न चाजातो जनयति, असत्त्वात्; तस्मादुभयथाऽप्यनुपपत्तिः, तिष्ठतु तावदेतत्, यद्ययमात्मानं शक्तो जानयितुं स्यात्, नत्वेवमिष्टास्वेव कथं योनिषु जनयेद्वशिनमप्रतिहतगतिं कामरूपिणं तेजोबलजववर्णसत्त्वसंहननसमुदितमजरमरुजममरं; एवंविधं ह्यात्माऽऽत्मानमिच्छत्यतो वा भूयः ॥ ६ ॥

---

१ 'जनयेत्, सत्त्वात्' । इति पाठमूरीकृत्य गङ्गाधरो व्याचष्टे—'हि यस्मादात्मा जात आत्मानं न जनयति । सत्त्वात् सद्भावादस्ति ह्येवात्मा नास्ति चात्मनो जन्म । तर्हि चाजातो जनयतीति चेत्, तदप्ययुक्तम् । कस्मात्? न चैवाजातो जनयति सत्त्वात् । आत्मा सत्त्वादजातः कथं पुनः सन्तमेवात्मानं जनयेदिति सतो जन्मासम्भवात् ।

आत्मा भी गर्भ को उत्पन्न करता है। आत्मा का अवयव नहीं होता। पहिले कहा भी जा चुका है—

'निरन्तरं नावयवः कश्चित्सूक्ष्मस्य चात्मनः ।'

अतः आत्मा के किसी अवयव से गर्भोत्पत्ति होना असम्भव ही है। दूसरा पक्ष यह हो सकता है कि आत्मा पूर्णतया ही गर्भरूप में उत्पन्न हो, परन्तु यह भी असम्भव है क्योंकि आत्मा अपने को उत्पन्न नहीं करता, यदि आत्मा अपने को उत्पन्न करता है तो स्वयं उत्पन्न होकर उत्पन्न करता है अथवा विना उत्पन्न हुए ही उत्पन्न करता है ? ये दोनों पक्ष ही युक्तिसंगत नहीं। क्योंकि जो जात (उत्पन्न हुआ २) है वह अपने को उत्पन्न क्या करेगा, वह तो पूर्व ही विद्यमान है। और नाहीं अजात (न उत्पन्न हुआ २) अपने को उत्पन्न कर सकता है अविद्यमान होने से। अर्थात् जब उसका कोई रूप ही नहीं तो उस से रूपवान् आत्मा (गर्भ) कैसे हो सकता है।

'रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः ।'

रूप विद्यमान् ही नहीं तो उस से रूपवान् आत्मा की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अथवा कारणभूत आत्मा की सत्ता न होने से अपना आप उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि कारणता तभी होती है जब कि कर्ता करणों से युक्त हो। जब गर्भोत्पादन रूप कर्म में कर्ता यदि आत्मा को माना जाय तो वह स्वयं करण नहीं हो सकता। क्योंकि कर्ता कभी करण नहीं होता। जब करण ही न होगा तो कर्ता की कारणता नहीं रहती।

'कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ।'

जब आत्मा कारण ही नहीं तो कार्य कैसे हो ? अतः भी गर्भ आत्मज नहीं।

गंगाधर ने 'न हि जातो जनयति सत्त्वात्, न चैवाजातो जनयेत् सत्त्वात् ।' यह पाठ पढ़ा है। इस पाठ के अनुसार यह अर्थ होगा—

आत्मा आत्मा को उत्पन्न नहीं करता। कारण-यदि आत्मा आत्मा को (अपने को) उत्पन्न करे तब यह जिज्ञासा होती है कि जात आत्मा आत्मा को उत्पन्न करता है? वा अजात आत्मा आत्मा को उत्पन्न करता है? ये दोनों पक्ष ही अयुक्त हैं। जात आत्मा आत्मा को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि वह तो विद्यमान् ही है और आत्मा का जन्म भी नहीं होता। अजात आत्मा भी आत्मा को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि वह नित्य सत्तावान् पदार्थ है। जो अनन्त काल के लिये है उसकी नूतन उत्पत्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है।

अच्छा। यदि हम यह मान भी लें कि आत्मा अपने को उत्पन्न करने में समर्थ है तो वह अपने को इष्ट (प्रिय) योनियों में ही क्यों न जन्म दे? क्योंकि आत्मा अपने को वशी, अप्रतिहतगति (जिसे किसी कार्य में कोई रुकावट न हो), कामरूपी (यथेच्छ रूप को धारण करने वाला वा सुन्दर रूप वाला), तेज बल वेग वर्ण मन शरीर का गठन आदि शुभभावों से युक्त अजर (जरारहित), नीरोग, अमर; इन सब गुणों से युक्त वा इससे भी अधिक गुणों से युक्त चाहता है। परन्तु ये सब गुण सब में नहीं देखे जाते अतः भी गर्भ आत्मज नहीं॥६॥

असात्म्यजश्चायं गर्भः, यदि हि सात्म्यजः स्यात्, तर्हि सात्म्यसेविनामेवैकान्तेन प्रजा स्यात्, असात्म्यसेविनश्च निखिलेनानपत्याः स्युः, तच्चोभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ ७ ॥

यह गर्भ सात्म्य से भी उत्पन्न नहीं होता। यदि सात्म्यज हो तो केवल उन्हीं की ही सन्तान हो जो सात्म्य आहार विहार वा औषध का सेवन करते हैं। और सारे ही असात्म्य-सेवी सन्तानरहित हों। परन्तु दोनों बातें दोनों जगह दिखाई देती हैं। अर्थात् सात्म्य का सेवन करने वाले प्रजावान् भी होते हैं और निःसन्तान भी होते हैं और असात्म्य का सेवन करने वाले भी सन्तान युक्त होते हैं और सन्तान रहित भी होते हैं। अतः गर्भोत्पत्ति में सात्म्य को भी कारण नहीं

मान सकते ॥ ७ ॥

अरसजश्चायं गर्भः, यदि हि रसजः स्यात्, न केचित्स्त्रीपुरुषेष्वनपत्याः स्युः, न हि कश्चिदस्त्येषां यो रसान्नोपयुङ्क्ते; श्रेष्ठरसोपयोगिनां चेद्गर्भा जायन्ते इत्यतोऽभिप्रेतं[1], इत्येवं सत्याजौरभ्रमार्गमायूररसगोक्षीरदधिघृतमधुतैलसैन्धवेक्षुरसमुद्गशालिभृतानामेवैकान्तेन प्रजा स्यात्, श्यामाकवरकोद्दालककोरदूषककन्दमूलभक्ष्याश्च निखिलेनानपत्याः स्युः, तच्चोभयमुभयत्रैव दृश्यते ॥ ८ ॥

गर्भ रसज भी नहीं । यदि गर्भ रसज हो तो स्त्री पुरुषों में कई निःसन्तान न हों । क्योंकि उनमें से कोई भी ऐसा नहीं जो रसों का उपयोग न करता हो । यदि 'रसज' से यह अभिप्राय हो कि श्रेष्ठ रसों का सेवन करने वाले पुरुषों के ही गर्भ उत्पन्न होते हैं, तो बकरे मेष मृग वा मोर इन का मांसरस, गौ का दूध, दही, घी, शहद, तैल, सैन्धव, इक्षुरस (गन्ने का रस), मूंग, शालि चावल; इन का सेवन करने वालों की ही सन्तान हो और जो श्यामाक वरक उद्दालक (ये तीनों कुधान्य हैं) कोरदूष (कोदों), कन्द, मूल; इनको खाते हैं वे सारे ही निःसन्तान होने चाहियें । परन्तु दोनों ही बातें दोनों जगह दिखाई देती हैं । अर्थात् श्रेष्ठ रस का सेवन करने वाले सन्तानयुक्त भी होते हैं सन्तान रहित भी होते हैं । श्रेष्ठ रस का सेवन न करने वाले भी सन्तानयुक्त भी होते हैं सन्तान रहित भी होते हैं । अतः रस को गर्भोत्पत्ति में कारण नहीं मान सकते ॥ ८ ॥

न खल्वपि परलोकादेत्य सत्त्वं गर्भमवक्रामति; यदि ह्येनमवक्रामेत्, नास्य किंचिदेव पौर्वदेहिकं स्यादविदितमदृष्टं वा, न च किंचिदपि स्मरति ॥ ९ ॥

और ना ही परलोक से आकर मन गर्भ में आता है । यदि वह

---

१ 'इत्यभिप्रेतं' ग. ।

मन इसमें आवे तो उसे पूर्वदेह में अनुभव की हुई कोई बात अज्ञात न हो और न अदृष्ट (न देखी हुई) हो। अर्थात् यदि पूर्वजन्म का मन गर्भ में आता हो तो उस जन्म की अनुभव की हुई सुनी हुई वा देखी हुई सब बातें उसे ज्ञात हों। परन्तु गर्भ पूर्वजन्म में अनुभूत किसी का भी स्मरण नहीं करता। अतः हम सत्त्व (मन) को शरीरान्तर से सम्बन्ध करने वाला नहीं स्वीकार कर सकते ॥ ९ ॥

तस्मादेतद्ब्रूमहे—अमातृजश्चायं गर्भोऽपितृजश्चानात्मजश्चासात्म्यजश्चारसजश्च, न चास्ति सत्त्वमौपपादुकमिति होवाच भरद्वाजः ॥ १० ॥

अतएव हम कहते हैं कि गर्भ मातृज नहीं, पितृज नहीं, आत्मज नहीं, सात्म्यज नहीं और रसज नहीं। और ना ही मन उपपादुक है अर्थात् शरीरान्तर से सम्बन्ध करने वाला है—यह भरद्वाज ने कहा॥१०॥

नेति भगवानात्रेयः, सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते ॥ ११ ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा——नहीं। इन सब भावों के समुदाय से गर्भ की उत्पत्ति होती है। अकेला २ भाव गर्भ की उत्पत्ति नहीं करता। अर्थात् माता पिता आत्मा सात्म्य रस तथा मन; ये छहों मिल कर गर्भ को उत्पन्न करते हैं ॥ ११ ॥

मातृजश्चायं गर्भः; न हि मातुर्विना गर्भोपपत्तिः स्यान्न च जन्म जरायुजानां, यानि खल्वस्य गर्भस्य मातृजानि, यानि चास्य मातृतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा——त्वक् च लोहितं च मांसं च मेदश्च नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च वृक्कौ च बस्तिश्च पुरीषाधानं चामाशयश्च पक्वाशयश्चोत्तरगुदं चाधरगुदं च क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च वपा च वपावहनं चेति मातृजानि ॥ १२ ॥

यह गर्भ मातृज भी है। माता के बिना गर्भ की उत्पत्ति नहीं

हो सकती। तथा जरायुज पशुओं का जन्म ही नहीं हो सकता। मनुष्य गौ घोड़ा आदि जरायुज हैं। जो २ गर्भ के अवयव मातृज हैं अर्थात् माता के बीज से उत्पन्न होते हैं, उनकी व्याख्या की जाती है—जैसे त्वचा, रक्त, मांस, मेद, नाभि, हृदय, क्लोम, यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), बुक्क (गुर्दे), बस्ति (मूत्राशय), पुरीषाधान (Sigmoid Flexure), आमाशय (Stomach), पक्वाशय (Duodenum), उत्तरगुदा (Rectum), अधरगुदा (Anus), क्षुद्रान्त्र (छोटी आंतें Small Intestines), स्थूलान्त्र (Large Intestines), वपा (हृदयस्थ मेद–Fat globules) वपावहन (Adipose tissue)। शरीर में जो मृदु भाव हैं वे माता से उत्पन्न होते हैं अर्थात् शुक्रशोणित बीज के शोणित भाग से होते हैं ॥ १२ ॥

पितृजश्चायं गर्भः; न हि पितुर्ऋते गर्भोत्पत्तिः स्यान्न च जन्म जरायुजानां, यानि खल्वस्य गर्भस्य पितृजानि, यानि चास्य पितृतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः। तद्यथा-केशश्मश्रुनखलोमदन्तास्थिसिरास्नायुधमन्यः शुक्रमिति पितृजानि ॥ १३ ॥

गर्भ पितृज भी है। पिता के विना गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती। जरायुजों का जन्म भी असम्भव है। जो इस गर्भ के पितृज भाव हैं, अर्थात् जो पिता के शुक्र से उत्पन्न होते हैं उनकी व्याख्या करेंगे। जैसे—केश, दाढ़ी मूंछ, नख, लोम, दांत, हड्डी, सिरा, स्नायु (Ligament) धमनियां, और वीर्य ॥ १३ ॥

आत्मजश्चायं गर्भः; गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः, तं जीव इत्याचक्षते शाश्वतमरुजमजरमपरमक्षयमभेद्यमच्छेद्यमलोड्यं विश्वरूपं विश्वकर्माणमव्यक्तमनादिमनिधनमक्षरमपि; स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मानं, आत्मसंज्ञा हि गर्भे; तस्य पुनरात्मनो जन्मानादि-[1]

१ 'जन्मानादिसत्त्व०' ग.

त्वान्नोपपद्यते, तस्मादजात एवायं गर्भं जनयति, अजातो ह्यय-मजातं गर्भं जनयति; स चैव गर्भः कालान्तरेण बालयुवस्थ-विरभावानवाप्नोति, स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्तते तस्यां तस्यां जातो भवति, या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां जनिष्यमाणश्च; तस्मात्स एव जातश्चाजातश्च युगपद्भवति, यस्मिंश्चैतदुभयं सम्भवति जातत्वं जनिष्यमाणत्वं च, स च जातो जन्यते, स चैवानागतेष्ववस्थान्तरेष्वजातो जनयत्यात्मनाऽऽत्मानं; सतो ह्यवस्थान्तरगमनमात्रमेव हि जन्म चोच्यते तत्र तत्र वयसि तस्यां तस्यामवस्थायां, यथा सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक्संयोगाद्गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगाद्भवति, यथा सतस्तस्यैव च पुरुषस्य प्रागपत्यात्पितृत्वं न भवति, तच्चापत्याद्भवति, तथा सतस्तस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्वमजातत्वं चोच्यते ॥ १४ ॥

यह गर्भ आत्मज भी है । जिसे अन्तरात्मा कहते हैं वह ही गर्भ की आत्मा है । इस शाश्वत (नित्य), वेदनारहित—सुखदुःख रहित, अमर, अक्षय (अविनाशी), अभेद्य (जिसे फाड़ा नहीं जा सकता), अच्छेद्य (जिसके टुकड़े नहीं किये जा सकते) अलोड्य (जिसका विलोडन नहीं किया जा सकता, अचल) विश्वरूप, विश्वकर्मा, अव्यक्त, अनादि, अनिधन (जिस की मृत्यु नहीं), अक्षर (नाशरहित) को 'जीव' कहते हैं ।

'अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ भगवद्गीता ॥

वह जीव गर्भाशय में अनुप्रविष्ट होकर शुक्रशोणित (बीज) से मिलकर अपने से अपने को गर्भरूप में उत्पन्न करता है । अतएव गर्भ में आत्मसंज्ञा होती है । षड्धातुरूप पुरुष को भी आत्मा कहते हैं ।

---

१ 'जातं गर्भं जनयति, जातोऽप्यजातं च' ग.

श्रुति में भी है—

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे ।

आत्मा वै पुत्रनामासि त्वं जीव शरदः शतम् ॥'

अतः 'अपने को उत्पन्न करता है' का अभिप्राय षड्धातुरूप पुरुष को उत्पन्न करता है यह हुआ । उस आत्मा के अनादि होने से जन्म नहीं है । अतः अजात (न उत्पन्न हुआ) ही अजात गर्भ को उत्पन्न करता है । वह ही गर्भ कालान्तर से बालक, युवा वा वृद्धभाव को प्राप्त होता है । अर्थात् उस गर्भ को कालान्तर से बालक जवान वा बूढ़ा कहा जाता है । वह जिस २ अवस्था में है उस २ अवस्था में 'जात' कहा जाता है । जैसे यह जवान हो गया है यह बूढ़ा हो गया है इत्यादि । जो इसकी आगे आने वाली (भविष्यत्) अवस्था है उस में जानिष्यमाण होता है । तू जवान होगा, तू बूढ़ा होगा इत्यादि । अतएव वह ही 'जात' और 'अजात' युगपत् ही होता है । वर्तमान अवस्था को लक्ष्य में रखकर 'जात' कहाता है और भविष्यत् अवस्था को दृष्टि में रखते हुए 'अजात' कहेंगे । जिस में 'जात' और 'जनिष्यमाण' ये दोनों भाव युगपत् होते हैं वह 'जात' भी उत्पन्न होता है । एक बालक बाल्यावस्था में 'जात' है और वह ही आगे आने वाली युवावस्था में 'जनिष्यमाण' है । वह 'जात' बालक क्रमशः युवा उत्पन्न होता है—(होता है)—आत्मा द्वारा उत्पन्न किया जाता है । वह ही अजात आने वाली भविष्यत् अवस्थाओं में अपने से अपने को उत्पन्न करता है । सत् वस्तु का उस २ भविष्यत् उम्र वा उस २ अवस्था में अवस्थान्तर को प्राप्त होना मात्र ही जन्म कहाता है । अर्थात् जिस २ अवस्था में वा जिस २ उम्र में वह विद्यमान् हैं उस२ अवस्था में वा उस२ उम्र में वह 'उत्पन्न हुआ है' यह कहा जाता है । 'युवा जातः' इत्यादि प्रयोग होता है । यहां बाल्यावस्था से युवा-

वस्था में बदलने पर 'जात' शब्द का प्रयोग हुआ है । जैसे शुक्र शोणित जीव ये तीनों सत् हैं (विद्यमान हैं) । इनके संयोग होने से पूर्व गर्भता नहीं और संयोग होने पर गर्भता हो जाती है । पृथक् २ होने पर गर्भसंज्ञा नहीं हुई परन्तु तीनों का संयोग रूपी अवस्थान्तर होने पर 'गर्भो जातः' 'गर्भ उत्पन्न हो गया है' यह प्रयोग होने लगता है । वस्तु तो पहले भी मौजूद थी केवल अवस्था बदलने से ही 'उत्पन्न हो गया है' यह व्यवहार होने लगा । अथवा जैसे उसी पुरुष को सत् होते हुए भी सन्तान होने से पूर्व उसे पिता नहीं कहा जाता और सन्तान होने पर वह पिता कहाने लगता है । वैसे ही सत् गर्भ (गर्भात्मा) को उस २ अवस्था में जात वा अजात कहा जाता है । जिस अवस्था में है वहां 'जात' है और जो उसकी अनागत अवस्था है उसमें 'अजात' कहाता है ॥ १४ ॥

न तु खलु गर्भस्य मातुर्न पितुर्नात्मनः सर्वभावेषु यथेष्टकारित्वमस्ति; ते किंचित्स्ववशात्कुर्वन्ति किंचित्कर्मवशात्, क्वचिच्चैषां करणशक्तेर्भवति क्वचिन्न भवति, यत्र सत्त्वादिकरणसम्पत्तत्र यथाबलमेव यथेष्टकारित्वमतोऽन्यथा विपर्ययः; न च करणदोषादकारणमात्मा सम्भवति गर्भजनने, दृष्टं च चेष्टायोनिरैश्वर्यं मोक्षश्चात्मविद्भिरात्मायत्तं, न ह्यन्यः सुखदुःखयोः कर्ता; न चान्यतो गर्भो जायते जायमानः, न चाङ्कुरोत्पत्तिरबीजात् ॥ १५ ॥

गर्भ के माता पिता वा आत्मा की सब भावों में स्वेच्छाचारिता नहीं है । अर्थात् माता पिता वा आत्मा जो चाहें वह करें यह सर्वदा नहीं होता । वे कुछ तो अपनी इच्छा से करते हैं, कुछ कर्माधीन होकर करते हैं और कहीं २ मन बुद्धि इन्द्रिय आदि करणों (साधन) की शक्ति से इच्छानुसार कर्म करना होता है । और कहीं मन आदि करणों की शक्ति से भी नहीं होता । अभिप्राय यह है कि जहां मन

आदि करण श्रेष्ठ गुण युक्त होते हैं मन सात्विक होता है वा शुद्ध होता है बुद्धिनिर्मल होती है इत्यादि तब उस २ करण के बल के अनुसार उतनी २ यथेष्टकारिता (अपनी इच्छानुसार कर्म करना) होती है। यदि मन आदि चञ्चल हों श्रेष्ठ गुण युक्त न हों तो यथेष्ट-कारिता नहीं होती। जीवन्मुक्त योगियों का मन श्रेष्ठ गुणों से युक्त होता है अतः वे यथेष्टकारी होते हैं। मन आदि करणों के दोष से गर्भ को न उत्पन्न करता हुआ भी आत्मा 'गर्भ का कारण नहीं' ऐसा नहीं कहा जा सकता। जैसे मट्टी आदि के अभाव से वा मट्टी चक्र आदि के खराब होने से घड़े को न बनाता हुआ भी कुम्हार घड़े का कारण कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी मन आदि करणों के रज तम आदि से दुष्ट होने पर गर्भ को न करता हुआ भी गर्भ का कारण ही होता है। क्योंकि जैसे कुम्हार में घड़े बनाने की शक्ति विद्यमान है--उसे हमने बहुधा घड़े बनाते देखा है, इसी प्रकार आत्मा भी गर्भोत्पादन में शक्त है क्योंकि इसे भी बहुत बार गर्भ उत्पन्न करते देखा गया है। चेष्टा, योनियों में जाना, ऐश्वर्य तथा मोक्ष को आत्मज्ञानी पुरुषों ने आत्माधीन ही देखा है--प्रत्यक्ष किया है। अर्थात् आत्मा ही चेष्टा का कारण है, पुरुष को योनियों में ले जाता है, ऐश्वर्य प्राप्ति कराता है और संसार से मोक्ष कराता है। 'आवेशश्चेतसो ज्ञानं' इत्यादि द्वारा आठ प्रकार का ऐश्वर्य इसी स्थान के प्रथम अध्याय में बताया जा चुका है। अर्थात् जब शुद्धमन की स्थिति आत्मा में होती है तभी यह बललाभ होता है। आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई सुख दुःख का कर्ता नहीं। उत्पन्न होता हुआ गर्भ आत्मा से अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से उत्पन्न नहीं होता। बीज से अतिरिक्त अन्य किसी हेतु से अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होती। चेतनावान् आत्मा से जो जायमान (उत्पन्न होता हुआ) अन्य चेतन है वही कर्ता है। वह चेतन गर्भात्मा है अथवा चतुर्विं-शतिक वा षड्धातुक पुरुष है। यह षड्धातुक पुरुष ही बीजरूप होता

है। यह ही सुख दुःख का कर्ता है। शुभाशुभ कर्म करना आत्मा के ही आधीन है। यद्यपि क्षेत्र और जल के बिना भी अङ्कुरोत्पत्ति नहीं होती परन्तु अङ्कुरोत्पत्ति में बीज ही मुख्य कारण होता है। इसी प्रकार माता पिता आदि भावों के बिना भी गर्भोत्पत्ति नहीं होती पर आत्मा को ही मुख्य कारण माना जाता है ॥ १५ ॥

यानि तु खल्वस्य गर्भस्यात्मजानि, यानि चास्यात्मतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा—तासु तासु योनिषूत्पत्तिरायुरात्मज्ञानं मन इन्द्रियाणि प्राणापानौ प्रेरणं धारणमाकृतिस्वरवर्णविशेषाः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ चेतना धृतिर्बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारः प्रयत्नश्चेत्यात्मजानि ॥ १६ ॥

जो इस गर्भ के आत्मज भाव हैं अर्थात् जो आत्मा से उत्पन्न होते हैं उनकी व्याख्या की जाती है। जैसे—उन २ योनियों में उत्पन्न होना, आयु, आत्मज्ञान, मन, इन्द्रियें, प्राण, अपान, प्रेरणा, धारण (देह का धारण) आकृति भेद, स्वरभेद, वर्णभेद, सुख दुःख, इच्छा द्वेष, चेतना, धृति (नियमात्मिका बुद्धि), बुद्धि, स्मृति, अहङ्कार, प्रयत्न; ये भाव आत्मज हैं। सुश्रुत में भी कहा है—

'इन्द्रियाणि ज्ञानविज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि।'

आत्मकृत कर्म के अनुसार ही ये सब उत्पन्न होते हैं। जैसा कर्म होगा वैसे ही ये होंगे। अन्य भी आत्मा के जो लिङ्ग कहे जा चुके हैं निमेष उन्मेष आदि उनका भी ग्रहण करना चाहिये ॥ १६ ॥

सात्म्यजश्चायं गर्भः; न ह्यसात्म्यसेवित्वमन्तरेण स्त्रीपुरुषयोर्वन्ध्यत्वमस्ति गर्भेषु वाऽप्यनिष्टो भावः; यावत्खल्वसात्म्यसेविनां स्त्रीपुरुषाणां त्रयो दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तो न शुक्रशोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते तावत्समर्था गर्भजननाय भवन्ति, सात्म्यसेविनां पुनः स्त्रीपुरुषाणामनुपहतशुक्रशोणितगर्भाशयानामृतुकाले सन्निपतितानां जीवस्यान-

वक्रमणाद्गर्भा न प्रादुर्भवन्ति; न हि केवलं सात्म्यज एवायं गर्भः, समुदायोऽत्र कारणमुच्यते; यानि तु खल्वस्य गर्भस्य सात्म्यजानि, यानि चास्य सात्म्यतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा--आरोग्यमनालस्यमलोलुपत्वमिन्द्रियप्रसादः स्वरवर्णबीजसम्पत्प्रहर्षभूयस्त्वं चेति सात्म्यजानि ॥ १७ ॥

यह गर्भ सात्म्यज भी है—असात्म्य सेवन के बिना स्त्री और पुरुष का वन्ध्य (जननासमर्थ) होना नहीं होता । तथा गर्भ में कोई अनिष्ट भाव वा विकृति भी असात्म्य सेवन के बिना नहीं होती ।

असात्म्य का सेवन करने वाले स्त्री पुरुषों के जब तक प्रकुपित हुए २ तीनों दोष वीर्य रक्त वा गर्भाशय को हानि नहीं पहुंचाते तब तक ही वे गर्भोत्पादन में समर्थ होते हैं । वीर्य आदि के दुष्ट होने पर वे गर्भोत्पत्ति में असमर्थ ही होते हैं ।

जिन सात्म्य का सेवन करने वाले स्त्री पुरुषों के वीर्य रज तथा गर्भाशय में किसी प्रकार का बिकार नहीं उनके ऋतुकाल में परस्पर संसर्ग होने पर भी यदि जीव का प्रवेश न हो तो गर्भ उत्पन्न नहीं होते । यही कारण है कि सात्म्य का सेवन करने वाले भी कदाचित् सन्तानरहित होते हैं । यह गर्भ केवल सात्म्यज नहीं । छहों भावों का समुदाय ही कारण कहा जाता है ।

जो गर्भ के सात्म्यज भाव हैं अर्थात् सात्म्य के सेवन से उत्पन्न होते हैं—उनकी व्याख्या की जायगी—जैसे—आरोग्य, आलस्य न होना, लोलुप वा लोभी न होना, इन्द्रियों की प्रसन्नता वा निर्मलता, श्रेष्ठ स्वर वर्ण और बीज (शुक्र शोणित) का होना, प्रहर्ष की अधिकता अर्थात् मैथुन में हर्ष की अधिकता अथवा मन का बहुत प्रसन्न रहना। सुश्रुत शारीर ३ अ० में—

'वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि ।' ॥ १७ ॥

रसजश्चायं गर्भः; न हि रसादृते मातुः प्राणयात्राऽपि स्यात्किं पुनर्गर्भजन्म, न चैवमसम्यगुपयुज्यमाना रसा गर्भमभिनिर्वर्तयन्ति, न च केवलं सम्यगुपयोगादेव रसानां गर्भाभिनिर्वृत्तिर्भवति, समुदायोऽप्यत्र कारणमुच्यते, यानि तु खल्वस्य गर्भस्य रसजानि, यानि चास्य रसतः सम्भवतः सम्भवन्ति, तान्यनुव्याख्यास्यामः, तद्यथा—शरीरस्याभिनिर्वृत्तिरभिवृद्धिः प्राणानुबन्धस्तृप्तिः पुष्टिरुत्साहश्चेति रसजानि ॥१८॥

यह गर्भ रसज भी है। रस के बिना तो माता की प्राणयात्रा भी नहीं हो सकती, गर्भजन्म का तो क्या कहना। और ना ही यथाविधि उपयोग न किये गये रस गर्भ को उत्पन्न करते हैं। और न केवल रसों के विधिपूर्वक किये गये उपयोग से ही गर्भ उत्पन्न होता है। गर्भोत्पत्ति में समुदाय कारण है। अतः श्रेष्ठ रसों के सेवन से भी गर्भोत्पत्ति नहीं होती। यदि जीव ही अनुप्रविष्ट न हो तो गर्भजन्म कैसे हो! छओं भावों का समुदाय गर्भोत्पत्ति में कारण होता है।

जो इस गर्भ के रसज भाव हैं अर्थात् रस के सेवन से उत्पन्न होते हैं, उनकी व्याख्या करेंगे। जैसे—शरीर को उत्पन्न करना, बढ़ाना, प्राण का अनुबन्ध (जीवित रखना), तृप्ति (जहां २ जिस २ धातु की कमी है उसे पूर्ण करना), पुष्टि, उत्साह। सुश्रुत शारीर ३ अ० में—

'शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि ॥' १८ ॥

अस्ति खल्वपि सत्त्वमौपपादुकं यज्जीवस्पृक् शरीरेणाभिसम्बध्नाति; यस्मिन्नपगमनपुरस्कृते शीलमस्य व्यावर्तते, भक्तिर्विपर्यस्यते, सर्वेन्द्रियाण्युपतप्यन्ते, बलं हीयते, व्याधय आप्यायन्ते, यस्माद्धीनः प्राणाञ्जहाति, यदिन्द्रियाणामभिग्राहकं च मन इत्यभिधीयते; तत्त्रिविधमाख्यायते—शुद्धं

राजसं तामसं चेति । येनास्य खलु मनो भूयिष्ठं, तेन द्वितीयायामाजातौ सम्प्रयोगो भवति; यदा तु तेनैव शुद्धेन संयुज्यते तदा जातेरतिक्रान्ताया अपि स्मरति; स्मार्तं हि ज्ञानमात्मनस्तस्यैव मनसोऽनुबन्धादनुवर्तते, यस्यानुवृत्तिं पुरस्कृत्य पुरुषो जातिस्मर इत्युच्यते इति सत्त्वमुक्तम्। यानि खल्वस्य गर्भस्य सत्त्वजानि, यानि चास्य सत्त्वतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः; तद्यथा--भक्तिः शीलं शौचं द्वेषः स्मृतिर्मोहस्त्यागो मात्सर्यं शौर्यं भयं क्रोधस्तन्द्रोत्साहस्तैक्ष्ण्यं मार्दवं गाम्भीर्यमनवस्थितत्वमित्येवमादयश्चान्ये, ते सत्त्वजा विकाराः; तानुत्तरकालं सत्त्वभेदमधिकृत्य उपदेक्ष्याम इति सत्त्वजानि। नानाविधानि खलु सत्त्वानि, तानि सर्वाण्येकपुरुषे भवन्ति, न च भवन्त्येककालं, एकं तु प्रायोवृत्त्याऽऽह ॥१९॥

मन निश्चय से शरीरान्तर के साथ सम्बन्ध करने वाला है। अर्थात् जीव के शरीरान्तर के ग्रहण में मन ही साधकतम है। जो जीवात्मा के साथ नित्य रहता हुआ शरीर के साथ सम्बन्ध कराता है। जिसके देहान्तर में जाने को तैयार होने पर मुमूर्षु पुरुष का स्वभाव विपरीत हो जाता है----बदल जाता है। इच्छा उलट जाती है। सब इन्द्रियां उपतप्त होती हैं--दुःखी होती हैं। बल नष्ट हो जाता है। रोग भरपूर हो जाते हैं। जिसके न्यून होने पर पुरुष प्राणों को छोड़ देता है। अर्थात् मन के न रहने पर मृत्यु हो जाती है। और जो इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रेरणा करने वाला मन कहाता है। वह मन ही शरीरान्तर से जीवात्मा का सम्बन्ध करता है। जीवात्मा स्वयं निष्क्रिय है मन की क्रिया से क्रियावान् होकर उसका देहान्तर से सम्बन्ध होता है और तभी गर्भोत्पत्ति होती है॥

'यज्जीवं स्पृक्शरीरेणाभिसम्बध्नाति' यह पाठान्तर होने पर जो

१ 'प्रयतो' पा०। २ 'अनुवृत्या' ग.।

जीव को स्पर्शयोग्य शरीर अर्थात् स्थूलशरीर के साथ सम्बन्धित करता है—यह अर्थ होगा।

वह मन तीन प्रकार का है। १-शुद्ध २-राजस ३-तामस। जब सत्त्वप्रधान होता है तब शुद्ध कहाता है, जब रजःप्रधान होता है तब राजस और जब तमःप्रधान होता है तब तामस कहाता है। जो सत्त्व रज वा तम गुण इस जन्म में मन में अधिक होता है उसी गुण की अधिकता वाला मन ही द्वितीय जन्म में होता है। पूर्वजन्म में यदि मन शुद्ध हो (सत्त्वगुणाधिक) तो द्वितीय जन्म में भी मन शुद्ध होगा। यदि पुरुष का शुद्ध मन के साथ योग हुआ है तो वह व्यतीत जन्म का भी स्मरण करता है। यदि राजस और तामस होगा तो पूर्वजन्म में अनुभूत सुना वा देखा हुआ उसे स्मरण नहीं होगा। सुश्रुत शारीर २ अ० में भी कहा है—

'भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः॥'

आत्मा का स्मृति सम्बन्धी ज्ञान उसी (शुद्ध) मन के अनुबन्ध (सहयोग) से ही इस जन्म में अनुवर्तन करता है वा आता है। जिसके अनुवर्तन से पुरुष 'जातिस्मर' कहाता है—पूर्वजन्म का स्मरण करने वाला होता है।

जो इस गर्भ के सत्त्वज भाव हैं और जो मन से सम्भवतः उत्पन्न होते हैं, उन की व्याख्या की जायगी—भक्ति (इच्छा), शील (स्वभाव), पवित्रता, द्वेष, स्मृति, त्याग, मत्सरता (प्रमाद), मोह, शूरता, भय, क्रोध, तन्द्रा, उत्साह, तीक्ष्णता, मृदुता, गम्भीरता, चञ्चलता; ये और इस प्रकार के अन्य भाव। ये सत्त्वज विकार हैं। उन्हें पश्चात् अर्थात् महती गर्भावक्रान्ति नामक आने वाले अध्याय में सत्त्वभेद (मन के भेद) के प्रकरण में उपदेश करेंगे। ये सत्त्वज भाव हैं।

सत्त्व (मन) नाना प्रकार के हैं। वे सब एक पुरुष में होते हैं। परन्तु एक ही समय में नहीं होते। पुरुष को सात्त्विक राजस

वा तामस मन वाला जो हम कहते हैं वह प्रायोवृत्ति से कहा जाता है । अर्थात् रहता तो प्रतिपुरुष में तीनों प्रकार का मन है । पर प्रायशः वा बहुलता से जैसा मन रहता है उसे वैसा ही एक नाम से कह दिया जाता है । एक पुरुष है जिसका मन बहुधा सात्त्विक रहता है राजस वा तामस बहुत कम कालों में होता है तो हम पुरुष को सात्त्विक कहते हैं । इसी प्रकार राजस और तामस भी जानना । यही बात पूर्व इन्द्रियोपक्रमणीयाध्याय (सू० ८ अ०) में कही जा चुकी है ।

' यद्गुणं चाभीक्ष्णमनुवर्तते सत्त्वं तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति ऋषयो बाहुल्यानुशयात् ।'

अथवा वस्तुतः मन एक ही है इसे नाना प्रकार का वा तीन प्रकार का जो कहा जाता है वह उस में उस २ गुण की अधिकता होने के कारण से कहा जाता है । अर्थात् मन एक ही है और वह तीनों गुणों से युक्त है । पर जिसमें सत्त्वगुण की अधिकता होती है उसे सात्त्विक, जिसमें रज की अधिकता है उसे राजस और जिसमें तम का आधिक्य होता है वा अधिक कालों में अनुवर्तन करता है वह तामस कहाता है ॥ १९ ॥

एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात्; तस्मादेतदवोचाम—मातृजश्चायं गर्भः पितृजश्चात्मजश्च सात्म्यजश्च रसजश्च, अस्ति च सत्त्वमौपपादुकमिति होवाच भगवानात्रेयः ॥ २० ॥

इस प्रकार यह गर्भ नाना प्रकार के इन गर्भोत्पादक भावों के समुदाय से उत्पन्न होता है । जैसे कूटागार (गर्भगृह) नाना प्रकार के द्रव्यों के समुदाय से बनता है अथवा जैसे रथ रथ के नाना अङ्गों के समुदाय

से बनता है। इस ही लिये हम यह कहते हैं कि गर्भ मातृज है, पितृज है, आत्मज है, सात्म्यज है, रसज है और मन ही शरीरान्तर से सम्बन्ध करने वाला है—भगवान् आत्रेय ने कहा ॥ २० ॥

भरद्वाज उवाच--यद्ययमेषां नानाविधानां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, कथमयं सन्धीयते, यदि चापि सन्धीयते कस्मात्समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यश्च मनुष्यप्रभव उच्यते। तत्र चेदिष्टमेतद्यस्मान्मनुष्यो मनुष्यप्रभवस्तस्मादेव मनुष्यविग्रहेण जायते, यथा- गौर्गोप्रभवः यथा चाश्वोऽश्वप्रभवः इत्येवं सति यदुक्तमग्रे समुदायात्मक इति तदयुक्तं; यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः; कस्माज्जडान्धकुब्जमूकवामनमिन्मिनव्यङ्गोन्मत्तकुष्ठकिलासिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा न भवन्ति। अथात्रापि बुद्धिरेवं स्यात्--स्वेनैवायमात्मा चक्षुषा रूपाणि वेत्ति, श्रोत्रेण शब्दान्, घ्राणेन गन्धान्, रसनेन रसान्, स्पर्शनेन स्पर्शान्, बुद्ध्या बोद्धव्यमित्यनेन हेतुना[1] न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशा भवन्ति; अत्रापि प्रतिज्ञाहानिदोषः[2] स्यात्, एवमुक्ते ह्यात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञः स्यादसत्स्वज्ञः, यत्र चैतदुभयं सम्भवति ज्ञत्वमज्ञत्वं च, स विकार[3] आत्मा। यदि च दर्शनादिभिरात्मा विषयान्वेत्ति, निरिन्द्रियो दर्शनादिविरहादज्ञः स्यात्, अज्ञत्वादकारणं, अकारणत्वाच्च नात्मेति वाग्वस्तुमात्रमेतद्वचनमनर्थकं स्यादिति होवाच भरद्वाजः ॥ २१ ॥

भरद्वाज ने कहा—यदि यह गर्भ माता पिता आदि नाना प्रकार के गर्भोत्पादक भावों के समुदाय से उत्पन्न होता है तो इसका सन्धान (जुड़ना) कैसे होता है? यदि सन्धान होता भी है तो समुदाय से उत्पन्न होने

१ 'हेतुना जडादिभ्यो' पा०। २ 'प्रतिज्ञादोषः' च.। ३ 'विकारप्रकृतिक-आत्मा निर्विकारश्च' ग.। 'विकार इति विकारवानित्यर्थो मतुब्लोपाज्ज्ञेयः' चक्रः।

वाला यह गर्भ किस हेतु से मनुष्य शरीर में उत्पन्न होता है । मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है यह कहा जाता है । यदि आप को यही अभीष्ट हो वा यही युक्ति हो—चूंकि मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है अतएव वह गर्भ मनुष्याकृति पैदा होता है जैसे गौ से गौ और घोड़े से घोड़ा । तो पहले जो गर्भ को समुदायात्मक (माता पिता आदि
६ गर्भकर भावों से उत्पन्न होने वाला) कहा है वह ठीक नहीं । और यदि मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता हो तो मूर्ख अन्धे कुबड़े गूंगे वामन (बौना) मिन्मिन (नाक से बोलने वाला) व्यङ्ग (मुख पर कृष्ण मण्डल होना अथवा व्यङ्ग का अर्थ विकृत अङ्ग वाला हो सकता है) उन्मत्त (पागल), कुष्ठ और किलास (श्वित्र) के रोगियों की सन्तान अपने पिता के सदृश रूप वाली क्यों नहीं होती ? अर्थात् यदि पिता वा माता मूर्ख हो तो सन्तान भी मूर्ख हो, यदि पिता कुबड़ा हो तो उत्पन्न सन्तान भी कुबड़ी हो, यदि अन्धा हो तो अन्धी हो इत्यादि । क्योंकि जैसा कारण होगा वैसा ही कार्य होगा । परन्तु सर्वदा यह बात नहीं होती । पिता मूर्ख होता है पुत्र बुद्धिमान् होता है पिता अन्धा होता है पुत्र आंखों वाला होता है । अथवा पिता बुद्धिमान् होता है और पुत्र गोबरगणेश होता है इत्यादि । यदि आप इस का इस प्रकार समाधान करते हों कि यह आत्मा अपनी ही चक्षु इन्द्रिय से रूपों को देखता है, अपनी ही श्रोत्रेन्द्रिय से शब्दों को सुनता है, अपनी ही घ्राणेन्द्रिय से गन्धों को सूंघता है, अपनी ही रसना से रसास्वाद लेता है, अपनी ही स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्शों को जानता है, अपनी ही बुद्धि से बोद्धव्य (ज्ञातव्य) विषयों को जानता है—इस हेतु से जड़ (मूर्ख) आदि से उत्पन्न सन्तान पिता सदृश नहीं होती तो यहां पर भी प्रतिज्ञाहानि दोष होगा । अर्थात् गर्भ का आत्मा स्वकर्मोपार्जित इन्द्रियों से ही अपने विषयों का ग्रहण करता है । इन्द्रियां और मन आत्मज है यह पहिले कहा जा चुका है । माता-

पितृज तो हैं नहीं। अतएव माता वा पिता के अन्धा वा मूर्ख होते हुए भी सन्तान वैसी नहीं होती । परन्तु ऐसा मानने में प्रतिज्ञाहानि दोष आता है। पूर्व यह प्रतिज्ञा की गई है कि आत्मा ज्ञ है, निर्विकार है और कारण है। यह प्रतिज्ञा यहां नहीं रहती। क्योंकि यदि आत्मा इन्द्रियों के सम्बन्ध से ज्ञ (ज्ञानी) होता है और इन्द्रियों के न रहने पर अज्ञ होता है तो वह आत्मा विकारवान् होता है । इस प्रकार उस आत्मा की प्रतिज्ञात ज्ञता और निर्विकारता नहीं रहती। यदि दर्शन (चक्षु) आदि द्वारा आत्मा विषयों को जानता है तो निरिन्द्रिय आत्मा चक्षु आदि के न होने पर अज्ञ होगा। अज्ञ होने से कारण नहीं होगा। और जब कारण ही नहीं होगा तो आत्मा को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। आत्मा को कारण इसीलिये माना जाता है कि वह ज्ञान वा चेतनता का हेतु है। परन्तु जब इन्द्रियों के बिना वह अज्ञ है तो आत्मा को मानने की ही क्या आवश्यकता है। जब आत्मा ही नहीं तो 'आत्मा अपनी चक्षु द्वारा रूपों को देखता है' इत्यादि वचन अनर्थक बकवास ही होगी। और आत्मा के न मानने पर गर्भ को छह भावों से उत्पन्न होने वाला भी मानना युक्तिसङ्गत न रहेगा। क्योंकि आत्मा तो है नहीं, गर्भ आत्मज कैसे होगा? यह भरद्वाज ने कहा ॥ २१ ॥

आत्रेय उवाच--पुरस्तादेतत्प्रतिज्ञातं--सत्त्वं जीवस्पृक् शरीरेणाभिसम्बध्नातीति; यस्मात्तु समुदायप्रभवः सन् गर्भो मनुष्यविग्रहेण जायते, मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते, तद्वक्ष्यामः ॥ २२ ॥

आत्रेय ने कहा—हम ने पूर्व यह प्रतिज्ञा की है—मन आत्मा के साथ सम्बद्ध रहता हुआ शरीर के साथ उसका सम्बन्ध करता है। इस से गर्भकर शुक्रशोणित आत्मा आदि के मिलन की परिपाटी बताई है। मन के द्वारा ही आत्मा और शरीर (शुक्रशोणित) का सम्बन्ध होता

है। यही सन्धान की परिपाटी है । और जिस हेतु से, समुदाय से उत्पन्न होने वाला गर्भ मनुष्यशरीराकृति उत्पन्न होता है और जिस हेतु से मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है—यह कहा जाता है, वह कहेंगे ॥ २२ ॥

भूतानां चतुर्विधा योनिर्भवति—जराय्वण्डस्वेदोद्भिदः। तासां खलु चतसृणामपि योनीनामेकैका योनिरपरिसंख्येय-भेदा भवति, भूतानामाकृतिविशेषापरिसंख्येयत्वात्। तत्र जरायुजानामण्डजानां च प्राणिनामेते गर्भकरा भावा यां यां योनिमापद्यन्ते तस्यां तस्यां योनौ तथातथारूपा भवन्ति; तद्यथा—कनकरजतताम्रत्रपुसीसकान्यासिच्यमानानि तेषु तेषु मधूच्छिष्टविग्रहेषु, ते यदा मनुष्यबिम्बमापद्यन्ते तदा मनुष्य-विग्रहेण जायन्ते, तस्मात्समुदायात्मकः सन् गर्भो मनुष्यविग्र-हेण जायते, मनुष्यो मनुष्यप्रभव इत्युच्यते, तद्योनित्वात् २३

प्राणियों की चार प्रकार की योनि होती हैं—१ जरायु २ अण्ड ३ स्वेद ४ उद्भिद् । 'योनि' उत्पत्तिस्थान वा उत्पत्तिकारण को कहते हैं। जरायु से उत्पन्न होने वाले जरायुज कहाते हैं, जैसे मनुष्य गौ घोड़ा आदि । अण्डों से उत्पन्न होने वाले अण्डज होते हैं, जैसे चिड़िया आदि । स्वेद से उत्पन्न होने वाले स्वेदज कहाते हैं जैसे चिऊंटी आदि । चौथे उद्भिज्ज हैं जो पृथ्वी को फाड़कर बाहिर निकलते हैं, जैसे केंचुए वीरबहूटी आदि । सुश्रुत सू० १ अ० में—

'जङ्गमाः खल्वपि चतुर्विधाः जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जाः। तत्र पशु-मनुष्यव्यालादयो जरायुजाः । खगसर्पसरीसृपप्रभृतयोऽण्डजाः । कृमि-कीटपिपीलिकाप्रभृतयः स्वेदजाः । इन्द्रगोपमण्डूकप्रभृतय उद्भिज्जाः ।

स्थावर वृक्षों को प्राणी स्वीकार करते हुए उन्हें उद्भिज्जों में ला सकते हैं।

---

१ 'मधूच्छिष्टबिम्बेषु' ग. । 'मधूच्छिष्टविग्रहेष्विति सिक्थकेन मृत्तिकायां निर्मितसंचकरूपाविग्रहेषु' चक्रः । २ 'समुदायप्रभवः' ग. ।

इन चार योनियों में से भी एक २ के प्राणियों की आकृति के भेदों के अपरिसंख्येय (अनगिनत) होने से अनगिनत भेद हैं । जरायुज और अण्डज प्राणियों के ये (शुक्रशोणित आत्मा आदि छह) गर्भोत्पादक भाव जिस २ योनि को प्राप्त होते हैं उस २ योनि में वैसे २ ही रूप हो जाते हैं । जैसे मोम द्वारा (मट्टी में) बनाये गये सांचों में सुवर्ण चांदी तांबा वंग वा सीसे को पिघला कर डालने से उसी २ आकृति की मूर्तियां बन जाती हैं । वे स्वर्ण आदि जब मनुष्य के सांचे में ढाले जाते हैं तो मनुष्य का आकार बन जाता है । अतः समुदाय रूप होता हुआ भी गर्भ मनुष्यशरीर होकर उत्पन्न होता है। मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है क्योंकि उसकी वह योनि (उत्पत्ति कारण) है । अर्थात् मनुष्य योनि होने से मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है। कारण के अनुरूप ही कार्य होता है । सुश्रुत शारीर २ अ० में तो—

'सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ ।
तलेष्वसम्भवो यश्च रोम्णामेतत्स्वभावतः ॥

यदि 'ते यदा मनुष्यविम्बमापद्यन्ते' यह पाठ होगा तो इसका अर्थ यह होगा कि वे गर्भकर भाव जब स्त्री के गर्भाशय में जाते हैं तब मनुष्याकृति उत्पन्न होते हैं । 'विम्ब' सच्छिद्र त्रिकास्थि को कहते हैं । यह अस्थि बस्तिगुहा की पिछली दीवार बनाती है । अतः इस से अभिप्राय बस्तिगुहा से है । बस्तिगुहा में गर्भाशय स्थित है। अर्थात् स्त्री के गर्भाशय में जब छहों भावों का संयोग होता है तो मनुष्याकृति गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २३ ॥

यच्चोक्तं—यदि च मनुष्यो मनुष्यप्रभवः कस्मान्न जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्तीति, तत्रोच्यते—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्, तस्मादुभयोपपत्तिरप्यत्र; सर्वस्य चात्मजानीन्द्रियाणि, तेषां भावाभावहेतु-

दैवं, तस्मान्नैकान्ततो जडादिभ्यो जाताः पितृसदृशरूपा भवन्ति ॥ २४ ॥

और जो यह कहा है कि यदि मनुष्य मनुष्य से उत्पन्न होता है तो जड़ आदि मनुष्यों से उत्पन्न मनुष्य माता पिता के सदृश उत्पन्न क्यों नहीं होते अर्थात् जड़ से जड़ क्यों नहीं उत्पन्न होता ? गूंगे से गूंगा क्यों नहीं होता ? इत्यादि । इसका उत्तर यह है—कि शुक्र-शोणित रूप बीज में शरीर के जिस २ अवयव का बीजभाग अर्थात् अवयव का उत्पादक भाग दुष्ट होता है उसी २ अवयव में विकृति हो जाती है । यदि बीज दुष्ट न हो वा बीज का वह २ भाग दुष्ट न हो तो विकृति नहीं होती अथवा वह २ भाग दुष्ट नहीं होता । यही कारण है कि जड़ से जड़ उत्पन्न नहीं होता । गूंगे से गूंगा ही नहीं उत्पन्न होता इत्यादि । अतएव दोनों बातों की सङ्गति होती है । जड़ से जड़ भी पैदा होते हैं और होनहार भी । अन्धे से अन्धा भी पैदा होता है और नेत्रयुक्त भी । गूंगे से गूंगा भी पैदा होता है और वाचाल भी, इत्यादि । इन्द्रियां सब की आत्मज हैं । उनका होना या न होना दैवाधीन है । अतएव जड़ आदि से उत्पन्न सन्तान एकान्त भाव से (अपवाद रहित, सर्वत्र) पिता के सदृश नहीं होती ।

भावार्थ यह है कि मनुष्य बीज सामान्यतः प्रत्येक अङ्ग के उत्पादक भाग से युक्त होता है और अपने सदृश ही रूप वाले मनुष्य को उत्पन्न करता है । इन्द्रियां आत्मज हैं, भोग की साधन हैं, ये आत्मकृत प्राक्तन कर्म के आधीन होती हैं । यदि पिता कुष्ठी हो परन्तु बीज कुष्ठजनक दोष से दुष्ट न हो तो जो सन्तान होगी वह पिता के रूप में तो सदृश होगी परन्तु कुष्ठी नहीं होगी । यदि पिता का कुष्ठ इतना प्रवृद्ध हो कि उसका बीज भी कुष्ठजनक दोष से दुष्ट होगया हो तो सन्तान कुष्ठी होगी । पिता कहने से माता पिता दोनों का ही ग्रहण है । अन्धेपन आदि में दुर्दैव ही कारण होता है ।

यह ही अन्धी सन्तान के उत्पन्न होने में कारण है । जब पिता अन्धा हो और सन्तान के भी प्राक्तन कर्म ऐसे हों कि उसकी चक्षु इन्द्रिय ही नष्ट होनी हो तो काकतालीय न्याय से अन्धे से अन्धा उत्पन्न हुआ दिखाई देता है ॥ २४ ॥

न [1]चात्मा सत्स्विन्द्रियेषु ज्ञो सत्सु वा भवत्यज्ञः; न ह्यसत्त्वः कदाचिदात्मा; सत्त्वविशेषाच्चोपलभ्यते ज्ञानविशेष इति ॥२५॥

और नाही आत्मा इन्द्रियों के होने पर ज्ञ (ज्ञानवान्) होता है और न इन्द्रियों के न होने पर अज्ञ होता है । आत्मा कदाचिदपि सत्त्व (मन) से रहित नहीं होता, मोक्षपर्यन्त मन का सम्बन्ध आत्मा के साथ बना ही रहता है । मनविशेष से ज्ञानविशेष पाया जाता है । अर्थात् यदि इन्द्रिय न हो तो इन्द्रियजन्य विशिष्ट ज्ञान नहीं होगा परन्तु मन की सन्निधि से जो आत्मज्ञान होता है वह सर्वदा ही होगा। इस प्रकार आत्मा सर्वदा ही ज्ञानवान् है ॥ २५ ॥

भवन्ति चात्र ।

न कर्तुरिन्द्रियाभावात्कार्यज्ञानं प्रवर्तते ।
[2]यैः क्रिया वर्तते या तु सा विना तैर्न वर्तते ॥ २६ ॥
जानन्नपि मृदोऽभावात्कुम्भकृन्न प्रवर्तते ।

कर्ता की इन्द्रिय न होने से कार्यज्ञान अर्थात् बाह्यविषय-ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता । जो क्रिया जिनके द्वारा होती है वह क्रिया उनके बिना नहीं हो सकती । अर्थात् कर्त्ता करण के बिना कुछ नहीं कर सकता । जैसे कुम्हार घड़े को बनाना जानते हुए भी मट्टी के अभाव होने पर घड़ा बनाने में प्रवृत्त नहीं होता । जब मिट्टी के अभाव में कुम्हार घड़ा न बनाता हो तो हम कहें कि कुम्हार को घट के निर्माण का ज्ञान नहीं तो वह हमारी मूर्खता ही होगी । इसी प्रकार बाह्यविषय के ज्ञान की साधन इन्द्रियां है । यदि इन्द्रियां नहीं तो

१ 'सत्स्विन्द्रियेष्वसत्सु' च. । २ 'या क्रिया वर्तते भावैः' च. ।

प्रकार बाह्य विषय का ज्ञान नहीं होगा । आत्मा को अज्ञ कहना निरी मूर्खता होगी ॥ २६ ॥

श्रूयतां चेदमध्यात्ममात्मज्ञानबलं महत् ॥ २७ ॥
इन्द्रियाणि च संक्षिप्य मनः संगृह्य चञ्चलम् ।
प्रविश्याध्यात्ममात्मज्ञः स्वे ज्ञाने पर्यवस्थितः ॥ २८ ॥
सर्वत्र विहितज्ञानः सर्वभावान् परीक्षते ।

इस आत्मसम्बन्धी विषय को सुनो ! आत्मज्ञान का बल महान् है । इन्द्रियों को बाह्यविषयों से हटाकर और चञ्चल मन को काबू कर के अध्यात्म तत्त्व में (आत्मसम्बन्धी तत्त्व में) प्रविष्ट होकर आत्मज्ञान में स्थित हुए २ आत्मज्ञानी को सर्वत्र अप्रतिहत ज्ञान होता है, जिस के द्वारा वह सब चराचर भावों को जान जाता है—प्रत्यक्ष कर लेता है । अतः भी आत्मा ज्ञानवान् है ॥ २७-२८ ॥

गृह्णीष्व चेदमपरं भरद्वाज विनिर्णयम् ॥ २९ ॥
निवृत्तेन्द्रियवाक्चेष्टः सुप्तः स्वप्नगतान् यदा ।
विषयान् सुखदुःखे च वेत्ति नाज्ञोऽप्यतः स्मृतः ॥ ३० ॥

हे भरद्वाज ! इस और निर्णय को समझो । जब इन्द्रिय वाणी और चेष्टा से निवृत्त हुआ पुरुष सोया हुआ होता है तो वह स्वप्न में विषयों और सुख दुःख को जानता है, अतः भी आत्मा अज्ञ नहीं अपि तु ज्ञानवान् है । अर्थात् इन्द्रियों के निवृत्त होने पर भी बाह्य विषय दिखाई देते हैं और उन से आत्मा अपने को सुखी वा दुःखी समझता है ॥ २९-३० ॥

आत्मज्ञानादृते चैकं ज्ञानं किंचिन्न वर्तते ।
न ह्येको वर्तते भावो वर्तते नाप्यहेतुकः ॥ ३१ ॥

---

१ 'श्रणुया वेदमध्यात्म०' ग. । २ 'संक्षिप्य' ग. ।
३ 'सर्वत्रावहितज्ञानः' च. । ४ 'वेद' ग. ।
५ 'एकं असहायं' चक्रः । 'नात्मा ज्ञानादृते चैको ज्ञातुं किञ्चित्प्रवर्तते' । ग. ।

आत्मज्ञान के बिना कोई भी ज्ञान (बाह्यविषयज ज्ञान) अकेला अर्थात् इन्द्रिय आदि साधन के बिना प्रवृत्त नहीं होता। भाव—उत्पत्तिधर्मा वस्तु अकेली नहीं होती अर्थात् बिना साधन वा बिना करण के उत्पन्न नहीं होती अथवा विना अन्य के संयोग के नहीं होती। और वह भाव हेतुरहित (कारणरहित—कर्त्तारहित) हो यह भी नहीं होता। अर्थात् उत्पत्तिधर्मा पदार्थ की उत्पत्ति में कर्त्ता और करण की विद्यमानता आवश्यक है। नित्यपदार्थ के कर्त्ता और करण नहीं होते। आत्मज्ञान नित्य है इस के कर्त्ता और करण की आवश्यकता नहीं। परन्तु बाह्यविषयक ज्ञान के लिये कर्ता और करण का होना आवश्यक है। ज्ञान का कर्ता वा कारण आत्मा है और करण इन्द्रिय आदि हैं॥ ३१॥

तस्माज्ज्ञः प्रकृतिश्चात्मा द्रष्टा कारणमेव च।
सर्वमेतद्भरद्वाज निर्णीतं जहि संशयम्॥ ३२॥ इति॥

उपसंहार—अतः आत्मा ज्ञ (ज्ञानवान्) है, प्रकृति है—निर्विकार है, द्रष्टा है और कारण है। हे भरद्वाज! यह सब निर्णय कर दिया, अब संशय को छोड़ो॥ ३२॥

तत्र श्लोकौ।

हेतुर्गर्भस्य निर्वृत्तौ वृद्धौ जन्मनि चैव यः।
पुनर्वसुमतिर्या च भरद्वाजमतिश्च या॥ ३३॥
प्रतिज्ञाप्रतिषेधश्च विशदश्चात्मनिर्णयः।
गर्भावक्रान्तिमुद्दिश्य खुड्डीकां तत् प्रकाशितम्॥ ३४॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने खुड्डीका-
गर्भावक्रान्तिशारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

गर्भ की उत्पत्ति वृद्धि और जन्म में कारण, पुनर्वसु (भगवान् आत्रेय) का मत, भारद्वाज का मत, प्रतिज्ञादोष तथा आत्मा का स्पष्ट निर्णय। ये सब खल्प गर्भावक्रान्ति के उद्देश से इस अध्याय में प्रकाशित कर दिया है॥ ३३–३४॥

इति तृतीयोऽध्यायः।

चतुर्थोऽध्यायः ।

अथातो महतीं गर्भावक्रान्तिं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब महती गर्भावक्रान्ति नामक शारीर की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । इस में खुड्डीका गर्भावक्रान्ति अध्याय में कहे गये विषय का विस्तार से वर्णन होगा ॥ १ ॥

यतश्च गर्भः सम्भवति, यस्मिंश्च गर्भसंज्ञा, यद्विकारश्च गर्भो, यथा चानुपूर्व्याभिनिर्वर्तते कुक्षौ, यश्चास्य वृद्धिहेतुः, यतश्चास्याजन्म भवति, यतश्च जायमानः कुक्षौ विनाशं प्राप्नोति, यतश्च कात्स्न्येनाविनश्यन्विकृतिमापद्यते, तदनुव्याख्यास्यामः ॥

गर्भ जिस से उत्पन्न होता है । जिस की 'गर्भ' यह संज्ञा होती है । जिससे गर्भ बनता है । जिस क्रम से कोख (गर्भाशय) में प्रकट होता है । और जो इस की वृद्धि का कारण है । जिस हेतु से गर्भ की उत्पत्ति नहीं होती । जिस हेतु से जायमान (उत्पन्न होता हुआ) गर्भ कोख में नष्ट हो जाता है । और जिस हेतु से सम्पूर्णतया नष्ट न होकर विकार को प्राप्त होता है । उस सबकी क्रमशः व्याख्या करेंगे । ये सब इस अध्याय के विषय हैं । इन का वर्णन विस्तार से होगा ॥ २ ॥

मातृतः पितृत आत्मतः सात्म्यतो रसतः सत्त्वत इत्येतेभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भः सम्भवति । तस्य येऽवयवा यतो यतः सम्भवतः सम्भवन्ति तान्विभज्य मातृजादीनवयवान् पृथक्पृथगुक्तमग्रे ॥ ३ ॥

गर्भ जिस से उत्पन्न होता है—माता, पिता, आत्मा, सात्म्य, रस, मन; इन भावों के समुदाय से गर्भ उत्पन्न होता है । उस (गर्भ) के जो जो अवयव जिस २ से सम्भवतः उत्पन्न होते हैं उन मातृज आदि अवयवों को पृथक्२ विभाग के अनुसार पूर्वाध्याय में कह चुके हैं॥३॥

शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ४

'गर्भ' किस का नाम है—कोख (गर्भाशय) में हुए शुक्र (वीर्य) शोणित (रज) तथा जीव के संयोग को 'गर्भ' कहते हैं ॥ ४ ॥

गर्भस्तु खल्वन्तरीक्षवाय्वग्नितोयभूमिविकारश्चेतनाधिष्ठानभूतः; एवमनयैव युक्त्या पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मको गर्भश्चेतनाधात्वधिष्ठानभूतः, स ह्यस्य षष्ठो धातुरुक्तः ॥ ५ ॥

गर्भ जिनका विकार है वा गर्भ जिनसे बनता है वा गर्भ के घटक पदार्थ—गर्भ तो अन्तरिक्ष (आकाश), वायु, अग्नि, जल और भूमि; इन पांच महाभूतों का विकार है और चेतना का आश्रय है । अर्थात् चेतना (आत्मा) के आश्रय पञ्चमहाभूतों के विकार को गर्भ कहते हैं । ये महाभूत मातृज और पितृज होते हैं । इन्हीं के ही वीर्य और रज ये दो रूप होते हैं । शारीरस्थान २ अध्याय में कह भी आये हैं—

'भूतानि मातापितृसम्भवानि रजश्च शुक्रं च वदन्ति गर्भे ॥'

इस युक्ति के अनुसार पांच महाभूतों के विकार का समुदायस्वरूप गर्भ चेतना का आश्रयभूत है । वह चेतना (आत्मा) इस गर्भ की छठी धातु कहाती है । आकाश आदि पांच भूत पांच धातुएं हैं । और आत्मा छठी धातु है । ये ६ धातुएं गर्भ की घटक हैं । पूर्व कह भी चुके हैं—

'खादयश्चेतनाषष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः ॥' ५ ॥

यथा त्वानुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते कुक्षौ तदनुव्याख्यास्यामः— गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते, पुनः शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे, तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात्सम्भवति, स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेनाभि-

संसर्गमेति ॥ ६ ॥

जैसे क्रम से कोख में गर्भ प्रकट होता है, उसकी व्याख्या करेंगे—पुराने रज के निकल जाने पर और नये रज के स्थित होने पर शुद्ध होकर स्नान किये हुई तथा जिस की योनि रज और गर्भाशय दुष्ट नहीं उसे ऋतुमती कहते हैं। जो काल स्त्री में गर्भधारण के योग्य होता है उसे ऋतु कहते हैं। सामान्यतः यह काल आर्त्तवप्रवृत्ति से ज्ञात होता है। साधारणतया आर्त्तव की प्रवृत्ति २८ दिन के बाद होती है। इस समय डिम्बग्रन्थि से डिम्ब परिपक्व होकर आता है। जिसके साथ ही आर्त्तव की प्रवृत्ति होती है। परन्तु यदि ऋतुसमय में किसी कारण से शुक्रकीट वा शुक्राणु का संयोग न हो तो वह डिम्ब निर्बीज हो बाहिर निकल जाता है और २८ दिन के पश्चात् नया डिम्ब डिम्बग्रन्थि से निकल कर गर्भाशय की ओर आता है। यही पुराने रज के निकल जाने और नये रज की अवस्थिति से अभिप्राय है। कम से कम मासिक धर्म ३ दिन रहा करता है। तीन दिन के शोणितस्राव के पश्चात् स्त्री शुद्ध होती है। यदि चार दिन स्राव होता हो तो चार दिन के पश्चात् यदि पांच दिन होता हो तो पांच दिन के पश्चात् इत्यादि। मासिक धर्म की प्रवृत्ति के दिनों में स्नान निषिद्ध है। जब मासिकधर्म की प्रवृत्ति बन्द हो उस समय स्नान किया जाता है।

'नवे तनौ च सञ्जाते विगते जीर्णशोणिते।
नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा॥'

योनि शोणित तथा गर्भाशय जिसके दुष्ट नहीं ऐसी स्त्री के साथ जब अविकृत बीज (शुक्राणु-spermatozoa) वाला पुरुष मैथुन करता है तब उस पुरुष का हर्ष से प्रेरित किया हुआ उत्कृष्ट शरीर की धातुओं का सार शुक्र के रूप में अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होता है। सुश्रुत शारीर ४ अ० में भी कहा है—

'सप्तमी शुक्रधरा नाम। या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी।'

'यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः॥'
'कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत्सम्प्रवर्तते॥'

शुक्र सम्पूर्ण शरीर में रहता है। पर उसे मथ कर इस रूप में लाने वाले अण्ड हैं। क्षरण के समय मार्ग में इस में अन्य रस भी मिल जाते हैं।

यह आत्मा से अधिष्ठित बीज धातु (शुक्र वा शुक्रकीट) हर्ष-युक्त आत्मा से प्रेरित हुआ २ पुरुष के शरीर से बाहिर आकर उचित मार्ग अर्थात् योनिच्छिद्र द्वारा गर्भाशय में घुस कर आर्तव (डिम्ब) के साथ संयुक्त होता है।

स्त्री और पुरुष के परस्पर मिलन के समय जब शिश्न का योनि में संघर्ष होता है तो पुरुष में उत्तेजना अपनी उच्चतम अवस्था को प्राप्त होती है और पुरुष उपस्थ के विषय—आनन्द का अनुभव करता है। इस समय ही वातनाड़ियों की प्रत्यावर्तिनी क्रिया से वीर्य की च्युति होती है। इस वीर्य में बीजरूप बहुत से शुक्रकीट होते हैं। सामान्यतः एक बार के मैथुन में जितना वीर्य निकलता है उसमें १ करोड़ ८० लाख से लेकर २२ करोड़ ६० लाख तक शुक्रकीट रहते हैं। यह भिन्नता च्युत होने वाली वीर्य की राशि और मैथुन की संख्या पर निर्भर है। एक ही पुरुष में भिन्न २ समय इन शुक्रकीटों की संख्या भिन्न होती है। कई वार वीर्य में एक भी शुक्रकीट नहीं होता। यह प्रायः एक दिन में कई वार मैथुन करने से होता है। इनमें से जो बलवान् होते हैं वे अधिक गति करते हैं। और वह गर्भाशय में प्रविष्ट हो पाता है। या तो गर्भाशय में डिम्ब से मिल जाता है या बहुधा डिम्बप्रणाली (Follopian tubes) में डिम्ब से मिलता है। और वहां मिल कर पुनः गर्भाशय में आजाते हैं॥ ६॥

तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते । स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानमव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान्विभुर्भूतात्मा चेन्द्रियात्मा चान्तरात्मा चेति ॥ ७ ॥

सब से पूर्व मनरूपी करण के साथ युक्त हुआ २ चेतना धातु (आत्मा) गुण के ग्रहण के लिए प्रवृत्त होता है। अर्थात् अपने कर्म के अनुसार सत्त्व रज तथा तम इन गुणों के ग्रहण के लिये अथवा महाभूतों (गुण और गुणी में अभेदोपचार से 'गुण' से महाभूतों का ग्रहण है) के ग्रहण के लिये प्रवृत्त होता है। आत्मा का जैसा कर्म है और जैसा मन उसके साथ है वैसा ही गर्भ होता है वैसे ही पृथिवी आदि भूत होते हैं जिससे वह शरीर बनता है। सुश्रुत शारीर ३ अ० में भी—

'क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंयोगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्देवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाभिप्रेर्यमाणः, गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥'

आत्मा अपने कर्म द्वारा प्रेरित किया हुआ मनरूपी साधन के साथ स्थूलशरीर को उत्पन्न करने के लिये उपादान भूत भूतों का ग्रहण करता है। वह आत्मा हेतु है, कारण है निमित्त है, अविनाशी है, कर्ता है, मन्ता, बोधयिता (ज्ञान कराने वाला, चेतना देने वाला) बोद्धा (बुद्धि द्वारा ज्ञान कराने वाला) द्रष्टा, धाता (धारण करने वाला) ब्रह्मा (बड़ा होने से, बृहत् होने से), विश्वकर्मा, विश्वरूप, पुरुष (शरीर में बसने वाला), प्रभव, (उत्पत्ति कारण), अव्यय (जो नष्ट न हो—जिसका व्यय न हो), नित्य, गुणी (इच्छा द्वेष आदि गुणों

१ 'गुणग्रहणायेत्यत्र गुणशब्देन गुणगुणिनोरभेदोपचारात् गुणवन्ति भूतान्युच्यन्ते' चक्रः ।

से युक्त अथवा पृथिवी आदि भूतों से युक्त), ग्रहण (भूतों का ग्रहण करने वाला), प्रधान, अव्यक्त, जीव ज्ञ (ज्ञानवान्), पुद्गल, चेतनावान्, प्रभु, भूतात्मा, इन्द्रियात्मा, अन्तरात्मा कहाता है ॥ ७ ॥

स गुणोपादानकालेऽन्तरीक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्य उपादत्ते; यथा प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूतः सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान्धातून्वाय्वादींश्चतुरः; तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान्धातून्वाय्वादींश्चतुरः; सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति ॥ ८ ॥

वह गुणों के ग्रहण के समय अन्य गुणों की अपेक्षा पूर्व अन्तरिक्ष (आकाश) का ग्रहण करता है। यदि आकाश ही न होगा तो शरीर कहां बनेगा। जैसे प्रलय के अन्त में भूतों की सृष्टि की उत्पत्ति करनेकी इच्छासे अविनाशी (महेश्वर) सत्त्व (मन) रूपी उपादानसे युक्त हुआ सब से पूर्व आकाश को रचता है। तदनन्तर क्रमशः अपेक्षया स्पष्ट गुणों वाले वायु आदि चार धातुओं को। अर्थात् आकाश के बाद वायु, वायु के पश्चात् अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल और जल के पश्चात् पृथिवी। उसी प्रकार शरीर को ग्रहण करने में भी प्रवृत्त हुआ २ आत्मा सब से पूर्व आकाश को ग्रहण करता है। तदनन्तर अपेक्षया स्पष्ट गुणों वाली वायु आदि चार धातुओं को क्रमशः ग्रहण करता है। आकाश के बाद वायु, वायु के अनन्तर अग्नि, अग्नि के पश्चात् जल और इसके पश्चात् पृथिवी का ग्रहण करता है। यह सब गुणों (शब्द आदि गुणवान् भूत) का ग्रहण अणुकाल में अर्थात् अत्यन्त ही अल्पकाल (अविज्ञेय) में ही हो जाता है ॥ ८ ॥

स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि सम्मूर्च्छितः सर्वधातुकलनीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः ॥ ९ ॥

वह सब गुणों (भूत तथा उनके गुण शब्द आदि) से युक्त अच्छी प्रकार सम्मिश्रित हुआ २ आत्मा गर्भभाव को प्राप्त हो कर प्रथम मास में सब धातुओं का उत्पादक हो कर रूप में कफ के सदृश अस्पष्ट शरीर वाला होता है । इस समय उस के अंग अवयव सत् भी होते हैं और असत् भी होते हैं ।

अर्थात् जब आत्मा शुक्राणु डिम्ब इन का गर्भाशय में संयोग हुआ होता है तब वे बीजरूप होकर वहां श्लैष्मिककला से चिपक जाते हैं और अब रसज भाव से भी मिश्रित होकर बढ़ना प्रारम्भ होता है। यह बीज फटकर एक से दो दो से चार चार से आठ हो जाता है । यह फटने का सिलसिला जारी रहता है । अन्त में यह एक छोटा सा गोल बीज समूह बन जाता है । इस बीज समूह में सब धातुओं को उत्पन्न करने की शक्ति होती है । इस में दो प्रकार के बीजसमूह होते हैं । बाहिर के बीजसमूह और अन्दर बीज के समूह । बाहिर के बीजसमूह अन्तःबीजसमूहों की अपेक्षा बड़े होते हैं । कुछ काल के पश्चात् इन दोनों के बीच में खोखली जगह बन जाती है और शनैः २ लसलसा द्रव भरना शुरू हो जाता है । जिस के दबाब से बाहर और अन्दर के बीजसमूहों में पर्याप्त अन्तर हो जाता है । इस समय सब अङ्ग और अवयव बीज रूप में ही होते हैं अतः सत् कहाते हैं पर अव्यक्त होने से या स्थूलरूप में न होने से असत् (अविद्यमान रूप होते हैं) सुश्रुत शारीर अध्याय ३ में—

'तत्र प्रथमे मासि कललं जायते' ॥ ६ ॥

द्वितीये मासि घनः सम्पद्यते—पिण्डः पेश्यर्बुदं वा, तत्र पिण्डः पुरुषः, स्त्री पेशी, अर्बुदं नपुंसकम् ॥ १० ॥

दूसरे मास में घन (घना) हो जाता है । यह तीन प्रकार का हो सकता है । पिण्ड की आकृति वाला, पेशी की आकृति वाला वा अर्बुद

(Tumour) की आकृति वाला । यदि पिण्डाकृति हो तो पुरुष यदि पेश्याकृति है तो स्त्री, यदि अर्बुदाकृति है तो नपुंसक गर्भ होता है।

गर्भ धारण के पश्चात् गर्भाशय की श्लैष्मिक कला मोटी होने लगती है। श्लैष्मिक कला भ्रूण को चारों ओर से घेर लेती है। भ्रूण के ऊपर दो आवरण बन जाते हैं। इन में से जो आवरण बाहिर का होता है वह मोटा हो जाता है उस आवरण पर अङ्कुर निकल आते हैं। धीरे २ गर्भाशय की दीवार की ओर के संसक्त भाग पर अधिक घने हो जाते हैं और शेष भाग पर छोटे और कम होते हैं। धीरे २ ये अङ्कुर हट जाते हैं और बाह्यावरण के संसक्त भाग पर मोटे और लम्बे हो जाते हैं। इन्हीं दिनों में भ्रूण और उस के ऊपर के अन्तरावरण में गर्भोदक (Liquor amnœ) भी इकट्ठा होने लगता है। परिणाम यह होता है कि अन्दर का आवरण और बाहिर का अवरण परस्पर चिपट जाता है। इस समय इसे घन कहते हैं। सुश्रुत शारीर ३ अ० में भी--

द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते। यदि पिण्डः पुमान्, स्त्रीचेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति १०

तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते ॥ ११ ॥

तीसरे महीने में सब इन्द्रियां और सब अङ्ग अवयव एक दम प्रकट हो जाते हैं।

इस समय शिर बहुत बड़ा होता है। अंगुलियां अलग २ दिखाई देती है। स्त्री वा पुरुष के लिङ्ग प्रकट होते हैं। पलक और होठ जुड़े होते हैं। अन्य अङ्ग प्रत्यङ्ग भी सूक्ष्म रूप में प्रकट होते हैं। सुश्रुत शारीर में ३ अ० में—

'तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति' ॥ ११ ॥

तत्रास्य केचिदङ्गावयवा मातृजादीनवयवान्विभज्य पूर्वमुक्ता यथावत्, महाभूतविकारप्रविभागेन त्विदानीमस्य तांश्चैवाङ्गावयवान् कांश्चित्पर्यायान्तरेणापरांश्चानुव्याख्यास्यामः; मातृजादयोऽप्यस्य महाभूतविकारा एव, तत्रास्याकाशात्मकं—शब्दः श्रोत्रं लाघवं सौक्ष्म्यं विवेकश्च; वाय्वात्मकं—स्पर्शः स्पर्शनं रौक्ष्यं प्रेरणं धातुव्यूहनं चेष्टाश्च शारीर्यः; अग्न्यात्मकं रूपं दर्शनं प्रकाशः पक्तिरौष्ण्यं च; अबात्मकं रसो रसनं शैत्यं मार्दवः स्नेहः क्लेदश्च; पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्यं मूर्तिश्च ॥ १२ ॥

इस गर्भ के मातृज आदि अवयवों का यथावत् विभाग कर के कुछ एक अङ्ग वा अवयव पूर्व खुड्डीका गर्भावक्रान्ति अध्याय में कह दिये हैं। अब आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के विकार के विभाग के अनुसार उन ही कुछ एक अङ्गावयवों को नामान्तर से एवं और भी अङ्गावयवों को कहेंगे। मातृज आदि भाव भी महाभूतों के विकार ही हैं–महाभूतों से ही बने हुए हैं। इन में से आकाश के विकार—शब्द, श्रोत्र, लघुता, सूक्ष्मता, विवेक अर्थात् सिरा स्नायु मांस आदि शारीर भावों का परस्पर पार्थक्य है। वायु के विकार—स्पर्श, स्पर्शनेन्द्रिय (त्वक्) रूक्षता, प्रेरणा, धातुओं की रचना–जहां २ जिस धातु को पहुंचना वा इकठा होना चाहिये वहां २ उसे पहुंचाना वा एकत्रित करना, और शरीर की चेष्टायें होती हैं। अग्नि से–रूप, दर्शनेन्द्रिय (चक्षु), प्रकाश, पक्ति (पकाना वा जठराग्नि), उष्णता उत्पन्न होती है। जल के विकार—रस, रसना (जिह्वा), शीतलता, मृदुता (कोमलता), स्नेह, क्लेद (गीलापन) हैं। पृथिवी के विकार—गन्ध, घ्राण, भारीपन, स्थिरता, मूर्ति; ये हैं। सुश्रुत शारीरस्थान १ म अध्याय में भी—

'आन्तरिक्षास्तु शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च।

वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च। तैजसास्तु रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च। आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च। पार्थिवास्तु गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति॥

यहां पर लघुता को वायुविकारों में पढ़ा है। परन्तु वायु की अपेक्षा आकाश अत्यन्त ही लघु है। यहां तक कि उस का भार ही नहीं। अतः लघुता को यहां आकाशविकार में पढ़ा है॥

अभिप्राय यह है कि मातृज आदि जो भाव पढ़े गये हैं उन २ में ये २ गुण भूतों से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् मातृज आदि भाव पाञ्चभौतिक हैं॥ १२॥

एवमयं लोकसम्मतः पुरुषः। यावन्तो हि लोके भावविशेषाः, तावन्तः पुरुषे; यावन्तः पुरुषे, तावन्तो लोके; इति बुधास्त्वेवं द्रष्टुमिच्छन्ति॥ १३॥

इस प्रकार यह पुरुष लोकसदृश है। जितने ही इस लोक में मूर्तिमान् भाव हैं उतने ही पुरुष में। जितने पुरुष में उतने ही जगत् में। बुद्धिमान् पुरुष ऐसा ही देखना चाहते हैं। अर्थात् वे लोक और पुरुष में समता देखते हैं।

इसकी विशेष व्याख्या अगले अध्याय में होगी॥ १३॥

एवमस्येन्द्रियाण्यङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते, अन्यत्र तेभ्यो भावेभ्यो येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते; तद्यथा—दन्ता व्यञ्जनानि व्यक्तीभावः, तथायुक्तानि चापराणि, एषा प्रकृतिः; विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। सन्ति खल्वस्मिन् गर्भे केचिच्च नित्या भावाः, सन्ति चानित्याः केचित्॥ १४॥

इस प्रकार गर्भ की इन्द्रियां और अंग अवयव—उन भावों को छोड़कर जो गर्भ के जन्म के बाद उत्पन्न होते हैं—युगपत् प्रकट होते हैं। वे भाव जो जन्म के पश्चात् उत्पन्न होते हैं, ये हैं—दांत, व्यञ्जन अर्थात् स्तन दाढ़ी मूंछ

गुह्यदेश तथा कक्षादेश के लोम आदि । व्यक्तीभाव अर्थात् शुक्र वा रज का प्रकट होना मेधा का प्रकट होना आदि । इसी प्रकार के अन्य भाव जैसे कुछ एक शिराओं से स्नायु बनना, हृदय के ग्राहक कोष्ठों के मध्य के परदे के छिद्र का बन्द होना, तरुणास्थि वा झिल्ली से अस्थियों का बनना इत्यादि । यह प्रकृति है । इस से विपरीत विकृति कहाती है । अर्थात् जन्म के बाद छठे सातवें मास दांत का निकलना प्रकृति है । परन्तु यदि गर्भ में ही दांत निकल आयें जैसे कि कभी २ होता है वह विकृति होगी इत्यादि । गर्भ में कई नित्य भाव होते हैं और कई अनित्य । अर्थात् कुछ ऐसे हैं जो आदि से अन्त तक रहते हैं । कुछ ऐसे हैं जो गर्भजन्म के बाद उत्पन्न होते हैं जैसे दांत आदि । ये बहुधा वृद्धावस्था में गिर भी जाते हैं । इसी प्रकार कुछ शिरायें स्नायुरूप में बदल जाती हैं इत्यादि ये अनित्य भाव हैं॥१४॥

तस्य य एवाङ्गावयवाः सन्तिष्ठन्ते, त एव स्त्रीलिङ्गं पुरुषलिङ्गं नपुंसकलिङ्गं वा बिभ्रति; ततः स्त्रीपुरुषयोर्ये वैशेषिका भावाः प्रधानसंश्रया गुणसंश्रयाश्च, तेषां यतो भूयस्त्वं ततोऽन्यतरभावः । तद्यथा—क्लैब्यं भीरुत्वमवैशारद्यमनवस्थानमधोगुरुत्वमसंहननं शैथिल्यं मार्दवं तथायुक्तानि चापराणि स्त्रीकराणि, अतो विपरीतानि पुरुषकराणि, उभयभागवयवा नपुंसककराणि ॥१५॥

जो अङ्ग अवयव स्थायी होते हैं वे ही स्त्रीलिङ्ग पुंलिङ्ग नपुंसकलिङ्ग को धारण करते हैं ॥

आत्माश्रित और महाभूतों पर आश्रित स्त्री और पुरुष के जो विभेदक भाव हैं उन में से जिस भाव की अधिकता हो उसी के अनुसार स्त्री वा पुरुष में से एक को जानना । अर्थात् यदि स्त्रीकर भावों की अधिकता होगी तो स्त्री यदि पुरुषकर भावों की अधिकता होगी तो पुरुष को जानना ।

स्त्रीकर भाव, जैसे—क्लीबता, (दुर्बलता), डरपोकपना, चातुरी

का न होना, मोह, चित्त की चञ्चलता, नीचे के भाग का भारी होना शरीर में दृढ़ता का न होना, शिथिलता, कोमलता, गर्भाशय का बीज-भाग अर्थात् बीज का वह भाग जिससे गर्भाशय उत्पन्न होता है, अथवा गर्भाशयबीजभाग से गर्भाशय के वामभाग तथा रक्ताधिक्य का ग्रहण होता है; ये सब तथा इस प्रकार के अन्य भाव स्त्रीकर होते हैं। अर्थात् जिस स्त्री में यह भाव हम देखेंगे हम कहेंगे कि कन्या उत्पन्न होगी। इनसे विपरीत भाव पुरुषकर होते हैं, अर्थात् सबल, होना, निडरता, चातुर्य, मोह का न होना, चित्त की स्थिरता, देह की दृढ़ता, शिथिलता का न होना, कठोरता तथा गर्भाशय के दक्षिण भाग में गर्भ की अवस्थिति होना तथा शुक्र की अधिकता। दोनों प्रकार के अवयव जब मिश्रित हों तो नपुंसक कर जानने चाहियें ॥ १५ ॥

तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते, तत्कालमेवास्य चेतसि वेदना निबन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते प्रार्थयते च, तद्द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धाः। मातृजं चास्य हृदयं मातृहृदयेनाभिसंबद्धं भवति रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिः; तस्मात्तयोस्ताभिर्भक्तिः सम्पद्यते। तच्चैव कारणमवेक्षमाणा न द्वैहृदय्यस्य विमानितं गर्भमिच्छन्ति कर्तुं, विमानने ह्यस्य दृश्यते विनाशो विकृतिर्वा, समानयोगक्षेमा हि माता तदा गर्भेण केषुचिदर्थेषु; तस्मात्प्रियहिताभ्यां गर्भिणीं विशेषेणोपचरन्ति कुशलाः ॥ १६ ॥

उस गर्भ के जिस समय ही इन्द्रियां प्रकट होती हैं उसी समय से ही मन में सुखदुःख का ज्ञान होने लगता है। अतएव उस समय से लेकर गर्भ स्पन्दन करने लगता है। पूर्वजन्मों में अनुभव किये हुए इन्द्रिय के विषयों को चाहता है। उस इच्छा को दो हृदयों से उत्पन्न अर्थात् दौहृद कहते हैं। इस काल में गर्भिणी को जो इस प्रकार की इच्छा होती है उसे दौहृद कहते हैं। क्योंकि गर्भस्थ

शिशु की इच्छा के अनुकूल माता की इच्छा होती है। इस से तीसरे मास में हृदय का प्रकट होना तथा हृदय का कार्य करना भी जता दिया है। इस गर्भ का मातृज हृदय माता के हृदय से रसवाहिनी नाड़ियों द्वारा बंधा रहता है। अतएव गर्भ और माता की उन नाड़ियों द्वारा विशेष इच्छा उत्पन्न होती है। अर्थात् इस समय जो गर्भ की इच्छा होती है उससे माता को भी वही इच्छा होती है। इसी कारण को देखते हुए गर्भ को—दोहद की प्राप्ति न होने देना नहीं चाहते। अर्थात् इस समय का जो दौहृद (दोहद) है उसे पूरा करना ही चाहिये। क्योंकि यदि दोहद को पूरा न किया जाय तो या तो गर्भ की मृत्यु हो जाती है या विकार हो जाता है। इस समय माता कई विषयों में गर्भ के समान योगक्षेम वाली होती है। अर्थात् इस समय जिस से गर्भ को लाभ होता है उसी से माता को। जिससे माता को उस से गर्भ को। अतएव कुशल वैद्य गर्भिणी का प्रिय एवं हितकर आहार विहार से उपचार करते हैं। सुश्रुतशारीर अ० ३ में कहा है—

द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते। दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं वामनं विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति। तस्मात्सा यद्यदिच्छेत् तत्तस्यै दापयेत्। लब्धदौहृदा हि वीर्यवन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति।'

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी।
गर्भाबाधभयात्तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत्॥
सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम्।
अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम्॥
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना।
प्रजायते सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये॥ इत्यादि॥

गर्भ का स्पन्दन वस्तुतः तीसरे मास में प्रारम्भ होता है। परन्तु गर्भोदक की मात्रा अधिक होने से वे स्पन्दन माता की उदरभित्ति पर

नहीं पहुंचते अतएव प्रायः तृतीय मास में इस का ज्ञान गर्भिणी को कम ही होता है । परन्तु चौथे या पांचवें मास गर्भिणी इन का अनुभव करती है क्योंकि इस समय गर्भ की विशेष वृद्धि होती है, जैसा कि आगे कहा भी जायगा ।

अत एव सुश्रुत ने इन्द्रिय के विषयों की इच्छा को चतुर्थ मास में कहा है क्योंकि तब ये स्पन्दन स्पष्टतर होते हैं । तीसरे महीने से गर्भ की हृदय की भी वृद्धि होने लगती है । तीसरे मास में हृदय का क्षेपककोष्ठ बन जाता है । परन्तु गर्भिणी के उदर पर से हृदय का शब्द लगभग ४॥ महीने में सुनाई देने लगता है । तीन पक्ष से पांचवें मास तक दोहद का काल माना जाता है । अष्टाङ्ग-संग्रह में कहा है—

'अन्ये तु पक्षत्रयात् प्रभृत्यापञ्चमान्मासात् दौहृदकालमाहुः ॥१६॥

तस्या गर्भापत्तेर्द्वैहृदयस्य च विज्ञानार्थं लिङ्गानि समासेनोपदेक्ष्यामः; उपचारसाधनं ह्यस्य ज्ञाने, ज्ञानं च लिङ्गतः, तस्मादिष्टो लिङ्गोपदेशः । आर्तवादर्शनमास्यसंस्रवणमनन्नाभिलाषश्छर्दिररोचकोऽम्लकामता च विशेषेण श्रद्धाप्रणयनं चोच्चावचेषु भावेषु गुरुगात्रत्वं चक्षुषोर्ग्लानिः स्तनयोः स्तन्यमोष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यमत्यर्थः श्वयथुः पादयोरीषल्लोमराज्युद्गमो योन्याश्चाटालत्वमिति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति ॥ १७ ॥

उस गर्भिणी के गर्भप्राप्ति और द्विहृदय के ज्ञान के लिये संक्षेप से लक्षणों का उपदेश करेंगे । द्वैहृदय (Pregnancy) के ज्ञान से उसका उपचार उचित हो सकता है । और इसका ज्ञान लक्षणों से होता है । अतः लक्षणों का बताना अत्यन्त आवश्यक है ।

वे लक्षण ये हैं—आर्तवादर्शन (Suppression of the menstruation), आस्य संस्रवण (मुख से लार टपकना), अन्न

के खाने की अभिलाषा न होनी, कै, अरुचि विशेषतः अम्ल (खट्टे) पदार्थों के खाने की इच्छा, नाना प्रकार के आहार विहार आदि ऊंच नीच भावों में इच्छा का होना, शरीर का भारी होना, आंखों में ग्लानि, स्तनों में दूध का प्रकट होना, होठ और स्तनमण्डल का अत्यन्त कृष्ण वर्ण का होना, पैरों में थोड़ा २ शोथ, लोमों का खड़ा होना (लोमाञ्च) तथा योनि का विस्तृत होना; ये गर्भप्राप्ति के लक्षण हैं। सुश्रुत शारीर अ० ३ में कहा है—

'तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लक्षणानि । श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः ।'

'स्तनयोः कृष्णमुखता लोमराज्युद्गमस्तथा ।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः सम्मील्यन्ते विशेषतः ॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात् ।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥'

शारीरस्थान २ अध्याय में (१३३४ पृष्ठ) सद्योगृहीत गर्भ के लक्षण कह आये हैं—

'निष्ठीविका गौरवमङ्गसादस्तन्द्रा प्रहर्षौ हृदयव्यथा च ।
तृप्तिश्च बीजग्रहणं च योन्यां गर्भस्य सद्योऽनुगतस्य लिङ्गम् ॥'

परन्तु इस अध्याय में साधारणतः गर्भप्राप्ति के लक्षण बताये गये हैं—अतएव आचार्य ने गर्भोपत्ति और दौहृदय्य दोनों नाम पढ़े हैं। जिस से गर्भप्राप्ति और गर्भ के क्रमशः बढ़ने पर जो लक्षण दिखाई देते हैं उनका संक्षेपतः परिगणन है। दौहृदय्य के लक्षण प्रायः तीन या चार मास तक दीखने लगते हैं।

गर्भप्राप्ति में सब से मुख्य तथा प्रथम लक्षण आर्त्तवादर्शन है जिस से हम बहुधा गर्भप्राप्ति की कल्पना किया करते हैं। जिन में आर्त्तवप्रवृत्ति नियम पूर्वक होती रही हो उन स्त्रियों में आर्त्तव का रुकना विशेष निदर्शक

है। परन्तु केवल मात्र इसी लक्षण को निश्चय का आधार न बना लेना चाहिये। क्योंकि पाण्डु आदि रोगों वा अन्य रोगजन्य निर्बलताओं वा रक्तशून्यताओं में आर्तव की प्रवृत्ति नहीं होती। गर्भप्राप्ति के न होते हुए भी यदि–गर्भप्राप्ति हो गई है–ऐसा मन में भय हो तो भी कभी २ आर्तवप्रवृत्ति नहीं होती। इसी प्रकार इस से विपरीत कभी २ गर्भप्राप्ति हो जाने पर भी स्राव प्रवृत्त रहता है। यद्यपि ये अवस्था बहुत ही कम देखी जाती है पर पहिले तीन महीनों में इसका होना असम्भव नहीं।

भूख न लगना, रुचि न होना, सुस्ती, लार टपकना, कै, खट्टी वा मसालेदार वस्तुओं में रुचि आदि वातसम्बन्धी प्रत्यावर्तित लक्षण भी होते हैं। इन में जो–कै होना–यह लक्षण बताया है यह विशेषतः गर्भिणी को प्रातः होती है। कइयों का केवल जी मचलाता है कइयों को इस के साथ ही वमन भी होता है। गर्भ क्योंकि कफप्रधान होता है अतएव प्रायः प्रातः (कफ का काल) ही वमन होती है। यह लक्षण प्रायः दूसरे से चौथे मास तक होता है।

गृहीतगर्भा स्त्री के तीसरे या चौथे सप्ताह में स्तनों में एक विशेष प्रकार की वेदना होती है और फिर दूसरे मास से स्पष्ट वृद्धि होने लगती है। चौथे महीने के अन्तिम दिनों में या पांचवें महीने में स्तनों को दबाने से खीस (पीयूष) निकाला जा सकता है। तीसरे मास में स्तनमण्डल का वर्ण अधिक कृष्ण हो जाता है।

कई २ स्त्रियों के पैरों में थोड़ा २ शोथ होजाता है। यह शोथ सब में होना आवश्यक नहीं।

योनि अन्दर से शिराओं के फूलने तथा सूक्ष्म पिण्डों के उभरने के कारण खुरदरी होजाती है। उस की श्लैष्मिक कला का रंग नीला सा होजाता है। यह लक्षण भी द्वितीय मास के प्रारम्भ से प्रायः दीखने लगता है ॥ १७ ॥

सा यद्यदिच्छेत्तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः।

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावाः । तद्यथा—सर्वमतिगुरूष्णतीक्ष्णं दारुणाश्च चेष्टाः, इमांश्चान्यानुपदिशन्ति वृद्धाः—देवतारक्षोऽनुचरपरिरक्षणार्थं न रक्तानि वासांसि बिभृयान्न मदकराणि चाद्यान्यभ्यवहरेन्न यानमधिरोहेन्न मांसमश्नीयात्सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेद्यच्चान्यदपि किंचित्स्त्रियो विद्युः ॥ १८ ॥

द्विहृदया—गर्भिणी को जो २ वह चाहे—गर्भनाशक भावों को छोड़ कर—वह दे । गर्भनाशक भाव ये हैं—सब अति गुरु अति उष्ण अति तीक्ष्ण आहार, दारुण (Violent) चेष्टायें । वृद्ध लोग इन और गर्भोपघात कर भावों के विषय में उपदेश करते हैं । देवता एवं राक्षसों के अनुचरों से रक्षा करने के लिये रक्त वस्त्रों को न पहिने । न मदकारक अन्नपान का सेवन करे । घोड़े आदि की सवारियों पर न चढ़े । मांस न खाये । तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों के लिये जो भाव प्रतिकूल हैं अर्थात् जो इन्द्रियों को हानि पहुंचाने वाले हैं—अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग आदि—उन को दूर से ही छोड़ दे । इस के अतिरिक्त अन्य अनुभवी विदुषी बूढ़ी स्त्रियां जो कुछ गर्भ के लिये हानिकारक जानें उन का भी त्याग करे ॥ १८ ॥

तीव्रायां तु खलु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात्प्रार्थनाविनयनार्थं; प्रार्थनासन्धारणाद्धि वायुः कुपितोऽन्तःशरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात् ॥ १९ ॥

यदि गर्भिणी को किसी वस्तु की तीव्र इच्छा हो तो अहित पदार्थ भी हितकर वस्तु से मिश्रित कर मांग को पूरा करने के लिये देना चाहिये । क्योंकि उस की तीव्र इच्छा को रोकने से वायु प्रकुपित हो जाता है और वह कुपित हुआ वायु शरीर में संचार करता हुआ उत्पन्न होते हुए वा वृद्धि को प्राप्त होते हुए गर्भ का नाश वा विरूपता

को उत्पन्न कर देता है ॥ १९ ॥

चतुर्थे मासि स्थिरत्वमापद्यते गर्भः, तस्माचदा गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण ॥ २० ॥

चौथे महीने में गर्भ स्थिर (ठोस तथा घना) हो जाता है। अतएव उस समय गर्भिणी को अपना देह विशेषतः भारी प्रतीत होता है। सुश्रुत शारीर अ० ३ में—

'चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो भवति । गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात् तत्स्थानत्वात्। तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति।'

अर्थात् इस मास में शरीर का ढांचा लगभग बन ही जाता है। गर्भ के हलके २ स्पन्दन इस मास में गर्भिणी कभी २ अनुभव करती है। हाथ और पांव इस समय गति करने लगते हैं। तृतीय मास से गर्भ का हृदय व्यक्त होना प्रारम्भ होता है। चौथे मास में अधिक व्यक्त हो जाता है। शिर वा अन्य कई स्थलों पर बाल की जगह बारीक २ रोवां दीखने लगता है ॥ २० ॥

पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः, तस्माचदा गर्भिणी कार्श्यमापद्यते विशेषेण॥

पांचवें महीने में अन्य मासों की अपेक्षा गर्भ के मांस और रक्त में अधिक वृद्धि होती है। अतएव गर्भिणी उस समय अत्यन्त कृश हो जाती है। सुश्रुत में तो—

'पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति।'

इस मास में मांस और रक्त की अधिक वृद्धि के कारण गर्भ का स्पन्दन वा हाथ पैर का हिलाना गर्भिणी को अत्यन्त स्पष्टतया अनुभव होता है। यकृत् आदि मांसप्रधान अवयव बन जाते हैं। इस के आधे वा अन्त में चिकित्सक फुफ्फुसेक्षकयन्त्र (Stethoscope) की सहायता से हृदय के शब्द को भी सुन सकता है। हृत्स्पन्दन

एक मिनट में १२० से १४० तक होते हैं। बालक में प्रायः १३० से कम और कन्याओं में १३० से अधिक स्पन्दन होते हैं। कारण भेद से इसकी अपेक्षा कम वा अधिक भी हो सकते हैं। यदि गर्भस्थ शिशु हाथ पैर आदि अधिक हिलाता हो तो स्पन्दनों की संख्या अधिक हो जाती है। इसी प्रकार यदि अपरा या नाल पर किसी प्रकार का दबाव हो वा गर्भाशय के आकुञ्चन से स्पन्दनों की संख्या न्यून हो जाती है। सब से पूर्व हृदय का शब्द विटपसन्धि के ऊपर मध्यरेखा में सुनाई देता है। पश्चात् गर्भ की स्थिति के अनुसार हृदय के शब्द के तीव्रतम सुनाई देने का स्थान बदलता रहता है। यह शब्द यतः बच्चे की स्कन्धास्थि और पर्शुकास्थियों को पार कर के आता है अतः गर्भाशय में जहां बच्चे का कन्धा होगा वहां सुनाई देगा। यह शिशु की साधारणतम स्थिति में स्त्री की नाभि तथा वामवङ्क्षणास्थि के बीच में स्पष्ट सुनाई देता है। यदि हृत्स्पन्दन १०० से कम वा १६० से अधिक हों तो गर्भ का जीवन संकटमय जानना चाहिए ॥२१॥

षष्ठे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः; तस्मात्तदा गर्भिणी बलवर्णहानिमापद्यते विशेषेण ॥ २२ ॥

छठे महीने में गर्भ में अन्य मासों की अपेक्षा बल और वर्ण की अधिक वृद्धि होती है। अतएव उस समय गर्भिणी में विशेषतः निर्बलता होती है। और वर्ण भी कम हो जाता है—पीला पड़ जाता है ॥

इस मास से पूर्व गर्भ की त्वचा में झुर्रियां पड़ी होती हैं। परन्तु इस मास में त्वचा के नीचे कहीं २ वसा बन जाती है। यह वसा त्वचा को कान्ति देती है। अतएव बच्चे का वर्ण ठीक होने लगता है। भौंहे और पक्ष्म बनने लगते हैं। पलकें अभी जुड़ी होती हैं। अण्ड पेट में गुर्दों (वृक्क) के पास होते हैं। आंतों में मल जमा होने लगता है। सुश्रुत शारीर ३ अ० में तो—

'षष्ठे बुद्धिः' ॥ २२ ॥

सप्तमे मासि गर्भः सर्वभावैराप्याय्यते, तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वाकारैः क्लान्ततमा भवति ॥ २३ ॥

सातवें मास में गर्भ सब भावों से बढ़ रहा होता है। अतएव उस समय गर्भिणी सब से अधिक क्लान्त होती है। जो अनायास बिना सांस फूले थकावट होती है उसे क्लम[1] कहते हैं। इस समय रोगी किसी भी विषय को नहीं चाहता है। सातवें मास में गर्भिणी की भी यही दशा होती है। सुश्रुत शारीर ३ अध्याय में—

'सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः।'

पलक एक दूसरे से अलग हो जाते हैं। अण्ड वङ्क्षण के पास उतर आते हैं। त्वचा के नीचे पहिले से अधिक वसा होती है। इस मास के अन्त में यदि गर्भ का जन्म हो जाय तो बड़ी सावधानी से पालना करने पर वह जीवित रह सकता है। इस मास में उत्पन्न बच्चे बहुधा मर जाते हैं ॥ २३ ॥

अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसवाहिनीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासंपूर्णत्वात्[2], तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुहुर्मुदा युक्ता भवति मुहुर्मुहुश्च ग्लाना तथा गर्भः, तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्; तं चैवमभिसमीक्ष्याष्टमं मासमगण्यमित्याचक्षते[3] कुशलाः ॥ २४ ॥

आठवें महीने में माता से गर्भ और गर्भ से माता रसवाहिनी

---

१ 'योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ॥'

२ 'गर्भस्य संपूर्णत्वात्' ग.।

३ 'अगण्यमिति न गणनया गर्भिण्यां प्रतिपादनीयं, यदि हि गर्भिणी गण्यमानमष्टममासं गर्भजन्मव्यापत्तिकरं शृणुयात्, ततो भीता स्यात्, तद्भयाच्च गर्भस्य वातक्षोभात् व्यापत्स्यादिति भावः' चक्रः।

शिराओं द्वारा गर्भ के पूर्ण न होने के कारण परस्पर ओज का ग्रहण करते हैं। अतएव उस समय गर्भिणी बारंबार प्रसन्न और बारंबार ग्लानियुक्त होती है। इसी प्रकार गर्भ भी। जब ओज गर्भिणी में जाता है तब वह प्रसन्न होती है और गर्भ ग्लानियुक्त, जब गर्भ में जाता है तब गर्भ प्रसन्न होता है और गर्भिणी ग्लानियुक्त। अतएव उस समय गर्भ का जन्म अधिक सङ्कटमय वा उपद्रवयुक्त होता है क्योंकि ओज अस्थिर होता है। जब ओज गर्भ से माता में जा चुका हो उस समय यदि गर्भ का जन्म हो जाय तो शिशु की मृत्यु हो जाती है क्योंकि बचा खुचा ओज भी प्रसवकालीन कष्ट से नष्ट हो जाता है[1]। इसी बात को देखते हुए कुशल वैद्यों ने इस मास को अगण्य माना है अर्थात् प्रसव के लिये उचित काल नहीं गिना।

इस महीने में त्वचा के नीचे वसा इकट्ठी होजाती है। झुर्रियां नहीं रहती। अंड और नीचे उतर कर वङ्क्षण में पहुंच जाते हैं। इस मास में यदि ओज गर्भ में आया हुआ हो तो जीता रहता है। अथवा यदि होशियारी से पालना की जाय तो जीवित रह सकता है॥ सुश्रुत शारीर अ० ३ में—

'अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च, ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत् ॥' २४ ॥

तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुराद्वादशान्मासात्, एतावान्कालः, वैकारिकमतः परं कुक्षाववस्थानं गर्भस्य ॥ २५ ॥

१—अष्टमे गर्भश्च मातृतो गर्भश्च माता रसहारिणीभिर्वाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परमाददाते। तस्मात्तदा गर्भिणी मुहुर्मुदिता भवति मुहुर्ग्लाना तथा गर्भः। एवं गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमत्तदा भवति। ओजसोऽनवस्थितत्वात्। तथा ह्यस्य निष्क्रमणोन्मुखस्य परिवर्तनादीन्यनुभवत एवौजसा वियोगः। यद्यपि च किञ्चित्कालमस्योच्छ्वसनं स्यात्तच्छिन्नस्येवाङ्गस्यौजःसंस्कारानुवृत्तिकृतम्। जनन्यास्तु स्थिरौजस्कतयैकदेशेन रसे संक्रान्ते ग्लानिरेवेति। अष्टाङ्गसंग्रह।

प्रसवकाल–आठवें महीने के पश्चात् एक दिवस व्यतीत होने से अर्थात् नवम मास के प्रारम्भ से बारहवें मास तक प्रसवकाल कहाता है। गर्भ का जन्म ९वें मास के प्रारम्भ से लेकर १२वें मास तक हुआ करता है। इतना प्रसवकाल है। इस से अधिक काल तक गर्भ का गर्भाशय में रहना विकृति का कारण है। इस प्रसवकाल का माध्यम १० मास है। अर्थात् गर्भजन्म साधारणतया १० मास होने पर होता है। २२० और २४० दिनों में भी पूर्व विकसित बच्चे उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं। इसी प्रकार कई वार ३००, ३१३ वा ३२० दिन तक भी गर्भ गर्भाशय में रहता है और तब प्रसव होता है॥

नवममास के गर्भ में अण्ड अण्डकोष में आजाते हैं। ऊर्वस्थि के नीचे के सिरे में अस्थिविकाश केन्द्र उत्पन्न हो जाता है।

दस मास का गर्भ लम्बाई में २० इंच और भार में साढ़े तीन सेर के लगभग होता है। हाथ के नख बढ़ जाते हैं। शिर के बाल १ इञ्च के लगभग लम्बे होते हैं। देह पूर्ण होती है॥

गर्भाशय में गर्भ के रहने का काल प्रायः २७३ दिन का होता है। यदि शुद्धिस्नान के दिन ही मैथुन किया गया हो और वह मैथुन सफल हो गया हो तो उसे अंकुरित होने को तीन दिन चाहियें। इस प्रकार ४ दिन ऋतुस्राव के और तीन दिन अंकुरित होने के मिला कर ७ दिन होते हैं अतः २७३+७=२८० दिन हुए। अतः अन्तिम ऋतुकाल की प्रथम तिथि में २८० दिन जोड़ कर हम प्रसव की तिथि जान सकते हैं। यह तिथि लगभग रूप में ही होती है। अथवा अन्तिम ऋतुस्राव की प्रथम दिन की तारीख़ में ७ दिन जोड़ कर जो तारीख़ निकले वही अगले नवममास में या पिछले तृतीयमास में प्रसव की तारीख़ होगी। यदि किसी स्त्री को अन्तिम मासिक स्राव १६ जुलाई को प्रारम्भ हुआ तो इसमें ७ दिन जोड़ने से २३ जुलाई तारीख़ हुई। अब इस से आगे नौ महीने या पीछे तीन महीने गिनो।

प्रसव की सम्भावित तिथि २३ अप्रैल होगी ॥ यह तारीख लगभग रूप में ही होती है । कइयों में कुछ दिन पहिले और कइयों में तीन सप्ताह पश्चात् तक भी प्रसव हो सकता है ॥ २५ ॥

एवमनयाऽऽनुपूर्व्याऽभिनिर्वर्तते कुक्षौ ॥ २६ ॥

इस प्रकार यह गर्भ इस अनुक्रम से गर्भाशय में प्रकट होता है ॥२६॥

मात्रादीनां तु खलु गर्भकराणां भावानां सम्पदस्तथा वृत्तस्य सौष्ठवान्मातृतश्चैवोपस्नेहोपस्वेदाभ्यां कालपरिणामात्स्वभावसंसिद्धेश्च कुक्षौ वृद्धिं प्राप्नोति ॥ २७ ॥

गर्भ की वृद्धि का हेतु—माता पिता आदि ६ गर्भकर भावों के श्रेष्ठगुण युक्त होने से, आहार विहार आदि वृत्त (आचार) के उत्तम होने से, माता द्वारा उपस्नेह तथा उपस्वेद (ऊष्मा गर्मी) से एवं काल द्वारा परिपाक होने से तथा स्वभावतः ही बढ़ने वाला होने से गर्भ गर्भाशय में वृद्धि को प्राप्त होता है ।

उपस्नेह शब्द से वाहिनी में से बहते हुए रक्त वा रस के रिस २ कर आये हुए पोषक भाग द्वारा पोषण का ग्रहण होता है । उपस्वेद से माता की शरीरान्तः स्थित ऊष्मा का ग्रहण है। इस से भी गर्भ की वृद्धि होती है । पक्षी अपने अण्डों को उन पर बैठ कर गर्मी पहुंचाया करते हैं। सुश्रुत शारीर अ० ३ में—

'मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा । सास्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति । असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गविभागमानिषेकात्प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥' २७ ॥

मात्रादीनां तु खलु गर्भकराणां भावानां व्यापत्तिनिमित्तमप्रजन्म भवति ॥ २८ ॥

गर्भ की अनुत्पत्ति का हेतु—यदि माता आदि गर्भकर भाव

विगुण हों तो गर्भोत्पत्ति नहीं होती ॥ २८ ॥

ये त्वस्य कुक्षौ वृद्धिहेतुसमाख्याता भावास्तेषां विपर्ययादुदरे विनाशमापद्यतेऽथवाऽप्यचिरजातः स्यात् ॥ २९ ॥

जिन कारणों से उत्पन्न होता हुआ गर्भ कोख में नष्ट हो जाता है—जो गर्भाशय में गर्भ के वृद्धि के कारणरूप भाव कहे गये हैं, उन से विपरीत भाव होने पर गर्भ पेट में ही नष्ट हो जाता है अथवा शीघ्र ही—अपने काल से पूर्व ही बाहिर आ जाता है और नष्ट हो जाता है ॥ २९ ॥

यतस्तु कात्स्न्र्येनाविश्यन्विकृतिमापद्यते तदनुव्याख्यास्यामः—यदा स्त्रिया दोषप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया दोषाः प्रकुपिताः शरीरमुपसर्पन्तः शोणितगर्भाशयावुपपद्यन्ते[1] न तु कात्स्न्र्येन शोणितगर्भाशयौ दूषयन्ति तदेयं गर्भं लभते स्त्री, तदा[2] गर्भस्य तस्य मातृजानामवयवानामन्यतमोऽवयवो विकृतिमापद्यते एकोऽथवानेकः[3], यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति; तदा ह्यस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागः प्रदोषमापद्यते, तदा वन्ध्यां जनयति; यदा पुनरस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते, तदा पूतिप्रजां जनयति; यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्तां[4] नाम जनयति; तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते ॥ ३० ॥

गर्भ के सम्पूर्णतया नष्ट न होकर विकृत होने में हेतु—जिस कारण गर्भ सम्पूर्णतया नष्ट न होता हुआ विकृति को प्राप्त होता है उस की व्याख्या करेंगे—जब उक्त (ज्वरनिदान में) दोष प्रकोपक हेतुओं के सेवन से स्त्री के प्रकुपित हुए दोष शरीर में फैलते

१ 'शोणितगर्भाशयोपघातायोपपद्यन्ते' ग. । २ 'यदा' पा० । ३ 'एकोऽथवानेके' पा० । ४ 'रान्तां' च. ।

हुए शोणित (डिम्ब) और गर्भाशय में पहुंचते हैं परन्तु सम्पूर्णतया शोणित और गर्भाशय को दूषित नहीं करते तब भी यह स्त्री गर्भ का धारण करती है। परन्तु तब गर्भ के मातृज अवयवों में से कोई एक अथवा अनेक अवयव विकृति को प्राप्त होते हैं। जिस जिस अवयव के बीज (सम्पूर्ण आरम्भक भाग) वा बीज के एक भाग में दोष प्रकुपित होते हैं उस २ अवयव में विकार हो जाता है। जब इस स्त्री के शोणित (डिम्ब) के सम्पूर्ण गर्भाशयोत्पादक भाग में दोष प्रकुपित होते हैं तब वह बीज वन्ध्या को उत्पन्न करता है। और जब स्त्री के शोणित (डिम्ब) में गर्भाशयोत्पादक भाग का एक अंश दुष्ट होता है तब वह बीज पूतिप्रजा को उत्पन्न करता है। जब स्त्री के शोणित में गर्भाशयोत्पादक भाग का एक अंश और स्त्रीकर शरीरोत्पादक भाग का एक स्थल दुष्ट हो जाता है तब जो वस्तुतः स्त्री नहीं होता परन्तु स्त्री से बहुत मिलता जुलता है—वार्ता—को उत्पन्न करता है। उसे स्त्री व्यापद कहते हैं। क्योंकि यह स्त्री के आर्तव की दुष्टि से होता है॥ ३० ॥

एवमेव यदा पुरुषस्य बीजे बीजभागः प्रकोपमापद्यते, तदा वन्ध्यं जनयति; यदा पुनरस्य बीजे बीजभागावयवः प्रदोषमापद्यते, तदा पूतिप्रजां जनयति; यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपूलिकं[1] नाम जनयति, तां पुरुषव्यापदमाचक्षते ॥ ३१ ॥

इसी तरह जब पुरुष के बीज में सम्पूर्ण उत्पादक भाग (प्रजननभाग) प्रकुपित होजाता है तो वह बीज वन्ध्य (Sterile) को उत्पन्न करता है। जब पुरुष के बीज में प्रजननभाग का एक अंश दुष्ट होता है तो पूतिप्रजा को उत्पन्न करता है। जब पुरुष के बीज में प्रजननभाग का एक अंश और पुरुषकर शरीर के उत्पादक भाग का

१ 'तृणपुत्रिकं' च.।

एक देश दुष्ट होता है तब तृणपूलिक को उत्पन्न करता है। इस की आकृति पुरुष से बहुत मिलती जुलती है पर वह पुरुष नहीं होता। उसे पुरुषव्यापद कहते हैं ॥ ३१ ॥

एतेन मातृजानां पितृजानां चावयवानां विकृतिर्व्याख्या-नेन सात्म्यजानां रसजानां सत्त्वजानां चावयवानां विकृति-र्व्याख्याता ॥ ३२ ॥

मातृज और पितृज अवयवों के विकारों के कहने से सात्म्यज रसज सत्त्वज अवयवों की विकृति की भी व्याख्या होगई। सात्म्यज आदि भावों की विकृति सात्म्य आदि की दुष्टि से होती है ॥ ३२ ॥

निर्विकारः परस्त्वात्मा सर्वभूतानां निर्विशेषः, सत्त्वशरीर-योस्तु विशेषाद्विशेषोपलब्धिः ॥ ३३ ॥

उत्कृष्ट आत्मा तो विकार रहित है। वह सब प्राणियों में एक सा है। मन और शरीर की भिन्नता से वह भिन्न प्रतीत होता है। अर्थात् अव्यक्त आत्मा में किसी प्रकार का भी विकार नहीं होता अतः वस्तुतः आत्मज विकार कोई नहीं। परन्तु मन और शरीर का सं-बन्ध होने पर वहां सुख दुःख आदि की प्रतीति होती है और मन और शरीरों की भिन्नता होने से आत्मा भी भिन्न प्रतीत होता है। अर्थात् जो आत्मज विकार कहते हैं वे मन और देह के विकारों के कारण ही हैं। अथवा चूंकि देह और मन की भिन्नता के कारण प्रति पुरुष में आत्मा भिन्न प्रतीत होता है। अतः वह विशेष्य है विकार नहीं है ॥ ३३ ॥

तत्र त्रयस्तु शारीरदोषाः—वातपित्तश्लेष्माणः, ते शरीरं दूषयन्ति; द्वौ पुन सत्त्वदोषौ—रजस्तमश्च, तौ सत्वं दूषयतः; ताभ्यां च सत्त्वशरीराभ्यां दुष्टाभ्यां विकृतिरुपजायते, नोपजा-यते चाप्रदुष्टाभ्याम् ॥ ३४ ॥

शारीर दोष तीन हैं। १ वात २ पित्त ३ कफ। वे शरीर

को दूषित करते हैं। मन के दो दोष हैं। १ रज और २ तम। वे दोनों मन को दूषित करते हैं। मन और शरीर के दुष्ट होने से विकृति उत्पन्न होती है। यदि मन और शरीर दुष्ट न हों तो विकृति नहीं होती। अर्थात् आत्मा में मन और शरीर की दुष्टि से ही विकृति प्रतीत होती है ॥ ३४ ॥

तत्र शरीरं योनिविशेषाच्चतुर्विधमुक्तमग्रे ॥ ३५ ॥

योनिभेद से चार प्रकार के शरीर पहिले कहे जा चुके हैं। १ स्वेदज २ अण्डज ३ उद्भिज्ज ४ जरायुज ॥ ३५ ॥

त्रिविधं खलु सत्वं--शुद्धं, राजसं, तामसमिति। तत्र शुद्धमदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्, राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्, तथा तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् ३६

मन तीन प्रकार का है। १ शुद्ध २ राजस ३ तामस। इनमें से शुद्ध मन दोषरहित होता है। यह दोषकर नहीं। क्योंकि इस में कल्याणभाग होता है। राजस मन दोषयुक्त होता है क्योंकि उस में रोष (क्रोध वा अप्रीति—द्वेष) भाग होता है। तामस मन भी दोषयुक्त होता है, मोहभाग युक्त होने से। अर्थात् मन के तीन भाग हैं। कल्याणभाग रोषभाग मोहभाग। रोषभाग और मोहभाग अधर्म रूप होने से मन को दूषित करते हैं। जब रज और तम नहीं रहते तब मन शुद्ध होता है ॥ ३६ ॥

तेषां तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसंख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च। शरीरमपि सत्त्वमनुविधीयते, सत्त्वं च शरीरं; तस्मात्कतिचिच्च सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन[1] निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः ॥ ३७ ॥

उन तीनों प्रकार के मनों में से एक २ मन के भी असंख्य भेद हैं। तरतम योग होने से। जैसे शुद्ध शुद्धतर शुद्धतम आदि। अर्थात्

१ 'अनूकाभिनिर्देशेन साम्याभिनिर्देशेन' चक्रः।

अपेक्षया न्यूनाधिकता होने से असंख्य भेद हो जाते हैं और शरीर की योनियों के भेद के कारण उन में मन के शरीर के अनुरूप होने से मन के अनगिनत भेद हैं। जैसे मनुष्य पशु पक्षी आदि योनियां हैं। इन एक २ योनियों के भी असंख्य भेद हैं। जैसे पशुओं में गौ घोड़ा गदहा आदि असंख्य पशु हैं। पक्षियों में चिड़िया कबूतर तोता आदि असंख्य पक्षी हैं। संसार में इतनी जीव जन्तुओं की योनियां हैं कि गिनना असम्भव है। अतएव योनिभेद से शरीरभेद होने पर उनमें स्थित मन भी असंख्य हो जाते हैं। शरीर मन के अनुरूप होता है और मन शरीर के अनुरूप। असंख्य होने के कारण सब का कहना असम्भव है। उदाहरण के लिये ही कुछ एक मन के भेदों को सदृशता दिखाकर व्याख्या करेंगे ॥ ३७ ॥

तद्यथा—शुचिं सत्याभिसंधं जितात्मानं संविभागिनं ज्ञानविज्ञानवचनप्रतिवचनशक्तिसंपन्नं स्मृतिमन्तं कामक्रोधलोभमानमोहेर्ष्याहर्षामर्षापेतं समं सर्वभूतेषु ब्राह्मं विद्यात् ॥३८

जैसे—१ ब्राह्मसत्त्व—पवित्र, सत्यप्रतिज्ञ, जितात्मा, कार्याकार्य का विभाग करने वाला, ज्ञान विज्ञान वचन तथा प्रतिवचन की शक्ति से युक्त, स्मृतिमान्, काम क्रोध लोभ अहंकार मोह ईर्ष्या अप्रसन्नता तथा अमर्ष (असहिष्णुता) से रहित, सब प्राणियों में सम दृष्टि रखने वाला ब्राह्मसत्त्व होता है। सुश्रुत शारीर अ० ४ में—

'शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरूपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥' ३८ ॥

इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसंपन्नमार्षं विद्यात् ॥ ३९ ॥

२ आर्षसत्त्व—इज्या (यज्ञ करना), अध्ययन (स्वाध्याय), व्रत होम ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला, अतिथिपूजक, जिसके मद अहं-

कार राग द्वेष मोह लोभ तथा क्रोध शान्त हैं, प्रतिभा वचन विज्ञान तथा धारणाशक्ति (मेधा) से सम्पन्न पुरुष को आर्षसत्त्व जानना चाहिये। सुश्रुत शारीर अ० ४ में—

'जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम् ।
ज्ञानविज्ञानसम्पन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥' ३९ ॥

ऐश्वर्यवन्तमादेयवाक्यं यज्वानं शूरमोजस्विनं तेजसोपेतमक्लिष्टकर्माणं दीर्घदर्शिनं धर्मार्थकामाभिरतमैन्द्रं विद्यात् ॥४०॥

३ ऐन्द्रसत्त्व—ऐश्वर्ययुक्त, जिसका कहा मानने के योग्य हो, यज्ञयाग करने वाला, शूर, ओजस्वी, तेजस्वी, निन्दित कर्म न करने वाला, दीर्घदर्शी (दूर की बात सोचने वाला), धर्म अर्थ काम में रत पुरुष को ऐन्द्रसत्त्व जानना चाहिये । सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता ।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥ ४० ॥

लेखास्थवृत्तं[1] प्राप्तकारिणमसंप्रहार्यम्[2] उत्थानवन्तं स्मृतिमन्तमैश्वर्यालम्बिनं व्यपगतरागद्वेषमोहं याम्यं विद्यात् ॥ ४१ ॥

४ याम्य सत्त्व—जिसका आचार कर्तव्याकर्तव्य में मर्यादित है, प्राप्तकारी (युक्त कर्म करने वाला), जिस पर प्रहार न कर सकते हों, उद्यमी वा समर्थ, स्मृतिसम्पन्न, ऐश्वर्ययुक्त तथा राग द्वेष मोह से रहित पुरुष को याम्यसत्त्व जाने । सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः ।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान् ॥' ४१ ॥

शूरं धीरं शुचिमशुचिद्वेषिणं यज्वानमम्भोविहाररतिमक्लिष्टकर्माणं स्थानकोपप्रसादं वारुणं विद्यात् ॥ ४२ ॥

---

१ 'लेखा कर्तव्याकतव्यमर्यादा, तत्र स्थितं वृत्तं यस्य स लेखास्थवृत्तः' चक्रः ।
२ 'असंहार्यं०' ग. ।

५ वारुणसत्त्व—शूर, धीर, पवित्र, अपवित्रता से द्वेष करने वाला, यज्ञ करने वाला, जिसे जलविहार में प्रीति हो, जो निन्दित कर्म न करता हो, यथास्थान कुपित और प्रसन्न होने वाला अर्थात् जब क्रोध करने का समय हो उस समय क्रोध तथा जब प्रसन्न होने का समय हो उस समय प्रसन्न होने वाला पुरुष वारुणसत्त्व होता है। उस का मन वरुण के सदृश होता है। सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता ।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥

अर्थात् जिसे शीत आहार विहार प्यारा हो, सहिष्णु, जिस के शरीर वा आंख का वर्ण पिङ्गल वा भूरा सा हो, बाल कपिल वर्ण के हों, मीठा बोलता हो, उसे वारुणसत्त्व जानना चाहिये ॥ ४२ ॥

स्थानमानोपभोगपरिवारसंपन्नं सुखविहारं धर्मार्थकामनित्यं शुचिं व्यक्तकोपप्रसादं कौबेरं विद्यात् ॥ ४३ ॥

६ कौबेरसत्त्व—स्थान (भूमि, मकान आदि) मान उपभोग (Luxury) तथा परिवार (पुत्र पौत्र आदि) से सम्पन्न, जो सुख पूर्वक विहार करता हो, नित्य धर्म अर्थ काम में तत्पर, पवित्र, जिसका कोप और प्रसन्नता स्पष्ट हो—छिपी हुई न हो, उसे कौबेरसत्त्व जानना चाहिये। सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचयौ ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥ ४३ ॥

प्रियनृत्यगीतवादित्रोल्लापकं[1] श्लोकाख्यायिकेतिहासपुराणेषु कुशलं गन्धमाल्यानुलेपनवसनस्त्रीविहारनित्यमनसूयकं गान्धर्वं विद्यात् ॥ ४४ ॥

७ गान्धर्वसत्त्व—नाच गाना बजाना तथा उल्लापक (स्तोत्र आदि) जिसे प्यारे हों, श्लोक, आख्यायिका (कहानी), इतिहास और पुराण

१ 'वादित्रोल्लापकश्लोका०' पा० ।

में कुशल, गन्ध (इत्र फुलेल) आदि का लगाना माला का धारण चन्दन आदि का अनुलेपन फैशन के वस्त्र धारण करना स्त्री भोग; इन्हें नित्य सेवन करने वाला, दूसरे के गुणों पर दोषारोपण न करने वाला पुरुष गान्धर्व सत्त्व होता है । सुश्रुत शारीर४ अ०में—

'गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता ।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥ ४४ ॥

इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात्कल्याणांशत्वात्, संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ ४५ ॥

इस प्रकार कल्याणभाग से युक्त होने के कारण ये सात भेद शुद्ध सत्त्व के जानें । उस कल्याणभाग (श्रेय अंश) के सम्यग्योग होने से ब्राह्मसत्त्व अत्यन्त शुद्ध जानना चाहिये । अर्थात् इन सातों सात्त्विक सत्त्वों में ब्राह्मसत्त्व शुद्धतम है ॥ ४५ ॥

शूरं चण्डमसूयकमैश्वर्यवन्तमौपधिकं[1] रौद्रमननुक्रोशमात्मपूजकमासुरं विद्यात् ॥ ४६ ॥

राजससत्त्व के भेद—१ आसुरसत्त्व—शूर, तीव्र क्रोध वाले, दूसरे के गुणों में दोषारोपण करने वाले, ऐश्वर्ययुक्त, उपधा—राग द्वेष से युक्त अथवा कपटयुक्त (अथवा यहां 'औदरिकं' पढ़ना चाहिये—इसका अर्थ बहुभक्षी वा पेटू है), रौद्र (भीषण वा उग्रस्वभाव), निर्दय, आत्मपूजक (अपनी ही आहार आदि से पूजा करने वाला—दूसरे को न पूछने वाला वा आत्मश्लाधी अथवा स्वार्थी) को आसुरसत्त्व (असुर सदृश सत्त्व) जानना चाहिये । सुश्रुत शारीर अ० ४ में—

ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम् ।
एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥' ४६ ॥

अमर्षिणमनुबन्धकोपं छिद्रप्रहारिणं क्रूरमाहारातिमात्र-

---

१ 'औपधिकमिति छद्मानुचारिणं' चक्रः ।

रुचिमामिषप्रियतमं स्वप्नायासबहुलमीर्षुं राक्षसं विद्यात् ॥४७॥

२—राक्षससत्त्व—असहिष्णु (वा क्षमा न करने वाले), दीर्घ-काल तक क्रोधयुक्त रहने वाले, छिद्रप्रहारी (अवकाश पाकर प्रहार करने वाले), क्रूर, आहार में अत्यधिक रुचि वाला, जिसे सब से अधिक मांस प्रिय है, बहुत सोने वाला, बहुत परिश्रम करने वाला, ईर्ष्यायुक्त पुरुष राक्षससत्त्व होता है । सुश्रुत शारीर अध्याय ४ में—

'एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता ।
भृशमात्रं तमश्चापि राक्षसं कायलक्षणम् ॥ ४७ ॥

महालसं स्त्रैणं स्त्रीरहस्काममशुचिं शुचिद्वेषिणं भीरुं भीषयितारं विकृतविहाराहारशीलं[1] पैशाचं विद्यात् ॥ ४८ ॥

३ पैशाचसत्त्व—महा आलसी, स्त्री के वश में रहने वाले, स्त्रियों के साथ एकान्त में रहने की इच्छा वाले अर्थात् स्त्रीलोलुप (कामी), अपवित्र, पवित्रता के द्वेषी, भीरु (डरपोक), दूसरों को डराने वाले, विकृत आहार विहार के अभ्यासी—परहेज़ न रखने वाले को पैशाच सत्त्व जानें । सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा ।
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ॥ ४८ ॥

क्रुद्धं शूरमक्रुद्धं भीरुं तीक्ष्णमायासबहुलं संत्रस्तगोचरमाहारविहारपरं[2] सार्पं विद्यात् ॥ ४९ ॥

४ सार्पसत्त्व—जब क्रोधी हो तब शूर, जब क्रोधी न हो तब भीरु (डरपोक), तीक्ष्ण, बहुत परिश्रमी, डरते हुए विषयों का सेवन करने वाला, आहार विहारों में रत पुरुष को सार्पसत्त्व अर्थात् सांप के

---

१ 'विहारशीलं' ग. ।

२ 'मन्त्रसुगोचर०' ग. । 'यत्किंचित् कोऽपि मन्त्रयते तन्मन्त्रं सुष्ठुगोचरं ज्ञानविषयीभवतीति' गङ्गाधरः । 'मन्त्रः सुगोचरो यस्य तं मन्त्रसुगोचरं मन्त्रवश्यमित्यर्थः' । योगीन्द्रः ।

सदृश सत्त्व वाला जानना चाहिये । सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा ।
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥' ४९ ॥

आहारकाममतिदुःखशीलाचारोपचारमसूयकमसंविभागिनमतिलोलुपमकर्मशीलं प्रैतं विद्यात् ॥५०॥

५ प्रेतसत्त्व—आहार को चाहने वाले, जिसका शील आचार और उपचार अत्यन्त दुःख के देने वाले हैं, दूसरे के गुणों में दोषारोपण करने वाले, असंविभागी (बांट कर न खाने वाले अथवा कार्याकार्य के विभाग के ज्ञान से शून्य), अत्यन्त लोभी तथा आलसी को प्रेत सत्त्व जाने । सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम् ।
लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥' ५० ॥

अनुषक्तकाममजस्रमाहारविहारपरमनवस्थितममर्षिणमसंचयं शाकुनं विद्यात् ॥ ५१ ॥

६ शाकुनसत्त्व—निरन्तर कामी, सर्वदा आहारविहार में रत, अस्थिरमति, असहिष्णु, धन आदि का संचय न करने वाला पुरुष शाकुन सत्त्व होता है । उसका मन पक्षिसदृश होता है । सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'प्रवृद्धकामसेवी चाप्यजस्राहार एव च ।
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥' ५१ ॥

इत्येवं खलु राजसस्य सत्त्वस्य षड्विधं भेदांशं विद्याद्रोषांशत्वात् ॥ ५२ ॥

ये छहों प्रकार के सत्त्व के भेद रोष के अंश से युक्त होने के कारण राजस जानने चाहियें ॥ ५२ ॥

निराकरिष्णुमधमवेशं जुगुप्सिताचाराहारं मैथुनपरं स्वप्न-

---

१ 'निरलङ्करिष्णुममेधसं' च. । 'निराकरिष्णुममेधसं' ग. ।

शीलं पाशवं विद्यात् ॥ ५३ ॥

तामससत्त्व के भेद—१ पाशवसत्त्व—निराकरण के स्वभाव वाला, नीच वेश युक्त, आहार और आचार जिसका निन्दित है, मैथुनरत (भोगी), अत्यधिक सोने वाला पुरुष पाशवसत्त्व होता है। उसका मन पशुसदृश होता है। सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥' ५३ ॥

भीरुमबुधमाहारलुब्धमनवस्थितमनुषक्तकामक्रोधं सरणशीलं तोयकामं मात्स्यं विद्यात् ॥ ५४ ॥

२ मात्स्यसत्त्व—भीरु, बेसमझ, आहार का लोभी, अस्थिरचित्त, निरन्तर कामी और क्रोधी, चलते फिरते रहने वाला, जल का इच्छुक वा प्रेमी पुरुष मात्स्यसत्त्व होता है। उसका मन मछली के सदृश होता है। सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'अनवस्थितता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥' ५४ ॥

अलसं केवलमभिनिविष्टमाहारे सर्वबुद्ध्या[1] हीनं वानस्पत्यं विद्यात् ॥ ५५ ॥

३ वानस्पत्यसत्त्व—आलसी, केवल आहार में रत, सब ज्ञान से शून्य पुरुष को वानस्पत्य सत्त्व जानें। इसका मन वृक्ष के सदृश होता है। सुश्रुत शारीर अ० ४ में—

'एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥' ५५ ॥

इत्येवं खलु तामसस्य सत्त्वस्य त्रिविधं भेदांशं विद्यान्मोहांशत्वात् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार तामस सत्त्व के तीन भेद हैं। क्योंकि इनमें मोहभाग

१ 'सर्वबुद्धयङ्गहीनं' ग.।

रहता है ॥ ५६ ॥

इत्यपरिसंख्येयभेदानां खलु त्रयाणामपि सत्त्वानां भेदैकदेशो व्याख्यातः; शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधो ब्रह्मर्षिशक्रवरुणयमकुबेरगन्धर्वसत्त्वानुकारेण, राजसस्य षड्विधो दैत्यराक्षसपिशाचसर्पप्रेतशकुनिसत्त्वानुकारेण, तामसस्य त्रिविधः पशुमत्स्यवनस्पतिसत्त्वानुकारेण; कथं च यथासत्त्वमुपचारः स्यादिति केवलश्चायमुद्देशो यथोद्देशमभिनिर्दिष्टो भवति गर्भावक्रान्तिसम्प्रयुक्तः; तस्यार्थस्य विज्ञाने सामर्थ्य—गर्भकराणां च भावानामनुसमाधिर्विघातश्च विघातकराणां भावानामिति ॥५७॥

ये तीनों सत्त्वों के असंख्य भेदों के भेद के एकदेश की व्याख्या कर दी गई है। शुद्ध सत्त्व—ब्रह्म ऋषि इन्द्र यम वरुण कुबेर गन्धर्व; इनके मन के अनुकरण से सात प्रकार का। राजस सत्त्व दैत्य (असुर) राक्षस पिशाच सर्प प्रेत शकुनि; इनके मन के अनुकरण से ६ प्रकार का । तामस सत्त्व-पशु मत्स्य वनस्पति; इन के मन के अनुकरण से ३ प्रकार का। सत्त्व के अनुसार उपचार कैसे हो—इसी लिये यह सम्पूर्ण गर्भावक्रान्ति में उपयोगी विषय यथोद्देश कह दिया है । इस विषय के जानने से गर्भकर भावों का संग्रह और गर्भ के नाशक भावों का त्याग जाना जाता है॥५७॥

तत्र श्लोकाः ।

निमित्तमात्मा प्रकृतिर्वृद्धिः कुक्षौ क्रमेण च ।
वृद्धिहेतुश्च गर्भस्य पञ्चार्थाः शुभसंज्ञिताः ॥ ५८ ॥

गर्भ का निमित्त, आत्मा, गर्भ की प्रकृति, कोख में क्रमशः वृद्धि, गर्भ की वृद्धि का हेतु, पांच भाव शुभ कहाते हैं ॥ ५८ ॥

अजन्मनि च यो हेतुर्विनाशे विकृतावपि ।
इमांस्त्रीनशुभान् भावानाहुर्गर्भविघातकान् ॥ ५९ ॥

गर्भ की अनुत्पत्ति में हेतु, गर्भ के विनाश में हेतु और विकृति में

हेतु, इन तीन अशुभ भावों को गर्भविघातक जानना चाहिये ॥ ५९ ॥

शुभाशुभसमाख्यातानष्टौ भावानिमान् भिषक् ।
सर्वथा वेद यः सर्वान् स राज्ञः कर्तुमर्हति ॥ ६० ॥
अवाप्त्युपायान् गर्भस्य स एवं ज्ञातुमर्हति ।
ये च गर्भविघातोक्ता भावास्तांश्चाप्युदारधीः ॥ ६१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने महतीगर्भावक्रान्तिशारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

जो चिकित्सक इन शुभाशुभ भावों को सर्वथा जानता है वह राजा की चिकित्सा कर सकता है । अर्थात् वह श्रेष्ठ चिकित्सक होता है । वह उत्तमबुद्धि पुरुष गर्भप्राप्ति के उपायों तथा गर्भ के विघातक भावों को जानने के योग्य होता है ॥ ६०–६१ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः पुरुषविचयं शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम पुरुषविचय नामक शारीर की व्याख्या करेंगे-ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । जिसके द्वारा पुरुष का विशेष ज्ञान होता है उसे पुरुषविचय कहा जाता है । अर्थात् इस अध्याय में पुरुष के विशेष ज्ञान सम्बन्धी बातें होंगी ॥ १ ॥

पुरुषोऽयं लोकसम्मित इत्युवाच भगवान्पुनर्वसुरात्रेयः; यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके ॥ २ ॥

पुरुष, लोक (जगत्) के तुल्य है । यह भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा । अर्थात् पुरुष इस महान् लोक का एक छोटा प्रतिरूप है । जितने भी इस लोक में मूर्तिमान् भाव हैं उतने ही पुरुष में । जितने

पुरुष में उतने ही इस लोक में ॥ २ ॥

इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—नैतावता वाक्येनोक्तं वाक्यार्थमवगाहामहे, भगवता बुद्ध्या भूयस्तरमनुव्याख्यायमानं शुश्रूषामह इति; ॥३॥

इस प्रकार कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश ने कहा—कि हे भगवन् इतने (उपर्युक्त) मात्र वाक्य द्वारा आपके कहने के अभिप्राय को हम अच्छी प्रकार नहीं समझ सके । हम आप के द्वारा इस विषय की विस्तृत व्याख्या सुनना चाहते हैं ॥ ३ ॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—अपरिसंख्येया लोकावयवविशेषाः, पुरुषावयवविशेषा अप्यपरिसंख्येयाः; तेषां यथास्थूलं भावान् सामान्यमभिप्रेत्योदाहरिष्यामः; तानेकमना निबोध सम्यगुपवर्ण्यमानानग्निवेश! षड्धातवः समुदिता 'लोक'[2] इति शब्दं लभन्ते; तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव च षड्धातवः समुदिता 'पुरुष' इति शब्दं लभन्ते ॥

भगवान् आत्रेय ने उसे कहा—लोक के अवयव भेद असंख्य है । पुरुष के अवयव भेद भी असंख्य हैं । उन सब का परिगणन असम्भव है । उन में से कुछ एक मोटे २ अवयव भेदों को समानता दिखाने के लिये यहां कहा जायगा । उन के वर्णन को एकाग्रचित्त हो कर श्रवण कर ।

छह धातुएं मिलकर ' लोक ' कहाता है । वे छह धातुएं ये हैं—१ पृथिवी २ जल ३ तेज ४ वायु ५ आकाश ६ अव्यक्त ब्रह्म । ये ही छह धातुएं मिल कर ' पुरुष ' कहाता है ॥ ४ ॥

तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः, आपः क्लेदः, तेजोऽभिसंतापो, वायुः प्राणो, वियच्छुषिराणि, ब्रह्माऽन्तरात्मा, यथा खलु ब्राह्मी विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः,

---

१ 'भूयस्तरतमतोऽनु' ग. । २ 'पुरुष' च० ।

ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं, यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहङ्कारः, आदित्यास्तु, आदानं, रुद्रो रोषः, सोमः प्रसादो, वसवः सुखं, अश्विनौ कान्तिः मरुदुत्साहो, विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च, तमो मोहो, ज्योतिर्ज्ञानं, यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं, यथा कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरस्तथा स्थाविर्यं, यथा कलिरेवमातुर्यं, यथा युगान्तस्तथा मरणमिति; एवमनुमानेनानुक्तानामपि लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणामग्निवेश ! सामान्यं विद्यात् ॥ ५ ॥

पृथिवी–पुरुष की मूर्ति है। क्लेद (गीलापन)–जल है। शारीरिक उष्णता–तेज वा अग्नि है। प्राण–वायु है। छिद्रसमूह–आकाश है। है। अन्तरात्मा–ब्रह्म है। इस प्रकार पुरुष छह धातुओं का समूह है। जैसे लोक में ब्रह्म की विभूति दिखाई देती है—ऐसे ही पुरुष में अन्तरात्मा की विभूति है। नाना प्रकार की सृष्टि की उत्पत्ति की समर्थता को विभूति वा ऐश्वर्य कहते हैं। जैसे लोक में ब्रह्म की विभूति प्रजापति है उसी प्रकार पुरुष में अन्तरात्मा की विभूति मन है। जो लोक में इन्द्र है वह पुरुष में अहङ्कार है। जैसे लोक में आदित्य (सूर्य है) वैसे ही पुरुष में आदान। अर्थात् जैसे लोक में सूर्य रस को लेलेता है वैसे ही शरीर में रस को ग्रहण करने की शक्ति है। जो लोक में रुद्र है वह पुरुष में रोष है। जो लोक में सोम (चन्द्र) है वह ही पुरुष में प्रसाद (प्रसन्नता) है। जो लोक में वसु हैं वे ही पुरुष में सुख हैं। जो लोक में अश्विनीकुमार हैं वह शरीर में कान्ति है। जो लोक में मरुद्गण हैं वह पुरुष में उत्साह है। जो लोक में विश्वेदेव हैं वे ही पुरुष में सब इन्द्रियां और सब इन्द्रियविषय हैं। जो लोक में अन्धकार है वह ही पुरुष में मोह है। जो लोक में ज्योति है वह पुरुष में ज्ञान है। जैसे लोक की सृष्टि का

प्रारम्भ है—वैसे ही पुरुष का गर्भाधान । जैसे सतयुग—वैसे बचपन । जैसे त्रेता—वैसे यौवन । जैसे द्वापर—वैसे वृद्धावस्था । जैसे कलियुग—वैसे रोगी होना । जैसे युग का अन्त—वैसे मृत्यु । इसी प्रकार हे अग्निवेश ! लोक और पुरुष के अन्य अवयव भेदों में जो यहां पर नहीं भी कहे गये अनुमान द्वारा समानता का बोध करे । उपनिषदों में भी लोक और पुरुष की समानता बताई गई है ॥ ५ ॥

इत्येवंवादिनं भगवन्तमात्रेयमग्निवेश उवाच—एवमेतत्सर्वमनपवादं यथोक्तं भगवता लोकपुरुषयोः सामान्यं, किन्त्वस्य सामान्योपदेशस्य प्रयोजनमिति ॥ ६ ॥

ऐसा कहते हुए भगवान् आत्रेय को अग्निवेश ने कहा—जो आप ने लोक और पुरुष में समानता कही है वह यथार्थ है । उसका अपवाद कोई नहीं । परन्तु इस समानता जताने का प्रयोजन क्या है ? ६ ॥

भगवानुवाच—[1]कथमग्निवेश ! सर्वलोकमात्मन्यात्मानं च सर्वलोके सम[2]नुपश्यता स[3]त्या बुद्धिरुत्पद्यत इति, सर्वलोकं ह्यात्मनि पश्यतो भवत्यात्मैव सुखदुःखयोः कर्ता नान्य इति, कर्मात्मकत्वाच्च हे[4]त्वादिभिर्युक्तः सर्वलोकोऽहमिति विदित्वा ज्ञानं पूर्वमुत्थाप्यतेऽपवर्गायेति; तत्र संयोगापेक्षी लोकशब्दः, षड्धातुसमुदायो हि सामान्यतः सर्वलोकः ॥ ७ ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा—हे अग्निवेश ! सब लोक को अपने में और अपने को सब लोक में देखते हुए सत्याबुद्धि कैसे उत्पन्न होती है, सुनो—सम्पूर्ण लोक को अपने में देखते हुए पुरुष का आत्मा ही सुख दुःख का कर्ता होता है अन्य नहीं । अर्थात् ऐसे योगी पुरुष को जो अपने में ही सम्पूर्ण लोक को देखता है (लोक और पुरुष में समानता देखता है) उसे यह ज्ञान होजाता है कि सुख दुःख

---

१ 'श्रएवाग्निवेश' ! ग. । २ 'सममनुपश्यतः' ग. । ३ 'आत्मबुद्धिः' ग. । ४ 'हेत्वादिभिरयुक्तः' ग. ।

का कर्ता आत्मा (षड् धातुक पुरुष) ही है और कर्माधीन होने से, हेतु आदि (जो अभी कहे जांयगे) से युक्त सम्पूर्ण लोक में हूं—यह जानकर मोक्ष के लिये ज्ञान को पहिले उभारा जाता है। अर्थात् लोक छह धातुओं का समुदाय है। इन छह धातुओं का संयोग कर्मवश होता है। लोक और पुरुष में समता के ज्ञान से सत्याबुद्धि उत्पन्न होती है। इस सत्याबुद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिये सब से पूर्व लोक और पुरुष में समबुद्धि का उत्पन्न करना आवश्यक है। जैसे जगत् की सृष्टि सर्वात्मगत व्यापार द्वारा प्राप्त अदृष्ट की अपेक्षा से संयोग होकर होती है उसी प्रकार पुरुष की उत्पत्ति भी अपने प्राक्तन कर्म (अदृष्ट) की अपेक्षा से छह धातुओं के समुदाय से होती है। लोक की उत्पत्ति भी कर्माधीन है पुरुष की उत्पत्ति भी कर्माधीन है। इसी प्रकार वृद्धि क्षय आदि भी कर्म के आधीन होते हैं। ज्यों ही सर्वात्मगत अदृष्ट का व्यापार शान्त होता है प्रलय होती है। इसी प्रकार पुरुष भी जब कर्मफलों को भोग चुकता है अदृष्ट का व्यापार रुक जाता है मृत्यु हो जाती है।

लोकशब्द संयोग की अपेक्षा रखता है। सामान्यतः सम्पूर्ण लोक छह धातुओं का समुदाय ही है॥ ७॥

तस्य हेतुरुत्पत्तिर्वृद्धिरुपप्लवो वियोगश्च। तत्र हेतुरुत्पत्तिकारणं, उत्पत्तिर्जन्म, वृद्धिराप्यायनं, उपप्लवो दुःखागमः, षड्धातुविभागो वियोगः, स जीवापगमः, स प्राणनिरोधः, स भङ्गः, स लोकस्वभावः; तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः, निवृत्तिरुपरमः; प्रवृत्तिर्दुःखं निवृत्तिः सुखमिति यज्ज्ञानमुत्पद्यते तत्सत्यं, तस्य हेतुः सर्वलोकसामान्यज्ञानं, तत्प्रयोजनं सामान्योपदेशस्येति॥ ८॥

उस लोक का हेतु उत्पत्ति वृद्धि उपप्लव और वियोग होता है। हेतु—उत्पत्ति के कारण को कहते हैं। उत्पत्ति—जन्म को कहते हैं। वृद्धि—का अभिप्राय आप्यायन वा बढ़ने से है। दुःख का आना—उप-

प्लव कहाता है । वियोग–से अभिप्राय छहों धातुओं का विभाग है । उसे ही जीवापगम (जीव का निकल जाना) कहते हैं । वह ही प्राणनिरोध (मृत्यु) भङ्ग वा लोकस्वभाव नाम से कहा जाता है । सब दुःखों की प्रवृत्ति उस लोक का कारण है । दुःखों की निवृत्ति शान्ति है वा षड्धातुसंयोगात्मक लोक का विनाश है अर्थात् पुनः उत्पत्ति नहीं होती । प्रवृत्ति (संसार) ही दुःख है और निवृत्ति सुख है—यह जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सत्य ज्ञान है । सम्पूर्ण लोक में समता का ज्ञान उस सत्यज्ञान का कारण है । लोक पुरुष की समानता के उपदेश का यही प्रयोजन है (सत्य ज्ञान की उत्पत्ति) ।

अथवा 'तस्य मूलं सर्वोपप्लवानां च प्रवृत्तिः निवृत्तिरुपरमः' में 'तस्य' से षड्धातुविभाग वा जीवापगम का निर्देश है ।

अर्थात् जीवापगम और सब दुःखों का 'प्रवृत्ति' कारण है और जीवापगम तथा सब दुःखों की 'निवृत्ति' उपरम (शान्ति) है ।

अथवा ' तस्य ' से लोक वा पुरुष का निर्देश होने पर यह अर्थ भी हो सकता है लोक वा पुरुष का . तथा सब दुःखप्राप्ति का कारण 'प्रवृत्ति' है–वाणी मन और शरीर से किया हुआ कर्म है । लोक और पुरुष की (षड्धातुसंयोगरूप जन्म की) तथा सब दुःख प्राप्तियों की निवृत्ति (मन आदि की अप्रवृत्ति) उपरम है । अतएव प्रवृत्ति अर्थात् मन वचन वा शरीर से क्रिया कर्म दुःख है और निवृत्ति अर्थात् मन वचन वा शरीर की अप्रवृत्ति सुख है ॥ ८ ॥

अथाग्निवेश उवाच--किंमूला भगवन् ! प्रवृत्तिर्निवृत्तौ वा उपाय इति ॥ ९ ॥

अग्निवेश ने पूछा—हे भगवन् ! प्रवृत्ति का क्या कारण है ? और निवृत्ति में क्या उपाय है ? ९ ॥

भगवानुवाच—मोहेच्छाद्वेषकर्ममूला प्रवृत्तिः, तज्जा ह्यहङ्कारसङ्गसंशयाभिसंप्लवाभ्यवपाताविप्रत्ययाविशेषानुपायास्तरुण-

मिव द्रुममतिविपुलशाखास्तरवोऽभिभूय पुरुषमवतत्यैवोत्तिष्ठन्ते यैरभिभूतो न सत्तामतिवर्तते ॥ १० ॥

भगवान् आत्रेय ने कहा—प्रवृत्ति का कारण मोह इच्छा (राग) द्वेष से किया गया कर्म है। अन्य काम क्रोध आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव होता है। न्याय दर्शन में कहा है—

'तत् त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तराभावात्।'

उस प्रवृत्ति से अहङ्कार सङ्ग संशय अभिसंप्लव अभ्यवपात विप्रत्यय अविशेष तथा अनुपाय उत्पन्न होते हैं। ये अहङ्कार आदि पुरुष को व्याप्त कर के उभरते हैं—बढ़ते हैं, जैसे छोटे पौधे को अत्यधिक शाखाओं वाले वृक्ष नष्ट कर के बढ़ते हैं। जिन से पराभूत हुआ २ वा दबा हुआ पुरुष सत्ता (प्रवृत्ति वा प्रवृति के हेतु) को नहीं लांघता। अर्थात् अमर नहीं होता और संसार के जन्ममरण के बन्ध में पड़ा रहता है॥ १० ॥

तत्रैवंजातिरूपवित्तवृत्तबुद्धिशीलविद्याभिजनवयोवीर्यप्रभावसम्पन्नोऽहमित्यहङ्कारः ॥ ११ ॥

अहङ्कार का स्वरूप—इस जाति रूप धन आचार बुद्धि शील (स्वभाव) विद्या अभिजन (कुल) उम्र वीर्य वा प्रभाव से मैं युक्त हूं—यह अहङ्कार कहाता है॥ ११ ॥

यद्यन्मनोवाक्कायकर्म नापवर्गाय स सङ्गः ॥ १२ ॥

सङ्ग का लक्षण—जो मन वचन वा शरीर का कर्म मोक्ष का हेतु नहीं, वह सङ्ग कहाता है॥ १२ ॥

कर्मफलमोक्षपुरुषप्रेत्यभावादयः सन्ति वा नेति संशयः ॥

संशय का स्वरूप—कर्म फल मोक्ष पुरुष पुनर्जन्म आदि हैं या नहीं, यह संशय कहाता है॥ १३ ॥

सर्वावस्थास्वनन्योऽहमहं स्रष्टा स्वभावसंसिद्धोऽहमहं शरीरेन्द्रियबुद्धिस्मृतिविशेषराशिरिति ग्रहणमभिसंप्लवः ॥ १४ ॥

अभिसम्प्लव—सब अवस्थाओं में मैं एकरूप हूं, मैं स्रष्टा (सृष्टि कर्ता) हूं, मैं स्वभावसिद्ध हूं (मेरा कोई उत्पन्न करने वाला नहीं), मैं विशेष शरीर इन्द्रिय बुद्धि तथा स्मृति का समुदाय हूं-ऐसा समझना अभिसम्प्लव कहाता है—गड़बड़ ज्ञान (परस्पर विरुद्ध) कहाता है। मैं एकरूप हूं से स्वभावसिद्ध हूं तक तो यथार्थ ज्ञान है, शरीर आदि का समुदाय मैं हूं यह मिथ्याज्ञान है। एकरूप आदि होने पर अपने को शरीर आदि का समुदाय समझना नहीं हो सकता। परन्तु दोनों ज्ञान एकत्र हों तो वह गड़बड़ होगा। इसे अभिसम्प्लव कहते हैं ॥ १४ ॥

मम मातृपितृभ्रातृदारापत्यबन्धुमित्रभृत्यगणो गणस्य चाहमित्यभ्यवपातः ॥ १५ ॥

अभ्यवपात—माता, पिता, भाई, स्त्री, सन्तान, बन्धु, मित्र, नौकर चाकर मेरे हैं और मैं उनका हूं इत्यादि ज्ञान अभ्यवपात कहाता है। यह भी मिथ्याज्ञान है ॥ १५ ॥

कार्याकार्यहिताहितशुभाशुभेषु विपरीताभिनिवेशो विप्रत्ययः ॥ १६ ॥

विप्रत्यय—कार्य अकार्य, हित अहित, शुभ अशुभ में विपरीत ज्ञान का नाम विप्रत्यय है। इसे ही अविद्या भी कह सकते हैं। योगदर्शन में—'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।' १६ ॥

ज्ञाज्ञयोः प्रकृतिविकारयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्च सामान्यदर्शनमविशेषः ॥ १७ ॥

अविशेष—ज्ञ तथा अज्ञ में, प्रकृति और विकार में, प्रवृत्ति और निवृत्ति में समानता देखना अविशेष कहाता है। इसे अस्मिता कह सकते हैं। योगदर्शन में—

'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता' ॥ १७ ॥

प्रोक्षणानशनाग्निहोत्रत्रिषवणाभ्युक्षणावाहनयजनयाजनायाचनसलिलहुताशनप्रवेशादयाः समारम्भाः प्रोच्यन्ते ह्य-

नुपायः ॥ १८ ॥

अनुपाय—प्रोक्षण, अनशन (उपवास, भोजन न करना), अग्निहोत्र, त्रिषवण (त्रिकालस्नान), अभ्युक्षण (सेचन), आवाहन (बुलाना—देवता आदि का आवाहन किया जाता है), यजन (यज्ञ करना), याजन (यज्ञ करवाना), आयाचन (प्रार्थना), जल में प्रवेश, अग्नि में प्रवेश आदि विधान जो यज्ञ आदि में कहे हैं वे अनुपाय हैं अर्थात् स्वर्ग के साधन होते हुए भी मोक्षप्राप्ति में उपाय नहीं। इन अनुपायों के अनुष्ठान से धर्म द्वारा जन्म तो होता ही रहेगा। अमर पद इन के अनुष्ठान से नहीं प्राप्त हो सकता। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के उपाय तो अन्य ही हैं ॥ १८ ॥

एवमयमधीधृतिस्मृतिरहङ्काराभिनिविष्टः सक्तः ससंशयोऽभिसंप्लुतबुद्धिरभ्यवपतितोऽन्यथादृष्टिरविशेषग्राही विमार्गगतिर्निवासवृक्षः सत्त्वशरीरदोषमूलानां मूलं सर्वदुःखानां भवति; इत्येवमहङ्कारादिभिर्दोषैर्भ्राम्यमाणो नातिवर्तते प्रवृत्तिं, सा च मूलमघस्य ॥ १९ ॥

इस प्रकार यह धी (बुद्धि) धृति (नियमात्मिका बुद्धि) तथा स्मृति से रहित अहङ्कार में पड़ा हुआ संग और संशय से युक्त, गड़बड़ बुद्धि-वाला, अभ्यवपात युक्त (ममता युक्त—माता आदि में), विपरीत बुद्धि (विप्रत्यय), ज्ञ अज्ञ आदि में समबुद्धि रखने वाला, उलटे मार्ग पर चलने वाला (अनुपाय) पुरुष मन और शारीरिक दोषों के हेतुओं (रज तम तथा वात आदि) का निवासवृक्ष (आश्रय) हुआ १ सब दुःखों का कारण होता है।

इस प्रकार अहंकार आदि दोषों से घुमाया जाता हुआ प्रवृत्ति को नहीं लांघता। अपितु पुनः पुनः संसार में आता है। यह प्रवृत्ति (संसार) सब पाप की जड़ है ॥ १९ ॥

---

१ 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।' योगदर्शन।

निवृत्तिरपवर्गस्तत्परं तत् प्रशान्तं तदक्षरं तद्ब्रह्म स मोक्षः ॥ २० ॥

निवृत्ति अपवर्ग है । वह सर्वोत्कृष्ट है । वह अत्यन्त शान्त है । वह अक्षर (अविनाशी) है । वह ब्रह्म है । उसे ही मोक्ष कहते हैं ॥२०॥

तत्र मुमुक्षूणामुदयनानि व्याख्यास्यामः—तत्र लोकदोषदर्शिनो मुमुक्षोरादित एवाचार्याभिगमनं, तस्योपदेशानुष्ठानं, अग्नेरेवोपचर्या, धर्मशास्त्रानुगमनं, तदर्थावबोधः, तेनावष्टम्भः, तत्र यथोक्ताः क्रियाः, सतामुपासनमसतां परिवर्जनं, असङ्गतिर्दुर्जनेन, सत्यं सर्वभूतहितमपरुषमनति काले परीक्ष्य वचनं, सर्वप्राणिष्वात्मनीवावेक्षा, सर्वासामस्मरणमसंकल्पनमप्रार्थनानभिभाषणं च स्त्रीणां, सर्वपरिग्रहत्यागः, कौपीनं प्रच्छादनार्थं धातुरागनिवसनं, कन्थासीवनहेतोः सूचीपिप्पलकं, शौचाधानहेतोर्जलकुण्डिका, दण्डधारणं, भैक्ष्यचर्यार्थं पात्रं, प्राणधारणार्थमेककालमग्राम्यो यथोपपन्न एवाभ्यवहारः, श्रमापनयनार्थं शीर्णशुष्कपर्णतृणास्तरणोपधानं, ध्यानहेतोः कायनिबन्धनं, वनेष्वनिकेतवासः, तन्द्रानिद्रालस्यादिकर्मवर्जनं, इन्द्रियार्थेष्वनुरागोपतापनिग्रहः, सुप्तस्थितगतप्रेक्षिताहारप्रत्यङ्गचेष्टादिकेष्वारम्भेषु स्मृतिपूर्विका प्रवृत्तिः, सत्कारस्तुतिगर्हावमानक्षमत्वं, क्षुत्पिपासायासश्रमशीतोष्णवातवर्षासुखदुःखसंस्पर्शसहत्वं, शोकदैन्योद्वेगमदमानलोभरागेर्ष्याभयक्रोधादिरसंचलनं अहङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा[1], लोकपुरुषयोः सर्गादिसामान्यावेक्षणं, कार्यकालात्ययभयं, योगारम्भे सततमनिर्वेदः, सत्त्वोत्साहः, अपवर्गाय धीधृतिस्मृतिबलाधानं, नियमनमिन्द्रियाणां चेतसि चेतस आत्मनि, आत्मनश्च धातुभेदेन शरीरावयवसंख्यानं, अभीक्ष्णं सर्वं कारणवद्दुःखमस्वमनित्यमित्यभ्युपगमः, सर्व-

१ 'अलङ्कारादिषूपसर्गसंज्ञा' च. ।

प्रवृत्तिषु दुःखसंज्ञा[2], सर्वसंन्यासे सुखमित्यभिनिवेश एष मार्गोऽपवर्गाय; अतोऽन्यथा बध्यत इत्युदयनानि व्याख्यातानि ॥ २१ ॥

मोक्ष के चाहने वाले पुरुषों के लिये सब ऊंचे उठाने वाले मार्गों (साधनों वा उपायों) की व्याख्या की जायगी—सब से पूर्व ही मुमुक्षु पुरुष को आचार्य के पास जाना चाहिये। वह जैसा उपदेश करे वैसा ही अनुष्ठान करे। अग्नि की ही सेवा करे। धर्मशास्त्रों का अध्ययन करे और उसके अर्थ को जाने। अर्थ जानने से दृढ़ता उत्पन्न होगी—कि मैं अवश्य मोक्ष को पाऊं—अथवा शास्त्रार्थ ज्ञान से सहारा मिलेगा और इस सहारे से वह तत्त्वज्ञान तक पहुंचेगा। वहां जो २ क्रियायें (तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) कहीं हों वे २ करनी चाहियें। सत्पुरुषों के पास बैठना, असत्पुरुषों का त्याग, दुर्जनों की सङ्गति न करना, सच बोलना सब प्राणियों के लिये हितकर वचन कहना, कठोर न बोलना—प्रिय वचन कहना।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः॥

अर्थात् सत्य और प्रिय बोलना चाहिये। असत्य और अप्रिय न बोलना चाहिये। सत्य हो और अप्रिय हो ऐसी बात न कहे। और न झूठ हो परन्तु प्रिय हो—वह कहे।

थोड़ा, काल में और सोचविचार कर बोलना। सब प्राणियों को अपने सदृश ही जानना। सब की स्त्रियों के स्मरण संकल्प वा प्रार्थना का त्याग तथा उन से न बोलना। 'सब' कहने का अभिप्राय यह है कि अपनी स्त्री का भी स्मरण आदि न करे अर्थात् अष्टविध मैथुन का त्याग करे। सब परिग्रहों का त्याग। विषयों के भोग को अच्छा समझ कर स्वीकार करना परिग्रह कहाता है। कौपीन धारण (ब्रह्मचर्य)। अपने को ढांपने के लिये गेरुए वस्त्र का पहिरना। वस्त्र को सीने के लिये सूई

२ 'अघसंज्ञा' च.।

रखने का पात्र वा सूई और धागे का पत्ता । नहाने धोने आदि के लिये जलपात्र लोटा वा कमण्डलु । दण्डधारण । भिक्षा के लिये पात्र । प्राणों के धारण के लिये यथाप्राप्त वन्य कन्द मूल फल आदि का एक समय भोजन । थकावट के हटाने के लिये गिरे हुए सूखे पत्तों और तिनकों का बिछौना और तकिया । ध्यान के लिये योगासन । वनों में बिना गृह के वास । तन्द्रा निद्रा आलस्य आदि कर्म का त्याग । प्रिय इन्द्रिय के विषयों में अनुराग और अप्रिय इन्द्रियविषयों में दुःख— दोनों का निग्रह (वश में करना), सोने बैठने चलने देखने खाने तथा प्रत्येक अङ्ग की चेष्टा आदि कर्मों में हिताहित का स्मरण करके प्रवृत्त होना । सत्कार स्तुति निन्दा अपमान को सहने में समर्थ होना । अर्थात् सत्कार वा स्तुति से प्रसन्न न होना और निन्दा अपमान से दुःखी न होना । भूख प्यास आयास (परिश्रम) थकावट शीत उष्ण वात (आंधी आदि) वर्षा सुख दुःख स्पर्श; इन को सहना, शोक, दीनता, उद्वेग (ग्लानि) मद मान लोभ राग ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि द्वारा विचलित न होना, अहङ्कार सङ्ग आदि को उपद्रव समझना—अनर्थ का हेतु जानना, लोक और पुरुष में सर्ग आदि की समानता जानना (ये अध्याय के प्रारम्भ में बताये जा चुके हैं), कार्य के काल के गुजरने में भय देखना—जो कार्य जिस समय करना हो उसी समय करना, योग के आरम्भ में निरन्तर मन को खिन्न न करना, मन में उत्साह, मोक्ष के लिये धी (बुद्धि) धृति (नियमात्मिका बुद्धि) स्मृति के बल को अपने में पैदा करना, इन्द्रियों को मन में और मन को आत्मा में नियन्त्रित करना, रस रक्त आदि धातु भेद से अथवा पृथिवी आदि ६ धातुओं के भेद से अपने शरीर के अवयवों का परिज्ञान, कारणवान् (उत्पत्तिधर्मा) सब पदार्थ दुःख हैं, अपने नहीं और अनित्य हैं— इस बात को स्वीकार करना, सब प्रवृत्तियों को दुःख जानना, सब

के त्याग में सुख का निश्चय। यह मोक्ष पर पहुंचने का मार्ग है। अन्यथा पुरुष यहीं बंधा रहता है। ये उदयन (उन्नत होने के मार्ग) बता दिये हैं ॥ २१ ॥

भवन्ति चात्र।

एतैरविमलं सत्त्वं शुद्ध्युपायैर्विशुध्यति।
मृज्यमान इवादर्शस्तैलचेलकचादिभिः ॥ २२ ॥

जैसे तैल चेल (वस्त्रखण्ड) तथा बाल आदि द्वारा मांजने से दर्पण शुद्ध होता है वैसे इन शुद्धि के उपायों से मैलामन शुद्ध हो जाता है ॥ २२ ॥

ग्रहाम्बुदरजोधूमनीहारैरसमावृतम्।
यथाऽर्कमण्डलं भाति भाति सत्त्वं तथाऽमलम् ॥ २३ ॥

ग्रह (राहु केतु—ग्रहण), मेघ, धूलि, धूंआ नीहार (कुहरा); इन से आच्छन्न न हुआ सूर्यमण्डल जैसे दीप्त होता है वैसे ही निर्मल मन दीप्त होता है—चमकता है ॥ २३ ॥

ज्वलत्यात्मनि संरुद्धं तत्सत्त्वं संवृतायने।
शुद्धः स्थिरः प्रसन्नार्चिर्दीपो दीपाशये यथा ॥ २४ ॥

आत्मा में रोका हुआ मन मार्ग के रुके होने से प्रकाशमान् होता है। जैसे दीपक (लैम्प की ज्वाला) दीपाशय (चिमनी) आदि में रुके होने से शुद्ध स्थिर एवं स्वच्छ प्रभावाला होकर प्रकाशमान् होता है। अर्थात् जैसे लैम्प अधिक स्थिर एवं उज्ज्वल प्रकाश दे और बाहिर के वायु के झोंके आदि से बुझ न जाय चिमनी चढ़ा देते हैं उसी प्रकार मन को शुद्ध एवं प्रकाशमान् वा शुभ्र ज्ञानवान् करने के लिये आत्मा में रोक देना चाहिये। इस प्रकार मन पर बाह्य विषयों का प्रभाव नहीं पड़ता और अतएव वह डांवाडोल भी नहीं होता ॥ २४ ॥

शुद्धसत्त्वस्य या शुद्धा सत्या बुद्धिः प्रवर्तते।
यया भिनत्त्यतिबलं महामोहमयं तमः ॥ २५ ॥

सर्वभावस्वभावज्ञो यया भवति निःस्पृहः ।
योगं यया साधयते सांख्यः सम्पद्यते यया ॥ २६ ॥
यया नोपैत्यहङ्कारं नोपास्ते कारणं यया ।
यया नालम्बते किंचित्सर्वं संन्यस्यते यया ॥ २७ ॥
याति ब्रह्म यया नित्यमजरः शान्तमक्षरम्[1] ।
विद्या सिद्धिर्मतिर्मेधा प्रज्ञा ज्ञानं च सा मता ॥ २८ ॥

शुद्ध मन वाले पुरुष की जो शुद्ध सत्याबुद्धि (ऋतम्भरा प्रज्ञा) प्रवृत्त होती है, जिस के द्वारा योगी अत्यन्त बलवान् महामोहमय अन्धकार को छिन्न भिन्न कर देता है, जिस के द्वारा सब भावों के स्वभाव को जानने वाला तथा निःस्पृह (निष्काम) हो जाता है। जिस के द्वारा योग की सिद्धि होती है । जिस से तत्वज्ञानी हो जाता है, जिस के द्वारा अहङ्कार को प्राप्त नहीं होता, जिस के द्वारा कारण के पास नहीं जाता (उत्पत्तिरहित हो जाता है), जिस के द्वारा कुछ भी आलम्बन नहीं करता (प्रकृति से पृथक् रहता है), जिस के द्वारा सब कुछ त्याग दिया जाता है, जिस के द्वारा नित्य अजर शान्त अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करता है उसे ही विद्या सिद्धि मति मेधा प्रज्ञा वा ज्ञान कहा जाता है ॥ २५–२८ ॥

लोके विततमात्मानं लोकं चात्मनि पश्यतः ।
परावरदृशः शान्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति ॥ २९ ॥

अपने को लोक में और लोक को अपने में व्याप्त देखते हुए परमात्मा और प्रकृति को देखने वाले तत्वज्ञानी पुरुष की ज्ञानमूलक शान्ति नष्ट नहीं होती ॥ २९ ॥

पश्यतः सर्वभावान्[2] हि सर्वावस्थासु सर्वदा ।
ब्रह्मभूतस्य संयोगो न शुद्धस्योपपद्यते ॥ ३० ॥

सर्वदा सब अवस्थाओं में सब भावों को देखते हुए ब्रह्मभूत

१ 'शान्तमव्ययम्' च. । २ 'सर्वभूतानि' ग. ।

(मुक्त) अतएव शुद्ध(सत्त्व) पुरुष का शरीर इन्द्रिय आदि के साथ संयोग नहीं होता अर्थात् पुनर्जन्म नहीं होता । रज और तम ये बन्ध के कारण हैं। जब ये दोष नहीं रहते तो वह मुक्तपुरुष बन्ध में नहीं पड़ता॥

अथवा सर्वदा सब अवस्थाओं में सब भावों को समभाव से दर्शन करते हुए शुद्धसत्त्व ब्रह्मभूत (जीवन्मुक्त) पुरुष का संसार में गमनागमन कारक धर्माधर्म कर्म के साथ संयोग नहीं होता । अर्थात् शुद्धसत्त्व पुरुष धर्माधर्मजनक किसी कर्म से बद्ध नहीं होता और उससे वह जीवन्मुक्त होजाता है ॥ ३० ॥

नात्मनः [1]करणाभावाल्लिङ्गमप्युपलभ्यते ।
स [2]सर्वकारणत्यागान्मुक्त इत्यभिधीयते ॥ ३१ ॥

करण (शरीर इन्द्रिय मन आदि) के अभाव होने से आत्मा का लिङ्ग (प्राणापान निमेषोन्मेष सुख दुःख आदि) भी नहीं पाया जाता। अतः सब कारणों के त्याग होने से पुरुष 'मुक्त' कहाता है ॥३१॥

विपापं विरजः शान्तं परमक्षरमव्ययम् ।
अमृतं ब्रह्म निर्वाणं पर्यायैः शान्तिरुच्यते ॥ ३२ ॥

शान्ति वा मोक्ष के पर्याय—विपाप (पाप जिसके नष्ट होगये हैं) विरज (राग शून्य) शान्त पर (परमपद) अक्षर (जिस का क्षरण नहीं होता) अव्यय (जो खर्च नहीं होता) अमृत ब्रह्म निर्वाण (सदा के लिये संसार से बुझना); ये शान्ति (मोक्ष) के पर्यायवाचक हैं॥

एतत्तत्सौम्य ! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः ।
मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीतमोहरजःस्पृहाः ॥ ३३ ॥

हे सौम्य ! यह वह विज्ञान है जिसे जान कर संशयरहित एवं जिन का मोह राग और काम नष्ट होगया है ऐसे मुनि शान्ति को प्राप्त हुए है–मुक्त होगये हैं ॥ ३३ ॥

---

१ 'कारणाभावा०' ग० । २ 'सर्वकरणाभावात्' च० ।

तत्र श्लोकौ ।

सप्रयोजनमुद्दिष्टं लोकस्य पुरुषस्य च ।
सामान्यं मूलमुत्पत्तौ निवृत्तौ मार्ग एव च ॥ ३४ ॥
शुद्धसत्त्वसमाधानं सत्या बुद्धिश्च नैष्ठिकी ।
विचये पुरुषस्योक्ता निष्ठा च परमर्षिणा ॥ ३५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने पुरुषविचयशारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

पुरुषविचय नामक अध्याय में परमऋषि आत्रेय ने लोक और पुरुष की समानता और उसके जताने का प्रयोजन, उत्पत्ति (प्रवृत्ति) का कारण, निवृत्ति का मार्ग, शुद्ध सत्त्व का समाधान, मोक्षसाधक सत्या बुद्धि तथा मोक्ष बताया है ॥ ३४-३५ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः शरीरविचयं[1] शारीरं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब शरीरविचय नामक शारीर की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

शरीरविचयः शरीरोपकारार्थमिष्यते भिषग्विद्यायां, ज्ञात्वा हि शरीरतत्त्वं शरीरोपकारकरेषु भावेषु ज्ञानमुत्पद्यते; तस्माच्छरीरविचयं प्रशंसन्ति कुशलाः ॥ २ ॥

चिकित्साशास्त्र में शरीर के उपकार के लिये शरीर का विशेष ज्ञान होना आवश्यक है । शरीर के तत्त्व को जानने से शरीर के लिये उपकार करने वाले (हितकर और सुखकर) भावों में ज्ञान होता है । अतएव कुशल चिकित्सक शरीर के विशेष ज्ञान की प्रशंसा करते हैं ॥ २ ॥

१ 'शरीरस्य विचयनं विचयः, शरीरस्य प्रविभागेन ज्ञानमित्यर्थः' चक्रः ।

तत्र शरीरं नाम चेतनाधिष्ठानभूतं पञ्चभूतविकारसमुदायात्मकं समयोगवाहि; यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति; वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूनां वृद्धिह्रासगमनमकार्त्स्न्येन प्रकृत्या च ॥ ३ ॥

पांच महाभूतों के विकार का समुदायरूप और चेतना का अधिष्ठान (आश्रय) भूत समयोगवाही शरीर कहाता है। अर्थात् इन्द्रियविषय कर्म और काल के समयोग से शरीर यावदायु स्वस्थ रहता है—यही समयोगवाही का अर्थ है। अथवा धातुओं के समभाव में युक्त हो कर रहने से शरीर यावदायु स्वस्थ रहता है। जब इस शरीर में धातुएं विषम हो जाती हैं तब रोग आदि क्लेश वा मृत्यु को प्राप्त होता है। धातुओं के विषम होने से अभिप्राय धातुओं के बढ़ने से वा घटने से है। यह धातुओं का घटना बढ़ना एक देश में वा सकलभाव से हो सकता है। अर्थात् धातु का एक भाग भी बढ़ वा घट सकता है और सम्पूर्ण धातु भी घट वा बढ़ सकती है। अथवा दो प्रकार की विषमता होती हैं एक कुछ भाग की और दूसरी प्रकृति द्वारा जब एक भाग विषम होता है तब क्लेश होता है जब प्रकृति द्वारा विषमता होती है तब मृत्यु होती है। प्रकृति द्वारा एक पुरुष वातल है यदि इस का कोप हो वा क्षय हो वा यह बदलकर पित्तल हो जाय तो मृत्यु हो जायगी। सुश्रुत शारीर ४ अ० में कहा भी है—

'प्रकोपो वान्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते ।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥' ३ ॥

यौगपद्येन तु विरोधिनां धातूनां वृद्धिह्रासौ भवतः, यद्धि यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्ततो विपरीतगुणस्य धातोः प्रत्यवायकरं तु सम्पद्यते ॥ ४ ॥

---

१ '०समुदायात्मकम् । समसंयोगवाहिनो यदा' ग० । २ 'अकार्त्स्न्येनेति एकदेशेन, प्रकृत्येति सकलेन स्वभावेन' चक्रः । '०कार्त्स्न्येन । प्रकृत्या च यौगपद्येन विरोधिनां' ग० ।

परस्पर विरोधी धातुओं की युगपत् वृद्धि और ह्रास होते हैं। यदि एक धातु की वृद्धि होगी तो साथ ही विरोधी धातु का ह्रास होगा। यदि एक धातु का ह्रास होगा तो विरोधी धातु की साथ ही वृद्धि होगी। जो जिस धातु को बढ़ाने वाला है वह उस से विपरीत गुण वाली धातु को क्षीण किया करता है। अर्थात् यदि गुरु द्रव्य गुरु धातु को बढ़ाता है तो वह साथ ही साथ लघु धातु को क्षीण करता है॥४

तदेव तस्माद्भेषजं सम्यगवचार्यमाणं[1] युगपन्न्यूनातिरिक्तानां धातूनां साम्यकरं भवति; अधिकमपकर्षति, न्यूनमाप्याययति ॥

अतएव वह ही औषध दोष दूष्य आदि का विचार कर के यथाविधि प्रयोग कराई हुई कम वा प्रवृद्ध धातुओं को युगपत् (एक ही साथ) समता में ले आती है। अधिक को घटाती है (विपरीत गुण होने से) और कम को बढ़ाती है (समान गुण होने से)॥ ५॥

एतावदेव हि भैषज्यप्रयोगे फलमिष्टं स्वस्थवृत्तानुष्ठाने च यावद्धातूनां साम्यं स्यात्; स्वस्था[2] ह्यपि धातूनां साम्यानुग्रहार्थमेव कुशला रसगुणानाहारविकारांश्च पर्यायेणेच्छन्त्युपयोक्तुं[3] सात्म्यसमाज्ञातानेकप्रकारभूयिष्ठांश्चोपयुञ्जानास्तद्विपरीतकरसमा-[4][5] ज्ञातया चेष्टया सममिच्छन्ति कर्तुम् ॥ ६ ॥

औषध के प्रयोग में तथा स्वस्थवृत्त के पालन में हमें यही फल वाञ्छनीय है कि धातुओं की समता हो। अर्थात् अपने प्रमाण से बढ़ी वा घटी धातुओं को युगपत् समता में ले आयें तथा सम धातुओं को विषम न होने दे। बुद्धिमान् स्वस्थ पुरुष भी धातुओं को समता में रखने के लिये ही सात्म्यरस (मधुर आदि) गुणों (गुरु आदि) को और आहार द्रव्यों से निर्मित यवागू आदि भोज्य पदार्थों को पर्याय क्रम (Alternately) वा उचित क्रम से प्रयोग करना चाहते हैं। यदि प्रथम गुरु आहार

१ 'सम्यगुपचर्यमाणं' पा०। २ 'स्वस्थस्यापि समधातूनां' ग०। ३ 'पर्यायेणोत्युचितेन क्रमेण' चक्रः। ४ 'समाज्ञातानेक०' पा०। ५ '०स्तद्विपरीतकरणलक्षण०समाज्ञात०' ग०।

खाया है तो शरीर की गुरु धातुएं न बढ़ जांय और लघु क्षीण न हो जांय इस के लिये तदनन्तर लघु आहार खांयगे। इसी प्रकार मधुररस के प्रयोग से कफवृद्धि न होजाय तदनन्तर कटुरस का प्रयोग करेंगे इत्यादि। एक प्रकार के रस गुण वा भोज्य द्रव्य आदि का बहुतायत से उपयोग करते हुए उस से विपरीत प्रभाव वाली चेष्टा (व्यायाम आदि) से सम करना चाहते हैं। अर्थात् यदि किसी हेतु से मधुररस (कफवर्धक) का ही उपयोग होरहा हो तो उससे विपरीत कर व्यायाम (कफनाशक) आदि से धातु को समावस्था में रखा जाता है॥ ६॥

देशकालात्मगुणविपरीतानां हि कर्मणामाहारविकाराणां च क्रमेणोपयोगः[1] सम्यक् सर्वातियोगसन्धारणमसन्धारणमुदीर्णानां[2] च गतिमतां, साहसानां च वर्जनं स्वस्थवृत्तमेतावद्धातूनां साम्यानुग्रहार्थमुपदिश्यते॥ ७॥

देश के गुण से विपरीत (देशसात्म्य), काल के गुण से विपरीत, (कालसात्म्य वा ऋतुसात्म्य) तथा अपने गुण से विपरीत (ओकसात्म्य) कर्मों और आहार विकारों (भोज्यपदार्थ) का क्रम से सम्यक् उपयोग तथा सब अतियोगों (अयोग मिथ्यायोग अतियोग) को रोकना (सेवन न करना) गतिमान् (स्वस्थान से चलित) उदीर्ण हुए वेगों को न रोकना, साहसों (शक्ति से अधिक कर्म करना) का त्याग- यह संक्षेप में धातुओं को समता में रखने के लिये स्वस्थवृत्त का उपदेश है॥ ७॥

धातवः पुनः शारीराः समानगुणैः समानगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्याहारविहारैरभ्यस्यमानैर्वृद्धिं प्राप्नुवन्ति, ह्रासं तु विपरीतगुणैर्विपरीतगुणभूयिष्ठैर्वाऽप्यभ्यस्यमानैः॥ ८॥

शारीर धातुएं समानगुण वा समानगुणबहुल आहार विहार के अभ्यास से बढ़ती हैं और विरुद्धगुण वा विरुद्धगुणबहुल आहार

---

१ 'क्रियोपयोगः' ग०। २ 'सर्वाभियोगोऽनुदीर्णानां सन्धारणं' ग०।

विहार के अभ्यास से क्षीण होती हैं ॥ ८ ॥

तत्रेमे शरीरधातुगुणाः संख्यासामर्थ्यकराः; तद्यथा—गुरुलघुशीतोष्णस्निग्धरूक्षमन्दतीक्ष्णस्थिरसरमृदुकठिनविशद-पिच्छिलश्लक्ष्णखरसूक्ष्मस्थूलसान्द्रद्रवाः; तेषु ये गुरवस्ते गुरुभिराहारगुणैरभ्यस्यमानैराप्याय्यन्ते लघवश्च ह्रसन्ति, लघवस्तु लघुभिराप्याय्यन्ते गुरवश्च ह्रसन्ति; एवमेव सर्वधातुगुणानां सामान्ययोगाद्वृद्धिर्विपर्ययाद्ध्रासः; एतस्मान्मांसमाप्याय्यते मांसेन भूयस्तरमन्येभ्यः शरीरधातुभ्यः, तथा लोहितं लोहितेन, मेदो मेदसा, वसा वसया, अस्थि तरुणास्थ्ना, मज्जा मज्जया, शुक्रं शुक्रेण, गर्भस्त्वामगर्भेण ॥ ६ ॥

ये शरीर की धातुओं के गुण ज्ञान में सामर्थ्य देने वाले हैं—ज्ञान को बढ़ाने वाले हैं, जैसे—गुरु लघु, शीत उष्ण, स्निग्ध रूक्ष, मन्द तीक्ष्ण, स्थिर सर, मृदु कठिन, विशद पिच्छिल (चिपचिपा), श्लक्ष्ण (चिकना) खर (खुरदरा), सूक्ष्म स्थूल, सान्द्र (घन) द्रव । ये २० गुण हैं । इन में जो गुरु हैं वे गुरु आहार के गुणों के अभ्यास से बढ़ते हैं लघु ह्रास को प्राप्त होते हैं । लघु लघुओं से बढ़ते हैं और गुरु ह्रास को प्राप्त होते हैं । इसी प्रकार सब धातुओं के गुणों की आहारविहार आदि से समानता होने पर वृद्धि होती है अन्यथा ह्रास होता है । सूत्रस्थान १म अध्याय में कह भी आये हैं—

'सर्वदा सर्वभावानां सामान्यं वृद्धिकारणम् ।
ह्रासहेतुर्विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥'

इसी कारण मांस के सेवन से अन्य धातुओं की अपेक्षा मांस अधिक बढ़ता है । रुधिर से रुधिर । मेद से मेद । वसा से वसा । तरुणास्थि से अस्थि । मज्जा से मज्जा । वीर्य से वीर्य । आम गर्भ (कच्चे गर्भ—अण्डे आदि) से गर्भ ॥ ६ ॥

यत्र त्वेवंलक्षणेन सामान्येन सामान्यवतामाहारविकाराणामसांनिध्यं स्यात् संनिहितानां वाऽप्ययुक्तत्वान्नोपयोगो घृणित्वादन्यस्माद्वा कारणात्, स च धातुरभिवर्धयितव्यः स्यात् तस्य ये समानगुणाः स्युराहारविकारा असेव्याश्च, तत्र समानगुणभूयिष्ठानामन्यप्रकृतीनामप्याहारविकाराणामुपयोगः स्यात्; तद्यथा—शुक्रक्षये क्षीरसर्पिषोरुपयोगो मधुरस्निग्धसमाख्यातानां चापरेषामेव द्रव्याणां, मूत्रक्षये पुनरिक्षुरसवारुणीमण्डद्रवमधुराम्ललवणोपक्लेदिनां, पुरीषक्षये कुल्माषमाषकुष्कुण्डा[1]जमध्ययवशाकधान्याम्लानां, वातक्षये कटुतिक्तकषायरूक्षलघुशीतानां, पित्तक्षयेऽम्ललवणकटुकक्षारोष्णतीक्ष्णानां, श्लेष्मक्षये स्निग्धगुरुमधुरसान्द्रापिच्छिलानां द्रव्याणां; कर्मापि च यद्यद्यस्य धातोर्वृद्धिकरं तत्तदासेव्यं; एवमन्येषामपि शरीरधातूनां सामान्यविपर्ययाभ्यां वृद्धिह्रासौ यथाकालं कार्यौ; इति सर्वधातूनामेकैकशोऽतिदेशतश्च वृद्धिकराणि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ १० ॥

जहां पर इस प्रकार के सामान्य द्वारा (अर्थात् मांस द्वारा मांस की रक्त द्वारा रक्त की वृद्धि होती है इत्यादि नियम द्वारा) जिस धातु पर तत्समान मांस आदि भोज्यपदार्थ न मिले अथवा मिलता भी हो परन्तु अयुक्त होने से घृणायुक्त होने से अथवा अन्य किसी कारण से उपयोग न हो सकता हो परन्तु वह धातु बढ़ानी हो तो उस धातु के सर्वथा समानगुण मांस आदि के सेवन योग्य न होने पर समानगुणबहुल (जिस में अधिक गुण उस धातु के समान हों) अन्य प्रकृति (भिन्न कारण वाले, विजातीय) आहारविकार (भोज्य पदार्थ) का प्रयोग करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि यदि रोगी को उस के किसी मांस रक्त आदि धातु के क्षीण होने पर मांस रक्त आदि का किसी भी कारण

---

१ 'कुष्कुण्डं पलालादिच्छत्रिका' चक्रः ।

सेवन न कराया जा सकता हो तो उस के स्थान पर दूसरे द्रव्यों का उपयोग कराना चाहिये। परन्तु वे द्रव्य वे ही होने चाहियें जिस के बहुसंख्यक गुण उस धातु से मिलते हों। जैसे शुक्र के क्षीण होने पर शुक्र का उपयोग कराना सब से श्रेष्ठ है क्योंकि भक्ष्य शुक्र और वर्धनीय शुक्र के सब गुण तुल्य हैं। अत एव आचार्यों ने नक्रेत बस्ताण्ड आदि का उपयोग वाजीकरणों में लिखा है। परन्तु घृणा के स्वभावतः उत्पन्न होने से बहुत से रोगी सेवन नहीं करते। अतः ऐसे स्थलों पर दूसरे द्रव्य जो कि गुणों में शुक्र से बहुत अधिक मिलते हैं, प्रयोग कराया जाता है। जैसे—शुक्रक्षय में—दूध और घी का उपयोग कराना चाहिये। इसी प्रकार अन्य मधुर स्निग्ध एवं शीतल द्रव्यों का। जैसे—शतावरी मूसली आदि मधुर पिच्छिल अविदाही स्निग्ध शीतल आदि बहुत से गुणों में समान हैं प्रयोग कराया जाता है। दूध आदि द्रव्य विजातीय हैं परन्तु वीर्य के गुणों से बहुत अधिक मिलते हैं अतएव वीर्य को बढ़ाते हैं। मूत्रक्षय में—ईख का रस, वारुणीमण्ड द्रव (Liquid) मधुर अम्ल (खट्टा) लवण तथा उपक्लेदी (शरीर को गीला करने वाले) द्रव्य हितकर हैं। मूत्रक्षय में मूत्र का प्रयोग न हो सके तो इन द्रव्यों की व्यवस्था मूत्रवृद्धि के लिये की जाती है—गुणों में बहुत अधिक समानता होने से। पुरीषक्षय में—कुल्माष (कुलत्थ वा अर्धस्विन्न चने आदि), माष (उड़द), कुष्कुण्ड (?), बकरे का मध्यदेह, जौ, शाक, धान्याम्ल (कांजी भेद) आदि का प्रयोग करना चाहिये। क्योंकि पुरीष का प्रयोग नहीं हो सकता। वातक्षय में—कटु तिक्त कषाय रूक्ष लघु और शीतल द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिये। पित्तक्षय में—खट्टा नमकीन कटु क्षार गरम और तीक्ष्ण द्रव्यों का उपयोग होता है। कफक्षय में—स्निग्ध भारी मधुर सान्द्र (घन) और पिच्छिल (चिपचिपे) द्रव्यों का उपयोग करना चाहिये। कर्म भी जिस २ धातु को बढ़ाने वाला हो उस २ का (उस २ धातु की क्षीणता में) सेवन करना चाहिये।

इसी प्रकार अन्य भी शरीर की धातुओं की समानता और असमानता द्वारा यथा समय वृद्धि और ह्रास करना चाहिये। इस प्रकार सब धातुओं का एक २ कर के (मांसमाप्याय्यते मांसेन इत्यादि द्वारा) तथा अतिदेश द्वारा (एवमन्येषामपि इत्यादि द्वारा) वृद्धिकर भावों (द्रव्य गुण कर्मों) की व्याख्या हो गई है ॥ १० ॥

कात्स्न्येंन शरीरपुष्टिकरास्त्विमे भावाः-कालयोगः स्वभावसंसिद्धिराहारसौष्ठवमविघातश्चेति ॥ ११ ॥

सम्पूर्णतया शरीर को बढ़ाने वाले ये भाव हैं-जैसे काल (साम्वत्सरिक अथवा आवस्थिक) का योग (समयोग), स्वभाव (अथवा अदृष्ट) तथा आहार की श्रेष्ठता, विघातकर भावों का न होना (अयोग अतियोग वा मिथ्यायोग का न होना) ॥ ११ ॥

बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा—बलवत्पुरुषे देशे जन्म बलवत्पुरुषे काले च सुखश्च कालयोगो बीजक्षेत्रगुणसम्पच्चाहारसम्पच्च शरीरसम्पच्च सात्म्यसम्पच्च सत्त्वसम्पच्च स्वभावसंसिद्धिश्च यौवनं च कर्म च संहर्षश्चेति ॥ १२ ॥

बल को बढ़ाने वाले ये भाव हैं—जिस देश में बलवान् पुरुष होते हों उस देश में जन्म होना, जिस काल में (विसर्गकाल तथा यौवन आदि) पुरुष बलवान् होता है उस काल में जन्म होना, सुखजनक काल योग (काल का सम्यग्योग), बीज और क्षेत्र (गर्भाशय) का प्रशस्त गुणों से युक्त होना, आहार की उत्कृष्टता, शरीर की उत्कृष्टता, सात्म्य का प्रशस्तगुण युक्त होना, मन का उत्कृष्ट गुणों से युक्त होना, स्वभावसंसिद्धि (स्वाभाविकीसिद्धि—स्वभावतः कृतकार्यता), यौवन, कर्म (व्यायाम आदि) और संहर्ष (चित्त की प्रसन्नता—शोक आदि से रहित होना) ॥ १२ ॥

आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा—

ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः समयोग[1]श्चेति ॥ १३ ॥

आहार को परिणत करने वाले अर्थात् आहार को पचाकर रस आदि रूप में परिणत करने वाले ये भाव हैं। जैसे—ऊष्मा (गर्मी), वायु, क्लेद (गीलापन), स्नेह (घी आदि), काल और इनका समयोग ॥१३

तत्र तु खल्वेषामूष्मादीनामाहारपरिणामकराणां भावानामिमे कर्मविशेषा भवन्ति। तद्यथा—ऊष्मा पचति, वायुरपकर्षति, क्लेदः शैथिल्यमापादयति, स्नेहो मार्दवं जनयति, कालः पर्याप्तिमभिनिर्वर्तयति; समयोग[2]स्त्वेषां परिणामधातुसाम्यकरः सम्पद्यते॥१४॥

इन आहार को परिणत करने वाले ऊष्मा आदि भावों के ये भिन्न २ कर्म होते हैं। जैसे—ऊष्मा पचाती है। वायु नीचे की ओर खींच कर ले जाती है। क्लेद—अन्न को शिथिल करता है। स्नेह—नरमी को उत्पन्न करता है। काल—उसे सुपक्वरूप में परिणत करता है। इनका समयोग, परिणत होकर उत्पन्न होने वाली धातु की समता को करता है। अर्थात् जो धातुएं क्षीण हुई २ हैं उनकी कमी को पूरा करता है। ग्रहणीचिकित्सा में कहा जायगा—

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति।
तद्द्रवैर्भिन्नसङ्घातं स्नेहेन मृदुतां गतम्॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः पवनेन तु।
काले भुक्तं समं सम्यक्पचत्यायुर्विवृद्धये॥ १४॥

परिणामतस्त्वाहारस्य गुणाः शरीरगुणभावमापद्यन्ते यथासमविरुद्धाः, विरुद्धाश्च विहन्युर्विहताश्च विरोधिभिः शरीरम् १५

परिणाम द्वारा आहार के समान गुण अपने २ अनुसार शरीर के गुणों को प्राप्त होते हैं। अर्थात् जो आहार के गुण हैं वे शरीर के उसी २ समानगुण को बढ़ाते हैं। जो पार्थिव अंश है वह पार्थिव अंश को जो जलीय है वह जलीय को इत्यादि। जो गुरुता स्निग्धता

१ 'संयोगश्चेति' ग०। २ 'संयोगस्त्वेषां' ग.।

आदि है वह शरीर की गुरुता स्निग्धता आदि को। और विरुद्ध गुण शरीर के असमान गुणों को नष्ट करते हैं। विरोधियों द्वारा पराहत हुए २ धातु शरीर को नष्ट करते हैं। अर्थात् धातु क्षीण होते जाते हैं परिणामतः शरीर क्षीण होजाता है ॥ १५ ॥

शरीरधातवः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण—मलभूताः, प्रसादभूताश्च। तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य बाधकराः स्युः; तद्यथा—शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो बहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणो ये चान्येऽपि केचिच्छरीरे तिष्ठन्तो भावाः शरीरस्योपघातायोपपद्यन्ते सर्वांस्तान्मले[1] संप्रचक्ष्महे, इतरांस्तु प्रसादे[2], गुर्वादींश्च द्रवान्तान् गुणभेदेन, रसादींश्च शुक्रान्तान् द्रव्यभेदेन ॥ १६ ॥

संक्षेप में शरीर की धातुएं दो प्रकार की हैं। १ मलभूत २ प्रसादभूत। उनमें से मलरूप वे धातुएं हैं जो शरीर को हानि पहुंचाती हैं। जैसे—शरीर के छिद्रों में पृथक् २ उत्पन्न होने वाले बहिर्मुख मूत्र पुरीष आंख नाक वा कान की मैल आदि। और पकी हुई रसरक्त आदि धातुएं, कुपित हुए २ वात पित्त कफ और जो भी कोई भाव शरीर में स्थित होकर शरीर को हानि पहुंचाते हैं उन सब को 'मलों' में गिनते हैं। और दूसरों को 'प्रसाद' नामकों में। अर्थात् जो शरीर में स्थित शरीर के लिये उपकारक हैं वे 'प्रसाद' कहांयगे। गुण भेद से गुरु लघु आदि द्रव पर्यन्त २० गुणों को तथा द्रव्य भेद से रस से लेकर वीर्य पर्यन्त सात धातुओं को 'प्रसाद' कहेंगे १६

तेषां सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माणो दुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषत्वात्, वातादीनां पुनर्धात्वन्तरे कालान्तरे प्रदुष्टानां विविधाशितपीतीयेऽध्याये विज्ञानान्युक्तानि, एतावत्येव दुष्टदोषगतिर्यावत्संस्पर्शनाच्छरीरधातूनां; प्रकृतिभूतानां खलु वातादीनां फलमारोग्यं, तस्मादेषां प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं बुद्धिमद्भिः ॥१७॥

---

१ 'मलान्' ग. । २ 'प्रसादाख्यान्' ग. ।

उन सब को ही दुष्ट हुए २ वात पित्त कफ दूषित करते हैं क्योंकि उनका स्वभाव दूषित करने का है । अर्थात् प्रसादसंज्ञक और मल नामक जो धातुएं हैं उन्हें दुष्ट हुए २ वात पित्त कफ ही दूषित करते हैं । मूत्र पुरीष आदि शरीर के धारक होते हैं अतः 'धातु' शब्द से कहे जाते हैं । परन्तु जब ये अन्दर रहकर शरीर को हानि पहुंचाने वाले होते हैं और बाहिर निकलने को तय्यार हो जाते हैं तब 'मल' कहाने लगते हैं । कालविशेष वा भिन्न २ धातुओं में कुपित हुए २ वात आदि दोषों के लक्षण विविधाशितपीतीय नामक अध्याय में कह आये हैं । शरीर धातुओं (रस रक्त आदि) के स्पर्श से—उनके साथ योग में आने से दुष्ट हुए २ दोषों की गति इतनी ही है । अर्थात् दुष्ट हुए २ दोष शरीर की धातुओं को ही दूषित कर सकते हैं मन वा आत्मा को नहीं । प्रकृति स्थित (समावस्था में स्थित) वात आदि का फल आरोग्य है । अतएव बुद्धिमान् पुरुष को इन को प्रकृति में लाने वा रखने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ १७ ॥

भवति चात्र ।

सर्वदा सर्वथा सर्वं शरीरं वेद यो भिषक् ।
आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥ १८ ॥

जो चिकित्सक सर्वदा सब प्रकार से सम्पूर्ण शरीर को जानता है, वह ही संसार में सुख को देने वाले आयुर्वेद को सम्पूर्णतया जानता है ॥ १८ ॥

तमेवमुक्तवन्तं[1] भगवन्तमात्रेयमाग्निवेश उवाच—श्रुतमेतद्यदुक्तं भगवता शरीराधिकारे वचः, किंनु खलु गर्भस्याङ्गं पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षौ, कुतोमुखः कथं वा चान्तर्गतस्तिष्ठति, किमाहारश्च वर्तयति, कथंभूतश्च निष्क्रामति, कैश्चायमाहारोपचारै-[2]

---

१ 'एवंवादिनं' च० । २ 'कैश्चायमाहारोपचारैर्जातः सद्यो हन्यते जातस्तु कैश्च्याधिरभिवर्धते' पा० ।

जातस्त्वव्याधिरभिवर्धते, सद्यो हन्यते कैः, किंचास्य देवादिप्रकोपनिमित्ता विकाराः सम्भवन्ति[2] आहोस्विन्न, किंचास्य कालाकालमृत्य्वोर्भावाभावयोर्भगवानध्यवस्यति, किंचास्य परमायुः, कानि चास्य परमायुषो निमित्तानीति ॥ १६ ॥

इस प्रकार जब भगवान् आत्रेय कह चुके तब अग्निवेश ने कहा—आप ने जो शरीराधिकार में उपदेश किया है वह हम ने सुना। अब हमारे ये प्रश्न हैं—

गर्भाशय में गर्भ का सब से पूर्व कौनसा अंग उत्पन्न होता है? गर्भ का मुख किधर होता है और वह किस अवस्था में अन्दर रहता है? किस आहार पर उसका जीवन है? किस प्रकार होकर वह बाहिर निकलता है? उत्पन्न हुआ किन आहार वा उपचारों से नीरोग रहता हुआ वृद्धि को प्राप्त होता है? किन से शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है? क्या देव आदियों के प्रकोप से रोग उत्पन्न होते हैं या नहीं? इस काल मृत्यु और अकालमृत्यु के होने वा न होने में आप का क्या निश्चय है? इस की परम आयु कितनी है? और वह परम आयु किन हेतुओं से होती है?।

ये अग्निवेश ने दस प्रश्न किये; जिन का उत्तर क्रमशः आचार्य देंगे ॥ १६ ॥

तमेवमुक्तवन्तमग्निवेशं भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—पूर्वमुक्तमेतद्गर्भावक्रान्तौ यथाऽयमभिनिर्वर्तते कुक्षौ, यच्चास्य यदा संतिष्ठतेऽङ्गजातं; विप्रतिपत्तिवादास्त्वत्र बहुविधाः सूत्रकारिणामृषीणां सन्ति सर्वेषां,तानपि निबोधोच्यमानान्—शिरः पूर्वमभिनिर्वर्तते कुक्षाविति कुमारशिरा भरद्वाजः पश्यति, सर्वेन्द्रियाणां तदधिष्ठानमिति कृत्वा; हृदयमिति काङ्कायनो बाह्लीकभिषक्, चेतनाधिष्ठानत्वात्; नाभिरिति भद्रकाप्यः, आहारागम

१ 'कथं चास्य' ग० । २ 'उपलभ्यन्ते' ग० ।

इति कृत्वा; पक्वाशयगुदमिति भद्रशौनकः, मारुताधिष्ठानत्वात्; हस्तपादमिति बडिशः, तत्करणत्वात्पुरुषस्य; इन्द्रियाणीति जनको वैदेहः, तान्यस्य बुद्ध्यधिष्ठानानीति कृत्वा; परोक्षत्वादचिन्त्यमिति मारीचिः कश्यपः, सर्वाङ्गनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः, तदुपपन्नं सिद्धत्वात्, सर्वाङ्गाणां तस्य हृदयं मूलमधिष्ठानं च केषांचिद्भावानां, न च तस्मात्पूर्वाभिनिर्वृत्तिरेषां, तस्माद्धृदयपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तिः[1]; सर्वभावा ह्यन्योन्यप्रतिबद्धाः; तस्माद्यथाभूतदर्शनं साधु ॥ २० ॥

१ गर्भाशय में गर्भ का कौनसा अंग सब से पूर्व उत्पन्न होता है—अग्निवेश के प्रश्न कर चुकने पर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा कि पूर्व गर्भावक्रान्ति नामक अध्याय में जिस प्रकार गर्भ गर्भाशय में उत्पन्न होता है कहा जा चुका है और उसका जो अङ्ग जब होता है यह भी कहा जा चुका है। अर्थात् हम पूर्व कह चुके हैं सब इन्द्रियां और सब अङ्ग अवयव युगपत् उत्पन्न होते हैं। परन्तु शास्त्रकर्ता ऋषियों के बहुत से एक दूसरे से विरुद्ध वाद हैं—भिन्न २ मत हैं, उन्हें मैं कहता हूं और उन्हें ध्यान से समझो—

१ कुमारशिरा भरद्वाज समझता है—कि कोख में गर्भ का सब से पूर्व शिर उत्पन्न होता है। क्योंकि वह ही सब इन्द्रियों का आश्रय है।

२ बाह्लीकदेश का चिकित्सक काङ्कायन मानता है कि-हृदय सब से पूर्व उत्पन्न होता है, क्योंकि वह चेतना का अधिष्ठान है।

३ भद्रकाप्य का मत है—कि नाभि सब से पूर्व उत्पन्न होती है, क्योंकि उसी मार्ग से आहार आता है। जिस से गर्भ की पुष्टि वा वृद्धि होती है।

४ भद्रशौनक का विचार है कि पक्वाशय और गुदा सब से पूर्व

---

१ 'सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तत्वाद् हृदयप्रभृतीनां' ग०।

उत्पन्न होते हैं, क्योंकि वह वायु का अधिष्ठान है। वायु के बिना पित्त कफ कुछ नहीं कर सकते।

५ बडिश का मत है—कि हाथ पैर सब से पूर्व उत्पन्न होते हैं। क्योंकि वह उस का करण है—जिस के द्वारा वह चेष्टा करता है।

६ वैदेह जनक का यह निश्चय है—कि इन्द्रियां सब से पूर्व उत्पन्न होती हैं, क्योंकि वे ही बुद्धि वा ज्ञान का अधिष्ठान हैं।

७ मारीचि काश्यप कहता है कि यह बात परोक्ष होने से नहीं कहा जा सकता कि कौन अंग पहले उत्पन्न होता है।

८ धन्वन्तरि का मत है कि सब अंग युगपत् ही उत्पन्न होते हैं। यही मत युक्ति से सिद्ध होने के कारण ठीक है। सुश्रुत शारीरस्थान ३ अध्याय में भी ऋषियों के विप्रतिवाद दिये हैं। और वहीं पर धन्वन्तरि के मत का समाधान भी है। वहां——

'गर्भस्य पूर्वं शिरः सम्भवतीत्याह शौनकः' इत्यादि विभिन्न मतों को दर्शाते हुए अन्त में धन्वन्तरि का मत कहा है—'सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् सम्भवन्तीत्याह धन्वन्तरिर्गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च। तद्यथा—चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथग् दृश्यन्ते कालप्रकर्षात्; तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते सूक्ष्मत्वात्। तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति। एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः; तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति।'

इसकी व्याख्या हमारी रची सञ्जीवनी व्याख्या में देखनी चाहिये।

गर्भ के सब अङ्गों का हृदय मूल (प्रधान वा मुख्य) है और कई भावों (जैसे—ओज आत्मा आदि) का आश्रय है। अतएव इन अंगों की हृदय से पूर्व उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः हृदयपूर्वक तत्काल ही सब अंगों की युगपत् उत्पत्ति होती है। अर्थात् ज्यों ही आत्मा बीज में अवस्थिति करता है त्यों ही हृदय और सब अंग तत्काल

उत्पन्न होने लगते हैं। हृदय चेतना का अधिष्ठान है। इस चेतना के बिना गर्भ की उत्पत्ति वा वृद्धि नहीं होती । अतः ज्यों ही चेतना अवस्थिति करता है त्यों ही हृदय के साथ २ सब अंगों की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाती है । गर्भाशयगत शुक्रशोणित में अवक्रान्त होकर जहां आत्मा अवस्थिति करता है वह हृदय हो जाता है और उसी समय ही सब अंग बनने प्रारम्भ हो जाते हैं। सारे शारीर भाव एक दूसरे के साथ बंधे हुए हैं। परस्पर एक दूसरे के बिना किसी अंग की उत्पत्ति वा वृद्धि नहीं हो सकती। अस्थि सिरा स्नायु मांस धमनी आदि शारीर भाव एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते। अतएव जैसा कहा है वह ठीक है। अर्थात् सब अङ्ग प्रत्यङ्गों की युगपत् उत्पत्ति को मानना ही ठीक है ॥ २० ॥

गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः संकुच्याङ्गान्यास्ते जरायुवृतः कुक्षौ[1] ॥ २१ ॥

गर्भाशय में गर्भ का मुंह किधर होता है और किस अवस्था में अन्दर रहता है—गर्भ माता के पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिरा अंगों को संकुचित कर के जरायु से ढका हुआ कोख में रहता है। अर्थात् गर्भ का मुख अन्दर से माता के पीठ के सामने होता है सिर ऊपर होता है, अंग संकुचित होते हैं। हाथ पैर फैले नहीं होते। उस की स्थिति ऐसी होती है जिस से वह कम से कम जगह घेर सके। शिर ऊपर की ओर होता है और छाती की ओर झुका रहता है । रीढ़ की हड्डी मुड़ी होती है दोनों ऊरू छाती पर और जंघायें ऊरू पर मुड़ी होती हैं। मुठियां बन्द रहती हैं दोनों बाहू छाती पर और एक दूसरे पर सङ्कुचित रहते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अंगों को सङ्कुचित कर गर्भ गर्भशय्या पर लेटा रहता है। सङ्कुचित अंग वाला गर्भ, गर्भोदक और जेर से आवृत होने के कारण अण्डाकार दिखाई देता है।

---

१ 'अन्तःकुक्षौ' च.।

गर्भ के पहले तीन महीनों में गर्भ का शिर ऊपर को रहता है और धड़ नीचे को क्रमशः पिछले महीनों में शिर नीचे की ओर आजाता है और नितम्ब ऊपर को चले जाते हैं। सुश्रुत शारीर अध्याय ५ में—

'आसुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥ २१ ॥

व्यपगतपिपासाबुभुक्षस्तु खलु गर्भः परतन्त्रवृत्तिः, मातरमाश्रित्य वर्तयत्युपस्नेहोपस्वेदाभ्यां गर्भस्तु सदसद्भूताङ्गावयवः, तदनन्तरं ह्यस्य लोमकूपायनैरुपस्नेहः कश्चिन्नाभिनाड्ययनैः; नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता, नाड्यां चापरा, अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभिसंप्लवते सिराभिः स्यन्दमानाभिः, स तस्य रसो सर्वबलवर्णकरः सम्पद्यते, स च सर्वरसवानाहारः स्त्रिया ह्यापन्नगर्भायास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते स्वशरीरपुष्टये स्तन्याय गर्भवृद्धये च, स तेनाहारेणोपस्तब्धः परतन्त्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्तयत्यन्तर्गतः ॥ २२ ॥

क्या खाता हुआ जीवित रहता है—गर्भ को प्यास और भूख नहीं होती। उसका जीवन पराधीन होता है—माता के आधीन होता है। वह सत् और असत् (सूक्ष्म) अङ्गावयव वाला गर्भ माता पर आश्रित हुआ २ उपस्नेह (रिस कर आये रस) और उपस्वेद (ऊष्मा) से जीवित रहता है। जब अङ्गावयव व्यक्त होजाते हैं—स्थूलरूप में आजाते हैं तब कुछ तो लोमकूप के मार्ग से उपस्नेह होता है और कुछ नाभिनाडी के मार्गों से। गर्भ की नाभि पर नाडी लगी होती है। नाडी के साथ अपरा (Placenta) जुड़ी रहती है। और अपरा का सम्बन्ध माता के हृदय के साथ रहता है। गर्भ की माता का हृदय स्यन्दमान (वहती हुई—वहन करती हुई) सिराओं द्वारा उस अपरा को रक्त वा रस से

---

१ 'बुभुक्षुणः' च.।

भरपूर किये रहता है । वह रस गर्भ के बल एवं वर्ण को करने वाला होता है । सब रसों से युक्त आहार रस गर्भिणी स्त्री में तीन भागों में बंट जाता है । एक भाग उसके अपने शरीर की पुष्टि के लिये होता है । दूसरा भाग दुग्धोत्पत्ति के लिये और तीसरा भाग गर्भ की वृद्धि के लिये होता है । वह गर्भ उस आहार से परिपालित होता हुआ पराधीन जीवन वाला माता पर आश्रित होकर गर्भ में जीवित रहता है। गर्भ गर्भाशय की भित्ति से नाभिनाडी द्वारा लटका रहता है । यह नाभिनाडी कई नालियों से मिलकर बनती है जिन में से तीन मुख्य हैं। दो अशुद्ध रक्तवाहिनियां और एक शुद्ध रक्तवाहिनी । ये सब एक लेसदार पदार्थ से जुड़ी रहती हैं और इन पर एक आवरण चढ़ा रहता है । ये रक्तवाहिनियां अपरा में जा कर अनेक सूक्ष्म शाखाओं में विभक्त हो जाती हैं । गर्भ के बाह्य आवरण के प्रत्येक अंकुर में छोटी शाखाएं रहती हैं। जिस स्थान पर गर्भ नाडी द्वारा गर्भाशय में लटक रहा होता है अपरा होती है । यह अपरा माता के रक्त से भरपूर रहती है । इस में रक्त से भरे हुए बहुत से छोटे २ स्थान होते हैं । गर्भ के बाह्यावरण के अंकुर इन्हीं में डूबे रहते हैं । यह अपरा गर्भाशय की श्लैष्मिक कला से बनती है । सामान्यतः अपरा गर्भाशय के ऊर्ध्वांश में या उसकी अगली वा पिछली भित्ति में बनती है ॥

चौथे सप्ताह तक अर्थात् जब तक गर्भ के अङ्गावयव सत् (विद्यमान् होने से) असत् (सूक्ष्म होने से) होते हैं, उस समय तक गर्भ अपने आहार को गर्भाशय की श्लैष्मिक कला से ग्रहण करता है । श्लैष्मिक कला में रक्त और रस होता है वह रिस करके उसका पालन करता है । चौथे सप्ताह के पश्चात् अपरा स्पष्ट बननी प्रारम्भ होती है और उसमें के छोटे २ अवकाश स्थान रक्त से पूर्ण होते हैं । बाह्यावरण में जो अंकुर होते हैं उनमें बनी रक्तवाहिनियां उस रक्त में स्थित आवश्यक पदार्थों को खींच कर गर्भ में पहुंचाती है । तीसरे महीने

में अच्छी तरह अपरा बन जाती हैं। अब केवल नाभिनाड़ी की रक्तवाहिनियां अपरा से पोषक पदार्थों को ग्रहण करती हैं। गर्भ अपरा द्वारा माता से सम्बद्ध रहता है। यह अपरा रक्त के शोधन का कार्य भी करता है। गर्भ का रक्त दो अशुद्ध रक्तवाहिनियों से अपरा में जाता है और शुद्ध रक्त अपरा से शुद्ध रक्तवाहिनी द्वारा गर्भ में पहुंचता है ॥ २२ ॥

स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात्परिवृत्त्या-ऽवाक्शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन; एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुन-रतोऽन्यथा; परं त्वतः स्वतन्त्रवृत्तिर्भवति ॥ २३ ॥

वह गर्भ जन्म (प्रसव) का समय उपस्थित होने पर प्रसूति-मारुत द्वारा स्थिति को बदल लेता है और शिर नीचे होता है। शिर द्वारा ही वह सन्तानमार्ग वा योनि से बाहिर निकलता है। जिस वायु द्वारा प्रसव होता है उसे प्रसूतिमारुत कहते हैं। यह प्रकृति है। इस से विपरीत विकृति कहाती है। अर्थात् शिरद्वारा गर्भ का प्रसव न होना अर्थात् प्रसव समय शिर का अन्य अङ्गों की अपेक्षा सब से पूर्व आना स्वाभाविक अवस्था है। यदि गर्भ के नितम्ब स्कन्ध हाथ पैर आदि प्रसव के समय पूर्व बाहिर निकलें तो वह विकृति कहायगी। जब प्रसव हो जाता है तो स्वतन्त्रवृत्ति होता है उस का जीवन स्वाधीन होता है। सांस आदि लेने लगता है। हृदय अपना कार्य करता है। फुप्फुस द्वारा रक्तशोधन का कार्य होने लगता है। आहार—मातृदुग्ध को पीता और स्वयं पचाता है इत्यादि ॥ २३ ॥

तस्याहारोपचारौ जातिसूत्रीयोपदिष्टावविकारकरौ चाभि-वृद्धिकरौ भवतः। ताभ्यामेव च (सेविताभ्यां) विषमाभ्यां जातः सद्यो हन्यते तरुरिवाचिरव्यपरोपितो वातातपाभ्याम-प्रतिष्ठितमूलः ॥ २४ ॥

१ 'परिवर्त्य' ग.।

किन आहार और उपचारों से गर्भ वृद्धि को प्राप्त होता है—जातिसूत्रीय नामक अष्टम अध्याय में कहे गये आहार और उपचार विकारों को नहीं करते और गर्भ के वर्धक होते हैं ॥

विषम आहार उपचार के सेवन से जात (गर्भाशय में उत्पन्न) गर्भ भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है । जैसे ताज़ा ही रोपण किया हुआ वृक्ष वा पौधा जिस की जड़ अभी स्थिर नहीं हुई वायु और धूप से नष्ट हो जाता है । अर्थात् यदि अहितकर आहार और उपचार का गर्भिणी सेवन करेगी तो गर्भ नष्ट हो जायगा वा मर जायगा ॥ २४ ॥

आप्तोपदेशाददद्भुतरूपदर्शनात्समुत्थानलिङ्गचिकित्सितविशेषाच्चादोषप्रकोपानुरूपा देवादिप्रकोपनिमित्ता विकाराः समुपलभ्यन्ते ॥ २५ ॥

क्या देव आदियों के प्रकोप से विकार उत्पन्न होते हैं—आप्तपुरुषों के उपदेश से, अद्भुत रूपों के दीखने से अर्थात् बल हावभाव आदि के अमानुष रूप में देखे जाने से तथा निदान लक्षण और चिकित्सा के भिन्न होने से दोषप्रकोप जन्य रोगों से भिन्न, देव आदियों के कोप के कारण उत्पन्न होने वाले विकार पाये जाते हैं ॥ २५ ॥

कालाकालमृत्य्वोस्तु खलु भावाभावयोरिदमध्यवसितं नः-यः कश्चिन्म्रियते स काल एव म्रियते, न हि कालच्छिद्रमस्तीत्येके; तच्चासम्यक्, न ह्यच्छिद्रता सच्छिद्रता वा कालस्योपपद्यते, कालस्वलक्षणस्वभावात्[1]; तथाऽऽहुरपरे—यो यदा म्रियते स तस्य नियतो मृत्युकालः; स सर्वभूतानां सत्यः, समक्रियत्वादिति; एतदपि चान्यथाऽर्थग्रहणं, न हि कश्चिन्न म्रियत इति समक्रियः; कालः पुनरायुषः प्रमाणमधिकृत्योच्यते; यस्य चेष्टं यो यदा म्रियते तस्य स नियतो मृत्युकाल इति, तस्य सर्वभावा यथास्वं नियतकाला भविष्यन्ति; तच्च नोपपद्यते, प्रत्यक्षं

१ 'कालस्वलक्षणेऽभावात्' इति पाठान्तरम् ।

ह्यकालाहारवचनकर्मणां फलमनिष्टं, विपर्यये चेष्टं, प्रत्यक्षतश्चोपलभ्यते खलु कालाकालयुक्तिस्तासु तास्ववस्थासु तं तमर्थमभिसमीक्ष्य; तद्यथा—कालोऽयमस्य तु व्याधेराहारस्यौषधस्य प्रतिकर्मणो विसर्गस्य चाकालो वेति; लोकेऽप्येतद्भवति काले देवो वर्षत्यकाले देवो वर्षति, काले शीतमकाले शीतं, काले तपत्यकाले तपति, काले पुष्पफलमकाले च पुष्पफलमिति; तस्मादुभयमस्ति काले मृत्युरकाले च, नैकान्तिकं; यदि ह्यकाले मृत्युर्न स्यान्नियतकालप्रमाणमायुः सर्वं स्यात्; एवं गते हिताहितज्ञानमकारणं स्यात्प्रत्यक्षानुमानोपदेशाश्चाप्रमाणानि स्युर्ये प्रमाणभूताः सर्वतन्त्रेषु, यैरायुष्याण्यनायुष्याणि चोपलभ्यन्ते; वाग्वस्तुमात्रमेतद्वादमृषयो मन्यन्ते यदुच्यते—नाकालमृत्युरस्तीति ॥ २६ ॥

कालमृत्यु वा अकालमृत्यु होती है या नहीं होती—इस विषय में हमारा यह निश्चय है—जो कोई भी प्राणी मरता है वह काल में ही मरता है क्योंकि काल में कोई अवकाश नहीं—ऐसा कई कहते हैं। वह ठीक नहीं। क्योंकि काल का छिद्रयुक्त होना वा न होना युक्तिसंगत ही नहीं, काल के अपने लक्षण वाला स्वभाव होने से। अर्थात् काल के बीच में कोई (छिद्र अवकाश) ही नहीं आता। जिसे हम अकाल कह सकें। इस लिये जो भी कोई मरेगा वह काल में ही मरेगा। परन्तु यह मत ठीक नहीं। क्योंकि हम उसे सच्छिद्र वा अच्छिद्र कह ही नहीं सकते। अवयववान् द्रव्य ही सच्छिद्र हो सकता है। काल अवयववान् नहीं अतः सच्छिद्र नहीं। और जो अवयववान् द्रव्य अवकाशरहित होता है उसे अच्छिद्र कहते हैं। अतः निरवयव काल सच्छिद्र वा अच्छिद्र नहीं हो सकता। अथवा काल के निरन्तर चक्रवत् भ्रमण करने का स्वभाव होने से उसकी अच्छिद्रता वा सच्छिद्रता नहीं हो सकती। निरन्तर चक्रवत् भ्रमण

करने से वह सच्छिद्र (सावकाश) तो है ही नहीं। एवं छह ऋतु–मास–पक्ष–दिन–प्रहर आदि अपने लक्षण के कारण इसे अच्छिद्र भी नहीं कह सकते। अतः काल में छिद्र नहीं इस हेतु द्वारा कालमृत्यु मानने वालों का मत अमान्य है॥

दूसरे कहते हैं कि जो जिस समय मरता है वही उसका निश्चित मृत्यु का काल है। सब प्राणियों का यह काल सत्य है—नियत है। क्योंकि कालद्वारा की गई मरणरूप क्रिया सब के लिए एक समान है। अतः मृत्यु का काल नियत है। अर्थात् ऐसा कोई प्राणी नहीं जो न मरता हो। अतः मृत्यु सब के लिए नियत है। चाहे वह सौ बरस बाद मरे चाहे उस से पहिले मरे। जिस काल में भी वह मरता है वह मृत्युकाल नियत है। काल, राग और द्वेष से किसी को मारता हो किसी को नहीं यह बात नहीं। वह रागद्वेषशून्य—प्राक्तनकर्मानुसार सब को मारता है अतः सत्य है अतएव नियत है। अतः अकाल मृत्यु नहीं होती।

इस पक्ष वाले भी अभिप्राय को ठीक नहीं समझते। क्योंकि सब प्राणी मरते हैं। काल किसी को अनुग्रह से जीवित नहीं रखता और न द्वेष से मारता है अतएव काल को समक्रिय कहते हैं। समक्रिय होने से मृत्युकाल नियत नहीं माना जा सकता। आयु के प्रमाण को दृष्टि में रख कर काल कहा जाता है। जैसे इस युग के प्रारम्भ में आयु १०० बरस नियत है। सौ बरस का होकर मरना कालमृत्यु कहाती है और इस से कम अकाल मृत्यु। कहा भी है—

एकोत्तरं मृत्युशतमस्मिन् देहे प्रतिष्ठितम्।
तत्रैकः कालसंयुक्तः शेषास्त्वागन्तवः स्मृताः॥

अर्थात् इस देह में १०१ मृत्यु प्रतिष्ठित हैं। जिनमें से एक कालमृत्यु है शेष अकाल मृत्युएं हैं।

जो यह ही मानता है कि जो जब मरता है वही उसका मृत्यु का निश्चित काल है उसके मत से तो सब भाव अपने २ अनुसार नियत काल होंगे । जैसे सब ही खाते हैं अतः भोजन के नियत होने से जो जब भी खाये उस का वही भोजन काल नियत होगा। अतः काल से पूर्व का वा काल से पश्चात् का भोजन भी कालभोजन होगा। परन्तु यह युक्ति संगत नहीं क्योंकि जब वह कालभोजन है तो अकाल भोजन जन्य अहित भी न होगा। क्योंकि भोजन के लिये अकाल तो है ही नहीं, जब खायगा तभी भोजनकाल होगा । परन्तु होता है। अकाल में किये गये आहार वचन वा कर्म से अनिष्ट फल प्रत्यक्ष होता है। और काल में किये गये आहार, काल में बोले गये वचन तथा काल में किये गये कर्म से इच्छित फल की प्राप्ति होती है।

उन २ अवस्थाओं में उस २ विषय को दृष्टि में रखते हुए काल और अकाल की योजना प्रत्यक्ष ही पाई जाती है । जैसे—यह इस रोग का काल है, यह अकाल है। यह इस आहार का काल है, यह अकाल है। यह इस औषध का काल है, यह अकाल है। यह इस चिकित्सा का काल है, यह अकाल है। यह इस रोग से मुक्त होने का काल है, यह अकाल है। लोक में भी इसी प्रकार देखा जाता है—काल में वर्षा होती है, अकाल में वर्षा होती है । काल में शीत है, अकाल में शीत है। काल में ताप वा गर्मी है, अकाल में ताप है। काल में (मौसम) फूल और फल हैं, अकाल में फूल और फल हैं। अतएव काल में भी मृत्यु होती है अकाल में भी । यदि अकाल में मृत्यु न हो तो सब की आयु के काल का प्रमाण नियत होना चाहिये। आयु के काल का प्रमाण नियत होने से हित और अहित का ज्ञान निष्प्रयोजन होगा। क्योंकि हित सेवन से कोई लाभ नहीं और अहित सेवन से कोई हानि नहीं। हित वा अहित के सेवन से आयु न बढ़ेगी न घटेगी ही। और अतएव सब शास्त्रों में प्रमाण रूप से स्वीकार किये हुए प्रत्यक्ष अनुमान और उपदेश अप्रमाण होंगे क्योंकि इन्हीं के

द्वारा आयुष्य तथा अनायुष्य भावों का ज्ञान होता है। आयु के काल का प्रमाण नियत होगा तो न कोई भाव आयुष्कर होगा न अनायुष्कर। अतएव इन के ज्ञापक प्रमाण भी अप्रमाण होंगे। अतः 'अकालमृत्यु नहीं है' यह केवल असार कथामात्र ही है ऐसा ऋषि मानते हैं॥२६॥

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले ॥ २७ ॥

इस की परम आयु क्या है—इस काल में (कलियुग के प्रारम्भ में) आयु का प्रमाण १०० वर्ष है ॥ २७ ॥

तस्य निमित्तं प्रकृतिगुणात्मसम्पत्सात्म्योपसेवनं चेति २८

इस परम आयु के हेतु क्या हैं—प्रकृति की उत्कृष्टता अर्थात् सम वात पित्त कफ का होना, गुणसम्पत् (शरीर का सार संहनन आदि आदि प्रशस्त गुणों से युक्त होना), आत्मसंपत् (पूर्ण आयु के कारण भूत प्रशस्त धर्म का होना) तथा सात्म्य का सेवन; ये परम आयु के हेतु हैं। इन से पूर्ण आयु को भोगता है। अथवा 'प्रकृति-गुणसम्पत्' इकट्ठा ग्रहण कर सकते हैं अर्थात् गर्भोत्पादक शुक्रशोणित की उत्कृष्टता से आयु पूर्ण होती है ॥ २८ ॥

तत्र श्लोकाः ।

शरीरं यद्यथा तच्च वर्तते क्लिष्टमामयैः ।
यथा क्लेशं विनाशं च याति ये चास्य धातवः ॥ २९ ॥
वृद्धिह्रासौ यथा तेषां क्षीणानामौषधं च यत् ।
देहवृद्धिकरा भावा बलवृद्धिकराश्च ये ॥ ३० ॥
परिणामकरा भावा या च तेषां पृथक्क्रिया ।
मलाख्याः सम्प्रसादाख्या धातवः प्रश्न एव च ॥ ३१ ॥
नवको निर्णयश्चास्य विधिवत्सम्प्रकाशितः ।
तथ्यः शरीरविचये शारीरे परमर्षिणा ॥ ३२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने शरीरविचय-शारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

शरीर जिसे कहते हैं। और वह शरीर जिस प्रकार रोगों से पीड़ित होता है। जिस प्रकार रुग्ण वा दुःखी रहता है और जैसे विनष्ट होता है। जो इसकी धातुएं हैं। जिस प्रकार उन में वृद्धि वा न्यूनता होती है। क्षीण हुए धातुओं की औषध। देह के वर्धक तथा बलवर्धक भाव। आहार को परिणत करने वाले भाव और उन भावों के पृथक् २ कर्म। मलनामक और प्रसाद नामक धातु। नौ प्रश्न और उनका सत्य निर्णय। इन सब विषयों को परमर्षि ने शरीरविचय नामक शारीर में विधिवत् प्रकाशित कर दिया है॥ २६-३२॥

इति षष्ठोऽध्यायः

सप्तमोऽध्यायः।

अथातः शरीरसंख्यां[1]शारीरं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ १॥

अब शरीर संख्या नामक शारीर की व्याख्या होगी—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था॥ १॥

शरीरसंख्यामवयवशः ([2]कृत्स्नं) शरीरं प्रविभज्य सर्वशरीरसंख्यानप्रमाणज्ञानहेतोर्भगवन्तमात्रेयमग्निवेशः पप्रच्छ॥

सम्पूर्ण शरीर को अवयवों में विभक्त कर के सम्पूर्ण शरीर के ज्ञान और उसके प्रमाण को जानने के लिये अग्निवेश ने भगवान् आत्रेय से शरीर की संख्या (अथवा विज्ञान) को पूछा॥ २॥

तमुवाच भगवानात्रेयः—शृणु मत्तोऽग्निवेश! [3]सर्वशरीरमभिचक्षाणाद्यथाप्रश्नमेकमना यथावत्॥ ३॥

भगवान् आत्रेय ने उसे कहा—हे अग्निवेश! प्रश्न के अनुसार सम्पूर्ण शरीर की व्याख्या को मुझ से एकाग्रमन होकर सुन॥ ३॥

---

१ 'संख्यानाम शारीरं' ग.। २ एतच्चक्रासम्मतम्। ३ 'सर्वशरीरमाचक्षाणस्य' च.। 'आचक्षाणस्येत्यत्र 'मतं' इति शेषः' चक्रः।

शरीरे षट् त्वचः; तद्यथा—उदकधरा त्वग्बाह्या, द्वितीया त्वगसृग्धरा, तृतीया सिध्मकिलाससम्भवाधिष्ठाना, चतुर्थी दद्रुकुष्ठसम्भवाधिष्ठाना, पञ्चम्यलजीविद्रधीसम्भवाधिष्ठाना, षष्ठी तु यस्यां छिन्नायां ताम्यत्यन्ध इव च तमः प्रविशति यां चाप्यधिष्ठायारूंषि जायन्ते पर्वसु कृष्णरक्तानि स्थूलमूलानि दुश्चिकित्स्यतमानि चेति षट् त्वचः; एताः षडङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति ॥ ४ ॥

त्वचायें—शरीर में छह त्वचायें हैं। पहली बाहर की त्वचा उदकधरा (जल का धारण करने वाली), दूसरी—असृग्धरा (रक्त को धारण करने वाली), तीसरी सिध्म किलास की उत्पत्ति की आश्रय है, चौथी दाद कुष्ठ की उत्पत्ति की आश्रय है, पांचवीं अलजी विद्रधि की उत्पत्ति की आश्रय है, छठीं वह जिस के कटने पर अन्धकार से युक्त होता है—जैसे अन्धे को अन्धकार ही अन्धकार प्रतीत होता है वैसे ही उसे चारों ओर अन्धकार दिखाई देता है और जिसका आश्रय करके पर्वों पर काली लाल अत्यन्त स्थूल मूल वाली कष्टसाध्य फोड़े फुन्सियां होती हैं। ये छह त्वचायें हैं। ये त्वचायें छह अङ्गों वाले अर्थात् सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त किये रहती हैं।

आजकल के शारीर शास्त्र के अनुसार बाहिर की त्वचा की पांच स्तरें होती हैं। त्वचा को स्तरों में विभक्त करना बनावट और प्रयोजन के अनुसार होता है। महर्षि आत्रेय के अनुसार जो त्वचा ऊपर २ दिखाई देती है उस का नाम उदकधरा है। यह अन्दर के जल को बाहिर नहीं फूटने देती और बाहिर की क्लिन्नता (Moisture) को अन्दर नहीं जाने देती। अतएव उदकधरा कहाती है।

Furneaux ने Human physiology में लिखा है—

The epidermis being impermeable to moisture, serves to protect the living tissues beneath it against the absorption of poisons. When it is perfect, poisonous substances may be freely handled; but these substances readily absorbed into the blood when the

cuticle is cut, or when a small portion of it has been torn off. In a similiar way it also serves to prevent the moisture of the tissues from oozing outwards and so being lost by evaporation.

अर्थात् बाह्यत्वक् में से नमी पार नहीं कर सकती अतः ये अपने नीचे के अवयवों को विषों से बचाये रखती है। जब यह त्वचा पूर्ण हो हम विषों को निडर होकर स्पर्श कर सकते हैं। परन्तु यदि यह कहीं से कटी वा छिली हो तो विष अत्यन्त शीघ्र अन्दर रक्त में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार यह बाह्य त्वचा अन्तः स्थित धातुओं की नमी को भी बाहिर नहीं निकलने देती। अन्यथा बाष्पीकरण द्वारा वह नमी उड़ती रहे। जिस से धातु क्षीण हो जायंगे। अतएव विमानस्थान में आचार्य कह आये हैं 'जलं स्तम्भनीयानाम्।' 'स्तम्भनीय पदार्थों में जल श्रेष्ठ है' अर्थात् धातुस्थित जल का अवश्य स्तम्भन करना चाहिये।

तथा च इस में रक्तकेशिकायें नहीं होती और नीचे के चर्म में स्थित लसीका (रस) से इस का पोषण होता है अतः भी ये उदकधरा कहाती है।

इस में नीचे की जो मोटी स्तरें होती हैं उन में एक प्रकार का रंग निक्षिप्त रहता है जिस के कारण मनुष्य का वर्ण गेंहुआ काला आदि कहा जाता है। यदि हम बाह्यत्वक् में से सुई डालें तो कोई रक्त नहीं निकलता।

मोटे तौर पर आजकल के शारीरविज्ञानियों ने त्वचा को दो भागों में विभक्त किया है। एक उपचर्म (epidermis) और दूसरा चर्म (Dermis)। उपचर्म में पांच स्तरें होती हैं और चर्म में दो। चर्म में रक्तवाहिनियां वातनाडियां तथा वसा आदि रहती हैं। सब से नीचे की स्तर में वसा बहुत अधिक होती है और इसी के दुष्ट होने पर कष्टसाध्य फोड़े फुंसियां निकलती हैं। चर्म में ही सांवेदनिक उभार

होते हैं जिस से स्पर्श पीड़ा ताप शीत आदि जाना जाता है । सामूहिक त्वचा (Skin) को भिन्न २ स्तरों में बांटना अपने २ प्रयोजन के अनुसार होता है । सुश्रुत ७ त्वचायें मानता है । जिन के नाम उस ने १ अवभासिनी २ लोहिता ३ श्वेता ४ ताम्रा ५ वेदिनी ६ रोहिणी और ७ मांसधरा दिये हैं । इन का विशेष विवरण सुश्रुत शारीरस्थान ४र्थ अध्याय में ही देखें ॥ ४ ॥

तत्रायं शरीरस्याङ्गविभागः । तद्यथा—द्वौ बाहू, द्वे सक्थिनी, शिरोग्रीवं, अन्तराधिरिति षडङ्गमङ्गम् ॥ ५ ॥

शरीर के अङ्गों का विभाग—दो बाहू+दो टांगें+शिर और ग्रीवा+मध्य देह ये मिला कर ६ अङ्ग होते हैं । यहां शिर और ग्रीवा मिला कर एक लिया जाता है । शरीर के ये ६ अङ्ग हैं । सुश्रुत शारीर ५ अ० में भी कहा है—

'तच्च षडङ्गम् । शाखाश्चतस्रो मध्यं पञ्चमं षष्ठं शिर इति ।' ५ ॥

त्रीणि षष्ट्यधिकानि[1] शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखैः[2]; तद्यथा—द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखानि, विंशतिर्नखाः, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, चत्वार्यधिष्ठानान्यासां, चत्वारि पाणिपादपृष्ठानि, षष्टिरङ्गुल्यस्थीनि, द्वे पाष्ण्योः, द्वे कूर्चाधः, चत्वारः पाण्योर्मणिकाः, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुनोः, द्वे कूर्परयोः,

---

१ 'षष्ठानि' च. । २ 'द्वात्रिंशद्दन्ताः, द्वात्रिंशद्दन्तोलूखानि, विंशतिर्नखाः, षष्टिः पाणिपादांगुल्यस्थीनि, विंशतिः पाणिपादशलाकाः, चत्वारि पाणिपादशलाकाधिष्ठानानि, द्वे पाष्ण्योरस्थिनी, चत्वारः पादयोर्गुल्फाः, द्वौ मणिकौ हस्तयोः, चत्वार्यरत्न्योरस्थीनि, चत्वारि जङ्घयोः, द्वे जानुकपालिके, द्वावूरुनलकौ, द्वावंसौ द्वे अंसफलके, द्वावक्षकौ, एकं जत्रु, द्वे तालुषके, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पञ्चचत्वारिंशत्पृष्ठगतान्यस्थीनि, पञ्चदश ग्रीवायां, चतुर्दशोरसि, द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः, पार्श्वयोस्तावन्ति चैव स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, एकास्थि नासिकागण्डकूटललाटं, द्वौ शङ्खौ, चत्वारि शिरःकपालानीति, एवं त्रीणि षष्ठानि शतान्यस्थ्नां सह दन्तनखेनेति' च. ।

द्वे ऊर्वोः, बाह्वोः सांसयोर्द्वे, द्वावक्षकौ, द्वे तालुनी, द्वे श्रोणिफलके, एकं भगास्थि, पुंसां मेढ्रास्थि, एकं त्रिकसंश्रितमेकं गुदास्थि, पृष्ठगतानि पञ्चत्रिंशत्, पञ्चदशास्थीनि ग्रीवायां, द्वे जत्रुणि, एकं हन्वस्थि, द्वे हनुमूलबन्धने, द्वे ललाटे, द्वे अक्ष्णोः, गण्डयोर्द्वे, नासिकायां त्रीणि घोणाख्यानि, द्वयोः पार्श्वयोर्तुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिः पञ्जरास्थीनि च पार्श्वकानि, तावन्ति चैषां स्थालिकान्यर्बुदाकाराणि तानि द्विसप्ततिः, द्वौ शङ्खकौ, चत्वारि शिरःकपालानि, वक्षसि सप्तदश, इति त्रीणि षष्ट्यधिकानि शतान्यस्थ्नामिति ॥ ६ ॥

हड्डियों का परिगणन—दांत दांत के उलूखल और नखों को मिलाकर ३६० अस्थियां होती हैं ।

दांत	३२
दांत के उलूखल	३२
नख	२०
हाथ और पैर की शलाकास्थियां[1] (Metacarpus and Metatarsus bones	२०
अंगुली की हड्डियां	६०
पार्ष्णिदेश की अस्थियां	२
कूर्च के नीचे	२
हाथ के मणिबन्ध देश की (मणिकास्थि)	४
पैरों की गुल्फास्थियां	४
	१७६

१ हाथ और पैर की शलाकास्थियों के पश्चात् शलाकाओं के अधिष्ठान की अस्थियां ४ और हाथ पैर की पृष्ठास्थियां ४ पढ़ी हैं । पर वह प्रमाद पाठ ही है क्योंकि इनसे अस्थि संख्या बढ़ जाती है । और ना ही ये कोई अस्थियां सिद्ध की जा सकती हैं ॥

	१७६
अरत्नि (प्रबाहु) की अस्थियां	४
जङ्घाओं की अस्थियां	४
जानुदेश (गोडों) की अस्थियां	२
कोहनी की अस्थियां	२
ऊरुदेश की अस्थियां	२
अंसयुक्त बाहुओं की अस्थियां	२
अक्षकास्थियां (हंसली की हड्डियां)	२
तालु में	२
श्रोणिफलक (os innominatum)	२
भगास्थि वा मेढ्रास्थि	१
त्रिक देश में आश्रित	१
गुदास्थि	१
पीठ की हड्डियां	३५
गर्दन में	१५
जत्रुदेश में	२
हन्वस्थि	१
हनुमूल को बांधने वाली	२
मस्तक में	२
आंखों में	२
गण्ड (गाल) देश में	२
नाक में घोणास्थियां	३
दोनों पार्श्वों में पृथक् पृथक् चौबीस अस्थियां (पञ्जरास्थियां और पार्श्वकास्थियां) ४८ } और इतने ही (२४ ही) अर्बुदाकृति स्थालक २४ }	ये मिलाकर ७२ होती हैं
१८२	३३७

	३३७
शङ्खकास्थियां	२
शिरःकपालास्थियां	४
छाती में उरोऽस्थि	१७
इस प्रकार मिलाकर कुल	३६० होती हैं

चक्रपाणि के पाठ के अनुसार—

दांत	३२
दन्तोलूखल	३२
नख	२०
पाणिपादशलाका	२०
हाथ पैर की अंगुल्यस्थियां	६०
इन के अधिष्ठान	४
पार्ष्णि की अस्थियां	२
पैर की गुल्फास्थियां	४
हाथ की मणिकास्थियां	२
अरत्नि की अस्थियां	४
जङ्घास्थियां	४
जानुकपालिकायें	२
ऊरुनलक (ऊर्वस्थियां)	२
बाहुनलक (बाहु की अस्थियां)	२
अंसास्थि	२
अंसफलकास्थि	२
अक्षकास्थि	२
जत्रु की अस्थि	१
	१९७

	१६७
तालुषक (तालु की अस्थि)	२
श्रोणिफलक (नितम्बास्थि)	२
भगास्थि	१
पीठ की अस्थियां	३५
ग्रीवा की अस्थियां	१५
छाती की अस्थियां (उरोऽस्थियां)	१४
दोनों पार्श्वों में	२४
पार्श्वों में स्थालक	२४
स्थालकार्बुद	२४
हन्वस्थि	१
हनुमूलबन्धनास्थियां	२
नासिकास्थि	१
गण्डकूटास्थि	१
ललाटास्थि	१
शंखास्थि	२
शिरःकपालास्थियां	४
इस प्रकार कुल	३६० होती हैं

योगीन्द्रनाथ ने यह पाठान्तर पढ़ा है—

'द्वात्रिंशद्दन्ताः । द्वात्रिंशद्दन्तोलूखलानि । विंशतिर्नखाः । षष्टिः पाणिपादांगुल्यस्थीनि । विंशतिः पाणिपादशलाकाः । चत्वार्यधिष्ठानान्यासाम् । पाणिपादपृष्ठान्यष्टौ । द्वे पार्ष्ण्योरस्थिनी । द्वे कूर्चयोः । चत्वारः पाण्योर्मणिकाः । चत्वारः पादयोर्गुल्फाः । चत्वार्यरत्न्योः । चत्वारि जङ्घयोः । द्वे जानुनोः कपालिके । द्वे कूर्परयोः । द्वावूरुनलकौ । द्वौ बाहुनलकौ । द्वावक्षकौ । द्वे अंसास्थिनी । द्वे अंसफलके ।

एकं जत्र्वस्थि। द्वे श्रोणिफलके। एकं भगास्थि स्त्रियाः, पुंसस्तु मेढ्रास्थि। एकं त्रिकसंश्रितम्। त्रिंशत् पृष्ठगतान्यस्थीनि। अष्टावुरसि ग्रीवायां त्रयोदश। कण्ठनाड्यां चत्वारि। एकं तालुनि। द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः। तावन्ति स्थालकानि। तावन्ति च स्थालकार्बुदानि। द्वे हनुमूलबन्धने। गण्डयोर्द्वे। कर्णयोर्द्वे। त्रीणि नासिकायां। द्वौ शङ्खौ। षट् शिरःकपालानि। इति त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थामिति॥

इसके अनुसार—

दांत	३२
दन्तोदूखल	३२
नख	२०
हाथ पैर की अंगुलियों की अस्थियां	६०
हाथ पैर की शलाकास्थियां	२०
इन के अधिष्ठान	४
हाथ पैर की पृष्ठास्थियां	८
पार्ष्णि की अस्थियां	२
कूर्चास्थियां	२
हाथ की मणिकायें	४
पैर के गुल्फ	४
अरत्नि की अस्थियां	४
जङ्घा की अस्थियां	४
जानुकपालिकायें (Patella)	२
कोहनी की अस्थियां	२
ऊरुनलक	२
बाहुनलक	२
अक्षकास्थियां	२
	२०६

	२०६
अंसास्थियां	२
अंसफलकास्थियां	२
जत्रस्थि	१
श्रोणिफलक	२
स्त्री की भगास्थि वा पुरुष की मेढ्रास्थि	१
त्रिक की अस्थि	१
पीठ की हड्डियां	३०
छाती में	८
गर्दन में	१३
कण्ठनाडी में	४
तालु में	१
दोनों पार्श्वों में	२४
स्थालक	२४
स्थालकार्बुद	२४
हनुमूलबन्धन	२
गण्डास्थियां	२
कान की अस्थियां	२
नाक में अस्थियां	३
शंखास्थियां	२
शिरःकपालास्थियां[1]	६
	३६०

---

१ अष्टाङ्ग संग्रह में—त्रीणि षष्ट्यधिकान्यस्थिशतानि । तेषां च चत्वारिंशच्छतं शाखासु । सविंशच्छतमन्तराधौ । शतमूर्ध्वमिति । तत्रैकस्मिन् सक्थ्नि पञ्च पादनखाः प्रत्येकमङ्गुल्यां त्रीण्यस्थीनि तानि पञ्चदश । पञ्च पादशलाकाः । तत्प्रतिबन्धकमेकम् । द्वे द्वे कूर्चगुल्फजंघास्वेकैकं पार्ष्णिजानूरुषु । सर्वाणि च

सुश्रुत ३०० अस्थियां स्वीकार करता है । वह दांत के उलूखल तथा नखों को अस्थियों में नहीं गिनता । और आजकल के शरीरशास्त्र के अनुसार भी ये अस्थियां नहीं हैं । प्राचीन आचार्य अस्थि का क्या लक्षण करते थे, यह ज्ञात नहीं । शायद अस्थि से शरीरगत कठिन पदार्थ का ग्रहण करते हों । सुश्रुतोक्त ३००अस्थियां भी आजकल के शरीरशास्त्र के अनुसार ठीक नहीं बैठतीं । सुश्रुत शारीर० ५ अ० में–

'त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते । शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि । तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु । सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु । ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः । एवमस्थ्नां त्रीणिशतानि पूर्यन्ते ॥'

एकैकस्यां पादङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकं, एकमूराविति । त्रिंशदेवमेकास्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ ।

'श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं, पार्श्वे षट् त्रिंशदेकास्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे अंसफलके ॥'

'ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति ॥'

इनकी व्याख्या हमारी सुश्रुतसञ्जीवनी व्याख्या में देखनी चाहिए। सुश्रुत में भी दान्तों को अस्थियों में गिना है । आजकल के शारीरशास्त्र के अनुसार ये अस्थियां सिद्ध नहीं होतीं ।

प्राचीन आचार्यों का अस्थिपरिगणन हमारी समझ में नहीं

नखास्थ्यादीनि सक्थिवद् बाह्वोश्च । चतुर्विंशतिः परशुकाः । तावन्त्येव स्थालकान्यर्बुदानि च । त्रिंशत् पृष्ठे । अष्टावुरसि । एकैकं भागे त्रिके । नितम्बयोश्च द्वे । तद्वदक्षकांसांसफलकेषु । तथा गण्डकर्णशङ्खेषु जत्रुतालुनोश्च । त्रयोदश ग्रीवायाम् । चत्वारि कण्ठनाड्याम् । द्वे हनुबन्धने । द्वात्रिंशद्दन्ताः तद्वदुदूखलानि च । त्रीणि नासायां । षट् शिरसि ॥

आता। प्रतीत होता है कि प्रतिसंस्कर्ताओं ने—जिन्होंने शायद शारीर-शास्त्र का प्रत्यक्ष नहीं किया था—गड़बड़ मचा दी है। उदाहरणार्थ—उनकी मोटी भूल जो एक साधारण विद्यार्थी भी जान सकता है वह यह है कि अंगूठे में दो हड्डियां होती हैं और आचार्य तीन बताते हैं। पर सन्धियों में जाकर अंगूठे में दो सन्धियां बताते हैं जो कि विरुद्ध भाषण है।अन्यथा अन्य अंगुलियों की तरह भी इस में तीन सन्धियां बताते॥

बहुत सी हड्डियां बाल्यावस्था में पृथक् २ होती हैं और जो पीछे से जुड़ कर एक हो जाती हैं।

आजकल के शारीरशास्त्र वाले स्थालकों अर्बुदों अथवा उदूखल वा अन्य उभार आदि को पृथक् नहीं गिनते।

तरुणास्थि दांत नख आदियों को भी वे अस्थियों में समाविष्ट नहीं करते। यद्यपि बाल्यावस्था की कई तरुणास्थियां (Cartilages) अस्थियों (bones) में परिवर्तित हो जाती हैं॥

इन सब कारणों से अस्थियों के परिगणन में परस्पर बहुत भेद दिखाई देता है। अतः आजकल जो प्रत्यक्ष द्वारा अस्थियों का परिगणन है उसका जानना अत्यन्त आवश्यक है। पूर्ण युवा पुरुष में २०६ अस्थियां होती हैं। जो षडङ्ग के अनुसार निम्न प्रकार से विभक्त की जा सकती हैं—

एक बाहु में ३० दोनों बाहुओं में मिला कर	६०
एक सक्थि में ३० दोनों सक्थिओं में मिला कर	६०
शिर और ग्रीवा में मिला कर	३६
अन्तराधि वा मध्यदेह में	५०
कुल	२०६

दोनों बाहुओं की ६० अस्थियां

- २ प्रगण्डास्थि (Humerus)
- ४ प्रकोष्ठास्थियां
  - २ कोदण्डास्थि वा बहिःप्रकोष्ठास्थि (Radius)
  - २ प्रकोष्ठास्थि वा अन्तःप्रकोष्ठास्थि (ulna)
- १६ मणिबन्ध देशों में (Carpal bons)
  - प्रथम पंक्ति
    - २ नौकाकृति (Navicular)
    - २ चतुर्थी चन्द्राकृति (Lunate)
    - २ त्रिकोणाकृति (Triquetrum)
    - २ कलायाकृति (Pisiform)
  - द्वितीय पंक्ति
    - २ स्थूलबहुकोणाकृति (Greater Multangular)
    - २ कृश बहुकोणाकृति (Lesser Multangular)
    - २ शिरोधारी (Os Capitatum)
    - २ वक्र वा फणधर (Unciform)
- १० हस्ततल की शलाकास्थियां (Metacarpal bones)
- २८ अंगुलियों में (Phalanges)

६०

शिर और ग्रीवा की ३६ अस्थियां

८ करोटि की अस्थियां

- १ सम्मुखकपालास्थि वा ललाटास्थि (Frontal)
- २ पार्श्विकपालास्थि वा पार्श्वकास्थि (Parietal)
- १ पश्चात्कपालास्थि वा पश्चात् अस्थि (Occipital)
- २ शङ्खास्थि (Temporal)
- १ झर्झरास्थि वा शौषिरास्थि (Ethmoid)
- १ जतूकास्थि वा कीलकास्थि (Sphenoid)

१४ मुखमण्डल की अस्थियां

- २ नासास्थि वा घोणास्थि (Nasal)
- २ ऊर्ध्वहन्वस्थि (superior maxillary)
- २ गण्डास्थि (Malar)
- २ अश्रवस्थि (Lachrymal)
- २ नासाफलकास्थि वा अधःशुक्तिकास्थि (Inferior turbinated)
- १ अधो हन्वस्थि (Inferior maxillary or Mandible)
- २ ताल्वस्थि (Palatal)
- १ हलास्थि[1] Vomer)

ग्रीवा में ८ अस्थि

- ७ कशेरुकाएं (cervical vertebræ)
- १ जिह्वामूलास्थि वा कण्ठकास्थि (Hyoid bone)

कानमें ६ अस्थि

- २ मुद्गरास्थि (malleus or Hammer)
- २ शूर्मिकास्थि (Incus or Anvil)
- २ रकाबाकृति अस्थि (stapes or stirrup)

३६

---

१ डा० त्रिलोकीनाथ ने इसका नाम नासाफलकास्थि रखा है।

मध्य देह की ५० अस्थियां

- **छाती की २७ अस्थियां**
  - २४ पर्शुकाएं (Ribs)
  - २ अक्षकास्थियां (Clavical)
  - १ उरोऽस्थि (sternum)
- **पीठ की २३ अस्थियां**
  - १२ कशेरुकाएं (Dorsal Vertebræ) पीठ में
  - ५ कशेरुकाएं (Lumber Vertebræ) कमर में
  - १ त्रिकास्थि (Sacrum) त्रिक देश में
  - १ गुदास्थि वा पुच्छास्थि (Coccyx) गुदादेश में
  - २ श्रोणिफलकास्थि (Os innominatum or Hip bone)
  - २ अंसफलकास्थि (Scapula or shoulder-blade)

५० अस्थियां

दोनों सक्थियों की ६० अस्थियां

- २ ऊर्वस्थि (Femur)
- २ जानुकपालास्थि (Patella)
- २ जङ्घास्थि (Tibia) अंगुष्ठ के ओर की
- २ अनुजङ्घास्थि (Fibula) कनिष्ठिका के ओर की
- **१४ गुल्फदेश में (Tarsal bones)**
  - २ गुल्फास्थि (Talus)
  - २ पार्ष्णि (Calcaneus)
  - २ नौकाकृति (Scaphoid or Navicular)
  - ६ त्रिपार्श्विक अस्थियां (Cuneiform)
    - २ अन्तः या प्रथम
    - २ मध्य या द्वितीय
    - २ बाह्य या तृतीय
  - २ घनाकार अस्थि (Cuboid)
- १० पादतल में शलाकास्थियां (Metatarsal bones)
- २८ अंगुलियों में (Phalanges)

६० अस्थियां

२०६ कुल अस्थियां

त्रिकास्थि ५ कशेरुकाओं और गुदास्थि ४ कशेरुकाओं के संयुक्त होने से बनती है।

आधुनिक मत के अनुसार प्रौढ़ पुरुष में २०६ अस्थियां मानी जाती हैं ६

पञ्चेन्द्रियाधिष्ठानानि; तद्यथा—त्वग्, जिह्वा, नासिका, अक्षिणी कर्णौ च ॥ ७ ॥

इन्द्रियों के अधिष्ठान—पांच हैं। १ त्वचा २ जिह्वा ३ नासिका ४ आंखें ५ कान ॥ ७ ॥

पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि; तद्यथा—स्पर्शनं, रसनं, घ्राणं, दर्शनं श्रोत्रमिति ॥ ८ ॥

पांच ज्ञानेन्द्रिय—१ स्पर्शन २ रसन ३ घ्राण ४ दर्शन ५ श्रोत्र। ये इन्द्रियां क्रमशः इन पांच ज्ञानों (Sensations) का साधन हैं—१ स्पर्श (Touch and pain) २ रस (Taste) ३ गन्ध (Smell) ४ रूप (Sight) ५ शब्द (Hearing) ॥ ८ ॥

पञ्च कर्मेन्द्रियाणि; तद्यथा—हस्तौ, पादौ, पायुः, उपस्थो जिह्वा चेति ॥ ९ ॥

कर्मेन्द्रियां—पांच हैं। १ दो हाथ २ दो पैर ३ गुदा ४ उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय और जननेन्द्रिय) ५ जिह्वा (वाणी) ॥ ९ ॥

हृदयं चेतनाधिष्ठानमेकम् ॥ १० ॥

चेतना का आश्रय हृदय एक है ॥ १० ॥

दश प्राणायतनानि; तद्यथा—मूर्धा, कण्ठो, हृदयं, नाभिः, गुदं, बस्तिः, ओजः, शुक्रं, शोणितं, मांसमिति। तेषु षट् पूर्वाणि मर्मसंख्यातानि ॥ ११ ॥

दस प्राणों के स्थान हैं—१ मूर्धा (शिर वा मस्तिष्क) २ कण्ठ ३ हृदय ४ नाभि ५ गुदा ६ बस्ति ७ ओज ८ शुक्र (वीर्य) ९ रक्त १० मांस। इन में से पहिले छह अर्थात् मूर्धा कण्ठ हृदय नाभि गुदा और बस्ति; ये मर्म कहे जाते हैं। सूत्रस्थान के २९ वें अ० में नाभि और मांस की जगह दोनों शङ्खदेश पढ़े गये हैं। यथा—

'दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः।
शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रहकार 'मांस' की जगह जिह्वाबन्धन पढ़ता है।

'दश प्राणायतनानि। मूर्धा जिह्वाबन्धनं कण्ठो हृदयं नाभिर्बस्तिर्गुदः शुक्रमोजो रक्तं च। तेषामाद्यानि सप्त पुनर्महामर्मसंज्ञानि।' शारीर ५ अ०।

जिह्वाबन्धन में कई वातनाड़ियों का सम्बन्ध है। वहां पर चोट से मृत्यु हो सकती है, वही श्वास का मार्ग है। लालाटिकी नाडी (Cranial nerves) में बारह नाड़ियां होती हैं। जिनमें से सब से बड़ी पांचवी नाडी है इस में क्रियावाही (motor) और ज्ञानवाही (Sensory) दोनों प्रकार के तन्तु वा तार होते हैं। इसका नाम Trigeminal nerves है। सातवीं नाड़ी जिसे मौखिकी (Facial nerves) कहते हैं। नौवीं नाड़ी जिसे जैह्वास्यिकी (Glassopharyngeal nerves) कहते हैं। इस में भी ज्ञान वाही और क्रियावाही दोनों तन्तु होते हैं। ये सब जिह्वा में जाती है। अतः जिह्वाबन्धन पर चोट से मृत्यु हो जाती है। यही श्वासमार्ग है। दसवीं नाड़ी (Pneumogastric) भी जिह्वाबन्धन के देश से होकर कण्ठ फुप्फुस आदि में जाती हैं।

इस प्रकार ये सब ही प्राणायतन हैं।

पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि; तद्यथा—नाभिश्च, हृदयं च, क्लोम च, यकृच्च, प्लीहा च, वृक्कौ च, बस्तिश्च, पुरीषाधारश्च, आमाशयश्च, पक्वाशयश्च, उत्तरगुदं च, अधरगुदं च, क्षुद्रान्त्रं च, स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति ॥ १२ ॥

कोष्ठ के अंग—पन्द्रह हैं। १ नाभि २ हृदय ३ क्लोम ४ यकृत् (जिगर) ५ प्लीहा (तिल्ली) ६ दोनों वृक्क (गुर्दे, Kidneys), ७ बस्ति (मूत्राशय Bladder), ८ पुरीषाधार (Sigmoid Flexure अथवा उण्डुक Cœcum), ९ आमाशय (Stomach) १० पक्वाशय (Duodenum), ११ उत्तरगुद (Rectum),

१२ अधरगुद (Anus) १३ क्षुद्रान्त्र (Small intestine)
१४ स्थूलान्त्र (Large intestine) १५ वपावहन (हृदय के चारों ओर स्थित मेद को वपा कहते हैं उसका वहन करने वाला अथवा Pancreas नामक ग्रन्थि) ॥ १२ ॥

षट्पञ्चाशत्प्रत्यङ्गानि षट्स्वङ्गेषूपनिबद्धानि यानि यान्यपरिसंख्यातानि पूर्वमङ्गेषु परिसंख्यायमानेषु तानि तान्यन्यैः पर्यायैरिह[1] प्रकाश्य व्याख्यातानि भवन्ति; तद्यथा—द्वे जङ्घापिण्डिके, द्वे ऊरुपिण्डिके, द्वौ स्फिचौ, द्वौ वृषणौ, एकं शेफः, द्वे उखे, द्वौ वंक्षणौ, द्वौ कुकुन्दरौ, एकं बस्तिशीर्षं, एकमुदरं, द्वौ स्तनौ, द्वौ श्लेष्मभुवौ[2], द्वे बाहुपिण्डिके, चिबुकमेकं, द्वावोष्ठौ, द्वे सृक्कण्यौ, द्वौ दन्तवेष्टकौ, एकं तालु, एका गलशुण्डिका, द्वे उपजिह्विके, एका गोजिह्विका, द्वौ गण्डौ, द्वे कर्णशष्कुलिके, द्वौ कर्णपुत्रकौ, द्वे अक्षिकूटे, चत्वारि अक्षिवर्त्मानि, द्वे अक्षिकनीनिके, द्वे भ्रुवौ, एकोऽवटुः, चत्वारि पाणिपादहृदयानि १३

प्रत्यङ्ग—बाहु आदि ६ अंगों में सम्बद्ध ५६ प्रत्यङ्ग हैं । जिन का अङ्गों को बताते हुए हमने परिगणन नहीं किया। अब उन (प्रत्यङ्गों) की पर्यायों से यहां व्याख्या की जाती है । २ जङ्घाओं की पिण्डलियां+२ऊरुदेश की पिण्डिकायें (बहुत मांस वाली जगह)+२स्फिक् (नितम्ब-चूतड़)+२वृषण (अण्ड-Testes)+१शेफ (मूत्रेन्द्रिय) +२उखायें (बगलें)+२वंक्षण (रान)+२कुकुन्दर (पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनास्थियों के बाहिर की ओर का निम्न भाग)+१बस्तिशीर्ष (नाभि के नीचे का देश)+१उदर (पेट)+२स्तन+२श्लेष्मभू (छाती के उन्नत भाग)+२बाहु की पिण्डिकायें+१चिबुक (ठोडी)+ २होठ+२सृक्किणी (होठों के प्रान्त वा किनारे)+२दन्तवेष्टक

१ 'पर्यायैः प्रकाश्यानि' च. । २ 'श्लेष्मभुवौ कण्ठपार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ' चक्रः।' 'भुजौ' गङ्गाधरः पठति, तन्नातिसमीचीनं तयोः पूर्वं परिसंख्यातत्वात्।

(मसूड़े)+१ तालु+१ गलशुण्डी (Uvula)+२ उपजिह्विकायें (Tonsils)+१ गोजिह्विका (जिह्वा के नीचे की छोटी जीभ)+ २ गण्ड (गालें)+२ कर्णशष्कुलियां (बाहिर से दीखने वाला कान, Pinna & Lobule of ear)+२ कर्णपुत्रक (कर्णशष्कुली के सामने दीखने वाला उभार)+ २ अक्षिकूट (जहां पर अक्षिगोलक रहते हैं)+ ४ अक्षिवर्त्म (एक आंख में दो वर्त्म होते हैं, ऊपर का और नीचे का)+२ अक्षिकनीनिकायें (पुतलियां)+ २ भौंहें+१ घाटा (ग्रीवा का पिछला भाग)+४ हस्ततल और पादतल (२ हस्त तल+२ पादतल)=५६ प्रत्यङ्ग[1] हैं ॥ १३ ॥

नव महान्ति छिद्राणि—सप्त शिरसि, द्वे चाधः ॥ १४ ॥

नौ बड़े छिद्र—७ सिर में+२ नीचे । २ आंख के छिद्र+२ नाक के छिद्र+२ कान के छिद्र+१ मुखविवर; ये ७ शिरःस्थित छिद्र हैं । मूत्रेन्द्रिय वा जननेन्द्रिय का छिद्र और गुदा का छिद्र; ये दो नीचे के छिद्र हैं ॥ १४ ॥

एतावद्दृश्यं शक्यमभिनिर्देष्टुं, अनिर्देश्यमतः परं तर्क्यमेव । तद्यथा—नव स्नायुशतानि, सप्त सिराशतानि, द्वे धमनीशते, चत्वारि[1] पेशीशतानि, सप्तोत्तरं मर्मशतं, द्वे पुनः सन्धिशते, त्रिंशत्सहस्राणि नव च शतानि षट्पञ्चाशत्कानि सिराधमनीनामणुशः प्रविभज्यमानानां मुखाग्रपरिमाणं, तावन्ति चैव केशश्मश्रुलोमानीत्येतद्यथावत्संख्यातं त्वक्प्रभृति दृश्यं अतः परं तर्क्यम्; एतदुभयमपि न विकल्प्यते[2] प्रकृतिभावाच्छरीरस्य ॥ १५ ॥

---

१ सुश्रुत में लक्ष्यभेद से ये प्रत्यङ्ग कहे हैं—

'मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः । कर्णनेत्रभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिग्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ।'

१ 'पञ्च' ग. । २ 'एके तदुभयमपि न विकल्पयन्ते' च. ।

त्वचा आदि जो निर्दिष्ट किये गये हैं वे दृश्य हैं—प्रत्यक्ष हैं । अतएव इनका निर्देश किया जा सकता है—प्रत्यक्ष दिखाया जा सकता है। इस से आगे कहे जाने वाले भावों का निर्देश नहीं किया जा सकता अतः अनुमान से जाने जाते हैं । यद्यपि स्नायु (Ligaments) आदि भी प्रत्यक्ष हैं परन्तु ९०० आदि संख्या में स्नायु आदि का होना अनुमान से ही ज्ञेय है । क्योंकि सब का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

९०० स्नायु हैं। यहां पर इनका विस्तृत वर्णन नहीं है। केवल-मात्र संख्या ही बताई गई है । इनका विशेष सम्बन्ध शल्यतन्त्र से है अतः सुश्रुत शारीर ५ अ० में इनका विस्तृत वर्णन है—

'नव स्नायुशतानि । तासां शाखासु षट् शतानि (६००) द्वे शते त्रिंशच्च (२३०) कोष्ठे । ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः (७०) ।'

'एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षट् षट् । तावत्य एव जङ्घायाम् । दश जानुनि । चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति । एतेनेतरसक्थिबाहू च व्याख्यातौ ।'

'षष्टिः कट्याम् । पृष्ठेऽशीतिः । पार्श्वयोः षष्टिः । उरसि त्रिंशत् ॥'

'षट्त्रिंशद् ग्रीवायाम् । मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशत् । एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि ।'

'नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता ।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः ।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥'

'न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः ।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणाम् ॥
यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा ।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥'

इनका अभिप्राय सञ्जीवनी व्याख्या में देखें ।

७०० शिरायें हैं। इनका विस्तृत वर्णन सुश्रुत शारीर ७ अध्याय में किया गया है।

'सप्त शिराशतानि भवन्ति। याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः। द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः। तासां नाभिर्मूलं ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च॥'

'तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्, तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति (१७५) तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने (१७५)। कफवाहिन्यश्च कफस्थाने (१७५)। रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः (१७५)। एवमेतानि सप्त शिराशतानि।'

'तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ।'

'विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्, तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि।'

'एक चत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां षट् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवं पञ्चसप्ततिशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातं भवति।'

'एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे, एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि।'

इनका अर्थ भी सुश्रुतसञ्जीवनी व्याख्या में देखें।

२०० धमनियां हैं। सुश्रुत शारीर स्थान ९ अ० में मूल धमनियां २४ बताई हैं। इन्हीं से शाखाओं में फटने वाली स्थूल २०० धमनियां जाननी चाहियें। सुश्रुत के अनुसार ऊर्ध्वग धमनियां १०

अधोगामी धमनियां १०+तिर्यग्गामी ४ । ये मिलाकर २४ होती हैं। सुश्रुत ने भी इनका विभाग किया है। जिसके अनुसार ऊर्ध्वग धमनियां ३० हो जाती हैं। अधोगामी भी ३० हो जाती हैं और तिर्यग्गामी एक २ में सैंकड़ों शाखायें उत्तरोत्तर फूटती जाती हैं। अतः ये असंख्य होती हैं। इनका विस्तृत वर्णन सुश्रुत ६ अध्याय में देखिये। प्रतीत होता है कि आत्रेय ने तिर्यग्गत स्थूल धमनियां १४० गिनी हैं। आत्रेय भी क्रमशः शाखाओं में फटते हुए इनकी संख्या बहुत अधिक मानता है। यह बात इनके मुखाग्रों की संख्या बताने से ज्ञात होती है।

४०० मांसपेशियां (Muscles) हैं। सुश्रुत ५०० मानता है। गङ्गाधर के अनुसार 'चत्वारि' के स्थल पर 'पञ्च' होना चाहिये।

'पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि (४००) शाखासु। कोष्ठे षट् षष्टिः (६६)। ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत् (३४)।

'एकैकस्यां तु पादांगुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश। दश प्रपदे। पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव। दश गुल्फतलयोः। गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः। पञ्च जानुनि। विंशतिरूरौ। दश वङ्क्षणे। शतमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ।'

'तिस्रः पायौ। एका मेढ्रे। सेवन्यां चापरा। द्वे वृषणयोः। स्फिचोः पञ्च पञ्च। द्वे बस्तिशिरसि। पञ्चोदरे। नाभ्यामेका। पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः। षट् पार्श्वयोः। दश वक्षसि। अक्षकांसौ प्रति समन्तात् सप्त। द्वे हृदयामाशययोः। षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु'।

'ग्रीवायां चतस्रः। अष्टौ हन्वोः। एकैका काकलकगलयोः। द्वे तालुनि। एका जिह्वायाम्। ओष्ठयोर्द्वे। नासायां द्वे। द्वे नेत्रयोः। गण्डयोश्चतस्रः। कर्णयोर्द्वे। चतस्रो ललाटे। एका शिरसीति। एवमेतानि पञ्च पञ्चपेशीशतानि।'

स्त्रियों में २० पेशियां अधिक होती हैं। यथा—

'स्त्रीणां तु विंशतिरधिका। दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्च पञ्चेति। यौवने तासां परिवृद्धिः। अपत्यपथे चतस्रः। तासां प्रसृतेऽभ्यन्तरतो द्वे मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे। गर्भच्छिद्रसंश्रितास्तिस्रः। शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव॥'

आजकल के शारीरशास्त्र के अनुसार मांसपेशियों की संख्या ५१९ है[1]। जो कि निम्न प्रकार से है—

ऊर्ध्वशाखा (बाहुओं) में	११८
अधःशाखा (सक्थिओं) में	११८
धड़	१३४
शिर और ग्रीवा में	८०
छाती और पेट के मध्य की पेशी	१
तालु में	१०
जिह्वा में	८
गले में	१०
काकलक वा स्वरयन्त्र में	१०
दोनों बाह्यकर्ण में	१२
दोनों मध्यकर्ण में	४
दोनों अक्षिगोलक और ऊर्ध्ववर्त्म में	१४
	५१९

१०७ मर्म हैं। सुश्रुत के अनुसार ये पांच प्रकार के होते हैं। १ मांसमर्म २ सिरामर्म ३ स्नायुमर्म ४ अस्थिमर्म ५ सन्धिमर्म।

मांसमर्म	११
सिरामर्म	४१
	५२

१ इनका विशेष विवरण डा० त्रिलोकीनाथ कृत 'हमारे शरीर की रचना' में देखिये।

पूर्वतोऽनुवृत्त	५२
स्नायुमर्म	२७
अस्थिमर्म	८
सन्धिमर्म	२०
इस प्रकार	१०७ मर्म होते हैं

देशभेद से—

चारों शाखाओं में	४४
पेट और छाती में	१२
पीठ में	१४
ग्रीवा और उस से ऊपर	३७
	१०७ मर्म हैं

इनका विस्तृत वर्णन सुश्रुत शारीर ६ अध्याय में है।

२१० सन्धियां हैं। मुख्यतः सन्धियां दो प्रकार की होती हैं। १ चेष्टावान् (Movable or Diarthroses)। २ स्थिर (Immovable or Synarthroses)। तीसरी प्रकार की वे सन्धियां भी हैं जिनमें अल्प सी चेष्टा होती है। आजकल उन्हें पृथक् श्रेणी में गिना जाता है। वे अल्पचेष्टावान् (Amphiarthroses) कहाती हैं। जैसे—कशेरुकाओं में। सुश्रुत शारीर ५ अध्याय में इनका विभाग इस प्रकार किया है—

शाखाओं में	६८
कोष्ठ में	५९
ग्रीवा और उससे ऊपर	८३
	२१०

वस्तुतः सन्धियां बहुत अधिक है। यहां पर बहुत ही मोटी २ हड्डियों की सन्धियां गिनाई हैं।

ये सन्धियां आठ प्रकार की सामान्यतः कही गई हैं। १ कोर (Gliding joints or Arthrodia & Hinge joints or Ginglymus)। २ उदूखल (Enarthrodia or Ball and socket joint)। ३ सामुद्ग (संपुटाकार)—जिन सन्धियों पर थैली सी चढ़ी रहती है। ४ प्रतर—जैसे पृष्ठवंश की कशेरुकाओं में। ५ तुन्नसेवनी (Sutures)। ६ वायसतुण्ड (कौवे की चोंच के सदृश)। ७ मण्डल (Ring)। ८ शंखावर्त। एक प्रकार की और सन्धि भी है, जिसे आंग्लभाषा में Pivot joint कहते हैं। यह सन्धि ऐसी होती है जैसे गाड़ी में धुरी की सन्धि होती है। यह प्रथम और द्वितीय ग्रीवाकशेरुका में होती है।

इनके विशेष ज्ञान के लिये सुश्रुत शारीर ५ अ० देखिये।

अत्यन्त सूक्ष्म विभाग होते हुए सिराओं और धमनियों के मुखाओं की संख्या ३०९५६ होती है। इतने ही केश (सिर के बाल) दाढ़ी मूंछ के बाल और लोम होते हैं। 'एकोनत्रिंशत्सहस्राणि भी पाठान्तर है उसके अनुसार २९९५६ संख्या होती है। गंगाधर 'त्रिंशच्छतसहस्राणि नव च शतानि षट् पञ्चाशत्सहस्राणि' यह पाठान्तर पढ़ता है। उसके अनुसार ३० लाख ५० हजार ९ सौ संख्या होती है। अथवा उसकी अपनी व्याख्या के अनुसार ९०० सिरा और धमनी (७०० सिरा+२०० धमनी) ५६ हज़ार शाखाओं में बंटकर पुनः सूक्ष्म होती हुई ३० लाख हो जाती हैं। तन्त्रान्तर में कहा है—

'त्रिंशच्छतसहस्राणि शतानि च नवैव तु।
षट्पञ्चाशत् सहस्राणि रसदेहौ वहन्ति ताः।
द्वासप्ततिस्तथा कोट्यो लोमानीह महामुने॥

अष्टाङ्गसंग्रह में—

'सिराधमनीमुखानां त्वणुशो विभज्यमानानामेकोनत्रिंशच्छतसहस्राणि नव च शतानि षट्पञ्चाशानि भवन्ति ।'

इसके अनुसार इनकी संख्या २९ लाख ९ सौ ५६ होती है।

यह त्वचा आदि दृश्य (प्रत्यक्ष) का और उससे पश्चात् तर्क से ज्ञेय स्नायु आदि का यथावत् परिगणन कर दिया है। दृश्य (त्वचा आदि) और तर्क्य (अनुमान से ज्ञेय स्नायु आदि) में शरीर के आरोग्य रहने तक इस मान में भेद नहीं होता। विकृत होने पर भेद आ सकता है ॥ १५ ॥

यत्त्वञ्जलिसंख्येयं तदुपदेक्ष्यामः, तत्परं प्रमाणमभिज्ञेयं, तच्च वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव; तद्यथा—दशोदकस्याञ्जलयः शरीरे स्वेनाञ्जलिप्रमाणेन यत्तत् प्रच्यवमानं पुरीषमनुबध्नात्यतियोगेन तथा मूत्रं रुधिरमन्यांश्च शरीरधातून्, यत्तत् सर्वशरीरचरं बाह्या त्वग्बिभर्ति, यत्तु त्वगन्तरे व्रणगतं लसीकाशब्दं लभते, यच्चोष्मणाऽनुबद्धं लोमकूपेभ्यो निष्पतत्स्वेदशब्दमवाप्नोति, तदुदकं दशाञ्जलिप्रमाणं; नवाञ्जलयः पूर्वस्याहारपरिणामधातोर्यं तं रस इत्याचक्षते, अष्टौ शोणितस्य, सप्त पुरीषस्य, षट् श्लेष्मणः, पञ्च पित्तस्य, चत्वारो मूत्रस्य, त्रयो वसायाः, द्वौ मेदसः, एको मज्ज्ञः, मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः, शुक्रस्य तावदेव प्रमाणं, तावदेव श्लेष्मणश्चौजस इत्येतच्छरीरतत्त्वमुक्तम् ॥१६॥

अब जो अञ्जलि के मान से जाने जाते हैं—उनका उपदेश किया जायगा—

यहां जो प्रमाण कहा जायगा वह उत्कृष्ट (Maximum) प्रमाण है। यह कम अधिक होता रहता है। इसे अनुमान से ही जाना जाता है। अपनी अञ्जलि के प्रमाण से जल का प्रमाण दस अञ्जलि है। जो जल अतियोग द्वारा बाहिर निकलता हुआ पुरीष के साथ

निकलता है। तथा जो जल अतियोग द्वारा मूत्र के साथ बाहिर आता है। अतियोग से जो रुधिर तथा शरीर की अन्य धातुओं को भी अनुबन्ध करता है। जो सम्पूर्ण शरीर में सञ्चार करता हुआ बाहिर की त्वचा उदकधरा का पालन करता है। जो त्वचा में व्रण होने पर 'लसीका' शब्द से कहा जाता है। जो गर्मी से अनुबद्ध हुआ लोमकूपों से निकलता हुआ 'स्वेद' शब्द से अभिहित है। उस जल का प्रमाण दस अञ्जलि है। आहार के परिणत होने पर (पचने पर) जो सब से पूर्व धातु बनती है—जिसे रस कहते हैं—उसका प्रमाण ९ अञ्जलि है। रक्त की आठ अञ्जलि। आजकल के अनुसार भी यदि एक जवान मनुष्य का भार १॥ मन हो तो उसके शरीर में भार का $\frac{1}{20}$ अर्थात् लगभग ३ सेर के रक्त होगा। अञ्जलि का परिमाण परिभाषा में आधे शराव के बराबर माना है। जो कि लगभग ३२ तोले के बराबर होता है। रक्त की मात्रा शरीर में ३२×८= २५६। अर्थात् ३ सेर १६ तोले होती है। पुरीष की ७ अञ्जलि। कफ की ६ अञ्जलि। पित्त की ५ अञ्जलि। मूत्र की ४ अञ्जलि जवान मनुष्य २४ घण्टे में लगभग डेढ़ सेर मूत्रत्याग करता है। ४ अञ्जलि = ३२×४ = १२८ तोले = १ सेर ४८ तोले। वसा की ३ अञ्जलि। अर्थात् १॥ मन वाले मनुष्य में वसा का प्रमाण आज कल १ सेर १२ छटांक के लगभग माना जाता है। परन्तु इसमें मेद भी अन्तर्गत है। केवल वसा का प्रमाण यहां ३ अञ्जलि बताया है। ३ अञ्जलि = ३२×३ = ९६ तोले के अर्थात् केवल वसा १ सेर १६ तोले है। मेद का प्रमाण २ अञ्जलि है अर्थात् लगभग ६४ तोले। अर्थात् वसा और मेद मिलाकर १ सेर १६ तोले+६४ तोले= २ सेर हैं। अर्थात् आजकल के प्रमाण और प्राचीन प्रमाण में केवल ४ छटांक का अन्तर है। जो कि मेद में मिश्रित अन्य घटक अवयवों का हो सकता है। यह अन्तर न के बराबर ही है क्योंकि

दोनों प्रमाण लगभग रूप में ही है । और आयुर्वेदोक्त प्रमाण परम प्रमाण है । मज्जा का प्रमाण शरीर में एक अञ्जलि है । मस्तिष्क का प्रमाण आधी अञ्जलि । सम्पूर्ण मस्तिष्क का भार २२ छटांक के लगभग आजकल कूता गया है । प्रतीत होता है कि प्राचीन प्रमाण जो कि आधी अञ्जलि वा लगभग १६ तोले के है लघुमस्तिष्क का दिया गया है । वह ही २॥ छटांक के लगभग आजकल माना जाता है और प्राचीन आचार्यों के अनुसार उसका परम प्रमाण लगभग ३ छटांक के होता है । वीर्य का प्रमाण भी इतना ही है अर्थात् आधी अञ्जलि । उतना ही ओजोधातुनामक कफ का । अर्थात् ओज का प्रमाण भी आधी अञ्जलि है । ओज के प्रमाण की विवेचना हम सूत्रस्थान के १७ वें अध्याय में ४७४ पृष्ठ पर कर चुके हैं । यह शरीर के तत्व बता दिये हैं ॥ १६ ॥

तत्र यद्विशेषतः स्थूलं स्थिरं मूर्तिमद्गुरुखरकठिनमङ्गं नखास्थिदन्तमांसचर्मवर्चःकेशश्मश्रुनखलोमकण्डरादि तत्पार्थिवं गन्धो घ्राणं च, यद्द्रवसरमन्दस्निग्धमृदुपिच्छिलं रसरुधिरवसाकफपित्तमूत्रस्वेदादि तदाप्यं रसो रसनं च, यत्पित्तमूष्मा यो च भाः शरीरे तत्सर्वमाग्नेयं रूपं दर्शनं च, यदुच्छ्वासप्रश्वासोन्मेषनिमेषाकुञ्चनप्रसारणगमनप्रेरणधारणादि तद्वायवीयं स्पर्शः स्पर्शनं च, यद्विविक्तमुच्यते महान्ति चाणूनि स्रोतांसि तदान्तरीक्षं शब्दः श्रोत्रं च; यत्प्रयोक्तृ तत्प्रधानं, बुद्धिर्मनश्चेति । शरीरावयवसंख्या यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा ॥१७॥

पार्थिव शारीर भाव—शरीर में जो विशेषतः स्थूल स्थिर मूर्तिमान् गुरु (भारी) खर तथा कठिन अङ्ग है, जैसे नख अस्थि (हड्डी) दन्त (दांत) मांस चर्म (त्वचा) वर्च (पुरीष) केश श्मश्रु (दाढ़ी मूंछ) लोम कण्डरा[1]

[1] प्रत्यङ्गों में कण्डराओं की संख्या का निर्देश नहीं किया गया—इनका विवरण सुश्रुत शारीरस्थान ५ अध्याय में देखें । कण्डरायें १६ होती हैं ॥

(महास्नायु) आदि वह सब तथा गन्ध और घ्राण; ये पार्थिव हैं ॥

नख और दन्त के अस्थियों से पृथक् गिनने से यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन आचार्य इन्हें अस्थि नहीं समझते थे। अस्थियों के परिगणन में भी 'सह दन्तोलूखलनखैः' कह के पृथक् ही पढ़ा है॥

जलीय शारीर भाव—जो द्रव सर मन्द स्निग्ध मृदु तथा पिच्छिल गुणयुक्त अंग हैं, जैसे—रस रुधिर वसा कफ पित्त मूत्र स्वेद आदि—ये सब तथा रस और रसनेन्द्रिय; आप्य (जलीय) हैं। पित्त में जो द्रवता और ईषत्स्निग्धता है उसे ही जलीय जानना ॥

आग्नेय शारीर भाव—जो पित्त है, जो गर्मी है और जो शरीर में कान्ति है, वे सब आग्नेय हैं। रूप और दर्शनेन्द्रिय भी आग्नेय हैं।

वायवीय शारीर भाव—उच्छ्वास (श्वास को बाहिर निकालना), प्रश्वास (श्वास को अन्दर लेजाना), उन्मेष (आंख को खोलना), निमेष (आंखों को मीचना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना), गमन (एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना), प्रेरणा, धारण करना आदि तथा स्पर्श और स्पर्शनेन्द्रिय वायवीय है।

आन्तरीक्ष शारीर भाव—जो विविक्त (विरल) कहाता है अर्थात् धातुओं में जो अवकाशस्थान है, बड़े और छोटे स्रोत; वे सब आन्तरीक्ष (आकाशीय) हैं। शब्द और श्रोत्र भी आकाशीय हैं ॥

सुश्रुत शारीर १म अध्याय में भी—

'आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च। वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च। तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च। आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च। पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥'

जो प्रयोक्ता है (आत्मा) वह प्रधान है। बुद्धि और मन भी प्रधान हैं। आत्मा बुद्धि और मन; ये ही संयोग में कारण है। इन्द्रियों

को भी ये ही अपने २ विषय में प्रेरित करते हैं । सत्त्व संयुक्त आत्मा ही सृष्टि में कारण होता है । अवयवों के मोटे २ भेद द्वारा शरीर के अवयवों की संख्या बता दी गई है ॥ १७ ॥

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादतिसौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च; तेषां संयोगविभागे परमाणूनां कारणं वायुः कर्म स्वभावश्च ॥ १८ ॥

परमाणु के भेद से शरीर के अवयव असंख्य होते हैं । क्योंकि परमाणु बहुत ही अधिक हैं, अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जिनका इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता । उन परमाणुओं के संयोग और विभाग में वायु कर्म (धर्माधर्म) और स्वभाव कारण है । अथवा वायु और कर्म (अदृष्ट—धर्माधर्म) का स्वभाव कारण है । कर्म के प्रेरणात्मक स्वभाव द्वारा प्रेरित वायु संयोग (शरीर जन्म) तथा विभाग (शरीर विनाश) में कारण है । अदृष्ट द्वारा सब से पूर्व वायु में कर्म उत्पन्न होता है तदनन्तर अग्नि आदि में ॥ १८ ॥

तदेतच्छरीरं संख्यातमनेकावयवं दृष्टमेकत्वेन सङ्गः, पृथक्त्वेनापवर्गः; तत्र प्रधानमसक्तं सर्वसन्ताननिवृत्तौ निवर्तत इति॥

वह यह शरीर अनेक अवयवों से युक्त कहा गया है । इसे एकरूप में देखना ही सङ्ग कहाता है । अर्थात् जीवितशरीर चेतना पुरुष, मन, इन्द्रियां तथा अन्य अवयवों से जिनका पूर्व वर्णन किया जा चुका है अथवा आत्मा और परमाणु रूप असंख्यात अवयवों से बना हुआ है । इन्हें एकरूप में अर्थात् 'मैं' करके जानना सङ्ग है वा बन्ध है । अर्थात् विपरीतज्ञान ही बन्ध का कारण है ।

चेतन शरीर के अनेक अवयवों का जब हमें पृथक्तया ज्ञान होता है वही अपवर्ग वा मोक्ष है । अर्थात् जब हम चेतना पुरुष मन इन्द्रियों तथा

---

१ '०मशक्तं सर्वसत्तानिवृत्तौ' ग. ।

अन्य अवयवों को पृथक्तया जानते हैं वह ही मात्र है । पुरुष को प्रधान (प्रकृति) से पृथक् जानना ही अपवर्ग है वा अपवर्ग (मोक्ष) का हेतु है । यही तत्त्वज्ञान है । प्रधान और पुरुष का पार्थक्येन ज्ञान ही तत्त्वज्ञान है । सांख्यकारिका में कहा है—

'ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ।'

सांख्य में बन्ध को तीन प्रकार का माना है । १—प्राकृतिक २ वैकृतिक ३ दाक्षिणक । जो प्रकृति को ही आत्मा समझते हुए प्रकृति की उपासना में लगे रहते हैं उन्हें प्राकृतिक बन्ध होता है । जैसा कि आजकल का पाश्चात्य जगत् । उन के लिये ही पुराण में कहा है—

'पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ।'

वैकृतिक बन्ध उन्हें होता है जो विकृति अर्थात् अहङ्कार महाभूत बुद्धि इन्द्रिय आदियों को ही पुरुष वा आत्मा समझते हैं । उन्हीं के प्रति कहा गया है—

'दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।
भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।'
'ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः ॥'

जो इष्टापूर्त में लगे रहते हैं उन्हें दाक्षिणकबन्ध होता है । ये लोग स्वर्ग आदि की कामना से कर्म करते हैं इसी का फल यह कि वे बन्ध में पड़े रहते हैं । इस बन्ध को दाक्षिणकबन्ध कहते हैं । छान्दोग्योपनिषद् में इनका दक्षिणमार्ग कहा गया है । अतएव इस बन्ध का नाम आचार्यों ने दाक्षिणकबन्ध रखा है । अथवा दक्षिणा से सम्बन्ध होने से दाक्षिणकबन्ध कहाता है ।

'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति । इत्यादि'

छान्दोग्य उ० ५।१०।३

प्रधान-प्रकृति जब असक्त होती है अर्थात् जब चेतन पुरुष (आत्मा) के साथ सम्बन्ध नहीं रहता तब सन्तान (प्रवाह) की निवृत्ति होने पर स्वयं निवृत्त हो जाती है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति पुरुष (आत्मा) के मोक्ष के लिये प्रवृत्त होती है। जब तत्त्व-ज्ञान हो जाता है तब विपरीतज्ञान का अनादि प्रवाह नष्ट हो जाता है और प्रकृति आत्मा को अपना नग्न रूप दिखा देती है। यह ही मोक्ष है। सांख्य में कहा है—

'औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्त्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्त्तते तद्वदव्यक्तम्॥
रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्त्तते प्रकृतिः॥
नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तत्कार्यमपार्थकं चरति॥
प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टास्मीति न पुनर्दर्शनमुपैति पुरुषस्य।
तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः।
रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥
एवं तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥
तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम्।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः सुस्थः॥
दृष्टा मयेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।

---

१ धर्माधर्मज्ञानवैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि सप्त रूपाणि।
२ एकरूपेणेति—तत्वज्ञानेन विवेकख्यात्या।

सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥

अथवा 'प्रधान' पद से यदि आत्मा का ग्रहण करें तो इस प्रकार अर्थ होगा कि सब भावों के निवृत्त हो जाने पर रागद्वेष से रहित आत्मा स्वयं निवृत्त हो जाता है । इसी निवृत्ति को अपवर्ग वा मोक्ष कहते हैं । इसी स्थान के ५ वें अध्याय में कह भी आये हैं—

'निवृत्तिरपवर्गस्तत्परं प्रशान्तं तदक्षरं तद्ब्रह्म स मोक्षः' ॥१९॥

तत्र श्लोकौ ।

शरीरसंख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक् ।
तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते ॥ २० ॥
अमूढो मोहमूलैश्च न दोषैरभिभूयते ।
निर्दोषो निःस्पृहः शान्तः प्रशाम्यत्यपुनर्भवः ॥ २१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने शरीरसंख्याशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जो चिकित्सक सब अवयवों द्वारा शरीरसंख्या को जानता है वह अज्ञान से उत्पन्न होने वाले मोह से युक्त नहीं होता । मोह से युक्त न होने से अथवा (तत्त्वज्ञानी होने से) मोहजन्य दोषों से पराभूत नहीं होता । अपि तु निर्दोष निष्काम शान्त तथा पुनर्जन्म–रहित होकर शान्त होजाता है—मोक्ष को प्राप्त होता है ॥२०–२१ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो जातिसूत्रीयं शारीरं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम जातिसूत्रीय नामक शारीर की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । अर्थात् इस अध्याय में जन्मशास्त्र वा उत्पत्तिशास्त्र की व्याख्या होगी ॥ १ ॥

स्त्रीपुरुषयोरव्यापन्नशुक्रशोणितगर्भाशययोः श्रेयसीं प्रजा-मिच्छतोस्तदर्थाभिनिर्वृत्तिकरं कर्मोपदेक्ष्यामः ॥ २ ॥

जिस स्त्री और पुरुष का वीर्य शोणित तथा गर्भाशय विकृति से रहित है और वे यह चाहते हैं कि उनकी श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न हो, उनके लिये श्रेष्ठ सन्तान का निष्पादक कर्म बताया जायगा अर्थात् अविकृत वीर्य युक्त पुरुष और अविकृत रज और गर्भाशय वाली स्त्री के संयोग से किस प्रकार श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न हो सकती है, पूर्व उस का वर्णन होगा ॥ २ ॥

अथाप्येतौ स्त्रीपुरुषौ स्नेहस्वेदाभ्यामुपपाद्य वमनविरे-चनाभ्यां संशोध्य क्रमेण प्रकृतिमापादयेत्, संशुद्धौ चास्थापना-नुवासनाभ्यामुपाचरेत्, उपाचरेच्च मधुरौषधसंस्कृताभ्यां पुरुषं, स्त्रियं तु तैल[1]माषाभ्याम् ॥ ३ ॥

अविकृत वीर्ययुक्त पुरुष तथा अविकृत रज और गर्भाशय युक्त स्त्री दोनों को स्नेहन और स्वेदन कराके विधिपूर्वक वमन और विरेचन द्वारा शुद्धि करावे। वमन और विरेचन के बाद पेया आदि के क्रम से पुनः स्वाभाविक भोजन पर ले आवे। जब वमन विरेचन से सम्यक् प्रकार शुद्धि होजाय तब उन्हें यथाविधि आस्थापन और अनुवासन करावे। साथ ही पुरुष को मधुर औषधों से संस्कृत घी और दूध का परन्तु स्त्री को तैल और माष (उड़द) का सेवन[2] करावें। 'माष' की जगह 'मांस' यह भी पाठान्तर है। अष्टाङ्गसंग्रह—शारीरस्थान १म अध्याय में भी—

'विशेषतस्तु घृतक्षीरवद्भिर्मधुरौषधसंस्कारैः पुरुषं । तैलेन नारीं पित्तलैश्च मांसैः ।'

यह पढ़ा है। इस प्रकार करने से पुरुष के शुक्र में तथा स्त्री के रज में पूर्णता आजाती है ॥ ३ ॥

---

१ 'तैलमांसाभ्यां' च. । २ सुश्रुत शारीर २ अ० में—'०पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीं०'।

ततः पुष्पात्प्रभृति त्रिरात्रमासीत ब्रह्मचारिण्यधःशायिनी पाणिभ्यामन्नमजर्जर[1]पात्रे भुञ्जाना न च कांचिन्मृजामापद्येत ॥४॥

तदनन्तर रजोदर्शन के प्रथम दिन से लेकर तीन दिन तक ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये । भूमि पर सोये । नवीन और जो टूटा फूटा न हो ऐसे पात्र में हाथों से भोजन करे । इन तीन दिनों में उबटन स्नान आदि किसी प्रकार की शुद्धि वा अंगसंस्कार न करे । इससे सुश्रुत शारीर द्वितीयाध्यायोक्त अञ्जन आदि का ग्रहण हो जाता है—

'ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपात-स्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानि-लायासान् परिहरेत् । किं कारणं ? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशीलः, अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुलेपनाद् दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् कुनखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठतालुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अति शब्दश्रवणाद्बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेवनादुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् ।

'दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत् ।'

पञ्जाब में प्रायशः स्त्रियां प्रथम दिन से ही स्नान कर लेती हैं और इससे अपने को शुद्ध समझती हैं और रसोई तथा अन्य गृहकार्य करती हैं । परन्तु इस स्नान से शुद्धि तो क्या होनी है, वे घोर प्रदर आदि रोगों से आक्रान्त हो जाती हैं । तथा च इन दिनों में स्त्रियों को किसी प्रकार का अत्यधिक शारीरिक वा मानसिक श्रम न करना चाहिये । ना ही अपने मस्तिष्क को थकाना चाहिये ॥ ४ ॥

ततश्चतुर्थेऽहन्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लानि[2] वासांस्याच्छादयेत्पुरुषं च, ततः शुक्लवाससौ स्रग्विणौ सुमनसा-

१ 'अजर्जराद् पात्रात्' च. ।
२ 'शुक्लान्यनुपहतानि' ग. ।

वन्योन्यमभिकामौ संवसेतामिति ब्रूयात् ॥ ५ ॥

तदनन्तर चौथे दिन स्त्री को उबटन मल करके शिर सहित सम्पूर्ण शरीर का स्नान करा के श्वेतवस्त्र पहिना दें वा ओढ़ा दें। पुरुष को भी उस दिन उबटन मल कर स्नान करना चाहिये। पुरुष भी उस दिन श्वेतवस्त्र पहिरे। तदनन्तर श्वेत वस्त्र पहिरे हुए माला धारण किए हुए प्रसन्नमन तथा एक दूसरे को चाहने वाले स्त्री और पुरुष दोनों को वैद्य सहवास की अनुमति दे। सुश्रुत शारीर २ अ० में—

'ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽहन्यहतवासां कृतमङ्गलस्वास्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत्'॥ ५ ॥

स्नानात्प्रभृति युग्मेष्वहःसु संवसेतां पुत्रकामौ, अयुग्मेषु दुहितृकामौ ॥ ६ ॥

यदि स्त्री पुरुष पुत्र को चाहते हों तो स्नान के दिन से लेकर युग्म दिनों में (अर्थात् रजोदर्शन से चौथे छठे आठवें दसवें बारहवें) सहवास करें वा मैथुन करें। यदि दुहिता (पुत्री) की इच्छा हो तो अयुग्मदिनों में मैथुन करें अर्थात् पांचवें सातवें नौवें और ग्यारहवें दिन। सुश्रुत शारीर २ अ० में भी—

'०नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य। विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः।'

एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च।
प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै ॥

अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः। त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः' ॥ ६ ॥

न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा संसेवेत; न्युब्जाया वातो बलवान् स योनिं पीडयति, पार्श्वगताया दक्षिणे पार्श्वे श्लेष्मा संच्युतोऽपिदधाति[1], गर्भाशयं, वामे पित्तं पार्श्वे; तस्याः पीडितं विदहति रक्तशुक्रं; तस्मादुत्ताना सती बीजं गृह्णीयात्, तस्या हि

१ 'संच्यूतः पिदधाति' ग०।

यथास्थानमवतिष्ठन्ते दोषाः। पर्याप्ते चैनां शीतोदकेन परिषिञ्चेत्[1]॥

कामशास्त्र में सहवास के लिये तरह २ के बन्ध बताये हैं। परन्तु उस शास्त्र का उद्देश्य केवल उस विषय का आनन्द ही है। सन्तानोत्पत्ति से उसका उतना सम्बन्ध नहीं। सन्तानोत्पत्ति के लिये मैथुन के समय वही आसन वा बन्ध श्रेष्ठ कहा जा सकता है जहां आनन्द के साथ २ शुक्रशोणित का गर्भाशय में यथासमय उचितरूप से सम्मिश्रण और वृद्धि हो सके। अतः पुरुष को चाहिये कि वह अधोमुखी वा पार्श्व में लेटी हुई स्त्री से मैथुन न करे। अर्थात् पुरुष नीचे ऊपर की ओर मुख करके और स्त्री ऊपर नीचे की ओर मुख करके परस्पर मैथुन न करें। ना ही पार्श्व पर लेट कर। मैथुन के समय पुरुष को ऊपर रहते हुए नीचे की ओर मुख करना चाहिये और स्त्री को नीचे रहते हुए ऊपर को मुख करना चाहिये। सन्तान-शास्त्र में सहवास के लिये यही शुभ बन्ध है। अधोमुखी स्त्री का वायु बलवान् होता है और वह योनि को पीड़ित करता है। इस प्रकार योनि और गर्भाशय की दीवारें आपस में मिली रहती हैं इस कारण और साथ ही द्रव पदार्थ का नीचे की ओर बहने का स्वभाव वाला होने से मैथुन के समय त्वरित हुआ २ वीर्य वा शुक्राणु अव्याहत रूप से गर्भाशय वा डिम्बप्रणाली तक नहीं पहुंच सकता। यदि स्त्री मैथुन के समय दक्षिणपार्श्व पर लेटी हुई हो तो कफ च्युत हो कर गर्भाशय को बन्द कर देता है। वामपार्श्व में पित्त की स्थिति है। यदि वामपार्श्व पर लेटी हुई स्त्री से मैथुन होगा तो पीड़ित हुआ२ पित्त बीज रूप रक्त और वीर्य दोनों को विदग्ध कर देगा। कर देगा। अतः स्त्री को चाहिये कि वह उत्तान होकर अर्थात् ऊपर को मुख करके पीठ के बल लेटी हुई ही बीज (वीर्य) का ग्रहण करे।

---

१ एनां कृतरमणां स्त्रियं मैथुनश्रमोष्मप्रशमार्थं शीतोदकेन मुखनयनादिषु योनिषु च परिषिञ्चेत्। गङ्गाधरः॥

इस अवस्था में वात पित्त कफ अपने २ स्थान पर रहते हैं । मैथुन के समाप्त होने पर स्त्री को शीतल जल से परिषेचन करे । उस समय शीत जल के परिषेचन से मांसपेशियां सिकुड़ती हैं । जिस से योनि के मुख के सिकुड़ने पर भीतर क्षरित हुए २ वीर्य के अन्दर स्थिर रहने से गर्भोत्पत्ति की सम्भावना बहुत अधिक होगी । शीत जल के परिषेचन से मैथुनजनित श्रम और ऊष्मा भी शान्त होगी ॥७॥

तत्रात्यशिता क्षुधिता पिपासिता भीता विमनाः शोकार्ता क्रुद्धाऽन्यं च पुमांसमिच्छन्ती मैथुने चातिकामा वा नारी गर्भं न धत्ते, विगुणां वा प्रजां जनयति। अतिबालामतिवृद्धां दीर्घरोगिणीमन्येन वा विकारेणोपसृष्टां वर्जयेत्; पुरुषेऽप्येत एव दोषाः। अतः सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संसृज्येयाताम् ॥८॥

किन्हें मैथुन न करना चाहिये—जिसने बहुत अधिक खाया हो, भूखी, प्यासी, डरी हुई, उद्विग्न मन वाली, शोकग्रस्त, क्रुद्ध तथा अन्य पुरुष को चाहती हुई, मैथुन की अत्यन्त इच्छा वाली (अर्थात् पुरुष की इच्छा समाप्त हो जाय पर फिर भी अधिक मैथुन की इच्छा रखने वाली अथवा योनि में पुरुष के वीर्य का क्षरण हो जाने के बाद भी मैथुन की कामना वाली) स्त्री गर्भ को धारण नहीं करती । यदि गर्भ हो भी जाय तो सन्तान विगुण उत्पन्न होगी । अत्यन्त छोटी उम्र वाली, अत्यन्त बूढ़ी, दीर्घकाल से रोगी अथवा अन्य रोगों से पीड़ित स्त्री का त्याग करना चाहिये–उनसे मैथुन न करना चाहिये । १२ वर्ष की उम्र से छोटी उम्र वाली कन्या अतिबाला कहाती है । यद्यपि इस उम्र में भी गर्भस्थिति हो जाती है परन्तु प्रायः सन्तान अत्यन्त निर्बल होती है । कम से कम ४ वर्ष स्त्रीबीज को पूर्ण होने के लिये चाहियें । अर्थात् १६ वर्ष की कन्या से उत्तम सन्तान

१ अतिबाला अप्राप्तरजस्का ।

के उत्पन्न होने की आशा होती है। प्रायः १६ से २० वर्ष तक की कन्या में सब से अधिक सन्तानोत्पत्ति की समर्थता होती है। पश्चात् क्रमशः कम होती जाती है। सुश्रुतसंहिता शारीरस्थान १० अध्याय में—

'अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत्। पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति।

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भः कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्॥

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। अन्यत्र भी कहा गया है—

'बालेति गीयते नारी यावच्छोडशवत्सरम्।
ततः परन्तु तरुणी यावत्पञ्चाशतं व्रजेत्॥
तत ऊर्ध्वं भवेत्प्रौढा यावत्पञ्चाशतं व्रजेत्।
ततः परं भवेद्वृद्धा सुरतोत्सववर्जिता॥
बाला तु प्राणदा प्रोक्ता तरुणी प्राणधारिणी।
प्रौढा करोति वृद्धत्वं वृद्धा मरणमादिशेत्॥
निदाघशरदोर्बाला प्रौढा वर्षावसन्तयोः।
हेमन्ते शिशिरे योग्या वृद्धा क्वापि न शस्यते॥
सद्योमांसं नवान्नञ्च बाला स्त्री क्षीरभोजनम्।
घृतमुष्णोदकं चैव सद्यःप्राणकराणि षट्॥
पूतिमांसं स्त्रियो वृद्धा बालार्कस्तरुणं दधि।
प्रभाते मैथुनं निद्रा सद्यःप्राणहराणि षट्॥'

बाला से १६ वर्ष की कन्या ही अभिप्रेत है। सन्तानोत्पत्ति के लिए आयुर्वेदानुसार १६ वर्ष की कन्या को ही बाला जानना चाहिये।

उससे कम उम्र वाली कन्या अतिबाला कहायगी । यह सुश्रुतोक्त वचन से स्पष्ट ही है । और यह ही ठीक है । पुरुष में भी ये ही दोष हैं । अर्थात् पुरुष को भी मैथुन के समय अत्यधिक भोजन किये हुए न होना चाहिये और न वह भूखा प्यासा हो न उद्विग्न मन वाला न शोकग्रस्त न क्रुद्ध हो । न अन्य स्त्री पर आसक्त हो न अतिकामी हो । न अत्यन्त बाल हो न अत्यन्त वृद्ध हो न दीर्घरोगी हो न किसी अन्य रोग से ग्रस्त हो । अन्यथा या तो गर्भ ही न होगा और यदि हो भी गया तो वह स्वल्पायु रोगी आदि विगुण होगा। पुरुष १४ या १५ वर्ष तक अत्यन्त बाल होता है । इस समय शुक्राणु बनने आरम्भ होते हैं । २० वर्ष की अवस्था में प्रायः वीर्य में प्रबल शुक्राणु बनने प्रारम्भ होते हैं । और ४ या ५ वर्ष उनको श्रेष्ठ सन्तानोपयोगी वा परिपक्व होने में लगते हैं । अतः २५ वर्ष की आयु वाला पुरुष श्रेष्ठ सन्तान के उत्पादन में समर्थ होता है । २५ से ३० या ३२ वर्ष की उम्र तक पुरुष में सन्तानोत्पात्ति की प्रायः सर्वाधिक शक्ति होती है । तदनन्तर यह क्षीण होती जाती है । और अत्यन्त वृद्ध होने पर वीर्य में से पुनः शुक्राणु नष्ट हो जाते हैं । यह प्रायः ७०—७५ वर्ष की उम्र में होता है । सुश्रुत शारीर १० अध्याय में भी कहा है—

'पुरुषस्याप्येवंविधस्य त एव दोषाः सम्भवन्ति ।'

चिकित्सास्थान द्वितीय अध्याय के चतुर्थपाद में कहा भी जायगा—

'नर्ते वै षोडशाद्वर्षात्सप्तत्याः परतो न च ।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति ॥
अतिबालो ह्यसम्पूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन् ।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम् ॥
शुष्करूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम् ।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन् ॥'

तथा च अन्यत्र—

'पञ्चपञ्चाशतो नारी सप्तसप्ततितः पुमान् ।
द्वावेतौ न प्रसूयेते प्रसूयेते व्यतिक्रमात् ॥'

अर्थात् स्त्री की उत्पादनशक्ति ५५ वर्ष तक और पुरुष की ७७ वर्ष की उम्र तक अधिक से अधिक मानी गई है । Arthur Cooper ने लिखा है—

'Zoosperms are not found before puberty, but in healthy men they may continue to be produced until a late period of life. Curling found them several times in the testes of men upwards of seventy years of age, and once in a man of eighty seven. Duplay also discovered zoosperms in the testes of nine octogenarians, while Cooper states that Abel observed them in a man of ninty six.'

अभिप्राय यह है कि प्रायः १५–१६ वर्ष की आयु से पूर्व शुक्र में शुक्राणु नहीं होते । यद्यपि स्वस्थ वा वाजीकरण औषधों का सेवन करने वाले पुरुषों में ये बहुत बड़ी उम्र तक भी रह सकते हैं । ये शुक्राणु ७० वर्ष की उम्र से ऊपर के पुरुषों में भी पाये गये हैं यहां तक कि एबल नामक डाक्टर ने ९६ वर्ष की उम्र के एक पुरुष में भी उन्हें पाया । परन्तु प्रायः ७० वर्ष तक ये बहुधा पाये जाते हैं। इससे ऊपर की आयु के पुरुषों में पाया जाना अपवाद समझना चाहिये । यदि इन्हें अपवाद न भी माना जाय तो बड़े २ चिकित्सकों ने गवेषणा से यह सिद्धान्त निर्णय किया है कि यद्यपि किन्हीं २ अतिवृद्ध पुरुषों के वीर्य में भी शुक्राणु मिल सकते हैं पर उनमें प्रजोत्पादन शक्ति नहीं होती । वे शुक्राणु लम्बाई में आधे तथा अपेक्षया पतले होते हैं। क्षुद्रवीक्षण में देखने से यद्यपि उनमें कुछ गति दिखाई दे सकती है पर वे उस क्षेत्र में एक किनारे से दूसरे किनारे तक पार नहीं कर सकते । पूर्ण युवा पुरुषों के वीर्य के शुक्राणु लम्बे मोटे और

अधिक गति शील होते हैं। स्त्री में प्रायः उत्पादन शक्ति ५०—५५ तक होती है। इस अवस्था में स्त्रियों में रजोलोप (Menopause) होता है।

अतः सम्पूर्ण दोषों से रहित स्त्री पुरुषों को सन्तानोत्पत्त्यर्थ गृहस्थधर्म का पालन करना चाहिये ॥ ८॥

संजातहर्षौ मैथुने चानुकूलाविष्टगन्धं स्वास्तीर्णं सुखं शयनमुपकल्प्य मनोज्ञं हितमशनमशित्वा नात्यशितौ दक्षिणपादेन पुमान् वामपादेन स्त्री चारोहेत् ॥ ९ ॥

जब दोनों को हर्ष हो, मैथुन के लिये अनुकूल हों (दोनों की इच्छा हो) तब प्रिय गन्धों से युक्त तथा सुखदायक बिछौने को पलङ्ग पर अच्छी प्रकार बिछाकर स्वादु और हितकारक भोजन करके—परन्तु मात्रा से अधिक न खायें—पुरुष तो दक्षिण पैर से पलङ्ग पर आवे और स्त्री बायें पैर से ॥ ९ ॥

तत्र मन्त्रं प्रयुञ्जीत—'अहिरसि[1] आयुरसि सर्वतः प्रतिष्ठाऽसि धाता त्वां[2] दधातु विधाता त्वा दधातु ब्रह्मवर्चसा भवेदिति।'

'ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ ।
भगोऽथ मित्रावरुणौ पुत्रं वीरं दधातु मे ॥'

इत्युक्त्वा संवसेताम् ॥ १० ॥

पलङ्ग पर चढ़कर 'अहिरसि०' इत्यादि तथा 'ब्रह्मा बृहस्पतिः' इत्यादि मन्त्र बोलकर सहवास करें ॥ १० ॥

सा चेदेवमाशासीत बृहन्तमवदातं हर्यक्षमोजस्विनं शुचिं सत्त्वसम्पन्नं पुत्रमिच्छेयमिति शुद्धस्नानात्प्रभृत्यस्यै मन्थमवदातयवानां मधुसर्पिर्भ्यां संसृज्य श्वेताया गोः सरूपवत्सायाः पयसाऽऽलोड्य राजते कांस्ये वा पात्रे काले काले सप्ताहं सततं प्रयच्छेत्पानाय, प्रातश्च शालियवान्नविकारान् दधिमधुसर्पिर्भिः

१ अहिः सूर्यः। सूर्य इव दीप्तिमान् इत्यर्थः। २ 'वाग्' च.।

पयोभिर्वा संसृज्य भुञ्जीत, तथा सायमवदातशरणशयनासनयानवसनभूषणा च स्यात्, सायंप्रातश्च शश्वच्छ्वेतं महान्तमृषभमाजानेयं हरिचन्दनाङ्गदं पश्येत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत, सौम्याकृतिवचनोपचारचेष्टांश्च स्त्रीपुरुषानितरानपि चेन्द्रियार्थानवदातान् पश्येत्, सहचर्यश्चैनां प्रियहिताभ्यां सततमुपचरेयुः, तथा भर्ता, न च मिश्रीभावमापद्येयाताम् ॥ ११ ॥

यदि वह स्त्री चाहे कि मेरा पुत्र अच्छे बड़े शरीर वाला अवदात वर्ण (गौर) का, सिंह के समान पराक्रमी ओजस्वी पवित्र उत्तम मन वाला हो तो शुद्ध स्नान (चतुर्थदिन) से लेकर उस स्त्री को शुभ्र जौ के मन्थ (जलालोडित सत्तू) को शहद और घृत से मिश्रित करके श्वेत गौ—जिसका बछड़ा आकृति और वर्ण में उसी के सदृश हो—के दूध में आलोडित कर चांदी वा कांसी के पात्र में समय २ पर सात दिन तक प्रति दिन पीने के लिये दे। और प्रातःकाल वह स्त्री शालि वा जौ के भोज्य पदार्थों को दही शहद और घी से अथवा दूध के साथ मिलाकर खावे। तथा सायंकाल भी। उस स्त्री को अवदात (शुभ्र) वर्ण के गृह में रहना चाहिये। बिछौना आसन सवारी वस्त्र भूषण सब शुभ्र वर्ण के होने चाहियें। सायंकाल और प्रातःकाल प्रतिदिन श्वेतवर्ण के महान् शरीर के बैल वा श्वेत उत्तम घोड़े को, श्वेत चन्दन अथवा चांदनी को, तथा श्वेत वर्ण के अङ्गद (बाहु का भूषण, अनन्त, बाजूबन्द) को देखे। जो उसके पास जांय वे सौम्य और उसके मन के अनुकूल ही बातचीत करें। जिन स्त्री पुरुषों की आकृति वचन व्यवहार वा चेष्टायें सौम्य हों, उन्हें ही स्त्री देखे। तथा अन्य जो भी इन्द्रिय के विषय हैं वे भी अवदात वर्ण के ही देखे। उसकी सहेलियां प्रिय और हितकर ही निरन्तर व्यवहार करें और उसकी सेवा करें। इसी प्रकार पति भी प्रिय और हित व्यवहार करे। दोनों मैथुन न करें ॥ ११ ॥

इत्यनेन विधिना सप्तरात्रं स्थित्वाऽष्टमेऽहन्याप्लुत्याद्भिः सशिरस्कं भर्त्रा सह चाहतानि वस्त्राण्याच्छादयेदवदातान्यवदाताश्च स्रजो भूषणानि विभृयात् ॥ १२ ॥

इस प्रकार सात दिन करके आठवें दिन पत्नी और पति शिर सहित सम्पूर्ण स्नान करके नवीन जो फटे पुराने वा मलिन न हों ऐसे अवदात (शुभ्र) वस्त्र पहिरें और श्वेत ही मालायें और श्वेत ही भूषण धारण करें ॥ १२ ॥

तत ऋत्विक्प्रागुत्तरस्यां दिश्यागारस्य प्राक्प्रवणमुदक्प्रवणं[1] वा प्रदेशमभिसमीक्ष्य गोमयोदकाभ्यां स्थण्डिलमुपसंलिप्य, प्रोक्ष्य चोदकेन, वेदिमस्मिन् स्थापयेत्; तां पश्चिमेनानाहतवस्त्रसञ्चयेश्वेतार्षभे वाऽप्यजिन उपविशेद्ब्राह्मणप्रयुक्तः,राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे बास्ते वा; तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधूकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय, कुशैः परिस्तीर्य, परिधिभिश्च[2] परिधाय, लाजैः शुक्लाभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिरुपाकिरेत्; तत्र प्रणीयोदपात्रं पवित्रं पूतमुपसंस्कृत्य सर्पिराज्यार्थं[3] यथोक्तवर्णानाजानेयादीन् समन्ततः स्थापयेत् ॥ १३ ॥

तदनन्तर ऋत्विक् पूर्वोत्तर दिशा में गृह के पूर्व वा उत्तर दिशा में जो क्रमशः निम्न हो ऐसे भूभाग को देखकर गोवर और जल से फ़र्श वा पूजास्थान को लीप कर जल के छींटे देकर उसमें वेदी की स्थापना करे। उस वेदी के पश्चिम की ओर यदि यजमान ब्राह्मण हो तो स्वच्छ नवीन श्वेत वस्त्रों के समूह से बनाये आसन पर अथवा श्वेत बैल के चर्म पर ऋत्विक् बैठे । यदि यजमान क्षत्रिय हो तो व्याघ्र वा सांड के

---

१ 'प्राक्प्लवनमुदक्प्लवनं' ग. ।

२ 'परिधिभिरिति चतुर्भिः पलाशबृहद्दण्डैः, परिधायेति वेष्टयित्वा' चक्रः ।

३ 'सर्पिर्घृतं, आज्यार्थमिति मन्त्रपूतघृतकरणार्थम्' चक्रः ।

चर्म पर यदि यजमान वैश्य हो तो मृग अथवा बकरे के चर्म पर ऋत्विक् बैठे । उस २ आसन पर बैठा हुआ ऋत्विक् पलाश (ढाक) इङ्गुदी (हिंगोट), उदुम्बर (गूलर) अथवा मधूक (महुआ) की समिधाओं से अग्न्याधान करके कुशा को बिछाकर परिधि बनाकर अर्थात् वेदी के चारों ओर पलाश के चार दण्ड खड़े करके लाजा और सुगन्धि पुष्पों को चारों ओर बिखेर दे वा वेदी को सजादे । वहां पवित्र जलपात्र को मांज धोकर तथा मन्त्र से अभिमन्त्रित करके रखे और होम में घी के प्रयोग के लिये भी गव्य घृत का उचित संस्कार करके वहां रखे तथा चारों ओर उक्तवर्ण के श्रेष्ठ घोड़े आदियों को स्थापित करे । चूंकि यहां गौर वर्ण के पुत्र को स्त्री चाहती है अतः श्वेत वर्ण के घोड़े वा बैल आदियों की स्थापना की जायगी ॥ १३ ॥

ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो ब्राह्मणमुपवेश्या-नुलभेत सह भर्त्रा यथेष्टं पुत्रमाशासाना ॥ १४ ॥

तदनन्तर पुत्र को चाहने वाली स्त्री यथेष्ट पुत्र का मन में ध्यान करती हुई पति के साथ ब्राह्मण (ब्रह्मा) को दक्षिण की ओर बैठा कर अग्निसे पश्चिम की ओर बैठ जाय और जैसा ऋत्विक् कहे वैसा ही पीछे करते जांय ॥ १४ ॥

ततस्तस्या आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टिं[1] निर्वपेत् 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यनया ऋचा ॥ १५ ॥

तदनन्तर ऋत्विक् यथेष्ट पुत्र का ध्यान करती हुई स्त्री की योनि में (इच्छित पुत्रोत्पत्ति की) प्रजापति का निर्देश करके कामना की पूर्ति के लिए 'विष्णुर्योनिं कल्पयतु' इत्यादि ऋचा द्वारा अग्नि में काम्य इष्टि (पुत्रेष्टि) करे ॥ १५ ॥

---

१ यत्किञ्चित्फलमुद्दिश्य यज्ञदानजपादिकम् । क्रियते काम्यिक यच्च तत्काम्यं परिकीर्तितम् ॥

ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमभिघार्य[1] त्रिर्जुहुयात्, यथाम्नायं चोपमन्त्रितमुदकपात्रं तस्यै दद्यात्सर्वोदकार्थान् कुरुष्वेति ॥१६॥

तदनन्तर संस्कृत घी द्वारा स्थालीपाक को मिश्रित करके तीन आहुति दे। यथाशास्त्र मन्त्र से अभिमान्त्रित किया हुआ जलपात्र (जो पूर्व से ही वहां रखा हुआ था) स्त्री को दे और कह दे कि जितने भी जलकार्य होंगे वे इसी जल द्वारा करने होंगे ॥ १६ ॥

ततः समाप्ते कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् ॥ १७ ॥

तदनन्तर कर्म के समाप्त होने पर प्रथम दक्षिण पैर को उठाकर कदम रखती हुई अग्नि की प्रदक्षिणा करे। प्रदक्षिणा करते समय वेदी में आहित अग्नि दक्षिण हाथ की ओर रहनी चाहिये ॥ १७ ॥

ततो ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा सह भर्त्राऽऽज्यशेषं प्राश्नीयात्, पूर्वं पुमान् पश्चात्स्त्री; न चोच्छिष्टमवशेषयेत्; ततस्तौ सह संवसेतामष्टरात्रं तथाविधपरिच्छदावेव च स्यातां, तथेष्टपुत्रं जनयेताम् ॥ १८ ॥

तदनन्तर ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन होने पर यज्ञशिष्ट घृत को पति और पत्नी खावें। प्रथम पति खावे पश्चात् स्त्री। जूठा न छोड़ें। तदनन्तर वे दोनों स्त्री पुरुष आठ दिन तक सहवास करें। और वैसे ही (अवदात वर्ण के) वस्त्र आदि का धारण करते रहें। इस प्रकार वे इष्ट पुत्र को उत्पन्न करते हैं ॥ १८ ॥

या तु स्त्री श्यामं लोहिताक्षं व्यूढोरस्कं महाबाहुं च पुत्रमाशासीत, या वा कृष्णं कृष्णमृदुदीर्घकेशं शुक्लाक्षं शुक्लदन्तं तेजस्विनमात्मवन्तं, एष एवानयोरपि होमविधिः, किन्तु

---

[1] ' अभिघार्य मिश्रीकृत्य ' चक्रः । '०मभिसंसार्य' ग. ।

परिबर्हवर्ज्यं स्यात्, पुत्रवर्णानुरूपस्तु यथाशीः परिबर्होऽन्य कार्यः स्यात् ॥ १९ ॥

जो स्त्री श्यामवर्ण के, लाल आंखों वाले, विस्तृत एवं उन्नत छाती वाले महाबाहु (लम्बी बाहु वाले) पुत्र को चाहती है अथवा जो कृष्णवर्ण के, काले मृदु और लम्बे बालों वाले, श्वेत आंख वाले, श्वेत दांत वाले, तेजस्वी आत्मवान् पुत्र को चाहती है, इन दोनों के लिये भी परिबर्ह को छोड़कर शेष होम की विधि पूर्वोक्त ही है। अर्थात् होम तो पूर्ववत् ही होगा परन्तु स्त्री के अभिलषित पुत्र के वर्ण के अनुसार परिबर्ह (आसन, बिछौना, फूल, भोजन, वस्त्र गृह आदि) बनाना होगा। यदि श्याम पुत्र की इच्छा है तो परिबर्ह (आसन आदि) श्याम वर्ण के होंगे यदि कृष्ण पुत्र की इच्छा है तो परिबर्ह कृष्ण वर्ण का होना चाहिये।

अर्थात् जैसे गौर पुत्रोत्पत्ति के लिये श्वेत वर्ण के आहार वस्त्र और अलङ्कार आदि का विधान है वैसे ही श्याम वा कृष्ण वर्ण के पुत्र की उत्पत्ति के लिए उसी २ वर्ण वाले आहार आदि का विधान करना होगा ॥ १९ ॥

शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्याद्देवाग्निद्विजगुरुतपस्विसिद्धेभ्यः॥

शूद्रा स्त्री तो केवल मात्र देवता अग्नि द्विज (ब्राह्मण), गुरु तपस्वी तथा सिद्धों को नमस्कार मात्र ही करे। नमस्कार मात्र से ही उसे अभीष्ट वर्ण वाले पुत्र की प्राप्ति होगी ॥ २० ॥

या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्तान् जनपदान् मनसाऽनुपरिक्रामयेत्; ताननुपरिक्रम्य या या येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानामाहारविहारोपचारपरिच्छ-

---

१ 'परिबर्हः शयनासनपुष्पादिपरिच्छदः। तेन यथाविधा पुत्रेच्छा तथावर्णपरिबर्हः कर्तव्य इति वाक्यार्थः चक्रः।

दाननुविधत्स्वेति वाच्या स्यात्; इत्येतत्सर्वं पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातं भवति ॥ २१ ॥

और जो २ स्त्री जैसे २ पुत्र को चाहती हो उस २ स्त्री की उस पुत्रेच्छा को सुनकर उन २ देशों को मन में सोचने के लिये कहे (जहां के वैसे पुरुष होते हैं)। जो २ स्त्री जिन २ देशों के मनुष्यों के अनुरूप पुत्र को चाहती हो उसे उनका मन में चिन्तन करते हुए उन २ देशों के आहार विहार व्यवहार तथा वस्त्रपरिधान के अनुसार ही कार्य करना चाहिये-ऐसा उस स्त्री को उपदेश करे । अभिप्राय यह है कि जैसे पुत्र को स्त्री चाहे वैसा ही मन में चिन्तन करे और उन २ देशों के आहार विहार आदि का सेवन करे । पुत्र की उत्पत्ति में मन का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । यह पुत्र की कामनाओं की सिद्धि करने वाले कर्म की व्याख्या हो गई है ॥ २१ ॥

न तु खलु केवलमेतदेव कर्म वर्णवैशेष्यकरं भवति, अपि खलु तेजोधातुरप्युदकान्तरीक्षधातुप्रायोऽवदातवर्णकरो भवति, पृथिवीवायुधातुप्रायः कृष्णवर्णकरः, समसर्वधातुप्रायः श्यामवर्णकरः ॥ २२ ॥

परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि केवल ये ही कर्म विशेष वर्ण के होने में कारण नहीं । जल तथा आकाश धातु प्रधान तेजो (अग्नि) धातु अवदात (गौर) वर्ण को करता है । जब तेजोधातु में पृथिवी और वायु धातु अधिक मात्रा में संयुक्त हों तो काला वर्ण होता है । जब तेज में सब धातुएं अर्थात् शेष चारों भूत सम हों वहां श्यामवर्ण की उत्पत्ति होती है । सुश्रुत शारीर २ अ० में तो—

'तत्र तेजोधातुः सर्ववर्णानां प्रभवः । स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति । पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम् । यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते ।'

यहां पर तेज के साथ आकाश धातु की प्रधानता होने से गौर-श्याम वर्ण की उत्पत्ति कही है ।

वीर्य पर भी सन्तान के वर्ण का होना निर्भर करता है । परन्तु वीर्य में ये विशेषता आहार से होती है । परिणामतः महाभूतों की न्यूनाधिकता हो जाती है और वह विशेषवर्ण की सन्तान की उत्पत्ति के योग्य हो जाता है । तथा च अष्टाङ्गसंग्रह में—

'तत्र शुक्रे शुक्ले घृतमण्डाभे वा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं मध्वाभे श्यामत्वम् ।' इत्यादि

यदि वीर्य श्वेतवर्ण का हो तो गर्भ गौरवर्ण का होता है । यदि तैल के समान हो तो कृष्णवर्ण का और यदि मधु के सदृश वर्ण वाला हो तो श्यामवर्ण का होता है । परन्तु वीर्य में यह वर्ण की भिन्नता महाभूतों की न्यूनाधिकता से होती है । इसी प्रकार गर्भिणी के आहार विहार का भी गर्भ के वर्ण पर बहुत प्रभाव पड़ता है । यह पूर्वोक्त वचनों से स्पष्ट ही है ॥ २२ ॥

सत्त्ववैशेष्यकराणि पुनस्तेषां तेषां प्राणिनां मातापितृसत्त्वान्यन्तर्वत्न्याः श्रुतयश्चाभीक्ष्णं स्वोचितं च कर्म सत्त्वविशेषाभ्यासश्चेति ॥ २३ ॥

मन की भिन्नता में कारण—उन २ प्राणियों के मन की विशेषता में—माता पिता का मन, गर्भिणी स्त्री का निरन्तर बार २ विशेष भावों की निदर्शक कथा बातचीत आदि का सुनना तथा जिस कर्म का उसने स्वयं पूर्वजन्म में अभ्यास किया है और सत्त्वविशेष का अभ्यास—कारण होते हैं । अर्थात् गर्भ का मन माता पिता के मन के अनुसार, गर्भिणी के तत्कालीन मानसिक भावों के अनुसार और अपने पूर्व कर्म के अनुसार बनता है । परन्तु पीछे से जैसा अभ्यास किया जाय वैसा ही मन को परिवर्तित कर सकते हैं । यदि तामस सत्त्व का अभ्यास होगा तो मन तामस हो जायगा । यदि राजस मानसिक भावों का

निरन्तर चिन्तन होगा तो मन राजस होजायगा । यदि सात्विक मानस भावों का निरन्तर चिन्तन होगा तो मन शुद्ध सात्विक हो जायगा। योगी लोग अभ्यास द्वारा ही अपने मन को सात्विक कर लेते हैं। अभिप्राय यह है कि हम अपने विशेष अभ्यास द्वारा मन को बदल भी सकते हैं। चाहें तो बुरा बना सकते हैं और चाहें तो अच्छा। योगदर्शन में कहा है—

'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।' स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' ॥ २३ ॥

यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयोः स्त्रीपुरुषयोर्मिश्रीभावमापन्नयोः शुक्रं शोणितेन सह समेत्याव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायामप्रदुष्टे गर्भाशये गर्भमनिर्वर्तयत्येकान्तेन, यथा निर्मले वाससि सुपरिकल्पिते रञ्जनं समुदितगुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्तयति, तद्वत्; यथा वा क्षीरं दध्नाऽभिषुतमभिषवणाद्विहाय स्वभावमापद्यते दधिभावं, शुक्रं तद्वत् ॥२४॥

इस प्रकार उक्त विधि से संस्कृत शरीर वाले स्त्री और पुरुष के परस्पर मैथुन होने पर विकृतिरहित वीर्य विकृतिरहित शोणित (रज वा डिम्ब) के साथ मिलकर दोषरहित योनि में तथा दोषरहित गर्भाशय में अवश्य ही गर्भ को उत्पन्न करता है । अभिप्राय यह है कि गर्भ के अनपवाद रूप से उत्पन्न होने में वीर्य शोणित योनि गर्भाशय का शुद्ध वा दोषरहित होना अत्यन्त आवश्यक है। वीर्य और शोणित तो गर्भ के बीज ही हैं यदि इनमें विकृति हो तो गर्भ न उत्पन्न होने की आशंका होगी ही। इसी प्रकार गर्भाशय क्षेत्र है । यदि क्षेत्र शुद्ध न हो तो बीज के अच्छा होने पर भी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अपितु क्षेत्र के दुष्ट होने से बीज भी नष्ट हो जाता है । योनि उत्पादकसंस्थान में वह भाग है जहां से पुरुष के वीर्य का शुक्राणु चलता हुआ अन्दर जाता है। यदि यह अशुद्ध हो तो शुक्राणु

अन्दर पहुंचने से पूर्व ही नष्ट हो जायगा । अतः इन चारों का शुद्ध वा विकृतिरहित होना निश्चित गर्भोत्पत्ति के लिये अत्यावश्यक है । अर्थात् इन चारों के अदुष्ट होने पर निश्चय से गर्भ होगा । जैसे अच्छी प्रकार तय्यार किये हुए (बुनकर वा धोकर) निर्मल वस्त्र पर सम्पूर्ण गुणों से युक्त रंग वस्त्र के साथ लगते ही अपने रंग को प्रकट कर देता है वैसे ही । तात्पर्य यह है कि जैसे वस्त्र पर अच्छा रंग चढ़ाने के लिये वस्त्र का अच्छी प्रकार से बुना होना उसका निर्मल होना तथा रंग का अपने गुणों से युक्त होना आवश्यक है वैसे ही निश्चित गर्भ के लिये गर्भाशय योनि आदि की बनावट का ठीक होना शुद्ध होना तथा शुक्रशोणित बीज का अपने सब गुणों से युक्त होना आवश्यक है । जैसे हम उस वस्त्र वा रंग को देखकर निश्चय से कह देते हैं कि रंग अच्छा चढ़ेगा वैसे ही इन चारों के शुद्ध हो जाने पर गर्भ अवश्य होगा यह कहा जा सकता है । अथवा जैसे दही की लाग लगाया हुआ (मिश्रित) दूध उस लाग से अपने स्वभाव (दूधपना) को छोड़कर दही बन जाता है, वीर्य भी उसी शोणित की लाग से (संयोग से) अपने वीर्यभाव को छोड़कर गर्भभाव को धारण कर लेता है ॥ २४ ॥

एवमभिनिर्वर्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतुः पूर्वमुक्तः ॥

इस प्रकार उत्पन्न होते हुए गर्भ के स्त्री और पुंस्त्व में हेतु पूर्व-अतुल्यगोत्रीयाध्याय में—कहा जा चुका है—

रक्तेन कन्यामधिकेन पुत्रं शुक्रेण, तेन द्विविधीकृतेन ।
बीजेन कन्यां च सुतं च सूते यथास्वबीजान्यतराधिकेन ॥ इत्यादि ।

सुश्रुत शारीर ३ अध्याय में भी—

'शुक्रबाहुल्यात्पुमान् । आर्तवबाहुल्यात् स्त्री' ॥ २५ ॥

यथा हि बीजमनुपतप्तमुप्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं

हेतुविभागमनुविधीयेते ॥ २६ ॥

जैसे दोषरहित बीज को बोने से वह २ बीज अपने २ कारण के अनुसार ही उत्पन्न होता है अर्थात् यदि व्रीहि बोया जायगा तो व्रीहि का ही अंकुर निकलेगा अथवा यदि जौ बोया जायगा तो जौ ही पैदा होगा उसी प्रकार स्त्री पुरुष भी उक्त हेतु के अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। यदि रक्त प्रबल होगा तो कन्या यदि शुक्र प्रबल होगा तो पुत्रोत्पत्ति होगी। अर्थात् रक्त की प्रबलता होने पुत्राङ्कुर नहीं होगा और यदि शुक्र की प्रबलता होगी तो कन्याङ्कुर नहीं होगा ॥२६॥

तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्ती-भावात् प्रयुक्तेन सम्यक्; कर्मणां हि देशकालसम्पदुपेतानां नियतमिष्टफलत्वं, तथेतरेषामितरत्वम् । तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात् ॥

परन्तु इन दोनों अङ्कुरों को हम उनके स्त्रीत्व वा पुंस्त्व के व्यक्त होने से पूर्व-वेदोक्त (शास्त्रोक्त) कर्म का सम्यक् प्रकार से प्रयोग कर के बदल भी सकते हैं। पुत्राङ्कुर को कन्याङ्कुर में, और कन्याङ्कुर को पुत्राङ्कुर में बदला जा सकता है। कर्म शुभ देश शुभ काल आदि के अनुसार प्रयुक्त होने पर इष्ट फल का देने वाला होता है। जो कर्म अदेश और अकाल आदि में किया जाता है उस से अनिष्ट फल होता है—हानि होती है। अए एव स्त्री को गर्भ प्राप्ति होगई है—यह जानकर गर्भ के व्यक्त होने से पूर्व पुंसवन औषध देवे। अर्थात् जब तक गर्भ का स्त्रीत्व वा पुंस्त्व व्यक्त नहीं होता तबतक पुंसवन औषध दी जासकती है। व्यक्त होने के पश्चात् पुंसवन औषध देना व्यर्थ है। वह औषध विवर्तन का कार्य नहीं कर सकती। यह औषध दो मास तक सेवन कराई जा सकती है। इसके पश्चात् गर्भ के अङ्ग प्रत्यङ्ग प्रकट होने लगते हैं। R. Scott Stenenson ने लिखा है—

'It should be understood that the development of

the reproductive organs is practically the same in the two sexes upto the 5th or 6th week of intra-uterine life, and only then does the differentiation of the sexes begin to become evident.' ॥२७॥

गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गेऽनुपहते आदाय द्वाभ्यां धान्यमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौरसर्षपाभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्ये पिबेत्, तथैवापराञ्जीवकर्षभकापामार्गसहचरकल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य पयसा, कुड्यकीटकं मत्स्यकोद्रं[1] चोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य पुष्ये पिबेत्, तथा कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशेषतः पुष्येण, पुष्येणैव च पिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपाघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदकसंसृष्टस्य रसं देहलीमु[2]पनिधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत्पिचुना, इति पुंसवनानि; यच्चान्यदपि ब्राह्मणा ब्रूयुराप्ता वा पुंसवनमिष्टं तच्चानुष्ठेयम् ॥ २८ ॥

गौशाला में उत्पन्न हुए वटवृक्ष की पूर्व और उत्तर दिशा की दो शाखाओं से गन्धवर्ण रस आदि से पूर्ण तथा जो टूटे हुए न हों ऐसे दो शुङ्ग (अंकुर) लेकर गन्ध रस वीर्य आदि शुभगुणों से युक्त उड़द के दो दानों के साथ अथवा श्वेतसरसों के दो दानों के साथ दही में डाल कर पुष्य नक्षत्र में पीवे। इसी प्रकार जीवक ऋषभक अपामार्ग सहचर (झिण्टी); इनके कल्कों को युगपत् (एक साथ ही) अथवा एक २ करके सबसे अथवा यथेष्ट (दो से वा तीन से युगपत् वा एक एक करके) दूध को संस्कृत कर के पीवे। अर्थात् इनके कल्क से क्षीरपाक विधि से दूध को सिद्ध करके वह दूध पुष्य नक्षत्र में पीवे। अथवा इन के कल्क को दूध में डालकर पुष्य नक्षत्र में वह दूध पीवे।

१ अत्र मत्स्यकमिति पठित्वा गङ्गाधरः क्षुद्रमत्स्यकमेकमिति व्याचष्टे।
२ 'देहल्यामुपरि विधाय' च.।

एक अञ्जलि जल में कुण्डचकीटक (पंजाबी में--घैरणा ?) और मत्स्यकोद्र (मत्स्यहा)[1] को डालकर पुष्यनक्षत्र में पीवे । तथा सुवर्ण चांदी वा लोहे की बनाई हुई बहुत ही छोटी २ पुरुषाकृति मूर्तियों को अग्नि में लाल करके दही दूध अथवा जल में डालकर पुष्य नक्षत्र में उस दही दूध अथवा जल को सारा ही पी जाय, उच्छिष्ट न छोड़े । उन सुवर्ण आदि से बने छोटे २ पुरुषों को न पीवे क्योंकि वे पीने और खाने के योग्य नहीं । परन्तु गङ्गाधर उन्हें भी निगल जाने को लिखता है । 'अणु-प्रमाण' से वह भक्षण योग्य सूक्ष्म परिमाण का ग्रहण करता है । इन भक्षण योग्य सूक्ष्मपरिमाण में पुरुषाकृति मूर्ति बनाना ही असम्भव है । और पुष्य ही नक्षत्र में पकते हुए चावलों के आटे के पिण्ड की ऊष्मा को सूंघ कर जल से मिश्रित चावलों के उसी आटे के रस को पिचु से लेकर स्वयं दक्षिण नासापुट (नथुने) में डाले । यह पुत्रोत्पत्ति के लिये बताया है । यदि लड़की की इच्छा हो तो बांयें नथुने में डाले । और जो सुवर्ण आदि से पुरुष प्रतिमा बनाने का विधान है वहां स्त्रीप्रतिमा बनावे । स्त्रीप्रतिमा बनाकर गरम करके दही आदि में बुझावे और उसे गर्भिणी पीवे यदि लड़की की इच्छा हो तो । ये पुंसवन हैं । सुश्रुत शारीर २ अध्याय में—

'लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहः सु लक्ष्मणा वटशुङ्गासहदेवाविश्वदेवानाम-न्यतमं क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरे वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्र-कामायै न च तान्निष्ठीवेत् ।'

अष्टाङ्गसंग्रह शारीरस्थान अध्याय १ में—

लब्धगर्भां चैनां विदित्वा प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुष्ये पुंसवनानि प्रयुञ्जीत । द्वादशरात्रमित्यन्ये । तत्रापि युग्मदिनेष्विति केचित् । प्रत्यह-मित्यपरे । तद्यथा—लक्ष्मणावटशृङ्गसहदेवाविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेऽभि-षुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत् पिचुना वामे

[1] शायद इस से शफरी मत्स्य का ग्रहण है । क्योंकि गर्भ स्थित्यर्थ तो इस मत्स्य का प्रयोग देखा जाता है ।

तु दुहितृकामा । न चैतां निष्ठीवेत् । तथा पुष्योद्धृतायाः श्वेतबृहत्या मूलकल्कादसं नावयेत् । तद्वच्चोत्पलपत्रं कुमुदपत्रं लक्ष्मणामूलं वट-शृङ्गानि चाष्टौ च नावयेत् । शुक्लमाल्याम्बरधरा च नारी पुष्योद्-धृताया लक्ष्मणाया मूलकल्कमुदुम्बरमात्रं पयसा पिबेत् पुत्रस्योत्पादनाय स्थितये च । तद्वद् गौरदण्डमपामार्गं जीवकर्षभकौ शङ्खपुष्पीमण्डपण्डां सहचरन्नमजितमग्निजिह्वामष्टौ वा वटशृङ्गानि । शालिपिष्टस्य च पच्य-मानस्योष्माणमाघ्राय तद्रसं देहल्यां स्थिता पूर्ववत् नावयेत् ।'

और भी जो कुछ ब्राह्मण वा अन्य आप्त पुरुष पुंसवन के लिये कहें वह २ करना चाहिये ॥ २८ ॥

अत ऊर्ध्वं गर्भस्थापनानि व्याख्यास्यामः—ऐन्द्री ब्राह्मी शतवीर्या सहस्रवीर्याऽमोघाऽव्यथा शिवा बलाऽरिष्टा वाट्यपुष्पी विष्वक्सेनकान्ता च; आसामोषधीनां शिरसा दक्षिणेन पाणिना धारणं, एताभिश्चैव सिद्धस्य पयसः सर्पिषो वा पानं, एताभिश्चैव पुष्ये पुष्ये स्नानं, सदा समालभेत च ताः, तथा सर्वासां जीव-नीयोक्तानामोषधीनां सदोपयोगस्तैस्तैरुपयोगविधिभिः; इति गर्भस्थापनानि व्याख्यातानि भवन्ति ॥ २९ ॥

अब आगे गर्भस्थापन औषधों की व्याख्या की जायगी —ऐन्द्री, ब्राह्मी, शतवीर्या (दूर्वा), सहस्रवीर्या (दूर्वाभेद), अमोघा (पाटला अथवा लक्ष्मणा), अव्यथा (हरड़), शिवा (हरिद्रा, हल्दी), अरिष्टा (नागबला), वाट्यपुष्पी (महाबला), विष्वक्सेनकान्ता (वाराहीकन्द); इन दस गर्भास्थापन ओषधियों को शिर पर वा दाहिने हाथ में धारण करना । इन्हीं ओषधियों से सिद्ध दूध वा घी का पीना । इन्हीं से सिद्ध किये गये जल से जब २ पुष्य नक्षत्र हो उस समय स्नान करना । और इन्हीं औषधियों को सदा स्पर्श करे । तथा सब जीवनीयगणोक्त ओषधियों का उन २ उपयोग की विधियों से सदा उपयोग । ये गर्भस्थापन ओषधों

की व्याख्या हो गई है। ऐन्द्री इत्यादि गर्भस्थापन औषधियों की व्याख्या सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में भी हो चुकी है। वहां इन्हें प्रजास्थापन नाम से कहा गया है। जीवनीयगण की दश औषधियां भी उसी अध्याय में कही जा चुकी हैं। वे ये हैं—जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी। ऐन्द्री से चक्रपाणि आदि टीकाकार इन्द्रायण का ग्रहण करते हैं। पर इन्द्रायण के गर्भस्थापन करने में हमें सन्देह है। वह तो गर्भ को गिरा सकती है। आस्थापन तो क्या करना है। वस्तुतः ऐन्द्री को दिव्य औषधियों में से जानना चाहिये ॥ २१ ॥

गर्भोपघातकरास्त्विमे भावा भवन्ति; तद्यथा—उत्कटुकविषमकठिनासनसेविन्या वातमूत्रपुरीषवेगानुपरुन्धत्या दारुणानुचितव्यायामसेविन्यास्तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेविन्याश्च गर्भो म्रियतेऽन्तःकुक्षेरकाले वा स्रंसते शोषी वा भवति, तथाऽभिघातप्रपीडनैः श्वभ्रकूपप्रपातोद्देशावलोकनैर्वाऽभीक्ष्णं मातुः प्रपतत्यकाले, तथाऽतिमात्रसंक्षोभिभिर्यानैरप्रियातिमात्रश्रवणैर्वा; प्रततोत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति, विवृतशायिनी नक्तञ्चारिणी चोन्मत्तं जनयति, अपस्मारिणं पुनः कलिकलहशीला, व्यवायशीला दुर्वपुषमह्रीकं स्त्रैणं वा, शोकनित्या भीतमपचितमल्पायुषं वा, अभिध्यात्री परोपतापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा, स्तेना त्वायासबहुलमतिद्रोहिणमकर्मशीलं वा, अमर्षिणी चण्डमौपधिकमसूयकं वा, स्वप्ननित्या तन्द्रालुमबुधमल्पाग्निं वा, मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्रिया[1] शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिनं वा, वराहमांसप्रिया[2] रक्ताक्षं क्रथनमनतिपरुषरोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमिषं स्तब्धाक्षं वा, मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा, लवणनित्या शीघ्र-

१-२. 'मांसप्राया' पा०।

वलीपलितं खालित्यरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमबलमपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा, यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तद्विकारबहुलमपत्यं जनयति, पितृजास्तु शुक्रदोषा मातृजैरपचारैर्व्याख्याताः; इति गर्भोपघातकरा भावा व्याख्याताः ॥ ३० ॥

गर्भ के नाशक वा हानि पहुंचाने वाले ये भाव हैं—उकड़ू वा अन्य विषम और कठिन आसनों से बैठने वाली, वायु मूत्र वा मल के वेगों को रोकने वाली, अत्यन्त दारुण (Violent) अनुचित व्यायाम करने वाली, अति तीक्ष्णवीर्य अति उष्ण (गरम—वीर्य वा स्पर्श में) पदार्थों का सेवन करने वाली स्त्री के कोख में ही गर्भ मर जाता है, वा अकाल में ही गिर जाता है (उचित गर्भकाल से पूर्व ही गर्भपात होजाता है) अथवा वह गर्भ अन्दर ही सूख जाता है । तथा आघात वा किसी प्रकार का गर्भाशय पर दबाव पड़ने से, गड्ढे, कूंए में निरन्तर झांकने से वा प्रपात (waterfall) को जहां बहुत ऊंचे से गिरता है उस देश को और इसी प्रकार के अन्य ऊंचे स्थलों नीचे से लगातार देखने पर अकाल में ही माता का गर्भ गिर सकता है । अत्यधिक ऊंचे नीचे चलने से क्षोभ वा झटके देने वाले यानों पर सवारी करने से, अप्रिय शब्दों के सुनने से वा अत्यधिक शब्द के सुनने से (जैसे बम आदि के फटने की आवाज) अकाल ही में गर्भ गिर सकता है ।

निरन्तर पीठ के बल सीधा लेटने वा सोने वाली स्त्री के गर्भ की नाभिनाडी उस गर्भ के कण्ठ के चारों ओर लपेटा खा सकती है। जिससे कि गर्भ की मृत्यु होनी बहुत सम्भव है ॥

विवृत देश (अनाच्छादित देश) में अर्थात् खुली जगह पर (जहां चारों ओर कहीं भी पर्दा न हो) सोने वाली तथा रात्रि समय इधर उधर घूमने फिरने वाली—कार्य करने वाली गर्भिणी उन्मत्त सन्तान को उत्पन्न करती है। अथवा 'विवृत

शायिनी' का अर्थ गंगाधर के अनुसार यह भी हो सकता है कि जो स्त्री हाथ पैर और सब अङ्गों को खूब फैला कर सोती है । उसकी सन्तान उन्मत्त (पागल) पैदा होती है ॥

लड़ाकी तथा झगड़ालू गर्भिणी स्त्री की सन्तान अपस्मार (मृगी) युक्त होती है ।

जो नित्य मैथुन करती है यहां तक कि गर्भप्राप्ति होने पर भी निरन्तर मैथुन किये ही जाती है ऐसी स्त्री की सन्तान का शरीर हृष्ट पुष्ट नहीं होता अथवा उसके शरीर में अन्य विकृति हो सकती है । अथवा सन्तान निर्लज्ज और स्त्रैण (स्त्री के वश में अथवा स्त्रीस्वभाव) होती है ।

जो गर्भवती नित्य शोकातुर रहती है उसकी सन्तान डरपोक कृश शरीर वाली तथा अल्पायु होती है ।

मन २ में ही द्रोह करने वाली अथवा दूसरों की धन आदि वस्तुओं को चाहने वाली गर्भिणी स्त्री दूसरों को दुःख देने वाली ईर्ष्या रखने वाली तथा स्त्री स्वभाव सन्तान को जनती है ।

चोर गर्भवती स्त्री बहुत श्रम करने वाले, अत्यन्त द्रोही तथा दुष्कर्म करने वाले वा अकर्मण्य पुत्र को उत्पन्न करती है ।

क्रोध करने वाली गर्भिणी चण्ड (क्रोधी वा क्रूर), औपधिक (कपटी) और असूयक (दूसरे को गुणों में भी दोष का आरोपण करने वाली परनिन्दक) सन्तान को जनती है ।

हर समय नींद करने वाली गर्भिणी की सन्तान तन्द्रालु (निद्राशील) मूर्ख तथा अल्पाग्नि (मन्द जाठराग्नि युक्त) होती है ।

नित्य मद्य (शराब) पीने वाली गर्भिणी की सन्तान पिपासालु (जिसे बहुत ही प्यास लगती हो), कम स्मरण शक्ति वाली, अस्थिरचित्त उत्पन्न होती है ।

जो स्त्री गर्भावस्था के दिनों में भी प्रायः गोह का मांस खाती रहती है उसकी सन्तान शर्करा (रेत—urates का आना) अश्मरी

(पथरी) वा शनैर्मेह रोग से आक्रान्त होती है।

जो सूअर के मांस का प्रायः गर्भ के दिनों में सेवन करती रहती है वह लाल आंख वाली क्रथन (जिसका अकस्मात् श्वास रुक जाता हो अथवा हिंसाशील), अत्यधिक मोटे खुरदरे बालों वाली सन्तान को उत्पन्न करती है।

जो गर्भवती नित्य मछली वा मांस खाती है वह देर से पलक गिराने वाली तथा निश्चल आंखों वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। अर्थात् उसकी सन्तान बिना पलक मारे बहुत देर तक एकटक देखने वाली होती है।

जो गर्भिणी नित्य मधुररस का आहार करती है वह प्रमेही गूंगी वा अतिस्थूल सन्तान को उत्पन्न करती है।

जो नित्य अम्लरस का आहार खाती है उसकी सन्तान रक्तपित्त वा त्वचा या आंख के रोग से आक्रान्त होती है।

जो नित्य लवणरस का प्रयोग करती है उसकी सन्तान शीघ्र ही जरा के चिन्हों--वलीपलित (त्वचा पर झुर्रियां पड़ना और बालों का श्वेत होना) से आक्रान्त होती है अथवा गञ्जी होती है।

नित्य कटुरस का सेवन करने वाली दुर्बल अल्पवीर्य वाली सन्तान को उत्पन्न करती है। अथवा वह सन्तान प्रजोत्पादन में समर्थ नहीं होती—उसके कोई सन्तान नहीं होती।

जो नित्य तिक्तरस का आहार करती है उसकी सन्तान शोषरोग युक्त बलरहित अथवा कृश होती है।

नित्य कषायरस का सेवन करने वाली गर्भिणी श्यामवर्ण की वा आनाह या उदावर्त रोग से पीड़ित होने वाली सन्तान को जनती है।

जो जो जिस जिस रोग का निदान कहा गया है उस २ का सेवन करती हुई गर्भिणी उस २ विकार से प्रायः आक्रान्त सन्तान को उत्पन्न किया करती है।

ये माता के अपचार से होने वाली हानियां बताई हैं। इन्हीं से

ही पिता के अपचार से उत्पन्न वीर्य के दोषों की भी व्याख्या होगई है। अर्थात् जैसे माता के अपचार से सन्तान को बहुत हानि होती है इसी प्रकार यदि पिता भी अपचार करे तो दुष्ट वीर्य से शुभगुण युक्त सन्तान उत्पन्न नहीं हो सकती। दुष्ट वीर्य से उत्पन्न गर्भ भी अकाल में गिर सकते हैं, गर्भ में ही कालकवलित हो सकते हैं या सूख सकते हैं। अथवा अपने २ निदान के अनुसार उस २ वीर्य से उस २ रोगाक्रान्त सन्तान उत्पन्न हो सकती है। अतः गर्भाधानार्थ सहवास से कम से कम एक मास पूर्व से ही पुरुष को भी पूर्ण पथ्य से रहना चाहिये। अन्यथा सन्तान शुभ गुण युक्त न होगी ॥ ३० ॥

तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्; साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्यामाहारविहाराभ्याम् ॥ ३१ ॥

अतः शुभगुण युक्त सन्तान को चाहने वाली स्त्री को विशेषतः चाहिये कि वह अहितकर आहार विहार का त्याग करे। और सदाचारिणी रहती हुई हितकर आहार विहार से अपनी परिपालना करे ॥

पुरुष को भी इसी प्रकार हित आहार विहार में रत रहना चाहिये। और क्रोध आदि मानसिक दुर्भावों का त्याग करना चाहिये। सुश्रुत शारीर १० अ० में भी गर्भिणी के लिये हितकर आहार विहार बताया गया है ॥ ३१ ॥

व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत्, न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्, न रक्तमवसेचयेत्, सर्वकालं च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः, अष्टमं मासमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्वात्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिस्तदर्थकारिभिर्वोपचारः स्यात्, पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभयताऽन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या ॥ ३२ ॥

गर्भिणी के उपचार के लिये निर्देश—गर्भिणी स्त्री के रोगों में प्रायः मृदुवीर्य मधुर शीतल तथा सुकुमार औषध आहार वा उपचारों से चिकित्सा करनी चाहिये। गर्भिणी स्त्री को वमन विरेचन वा शिरोविरेचन का प्रयोग न कराना चाहिये। न रक्तमोक्षण करावे। और आत्ययिकरोग से अतिरिक्त काल में सर्वदा आस्थापन और अनुवासन भी न करे। परन्तु यदि कोई मारक रोग हो तो वहां कर्म कराना ही होगा। गर्भप्राप्ति के आठवें महीने से लेकर वमन विरेचन आदि से साध्य आत्ययिक रोगों में मृदु वमन विरेचन आदि द्वारा अथवा तदर्थकारी प्रयोगों द्वारा चिकित्सा करे। जैसे विरेचन औषध न पिलाकर गुदा में फलवर्ति आदि का रखना तदर्थकारी कहाता है। इसी प्रकार वमन औषध न देकर कवल वा निष्ठीवन आदि औषध देना तदर्थकारी कहायगा। जो वमन विरेचन शिरोविरेचन आदि के कार्य को सिद्ध करे वह ही यहां तदर्थकारी कहा गया है। यदि रोग वमन आदि साध्य न हों तो वमन आदि कराने ही न चाहिएं। परन्तु यदि रोग वमन आदि साध्य हों तो अष्टम मास से पूर्व तो कराये ही नहीं। अष्टम मास के बाद वमन आदि मृदु दे। यदि यह भी सह्य न हो तो निष्ठीवन कवल आदि धारण कराने चाहिएं। जैसे तैल से ऊपर किनारे तक भरे हुए पात्र को—कहीं तैल गिर न जाए इस भय से—पुरुष अत्यन्त ध्यान से बिना हिलाए डुलाए निष्कम्प भाव से हाथ में पकड़ कर ले जाता है वैसे ही गर्भिणी की चिकित्सा में भी गर्भ का ध्यान रखते हुए अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है। सुश्रुत शारीर अध्याय ३ में—

'तदाप्रभृति व्यवायं व्यायाममपतर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत ।'

तथा सुश्रुत शारीर १० अध्याय में—

अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः अशनीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भात्रिरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः॥' ३२॥

सा चेदपचाराद् द्वयोस्त्रिषु वा मासेषु पुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात्; अजातसारा हि तस्मिन् काले भवन्ति गर्भाः ॥ ३३ ॥

यदि अपचार (अपथ्य) से गर्भिणी स्त्री को दो वा तीन महीनों में रजःस्राव हो जाय तो—गर्भ नहीं ठहरेगा—यह जाने। क्योंकि उस समय तक गर्भ साररहित होता है। मांस आदि धातुओं में कठिनता स्थिरता वा प्रशस्तगुणयुक्तता नहीं उत्पन्न हुई होती ॥ ३३ ॥

सा चेच्चतुष्प्रभृतिषु मासेषु क्रोधशोकासूयेर्ष्याभयत्रासव्यवायव्यायामसंक्षोभसन्धारणविषमाशनशयनस्थानक्षुत्पिपासातियोगात्कदाहाराद्वा पुष्पं पश्येत्तस्या गर्भस्थापनविधिमुपदेक्ष्यामः; पुष्पदर्शनादेवैनां ब्रूयात्—शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषदवनतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति, ततो यष्टिमधुकसर्पिर्भ्यां परमशिशिरवारिणि संस्थिताभ्यां पिचुमाप्लाव्योपस्थसमीपे स्थापयेत्तस्याः, तथा शतधौतसहस्रधौताभ्यां सर्पिर्भ्यामधो नाभेः सर्वतः प्रदिह्यात्, गव्येन चैनां पयसा सुशीतेन मधुकाम्बुना वा न्यग्रोधादिकषायेण वा परिषेचयेदधो नाभेः, उदकं वा सुशीतमवगाहयेत्, क्षीरिणां कषायद्रुमाणां च स्वरसपरिपीतानि चेलानि ग्राहयेत्, न्यग्रोधादिसिद्धयोर्वा[1] क्षीरसर्पिषोः पिचुं ग्राहयेत्, अतश्चैवाक्षमात्रं प्राशयेत्प्राशयेद्वा केवलं च क्षीरसर्पिः, पद्मोत्पलकुमुदकिञ्जल्कांश्चास्यै समधुशर्करान् लेहार्थं दद्यात्, शृङ्गाटकपुष्करबीजकशेरुकान् भक्षणार्थं, गन्ध-

१ 'वसिद्धस्य वा क्षीरसर्पिषः' पा०।

प्रियङ्ग्वसितोत्पलशालूकोदुम्बरशलाटुन्यग्रोधशुङ्गानि वा पाययेदेनामाजेन पयसा, पयसा चैनां बलातिबलाशालिषष्टिकेक्षुमूलकाकोलीशृतेन समधुशर्करं रक्तशालीनामोदनं मृदुसुरभिशीतं[1] भोजयेत्, लावकपिञ्जलकुरङ्गशम्बरशशहरिणैणकालपुच्छकरसेन वा घृतसुसंस्कृतेन[2] सुखशिशिरोपवातदेशस्थां भोजयेत्, तथा क्रोधशोकायासव्यवायव्यायामतश्चाभिरक्षेत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोऽनुकूलाभिरुपासीत, तथाऽस्या गर्भस्तिष्ठति ॥ ३४ ॥

यदि चौथे महीने से लेकर अगले महीनों में क्रोध शोक असूया (परनिन्दा) ईर्ष्या भय डर मैथुन व्यायाम संक्षोभ वेगों का रोकना विषमभोजन विषमतया सोना वा लेटना विषमरूप से बैठना भूख प्यास; इनके अतियोग से वा अतितीक्ष्ण अत्युष्ण आदि निन्दित आहार के कारण गर्भिणी को रजःस्राव होने लगे उसके गर्भस्थापन के विधान का उपदेश करेंगे—पुष्पदर्शन (रजःस्राव) होने पर ही उस को कह दे कि तू नरम सुखदायक एवं शीतल बिछौना जिस पर बिछाया हो और जिसकी पांयत की ओर का पासा ऊंचा और शिर का पासा नीचा हो ऐसे पलङ्ग पर लेट जा। चारपाई वा पलङ्ग पर नरम बिछौना बिछा होना चाहिये। पांयत का पार्श्व ऊंचा होना चाहिये। चारपाई के पांयत के दोनों पैरों के नीचे ईंटें रख देने से वह पासा ऊंचा किया जा सकता है। सिरहाने वाला पार्श्व नीचा होना चाहिये। इससे रक्तस्राव के रोकने में बहुत सहायता मिलती है।

मुलहठी के चूर्ण और घी को अच्छी प्रकार मिश्रित करके परमशीतल जल में पूर्व से ही डाल छोड़ें। गर्भिणी स्त्री को लेटाने के बाद इस मलहम में पिचु को तर करके उस स्त्री के योनिद्वार में रख दें। तथा शतधौत (सौ वार धोये हुए) वा सहस्रधौत (हजार बार धोये हुए) घी

---

१ 'मृदुमधुरशीतलं' च. । २ 'घृतसलिलसिक्तेन' पा० ।

से नाभि के नीचे पेडू पर अच्छी प्रकार सत्र और चुपड़ दें । गौ के अत्यन्त शीतल दूध से अथवा मुलहठी के क्वाथ से अथवा न्यग्रोधादि-गण के क्वाथ से नाभि के नीचे पेडू पर परिषेचन करें । अथवा द्रोणी या टब में अच्छा शीतल जल डालकर उस में बैठ जाय । क्षीरी (वट पीपल गूलर पिलखन वेतस) वृक्षों और कषाय रस वाले वृक्षों के स्वरस को पीये हुए वस्त्रखण्डों को योनि में रखे । ये वस्त्रखण्ड पूर्व से ही तय्यार रखने चाहियें । वस्त्र खण्डों को स्वरसों में कई बार भिगोकर सुखा रखना चाहिये । स्वरस में वस्त्र को भिगोकर शुष्क कर लें पुनः भिगोयें और सुखा दें इस प्रकार छह या सातवार कर छोड़ें । ये ही वस्त्रखण्ड ऐसे समय पर काम देंगे । अथवा न्यग्रोधादिगण से यथा-विधि सिद्ध दूध वा घी में पिचु को भिगोकर योनि में दे दें । और इसी में से ही कर्ष परिमाण (२ तोला) घी खिलादें अथवा केवल क्षीरसर्पि (दूध से निकाला घी) खिलायें । दही से निकाला घी लाभ नहीं करता । रोगी को चाटने के लिये पद्म (श्वेत कमल) उत्पल (नीलोत्पल) कुमुद के केशरों को मधुशर्करा में मिलाकर दें । खाने के लिये सिङ्घाड़ा पुष्करबीज (कमलगट्टा) तथा कसेरू दें । अथवा गन्धप्रियङ्गु, नलिकमल, शालूक(कमल आदि की जड़), उदुम्बरशलाटु (गूलर का कच्चा फल) वट के शुङ्ग (अंकुर); इन के चूर्ण को बकरी के दूध के साथ पिलावें । बला मूल (खरैंटी की जड़) अतिबलामूल (ककही की जड़) शालिमूल षष्टिकमूल (सांठी की जड़) इक्षुमूल (ईख की जड़) काकोली; इनके क्वाथ से सिद्ध किये गये दूध के साथ लाल शालि चावलों के भात को मधुशर्करा मिलाकर खाने को दें । ये भात अच्छी प्रकार गला हुआ नरम

---

१ न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षमधूककपीतनककुभाम्रकोषाम्रचोरकपत्रजम्बूद्वयपियालमधुकरोहिणीवञ्जुलकदम्बबदरीतिन्दुकीसल्लकीलोध्रसावरलोध्रभल्लातकपलाशानन्दीवृक्षश्च । इति न्यग्रोधादि गणः । अस्य गुणाः—

न्यग्रोधादिर्गणो व्रण्यः संग्राही भग्नसाधकः ।
रक्तपित्तहरो दाहमेदघ्नो योनिदोषहृत् ॥

सुगन्धयुक्त तथा शीतल ही खाने को देना चाहिये। गरम भात खाने को न दे। अथवा सुखदायक शीतल तथा जहां वायु का सञ्चार हो ऐसी जगह पर बैठी हुई गर्भिणी को घी से साधित लावा कपिञ्जल (गौरैया) कुरङ्ग (हरिणविशेष) शम्बर (बाराहसिंगा) शशक (खरगोश), हरिण, एण (काला हरिण), कालपुच्छक (जिस हरिण की पूंछ काली होती है); इन के मांसरस के साथ लाल शालि का भात खाने के लिये दे। तथा उसे क्रोध शोक आयास (श्रम वा थकावट) मैथुन से बचाये रखे। मन को प्रिय एवं सौम्य कथाओं से उस के मन को बहलाता रहे। इस प्रकार करने से गर्भ ठहर जाता है॥३४॥

यस्याः पुनरामान्वयात्पुष्पदर्शनं स्यात्, प्रायस्तत्तस्या गर्भबाधकं भवति, विरुद्धोपक्रमत्वात्तयोः ॥ ३५ ॥

परन्तु चतुर्थमास से लेकर भी आमजनक हेतु से यदि पुष्पदर्शन (रजःस्राव) हो तो प्रायः वह रजःस्राव भी उसके गर्भ का बाधक–नाशक होता है। क्योंकि आमचिकित्सा और गर्भस्थापन ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। आम के लिये उष्ण तीक्ष्ण आदि चिकित्सा करनी होती है परन्तु इस चिकित्सा से रक्तस्राव और भी बढ़ जायगा और गर्भपात हो जायगा। यदि गर्भस्थापन के लिये शीत मृदु आदि चिकित्सा करें तो आम की वृद्धि होगी और हेतुकी वृद्धि से उत्पन्न रक्तस्राव और भी बढ़ेगा। अतः गर्भ का स्तम्भन हो ही नहीं सकता। यही कारण है कि आमजनक हेतु से उत्पन्न पुष्पदर्शन गर्भ का मारक ही होता है॥ ३५॥

यस्याः पुनरुष्णतीक्ष्णोपयोगाद्गर्भिण्या महति संजातसारे गर्भे पुष्पदर्शनं स्यादन्यो वा योनिप्रस्रावः, तस्या गर्भो वृद्धिं न प्राप्नोति निःस्रुतत्वात्, स कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रं, तमुपविष्टकमित्याचक्षते केचित् ॥ ३६ ॥

१ 'कालान्तर०' ग.।

जिस गर्भिणी का गर्भ बड़ा हो गया हो और उसमें सार उत्पन्न हो चुका हो—मांस आदि धातु कठिन हो चुके हों—उस समय उष्ण और तीक्ष्ण द्रव्यों के उपयोग से यदि पुष्पदर्शन (रजःस्राव) अथवा अन्य कोई योनि से स्राव होने लगे तो उसका गर्भ रक्त वा अन्य स्राव के निकलते रहने के कारण वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। अर्थात् जब उसके पोषक द्रव बाहिर ही निकलते जांयगे तो गर्भ की वृद्धि कैसे हो सकती है? वह बहुत काल तक गर्भाशय में ठहरा रहता है। उचित समय अर्थात् दसवें मास में उसका प्रसव नहीं होता वह गर्भाशय में ही रहता है। कालान्तर में गर्भ के पुष्ट होने पर प्रसव होता है इसे कई आचार्य उपविष्टक कहते हैं। अतुल्यगोत्रीयाध्याय में भी पूर्व कहा जा चुका है—

'आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा।

तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्॥'३६॥

उपवासव्रतकर्मपरायाः पुनः कदाहारायाः स्नेहद्वेषिण्या वातप्रकोपणोक्तान्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति परिशुष्कत्वात्, स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिमात्रं, अतिमात्रस्पन्दनश्च भवति, तं नागोदरमित्याचक्षते॥ ३७॥

उपवास व्रत आदि कर्म करने वाली स्वल्प भोजन करने वाली वा रूक्ष आदि कुत्सित आहार करने वाली जो स्नेह अर्थात् घृत तैल आदि का प्रयोग नहीं करती तथा वातप्रकोपक आहार का सेवन करने वाली गर्भिणी का गर्भ भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि गर्भिणी के आहार आदि के न खाने से अन्दर की धातुएं सूख जाती हैं—क्षीण हो जाती हैं। उसकी अपनी धातुएं क्षीण हो जाने से गर्भ की वृद्धि कैसे हो सकती है। जो थोड़ा सा आहार गर्भ को पहुंचता है उससे उसकी स्थिति वा जीवनमात्र ही बना रहता है, परन्तु वह पुष्ट नहीं होता। यह गर्भ भी दस मास से अधिक काल तक गर्भाशय में

१ 'कालान्तरमवतिष्ठतेऽतिमात्रमस्पन्दनश्च' ग.।

ही ठहरा रहता है । और अत्यधिक स्पन्दन (Quickeniug) करता है । उसे नागोदर कहते हैं । गंगाधर के पाठ के अनुसार यह गर्भ स्पन्दन नहीं करता वा अल्प ही स्पन्दन करता है । और वह ही शुद्ध पाठ प्रतीत होता है । सुश्रुत शारीर १० अ० में भी—

'वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः । स मातुः कुक्षिं न पूरयति । मन्दं स्पन्दते च ।'

'शुक्रशोणितं वायुनाभिप्रपन्नमवक्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोपशान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते । तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः । तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः ।'

तथाच लीनगर्भ का लक्षण करते हुए अष्टाङ्गसंग्रह में—

'यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः ।'

अतः उपशुष्कक वा नागोदर में स्पन्दनों का अल्प होना वा स्पन्दनों का सर्वथा न होना ही लक्षण होता है । आचार्य भी उपविष्टक और नागोदर की आगे चिकित्सा लिखते हुए—' यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते ' ऐसा उपक्रम बांधकर स्पन्दन उत्पन्न करने का उपचार भी बताते हैं ॥ ३७ ॥

नार्योस्तयोरुभयोरपि चिकित्सितविशेषमुपदेक्ष्यामः—भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धानां सर्पिषामुपयोगः,नागोदरे तु योनिव्यापन्निर्दिष्टपयसामामगर्भाणां गर्भवृद्धिकराणां च सम्भोजनमेतैरेव सिद्धैश्च घृतादिभिः सुभुसुक्षायाम्, अभीक्ष्णं यानवाहनावमार्जनावजृम्भणैरुपपादनमिति ॥ ३८ ॥

उन दोनों स्त्रियों की चिकित्सा का उपदेश करेंगे—अर्थात् उपविष्टक तथा नागोदर गर्भाक्रान्त गर्भिणियों की चिकित्सा का उपदेश—भूतों में हितकर अर्थात् भूतोन्माद आदि में कहे गये महापैशाचिक

१ 'सुभिक्षायाः' च. ।

घृत आदि के द्रव्यों से वा वचा गुग्गुलु आदि द्रव्यों तथा जीवनीय[1] बृंहणीय गणों मधुर तथा वातहर (रास्ना[2] आदि) द्रव्यों से सिद्ध किये हुए घृतों का उपयोग कराना चाहिये। नागोदर में तो योनिव्यापत् में निर्दिष्ट गर्भ की वृद्धि करने वाले दूधों का और आमगर्भ (बकरी आदि के कच्चे गर्भ वा पक्षियों के अण्डे) तथा अन्य गर्भवृद्धिकर योगों का उपयोग कराना चाहिये। भूख लगने पर इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध और घी आदि से संस्कृत आहार का भोजन और निरन्तर यान (गाड़ी आदि की सवारी) वाहन (घोड़े ऊंट आदि की सवारी) अवमार्जन (शुद्धि वा स्नान अभ्यङ्ग आदि) तथा अवजृम्भण (प्रिय तथा आश्वासन देने वाले वचन अथवा शरीर के प्रसारण) से चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३८ ॥

यस्याः पुनर्गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तां श्येनमत्स्यगवयतित्तिरिताम्रचूडशिखिनामन्यतमस्य सर्पिष्मता रसेन माषयूषेण वा प्रभूतसर्पिषा मूलकयूषेण वा रक्तशालीनामोदनं मृदुमधुरशीतं भोजयेत्, तैलाभ्यङ्गेन चास्या अभीक्ष्णमुदरवंक्षणोरुकटीपार्श्वपृष्ठप्रदेशानीषदुष्णेनोपाचरेत् ॥ ३६ ॥

जिस गर्भिणी का गर्भ सोया रहता है—स्पन्दन नहीं करता, उसे श्येन (बाज) मछली गवय (नीलगाय) तीतर मुर्गा मोर; इनमें से किसी एक के प्रभूत घृत युक्त मांसरस अथवा उड़द के यूष अथवा प्रभूत घृतयुक्त मूली के यूष के साथ जो अच्छी प्रकार गल जाने से नरम हो मधुर तथा शीतल लालशालि का भात खिलावे। और अल्प उष्ण तैल की पेट वंक्षण उरू कमर पार्श्व तथा पीठ पर निरन्तर मालिश करे ॥ ३६ ॥

---

१ जीवनीय और बृंहणीयगण सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में कहे जा चुके हैं।

२ रास्नात्रिकण्टकगुहातिगुहाश्वगन्धागन्धर्वहस्तकपिकच्छुपुनर्नवाभिः।
छिन्नाबलाद्विपबलातिबलावरीभिरित्यौषधीभिरनिलामयभिद्गणोऽयम् ॥
चिकित्साकलिकायाम् ॥

यस्याः पुनरुदावर्तविबन्धः स्यादष्टमे मासे न चानुवासनसाध्यं मन्येत, ततोऽस्यास्तद्विकारप्रशमनमुपकल्पयेन्निरूहं; उदावर्तो ह्युपेक्षितः सहसा सगर्भां गर्भिणीं गर्भमथवाऽतिपातयेत् ॥

जिस गर्भिणी को आठवें महीने में उदावर्त्त होकर मलबन्ध होगया हो और वह यदि अनुवासन से ठीक न होसकता हो तो उसके उस विकार को शान्त करने वाले निरूह (आस्थापन बस्ति) की कल्पना करें। क्योंकि उस समय यदि उदावर्त की चिकित्सा न की गई तो वह उदावर्त गर्भ और गर्भिणी दोनों को ही अथवा केवल गर्भ को नष्ट कर देता है॥

तत्र वीरणशालिषष्टिककुशकाशेक्षुबालिकावेतसपरिव्याधमूलानां भूतीकानन्ताकाश्मर्यपरूषकमधुकमृद्वीकानां च पयसार्धोदकेनोद्गमय्य[1] रसं पियालबिभीतकमज्जतिलकल्कसंप्रयुक्तमीषल्लवणमनत्युष्णं निरूहं दद्यात्; व्यपगतविबन्धां चैनां सुखसलिलपरिषिक्ताङ्गीं स्थैर्यकरमविदाहिनमाहारं भुक्तवतीं सायं मधुकसिद्धेन[2] तैलेनानुवासयेत्; न्युब्जां त्वेनामास्थापनानुवासनाभ्यामुपचरेत् ॥ ४१ ॥

उदावर्तनाशक निरूह—वीरण (खस) शालि सांठी कुश काश इक्षुबालिका (इक्षुभेद) वेतस तथा परिव्याध (जलवेतस), इन सब की जड़ें और भूतीक (तृणविशेष,रोहिषतृण) अनन्ता (दुरालभा अथवा अनन्तमूल), काश्मर्य (गाम्भारी) परूषक (फालसा) मधुक (मुलहठी) मृद्वीका (मुनक्का); इन्हें एकत्र लेकर दूध—जिसमें आधा जल मिश्रित हो—के साथ क्वाथ करके रस निकाल लें। इस क्वाथ में पियालमज्जा, [चिरौंजी] बहेड़े की गुठली की मींगी, तिल; इनका कल्क मिलाकर थोड़ा सा नमक डाल दें । यह निरूहबस्ति दें । बस्ति बहुत उष्ण न होनी चाहिये । जब इस प्रकार बस्ति के देने से विबन्ध नष्ट होजाय तो सुहाते जल से शरीर का परिषेचन करके

१ 'उद्गमय्य रसमिति क्वाथं निष्क्वाथ्य' चक्रः। २ 'मधुरकसिद्धेन' ग.।

स्थिरता करने वाले वा गर्भस्थापक अविदाही आहार को खाये और उस दिन सायंकाल मुलहठी से सिद्ध किये गये तैल से अनुवासन (स्निग्ध बस्ति) करे । नीचे मुख करके घुटनों के बल लेटी हुई गर्भिणी को आस्थापन और अनुवासन कराना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह शारीर ३ अ० में—

'गर्भिणीं तु न्युब्जामास्थापयेदनुवासयेद्वा । तथास्या विवृतमार्गतया सम्यगौषधमनुप्रविशति ।'[1]

यस्याः पुनरतिमात्रदोषोपचयाद्वा तीक्ष्णोष्णातिमात्रसेवनाद्वा वातमूत्रपुरीषवेगधारणैर्वा विषमाशनशयनस्थानसंपीडनाभिघातैर्वा क्रोधशोकेर्ष्यासूयाभयत्रासादिभिर्वा साहसैर्वाऽपरैः कर्मभिरन्तःकुक्षेर्गर्भो म्रियते, तस्याः स्तिमितं स्तब्धमुदरमाततं शीतमश्मान्तर्गतमिव भवत्यस्पन्दनो गर्भः शूलमधिकमुपजायते न चाव्यः प्रादुर्भवन्ति योनिर्न प्रस्रवत्यक्षिणी चास्याः स्रस्ते भवतस्ताम्यति व्यथते भ्रमते श्वसित्यरतिबहुला च भवति न चास्या वेगप्रादुर्भावो यथावदुपलभ्यत इत्येवंलक्षणां स्त्रियं मृतगर्भेयमिति विद्यात् ॥ ४२ ॥

मृतगर्भा स्त्री के लक्षण—अत्यधिक दोषों के संचय से अथवा अति उष्ण अति तीक्ष्ण द्रव्यों के अत्यधिक सेवन से अथवा वायु मूत्र पुरीष के वेगों के धारण से अथवा विषम भोजन से, विषमरूप से लेटने और बैठने से दबाव पड़ने से वा चोट से अथवा शोक क्रोध ईर्ष्या असूया (परनिन्दा) भय त्रास आदि मानसिक भावों से अथवा साहसों (अपनी सामर्थ्य से अधिक कार्य करना) से अथवा अन्य कर्मों के कारण जब गर्भ की मृत्यु गर्भाशय में ही हो जाती है तब उस

---

१ सर्वस्य वामपार्श्वस्थस्यास्थापनानुवासनविधाने गर्भिण्या न्युब्जत्वमपवादः । न्युब्जा जानुभ्यामधोमुखी भूमौ स्थिता । तथा हि जठरस्य लम्बत्वाद् बस्तेर्मार्गो विवृतो भवति ।

स्त्री का पेट स्तिमित (गीले वस्त्र से आच्छादित की तरह) स्तब्ध तथा तना हुआ और शीतल होता है। जैसे अन्दर कोई पत्थर पड़ा हो ऐसा स्त्री अनुभव करती है। गर्भ स्पन्दन रहित होता है—किसी प्रकार की गति नहीं करता। परीक्षा करने पर गर्भ के हृदय के स्पन्दन का शब्द भी सुनाई नहीं देता। अत्यधिक शूल होता है। आवी (प्रसव-कालीन वेदनाएं) उत्पन्न नहीं होतीं। योनि से कोई स्राव नहीं होता। उसकी आंखें शिथिल हो जाती हैं। आंखों के आगे अन्धकार आता है, दुःखी होती है, चक्कर आते हैं, श्वास अधिक चलते हैं, और बड़ी बेचैन होती है। यथावत् मूत्र पुरीष आदि के वेग की उत्पत्ति भी नहीं होती। इन लक्षणों से युक्त स्त्री को मृतगर्भा जाने। अर्थात् स्त्री के गर्भाशय में ही गर्भ मर गया है—ऐसा जाने। सुश्रुत मूढगर्भनिदान में कहा गया है—

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता।
भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ॥
मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडिताः।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च प्रपीडितः॥'

तथा अन्यत्र—

'यदा सोऽन्तर्मृतो गर्भो शूनो बस्तिरिवाततः।
तेनावृताया नार्यास्तु कुक्षिरानह्यते भृशम्।
उत्क्षिप्यन्त इवाङ्गानि मूत्रबस्तिश्च भिद्यते॥
क्लोम प्लीहा यकृच्चैव फुफ्फुसं हृदयं तथा।
गर्भेण पीडितं ह्येतदूर्ध्वं प्रक्रामति स्त्रियाः॥
सा शूयते मुह्यति च कृच्छ्रोच्छ्वासा च जायते।
पूतिगन्धस्तथा स्वेदो जिह्वा तालु च शुष्यति॥
वेपते भ्राम्यति तथा जीवितं चोपरुध्यते।
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयान्मृतं गर्भं चिकित्सकः॥'

तस्य गर्भशल्यस्य जरायुप्रपातनं कर्म संशमनमित्याहुरेके, मन्त्रादिकमथर्ववेदविहितमित्येके, परिदृष्टकर्मणा शल्यहर्त्राऽऽहरणमित्येके ॥ ४३ ॥

मृतगर्भा की चिकित्सा——उस मृतगर्भ-रूपी शल्य की शान्ति के लिये जरायु को गिराना चाहिये यह कई आचार्य मानते हैं । अर्थात् गर्भपातन औषधों द्वारा गर्भ को जरायु (वह झिल्ली जो गर्भ पर चढ़ी होती है) सहित बाहिर निकाल दे । कई आचार्य कहते हैं कि अथर्ववेद में कहे गये मन्त्र आदि द्वारा उसे गिराना चाहिये । कई आचार्यों (सुश्रुत आदि) का मत है कि दृष्टकर्मा शल्यचिकित्सक द्वारा यन्त्रशस्त्रों की सहायता से मृतगर्भ को बाहिर खींच लेना चाहिये । अभिप्राय यह है कि गर्भ को मृत हुआ जान उसे बाहिर निकालने में देरी न करनी चाहिये । यदि मन्त्र आदि विधान से गिर सकता है तो उससे, यदि औषध प्रयोग से बाहिर गिराया जा सकता है तो उस से, और नहीं तो शल्यकर्म द्वारा ही उसे बाहिर निकालना चाहिये । इसका वर्णन सुश्रुत के चिकित्सास्थान के पन्द्रहवें अध्याय में वर्णित है । वहां पर च्यावनमन्त्र भी दिये हैं, यथा——

'इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि ।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते ॥
इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघु गर्भमिमं विमुञ्चतु स्त्री ।
तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम् ॥
मुक्ताः पाशा विपाशाश्च मुक्ताः सूर्येन्दुरश्मयः ।
मुक्तः सर्वभयाद् गर्भ एह्येहि मा चिरं स्वाहा ॥'

'औषधानि च विदध्याद्यथोक्तानि । मृते चोत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या धन्वननगवृत्तिकाशाल्मलीमृत्स्नाघृताभ्यां प्रलिप्य हस्तं योनौ प्रवेश्य गर्भमुपहरेत् ' इत्यादि ।

विस्तृत वर्णन वहीं देखें ॥ ४३ ॥

व्यपगतगर्भशल्यां तु स्त्रियमामगर्भां सुराशीध्वरिष्टमधुमदिरासवानामन्यतममग्रे सामर्थ्यतः पाययेद्गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणार्थं प्रहर्षणार्थं च, अतः परं बृंहणबलानुरक्षिभिरस्नेहसंप्रयुक्तैर्यवाग्वादिभिर्वा तत्कालयोगिभिराहारैरुपचरेद्दोषधातुक्लेदविशोषणमात्रं कालं, अतः परं स्नेहपानैर्बस्तिभिराहारविधिभिश्च दीपनीयजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसमाख्यातैरुपचरेत् ॥

जिस कच्चे गर्भ वाली स्त्री का गर्भरूपी शल्य (जब गर्भ मर जाय तो वह उस समय शल्य कहाता है, क्योंकि अन्दर रहता हुआ वह उस गर्भिणी को अत्यन्त हानि पहुंचाता है यहां तक कि कुछ देर तक अन्दर रहने पर वह मृत्यु का कारण भी हो जाता है) निकल जाय तब सब से पूर्व गर्भाशय की विशुद्धि के लिये, पीडा को भुलाने के लिये तथा च प्रसन्नता को उत्पन्न करने के लिये उस के सामर्थ्य के अनुसार सुरा शीधु (ईख के रस से तय्यार की हुई मद्य) अरिष्ट मधु (मद्यविशेष) मदिरा वा आसव; इन में से किसी एक को पिलावे।

इसके बाद बृंहण बल की रक्षा करने वाली परन्तु स्नेह (घृत तैल आदि) से रहित यवागू विलेपी आदि वा तत्कालोपयोगी अन्य आहारों से चिकित्सा करें जब तक कि दोष वा धातु का क्लेद सूख नहीं जाता। अर्थात् इन आहारों के प्रयोग का काल तब तक ही जानना चाहिये जब तक दोष और धातु का क्लेद शुष्क नहीं होता। शुष्क होते ही इस अस्निग्ध चिकित्सा को छोड़कर स्निग्ध चिकित्सा करनी होती है। उस समय कहे गये दीपनीय जीवनीय बृंहणीय मधुर तथा वातहर स्नेहों के पिलाने से उन्हीं गुणयुक्त स्निग्ध बस्तियों से तथा उन्हीं गुणयुक्त आहार के विधानों से चिकित्सा करे ॥४४॥

---

१ 'रक्षिभिः स्नेह०' पा०। २ 'वा तत्कालं' ग०।

३ नोपेक्षेत मृतं गर्भं मुहूर्तमपि पण्डितः। स ह्याशु जननीं हन्ति निरुच्छ्वासं पशुं यथा ॥ सुश्रुत० ॥

४ इनके लक्षण और गुण सूत्रस्थान में कहे जा चुके हैं।

परिपक्कगर्भशल्यायाः पुनर्विमुक्तगर्भशल्यायास्तदहरेव स्नेहोपचारः स्यात् ॥ ४५ ॥

जिस स्त्री के गर्भाशय में परिपक्क गर्भ की मृत्यु हुई हो उस गर्भरूपी शल्य के औषध मन्त्र वा शल्यकर्म द्वारा बाहिर निकल जाने पर उसी दिन से स्निग्ध चिकित्सा करनी होती है ।

आमगर्भ-शल्य के निर्हरण के पश्चात् पूर्व अस्निग्ध चिकित्सा होती है पश्चात् दोष वा धातु के क्लेद के शोषण होने पर स्निग्ध चिकित्सा का विधान है, परन्तु परिपक्कगर्भ-शल्य के निर्हरण के पश्चात् स्निग्ध ही चिकित्सा होती है । सुश्रुत चिकित्सास्थान १५ अध्याय में भी—

'एवं निर्हृतशल्यां तु सिञ्चेदुष्णेन वारिणा ।
ततोऽभ्यक्तशरीराया योनौ स्नेहं निधापयेत् ॥
एवं मृद्वी भवेद्योनिस्तच्छूलं चोपशाम्यति ॥'   से लेकर
'व्युपद्रवां विशुद्धां च ज्ञात्वा च बलवर्णिनीम् ।
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो विसृजेत् परिहारतः ॥'

पर्यन्त पश्चात्कर्म बताया गया है । चार मास तक परिहार (परहेज़) से रहना चाहिये ॥ ४५ ॥

परमतो निर्विकारमाप्यायमानस्य गर्भस्य मासे मासे कर्मोपदेक्ष्यामः—प्रथमे मासे शङ्किता[1] चेद्गर्भमापन्ना क्षीरमनुपस्कृतं मात्रावच्छीतं काले काले पिबेदन्तर्वत्नी, सात्म्यमेव च भोजनं सायं प्रातश्च भुञ्जीत ॥ ४६ ॥

इसके पश्चात् गर्भ के विकार रहित बढ़ते रहने पर प्रतिमास जो जो कर्म होता है, उसका उपदेश करेंगे—यदि प्रथम मास में ही गर्भिणी को यह ज्ञात हो जाय कि गर्भ की प्राप्ति हो गई है तो वह समय २ पर शीतल दूध—जो औषधियों से संस्कृत न किया गया हो-

१ 'शङ्केत' च. ।

पीवे । सायं और प्रातः सात्म्य ही भोजन करे ॥ ४६ ॥

द्वितीये मासे क्षीरमेव च मधुरौषधसिद्धम् ॥४७॥

दूसरे महीने में मधुर औषधों से सिद्ध किया हुआ दूध पीवे । सायं प्रातः सात्म्य-भोजन तो प्रतिमास करना ही होगा ॥ ४७ ॥

तृतीये मासे क्षीरं मधुसर्पिर्भ्यामुपसंसृज्य ॥४८॥

तृतीय मास में दूध में मधु और घृत मिश्रित करके पिलावें । सुश्रुत शारीर १० अध्याय में—

'विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत । विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेच्चतुर्थे दध्ना, पञ्चमे पयसा, षष्ठे सर्पिषा चेत्येके ।' ४८ ॥

चतुर्थे मासे तु क्षीरनवनीतमक्षमात्रमश्नीयात् ॥४९॥

चौथे महीने में दूध से निकाला मक्खन (दही से नहीं) १ कर्ष परिमाण में खावे । अथवा कई टीकाकारों के मत से दूध और मक्खन मिश्रित करके प्रयोग करावे । सुश्रुत शारीर १० अ० में—

चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं भोजयेत् ।

पञ्चमे मासे क्षीरसर्पिः ॥ ५० ॥

पांचवें महीने में दूध और घी मिलाकर पीवे अथवा दूध से निकाला घी पीवे । सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'पञ्चमे क्षीरं सर्पिःसंसृष्टम् ।' ५० ॥

षष्ठे मासे क्षीरसर्पिर्मधुरौषधसिद्धम् ॥ ५१ ॥

छठे मास में मधुर औषध से सिद्ध किये गये क्षीरसर्पि (दूध से निकाले घी) का प्रयोग करे । सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा ॥ ५१ ॥

तदेव सप्तमे मासे ॥ ५२ ॥

सातवें महीने में भी मधुर औषधों से सिद्ध किये हुए क्षीरसर्पि का ही प्रयोग करना चाहिये । सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम् ।'

इस प्रकार इन प्रातिमासिक भोजनों से गर्भ की वृद्धि होती है॥५२॥

तत्र गर्भस्य केशा जायमाना मातुर्विदाहं जनयन्तीति स्त्रियो भाषन्ते। तन्नेति भगवानात्रेयः, किन्तु गर्भोत्पीडनाद्धि वातपित्तश्लेष्माण उरः प्राप्य विदहन्ति, ततः कण्डूरुपजायते, कण्डूमूला च किक्किशावाप्तिर्भवति ॥ ५३ ॥

स्त्रियां कहती हैं कि सातवें महीने में गर्भ के केश उत्पन्न होते हुए माता में विदाह को करते हैं । परन्तु भगवान् आत्रेय कहते हैं स्त्रियों का यह कहना ठीक नहीं । क्योंकि तृतीय मास से ही युगपत् अङ्ग प्रत्यङ्ग प्रकट होने लगते हैं । टटरी पर उस समय से ही रोआं उत्पन्न होने लगता है । चतुर्थमास में स्पष्ट दिखाई देता है । सातवें मास में तो पैदा होने आरम्भ नहीं होते तो सातवें मास से पूर्व क्यों विदाह उत्पन्न नहीं होता ? यदि यह मान भी लें कि वह उससे पूर्व इतने छोटे होते हैं कि विदाह नहीं कर सकते तो वे इतने नरम होते हैं कि उनसे विदाह होना कठिन ही है । इसके अतिरिक्त भ्रूण वा गर्भ पर जरायु चढ़ा रहता है । जरायु में गर्भोदक होता है और बीच में शिशु होता है । शिशु के बालों का कोई सम्बन्ध गर्भाशय की दीवारों से नहीं होता अतः कथञ्चिदपि गर्भ के केश विदाह को उत्पन्न नहीं कर सकते । सातवें मास में गर्भ के केश लगभग चौथाई इञ्च लम्बे होते हैं । वास्तव में विदाह का कारण तो उत्पीड़ित हुए २ वात पित्त कफ हैं । गर्भ के बढ़ जाने के कारण उत्पीड़ित हुए २ वात पित्त कफ हृदयदेश वा छाती पर पहुंच कर विदाह को उत्पन्न करते हैं । विदाह से कण्डू (खुजली) उत्पन्न होती है । और इस कण्डू के कारण किक्किस प्रादुर्भूत होते हैं । प्रथम के दो मासों में गर्भिणी के उदर का निचला भाग फैलता है । पांचवें महीने में यह वृद्धि स्पष्टतया दीखने लगती है । इस प्रकार शनैः २ प्रतिमास

दो २ अंगुल ऊपर की ओर की अगली दीवार ऊंची उठती आती है । अन्त में उरोदेश तक यह ऊंचाई दिखाई देती है । दसवें महीने में पुनः दो अंगुल नीचे आ जाती है । यह उदर की वृद्धि गर्भ वा गर्भाशय की वृद्धि के कारण होती है । गर्भ के कारण गर्भाशय के फैलने से तथा गर्भाशय की वृद्धि के कारण उदरभित्ति के खिंच जाने से त्वचा की निचली स्तर फट जाती है । जिससे उदर पर दरारें सी दिखाई देती हैं । ये दरारें उरःस्थल के नीचे भी पड़ जाती हैं । इन दरारों वा रेखारूप त्वक्सङ्कोच वा त्वग्विदरण को किक्किस (stria gravidarum) कहते हैं । यदि किसी अन्य कारण से भी उदरभित्ति तन जाय तो ये किक्किस दीख सकते हैं । अतः भी गर्भ के केशों को कारण मानना असङ्गत और सर्वथा अज्ञान है ॥ ५३ ॥

तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्रं काले कालेऽस्यै दद्यात्, चन्दनमृणालकल्कैश्चास्याः स्तनोदरं विमृद्नीयात् शिरीषधातकीसर्षपमधुकचूर्णैः कुटजार्जकबीजमुस्तहरिद्राकल्कैर्वा निम्बकोलसुरसमञ्जिष्ठाकल्कैर्वा पृषतहरिणशशरुधिरयुतया त्रिफलया वा, करवीरपत्रसिद्धेन वा तैलेनाभ्यङ्गः, परिषेकः पुनर्मालतीमधुकसिद्धेनाम्भसा, जातकण्डूश्च कण्डूयनं वर्जयेत्त्वग्भेदवैरूप्यपरिहारार्थं, अशक्यायां तु कण्डूवामुन्मर्दनोद्धर्षणाभ्यां परिहारः स्यात्, मधुरमाहारजातं वातहरमल्पमल्पस्नेहलवणमल्पोदकानुपानं च भुञ्जीत ॥ ४५ ॥

किक्किश-चिकित्सा——कण्डू वा किक्किस होने पर मधुर औषधों से सिद्ध किये गए मक्खन को १ कर्ष मात्रा में लेकर बेरों के क्वाथ के अनुपान से पीने के लिए गर्भिणी को दें । आजकल की शहरों में रहने वाली स्त्रियों के लिये मधुर औषध से संस्कृत मक्खन का प्रमाण आधा तोला ही पर्याप्त है । स्तन और उदर पर चन्दन तथा मृणाल (कमलदण्ड) के कल्क वा चूर्ण का मर्दन करें । अथवा शिरीष

(सिरींह–सिरस), धातकी (धाय के फूल) तथा मुलहठी के चूर्ण से अथवा कुटज (कुड़ा) अर्जकबीज (तुलसीबीज) मोथा हल्दी; इनके कल्क से अथवा नीम तुलसी और मञ्जिष्ठा के कल्क से अथवा पृषत (चित्तल हरिण) हरिण शशक; इनके रक्त से युक्त त्रिफला से स्तन और उदर पर मर्दन करें । कनेर के पत्तों से सिद्ध किये गये तैल का अभ्यङ्ग (मालिश) करना चाहिये । मालती के फूल तथा मुलहठी के क्वाथ से परिषेचन करना हितकर होता है । यदि खुजली चलती हो तो त्वग्भेद (किक्किस) से उत्पन्न होने वाली विरूपता से बचने के लिये रोगी को खुजलाना न चाहिये । यदि कण्डू (खुजली) असह्य ही हो तो उन्मर्दन (हाथ की तली आदि से मलना) वा उद्धर्षण (वस्त्र आदि का शरीर पर धीरे २ रगड़ना) से ही उस कण्डू को हटाये । नख आदि से खुजलाये नहीं । रोगिणी को वात-हर मधुर आहार अल्प परिमाण में खाना चाहिये । आहार में घी आदि स्नेह और नमक अल्प मात्रा में होने चाहियें । और जल भी कम ही पीवे ॥ ५४ ॥

अष्टमे तु मासे क्षीरयवागूं सर्पिष्मतीं काले काले पिबेत्, तन्नेति भद्रकाप्यः, पैङ्गल्याबाधो ह्यस्या गर्भमागच्छेदिति, अस्त्वत्र पैङ्गल्याबाध इत्याह भगवान् पुनर्वसुरात्रेयः, नह्येतद-कार्यं, एवं कुर्वती ह्यरोगाऽऽरोग्यबलवर्णस्वरसंहननसम्पदुपेतं ज्ञातीनां श्रेष्ठमपत्यं जनयति ॥ ५५ ॥

आठवें महीने में घृतयुक्त क्षीरयवागू पीवे । दूध से सिद्ध की हुई यवागू को क्षीरयवागू कहा गया है । दूध १४ गुना लेकर चावल की कणियों से यवागू सिद्ध करनी चाहिये ।

भद्रकाप्य कहता है—नहीं । क्योंकि क्षीरयवागू के सेवन से गर्भिणी के गर्भ का वर्ण पिङ्गल (पीतश्वेत) हो जाता है । अथवा नेत्र का

वर्ण पिङ्गल हो जाता है।

'पित्तेऽत्यर्थं प्रदुष्टे तु नेत्रयोः पिङ्गता स्मृता।'

भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा—वर्ण वा नेत्र की पिङ्गलता चाहे हो जाय पर यह नहीं कि क्षीरयवागू का प्रयोग ही न कराया जाय। इस प्रकार क्षीरयवागू का प्रयोग करने से अपनी ज्ञातियों में आरोग्य बल वर्ण स्वर शरीरसंगठन के शुभगुणों से युक्त श्रेष्ठ सन्तान को उत्पन्न करती है। अर्थात् यद्यपि पिङ्गलनेत्रता दोष है पर उसकी अपेक्षा आरोग्य आदि का श्रेष्ठ न होना और भी अधिक हानिकर है। क्षीरयवागू के प्रयोग से सन्तान नीरोग और बलवान् होती है चाहे उस का वर्ण वा उसके नेत्र पिङ्गल हों। और इस स्वल्पदोष की पीछे से चिकित्सा भी हो सकती है। महादोष से बचने के लिये यदि स्वल्प-दोष को स्वीकार करना पड़े तो उसे करना चाहिये। सुश्रुत शारीर १० अध्याय में—

'अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तुतैल-लवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गल-रसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्, एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनु-पद्रवा प्रसूयते' ॥ ५५ ॥

नवमे तु खल्वेनां मासे मधुरौषधसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अतश्चैवास्यास्तैलपिचुं योनौ प्रणयेद्गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम् ५६

नौवें महीने में गर्भिणी को मधुर औषधों से सिद्ध तैल से अनु-वासन कराना चाहिये। और इसी तैल से भीगे पिचु (फाहे) को गर्भाशय और गर्भ के निर्गममार्ग के स्नेहन के लिये योनि में रखे ५६

यदिदं कर्म प्रथमं माससमुपादायोपदिष्टमानवमान्मासात्, तेन गर्भिण्या गर्भसमये गर्भधारणे कुक्षिकटीपार्श्वपृष्ठं मृदु

भवति, वातश्चानुलोमः सम्पद्यते, मूत्रपुरीषे च प्रकृतिभूते सुखेन मार्गावापद्येते, चर्मनखानि च मार्दवमुपयान्ति, बलवर्णौ चोपचीयेते, पुत्रं चेष्टं सम्पदुपेतं सुखिनं सुखेनैषा काले प्रजायत इति ॥ ५७ ॥

जो प्रथम मास से लेकर नौवें मास तक का कर्म कहा गया है, उससे गर्भिणी के गर्भ के निर्गमन के समय और गर्भधारण में कुक्षि कमर पार्श्व पृष्ठ (पीठ) मृदु हो जाती है। वात अनुलोम हो जाता है। मूत्र और पुरीष प्रकृत्यवस्था में रहते हुए स्वाभाविकतया ही सुख पूर्वक अपने मार्ग में जाते हैं अर्थात् उचितरूप से मूत्र पुरीष की प्रवृत्ति होती है। मलबन्ध वा अतीसार आदि नहीं होते। त्वचा और नख कोमल हो जाते हैं। बल और वर्ण का सञ्चय होता है। शुभगुणों से युक्त नीरोग यथेष्ट पुत्र को बिना कष्ट के और ठीक काल में जनती है

प्राक्चैवास्या नवमान्मासात्सूतिकागारं कारयेदपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा बैल्वानां काष्ठानां तैन्दुकैङ्गुदकानां भल्लातकानां वारुणानां खादिराणां वा, यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः शंसेयुरथर्ववेदविदः, तद्वसनालेपनाच्छादनापिधानसम्पदुपेतं[1] वास्तुविद्याहृदययोगादग्निसलिलोलूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं[2] च ॥

सूतिकागार—नौवें मास से पूर्व ही गर्भिणी के लिये सूतिकागार तय्यार होना चाहिये। जहां से अस्थि (हड्डी) शर्करा (रेत वा कंकड़) तथा टूटे फूटे मट्टी के पात्रों के ठीकरे हटा दिये गये हों ऐसे स्वच्छ स्थान पर श्रेष्ठ रूप रस एवं गन्धयुक्त भूमि पर पूर्व वा उत्तर की ओर द्वार रखते हुए सूतिकागार बनाना चाहिये। बिल्व (बेल) तिन्दुक (तेंदू) इंगुदी (हिंगोट) भल्लातक (भिलावा) वरुण वा खदिर

---

१ '०पिधानसंपदुपेतं वास्तु विद्यात्। हृदययोगेनाग्नि' ग.। २ 'वास्तुविद्याहृदयं वास्तुविद्यातत्त्वं, तद्योगादग्न्यादीनां स्थानं यत्र' चक्रः।

(खैर) की लकड़ी से आगार का निर्माण हो। इन काष्ठों के अतिरिक्त अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण जिस २ काष्ठ को अच्छा कहें उस २ से सूतिकागृह बनवा सकते हैं। यह सूतिकागार शुभ वस्त्र शुभ आलेपन (गोबर वा कली आदि अथवा रंग रोगन आदि) शुभ आच्छादन (छत) और श्रेष्ठ गुण युक्त किवाड़ वा गवाक्ष (खिड़की रोशनदान अथवा धूंआ आदि के बाहिर निकलने की जगह आदि) से युक्त होना चाहिये। वास्तुविद्या के सिद्धान्तों के अनुसार अग्निस्थान सलिलस्थान (जलस्थान—प्याऊ जहां पीने का पानी रखा जा सके) उलूखलस्थान (जहां पर किसी द्रव्य को कूटा जा सके) वर्चःस्थान (Latrines पायखाना—पुरीषस्थान) स्नानभूमि (स्नानागार—गुस्लखाना), महानस (रसोई) आदि यथा स्थान बनाने चाहियें। यह सूतिकागृह ऋतु के अनुसार सुखकारी हो। ग्रीष्म ऋतु में अन्दर गर्मी न हो और सर्दियों में अन्दर शीत न लगे। सुश्रुत शारीर १० अ० में—

' नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ततिथ्यादौ। तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितसर्वागारं यथासंख्यं तन्मयपर्यङ्कमुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसम्पन्नं विधेयम्।' ५८॥

तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकाललवणविडङ्गकुष्ठकिलिमनागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहास्तिपिप्पलीमण्डूकपर्ण्येलालाङ्गलीवचाचव्यचित्रकचिरबिल्वहिंगुसर्षपलशुनकतककणकणिकानीपातसीबल्वजभूर्जकुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः स्युः, तथाऽश्मानौ द्वौ, द्वे चण्डमुसले, द्वे उदूखले, खरो वृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च बिल्वमयौ पर्यङ्कौ, तैन्दूकैङ्गुदानि च काष्ठा-

१ 'बल्वज' पा०।

न्यग्निसन्धुक्षणानि, स्त्रियश्च बह्वचो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सला-स्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिन्योऽभिमताः, ब्राह्मणाश्चाथर्ववेदविदो, यच्चान्यदपि तत्र समर्थं मन्येत, यच्चान्यच्च ब्राह्मणा ब्रूयुः स्त्रियश्च वृद्धास्तत्कार्यम् ॥ ५६ ॥

सूतिकागार में आहरणीय द्रव्य—उस सूतिकागार में घी तेल मधु (शहद) सैंधव (सेन्धानमक), सौंचलनमक कालानमक वाय-विडङ्ग गुड़ कुष्ठ (कुठ) किलिम (देवदारु) सोंठ पिप्पली पिप्पली-मूल हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली) मण्डूकपर्णी एला (इलायची) लाङ्गलिकी (लाङ्गली, कलिहारी) वचा चव्य चित्रक चिरबिल्व (करञ्ज) हींग सरसों लहसन कण (जीरा) कणिका (अरणी) नीप (कदम्ब) अतसी (अलसी) वल्बीज (कालीमिर्च), भूर्ज (भोजपत्र), कुलत्थ मैरेय सुरा आसव (अथवा सुरासव) रखे होने चाहियें । अन्य टीकाकार 'वल्बीज' से कूष्माण्ड का ग्रहण करते हैं ।

दो पत्थर, दो भारी मूसल (द्वे कुण्डमुषले' यह पाठ होने पर दो कूण्डी सोटे), दो ऊखल गदहा, बैल, सुवर्ण और चांदी के बने हुए दो तीक्ष्ण सूचीपिप्पलक (सूई और सूई रखने का पात्र), तीक्ष्ण लोह (फ़ौलाद) के बने प्रसवकालोपयोगी शस्त्र तथा बेल की लकड़ी के बने दो पलङ्ग होने चाहियें । तिन्दुक (तेन्दू) और हिंगोट का ईन्धन होना चाहिए। जिन्हें बहुत वार प्रसव हो चुका हो वा प्रसव कराया हो, मैत्रीभाव रखने वाली, निरन्तर अनुराग—प्रेम रखने वाली, प्रसूता के अनुकूल आचरण करने वाली वा कर्मदक्ष, प्रतिपत्तिकुशल (युक्तिकुशल अथवा इशारे से

---

१ 'हार्दयुक्ताः' च. ।

२ 'मैरेयं धातकीपुष्पगुडधान्याम्लसन्धितम् ॥
अथवा—आसवस्य सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने ।
सन्धानं तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम् ॥
परिपक्वान्नसन्धानसमुत्पन्नां सुरां जगुः ॥

समझ जाने वालीं अथवा कर्म के यथावत् अनुष्ठान में कुशल), स्वभावतः प्रिय, विषाद रहित, तथा क्लेश को सहने वालीं बहुत सी स्त्रियां रहनी अभीष्ट हैं। अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण भी वहां होने चाहिएं। अन्य भी जो पदार्थ आवश्यक हों वे पास रहने चाहिएं और जो कुछ ब्राह्मण वा वृद्ध स्त्रियां कहें वह २ करना चाहिए ॥ ५९ ॥

ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्तिं कृत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान्सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वा, उदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत्, ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणमनुवर्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत्सूतिकागारं, तत्रस्था च प्रसवकालं प्रतीक्षेत ॥

नौवें मास के लगने पर शुभदिन जब चन्द्र का योग प्रशस्त नक्षत्र के साथ हो शुभकरण में मैत्रमुहूर्त्त में शान्तिहोम (शान्तिपाठ आदि द्वारा) करके प्रथम गौ ब्राह्मण अग्नि और जल (जलपूर्ण कलश) को प्रविष्ट कराकर गौओं को चारा भूसा एवं जल तथा मधुयुक्त लाजा दे। और आसनों पर बैठे ब्राह्मणों को हाथ मुख आदि धुला कर तथा आचमन करवा के अक्षत पुष्प तथा नान्दीमुख श्राद्धोपयोगी (वृद्धि श्राद्धोपयोगी) अथवा मृदङ्गाकृति खजूर आदि इच्छित एवं मंगल फल दे और उन्हें अभिवादन करके पुनः आचमन के पश्चात् स्वस्तिवाचन करावे। तदनन्तर 'पुण्याहं पुण्याहं' शब्द से अथवा मङ्गलसूचक शब्दों से गौ और ब्राह्मण के पीछे २ प्रदक्षिणा करती हुई सूतिकागार में प्रविष्ट होवे और वहीं सूतिकागार में रहती हुई प्रसवकाल की प्रतीक्षा करे॥६०॥

तस्यास्तु खल्विमानि लिङ्गानि प्रजननकालमभितो भवन्ति; तद्यथा—क्लमो गात्राणां, ग्लानिराननस्य, अक्ष्णोः शैथिल्यं, विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः, कुक्षेरवस्रंसनं, अधो गुरुत्वं, वङ्क्ष-

...षवस्तिकटीकुक्षिपार्श्वपृष्ठनिस्तोदो, योनेः प्रस्रवणं, अनन्नाभिला-
षश्चेति; ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः प्रसेकश्च गर्भोदकस्य॥६१॥

प्रसवकाल के समय लक्षण—अङ्गों की क्लान्ति वा शिथिलता, मुख पर ग्लानि वा मुख का मुरझा जाना, चक्षुओं की शिथिलता, छाती का ऐसा प्रतीत होना जैसे बन्धन छूट गया है—क्योंकि इस समय गर्भ दो अंगुल नीचे की ओर झुक जाता है—जिससे फुफ्फुसों पर दबाव के कम होजाने के कारण छाती हलकी प्रतीत होती है। कुक्षि की शिथिलता अथवा गर्भाशय का नीचे खिसकना अर्थात् उरो-देश तक जो बढ़ गया था वहां अब उरोदेश से नीचे आजाता है। नीचे के भाग का भारी होना। वंक्षण बस्तिदेश कमर कुक्षि (कोख) पार्श्व पीठ इनमें दर्द होना। योनि से स्राव का बहना। अन्न के खाने में इच्छा न होनी।

तदनन्तर आवी (प्रसवकालीन वेदनाओं का दौरा) उत्पन्न होती हैं और गर्भोदक फूट कर बाहिर निकल आता है। सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने ।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी ॥'

'तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद्वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीष-प्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ।'

प्रसव वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा भ्रूण गर्भोदक अपरा तथा आवरण कलायें गर्भाशय से जुदा होकर बाहिर फैंक दी जाती हैं। ये दो प्रकार का हो सकता है—१ स्वस्थ प्रसव (Eutocia, Normal or physiological labour) २ विकृत प्रसव (Dystocia, Abnormal or pathological labour)।

स्वस्थप्रसव किसे कहते हैं? इस प्रश्न का उत्तर सुगम नहीं। तो भी हम यह कह सकते हैं कि जिस प्रसव में पूर्व शिर बाहिर

आवे, प्रसव उपद्रव रहित हो और माता के किसी विशेष प्रयत्न के विना २४ घंटे में समाप्त हो जाय वह प्रसव स्वस्थ-प्रसव कहाता है।

प्रसव होने से दो तीन सप्ताह पूर्व स्त्री को लाघव की अनुभूति होती है। गर्भाशय के उदर में नीचे उतरने के कारण वक्षःस्थल नीचे की ओर खिसक जाता है। जिससे वक्षोदरमध्यपेशी पर दबाव कम हो जाने से श्वास में सुगमता हो जाती है। अतएव लाघव का अनुभव होता है। इसके साथ २ चलने में कठिनता अधिक अनुभव होने लगती है तथा गर्भप्राप्ति के प्रारम्भिक सप्ताहों के समान मूत्र बार २ आने लगता है। प्रजायिनी के प्रसव से पूर्व के एक दो सप्ताहों में उत्पादक अंगों के स्राव बढ़ जाते हैं। भग गीला तथा पिलपिला हो जाता है। भगोष्ठों के बीच की दरार का अन्तर बढ़ जाता है।

गर्भाशय के आकुञ्चन से उत्पन्न होने वाली वेदनाओं से प्रसवकाल के प्रारम्भ का ज्ञान होता है। ये वेदनायें प्रारम्भ में तो हलकी होती हैं पर काल के साथ २ तीव्रतर होती जाती हैं। कटि और पीठ से प्रारम्भ होकर सामने उदर की ओर तथा जङ्घाओं तक जाती प्रतीत होती हैं। इस समय गर्भाशय-ग्रीवा का मुख खुलने लगता है तथा च जरायु और श्लेष्मकला के टुकड़ों के पृथक् होने से योनिद्वार से कफमिश्रित रक्त आता है। इस अवस्था को प्रथमावस्था वा प्रसारणावस्था (Stage of dilatation) कहा जाता है। यह अवस्था १२ से १८ घण्टे तक रह सकती है। इस अवस्था के अन्त में जरायु के फटने से अचानक गर्भोदक बहने लगता है। यदि जरायु न फटे तो उसे सावधानी से विदीर्ण कर देना चाहिये।

जरायु के फटने से वेदना में कुछ शान्ति होती है परन्तु कुछ ही काल के पश्चात् पुनः तीव्रतर वेदनाओं का दौरा प्रारम्भ होता है। ये वेदनायें गर्भ को जनने में सहायक होती हैं। इस समय गर्भाशय के

साथ ही उदर की अन्य मांसपेशियां भी आकुञ्चन करती हैं । ज्यों २ वेदना बढ़ती है उपस्थितप्रसवा स्त्री किसी कठिन पदार्थ को मुट्ठी में पकड़ कर दबाने का प्रयत्न करती है और पैरों को पांयत की ओर दबाती है साथ ही दीर्घ निःश्वास लेती है और उसे अन्दर रोके रखने का प्रयत्न करती है । इसे जृम्भण कहना चाहिये । जृम्भण से वक्षोदरमध्यभित्ति स्थिर हो जाती है और उदर की मांसपेशियां गर्भ के निर्हरण का कार्य करती हैं । इस समय उपस्थितप्रसवा का मुख रक्तवर्ण हो जाता है । पसीना आता है । जब दौरे में कुछ काल के लिये आवी (वेदनायें) शान्त होती हैं तब तो वह कई लम्बे लम्बे सांस लेती है । इन वेदनाओं से गर्भ का शिर बस्तिगुहा में आ जाता है और यदि आन्तें शुद्ध न हों तो बार २ मलत्याग की इच्छा होती है । प्रत्येक आकुञ्चन के साथ मल पिचक २ कर बाहिर आता है । वेदना के प्रत्येक दौरे में शिर अपेक्षया नीचे उतरता आता है । भगदेश पर जब शिर पहुंचता है तो वह स्थान उभर कर अण्डाकृति वा गोल हो जाता है। इसके बाद गुदद्वार भी फैलता है। अन्त में शिर का सब से चौड़ा भाग भग में आ जाता है । इस समय असह्य पीड़ा होती है और थोड़ी ही देर में सिर बाहिर आ जाता है । सिर के बाहिर आते ही कुछ काल के लिये शान्ति होती है । शिशु का मुख लाल हुआ होता है । अब पुनः वेदनायें प्रारम्भ होती हैं । शिशु का सिर घूम जाता है । यदि माता बांयी करवट पर पड़ी हो तो बच्चे का मुख ऊपर की ओर हो जायगा । सिर के बाद कन्धे और इस के बाद शेष शरीर बाहिर आ जाता है । जो गर्भोदक बचा रह गया था वह बह निकलता है। यह अवस्था प्रायः दो या तीन घण्टे तक रहती है। बहुशःप्रजाता स्त्रियों में यह अवस्था इससे स्वल्पकाल तक भी रह सकती है । यह द्वितीयावस्था है। इसे निर्हरणावस्था-गर्भनिर्गमावस्था (Stage of expulsion) भी कहते

हैं। इस अवस्था के पश्चात् गर्भाशय सिकुड़ जाता है और नाभि से नीचे तक पहुंच जाता है।

द्वितीयावस्था के बाद कुछ काल के लिये पुनः वेदनायें शान्त होती हैं। गर्भाशय पुनः आकुञ्चित होने लगता है। और वह स्पर्श में ठोस तथा कठिन अनुभव होता है। बीच २ में मृदु हो जाया करता है। जब बीच २ में वेदना शान्त होती है, योनि से अल्प २ रक्त बहने लगता है। इससे यह ज्ञात होता है कि अपरा गर्भाशय से पृथक् हो रही है। अन्त में एक तीव्र वेदना होकर अपरा गिर जाती है। सामान्यतः यह अवस्था २० मिनट लेती है। कभी २ कुछ क्षणों में ही और कभी एक घण्टे में यह अवस्था पूर्ण हो सकती है। इस अवस्था में जननी को शीत लगता है और कंपकपी होती है। इस तीसरी अवस्था को (Stage of delivery) विशल्यावस्था कहते हैं॥ ६१॥

आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यान्मृद्वास्तरणोपपन्नं, तदध्यासीत सा, तां ताः समन्ततः परिवार्य यथोक्तगुणाः स्त्रियः पर्युपासीरन्नाश्वासयन्त्यो वाग्भिर्ग्राहिणीयाभिः सान्त्वनीयाभिः॥

जब आवी उत्पन्न हों तब गदेला आदि नरम बिछौना भूमि पर बिछा दें। वह प्रजायिनी उस पर बैठ जाय वा लेट जाए। इस समय उक्तगुण-युक्त स्त्रियां चारों ओर से घेर कर हृदय को प्रिय लगने वाले और सान्त्वना देने वाले वचनों से आश्वासन देती हुई पास ही बैठी रहें वा परिचर्या करें। सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वास्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामाशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तित-

1 'तदध्यासीनां तां ततः' ग.। २ 'उपदिष्टवदर्थाभिधायिनीभिः' ग.।

नखाः परिचरेयुः ॥' ६२ ॥

सा चेदावीभिः संक्लिश्यमाना न प्रजायेताथैनां ब्रूयात्—उत्तिष्ठ मुसलमन्यतरत् गृह्णीष्वानेनैतदुदूखलं धान्यपूर्णं मुहुर्मुहुरभिजहि, मुहुर्मुहुरवजृम्भस्व चङ्क्रमस्व चान्तरान्तरा, इत्येवमुपदिशन्त्येके ॥ ६३ ॥

चिरप्रसव की चिकित्सा में कुछ एक आचार्यों का मत—प्रसवकालीन वेदनाओं के पौनःपुन्य से क्लेश पाती हुई प्रजायिनी स्त्री को यदि तब भी प्रसव न हो तो उसे कहें—कि खड़ी हो, एक मूसल पकड़ और इससे धान्यों से भरे हुए ऊखल में चोट लगा अर्थात् धान्य को कूट। बारम्बार जंभाई की तरह शरीर को प्रसारित कर। बीच २ में इधर उधर चल फिर—ऐसा कई आचार्य उपदेश करते हैं ॥ ६३ ॥

तन्नेत्याह भगवानात्रेयः—दारुणव्यायामवर्जनं हि गर्भिण्याः सततमुपदिश्यते, विशेषतश्च प्रजननकाले प्रचलितसर्वधातुदोषायाः सुकुमार्या नार्या मुसलव्यायामसमीरितो वायुरन्तरं लब्ध्वा प्राणान् हिंस्यात्, दुष्प्रतीकारा हि तस्मिन् काले विशेषेण भवति गर्भिणी, तस्मान्मुसलग्रहणं परिहार्यमृषयो मन्यन्ते, जृम्भणं चङ्क्रमणं च पुनरनुष्ठेयमिति ॥ ६४ ॥

भगवान् आत्रेय का मत—भगवान् आत्रेय कहते हैं, कि नहीं। गर्भिणी स्त्री को कदाचिदपि दारुण (Violent) व्यायाम न करना चाहिए, विशेषतः प्रसव के समय। क्योंकि उस समय सुकुमारी स्त्री के सब धातु और दोष अपने स्थान से हिले होते हैं। ऐसे समय मूसल के अभिघातरूप व्यायाम से प्रेरित वा प्रवृद्ध हुआ वायु अवकाश पाकर प्राणों का घातक हो जाता है। विशेषतः प्रसव के समय गर्भिणी स्त्री की चिकित्सा बड़ी ही कठिन होती है। अतएव ऋषि उस समय मूसल से कूटने को त्याज्य कहते हैं। परन्तु जृम्भण (जंभाई लेना वा जम्भाई के सदृश गात्र को प्रसारित करना) और चङ्-

क्रमण (चलना फिरना) तो करना ही चाहिए ।

अभिप्राय यह है कि यदि वेदनाओं के दौरे तो लगातार हो रहे हों परन्तु प्रसव में देर हो रही हो तो जृम्भण और चंक्रमण द्वारा प्रसव को शीघ्र होने में सहायता देनी चाहिये । किंतु इस कार्य के लिए प्रजायिनी को किसी दारुण व्यायाम की आज्ञा न होनी चाहिए । जृम्भण का कार्य स्वाभाविक भी होता है । द्वितीयावस्था में--जिसे निर्हरणावस्था वा stage of expulsion कहते हैं--स्त्री हाथ में किसी कठिन पदार्थ को पकड़ कर जकड़ना चाहती है और पैर को पांयत की ओर दबाती है ॥ ६४ ॥

अथास्यै दद्यात्कुष्ठैलालाङ्गलिकीवचाचित्रकचिरबिल्वचूर्णमुपाघ्रातुं, सा तन्मुहुर्मुहुरुपजिघ्रेत्, तथा भूर्जपत्रधूमं शिंशपाधूमं वा, तस्याश्चान्तरान्तरा कटीपार्श्वपृष्ठसक्थिदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमवमृद्नीयात्, इत्यनेन तु कर्मणा गर्भो-[1]ऽवाक्प्रतिपद्यते ॥ ६५ ॥

तदनन्तर प्रजायिनी को कुष्ठ (कुठ), एला (छोटी इलायची), लाङ्गलिकी (कलिहारी), वचा, चित्रक, चिरबिल्व (करञ्ज); इनका चूर्ण सूंघने के लिए दे । वह इस चूर्ण को बार २ सूंघे । तथा भोजपत्र के धूंए को अथवा शीशम के धूंए को सूंघे । बीच २ में कमर पार्श्व पीठ तथा ऊरू पर कोसा तैल चुपड़ कर धीमे २ जैसे वह आराम अनुभव करे, मर्दन करे । इस कर्म से गर्भ नीचे की ओर जाता है—उसकी गति अधोमुख होजाती है ॥ ६५ ॥

स यदा जानीयाद्विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तिशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः, परिवर्तते अधो गर्भ इति; अस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहितुमुपक्रामयेत्[2] ॥६६॥

कर्णे चास्या मन्त्रमिममनुकूला स्त्री जपेत् ।

---

१ 'अस्या अवाग्गर्भः' ग. । २ 'प्रवाहयितुमुपक्रमेत' ग.।

'क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः ।
सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥ ६७ ॥
प्रसुव त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने ।
कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम्' इति ॥ ६८ ॥

वह वैद्य जब यह जाने कि गर्भ, हृदय को छोड़कर नीचे की ओर आ रहा है, बस्तिशिर को पकड़ता है, आवी शीघ्रता करवाती हैं (वेदनायें गर्भिणी को व्याकुल कर देती हैं), गर्भ नीचे की ओर परिवृत्त हो गया है, ऐसी अवस्था में उपस्थितप्रसवा गर्भिणी को पलङ्ग पर लेटाकर प्रवाहण (कुन्थन) करना प्रारम्भ करवाये ॥ और उसकी कोई सहेली उसके कान में ये मन्त्र जपे—

क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः ।
सगर्भां त्वां सदा पान्तु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥
प्रसुव[1] त्वमविक्लिष्टमविक्लिष्टा शुभानने ।
कार्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम् ॥

पृथिवी जल आकाश अग्नि वायु विष्णु प्रजापति ये सब तुझ गर्भिणी की रक्षा करें और गर्भ के बाहिर आ जाने की आज्ञा करें । हे शुभानने ! तू क्लेशरहित होती हुई दुःख वा क्लेश से रहित-नीरोग कार्तिकेय के सदृश शोभायुक्त तथा कार्तिकेय से रक्षा किये गये पुत्र को जन ।

अभिप्राय यह है कि जब प्रसव होने का काल बहुत ही समीप होता है तो गर्भ वा गर्भाशय उदर में नीचे की ओर उतर आते हैं और इसका भार बस्तिशिर (मूत्राशय के ऊपर का भाग) पर पड़ता है । इस समय मूत्र भी बार २ आता है । इसके साथ ही वेदनायें भी स्त्री को व्याकुल कर देती हैं । ये वेदनायें गर्भाशय के आकुञ्चन से होती हैं । इन प्रसवकालीन वेद-

1 'प्रसुष्व' च. ।

नाओं का विशेष नाम आवी है । प्रसव में दो प्रकार की शक्तियां (Powers) काम करती हैं । एक मुख्य और एक गौण । गर्भाशय की मांसपेशियों की कार्य की शक्ति को मुख्य शक्ति कहते हैं । तथा उदर की मांसपेशी की शक्तियों को यहां गौण शक्ति कहा गया है । प्रथमावस्था में केवल मुख्य शक्ति ही कार्य करती है । अर्थात् केवल गर्भाशय का आकुञ्चन और प्रसारण होता है । गर्भस्थिति काल के अधिक भाग में समय २ पर गर्भाशय में सान्तर आकुञ्चनों की तरङ्गें चलती रहती हैं । इन्हीं तरङ्गों की अतिशय वृद्धि प्रसूति के आकुञ्चनों के रूप में परिणत हो जाती है । ये इतनी बढ़ जाती हैं कि जिससे वेदना प्रतीत होने लगती है । इस समय आकुञ्चनों (Contractions) के साथ गर्भाशय संकुचित (Retract) भी होता है वा पुनः वक्र होकर झुकता भी है । इस से गर्भाशय का आयतन वा समाव लगातार अधिकाधिक घटता जाता है । जिससे गर्भ का निर्गम होता है । गर्भाशय का आकुञ्चन और वेदना ये पर्याय से ही हो गये हैं । क्योंकि गर्भाशय के आकुञ्चन के समय वेदना ही सब से अधिक प्रत्यक्ष लक्षण होता है । आकुञ्चित होते हुए मांसतन्तुओं के वातनाड़ी-तन्तुओं पर दबाव डालने से यह वेदना होती है ।

द्वितीयावस्था में जब सिर निकलने लगता है तब गर्भनिर्गममार्ग के अत्यन्त खिंचाव के कारण वेदना बहुत बढ़ जाती है । जिस समय गर्भ का शिर भगगुदान्तर स्थान पर खिसकता है तब तो मर्मान्त वेदना होती है । वेदना की अधिकता वा स्वल्पता प्रतिव्यक्ति बदलती रहती है । कभी २ किसी को तो वेदना सर्वथा ही प्रतीत नहीं होती ।

गर्भाशय का आदर्श (Typical) आकुञ्चन बहुत ही निश्चित प्रकार का होता है। यह शनैः शनैः प्रारम्भ होता तथा धीरे २ बढ़कर पराकाष्ठा को पहुंच जाता है। यह पराकाष्ठा एक या दो क्षण रहती है, उसके पश्चात् ह्रास होते हुए दूसरे आकुञ्चन से पूर्व विश्राम वा शान्ति का अन्तर आता है। इस प्रकार एक चक्र बन जाता है। इन सान्तर

आकुञ्चनों की उपयोगिता बहुत अधिक है। क्योंकि ये जननी को विश्राम देते हैं। गर्भ तथा उदर के अङ्गों पर के दबाव को दूर करते हैं। वेदना की पराकाष्ठा पर होने वाले अपरा के रक्तपरिवाह को पुनः प्रवाहित होने देते हैं। अर्थात् यदि बीच २ में विश्राम न हो तो गर्भ और गर्भिणी दोनों को ही अत्यन्त हानि पहुंच सकती है यहां तक मृत्यु भी शायद हो जाय।

ज्यों २ प्रसवकाल समीप आता जाता है त्यों २ वेदनायें भी अधिक देर तक अति प्रबल तथा बहुत जल्दी २ होने लगती हैं। प्रारम्भ २ में गर्भाशय के आकुञ्चन ३० सैकण्ड तक रह सकते हैं तथा १० या २० मिनट के अन्तर से होते हैं। परन्तु प्रसव के अति समीप काल में ये ६० से ९० सैकण्ड तक रहते हैं और प्रत्येक दूसरे या तीसरे मिनट पर होने लगते हैं। इस प्रकार वेदनायें शीघ्र २ उत्पन्न होकर देर तक रहती हुई उपस्थितप्रसवा नारी को अतीव व्याकुल कर देती हैं॥

द्वितीयावस्था (गर्भनिर्गमावस्था) में गर्भाशय को गौण शक्तियों (उदर की मांस पेशियों के आकुञ्चनजनित शक्ति) से भी सहायता मिलती है। प्रथम ये शक्तियां इच्छाधीन होती हैं। परन्तु इस अवस्था के अन्त में ये गर्भिणी के वश से बाहिर होजाती हैं और मुख्य शक्ति के साथ२ प्रत्यावर्तित रूप से कार्य करती हैं॥

गर्भ के पहिले महीनों में जब तक वह छोटा होता है शिर ऊपर को रहता है और धड़ नीचे को। पिछले महीनों में शिर नीचे हो जाता है और चूतड़ ऊपर को। ९५.५% प्रसवों में शिर ही पूर्व बाहिर आता है। सुश्रुत शारीर में भी कहा है—

'स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति॥'

गर्भाशय के निम्न (मुख) भाग में गर्भ-शिर के परिवृत्त होकर आने को समझाने के लिए कई कल्पनायें की गई हैं, जिनमें से मुख्य ये हैं—

१—गुरुत्वकल्पना (Theory of gravitation)—यह इस बात पर निर्भर है कि जब मृत भ्रूण को उसके सम आपेक्षिक गुरुत्व वाले द्रव में डालते हैं तो उसका सिर और दक्षिणभाग नीचे की ओर रहता है। यह निःसन्देह शिर के तथा दाहिनी ओर यकृत के अधिक भारी होने के कारण ही होता है। परन्तु यह देखा गया है कि जब द्रव का आपेक्षिक गुरुत्व (Specific gravity) घटा कर गर्भोदक के समान कर दिया जाय तो भ्रूण पलट जाता है। नितम्ब नीचे बैठ जाते हैं और सिर ऊपर आजाता है, अतः इस कल्पना को कई स्वीकार नहीं करते।

नये परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि भ्रूण वा गर्भ का बहिःकेन्द्र (Meta-center) गुरुत्व केन्द्र (Center of gravity) की अपेक्षा नितम्ब के अधिक पास है। गुरुत्व का प्रभाव यह है कि वह शिरोभाग को नीचे खींचता है तथा नितम्बभाग को ऊपर की ओर।

२ अनुकल्पनकल्पना (Accomodation theory)—इसे बहुत से ठीक मानते हैं। यह चार बातों पर आश्रित है।

(क) गर्भाशय की आकृति (ऊपर चौड़ा नीचे तङ्ग)।

(ख) भ्रूण की आकृति (सिर की अपेक्षा नितम्ब का चौड़ा होना)

(ग) गर्भाशय की दीवारों की उत्तेजनाजन्य गतिशक्ति (Tonicity)-खिचना वा सङ्कोच।

(घ) भ्रूण वा गर्भ का जीवन तथा उसकी गतिशक्ति।

गर्भ गर्भाशय में बहुत आसानी से ठीक बैठ जाता है जब कि उसका चौड़ा नितम्ब गर्भाशय के विस्तृत ऊर्ध्वांश में और शिर गर्भाशय के नीचे के तङ्ग स्थान में जगह बनाले।

यदि किसी कारणवश पूर्ववर्णित स्थिति बदल भी जाय तो गर्भ पर गर्भाशय की दीवारों का दबाव अधिक हो जाता है जो कि प्रत्या-

वर्तन क्रिया द्वारा भ्रूणगतियों को उत्तेजित करता है जिनके कारण भ्रूण अपनी वास्तविक स्थिति में पुनः आजाता है।

यदि ऊपर लिखी चार बातों में से किसी में भी अन्तर आ जाय तो भ्रूण का प्रसव विकृत (मूढगर्भ) हो जाता है। जिन अवस्थाओं में गर्भोदक अधिक परिमाण में हो जाता है (Hydramnios) उनमें भी प्रसव विकृत (मूढगर्भ) होता है, क्योंकि भ्रूण गर्भाशय की भित्तियों के पूरे सम्पर्क में नहीं आ सकता।

गर्भ में ही यदि भ्रूण के शिर में जल एकत्रित हो जाय (Congenital hydrocephallus) और वह इतना अधिक फूल जाय कि नितम्ब से भी बड़ा हो ऐसी अवस्थाओं में प्रायः देखा गया है कि शिर गर्भाशय के विस्तृत ऊर्ध्वांश में तथा नितम्ब गर्भाशय के निचले तंगस्थान में टिका होता है॥ ६६–६८॥

ताश्चैनां यथोक्तगुणाः स्त्रियोऽनुशिष्युः—अनागतावीर्मा प्रवाहिष्ठाः, या ह्यनागतावीः प्रवाहयते व्यर्थमेवास्यास्तत्कर्म भवति, प्रजा चास्या विकृतिमापन्ना श्वासकासशोषप्लीहप्रसक्ता वा भवति, यथा हि क्षवथूद्गारवातमूत्रपुरीषवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाप्यवाप्नोति तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा, यथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां संधारणमुपघातायोपपद्यते तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवाहणं, सा यथानिर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या; तथा च कुर्वती शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहेत ततोऽनन्तरं बलवत्तरं, तस्यां च प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः 'प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रं' इति, तथाऽस्या हर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः॥ ६९॥

वे स्त्रियां जो पूर्वोक्त गुणों से युक्त हैं और बिछौने के चारों ओर

बैठी हुई आश्वासन (दिलासा) दे रही हैं—उसे शिक्षा दें—जब आवी (गर्भाशय के आकुञ्चन से उत्पन्न होने वाली वेदनायें) न हों उस समय प्रवाहण न कर । जब आवी शान्त हों उस समय प्रवाहण करना उचित नहीं । जो आवी से पूर्व ही प्रवाहण करती है उसका वह कर्म व्यर्थ ही होता है अर्थात् उससे प्रसव की शीघ्रता में कोई सहायता नहीं मिलती अपितु उसकी सन्तान विकृत हो जाती है अथवा श्वास कास शोष प्लीहारोग से युक्त होती है । जैसे छींक डकार वात मूत्र वा पुरीष के वेगों के न होने पर उन्हें प्रवृत्त करने के लिये प्रयत्न करने वाले पुरुष को छींक आदि नहीं आती अथवा बड़े कष्ट से आती हैं उसी प्रकार काल से पूर्व गर्भ का प्रवाहण करने से प्रसव नहीं हो सकता वा बड़े कष्ट से होगा । और जैसे क्षवथु आदि के ही उपस्थित वेगों को रोकना हानिकर होता है वैसे ही उपस्थित काल में गर्भ का प्रवाहण न करना भी दोषकर होता है । अतः उसे कहें कि जैसा हम निर्देश करते हैं वैसा ही कर ।

वैसा ही करती हुई प्रथम शनैः शनैः प्रवाहण करे उसके पश्चात् अधिक बल से प्रवाहण करे । जब वह प्रवाहण कर रही हो पास खड़ी हुई स्त्रियां—प्रसव हो गया प्रसव हो गया—धन्य हो धन्य हो—पुत्र हुआ है—यह कहें । इस प्रकार प्रसन्नता से उसके प्राण तृप्त हो जाते हैं—वह तीव्रतम मर्मान्त कष्ट को भी सहार लेती है । सुश्रुत शारीरस्थान १० अध्याय में—

' अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यानुब्रूयाच्चैनामेका सुभगे प्रवाहस्वेति, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणबस्तिशिरःसु च प्रवाहेथा शनैः शनैः ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्, अकालप्रवाहणाद्बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुं मूर्धाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं विकटं वा जनयति ' ॥ ६९ ॥

यदा च प्रजाता स्यात्तदैनामवेक्षेत काचिदस्या अपरा प्रपन्ना अप्रपन्ना वेति । तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद्बलवन्निष्पीड्य सव्येन पृष्ठत उपसंगृह्य सुनिर्धूतं निर्धुनुयात्, अथास्याः पादपार्ष्ण्या श्रोणीमाकोटयेत्, तस्याः स्फिचावुपसंगृह्य सुपीडितं पीडयेत्, अथास्या वालवेण्या कण्ठतालु परिमृशेत्, भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्या योनिं धूपयेत्, कुष्ठतालीशकल्कं बल्वजयूषे मैरेयसुरामण्डे तीक्ष्णे कौलत्थे वा मण्डूकपिप्पलीसंपाके वा संप्लाव्य पाययेदेनां, तथा सूक्ष्मैलाकिलिमकुष्ठनागरविडङ्गकालागुरुचव्यपिप्पलीचित्रकोपकुञ्चिकाकल्कं खरस्य वृषभस्य वा जीवतो दक्षिणं कर्णमुत्कृत्य दृषदि जर्जरीकृत्य बल्वजयूषादीनामाप्लावनानामन्यतमस्मिन् प्रक्षिप्याप्लाव्य मुहूर्तस्थितमुद्धृत्य तदाप्लावनं पाययेदेनां, शतपुष्पीकुष्ठमदनहिङ्गुसिद्धस्य चैनां तैलस्य पिचुं ग्राहयेत्, अतश्चैवानुवासयेत्, एतैरेव चाप्लावनैः फलजीमूतकेक्ष्वाकुधामार्गवकुटजकृतवेधनहस्तिपिप्पल्युपहितैरास्थापयेत्, तदास्थापनमस्या हि सह वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यपरामासक्तां वायोरनुलोमगमनात् । अन्यान्यपि हि वातमूत्रपुरीषाणि बहिर्गमनशीलानि सज्जन्ति ॥ ७० ॥

जब गर्भ का प्रसव हो जाय तब उन परिचारिका स्त्रियों में से एक ध्यान से देखे कि अपरा (Placenta) बाहिर आ गई है या नहीं । यदि अपरा बाहिर न आयी हो तो उन में से कोई स्त्री अपने दाहिने हाथ से प्रसूता को नाभि के ऊपर के देश पर बल से दबाकर और बांयें हाथ से पीठ पर पकड़ कर अच्छी प्रकार कंपा देवे । आजकल की अपरापातन की विधि निम्न है—

१ 'परिस्पृशेत्' च. । २ '०हस्तिपर्ण्युपहितैः' ग. । अष्टाङ्गसंग्रहेऽपि हस्तिपर्णी पठ्यते । हस्तिपर्णी मोरटः । ३ 'वायोरेवाप्रतिलोमगत्वात्' च. । ४ 'अपरां हि वातमूत्रपुरीषाण्यन्यानि चान्तर्बहिर्मुखानि सज्जन्ति ।' ग. ।

यदि गर्भजन्म के लगभग ४० मिनट बाद तक भी अपरा गर्भाशय से जुदा होकर बाहिर न निकले तो उदरभित्ति में से गर्भाशय को इस प्रकार पकड़ो कि अंगुलियां तो गर्भाशय के पीछे रहें और अंगूठा सामने की ओर । जब गर्भाशय में आकुञ्चन हो तो इसे सामने से पीछे की ओर भींचो और साथ ही नीचे और पीछे की ओर गर्भाशयान्तर्द्वार में धकेलो । यह कर्म दो वार से अधिक न करना चाहिये । जब गर्भाशय आकुञ्चन न करे उस समय यह कर्म न करें । इसे Dublin Method वा Crede's Method कहते हैं । इस तरीक़ा में भूलकर भी गर्भाशय को पार्श्वों की ओर से न पकड़ना चाहिये । अन्यथा डिम्बग्रन्थि के भींचे जाने से प्रसूता को दुःसह आघात पहुंचता है ।

उस प्रसूता की कमर पर एक स्त्री अपने पैर की एड़ी से दबावे वा हलकी चोट लगावे । उसके नितम्बों को हाथों से बलपूर्वक भींचे । बालों के गुच्छे से (बालों के बुरुश वा कूची से), कण्ठ और तालु को स्पर्श करे । अंगुली पर बाल लपेट कर भी यह कार्य किया जा सकता है । इन कार्यों से गर्भाशय के आकुञ्चनों के होने में उत्तेजना मिलती है ।

भोजपत्र काचमणि (कांच) और सांप की कैंचुली से उसकी योनि का धूपन करे । बल्वज (उलुयाघास) के यूष में मैरेय वा सुरा के मण्ड में अथवा कुलत्थ के तीक्ष्ण क्वाथ में अथवा मण्डूकपर्णी और पिप्पली के संपाक में (दोनों को मिला कर उनके किये गये क्वाथ में) कुष्ठ और तालीसपत्र के मिश्रित कल्क को घोलकर प्रसूता को पिलावे । तथा छोटी इलायची देवदारु कुठ सोंठ वायविडङ्ग कालागुरु (अगर) चव्य पिप्पली चित्रक उपकुञ्चिका (कालाजीरा); इनके कल्क को अथवा जीवित गदहे वा बैल के दक्षिण कान को काटकर शिला पर पीसकर उसे बल्वजयूष आदि उक्त किसी एक द्रव में डाल दें । और अच्छी प्रकार घोल दें । इसे मुहूर्त भर पड़ा रहने दें । अब द्रव

को ऊपर से नितार कर वा छानकर उस स्त्री को पिला दें। शतपुष्पा (सोये) कुठ मैनफल हींग; इनसे यथाविधि साधित तैल में पिचु को भिगोकर योनि में रक्खें। इसी तैल से अनुवासन करावे। पहिले कहे गये बल्वजयूष आदि द्रवों में मैनफल जीमूत (देवदाली) इक्ष्वाकु (कड़वी तुम्बी) धामार्गव (पीतघोषा) कृतवेधन (कोशातकी, कड़वी तुरई) हस्तिपिप्पली (गजपिप्पली); इन्हें मिश्रित कर आस्थापन बस्ति दे। यह आस्थापन वायु को अनुलोम कर देता है और अतएव वात मूत्र और पुरीष के साथ ही अन्दर रुकी हुई अपरा को भी बाहिर निकाल देता है। अपरा के रुकने के साथ २ बाहिर निकलने वाले वायु मूत्र और मल भी अन्दर ही रुक जाया करते हैं। अर्थात् यदि अपरा न गिरे तो उसके साथ २ वायुरोध मूत्ररोध वा मलरोध भी हो जाते हैं ॥ ७० ॥

तस्यास्तु खल्वपरायाः अपतनार्थे कर्मणि क्रियमाणे जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति। तद्यथा—अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेनोष्णोदकेन वा मुखे[1] परिषेकः, तथा संक्लेशविहितान् प्राणान् पुनर्लभेत; कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभिनिष्पुणीयुर्यद्यचेष्टः[2] स्याद्यावत्प्राणानां प्रत्यागमनम्[3] ॥ ७१ ॥

अपरा के गिराने के लिये किये जाते हुए कर्म के साथ २ ही दूसरी ओर शिशु के उत्पन्न होते ही ये कर्म करने होते हैं—शिशु के कानों की जड़ में अथवा कान के पास दो पत्थरों को आपस में टकराना। शीतल वा गरम जल से मुख पर छींटे देना। इस प्रकार करने से शिशु प्रसव के क्लेश से पराहत हुए प्राणों को पुनः पाता है। अर्थात् अपत्यमार्ग से आते हुए शिशु को बहुत क्लेश झेलने पड़ते हैं। जिससे वह मोह वा मूर्च्छायुक्त होता है। उस मोह की निवृत्ति के लिये कान के समीप दो पत्थर बजाये जाते हैं,

---

१ 'सुखेन' पा०। २ 'यद्यचेष्टं' ग.। ३ '०गमनं तत्तत्सर्वमेव कुर्युः' ग.।

तथा मुख पर शीतल वा उष्ण जल के छींटे दिये जाते हैं। जिस से होश में आने से श्वास प्रश्वास आदि की गति ठीक होजाती है। जन्म होते ही शिशु प्रायः चिल्लाता है। इस चिल्लाने का लाभ यह होता है कि वायु प्रथम वार फुप्फुसों में प्रविष्ट होती है। यदि चिल्लाये नहीं तो उस के मर जाने का डर होता है। कान के समीप पत्थरों को आपस में टकराने तथा जल के छींटे देने से होश में आकर वह चिल्लाता है और श्वास प्रश्वास की गति प्रारम्भ होजाती है।

यदि शिशु अचेष्ट हो (हिलता जुलता न हो—कोई चेष्टा न करता हो) तो कृष्णकपालिकाके बने शूर्प(छाज)से बच्चे को तबतक पंखा करे जबतक प्राणों को पुनः नहीं पाता। कृष्णकपालिका का अर्थ कई टीकाकार मूंज कहते हैं। अथवा काले वर्णके कपाल रूपी शूर्प से पंखा करे। अथवा शूर्पाकृति कपाल (घटखर्पर) को काजल आदि से पोत कर काला कर लें। इसके द्वारा वायु करने में जहां बच्चे को वायु मिलेगी वहां वह काले वर्ण के पदार्थ को हिलता देख कर कुछ भीत होने से खुल कर चिल्लायगा अथवा हिले जुलेगा। अन्य भी जो २ कर्म प्राणों के प्रत्यानयन के लिए अभीष्ट हों वह २ प्राणागमन तक सब करने चाहिएं। यदि मुख में श्लेष्मा होतो कोमल स्वच्छ वस्त्र से निकाल दो। या उलटा लटका कर पीठ पर थपकियां दो। यदि आवश्यकता हो तो शिशु की श्वास प्रणाली में रबर आदि की नाली डाल कर श्लेष्मा को चूसा जा सकता है। अथवा छाती को मल देने से भी श्लेष्मा बाहिर आ सकती है ॥ ७१ ॥

ततः प्रत्यागतप्राणं प्रकृतिभूतमभिसमीक्ष्य स्नानोदकग्रहणाभ्यामुपपादयेत्, अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या, प्रथमं प्रमार्जितस्य चास्य शिरस्तालु कार्पासपिचुना स्नेहगर्भेण प्रतिच्छादयेत्, ततोऽस्यानन्तरं कार्यं सैन्धवोपहितेन सर्पिषा प्रच्छर्दनम् ॥ ७२ ॥

---

१ 'सुप्रक्षालितोपधानया कार्पास०' पा०।

जब बच्चे को होश आ जाय श्वास प्रश्वास ठीक चलने लगे, स्वस्थ हो जाय, तब स्नान करावें और मलमार्गों की निर्मल जल से शुद्धि करें। स्नानार्थ जल का तापांश १००° फार्नहाइट होना चाहिए । स्नान द्वारा शरीर पर का चिकना श्वेत पदार्थ उतार देना चाहिए । यदि स्नान से पूर्व तेल चुपड़ दिया जाय तो वह मल नरम होजायगा और वह स्नान से शीघ्र उतर जायगा। शिशु के तालु ओष्ठ कण्ठ जिह्वा को साफ करें । तालु आदि को साफ करने से पूर्व अंगुली के प्रवृद्ध नखों को अच्छी प्रकार कटवा डालना चाहिए । अंगुली पर जो रबर आदि का आवरण पहना जाय वह भी भली प्रकार धुला होना चाहिए अर्थात् दस्ताना अच्छी प्रकार धुला वा स्वच्छ होना चाहिए। अंगुली के आवरण के ऊपर स्वच्छ रुई लपेट देनी चाहिए और मुख में अंगुली फेर कर श्लेष्मा को साफ कर देना चाहिये ।

जब बच्चे का मुख साफ हो जाय तब उसके शिर के तालुदेश को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को स्नेह से अच्छी प्रकार भीगे हुए रुई के पिचु से ढांप देना चाहिए। तदनन्तर सैन्धवमिश्रित घी की मात्रा देकर कै करवानी चाहिये। वमन द्वारा आमाशय फुप्फुस आदि में स्थित श्लेष्मा निकल जाएगी ॥

अष्टाङ्गसंग्रह में 'सुप्रक्षालितोपधानया' के स्थल पर 'सुप्रक्षालितोपवानया' पढ़ा गया है। उसके अनुसार 'अच्छी प्रकार धोकर सुखाई हुई अंगुली से मुख आदि की शुद्धि करे—यह अर्थ होगा ।

'ततोऽस्य सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपवानया कार्पासपिच्चवगुण्ठितया दक्षिणप्रदेशिन्या जिह्वौष्ठकण्ठमनुसुखं प्रमृज्यात् । तालु चोन्नाम्य स्नेहपिचुनोपरिष्टादवगुण्ठयेत् ।'

'ततः सैन्धवोपहितेन सर्पिषा गर्भोदकानि वामयेत् । तथास्योरःकण्ठविशुद्धया लाघवमभिलाषश्च जायते ।' अ० सं० उत्तर अ० १ ॥

सुश्रुत शारीर १० में—

अथ जातस्योल्बं मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात् ७२

अथ नाड्यास्तस्य कल्पनविधिमुपदेक्ष्यामः—नाभिबन्धनात्प्रभृत्यष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेनार्धधारेण[1] छेदयेत्तां, अग्रे सूत्रेणोपनिबध्य कण्ठेऽस्य शिथिलमवसृजेत; तस्य चेन्नाभिः पच्येत लोध्रमधुकप्रियङ्गुदेवदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत्, एष नाडीकल्पनविधिरुक्तः सम्यक् ॥ ७३ ॥

तदनन्तर नाडी (नाल) काटी जाती है । अतः नाडी के काटने का विधान कहा जाता है—नाल के नाभिबन्धन से आठ अंगुल छोड़कर चिन्ह लगा दें । इस छेदनस्थान के दोनों ओर धीमे से पकड़कर सुवर्ण वा फौलाद के बने छेदन शस्त्रों में से किसी एक तीक्ष्ण अर्धधार से काटें । अर्थात् तीक्ष्ण छेदन शस्त्र से छेदन करे । इसके अग्रभाग को सूत वा धागे से बांधकर शिशु के कण्ठ में ढीला लटका दे । वस्तुतस्तु काटने से पूर्व ही नाडी पर धागा कसकर बांध देना चाहिये । सुश्रुत शारीर १० अ० में कहा भी है—

'ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा च्छेदयेत् । तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ।'

कई आठ अंगुल की जगह चार अंगुल भाग को छोड़कर धागा कस कर बांधने को कहते हैं । जैसे—अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर तन्त्र १ अ० में—

'प्रत्यागतप्राणस्य च प्रकृतिभूतस्य नाभिनालं नालाभिबन्धनात् चतुरङ्गुलस्योर्ध्वं क्षौमसूत्रेण बद्ध्वा तीक्ष्णेन शस्त्रेण वर्धयेत् । ग्रीवायां चैनमासज्जेत् । नाभिं च कुष्ठतैलेन सेचयेत् ॥'

आजकल भी शिशु के नाभिबन्धन से २'' की दूरी पर गांठ लगाते

१ 'ऊर्ध्वधारेण' ग. ।

है। ज्यों ही शिशु का श्वासोच्छ्वास अच्छी प्रकार चलने लगे त्यों ही उसे नरम बिछौने पर सीधा लेटा दें। जब तक नाभिनाडी में स्पन्दन रहे तब तक प्रतीक्षा करें। कुछ मिनटों के बाद ये स्पन्दन बन्द हो जाते हैं। अब शिशु के नाभिमूल से २" की दूरी पर नाभिनाड़ी को पकड़ कर खींचते हुए चिपचिपे रस को निकाल दें और वहां कसकर सूत वा डोर बांध दें। यदि कदाचित् गर्भाशय में दूसरा शिशु हो तो स्त्री के भगदेश से ३ इञ्च की दूरी पर इसमें दूसरी गांठ लगा देनी चाहिये। यदि यमल हो और उनका रक्तवहन परस्पर सम्बद्ध होगा तो ऐसा करने से दूसरे शिशु के भी प्राण बच जांयगे। साधारण तौर पर यह दूसरी गांठ भी सर्वदा लगा ही देनी चाहिये जिससे कभी गलती न हो। अब शिशु की नाभि के पास की गांठ से लगभग आध इञ्च की दूरी पर निर्मल स्वच्छ तीक्ष्ण चाकू वा कैंची से काट दें। अब इसे परिचारिका के सिपुर्द करदो। वह इसे ऋत्वनुसार वस्त्र ओढ़ाकर लेटा देगी। पर उसे देने से पूर्व एकबार फिर नाडी को देख लें कि कहीं रक्त तो नहीं बहता। यदि बहता हो तो पहली गांठ के साथ ही एक और गांठ कस कर लगा दें। इस नाडी पर विशेष ध्यान देना चाहिए। इसे पूर्णतया शुष्क कर देना चाहिए और इस से रक्तस्राव न होने देना चाहिये। इस पर अवचूर्णन औषध डाल कर Gauze पिचु रख उदर पर चपटा रख के बांध दें। पट्टी बहुत न कसें। और पट्टी के सिरे को स्थिर करने के लिये सेफ्टी-पिन (बक्सूआ) वा गांठ न लगा कर सी देना सर्वोत्तम है। प्राचीन समय में यह पट्टी नहीं बांधी जाती थी अपितु सूत्र को गर्दन में लटका दिया जाता था। जिससे यही कार्य सिद्ध होता है॥

यदि उस शिशु की नाभि पक जाए तो लोध, मुलहठी, प्रियङ्गु, देवदारु, हल्दी; इनके कल्क से यथाविधि सिद्ध किया गया तैल चुपड़ें।

और इन्हीं तैल की औषधों के चूर्ण का अवचूर्णन करें । यह नाडी के काटने की विधि यथावत् कह दी है ॥ ७३ ॥

असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डितपिण्डलिकाविनामिकाविजृम्भिकाबाधेभ्यो भयं; तत्राविदाहिभिर्वातपित्तप्रशमनैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकैः सर्पिर्भिश्चोपक्रमेत गुरुलाघवमभिसमीक्ष्य ॥ ७४ ॥

यदि नाल को ठीक प्रकार न काटा जाय तो आयाम (लम्बाई) और व्यायाम (चौड़ाई) से उत्तुण्डित (दीर्घ मोटी और उन्नत होना) पिण्डलिका (पिण्डाकृति गोल और कठिन होना) विनामिका (किनारों से ऊंची और मध्य में निम्न दबी हुई होना), विजृम्भिका (बढ़ने वाली होना) इन विकारों का भय होता है । अर्थात् यदि ठीक प्रकार से नाभि न काटी जाय तो नाभि में इन विकृतियों के होने का डर होता है । यदि इन में से कोई विकार हो जाय तो उसकी गुरुता और लघुता का विचार करके अविदाही वातपित्त को शान्त करने वाले अभ्यङ्ग उत्सादन परिषेचन और घृतों से चिकित्सा करे । इन विकृतियों में जिस दोष को प्रधान समझे उसकी पूर्व चिकित्सा करनी चाहिये । यदि पित्त प्रधान हो तो पित्त की और यदि वात प्रधान हो तो वात की चिकित्सा पूर्व होनी चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र अ० २ में—

' वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम् ।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपपादनैः ॥
असम्यक्कल्पनान्नाभेः स्याद्विनामो विजृम्भिका ।
वातपित्तहरं कर्म तत्रान्तर्बहिराचरेत् ' ॥ ७४ ॥

ततो[२]ऽनन्तरं जातकर्म कुमारस्य कार्यं, त[३]द्यथा—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुमस्मै दद्यात्, स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात्प्रयच्छेत् । अथातः

१ 'आयाम व्यायामतुण्डिका०' च. । २ 'प्रागतो' ग. । ३ ' ततो ' ग. ।

शीर्षतः स्थापयेदुदकुम्भं मन्त्रोपमन्त्रितम् ॥ ७५ ॥

तदनन्तर बालक का जातकर्म करना चाहिये—जैसे शास्त्र के कहे अनुसार मधु और घी को मिश्रित कर मन्त्रों से उपमन्त्रित करके बालक को प्रथम खाने के लिये देवे । मधु और घी समपरिमाण में न मिलाने चाहियें। समपरिमाण में मिलाने से विषप्रभाव होता है । सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्ता-[१]
ब्राह्मीरसेन सुवर्णचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत् ।'

प्रथम दिनों में जननी के स्तनों में दूध नहीं होता । तीसरे या चौथे दिन दूध बनता है । उससे पूर्व पीयूष (खीस, Collustrum) होता है। यह गुरु होता है और शिशु को शीघ्र पचता नहीं, जिससे विरेचन होजाता है। अतः तीन दिन तक मधु और घृत का प्रयोग करना चाहिये ऐसा कइयों का मत है । वस्तुतस्तु दुग्धसात्म्य होने से बकरी या गौ के दूध के साथ २ मधुसर्पि आदि का प्रयोग होना चाहिये । सुश्रुत शारीर १० अ० में इन तीन या चार दिनों के लिये विशेष भोजन बताया है । यथा—

'धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम् ।
चतूरात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥

तस्मात्प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तामिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत् । द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च । ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधु-सर्पिः स्वपाणितलसंमितं द्विकालं पाययेत् ॥'

इसके पश्चात् इसी विधान के अनुसार अर्थात् शास्त्रोक्त मन्त्रों से स्तन को अभिमन्त्रित करके दूध पीने के लिये प्रथम दक्षिण स्तन शिशु के मुख में दे । अभिमन्त्रित करने के मन्त्र सुश्रुत शारीर १० अ० में दिये गये हैं—

'चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः ।

---

१ 'मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्या' इति पाठान्तरम् । अत्र अनन्तचूर्णं सुवर्णचूर्णमिति । तच्च मधुसर्पिर्मिश्रं लेहयेदित्यर्थः ॥

भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने ।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥'

एवं मन्त्र से उपमन्त्रित जल के भरे कलश को शिशु के शिर की ओर रखे। अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार बच्चे का शिर पूर्व की ओर होना चाहिये। यथा—

'प्राक्शिरसं चैनं क्षौमनिचये संवेशयेदुच्छीर्षके[1] चास्याभिमन्त्रितमुदकुम्भं स्थापयेद् द्वारपक्षयोश्च ॥ ७५ ॥

अथास्य रक्षां विदध्यात्—आदनीखदिरकर्कन्धुपीलुपरूषकशाखाभिरस्य गृहं भिषक्समन्ततः परिवारयेत्, सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकिरेत्, तथा तण्डुलबलिहोमः सततमुभयतः कालं क्रियेतानामकर्मणः, द्वारे च मुसलं देहलीमनुतिरश्चीनं न्यस्तं कुर्यात्, वचाकुष्ठक्षौमकहिङ्गुसर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमाख्यातानां चौषधीनां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामवसृजेत्तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः, स्थाल्युदककुम्भपर्यङ्केष्वपि तथैव च, द्वयोर्द्वारपक्षयोः[2] कणकाम्लेन्धनवानग्निस्तिन्दुककाष्ठेन्धनश्चाग्निः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं स्यात्, स्त्रियश्चैनां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुजागृयुः दशाहं द्वादशाहं वाऽनुपरतप्रदानमङ्गलाशीःस्तुतिगीतवादित्रमन्नपानविशदमनुरक्तप्रहृष्टजनसम्पूर्णं च तद्वेश्म कार्यं, ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित्सततमुभयतः कालं शान्तिं जुहुया-

---

१ उच्छीर्षकं शय्यायाः शिरोभागः। २ '०ष्वपि। तथैव द्वयोर्द्वारपक्षयोः। कणकण्टकतिन्दुककाष्ठेन्धनश्चाग्निः' यो०। '०ष्वपि, तथैव द्वयोर्द्वारपक्षयोः। सकणकुम्भकेन्धनाग्निस्तिन्दुककाष्ठेन्धनश्चाग्निः' गङ्गाधरः पठति व्याख्याति च—द्वारपक्षयोर्द्वारपार्श्वयोर्द्वयोश्च पोट्टलीद्वयं रक्षेत्। सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं कणस्तण्डुलकणः, कुम्भ उदकुम्भः, इन्धनं काष्ठमग्निस्तैः सहितः स्यादग्निश्च तिन्दुककाष्ठेन्धनः स्यात्।

त्स्वस्त्ययनार्थं कुमारस्य तथा सूतिकायाः; इत्येतद्रक्षाविधानमुक्तम् ॥ ७६ ॥

तदनन्तर रक्षाविधि का अनुष्ठान करें—वैद्य आदनी (घोषा), खदिर (खैर), कर्कन्धु (बेर), पीलू, परूषक (फालसा); इनकी शाखायें गृह के चारों ओर लटका दे। सूतिकागार के चारों ओर सब जगह सरसों अलसी तथा चावलों के कणों को बिखेर दे। नामकरण से पूर्व अर्थात् दस दिन तक निरन्तर दोनों समय सायं और प्रातः तण्डुलबलि नामक मङ्गलहोम किया जाय। द्वार में देहली के समीप एक मूसल तिर्यग्भाव में (टेढ़ा करके) रखे। वच कुठ क्षौमक (ग्रन्थिपर्ण-- अथवा क्षुवक पाठ होना चाहिये यह भी भूतनाशक होता है) हींग सरसों अलसी लहसन इनके कणों और कणिकाओं की तथा अन्य रक्षोघ्न औषधियों की पोटली बांधकर सूतिकागार की देहली में ऊपर की ओर लटका दे। और उक्त द्रव्यों की ही पोटली प्रसूता (जच्चा) और पुत्र के गले में भी लटका दे। एवं स्थाली (हांडी पतीला आदि) जल के कलश और पलङ्ग पर भी वे पोटलियां लटका देनी चाहियें। सूतिकागार के अन्दर द्वार के दोनों पार्श्वों में कणकाम्ल (?) के इंधन की अग्नि तथा तिन्दुक की लकड़ी के इंधन की अग्नि नित्य प्रज्वलित रहनी चाहिये। सुश्रुत शारीर १० अ०--

'अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्। पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं बीजयेत्। मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्। धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः। रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत्। तिलातसीसर्षपकणांश्च प्रकिरेत्। अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्। व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत।'

अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र बालोपचरणीयाध्याय में कणकाम्ल की जगह कणकण्डक पढ़ा है—

'कणकण्डकतिन्दुकेन्धनाग्निं नक्तं दिवं च जागृयात्।'

इसमें इन्दु की व्याख्या के अनुसार 'कण' से खण्डित तण्डुल

(टूटे हुए चावल) और कण्डक से चूर्णित तण्डुलों का ग्रहण है। अर्थात् जिस अग्नि का इंधन तिन्दुक की लकड़ी का हो और खण्डित एवं चूर्णित तण्डुल जिसमें डाले गये हों उसे दिन रात प्रज्वलित रखे, बुझने न दे। पूर्वोक्त गुण वाली स्त्रियां जो सूतिकागार में हों और मित्र दस वा बारह दिन तक जागरण करें। एक न एक व्यक्ति को चाहिये कि कम से कम दस वा बारह दिन तक प्रसूता व बच्चे की रक्षा के लिये जागता रहे। प्रसव के दस बारह दिन पश्चात् तक प्रसूता को चलना फिरना वा परिश्रम करना मना है।। इन दिनों में गर्भाशय और योनि से एक स्राव (Lochia) बहा करता है। जिसमें गर्भाशयकला की सैलें श्लेष्मा और रक्त होता है। आरम्भ के तीन चार दिनों में स्राव में रक्त का भाग अधिक होता है और पीछे से क्रमशः रक्त कम होजाता है। छः या सात दिन पीछे स्राव का रंग भूरा पीला सा होजाता है। इन दिनों में गर्भाशय का परिमाण भी बढ़ा हुआ होता है। वह अभी तक कम होते २ बस्तिगह्वर में वापिस नहीं आचुका होता। प्रसव के बाद वस्तिगह्वर में पूर्णरूपेण वापिस आते हुए १४ या १५ दिन लग जाते हैं। अतएव भी इन दिनों में प्रसूता को किसी प्रकार का परिश्रम न करने देना चाहिए। इन दिनों में परिचारिकाओं और परिचारकों को सर्वदा तय्यार रहना चाहिए। गर्भधारण करने से पूर्व जो गर्भाशय का परिमाण होता है उतने परिमाण पर पुनः वापिस आने में लगभग ६ या ७ सप्ताह लगते हैं। सुश्रुत शारीर १० अध्याय में भी कहा है—

'अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्।'

अभिप्राय यह है कि प्रसव होने के १॥ मास वा ४५ दिन तक स्त्री का नाम प्रसूता रहता है। प्रसव के ४० से ५० दिन के

बाद गर्भाशय अपने असली परिमाण में आ जाता है। इतने दिन उस स्त्री का नाम प्रसूना वा सूतिका रहता है। जब गर्भाशय अपने परिमाण में आजाता है तब उसका सूतिका नाम नहीं रहता॥

इन दस या बारह दिनों में उस घर में निरन्तर दान मङ्गलकार्य आशीर्वाद स्तुति गाना बजाना आदि हो। वह घर पवित्र एवं खाने पीने के पदार्थों से युक्त होना चाहिये। प्रेमी तथा प्रसन्न स्त्री पुरुषों के आवागमन से वह घर भरा रहना चाहिये। कुमार और सूतिका के कल्याण के लिये अथर्ववेद का ज्ञाता ब्राह्मण निरन्तर दोनों काल शान्तिहोम करे॥ यह रक्षाविधान कह दिया गया है॥ ७६॥

सूतिकां तु खलु बुभुक्षितां विदित्वा स्नेहं पाययेत् प्रथमं परमया शक्त्या सर्पिस्तैलं वसां मज्जानं वा सात्म्यीभावमभिसमीक्ष्य पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेरचूर्णसहितं; स्नेहं पीतवत्याश्च सर्पिस्तैलाभ्यामभ्यज्य वेष्टयेदुदरं महता वाससा, तथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्; जीर्णे तु स्नेहे पिप्पल्यादिभिरेव सिद्धां यवागूं सुस्निग्धां द्रवां मात्रशः पाययेत्, उभयतः कालमच्छेन चोष्णोदकेन परिषेचयेत्प्राक्स्नेहयवागूपानाभ्यां; एवं पञ्चरात्रं सप्तरात्रं वानुपाल्य ततः क्रमेणाप्याययेत्; स्वस्थवृत्तमेतावत्सूतिकायाः॥ ७७॥

सूतिका का स्वस्थवृत्त—सूतिका को भूख लगने पर सात्म्य का विचार करके घी तेल वसा वा मज्जा में से कोई एक स्नेह-जिसमें पिप्पली पिप्पलीमूल चव्य चित्रक और सोंठ; इनका चूर्ण डाला हो—पूर्णमात्रा में जितना वह पी सकती हो प्रथम पिलावे। अथवा 'परमया शक्त्या उपलक्षिता चेत् सूतिका' इस प्रकार अन्वय करने से यह अर्थ होगा कि यदि सूतिका बलवती हो तो पिप्पल्यादि के चूर्ण से युक्त स्नेह पिलावे। अन्यथा स्वल्पपञ्चमूल वा वातहर ओषधियों का क्वाथ वा यवागू पिलाया जा सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह शारीरस्थान अध्याय ३ में

कहा भी है—

'अथ सूतिकां बलातैलेनाभ्यञ्ज्यात् । बुभुक्षितां च पञ्चकोलचूर्णेन यवान्युपकुञ्चिकाचव्यचित्रकव्योषसैन्धवचूर्णेन वा युक्तामहःपरिणामिनीं यथासात्म्यं स्नेहमात्रां पाययेत् । स्नेहायोग्यां वातहरौषधक्वाथं ह्रस्वपञ्चमूलक्वाथं वा ।'

जिस सूतिका ने स्नेहपान किया है उस के पेट पर घी और तैल चुपड़कर एक चौड़ा और बड़ा कपड़ा लपेट दें । इसप्रकार बन्धन के बांधने से अवकाश के न रहने के कारण वायु विकार को उत्पन्न नहीं करता ।

यद्यपि इस बन्धन का बांधना अत्यावश्यक नहीं परन्तु तो भी इससे प्रसूता को बहुत आराम मिलता है । परिश्रान्त बस्तिगह्वर-सन्धियों तथा मांसपेशियों को इससे बहुत सहारा मिलता है । पट्टी का निचला सिरा ऊर्वस्थि के बृहदर्बुद से २ इञ्च नीचे तक अवश्य पहुंचना चाहिये । उदर के ऊपर का बन्धन का भाग इतना ढीला होना चाहिये कि उस में से मुष्टि आसानी से गुज़र जाय ।

जब स्नेह जीर्ण होजाय—पच जाय तब इन्हीं पिप्पली आदि से सिद्ध की गई यवागू जिसमें प्रभूतमात्रा में घृत तैल आदि स्नेह ह गया हो और द्रव (Liquid) हो, पतली हो—मात्रा में पिलावें । दोनां समय स्नेह तथा यवागू के पीने से पूर्व स्वच्छ उष्ण जल से सूतिका का परिषेचन करना चाहिए । इस नियम के अनुसार पांच वा सात दिन तक चलकर क्रमशः पुष्टिकारक आहार आदि द्वारा प्रसूता के शरीर और बल को पूर्ण करें । यह ही सूतिका का स्वस्थवृत्त है । सुश्रुत शारीर १० अध्याय में—

'अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्क्वाथेनोपचरेत् । सशेषदोषां तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेरचूर्णं स्नेहविमिश्रं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत् । एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादा-

दुष्टशोणितात् । विशुद्धे ततो विदारीगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीर-यवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम् । ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलं चावेक्ष्य ॥'

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकषायानुपानां, स्नेहनित्या च स्यात्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा(बलवती), अबलां यवागूं पाययेत्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा । अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् । प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत् । क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत् ।

अष्टाङ्गसंग्रह शारीर ३ अध्याय में—

'जीर्णे तु स्नेहे पूर्वौषधैरेव सिद्धां विदार्यादिगणक्वाथेन क्षीरेण वा यवागूं सुस्विन्नां द्रवां मात्रया पाययेत् । प्राक्स्नेहयवागूपानाभ्यां चोभयकालमुष्णोदकेन परिषेचयेत् । एवं त्रिरात्रं पञ्चरात्रं सप्तरात्रं वाऽनुपाल्य ततो यवकोलकुलत्थयूषेण लघुना चान्नपानेन । द्वादशरात्रात् परं जाङ्गलरसादिभिश्च क्रमादाप्याययेदग्निबलादीनवेक्ष्य । क्वथितशीतं च तोयं पाययेत् । तथा जीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धैरभ्यङ्गोद्वर्तनपरिषेकावगाहैरन्नपानैश्च हृद्यैरुपाचरेत् । एवं हि गर्भवृद्धिक्षपितशिथिलसर्वशरीरधातुप्रवाहणवेदनाक्लेदरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीराच्च पुनर्नवीभवति॥७७॥

तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वशरीरधातुत्वात्प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च, तस्मात्तां यथोक्तेन विधिनोपचरेत्; भौतिकजीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकावगाहनान्नपानविधिभिर्विशेषतश्चोपचरेत्; विशेषतो हि शून्यशरीराः स्त्रियः प्रजाता भवन्ति ॥ ७८ ॥

गर्भ के गर्भाशय में बढ़ने के कारण शरी की धातुओं के क्षीण और शिथिल हो जाने से तथा कुन्थन प्रसववेदना क्लेद और रक्तस्राव के कारण शरीर के शून्य होजाने से सूतिका को जो रोग भी होता है, वह

कष्टसाध्य वा असाध्य हो जाता है। अतएव उसकी पूर्वोक्त विधानके अनुसार चित्त लगाकर शुश्रूषा करनी चाहिये। विशेषतः भौतिक जीवनीय बृंहणीय मधुर तथा वातहर ओषधियों से सिद्ध किये गये अभ्यङ्ग उत्सादन (उबटन) परिषेचन अवगाहन (Baths) तथा अन्नपान का सेवन करना चाहिये। भौतिक (भूतहर, Antiseptic) जीवनीय आदि गणों के द्रव्यों से यथाविधि साधित तैल का अभ्यङ्ग (मालिश), इनके कल्क से उबटन तथा क्वाथ से परिषेचन और अवगाहन करना चाहिये, क्योंकि प्रसव होने पर स्त्रियों की देह विशेषतः शून्य हो जाती है। सुश्रुत शारीर १० अ० में भी—

'मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात्॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात्॥'

उपर्युक्त विधान के अनुसार सूतिका का उपचार होने पर वह रोगों से बची रह सकती है। अन्यथा यदि कोई रोग हो गया तो वह दुःसाध्य वा असाध्य ही हो जाता है॥ ७८॥

दशम्यां[1] निश्यतीतायां सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्षपैश्च स्नाता लघ्वहतशुचिवस्त्रं परिधाय पवित्रेष्टलघुविचित्रभूषणवती च संस्पृश्य मङ्गलान्युचितामर्चयित्वा च देवतां शिखिनः शुक्लवाससोऽव्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा, कुमारमहतेन शुचिवाससाऽऽच्छादयेत् प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य, देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमतीत्युक्त्वा कुमारस्य पिता द्वे नामनी कारयेन्नाक्षत्रिकं नामाभिप्रायिकं च; तत्राभिप्रायिकं नाम घोषवदाद्यन्तस्थान्तमूष्मान्तं वाऽवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनव-[2]प्रतिष्ठितम्, नाक्षत्रिकं तु नक्षत्रदेवतासमानार्थं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा॥

---

१ 'दशमे त्वहनि' च.। २ 'त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितं' इति महाभाष्ये पाठः।

दसवीं रात्रि के व्यतीत होने पर ग्यारहवें दिन प्रसूता और पुत्र दोनों ही को सर्वगन्ध की औषधों से तथा श्वेतसरसों से स्नान करावें। सर्वगन्ध ओषधियां ये हैं—

'चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम् ।
लवङ्गसहितश्चैव सर्वगन्धं प्रकीर्तितम् ॥'

अथवा सर्वगन्ध से एलादिगण का ग्रहण करना चाहिये—

'एलातगरकुष्ठमांसीध्यामकत्वक्पत्रनागपुष्पप्रियङ्गुहरेणुकाव्याघ्रनखशुक्तिचण्डास्थौणेयकश्रीवेष्टकचोचचोरकवालुकगुग्गुलुकसर्जरसतुरुष्ककुन्दुरुकागुरुस्पृक्कोशीरभद्रदारुकुङ्कुमानि पुन्नागकेशरं चेति ।'

इन औषधों द्वारा यथाविधि साधित जल से स्नान कराना चाहिये। गङ्गाधर ने 'सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्षपलोध्रैश्च' ऐसा पाठ पढ़ा है। इसके अनुसार श्वेतसरसों और लोध से संस्कृत जल से स्नान कराना चाहिये। स्नान के पश्चात् पुत्र सहित स्त्री, हलके, जो फटे न हों, नवीन और स्वच्छ वस्त्र पहिरकर पवित्र मनचाहे, हलके, विचित्र भूषणों को धारण किये हुए मङ्गल द्रव्यों को छूकर उचित देवता की (जिस नक्षत्र में शिशु का जन्म हुआ हो—उस नक्षत्र के देवता की) पूजा करके शिखाधारी, जिन्होंने श्वेत वस्त्र पहिरे हुए हैं तथा अव्यङ्ग (जिनके सम्पूर्ण अङ्ग हों और उनमेंसे कोई अंग विकृत न हो) ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराके पूर्व वा उत्तर की ओर बच्चे का शिर करके लेटा दें और एक नूतन पवित्र वस्त्र उसे ओढा दें। प्रथम देवता को पश्चात् ब्राह्मणों को यह कुमार प्रणाम करता है यह कहकर बच्चे का पिता उसके दो नाम रखे। एक नाम तो उस नक्षत्र से सम्बन्ध रखता हो जिसमें उस का जन्म हुआ है और दूसरा वह जो पिता माता आदि को अभीष्ट हो। सुश्रुत शारीर १० अ० में भी—

'ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्र नाम वा ।'

आभिप्रायिक (अभीष्ट) नाम ऐसा होना चाहिये, जिसके आदि

में घोषवान् वर्ण हो। कवर्ग आदि वर्गों के तीसरे और चौथे वर्ण घोषवान् कहाते हैं, वे ये हैं ग घ, ज झ, ड ढ, ब भ। इन वर्णों में से कोई वर्ण नाम के आदि में होना चाहिये। और अन्त में अन्तःस्थ वा ऊष्म वर्ण होना चाहिये। य र ल व ये अन्तःस्थ कहाते हैं और श ष स ह ये चार ऊष्म होते हैं। नाम वृद्धि रहित होना चाहिये। आ ऐ औ इनकी वृद्धि संज्ञा होती है। अथवा 'वृद्धत्रिपुरुषानूकं' यह पाठान्तर है। अपने वृद्ध तीन पुरुष अर्थात् पिता पितामह (दादा) और प्रपितामह (पड़दादा); इन में से किसी के नाम से मिलता जुलता नाम हो। 'त्रिपुरुषानूकं' पाठ होने पर भी यही अर्थ है। नया ही—अप्रसिद्ध नाम न हो, प्रसिद्ध नाम हो। अन्यत्र 'अनरिप्रतिष्ठितम्' यह पाठान्तर है जो शत्रु का नाम हो वही नाम पुत्र का न रखें।

और नाक्षत्रिक नाम (राशिनाम) नक्षत्र के देवता की सदृश संज्ञा वाला दो या चार अक्षर का होना चाहिये। नक्षत्रों के देवता होते हैं, जैसे—अश्विनी का अश्विनौ। भरणी का यम। कृत्तिका का अग्नि। रोहिणी का प्रजापति। मृगशिरा का चन्द्रमा। आर्द्रा का रुद्र। पुनर्वसु का अदिति। पुष्य का बृहस्पति। आश्लेषा का सर्प। मघा के पितर। पूर्वाफल्गुनी का भग। उत्तराफल्गुनी का अर्यमा। हस्ता का सूर्य। चित्रा का त्वष्टा। स्वाति का वायु। विशाखा का इन्द्राग्नी। अनुराधा का मित्र। ज्येष्ठा का इन्द्र। मूला का निर्ऋति। पूर्वाषाढा का आपः। उत्तराषाढा का विश्वेदेवाः। श्रवण का विष्णु। धनिष्ठा का वसु। शतभिषा का वरुण। पूर्वभद्रपदा का अजैकपात्। उत्तरभद्रपदा का अहिर्बुध्न्य। रेवती का पूषा। अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर १ अ० में कहा है—

'पूज्यं त्रिपुरुषानूकमादौ घोषवदक्षरम्।
अवृद्धं कृतमूष्मान्तमनरातिप्रतिष्ठितम्॥

नक्षत्रदेवतायुक्तं तदेव तु न केवलम् ।
मङ्गल्यमन्तरन्तःस्थं न दुष्टं न च तद्धितम् ॥
पुंसो विसर्जनीयान्तं समवर्णं स्त्रियाः पुनः ।
विषमाक्षरमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोरमम् ॥
सुखोद्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥' ७९ ॥

कृते[1] च नामकर्मणि कुमारं परीक्षितुमुपक्रमेदायुषः प्रमाणज्ञानहेतोः; तत्रेमान्यायुष्मतां कुमाराणां लक्षणानि भवन्ति; तद्यथा-एकैकजा मृदवोऽल्पाः स्निग्धाः सुबद्धमूलाः कृष्णाः केशाः प्रशस्यन्ते, स्थिरा बहला त्वक्, प्रकृत्याकृति[2]सुसंपन्नमीषत्प्रमाणातिवृत्तमनुरूपमातपत्रोपमं शिरः, व्यूढं दृढं समं सुश्लिष्टशङ्खसन्ध्यूर्ध्वव्यञ्जन[3]मुपचितं वलिनमर्धचन्द्राकृति ललाटं, बहलौ विपुलसमपीठौ समौ नीचैर्वृद्धौ पृष्ठतोऽवनतौ सुश्लिष्टकर्णपुत्रकौ महाच्छिद्रौ कर्णौ, ईषत्प्रलम्बिन्यावसङ्गते समे संहते[4] महत्यौ भ्रुवौ, समे समाहितदर्शने व्यक्तभागविभागे बलवती तेजसोपपन्ने स्वङ्गापाङ्गे चक्षुषी, ऋज्वी महोच्छ्वासा वंशसंपन्नेषदवनताग्रा नासिका, महदृजुसुनिविष्टदन्तमास्यं, आयामविस्तारोपपन्ना श्लक्ष्णा तन्वी प्रकृतिवर्णयुक्ता जिह्वा, श्लक्ष्णं युक्तोपचयमूष्मोपपन्नं रक्तं तालु, महानदीनः स्निग्धोऽनुनादी गम्भीरसमुत्थो धीरः स्वरः, नातिस्थूलौ नातिकृशावास्यप्रच्छादनौ रक्तावोष्ठौ, महत्यौ हनू, वृत्ता नातिमहती ग्रीवा, व्यूढमुपचितमुरः, गूढं जत्रु पृष्ठवंशश्च, विप्रकृष्टान्तरौ स्तनौ, असपातिनी स्थिरे पार्श्वे, वृत्तपरिपूर्णायतौ बाहू सक्थिनी अङ्गुल्यश्च, महदुपचितं पाणिपादं, स्थिरा वृत्ताः स्निग्धास्ताम्रास्तुङ्गाः कूर्माकाराः करजाः,

---

१ 'वृत्ते' च. । २ 'स्थिरा बहला त्वक् प्रकृत्या, प्रकृतिसुसंपन्न०' पा० । ३ 'शङ्खसन्ध्यर्धव्यञ्जनसम्पन्नं' इति पठित्वा गंगाधरो व्याचष्टे शङ्खसन्धिभिरर्द्धव्यञ्जनमर्द्धाकारस्तेन संपन्नम् । ४ 'संहते इति घनलोमवत्यौ' गंगाधरः ।

प्रदक्षिणावर्त्ता सोत्सङ्गा च नाभिः, उरस्त्रिभागहीना समा समुपचितमांसा कटी, वृत्तौ स्थिरोपचितमांसौ नात्युन्नतौ नात्यवनतौ स्फिचौ, अनुपूर्ववृत्तावुपचययुक्तावूरू, नात्युपचिते नात्यपचिते एणीपदे, प्रगूढसिरास्थिसन्धी जङ्घे, नात्युपचितौ नात्यपचितौ गुल्फौ, पूर्वोपदिष्टगुणौ पादौ कूर्माकारौ, प्रकृतियुक्तानि वातमूत्रपुरीषाणि तथा स्वप्नजागरणायासस्मितरुदितस्तनग्रहणानि; यच्च किंचिदन्यदप्यनुक्तमस्ति तदपि सर्वं प्रकृतियुक्तमिष्टं, विपरीतं पुनरनिष्टं; इति दीर्घायुर्लक्षणानि ॥ ८० ॥

नामकरण के पश्चात् आयु के प्रमाण को जानने के लिये शिशु की परीक्षा करे। आयुष्मान् (दीर्घायु) कुमारों के ये लक्षण होते हैं, जैसे—केश—वे श्रेष्ठ माने गये हैं जो एक २ पृथक् पृथक् निकले हों, कोमल हों, अल्प हों, स्निग्ध हों, जिनकी जड़ें दृढ़ हों, काले हों। त्वचा—स्थिर और स्थूल प्रशस्त मानी गई है। शिर—स्वाभाविक वा विकाररहित आकृति युक्त, देह के अनुरूप परन्तु प्रमाण में थोड़ा बड़ा और छत्र के समान आकृति वाला उत्तम होता है। ललाट अथवा मस्तक—चौड़ा, दृढ़, सम, जिसमें शङ्खसन्धि का जोड़ सुदृढ़ और सुन्दर है, ऊर्ध्व व्यञ्जन (जिसमें खड़ी हुई रेखायें हों), परिपुष्ट, वली (त्वक्संकोच) युक्त तथा अर्धचन्द्र के समान आकृति वाला श्रेष्ठ होता है। दोनों कान—स्थूल परन्तु समतल कर्णपीठ (जहां पर कान का संयोग है) वाले, सम परिमाण वाले, नीचे को बढ़े हुए, पीछे से आगे को झुके हुए, जिनमें कर्णपुत्रक (कर्णबहिर्द्वार से बाहिर छोटा सा प्रवृद्ध भाग) अच्छी प्रकार जुड़े हों और बड़े छिद्र वाले प्रशस्त माने गए हैं। भौंहें—थोड़ी सी नीचे को लटकी हुईं, जो परस्पर न मिली हुईं हों (बहुत अधिक अन्तर भी न हो) सम और सुगठित उत्तम होती हैं। नेत्र जो सम हों—बड़ी छोटी न हों, जिनका दृष्टिभाग चक्षुर्मण्डल में समभाव से निहित हो, शुक्ल कृष्ण आदि भागों के विभाग सुस्पष्ट हों, बलवान् हों—अच्छा दीखता हो, तेजोयुक्त हों, वर्त्म आदि अङ्ग तथा अपाङ्ग (नेत्रों के

सिरे) सुन्दर हों वे प्रशस्त होते हैं । नाक—सरल, लम्बा सांस लेने वाली, नासावंश (नाक का उन्नत पृष्ठ) से युक्त, अग्रभाग पर थोड़ी सी झुकी हुई श्रेष्ठ मानी गई है । मुख—बड़ा (अन्दर की गुहा का बड़ा होना), सीधा और दन्तपंक्ति जिसमें सुन्दर रूप से जड़ी हो (नामकरण—जो ११ वें दिन होता है—तक यद्यपि दांत नहीं निकले होते हैं पर यदि मसूड़े ठीक हों तो दांतों के ठीक पैदा होने की सम्भावना होती है । दांत कहीं छठे महीने में निकलने प्रारम्भ होते हैं, उस समय से दन्तपरीक्षा भी की जा सकती है) वह प्रशस्त होता है । जिह्वा—उचित लम्बी चौड़ी, चिकनी, पतली और प्रकृतिवर्ण से युक्त अच्छी होती है । जिह्वा की प्रकृति (कारण) कफ शोणित और मांस है । सुश्रुत में कहा है—

'कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ।'

अतः हलकी श्वेतता लिये लालरंग का होना जिह्वा की उत्तमता का लक्षण है । तालु—चिकना, उपचित (पुष्ट—जो न बहुत उठा हुआ हो न गहरा हो), ऊष्मा (गरमी) युक्त तथा लाल वर्ण का प्रशस्त होता है । स्वर—महान् दीनतारहित, स्निग्ध (मीठा, प्रेमभरा) अनुनादी (प्रतिध्व-नित होने वाला, गूंजने वाला), गहरी जगह से उठने वाला (ऐसा प्रतीत हो कि जैसे बहुत गहरी जगह से शब्द आरहा है) अथवा गम्भीर और धीर (जिसमें शीघ्रता न हो) उत्तम होता है । होठ—न बहुत मोटे, न बहुत ही पतले, मुखगुहा को पूर्णतया ढकने वाले और रक्तवर्ण के श्रेष्ठ माने गये हैं । दोनों हनु—महान् अच्छे होते हैं । ग्रीवा (गर्दन)—जो गोल हो पर बहुत लम्बी न हो वह श्रेष्ठ होती है । छाती—विस्तृत और भरी हुई प्रशस्त होती है । जत्रु (छाती और कण्ठ की सन्धि) और पृष्ठवंश (मेरुदण्ड) गूढ—जो ऊंचे उठे न हों, बाहिर से दिखाई न दें वे—अच्छे माने गये हैं । स्तन—वे प्रशस्त हैं जिनके बीच का अन्तर पर्याप्त दूरी का हो । दोनों पार्श्व—वे

प्रशस्त हैं, जो अंसदेश पर सबसे अधिक चौड़े होकर क्रमशः नीचे की ओर चौड़ाई में कम होगए हों, तथा स्थिर हों। बाहु टांगें और अंगुलियां—वे प्रशस्त हैं जो गोल, भरी हुईं और लम्बी हों। हाथ और पैर—बड़े और भरे हुए अच्छे होते हैं। नख—स्थिर, गोल, स्निग्ध (चिकने), लाल, तुङ्ग (ऊंचे उठे हुए), कछुए के आकार के प्रशस्त होते हैं। नाभि वह अच्छी है जिसमें दक्षिण की ओर से आवर्त (चक्कर) हो तथा जिसके किनारे ऊंचे उठे हों। अभिप्राय यह है कि किनारे से उठी हुई बीच में से गम्भीर परन्तु दक्षिणावर्त्तयुक्त नाभि प्रशस्त होती है। कमर—वह अच्छी होगी जो छाती की अपेक्षा तृतीयांश कम चौड़ी हो। यही बात युवा पुरुष के छाती और कमर के प्रमाण में भी विमानस्थान के रोगभिषग्जितीयाध्याय में कही जा चुकी है—

'षोडशाङ्गुलविस्तारा कटी। चतुर्विंशत्यङ्गुलविशालमुरः।'

युवा पुरुष की छाती २४ अंगुल होनी चाहिये। $२४ \times \frac{१}{३} = ८$ अंगुल। २४-८=१६ अंगुल कमर हो। बच्चे में भी छाती और कमर का यही अनुपात होना चाहिये। दोनों स्फिक् (नितम्ब, चूतड़)—गोल, स्थिर, मांस से भरे हुए श्रेष्ठ होते हैं। ऊरू—जो क्रम से गोल और मांसल हों, वे उत्तम हैं। जङ्घायें—न बहुत मांसल न कृश हरिणी की टांग के सदृश और जिनपर सिरायें अस्थि सन्धि दिखाई न दें वे अच्छी होती हैं। गुल्फ (टखने)—न भरे, न कृश श्रेष्ठ होते हैं। पैर—जैसे पहिले कहे गये हैं वैसे और कछुए के आकार के प्रशस्त होते है। वात मूत्र पुरीष सोना जागना परिश्रम मुस्कराना वा हंसना रोना स्तन से दूध पीना; ये सब स्वाभाविक अवस्था में होने अच्छे हैं—विकृत न हों और भी जो कुछ यहां नहीं कहा गया उन सबका भी स्वाभाविक अवस्था में होना ही अभीष्ट है। और उस से विपरीत अभीष्ट नहीं। ये दीर्घायु कुमार के लक्षण हैं।

यद्यपि एक शिशु के लिये कितने घण्टे सोना आवश्यक है, यह निर्णय करना कठिन है, परन्तु कई विद्वानों ने इस ओर प्रयत्न किया है। जिनमें से डाक्टर क्लेमैण्ट डयूक्स का निम्न निर्णय है—

आयु	घण्टे	आयु	घण्टे
जन्म से १ वर्ष पर्यन्त	२३	८–९	१२
१–२	२०	९–१०	११½
२–३	१८	१०–१३	११
३–४	१६	१३–१५	११
४–५	१५	१५–१७	१०½
५–६	१४	१७–१९	१०½
६–७	१३	१९	९½
७–८	१२½	१९ से ऊपर	९ ॥ ८० ॥

अतो धात्रीपरीक्षामुपदेक्ष्यामः—अथ ब्रूयात् धात्रीमानयेति, समानवर्णां यौवनस्थां निभृतामनातुरामव्यङ्गामव्यसनामविरूपामजुगुप्सितां देशजातीयामक्षुद्रामक्षुद्रकर्मिणीं कुलेजातां वत्सलां जीवद्वत्सां पुंवत्सां दोग्ध्रीमप्रमत्तामशायिनीमनुच्चारशायिनीमनन्त्यावशायिनीं[1] कुशलोपचारां शुचिमशुचिद्वेषिणीं स्तनस्तन्यसम्पदुपेतामिति ॥ ८१ ॥

अब धाय की परीक्षा बतायी जायगी—अपने अनुरूप पुत्र को बनाने के लिये माता का दूध ही श्रेष्ठ होता है। जैसा कहा भी है—

' मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये ।
स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसम्पदि वत्सले ॥

परन्तु यदि माता के स्तनों में दूध न बनता हो वा कम बनता हो वा किसी रोग से आक्रान्त होने के कारण पिलाना अभीष्ट न हो

---

१ '०मनन्त्यावशायिनीं' च. ।

तो धाय के दूध पर बच्चे का पालन होना चाहिये। जननी के शरीर के सौन्दर्य को स्थिर रखने के लिये भी बहुत से लोग धाय का प्रबन्ध कर लेते हैं।

चिकित्सक धात्री को लाने के लिये जननी के सम्बन्धियों को कहे। वह धात्री इन गुणों से युक्त होनी चाहिये। शिशु के समान वर्ण वाली होनी चाहिये। यदि कुमार का वर्ण गौर हो तो गौर वर्ण की धाय होनी चाहिये, यदि श्याम है तो श्यामवर्ण की। अथवा यदि कुमार ब्राह्मण है तो धाय भी ब्राह्मणी होनी चाहिये। यदि क्षत्रिय है तो क्षत्रिया इत्यादि। युवती हो। विनय सम्पन्न, नीरोग, सब तथा अविकृत अङ्गों से युक्त और दुर्व्यसनों से रहित होनी चाहिये। वह घृणित न हो अर्थात् मैली कुचैली तथा स्वच्छता का ध्यान न रखने वाली न हो। जिस देश का कुमार है उसी देश की हो। नीच स्वभाव की न हो, न कोई नीच कर्म करती हो, श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुई हो, प्रेम रखने वाली हो। जिसका बच्चा जीता हो। जिसका पुत्र पुमान् हो—कन्या न हो। जो प्रभूत दूध वाली हो, प्रमाद रहित हो, जो सोती ही न रहती हो—जागरूक हो, जो बच्चे के मूत्र और पुरीष पर ही न सोती रहे (ज्यों ही बच्चा मूत्र वा पुरीष कर दे उसी समय वस्त्रों को बदल डाले, कभी मैले वा गीले बिछौने पर न सोये)। धर्म वा आचार से पतित न हो। उपचार में कुशल हो, वह समझती हो कि बच्चे की सेवा शुश्रूषा कैसे की जाती है? पवित्र हो, स्तन और स्तन्य (दूध) दोनों के शुभगुणों से युक्त हो। सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्व-स्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीवद्वत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुलेजातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य ॥ ८१ ॥

तत्रेयं स्तनसम्पत्—नात्यूर्ध्वौ नातिलम्बावनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति स्तनसम्पत् ॥ ८२ ॥

स्तनसम्पत् (स्तन के शुभ गुण)—स्तन न अत्यधिक ऊंचे न अत्यधिक लम्बे वा लटके हुए न अतिकृश न अतिमोटे होने चाहिएं। उन्नत चूचुकों से युक्त होने चाहियें और ऐसे होने चाहिएं जिनसे बच्चा आराम से दूध पी सके, उसे दूध के खींचने में बहुत बल न लगाना पड़े। सुश्रुत में भी 'अलम्बोर्ध्वस्तनी' कहा गया है। वहां इन दोनों स्तनदोषों से हानि भी बता दी है—

'तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत् ॥'

शिशु को दूध पिलाने से पूर्व तथा पश्चात् स्तनों को गरम जल से धो लेना भी अच्छा होता है ॥ ८२ ॥

स्तन्यसम्पत्तु—प्रकृतवर्णगन्धरसस्पर्शमुदपात्रे दुह्यमानमुदकं व्येति, प्रकृतिभूतत्वात् तत्पुष्टिकरमारोग्यकरं चेति स्तन्यसम्पत् ॥ ८३ ॥

स्तन्यसम्पत् (दूध के शुभगुण)—जिसका वर्ण गन्ध रस तथा स्पर्श स्वाभाविक हों। और जो जलयुक्त पात्र में दुहा जाने पर जल से मिल जाये वह दूध स्वाभाविक होने से पुष्टि और आरोग्य का करने वाला होता है। ये दूध के प्रशस्त गुण हैं। सुश्रुत शारीर १०अ० में—

'अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवते न सीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्। तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति।

आजकल के विश्लेषण के अनुसार हिन्दुस्तानी स्त्री के स्वाभाविक दूध में ये घटक होते हैं। प्रोटीन १·२% वसा २·८% शर्करा ५·६% लवण ·२४% जल ८९·८६% ॥ ८३ ॥

अतोऽन्यथा व्यापन्नं ज्ञेयं; तस्य विशेषाः—श्यावारुणवर्णं कषायानुरसं विशदमनतिलक्ष्यगन्धं रूक्षं द्रवं फेनिलं लघ्व-

तृप्तिकरं कर्षणं वातविकाराणां कर्तृ वातोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयं; कृष्णनीलपीतताम्रावभासं तिक्ताम्लकटुकानुरसं कुणपरुधिरगन्धि भृशोष्णं पित्तविकाराणां कर्तृ पित्तोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयं; अत्यर्थशुक्लमतिमाधुर्योपपन्नं लवणानुरसं घृततैलवसामज्जगन्धि पिच्छिलं तन्तुमदुदपात्रेऽवसीदति श्लेष्मविकाराणां कर्तृ श्लेष्मोपसृष्टं क्षीरमभिज्ञेयम् ॥ ८४ ॥

इससे विपरीत को विकृत जानना चाहिये। उस विकृत दूध के भेद ये हैं—

वातदुष्ट दूध—जो—श्याम वा अरुण (ईंट सा लाल) वर्ण का हो, जिसका अनुरस कषाय (कसैला) हो, जो विशद हो—पिच्छिल न हो, जिसमें दूध की अपनी गन्ध बहुत अधिक न आती हो, रूक्ष हो, द्रव हो, फेनिल (झागवाला) हो, लघु हो, जिसके पीने से तृप्ति ही न हो, शरीर को कृश करता हो, वातरोगों का कारण हो—उस दूध को वातदुष्ट जानना चाहिये।

पित्तदुष्ट दूध—जिसमें काली नीली पीली ताम्र वर्ण (तांबे का रंग) की आभा हो, जिसका अनुरस तिक्त खट्टा वा कटु हो, जिसमें से मुर्दे की सी वा रुधिर (लोहू) की सी गन्ध आती हो, जो अति उष्ण हो, पित्तज विकारों का उत्पादक हो—उस दूध को पित्तदुष्ट जानें।

कफदुष्ट दूध—जो अत्यधिक श्वेत वर्ण का हो, अतिमधुर हो, जिसमें अनुरस लवण हो, जिसमें से घी तेल वसा वा मज्जा की गन्ध आती हो, अति पिच्छिल (चिपचिपा) हो, तन्तु युक्त हो, जलपात्र में नीचे बैठ जाय और कफज विकारों का हो उस दूध को कफदुष्ट जानना चाहिये ॥ ८४ ॥

तेषां त्रयाणामपि क्षीरदोषाणां प्रतिप्रतिविशेषमभिसमीक्ष्य यथास्वं यथादोषं च वमनविरेचनास्थापनानुवासनानि विभज्य कृतानि प्रशमनाय भवन्ति ॥ ८५ ॥

दूध के दोषों की चिकित्सा—उन तीनों प्रकार के दूध के दोषों के प्रत्येक भेद की विवेचना करके धात्री की प्रकृति तथा दूध के दोष के अनुसार वमन विरेचन आस्थापन अनुवासन में से जो उचित हो उसके करने से उस २ दोष की शान्ति होती है ॥ ८५ ॥

पानाशनविधिस्तु दुष्टक्षीराया यवगोधूमशालिषष्टिकमुद्गहरेणुककुलत्थसुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकलशुनकरञ्जप्रायः स्यात्, क्षीरदोषविशेषांश्चावेक्ष्यावेक्ष्य तत्तद्विधानं कार्यं स्यात् ॥

दुष्ट दूध वाली धात्री का आहार—जिस धात्री का दूध दूषित हो उसे अन्नपान में जौ, गेहूं, शालि, षष्टिक (सांठी के चावल) मूंग, हरेणुक (सतीन वा मटर), कुलत्थ, सुरा[1], सौवीर, तुषोदक, मैरेय, मेदक, लहसन तथा करञ्ज; इनका अधिकतर प्रयोग करना चाहिये। दूध के दोषों की परीक्षा करके उस २ दोष के अनुसार ही अन्नपान के उस २ विधान का पालन करना चाहिये ॥ ८६ ॥

पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुकरोहिणीसारिवाकषायाणां च पानं प्रशस्यते; तथाऽन्येषां तिक्तकषायकटुकमधुराणां द्रव्याणां प्रयोगः क्षीरविकारविशेषानभिसमीक्ष्य मात्रां कालं चेति क्षीरविशोधनानि ॥ ८७ ॥

स्तन्यशोधक द्रव्य—पाठा (पाढ़), महौषध (सोंठ), देवदारु, मोथा, मूर्वा, गिलोय, इन्द्रजौ, चिरायता, कटुकी, सारिवा, (अनन्तमूल); इन द्रव्यों के कषायों (स्वरस, कल्क, शृत, शीत वा फाण्ट) का पीना हितकर है। तथा दूध के विकारों की विवेचना करके मात्रा और काल के अनुसार अन्य भी जो तिक्त कषाय (कसैला) कटु वा मधुररस युक्त द्रव्य हैं उनका प्रयोग होना चाहिये। ये दूध के शोधन करने वाले द्रव्य कह दिये हैं। सूत्रस्थान ४र्थ अध्याय में भी यही स्तन्यशोधन गण कहा जा चुका है—

---

१ सुरा आदि के लक्षण सूत्रस्थान २५ अध्याय में कहे जा चुके हैं।

'पाठामहौषधसुरदारुमुस्तमूर्वागुडूचीवत्सकफलकिराततिक्तकटुरोहिणी सारिवा इति दशेमानि स्तन्यशोधनानि भवन्ति' ॥ ८७ ॥

क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि ग्राम्यानूपौदकानि च शाकधान्यमांसानि द्रवमधुराम्लभूयिष्ठाश्चाहाराः क्षीरिण्यश्चौषधयः क्षीरपानं चानायासश्चेति, वीरणशालिषष्टिकेक्ष्विक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलकषायाणां च पानमिति क्षीरजननान्युक्तानि ॥ ८८ ॥

दुग्धोत्पादक द्रव्य आदि——सीधु को छोड़ कर सब मद्य, ग्राम्य आनूप तथा औदक (जल में उत्पन्न होने वाले) शाक धान्य और मांस, द्रव(Liquid)प्रधान तथा मधुर एवं अम्लरस–प्रधान आहार, क्षीरिणी ओषधियां (वे ओषधियां जिनमें दूध होता है), दूध पीना, श्रम न करना; ये दूध को उत्पन्न करते हैं । वीरण (खस) शालि षष्टिक इक्षु (ईख) इक्षुवालिका (ईखभेद) दर्भ (दाभ) कुश काश गुन्द्रा (जलज दर्भ) इत्कट (तृणभेद अथवा शर); इनकी जड़ों के कषायों को पीना दूध को उत्पन्न करता है । इन ओषधियों को व्यस्त वा समस्त रूप में प्रयोग कर सकते हैं । कषाय कहने से स्वरस कल्क श्रृत शीत फाण्ट पांचों का ग्रहण होता है । दोषों के परिमाण आदि के अनुसार इनमें से किसी भी कल्पना का प्रयोग किया जा सकता है । यह स्तन्यजनक गण सूत्रस्थान ४र्थ अध्याय में कहा जा चुका है–

' वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति ॥ '

सुश्रुत शारीर १० अध्याय में भी स्तन्योत्पादक अन्नपान बताया गया है—

'क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति । अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्याकलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकबिसविदारिकन्दमधुकशतावरी-

नलिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विदध्यात् ॥' ८८ ॥

धात्री तु यदा स्वादुबहुलशुद्धदुग्धा स्यात्तदा स्नातानुलिप्ता शुक्लवस्त्रं परिधायैन्द्रीं ब्राह्मीं शतवीर्यां सहस्रवीर्याममोघामव्यथां शिवामरिष्टां वाट्यपुष्पीं विष्वक्सेनकान्तां वा बिभ्रत्योषधिं कुमारं प्राङ्मुखं प्रथमं दक्षिणं स्तनं पाययेदिति धात्रीकर्म।

जब धाय का दूध मधुर प्रभूत परिमाण में और शुद्ध हो तब (पिलाने से पूर्व) स्नान और चन्दन आदि का अनुलेपन करके श्वेत वस्त्र पहिर कर ऐन्द्री ब्राह्मी शतवीर्या (दूर्वा) सहस्रवीर्या (दूर्वभेद) अमोघा (पाटला अथवा लक्ष्मणा) अव्यथा (हरड़) शिवा (हलदी) अरिष्टा (नागबला) वाट्यपुष्पी (महाबला) विष्वक्सेनकान्ता (वाराही-कन्द), इन दश औषधियों को (यथालाभ) धारण किये हुए धात्री बच्चे को पूर्व की ओर मुख करके बैठाकर प्रथम दक्षिण स्तन का दूध पिलावे। ये धाय का कर्म है। 'ऐन्द्री' से प्राचीन टीकाकार इन्द्रायण का ग्रहण करते हैं। पर यह चिन्त्य है। 'शतवीर्या' तथा 'सहस्रवीर्या' से शतावरी के दो भेदों का कई ग्रहण करते हैं। कोई २ टीकाकार 'अमोघा' से आंवला 'अव्यथा' से केला वा गिलोय, 'अरिष्टा' से कटुकी और 'विष्वक्सेनकान्ता' से प्रियंगु लेते हैं। योगीन्द्रनाथ 'अव्यथा' से आमलकी और 'शिवा' से हरड़ को स्वीकार करते हैं। सुश्रुत शारीर १० अ० में—

'ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत्' ॥ ८९ ॥

अतोऽनन्तरं कुमारागारविधिमनुव्याख्यास्यामः—वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतङ्गं सुसंविभक्तसलिलोदूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं

कुर्यात्तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमङ्गलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसंपूर्णमिति कुमारागारविधिः ॥ ६० ॥

कुमारागार—इसके पश्चात् शिशुगृह के विधान की व्याख्या करेंगे-

वास्तुविद्या—गृहनिर्माण की विद्या में कुशल पुरुष प्रशस्त सुन्दर अन्धकार-रहित (जिसमें सूर्य की किरणें जाती हों), निवात (जिसमें बच्चे पर सीधी हवा न आवे), जिसका एक भाग प्रवातयुक्त हो (वायु आता जाता हो)। अर्थात् जहां बच्चे का बिछौना हो वहां सीधी हवा न जाय परन्तु उस कमरे में एक ओर ऐसा प्रबन्ध हो कि ताजा हवा अन्दर जाय और गन्दी हवा बाहिर निकल जाय। गृह में द्वार के ठीक सामने द्वार वा खिड़की होने से यह कार्य सिद्ध होता है। एक द्वार से वायु आता है और दूसरे से निकल जाता है इस प्रकार गृह के अन्दर का वायु शुद्ध रहता है। दृढ़, हिंसक पशु दंष्ट्री (कुत्ते आदि), चूहा पतिङ्ग (जो दीपक पर आते हैं) आदि जिसमें न जा सकें। जहां जलस्थान उदूखलस्थान (जहां द्रव्यों का कूटा जा सके) मूत्रस्थान वर्चःस्थान (Latrines) स्नानभूमि (स्नानगृह) महानस (रसोई घर) आदि विभाग के अनुसार यथास्थान बनाये गये हों। ऋतु के अनुसार सुखकर हो (जिससे बच्चा शीतोष्ण से बचा रहे) और जिसमें ऋतु के अनुसार बिछौना आसन (बैठने की जगह) ओढ़ने वा बिछाने के वस्त्र रखे हुए हों—ऐसा कुमारागार बनावे। तथा रक्षाविधान (सूतिकागारोक्त) बलि मङ्गल होम प्रायश्चित्त आदि कर्मों का जहां पर अच्छी प्रकार अनुष्ठान किया गया हो—ऐसा शिशुगृह होना चाहिये। यह कुमारागार पवित्र वृद्ध वैद्य तथा प्रेमी जनों से पूर्ण होना चाहिये अथवा उस आगार में उन्हें ही अन्दर आने का आदेश होना चाहिये।

यह कुमारागार का विधान है। सूतिकागार में रहने के पश्चात् शिशु को ऐसे गृह में रखना चाहिये ॥ ६० ॥

शयनासनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धीनि स्युः; स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः ॥ ६१ ॥

कुमार की शय्या आसन आस्तरण (बिछाने के वस्त्र) प्रावरण (ओढ़ने वा पहिरने के वस्त्र) नरम हलके स्वच्छ और सुगन्धयुक्त होने चाहियें। पसीना मल तथा जूं पिपीलिका खटमल आदि जन्तुओं से और मूत्र वा पुरीष से युक्त न होने चाहियें। ऐसे वस्त्रों को एक बार खराब होने पर फेंक देना चाहिये, पुनः उनका प्रयोग न किया जाय ॥६१॥

असति संभवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधूपितानि[1] सुशुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः ॥ ६२ ॥

परन्तु यदि दारिद्र्य हो, पुरुष धनव्यय न कर सकता हो वा ऐसे काल में जब कि नवीन स्वच्छ वस्त्र न मिल सकते हों तो उन्हीं वस्त्रों को अच्छी प्रकार धोकर शुद्ध स्थान पर सुखा लें। अर्थात् वस्त्रों को ऐसे जलों से धोना चाहिये तथा ऐसे स्थान पर सुखाना चाहिये जिससे लगी हुई मल और रोगोत्पादक कीटाणु नष्ट हो जांय और नये मैल वा रोगोत्पादक कीटाणुओं का संसर्ग न हो। कपड़े सुखाने के बाद रक्षोघ्न (Antiseptic) द्रव्यों से धूपन करना चाहिये। इस प्रकार धोये सुखाये और धूपित वस्त्र उपयोग में लाने चाहियें ॥६२॥

धूपनानि पुनर्वाससां शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्षपातसीहिङ्गुगुग्गुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कषाशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतसक्तानि स्युः ॥ ६३ ॥

धूपन द्रव्य—वस्त्रों शय्या बिछौना तथा ओढने के कपड़ों को जौ, सरसों, अलसी, हींग, भैंसागूगल, वच, चोरक, वयःस्था (ब्राह्मी) गोलोमी (श्वेतदूर्वा), जटिला (जटामांसी), पलङ्कषा (साधारण गूगल),

1 'सुप्रक्षालितोपधानानि' ग.।

अशोक रोहिणी (कटुकी) सर्पनिर्मोक (सांप की कैंचुली); इनमें घी मिलाकर उससे धूपन करें। धूपन से रोगजनक जीवाणु मर जाते हैं। वस्त्रों को धूपन करके ही दोबारा प्रयोग में लाना चाहिये ॥६३॥

मणयश्च धारणीयाः कुमारस्य । खड्गरुरुगवयवृषभाणां जीवतामेव दक्षिणेभ्यो विषाणेभ्योऽग्राणि गृहीतानि स्युः; ऐन्द्र्याद्याश्चौषधयो जीवकर्षभकौ च यानि चान्यान्यपि ब्राह्मणाः प्रशंसेयुरथर्ववेदविदः ॥ ६४ ॥

कुमार को मणियां धारण करवानी चाहियें। जीवित गैंडा हरिण नीलगाय वा सांड; के दाहिने सींग के अग्रभागों को लेकर शिशु को धारण कराना चाहिये। तथा ऐन्द्री ब्राह्मी आदि प्रजास्थापनवर्गोक्त दस ओषधियां, जीवक और ऋषभक; इन्हें धारण करना चाहिये। इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के ज्ञाता ब्राह्मण जिस २ के धारण करने को कहें वह २ धारण करायें।

जीवक ऋषभक भी प्रजास्थापन तथा पुंसवन का कार्य करते हैं।[2] पुंसवन औषधियों के प्रकरण में जीवक और ऋषभक के प्रयोग का वर्णन आ चुका है। ऋषभक के लिये वेद में भी आता है—

'येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत् ।
इदं तदन्यत्र त्वदपदूरे निदध्मसि ॥
आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इव इषुधिम् ।
आ वीरो अत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥
पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥
यानि भद्राणि बीजानि ऋषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥

१ 'मन्त्राद्या०' पा०। २ यहां प्रसङ्गवश बताया है। वस्तुतः यह वर्णन पुंसवन प्रकरण में आना चाहिये था।

कृणोमि ते प्राजापत्यं आ योनिं गर्भ एतु ते ।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारी यस्तुभ्यं शमसच्छमु । तस्मै त्वं भव ।
यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥९४॥

क्रीडनकानि खल्वस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाण्यगुरूण्यतीक्ष्णाग्राण्यनास्यप्रवेशीन्यप्राणहराण्यवित्रासनानि च स्युः ॥ ९५ ॥

बच्चों के लिये खिलौने—विचित्र, शब्द करने वाले, सुन्दर, हलके जिनका अग्रभाग वा कोई सिरा तीक्ष्ण न हो, जो इतने बड़े हों कि मुँह के अन्दर न जा सकें, जो मृत्यु का कारण न हों (विष आदि वा विषयुक्त रंग रोगन आदि से लिप्त न हों) और जिनसे बच्चा डरे नहीं--ऐसे होने चाहियें ॥ ९५ ॥

न ह्यस्य वित्रासनं साधु, तस्मात्तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात् ॥९६॥

बच्चे को डराना उचित नहीं । अतः उसके रोने पर अथवा भोजन न करने पर अथवा किसी कही बात को न मानने पर राक्षस पिशाच पूतना हौवा आदि भयोत्पादक नाम ले लेकर डराना न चाहिये।

सुश्रुत शारीर १० अ० में अनुपालन के अन्य साधारण नियम भी बताये हैं ।

'बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात् । सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः, एवमनभिहतमनास्त्वभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसम्पन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति । वातातपविद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥' ९६ ॥

यदि त्वातुर्यं किंचित्कुमारमागच्छेत्तत्प्रकृतिनिमित्तपूर्वरूपलिङ्गोपशयविशेषैस्तत्त्वतोऽनुबुध्य सर्वविशेषानातुरौषधदेशकालाश्रयानवेक्षमाणश्चिकित्सितुमारभेतैनं मधुरमृदुलघुसुरभिशीतशङ्करं कर्म प्रवर्तयन्, एवं सात्म्या हि कुमारा भवन्ति, तथा ते शर्म लभन्तेऽचिराय; अरोगेष्वरोगवृत्तमातिष्ठेद्देशकालात्मगुणविपर्ययेण वर्तमानः ॥ ९७ ॥

बालरोगों का चिकित्सासूत्र—यदि कोई रोग बालक को हो जाय तो उसके प्रकृति (वात आदि दोष तथा दूष्य) निमित्त (रोगोत्पादक हेतु) पूर्वरूप लिङ्ग (लक्षण, रूप) उपशय से उस रोग को ठीक २ समझ कर आतुर (रोगी) औषध देश काल सम्बन्धी सब भेदों की विवेचना करके मधुर मृदु (कोमल वा मृदुवीर्य) लघु सुगन्धि शीतल तथा संशमन कर्म करते हुए चिकित्सा प्रारम्भ करे। क्योंकि बालकों को ये ही सात्म्य होते हैं। इसप्रकार वे चिरकाल तक सुखी वा नीरोग रहते हैं। जब बच्चा नीरोग हो—स्वस्थ हो तो देश काल तथा अपने (शरीर के) गुणों से विपरीत गुण वाले आहार विहार द्वारा स्वस्थवृत्त में रहे। देशसात्म्य, कालसात्म्य और आत्मसात्म्य में रहते हुए स्वस्थवृत्त का पालन होना चाहिये ॥ ९७ ॥

क्रमेणासात्म्यानि परिवर्त्योपयुञ्जानः सर्वाण्यहितानि वर्जयेत्तथा बलवर्णशरीरायुषां संपदमवाप्नोतीति ॥ ९८ ॥

असात्म्य की जगह सात्म्य का सेवन करते हुए सब अहितकर आहार विहार का त्याग करना चाहिये। क्रमशः त्याग का नियम सूत्रस्थान छठे अध्याय में बताया जा चुका है—

'प्रक्षेपापचये ताभ्यां क्रमः पादांशिको भवेत्।
एकान्तरं ततश्चोर्ध्वं द्व्यन्तरं त्र्यन्तरं तथा ॥'

अर्थात् देश और काल के अनुसार एक आहार विहार सात्म्य होता है परन्तु देशान्तर वा कालान्तर में वह सात्म्य नहीं रहता।

अतः देशान्तर वा कालान्तर में पूर्वाभ्यस्त आहार विहार का हमें त्याग करना होता है और नये देश वा नये काल के अनुसार देशसात्म्य वा कालसात्म्य नये आहार विहार का सेवन आवश्यक होता है। इस परिवर्तन को क्रमशः ही करना चाहिये। सहसा परिवर्तन से बहुत सी हानियां होती हैं। अतएव पूर्व सू० ६ अ० में कह आये हैं।

उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।
हितं क्रमेण सेवेत ॥
क्रमेणापचिता दोषाः क्रमेणोपचिता गुणाः।
सन्तो यान्त्यपुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति च ॥

तन्त्रान्तर में—

ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः।
तत्र पूर्वो विधिस्त्याज्यः सेवनीयोऽपरः क्रमात् ॥
असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात् ॥

इस प्रकार क्रमपूर्वक हितकर पदार्थ के सेवन और अहित के त्याग से बालक, बल वर्ण शरीर आयु; इनकी श्रेष्ठता को प्राप्त होता है। बालक बलवान् शुभवर्ण युक्त सुडोल और सुगठित शरीर वाला तथा दीर्घायु होता है ॥ ६८ ॥

एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकौशलागमनाच्चानुपालयेत्। इति पुत्राशिषां समृद्धिकरं कर्म व्याख्यातम्। तदाचरन् यथोक्तैर्विधिभिः पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयक इति ॥ ६९ ॥

इस प्रकार उस कुमार का युवावस्था में पदार्पण करने तक परिपालन करे। क्योंकि किशोरावस्था में ही वह धर्म वा अर्थ प्राप्ति के साधनों में कुशलता प्राप्त कर सकता है। अभिप्राय यह है कि बचपन में मनुष्य धर्म अर्थ को स्वयं नहीं सोच सकता। परन्तु इस समय की शिक्षा पर ही उसका अगला जीवन निर्भर होता है। अतः माता पिता वा अन्य संरक्षकों का यह कर्तव्य होता है कि वे अपने नियन्त्रण में

रखते हुए धर्म और अर्थ की प्राप्ति में उसे कुशल बना दें, जिससे वह अगले जीवन को सुखमय बना सके ।

यह पुत्र की शुभकामना के लिये सत्फल को देने वाले कर्म की व्याख्या कर दी है । दूसरे के गुणों पर दोषारोपण न करने वाला पुरुष उक्त विधियों के अनुसार उस कर्म का आचरण करता हुआ यथेष्ट पूजा वा मानमर्यादा आदि को पाता है ॥ ९९ ॥

तत्र श्लोकौ ।

पुत्राशिषां कर्म समृद्धिकारकं यदुक्तमेतन्महदर्थसंहितम् ।
तदाचरन् ज्ञो विधिभिर्यथातथं पूजां यथेष्टं लभतेऽनसूयकः ॥

पुत्र की शुभकामना की समृद्धि करने वाला महान् प्रयोजन से युक्त जो यह कर्म कहा गया है उसका वैसे ही विधिपूर्वक आचरण करते हुए असूया (परनिन्दा) रहित ज्ञानी पुरुष यथेष्ट पूजा को पाता है ॥ १०० ॥

शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसंपदा ।
सर्वभावैर्यतस्तस्माच्छारीरं स्थानमुच्यते ॥ १०१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते शारीरस्थाने
जातिसूत्रीयशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

शारीरस्थान का निर्वचन—यतः इस स्थान में देव और मनुष्य सम्बन्धी सब उत्तम गुणों से तथा सब भावों से अर्थात् हर पहलू से समस्त शरीर का विचार किया गया है अतः शारीरस्थान कहाता है । देवसम्पत् से आत्मा परमात्मा आदि का विचार अभिप्रेत है । मानुष-सम्पत् से मनुष्य शरीर सम्बन्धी विचारों का ग्रहण है ॥ १०१ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

शारीरस्थानं समाप्तम् ।

इन्द्रियस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः

अथातो वर्णस्वरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

शारीरस्थान के पश्चात् इन्द्रियस्थान कहा जाता है । चिकित्सा से पूर्व जहां चिकित्सा के सिद्धान्तों रोगनिदान वा शरीर की बनावट का जानना अत्यावश्यक है वहां चिकित्सा करने से पूर्व रोग की साध्यासाध्यता को जानना भी उतना ही आवश्यक है । साध्य रोग की ही चिकित्सा हो सकती है, असाध्य की नहीं । असाध्य की चिकित्सा से—

'अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंशयम् ।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥'

बदनामी चिकित्सक की ही होती है। लोग यही कहते हैं कि इसे चिकित्सा करनी ही नहीं आती । इसने अमुक रोगी की चिकित्सा की उस से कुछ भी लाभ न हुआ और रोग बढ़ता ही गया और अन्त में रोगी की मृत्यु होगई इत्यादि । रोग की असाध्यता का ज्ञान रिष्ट लक्षणों से होता है । मृत्यु के निदर्शक चिन्हों को रिष्ट कहते हैं । ये ही लक्षण इस स्थान में बताये जांयगे । 'इन्द्र' जीवात्मा को कहते हैं । जीवात्मा के लिङ्ग (ज्ञापक) को 'इन्द्रिय' कहते हैं । जहां जीवात्मा के ज्ञापक अन्य भी प्रमाण हैं । पर 'मृत्यु होना' एक बलवत् प्रमाण है । इस अनिवार्य घटना से जीवात्मा की सत्ता माननी पड़ती है । जब तक जीवात्मा है तब तक संसार की चहल पहल है । जीवात्मा के अपक्रान्त होने पर सब शून्य हो जाता है । अतएव इस स्थान का नाम इन्द्रियस्थान रखा गया है ।

अब वर्णस्वरीय नामक इन्द्रियाध्याय की व्याख्या की जायगी-

ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। अर्थात् इस अध्याय में वर्ण और स्वर से सम्बन्ध रखने वाले रिष्ट लक्षण कहे जायंगे ॥ १ ॥

इह खलु वर्णश्च स्वरश्च गन्धश्च रसश्च स्पर्शश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च घ्राणं च रसनं च स्पर्शनं च सत्त्वं च भक्तिश्च शौचं च शीलं चाचारश्च स्मृतिश्चाकृतिश्च[1] बलं च ग्लानिश्च[2] तन्द्रा चारम्भश्च गौरवं च लाघवं च गुणाश्चाहारश्चाहारपरिणामश्चोपायश्चापायश्च[3] व्याधिश्च व्याधिपूर्वरूपं च वेदनाश्चोपद्रवाश्च छाया च प्रतिच्छाया च स्वप्नदर्शनं च दूताधिकारश्च पथि चौत्पातिकं चातुरकुले भावावस्थान्तराणि च भेषजसंवृत्तिश्च[4] भेषजविकारयुक्तिश्चेति[5] परीक्ष्याणि प्रत्यक्षानुमानोपदेशैरायुषः प्रमाणविशेषं जिज्ञासमानेन भिषजा॥

इन्द्रियस्थान का विषय—इस स्थान में वर्ण स्वर गन्ध रस स्पर्श चक्षु श्रोत्र घ्राण रसन स्पर्शन मन भक्ति (इच्छा) शौच (पवित्रता) शील (सहज स्वभाव) आचार (शास्त्र विहित कर्म का पालन) स्मृति आकृति बल ग्लानि तन्द्रा आरम्भ (रोग का प्रारम्भ) गौरव लाघव गुण आहार आहार का परिणाम उपाय (रोगों का होना) अपाय (रोग का नाश) रोग पूर्वरूप वेदना उपद्रव छाया (देह की छवि) प्रतिच्छाया (छाया) स्वप्नों का देखना दूताधिकार तथा मार्ग में उत्पात सम्बन्धी भाव रोगिकुल में शुभाशुभसूचक भावों की विविध अवस्थायें, भेषजसंवृत्ति (वैद्य द्वारा प्रयुक्त औषध का रोगी के शरीर पर प्रभाव) भेषजविकारयुक्ति (क्या औषधविशेष किसी रोगविशेष में प्रयोग कराया जा सकता है)।

इन परीक्ष्य भावों की आयु के प्रमाण को जानने की इच्छा रखने वाले चिकित्सक को प्रत्यक्ष अनुमान उपदेश प्रमाणों द्वारा परीक्षा करनी चाहिये। इन सब भावों से सम्बन्ध रख वाले रिष्ट लक्षण इस

---

१ 'स्मृतिश्च प्रकृतिश्च विकृतिश्चाकृतिश्च मेधा च' ग.। २ 'ग्लानिश्च हर्षश्च रौक्ष्यं च स्नेहश्च तन्द्रा च' ग.। ३ उपायो व्याधिप्रतिकाराय यो य उपायः। गङ्गाधरः। उपाय उपगमनं व्याधिमेलक इत्यर्थः चक्रः। ४ 'भेषजप्रवृत्तिश्च ग.। ५ 'भेषजाधिकारयुक्तिश्च' ग.।

स्थान में कहे जायंगे ॥ २ ॥

तत्र खल्वेषां परीक्ष्याणां कानिचित्पुरुषमनाश्रितानि कानिचिच्च पुरुषसंश्रयाणि; तत्र यानि पुरुषमनाश्रितानि तान्युपदेशतो युक्तितश्च परीक्षेत, पुरुषसंश्रयाणि पुनः प्रकृतितश्च विकृतितश्च ॥ ३ ॥

इन परीक्ष्य विषयों में से कुछ एक तो पुरुष में (जिसकी आयु का प्रमाण जानना है) आश्रित नहीं होते और कुछ एक आश्रित होते हैं । जैसे दूतविकार वा मार्ग के उत्पातकर भाव आदि जिस आतुर की आयु का प्रमाण जानना है उस पुरुष में आश्रित नहीं । और वर्ण स्वर आदि आश्रित होते हैं । जो भाव उस पुरुष में आश्रित नहीं उनकी उपदेश और युक्ति वा अनुमान द्वारा परीक्षा करनी चाहिये । और जो पुरुष में आश्रित होते हैं उन्हें प्रकृति और विकृति द्वारा परीक्षा करे ॥ ३ ॥

तत्र प्रकृतिर्जातिप्रसक्ता च कुलप्रसक्ता च देशानुपातिनी[1] च कालानुपातिनी च वयोऽनुपातिनी च प्रत्यात्मनियता च; जातिकुलदेशकालवयःप्रत्यात्मनियता हि तेषां तेषां पुरुषाणां ते ते भावविशेषा भवन्ति ॥ ४ ॥

प्रकृति—जाति कुल देश काल उम्र तथा प्रति व्यक्ति पर आश्रित होती है । यदि मानवजाति में प्राणी का जन्म है तो उसकी मानवप्रकृति होगी । यदि जाति से ब्राह्मण आदि जातियों का ग्रहण हो तो वहां जन्म होने से उसकी प्रकृति ब्राह्मण आदि के सदृश होगी इसे जातिप्रसक्ता (जाति से सम्बन्ध रखने वाली) प्रकृति कहेंगे । जो वंशपरम्परा से मनुष्य को प्रकृति प्राप्त होती है उसे कुलप्रसक्ता वा कुलगत प्रकृति कहते हैं । किसी देशविशेष में जन्म होने से जो विशेष

१ 'दशानुपातिनी' ग. ।

प्रकृति होती है, उसे देशानुपातिनी प्रकृति कहते हैं। काल से सांवत्सरिक और आवस्थिक दोनों काल लिये जाते हैं। वसन्त आदि ऋतु वा सत्ययुग आदि काल में जो विशेष प्रकृति होती है उसे कालानुपातिनी कहा जाता है इसीप्रकार रोगिता और नीरोगिता आदि अवस्थाओं में जो विशेष प्रकृति होती है उसे भी कालानुपातिनी कहते हैं। बचपन जवानी वृद्धावस्था आदि में जो विशेष विशेष प्रकृतियां होती हैं उन्हें वयोऽनुपातिनी कहते हैं। एवं प्रत्येक व्यक्ति की जो अपनी नियत प्रकृति है वह प्रत्यात्मनियत कहाती है। इस प्रकार प्रकृतियां छह बातों पर निर्भर होती हैं। वृद्धवाग्भट ने इन छह के साथ साथ बल को भी पढ़ा है। इस प्रकार वह प्रकृति को सात प्रकार की मानता है। अष्टाङ्गसंग्रह शारीर ८ अ० में—

'तथा पुनः सप्त प्रकृतयो जातिकुलदेशकालवयोबलप्रत्यात्मसंश्रयाः।'

परन्तु बल के आश्रित प्रकृति को मानना कहां तक ठीक है यह विद्वानों को स्वयं तर्कणा करनी चाहिये। बल स्वयं ही जाति आदि भावों पर आश्रित है उसको पृथक् गिनना हम तो उचित नहीं समझते।

उन २ पुरुषों के वे वे वर्ण पवित्रता शील आचार आदि जाति कुल देश काल वयस् तथा अपने २ (प्रति व्यक्ति) पर आश्रित देखे जाते हैं॥ ४॥

विकृतिः पुनर्लक्षणनिमित्ता च लक्ष्यनिमित्ता च निमित्तानुरूपा च॥ ५॥

विकृति—तीन प्रकार की है। १—लक्षणनिमित्त २ लक्ष्यनिमित्त और ३ निमित्तानुरूप॥ ५॥

तत्र लक्षणनिमित्ता नाम सा, यस्याः शरीरे लक्षणान्येव हेतुभूतानि भवन्ति दैवात्, लक्षणानि हि कानिचिच्छरीरोपनिबद्धानि भवन्ति, यानि हि तस्मिंस्तस्मिन् काले तत्राधिष्ठान-

मासाद्य तां तां विकृतिमुत्पादयन्ति ॥ ६ ॥

लक्षणनिमित्त विकृति—उसे कहते हैं जिसके दैव के कारण उत्पन्न शरीर में लक्षण ही हेतु हों। अभिप्राय यह है कि पूर्वजन्म के कर्मों के कारण शरीर में कई प्रकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये सामुद्रिक शास्त्रोक्त लक्षण हो सकते हैं। अथवा छाती शिर आदि अंगों की ठीक बनावट का न होना, नाखूनों पर रेखाओं का वा पुष्पों का दिखाई देना आदि लक्षणों का भी यहां ग्रहण है। वस्तुतः ये लक्षण केवल भावी व्याधि के निदर्शक होते हैं कारण नहीं होते। परन्तु दैव के कारण इन लक्षणों की उत्पत्ति होती है और ये भावी व्याधि के निदर्शक होते हैं। कुछ लक्षण शरीर से सम्बद्ध होते हैं, जो उस २ समय वहां आश्रय पाकर उस २ विकार को उत्पन्न करते हैं। जैसे छाती की बनावट का ठीक न होना कालान्तर में राजयक्ष्मा का हेतु हो जाता है। ये लक्षणनिमित्त विकृति कहाती है ॥ ६ ॥

लक्ष्यनिमित्ता तु सा, यस्या उपलभ्यते निमित्तं, यथोक्तं निदानेषु ॥ ७ ॥

लक्ष्यनिमित्त विकृति—वह होती है जिसका उक्त निदानों (निदानस्थान में) में निमित्त (कारण) पाया जाता है। अर्थात् जैसे एक पुरुष ने रूक्ष लघु आदि गुणयुक्त द्रव्य का उपयोग किया तो वातज विकृति हो गई। यह लक्ष्यनिमित्त विकृति कहाती है। गंगाधर ने इसका अर्थ यूं किया है—जिस विकृति का व्याधि आदि निमित्त पाया जाता है वह लक्ष्यनिमित्ता विकृति कहाती है। ये निमित्त रोगों के निदान आदियों में कहे गये हैं और आगे कहे जांयगे।

गंगाधर ने 'विकृतिः पुनर्लक्षणनिमित्ता च लक्ष्यनिमित्ता च निमित्तानुरूपा च।' के पश्चात् 'लक्ष्यं तावन्निमित्तानुमानम्।' यह पाठ अधिक पढ़ा है और इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि—निमित्त (कारण) से जिसका अनुमान किया जाय वह रोग आदि लक्ष्य

कहाता है । इसी अर्थ को मान कर 'लक्ष्यनिमित्ता' की व्याख्या की है ७

निमित्तानुरूपा तु निमित्तार्थकारिणी या, तामनिमित्तां निमित्तमायुषः प्रमाणज्ञानस्येच्छन्ति भिषजो भूयश्चायुषः क्षयनिमित्तां प्रेतलिङ्गानुरूपां, यामायुषोऽन्तर्गतस्य ज्ञानार्थमुपदिशन्ति धीराः, यामधिकृत्य पुरुषसंश्रयाणि मुमूर्षतां लक्षणान्युपदेक्ष्याम इत्युद्देशः । तद्विस्तरेणानुव्याख्यास्यामः ॥ ८ ॥

निमित्तानुरूप विकृति—जो निमित्त के प्रयोजन का अनुकरण करती हो वह निमित्तानुरूपा विकृति कहाती है । अर्थात् स्वयं निमित्त नहीं होती परन्तु निमित्त (कारण) की तरह कार्य को करती है । जिस निमित्तरहित विकृति को चिकित्सक आयु के प्रमाण ज्ञान का निमित्त मानते हैं । और आयु के क्षय से उत्पन्न, मुमूर्षु पुरुष के मृत्यु की ज्ञापक जिस विकृति को अन्तर्गत आयु के ज्ञान के लिये विद्वान् लोग कहते हैं और जिस विकृति का अवलम्बन करके हम मुमूर्षु पुरुष के पुरुषाश्रित लक्षणों(दूत आदि सम्बन्धी नहीं)का उपदेश करेंगे,वह निमित्तानुरूपा विकृति कहाती है। 'अन्तर्गत' आयु से अभिप्राय उस आयु से है जो लक्षणनिमित्त वा लक्ष्यनिमित्त विकृति से नहीं जानी जाती । अथवा 'अन्तर्गतस्य' के स्थल पर 'अन्तगतस्य' यह पाठ होने पर उसका अर्थ 'मुमूर्षु व्यक्ति की ' यह होगा । अर्थात् उस विकृति का निमित्त (कारण) नहीं कहा जा सकता (अव्यक्त होने से) वह यदृच्छा से ही (अचानक) उत्पन्न होजाती है और उस विकृति से हम आयु का प्रमाण बता देते हैं—कि इसने ६ घण्टे, एक दिन वा तीन मास पर्यन्त जीवित रहना है इत्यादि । और उस विकृति को ही मृत्यु का कारण बताया जाता है । यह संक्षेप से कहा है । विस्तार से उपदेश करते हुए आगे इसकी व्याख्या हो जायगी ॥ ८ ॥

तत्रादित एव वर्णाधिकारः, तद्यथा—कृष्णः कृष्णश्यामः श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति, यांश्चा-

परानुपेक्षमाणो विद्यादनूक्तोऽन्यथा वापि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः; नीलश्यामताम्रहरितशुक्लाश्च वर्णाः शरीरस्य वैकारिका भवन्ति, यांश्चापरांनुपेक्षमाणो विद्यात्, प्राग्विकृतानभूत्वोत्पन्नान्; इति प्रकृतिविकृतिवर्णा भवन्त्युक्ताः शरीरस्य ॥९॥

सब से पूर्व वर्ण का आश्रय करके जो मुमूर्षु के लक्षण होते हैं वे कहे जायंगे—कृष्ण (काला) कृष्णश्याम (कालेपन की ओर सांवला) श्यामावदात (श्यामगौर अर्थात् न सांवला न गोरा अथवा गोरेपन की ओर सांवला) अवदात (गोरा); ये शरीर के स्वाभाविक वर्ण होते हैं। गंगाधर ने कृष्णश्याम के स्थल पर 'श्याम' ही पढ़ा है। और जिन अन्य वर्णों को वर्णज्ञ पुरुष सादृश्य द्वारा अथवा नामान्तर से निर्देश करते हैं, उन्हें भी प्रकृतिवर्ण जाने। अर्थात् पुरुषों की स्वस्थावस्था में जो इसप्रकार प्रयोग होता है कि वह दूध के समान गोरा है वा कमल के समान गोरा है वा कोयल सा काला है इत्यादि; वह सब प्रकृतिवर्ण जानना चाहिये।

नील (नीला), श्याम (जो प्रकृतिवर्ण में 'श्याम' पढ़ते हैं वे 'नीलश्याम' से एक वर्ण का ग्रहण करते हैं अर्थात् नीला और श्याम वर्ण मिला हुआ अथवा नीलवत् श्याम), ताम्रवर्ण, हरित (हरा) वर्ण, हारिद्रवर्ण (हल्दी का सा रंग), तथा शुक्लवर्ण (श्वेत—जैसा श्वित्रियों का होता है) ये शरीर के वैकारिक वर्ण हैं—विकृति से उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त और भी वे सब वर्ण जो विकृति से पूर्व न हों और पीछे से उत्पन्न हों अर्थात् अनिमित्त ही उत्पन्न हो जांय उन्हें भी वैकारिक जानें। ये शरीर के प्राकृतिक और वैकारिक (विकृति सम्बन्धी) वर्ण कह दिये हैं ९

तत्र प्रकृतिवर्णमर्धशरीरे विकृतिवर्णमर्धशरीरे द्वावपि वर्णौ मर्यादाविभक्तौ दृष्ट्वा यदेव सव्यदक्षिणविभागेन यदेव पूर्वपश्चिमविभागेन यदुत्तराधरविभागेन यदन्तर्बहिर्विभागेनातुरस्य रिष्टमिति विद्यात् ॥ १० ॥

१ 'उपेत्य ईक्षमाण इत्युपेक्षमाणः' चक्रः । 'अवेक्षमाणानपि' ग. ।

यदि आधे शरीर का स्वाभाविक वर्ण हो और आधे शरीर का विकृति वर्ण हो और ये दोनों वर्ण सीमा में विभक्त दिखाई दें, चाहे वे वाम दक्षिण विभाग से विभक्त हों, चाहे पूर्व (सम्मुख) पश्चिम (पृष्ठ) विभाग से विभक्त हों, चाहे ऊपर नीचे के विभाग से विभक्त हों, चाहे अन्दर बाहिर विभाग से विभक्त हों, उसे रोगी के लिये अरिष्ट (मरणानुमापक लक्षण) जानना चाहिये ॥ १० ॥

एवमेव वर्णभेदो मुखेऽप्यन्र्तंतो[1] वर्तमानो मरणाय भवति॥११

इसीप्रकार यदि रोगी के मुख के प्रकृतिवर्ण और विकृतिवर्ण सीमा में विभक्त हों तो वह भी अरिष्ट है । अर्थात् यदि मुंह के अन्दर एक आधे में प्रकृति वर्ण हो और दूसरे आधे में विकृति वर्ण हो तो वह रोगी मुमूर्षु होगा । ये सीमा किसी भी दिशा में हो सकती है चाहे ऊपर नीचे हो, चाहे सामने पीछे हो, चाहे वामदक्षिण हो, चाहे अन्दर बाहिर हो ॥ ११ ॥

वर्णभेदेन ग्लानिहर्षरौक्ष्यस्नेहा व्याख्याताः ॥ १२ ॥

वर्णभेद द्वारा ही ग्लानि हर्ष रूक्षता स्निग्धता की भी व्याख्या हो गई है । अर्थात् यदि शरीर वा मुख के एक ओर के आधे भाग में ग्लानि और दूसरे में हर्ष हो वा एक ओर के आधे भाग में रूक्षता और दूसरे में स्निग्धता हो और दोनों मर्यादा में विभक्त दिखाई दें तो उन्हें भी अरिष्ट लक्षण जानना ॥ १२ ॥

तथा पिप्लुव्यङ्गतिलकालकपिडकानामानने जन्मातुरस्यैवमेवाप्रशस्तं विद्यात् ॥ १३ ॥

यदि रोगी के मुख पर पिप्लु व्यङ्ग तिलकालक (तिल) अथवा पिडकाओं में से कोई एक हठात् उत्पन्न हो जांय तो उसे भी अच्छा लक्षण न जानना चाहिये । वह भी रिष्ट लक्षण है ॥ १३ ॥

नखनयनवदनमूत्रपुरीषहस्तपादौष्ठादिष्वपि च वैकारिको-

---

1 'मुखस्यान्तर्गतो' च. ।

कानां वर्णानामन्यतमस्य प्रादुर्भावो हीनबलवर्णेन्द्रियेषु लक्षणमायुषः क्षयस्य भवति ॥ १४ ॥

जिन रोगियों का बल वर्ण तथा इन्द्रियशक्ति हीन हो गई है उनके नख नेत्र मुख मूत्र पुरीष हाथ पैर होठ आदियों में भी यदि कहे हुए वैकारिक वर्णों में से किसी वर्ण का प्रादुर्भाव हो तो वह भी आयुःक्षय का लक्षण होता है ॥ १४ ॥

यच्चान्यदपि किंचिद्वर्णवैकृतमभूतपूर्वं सहसोत्पद्येतानिमित्तमेव हीयमानस्यातुरस्य शश्वत्, तच्चारिष्टं; इति वर्णाधिकारः १५॥

इसके अतिरिक्त जिस रोगी के बल मांस आदि क्षीण हो रहे हैं उस पुरुष के शरीर में कोई अभूतपूर्व (जो वैकृतावस्था से पूर्व नहीं था) वर्ण सहसा अनिमित्त (निमित्त विना ही) उत्पन्न हो जाय उसे भी अरिष्ट जानें । यह वर्णाधिकार समाप्त होता है ॥ १५ ॥

स्वराधिकारस्तु—हंसक्रौञ्चनेमिदुन्दुभिकलविङ्ककाककपोतझर्झरानुकाराः प्रकृतिस्वरा भवन्ति, यांश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि विद्यादनूकतोऽन्यथा वाऽपि निर्दिश्यमानांस्तज्ज्ञैः ॥ १६ ॥

स्वराधिकार—हंस, क्रौञ्च (कुंज पक्षी) नेमि (चक्र—पहिये की नाभि) दुन्दुभि कलविङ्क (पक्षिविशेष) काक (कौआ) कपोत (कबूतर) झर्झर (वाद्यविशेष) इनके स्वरों के सदृश स्वर प्राकृतिक होते हैं । तथा च अन्य भी स्वर जो विवेचना से प्राकृतावस्था में देखे जाते हैं और जिनका स्वरज्ञ पुरुष सादृश्य द्वारा अथवा अन्यथा निर्देश करते हैं उन्हें भी प्रकृतिस्वर जानना चाहिये ॥ १६ ॥

एडकक[1]कलग्रस्ताव्यक्तगद्गदक्षामदीनानुकीर्णास्त्वातुराणां स्वरा वैकारिका भवन्ति, यांश्चापरानुपेक्षमाणोऽपि विद्यात्प्राग्विकृतानभूत्वोत्पन्नान्; इति प्रकृतिविकृतिस्वरा व्याख्याताः ॥ १७ ॥

एडक (भेड़ा) के सदृश, कल (सूक्ष्म), ग्रस्त (जो स्वर निकले

१ 'शुककलग्रहग्रस्ता०' ग. ।

ही नहीं), अव्यक्त (अस्पष्ट), गद्गद (रुके कण्ठ से बोलने के सदृश), क्षाम (रूक्ष वा क्षीण), दीन (दुःखी पुरुष जैसा बोलता है अथवा गिड़गिड़ाने की तरह), अनुकीर्ण (ऊपर २ बोलते जाना—कहीं रुकना नहीं और बोलते जाना); ये रोगियों के स्वर वैकारिक जानने चाहियें। इनके अतिरिक्त वे अन्य स्वर-जिनकी विवेचना करने पर पूर्वस्वर से भिन्न तथा जो पूर्व कभी भी न रहा हो परन्तु सहसा उत्पन्न होगया हो—जाना जाय उसे विकृति स्वर जाने। यह प्रकृति स्वर और विकृति स्वर की व्याख्या हो गई। 'अनुकीर्णाः' के स्थल पर 'अनुकाराः' यह भी पाठान्तर है ॥ १७ ॥

तत्र प्रकृतिवैकारिकाणां स्वराणामाशुभिनिर्वृत्तिः स्वरानेकत्वमेकस्य चानेकत्वमप्रशस्तम्; इति स्वराधिकारः ॥ १८ ॥

प्रकृति से अन्यथाभूत अर्थात् वैकारिक स्वरों का शीघ्र ही उत्पन्न होना अथवा प्रकृति स्वर और विकृतिस्वरों का युगपत् शीघ्र ही प्रादुर्भाव होना, स्वर की अनेकता—कभी मेषवत् स्वर होना कभी गद्गद वा कभी दीन अथवा कभी ग्रस्त इत्यादि। अथवा यदि प्रकृति स्वरों की भी अनेकता हो कभी हंसवत् कभी काकवत् कभी दुन्दुभिवत् इत्यादि। अथवा स्वर तो एक हो पर अनेक प्रतीत हों तो अशस्त लक्षण है-रिष्ट लक्षण है। गंगाधर का पाठ यह है—'स्वराणामेकत्वमेकस्य चानेकत्वं' उसके अनुसार बहुत से स्वरों का मिश्रित होकर एक होना अथवा एक का अनेक होना अच्छा लक्षण नहीं ॥ १८॥

इति वर्णस्वराधिकारौ यथावदुक्तौ मुमूर्षतां ज्ञानार्थमिति १९

मुमूर्षु पुरुषों के ज्ञान के लिये वर्णाधिकार और स्वराधिकार यथावत् कह दिये हैं ॥ १९ ॥

भवन्ति चात्र।

यस्य वैकारिको वर्णः शरीर उपजायते।
अर्धे वा यदि वा कृत्स्ने निमित्तं न च नास्ति सः ॥२०॥

१ 'स्वराणामेकत्व०' ग.। २ 'लक्षणज्ञानार्थं' ग।

जिस के शरीर के आधे में (और आधे में प्रकृति वर्ण हो) अथवा सम्पूर्ण शरीर में ही विकृति वर्ण विना निमित्त ही उत्पन्न हो गया हो तो वह शीघ्र ही मर जायगा। यदि निमित्त से हो तो सर्वदा ही मृत्युशङ्का न करनी चाहिये ॥ २० ॥

नीलं वा यदि वा श्यावं ताम्रं वा यदि वाऽरुणम् ।
मुखार्धमन्यथा वर्णो मुखार्धेऽरिष्टमुच्यते ॥ २१ ॥

यदि मुख का आधा भाग नीला श्याम ताम्रवर्ण अथवा अरुण वर्ण का हो और आधे मुख में उससे भिन्न वर्ण अथवा प्रकृतिवर्ण हो तो उसे अरिष्ट लक्षण कहा जाता है ॥ २१ ॥

स्नेहो मुखार्धे सुव्यक्तो रौक्ष्यमर्धमुखे भृशम् ।
ग्लानिरर्धे तथा हर्षो मुखार्धे प्रेतलक्षणम् ॥ २२ ॥

यदि मुख के आधे में सुस्पष्ट स्निग्धता हो और आधे में अत्यन्त रूक्षता हो अथवा मुख के आधे में ग्लानि हो (मुरझाया हो) और आधे में हर्ष हो तो उसे मुमूर्षु का लक्षण जानें ॥ २२ ॥

तिलकाः पिप्लवो व्यङ्गा राजयश्च पृथग्विधाः ।
आतुरस्याशु जायन्ते मुखे प्राणान्मुमुक्षतः ॥ २३ ॥

मुमूर्षु पुरुष के मुख पर तिल पिप्लु व्यङ्ग और नाना प्रकार की राजियां (रेखायें) शीघ्र ही उत्पन्न हो जाती हैं । अभिप्राय यह है कि जिस रोगी के मुख पर सहसा तिल आदि उत्पन्न हो जांय उसे यमसदन का यात्री जानना ॥ २३ ॥

पुष्पाणि नखदन्ते वा पङ्को वा दन्तसंश्रितः ।
चूर्णको वाऽपि दन्तेषु लक्षणं मरणस्य तत् ॥ २४ ॥

यदि रोगी के नख और दांत पर पुष्प (श्वेत चिन्ह) हो जांय अथवा दांतों पर यदि कीचड़ के सदृश क्लेद वा चूर्णक (चूने के सदृश श्वेत पदार्थ) प्रादुर्भूत हो जाय तो उसे मृत्यु का लक्षण

जानना चाहिये ॥ २४ ॥

ओष्ठयोः पादयोः पाण्योरक्ष्णोर्मूत्रपुरीषयोः ।
नखेष्वपि च वैवर्ण्यमेतत्क्षीणबलेऽन्तकृत् ॥ २५ ॥

निर्बल रोगी के दोनों होठों पैरों हाथों नेत्रों मूत्र पुरीष वा नखों में विवर्णता हो जाय तो उसे मृत्युजनक जानना चाहिये ॥ २५ ॥

यस्य नीलावुभावोष्ठौ पक्वजाम्बवसन्निभौ ।
मुमूर्षुरिति तं विद्यान्नरो धीरो गतायुषम् ॥ २६ ॥

जिसके दोनों होंठ पके हुए जामुन के सदृश नीले हों उस गतायु पुरुष को विद्वान् चिकित्सक मुमूर्षु जाने । सुश्रुत सू० ३१ अ० में भी—

'यस्याधरौष्ठः पतितः क्षिप्तश्चोर्ध्वं तथोत्तरः ।
उभौ वा जाम्बवाभासौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ' ॥ २६ ॥

एको वा यदि वाऽनेको यस्य वैकारिकः स्वरः ।
सहसोत्पद्यते जन्तोर्हीयमानस्य नास्ति सः ॥ २७ ॥

क्षीण होते हुए पुरुष के यदि सहसा एक वा अनेक विकृतिस्वर उत्पन्न हो जांय तो उसे मरा हुआ ही जानना चाहिये । अर्थात् उसकी शीघ्र ही मृत्यु होने वाली है, यह समझें ॥ २७ ॥

यच्चान्यदपि किंचित्स्याद्वैकृतं स्वरवर्णयोः ।
बलमांसविहीनस्य तत्सर्वं मरणोदयम्[1] ॥ २८ ॥

बल तथा मांस से हीन पुरुष के स्वर और वर्ण में जो भी अन्य सहसा अकारण कोई विकृति हो तो उसे मृत्यु का उदय जानना चाहिये-- वह मृत्यु का लक्षण है ॥ २८ ॥

तत्र श्लोकः ।

इति वर्णस्वरावुक्तौ लक्षणार्थं मुमूर्षताम् ।

---

१ 'मरणाय हि' पा० ।

यस्तु सम्यग्विजानाति नायुर्ज्ञाने स मुह्यति ॥ २९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंकृते इन्द्रियस्थाने वर्णस्वरीय-
मिन्द्रियं नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

मुमूर्षु अर्थात् आसन्नमृत्यु पुरुष की पहिचान के लिये हमने आयु के त्यसूचक वर्ण और स्वर कह दिये हैं अथवा वर्णस्वरीयाधिकार कहा है । जो उन्हें सम्यक् प्रकार से जानता है, वह आयु के ज्ञान में मोह को प्राप्त नहीं होता ॥ २९ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

द्वितीयोऽध्यायः

अथातः पुष्पितकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम पुष्पितक इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे--ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । इस अध्याय का नाम पुष्पितक क्यों रखा है--इस का उत्तर अगले पद्य में दिया गया है ॥ १ ॥

पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्येह भविष्यतः ।
तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः ॥ २॥

जैसे भविष्यत् फल का ज्ञापक पूर्वरूप फूल होता है, वैसे ही मरने वाले पुरुष का ज्ञापक पूर्वरूप अरिष्ट होता है । सुश्रुत सूत्र २८ अ० में भी—

'फलाग्निजलवृष्टीनां पुष्पधूमाम्बुदा यथा ।
ख्यापयन्ति भविष्यत्त्वं तथा रिष्टानि पञ्चताम् ॥' २॥

अप्येवं तु भवेत्पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत् ।
फलं चापि भवेत्किंचिद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ ३ ॥
न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोऽस्ति मरणादृते ।
मरणं चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरःसरम् ॥ ४ ॥

ऐसे फूल भी होते हैं जिनके पश्चात् फल नहीं लगता, जैसे वेतस का फूल । ऐसे भी कई फल हैं जिनसे पूर्व पुष्प नहीं होते, जैसे गूलर। परन्तु एक वार उत्पन्न हुए अरिष्ट का मृत्यु के विना नाश नहीं होता और मृत्यु भी ऐसी कोई नहीं जिससे पूर्व अरिष्टलक्षण न होते हों,अर्थात् अरिष्ट लक्षण होंगे तो मृत्यु अवश्य होगी। और मृत्यु से पूर्व सर्वदा अनपवादरूप से अरिष्ट लक्षण प्रादुर्भूत हुआ करते हैं । यह हो सकता है कि योगी वा रसायनसेवी लोग रिष्ट लक्षण उत्पन्न होने पर भी मृत्यु पर विजय पा लें । सुश्रुत सू० २८ अ० में कहा है—

'ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत्किलामलैः ।
रसायनतपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ' ॥ ३–४ ॥

मिथ्यादृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता ।
अरिष्टं वाऽप्यसंबुद्धमेतत्प्रज्ञापराधजम् ॥ ५ ॥
ज्ञानसंबोधनार्थं तु लिङ्गैर्मरणपूर्वजैः ।
पुष्पितानुपदेक्ष्यामो नरान् बहुविधैर्बहून् ॥ ६ ॥

अज्ञ वैद्य जो वस्तुतः अरिष्ट नहीं है उसे अरिष्ट के सदृश यदि जानता है तो वह मिथ्याज्ञान है । अर्थात् जो चिकित्सक अरिष्ट-लक्षणों को सम्यक् प्रकार से नहीं जानता वह कई वार जो अरिष्ट-लक्षण नहीं होते उन्हें भी भ्रम से अरिष्ट समझ लिया करता है । अथवा वह अज्ञ चिकित्सक अरिष्ट लक्षणों को ही न समझे तो उसमें भी उसकी प्रज्ञा का अपराध जानना चाहिये । कभी २ अरिष्ट लक्षण तो उत्पन्न होते हैं पर अज्ञ वैद्य उसे पहिचान ही नहीं पाता । अभिप्राय यह है कि वैद्य की बुद्धि के दोष से कभी २ जो अरिष्ट लक्षण नहीं उन्हें अरिष्ट और अरिष्ट लक्षणों को अनरिष्ट लक्षण समझ लिया जाता है । इस मिथ्याज्ञान में वैद्य का ही दोष है । अतः उन के ज्ञान को जगाने के लिये मृत्यु से पूर्व उत्पन्न होने वाले बहुत प्रकार के लक्षणों द्वारा बहुत से पुष्पित पुरुषों का उपदेश करेंगे ।

मृत्यु से पूर्व उसके ज्ञापक लक्षण अनेक प्रकार के होते हैं। कोई लक्षण किसी में प्रादुर्भूत होते हैं और कोई लक्षण किसी में। इस प्रकार नाना पुरुषों में नाना लक्षण हुआ करते हैं । हम उन अरिष्टलक्षणाक्रान्त पुरुषों का वर्णन इस अध्याय में करेंगे । इससे वैद्यों की बुद्धि का विकास होगा और वे रोगी की मृत्यु वा जीवन का पूर्वकथन कर सकेंगे ॥ ५—६ ॥

नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य वाति[1] दिवानिशम् ।
पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ॥ ७ ॥

तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः ।
स ना[2] संवत्सराद्देहं जहातीति विनिश्चयः ॥ ८ ॥

जिन में फूल खिले हुए हैं ऐसे नाना प्रकार के वृक्ष और लताओं से सुशोभित वन के सदृश जिस पुरुष के देह से दिन रात गन्ध निकलती रहती है उसे पण्डित लोग मृत्यु के लक्षणों से पुष्पित कहते हैं। देह से नाना प्रकार के पुष्पों की गन्धों का अनिमित्त ही आना मृत्यु का पूर्वरूप है । वह पुष्पित पुरुष एक वर्ष तक देह का अवश्य त्याग कर देगा। अर्थात् इस लक्षण से आक्रान्त रोगी की आयु एक वर्ष शेष है वह एक वर्ष से अधिक जीवित नहीं रह सकता ७—८

एवमेकैकशः पुष्पैर्यस्य गन्धः समो भवेत् ।
इष्टैर्वा यदि वाऽनिष्टैः स च पुष्पित उच्यते ॥ ९ ॥

इसी प्रकार जिसके शरीर से एक २ फूल के सदृश सुगन्ध वा दुर्गन्ध आती हो तो वह भी पुष्पित (जातारिष्ट) कहाता है । इस की अवशिष्ट परमायु भी एक वर्ष होती है ॥ ९ ॥

समासेनाशुभान् गन्धानेकत्वेनाथ वा पुनः ।
आजिघ्रेद्यस्य गात्रेषु तं विद्यात्पुष्पितं भिषक् ॥ १० ॥

जिसके अंगों से अशुभ गन्धों (दुर्गन्धों) की मिश्रित वा पृथक् २

---

1 'भाति' च. । 2 'पुमान् पा०' ।

गन्ध आती हो, चिकित्सक उसे पुष्पित जानें। यह पुरुष भी वर्ष के अन्दर २ मृत्यु को प्राप्त होता है॥ १०॥

आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धाः शुभाशुभाः ।
व्यत्यासेनानिमित्ताः स्युः स च पुष्पित उच्यते ॥ ११॥

जिस पुरुष के देह पर गन्ध द्रव्यों के लेप करने वा न करने पर सुगन्ध और दुर्गन्ध विपरीत भाव से निमित्त के विना ही आवे तो उसे भी पुष्पित जानें। अर्थात् यदि हमने चन्दन आदि सुगन्धि द्रव्य का लेप किया है तो वह सुगन्ध न आकर उसके देह से बुरी गन्ध आती है तो उसे पुष्पित जाने। इसी प्रकार किसी दुर्गन्धि द्रव्य के लेप होने पर सुगन्ध आवे तो भी उसे पुष्पित जानना। इसकी आयु की परम अवधि एक वर्ष जाननी चाहिये॥ ११॥

तद्यथा चन्दनं कुष्ठं तगरागुरुणी मधु ।
माल्यं मूत्रपुरीषे च मृतानि कुणपानि च ॥ १२॥
ये चान्ये विविधात्मानो गन्धा विविधयोनयः ।
तेऽप्यनेनानुमानेन विज्ञेया विकृतिं गताः ॥ १३॥

सुगन्धि और दुर्गन्धि द्रव्यों के कुछ एक उदाहरण—चन्दन, कुष्ठ (कुठ), तगर, अगर, मधु (शहद), चमेली आदि की मालायें ये सुगन्धि द्रव्य हैं वा इन गन्धों को शुभगन्ध कहते हैं। मूत्र पुरीष पशुओं के मृत शरीर और शव (मृत नरदेह); ये अशुभ गन्ध हैं। इन के अतिरिक्त जो भी विविध कारणों से उत्पन्न होने वाले विविध प्रकार के गन्ध हैं उन्हें भी इसी अनुमान से विकृति को प्राप्त जानना चाहिये। अर्थात् पुष्पित शरीर में ही उन गन्धों से विपरीत गन्ध विना निमित्त आया करती है। तात्पर्य यह है कि जिस के शरीर पर चन्दन आदि शुभ गन्ध लगाये गये हैं उसके शरीर पर उस गन्ध का विकास न होकर यदि अकारण ही मूत्र पुरीष आदि की गन्ध आवे

१ 'आप्लुतानाप्लुताः' च.।

एवं चन्दन आदि गन्ध के न लगाने पर चन्दन आदि की गन्ध आवे अथवा मूत्रपुरीष आदि अशुभ गन्ध से लिप्त होने पर उस २ शरीर से वह २ गन्ध न आकर अकारण ही चन्दन आदि की शुभ गन्ध आवे एवं मूत्रपुरीष आदि अशुभ गन्ध से आप्लुत न होने पर भी शरीर से वह २ अशुभ गन्ध आवे तो उस व्यक्ति को पुष्पित जानना चाहिये। उसकी आयु का काल भी एक वर्ष है॥ १२-१३॥

इदं चाप्यतिदेशार्थं लक्षणं गन्धसंश्रयम्।
वक्ष्यामो यदभिज्ञाय भिषङ्मरणमादिशेत्॥ १४॥
वियोनिर्विदुरो[1] यस्य गन्धो गात्रेषु दृश्यते।
इष्टो वा यदि वाऽनिष्टो न स जीवति तां समाम्॥ १५॥
एतावद्गन्धविज्ञानं,

यह भी एक अतिदेश के तौर पर गन्ध सम्बन्धी लक्षण कहेंगे, जिसे समझ कर वैद्य मृत्यु की सूचना दे सकता है। जो अभी तक कहा नहीं गया उसके संग्रह के लिये साधारण नियम का जताना अतिदेश कहाता है॥

जिसके अंगों में अकारण ही स्थायी इष्ट वा अनिष्ट गन्ध (सुगन्ध वा दुर्गन्ध) उत्पन्न हो जाती है वह उस वर्ष जीवित नहीं रहता। अर्थात् वह गन्धोत्पत्ति से लेकर वर्ष के अन्दर २ ही काल का ग्रास हो जाता है। गन्ध से इसप्रकार रिष्ट लक्षण जाने जाते हैं १४-१५॥

रसज्ञानमतः परम्।
आतुराणां शरीरेषु वक्ष्यामो विधिपूर्वकम्॥ १६॥

रसविज्ञान—गन्धविज्ञान के पश्चात् रोगियों के शरीरों में विधिपूर्वक रसविज्ञान कहा जायगा॥ १६॥

यो रसः प्रकृतिस्थानां नराणां देहसंभवः।
स एषां चरमे काले विकारं भजते द्वयम्॥ १७॥

---

1 'वियोनिर्विदूरो' च.।

कश्चिदेवास्य वैरस्यमत्यर्थमुपपद्यते ।
स्वादुत्वमपरश्चापि विपुलं भजते रसः ॥ १८ ॥

प्रकृतिस्थित पुरुषों का जो देह का रस होता है वह इनके अन्त-समय में दो प्रकार के विकारों को प्राप्त होता है। एक तो वह है जिसमें पुरुष के देह में अत्यन्त विरसता (अनिष्टरस का होना वा रसरहित होना) हो जाती है और दूसरा वह जिसमें प्राकृत रस अत्यन्त मधुर हो जाता है ॥ १७-१८ ॥

तमनेनानुमानेन विद्याद्विकृतितां गतम् ।
मनुष्यो हि मनुष्यस्य कथं रसमवाप्नुयात् ॥ १९ ॥

उस विकृत रस को हम इस (निम्न पद्योक्त) अनुमान से जान सकते हैं। मनुष्य मनुष्य के रस को कैसे जाने? यह कहने का अभिप्राय यह है कि रस यद्यपि जिह्वा का विषय है परन्तु रोगी के शरीर के रस को जानने के लिये वैद्य अपनी रसना का प्रयोग नहीं कर सकता क्योंकि उसका प्रयोग स्वास्थ्य की दृष्टि से उसके लिये अत्यन्त हानिकर हैं। अतएव वैद्य को आतुर के शरीर के रस का अनुमान ही करना होता है। यह बात विमानस्थान के चतुर्थ अध्याय में कही जा चुकी है--

'रसं तु खल्वातुरशरीरगतमिन्द्रियवैषयिकमप्यनुमानादवगच्छेत् । न ह्यस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणमुपपद्यते । तस्मादातुरपरिप्रश्नेनैवातुरमुखरसं विद्यात् । यूकापसर्पणेन त्वस्य शरीरवैरस्यम् । मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् । लोहितपित्तसन्देहे तु किं धारिलोहितं लोहितपित्तं वेति श्वकाकभक्षणाद्धारिलोहितमभक्षणाल्लोहितपित्तमित्यनुमातव्यम् । एवमन्यानप्यातुरशरीरगतान् रसाननुमिमीत ॥ १९ ॥

मक्षिकाश्चैव यूकाश्च दंशाश्च मशकैः सह ।
विरसादपसर्पन्ति, जन्तोः कायान्मुमूर्षतः ॥ २० ॥

इस का अनुमान—मक्खियें जूंएं दंश (काटने वाली मक्खी अथवा खटमल आदि) मच्छर; ये सब मुमूर्षु प्राणी के विरस (अनिष्टरसयुक्त

(…वा रसरहित) शरीर से परे हट जाते हैं। अर्थात् उसके शरीर पर मक्खी आदि विचरण नहीं करतीं ॥ २० ॥

अत्यर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः।
अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः ॥ २१ ॥

काल से पके हुए अर्थात् आसन्नमृत्यु पुरुष का देह यदि अत्यन्त रसयुक्त हो--मधुर हो तो चाहे उसे स्नान करादें वा अन्य चन्दन आदि का अनुलेपन भी करादें तो भी मक्खियां चारों ओर से उड़ २ कर उस पर आती हैं। इस अनुमान से हम शरीर के माधुर्य को जानते हैं। शरीर का विरस होना वा अत्यन्त मधुर होना आयुःक्षय का लक्षण है ॥ २१ ॥

तत्र श्लोकः।

यान्येतानि मयोक्तानि लिङ्गानि रसगन्धयोः।
पुष्पितस्य नरस्यैतत्फलं मरणमादिशेत् ॥ २२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पुष्पितकेन्द्रियं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

उपसंहार—जो मैंने पुष्पित पुरुष के रस और गन्ध सम्बन्धी लक्षण कहे हैं, वैद्य इनका फल मृत्यु बताये ॥ २२ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

तृतीयोऽध्यायः।

अथातः परिमर्शनीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब परिमर्शनीय इन्द्रिय की व्याख्या की जायगी—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। इस अध्याय में मुमूर्षु पुरुष के स्पर्श द्वारा ज्ञेय भाव बताये जांयगे ॥ १ ॥

वर्णे स्वरे च गन्धे च रसे चोक्तं पृथक् पृथक् ।
लिङ्गं मुमूर्षतां सम्यक् स्पर्शेष्वपि निबोधत ॥ २ ॥

मुमूर्षु पुरुषों के वर्ण स्वर गन्ध और रस में पृथक् पृथक् लक्षण बता दिये गये हैं । अब स्पर्श में भी लक्षणों को ध्यान से समझो ॥२॥

स्पर्शप्राधान्येनैवातुरस्यायुषः प्रमाणविशेषं जिज्ञासुः प्रकृतिस्थेन पाणिना केवलमस्य शरीरं स्पृशेत् विमर्शयेद्वाऽन्येन ॥३॥

स्पर्श की प्रधानता से (गौणरूप से यहां वर्ण आदि भी बताये हैं) ही रोगी की आयु के प्रमाण को जानने की अभिलाषा वाला वैद्य प्रकृतिस्थित हाथ से उसके सारे शरीर को छूए अथवा दूसरे को छूने के लिये कहे । अर्थात् यदि अपना हाथ प्रकृतिस्थित न हो अत्यन्त उष्ण हो वा अत्यन्त शीत हो वा स्पर्शशक्ति न्यून हो वा प्रमाण से अधिक हो इत्यादि अवस्थाओं में स्पर्श से ज्ञेय भावों का ठीक पता नहीं चलता । तब दूसरे को स्पर्श के लिये कहे और पूछता जाय । इसी प्रकार स्त्रियों के सब अंगों का स्पर्श करना आपत्तिजनक होता है ऐसे समय में किसी विज्ञ स्त्री से स्पर्श कराकर प्रश्न द्वारा वैद्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है ॥ ३ ॥

परिमृषता तु खल्वातुरशरीरमिमे भावास्तत्र तत्रावबोद्धव्या भवन्ति; तद्यथा—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानां स्तम्भः, नित्योष्मणां शीतीभावः, मृदूनां दारुणत्वं, श्लक्ष्णानां खरत्वं, स्थूलानां वृषणादीनां सतामसद्भावः, सन्धीनां स्रंसभ्रंशच्यवनानि, मांसशोणितयोर्वीतीभावो दारुणत्वं, स्वेदानुबन्धः स्तम्भो वा, यच्चान्यदपि किंचिदीदृशं स्पर्शानां लक्षणमनिमित्तं स्यात्; इति लक्षणानां संग्रहः स्पर्शानाम् ॥ ४ ॥

रोगी के शरीर का स्पर्श करते हुए वहां वहां (भिन्न भिन्न शरीर-देशों में) ये भाव जानने होते हैं । जैसे—निरन्तर स्पन्दन करने वाले

---

१ 'स्पर्शप्रामाण्येनैवा०' पा० । २ 'प्रमाणावशेषं' ग. । ३ 'परिमर्शयेद्वाऽन्येन' यो. । ४ स्रंसभ्रंशधावनानि' च. । ५ 'विकृतमनिमित्तं ग. ।

देशों का स्तम्भ अर्थात् वहां स्पन्दन का न होना, जैसे हृदय वा जीवसाक्षिणी धमनी मन्या आदि का स्पन्दन न करना। नित्य उष्ण रहने वाले स्थानों जैसे मुख के अन्दर का भाग का ठण्डा हो जाना । चिकने देशों का खरदरा हो जाना। कोई स्थूल अवयव पहिले तो हों और फिर न रहें । जैसे अण्ड पहिले हों और पीछे लोप होजांय। सन्धियों की शिथिलता भ्रंश (अपने स्थान से हिल जाना) वा च्युति (नीचे गिरना)। मांस और रक्त का क्षय। मांस आदि की कठोरता । अत्यन्त पसीना आना । स्तम्भ अर्थात् अङ्गों का जड़वत् हो जाना अथवा सर्वथा पसीना न आना । और भी जो इसीप्रकार के अकारण मृत्यु के लक्षण होजांय। ये सब भाव रोगी के शरीर में स्पर्श द्वारा जानने होते हैं । स्पर्श-ज्ञेय भावों का यह संक्षेप से लक्षण कह दिया है ॥ ४ ॥

तद्व्यासतोऽनुव्याख्यास्यामः—तस्य चेत्परिमृश्यमानं पृथक्त्वेन पादजङ्घोरुस्फिगुदरपार्श्वपृष्ठेषिकापाणिग्रीवाताल्वोष्ठललाटं स्विन्नं शीतं स्तब्धं दारुणं वीतमांसशोणितं वा स्यात्, परासुरयं पुरुषो न चिरात्कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ५ ॥

इसकी विस्तार से व्याख्या करेंगे—रोगी के पैर जङ्घा ऊरु स्फिक् (नितम्ब—चूतड़) उदर (पेट) पीठ रीढ़ की हड्डी हाथ गरदन तालु होठ मस्तक; इन्हें पृथक् २ छूने से यदि यह पता लगे कि पसीना आया हुआ है, शीतल हैं, स्तब्ध हैं, जड़वत् हैं वा कोई स्पन्दन नहीं, कठोर हैं वा मांसरक्त अत्यन्त क्षीण हो गये हैं, तो वह गतायु है—ऐसा जाने । वह शीघ्र ही मर जायगा—यह समझना चाहिये । अर्थात् इन देशों में से किसी एक देश में भी स्वेद शीतता आदि लक्षण विद्यमान् हों तो वह प्राणी मुमूर्षु है यह जानें ॥ ५ ॥

तस्य चेत्परिमृश्यमानानि पृथक्त्वेन गुल्फजानुवङ्क्षणगुदवृषणमेढ्रनाभ्यंसस्तनमणिकहनुपर्शुकानासिकाकर्णाक्षिभ्रूशङ्खादीनि-

स्रस्तानि व्यस्तानि च्युतानि वा स्थानेभ्यः स्कन्नानि स्युः, परासुरयं पुरुषो न चिरात्कालं मरिष्यतीति विद्यात् ॥ ६ ॥

यदि एक २ करके रोगी के गुल्फ (पाद जङ्घा सन्धि) घुटने वंक्षण (रान) गुदा वृषण (अण्डकोष) मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) नाभि अंस (बाहु और अक्षक की सन्धि) स्तन मणिक (कलाई वा प्रबाहु और हाथ की सन्धि) हनु (जबड़ा) पर्शुका (पसलियां) नाक कान नेत्र भौंह शङ्ख आदि को छूने से वे शिथिल, जोड़ से पृथक् वा अपने स्थान से गिरे हुए अनुभव हों तो वह गतायु पुरुष शीघ्र मृत्यु का ग्रास होगा—यह जाने ॥ ६ ॥

तथाऽस्योच्छ्वासमन्यादन्तपक्ष्मचक्षुःकेशलोमोदरनखाङ्गुलि-गणं च लक्षयेत् ॥ ७ ॥

तथा रोगी के उच्छ्वास (बाहिर निकलने वाला श्वास) मन्या (गर्दन की दो शिरायें जिनसे स्वच्छ रक्त जाता है जिन्हें आजकल की परिभाषा के अनुसार मन्या धमनी कहा जाने लगा है), दांत, पक्ष्म (पलकें), नेत्र, केश (शिर आदि के बाल), लोम पेट नख और अंगुलियां—इन्हें भी देखें ॥ ७ ॥

तस्य चेदुच्छ्वासोऽतिदीर्घोऽतिह्रस्वो वा स्यात्, परासुरिति विद्यात् ॥ ८ ॥

उच्छ्वास परीक्षा—रोगी का उच्छ्वास यदि बहुत लम्बा वा बहुत छोटा हो तो उसे मुमूर्षु जानें ॥ ८ ॥

तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विद्यात् ॥ ९ ॥

मन्यापरीक्षा—यदि मन्याओं को स्पर्श करने से स्पन्दन न प्रतीत हों तो गतायु जानें ॥ ९ ॥

तस्य चेद्दन्ताः परिकीर्णाः श्वेता जातशर्कराः स्युः, परासुरिति विद्यात् ॥ १० ॥

दन्तपरीक्षा—यदि दांत बहुत मैल से लिप्त हों, अतिश्वेत हों तथा दांतों पर शर्करा[1] उत्पन्न हो गई हो तो उसे भी मुमूर्षु जानें ॥१०॥

तस्य चेत्पक्ष्माणि जटाबद्धानि स्युः, परासुरिति विद्यात् ११

पक्ष्मपरीक्षा—यदि रोगी की पलकें जटाओं की तरह बंधी हुई हों तो उसे आसन्नमृत्यु समझें। अर्थात् पलकों के पांच सात बाल मिल २ कर जटाओं की तरह हो जांय तो उस रोगी को मुमूर्षु जानना चाहिये ॥ ११ ॥

तस्य चेच्चक्षुषी प्रकृतियुक्तेऽत्युत्पिण्डितेऽतिप्रविष्टेऽतिजिह्मेऽतिविषमेऽतिप्रस्रुतेऽतिविमुक्तबन्धने सततोन्मेषिते सततनिमेषिते निमेषोन्मेषातिप्रवृत्ते विभ्रान्तदृष्टिके विपरीतदृष्टिके हीनदृष्टिके व्यस्तदृष्टिके नकुलान्धे कपोतान्धेऽलातवर्णे कृष्णनीलपीतश्यावताम्रहरितहारिद्रशुक्लवैकारिकाणां वर्णानामन्यतमेनातिसंप्लुते वा स्यातां, परासुरिति विद्यात् ॥ १२ ॥

नेत्रपरीक्षा—रोगी की आंखें यदि प्रकृति--हीन हों—स्वाभाविक न हों, विकृति-युक्त हों, पिण्डाकार होकर अत्यधिक बाहिर निकली हुई हों, बहुत अन्दर घुसी हुई हों, अत्यन्त वक्र हों—कुटिल हों, अत्यधिक विषम हों—एक आंख बन्द हों और एक आंख खुली हुई हो अथवा एक आंख थोड़ी खुली होने से छोटी प्रतीत हो और दूसरी विस्फारित होने से बड़ी प्रतीत हो, अत्यधिक आंसू वा स्राव निकलता हो, बन्धन अत्यधिक खुले हुए हों अर्थात् नेत्र अत्यधिक विस्फारित हों, निरन्तर खुले रहते हों, निरन्तर बन्द रहते हों, निमेष उन्मेष बहुत अधिक हो रहे हों, दृष्टि विभ्रान्त हो—कभी इधर देखे कभी उधर देखे अथवा आंखें पलट गई हों, विपरीत दृष्टि युक्त हों—एक वस्तु को देखने से यदि रोगी को वह न ज्ञात होकर दूसरी ही कोई दीखती हो, दृष्टि क्षीण हो गई हो, दृष्टि

---

1 'मलो दन्तगतो यस्तु पित्तमारुतशोषितः । शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥

विक्षिप्त हो–देखना किसी और ओर चाहे और देखता किसी और ओर हो, नकुलान्ध हो गई हों–नकुलान्ध रोगी दिन में सब रूपों को श्वेत ही देखता है, कपोतान्ध हों–यह रोगी दिन में सब रूपों काला ही देखता है, अलातवर्ण (अङ्गारे के समान वर्ण वाली) हो अथवा काला, नीला, पीला, श्याम, तांबे के सदृश वर्ण, हरा, हल्दी के सदृश पीला तथा श्वेत; इन विकृति वर्णों में से यदि कोई वर्ण अत्यधिक छा गया हो तो उसे गतायु जानें ॥ १२ ॥

अथास्य केशलोमान्यायच्छेत्–तस्य चेत्केशलोमान्यायम्यमानानि प्रलुच्येरन्न च वेदयेयुः परासुरिति विद्यात् ॥ १३ ॥

केशलोम परीक्षा––अब रोगी के केश और लोमों को पकड़कर खींचे । यदि केश और लोमों को खींचने से वे उखड़ आयें और दर्द न हो तो उसे गतायु जानें ॥ १३ ॥

तस्य चेदुदरे सिराः प्रदृश्येरन् श्यावताम्रनीलहारिद्रशुक्ला वा स्युः, परासुरिति विद्यात् ॥ १४ ॥

उदर परीक्षा—यदि रोगी के पेट पर सिरायें दीखें अथवा वे सिरायें श्याम ताम्रवर्ण नीली हल्दी के सदृश वर्ण वाली वा श्वेत हों तो उसे मुमूर्षु जानें ॥ १४ ॥

तस्य चेन्नखा वीतमांसशोणिताः पक्वजाम्बववर्णाः स्युः, परासुरिति विद्यात् ॥ १५ ॥

नखपरीक्षा–यदि रोगी के नख मांस और रक्त रहित हों, पके जामुन के सदृश वर्ण हो तो उसे गतायु जानें ॥ १५ ॥

अथास्याङ्गुलीरायच्छेत्तस्य चेदङ्गुलय आयम्यमाना न चेत्स्फुटेयुः, परासुरिति विद्यात् ॥ १६ ॥

---

१ नकुलान्धस्तु रूपाणि दिवा शुक्लानि पश्यति। कपोतान्धस्तु रूपाणि दिवा कृष्णानि पश्यति' ॥ तथाऽन्यत्र नकुलान्ध्यलक्षणम्–'विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् । चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत्स वै विकारी नकुलान्ध्यसंज्ञः' ॥ अत्र चित्राणि रूपाणीत्युक्तम् । नक्तान्ध्यभेदः खल्वयम् ।

अङ्गुलि परीक्षा—रोगी की अंगुलियों कों खींचे । यदि खींचने से अंगुलियों में स्फोटन शब्द अर्थात् सन्धि के खुलने का शब्द न हो तो उसे गतायु जानना चाहिये ॥ १६ ॥

भवति चात्र ।

एतान् स्पृश्यान् बहून् भावान् यः स्पृशन्नवबुध्यते ।
आतुरे न स संमोहमायुर्ज्ञानस्य गच्छति ॥ १७ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने परिमर्शनेन्द्रियं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

जो स्पर्श से ज्ञेय (प्रधानतः) इन बहुत से भावों को छूकर जान जाता है वह रोगी की आयु के ज्ञान में कभी मोह को प्राप्त नहीं होता ॥ १७ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

चतुर्थोऽध्यायः

अथात इन्द्रियानीकमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम इन्द्रियानीक नामक इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे—यह भगवान् आत्रेय ने कहा था । इस अध्याय में इन्द्रियसमूह की परीक्षा से मुमूर्षु के लक्षण कहे जायंगे ॥ १ ॥

इन्द्रियाणि यथा जन्तोः परीक्षेत विशेषवित् ।
ज्ञातुमिच्छन्[1] भिषज्ज्ञानमायुषस्तन्निबोध मे ॥ २ ॥

आयु के प्रमाण को जानने की इच्छा रखते हुए विशेषज्ञ वैद्य को जैसे प्राणी के इन्द्रियों की परीक्षा करनी चाहिये वह मुझ से सुनो । इन्द्रियों की परीक्षा से हम कैसे रिष्ट लक्षण जानते हैं—यह इस अध्याय में बताया जायगा ॥ २ ॥

---

१ 'आयुःप्रमाणं जिज्ञासुर्भिषक् तन्नो निबोधत' ग. ।

अनुमानात्परीक्षेत दर्शनादीनि तत्त्वतः ।
अद्धा हि विदितं ज्ञानमिन्द्रियाणामतीन्द्रियम् ॥ ३ ॥

चक्षु आदि इन्द्रियों की अनुमान द्वारा तत्त्व परीक्षा करे। क्योंकि इन्द्रियों का सत्य वा मिथ्याज्ञान अतीन्द्रिय होता है--इन्द्रियों से जाना नहीं जा सकता। इन्द्रियों के स्वयं अतीन्द्रिय होने से उनका प्रकृति-ज्ञान वा विकृतिज्ञान इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता। अतः प्रत्यक्ष द्वारा उपलब्धि न होने से अनुमान द्वारा ही परीक्षा करनी होती है। एक इन्द्रिय के विषय ज्ञान की सत्यता वा मिथ्यात्व को बताने में दूसरी इन्द्रियां समर्थ नहीं होतीं। रूप की सत्यता वा मिथ्यात्व को न कान बता सकते हैं न रसना बता सकती न त्वचा बता सकती है न घ्राणेन्द्रिय ही बता सकती है। इसीप्रकार अन्य विषयों के सम्बन्ध में भी यही बात है। अतएव हमें अनुमान का ही आश्रय लेना होता है ३

स्वस्थेभ्यो विकृतं यस्य ज्ञानमिन्द्रियसंभवम् ।
आलक्ष्येतानिमित्तेन लक्षणं मरणस्य तत् ॥ ४ ॥
इत्युक्तं लक्षणं सम्यगिन्द्रियेष्वशुभोदयम् ।
तदेव तु पुनर्भूयो विस्तरेण निबोधत ॥ ५ ॥

इन्द्रियज्ञान द्वारा मुमूर्षुता का बोध—जिस रोगी का इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान अकारण ही स्वस्थेन्द्रिय पुरुष के ज्ञान से विकृत (विपरीतभावापन्न) दिखाई दे, वह मृत्यु का लक्षण जानना चाहिये। अथवा स्वस्थ इन्द्रियों से अकारण विकृत ज्ञान उत्पन्न होना रिष्ट लक्षण है। यह अनुमान सब इन्द्रियों में सामान्यतः लागू होगा।

यह इन्द्रियों में अशुभ (मरण) सूचक लक्षण यथार्थ रूप से कह दिया है। उसे ही आगे विस्तार से ध्यान लगाकर सुनो॥४-५॥

घनीभूतमिवाकाशमाकाशमिव मेदिनीम् ।
विगीतं ह्युभयं ह्येतत्पश्यन्मरणमृच्छति ॥ ६ ॥

---

१ 'अनुमानैः' पा० ।

चक्षु परीक्षा—जो पुरुष शून्यमय आकाश को घनीभूत (पिण्डाकृति वा कठोर) एवं घनीभूत पृथिवी को आकाश की तरह (शून्य वा अदृश्य) देखे वह मृत्यु को प्राप्त होता है । क्योंकि ये दोनों ज्ञान विपरीत-ज्ञान वा विकृति-ज्ञान हैं ॥ ६ ॥

यस्य दर्शनमायाति मारुतोऽम्बरगोचरः ।
अग्निर्नायाति वा दीप्तस्तस्यायुः क्षयमादिशेत् ॥ ७ ॥

जिसे आकाश में सञ्चार करने वाला वा स्पर्शनेन्द्रिय से ज्ञेय अमूर्त वायु दृष्टिगोचर होता है, अथवा दीप्त अग्नि दिखाई नहीं देता उस की आयु क्षीण होगई है—यह जानना चाहिये । सुश्रुत सू० ३० अ० में कहा है—

'यश्चानिलं मूर्त्तिमन्तमन्तरीक्षञ्च पश्यति ।
धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ॥
प्रदीप्तमिव लोकञ्च यो वा प्लुतमिवाम्भसा ।
भूमिमष्टपदाकारां लेखाभिर्यश्च पश्यति ॥
न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम् ।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥'

ये सब विकृतज्ञान हैं । अतएव अनिमित्त ही ऐसा ज्ञान होने पर आयुःक्षय के सूचक होते हैं ॥ ७ ॥

जले सुविमले जालमजालावतते तथा ।
स्थिते गच्छति वा दृष्ट्वा जीवितात्परिमुच्यते ॥ ८ ॥

जिसमें जाल नहीं फैलाया गया है ऐसे स्थिर अथवा बहते हुए अत्यन्त निर्मल जल में जो जाल को देखता है वह पुरुष मर जाता है ।

जाग्रत्पश्यति यः प्रेतान् रक्षांसि विविधानि च ।

---

१ 'अग्निना याति वा दीप्त०' इति पठन् गङ्गाधरो व्याचष्टे-अथवाऽग्निना वा दीप्तः सन् दर्शनमायाति तस्यायुःक्षयमादिशेदिति ।

अन्यद्वाऽप्यद्भुतं किंचिन्न स जीवितुमर्हति ॥ ९ ॥

जो जागते हुए, प्रेतों वा विविध प्रकार के राक्षसों को अथवा अन्य अद्भुत पदार्थ को देखता है वह जीवन से छूट जाता है—मर जाता है। अर्थात् जाग्रत् अवस्था में जो प्रेत राक्षस आदि को देखता है उसे मुमूर्षु जानना चाहिये ॥ ९ ॥

योऽग्निं प्रकृतिवर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम्।
कृष्णं वा यदि वा शुक्लं निशां[1] व्रजति सप्तमीम् ॥ १० ॥

जो स्वाभाविक वर्ण वाली अग्नि को नीला प्रभारहित काला वा श्वेत देखता है वह सातवीं रात को चल बसता है—शीघ्र मर जाता है।

मरीचीनसतो मेघान्मेघान्वाप्यसतोऽम्बरे।
विद्युतो वा विना मेघात् पश्यन्मरणमृच्छति[2] ॥ ११ ॥

जो बादलों के विना भी बादलों की द्युति को देखता है अथवा बादलों के न होते हुए आकाश में बादलों को देखता है अथवा मेघों के विना ही मेघों की रगड़ से उत्पन्न होने वाली बिजली की छटा को देखता है, वह नष्ट हो जाता है। अथवा साधारण तौर पर मरीचि का अर्थ सूर्यकिरण होता है। मेघों से सूर्यकिरणें नहीं प्रादुर्भूत होतीं। यदि मेघ से सूर्यकिरणें प्रादुर्भूत होती दिखाई दें तो वह रिष्ट लक्षण है।

गंगाधर ने 'असतः अमेघान्' ऐसा सन्धिच्छेद करके अर्थ इस प्रकार किया है—जो रोगी आकाश में मेघ न होते हुए भी मेघज्योति को देखता है वह नष्ट होता है। अथवा जो

---

१ 'सोऽग्नौ व्रजति सप्तमीम्'। ग.।

२ 'य आतुरोऽमेघान् मेघहीनान् असतश्च मरीचीन् मेघज्योतिषः अम्बरे आकाशे पश्यति, स नश्यति। यो वातुरोऽम्बरे विना मेघान् असतः असत्यान् मेघान् पश्यति, स नश्यति। यो वाप्यातुरोऽम्बरे विना मेघान् विद्युतः पश्यति, स नश्यतीति॥' गङ्गाधरः।

रोगी मेघों के न होते हुए भी झूठे मेघों को देखता है, वह नष्ट होता है। अथवा जो रोगी मेघ के न होने पर भी बिजलियों को देखता है, वह भी नष्ट होता है ॥ ११ ॥

मृण्मयीमिव यः पात्रीं कृष्णाम्बरसमावृताम् ।
आदित्यमीक्षते शुद्धं चन्द्रं वा न स जीवति ॥ १२ ॥

जो पुरुष शुद्ध सूर्य वा चन्द्रमा को काले वस्त्र से आच्छादित मिट्टी की थाली की तरह देखता है वह जीवित नहीं रहता। शुद्ध कहने से अभिप्राय ग्रहणग्रस्त आदि न होने से है। जब ग्रहण लगा होता है तब भासुर रूप नहीं रहता और वे श्याम वा कृष्णवर्ण के दिखाई देते हैं। अथवा इसका अर्थ यह भी होसकता है कि जो सूर्य को तो काले वस्त्र से आच्छादित मिट्टी की थाली की तरह देखता है अथवा चन्द्रमा को शुद्ध अर्थात् निष्कलङ्क देखता है, वह भी जीवित नहीं रहता ॥ १२ ॥

अपर्वणि यदा पश्येत्सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहम् ।
अव्याधितो व्याधितो वा तदन्तं तस्य जीवितम् ॥ १३ ॥

अमावस्या वा पूर्णिमा से अतिरिक्त काल में जो भी नीरोग वा रोगी सूर्य और चन्द्रमा का ग्रहण देखता है, उस पुरुष का ग्रहण के छूटने के काल तक जीवन शेष है। अर्थात् ज्यों ही वह पुरुष सूर्य वा चन्द्रमा को ग्रहण से मुक्त हुआ देखता है, उसकी मृत्यु हो जाती है १३

नक्तं सूर्यमहश्चन्द्रमनग्नौ धूममुत्थितम् ।
अग्निं वा निष्प्रभं रात्रौ दृष्ट्वा मरणमृच्छति ॥ १४ ॥

रात्रि को सूर्य और दिन में प्रभायुक्त चन्द्रमा को देखकर पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है। इसीप्रकार अग्नि के विना धूआ और रात्रि में अग्नि को प्रभारहित देखता हुआ पुरुष काल का ग्रास होता है। अर्थात् यदि रात्रि में सूर्य दिखाई दे वा दिन में अपनी ज्योत्स्ना को फैलाता हुआ चन्द्रमा दीखे तो वह अरिष्ट है। रात्रि के समय अग्नि में प्रभा होती है

परन्तु यदि कोई पुरुष उस समय अग्नि में प्रभा को नहीं देखता तो उसे मुमूर्षु ही जानना चाहिये। धूंआ अग्नि के विना नहीं होता यदि कोई अग्निरहित स्थल से धूंआ निकलता देखे तो वह मरणसूचक चिह्न है।

गङ्गाधर 'अहश्चन्द्रं' के स्थल पर 'असचन्द्रं' पढ़ता है। जिसके अनुसार अर्थ यह होगा कि जिस रात्रि में चन्द्रमा न हो यथा अमावस्या उस दिन चन्द्रमा को देखे तो जानना चाहिये कि वह शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होगा ॥ १४ ॥

प्रभावतः प्रभाहीनान्निष्प्रभान् वा प्रभावतः ।
नरा विलिङ्गान् पश्यन्ति भावान् प्राणाञ्जिहासवः ॥ १५ ॥

प्राणों के त्यागने की इच्छा वाले अर्थात् मुमूर्षु वा मरणासन्न पुरुष प्रभा (चमक) युक्त भावों को प्रभा से रहित और प्रभा से रहित पदार्थों को प्रभायुक्त देखा करते हैं। मुमूर्षु इसीप्रकार अन्य भावों को भी विपरीत लिङ्ग वाला देखा करता है। अर्थात् काले को श्वेत, श्वेत को काला इत्यादि विपरीत लक्षणों से देखता है ॥ १५ ॥

व्याकृतानि विवर्णानि विसंख्योपगतानि च ।
विनिमित्तानि[1] पश्यन्ति रूपाण्यायुःक्षये नराः ॥ १६ ॥

आयु के क्षीण होने पर पुरुष विपरीत आकृति वाले, विपरीत वर्ण वाले, विपरीत संख्या वाले रूपों को अकारण ही देखा करता है। किसी की सुन्दर आकृति हो उसको भद्दा देखना, किसी की भद्दी आकृति हो उसे सुन्दर देखना, किसी के सम्पूर्ण अंग हों उसमें किसी अंग का न देखना, किसी के अंग न हों पर उसमें सब अंगों का देखना; इत्यादि विपरीत आकृति गतायु पुरुष देखता है। विपरीत वर्ण से अभिप्राय श्वेत को काला लाल हरा देखना, लाल को काला पीला हरा श्वेत देखना, काले को श्वेत पीला आदि देखना है। विपरीत संख्या से अभिप्राय एक को अनेक और अनेक को एक देखना है। एक को दो तीन

---

1 'विनिर्मितानि' ग.।

चार आदि देखना दो को एक तीन चार आदि देखना विरुद्ध होता है। परन्तु उसे ऐसा ज्ञान अकारण ही होना चाहिये तभी मुमूर्षु जाना जायगा। क्योंकि कई रोगों में भी ये लक्षण हुआ करते हैं वहां पर इसका कारण उपस्थित होता है। पर मुमूर्षु पुरुष में ये लक्षण अचानक और अकारण ही हो जाते हैं ॥ १६ ॥

यश्च पश्यत्यदृश्यान् वै दृश्यान् यश्च न पश्यति ।
तावुभौ पश्यतः क्षिप्रं यमालयमसंशयम् ॥ १७ ॥

जो अदृश्य (वायु आकाश आदि) वस्तुओं को देखता है और दृश्य वस्तुओं को नहीं देखता वे दोनों ही शीघ्र यमपुरी को जाते हैं।

सुश्रुत सू० ३० अ० में—

दिवा ज्योतींषि यश्चापि ज्वलितानीव पश्यति ।
रात्रौ सूर्यं ज्वलन्तं वा दिवा वा चन्द्रवर्चसम् ॥
अमेघोपप्लवे यश्च शक्रचापतडिद्गुणान् ।
तडित्वतोऽसितान् यो वा निर्मले गगने घनान् ॥
विमानयानप्रासादैर्यश्च संकुलमम्बरम् ।
यश्चानिलं मूर्तिमन्तमन्तरीक्षञ्च पश्यति ॥
धूमनीहारवासोभिरावृतामिव मेदिनीम् ।
प्रदीप्तमिव लोकं च यो वा प्लुतमिवाम्भसा ॥
भूमिमष्टपदाकारां लेखाभिर्यश्च पश्यति ।
न पश्यति सनक्षत्रां यश्च देवीमरुन्धतीम् ॥
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा तं वदन्ति गतायुषम् ॥
ज्योत्स्नादर्शोष्णतोयेषु छायां यश्च न पश्यति ।
पश्यत्येकाङ्गहीनां वा विकृतां वान्यसत्त्वजाम् ॥
श्वकाककङ्कगृध्राणां प्रेतानां यक्षरक्षसाम् ।
पिशाचोरगनागानां भूतानां विकृतामपि ॥
यो वा मयूरकण्ठाभं विधूमं वह्निमीक्षते ।

आतुरस्य भवेन्मृत्युः स्वस्थो व्याधिमवाप्नुयात् ॥ १७ ॥

अशब्दस्य च यः श्रोता शब्दान् यश्च न बुध्यते ।
द्वावप्येतौ यथा प्रेतौ तथा ज्ञेयौ विजानता ॥ १८ ॥

श्रोत्र परीक्षा—जो पुरुष शब्द के न होने पर भी उसे सुनता है और जो शब्दों के होने पर भी उन्हें समझता नहीं—सुनता नहीं, विज्ञ उन दोनों को ही मुर्दे की तरह ही समझे । अर्थात् वे दोनों शीघ्र ही मर जांयगे । ये सब लक्षण अनिमित्त होने पर ही मृत्यु के सूचक होते हैं ॥ १८ ॥

संवृत्त्याङ्गुलिभिः कर्णौ ज्वालाशब्दं य आतुरः ।
न शृणोति गतासुं तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ १९ ॥

जो रोगी कानों को अंगुलियों से बन्द कर ज्वाला के शब्द के सदृश शब्द को नहीं सुनता, उसे गतायु जानकर चिकित्सा न करनी चाहिये। कानों को बन्द करने से एक प्रकार का शब्द सुनाई देता है, जो अग्नि ज्वाला के शब्द के सदृश होता है । यदि वह शब्द न सुने तो वह पुरुष मुमूर्षु होगा । अष्टाङ्गसंग्रह शारीर १० अ० में कहा है—

'निष्पीड्य कर्णौ शृणुयान्न यो धुकधुकास्वनाम् ।'

सुश्रुत सू० ३० अ० में—

'शृणोति विविधान् शब्दान् यो दिव्यानामभावतः ।
समुद्रपुरमेघानामसम्पत्तौ च निःस्वनान् ॥
तान् स्वनान्नावगृह्णाति मन्यते चान्यशब्दवत् ।
ग्राम्यारण्यान् स्वनांश्चापि विपरीताञ्छृणोति च ।
द्विषच्छब्देषु रमते सुहृच्छब्देषु कुप्यति ।
न शृणोति च योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ॥ १९ ॥

विपर्ययेण यो विद्याद्गन्धानां साध्वसाधुताम् ।
न वा तान् सर्वशो विद्यात्तं विद्याद्विगतायुषम् ॥ २० ॥

घ्राणपरीक्षा—जो पुरुष गन्धों की साधुता वा असाधुता को

विपरीत भाव से जानता है अथवा गन्ध को सर्वथा नहीं सूंघता, उसे गतायु जानें। अभिप्राय यह है कि जो अकारण ही सुगन्ध को दुर्गन्ध और दुर्गन्ध को सुगन्ध समझता है अथवा चमेली की गन्ध को चन्दन की और चन्दन की गन्ध को गुलाब की इत्यादि समझता है, अथवा जिसे गन्धमय पदार्थ से कोई गन्ध ही नहीं आता, उसे मुमूर्षु जानना चाहिये। सुश्रुत सू० ३० अ० में भी—

'सुगन्धं वेत्ति दुर्गन्धं दुर्गन्धस्य सुगन्धिताम्।
गृह्णीतो वान्यथागन्धं शान्ते दीपे च नीरुजः॥
यो वा गन्धान् न जानाति गतासुं तं विनिर्दिशेत्॥

अष्टाङ्गसंग्रह शारीर १० अ० में—

'तद्वद्गन्धरसस्पर्शान् मन्यते यो विपर्ययात्।
सर्वशो वा न यो यश्च दीपगन्धं न जिघ्रति'॥ २०॥

यो रसान्न विजानाति न वा जानाति तत्त्वतः।
मुखपाकादृते पक्वं तमाहुः कुशला नरम्॥ २१॥

रसनापरीक्षा—जो पुरुष मुखपाक के बिना मधुरादि रसों को नहीं पहिचानता अथवा तत्त्वतः नहीं जानता उसे कुशल पुरुष पका हुआ जानते हैं। अर्थात् उसकी मृत्यु समीप है। अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को किसी भी रस का ज्ञान नहीं होता अथवा मधुर आदि रसों को मधुर आदि न जानता हुआ अम्ल आदि विपरीत रस समझता है वह मुमूर्षु है। परन्तु यदि मुखपाक वा मुखपाक से उपलक्षित अन्य रोगों के लक्षणरूप रसज्ञान न हो वा विपरीत रसज्ञान हो तो वह मुमूर्षु का लक्षण नहीं। सुश्रुत सू० ३० अ० में भी—

'विपरीतेन गृह्णाति रसान् यश्चोपयोजितान्।
उपयुक्ताः क्रमाद्यस्य रसा दोषाभिवृद्धये॥
यस्य दोषाग्निसाम्यं च कुर्युर्मिथ्योपयोजिताः।
यो वा रसान् न संवेत्ति गतासुं तं प्रचक्षते॥' २१॥

उष्णाञ्शीतान् खरान् श्लक्ष्णान्मृदूनपि च दारुणान् ।
स्पृश्यान्[1] स्पृष्ट्वा ततोऽन्यत्वं मुमूर्षुस्तेषु मन्यते ॥ २२ ॥

स्पर्शन परीक्षा—मुमूर्षु पुरुष उष्ण शीत खरदरा चिकना मृदु (कोमल) दारुण (कठोर) स्पृश्य (स्पर्शज्ञेय) पदार्थों को छूकर उनमें उनसे विपरीत स्पर्श को माना करता है । जो उष्ण को शीतल, शीतल को उष्ण, खुरदरे को चिकना, चिकने को खुरदरा, कोमल को कठोर और कठोर को कोमल समझता है, वह गतायु है । सुश्रुत सू० ३० अ० में—

' यस्तूष्णमिव गृह्णाति शीतमुष्णं च शीतवत् ।
सञ्जातशीतपिडको यश्च दाहेन पीड्यते ॥
उष्णगात्रोऽतिमात्रं च यः शीतेन प्रवेपते ।
प्रहारान्नाभिजानाति योऽङ्गच्छेदमथापि वा ॥
पांशुनेवावकीर्णानि यश्च गात्राणि मन्यते ।
वर्णान्यता वा राज्यो वा यस्य गात्रे भवन्ति हि ॥
स्नातानुलिप्तं यञ्चापि भजन्ते नीलमक्षिकाः ।
सुगन्धिर्वाति योऽकस्मात्तं ब्रुवन्ति गतायुषम् ' ॥ २२ ॥

अन्तरेण तपस्तीव्रं योगं वा विधिपूर्वकम् ।
इन्द्रियैरधिकं पश्यन् पञ्चत्वमधिगच्छति ॥ २३ ॥

सब इन्द्रियों सम्बन्धी रिष्टलक्षण—तीव्र तप वा विधिपूर्वक किये गये योग के विना जो पुरुष इन्द्रियों से अधिक देखता है वह पञ्चता को प्राप्त होता है—मर जाता है । अर्थात् जो विषय इन्द्रियग्राह्य हैं उनका तो सर्वसामान्य ग्रहण करते ही हैं, परन्तु जो इन्द्रिय से ग्राह्य नहीं—अतीन्द्रिय हैं उनका तपस्वी योगी वा कोई २ मुमूर्षु पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करता है । यदि तपस्वी वा योगी को अतीन्द्रिय ज्ञान होता है तो वह शुभ है और उसकी सिद्धि का सूचक है परन्तु उनके अति-

---

१ 'स्पृष्ट्वा विद्यात्ततो०' ग. ।

रिक्त सामान्य पुरुष को यदि अतीन्द्रिय ज्ञान हो तो वह अशुभ है—उसकी मृत्यु का सूचक है ॥ २३ ॥

इन्द्रियाणामृते दृष्टेरिन्द्रियार्थान्न पश्यति।
विपर्ययेण यो विद्यात्तं विद्याद्विगतायुषम् ॥ २४ ॥

इन्द्रियों में से दृष्टि (चक्षु इन्द्रिय) के विना अन्य त्वचा आदि चार इन्द्रियों से जो स्पर्श आदि विषयों को नहीं जानता और जो इन्द्रियों के विषयों को विपरीतभाव से जानता है उसे गतायु जानना चाहिये। अथवा जो चक्षु को छोड़कर शेष इन्द्रियों से स्पर्श आदि इन्द्रिय-विषय का ग्रहण नहीं कर सकता परन्तु चक्षु द्वारा ही सब विषयों को विपरीतभाव से अनुभव करता है, उसे गतायु जानना चाहिये। रूपभाव से अतिरिक्त शब्द स्पर्श आदि भाव से चक्षु द्वारा विषयग्रहण करना गतायु का लक्षण है।

चक्रपाणि के पाठानुसार इस श्लोक का अर्थ यह होता है—इन्द्रियों की ज्ञानशक्ति के विना दोष से न उत्पन्न हुए २ इन्द्रिय के विषयों को जो पुरुष इन्द्रियों से देखता है, वह जीवित नहीं रहता। दोष से न उत्पन्न हुए कहने से यह अभिप्राय है जैसे—यदि हम आंख पर अंगुली का दबाव डालकर किसी वस्तु को देखें तो वे दो दीखती हैं। यहां पर अंगुली के दबाव से वातदुष्टि होने के कारण हमें वैसा भान होता है परन्तु यह अदोषज इन्द्रिय का विषय नहीं समझा जायगा। इसी प्रकार अन्य इन्द्रिय के विषयों के विषय में भी समझना चाहिये ॥ २४ ॥

स्वस्थाः प्रज्ञाविपर्यासैरिन्द्रियार्थेषु वैकृतम्।
पश्यन्ति ये सुबहुशस्तेषां मरणमादिशेत् ॥ २५ ॥

---

१ 'इन्द्रियाणामृते दृष्टेरिन्द्रियार्थानदोषजान्। नरः पश्यति यः कश्चिदिन्द्रियैर्न स जीवति॥' च.।

२ 'येऽसद्बहुशः' च.। ३ '०स्तान् गतायुष आदिशेत्' ग.।

जो स्वस्थपुरुष भी प्रज्ञापराध के कारण इन्द्रिय के विषयों में बहुशः विकारों को देखते हैं, उनकी शीघ्र मृत्यु होती है । अर्थात् जो स्वस्थपुरुष भी बुद्धि की विपरीतता के कारण शब्द, आदि इन्द्रिय-विषयों में विकृति न होते हुए भी विकृति अनुभव करे वह गतायु है ऐसा जानना चाहिये ॥ २५ ॥

तत्र श्लोकः ।

एतदिन्द्रियविज्ञानं यः पश्यति यथातथम् ।
मरणं जीवितं चैव स भिषग्ज्ञातुमर्हति ॥ २६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने
इन्द्रियानीकमिन्द्रियं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

जो चिकित्सक सम्यक् रूप से इन्द्रियविज्ञान को जानता है वह मृत्यु और जीवन को जान सकता है । इस अध्याय में जो इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले रिष्ट लक्षण बताये गये हैं उनके होने से मृत्यु और न होने से जीवन है—यह जाना जाता है ॥ २६ ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

पञ्चमोऽध्यायः

अथातः पूर्वरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम पूर्वरूपसम्बन्धी इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । इस अध्याय में विशेष विशेष पूर्वरूपों के देखने से गतायु की पहिचान बताई जायगी ॥ १ ॥

पूर्वरूपाण्यसाध्यानां विकाराणां पृथक् पृथक् ।
भिन्नाभिन्नानि वक्ष्यामो भिषजां ज्ञानवृद्धये ॥ २ ॥

वैद्यों के ज्ञान को बढ़ाने के लिये असाध्य रोगों के पृथक् पृथक् साधारण वा असाधारण पूर्वरूप कहेंगे । अर्थात् इस अध्याय में उन

पूर्वरूपों का वर्णन होगा जिससे हम उत्पन्न होने वाले विकार की असाध्यता को जान सकेंगे। ये पूर्वरूप सामान्य भी हो सकते हैं विशेष भी हो सकते हैं। तथा जो हमने अन्यत्र कहे हैं वा नहीं कहे वे सब पूर्वरूप जिनसे मृत्यु का निश्चय होता है इस में कहे जांयगे। कहीं तो सब पूर्वरूप मिलकर मारक होते हैं कहीं पृथक् पृथक् ॥२॥

पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया ।
यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः ॥ ३ ॥

ज्वर के मिलित मारक पूर्वरूप—जिस पुरुष में कहे गये सारे पूर्वरूप अत्यन्त प्रबलता से आश्रित होते हैं, उस पुरुष की ज्वर होकर मृत्यु होती है ॥ ३ ॥

अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् ।
विशन्त्येतेन[1] कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम् ॥ ४ ॥

रोगों के मारक पूर्वरूपों का सामान्य नियम—इसीप्रकार जिस पुरुष में किसी अन्य रोग के पूर्वरूप उत्पन्न होते हैं तो उसकी भी वह रोग होकर अवश्य मृत्यु होती है। जैसे यदि प्रमेह के समस्त पूर्वरूप अतिप्रबलता से हों तो प्रमेह होकर उसकी निश्चित मृत्यु होगी ॥ ४ ॥

पूर्वरूपैकदेशांस्तु वक्ष्यामोऽन्यान् सुदारुणान् ।
ये रोगाननुबध्नन्ति मृत्युर्यैरनुबध्यते[2] ॥ ५ ॥

अब हम उन अन्य दारुण पूर्वरूपों का एक भाग कहेंगे जिनसे अनुबन्ध रूप में रोग उत्पन्न होते है और उन रोगों से पश्चात् मृत्यु हो जाती है। पूर्व तो मिलित पूर्वरूपों से किस प्रकार वह वह रोग होकर निश्चित मृत्यु होती है यह बताया है। अब कौन कौन पूर्वरूप पृथक् पृथक् वा कुछ एक मिलाकर असाध्य रोग को उत्पन्न करते हैं और मृत्यु का कारण होते हैं--यह बताया जायगा ॥ ५ ॥

---

१ 'विशन्त्यनेन' ग.। २ 'मृत्युर्यैरेव बुध्यते' ग.।

बलं च हीयते यस्य प्रतिश्यायश्च वर्धते ।
तस्य नारीप्रसक्तस्य शोषोऽन्तायोपजायते ॥ ६ ॥

शोष वा यक्ष्मा के मारक पूर्वरूप—जिसका बल क्षीण हो रहा है, प्रतिश्याय (जुकाम) बढ़ रहा है वह पुरुष साथ ही यदि मैथुन में भी आसक्त है तो उसको यक्ष्मा होकर मृत्यु हो जायगी ॥ ६ ॥

श्वभिरुष्ट्रैः खरैर्वाऽपि याति यो दक्षिणां दिशम् ।
स्वप्ने यक्ष्माणमासाद्य जीवितं स विमुञ्चति ॥ ७ ॥

जो स्वप्न में कुत्ते ऊंटों वा गदहों पर सवारी करके दक्षिण दिशा की ओर जाता है वह यक्ष्मा रोग से आक्रान्त होकर मर जाता है ॥ ७ ॥

प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना ।
सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवमवसृज्यते[1] ॥ ८ ॥

ज्वर के मारक पूर्वरूप--जो स्वप्न में प्रेतों के साथ शराब पीता है वा कुत्तों से खींचा वा घसीटा जाता है वह अति घोर ज्वर से आक्रान्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

लाक्षारक्ताम्बराभं यः पश्यत्यम्बरमन्तिकात् ।
स रक्तपित्तमासाद्य तेनैवान्ताय नीयते ॥ ९ ॥

रक्तपित्त के मारक पूर्वरूप—जो समीप से आकाश को लाख के रंग से रंगे वस्त्र के सदृश देखता है वह रक्तपित्त का रोगी होकर उसी से मारा जाता है ॥ ९ ॥

रक्तस्रग्रक्तसर्वाङ्गो रक्तवासा मुहुर्हसन् ।
यः स्वप्ने ह्रियते[2] नार्या स रक्तं प्राप्य सीदति ॥ १० ॥

जो व्यक्ति स्वप्न में लाल माला को धारण किये हुए, लाल ही सब अंगों वाला, लाल वस्त्र पहिरे हुए, बार २ हंसता हुआ स्त्री से ले जाया जाता है, वह रक्तपित्त से आक्रान्त होकर कष्ट को पाता

---

१ 'न जीवेन च सृज्यते' च. ग. 'जीवितं च विमुञ्चति' पा० । २ 'नीयते' ग. ।

है--प्राणत्याग करता है ॥ १० ॥

शूलाटोपान्त्रकूजाश्च दौर्बल्यं चातिमात्रया ।
नखादिषु च वैवर्ण्यं गुल्मेनान्तकरो ग्रहः ॥ ११ ॥

गुल्म के मारक पूर्वरूप—शूल आटोप (पेट का वायु से तनजाना), अन्त्रकूज (आंतों में शब्द होना) और अत्यधिक दुर्बलता, नख आदियों में विवर्णता होनी (विकृति वर्ण का होना); ये पूर्वरूप गुल्म होकर मृत्यु होने के ज्ञापक हैं ॥ ११ ॥

लता कण्टकिनी यस्य दारुणा हृदि जायते ।
स्वप्ने गुल्मस्तमन्ताय क्रूरो विशति मानवम् ॥ १२ ॥

सपने में जिस पुरुष के हृदयदेश पर कांटों वाली लता उत्पन्न होती है, उसकी मृत्यु के लिये दारुण गुल्म उस पुरुष का आश्रय लेता है। अर्थात् घोर गुल्म होकर उस पुरुष की मृत्यु होती है ॥ १२ ॥

कायेऽल्पमपि संस्पृष्टं सुभृशं यस्य दीर्यते ।
क्षतानि च न रोहन्ति कुष्ठैर्मृत्युर्हिनस्ति तम् ॥ १३ ॥

कुष्ठ के मारक पूर्वरूप—जिस पुरुष के शरीर पर तृण आदि के थोड़ा सा छूने पर ही त्वचा आदि विदीर्ण होजाय और उससे उत्पन्न वा अन्य घाव रोहण न करें—भरें नहीं तो मृत्यु इन पूर्वरूपों से युक्त कुष्ठों द्वारा उसे नष्ट कर देता है । तात्पर्य यह है कि यदि ये पूर्वरूप हों तो कुष्ठ होकर उस पुरुष की मृत्यु हो जाती है ॥ १३ ॥

नग्नस्याज्यावसिक्तस्य जुह्वतोऽग्निमनर्चिषम् ।
पद्मान्युरसि जायन्ते स्वप्ने कुष्ठैर्मरिष्यतः ॥ १४ ॥

स्वप्न में जो पुरुष नग्न होकर और अङ्गों पर घी को चुपड़े हुए ज्वालारहित व अप्रज्वलित अग्नि में आहुतियां देता है और स्वप्न में ही छाती पर पद्म (कमल) उत्पन्न होजाते हैं, वह कुष्ठ से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

---

१ 'गृह्यतेऽनेनेति ग्रहो लिङ्गमित्यर्थः' चक्रः ।

स्नातानुलिप्तगात्रेऽपि यस्मिन् गृध्नन्ति मक्षिकाः ।
स प्रमेहेण संस्पर्शं प्राप्य तेनैव हन्यते ॥ १५ ॥

प्रमेह के मारक पूर्वरूप——स्नान और शरीर पर चन्दन का अनुलेपन करने पर भी जिस पर मक्खियें लोभ से उड़ २ कर आती हैं वह प्रमेह से आक्रान्त होकर उसी से ही मर जाता है॥ १५ ॥

स्नेहं बहुविधं स्वप्ने चण्डालैः सह यः पिबेत् ।
बध्यते स प्रमेहेण स्पृश्यतेऽन्ताय मानवः ॥ १६ ॥

सपने में जो पुरुष चण्डालों के साथ बहुत प्रकार के स्नेहों (घृत तैल वसा मज्जा) को पीता है उसे पश्चात् प्रमेह हो जाता है और उससे ही उस पुरुष की मृत्यु हो जाती है ॥ १६ ॥

ध्यानायासौ तथोद्वेगो मोहश्चास्थानसंभवः ।
अरतिर्बलहानिश्च मृत्युरुन्मादपूर्वकः ॥ १७ ॥

उन्माद के रिष्ट पूर्वरूप——ध्यान (चिन्ता में लगा रहना), आयास (श्रम वा थकावट), उद्वेग (ग्लानि), तथा अस्थान में उत्पन्न होने वाला मोह—जहां मोह का कोई कारण न हो वहां मोह होना, अरति (कहीं पर मन का न लगना), निर्बलता; इन पूर्वरूपों के होने पर उन्माद होकर पश्चात् मृत्यु होती है ॥ १७ ॥

आहारद्वेषिणं पश्यँल्लुप्तचित्तमुदर्दितम्[1] ।
विद्याद्धीरो मुमूर्षुं तमुन्मादेनातिपातिना ॥ १८ ॥

आहार की इच्छा न रखने वाले, लुप्तचित्त—जिसकी विज्ञानशक्ति लुप्त हो गई हो, उदर्द से युक्त अथवा व्यथायुक्त पुरुष को धीर पुरुष भावी उन्माद रोग से मुमूर्षु जाने अर्थात् उन्मादरोग से उसकी मृत्यु होगी।

क्रोधनं त्रासबहुलं सकृत्प्रहसिताननम् ।
मूर्च्छापिपासाबहुलं हन्त्युन्मादः शरीरिणम् ॥ १९ ॥

---

१ लुप्तचित्तमुदर्दितमिति ' लुप्तचित्तत्वेन मुदा हर्षभावेण प्रवर्तमानेन अर्दितं व्यथितं ' इति गङ्गाधरः ॥

शीघ्र क्रुद्ध होने वाला, अतित्रासयुक्त (बहुत डरने वाला), एक वार जिसके मुख पर हंसी आती हो, मूर्च्छा और प्यास जिसे बहुत लगती हो उस पुरुष को उन्माद मार देता है—उन्माद रोग होकर उस की मृत्यु होती है ॥ १९ ॥

नृत्यन् रक्षोगणैः सार्धं यः स्वप्नेऽम्भसि सीदति ।
स प्राप्य भृशमुन्मादं याति लोकमतः परम् ॥ २० ॥

स्वप्न में जो रक्षोगणों (राक्षसों) के साथ नृत्य करता हुआ जल में डूब जाता है वह हठात् उन्माद को प्राप्त होकर परलोक में जाता है ॥ २० ॥

असत्तमः पश्यति यः शृणोत्यप्यसतः स्वरान् ।
बहून् बहुविधाञ्जाग्रत्सोऽपस्मारेण बध्यते ॥ २१ ॥

अपस्मार के मारक पूर्वरूप—जो जाग्रत् अवस्था में अन्धकार न होने पर भी अन्धकार को देखे और स्वरों वा शब्दों के न होने पर भी बहुत प्रकार के बहुत से स्वरों को सुने तो वह अपस्मार से मारा जाता है ॥ २१ ॥

मत्तं नृत्यन्तमाविध्य प्रेतो हरति यं नरम् ।
स्वप्ने हरति तं मृत्युरपस्मारपुरःसरः ॥ २२ ॥

सपने में मत्त होकर नाचते हुए जिस मनुष्य का सिर नीचे की ओर करके प्रेत ले जाता है उस मनुष्य की अपस्मार होकर मृत्यु होती है ॥

स्तभ्येते प्रतिबुद्धस्य हनू मन्ये तथाऽक्षिणी ।
यस्य तं बहिरायामो गृहीत्वा हन्त्यसंशयम् ॥ २३ ॥

बहिरायाम के मारक पूर्वरूप—जिस पुरुष के जागते हुए वा निद्राभङ्ग होने पर दोनों हनु दोनों मन्या तथा दोनों नेत्र स्तब्ध होजाते हैं—जड़वत् हो जाते हैं, उसे बहिरायाम रोग पकड़ लेता है और मृत्यु

---

१ अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः । स्नायुप्रतानमनिलो यदाक्षिपति वेगवान् ॥ विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् । अभ्यन्तरं धनुरिव यदा

का कारण होता है ॥ २३ ॥

शष्कुलीरप्यपूपान् वा स्वप्ने खादति यो नरः ।
स चेत्तादृक्छर्दयति प्रतिबुद्धो न जीवति ॥ २४ ॥

जो पुरुष स्वप्न में शष्कुली (तिल तण्डुल वा माष के पिष्टक से बनाया हुआ खाद्यविशेष) वा अपूपों (पूड़ों) को खाता है वह जागने पर यदि वैसी ही कै करता है तो वह व्यक्ति जीवित नहीं रहता। उस की बहिरायाम अथवा सुश्रुत के अनुसार छर्दि (कै) से मृत्यु होती है॥२४॥

एतानि पूर्वरूपाणि यः सम्यगवबुध्यते ।
स एषामनुबन्धं च फलं च ज्ञातुमर्हति ॥ २५ ॥

रिष्ट पूर्वरूपों का उपसंहार—जो इन पूर्वरूपों को अच्छीप्रकार समझ लेता है वह उनके अनुबन्ध और फल के जानने योग्य होता है। अर्थात् वह वैद्य यह पूर्व ही जान लेगा कि इसको यह रोग होगा और उससे उसकी मृत्यु अवश्य होगी ॥ २५ ॥

इमांश्चाप्यपरान् स्वप्नान् दारुणानुपलक्षयेत् ।
व्याधितानां विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ २६ ॥

रोगियों के विनाश के लिये अथवा महान् कष्ट के लिये इन (कहे जाने वाले) दारुण स्वप्नों का भी ज्ञान प्राप्त कर ले । भावार्थ यह है कि जो आगे स्वप्न बताये जांयगे उनका जानना परमावश्यक है। उनके जानने से भी हम रोगी के नाश वा महाकष्ट का प्राक्कथन कर सकेंगे। अथवा आगे कहे जाने वाले स्वप्न यदि रोगी देखे तो उसकी मृत्यु निश्चित है। यदि नीरोग देखे तो उसे महाकष्ट होगा अर्थात् उसे घोर व्याधि तो अवश्य होगी पर कदाचित् मृत्यु न हो॥

नमति मानवम् ॥ तदास्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली । बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥ तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम्॥ तथा च—महाहेतुर्बली वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः । मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद्बहिः ॥

१ 'य इमांश्चापरान्०' च. ग. ।

तो उसकी मृत्यु निश्चित है यदि नीरोग को आवे तो उसे महाकष्ट होगा अर्थात् उसे घोर व्याधि अवश्य होगी पर कदाचित् मृत्यु न हो२६

यस्योत्तमाङ्गे जायन्ते वंशगुल्मलतादयः ।
वयांसि च निलीयन्ते स्वप्ने मौण्ड्यमियाच्च यः ॥ २७ ॥
गृध्रोलूकश्वकाकाद्यैः स्वप्ने यः परिवार्यते ।
रक्षःप्रेतपिशाचस्त्रीचण्डालद्रवितान्ध्रकैः[1] ॥ २८ ॥
वंशवेत्रलतापाशतृणकण्टकसंकटे ।
प्रमुह्यति हि यः स्वप्ने यो गच्छन् प्रपतत्यपि ॥ २६ ॥
भूमौ पांशूपधानायां वल्मीके वाऽथ भस्मनि ।
श्मशानायतने श्वभ्रे स्वप्ने यः प्रविशत्यपि[2] ॥ ३० ॥
कलुषेऽम्भसि पङ्के च कूपे वा तमसाऽऽवृते ।
स्वप्ने मज्जति शीघ्रेण स्रोतसा ह्रियते[3] च यः ॥ ३१ ॥
स्नेहपानं तथाऽभ्यङ्गः स्वप्ने बन्धपराजयौ ।
हिरण्यलाभः कलहः प्रच्छर्दनविरेचने ॥ ३२ ॥
उपानद्युगनाशश्च प्रपातः पांशुचर्मणोः[4] ।
हर्षः स्वप्ने प्रकुपितैः पितृभिश्चावभर्त्सनम् ॥ ३३ ॥
दन्तचन्द्रार्कनक्षत्र[5]देवतादीपचक्षुषाम् ।
पतनं वा विनाशो वा स्वप्ने भेदो नगस्य वा ॥ ३४ ॥
रक्तपुष्पं वनं भूमिं पापकर्मालयं चिताम् ।
गुहान्धकारसंबाधं स्वप्ने यः प्रविशत्यपि ॥ ३५ ॥
रक्तमाली हसन्नुच्चैर्दिग्वासा दक्षिणां दिशम् ।
दारुणामटवीं स्वप्ने कपियुक्तः[6] प्रयाति वा ॥ ३६ ॥

---

१ 'द्रविडान्धकैः' ग. 'द्राविडान्ध्रकैः' यो० । २ 'प्रपतत्यपि' ग. । ३ 'नीयते' ग. ४ 'पादचर्मणोः' ग. । ५ 'चन्द्रतारार्कनक्षत्र०' ग. । ६ 'कपियुक्तेन याति वा' च. । कपियुक्तेन 'यानेन' इति शेषः' चक्र ।

अन्यान्य स्वप्न—स्वप्न में जिसके शिर पर बांस गुल्म (झाड़ियों के समूह) तथा लता आदि उत्पन्न हो जाते हैं और पक्षी उनमें अपने घोंसले बनाकर रहने लगते हैं, जिसका स्वप्न में सिर मुण्डित हो जाता है। जो स्वप्न में गिद्ध उल्लू कुत्ता कौए आदि से घिर जाता है एवं जो राक्षस प्रेत पिशाच स्त्री चण्डाल द्रवित (दौड़ते हुए) वा अन्धे पुरुषों से घेरा जाता है। जो बांस बेंत लता जाल अथवा तृण और कण्टकों के समूह में चलता हुआ मोह को प्राप्त होता है—फंस जाता है—निकलने की युक्ति नहीं सूझती और गिर भी जाता है अथवा जो स्वप्न में चलता हुआ बार २ गिर पड़ता है। जो धूल से युक्त भूमि, (जहां दीमकों ने मिट्टी से अपना बमीठा बनाया होता है), भस्मराशि (राख) में गिर पड़ता है अथवा प्रविष्ट होता है। अथवा श्मशान चैत्यस्थान वा गड्ढों में प्रविष्ट होता है। स्वप्न में जो मलिन जल में कीचड़ में अथवा अन्धेरे कूंएं में डूब जाता है और जो वेग से बहने वाले स्रोत से बहाया जाकर दूसरी जगह ले जाया जाता है। तथा स्वप्न में स्नेह का पीना, स्नेह की मालिश, बन्दी होना, युद्ध में पराजित होना, सुवर्ण वा धन की प्राप्ति, विवाद, कै होना, विरेचन होना। स्वप्न में जूती के जोड़े का नष्ट होना, गुम होना वा चुराया जाना, धूल और चमड़े का गिरना। तथा स्वप्न में हर्ष होना, क्रोधित पितरों से धमकाया जाना। अथवा स्वप्न में दांत चांद सूर्य नक्षत्र देवता दीपक वा आंखों का गिरना वा नष्ट होना, वृक्ष वा पर्वत का फट जाना। जो स्वप्न में लाल फूलों वाले वन में, भूमि में, पापकर्म के स्थान—वेश्यागृह आदि में, चिता में, गुहा के अन्धकार के सदृश बाधा-जनक दुर्गम स्थानों में प्रविष्ट होता है। अथवा जो स्वप्न में लाल माला को धारण किये हुए, अट्टहास करता हुआ, नग्न ही दक्षिण दिशा को अथवा जो वानर को साथ ले जाता हुआ दारुण घने वन की ओर जाता है। 'कपियुक्तेन याति वा' यह पाठ होने पर जो वानर को जोते हुए रथ में बैठकर दारुण

वा शून्य वन की ओर जाता है—यह अर्थ होगा। ये सब अशुभ स्वप्न होते हैं। इन स्वप्नों के देखने से मृत्यु वा महाकष्ट भोगना पड़ता है ॥ २७–३६ ॥

काषायिणामसौम्यानां नग्नानां दण्डधारिणाम् ।
कृष्णानां रक्तनेत्राणां स्वप्ने नेच्छन्ति दर्शनम् ॥ ३७ ॥

स्वप्न में कषाय (गरुए) वस्त्र धारण किए पुरुषों का, जो सौम्यमूर्ति न हों उनका, नग्न, दण्डधारी, कृष्णवर्ण के तथा लाल आंखों वाले पुरुषों का दर्शन अभीष्ट नहीं। इनका दर्शन अशुभ का कारण है ॥ ३७ ॥

कृष्णा पापा निराचारा दीर्घकेशनखस्तनी ।
विरागमाल्यवसना स्वप्ने कालनिशा मता ॥ ३८ ॥

स्वप्न में काली पापिन दुराचारी लम्बे केश नख और स्तनों वाली, लालवर्ण की माला और लालरङ्ग के ही वस्त्रों को पहिरे हुई स्त्री कालरात्रि ही है। अर्थात् ऐसी स्त्री का स्वप्न में दर्शन मृत्यु का कारण है ३८

इत्येते दारुणाः स्वप्ना रोगी यैर्याति पञ्चताम् ।
अरोगः संशयं गत्वा कश्चिदेव विमुच्यते ॥ ३९ ॥

ये दारुण स्वप्न कह दिये हैं, जिन्हें देखकर रोगी मृत्यु को प्राप्त होता है और नीरोग पुरुष का जीवन संशय में पड़जाता है जिससे कोई ही बच पाता है। अभिप्राय यह है कि यदि रोगी को ये स्वप्न दीखें तो मृत्यु निश्चित ही है और यदि स्वस्थ पुरुष ये स्वप्न देखे तो उनमें भी अधिकतर मर ही जाते हैं, कोई २ ही प्रबल भाग्यवान् पुरुष बच पाता है ॥ ३९ ॥

मनोवहानां पूर्णत्वाद्दोषैरतिबलैस्त्रिभिः ।
स्रोतसां दारुणान् स्वप्नान् काले पश्यति दारुणे ॥ ४० ॥

दारुण (मारक) समय में अतिबलवान् वात पित्त कफ तीनों दोषों से मनोवह स्रोतों के पूर्ण होने के कारण मनुष्य दारुण स्वप्नों

को देखता है। अर्थात् जब मृत्यु का काल समीप होता है उससमय मनोवह स्रोत त्रिदोष से परिपूर्ण हो जाते हैं। परिणामतः उसे बहुत बुरे २ स्वप्न आया करते हैं ॥ ४० ॥

नातिप्रसुप्तः पुरुषः सफलानफलानपि ।
इन्द्रियेशेन मनसा स्वप्नान् पश्यत्यनेकधा ॥४१॥

जो पूर्ण निद्रा में न हो ऐसा पुरुष इन्द्रियों के अधिष्ठाता वा प्रेरक मन द्वारा फलयुक्त और फलरहित अनेक प्रकार के स्वप्न देखा करता है। जाग्रत् और सुषुप्ति अवस्था में स्वप्न नहीं आया करते। परन्तु इन दोनों के मध्य की अवस्था में स्वप्न आया करते हैं। अतएव इस अवस्था का नाम भी स्वप्नावस्था रखा गया है। न तो इस अवस्था में पुरुष जगा ही होता है और नाही पूरी नींद में होता है। परिणामभेद से स्वप्न दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो भावी फल के सूचक होते हैं और दूसरे वे जिनका कोई फल नहीं होता ॥ ४१ ॥

दृष्टं श्रुतानुभूतं च प्रार्थितं कल्पितं तथा ।
भाविकं दोषजं चैव स्वप्नं सप्तविधं विदुः ॥ ४२ ॥

स्वप्न के भेद—स्वप्न सात प्रकार का होता है। १ दृष्ट २ श्रुत ३ अनुभूत ४ प्रार्थित ५ कल्पित ६ भाविक ७ दोषज । दृष्ट-स्वप्न वह होता है जिसे हम जाग्रत् अवस्था में देख चुके हों—प्रत्यक्ष कर चुके हों। श्रुत वह जिसे हम सुन चुके हों। अनुभूत वह जिसे हम अनुमान युक्ति आदि द्वारा समझ चुके हों। अथवा 'दृष्ट' से केवल चाक्षुष ज्ञान का ग्रहण करें और 'अनुभूत' से शेष इन्द्रियों से हुए ज्ञान का ग्रहण कर सकते हैं अथवा अनुभूत से स्मरण और अनुभव में आये हुए का ग्रहण है। प्रार्थित वह है जिसकी आकांक्षा होती है।

---

१ 'दृष्टमिति चक्षुषा, अनुभूतं तु शेषेन्द्रियज्ञातं, कल्पितमिति मनसा भावितं, प्रार्थितं याच्ञाविषयकृतं, भाविकमिति भाविशुभाशुभफलसूचकं, दोषजमिति उल्बण-वातादिदोषजन्यम्' चक्रः ।

कल्पित वह जिसकी पूर्व मन में कल्पना की जाचुकी होती है । भाविक वे हैं जो भावी शुभ वा अशुभ फल के सूचक होते हैं । दोषज वे हैं जो वात आदि दोष से उत्पन्न होते हैं ॥ ४२ ॥

तत्र पञ्चविधं पूर्वमफलं भिषगादिशेत् ।
दिवास्वप्नमतिह्रस्वमतिदीर्घं तथैव च ॥ ४३ ॥

चिकित्सक इन में से पहिले पांच को निष्फल जानें । दृष्ट श्रुत अनुभूत प्रार्थित और कल्पित इन पांच स्वप्नों का कोई फल नहीं होता । शेष दो अर्थात् भाविक और दोषज फलद होते हैं । दिन में देखे हुए सब स्वप्न और रात्रि में देखे वे स्वप्न जो बहुत छोटे हों वा बहुत लम्बे हों; उनका कोई फल नहीं होता ॥ ४३ ॥

दृष्टः प्रथमरात्रे यः स्वप्नः सोऽल्पफलो भवेत् ।
न स्वपेद्यः पुनर्दृष्ट्वा स सद्यः स्यान्महाफलः ॥ ४४ ॥

जो स्वप्न रात्रि के प्रथमभाग में देखा जाता है उसका फल अल्प ही होता है । अर्थात् इसका फल देर से वा थोड़ा होता है । परन्तु एक वार स्वप्न देखने पर यदि नींद न आये तो उसका शीघ्र ही महान् फल होता है ॥ ४४ ॥

अकल्याणमपि स्वप्नं दृष्ट्वा तत्रैव यः पुनः ।
पश्येत्सौम्यं शुभाकारं तस्य विद्याच्छुभं फलम् ॥ ४५ ॥

बुरे स्वप्न को भी देखकर जो पुनः उसी रात सौम्य और शुभ स्वप्न को देखता है उसका फल शुभ ही होता है ॥ ४५ ॥

पूर्वरूपाण्यथ स्वप्नान् य इमान्वेत्ति दारुणान् ।
न स मोहादसाध्येषु कर्माण्यारभते भिषक् ॥ ४६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने
पूर्वरूपीयमिन्द्रियं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

उपसंहार—जो इन दारुण पूर्वरूपों और स्वप्नों को जानता है वह कदाचिदपि मोह से असाध्य रोगों में चिकित्सा नहीं करता ।

सुश्रुत सू० २९ अ० में भी शुभाशुभ स्वप्न बताये हैं ॥ ४६ ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः कतमानिशरीरीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम कतमानिशरीरीय नामक इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे- ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । चूंकि यह अध्याय ' कतमानि शरीराणि ' इस प्रकार प्रारम्भ होता है । अतएव इस अध्याय का नाम अधिकारार्थ में छ प्रत्यय करके कतमानिशरीरीय रखा है । इस अध्याय का विषय अगले श्लोक में कहा है ॥ १ ॥

कतमानि शरीराणि व्याधिमन्ति महामुने ।
यानि वैद्यः परिहरेद्येषु कर्म न सिध्यति ॥ २ ॥

अध्याय का विषय—अग्निवेश पूछता है—हे महामुने ! ऐसे कौन से रोगयुक्त शरीर हैं जिनमें कर्म सिद्ध नहीं होता और जिन्हें वैद्य छोड़ दे। अर्थात् जिनमें चिकित्सा व्यर्थ होती है अतएव वैद्यों को त्याज्य हैं ऐसे कौन से रोग हैं । अर्थात् इस अध्याय में रोगों के असाध्य लक्षण बताये जांयगे ॥ २ ॥

इत्यात्रेयोऽग्निवेशेन प्रश्नं पृष्टः सुदुर्वचम् ।
आचचक्षे यथा तस्मै भगवांस्तन्निबोधत ॥ ३ ॥

इस प्रकार बतलाने में अत्यन्त कठिन प्रश्न के अग्निवेश द्वारा पूछा जाने पर भगवान् आत्रेय ने उसे जैसा उपदेश किया वह ध्यान से सुनिये ॥३॥

यस्य वै भाषमाणस्य रुजत्यूर्ध्वमुरो भृशम् ।
अन्नं च च्यवते भुक्तं स्थितं चापि न जीर्यति ॥ ४ ॥

---

१ ' इत्यग्निवेशेन गुरुः प्रश्नं पृष्टः पुनर्वसुः ।' ग. ।
२ ' अन्नं वा च्यवतेऽपक्वं ' ग. ।

बलं च हीयते यस्य तृष्णा चाभिप्रवर्धते ।
जायते हृदि शूलं च तं भिषक् परिवर्जयेत् ॥ ५ ॥

भाषण करते हुए जिस पुरुष की छाती के ऊर्ध्वभाग में अत्यन्त व्यथा होती है और खाया हुआ अन्न तत्क्षण वमन होकर निकल जाता है और यदि आमाशय में ठहर भी जाय तो पचता नहीं, जिसका बल क्षीण होता जाता है, तृष्णा (प्यास) बढ़ती है और हृदय में शूल होता है, वह वैद्यों से त्याज्य होता है । वैद्य को उसकी चिकित्सा न करनी चाहिये क्योंकि ऐसे समय में चिकित्सा निष्फल होती है, उससे मुमूर्षु रोगी को कोई लाभ नहीं होता ॥ ४–५ ॥

हिक्का गम्भीरजा यस्य शोणितं चातिसार्यते ।
न तस्मै भेषजं दद्यात्स्मरन्नात्रेयशासनम् ॥ ६ ॥

जिसे गम्भीर देश से उठने वाली हिक्का (हिचकी) हो और रक्तातिसार हो वा गुदा से मल के साथ अत्यधिक रक्त निकलता हो, उसे आत्रेय के उपदेश का स्मरण करते हुए औषध न देनी चाहिये । आत्रेय ने उपदेश किया है—

' साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते ।'

तथा—' अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंशयम् ।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत् ॥'

अर्थात् असाध्य रोग की चिकित्सा नहीं हो सकती और यदि लोभ आदि के कारण कोई चिकित्सा करता है तो उससे उसकी अपनी ही निन्दा होती है । इस उपदेश का स्मरण करते हुए असाध्य रोगी की चिकित्सा न करनी चाहिये । अर्थात् उपर्युक्त हिक्का के साथ २ यदि रक्त का अतिसरण हो तो वह असाध्य है । गम्भीरा हिक्का का लक्षण चिकित्सास्थान १७ अ० में दिया गया है—

हिक्कते यः प्रवृद्धस्तु कृशो दीनमना नरः ।

---

१ ' शीघ्रं ' ग. ।

जर्जरेणोरसा कृच्छ्रं गम्भीरमनुनादयन् ॥
संजृम्भन् संक्षिपंश्चैव तथाङ्गानि प्रसारयन् ।
पार्श्वे चोभे समायम्य कूजन् स्तम्भरुगर्दितः ॥
नाभेः पक्वाशयाद्वापि हिक्का चास्योपजायते ।
क्षोभयन्ती भृशं देहं नामयन्तीव ताम्यतः ॥
रुणद्धयुच्छ्वासमार्गं तु प्रणष्टबलचेतसः ।
गम्भीरा नाम सा तस्य हिक्का प्राणान्तिकी मता ॥

अथवा—

नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥ ६ ॥

आनाहश्चातिसारश्च यमेतौ दुर्बलं नरम् ।
व्याधितं विशतो रोगौ दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ७ ॥

किसी अन्य रोग से आक्रान्त परन्तु साथ ही दुर्बल हुए २ जिस मनुष्य को आनाह और अतिसार होजाय उसका जीवन दुर्लभ है, वह मर जाता है ॥ ७ ॥

आनाहश्चैव तृष्णा च यमेतौ[२] दुर्बलं नरम्[३] ।
विशतो विजहत्येनं प्राणा नातिचिरान्नरम्[४] ॥ ८ ॥

जो दुर्बल पुरुष आनाह और तृष्णा दोनों से आक्रान्त होजाता है, उस को प्राण शीघ्र ही छोड़ जाते हैं अर्थात् उसकी शीघ्र मृत्यु हो जाती है ॥ ८ ॥

ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः ।
बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ९ ॥

---

१ 'आनाहश्चातितृष्णा' यो. ।

२ 'कर्शितं' यो० । ३ 'भृशम्' यो० ।

४ गंगाधरस्तु—'आनाहश्चातिसारश्च कर्षितं यमुभौ भृशम् । विशतो विजहत्येनं प्राणा नातिचिरान्नरम्' । इति पठित्वा 'कर्षितं' इति पदव्याख्याने आह कर्षितं व्याधिभिर्वा धनबान्धवक्षयोपवासादितो वा इति पूर्वस्माद्भेदः ।

बल एवं मांस से हीन जिस पुरुष को पूर्वाह्न वा प्रातः ज्वर होता हो और साथ ही दारुण सूखी खांसी हो उसे मुर्दा ही जानना चाहिये अर्थात् वह शीघ्र ही कालकवलित होगा ॥ ९ ॥

ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः ।
बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ १० ॥

इसी प्रकार यदि बल एवं मांस से हीन पुरुष को अपराह्न वा सायं समय ज्वर होता हो और कफज कास (खांसी) हो तो वह भी मुमूर्षु है ॥ १० ॥

यस्य मूत्रं पुरीषं च ग्रथितं संप्रवर्तते ।
निरुष्मणो जठराग्निः श्वसनो न स जीवति ॥ ११ ॥

जिस पुरुष में ऊष्मा नहीं अर्थात् शरीर का तापांश बहुत कम है अथवा जिसकी जाठराग्नि मन्द है, उदररोग से आक्रान्त है और मूत्र बहुत घना आता है—आपेक्षिक गुरुत्व बहुत अधिक है, पुरीष गांठों की आकृति में बंधा हुआ आता है, यदि वह साथ ही श्वासरोग का रोगी है तो वह जीवित नहीं रहता ॥ ११ ॥

श्वयथुर्यस्य कुक्षिस्थो हस्तपादं विसर्पति ।
ज्ञातिसङ्घं स संक्लेश्य तेन रोगेण हन्यते ॥ १२ ॥

जिसके कोख वा उदर पर उत्पन्न हुआ २ शोथ क्रमशः हाथ पैर की ओर संचार करता है वह अपने बन्धु बान्धवों को पीडा देकर उसी रोग से मारा जाता है । अर्थात् यह रोग दीर्घकाल के पश्चात् मारक होता है । जब तक रोगी की मृत्यु नहीं होती उस दीर्घकाल तक बन्धु बान्धवों को उसके प्रतिकार तथा परिचर्या आदि के दुःख सहने पड़ते हैं ॥ १२ ॥

श्वयथुर्यस्य पादस्थस्तथा स्रस्ते च पिण्डिके ।

सीदतश्चाप्युभे जङ्घे तं भिषक्परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥

जिसके पैर में सूजन हो गई हो तथा पिण्डलियां शिथिल हों, दोनों जङ्घायें अवसादयुक्त हों—अच्छी प्रकार चल फिर वा बैठ न सकता हो, चिकित्सक उसकी चिकित्सा न करे। वह रोगी असाध्य है॥

शूनहस्तं शूनपादं शूनगुह्योदरं नरम् ।
हीनवर्णबलाहारमौषधैर्नोपपादयेत् ॥ १४ ॥

जिसके हाथ पैर गुह्यदेश और पेट सूजा हुआ हो ऐसे पुरुष का यदि वर्ण और बल अतिक्षीण हो, आहार कम मात्रा में करता हो तो उसकी औषध न करनी चाहिये। वह असाध्य है ॥ १४ ॥

उरोयुक्तो बहुश्लेष्मा नीलः पीतः सलोहितः ।
सततं च्यवते यस्य दूरात्तं परिवर्जयेत् ॥ १५ ॥

जिस पुरुष में छाती वा फेफड़ों में आश्रित नीला पीला वा रक्त-युक्त कफ बहुत मात्रा में निरन्तर बाहिर निकलता है, उसे वैद्य दूर से ही त्याग दे। अथवा 'उरोयुक्तः' के स्थल पर 'उरोमुक्तः' ऐसा पाठ होना चाहिये ॥ १५ ॥

हृष्टरोमा सान्द्रमूत्रः शूनः कासज्वरार्दितः ।
क्षीणमांसो नरो दूराद्वर्ज्यो वैद्येन जानता ॥ १६ ॥

जिस पुरुष का मांस क्षीण हो गया है, लोमहर्ष है, घना मूत्र आता है, शोथ से आक्रान्त है, खांसी और ज्वर से पीड़ित है; उसे ज्ञानी वैद्य दूर से ही त्याग दे ॥ १६ ॥

त्रयः प्रकुपिता यस्य दोषाः कोष्ठेऽभिलक्षिताः ।
कृशस्य बलहीनस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ १७ ॥

जिस कृश और निर्बल पुरुष के कोष्ठ में प्रकुपित हुए २ तीनों दोष दिखाई दें उसकी चिकित्सा नहीं है। कोष्ठ से आमाशय आदि आशयों का तथा हृदय फुफ्फुस आदि का ग्रहण होता है—

१ 'शंखे' च.। २ 'उरोयुक्त इति उरोभवत्वेन रोगोऽनुमीयमानः' चक्रः। ३ 'शुष्ककासज्वरार्दितः' ग.। ४ 'कष्टाभिलक्षिताः' च.।

'स्थानान्यामाग्निपक्वानां मलस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ' ॥ १७ ॥

ज्वरातिसारौ शोफान्ते श्वयथुर्वा तयोः क्षये ।
दुर्बलस्य विशेषेण नरस्यान्ताय जायते ॥ १८ ॥

जिसे प्रथम शोथ होकर शोथ तो हट जाय पर ज्वर और अतिसार हो जाय अथवा प्रथम ज्वर और अतिसार होकर उनकी निवृत्ति होने पर शोथ हो जाय तो ये दोनों ही अवस्थायें विशेषतः दुर्बल पुरुष के जीवन का अन्त करने वाली होती हैं ॥ १८ ॥

पाण्डुरश्च कृशोऽत्यर्थं तृष्णयाऽभिपरिप्लुतः ।
[1]डम्बरी कुपितोच्छ्वासः प्रत्याख्येयो विजानता ॥ १९ ॥

जो पीला पड़ गया हो वा पाण्डुरोग से पीड़ित हो, अत्यन्त कृश, जिसे बहुत प्यास लगती हो, डम्बरी (जो स्तब्ध नेत्रों से देखता हो, एकाग्रदृष्टि), जिसका उच्छ्वास (वापिस निकलने वाला श्वास) कुपित हो, उसका विज्ञ वैद्य को त्याग करना चाहिये ॥ १९ ॥

हनुमन्याग्रहस्तृष्णा बलह्रासोऽतिमात्रया ।
[2]प्राणाश्चोरसि वर्तन्ते यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ २० ॥

जिस पुरुष को हनुग्रह और मन्याग्रह हो, अति तृष्णा हो, अत्यन्त निर्बलता हो और जिसके प्राण छाती में हों उसे त्याग दे । अर्थात् जब अन्य अङ्गों में जीवन के चिन्ह स्पन्दन आदि न दिखाई दें और केवल मात्र छाती में ही हृत्स्पन्दन और श्वास प्रश्वास की क्रिया दीखती हो तो वह त्याज्य होता है—रोगी मरणोन्मुख होता है ॥ २० ॥

[3]ताम्यत्यायच्छते शर्म न किंचिदपि विन्दति ।
क्षीणमांसबलाहारो मुमूर्षुरचिरान्नरः ॥ २१ ॥

जो क्लान्त होता है अथवा जिसके आगे अन्धकार ही अन्धकार

---

१ 'डम्बरी स्तब्धाक्षावलोकी, किंवा डम्बरी संरम्भवान्' चक्रः ।
२ 'प्राणाश्चोरसि वर्तन्त इति वायव उरसि प्रकुपिता वहन्ति ।' चक्रः
३ 'न्यायच्छते ताम्यति च' ग. ।

दिखाई देता है—बेहोशी सी हो जाती है, अंगों को फैलाता है वा फैंकता है (जैसे आक्षेपक रोग में) और कुछ भी आराम को नहीं पाता, मांस बल एवं आहार जिसका क्षीण हो गया है—ऐसा पुरुष शीघ्र ही मुमूर्षु होता है ॥ २१ ॥

विरुद्धयोनयो यस्य विरुद्धोपक्रमा भृशम् ।
वर्धन्ते दारुणा रोगाः शीघ्रं शीघ्रं स हन्यते ॥ २२ ॥

जिस पुरुष में विरुद्धयोनि और विरुद्धोपक्रम दारुण रोग शीघ्र बढ़ते हों वह शीघ्र मारा जाता है । " योनि ' उत्पत्तिकारण को कहते हैं । रोगों के उत्पत्तिकारण दुष्ट हुए २ वात पित्त और कफ हैं । जिससे अभिप्राय यह हुआ कि जब पुरुष को एक ही समय में वातज और पित्तज वा पित्तज और कफज वा कफज और वातज इत्यादि रोग हों और साथ ही वे विरुद्धोपक्रम भी हों अर्थात् यदि हम वातज की चिकित्सा करें तो पित्तज बढ़ जाय इत्यादि, अथवा दोष की चिकित्सा से दूष्य बढ़े और दूष्य की चिकित्सा से दोष बढ़े तो वह भी विरुद्धोपक्रम कहायगा जैसे वातज प्रमेह, तो ऐसे दारुण रोग अत्यन्त शीघ्र मृत्यु के कारण होते हैं । नौवें और दसवें श्लोक में भी विरुद्धयोनि रोगों का उदाहरण दिया जा चुका है । पूर्वाह्णकाल कफ का होता है उस समय का ज्वर कफज्वर होगा परन्तु साथ ही शुष्क कास वातज हैं अतएव असाध्य है । इसीप्रकार दसवें श्लोक को भी समझ लेना चाहिये ॥ २२ ॥

बलं विज्ञानमारोग्यं ग्रहणी मांसशोणितम् ।
एतानि यस्य चीयन्ते क्षिप्रं क्षिप्रं स हन्यते ॥ २३ ॥

बल, विज्ञान, आरोग्य ग्रहणी मांस रक्त; ये जिस पुरुष के शीघ्र क्षीण होजाते हैं, वह शीघ्र ही मारा जाता है ॥ २३ ॥

विकारा यस्य वर्धन्ते प्रकृतिः परिहीयते ।

---

१ 'मांससारिणी' ग. । २ 'आरोग्यं हीयते यस्य' इति पाठान्तरम् ।

सहसा सहसा यस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥ २४ ॥

जिस पुरुष के रोग तो बढ़ते हैं और प्रकृति वा नीरोगिता सहसा नष्ट होजाती है, मृत्यु उसके जीवन को सहसा हर लेती है ॥ २४ ॥

तत्र श्लोकः ।

इत्येतानि शरीराणि व्याधिमन्ति विवर्जयेत् ।
न ह्येषु धीराः पश्यन्ति सिद्धिं काञ्चिदुपक्रमात् ॥ २५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने कतमानि-शरीरीयमिन्द्रियं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उपसंहार—इन रोगाक्रान्त शरीरों को वैद्य त्याग दे। क्योंकि इन में धीर पुरुष चिकित्सा से कुछ भी सफलता नहीं देखते ॥ २५ ॥

ति षष्ठोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः पन्नरूपीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम पन्नरूपीय इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे-ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। यहां पन्नरूप शब्द को अधिकार करके पन्नरूपीय अध्याय प्रारम्भ किया गया है। इस अध्याय में छाया प्रतिच्छाया सम्बन्धी अरिष्ट बताये जांयगे ॥ १ ॥

दृष्ट्वा यस्य विजानीयात्पन्नरूपां कुमारिकाम् ।
प्रतिच्छायामयीमक्ष्णोर्नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥ २ ॥

चिकित्सक जिसके नेत्रों में देखकर उसकी प्रतिच्छाया (प्रतिबिम्ब) रूप कुमारिका को नष्ट जाने, उसकी चिकित्सा की अभिलाषा न रखे। कुमारिका पुतली को कहते हैं। यदि आंख में पुतली न दिखाई दे तो उसे मुमूर्षु जानें ॥ २ ॥

ज्योत्स्नायामातपे दीपे सलिलादर्शयोरपि ।

---

१ 'दृष्ट्वां' ग. ।

अङ्गेषु विकृता यस्य छाया प्रेतस्तथैव सः ॥ ३ ॥

जिस पुरुष की छाया चांदनी धूप दीपक के प्रकाश जल अथवा दर्पण में विकृत अंग वाली दिखाई दे तो उसे मरे हुए के सदृश ही जानना चाहिये ॥ ३ ॥

छिन्ना भिन्नाऽऽकुला छाया हीना वाऽप्यधिकाऽपि वा।
नष्टा तन्वी द्विधा छिन्ना विशिरा विकृता च या ॥ ४ ॥
एताश्चान्याश्च याः काश्चित्प्रतिच्छाया विगर्हिताः।
सर्वा मुमूर्षतां ज्ञेया न चेल्लच्यनिमित्तजाः ॥ ५ ॥

ऊपर कहे गये चांदनी आदि में यदि शरीर की छाया वा प्रतिबिम्ब छिन्न (दो टुकड़ों में विभक्त) भिन्न (विदीर्ण) आकुल (जिस में अन्य प्रतिबिम्ब मिले दिखाई दें) हीन (किसी अंग से हीन) अधिक (किसी अङ्ग का अधिक होना) दिखाई दे। अथवा छाया वा प्रतिबिम्ब ही न दिखाई दे। अथवा अत्यन्त सूक्ष्म हो, दो स्थानों से विभक्त हो, शिर ही न हो और जो विकृत हो- आकृति वा रूप के अनुसार न हो; ये और इसी प्रकार के जो कोई भी अन्य प्रतिबिम्ब हों वे सब निन्दित वा अशुभ हैं। ये सब मुमूर्षु पुरुषों के प्रतिबिम्ब जानने चाहियें यदि ये लच्य के निमित्त से उत्पन्न न हों। अर्थात् अकारण उत्पन्न होने वाले विकृत प्रतिबिम्ब पुरुष की मुमूर्षुता के ज्ञापक हैं। यदि दर्पण आदि में कोई दोष हो और उससे प्रतिबिम्ब विकृत दिखाई दे तो वह मुमूर्षु का लक्षण नहीं ॥४-५॥

संस्थानेन प्रमाणेन वर्णेन प्रभया तथा।
छाया विवर्तते यस्य स्वस्थोऽपि प्रेत एव सः ॥ ६ ॥

यदि आकृति शरीर का परिमाण वर्ण प्रभा आदि में जिस पुरुष की छाया में परिवर्तन वा विपरीतता हो, उस स्वस्थ पुरुष को भी मरा हुआ ही जानना चाहिये। अर्थात् वह शीघ्र ही मर जायगा ॥ ६ ॥

---

१ 'छिंदाकुला' ग.।

संस्थानमाकृतिर्ज्ञेया सुषमा विषमा च या।
मध्यमल्पं महच्चोक्तं प्रमाणं त्रिविधं नृणाम् ॥ ७॥

संस्थान शब्द का अर्थ आकृति है। यह आकृति दो प्रकार की हो सकती है। १ सुषमा (सुन्दर) २ विषमा (अशोभन, जो सुन्दर न हो)॥

देह का प्रमाण तीन प्रकार का है—१ मध्य २ अल्प ३ महान् ॥७॥

प्रतिप्रमाणसंस्थाना जलादर्शातपादिषु।
छाया या सा प्रतिच्छाया छाया वर्णप्रभाश्रया ॥ ८ ॥

देह के प्रमाण और आकृति के अनुसार जल दर्पण धूप आदि में जो छाया पड़ती है वह प्रतिच्छाया वा प्रतिबिम्ब कहाता है। छाया वर्ण और प्रभा पर आश्रित है ॥ ८ ॥

खादीनां पञ्च पञ्चानां छाया विविधलक्षणाः।
नाभसी निर्मला नीला सस्नेहा सप्रभेव च ॥ ९ ॥

पांचों आकाश आदि महाभूतों की विविध प्रकार के लक्षणों वाली पांच छाया हैं। १ आकाश-सम्बन्धी २ वायु-सम्बन्धी ३ अग्नि-४ जल-सम्बन्धी ५ पृथिवी-सम्बन्धी।

नाभसी छाया—निर्मल, नीलवर्ण की, स्निग्ध, प्रभायुक्त होती है। नाभसी छाया का अर्थ आकाशीय छाया है ॥ ९ ॥

रूक्षा श्यावाऽरुणा या तु वायवी सा हतप्रभा।
विशुद्धरक्ता त्वाग्नेयी दीप्ताभा दर्शनप्रिया ॥ १० ॥

वायवी छाया—रूक्ष, श्याम वा अरुणवर्ण की, प्रभारहित होती है। आग्नेयी छाया—विशुद्ध रक्तवर्ण की, चमकदार आभा वाली और देखने में प्रिय होती है ॥ १० ॥

शुद्धवैदूर्यविमला सुस्निग्धा चाम्भसी मता।
स्थिरा स्निग्धा घना श्लक्ष्णा श्यामा श्वेता च पार्थिवी ॥११॥

---

१ 'या च' ग.। २ 'शुभा' ग.। ३ 'स्निग्धायता' ग.।

जलीय छाया—शुद्ध वैदूर्य मणि के समान विमल तथा अत्यन्त स्निग्ध होती है ।

पार्थिवी छाया—स्थिर, स्निग्ध, घनी, श्लक्ष्ण (चिकनी), श्याम-वर्ण और श्वेत होती है ॥ १२ ॥

वायवी गर्हिता त्वासां चतस्रः स्युः शुभोदयाः ।
वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥ १२ ॥

इन में से वायवी (वायु-सम्बन्धी) छाया निन्दित है । शेष चार छायायें शुभ फल देने वाली होती हैं । वायवी छाया मृत्यु अथवा महाक्लेश का कारण होती है ॥ १२ ॥

स्यात्तैजसी प्रभा सर्वा सा तु सप्तविधा स्मृता ।
रक्ता पीता सिता श्यावा हरिता पाण्डुराऽसिता ॥ १३ ॥

प्रभा का उत्पत्ति कारण और भेद—सब प्रभा तैजसी होती हैं—तेज से उत्पन्न होती हैं । प्रभा सात प्रकार की मानी गई है । १ लाल २ पीली ३ श्वेत ४ श्याम ५ हरित (हरी) ६ पाण्डुर (ईषत् पीत) ७ असित (काली) । तेज के बिना कोई प्रभा नहीं हो सकती, अतः इसे तैजसी कहा गया है ॥ १३ ॥

तासां याः स्युर्विकासिन्यः स्निग्धाश्च विपुलाश्च याः ।
ताः शुभा रूक्षमलिनाः संक्षिप्ताश्चाशुभोदयाः ॥ १४ ॥

उन सात प्रकार की प्रभाओं में से जो खिली हुई स्निग्ध और विपुल (बहुत वा विस्तृत) हों, वे शुभ होती हैं । 'विपुलाश्च' के स्थल पर यदि 'विमलाश्च' यह पाठान्तर हो तो उसका अर्थ निर्मल है । जो रूखी हों, मलिन हों, संक्षिप्त (छोटी वा थोड़ी) हों, वे अशुभ फल के देने वाली होती हैं ॥ १४ ॥

वर्णमाक्रामति च्छाया भास्तु वर्णप्रकाशिनी ।
आसन्ना लक्ष्यते छाया भाः प्रकृष्टा प्रकाशते ॥ १५ ॥

१ 'संक्लिष्टाश्चाशुभोदयाः' ग. । २ 'विकृष्टा भाः' यो. ।

छाया और प्रभा में अन्तर—छाया वर्ण पर छाजाती है और प्रभा वर्ण को प्रकाशित करती है । छाया पास से दिखाई देती है वा जानी जाती है और प्रभा दूर से भी प्रकाशित होती है । ये ही दोनों में भेद है । इसके अतिरिक्त छाया का पञ्चभूतात्मिका होना और प्रभा का तैजसी होना भी एकभेद है ॥ १५ ॥

नाच्छायो नाप्रभः कश्चिद्विशेषाश्चिह्नयन्ति तु ।
नृणां शुभाशुभोत्पत्तिं काले छायाः प्रभाश्रयाः ॥ १६ ॥

कोई भी पुरुष छाया और प्रभा से रहित नहीं है । किन्तु समय पर छाया और प्रभा के आश्रित भेद ही शुभ एवं अशुभ की उत्पत्ति के ज्ञापक होते हैं ॥ १६ ॥

कामलाऽक्ष्णोर्मुखं पूर्णं शङ्खयोर्मुक्तमांसता[1] ।
संत्रासश्चोष्णगात्रं च यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ १७ ॥

जिसके दोनों नेत्र कामलायुक्त हो, मुख भरा हुआ हो, दोनों शङ्ख देशों में मांस क्षीण हो गया हो, अत्यधिक भयभीत हो, देह में उष्णता हो; उसे त्याग देना चाहिये—उसके असाध्य होने से चिकित्सा न करनी चाहिये ॥ १७ ॥

उत्थाप्यमानः शयनात्प्रमोहं याति यो नरः ।
मुहुर्मुहुर्न सप्ताहं स जीवति कथञ्चन[2] ॥ १८ ॥

जिस मनुष्य को नींद से जगाया जाने पर वा शय्या से उठाया जाने पर बार बार मूर्च्छा हो जाय तो वह एक सप्ताह तक कदापि जीवित नहीं रहता ॥ १८ ॥

संसृष्टा व्याधयो यस्य प्रतिलोमानुलोमगाः ।
व्यापन्ना ग्रहणी प्रायः सोऽर्धमासं न जीवति ॥ १९ ॥

---

१ गण्डयोर्युक्तमांसता' ग. । २ विकत्थनः च., ग. । 'विकत्थनः निन्दापरः' चक्रः । 'विकत्थनः विशेषेण श्लाघया वैद्यो वदेत् इति भावः' गङ्गाधरः ।

जिस पुरुष में प्रतिलोम और अनुलोम मार्ग में गये हुए अनेक रोग परस्पर मिलित हों और प्रायः ग्रहणी भी दोष युक्त हो तो वह १५ दिन तक जीवित नहीं रहता। अर्थात् उसकी आयु की परमावधि १५ दिन है। अनेक रोग कहने से जहां रोगों की अनेकता असाध्यता में अभीष्ट है वहां एक ही रोग के भिन्न २ दोषों को प्रतिलोम और अनुलोम मार्ग में जाना भी असाध्यता में अभीष्ट होता है। जैसे जो रक्तपित्त युगपत् ऊर्ध्वमार्ग वा अधोमार्ग से प्रवृत्त होता है वह असाध्य होता हैं।

'घर्मव्यायामशोकाध्वव्यवायैरतिसेवितैः।
तीक्ष्णोष्णक्षारलवणैरम्लैः कटुभिरेव च ॥
पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम्।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधापि वा ॥
ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥
ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम्।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥
ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम्' ॥ १९ ॥

उपरुद्धस्य रोगेण कर्षितस्याल्पमश्नतः।
बहुमूत्रपुरीषं स्याद्यस्य तं परिवर्जयेत् ॥ २० ॥

कृश हुए २, रोग से रुके हुए अर्थात् रोगी, मात्रा से अल्प आहार करने वाले जिस पुरुष को मूत्र और पुरीष अत्यधिक मात्रा में आता है उसका त्याग करना चाहिये—वह मृत्यु से बचता नहीं। अभिप्राय यह है कि यदि किसी क्षीण-काय व्यक्ति को ऐसा रोग होगया है जिसमें आहार की अभिलाषा नहीं रही और वह अतएव भोजन स्वल्पमात्रा में ही करता

---

१ 'योगेन' ग.।

है परन्तु फिर भी मल मूत्र बहुत अधिक परिमाण में आता है तो उसका बचना असम्भव है ॥ २० ॥

दुर्बलो बहु भुङ्क्ते यः प्राग्भुक्तादन्नमातुरः ।
अल्पमूत्रपुरीषश्च यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ २१ ॥

जो दुर्बल रोगी पुरुष रोग से पूर्व अर्थात् स्वस्थावस्था में जितना खाता था उससे बहुत अधिक खाता है, परन्तु मूत्र और पुरीष कम आता है तो उसे मृत ही समझना चाहिये ॥ २१ ॥

वर्धिष्णुगुणसंपन्नमन्नमश्नाति यो नरः ।
शश्वच्च बलवर्णाभ्यां हीयते न स जीवति ॥ २२ ॥

बृंहण वा वृद्धि करने के गुण से युक्त अन्न को जो पुरुष खाता है परन्तु फिर भी निरन्तर बल और वर्ण क्षीण होता जाता है वह जीवित नहीं रहता ॥ २२ ॥

प्रकूजति प्रश्वसिति शिथिलं चातिसार्यते ।
बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो न स जीवति ॥ २३ ॥

जो गले से अव्यक्त शब्द करता है, अत्यधिक श्वास लेता है, मल शिथिल आता है-मल पतला आता है वा दस्त होता है वह यदि निर्बल हो तृष्णा से पीड़ित हो (अत्यधिक प्यास लगती हो) मुख अन्दर से सूखा हो तो वह जीवित नहीं रहता ॥ २३ ॥

ह्रस्वं च यः प्रश्वसिति व्याविद्धं स्पन्दते च यः ।
मृतमेव तमात्रेयो व्याचचक्षे पुनर्वसुः ॥ २४ ॥

जिस पुरुष का अन्दर जाने वाला श्वास छोटा होता है और जो कष्ट के कारण टेढ़ा मेढा होकर हिलता जुलता है उसे आत्रेय पुनर्वसु मृत ही कहते हैं ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं च यः प्रश्वसिति श्लेष्मणा चाभिभूयते ।
हीनवर्णबलाहारो यो नरो न स जीवति ॥ २५ ॥

---

१ 'प्रागभुक्त्वाऽन्नमाश्रितः' च. । २ 'इष्टं च गुणसंपन्नं०' च. ।

जिसका ऊर्ध्वश्वास होगया हो और जिसका कण्ठ कफ से रुकता हो ऐसा बल वर्ण तथा आहार से हीन पुरुष जीवित नहीं रहता।

ऊर्ध्वाग्रे नयने यस्य मन्ये चारतकम्पने[1] ।
बलहीनः पिपासार्तः शुष्कास्यो[2] न स जीवति ॥ २६ ॥

जिस के नेत्र ऊर्ध्वमुख होगये हों—ऊपर को चढ़ गये हों और दोनों मन्यायें निरन्तर बहुत अधिक कांपती हों—बहुत अधिक स्पन्दन करती हों ऐसा निर्बल तृष्णा से पीड़ित तथा सूखे मुख वाला वह पुरुष जीवित नहीं रहता ॥ २६ ॥

यस्य गण्डावुपचितौ ज्वरकासौ च दारुणौ ।
शूली प्रद्वेष्टि चाप्यन्नं तस्मिन् कर्म न सिध्यति ॥ २७ ॥

जिसकी गालें मांस से भरी हों परन्तु ज्वर और कास अत्यन्त दारुण हों शूल हो और अन्न न खाता हो तो चिकित्सा से कोई सफलता नहीं होती—वह असाध्य है ॥ २७ ॥

व्यावृत्तमूर्धजिह्वास्यो भ्रुवौ यस्य च विच्युते ।
कण्टकैश्चाचिता जिह्वा यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ २८ ॥

जिसका शिर और जिह्वा चक्कर खा गई हो, दोनों भौंहे नीचे आगई हों और जिह्वा कण्टकों से व्याप्त हो तो उसे मृत ही जानना चाहिये ॥ २८ ॥

शेफश्चात्यर्थमुत्सिक्तं निःसृतौ वृषणौ भृशम् ।
अतश्चैव विपर्यासो विकृत्या प्रेतलक्षणम् ॥ २९ ॥

जिसकी मूत्रेन्द्रिय अत्यधिक अन्दर घुस गई हो—छोटी होगई हो और दोनों अण्ड बहुत अधिक बाहर निकले हुए हों अथवा मूत्रेन्द्रिय बहुत अधिक बाहिर निकली हुई हो और अण्ड अन्दर को घुस जांय तो वह मृत पुरुष का चिन्ह है । अर्थात् वह रोगी बचता नहीं । परन्तु यह लक्षण विकृति से होना चाहिये । यदि किसी के स्वभावतः ही ऐसा हो तो

---

१ 'यस्यानारतकम्पने' ग. । २ '०मुख०' पा० ।

उसे मृत्युसूचक लक्षण न समझें ॥ २९ ॥

निचितं[1] यस्य मांसं स्यात्त्वगस्थि[2] चैव दृश्यते ।
क्षीणस्यानशनतस्तस्य[3] मासमायुः परं भवेत्[4] ॥ ३० ॥

जिस पुरुष का मांस क्षीण हो गया हो, त्वचा और कंकालमात्र दिखाई दे, ऐसे क्षीण और उस पर भी आहार न खाते हुए पुरुष की परम आयु एक मास होती है । अर्थात् वह एक महीने के अन्दर अन्दर ही मर जाता है । 'निचितं' में 'नि' निषेधार्थक है । सुश्रुत सूत्र० ३१ अ० में भी ऐसे अरिष्ट लक्षण दिये गये हैं ॥ ३० ॥

तत्र श्लोकः ।

इदं लिङ्गमरिष्टाख्यमनेकमभिजज्ञिवान् ।
आयुर्वेदविदित्याख्यां लभते कुशलो जनः ॥ ३१ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने पन्नरूपीय-
मिन्द्रियं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

जो इन अनेक अरिष्ट लक्षणों को जानता है वह कुशल पुरुष आयुर्वेदज्ञ कहाता है ॥ ३१ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातोऽवाक्शिरसीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ॥
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब अवाक्शिरसीय इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । 'अवाक्शिरा' यह पद अध्याय के पूर्व है । अतः इस अध्याय का नाम अवाक्शिरसीय रखा गया है ॥ १ ॥

---

१ अत्र नि' इति प्रतिषेधार्थे । २ 'तु त्वगस्थिश्चैव' च. । ३ 'क्षीणस्यान्यूनतस्तस्य' ग. । ४ गङ्गाधरस्तु 'निचितं यस्य मांसं तु त्वगस्थि चैव दृश्यते । क्षीणस्यान्यूनतस्तस्य मासमायुः परं भवेदिति' पठित्वा व्याख्याति—'यस्य मांसं' शरीरे निचितं सम्पूर्णम् । त्वगस्थि च दृश्यते, यस्य क्षीणस्यान्यूनतः सम्पूर्णतः मांसहीनस्य त्वगस्थि च निचितं दृश्यते, तस्य मासं व्याप्य परमायुर्भवेदित्यर्थः ।

अवाक्शिरा वा जिह्मा वा यस्य वा विशिरा भवेत् ।
जन्तो रूपप्रतिच्छाया नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम् ॥२॥

जिस प्राणी वा मनुष्य के रूप(शरीर)के प्रतिबिम्ब में शिर नीचे की ओर हो अथवा प्रतिबिम्ब टेढ़ा मेढ़ा हो अथवा प्रतिबिम्ब में शिर हो न हो तो उसकी चिकित्सा की अभिलाषा न करे । विकृत प्रतिबिम्ब यदि अनिमित्त ही हो तभी मुमूर्षुता को बताता है ॥ २ ॥

जटीभूतानि पक्ष्माणि दृष्टिश्चापि निगृह्यते[1] ।
यस्य जन्तोर्न तं धीरो भेषजेनोपपादयेत् ॥३॥

जिस मनुष्य की पलकें जटाओं के सदृश हो गई हों और ऊपर नीचे की पलकों के भी परस्पर मिल जाने से दृष्टि बन्द हो गई हो,धीर वैद्य उसे औषधों का प्रयोग न करावे-चिकित्सा न करे । सुश्रुत में भी कहा है—

'मिलन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद् यादि मृत्यवे' ॥ ३ ॥

यस्य शूनानि वर्त्मानि न समायान्ति शुष्यतः ।
चक्षुषी चोपदह्येते यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ४ ॥

जिस शोषयुक्त पुरुष के वर्त्म सूजे हुए हों और अतएव परस्पर न मिलते हों, नेत्रों में दाह होता हो तो, उसे मृत पुरुष के सदृश ही जानना चाहिये-वह मुमूर्षु है ॥ ४ ॥

भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्ध्नि सीमन्तावर्तकान् बहून् ।
अपूर्वानकृतान्[2] व्यक्तान् दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ ५ ॥
त्र्यहमेतेन जीवन्ति लक्षणेनातुरा नराः ।
अरोगाणां पुनस्त्वेतच्छडात्रं परमुच्यते ॥ ६॥

भौंहों पर अथवा शिर पर बहुत से सीमन्त (मांग) और आवर्तकों (चक्कर खाये हुए वाल) को उत्पन्न हुआ देख

---

१ 'न गृह्यते' ।

२ 'अरुज्जानकृतान्' च. । तत्र प्रयत्नेनाकृतान् इत्यर्थः ।

कर वैद्य उसकी मृत्यु की सूचना दे दे । परन्तु किसी व्यक्ति द्वारा संवार कर ये सीमन्त और आवर्त बनाये हुए न होने चाहियें और ना ही पूर्व उत्पन्न हुए २ हों। बहुत से पुरुषों के जन्म से ही आवर्त बने होते हैं वह मृत्यु का चिन्ह नहीं। रोगी इस अरिष्ट लक्षण से तीन दिन तक जीवित रह सकता है और नीरोग पुरुषों में यदि ये रिष्ट प्रादुर्भूत हों तो अधिक से अधिक वह छह दिन तक जी सकता है ॥ ५—६ ॥

[१]आयस्योत्पाटितान् केशान् यो नरो नावबुध्यते ।
अनातुरो वा रोगी वा षड्रात्रं[२] नातिवर्तते ॥ ७ ॥

जिस मनुष्य को चाहे वह रोगी हो वा नीरोग, बलपूर्वक खींचने से उखाड़े गये केशों का ज्ञान नहीं होता तो वह छह दिन से अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता। अर्थात् यदि पुरुष बालों को उखाड़ने से कोई वेदना अनुभव नहीं करता तो उसकी आयु की शेष परम अवधि छह दिन है ॥ ७ ॥

यस्य केशा निरभ्यङ्गा दृश्यन्तेऽभ्यक्तसंनिभाः ।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥८॥

जिस पुरुष के केशों पर तैल आदि स्नेह के न लगाने पर भी ऐसे दिखाई दे जैसे तेल चुपड़ा हुआ हो तो उसे गतायु जान धीर वैद्य उसका त्याग करे ॥ ८ ॥

[३]ग्लायतो नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति ।
अशूनः शूनसंकाशः प्रत्याख्येयः स जानता ॥ ९ ॥

जिस पुरुष का हर्ष से अन्यत्र काल में नासिकावंश (नासादण्ड)

---

१ 'आयम्योत्पाटितान्' ग. ।

२ "यद्यपि 'मृतस्य केशलोमानि' इत्यादिनैव तदरिष्टमित्युक्तं तथापीहातुरस्वस्थविषयप्रतिपादनार्थमाभिधानम् । किञ्च 'प्रच्यवेरन्' इति पदेन केशानामनुत्पाटनमुक्तं, नेह तत्रेति विशेषः।" चक्रः । ३ 'ग्लायते' च. ।

स्थूलता को प्राप्त होता हो और सूजा हुआ न होने पर भी सूजे हुए के सदृश हो वह ज्ञानी वैद्य द्वारा प्रत्याख्येय होता है—उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

अत्यर्थविवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता।
जिह्मा वा परिशुष्का वा नासिका[1] न स जीवति ॥ १० ॥

जिस पुरुष की नाक के छिद्र बहुत खुले हुए हों वा बहुत अधिक बन्द वा सुकड़ कर छोटे होगये हों नाक टेढ़ी तथा सूखी हुई हो (जो मांसल न हो) वह जीवित नहीं रहता ॥ १० ॥

मुखं शब्दश्रवावोष्ठौ शुक्लश्यावातिलोहितौ ।
विकृतौ[2] यस्य वा नीलौ न स रोगाद्विमुच्यते ॥ ११ ॥

जिस पुरुष के मुख कान और होंठ श्वेत श्याम अत्यन्त लाल वा नीले हों वा अन्य प्रकार से विकृत हों वह रोग से विमुक्त नहीं होता अपितु मर जाता है । 'विकृत्या' यह पाठ होने पर विकृति के कारण जिनके मुख कान आदि का वर्ण श्वेत आदि हो गया हो यह अर्थ होगा । यदि ये वर्ण स्वाभाविक हों तो उन्हें मृत्यु का कारण न जानना चाहिये ॥ ११ ॥

अस्थिश्वेता द्विजा यस्या पुष्पिताः पङ्कसंवृताः ।
विकृत्या न स रोगं तं विहायारोग्यमश्नुते ॥ १२ ॥

विकृति के कारण जिस पुरुष के दांत अस्थि (हड्डी) के समान श्वेत हों उनपर पुष्प (श्वेत२ चिह्न) उत्पन्न हुए हों और यदि उनपर मैल पङ्क (कीचड़) के सदृश चढ़ी हुई हो वह उस रोग से मुक्त होकर कभी आरोग्य को प्राप्त नहीं होता ॥ १२ ॥

स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी कण्टकोपचिता भृशम् ।
श्यावा शुष्काऽथवा शूना प्रेतजिह्वा विसर्पिणी ॥ १३ ॥

---

१ सुश्रुतेऽपि—कुटिला स्फुटिता वापि शुष्का वा यस्य नासिका । अवस्फुर्जति मग्ना वा न स जीवति मानवः ॥ सू० ३१ अ० । २ 'विकृत्या' च. ।

जड़वत् स्तब्ध, चेतना से शून्य (ज्ञानशक्तिहीन), भारी, कण्टकों से व्याप्त, श्यामवर्ण की, शुष्क अथवा सूखी हुई और विसर्पिणी(अर्थात् होठों को चाटने के लिये जो निरन्तर चलती रहे) जिह्वा प्रेतजिह्वा कहाती है—ऐसी जिह्वा आसन्न मृत्यु की सूचक है। गङ्गाधर 'विसर्पिणी' का अर्थ 'बहिर्निर्गत' करता है ॥ १३ ॥

दीर्घमुच्छ्वस्य यो ह्रस्वं नरो निश्वस्य ताम्यति।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥

जो मनुष्य दीर्घ सांस लेता है और छोटा सांस निकाल कर मूर्च्छित होजाता है अथवा जिसकी आंखों के आगे अन्धेरा आजाता है, उस को गतायु जान कर धीर वैद्य त्याग करे ॥ १४ ॥

हस्तौ पादौ च मन्ये च तालु चैवातिशीतलम्।
भवत्यायुःक्षये क्रूरमथवाति भवेन्मृदु ॥ १५ ॥

आयुःक्षय के समय हाथ पैर मन्या तालु ये अत्यन्त शीतल अत्यन्त कठोर वा अत्यन्त मृदु होजाते हैं। अर्थात् यदि हाथ आदि में उष्णता न रहे और वे स्पर्श में अति कठोर वा अतिमृदु हों तो वे मृत्यु के पूर्वरूप हैं ॥ १५ ॥

घट्टयञ्जानुना जानु पादावुद्यम्य पातयन्।
योऽपास्यति मुहुर्वक्त्रमातुरो न स जीवति ॥ १६ ॥

जो रोगी घुटने से घुटने को टकराता है पैरों को ऊंचा उठाकर नीचे गिराता है और जो बारम्बार मुख को विक्षिप्त करता है अथवा दूसरी ओर फेर लेता है वह जीवित नहीं रहता ॥ १६ ॥

दन्तैश्छिन्दन्नखाग्राणि नखैश्छिन्दञ्छिरोरुहान्।
काष्ठेन भूमिं विलिखन्न रोगात्परिमुच्यते ॥ १७ ॥

जो रोगी दांतों से नख के अग्रभाग को काटता है, नखों से बालों को तोड़ता है और लकड़ी आदि से भूमि पर लेखन करता है—

भूमि को कुरेदता है, वह रोग से मुक्त नहीं होता॥ १७॥

दन्तान् खादति यो जाग्रदसाम्रा विरुदन् हसन्।
विजानाति न चेद्दुःखं न स रोगाद्विमुच्यते॥ १८॥

जो जागते हुए कभी ऊंचा रोता है कभी ऊंचा हंसता है और दांतों को कटकटाता है परन्तु यदि दुःख वा कष्ट को अनुभव नहीं करता तो वह रोग से विमुक्त नहीं होता॥ १८॥

मुहुर्हसन्मुहुः क्ष्वेडञ्छय्यां पादेन हन्ति यः।
उच्चैश्छिद्राणि विमृशन्नातुरो न स जीवति॥ १९॥

जो रोगी बार बार ऊंचा हंसते हुए और बारबार कष्ट का ऊंचा रोना रोते हुए नाक कान आदि के छिद्रों को छूता हुआ शय्या पर पादाघात करता है—पैर पटकता है, वह जीवित नहीं रहता॥ १९॥

यैर्विन्दति पुरा भावैः समेतैः परमां रतिम्।
तैरेवारममाणस्य ग्लास्नोर्मरणमादिशेत्[1]॥ २०॥

जिन भावों के उपस्थित होने पर पूर्व परमप्रीति होती थी यदि उन्हीं के ही उपस्थित होने पर कोई आनन्द अनुभव न करे अपि तु ग्लानि हो तो उस रोगी की मृत्यु निश्चित है—ऐसा जानना चाहिये॥२०॥

न बिभर्ति शिरो ग्रीवा[2] न पृष्ठं भारमात्मनः।
न हनू पिण्डमास्यस्थमातुरस्य मुमूर्षतः॥ २१॥

मुमूर्षु रोगी की ग्रीवा शिर को धारण नहीं करती, पीठ अपने भार को नहीं उठा सकती, जबड़े मुख में डाले गये ग्रास आदि के पिण्ड को नहीं धारण करते। अर्थात् यदि शिर को एक पार्श्व पर लटकाना आदि लक्षण उपस्थित हों तो रोगी को मुमूर्षु जानना चाहिये॥२१॥

सहसा ज्वरसन्तापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः।
विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते॥ २२॥

मुमूर्षु पुरुषों में सहसा ज्वर-सन्ताप तृष्णा मूर्च्छा निर्बलता और

---

१ 'तैरेव रममाणस्य ग्लास्नो०' ग.। 'तैरेव सङ्गैर्भावै रममाणस्य क्रीड-तस्तस्य ग्लास्नोरक्रीडतोऽहृष्यतो मरणमादिशेत्।' गङ्गाधरः। २ 'शिरोग्रीवं' च.।

सन्धियों का विश्लेषण (खुलना वा शिथिलता) हो जाता है । अर्थात् ज्वर आदि लक्षणों के सहसा होने पर पुरुष को गतायु जानना चाहिये ॥ २२ ॥

गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् ।
लेपज्वरोपतप्तस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ २३ ॥

जिस लेप (स्वेद आदि से निकलने वाले मल आदि के लेप) तथा ज्वर से सन्तप्त पुरुष के प्रातःकाल वदन से अत्यन्त पसीना चूता है उसका जीना दुर्लभ है । अथवा गंगाधर के अनुसार ' लेपज्वरोपतप्त ' का अर्थ प्रलेपकज्वर से आक्रान्त पुरुष होगा । अर्थात् यदि प्रलेपक ज्वर के रोगी को प्रातःकाल अत्यन्त पसीना आय तो वह मर जायगा ॥ २३ ॥

नोपैति कण्ठमाहारो जिह्वा कण्ठमुपैति च ।
आयुष्यन्तं गते जन्तोर्बलं च परिहीयते ॥ २४ ॥

क्षीणायु पुरुष का खाया गया आहार गले से नीचे नहीं उतरता वा निगला नहीं जाता, जिह्वा कण्ठ में जाती है (जिससे सांस रुकता है) और बल नष्ट होता है । तात्पर्य यह है कि इन लक्षणों के होने पर पुरुष को मरणोन्मुख जानना चाहिये ॥ २४ ॥

शिरो विक्षिपते कृच्छ्रान्मुञ्चयित्वा प्रपाणिकौ ।
ललाटप्रस्रुतस्वेदो मुमूर्षुश्च्युतबन्धनः ॥ २५ ॥

जो पुरुष दोनों हाथों के अग्रभाग को खोलकर अर्थात् यदि मुट्ठी बन्धी हो तो उसे खोलकर शिर को एक ओर फैंक देता है—लटका देता है, मस्तक से पसीना चूने लगता है; वह मुमूर्षु है और उसका बन्धन टूट गया है । जैसे पकजाने पर फल का बन्धन टूट जाने से वह पृथ्वी पर आगिरता है, इसी प्रकार मृत्यु के लिये भी काल से पके पुरुष का भी संसार के साथ जोड़े रखने रखने वाला बन्धन टूट जाने का व्यवहार होता

---

१ ' मुमूर्षुः श्लथबन्धनः ' ग. ।

है । अथवा 'च्युतबन्धनः' इस लिये कहा है कि शिर को एक दम वह ऐसे एक ओरं गिराता है जैसे उसका बन्धन ही न रहा हो २५

तत्र श्लोकः ।

इमानि लिङ्गानि नरेषु बुद्धिमान्विभावयेतावहितो मुहुर्मुहुः ।
क्षणेन भूत्वा ह्युपयान्ति कानिचिन्न चाफलं लिङ्गमिहास्ति किञ्चन॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने अवाक्शिरसीय-मिन्द्रियं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि वह मनुष्यों में ध्यान से इन लक्षणों को बारंबार देखा करे क्योंकि कई लक्षण क्षणमात्र रहकर नष्ट हो जाते हैं। यहां जो रिष्ट लक्षण कहे गये हैं उनमें से कोई भी निष्फल नहीं । इनका फल मृत्युरूप अवश्य होता है ॥ २६ ॥

इत्यष्टमोऽध्यायः ।

नवमोऽध्यायः ।

अथातो यस्यश्यावनिमित्तीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम यस्यश्यावनिमित्तीय इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

यस्य श्यावे परिध्वस्ते हरिते चापि दर्शने ।
आपन्नो व्याधिरन्ताय ज्ञेयस्तस्य विजानता ॥ २ ॥

जिस पुरुष के नेत्र श्यामवर्ण वा हरित(हरे)वर्ण के हों और नष्ट हो गये हों उसे जो रोग हुआ हुआ हो ज्ञानी वैद्य उसे मृत्यु का कारण ही समझे ॥ २ ॥

---

१ 'निशामयेतावहितो' च. । २ 'यस्यश्यावीय०' यो० । "'यस्यश्याव' शब्देन लक्षणेन 'यस्यश्याव' इत्यादि ग्रन्थोक्तं रिष्टं ग्राह्यम् । तेन यस्यश्याव-निमित्तं रिष्टमधिकृत्य कृतोऽध्यायः यस्यश्यावनिमित्तीयः" । चक्रः ।

निःसंज्ञः परिशुष्कास्यः संविद्धो व्याधिभिश्च यः।
उपरुद्धायुषं ज्ञात्वा तं धीरः परिवर्जयेत् ॥ ३ ॥

जो संज्ञाशून्य हो, जिसका मुख सूखा हो और जो त्रिविध रोगों से बींधा गया हो अर्थात् अनेक रोगाक्रान्त हो उसे धीर वैद्य गतायु जान त्याग करे ॥ ३ ॥

हरिताश्च सिरा यस्य लोमकूपाश्च संवृताः।
सोऽम्लाभिलाषी पुरुषः पित्तान्मरणमश्नुते ॥ ४ ॥

जिस पुरुष की शिरायें हरित वर्ण की हों, लोमकूप बन्द हो गये हों, वह अम्लरस (खटाई) की इच्छा वाला पुरुष पित्तरोग से मृत्यु को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

शरीरान्ताश्च शोभन्ते शरीरं चोपशुष्यति।
बलं च हीयते यस्य राजयक्ष्मा हिनस्ति तम् ॥ ५ ॥

जिस पुरुष के शरीर के सिरे अर्थात् हाथ पैर और मुख तो पूर्ववत् शोभा युक्त हों परन्तु शरीर सूखता जाता हो और बल की न्यूनता होती जाती हो उसे राजयक्ष्मा मार देता है। अर्थात् जब राजयक्ष्मा से पीड़ित पुरुष में ये लक्षण हों तो रोगी बचता नहीं ॥ ५ ॥

अंसाभितापो हिक्का च छर्दनं शोणितस्य च।
आनाहः पार्श्वशूलं च भवत्यन्ताय शोषिणः ॥ ६ ॥

शोष वा राजयक्ष्मा के रोगी में अंसदेश में अभिताप हिचकी रक्त का वमन आनाह और पार्श्वशूल (पार्श्व में वेदना, पसलियों में दर्द वा pleurisy वा Pleurodynia) हों तो उसकी मृत्यु होजाती है ॥ ६ ॥

वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी शोफी तथोदरी।
गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः ॥ ७ ॥
अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसक्षये सति।
अल्पेष्वपि विकारेषु तान्भिषक्परिवर्जयेत् ॥ ८ ॥

---

१ 'संरुद्धो' च.। २ 'रक्ती' ग.। ३ 'मन्देष्वपि' ग.। 'अन्येष्वपि' पा.।

वातव्याधि, अपस्मार (मृगी), कुष्ठ, शोफ, उदररोग, गुल्म, मधुमेह, राजयक्ष्मा; इन रोगों से आक्रान्त पुरुष बल तथा मांस के क्षीण हो जाने पर असाध्य हो जाते हैं। अतएव इन रोगों के अल्प भी होने पर यदि बल और मांस क्षीण हो तो भी वैद्य इन रोगियों की चिकित्सा न करे। अष्टाङ्गसंग्रह शारीर ११ अ० में—

'वातव्याधिपस्मारी कुष्ठी रक्त्युदरी क्षयी।
गुल्मी मेही च तान् क्षीणान् विकारेऽल्पेऽपि वर्जयेत् ॥'

सुश्रुत सू० ३३ अ० में तो—

'वातव्याधिः प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम् ॥
अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः।
प्राणमांसक्षयश्वासतृष्णाशोषवमिज्वरैः ॥
मूर्च्छातिसारहिक्काभिः पुनश्चैतैरुपद्रुताः।
वर्जनीया विशेषेण भिषजा सिद्धिमिच्छता ॥' ७-८ ॥

विरेचनहृतानाहो[1] यस्तृष्णानुगतो नरः।
विरिक्तः पुनराध्माति यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ ९ ॥

विरेचन से आनाह के नष्ट होने पर तृष्णायुक्त होकर जिसे विरेचन के बाद पुनः आध्मान हो जाता है उसे मृत के सदृश ही जानना चाहिये ॥ ९ ॥

पेयं पातुं न शक्नोति कण्ठस्य च मुखस्य च[2]।
उरसश्च विशुष्कत्वाद्यो नरो न स जीवति ॥ १० ॥

जो मनुष्य कण्ठ मुख और छाती के शुष्क होने के कारण किसी पेय (जल दूध आदि) पदार्थ को पी नहीं सकता, वह जीवित नहीं रहता ॥ १० ॥

स्वरस्य दुर्बलीभावं हानिं च बलवर्णयोः।

---

१ 'विरेचनहतानाहो' ग.।
२ 'शुष्कत्वादास्यकण्ठयोः। उरसश्च विबन्धत्वात्' ग.।

रोगवृद्धिमयुक्तंचा च दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ॥ ११ ॥

स्वर का दुर्बल होना, बल वर्ण की क्षीणता, अनुचित रूप से सहसा रोग का बढ़ना; इन लक्षणों को देखकर रोगी की मृत्यु का निश्चय करे ॥ ११ ॥

ऊर्ध्वश्वासं गतोष्माणं शूलोपहतवङ्क्षणम् ।
शर्म चानधिगच्छन्तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥ १२ ॥

जिस रोगी को ऊर्ध्वश्वास हो गया हो, शरीर में ऊष्मा न रही हो, वंक्षण देश में शूल हो, एवं जिस रोगी को बैठने लेटने आदि किसी भी अवस्था में सुख न अनुभव हो, बुद्धिमान् वैद्य उसका परित्याग करे।

अपस्वरं[2] भाषमाणं प्राप्तं मरणमात्मनः ।
श्रोतारं चाप्यशब्दस्य दूरतः परिवर्जयेत् ॥ १३ ॥

'मैं मरने वाला हूँ—या मेरी मृत्यु निकट है' इत्यादि अपनी मृत्यु को जो विकृत स्वर से कह रहा हो और शब्द के न होने पर भी शब्द को सुन रहा हो उसे दूर से ही त्याग दे ॥ १३ ॥

यं नरं सहसा रोगो दुर्बलं परिमुञ्चति ।
संशयप्राप्तमात्रेयो जीवितं तस्य मन्यते ॥ १४ ॥

जिस दुर्बल मनुष्य को रोग सहसा त्याग देता है, उसके जीवन में संशय हो जाता है—महर्षि आत्रेय ऐसा मानता है । अर्थात् उसकी प्रायशः मृत्यु ही होती है ॥ १४ ॥

अथ चेज्ज्ञातयस्तस्य याचेरन् प्रणिपाततः ।
रसेनाद्यादिति ब्रयान्नास्मै[3] दद्याद्विशोधनम् ॥ १५ ॥

मासेन चेन्न दृश्येत विशेषस्तस्य शोभनः ।
रसैश्चान्यैर्बहुविधैर्दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ १६ ॥

यदि उस समय रोगी के बन्धुबान्धव पैरों पर पड़कर चिकित्सा

---

१ 'रोगवृद्धिमयुक्तेन' च. । २ 'अपस्वरभाषमाणं' पा० । ३ ब्रूयान्नास्य कुर्याद्विशोधनम्' च. ।

के लिये बाधित करें तो उन्हें कहे कि मांसरस के साथ आहार खिलाओ । रोगी को वमन विरेचन आदि शोधन न दें । यदि इस प्रकार मांसरस तथा अन्य विविध प्रकार के पुष्टिकर रसों के देने से कोई लाभ न दिखाई दे तो रोगी का जीवन दुर्लभ है ॥१५-१६॥

निष्ठ्यूतं च पुरीषं च रेतश्चाम्भसि मज्जति ।

यस्य तस्यायुषः प्राप्तमन्तमाहुर्मनीषिणः ॥ १७ ॥

जिस पुरुष का थूक वा कफ (बलग़म) और पुरीष (टट्टी) जल में डूब जाती है, बुद्धिमान् चिकित्सक उसे आसन्नमृत्यु कहते हैं।

निष्ठ्यूते यस्य दृश्यन्ते वर्णा बहुविधाः पृथक् ।

तच्च सीदत्यपः[1] प्राप्य न स जीवितुमर्हति ॥ १८ ॥

जिसके थूक में नाना प्रकार के पृथक् पृथक् वर्ण दिखाई दें और यदि वह जल में डालने पर डूब जाय तो उसका जीवन दुर्लभ है ॥१८॥

पित्तमूष्मानुगं यस्य शङ्खौ प्राप्य विमूर्च्छति ।

स रोगः शङ्खको नाम्ना त्रिरात्राद्धन्ति जीवितम् ॥ १९ ॥

ऊष्मा के अनुबन्ध रूप पित्त अथवा ऊष्मायुक्त पित्त जब शंख देशों में पहुंचकर सूख जाता है वह शङ्खक रोग कहाता है । यह रोग मनुष्य को तीन दिन के अन्दर अन्दर मार देता है ॥ १९ ॥

सफेनं रुधिरं यस्य मुहुरास्यात्प्रमुच्यते[2] ।

शूलैश्च तुद्यते कुक्षिः प्रत्याख्येयः स तादृशः ॥ २० ॥

जिस मनुष्य के मुख से झाग युक्त रुधिर निकलता है और कुक्षि वा उदर में शूल होता है, उसे असाध्य जानना चाहिये ॥ २० ॥

बलमांसक्षयस्तीव्रो रोगवृद्धिररोचकः ।

यस्यातुरस्य लक्ष्यन्ते त्रीन् पक्षान्न स जीवति ॥ २१ ॥

जिस रोगी में बल और मांस की क्षीणता, तीव्रता से रोगवृद्धि, अरुचि; ये

---

१ 'सीदेत् पयः' ग. । २ 'प्रसिच्यते' ग. ।

लक्षण दिखाई दें वह तीन पक्ष तक अर्थात् १॥ मास के अन्दर अन्दर मर जायगा ॥ २१ ॥

तत्र श्लोकौ ।

विज्ञानानि मनुष्याणां मरणे प्रत्युपस्थिते ।
भवन्त्येतानि संपश्येदन्यान्येवंविधानि च ॥ २२ ॥
तानि सर्वाणि लक्ष्यन्ते न तु सर्वाणि मानवम् ।
विशन्ति विनशिष्यन्तं तस्माद्बोध्यानि सर्वशः[1] ॥ २३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने यस्यश्याव-
निमित्तीयमिन्द्रियं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

मृत्यु के उपस्थित होने पर ये सब उसके विज्ञान होते हैं । अर्थात् इन से हम निश्चय से जान जाते हैं कि अमुक रोगी वा पुरुष की मृत्यु समीप है । इसी प्रकार इनसे अतिरिक्त अन्य विज्ञानों को भी समझें । ये रिष्ट लक्षण सब के सब देखे जाते हैं । परन्तु नष्ट होने वाले वा मरने वाले एक ही मनुष्य में ये सब के सब नहीं होते । कोई लक्षण किसी में होते हैं, कोई किसी में । परन्तु कहे गये रिष्ट लक्षण सब के सब देखे जाते हैं । अतः चिकित्सक को चाहिये कि इन्हें सम्पूर्ण रूप से जाने ॥ २२–२३ ॥

इति नवमोऽध्यायः ।

दशमोऽध्यायः ।

अथातः सद्योमरणीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम सद्योमरणीय नामक इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । इस अध्याय में वे रिष्ट लक्षण कहे जांयगे

---

१ 'सर्वतः' च. ।

जिनसे सद्योमृत्यु का ज्ञान होता है ॥ १ ॥

सद्यस्तितिक्षंतः प्राणांल्लक्षणानि पृथक् पृथक्।
अग्निवेश प्रवक्ष्यामि संस्पृष्टो यैर्न जीवति ॥ २ ॥

हे अग्निवेश ! अब मैं सद्योमुमूर्षु पुरुषों के लक्षण पृथक् पृथक् कहूंगा, जिनसे युक्त हुआ वह जीवित नहीं रहता। 'सद्यः' से कई तीन दिन और कई सात दिन तक का ग्रहण करते हैं ॥ २ ॥

वाताष्ठीला सुसंवृत्ता तिष्ठन्ती दारुणा हृदि।
तृष्णयाऽभिपरीतस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ३ ॥

हृदय में हुई २ दारुण अत्यन्त बड़ी वातष्ठीला तृष्णा से पीड़ित पुरुष के जीवन को सद्यः चुरा लेती है। जिस पुरुष को हृदय में अत्यन्त प्रवृद्ध वातज अष्ठीला हो और रोगी को बहुत प्यास लगती हो तो वह तीन या सात दिन के अन्दर अन्दर मर जाता है ॥ ३ ॥

पिण्डिके शिथिलीकृत्य जिह्मीकृत्य च नासिकाम्।
वायुः शरीरे विचरन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ४ ॥

वायु शरीर में विचरता हुआ पिण्डलियों को शिथिल करके और नाक को वक्र करके जीवन को सद्यः चुरा लेता है। अर्थात् जब वायु के कारण पिण्डलियां शिथिल हो गई हों और नाक टेढ़ी हो गई हो तो तीन दिन या सात दिन के अन्दर रोगी मर जायगा। ऐसा ही आगे भी समझ लेना ॥ ४ ॥

भ्रुवौ यस्य च्युते स्थानादन्तर्दाहश्च दारुणः।
तस्य हिक्काकरो रोगः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ५ ॥

जिसकी भौंहें अपने स्थान से च्युत होगई हों और दारुण अन्तर्दाह (शरीरके अन्दर जलन) हो तो हिक्का को उत्पन्न करने वाला रोग उसके जीवन

---

१ 'सद्यस्तित्यक्षतः' यो०। प्राणान् सद्यस्तितिक्षत इति 'वर्तमानशरीरेण भोग्यभोगात् सद्यः क्षान्तीकुर्वतः' गङ्गाधरः। 'तितिक्षत इति तितिक्षत इव प्राणानां प्रियत्वेन स्वयं हननायोग्यत्वात्' चक्रः।

२ 'सुसंवृद्धा' यो०।

को सद्यः चुरा लेता है। तात्पर्य यह है कि जिस रोग में भौंहें स्थान-च्युत हों, दारुण अन्तर्दाह हो, हिक्का उत्पन्न हो गई हो तो सद्यः मृत्यु होती है ॥ ५ ॥

क्षीणशोणितमांसस्य वायुरूर्ध्वगतिश्चरन् ।
उभे मन्ये समायम्य[1] सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ६ ॥

जिसका रक्त और मांस क्षीण होगया है उसके शरीर में ऊर्ध्वगति (ऊपर की ओर जाने वाला) वायु संचार करता हुआ दोनों मन्याओं को एक साथ ही खींचकर सद्यः मृत्यु का कारण होता है। अष्टाङ्गसंग्रह ११ अ० में—

'शैथिल्यं पिण्डिके वायुर्नीत्वा नासां च जिह्मताम् ।
क्षीणस्यायम्य मन्ये वा सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ६ ॥

अन्तरेण गुदं गच्छन्नाभिं च[2] सहसाऽनिलः ।
कृशस्य वंक्षणौ गृह्णन् सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ७ ॥

गुदा और नाभि के बीच में वायु सहसा जाता हुआ दोनों वङ्क्षण देशों को पकड़कर अर्थात् वहां तोदादि वेदना उत्पन्न कर कृश पुरुष के जीवन को सद्यः चुरा लेता है ॥ ७ ॥

वितत्य पर्शुकाग्राणि गृहीत्वोरश्च मारुतः ।
स्तिमितस्यायताक्षस्य सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ८ ॥

गीले वस्त्र से आच्छादित होने की तरह अपने को अनुभव करने वाले वा स्तब्ध तथा आयताक्ष (स्फारितनेत्र—जो नेत्र फाड़ फाड़ कर देखता है) पुरुष के पर्शुकास्थियों को विस्तृत करके और छाती में वा फुप्फुसों में व्यथा उत्पन्न कर वायु सद्यः जीवन को चुरा लेता है—मार डालता है। भावार्थ यह है कि जब वायु के कारण ऐसा प्रतीत हो कि कोई पर्शुकास्थियों के सिरों को खींचकर पृथक् २ कर रहा है और छाती जकड़ी गई हो, रोगी स्तब्ध हो, आंखें फाड़

---

१ 'समे यस्य' च. । २ 'गुदं नाभिं चान्तरेण गृह्णाति' च. ।

फाड़ कर देखता हो तो उसकी सद्यः मृत्यु होने वाली है—यह जानना चाहिये ॥ ८ ॥

हृदयं च गुदं[1] चोभे गृहीत्वा मारुतो बली।
दुर्बलस्य विशेषेण सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ९ ॥

बलवान् वायु हृदय और गुदा दोनों को पकड़ कर अर्थात् दोनों में व्यथा उत्पन्न करके विशेषतः दुर्बल मनुष्य की सद्योमृत्यु का करण होता है ॥ ९ ॥

वङ्क्षणं[2] च गुदं[3] चोभे गृहीत्वा मारुतो बली।
श्वासं संजनयञ्जन्तोः सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ १० ॥

बली वायु वङ्क्षण और गुदा दोनों में व्यथा उत्पन्न कर श्वास को पैदा करता हुआ सद्यः घातक होता है ॥ १० ॥

नाभिं[4] मूत्रं बस्तिशीर्षं पुरीषं चापि मारुतः।
विबध्य[5] जनयञ्छूलं सद्यो मुष्णाति जीवितम् ॥ ११ ॥

नाभि मूत्र बस्तिशीर्ष (बस्ति का ऊर्ध्वभाग) तथा पुरीष का विबन्ध करता हुआ वायु शूल को उत्पन्न कर सद्योमारक होता है। 'नाभि' से अभिप्राय अन्तःस्थित आंतों से है ॥ ११ ॥

भिद्येते वङ्क्षणौ यस्य वातशूलैः समन्ततः।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यः प्राणाञ्जहाति सः ॥१२॥

जिस पुरुष में वातशूलों से सब ओर से वङ्क्षणों में विदारणवत् पीड़ा होती है और पुरीष पतला होकर आता है, तृष्णा होती है; वह सद्यः प्राणों का त्याग करता है ॥ १२ ॥

आप्लुतं मारुतेनेह शरीरं यस्य केवलम्।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १३ ॥

जिस पुरुष का सम्पूर्ण देह वायु से व्याप्त होता है, साथ ही

---

१ 'गुदे' ग.। २ 'वंचणौ' ग.। ३ 'गुदे' ग.। ४ 'नाभिं बस्तिशिरो मूत्रं' ग.। ५ 'प्रच्छिन्नं' च.।

पुरीषभेद (मल का पतला आना) और तृष्णा होती है, वह सद्यः प्राणों को त्याग देता है ॥ १३ ॥

शरीरं शोफितं यस्य वातशोफेन देहिनः ।
भिन्नं पुरीषं तृष्णा च सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १४ ॥

जिस मनुष्य का शरीर वातशोफ के कारण सूजा वा फूला होता है और पुरीषभेद एवं तृष्णा होती है वह सद्यः प्राणत्याग करता है ॥१४॥

आमाशयसमुत्थाना[1] यस्य स्यात्परिकर्तिका ।
तृष्णा गुदग्रहश्चोग्रः सद्यो जह्यात्स जीवितम् ॥ १५ ॥

जिसे आमाशय में परिकर्तिका (कर्तनवत् पीड़ा-Colic) हो साथ ही तृष्णा और उग्र गुदग्रह (गुदा में वातज व्यथा) हो तो वह सद्यः मर जाता है। गंगाधर 'आमाशय' की जगह 'पक्वाशय' पढ़ता है । योगीन्द्रनाथ ने तो श्लोक ही दो कर दिये हैं । वह एक में आमाशय और दूसरे में पक्वाशय पढ़ता है । शेष श्लोकभाग एक से ही हैं। अष्टाङ्गसंग्रह शारीर-स्थान ११ अ० में भी पक्वाशय और आमाशय दोनों ही पढ़े हैं।

'यस्यामाशयोत्था परिकर्तिकातितृष्णा शकृद्भेदश्च । यस्य पक्वाशयोत्था परिकर्तिकातितृष्णातिमात्रश्च गुदग्रहः' ॥ १५ ॥

पक्वाशयमधिष्ठाय हत्वा संज्ञां च मारुतः ।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा सद्यो हरति जीवितम् ॥ १६ ॥

वायु पक्वाशय का आश्रय करके संज्ञानाश कर कण्ठ में घुर्घुरक उत्पन्न कर सद्यः जीवन को हर लेता है । कण्ठ से होने वाले घुर घुर शब्द को घुर्घुरक कहा है। यहां पर भी अष्टाङ्गसंग्रह को प्रामाणिक रूप से स्वीकार करते हुए योगीन्द्रनाथ ने दो श्लोक पढ़े है एक तो यही जैसा मूल में पढ़ा गया है। और दूसरे में पक्वाशय की जगह आमाशय पढ़ा है। शेषभाग वैसा का वैसा ही रखा गया है। अष्टाङ्गसंग्रह शारीर ११ अ० में—

'यस्यामपक्वाशयान्यतरमाश्रित्य संज्ञां च हत्वा वायुः कण्ठे घुर्घुरकं

---

[1] 'पक्वाशयसमुत्थाना' ग. ।

करोति' ॥ १६ ॥

दन्ताः कर्दमदिग्धाभा मुखं चूर्णकसंयुतम्।
शिप्रायन्ते च गात्राणि लिङ्गं सद्यो मरिष्यतः ॥ १७ ॥

सद्यः मरने वाले पुरुष के दांत ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे कीचड़ लिपा हुआ हो, मुख पर चूने की तरह श्वेत चूर्ण सा लगा होता है वा झड़ता है और अंगों से अत्यन्त शीतल पसीना टपकता है। ये सब लक्षण भावी सद्यःमृत्यु के चिन्ह हैं ॥१७॥

तृष्णाश्वासशिरोरोगमोहदौर्बल्यकूजनैः।
स्पृष्टः प्राणाञ्जहात्याशु शकृद्भेदेन चातुरः ॥ १८ ॥

तृष्णा श्वास शिरोरोग मोह (मूर्छा) दुर्बलता कूजन (गले से अव्यक्त शब्द करना) तथा शकृद्भेद (पुरीषभेद—मल का पतला होकर आना); इन से युक्त हुआ हुआ रोगी शीघ्र प्राणों को त्याग देता है ॥१८॥

तत्र श्लोकः।

एतानि खलु लिङ्गानि यः सम्यगवबुध्यते।
स जीवितं च मर्त्यानां मरणं चावबुध्यते ॥ १९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने सद्योमरणीयमिन्द्रियं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

जो इन लक्षणों को सम्यक् प्रकार से समझता है वह मनुष्यों के जीवन और मरण को जान जाता है ॥ १९ ॥

इति दशमोऽध्यायः।

एकादशोऽध्यायः।

अथातोऽणुज्योतीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः।

---

१ 'कर्दमचूर्णाभा' च. । २ 'चूर्णकसंनिभम्' च. ।
३ 'सिप्रायन्त इति सिप्रानदीवत् स्वेदप्रादुर्भावादाचरन्तीति सिप्रायन्ते। किंवा सिप्रायन्त इति शिथिला भवन्ति, अनेकार्थत्वाद्धातूनाम्। चक्रः।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब अणुज्योतीय नामक इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था । 'अणुज्योति' शब्द के पूर्व आने से इस अध्याय का नाम अणुज्योतीय रखा है ॥ १ ॥

अणुज्योतिरनेकाग्रो दुश्छायो दुर्मनाः सदा ।
रतिं न लभते याति परलोकं समान्तरम् ॥ २ ॥

जिस पुरुष के शरीर की अग्नि वा जठराग्नि सदा अणु परिमाण में रहती है अर्थात् कायाग्नि वा जाठराग्नि अत्यन्त ही स्वल्प है, जिसका मन एकाग्र नहीं रहता—सदा विक्षिप्त रहता है, जिसकी छाया विकृत है, मन दुःखित है, किसी भी अवस्था में सुख अनुभव नहीं करता वह एक वर्ष के अन्दर अन्दर परलोक का यात्री होगा ॥ २ ॥

बलिं बलिभुजो यस्य प्रणीतं नोपभुञ्जते ।
लोकान्तरगतः पिण्डं भुङ्क्ते संवत्सरेण सः ॥ ३ ॥

बलि को खाने वाले कौए आदि जिस पुरुष से दी गई बलि (भोज्य पदार्थ) को नहीं खाते वह वर्ष के अन्दर २ लोकान्तर (परलोक) में जाकर पिण्ड (श्राद्ध में दिये गये) को खाता है अर्थात् मर जाता है ॥ ३ ॥

सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्यत्यरुन्धतीम् ।
संवत्सरान्ते जन्तुः स संपश्यति महत्तमः ॥ ४ ॥

जो पुरुष सप्तर्षियों के पास ही स्थित अरुन्धती नामक नक्षत्र को नहीं देखता वह वर्ष के अन्त में महान्धकार को देखता है—मर जाता है ॥ ४ ॥

विकृत्या विनिमित्तं यः शोभामुपचयं धनम् ।
प्राप्नोत्यतो वा विभ्रंशं समान्तं[2] न स जीवति ॥ ५ ॥

---

१ 'गन्ता परलोकं समान्तरे' ग. ।
२ 'तस्य जीवितं' ग. ।

अकारण ही जो विकृति से शोभा पुष्टि वा धन को प्राप्त करता है अथवा जिसकी अकारण ही विकृति से शोभा पुष्टि वा धन नष्ट हो जाता है, वह वर्षपर्यन्त तक जीवित नहीं रहता ॥५॥

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम् ।
षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः ॥ ६ ॥

छह मास में मरने वाले पुरुष के भक्ति, शील (सहज स्वभाव), स्मृति, त्याग, बुद्धि, बल; ये छह अकारण ही निवृत्त हो जाते हैं। अर्थात् भक्ति आदि के अकारण ही निवृत्त होने पर उस पुरुष की आयु अधिक से अधिक छह मास ही समझें ॥ ६ ॥

धमनीनामपूर्वाणां जालमत्यर्थशोभनम् ।
ललाटे दृश्यते यस्य षण्मासान्न स जीवति ॥ ७ ॥

जिस पुरुष के मस्तक पर अभूतपूर्व (जो पहिले न हो ऐसा) धमनियों का अति सुन्दर जाल दिखाई दे वह छह मास तक जीवित नहीं रहता ॥ ७ ॥

लेखाभिश्चन्द्रवक्राभिर्ललाटमुपचीयते ।
यस्य तस्यायुषः षड्भिर्मासैरन्तं समादिशेत् ॥ ८ ॥

जिस पुरुष का मस्तक चन्द्रमा के सदृश वक्र रेखाओं से भर जाय उस पुरुष की आयु छह महीने तक शेष है ॥ ८ ॥

शरीरकम्पः संमोहो गतिर्वचनमेव च ।
मत्तस्येवोपलक्ष्यन्ते यस्य मासं न जीवति ॥ ९ ॥

जिस पुरुष में शरीरकम्प (देह का कांपना) संमोह (मूर्च्छा) गति (चलना) और बोलना मत्त पुरुष की तरह दिखाई दें वह मासपर्यन्त जीवित नहीं रहता ॥ ९ ॥

रेतोमूत्रपुरीषाणि यस्य मज्जन्ति चाम्भसि ।
स मासात्स्वजनद्वेष्टा मृत्युवारिणि मज्जति ॥ १० ॥

जिस पुरुष के वीर्य मूत्र और पुरीष (पाखाना) जल में डूब

जाते हैं वह स्वजनों (बन्धु बान्धव स्त्री भृत्य आदि) से द्वेष करने वाला महीने तक मृत्यु-जल में डूब जाता है । स्वजनद्वेष्टा कहने से स्वजनद्वेष को मृत्यु का लक्षण न समझना चाहिये । यह तो केवल काव्य है । चूंकि वह पुरुष सब आत्मीय जनों को छोड़कर परलोक की तय्यारी करता है अतः स्वजन-द्वेष्टा कहाता है । अन्य टीकाकारों ने स्वजनद्वेष्टा से भी आत्मीयजनों से द्वेष को रिष्ट रूप में ग्रहण किया है । और वह भी इस भय से कि अन्यथा यहां पुनरुक्त दोष आता है । पर यहां पुनरुक्त नहीं है । क्योंकि नवमाध्याय में 'मूत्र' नहीं पढ़ा गया, वहां 'निष्ठ्यूत' (थूक) पढ़ा गया है ॥ १० ॥

हस्तपादं मुखं चोभौ विशेषाद्यस्य शुष्यतः ।
शूयेते[2] वा विना देहात्स च मासं[3] न जीवति ॥ ११ ॥

जिसके देह (मध्यशरीर) के विना हाथ पैर और मुख विशेषतः सूख गये हों अथवा सूज गये हों (फूल गये हों) तो वह मास पर्यन्त जीवित नहीं रहता ॥ ११ ॥

ललाटे मूर्ध्नि बस्तौ[4] च नीला यस्य प्रकाशते ।
राजी बालेन्दुकुटिला न स जीवितुमर्हति ॥ १२ ॥

जिस पुरुष के ललाट पर अथवा बस्तिदेश में मूर्धादेश पर अर्थात् बस्तिशीर्ष (बस्ति का ऊपर का भाग जहां रहता है) पर बालचन्द्रमा के सदृश वक्र नीलवर्ण की रेखा दिखाई दे तो वह जीवित नहीं रहता ॥ १२ ॥

---

१ " रेत इत्याद्यरिष्टम्, 'निष्ठ्यूतं च पुरीषं' इत्यादिना यद्यप्युक्तं, तथापीह समासवचनात् समुदितानामेव रेतःप्रभृतीनां मज्जनं स्वजनद्वेषे सति मारकं भवतीति ज्ञेयम् " चक्रः । 'यद्यपि नवमाध्याये निष्ठ्यूतञ्च पुरीषं चेत्यादिना रिष्टमिदमुक्तं, तथाप्यत्र स्वजनद्वेष्टृत्वलक्षणमधिकमिति लक्षणान्तरमिदं न पुनरुक्तम्' गङ्गाधरः । 'शुक्रादीनामम्भसि मज्जनात् स्वजनद्वेषाच्च मासात् मरणं' योगीन्द्रः ॥ २ 'शुष्यते वा विना दाहात्' च. । ३ 'मासाद्विनश्यति' ग. । ४ 'बस्तिशीर्षे वा' ग. ।

प्रवालगुटिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिकाः ।
उत्पद्याशु विनश्यन्ति न चिरात्स विनश्यति ॥ १३ ॥

जिसके शरीर पर प्रवाल (मूंगे) की गुटिका (गोली) के सदृश आभा युक्त मसूरिकायें (चेचक के सदृश विस्फोट) उत्पन्न हो कर शीघ्र ही नष्ट हो गई हैं वह शीघ्र ही मरने वाला है ॥ १३ ॥

ग्रीवावमर्दो बलवाञ्जिह्वाश्वयथुरेव च ।
ब्रध्नास्यगलपाकश्च यस्य पक्वं तमादिशेत् ॥ १४ ॥

जिस व्यक्ति में बलवान् ग्रीवावमर्द (गर्दन में मर्दनवत् पीड़ा) हो, जिह्वा शोथयुक्त हो, ब्रध्न (गुदा) आस्य (मुख) और गला पका हुआ हो उसे पका हुआ जाने-वह गतायु है ॥ १४ ॥

संभ्रमोऽति प्रलापोऽति भेदोऽस्थ्नामतिदारुणः ।
कालपाशपरीतस्य त्रयमेतत्प्रवर्तते ॥ १५ ॥

काल के पाश (फन्दे) में फंसे हुए पुरुष में अत्यन्त संभ्रम (भ्रान्ति अथवा Giddiness) अत्यधिक प्रलाप तथा अति दारुण अस्थिभेद (हड्डियों में भेदनवत् पीड़ा); ये तीनों प्रवृत्त होते हैं । जिस पुरुष में अति सम्भ्रम आदि तीनों लक्षण हों उसे यम के पाश में बंधा हुआ जानना चाहिये-वह शीघ्र ही मर जायगा ॥ १५ ॥

प्रमुह्य लुञ्चयेत्केशान् परिगृह्णात्यतीव च ।
नरः स्वस्थवदाहारमबलः कालचोदितः ॥ १६ ॥

काल अर्थात् मृत्यु द्वारा प्रेरित (आसन्नमृत्यु) निर्बल मनुष्य मोह को प्राप्त होकर केशों को उखाड़ता है और स्वस्थ पुरुष की तरह अत्यधिक आहार खाता है । अभिप्राय यह है कि यदि मनुष्य निर्बल है परन्तु स्वस्थ पुरुष की तरह ही आहार खाता है और बेहोश होकर केशों को उखाड़ता है तो उसे गतायु जानें ॥ १६ ॥

---

१ 'विलीयन्ते' ग. । २ 'पर्वभेदश्च दारुणः' ग. । ३ 'परान् गृह्णात्यतीव च' ग. । तत्र-अतीव च परान् गृह्णाति तथा यथा प्रायेण कष्टात् मुच्यन्ते। इत्यर्थः ॥ ४ 'स्वस्थवदाहारवचनः' ग. ।

समीपे चक्षुषोः कृत्वा मृगयेताङ्गुलीकरम् ।
स्मयतेऽपि च कालान्ध ऊर्ध्वगानिमिषेक्षणः ॥ १७ ॥

जो पुरुष खुले हुए नेत्रों से ऊपर की ओर देखता हुआ नेत्रों के पास (अंगुली और हाथ को) लाकर अंगुली वा हाथ को ढूंढता है और मुस्कराता है वह कालान्ध होता है—उसे काल ने-मृत्यु ने अन्धा किया होता है—वह शीघ्र मर जाने वाला होता है ॥ १७ ॥

शयनादासनादङ्गात्काष्ठात्कुड्यादथापि वा ।
असन्मृगयते किंचित्स मुह्यन्कालचोदितः ॥ १८ ॥

जो मोह को प्राप्त हुआ हुआ शय्या वा बिछौना, आसन अपने अङ्ग, काष्ठ (लकड़ी वा लकड़ी से बने कुर्सी चौकी आदि) वा दीवार पर से वस्तु के न होते हुए भी ऐसी चेष्टायें करे जैसे किसी वस्तु को ढूंढता हो (वा चुनता हो) वह काल-प्रेरित है—शीघ्र मृत्यु का ग्रास होने वाला है ॥ १८ ॥

अहास्यहासी संमुह्यन् प्रलेढि दशनच्छदौ ।
शीतपादकरोच्छ्वासो यो नरो न स जीवति ॥ १९ ॥

जो मोह को प्राप्त होता हुआ पुरुष हंसी के किसी विषय के न होने पर भी हंसता है, होठों को चाटता है और जिसके पैर हाथ तथा उच्छ्वास ठण्डे हैं; वह नहीं जीता ॥ १९ ॥

आह्वयन्तं समीपस्थं स्वजनं जनमेव वा ।
महामोहावृतमनाः पश्यन्नपि न पश्यति ॥ २० ॥

महामोह से आच्छादित मन वाला पुरुष समीपस्थित आत्मीय वा किसी अन्य जन के आह्वान (बुलाने) करने पर देखते हुए भी नहीं देखता अर्थात् जो किसी आत्मीय जन के बुलाने पर उस ओर देखते हुए भी उसे पहिचान न सके तो वह मरने वाला है । उस समय वह न शब्द को और न रूप को पहिचानता है । 'आह्वयंस्तं'

---

१ 'ऊर्ध्वाक्षोऽनिमिषेक्षणः' ग. । २ 'आह्वयंस्तं' ग. ।

यह पाठ होने पर निम्न अर्थ होगा। आसन्नमृत्यु पुरुष अपने समीप स्थित आत्मीय जन वा किसी अन्य मनुष्य को ऊंची आवाज से बुलाता है (जैसे वह वहां न हो) और देखते हुए भी उसे देखता नहीं ॥२०॥

अयोगमतियोगं वा शरीरे मतिमान् भिषक् ।
खादीनां युगपद्दृष्ट्वा भेषजं नावचारयेत् ॥ २१ ॥

बुद्धिमान् चिकित्सक को चाहिये कि वह शरीर में आकाश आदि पञ्च महाभूतों के अयोग और अतियोग को युगपत् (एकसाथ) देखकर चिकित्सा न करे । अर्थात् यदि पञ्च महाभूतों में से किसी की क्षय और वृद्धि युगपत् दिखाई दे तो वह मृत्यु सूचक है । इनकी क्षय और वृद्धि इन महाभूतों के शरीरस्थित गुणों वा लिङ्गों की न्यूनाधिकता से अथवा उस भूतसम्बन्धी इन्द्रिय के विषय के ग्रहण के परिमाण से जानी जासकती है। महाभूतों के ये गुण वा लिङ्ग शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में संक्षेपतः कहे जा चुके हैं—

'महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा ।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥
खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् ।
आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रमम्' ॥

सुश्रुत शारीरस्थान प्रथम अध्याय में भी भूत सम्बन्धी गुण दर्शाये गये हैं—

'आन्तरिक्षास्तु शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च । वायव्यास्तु स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च । तैजसास्तु रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च । आप्यास्तु रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च । पार्थिवास्तु गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥'

इनकी व्याख्या अपने २ स्थलों पर देख लेनी चाहिये । इनमें न्यूनता वा अधिकता के युगपत् प्रगट होने पर मृत्यु निश्चित है ॥ २१ ॥

अतिप्रवृद्ध्या रोगाणां मनसश्च बलक्षयात् ।
वासमुत्सृजति क्षिप्रं शरीरी देहसंज्ञकम् ॥ २२ ॥

रोगों के अत्यन्त बढ़ जाने और मनोबल के क्षीण हो जाने से प्राणी शीघ्र ही देहनामक भवन का त्याग कर देता है--मर जाता है।

वर्णस्वरावग्निबलं वागिन्द्रियमनोबलम् ।
हीयतेऽसुक्षये निद्रा नित्या भवति वा न वा ॥ २३ ॥

प्राणों के क्षीण होने पर अर्थात् मृत्युकाल के उपस्थित होने पर वर्ण, स्वर, अग्निबल, वाणी इन्द्रिय और मन का बल अति न्यून हो जाता है। उस समय या तो वह पुरुष सदा सोया ही रहता है अथवा उसे सर्वथा निद्रा आती ही नहीं ॥ २३ ॥

भिषग्भेषजपानान्नगुरुमित्रद्विषश्च ये ।
वशगाः सर्व एवैते बोद्धव्याः समवर्तिनः ॥ २४ ॥

चिकित्सक औषध पेयपदार्थ भोज्यपदार्थ गुरु तथा मित्र के द्वेषी; ये सब के सब समवर्ती (सब के साथ समान बर्ताव करने वाला) अर्थात् यम के वशगामी ही जानने चाहियें। अर्थात् जो चिकित्सक से द्वेष करता है अर्थात् उसे चिकित्सा की व्यवस्था के लिये बुलाता नहीं, जो सुव्यवस्थित औषध ही नहीं खाता, जिसने अन्नपान त्याग दिया है, जो अपने पूज्य गुरु वा सन्मित्रों से रुग्णावस्था में परामर्श नहीं करता; वह अवश्य ही मृत्यु का ग्रास होगा ॥ २४ ॥

एतेषु रोगः क्रमते भेषजं प्रतिहन्यते ।
नैषामन्नानि भुञ्जीत न चोदकमपि स्पृशेत् ॥ २५ ॥

इन चिकित्सक-द्वेषी आदि उपर्युक्त पुरुषों में रोग बढ़ता है, औषध गुण से हीन हो जाती है वह अपना रोगनिवारण का कार्य नहीं करती। ऐसे पुरुषों के अन्न को न खाये और उनके जल को छूए तक भी नहीं ॥ २५ ॥

पादाः समेताश्चत्वारः संपन्नाः साधकैर्गुणैः ।

व्यर्था गतायुषो द्रव्यं विना नास्ति गुणोदयः ॥ २६ ॥

गतायु पुरुष में तो साधक गुणों से युक्त चिकित्सा के चारों पादों के समुपस्थित होने पर भी वे निष्फल होते हैं। द्रव्य के विना गुणों का उदय नहीं हो सकता अर्थात् आयु के होने पर ही चतुष्पाद से सिद्धि होती है, जब आयु ही न हो तो चिकित्सक आदि चारों पाद क्या कर सकते हैं ? ज्योतिस्तत्त्व में भी कहा है—

'आयुष्ये कर्मणि क्षीणे लोकोऽयं दूयते यदा ।
नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः ॥
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥ २६ ॥

परीक्ष्यमायुर्भिषजा नीरुजस्यातुरस्य च ।
आयुर्वेदफलं कृत्स्नमायुर्देह्यनुवर्तते ॥ २७ ॥

वैद्य को चाहिये कि वह स्वस्थ तथा रोगी दोनों की आयु की परीक्षा करे। क्योंकि आयुर्वेद का पूर्ण फल आयु ही है । और देही (प्राणी) उसी आयु का अनुवर्तन करता है। अर्थात् जब तक आयु है तब तक ही प्राणी जीवित है वा वह देही वा प्राणी कहाता है । आत्मा का सम्बन्ध शरीर आदि के साथ तभी तक है जब तक आयु है॥

तत्र श्लोकः ।

क्रियापथमतिक्रान्ताः केवलं देहमाप्लुताः ।
चिह्नं कुर्वन्ति यद्दोषास्तदरिष्टं निरुच्यते ॥ २८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थानेऽणुज्योतीयमिन्द्रियं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अरिष्ट का लक्षण—चिकित्सा-पथ को लांघकर और सम्पूर्ण शरीर में फैले हुए वात आदि दोष जिस जिस चिह्न को करते हैं वह अरिष्ट कहाता है। ये लक्षण शरीर-गत रिष्ट का है। दूत आदि द्वारा

---

१ 'द्रव्याद्विना' ग. । २ 'आयुर्ज्ञे ह्यनु०' यो० ।
३ 'दोषा यत् कुर्वते चिह्नं' ग. ।

जो अरिष्ट का निश्चय होता है उसका यह लक्षण नहीं ॥२८॥

इत्येकादशोऽध्यायः ।

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातो गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम गोमयचूर्णीय नामक इन्द्रिय की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्धनि जायते ।
सस्नेहं भ्रश्यते चैव मासान्तं तस्य जीवितम् ॥ २ ॥

जिस मनुष्य के शिर पर गोबर के चूर्ण के सदृश परन्तु स्निग्ध चूर्ण उत्पन्न होता है और विलीन हो जाता है; उसका जीवन एक मास पर्यन्त अवशिष्ट है । सुश्रुत में भी कहा है—

'गोमयचूर्णप्रकाशस्य वा रजसो दर्शनमुत्तमाङ्गे विलयनञ्च ॥'

गंगाधर ने 'सस्नेहं' के स्थल पर 'सस्नेहे' पढ़ा है । इस पाठ के अनुसार अर्थ यह होगा कि जिस मनुष्य के सिर पर गोमय-चूर्ण के सदृश चूर्ण उत्पन्न हो गया हो और तेल आदि स्नेह लगाने से जो चूर्ण विलीन हो जाय उस मनुष्य का एक मास पर्यन्त जीवन शेष है ॥ २ ॥

निकषन्निव यः पादौ च्युतांसः परिधावति ।
विकृत्या न स लोकेऽस्मिंश्चिरं वसति मानवः ॥ ३ ॥

जो मनुष्य विकृति के कारण अपने पैरों को भूमि पर घर्षण करते हुए की तरह तथा अंसदेश को च्युत किए हुए दौड़ता है वह इस लोक में देर तक नहीं बसता । अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य ऐसे दौड़ता है जैसे उसकी स्कन्ध और बाहु की सन्धि शिथिल हो

१ 'सस्नेहे' ग. । २ 'निर्घर्षन्निव' ग. ।

और पैरों को आपस में वा भूमि पर रगड़ता जाय उसे गतायु जानना चाहिये । परन्तु यह चेष्टा स्वाभाविक न होनी चाहिये अपितु विकृति से हो और यह विकृति भी अकारण होनी चाहिये ॥ ३ ॥

यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरो भृशम् ।
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोऽर्धमासं न जीवति ॥ ४ ॥

जिस पुरुष के स्नान और अनुलेपन के पश्चात् अन्य अङ्गों के गीला रहते हुए सबसे पूर्व छाती सूख जाती है, वह १५ दिन भी नहीं जीता है ॥ ४ ॥

यमुद्दिश्यातुरं वैद्यः संवर्तयितुमौषधम्[1] ।
यतमानो न शक्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ५ ॥

जिस रोगी को औषध का प्रयोग कराने का प्रयत्न करते हुए भी वैद्य प्रयोग न करासके उसका जीवन दुर्लभ है ॥ ५ ॥

विज्ञातं बहुशः सिद्धं विधिवच्चावचारितम् ।
न सिध्यत्यौषधं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ६ ॥

जिस औषध को वैद्य अच्छी प्रकार नाम रूप गुण योग आदि से पहिचानता हो और प्रयोग कराने से बहुशः सिद्धि देने वाली सिद्ध हुई हो अर्थात् अनुभूत वा अक्सीर हो परन्तु अब विधिवत् प्रयोग कराने पर भी उससे किञ्चिन्मात्र लाभ न हो तो उस रोगी की चिकित्सा ही नहीं, यह जानना चाहिये—वह मर जायगा ॥ ६ ॥

आहारमुपयुञ्जानो भिषजा सूपकल्पितम् ।
यः फलं तस्य नाप्नोति दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ७ ॥

वैद्य द्वारा अच्छी प्रकार प्रस्तुत किये गये आहार का उपयोग करने पर भी यदि कोई मनुष्य उस आहार के फल (पुष्टि बल आदि) को प्राप्त नहीं होता तो उस मनुष्य का जीवन दुर्लभ है ॥ ७ ॥

दूताधिकारे वक्ष्यामो लक्षणानि मुमूर्षताम् ।

---

१ ' संपादयितुमौषधं ' ग. ।

यानि दृष्ट्वा भिषक् प्राज्ञः प्रत्याख्यायादसंशयम् ॥ ८ ॥

अब हम दूताधिकार में मुमूर्षु पुरुषों के लक्षण कहेंगे जिन्हें बुद्धिमान् चिकित्सक देखकर निःसन्देह असाध्यता को कह सकता है ॥

मुक्तकेशेऽथवा नग्ने रुदत्यप्रयतेऽथवा ।
भिषगभ्यागतं दृष्ट्वा दूतं मरणमादिशेत् ॥ ९ ॥

जब केश खोले हुए हों वा नग्न हो वा रोता हो अथवा मल आदि के स्पर्श से अपवित्र हो ऐसे समय जब वैद्य को बुलाने के लिये दूत आये तो वैद्य उसे देखकर रोगी की मृत्यु जताये । अर्थात् जिस समय वैद्य ने अपने केश खोले हुए हों इत्यादि उस समय यदि रोगी द्वारा भेजा हुआ दूत वहां बुलाने के लिये पहुंचता है तो रोगी की मृत्यु का निश्चय होता है ॥ ९ ॥

सुप्ते भिषजि ये दूताश्छिन्दत्यपि च भिन्दति ।
आगच्छन्ति भिषक् तेषां न भर्तारमनुव्रजेत् ॥ १० ॥

जो दूत वैद्य के सोये हुए अथवा किसी वस्तु को काटते तोड़ते फाड़ते वा चीरते समय आते हैं,वैद्य को चाहिये कि वह उनके पालक वा स्वामी-रोगी की चिकित्सा के लिये न जाय ॥ १० ॥

जुह्वत्यग्निं तथा पिण्डं पितृभ्यो निर्वपत्यपि ।
वैद्ये दूता य आयान्ति ते घ्नन्ति प्रजिघांसवः ॥ ११ ॥

जो दूत वैद्य के होम करते समय अथवा पितरों को पिण्ड देते समय आते हैं, वे दूत घातक होते हैं और रोगी को मार देते हैं । अर्थात् दूतों के मन में रोगी के घात की इच्छा तो नहीं होती पर दैव से प्रेरित हुए वे ऐसे समय पर वैद्य के आह्वान को पहुंचते हैं जिससे रोगी की मृत्यु का पता लगता है । अतएव उन्हें यहां 'जिघांसु' (हनन की इच्छा वाला) कहा है । सुश्रुत सू० २९ अ० में—

' दक्षिणाभिमुखं देशे त्वशुचौ वा हुताशनम् ।

ज्वलयन्तं पचन्तं वा क्रूरकर्मणि चोद्यतम् ॥
नग्नं भूमौ शयानं वा वेगोत्सर्गेषु वाऽशुचिम् ।
प्रकीर्णकेशमभ्यक्तं स्विन्नं विक्लवमेव वा ॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।
वैद्यस्य पैत्र्ये दैवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने ''॥ ११ ॥

कथयत्यप्रशस्तानि चिन्तयत्यथवा पुनः ।
वैद्ये दूता मनुष्याणामागच्छन्ति मुमूर्षताम् ॥ १२ ॥

जब वैद्य किसी अप्रशस्त वा अशुभ बात को कहता हो वा सोच रहा हो उस समय मुमूर्षु पुरुषों के दूत आया करते हैं । अभिप्राय यह है कि ऐसे समय दूत का आना रोगी की मृत्यु का सूचक है॥१२॥

मृतदग्धविनष्टानि भजति व्याहरत्यपि ।
अप्रशस्तानि चान्यानि वैद्ये दूता मुमूर्षताम् ॥ १३ ॥

जब वैद्य मृत दग्ध वा विनष्ट हुए पुरुष वा अन्य वस्तु के विषय में कोई कार्य कर रहा हो (जैसे शव के साथ जाना आदि) अथवा अन्य कोई अशुभ कह रहा हो, तब जो दूत आते हैं वे मुमूर्षु पुरुष के लक्षणरूप हैं ॥ १३ ॥

विकारसामान्यगुणे देशे कालेऽथवा भिषक् ।
दूतमभ्यागतं दृष्ट्वा नातुरं तमुपाचरेत् ॥ १४ ॥

वैद्य विकार के समान गुण वाले दश अथवा काल में दूत को आया देखकर उस रोगी की चिकित्सा न करे । उदाहरणार्थ यदि कफ़ज रोग हो और दूत आये तब जब वैद्य जल आदि के समीप हो वा पूर्वाह्ण (प्रातः) काल हो तो वह रोगी—जिसने उस दूत को भेजा है—असाध्य है । सुश्रुत सू० अ० २९ में भी—

खिन्नाभितप्ता मध्याह्ने ज्वलनस्य समीपतः ।
गर्हिताः पित्तरोगेषु दूता वैद्यमुपागताः ॥
त एव कफरोगेषु कर्मसिद्धिकराः स्मृताः ।

एतेन शेषं व्याख्यातं बुद्ध्वा संविभजेत्तु तत् ॥ १४ ॥

दीनभीतद्रुतत्रस्तमलिनामसतीं स्त्रियम् ।

त्रीन् व्याकृतांश्च षण्डांश्च दूतान्विद्यान्मुमूर्षताम् ॥ १५ ॥

दीन, भयभीत, दौड़कर आते हुए, त्रस्त वा मलिन वेश में दूतों को देखकर रोगी को मुमूर्षु जाने । यदि कोई असती (असाध्वी) स्त्री वैद्य को बुलाने आवे तो रोगी को मुमूर्षु जाने । यदि तीन दूत मिलकर आवें तथा यदि दूत विकृत आकृति वाले (लङ्गड़े लूले अन्धे आदि) हों वा नपुंसक हों तो रोगी को मुमूर्षु जानें । सुश्रुत सू० अ० २९ में–

'पाखण्डाश्रमवर्णानां सपक्षाः कर्मसिद्धये ।
त एव विपरीताः स्युर्दूताः कर्मविपत्तये ॥
नपुंसकं स्त्री बहवो नैककार्या असूयकाः ।
गर्दभोष्ट्ररथप्राप्ताः प्राप्ता वा स्युः परम्पराः ॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ।
पाशदण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवाससः ॥
आर्द्रजीर्णापसव्यैकमलिनोद्ध्वस्तवाससः ।
न्यूनाधिकाङ्गा उद्विग्ना विकृता रौद्ररूपिणः' ॥ १५ ॥

अङ्गव्यसनिनं दूतं लिङ्गिनं व्याधितं तथा ।

संप्रेक्ष्य चोग्रकर्माणं न वैद्यो गन्तुमर्हति ॥ १६ ॥

जिसका कोई अंग कटा हुआ हो, लिङ्गी (धर्मध्वजी अथवा जिसके बाह्यचिह्न ही हों वस्तुतः सन्यासी न हो—नकली साधु) रोगी तथा उग्रकर्म (कसाई आदि का) करने वाले दूत को देखकर वैद्य रोगी को देखने के लिये न जाय ॥ १६ ॥

आतुरार्थमनुप्राप्तं खरोष्ट्ररथवाहनम् ।

दूतं दृष्ट्वा भिषग्विद्यादातुरस्य पराभवम् ॥ १७ ॥

रोगी के लिये गदहे वा ऊंट की सवारी पर बैठकर आये हुए दूत को देखकर वैद्य रोगी की मृत्यु का निश्चय करे ॥ १७ ॥

पलालबुषमांसास्थिकेशलोमनखद्विजान् ।
मार्जनी मुसलं सूर्पमुपानच्चर्म विच्युतम् ॥ १८ ॥
तृणकाष्ठतुषाङ्गारं स्पृशन्तो लोष्टमश्म च ।
तत्पूर्वदर्शने दूता व्याहरन्ति मुमूर्षताम् ॥ १९ ॥

वैद्य के प्रथम दर्शन में ही पलाल (पराली, पुआल, जब गेहूं वा चावल आदि धान्य पृथक् कर लिया जाय तब वह फलशून्य काण्ड-समूह पलाल कहाता है), बुष (धान्य का छिलका, तुष), मांस, हड्डी, केश, लोम, नख, दांत, मार्जनी (झाड़ू, बुहारी), मूसल, सूर्प (छाज), गिरा हुआ जूते का चमड़ा, तृण, काष्ठ (लकड़ी), तुष, अङ्गारा, लोष्ट (मिट्टी का ढेला), पत्थर वा कंकर को छूते हुए दूत रोगी की मृत्यु को कहते हैं । अर्थात् जब वैद्य ने पूर्व उस दूत को न देखा हो और पहिली ही वार यदि पुआल आदि को स्पर्श करता हुआ दूत दिखाई दे तो वह रोगी जिसके लिये वह आया है उसकी मृत्यु हो जायगी—यह जाने । सुश्रुत सू० २९ अ० में—

'पाशदण्डायुधधराः पाण्डुरेतरवाससः ।
आर्द्रजीर्णापसव्यैकमलिनध्वस्तवाससः ॥
न्यूनाधिकाङ्गा उद्विग्ना विकृता रौद्ररूपिणः ।
रूक्षनिष्ठुरवादाश्चाप्यमाङ्गल्याभिधायिनः ॥
छिन्दन्तस्तृणकाष्ठानि स्पृशन्तो नासिकां स्तनम् ।
वस्त्रान्तानामिकाकेशनखरोमदशास्पृशः ॥
स्रोतोऽवरोधहृद्गण्डमूर्धोरःकुक्षिपाणयः ।
कपालोपलभस्मास्थितुषाङ्गारकराश्च ये ॥
विलिखन्तो महीं किञ्चिन्मुञ्चन्तो लोष्टभेदिनः ।
तैलकर्दमदिग्धाङ्गाः रक्तस्रगनुलेपनाः ॥
फलं पक्वमसारं वा गृहीत्वाऽन्यत्र तद्विधम् ।

१ 'मार्जनीसूर्पमुषलान्युपानच्चर्मविच्युते' ग. ।

नखैर्नखान्तरं वापि करेण चरणं तथा ॥
उपानच्चर्महस्ता वा विकृतव्याधिपीडिताः ।
वामाचारा रुदन्तश्च श्वासिनो विकृतेक्षणाः ॥
याम्यां दिशं प्राञ्जलयो विषमैकपदे स्थिताः ।
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः ' ॥ १८—१९ ॥

यस्मिंश्च दूते ब्रुवति वाक्यमातुरसंश्रयम् ।
पश्येन्निमित्तमशुभं तं च नानुव्रजेद्भिषक् ॥ २० ॥

रोगी के संदेशे को कहते हुए वैद्य यदि अशुभ निमित्त (अपशकुन) को देखे तो उसे चाहिये कि वह उसके साथ रोगी को देखने न जाय—अर्थात् रोगी मर जायगा ॥ २० ॥

तथा व्यसनिनं प्रेतं प्रेतालङ्कारमेव वा ।
भिन्नं दग्धं विनष्टं वा तद्वादीनि वचांसि वा ॥ २१ ॥
रसो वा कटुकस्तीव्रो गन्धो वा कौणपो महान् ।
स्पर्शो वा विपुलः क्रूरो यद्वाऽन्यदशुभं भवेत् ॥ २२ ॥
तत्पूर्वमभितो वाक्यं वाक्यकालेऽथवा[1] पुनः ।
दूतानां व्याहृतं श्रुत्वा धीरो मरणमादिशेत् ॥ २३ ॥

दूत के रोगी की अवस्था को कहनेसे ठीक पूर्व,कहने में वा कहते समय व्यसनयुक्त (जैसे नाक कान आदि का कटा हुआ होना), प्रेत (मृत), मृत का अलङ्कार, भिन्न (टूटी हुई कोई पात्र आदि वस्तु) दग्ध (जली हुई) वा विनष्ट (खोई हुई) वस्तु देखे अथवा इनके बताने वाले वचनों को सुने अथवा तीव्र कटु रस का स्वाद ले अथवा शव की गन्ध के सदृश अत्यधिक दुर्गन्ध को सूंघे अथवा यदि अत्यधिक क्रूर स्पर्श करे अथवा अन्य भी जो कुछ अशुभ होता है उसका अनुभव करे तो धीर वैद्य उसके वचन को सुनकर रोगी की मृत्यु का निश्चय करे ॥ २१—२३ ॥

---

१ ' कृत्वा ' पा० ।

इति दूताधिकारोऽयमुक्तः कृत्स्नो मुमूर्षताम् ।
पथ्यातुरकुलानां च वक्ष्याम्यौत्पातिकं पुनः ॥ २४ ॥

यह मुमूर्षु पुरुषों का ज्ञान कराने वाला दूताधिकार सम्पूर्णतया कह दिया है । अब मार्ग में होने वाले और रोगी के कुल में होने वाले औत्पातिक (उत्पात-सम्बन्धी—मरण का निर्देश करने वाले) भाव कहे जायंगे ॥ २४ ॥

अवक्षुतमथोत्क्रुष्टं स्खलनं पतनं तथा ।
आक्रोशः संप्रहारो वा प्रतिषेधो विगर्हणम् ॥ २५ ॥
वस्त्रोष्णीषोत्तरासङ्गश्छत्रोपानद्युगाश्रयम् ।
व्यसनं[1] दर्शनं चापि मृतव्यसनिनां तथा ॥ २६ ॥
चैत्यध्वजपताकानां पूर्णानां पतनानि च ।
हतानिष्टप्रवादाश्च दूषणं[2] भस्मपांशुभिः ॥ २७ ॥
पथच्छेदो बिडालेन शुना सर्पेण वा पुनः ।
मृगद्विजानां क्रूराणां गिरो दीप्तां दिशं प्रति ॥ २८ ॥
शयनासनयानानामुत्तानानां प्रदर्शनम्[3] ।
इत्येतान्यप्रशस्तानि सर्वाण्याहुर्मनीषिणः ॥ २९ ॥
एतानि पथि वैद्येन पश्यताऽऽतुरवेश्मनि[4] ।
शृण्वता च न गन्तव्यं तदागारं विपश्चिता ॥ ३० ॥

रोगी को देखने के लिये चलते समय मार्ग में छींक, उत्क्रुष्ट (डर के मारे ऊंचा रोने का शब्द वा चीत्कार सुनना), फिसलना, गिरना, आक्रोश (दीनता से भरा रोना), सम्प्रहार (आघात वा लड़ाई), प्रतिषेध (निषेध, न जाओ ऐसा कहना), विगर्हण (निन्दा), वस्त्र पगड़ी वा दुपट्टे का अटकना (कांटे आदि में फंसकर रुकना), छत्र (छतरी)

---

१ 'पतनं दर्शनं वापि मृतं व्यसनिनं तथा' ग. ।
२ 'भूषणं' च. 'दर्शनं' पा० । ३ 'व्रजतां दर्शनं चैव' ग. ।
४ 'पश्यताऽऽतुरवर्त्मनि' ग. ।

का फटना वा गिरना, जूतों के जोड़े का फटना वा पैरों से निकल जाना, मृत तथा छिन्ननासा वा छिन्नकर्ण आदि अंगहीन पुरुष का दर्शन, पूर्ण चैत्य ध्वज (झण्डा) तथा पताका (झण्डी) का गिरना (अथवा ' पूर्णानां ' को चैत्य आदि का विशेषण न मानने पर जल-पूर्ण घड़े आदि का गिरना यह अर्थ होगा) हतप्रवाद (किसी के मर जाने वा मारे जाने का समाचार) वा किन्हीं अनिष्ट समाचारों का सुनना, राख वा धूल का व्याप्त होना अथवा राख वा धूल के पड़ने से देह वस्त्र आदि का मैला होना, बिल्ली कुत्ता अथवा सांप का मार्ग काट-कर जाना, क्रूर (हिंसक) पशु पक्षियों के शब्द का सुनना, किसी ओर आग आदि लगी हुई हो उस दिशा की ओर अथवा दक्षिण दिशा की ओर जाना अथवा दीप्त दिशा की ओर पशुपक्षिओं का शोर होना, शयन (चारपाई पलङ्ग आदि) आसन (चौकी वा कुर्सी आदि) अथवा यान (सवारी—टांगा मोटर बैलगाड़ी आदि) इनका उलटा हुआ दिखाई देना (अर्थात् टांगें वा पहियें आदि का ऊपर की ओर होना) बुद्धिमानों ने ये सब अशुभ कहे हैं । विद्वान् वैद्य इन्हें मार्ग में देखते हुए वा रोगी के गृह पर सुनते हुए उस रोगी के गृह वा कमरे में न जाये ॥ २५-३० ॥

इत्यौत्पातिकमाख्यातं पथि वैद्यविगर्हितम् ।
इमामपि च बुध्येत गृहावस्थां मुमूर्षताम् ॥ ३१ ॥

ये मार्ग में वैद्यों द्वारा निन्दित औत्पातिक भाव कह दिये हैं। और वैद्य मुमूर्षु पुरुषों की इस गृह की अवस्था को भी समझ ले। कही जाने वाली रोगी के गृह की अवस्थायें भी औत्पातिक हैं। ये भी उत्पात अर्थात् मृत्यु आदि को जताती हैं ॥ ३१ ॥

प्रवेशे पूर्णकुम्भाग्निमृद्बीजफलसर्पिषाम् ।
वृषब्राह्मणरत्नान्नदेवतानां विनिर्गतिम् ॥ ३२ ॥
अग्निपूर्णानि पात्राणि भिन्नानि विशिखानि च ।

१ '०रत्नानां देवतानां' ग.। २ 'विशिकानि' पा०। तत्र शून्यानि इत्यर्थः।

भिषङ्मुमूर्षतां वेश्म प्रविशन्नेव पश्यति ॥ ३३ ॥

चिकित्सक मुमूर्षु पुरुषों के घर में घुसते ही प्रवेश के समय जल आदि से पूर्ण घड़ा अग्नि मिट्टी बीज फल घी बैल वा सांड ब्राह्मण रत्न अन्न वा देवता का निकलना देखता है तथा अग्नि से पूर्ण पात्र अर्थात् यज्ञ-कुण्ड आदि को टूटा हुआ और ज्वालारहित देखता है ॥

छिन्नभिन्नविदग्धानि भग्नानि मृदितानि च।
दुर्बलानि च सेवन्ते मुमूर्षोर्वैश्मिका जनाः ॥ ३४ ॥

मुमूर्षु पुरुप के घर में रहने वाले छिन्न भिन्न जले हुए भग्न (टूटे हुए) मृदित (मले गये वा कुचले गये) वा दुर्बल पात्र आदि वस्तुओं से कार्य करते हैं। अर्थात् छिन्न आदि वस्तुओं का रोगी गृह में उपयोग होते देख रोगी की मृत्यु का निश्चय करना चाहिये ॥३४॥

शयनं वसनं यानं गमनं भोजनं रुतम्।
श्रूयतेऽमङ्गलं यस्य नास्ति तस्य चिकित्सितम् ॥ ३५ ॥

जिसकी शय्या वस्त्र सवारी जाना आहार और ध्वनि अमङ्गल सुनाई दे उस की चिकित्सा नहीं है ॥ ३५ ॥

शयनं वसनं यानमन्यद्वापि परिच्छदम्।
प्रेतवद्यस्य कुर्वन्ति सुहृदः प्रेत एव सः ॥ ३६ ॥

जिसके मित्र मृत पुरुष की तरह शय्या वस्त्र सवारी वा अन्य कोई सामान करते हों तो उसे मृत ही जाने ॥ ३६ ॥

अन्नं व्यापद्यतेऽत्यर्थं ज्योतिश्चैवोपशाम्यति।
निवाते सेन्धनं यस्य तस्य नास्ति चिकित्सितम् ॥ ३७ ॥

जिस रोगी का अन्न विकृत वा अप्रशस्त गुण युक्त होजाता है (दग्ध आदि होना) और वातरहित स्थान में इन्धन युक्त ज्योति (अग्नि) भी शान्त होजाती है—उस की चिकित्सा नहीं ॥ ३७ ॥

आतुरस्य गृहे यस्य भिद्यन्ते वा पतन्ति वा।
अतिमात्रममत्राणि दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ ३८ ॥

जिस रोगी के गृह में बर्तन अत्यधिक टूटते वा गिरते हैं उसका जीवन दुर्लभ है ॥

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय २९ को भी इस विषय के लिये देख लेना चाहिये ॥ ३८ ॥

भवन्ति चात्र ।

यद्द्वादशभिरध्यायैर्व्यासतः परिकीर्तितम् ।
मुमूर्षतां मनुष्याणां लक्षणं जीवितान्तकृत् ॥ ३९ ॥
तत्समासेन वक्ष्यामः पर्यायान्तरमाश्रितम् ।

उपसंहार—जो हमने १२ अध्यायों में मुमूर्षु पुरुषों के जीवन के नाश के लक्षण विस्तार से कहे हैं, उन्हें ही दूसरे पर्यायों (एक ही अर्थ को जताने वाले शब्दान्तरों) का आश्रय लेकर पुनः संक्षेप से कहते हैं ॥ ३९ ॥

पर्यायवचनं ह्यर्थविज्ञानायोपपद्यते[1] ॥ ४० ॥
इत्यर्थं[2] पुनरेवेयं विवक्षा नो विधीयते[3] ।
तस्मिन्नेवाधिकरणे[4] यत्पूर्वमभिदर्शितम् ॥ ४१ ॥

अर्थ को अच्छीप्रकार समझाने के लिये ही एक बात को पर्याय द्वारा पुनः कहना उपयोगी होता है। अतएव उस २ अधिकरण (अधिकार) में जो जो हम पूर्व दिखला चुके हैं उसे पुनः बताने की हमारी इच्छा है।

वसतां चरमे[5] काले शरीरेषु शरीरिणाम् ।
अभ्युग्राणां[6] विनाशाय देहेभ्यः प्रविवत्सताम् ॥ ४२ ॥
इष्टांस्तितिक्षतां प्राणान् कान्तं वासं जिहासताम् ।
तन्त्रयन्त्रेषु भिन्नेषु तमोऽन्त्यं प्रविविक्षताम् ॥ ४३ ॥

---

१ 'अर्त्वा विज्ञानायोपकल्पते' ग. । २ 'अत्यर्थं' ग. । ३ 'नोपपद्यते' ग. । ४ 'तस्मिन्नेवाधिकारे यत्पूर्वमेवाभिशब्दितम्' च. । ५ 'चरमं कालं' च. । ६ 'अभ्यग्राणां' ग. ।

विनाशायेह रूपाणि यान्यवस्थान्तराणि च।
भवन्ति तानि वक्ष्यामि यथोद्देशं यथागमम् ॥ ४४ ॥

विनाश के लिये उद्यत, देहों से देहान्तरों में वास की इच्छा रखने वाले, सुन्दर रमणीक भवन (देह) को छोड़ने की इच्छा वाले, शरीर के यन्त्रों के टूट जाने पर मृत्युरूप महान्धकार में प्रविष्ट होने की इच्छा वाले अन्तिम समय शरीरों में रहते हुए शरीरियों (सूक्ष्मशरीरयुक्त जीवात्माओं) के विनाश के जो लक्षण वा भिन्न २ अवस्थायें होती हैं उन्हें उद्देश के क्रम से शास्त्रानुसार कहूंगा ॥ ४२—४४ ॥

प्राणाः समुपतप्यन्ते[1] विज्ञानमुपरुध्यते।
वमन्ति बलमङ्गानि चेष्टा व्युपरमान्ति च ॥ ४५ ॥

प्राण उपतप्त होते हैं, विज्ञान (पहिचान) नहीं रहता, अङ्ग बल का वमन कर देते हैं—निर्बल हो जाते हैं, चेष्टायें (हाथ पैर आदि अङ्गों के व्यापार) शान्त हो जाती हैं (मुमूर्षु चेष्टा नहीं कर सकता) ॥ ४५ ॥

इन्द्रियाणि विनश्यन्ति खिलीभवति चेतना[2]।
औत्सुक्यं भजते सत्त्वं चेतो भीराविशत्यपि ॥ ४६ ॥

इन्द्रियें नष्ट हो जाती हैं, चेतना अल्प रह जाती है, सत्त्वसंज्ञक मन उत्सुकता (Curiosity) पूर्ण हो जाता है, चित्त में भय हो जाता है ॥ ४६ ॥

स्मृतिस्त्यजति मेधा च ह्रीश्रियौ चापसर्पतः।
उपप्लवन्ते पाप्मान ओजस्तेजश्च नश्यति ॥ ४७ ॥

स्मृति और मेधा उसे त्याग देती हैं, लज्जा और लक्ष्मी वा कान्ति उससे दूर हो जाती हैं, पाप वा रोग उसे आ घेरते हैं—दुःखित करते हैं, ओज और तेज नष्ट हो जाता है ॥ ४७ ॥

शीलं व्यावर्ततेऽत्यर्थं भक्तिश्च[3] परिवर्तते।

---

१ 'समुपरुध्यन्ते' ग.। २ 'वेदना' ग.। ३ 'शक्तिश्च' ग.।

विक्रियन्ते प्रतिच्छायाश्छायाश्च विकृतिं प्रति ॥ ४८ ॥

शील अत्यधिक परिवर्तित हो जाता है, भक्ति (इच्छा) भी अत्यधिक बदल जाती है, प्रतिच्छाया (प्रतिविम्ब) विकृत हो जाती है और छाया भी विकृति की ओर विकार को प्राप्त होती हैं ॥४८॥

शुक्रं प्रच्यवते स्थानादुन्मार्गं भजतेऽनिलः ।
क्षयं मांसानि गच्छन्ति गच्छत्यसृगुपक्षयम्[2] ॥ ४९ ॥

वीर्य अपने स्थान से च्युत होता है, वायु विपरीत मार्ग में चला जाता है, मांस रक्त क्षीण हो जाते हैं ॥ ४९ ॥

ऊष्माणः प्रलयं यान्ति विश्लेषं यान्ति सन्धयः ।
गन्धा विकृततां यान्ति भेदं वर्णस्वरौ तथा ॥ ५० ॥

शरीर में ऊष्मायें नहीं रहतीं, सन्धियां शिथिल हो जाती हैं, गन्ध विकृत हो जाते हैं, वर्ण और स्वर में भेद आ जाता है अर्थात् वर्ण और स्वर विकृत हो जाते हैं ॥ ५० ॥

वैवर्ण्यं भजते कायः कायच्छिद्रं विशुष्यति ।
धूम्रः[3] संजायते मूर्ध्नि दारुणाख्यश्च चूर्णकः ॥ ५१ ॥

देह का वर्ण विकृत हो जाता है, शरीर के स्रोत सूख जाते हैं, शिर पर धूम्रवर्ण का दारुणक (dandruff) नामक चूर्ण उत्पन्न हो जाता है ॥ ५१ ॥

सततस्पन्दना देशाः शरीरे येऽभिलक्षिताः ।
ते स्तम्भानुगताः सर्वे न चलन्ति कथञ्चन ॥ ५२ ॥

शरीर में जो निरन्तर स्पन्दन करने वाले देश (स्थान) हैं, वे सब स्तब्ध हुए हुए किसी प्रकार नहीं चलते—वहां कोई गति नहीं दिखाई देती ॥ ५२ ॥

गुणाः शरीरदेशानां शीतोष्णमृदुदारुणाः ।

---

१ 'गताः' ग. । २ 'गच्छत्यसृगपि क्षयम्' ग. । ३ 'धूमः' पा० । 'धूमः सञ्जायते मूर्ध्नि—इति प्रकृतं बाष्पनिर्गमं विना बहलो धूम इति' चक्रः ।

विपर्यासेन वर्तन्ते स्थानेष्वन्येषु तद्विधाः ॥ ५३ ॥

मुमूर्षु पुरुष के शरीर के भिन्न २ स्थानों के शीत उष्ण मृदु दारुण आदि गुण विपरीत हो जाते हैं। जो शरीर के स्थान शीत होते हैं वे उष्ण और जो उष्ण होते हैं वे शीत, जो मृदु होते हैं वे कठोर जो कठोर होते हैं वे मृदु इत्यादि। शरीर के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी वे गुण विपरीतभाव से अनुभूत होते हैं। मुमूर्षु शीत स्थान को उष्ण और उष्ण वस्तुओं को शीतल जानता है इत्यादि। अथवा शरीर में अन्य स्थानों पर भी उसी प्रकार के गुण विपरीतभाव से हो जाते हैं—यह अर्थ करना चाहिये। अभिप्राय यह है कि मुमूर्षु पुरुष के शुक्लस्थान कृष्ण और कृष्णस्थान शुक्ल, स्थूलस्थान सूक्ष्म और सूक्ष्मस्थान स्थूल हो जाते हैं इत्यादि ॥ ५३ ॥

नखेषु जायते पुष्पं पङ्को दन्तेषु जायते ।
जटाः पक्ष्मसु जायन्ते सीमन्ताश्चापि मूर्धनि ॥ ५४ ॥

नखों में पुष्प (श्वेत चिन्ह) उत्पन्न हो जाते हैं, दांतों में पङ्क (मैल का कीचड़) हो जाता है, पलकें जटा सदृश हो जाती हैं, शिर पर सीमन्त (मांग) हो जाते हैं ॥ ५४ ॥

भेषजानि न संवृत्तिं प्राप्नुवन्ति यथारुचिम्[1] ।
यानि चाप्युपपद्यन्ते तेषां वीर्यं[2] न सिध्यति ॥ ५५ ॥

वैद्य द्वारा यथेष्ट औषधों का प्रयोग नहीं होता। और यदि यथेष्ट प्रयोग हो भी जाय तो भी उन(प्रयोगों)का वीर्य(कार्यकरण-शक्ति)सफल नहीं होता॥

नानाप्रकृतयः क्रूरा विकारा विविधौषधाः ।
क्षिप्रं समभिवर्तन्ते प्रतिहत्य बलौजसी ॥ ५६ ॥

विविधप्रकार की औषधों से सिद्ध होने वाले नाना प्रकार के प्रकृति (वात आदि हेतु) वाले क्रूर विकार (रोग) बल और ओज को पराभूत करते हुए शीघ्र प्रकट होजाते हैं। अभिप्राय यह है कि ऐसे २

---

१ 'तथा रुचिम्' ग. । २ 'कर्म' ग. ।

परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले रोग उत्पन्न होते हैं, कि एक की चिकित्सा करो तो दूसरा बढ़जाता है ॥ ५६ ॥

शब्दः स्पर्शो रसो रूपं गन्धश्चेष्टा विचिन्तितम्¹ ।
उत्पद्यन्तेऽशुभान्येव प्रतिकर्मप्रवृत्तिषु ॥ ५७ ॥

चिकित्सा करते समय शब्द स्पर्श रस रूप गन्ध शारीरिक क्रिया और मानस चिन्ता ये सब अशुभ ही उत्पन्न होते हैं ॥ ५७ ॥

दृश्यन्ते दारुणाः स्वप्ना दौरात्म्यमुपजायते ।
प्रेष्याः प्रतीपतां यान्ति प्रेताकृतिरुदीर्यते ॥ ५८ ॥

दारुण स्वप्न दिखाई देते हैं, दुरात्मापन (शील आचार आदि से भ्रष्ट होना) होजाता है । भृत्य वा परिचारक वर्ग प्रतिकूल होजाते हैं । आकृति प्रेत (मुर्दे) की तरह हो जाती है अथवा मृत पुरुष के लक्षण प्रकट होते हैं ॥ ५८ ॥

प्रकृतिर्हीयतेऽत्यर्थं विकृतिश्चाभिवर्धते ।
कृत्स्नमौत्पातिकं घोरमरिष्टमुपलक्ष्यते² ॥ ५९ ॥

प्रकृति अत्यधिक नष्ट होती है, विकृति (विकार) बढ़ती है और सम्पूर्ण घोर औत्पातिक (उत्पात—सम्बन्धी वा अचानक होने वाले) अरिष्ट लक्षण पाये जाते हैं ॥ ५९ ॥

इत्येतानि मनुष्याणां भवन्ति विनशिष्यताम् ।
लक्षणानि यथोद्देशं यान्युक्तानि यथागमम् ॥ ६० ॥

उद्देश के क्रम से शास्त्र के अनुसार जो ये लक्षण कहे गये हैं वे मुमूर्षु पुरुषों के लक्षण हैं ॥६०॥

मरणायेह रूपाणि पश्यताऽपि भिषग्विदा ।
अपृष्टेन न वक्तव्यं मरणं प्रत्युपस्थितम् ॥ ६१ ॥
पृष्टेनापि न वक्तव्यं तत्र यत्रोपघातकम्³ ।
आतुरस्य भवेद्दुःखमथवाऽन्यस्य कस्यचित् ॥ ६२ ॥

चिकित्साभिज्ञ को चाहिये कि मृत्यु के निदर्शक चिन्हों को

१'विचेष्टितम्'ग.।तत्र कर्म इत्यर्थः।२'घोरमनिष्टमुपलभ्यते'ग.। ३'यच्चोपघातुकम्'ग.।

देखते हुए भी बिना पूछे—रोगी मर जायगा—यह न कहे। और पूछे जाने पर भी वहां न कहे जहां रोगी की शीघ्र मृत्यु का कारण हो जाय वा रोगी के लिये हानिकर हो अथवा जहां यह समाचार सुनने से रोगी वा उसके किसी मित्र वा बन्धु बान्धव को अत्यन्त कष्ट होता हो।

अब्रुवन्[1] मरणं तस्य नैनमिच्छेच्चिकित्सितुम्।
यस्य पश्येद्विनाशाय लिङ्गानि कुशलो भिषक्[2] ॥ ६३ ॥

कुशल वैद्य जिस पुरुष की मृत्यु होजाने के लक्षण देखे उस की मृत्यु को न जताते हुए—मुझे चिकित्सा करने की इच्छा नहीं या मैं चिकित्सा करने में समर्थ नहीं—यह कहे ॥ ६३ ॥

लिङ्गेभ्यो मरणाख्येभ्यो विपरीतानि पश्यता।
लिङ्गान्यारोग्यमागन्तुं वक्तव्यं भिषजा ध्रुवम् ॥ ६४ ॥

अरिष्ट लक्षणों से विपरीत लक्षण देखते हुए वैद्य को—इसे निश्चय आरोग्य हो जायगा—ऐसा अवश्य कहना चाहिये ॥ ६४ ॥

दूतैरौत्पातिकैर्भावैः पथ्यातुरकुलाश्रयैः।
आतुराचारशीलेष्टद्रव्यसंपत्तिलक्षणैः[3] ॥ ६५ ॥

दूत, मार्ग तथा रोगिकुल में दिखाई देने वाले औत्पातिक (अचानक होने वाले शुभाशुभसूचक) भाव रोगी का शील आचार तथा इष्ट द्रव्य की प्राप्ति के लक्षणों से परीक्षा करके आरोग्य वा मृत्यु का पूर्वकथन करना चाहिये। अर्थात् यदि दूत औत्पातिक भाव रोगी का शील आचार वा औषध शुभ हों तो रोगी अवश्य नीरोग होगा—यह जानना चाहिये ॥ ६५ ॥

स्वाचारं हृष्टमव्यङ्गं यशस्यं शुक्लवाससम्।
अमुण्डमजटं दूतं जातिवेशक्रियासमम् ॥ ६६ ॥
अनुष्ट्रखरयानस्थामसन्ध्यास्वग्रहेषु च।

---

१ 'अध्रुवं' ग.। २ पद्यार्धमिदं गङ्गाधरेण न पठ्यते।

३ 'शीलैस्तु द्रव्य०' ग.। 'अथवा शीलेष्टद्रव्यसंवृत्ति०' इति 'शीलैश्च द्रव्यैः' इति वा पाठः स्यात्।

अदारुणेषु नक्षत्रेष्वनुग्रेषु ध्रुवेषु[१] च ॥ ६७ ॥
विना चतुर्थीं नवमीं विना रिक्तां चतुर्दशीम् ।
मध्याह्नं चार्धरात्रं च भूकम्पं राहुदर्शनम् ॥ ६८ ॥
विना देशमशस्तं च शस्तौत्पातिकलक्षणम् ।
दूतं प्रशस्तमव्यग्रं निर्दिशेदागतं भिषक् ॥ ६९ ॥

शुभ दूत के लक्षण—जिसका आचार सज्जनोचित हो, प्रसन्न, विकृत अंग से रहित, यशस्वी, जिसने श्वेतवस्त्र पहिरा हो, न मुण्डित हो न जटा बढ़ाये हो, जाति वेश और क्रिया में जो रोगी के समान हो, ऊंट वा गदहे की सवारी पर जो न बैठा हो, जो सन्ध्या समय से भिन्न समय में आया हो, जो अशुभस्थान में स्थित ग्रह के समय न आया हो अथवा जो सूर्य ग्रहण वा चन्द्रग्रहण के समय न आया हो, जो दारुण वा तीक्ष्ण नक्षत्रों के समय से भिन्न काल में आया हो, जो उग्र नक्षत्रों में न आया हो, जो ध्रुव नक्षत्रों में आया हो, रिक्त चतुर्थी नवमी वा चतुर्दशी तिथि को छोड़कर अन्य तिथि में आया हो, मध्याह्न अर्धरात (आधीरात्र) भूकम्प वा राहुदर्शन (ग्रहण) से भिन्नकाल में जो आया हो, जो अशुभ देश में न आया हो, शुभ औत्पातिक लक्षणों में आया हो, जो व्यग्र (व्याकुल) न हो; वह दूत शुभ माना गया है ।

मूला, आर्द्रा, ज्येष्ठा, अश्लेषा; ये तीक्ष्ण नक्षत्र हैं । पूर्वफल्गुनी, पूर्वाषाढा, पूर्वभाद्रपद, भरणी, मघा; ये उग्र नक्षत्र हैं । उत्तरफल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तरभाद्रपद, रोहिणी, ये ध्रुव नक्षत्र हैं[२] । चतुर्थी नवमी वा चतुर्दशी तिथियें रिक्त इस लिये कहाती हैं कि इनमें आरम्भ किया गया कर्म निष्फल होता है । सुश्रुत सू० २९ अ० में कहा है—

'वैद्यस्य पैत्र्ये दैवे वा कार्ये चोत्पातदर्शने ।

---

१ 'ष्वध्रुवेषु' ग. ।

२ वराहसंहितायाम्—मूलाशिवाशक्रभुजगाधिपानि तीक्ष्णानि । उग्राणि पूर्वभरणीपित्र्याणि । ध्रुवाणि यथा-त्रीण्युत्तराणि तेभ्यो रोहिण्यथ ध्रुवाणि ॥

मध्याह्ने चार्धरात्रे वा सन्ध्ययोः कृत्तिकासु च ॥
आर्द्राश्लेषमघामूलपूर्वासु भरणीषु च ।
चतुर्थ्यां वा नवम्यां वा षष्ठ्यां सन्धिदिनेषु च ॥
वैद्यं य उपसर्पन्ति दूतास्ते चापि गर्हिताः' ॥ ६६-६९ ॥

दध्यक्षतद्विजातीनां वृषभाणां नृपस्य च ।
रत्नानां पूर्णकुम्भानां सितस्य तुरगस्य च ॥ ७० ॥
सुरध्वजपताकानां फलानां[1] यावकस्य[2] च ।
कन्यापुंवर्धमानानां[3] बद्धस्यैकपशोस्तथा ॥ ७१ ॥
पृथिव्या उद्धृतायाश्च वह्नेः प्रज्वलितस्य च ।
मोदकानां सुमनसां शुक्लानां चन्दनस्य च ॥ ७२ ॥
मनोज्ञस्यान्नपानस्य पूर्णस्य शकटस्य च ।
नृभिर्धेन्वाः सवत्साया बडवायाः स्त्रियास्तथा ॥ ७३ ॥
जीवञ्जीवकसिद्धार्थसारसप्रियवादिनाम् ।
हंसानां शतपत्राणां चाषाणां शिखिनां तथा ॥७४॥
मत्स्याजद्विजशङ्खानां[4] प्रियङ्गूनां[5] घृतस्य च ।
रोचिष्कादर्शसिद्धानां[6] रोचनायाश्च दर्शनम् ॥ ७५ ॥
गन्धः सुगन्धो वर्णश्च सुशुक्लो मधुरो रसः ।
मृगपक्षिमनुष्याणां प्रशस्ताश्च[7] गिरः शुभाः ॥ ७६ ॥

प्रशस्त द्रव्य—दही, अक्षत, द्विज, बैल, राजा, रत्न, जल आदि से पूर्ण घड़े, श्वेत घोड़े, देवताओं के झण्डे (अथवा इन्द्रधनुष)

---

१ फलानामित्यामानाम् पक्वानामशस्तत्वेनोक्तत्वात् । गङ्गाधर । २ 'पावकस्य' इति पठित्वा गङ्गाधरो व्याचष्टे 'पवित्रकरवस्तुन' इति । प्रणीतस्याग्नेरिति योगीन्द्रः।

३ 'कन्यानां'ग.। 'कन्यानां वर्द्धमानानां कन्यानामनूढानामङ्कुरितयौवनानाम्' गङ्गाधरः । अन्ये तु वर्धमानाः शरावाः ते च आलेपनादिना युक्ताः बोद्धव्याः इत्याहुः ॥

४ 'मत्स्याब्जद्विप०' यो० । ५ 'मांसस्य च' ग० । ६ 'रुचकादर्शसिद्धार्थरोचनानां' । ७ 'प्रशस्तानां' ग० ।

और झण्डियां, फल, यावक (अलक्तक), गोद में उठाये बालक और कन्यायें, बंधा हुआ एक वा श्रेष्ठ पशु, हल चलाई हुई पृथिवी, प्रज्वलित अग्नि, मोदक (लड्डू), श्वेत-फूल, चन्दन, मन को प्रिय अन्नपान, पुरुषों से भरी हुई गाड़ी, जीवित बछड़े युक्त गौ, जीवित बच्चे युक्त घोड़ी तथा जीवितशिशुयुक्त स्त्री, जीवञ्जीवक (चकोर), सिद्धार्थ (खञ्जन), सारस, प्रियवादी (चातक), हंस, शतपत्र (कठफोड़ा), चाष (पक्षि विशेष, नीलकण्ठ), शिखी (मोर), मछली, अज (बकरा), द्विज (हाथीदांत), शङ्ख, प्रियङ्गु, घी, रोचिष्क (चमकदार वस्तु) आदर्श (दर्पण) सिद्ध पुरुष, गोलोचन, इनके दर्शन मनोहर सुगन्ध का सूंघना, अति श्वेत वर्ण, मधुर रस, मृग पक्षी और मनुष्यों की प्रशस्त वाणियां शुभ होती हैं ॥७०—७६॥

छत्रध्वजपताकानामुत्क्षेपणमभिष्टुतिः[1] ।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां शब्दाः पुण्याहनिस्वनाः ॥ ७७ ॥
वेदाध्ययनशब्दाश्च सुखो वायुः प्रदक्षिणः ।
पथि वेश्मप्रवेशे तु विद्यादारोग्यलक्षणम् ॥ ७८ ॥

छत्र ध्वजा तथा पताकाओं का ऊंचा करना, खड़ा करना वा फहराना, स्तोत्र पाठ, भेरी मृदङ्ग और शङ्ख आदि वाद्यों की ध्वनि, पुण्याह शब्द (अथवा पुण्य को बताने वाले शुभ शब्द), वेदमन्त्रों के पठन के शब्द, सुख-कर अनुकूल वायु इनका मार्ग में अथवा गृह में प्रविष्ट होते समय होना आरोग्य का लक्षण जाने ॥ ७७—७८ ॥

मङ्गलाचारसंपन्नः सातुरो वैश्मिको जनः ।
श्रद्दधानोऽनुकूलश्च प्रभूतद्रव्यसंग्रहः ॥ ७९ ॥
धनैश्वर्यसुखावाप्तिरिष्टलाभः सुखेन च ।
द्रव्याणां तत्र योग्यानां योजना सिद्धिरेव च ॥ ८० ॥

रोगी और उस घर में रहने वाले लोगों का मङ्गलाचार से युक्त

---

१ '॰मभिप्लुतिः' ग. ।

होना, श्रद्धायुक्त और अनुकूल होना, प्रभूत द्रव्यों का संग्रह, धन ऐश्वर्य और सुख की प्राप्ति, सुगमता से इष्ट (प्रिय) की प्राप्ति, उस समय के लिये योग्य द्रव्यों की योजना (उपस्थिति और ठीक २ प्रयोग) और सिद्धि (सफलता); ये आरोग्य के लक्षण हैं ॥ ७९-८० ॥

गृहप्रासादशैलानां नागानां वृषभस्य च ।
हयानां पुरुषाणां च स्वप्ने समधिरोहणम् ॥ ८१ ॥
अर्णवानां प्रतरणं वृद्धिः संबाधनिःसृतिः ।
स्वप्ने देवैः सपितृभिः प्रसन्नैश्चाभिभाषणम् ॥ ८२ ॥
सोमार्काग्निद्विजातीनां गवां नृणां यशस्विनाम् ।
दर्शनं शुक्लवस्त्राणां ह्रदस्य विमलस्य च ॥ ८३ ॥
मांसमत्स्यविषामेध्यच्छत्रादर्शपरिग्रहः ।
स्वप्ने सुमनसां चैव शुक्लानां दर्शनं शुभम् ॥ ८४ ॥
अश्वगोरथयानं च यानं पूर्वोत्तरेण च ।
रोदनं पतितोत्थानं द्विषतां चावमर्दनम् ॥ ८५ ॥

स्वप्नमें गृह (मकान) राजमहल पर्वत पर हाथी बैल घोड़े और पुरुषों का चढ़ना अथवा गृह आदि तथा हाथी आदि पर स्वप्नमें चढ़ना और सवारी करना; स्वप्नमें समुद्रों को तैर जाना, वृद्धि (बढ़ती), सङ्कटसे निकल जाना, प्रसन्न हुए २ देवता और पितरों से वार्तालाप करना; स्वप्नमें चन्द्रमा सूर्य अग्नि ब्राह्मण गौ यशस्वी मनुष्य श्वेतवस्त्र तथा निर्मल तालाब का देखना; मांस मछली विष अपवित्र (पुरीष आदि) छत्र दर्पण; इनकी स्वप्न में प्राप्ति, श्वेतफूलों का दर्शन, स्वप्न में घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ी पर सवारी करना पूर्व वा उत्तर दिशा की ओर जाना, रोना (अश्रुरहित और स्निग्ध अर्थात् प्रेम का रोना) गिरे हुए को उठाना, अथवा गिरकर स्वयं उठ खड़ा होना, शत्रुओं को कुचल डालना—पराजित करना; ये शुभ लक्षण हैं॥

सत्त्वलक्षणसंयोगो भक्तिर्वैद्यद्विजातिषु ।
साध्यत्वं न च निर्वेदस्तदारोग्यस्य लक्षणम् ॥ ८६ ॥

प्रशस्त आतुर के लक्षण—सात्विक लक्षणों का होना, वैद्य

और ब्राह्मणों में भक्ति, रोग का साध्य होना, निर्वेद (वैराग्य अर्थात् संसार से विरक्त होने के कारण देह की परवाह न करना) का न होना; ये आरोग्य के लक्षण हैं ॥ ८६ ॥

आरोग्याद्बलमायुश्च सुखं च लभते महत् ।
इष्टांश्चाप्यपरान् भावान् पुरुषः शुभलक्षणः ॥ ८७ ॥

आरोग्य का फल—शुभ लक्षणों से युक्त पुरुष आरोग्य से महा बल, दीर्घ आयु,महान् सुख तथा अन्य अभीष्ट विषयों को पाता है॥८७॥

तत्र श्लोकः ।

उक्तं गोमयचूर्णीये मरणारोग्यलक्षणम् ।
दूतस्वप्नातुरोत्पातयुक्तिसिद्धिव्यपाश्रयम् ॥ ८८ ॥

उपसंहार—इस गोमयचूर्णीय नामक अध्याय में दूत स्वप्न रोगी उत्पात (शुभाशुभ सूचक आकस्मिकभाव) युक्ति तथा सिद्धि में आश्रित मृत्यु और आरोग्य के लक्षण बता दिये हैं ॥ ८८ ॥

भवति चात्र ।

इतीदमुक्तं [1]प्रकृतं यथा तथा
तदन्ववेक्ष्यं सततं भिषग्विदा ।
तथा हि सिद्धिं च यशश्च शाश्वतं
स सिद्धकर्मा लभते धनानि च ॥ ८९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते इन्द्रियस्थाने गोमयचूर्णीयमिन्द्रियं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

यह प्रकरणागत विषय (इन्द्रियस्थान) जैसा कहा है चिकित्सकों को वैसा ही उसे समझना चाहिये । इस के ज्ञान से सिद्धकर्मा (जिसकी चिकित्सा कभी निष्फल नहीं होती) वैद्य सिद्धि (सफलता) अविनाशी यश और धनों को प्राप्त करता है ॥ ८९ ॥

इति द्वादशोऽध्यायः ।

इन्द्रियस्थानं संपूर्णम् ।

---

१ 'निखिलं यथातथं' ग. ।

चिकित्सितस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातोऽभयामलकीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

चिकित्सा से पूर्व जिन २ बातों का जानना आवश्यक था उन का वर्णन सूत्र निदान शारीर विमान तथा इन्द्रिय स्थानों में किया जा चुका है । अब रोग होने पर उसकी निवृत्ति किस क्रम से किन औषधों द्वारा होती है—यह मुख्यतया इस स्थान में बताया जायगा । आयुर्वेद के आठ अङ्ग हैं जिन में से इस संहिता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कायचिकित्सा है । शेष अङ्गों का गौण रूप से इस ग्रन्थ में वर्णन है । रसायन और वाजीकरण; इन दो अङ्गों का प्रथम दो अध्यायों में वर्णन होगा । इन दो में से प्रत्येक अध्याय को आचार्य ने चार चार पादों में बांटा है । जिनमें से रसायनाध्याय का प्रथमपाद अभयामलकीय है । वस्तुतस्तु इन दो अध्यायों को चिकित्सास्थान से पृथक् ही पढ़ना चाहिये था । परन्तु चूंकि रसायन और वाजीकरण भेषज अपने विशेष गुणों के अतिरिक्त उत्पन्न व्याधियों को भी नष्ट करते हैं अतः इस स्थान में समाविष्ट कर लिये हैं । रसायन का अपना विशेष गुण भी जरा आदि स्वाभाविक व्याधियों का विध्वंस करना है । शरीर में सर्वदा होने वाली धातुओं की क्षीणता को रसायन और वाजीकरण औषध पूर्ण किया करती हैं । ये शरीर में जीवनीयशक्ति को बढ़ाती हैं । इनके सेवन से पुरुष बलवान् रहते हुए दीर्घ आयु का उपभोग करता है ।

अब हम अभयामलकीय नामक रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम् ।
प्रायश्चित्तं प्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम् ॥ २ ॥
विद्याद्भेषजनामानि,

भेषज के पर्याय—चिकित्सित, व्याधिहर, पथ्य, साधन, औषध, प्रायश्चित्त, प्रशमन, प्रकृतिस्थापन, हित; ये सब भेषज के नाम हैं ॥२॥

भेषजं द्विविधं च तत् ।
स्वस्थस्यौजस्करं किंचित्किंचिदार्तस्य रोगनुत् ॥ ३ ॥

भेषज के भेद—वह औषध दो प्रकार की है । एक तो वे हैं जो स्वस्थ पुरुष के लिये ओजस्कर हैं, बल को बढ़ाती हैं, जीवनीय शक्ति प्रदान करती हैं । दूसरी वे हैं जो आर्त (रोग से पीड़ित) पुरुष के रोग को नष्ट करती हैं ॥ ३ ॥

अभेषजं च द्विविधं बाधनं सानुबाधनम्[1] ।

अभेषज के भेद—जो औषध नहीं वे भी दो प्रकार के हैं । १ बाधन २ सानुबाधन । बाधन वे होते हैं जो उसी समय के लिये ही कष्ट देते हैं । सानुबाधन वे कहाते हैं जो चिरकाल तक रहने वाले कुष्ठ आदि रोगों के उत्पादक होते हैं ।

स्वस्थस्यौजस्करं यत्तु तद्वृष्यं तद्रसायनम् ॥ ४ ॥

प्रायः, प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे मतम् ।
प्रायः शब्दो विशेषार्थो ह्युभयं ह्युभयार्थकृत् ॥ ५ ॥

जो भेषज स्वस्थ पुरुष को ओज देता है वह प्रायः वृष्य (वाजीकरण) और रसायन हैं । दूसरी प्रकार की भेषज प्रायः रोगों की शामक मानी गई हैं । यहां पर 'प्रायः' जो कहा गया है वह विशेषता जताने के लिये है । साधारण तौर पर दोनों प्रकार के भेषज दोनों कार्यों को करते हैं । अभिप्राय यह है कि जो स्वस्थ पुरुष के

---

१ 'बाधनमिह तदात्वमात्रबाधकं, यथा—स्वल्पमपथ्यं, सानुबाधनं च दीर्घकालावस्थायिकुष्ठादिविकारकारि' चक्रः ।

लिये ओजस्कर कही जाती है वह यह कार्य तो विशेषतः करती है परन्तु साधारण तौर पर रोगशामक भी होती है। इसी प्रकार रोगशामक औषध का मुख्य कार्य रोग की शान्ति करना है पर साधारण तौर पर ओजस्कर भी होती है।

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलं परम्॥ ६॥
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कान्तिं लभते ना रसायनात्।

रसायन सेवन के लाभ—पुरुष रसायन के सेवन से दीर्घ आयु, स्मृति, मेधा (धारणात्मिक बुद्धि), आरोग्य, तरुणवय (जवानी भरी उम्र), प्रभा वर्ण और स्वर की उदारता (प्रभा आदि का शुभ और अधिक होना), देह और इन्द्रियों में परम बल, वाक्सिद्धि (वाणी की सिद्धि,अच्छी वाणी का होना अथवा पुरुष जो कहे वही हो) प्रणति (लोकों की दृष्टि में आदरणीयता) तथा कान्ति को पाता है ॥६॥

लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनम्॥ ७॥

रसायन का लक्षण—प्रशस्त रस आदि के लाभ का उपाय ही रसायन कहाता है। अर्थात् जिसके द्वारा शुभ गुण युक्त रस आदि धातुओंकी प्राप्ति हो वह रसायन है। इन्हीं प्रशस्त रस आदि धातुओं की प्राप्ति के कारण ही जरा आदि शीघ्र अभिभूत नहीं करते और शरीर अन्य रोगोंसे भी बचा रहता है। मेधा मन आदि भी अन्न पर आश्रित हुआ करते हैं। सात्त्विक आहार से मन और बुद्धि भी सात्त्विक होती है। इसीलिये मन और बुद्धि की श्रेष्ठता भी रसायन के उपयोग से हुआ करती है॥७॥

अपत्यसन्तानकरं यत्सद्यः संप्रहर्षणम्।
वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः॥ ८॥
भवत्यतिप्रियः स्त्रीणां येन येनोपचीयते।
जीर्यतोऽप्यक्षयं शुक्रं फलवद्येन दृश्यते॥ ९॥
प्रभूतशाखः शाखीव येन चैत्यो यथा महान्।

भवत्यर्च्यो बहुमतः प्रजानां सुबहुप्रजः ॥ १० ॥
सन्तानमूलं येनेह प्रेत्य चानन्त्यमश्नुते ।
यशः श्रियं बलं पुष्टिं वाजीकरणमेव तत् ॥ ११ ॥

वाजीकरण का लक्षण---जो औषध सन्तानपरम्परा अर्थात् पुत्र पौत्र आदि के उत्पन्न करने में सहायक होती है और जिसके सेवन से शीघ्र ही प्रहर्ष (ध्वजहर्ष) होता है, जिसके द्वारा घोड़े के सदृश अतिबल युक्त होकर पुरुष स्त्रियों से बिना बाधा के सम्भोग करता है (अर्थात् वाजीकरण औषध के सेवन करते हुए अत्यन्त सम्भोग से भी हानि की सम्भावना नहीं होती), जिससे पुरुष स्त्रियों का अति प्यारा हो जाता है (अर्थात् वाजीकरण के सेवन से पुरुष में पुरुषत्व वा मैथुनसमर्थता poteney बहुत बढ़ जाती है), जिसके द्वारा पुष्टि होती है वा शुक्र का सञ्चय होता है, जिसके द्वारा वृद्धावस्था को प्राप्त होते हुए पुरुष में भी सन्तानोत्पत्ति में समर्थ वीर्य का अण्डकोष जमा होता हुआ देखा जाता है । प्रायः पुरुष में फलवत् (सन्तानोत्पत्ति में समर्थ) शुक्र ७० वा ७५ वर्ष की अवस्था तक होता है यह शारीरस्थान ८ अध्याय में हम कह आये हैं परन्तु यदि वाजीकरण औषध का सेवन हो तो इससे भी बड़ी उम्र तक हो सकता है । जिसके द्वारा वृक्ष की तरह बहुत सी शाखाओं वाला हो जाता है (पुत्र पौत्र आदि के अधिक होने से वंशविस्तार भी अधिक होता है), जिससे जिस प्रकार बड़ा चैत्य (देवायतन वा देवमन्दिर) पूज्य होता है वैसे ही बहुत सन्तान वाला तथा बहुमत वाला होकर प्रजाओं का पूजनीय होता है । अभिप्राय यह है कि जिसकी सन्तानपरम्परा अधिक होती है वह बहुमत वाला होता है--बहुतों से आदरणीय होता है । अथवा किसी विषय पर विचार करने के लिये अपने घर में ही बहुत सी मतियां होती हैं जिन पर विचार से पुरुष एक सत्य निर्णय कर सकता है। अथवा एक ही घरमें बहुत से वोट हो जाते हैं जिसके द्वारा कोई चुनाव के

द्वन्द्व में विजय पा सकता है तथाच जिस प्रकार एक बड़े देवालय में बहुत से देवी देवताओं की स्थापना हो वहां बहुत से लोग पूजा को जाते हैं वैसे ही जिस परिवार में बहुत से जन हों वह भी बहुतों का पूज्य होता है— उसका परिचय बहुत अधिक विस्तृत हो जाता है । जिसके द्वारा पुरुष मरकर भी सन्तान के कारण होने वाली अनन्तता यश श्री (शोभा वा लक्ष्मी) बल और पुष्टि को पाता है वह वाजीकरण ही है । आनन्त्य का अर्थ यहां मुक्ति नहीं । क्योंकि वह सन्तानमूलक नहीं होती । सन्तानमूलक अनन्तता से अभिप्राय यही है कि सन्तानपरम्परा के चलते रहने से उस पुरुष के नामलेवा सदा संसार में रहते हैं । वैसे भी सन्तान को आत्मा ही कहा गया है । सन्तान माता-पिता का रूप ही होती है ॥ ८—११ ॥

स्वस्थस्यौजस्करं त्वेतद्द्विविधं प्रोक्तमौषधम् ।
यद्व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सिते ॥ १२ ॥

ये स्वस्थ पुरुष के लिये ओजस्कर दोप्रकार की औषध कह दी है । जिससे रोग का नाश किया जाता है वह औषध चिकित्साधिकार में कही जायगी ॥ १२ ॥

चिकित्सितार्थ एतावान्विकाराणां यदौषधम् ।
रसायनविधिश्चाग्रे वाजीकरणमेव च ॥१३॥

ज्वर आदि विकारों की औषध ही चिकित्सित का प्रयोजन है । अर्थात् अभी जो ऊपर कहा गया है कि रोगनाशक औषध का चिकित्सित (चिकित्साधिकार) में वर्णन होगा वहां चिकित्सित का तात्पर्य केवल ज्वरादिरोगों की नाशक औषध के प्रकरण से हैं । वैसे तो रसायन और वाजीकरण भी चिकित्सास्थान में ही कहे गये हैं । ज्वरादिरोग की चिकित्सा से पूर्व इस स्थान में रसायनविधान और वाजीकरण कहा जायगा ॥ १३ ॥

अभेषजमिति ज्ञेयं विपरीतं यदौषधात् ।

तदसेव्यं, निषेव्यं तु प्रवक्ष्यामि यदौषधम् ॥ १४ ॥

अभेषज का लक्षण—जो औषध से विपरीत हो उसे अभेषज कहते हैं। वह असेव्य है। अभेषज का सेवन न करना चाहिये। औषध का सेवन करना चाहिये। वह औषध अब कही जाती है १४

रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो विदुः।
कुटीप्रावेशिकं चैव वातातपिकमेव च ॥ १५ ॥

रसायन के प्रयोग का विधान—ऋषियों ने रसायनों के दो प्रकार के प्रयोग की विधि जानी है। १ कुटीप्रावेशिक २ वातातपिक ॥१५॥

कुटीप्रावेशिकस्यादौ विधिः समुपदेक्ष्यते।
नृपवैद्यद्विजातीनां साधूनां पुण्यकर्मणाम् ॥ १६ ॥
निवासे निर्भये शस्ते प्राप्योपकरणे पुरे।
दिशि पूर्वोत्तरस्यां तु सुभूमौ कारयेत्कुटीम् ॥ १७ ॥
विस्तारोत्सेधसंपन्नां त्रिगर्भां सूक्ष्मलोचनाम्।
घनभित्तिमृतुसुखां सुस्पष्टां मनसः प्रियाम् ॥ १८ ॥
शब्दादीनामशस्तानामगम्यां स्त्रीविवर्जिताम्।
इष्टोपकरणोपेतां सज्जवैद्यौषधद्विजाम् ॥ १९ ॥

कुटीप्रावेशिकविधि—पूर्व कुटीप्रावेशिकविधि का उपदेश किया जाता है। यह विधि दूसरी विधि की अपेक्षा अधिक फल वाली है। वृद्धवाग्भट ने उत्तरस्थान के ४९ अ० में कहा है—

'तत्तु द्विविधं कुटीप्रावेशिकं वातातपिकं च। तत्र वीर्यप्रभावप्रयोगपरिहारगुरुत्वात् कुटीप्रावेशिकं महाफलतरम् ॥'

जहां साधु और पुण्यकर्मा राजा वैद्य तथा ब्राह्मण रहते हों, जो निर्भय और प्रशस्त हो, जहां सब उपकरण प्राप्त हो सकें--ऐसे नगर में अच्छी भूमि पर पूर्व वा उत्तर दिशा में कुटी बनावे। जो पर्याप्त लम्बी चौड़ी हो, त्रिगर्भा हो अर्थात् एक के अन्दर दूसरा और दूसरे

के अन्दर तीसरा कमरा हो, जिसमें छोटी २ खिड़कियां वा रोशनदान हों, दीवार मोटी हो, ऋतु में सुखकारक हो, प्रकाश युक्त हो, मन को पसन्द हो, जिसमें अशुभ शब्द आदि न पहुंच सके, स्त्रीरहित हो, जिसमें सब अभीष्ट उपकरण (भोजन आदि की सामग्री) पड़े हों, जहां वैद्य औषध तथा ब्राह्मण सर्वदा तय्यार हों--सर्वदा सन्नद्ध हों।

अथोदगयने शुक्ले तिथिनक्षत्रपूजिते ।
मुहूर्तकरणोपेते प्रशस्ते कृतवापनः ॥ २० ॥
धृतिस्मृतिबलं कृत्वा श्रद्धानः समाहितः ।
विधूय मानसान्दोषान्मैत्रीं भूतेषु चिन्तयन् ॥ २१ ॥
देवताः पूजयित्वाऽग्रे द्विजातींश्च प्रदक्षिणम् ।
देवगोब्राह्मणान्कृत्वा ततस्तां प्रविशेत्कुटीम् ॥ २२ ॥

कुटी बनाने के पश्चात् जब सूर्य उत्तरायण हो, शुक्लपक्ष हो, शुभ तिथि नक्षत्र मुहूर्त और करण में मुण्डन करवा के श्रद्धायुक्त और एकाग्र मन वाला वह पुरुष धृति (धारणात्मिका बुद्धि) और स्मृति के बल से काम क्रोध आदि मानस दोषों को नष्टकर सब प्राणियों के प्रति मन में भी मैत्री भाव रखते हुए पूर्व देवता तथा ब्राह्मणों की पूजा कर देवता गौ एवं ब्राह्मणों की प्रदक्षिणा करके उस कुटी में प्रविष्ट हो ॥ २०–२२ ॥

तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः ।
रसायनं प्रयुञ्जीत,

उस कुटी में संशोधन भेषजों के यथाविधि प्रयोग से शुद्ध होकर नीरोग तथा पुनः बलवान् होने पर रसायन का प्रयोग करना चाहिये।

तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम् ॥ २३ ॥
हरीतकीनां चूर्णानि सैन्धवामलके गुडम् ।
वचां विडङ्गं रजनीं पिप्पलीं विश्वभेषजम् ।
पिबेदुष्णाम्बुना जन्तुः स्नेहस्वेदोपपादितः ॥ २४ ॥

अतः शोधन औषध कहते हैं—हरड़ों का चूर्ण, सैन्धव (सेन्धा

नमक), आंवला, गुड़, वचा, वायविडङ्ग, हल्दी, पिप्पली, सोंठ; इन्हें गरम-जल के साथ पीना चाहिये। संशोधन औषध देने से पूर्व रोगी का स्नेहन और स्वेदन यथाविधि होजाना चाहिये । साधारण विरेचन के लिये साधारण उत्तम हरड़ की मात्रा—चार से छह मासे तक है । इससे कम और अधिक भी ली जासकती है । B. P. dose ३० से ६० ग्रेन तक नियत है । जितनी हरड़ अच्छी होगी उतनी मात्रा कम होगी। 'हरीतकीनां चूर्णानि' कहने से यहां प्रधान द्रव्य हरड़ है। इस प्रयोग में हरड़ की मात्रा अन्य द्रव्यों का अपेक्षा अधिक ली जायगी । श्रेष्ठ वैद्य रोगी के बल देश काल आदि के अनुसार इस योग के प्रत्येक उपादान द्रव्य की मात्रा निर्धारित कर सकते हैं ।।२३—२४।।

तेन शुद्धशरीराय कृतसंसर्जनाय च ।
त्रिरात्रं यावकं[1] दद्यात्पञ्चाहं वाऽपि सर्पिषा ।
सप्ताहं वा पुराणस्य यावच्छुद्धेस्तु वर्चसः ॥ २५ ॥

उपर्युक्त शोधन औषध के प्रयोग से शरीर के शुद्ध होजाने पर और तदनन्तर पेया आदि पथ्य के क्रम का अनुष्ठान कर चुकने पर तीन दिन पांच दिन वा सात दिन तक यावक[2] (यवान्न अथवा यवागू अथवा खिचड़ी) देवे जब तक पुराने पुरीष की शुद्धि न होजाय । अर्थात् जब तक अन्तःस्थित मल बाहिर न निकल जाय ॥ २५ ॥

शुद्धकोष्ठं तु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत् ।
वयःप्रकृतिसात्म्यज्ञो यौगिकं यस्य यद्भवेत् ॥ २६ ॥

जब यह समझे कि कोष्ठ शुद्ध होगया है तब प्रकृति और सात्म्य को जाननेवाला वैद्य जिसके लिये जो रसायन उपयोगी हो उसे उसका उपयोग करावे । अर्थात् रसायन के प्रयोग से पूर्व रसायन के सेवन के इच्छुक पुरुष की प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है और इसके साथ २ ही उसे कौन से आहार विहार वा औषध सात्म्य हैं यह भी जानना

---

१ 'यावकं यवान्न' चक्रः । २ 'यवकः स्यात्तु कुल्माषः कुल्मासो यावकोऽपि च । वीरवाख्ये षष्टिके वा कूल्मे काश्मीरदेशजे । शालिधान्येषु चत्वार इति केचित्प्रचक्षते ॥' इति शब्दरत्नावली ॥

परमावश्यक है। रसायन भेषजों में से प्रकृति और सात्म्य के अनुसार ही प्रयोग कराने के लिये रसायन का निर्णय करना होता है ॥ २६ ॥

हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम् ।
दोषानुलोमिनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम् ॥ २७ ॥
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम् ।
सर्वरोगप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम् ॥ २८ ॥

यद्यपि वयःस्थापक पदार्थों में आंवले को सर्वश्रेष्ठ कहा है परन्तु रोगानिवारण में हरीतकी उसकी अपेक्षा उत्कृष्ट है, अतः चिकित्सितस्थान का प्रकरण होने से हरीतकी के ही पूर्व गुण बताये हैं। हरीतकी के कुछ एक नामों का निर्वचन करते हुए अष्टाङ्गसंग्रहकार ने हरीतकी की उत्कृष्टता जताने का प्रयत्न किया है। यथा—

'हरणात् सर्वरोगाणां यासावुक्ता हरीतकी ।
पथ्यत्वात् सर्वधातूनां पथ्या, शिवतया शिवा ॥
यस्माद्विजयते व्याधीन् समग्रान् विजया ततः ।
अभयं सर्वरोगेभ्यो भवत्यायुश्च शाश्वतम् ॥
यतः शीलयतामेनां तेनेयमभया स्मृता ॥ उ० अ० ४६

हरड़ में लवणरस को छोड़कर शेष पांचों रस होते हैं। हरड़ उष्ण है, कल्याण कारिणी है, दोषों का अनुलोमन[1] करती है। लघु,दीपन[2],पाचन[3] आयु के लिये हितकर (दीर्घ आयु को देने वाली), पुष्टिकर, धन्य, उत्कृष्ट वयःस्थापक, सब रोगों को शान्त करने वाली तथा बुद्धि इन्द्रिय को बल देने वाली है ॥ २७—२८ ॥

कुष्ठं गुल्ममुदावर्तं शोषं पाण्ड्वामयं मदम् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ॥ २९ ॥

---

१ अनुलोमनलक्षणं— 'कृत्वा पाकं मलानां यद्भित्वा बन्धमधो नयेत् । तच्चानुलोमनं ज्ञेयं यथा प्रोक्ता हरीतकी ।' शार्ङ्गधर० । २ दीपनलक्षणं—'पचेन्नामं वह्निकृच्च दीपनं तद्यथा मिशिः' । शा० । ३ पाचनलक्षणं—पचत्यामं न वह्निञ्च कुर्याद्यत्तद्धि पाचनम् । नागकेसरवत् ॥' शा० ।

हृद्रोगं सशिरोरोगमतीसारमरोचकम् ।
कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् ॥ ३० ॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं कामलां कृमीन् ।
श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमङ्गावसादनम् ॥ ३१ ॥
स्रोतोविबन्धान्विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः ।
स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ॥ ३२ ॥

हरड़ कुष्ठ, गुल्म, उदावर्त, शोष (क्षय), पाण्डुरोग, मद, अर्श, ग्रहणीदोष, (संग्रहणी), पुराना विषमज्वर, हृद्रोग, शिरोरोग, अतीसार, अरोचक, कास, प्रमेह, आनाह, प्लीहा (तिल्ली), नवीन उदररोग, कफप्रसेक (मुख से कफ वा लाला का निकलना, अथवा नज़ला), स्वरभेद, विवर्णता, कामला, कृमिरोग, श्वयथु (शोथ), तमक श्वास (दमा), छर्दि (कै), क्लैब्य (नपुंसकता), अङ्गों का अवसाद (शिथिल होना), स्रोतों के विविध प्रकार के विबन्ध अर्थात् स्रोतों का रुक जाना उनसे रस आदि का न बहना, और छाती वा फुप्फुसों का कफ से लिप्त होना, स्मृति और बुद्धि का नाश (इससे अपस्मार और उन्माद का भी ग्रहण होता है); इन्हें शीघ्र ही जीत लेती है ।

धन्वन्तरिनिघण्टु में भी कहा है—

'कषायाम्ला च कटुका तिक्ता मधुरसान्विता ।
इति पञ्चरसा पथ्या लवणेन विवर्जिता ॥
अम्लभावाज्जयेद्वातं पित्तं मधुरतिक्तकात् ।
कफं रूक्षकषायत्वात् त्रिदोषघ्नी ततोऽभया ॥
प्रपथ्या लेखनी लध्वी मेध्या चक्षुर्हिता सदा ।
मेहकुष्ठव्रणच्छर्दिशोफवातास्रकृच्छ्रजित् ॥
वातानुलोमिनी हृद्या सेन्द्रियाणां प्रसादनी ।
सन्तर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ।
हरस्य भवने जाता हरिता च स्वभावतः ।

सर्वरोगांश्च हरते तेन ख्याता हरीतकी ॥'

राजनिघण्टु में—

'हरीतकी पञ्चरसा च रेचनी कोष्ठामयघ्नी लवणेन वर्जिता।
रसायनी नेत्ररुजापहारिणी त्वगामयघ्नी किल रोगत्राहिनी ॥
बीजास्थि तिक्ता मधुरा तदन्तस्त्वग्भागतः सा कटुरुष्णवीर्या।
मांसांशतश्चाम्लकषाययुक्ता हरीतकी पञ्चरसा स्मृतेयम् ॥' २९-३२॥

अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्षिताः।
सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये ॥ ३३ ॥

हरीतकी के सेवन का निषेध—अजीर्ण के रोगी, रूक्ष आहार करने वाले, स्त्रीभोग मद्यपान या किसी विष के सेवन से दुर्बल, भूख वा प्यास और गर्मी से पीड़ित पुरुष हरड़ का सेवन न करें। धन्वन्तरि-निघण्टु में भी कहा है—

'तृष्णायां मुखशोषे च हनुस्तम्भे गलग्रहे।
नवज्वरे तथा क्षीणे गर्भिण्यां न प्रशस्यते ॥' ३३ ॥

तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकेष्वपि।
यान्युक्तानि हरीतक्यां वीर्यस्य तु विपर्ययः ॥ ३४ ॥

आंवले के गुण और कर्म—जो हरड़ में गुण और कर्म कहे हैं, उन्हें ही आंवलों में भी जाने। परन्तु आंवले का वीर्य उससे विपरीत है। हरीतकी उष्णवीर्य है और आंवला शीतवीर्य। राजनिघण्टु में इसके गुण इस प्रकार कहे हैं—

'आमलकं कषायाम्लं मधुरं शिशिरं लघु।
दाहपित्तवमीमेहशोफघ्नं च रसायनम् ॥
कटुमधुरकषायं किञ्चिदम्लं कफघ्नं
रुचिकरमतिशीतं हन्ति पित्तास्रतापम्।
भ्रमवमनविबन्धाध्मानविष्टम्भदोष-
प्रशमनममृताभं चामलक्याः फलं स्यात्' ॥ ३४ ॥

अतश्चामृतकल्पानि विद्यात्कर्मभिरीदृशैः ।
हरीतकीनां शस्यानि[1] भिषगामलकस्य च ॥ ३५ ॥

अतः उपर्युक्त कर्मों के कारण हरड़ और आंवले के बीजरहित फलों को अमृत के तुल्य जानें । यहां पर यह भी जता दिया कि जहां विशेषतः अस्थि (गुठली) न कही हो वहां हरड़ और आंवलों का ऊपर का मांस ही ग्रहण किया जाता है । अस्थिरहित शेष शुष्कभाग को 'दल' भी कहा जाता है । जैसे अन्यत्र भी कहा है—'पथ्या-दलानि गुरुणः पलपञ्चकं स्याद् ।' यहां 'दल' से अस्थिरहित भाग का ग्रहण है ॥ ३५ ॥

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवान् शैलसत्तमः ।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु ॥ ३६ ॥
आपूर्णरसवीर्याणि काले काले यथाविधि ।
आदित्यसलिलच्छायापवनप्रीणितानि च ॥ ३७ ॥
यान्यदग्धान्यपूतीनि निर्व्रणान्यगदानि च ।

रसायनार्थ हरड़ और आंवला आदि फल हिमालयोत्पन्न लेने चाहियें । श्रेष्ठ हिमालय पर्वत ओषधियों की उत्कृष्ट भूमि है । अतः अपनी ऋतुओं में उत्पन्न हुए (मौसमी) फलों को हिमालय पर्वत से ही समय २ पर यथाविधि ग्रहण करे । वे फल रस और वीर्य से पूर्ण होने चाहियें । सूर्य की धूप जल छाया और वायु से तृप्त होने चाहियें अर्थात् समय २ पर धूप आदि का जिनसे संसर्ग होता रहता हो ऐसे होने चाहियें । तथा च जो जले हुए न हों, सड़े हुए न हों, जिन पर कोई चोट न लगी हो, जो रोगरहित हों ॥ ३६–३७ ॥

तेषां प्रयोगं वक्ष्यामि फलानां कर्म चोत्तमम् ॥ ३८ ॥

उन फलों का प्रयोग और उत्तम कर्म अब कहूंगा ॥ ३८ ॥

---

१ 'शस्यानीति अस्थिरहितानि फलानि' चक्रः ।

अथ ब्राह्मरसायनम् ।

पञ्चानां पञ्चमूलानां भागान्दशपलोन्मितान् ।
हरीतकीसहस्रं च त्रिगुणामलकं नवम् ॥ ३९ ॥
विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् ।
विद्याद्विदारिगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम् ॥ ४० ॥
बिल्वाग्निमन्थस्योनाकं काश्मर्यमथ पाटलाम् ।
पुनर्नवां शूर्पपर्ण्यौ बलामैरण्डमेव च ॥ ४१ ॥
जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं सशतावरीम् ।
शरेक्षुदर्भकाशानां शालीनां मूलमेव च ॥ ४२ ॥
इत्येषां पञ्चमूलानां पञ्चानामुपकल्पयेत् ।
भागान्यथोक्तांस्तत्सर्वं साध्यं दशगुणेऽम्भसि ॥ ४३ ॥
दशभागावशेषं तु पूतं तं ग्राहयेद्रसम् ।
हरीतकीश्च ताः सर्वाः सर्वाण्यमलकानि च ॥ ४४ ॥
तानि सर्वाण्यनस्थीनि फलान्यापोथ्य कूर्चनैः ।
विनीय तस्मिन्निर्यूहे चूर्णानीमानि दापयेत् ॥ ४५ ॥
मण्डूकपर्ण्याः पिप्पल्याः शङ्खपुष्प्याः प्लवस्य च ।
मुस्तानां सविडङ्गानां चन्दनागुरुणोस्तथा ॥ ४६ ॥
मधुकस्य हरिद्राया वचायाः कनकस्य च ।
भागांश्चतुष्पलान् कृत्वा सूक्ष्मैलायास्त्वचस्तथा ॥ ४७ ॥
सितोपलासहस्रं च चूर्णितं तुलयाऽधिकम् ।
तैलस्य व्याढकं तत्र दद्यात्त्रीणि च सर्पिषः ॥ ४८ ॥
साध्यमौदुम्बरे पात्रे तत्सर्वं मृदुनाऽग्निना ।
ज्ञात्वा लेहमदग्धं च शीतं क्षौद्रेण संसृजेत् ॥ ४९ ॥
क्षौद्रप्रमाणं स्नेहार्धं तत्सर्वं घृतभाजने ।
तिष्ठेत्संमूर्च्छितं तस्य मात्रां काले प्रयोजयेत् ॥ ५० ॥

या नोपरुन्ध्यादाहारमेवं[1] मात्रा जरां प्रति ।
षष्टिकः पयसा चात्र जीर्णे भोजनमिष्यते ॥ ५१ ॥
वैखानसा वालखिल्यास्तथा चान्ये तपोधनाः ।
रसायनमिदं प्राप्य[2] बभूवुरमितायुषः ॥ ५२ ॥
मुक्त्वा जीर्णं वपुश्चाग्र्यमवापुस्तरुणं वयः ।
वीततन्द्राक्लमश्वासा निरातङ्काः समाहिताः ॥ ५३ ॥
मेधास्मृतिबलोपेताश्चिररात्रं तपोधनाः ।
ब्राह्मयं तपो ब्रह्मचर्यं चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया ॥ ५४ ॥
रसायनमिदं ब्राह्ममायुष्कामः[3] प्रयोजयेत् ।
दीर्घमायुर्वयश्चाग्र्यं कामांश्चेष्टान् समश्नुते ॥ ५५ ॥

इति ब्राह्मरसायनम्[4] ।

ब्राह्म रसायन—पांचों पञ्चमूलों के पृथक् पृथक् भाग १० पल लें (८ तोले का १ पल मानने से १ सेर), हरड़ १००० संख्या से (एक हरड़ को १ तोले का मानने से १२॥ सेर-यही वृद्धवैद्यों का व्यवहार है), ताज़े आंवले ३००० संख्या से (अथवा ३७॥ सेर); इन्हें एकत्र लेकर सारे से १० गुने जल में डालकर क्वाथ करें । जब जल का दसवां भाग रह जाय तब उसे नीचे उतार लें और निर्मल वस्त्र से छान लें । अब हरड़ और आंवलों को पृथक् कर गुठली निकाल दें और कुचल कर कूर्चन[5] से रेशे निकाल दें। कूर्चन में दस बीस सीधी सीधी सुइयां वा पतली २ शलाकायें लगी होती हैं। इसे आंवलों वा हरड़ की पीठी में एक ओर से दूसरी ओर तक फेरने से रेशे उन में फंस कर निकल आते हैं। यह लकड़ी वा बांस की तीलियों का बना अच्छा होगा । यदि कूर्चन पीतल आदि धातु का बना हो तो उस पर कलई होनी चाहिये । रेशे निकाल दें । हरड़ और आंवलों की पीठी को छाने हुए रस में डाल दें और उसमें इन का

१ '०मेकं' च. । २ 'प्राश्य' च. । ३ 'ब्राह्मय०' पा० । ४ 'ब्राह्मयरसायनप्रयोगः' पा० । ५ कूर्चनं जर्जरीयकरणसाधनं शिलापुत्रकमूषलादि' चक्रः ।

चूर्ण भी डाल दें। मण्डूकपर्णी, पिप्पली, शङ्खपुष्पी (संखाहुली), प्लव (केवटी मोथा), मोथा, वायविडङ्ग, लालचन्दन, अगर, मुलहठी, हल्दी, वच, कनक (नागकेसर), छोटी इलायची, दारचीनी; प्रत्येक का चूर्ण ४ पल (३२तोले)। मिसरी ११०० पल (११० सेर=१ मन ३० सेर)। तिलतैल २ आढक (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार ४ आढक=२५६ पल=२५ सेर ४८ तोला), घी ३ आढक(द्रवद्वैगुण्य-परिभाषाके अनुसार६आढक=३८४पल=३८सेर३२ तोला);इन्हें भी उसी में डाल दे। इस सारे को मन्द २ आंचसे ताम्रपात्र [कलई किये हुए] में पकाना चाहिये। जब लेह ठीक बन जाय तो नीचें उतार लें, दग्ध न होने दें। ठण्डा होने पर घृत और तैल के मिश्रित प्रमाण से आधे प्रमाण में (३२ सेर) विशुद्ध मधु मिला दें और अच्छी प्रकार मिश्रित करके घी के पात्र में (जो पात्र घी से भावित हो उस में) रख छोड़े।

पांच पञ्चमूल ये हैं। पहला पञ्चमूल—विदारिगन्धा (शालपर्णी), वृहती, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, गोखरू। इसे विदारीगन्धादिगण कहते हैं। इसे क्षुद्र पञ्चमूल भी कहा जाता है।

दूसरा पञ्चमूल—बिल्व (बेल), अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (सोनापाठा अरलू), काश्मर्य (गाम्भारी), पाटला (पाढल)। इसे महत्पञ्चमूल भी कहते हैं।

तीसरा पञ्चमूल—पुनर्नवा, दोनों शूर्पपर्णियां (मुद्गपर्णी और माषपर्णी), बला, एरण्ड।

चौथा पञ्चमूल—जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, शतावरी।

पांचवां पञ्चमूल—शर (सरकण्डा, सरपत), ईख, दर्भ (दाभ), काश(पं०—काही,जिसकी कलम वा लेखनी होती है)और शालि की जड़।

इन में से जो क्षुप हैं वा जिनकी जड़ें छोटी हैं उनकी सम्पूर्ण जड़ ही लेनी चाहिये और जिनके बड़े वृक्ष हैं जैसे महापञ्चमूल; उन के जड़ की छाल ली जाती है।

इन पांचों पञ्चमूलों की प्रत्येक औषध १० पल लेनी चाहिये। इस

प्रकार एक पञ्चमूल ५० पल (५ सेर) होगा । पांचों पञ्चमूल २५० पल (२५ सेर) लिये जांयगे ।

क्वाथ पाक के समय आंवलों और हरड़ों को खुला न डालकर यदि पतले कपड़े की एक ढीली पोटली में बांधकर डाल दें तो बड़ी सुगमता हो जाती है ।

इसे इस प्रकार भी पका सकते हैं—सबसे पूर्व क्वाथ पाक के समय आंवले और हरड़ की पोटली डाल दें । जब यथाविधि क्वाथ तैय्यार हो तो आंवले और हरड़ को पृथक् कर गुठली निकाल डालें और उन्हें पीसकर कपड़े की जाली वा कलई की हुई छाननी में से हाथ से मल मल कर निकालें । ऊपर रेशे आदि बच जांयगे, उन्हें फैंकदे । और नीचे निकली हुई पीठी को तेल और घी के यमक में भून लें । जब मृदु भुन जाय तब वस्त्र से छाना हुआ क्वाथ और मिसरी डाल दें । और मन्द २ आंच पर पकावें । जब ठीक पक जाय तब नीचे उतार लें और मण्डूकपर्णी आदि का चूर्ण डालकर लकड़ी के के खौंचे से अच्छी प्रकार मिला दें । शीतल होने पर मधु मिलावें । परन्तु इसमें हरड़ वा आंवलों की पीठी को भूनने के कारण सम्भव है गुण न्यून हो जाते हों । अत एव आचार्य ने यह विधि न लिखकर पूर्वोक्त विधि बताई है ।

पूर्व विधि के अनुसार क्वाथ पीठी चूर्ण मिसरी तेल और घी सब एकवार ही डालकर पकाया जाता है । जब मन्द आंच पर पकाते २ अवलेह का पाक उचित रूप से हो जाता है, तब नीचे उतार लेते हैं और शीतल होने पर मधु मिलाते हैं ।

इस लेह की उतनी ही मात्रा खानी चाहिये जिससे भूख न मारी जाय और इसका सेवन करने वाला यथाकाल पूर्ववत् आहारराशि का भोजन करे । साधारण मात्रा—१तोला । इस औषध के जीर्ण होने पर दूध के साथ सांठी का ओदन (भात) खाये ।

वैखानस बालखिल्य तथा अन्य तपस्वी लोग इस रसायन को पाकर अपरिमित अर्थात् दीर्घ आयु को पा चुके हैं। उन्होंने अपने जीर्ण (वृद्ध) शरीर को छोड़कर श्रेष्ठ तरुण वय (अथवा जवानी) को पाया था। इसके सेवन से उन तपस्वियों ने तन्द्रा क्लम और श्वास (श्रमजन्य) से रहित, नीरोग, मेधा स्मृति और बल से युक्त होकर बहुत दिन तक समाधि में रहते हुए ब्राह्मतप और ब्रह्मचर्य का अत्यन्त निष्ठा (श्रद्धा और लगन) से आचरण किया। दीर्घायु को चाहने वाला इस ब्राह्मरसायन का प्रयोग करे। इसके प्रयोग से सेवक दीर्घ आयु श्रेष्ठवय (तरुणवय) तथा अभीष्ट कामनाओं को प्राप्त होता है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी यह प्रयोग दिया गया है, जिससे घी तैल के प्रमाण को द्विगुण करने का भी प्रमाण मिल जाता है—

‘ पथ्यासहस्रं त्रिगुणधात्रीफलसमन्वितम् ।
पञ्चानां पञ्चमूलानां सार्द्धं पलशतद्वयम् ॥
जले दशगुणे पक्त्वा दशभागस्थिते रसे ।
आपोथ्य कृत्वा व्यस्थीनि विजयामलकान्यथ ॥
विनीय तस्मिन्निर्यूहे योजयेत् कुडवांशकम् ।
त्वगेलामुस्तरजनीपिप्पल्यगुरुचन्दनम् ॥
मण्डूकपर्णीकनकशङ्खपुष्पीवचाप्लवम् ।
यष्ट्याह्वयं विडङ्गं च चूर्णितं तुलयाधिकम् ॥
सितोपलार्द्धभारं च पात्राणि त्रीणि सर्पिषः ।
द्वे च तैलात्पचेत्सर्वं तदग्नौ लेहतां गतम् ॥
अवतीर्णं हिमं युञ्ज्याद्विंशैः क्षौद्रशतैस्त्रिभिः ।
ततः खजेन मथितं निदध्याद् घृतभाजने ॥
एतद्रसायनं ब्राह्मं सम्यं पूर्वेण सर्वथा ।
वैखानसाः बालखिल्याः प्राश्य प्राप्ता नवं वयः ॥
आरोग्यममितं चायुर्धीततन्द्राश्रमक्लमाः ’ ॥ ३९-५५ ॥

अथ द्वितीयं ब्राह्मरसायनम् ।

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रं पिष्टस्वेदनविधिना[1] पयस ऊष्मणा सुस्विन्नमनातपशुष्कमनास्थि चूर्णयेत्, तदामलकसहस्रस्वरसपरिपीतं स्थिरापुनर्नवाजीवन्तीनागबलाब्रह्मसुवर्चलामण्डूकपर्णीशतावरीशङ्खपुष्पीपिप्पलीवचाविडङ्गस्वयंगुप्तामृताचन्दनागुरुमधुकमधूकपुष्पोत्पलपद्ममालतीयुवतीयूथिकाचूर्णाष्टभागसंयुक्तं, पुनर्नागबलासहस्रपलस्वरसपरिपीतमनातपशुष्कं द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा क्षुद्रगुडाकृतिं कृत्वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे भस्मराशेरधः स्थापयेदन्तर्भूमेः पक्षं कृतरक्षाविधानमथर्ववेदविदा, पक्षात्यये चोद्धृत्य कनकरजतताम्रप्रवालकालायसचूर्णाष्टभागसंयुक्तमर्धकर्षवृद्ध्या यथोक्तेन विधिना प्रातः प्रातः प्रयुञ्जानोऽग्निबलमभिसमीक्ष्य जीर्णे च षष्टिकं पयसा ससर्पिष्कमुपसेवमानो यथोक्तान् गुणान् समश्नुत इति ॥ ५६ ॥

ऊपर कहे गये गुणों से युक्त आंवले १००० (१२॥सेर) लेकर पिष्टस्वेदन की विधि से दूध की ऊष्मा पर स्विन्न करें। अभिप्राय यह है कि एक हांडी वा पतीली में दूध डाल दे और उसके मुख पर दूसरी हांडी वा घड़ा जिसके पेंदे में कई छिद्र हों सीधा रख दें और दोनों की सन्धि को आटे से वा मिट्टी से बन्द कर दें। ऊपर के पात्र में आंवले भर दें। नीचे से मन्द २ आंच दें। दूध की जो गरम भाप निकलेगी उससे ये आंवले स्विन्न हो जांयगे। दूध इतना ही डालना चाहिये जो उबलने पर ऊपर की हांडी में न आय। यदि उफान आता प्रतीत हो तो नीचे के पात्र पर शीतल जल में भीगा कपड़ा फेर दें। ऊपर की हांडी के मुख को भी शराव से ढक देना चाहिये। जब आंवले स्विन्न हो जांय तब उनकी गुठली निकाल कर फैंक दें। और शेष भाग को छाया में सुखा लें। अच्छी प्रकार सूख जाने

---

१ 'पिष्टे स्वेदनविधिना' च. । 'पिष्ट्वा स्वेदनविधिना' पा० ।

पर उनका चूर्ण कर लें। आंवलों के इस चूर्ण को १००० ताज़े आंवलों का स्वरस पिलादें अर्थात् आंवलों का रस डालकर रख दें। जब रस सूख जाय तब शालपर्णी, पुनर्नवा, जीवन्ती, नागबला (गंगेरन), ब्रह्मसुवर्चला (ब्राह्मी), मण्डूकपर्णी, शतावर, की जड़ शङ्खपुष्पी (संखाहुली), पिप्पली, वचा, वायविडङ्ग, स्वयंगुप्ता (कौंच-बीज), अमृता (गिलोय), लालचन्दन, अगर, मुलहठी, मधूकपुष्प (महुए के फूल), उत्पल (नीलोत्पल—नीलाकमल), पद्म (श्वेतकमल), मालती के फूल, युवती (तरुणी नामक पुष्पविशेष अथवा गुलाब), यूथिका (जूही के फूल); इनका चूर्ण—जो मिलाकर आमलकरससे भावित आंवलों के चूर्ण से अष्टमांश हो—उसमें मिश्रित करें। तत्पश्चात् इस चूर्ण में १००० पल (२ मन २० सेर) ताज़ी नागबला का रस डालकर छाया में सुखावें। जब सूख जाय तब पुनः पीस लें और दुगुने घी अथवा एकत्र मिश्रित घी और मधु को मिलाकर फाणित (राब) के आकार का कर लें। अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार 'द्विगुणित-सर्पिषा क्षौद्रसर्पिषा वा' के स्थल पर 'द्विगुणितसर्पिषा क्षौद्रेण' यह पाठ होना चाहिये। इसके अनुसार अर्थ यह होगा मधु १ भाग और घी २ भाग इस अनुपात में दोनों को मिश्रित करके इतना चूर्ण में मिलायें जिससे आकृति राब के सदृश हो जाय। हमें तो अष्टाङ्गसंग्रहकार का पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है।

तदनन्तर इसे घी से भावित स्वच्छ और दृढ़ घड़े में डाल दें। और उसका मुख बन्द कर दें। भूमि में गर्त्त खोदकर बारह या सोलह अंगुल उपलों की राख बिछा दें उस पर घड़ा रख दें। शेष गर्त्त को उपलों की राख से ही भर दें। घड़े के मुख के ऊपर तथा चारों ओर बारह बारह या सोलह सोलह अंगुल राख आ जानी चाहिये। घड़े को अथर्ववेद के ज्ञाता द्वारा रक्षाविधान करवा कर उस गर्त में रखना चाहिये। एक पक्ष वा १५ दिन तक घड़ा वहीं पड़ा रहे। १५ दिन

के बाद निकाल कर सोना, चांदी, ताम्र, प्रवाल (मूंगा), कालायस (फौलाद); इन की समभाग में मिश्रित भस्मों को औषध से अष्टमांशभाग में मिश्रित करदे । इस रसायन को यथोक्तविधि (कुटीप्रावेशिक) से अग्नि के बल के अनुसार आधे कर्ष (१ तोला) से प्रारम्भ कर आधा आधा कर्ष बढ़ाते हुए प्रतिदिन प्रातःकाल सेवन करे । आज कल के नागरिक मनुष्यों के शरीरों के अनुसार १२ रत्ती (१॥ मासा) मात्रा पर्याप्त है । जब यह जीर्ण हो जाय तो घृतयुक्त सांठी के भात को दूध के साथ सेवन करे । इससे सेवन करने वाला दीर्घ आयु तरुण वय आदि गुण जो पूर्व की रसायन में कह आये हैं या जो अभी कहे जांयगे उन सब गुणों को प्राप्त होता है ॥ आंवलों को इस प्रकार भी स्विन्न कर सकते हैं—हांडी में दूध डालकर सूखी घास उसमें भर दें और घास पर आंवलों को रख दें । नीचे से आग देने पर दूध की भाप से आंवले स्विन्न हो जांयगे । अथवा हांडी में दूध डालकर हांडी के मुख पर पतला मलमल का कपड़ा वा जाली बांध दें और उस पर आंवले रख दे । एक दूसरी हांडी औंधे मुख पहली हांडी के मुख पर रख दें । मन्द २ आंच दें। आंवले भाप से स्विन्न हो जांयगे ।

भस्मों को यदि पूर्व ही मिला रखना अभीष्ट न हो तो सेवन के समय मात्रा में उसी अनुपात में मिलाकर प्रयोग करा सकते हैं ॥५६॥

भवन्ति चात्र ।

इदं रसायनं ब्राह्मं[1] महर्षिगणसेवितम् ।
भवत्यरोगो दीर्घायुः प्रयुञ्जानो महाबलः ॥ ५७ ॥
कान्तः प्रजानां सिद्धार्थश्चन्द्रादित्यसमद्युतिः ।
श्रुतं धारयते सत्त्वमार्षं चास्य प्रवर्तते ॥ ५८ ॥
धरणीधरसारश्च वायुना समविक्रमः ।

---

१ 'ब्राह्मयं' पा० ।

स भवत्यविषं चास्य गात्रे संपद्यते विषम् ॥ ५९ ॥

इति ब्राह्म[1]रसायनद्वितीययोगः।

यह महर्षियों से सेवित ब्रह्मरसायन है। इसके सेवन से पुरुष नीरोग, दीर्घायु, महाबलशाली, जनता में अपने प्रतिभा आदि गुणों से चमकने वाला होता है, उसकी कामनायें सिद्ध होजाती हैं, चन्द्र और सूर्य के समान तेजस्वी होता है। वेदादि सच्छास्त्रों को धारण कर लेता है अथवा जो कुछ सुनता है उसे उसी समय समझ लेता है और उसे वह कण्ठस्थ होजाता है। उसका सत्त्व (मन) आर्ष (ऋषि सम्बन्धी) होजाता है। पर्वत के समान सारयुक्त—डील डौल तथा बलशाली, वायु के सदृश विक्रमयुक्त होजाता है। सेवन करने वाले पुरुष के देह में विष भी अपने विषप्रभाव से रहित होजाता है। आर्षसत्त्व का लक्षण शारीरस्थान चतुर्थ अध्याय में आचुका है—

'इज्याध्ययनव्रतहोमब्रह्मचर्यपरमतिथिव्रतमुपशान्तमदमानरागद्वेषमोहलोभरोषं प्रतिभावचनविज्ञानोपधारणशक्तिसम्पन्नमार्षं विद्यात् ॥'

च्यवनप्राशः।

बिल्वाग्निमन्थौ स्योनाकः काश्मरी पाटलिर्बला।
पर्ण्यश्चतस्रः पिप्पल्यः श्वदंष्ट्रा बृहतीद्वयम् ॥ ६० ॥
शृङ्गी तामलकी द्राक्षा जीवन्ती पुष्करागुरु।
अभया चामृता ऋद्धिर्जीवकर्षभकौ शठी ॥ ६१ ॥
मुस्तं पुनर्नवा मेदा एला चन्दनमुत्पलम्।
विदारी वृषमूलानि काकोली काकनासिका ॥ ६२ ॥
एषां पलोन्मितान्भागाञ्शतान्यामलकस्य च।
पञ्च दद्यात्तदेकत्र जलद्रोणे विपाचयेत् ॥ ६३ ॥
ज्ञात्वा गतरसान्येतान्यौषधान्यथ तं रसम्।
तच्चामलकमुद्धृत्य निष्कुलं तैलसर्पिषोः ॥ ६४ ॥
पलद्वादशके भृष्ट्वा दत्त्वा चार्धतुलां भिषक्।

१ 'ब्राह्मय०' पा०।

मत्स्यण्डिकायाः पूताया लेहवत्साधु साधयेत् ॥ ६५ ॥
षट्पलं मधुनश्चात्र सिद्धशीते समावपेत् ।
चतुष्पलं तुगाक्षीर्याः पिप्पलीद्विपलं तथा ॥ ६६ ॥
पलमेकं निदध्याच्च त्वगेलापत्रकेशरात् ।
इत्ययं च्यवनप्राशः परमुक्तो रसायनः ॥ ६७ ॥
कासश्वासहरश्चैष विशेषेणोपदिश्यते ।
क्षीणक्षतानां वृद्धानां बालानां चाङ्गवर्धनः ॥ ६८ ॥
स्वरक्षयमुरोरोगं हृद्रोगं वातशोणितम् ।
पिपासां मूत्रशुक्रस्थान्दोषांश्चाप्यपकर्षति ॥ ६९ ॥
अस्य मात्रां प्रयुञ्जीत योपरुन्ध्यान्न भोजनम् ।
अस्य प्रयोगाच्च्यवनः सुवृद्धोऽभूत्पुनर्युवा ॥ ७० ॥
मेधां स्मृतिं कान्तिमनामयत्वमायुःप्रकर्षं बलमिन्द्रियाणाम् ।
स्त्रीषु प्रहर्षं परमग्निवृद्धिं वर्णप्रसादं पवनानुलोम्यम् ॥ ७१ ॥
रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटीप्रवेशात् ।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ॥ ७२ ॥

इति च्यवनप्राशः ।

च्यवनप्राश—बिल्व (बेल) की छाल, अरणी की छाल, श्योनाक (अरलू) की छाल, गाम्भारी की छाल, पाटला (पाढ़ल) की छाल (ये सब छालें मूल की होनी चाहियें), बलामूल (खरैंटी की जड़), चारों पर्णियां अर्थात् शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी और माषपर्णी, पिप्पली, गोखरू, दोनों बृहती अर्थात् छोटी कण्टकारी और बड़ी कण्टकारी अथवा बड़े फल वाली और छोटे (चने के सदृश) फलवाली दोनों प्रकार की बृहती, काकड़ासिंगी, तामलकी (भुंई आंवला), द्राक्षा (मुनक्का), जीवन्ती, पुष्करमूल (पोहकरमूल), अगर, हरड़, गिलोय, ऋद्धि, जीवक, ऋषभक, कचूर, मोथा, पुनर्नवा, मेदा, छोटी

इलायची, लालचन्दन, नीलोत्पल (नीलाकमल), विदारीकन्द, वासकमूल (अडूसे की जड़), काकोली, काकनासा (कौआठोडी); प्रत्येक १ पल (८ तोले), आंवले ५०० (६। सेर); इन्हें एकत्र १ द्रोण (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार २ द्रोण) जल में पकावें। आंवलों को ढीली पोटली में बांधकर डालना चाहिये। जब देखें कि औषधियों का रस क्वाथ में आ गया है और वे नीरस हो गई हैं तब क्वाथ को नीचे उतार लें। आंवलों की पोटली को पृथक् कर लें और क्वाथ को वस्त्र से छान लें। नीरस औषधियों को फैंक दें। आंवलों में से गुठली निकाल दें और हाथ से अच्छी प्रकार कुचल डालें। अब इस पीठी को छानने के लिये किसी लकड़ी वा मिट्टी के पात्र के मुख पर कपड़े की जाली बांध दें। इस जाली पर आंवलों की थोड़ी थोड़ी पीठी डालकर हथेली से मसलते जांय। रेशे ऊपर रह जांयगे और शेष भाग नीचे चला जायगा। रेशों को फैंक दें। अब आंवलों की पीठी को तैल और घी मिलाकर १२ पल (१ सेर १६ तोले) में भूनें। तैल ६ पल और घी ६ पल लेना चाहिये। जब ठीक प्रकार से ईषद्भृष्ट हो जांय तब उन्हें उतार ले। अब छाने हुए क्वाथ में मत्स्यण्डिका (फाणित, राब अथवा दानेदार खांड) आधी तुला [५० पल वा ५ सेर] डालकर घोल दें। पुनः इसे वस्त्र से छानकर और इसी में आंवलों की पीठी डालकर आग पर चढ़ा दें। मन्द मन्द आंच से पकावें। जब लेह की तरह सिद्ध हो जाय तो नीचे उतार लें। भूनने और पकाते समय लकड़ी के बने खज से लगातार हिलाते रहना चाहिये अन्यथा औषध के दग्ध हो जाने का भय होता है। शीतल हो जाने पर शहद ६ पल [४८ तोले], वंशलोचन ४ पल [३२ तोले], पिप्पली २ पल [१६ तोले], दालचीनी छोटी इलाचयी तेजपत्र नागकेसर चारों मिलाकर १ पल अर्थात् प्रत्येक २ तोला; इनका प्रक्षेप देकर अच्छी प्रकार आलोडित करें। चिकित्साकलिका में—

शृङ्गीतामलकीफलत्रिकबलाछिन्नाविदारीशठी-
जीवन्तीदशमूलचन्दनघनैर्नीलोत्पलैलावृषैः।
मृद्वीकाष्टकवर्गपौष्करयुतैः सार्द्धं पृथक् पालिकैः
अब्द्रोणेन शतानि पञ्च विपचेद् धात्रीफलानामतः॥
उद्धृत्यामलकानि तैलघृतयोः षड्भिश्च षड्भिः पलैः
भृष्टान्यर्द्धतुलां निधाय विधिवन्मत्स्यण्डिकायाः पचेत्।
शीते षण्मधुनः पलानि कुडवं वांश्याश्चतुर्जातका-
न्मुष्टिर्मागधिका पलद्वयमयं प्राशः स्मृतश्च्यावनः॥

यह पढ़ा है। इसमें क्वाथ्य द्रव्यों में थोड़ा सा भेद है। इस संहिता में जो द्रव्य पढ़े गये हैं चिकित्साकलिका में उनमें से मुद्गपर्णी, माषपर्णी, पिप्पली, अगर, पुनर्नवा और काकनासा; ये छह द्रव्य नहीं पढ़े और वृद्धि, क्षीरकाकोली, महामेदा, बहेड़ा और आंवला ये पांच द्रव्य अधिक पढ़े हैं। परिमाण दोनों में एक से हैं। हां क्वाथ्यद्रव्यों में एक क्वाथ्यद्रव्य की संख्या कम होने से चिकित्साकलिका में कहे गये मिलित क्वाथ्यद्रव्य ३५ पल होते हैं जहां चरक में ३६ पल हैं। योगरत्नाकर में—

'शृङ्गीतामलकीकणोत्पलबलापथ्याष्टवर्गामृता-
जीवन्तीत्रुटिचन्दनागुरुशठीद्राक्षाविदार्यम्बुदैः।
वर्षाभूदशमूलपुष्करवृषैः सार्द्धं पृथक् पालिकै-
रब्द्रोणेन शतानि पञ्च विपचेद्धात्रीफलानामतः॥'

ऐसा पाठ है। इससे अगला श्लोक चिकित्साकलिका के सदृश ही है। चरकसंहिता में कही गई क्वाथद्रव्यों की संख्या और योगरत्नाकरोक्त संख्या एक जितनी ही है। परन्तु योगरत्नाकर में मुद्गपर्णी, माषपर्णी और काकनासा न पढ़ कर वृद्धि, क्षीरकाकोली और महामेदा; ये अष्टवर्गोक्त द्रव्य विशेष पढ़े हैं। शार्ङ्गधर में—

'पाटलारणिकाश्मर्यबिल्वारलुकगोक्षुराः।

पर्ण्यौ बृहत्यौ पिप्पल्यः शृङ्गी द्राक्षामृताभयाः ॥
बला भूम्यामली वासा ऋद्धिर्जीवन्तिका शठी ।
जीवकर्षभकौ मुस्तं पौष्करं काकनासिका ॥
मुद्गपर्णी माषपर्णी विदारी च पुनर्नवा ।
काकोल्यौ कमलं मेदे सूक्ष्मैलागुरुचन्दनम् ॥
एवैकं पलसम्मानं स्थूलचूर्णितमौषधम् ।
एकीकृत्य बृहत्पात्रे पञ्चामलशतानि च ॥
पचेद् द्रोणजले क्षिप्त्वा ग्राह्यमष्टांशशेषितम् ।
ततस्तु तान्यामलानि निष्कुलीकृत्य वाससा ॥
दृढहस्तेन सम्मर्द्य क्षिप्त्वा तत्र ततो घृतम् ।
पलसप्तमितं तानि किञ्चिद्भृष्टान्यवह्निना ॥
ततस्तत्र क्षिपेत्क्वाथं खण्डं चार्धतुलोन्मितम् ।
लेहवत्साधयित्वा च चूर्णानीमानि दापयेत् ॥
पिप्पली द्विपला ज्ञेया तुगाक्षीरी चतुष्पला ।
प्रत्येकं च त्रिशाणं स्यात् त्वगेलापत्रकेशरम् ॥
ततस्त्वेकीकृते तस्मिन् क्षिपेत् क्षौद्रं च षट्पलम् ॥

इसके अनुसार क्वाथ्य द्रव्यों में दो द्रव्य अर्थात् क्षीरकाकोली और महामेदा अधिक हैं । जिनसे मिलित क्वाथ्य द्रव्यों की मात्रा भी ३८ पल हो जाती है । चरक में क्वाथपाक का सिद्ध होना तब कहा है जब औषधियों का सारा रस क्वाथ में आ जाय । चक्रपाणि ने 'गतरसानि' की टीका करते हुए चतुर्थांश अवशिष्ट रखने को कहा है । इसी प्रकार चिकित्साकालिका की टीका करते हुए चन्द्रट ने भी यही कहा है । अष्टाङ्गसङ्ग्रह में भी 'पादशेषं रसं' से चतुर्थांश अवशिष्ट रखना बताया है । शार्ङ्गधर में अष्टमांश अवशिष्ट रखने का विधान है । इसके अतिरिक्त शार्ङ्गधर ने आंवले की पीठी को भूनने में तैल को नहीं पढ़ा । और ६ पल घी के स्थल पर ७ पल घी लेने को कहा है । इसी प्रकार प्रक्षेप में दारचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र और नागकेसर

को पृथक् पृथक् तीन शाण परिमाण में लेने को कहा है, जहां चरक संहिता में इनका परिमाण कर्ष कर्ष आया है ।

यह च्यवनप्राश परम रसायन है । विशेषतः कास और श्वास को नष्ट करता है । क्षीण वा उरःक्षत के रोगियों वृद्धों और बालकों के अङ्गों को बढ़ाता है । स्वरक्षय, उरोरोग (छाती वा फुप्फुस के रोग), हृद्रोग, वातरक्त, तृषा तथा मूत्रदोष और वीर्यदोषों को नष्ट करता है । इसकी उतनी मात्रा खानी चाहिये जिससे आहार में रुकावट न हो । इसके प्रयोग से अत्यन्त वृद्ध च्यवन ऋषि पुनः युवा होगया था । इस रसायन के प्रयोग से पुरुष मेधा, स्मृति, कान्ति, नीरोगिता, दीर्घ आयु, इन्द्रियों की सबलता, मैथुन में समर्थता, देहाग्नि की दीप्ति, वर्ण की निर्मलता, वायु का अनुलोम होना; इन्हें प्राप्त होता है । कुटीप्रावेशिक विधि से इसे प्रयोग करने वाला वृद्ध पुरुष भी वार्द्धक्य के चिन्हों से रहित होकर नई जवानी के रूप को धारण करता है । मात्रा— १ तोले से २ तोले तक ॥ ६०—७२ ॥

चत्वारि रसायनानि

अथामलकहरीतकीनामामलकबिभीतकानां हरीतकीबिभीतकानामामलकहरीतकीबिभीतकानां वा पलाशत्वगवनद्धानां मृदावलिप्तानां कुकूल[1]स्विन्नानामकुलकानां पलसहस्रमुदूखले संपोथ्य दधिघृतमधुपललतैलशर्करासंप्रयुक्तं भक्षयेदनन्नभुग्यथोक्तेन विधिना, तस्यान्ते यवाग्वादिभिः प्रत्य[2]वस्थापनं, अभ्यङ्गोत्सादनं सर्पिषा यवचूर्णैश्च, अयं[3] च रसायनप्रयोगप्रकर्षो द्विस्तावदग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रतिभोजनं यूषेण पयसा वा षष्टिकः

१ 'कुकूलकः करीषाग्निः' चक्रः ।
२ 'प्रत्यवस्थापनं' च. । 'प्रत्यवस्थापनमिति यवाग्वादिक्रमविशेषणं, तेन प्रयोगान्ते यदा अभ्यङ्गोत्सादनं कर्तव्यं, तदा यवाग्वादिक्रमेणोत्युक्तस्यार्थस्य प्रत्यवस्थापनं क्रियत इत्यर्थः' चक्रः । ३ 'अपि च' च. ।

ससर्पिष्कः, अतः परं यथासुखविहारः कामभक्ष्यः स्यात्; अनेन प्रयोगेणर्षयः पुनर्युवत्वमवापुः, बभूवुश्चानेकवर्षशतजीविनो निर्विकाराः परं शरीरबुद्धीन्द्रियबलसमुदिताः, चेरुश्चात्यन्तनिष्ठया तप इति ॥ ७३ ॥

इति चतुर्थामलकरसायनम् ।

चार रसायनें—आंवले और हरड़ें, आंवले और बहेड़े; हरड़ें और बहेड़े अथवा आंवले हरड़ें और बहेड़े; इन चारों में से किसी एक योग पर पर पलाश [ढाक] की ताजी आर्द्र छाल अच्छी प्रकार लपेट दें और ऊपर मिट्टी लीप दें। इसे उपलों की अग्नि में स्विन्न कर लें। पलाश के छाल के तथा अपने जलीयभाग के बाष्पों से वे स्विन्न हो जांयगे। अब सम्पुट को उपलों की अग्नि से बाहिर कर खोल ले और उनकी गुठलियों को निकाल फैंके। इस प्रकार स्विन्न गुठली से रहित उस योग को १००० पल [यदि आंवले और हरड़ों का योग हो तो ५०० पल स्विन्न तथा गुठली रहित आंवले और ५०० पल स्विन्न एवं गुठली रहित हरड़ें होनी चाहियें) अर्थात् १०० सेर परिमाण मे लेकर ऊखल मे कुचल ले। इस में दही घी मधु तिल-कल्क तिलतैल तथा शर्करा [खांड] मिलाकर कुटीप्रावेशिक विधि से खावे। और कोई आहार न करे। इसके पश्चात् पेया आदि के क्रम से पथ्य पर रखते हुए प्रकृति का स्थापन करे और प्रकृतिभोजन [स्वाभाविक भोजन] पर ले आवें। प्रतिदिन घी की मालिश और जौ के आटे से उत्सादन [उबटन] करना चाहिये। अग्निके बल को देखते हुए इस रसायनको अधिकसे अधिक दिन में दो बार प्रयोग कराना चाहिये। भोजन के समय घृतयुक्त सांठी के भात को यूष वा दूध के साथ सेवन करे। तदनन्तर जिस प्रकार आरोग्य रहे ऐसा विहार करता हुआ यथेष्ट भोजन करे। इसके प्रयोग से ऋषि पुनः युवा हो गए थे तथा कई सौ वर्ष तक नीरोग एवं देह बुद्धि और इन्द्रियों के बल से युक्त रहते हुए जीवित रहे थे और

अत्यन्त लगन और श्रद्धा से तपश्चरण करते रहे थे ।

यद्यपि हमने सामान्य नियम के अनुसार रसायनके प्रति द्रव्य की मात्रा लिखी है तो भी इन प्रयोगोंमें आंवले हरड़ बहेड़ेकी मात्रा का देह काल आदि के अनुसार निर्धारित करना अच्छा होगा । तथा च दही घी आदि का मिलित प्रमाण प्रधान औषध के समान होना चाहिये । अथवा दही आदि का पृथक् २ प्रमाण ही प्रधान औषध के समान होवे क्योंकि अन्य आहार यहां पर सर्वथा वर्जित है । यथाविधि प्रयोग के पश्चात् जितने दिन रसायन का प्रयोग कराया गया है उससे दुगुने दिन तक यवागू यूष दूध सांठी के भात आदि पथ्य का प्रयोग होगा और घी की मालिश तथा जौ का उबटन प्रयुक्त होगा । अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर० अ० ४९ में—

'प्रयोगान्ते ततो द्विगुणं कालं यवागूयूषक्षीरघृतषष्टिकान्नमाहारोऽभ्यञ्जनं सर्पिरुद्वर्तनं यवचूर्णमिति ॥' ७३ ॥

हरीतक्यादियोगः ।

हरीतक्यामलकबिभीतकपञ्चपञ्चमूलनिर्यूहेण[1] पिप्पलीमधुमधूककाकोलीक्षीरकाकोल्यात्मगुप्ताजीवकर्षभकक्षीरशुक्लाकल्कसंप्रयुक्तेन विदारीस्वरसेन क्षीराष्टगुणसंप्रयुक्तेन च सर्पिषः कुम्भं साधयित्वा प्रयुञ्जानोऽग्निबलसमां मात्रां, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमुष्णोदकानुपानमश्नन् , जराव्याधिपापाभिचारव्यपगतभयः शरीरेन्द्रियबुद्धिबलमतुलमुपलभ्याप्रतिहतसर्वारम्भः परमायुरवाप्नुयादिति ॥ ७४ ॥

इति पञ्चमो हरीतकीयोगः[2] ।

हरीतक्यादिरसायन—हरड़, आंवला, बहेड़ा और पांचों पञ्चमूल; इन के क्वाथ, विदारीकन्द के स्वरस, आठ गुने दूध और पिप्पली, मुलहठी, महुए के फूल, काकोली, क्षीरकाकोली, कौंचबीज, जीवक,

---

१ '०निर्यूहे' च. । २ 'इति पञ्चमामलकरसायनम्' च. ।

ऋषभक, क्षीरशुक्ला (क्षीरविदारी); इनके कल्क से २ द्रोण (द्रव. द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ४ द्रोण) गोघृत को यथाविधि सिद्ध कर। जठराग्नि के बल के अनुसार इसकी मात्रा का प्रयोग करना चाहिये। इसके जीर्ण होजाने पर दूध और घी से शालि वा सांठी का भात खावे। अनुपान गरम जल हो। इसके प्रयोग से जरा रोग पाप वा अभिचारकर्म से भय नहीं रहता। देह इन्द्रिय और बुद्धि का बल अनुपम वा अत्यधिक होजाता है। सब कर्म निर्विघ्न पूर्ण होते हैं और दीर्घ वा पूर्ण आयु प्राप्त होती है। इस रसायन घृतयोग में क्वाथ स्वरस और कल्क का प्रमाण नहीं दिया गया। अतः सामान्य परिभाषा—

' जलस्नेहौषधानाञ्च प्रमाणं यत्र नेरितम्।
तत्र स्यादौषधात्स्नेहः स्नेहात्तोयं चतुर्गुणम्॥ '
' पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसम्विधौ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् च स्याच्चतुर्गुणम्॥ '

के अनुसार घी से चौगुना हरीतकी आदि का क्वाथ, चौगुना ही विदारीकन्द का रस लेना चाहिये तथा घी से चतुर्थांश पिप्पली आदि द्रव्यों का मिलित कल्क डाला जायगा। अर्थात् घी ४ द्रोण (१०२४ पल=२ मन २२ सेर ३२ तोला), हरड़ आदि का क्वाथ १६ द्रोण (४०९६=१० मन ९ सेर ४८ तोले), विदारीकन्द का रस १६ द्रोण, पिप्पली आदि द्रव्यों का कल्क १ द्रोण (२५६ पल=२५ सेर ४८ तोले)। दूध ३२ द्रोण (२० मन १९ सेर १६ तोले)। अथवा अष्टाङ्गसंग्रहकार के अनुसार इनका प्रमाण ग्रहण किया जाता है—

' अभयामलकबिभीतकपञ्चात्मकपञ्चमूलनिर्यूहे।
वल्लीपलाशकरसे द्विगुणे क्षीरेऽष्टगुणे च विपचेत॥
'घृतस्य कुम्भं मधुकं मधूकं काकोलियुग्मं च बलां स्वगुप्ताम्॥

सक्षीरशुक्लमृषभं सजीवमुष्णाम्बुपस्तच्च पिबेत् गुणाढ्यम् ॥

घी ४ द्रोण । हरड़ आदि का क्काथ ८ द्रोण । विदारीकन्द का रस ८ द्रोण । दूध ३२ द्रोण । पिप्पली आदि का कल्क १ द्रोण । यथाविधि घृतपाक करें । चक्रपाणि के अनुसार घी का एक भाग, हरड़ आदि के क्काथ का एक भाग, विदारीस्वरस १ भाग, दूध के ८ भाग और कल्क का चौथा भाग लिया जाता है । अर्थात् घी ४ द्रोण । हरड़ आदि का क्काथ ४ द्रोण । विदारीस्वरस ४ द्रोण । दूध ३२ द्रोण और कल्क १ द्रोण से यथाविधि घृतपाक करना चाहिये । घृत की मात्रा $\frac{1}{2}$ तोले से १ तोले तक । पांचों पञ्चमूल ब्राह्मरसायन में कहे जा चुके हैं ॥ ७४ ॥

हरीतक्यादियोगः

हरीतक्यामलकबिभीतकहरिद्रास्थिरावचाविडङ्गामृतवल्ली-विश्वभेषजमधुकपिप्पलीसोमवल्कसिद्धेन क्षीरसर्पिषा मधुशर्करा-भ्यामपि च सन्नीयामलकस्वरसपरिपीतशतपलपरिमितमामलक-चूर्णमयश्चूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं पाणितलमात्रं प्रातः प्रातः प्राश्य यथोक्तेन विधिना सायं मुद्गयूषेण पयसा वा ससर्पिष्कं शालिषष्टि-कमश्नीयात्; त्रिवर्षप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठति, श्रुत-मवतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, विषमविषीभवति गात्रे, गात्रमश्मवत् स्थिरीभवति, अदृश्यो भूतानां भवतीति ॥७५॥

इति षष्ठो हरीतकीयोगः ।

हरीतक्यादियोग—आंवलों के १०० पल चूर्ण को आंवले का रस पिला कर सुखालें । इस चूर्ण में चतुर्थांश तीक्ष्णलोहभस्म मिला दें । अब इसमें हरड़, आंवला, बहेड़ा, हल्दी, शालपर्णी, वच, वायविडङ्ग, गिलोय, सोंठ, मुलहठी, पिप्पली, सोमवल्क (श्वेतखदिर); इन के कल्क से सिद्ध किया गया दूध से निकाला घी तथा मधु और खांड को मिश्रित करके प्रतिदिन प्रातः कुटीप्रावेशिक विधि से एक कर्ष मात्रा

में सेवन करे । इस रसायन के जीर्ण होने पर सायंकाल मूंग के यूष अथवा दूध के साथ प्रभूत घृत युक्त शालि अथवा सांठी का भात खाये । तीन वर्ष तक निरन्तर इसका प्रयोग होने पर वृद्धावस्था से रहित होकर १०० वर्ष तक जीता है । सुना हुआ उपस्थित रहता है । सब रोग शान्त हो जाते हैं । शरीर में विष का विषप्रभाव नहीं होता । देह पत्थर की तरह कठोर हो जाता है । प्राणियों के लिये अदृश्य हो जाता है । अथवा 'अधृष्यो भूतानां भवति' यह पाठ होना चाहिये । भूत वा प्राणी उसे सता नहीं सकते । भूत से रोगजनक जीवाणुओं का भी ग्रहण किया जाता है । अर्थात् वे रसायनसेवी में रोग को उत्पन्न नहीं कर सकते । आजकल दिन में अनेक बार प्रयोग के लिये लोहभस्म मिश्रित आमलक चूर्ण की मात्रा ३ रत्ती से १० रत्ती तक है । यदि प्रातः ही प्रयोग कराना हो तो एक तोला शहद चौथाई तोला खांड आधा तोला घी दस या बारह रत्ती चूर्ण मिलाकर चटाना चाहिये । लोहभस्म रसशास्त्रोक्त विधि से यदि पुट द्वारा बनाई गई हो तो सब से उत्तम है । अथवा प्राचीन ग्रन्थों में कही गई अयस्कृति का प्रयोग कर सकते हैं ।

गंगाधर तो हरीतकी आदि द्रव्यों के क्वाथ और कल्क दोनों से घृतपाक का विधान करता है ॥ ७५ ॥

भवन्ति चात्र

यथाऽमराणाममृतं यथा भोगवतां सुधा ।
तथाऽभवन्महर्षीणां रसायनविधिः पुरा ॥ ७६ ॥

देवताओं के लिये जैसे अमृत, भोगियों के लिये जैसे सुधा वैसे ही पुराकाल में महर्षियों के लिये रसायनविधि थी ।

न जरां न च दौर्बल्यं नातुर्यं निधनं न च ।
जग्मुर्वर्षसहस्राणि रसायनपराः पुरा ॥ ७७ ॥

पुराकाल में रसायनों का सेवन करने वाले महर्षि जरा (वृद्धाव-

तथा) दुर्बलता, रोगीपन, मृत्यु (काल से पूर्व) को प्राप्त नहीं होते थे। और वे हजारों वर्ष की आयु का उपभोग करते थे।

न केवलं दीर्घमिहायुरश्नुते रसायनं यो विधिवन्निषेवते ।
गतिं स देवर्षिनिषेवितां शुभां प्रपद्यते ब्रह्म तथेति चाक्षरम् ॥७८॥

रसायन के प्रयोग से न केवल दीर्घ आयु ही प्राप्त होती है अपितु देवर्षियों से प्राप्य शुभ गति और अविनश्वर ब्रह्म भी प्राप्त होता है। रसायनों के यथाविधि सेवन से मुक्ति भी प्राप्त होती है ॥ ७८ ॥

तत्र श्लोकः ।

अभयामलकीयेऽस्मिन् षड्योगाः परिकीर्तिताः ।
रसायनानां सिद्धानामायुर्यैरनुवर्तते ॥ ७९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने-
ऽभयामलकीयो नाम रसायनपादः प्रथमः ।[1]

इस अभयामलकीय नामक रसायनपाद में सिद्ध रसायनों के वे छह योग दिये गये हैं जिनके सेवन से दीर्घ आयु प्राप्त होती है ॥७९॥

इति रसायनपादः प्रथमः ।

अथातः प्राणकामीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम प्राणकामीय नामक रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। इस पाद में वे रसायन कहे जायंगे जो चिरकाल तक प्राण वा जीवन के इच्छुकों को सेवन करने चाहियें ॥ १ ॥

प्राणकामाः शुश्रूषध्वमिदमुच्यमानममृतमिवापरमदितिसुतहितकरमचिन्त्याद्भुतप्रभावमायुष्यमारोग्यकरं वयसः स्थापनं निद्रातन्द्राश्रमक्लमालस्यदौर्बल्यापहरमनिलकफपित्तसाम्यकरं स्थैर्यकरमबद्धमांसहरमन्तरग्निसन्धुक्षणं प्रभावर्णस्वरोत्तमकरं[2]

१ 'इति चिकित्सितेऽभयामलकीये' ग. । २ 'मबद्धमांसकर०' च. ।

रसायनविधानं; अनेन च्यवनादयो महर्षयः पुनर्युवत्वमापुर्नारीणां चेष्टतमा बभूवुः; स्थिरसमसुविभक्तमांसाः सुसंहतस्थिरशरीराः सुप्रसन्नबलवर्णेन्द्रियाः सर्वत्राप्रतिहतपराक्रमाः सर्वक्लेशसहाश्च ॥ २ ॥

प्राण को चाहने वालो ! इस रसायन के विधान को सुनो जो कि मैं तुम्हें बता रहा हूं। यह देवताओं के लिये जैसे अमृत हितकर है वैसा ही है। यह अचिन्त्य (जिसे मन से भी नहीं सोच सकते) तथा अद्भुत प्रभाव रखता है। आयु को बढ़ाता है। स्वस्थ रखने वाला है। वयःस्थापक है। निद्रा तन्द्रा श्रम (थकावट) तथा आलस्य दुर्बलता का नाशक है। वायु कफ पित्त को समता में ले आता है। स्थिरता वा दृढ़ता को उत्पन्न करता है। शिथिल मांस को हरता है अर्थात् मांस को सुबद्ध कर देता है। अन्तःस्थित अग्नि को प्रज्वलित करता है। प्रभा वर्ण और स्वर को उत्तम बनाता है। इस रसायनविधान से च्यवन आदि महर्षि पुनः युवा और स्त्रियों के अत्यन्त प्रिय हो गये थे। उनके देह की मांसपेशियां दृढ़ सम और सुविभक्त (जहां जैसी चाहिये वहां वैसी ही होना अथवा जैसे बलशाली पुरुषों की मांसपेशियां सुन्दर रूप से बंटी हुई दिखाई देती हैं वैसी होना) हो गईं थीं, देह संगठित और दृढ़ हो गया था, बल वर्ण और इन्द्रियां प्रसन्न होगईं थीं अर्थात् वे बलयुक्त निर्मलवर्ण और विमलेन्द्रिय हो गये थे। तथा अत्यन्त पराक्रम युक्त (जिनके शौर्य के सम्मुख कोई खड़ा नहीं हो सकता) और सब क्लेशों को सहने वाले होगये थे ॥२॥

सर्वे शरीरदोषा भवन्ति ग्राम्याहारादम्ललवणकटुकक्षारशुष्कशाकमांसतिलपललपिष्टान्नभोजिनां विरूढनवशूकशमीधान्यविरुद्धासात्म्यरूक्षक्षाराभिष्यन्दिभोजिनां क्लिन्नगुरुपूतिपर्युषितभोजिनां विषमाशनाध्यशनप्रियाणां दिवास्वप्नस्त्रीमद्यनि-

१ '०मांस०' पा०।

त्यानां विषमातिमात्रव्यायामसंक्षोभितशरीराणां भयक्रोधशोक-लोभमोहायासबहुलानां; अतोनिमित्तं हि शिथिलीभवन्ति मांसानि, विमुच्यन्ते सन्धयो, विदह्यते रक्तं, विष्यन्दते चानल्पं मेदो न सन्धीयतेऽस्थिषु मज्जा, शुक्रं न प्रवर्तते, क्षयमुपैत्योजः; स एवंभूतो ग्लायति, सीदति, निद्रातन्द्रालस्यसमन्वितोऽनारतमाशु चैव निरुत्साहः श्वसिति, असमर्थश्चेष्टानां शारीरमानसानां, नष्टस्मृतिबुद्धिच्छायो रोगाणामधिष्ठानभूतो न सर्वमायुरवाप्नोति; तस्मादेतान्दोषानवेक्षमाणः सर्वान्यथोक्तानहितानपास्याहारविहारान् रसायनानि प्रयोक्तुमर्हतीत्युक्त्वा भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—॥ ३ ॥

अम्ल (खट्टा), लवण, कटु, क्षार, सूखे हुए शाक, मांस, तिलकल्क, पिष्टान्न (चावलों के आटे आदि के बने भोज्य द्रव्य), विरूढ (जिन धान्यों में अंकुर निकल आए हैं) वा नये शूकधान्य (गेहूं चावल आदि) और शमीधान्य (मटर चना सेम आदि), विरुद्ध असात्म्य रूखे क्षार तथा अभिष्यन्दी द्रव्य, क्लिन्न (सड़ांद होने पर जो गीलापन हो जाता है उससे युक्त) भारी पूति (सड़े हुए) तथा बासी भोजन के खाने वालों को और जो सदा विषमाशन (विषमभोजन) वा अध्यशन (भोजन पर भोजन) करते रहते हैं, नित्य दिन में सोने वाले, नित्य स्त्रीभोग करने वाले, नित्य शराब पीने वाले, विषम वा अत्यधिक व्यायाम से जिनका शरीर क्षुब्ध हो गया है, जो प्रायः भय क्रोध शोक लोभ मोह आयास (श्रम) से ग्रस्त रहते हैं उन्हें ग्राम्य आहारों के कारण सब शारीरिक दोष हो जाते हैं। शहरों में रहने वाले जिह्वा के स्वादमात्र को ही मुख्य मानते हुए हानिप्रद भोजन किया करते हैं। इसके साथ ही जीवन भी भोगविलासमय होते हैं । भोग विलास से उत्पन्न हुई क्षीणता को वे स्वादु प्रतीत होने वाले परन्तु कृत्रिम भोजन पूर्ण नहीं कर सकते । परिणामतः उनके शरीरों में नाना

प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं। यथा—मांस शिथिल हो जाते हैं। सन्धियां खुल जाती हैं—ढीली पड़ जाती हैं। रक्त विदग्ध हो जाता है। मेद बहुत अधिक बाहिर बहकर निकल जाता है। हड्डियों में मज्जा जमा नहीं होती। वीर्य की प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् अण्डों में वीर्य का बनना भी बन्द हो जाता है और यदि कथञ्चित् कुछ बन भी जाय तो वह अपने कार्य (सन्तानोत्पत्ति) में असमर्थ रहता है। ओज क्षीण हो जाता है। इस कारण वह शहर में रहने वाला पुरुष ग्लानि युक्त होता है। शिथिल होता है वा कष्ट पाता है। निद्रा तन्द्रा आलस्य से युक्त होकर वह निरुत्साही शीघ्र हांफने लगता है। शरीर वा मन सम्बन्धी चेष्टाओं के करने में असमर्थ होता है। स्मृति बुद्धि और कान्ति नष्ट हो जाती है। उसके शरीर में रोग सदा डेरा डाले रहते हैं। वह अपनी पूर्ण आयु को भोग नहीं पाता। अतएव इन दोषों को देखते हुए इन सब अहितकर आहार विहारों को त्याग कर ही पुरुष रसायनों के सेवन करने के योग्य होता है—यह बता कर भगवान् पुनर्वसु आत्रेय ने कहा॥ ३ ॥—

आमलकघृतम्

आमलकानां सुभूमिजानां कालजानामनुपहतगन्धवर्णरसानामापूर्णरसप्रमाणवीर्याणां स्वरसेन पुनर्नवाकल्कसंप्रयुक्तेन[1] सर्पिषः साधयेदाढकं, अतः परं विदारीस्वरसेन जीवन्तीकल्कसंप्रयुक्तेन, अतःपरं चतुर्गुणेन पयसा बलातिबलाकषायेण शतावरीकल्कसंप्रयुक्तेन; अनेन क्रमेणैकैकं शतपाकं सहस्रपाकं वा शर्कराक्षौद्रचतुर्भागसंयुक्तं सौवर्णे राजते मार्तिके वा शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेत्; तद्यथोक्तेन विधिना यथाग्नि प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्, जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्; अस्य त्रिवर्षप्रयोगाद्वर्षशतं वयोऽजरं तिष्ठति, श्रुतम-

१ 'पुनर्नवाकल्कपादसंप्रयुक्तेन' ग.।

वतिष्ठते, सर्वामयाः प्रशाम्यन्ति, अप्रतिहतगतिः स्त्रीष्वपत्य-वान् भवति ॥ ४ ॥

आमलकघृत—प्रशस्त भूमि में उत्पन्न गन्ध वर्ण और रस जिन का नष्ट नहीं हुआ अर्थात गन्ध आदि से युक्त तथा रस प्रमाण और वीर्य से भरपूर (सुपक्व) आंवलों के स्वरस और पुनर्नवा (गदह-पूर्णा—इटसिट) के कल्क से १ आढक (द्रवद्वैगुण्य-परिभाषा के अनुसार २ आढक=१२८ पल=१२॥सेर ४ तोले) घी को यथा-विधि सिद्ध करे। परिभाषा के अनुसार आंवलों का स्वरस चौगुना अर्थात ८ आढक (५१ सेर १६ तोले) और पुनर्नवा का कल्क आधा आढक (३२ पल=३ सेर १६ तोले) लिया जायगा। सिद्ध होने पर घृत को छान लें। पुनः इस घृत को इसी प्रकार आंवले का रस और पुनर्नवा के कल्क से पकावें। पुनः छान लें । इस प्रकार सौवार पकावें। पश्चात् घृत को छान कर उसे विदारीकन्द के स्वरस और जीवन्ती के कल्क से पूर्वोक्त विधान के अनुसार सौ वार पकावें। इसमें भी प्रतिवार विदारीकन्द का स्वरस ८ आढक और जीवन्ती का कल्क आधा आढक लिया जायगा । तदनन्तर घी को छान कर पुनः घी से चौगुने दूध, बला अतिबला (ककही) के क्वाथ और शतावर के कल्क द्वारा पूर्वोक्त विधि से १०० वार पकावें। इसमें प्रतिवार दूध ८ आढक, बला अतिबला का क्वाथ ८ आढक और शतावर का कल्क आधा आढक लेना चाहिये। इसी प्रकार तीनों प्रकार के पाकों में से एक एक को एक एक हजार वार भी कर सकते हैं । घृत के सिद्ध होजाने पर उस से चतुर्थांश प्रमाण में मिलित खांड और मधु मिलावें। अर्थात् खांड और मधु का मिलित प्रमाण आधा आढक होना चाहिये। १६ पल (१२८ तोले = १॥ सेर ८ तोले) खांड और १६ पल ही विशुद्ध मधु हो। इस प्रकार ये दो प्रकार के पाक हुए। १ शतपाक २ सहस्रपाक । शतपाक की अपेक्षा सहस्रपाक

में अधिक गुण होते हैं। अथवा तीन प्रकार का भी हो सकता है। १ एकपाक २ शतपाक ३ सहस्रपाक । यदि क्रमशः तीनों प्रकार से एक २ ही वार पाक किया जाय तो वह सब से न्यून गुण रखता है। यदि सौ सौ वार पाक किया जाय तो पूर्वापेक्षया अधिक गुण होते हैं। यदि हज़ार हज़ार वार पाक करें तो सब से अधिक गुणवान् होता है। जब खांड और मधु मिला लें तब उसे सोने चांदी वा घी से भावित शुद्ध और दृढ़ मिट्टी के पात्र में रक्खें। इस घृत का कुटीप्रावेशिक विधि से अपने अग्निबल को देखकर प्रतिदिन प्रातःकाल प्रयोग करे। औषध के जीर्ण हो जाने पर दूध और घी से शालि वा षष्टिक (सांठी) का भात खावे। अथवा प्रभूत घृतयुक्त शालि और षष्टिक के ओदन को दूध के साथ खाये। तीन वर्ष तक के निरन्तर प्रयोग से पुरुष १०० वर्ष तक जरारहित होकर जीता है। श्रुतधर होता है। सब रोग शान्त हो जाते हैं। स्त्रीसहवास में कोई बाधा नहीं पड़ती है अर्थात् मैथुन में बहुत अधिक सामर्थ्य उपजाता है और पुरुष बहुत सन्तान युक्त होता है। घी की मात्रा—½ तोला ॥ ४ ॥

भवतश्चात्र।

बृहच्छरीरं गिरिसारसारं स्थिरेन्द्रियं चातिबलेन्द्रियं च।
अधृष्यमन्यैरतिकान्तरूपं प्रशस्तपूजासुखचित्तभाक्च ॥५॥
बलं महद्वर्णविशुद्धिरग्र्या स्वरो घनौघस्तनितानुकारी।
भवत्यपत्यं विपुलं स्थिरं च समश्नतो योगमिमं नरस्य ॥६॥

इत्यामलकघृतम्।

इस योग का सेवन करने वाले पुरुष का शरीर डीलडौल वाला पर्वत के समान दृढ और सारयुक्त होता है। इन्द्रियां दृढ़ और अति-बल-सम्पन्न होती हैं। कोई उसे पराभूत नहीं कर सकता। रूप अत्यन्त सुन्दर तेजस्वी होजाता है। वह मान्य होता है। श्रेष्ठ सुख

(आरोग्य) और प्रशस्त चित्त (ज्ञान) का आश्रय होता है । उसमें बल अत्यधिक होता है । वर्ण अत्यन्त निर्मल और स्वर मेघों के गर्जन का अनुकरण करता है अर्थात् गम्भीर और प्रभावशाली होता है । सन्तान भी बहुत और दृढ़ होती हैं ॥ ५-६ ॥

आमलकावलेहः

आमलकसहस्रं पिप्पलीसहस्रसंप्रयुक्तं पलाशतरुणक्षारोदकोत्तरं तिष्ठेत्, तदनुगतक्षारोदकमनातपशुष्कमनस्थिचूर्णीकृतं चतुर्गुणाभ्यां मधुसर्पिर्भ्यां संनीय शर्कराचूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं घृतभाजनस्थं षण्मासान् स्थापयेदन्तर्भूमेः, तस्योत्तरकालमग्निबलसमां मात्रां खादेत् पौर्वाह्णिकः प्रयोगः, सात्म्यापेक्षश्चाहारविधिर्नापराह्णिकः[1]; अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ७ ॥

इत्यामलकावलेहः ।

आमलकावलेह—तरुण (न बहुत छोटा न बहुत वृद्ध) पलाश (ढाक) को जलाकर क्षार बनावें । उस क्षार को जल में घोल लें । यह पलाशक्षारोदक कहायगा । इसमें १००० आंवले और १००० पिप्पली डाल दें । ये उस क्षारजल में डूबे रहने चाहियें । जब यह देखें कि क्षारजल उनके अन्दर तक अच्छीप्रकार पहुंच गया है तब उन्हें बाहिर कर लें और आंवलों की गुठलियां निकाल कर फेंक दें । छाया में आंवलों और पिप्पलियों को सुखावें । जब सूख जांय तो कूटकर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को तोल लें । इससे चौगुना मधु और घृत मिलावें । अर्थात् यदि वह चूर्ण ४ सेर हो तो मधु और घृत १६ सेर लेने चाहियें अर्थात् मधु ८ सेर और घी ८ सेर । मधु और घृत को क्रमशः चूर्ण में मिलावें । पश्चात्

---

१ 'सात्म्यपथ्यः' ग. ।

चूर्ण से चतुर्थांश निर्मल खांड मिला दें। यदि ४ सेर चूर्ण हो तो १ सेर खांड मिलावे। तत्पश्चात् घी से भावित एक पात्र में डालकर मुख बन्द कर ६ मास तक भूमि में गाड़ रखें। तदनन्तर अग्नि के बल के अनुसार उसकी मात्रा प्रातःकाल खाये। आहार का विधान केवल सात्म्य की अपेक्षा रखता है। यह आवश्यक नहीं कि औषध के जीर्ण होने पर सायंकाल ही खाये। अर्थात् जब क्षुधा प्रतीत हो उस समय भोजन कर सकता है, पर भोजन सात्म्य होना चाहिये, असात्म्य नहीं। इसके प्रयोग से सौ बरस तक जरारहित होकर जीवित रहता है इत्यादि सब गुण पूर्वोक्त रसायन के तुल्य ही हैं। मात्रा—आधा तोला से १ तोला तक।

क्षार तय्यार करने के लिये भस्म से ६गुना जल डालकर आलोडित करते हैं। पुनः जब क्षारांश घुल जाता है तब उसे नितार और छान लेते हैं। इस प्रकार इक्कीस बार छह गुना जल डालकर सम्पूर्ण क्षार-भाग को भस्म से पृथक् कर लिया जाता है। यह क्षारोदक कहाता है। पश्चात् इसे आंच पर रखकर जलीयांश को सुखाया जाता है। जब थोड़ा जलीयांश रह जाता है तब नीचे उतार कर धूप में सुखा लिया जाता है। यह क्षार होता है। यदि क्षार पहिले ही से तय्यार कर रखा हो तो क्षार से छह गुना जल डालकर क्षारोदक तय्यार किया जा सकता है।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'आमलकसहस्रं' के स्थल पर 'अभयामलक-सहस्रं' पढ़ा है। जिसके अनुसार अभया (हरड़) ५०० और आंवले ५०० लिये जायंगे ॥ ७॥

आमलकचूर्णम्

आमलकचूर्णाढकमेकविंशतिरात्रमामलकसहस्रस्वरसपरि-पीतं मधुघृताढकाभ्यां द्वाभ्यामेकीकृतमष्टभागपिप्पलीकं शर्करा-चूर्णचतुर्भागसंप्रयुक्तं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशौ निद-

ऽयात्, तद्वर्षान्ते सात्म्यपथ्याशी प्रयोजयेत्, अस्य प्रयोगाद्वर्षशतमजरमायुस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ ८ ॥

इत्यामलकचूर्णम् ।

आमलकचूर्णरसायन—एक आढक (६ सेर ३२ तोला) परिमित आंवलों के चूर्ण को १००० आंवलों के रस से २१ दिन तक भावना देकर मधु २ आढक (१२॥ सेर ४ तोले) और घी २ आढक, पिप्पलीचूर्ण ६४ तोले, खांड १२८ तोले (१॥ सेर ८ तोले); मिलावें और घी से भावित मृत्पात्र में रख छोड़ें । प्रावृट् ऋतु में इसे भस्म के ढेर में दबा दें । वर्षा ऋतु के पश्चात् उसे निकालें । सात्म्य-भोजी को इसका प्रयोग करना चाहिये । इसके प्रयोग से १०० बरस तक जरारहित होकर जीवित रहता है। अन्य भी गुण पूर्वोक्त रसायनों के गुणों के तुल्य ही हैं । मात्रा—२ तोले ॥८॥

विडङ्गावलेहः

विडङ्गतण्डुलचूर्णानामाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धाढकं सितोपलासर्पिस्तैलमध्वाढकैः षड्भिरेकीकृतं घृतभाजनस्थं प्रावृषि भस्मराशाविति सर्वं समानं पूर्वेण यावदाशीः ॥९॥

इति विडङ्गावलेहः ।

विडङ्गावलेह—निस्तुष (छिलके रहित) विडङ्ग का चूर्ण १ आढक (६ सेर ३२ तोले) पिप्पली बीज का चूर्ण १॥ आढक (९॥ सेर ८ तोला), मिसरी १॥ आढक गोघृत १॥ आढक, तिलतैल १॥ आढक, शहद १॥ आढक इन छहों को एकत्र मिश्रित करके घी से भावित पात्र में रख प्रावृट् ऋतु में भस्मराशि में दबा दें । वर्षा के पश्चात् अर्थात् शरद् में निकाल कर प्रयोग करावें । इसकी सेवनविधि तथा गुण पूर्वोक्त रसायनवत् ही हैं । घृत आदि के साथ ही मिसरी के पढ़े जानेसे ६ आढक के बांटे जाने पर घृत आदिके मान में

---

१ 'सात्म्यापेक्षी' च. । २ 'ह्रस्वामलकावलेहः' च. ।

द्विगुणता नहीं की गई। अष्टाङ्गसंग्रह ४९ अ० में यह योग इस प्रकार है—

'विडङ्गतण्डुलानामाढकमाढकं पिप्पलीतण्डुलानामध्यर्धं सितोपलानां मधुघृततैलाढकैः षड्भिरेकीकृतं प्रावृषि भस्मराशाविति समानं पूर्वेण॥'

इसके अनुसार—विडङ्गचूर्ण १ आढक, पिप्पली चूर्ण १ आढक, मिसरी १॥ आढक, मधु ४ आढक, तिलतैल ४ आढक, घी ४ आढक (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार) लिया जाता है। यही पाठ ठीक भी है। गङ्गाधर ने भी ऐसा ही पढ़ा है। वैद्यभूषण वामनशास्त्री द्वारा संशोधित चरकसंहिता में भी ऐसा ही पाठ है। मात्रा—१ तोले से २ तोले तक॥९॥

आमलकावलेहः

यथोक्तगुणानामामलकानां सहस्रमार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां बाष्पमनुद्वमन्त्यामारण्यगोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तानि सुस्विन्नशीतान्युद्धृतकुलकान्यापोथ्याढकेन पिप्पलीचूर्णानामाढकेन च विडङ्गतण्डुलचूर्णानामध्यर्धेन चाढकेन शर्करा[1]चूर्णानां द्वाभ्यां द्वाभ्यमाढकाभ्यां तैलस्य मधुनः सर्पिषश्च संयोज्य शुचौ दृढे घृतभाविते कुम्भे स्थापयेदेकविंशतिरात्रमत ऊर्ध्वं प्रयोगः, अस्य प्रयोगाद्वर्ष[2]शतमजरमायुस्तिष्ठतीति समं पूर्वेण॥१०॥

इत्यामलकावलेहो[3]ऽपरः।

आमलकावलेह—पूर्वोक्त गुणयुक्त १००० आंवले (१२॥सेर) लेकर ताजी गीली ढाक की लकड़ी की बनाई गई द्रोणी में—जिसका पिधान (ढक्कन) भी उसी लकड़ी का ही बना हो और ऐसा मुख पर पूरा बैठता हो कि भाप सर्वथा निकल न सके—भर दें। अब आंवलों से पूर्ण और बन्द द्रोणी को जङ्गली उपलों की अग्नि पर रखें। इस लकड़ी तथा आंवलों के अपने जलीय भाग के बाष्प से वे अन्दर ही स्विन्न हो जांयगे। जब समझें कि स्विन्न हो गये हैं तो उसे आंच से हटाकर

१ 'शर्करायाः' च.। २ 'वयः' ग.। ३ 'इत्यामलकावलेहः' च.।

खोल लें और ठण्डा होने दें। जब आंवले ठण्डे हो जांय तो उनकी गुठली और रेशे निकाल दें। आंवलों को कुचल कर कपड़े की जाली में से हथेली से मल मल कर छानने से रेशे पृथक् किये जा सकते हैं। आंवलों की पीठी में पिप्पली चूर्ण १ आढक, निस्तुष वायविडङ्ग १ आढक, खांड १॥ आढक, तिलतैल २ आढक, (द्रवद्वैगुण्य—परिभाषा के अनुसार ४ आढक), शहद २ आढक (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ४ आढक) घी २ आढक (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ४ आढक) यथाविधि मिलाकर पवित्र दृढ घी से भावित पात्र में रखें। २१ दिन तक वैसा ही पड़ा रहने दें। पश्चात् प्रयोग करावें। मात्रा—१ तोला। इसके प्रयोग से जरारहित १०० बरस की आयु होती है। शेष गुण पूर्ववत् ही हैं॥ १०॥

नागबलारसायनम्

धन्वनि कुशास्तीर्णे स्निग्धकृष्णमधुरमृत्तिके सुवर्णवर्णमृत्तिके वा व्यपगतविषश्वापदपवनसलिलाग्निदोषे कर्षणवल्मीकश्मशानचैत्योषरावसथवर्जिते देशे यथर्तुसुखपवनसलिलादित्यसेविते जातान्यनुपहतान्यनध्यारूढान्यबालान्यजीर्णान्यधिगतवीर्याणि शीर्णपुराणपर्णान्यसंजातान्यपर्णानि[1] तपसि तपस्ये वा मासे शुचिः प्रयतः कृतदेवार्चनः स्वस्ति वाचयित्वा द्विजातीन् सुमुहूर्ते नागबलामूलान्युद्धरेत्, तेषां सुप्रक्षालितानां त्वक्पिण्डमाम्रमात्रमक्षमात्रं वा श्लक्ष्णपिष्टमालोड्य पयसा प्रातः प्रयोजयेत्, चूर्णीकृतानि वा पिबेत् पयसा, मधुसर्पिर्भ्यां वा संयोज्य भक्षयेत्; जीर्णे च क्षीरसर्पिर्भ्यां शालिषष्टिकमश्नीयात्, संवत्सरप्रयोगादस्य वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण॥ ११॥

इति नागबलारसायनम्।

---

१ 'अशीर्णपुराणपर्णान्यसंजातफलानि' ग.।

नागबलारसायन—वैद्य पवित्र होकर संयम से रहता हुआ अभीष्ट देव की अर्चना वा पूजा करके ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन होने पर माघ वा फाल्गुन के मास में शुभ मुहूर्त में नागबला (गंगेरन) की जड़ों को उखाड़े । यह नागबला जाङ्गल देश में—जहां की भूमि कुशा से आच्छादित हो, जहां की मट्टी स्निग्ध (चिकनी) काली तथा मधुर हो अथवा जहां की मिट्टी सुवर्ण के वर्ण की हो, जो विष हिंस्र-जन्तु वायुदोष जलदोष वा अग्निदोषसे रहित हो एवं जहां पर हल न चलाया गया हो,जहां बमीठे न हों,श्मशान वा चैत्य (देवमन्दिर)न हो,जो भूमि ऊसर न हो, तथा जहां पर रहने के मकान न बने हों, जहां पर ऋतु २ के अनुसार सुखकर वायु सुखकर जल और सुखकर धूप लगती हो वहां पर-उत्पन्न हुई हो। जिन्हें कीड़ों ने न खाया हो अथवा जिन्हें रोग आदि से कोई हानि न हो, जिनके ऊपर कोई बड़ा वृक्ष न हो अथवा जिन पर कोई लता न चढ़ी हुई हो, अथवा जिन मूलों पर दूसरी कोई मूल न चढ़ी हो, जो बाल वा वृद्ध न हों अर्थात् जो बहुत ही छोटी वा बहुत वर्षों की न हों (तरुण हों), जो वीर्य से पूर्ण हों, जिनके पुराने पत्ते झड़ गये हों, जिनमें अभी नवीन पत्राङ्कुर न निकले हों (ऐसे समय पौदों के मूल में अधिक वीर्य होता है) उन नागबला (गंगेरन) की जड़ों को उखाड़ना चाहिये। पश्चात् जड़ों को स्वच्छ जलों से धो डालें और छाल उतार लें । इस छाल को एक पल वा एक कर्ष परिमाण में लेकर बारीक पीस लें। प्रातःकाल गौ के दूध में आलोडित करके पिलावे। अथवा रसायनेच्छुक उस नागबलामूलत्वक् को छाया में शुष्ककर चूर्ण करले और उस चूर्ण को फांककर ऊपर से दूध पीले अथवा मधु और घृत में मिलाकर चाट ले । आजकल के नागरिकों के लिये नागबला के मूल-त्वक् के चूर्ण की मात्रा—४ माशा पर्याप्त है। जब यह जीर्ण हो जाय तो दूध और घी के साथ शालि वा सांठी को खाये । एक वर्ष तक निर-

न्तर प्रयोग से १०० बरस तक जरारहित होकर जीवित रहता है। इसी प्रकार अन्य गुण भी पूर्वोक्त रसायनों के तुल्य हीं हैं ॥ ११ ॥

बलातिबलाचन्दनागुरुधवतिनिशखदिरशिंशपासनस्वरसाः पुनर्नवान्ताश्चौषधयो दश नागबलया व्याख्याताः; स्वरसानामलाभे त्वयं स्वरसविधिः—चूर्णानामाढकमाढकमुदकस्याहोरात्रस्थितं मृदितपूतं स्वरसवत्प्रयोज्यम् ॥ १२ ॥

बला (खरैंटी), अतिबला (ककही), चन्दन, अगर, धव, तिनिश (आबनूस), खदिर (खैर), शिंशपा (शीशम, टाली), असन (पीतसाल), इनके स्वरस एवं पुनर्नवा है अन्त में जिनके ऐसी दस ओषधियां (ये सूत्रस्थान के षड्विरेचनशताश्रितीय अध्याय में कही जा चुकी हैं) अर्थात्—

'अमृताभयाधात्रीमुक्ताश्वेताजीवन्त्यतिरसामण्डूकपर्णीस्थिरापुनर्नवा इति दशेमानि वयःस्थापनानि भवन्ति'।

गिलोय, हरड़, आंवला, रास्ना, श्वेत अपराजिता, जीवन्ती, अतिरसा (जलज मधुयष्टि अथवा शतावर), मण्डूकपर्णी, शालपर्णी, पुनर्नवा; इनकी नागबला से ही व्याख्या हो गई है । परन्तु नागबला के कल्क वा चूर्ण का विधान है और इनके स्वरस का । अतः नागबलारसायन के सदृश ही इनके गुण होते हैं इतना ही मात्र समझना चाहिये। बला अतिबला आदि तथा गिलोय आदि का प्रातःकाल स्वरस पीना चाहिये । परन्तु नागबलात्वक् की तरह इनके प्रयोगयोग्य भाग का भी चूर्ण आदि रूप में प्रयोग करा सकते हैं । यदि ये ओषधियां शुष्क हों और ताजा स्वरस निकालना असम्भव हो तो स्वरसनिर्माण की यह विधि है-स्वच्छ जल २ आढक (द्रवद्वैगुण्य होनेसे) में ओषधिका चूर्ण १ आढक डाल दें । २४ घण्टे के पश्चात् मलकर छान लें। जो छनकर जल आवे उसे स्वरस की तरह प्रयोग करें । दूसरा विधान जो अन्य

१ दश ये वयःस्थापना व्याख्यातास्तेषां स्वरसा नागबलावत्' ग. ।

ग्रन्थों में मिलता है, वह यह है—

'शुष्कद्रव्यमुपादाय स्वरसानामसम्भवे।
वारिण्यष्टगुणे साध्यं ग्राह्यं पादावशेषितम् ॥'

अर्थात् यदि औषध शुष्क हो और उसका स्वरस न निकल सकता हो तो आठ गुना जल डालकर क्वाथ करें। जब चतुर्थांश रह जाय तब छान लें। इसका भी स्वरसवत् ही प्रयोग होता है ॥ १२ ॥

भल्लातकक्षीरम्

भल्लातकान्यनुपहतान्यनामयान्यापूर्णरसप्रमाणवीर्याणि पक्वजाम्बवप्रकाशानि शुचौ शुक्रे वा मासे संगृह्य यवपल्वे माषपल्वे वा निधापयेत्, तानि चतुर्मासस्थितानि सहसि[1] सहस्ये वा मासे प्रयोक्तुमारभेत शीतस्निग्धमधुरोपस्कृतशरीरः, पूर्वं दश भल्लातकान्यापोथ्याष्टगुणेनाम्भसा साधु साधयेत्, तेषां रसमष्टभागावशिष्टं पूतं सपयस्कं पिबेत् सर्पिषाऽन्तर्मुखमभ्यज्य, तान्येकैकभल्लातकोत्कर्षापकर्षेण दश भल्लातकान्यात्रिंशतः प्रयोज्यानि, नातः परमुत्कर्षः प्रयोगविधानेन सहस्रपर[2] एव भल्लातकप्रयोगः; जीर्णे च ससर्पिषा पयसा शालिषष्टिकाशनमुपचारः, प्रयोगान्ते च द्विस्तावत् पयसैवोपचारः; तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ १३ ॥

इति भल्लातकक्षीरम्।

भल्लातकक्षीर—जो अनुपहत हों अर्थात् जिन्हें किसी प्रकार की हानि न पहुंची हो न कीड़ा लगा हो, न गले हुए हों, जिन पर कोई चोट न लगी हो इत्यादि, जो रोग रहित हों, जो रस प्रमाण और वीर्य से भरपूर हों, और पके हुए जामुन के फल के सदृश वर्ण वाले हों—उन भिलावों का ज्येष्ठ और आषाढ़ के महीनों में वृक्षों से संग्रह करके यवपल्व (जौ का जहां संग्रह किया होता है, यवराशि) वा माषपल्व

---

१ 'सहे' ख.। २ 'असहस्रपरः' ग.।

(उड़द जहां संग्रह करके रखे जाते हैं, माषराशि) में रख दें। वहां चार मास तक पड़ा रहने दें। पश्चात् अगहन वा पौष में उनका प्रयोग प्रारम्भ करे। सेवन से पूर्व शीतल स्निग्ध तथा मधुर आहार विहार और औषधों से शरीर को संस्कृत कर लेना चाहिये। उष्णप्रकृति वाले मनुष्यों को तथा उष्णकाल में वा पैत्तिककाल में इसका सेवन न करना चाहिये। सब से पूर्व १० भिलावों को कुचल कर आठ गुना जल डालकर मन्द आंच पर पकावे। जब आठवां भाग रह जाय तब नीचे उतार कर छान लें। इसमें दूध मिला लें। पीने से पूर्व मुख को अन्दर से घृत से लिप्त कर लेना चाहिये। अर्थात् पूर्व घी का कवल धारण करें और कुछ घी को पी भी ले जिससे सम्पूर्ण मार्ग घृत से लिप्त हो जाय। अब उस दुग्धमिश्रित रस को पीवे। दस से प्रारम्भ कर प्रतिदिन एक एक भिलावा बढ़ाते जाना चाहिये। इस प्रकार ३० भल्लातक तक बढ़ा ले जाय। भल्लातक के प्रयोग के विधान में ३० भिलावे से अधिक का प्रयोग निषिद्ध है। ये अन्तिम सीमा है। पश्चात् प्रतिदिन एक एक घटाता हुआ १० तक ले जाय। इसप्रकार १००० भिलावों का प्रयोग करे। हजार से अधिक भिलावों का प्रयोग न करना चाहिये। जब प्रातः सेवन किया हुआ यह रसायन जीर्ण हो जाय तब घृत युक्त दूध के साथ शालि वा षष्टिक का भोजन पथ्य है। प्रयोग के पश्चात कुछ दिनों तक दो बार दूध पीना चाहिये। इसके प्रयोग से १०० बरस तक पुरुष जरारहित रहता है। अन्य गुण पूर्वोक्त रसायनों के तुल्य ही हैं।

अष्टाङ्ग-संग्रह के टीकाकार इन्दु के मतानुसार इस प्रयोग का विधान इस प्रकार है—प्रथम दिन १० भिलावे, दूसरे दिन ११, तीसरे दिन १२। इस प्रकार प्रतिदिन एक २ बढ़ाते हुए बीसवें दिन २९ भिलावों का प्रयोग होता है। इनकी एकत्र गणना करने से

बीसवें दिन तक २६० भिलावे सेवन किये जा चुके होते है। इक्कीसवें दिन ३० भिलावे। ३० भिलावों से अधिक प्रयोग कराने का निषेध है और हज़ार संख्या पूर्ण होनी चाहिये अतः २६ वें दिन तक प्रति दिन तीस तीस भिलावों का प्रयोग कराये। तदनन्तर २७ वें दिन भी ३० भिलावों का प्रयोग होगा। २८ वें दिन २९ भिलावे। २९वें दिन २८ भिलावे। तीसवें दिन २७। इस प्रकार क्रमशः एक एक घटाते जांय तो सैंतालीसवें दिन १० भिलावों का प्रयोग होगा। ४८ वें दिन भी १० भिलावों का प्रयोग करना चाहिये। इस प्रकार २९०+२१०+२९०+१०=१०००भिलावे पूर्ण होते हैं।

प्रतिदिन लगातार एक भिलावे की बढ़ती और पुनः क्रमशः एक की घटती करने पर १००० संख्या पूर्ण नहीं होती। बीसवें दिन तक क्रमशः एक १ के बढ़ाने २९० भिलावे होते हैं। इक्कीसवें दिन ३०। इसके बाद २० दिन तक क्रमशः घटाने से ४१ वें दिन १० का प्रयोग होता है। इन बीस दिनों के भी २९० होते हैं। इसके पश्चात् क्रमशः बढ़ाते हुए ५३ वें दिन २२ भिलावों का प्रयोग होता है। इन बारह दिनों के भिलावों की संख्या १९८ होती है। अतः कुल मिलाकर २९०+३०+२९०+१९८=१००८ होती है। इस प्रकार यह क्रम भी पूर्ण नहीं होता और ८ भिलावे अधिक भी होते हैं। यदि इस क्रम में २२ वें दिन भी ३० भिलावों का प्रयोग हो तो ४२ वें दिन पुनः १० भिलावों के प्रयोग की बारी आयेगी और यदि पुनः ४३ वें दिन भी १० का ही प्रयोग काराया जाय तो पुनः बढ़ती करते हुए ५३ वें दिन २० भिलावों का प्रयोग होगा। इन दस दिनों के भिलावों की संख्या का योग १५५ होता है। इस प्रकार कुल मिलाकर २९०+३०+३०+२९०+१०+१५५=१००५ भिलावे होते हैं। इस में भी पूर्ववत् क्रम पूर्ण नहीं होता और ५ भिलावों का अधिक प्रयोग होता है।

अष्टाङ्ग-संग्रह के अनुसार भल्लातक के प्रयोग के पश्चात् जितने काल तक भल्लातक का प्रयोग हुआ है उससे तिगुने काल पीछे तक दूध और शालि वा षष्टिक का प्रयोग करना चाहिये। परन्तु आजकल के क्षीणबल व्यक्ति इतने प्रयोग को सहन नहीं कर सकेंगे। उनके बल के अनुसार अल्पमात्रा में ही प्रयोग कराना हितकर होगा। आजकल साधारणतया एक रत्ती से तीन रत्ती तक की मात्रा में भल्लातक का प्रयोग होता है ॥ १३ ॥

भल्लातकक्षौद्रम् ।

भल्लातकानां जर्जरीकृतानां पिष्टस्वेदनं पूरयित्वा भूमावाकण्ठं निखातस्य स्नेहभावितस्य दृढस्योपरि कुम्भस्यारोप्योडुपेनापिधाय[1] कृष्णमृत्तिकावलिप्तं गोमयाग्निभिरुपस्वेदयेत्, तेषां यः स्वरसः कुम्भं प्रपद्येत तमष्टभागमधुसंप्रयुक्तं द्विगुणघृतमद्यात्; तत्प्रयोगाद्वर्षशतमजरं वयस्तिष्ठतीति समानं पूर्वेण ॥ १४ ॥

इति भल्लातकक्षौद्रम् ।

भल्लातकक्षौद्र—भिलावों के छोटे २ टुकड़े करके एक पिष्टस्वेदन (वह घड़ा जिसके पेंदे में छिद्र हों) में भर दें। अब भूमि में गड्ढा करें। गड्ढे में घी से भावित एक घड़ा (जिसमें छिद्र न हों) रखें। इसके ऊपर भिलावों का घड़ा रखें। भिलावों के घड़े के उतने ही पेंदे में छिद्र हों जो नीचे के घड़े के मुख में आजाय। इन छिद्रों में से तेल नीचे के घड़े में टपक टपक कर एकत्रित होगा। दोनों की सन्धि को कपड़मिट्टीसे बन्द कर दें। अब कण्ठपर्यन्त मिट्टी डालकर नीचे के घड़े को स्थिर कर लें। केवल नीचे का घड़ा ही गड्ढे में होना चाहिये दूसरा भिलावों का घड़ा भूमि से ऊपर रहेगा। भिलावों से पूर्ण घड़े के मुख को भी मिट्टी की रकेबी से बन्द कर दें। भिलावों के घड़े पर काली चिकनी मिट्टी का लेप होना चाहिये। रकेबी और घड़े के मुख की सन्धि पर कपरौटी कर लेनी चाहिये। जब इस प्रकार यन्त्र

---

१ उडुपस्तृणमूटकः इतीन्दुः ।

तय्यार हो जाय तो ऊपर के घड़े के चारों ओर उपले रखकर आग लगा दें। इन उपलों की अग्नि की गरमी से भिलावों का रस (वा तेल) नीचे के घड़े में चला जायगा। उसमें आठवां भाग मधु और रस से दुगुना घी मिलाकर खावे। मात्रा—½ बूंद से २ बूंद तक। उसके प्रयोग से १०० बरस तक जरारहित रहता है। अन्य गुण भी पूर्वोक्त रसायन के तुल्य हैं॥ १४॥

अथ भल्लातकतैलम्।

भल्लातकतैलपात्रं सपयस्कं मधुकेन कल्केनाक्षमात्रेण शतपाकं कुर्यात्; समानं पूर्वेण॥ १५॥

इति भल्लातकतैलम्।

भल्लातकतैल—भल्लातकतैल (भिलावे का तेल—पूर्वोक्त विधि से निष्पादित) २ आढक=१२॥। सेर ४ तोले (द्रवद्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार)। गौ का दूध ८ आढक (५१ सेर १६ तोले)। कल्कार्थ मुलहठी १ कर्ष (२ तोला)। यथाविधि तैलपाक करें। इसीप्रकार १०० वार पकावें। गुण पूर्ववत् ही हैं।

'अत्र द्रवान्तरानुक्तेः क्षीरमेव चतुर्गुणम्।
द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत्॥'

इस परिभाषा के अनुसार ही तैल से चतुर्गुण दूध लिया है॥१५॥

अथ भल्लातकविधानानि।

भल्लातकक्षीरं भल्लातकक्षौद्रं भल्लातकतैलमेवं गुडभल्लातकं भल्लातकयूषो भल्लातकसर्पिर्भल्लातकपललं भल्लातकशक्तवो भल्लातकलवणं भल्लातकतर्पणमिति भल्लातकविधानमुक्तम्॥ १६॥

इति भल्लातकविधिः।

भल्लातकविधान—जैसे भल्लातकक्षीर, भल्लातकक्षौद्र, भल्लातकतैल का प्रयोग कहा गया है उसीप्रकार गुडभल्लातक, भल्लातकयूष, भल्लातकघृत, भल्लातकपलल, भल्लातकशक्तु, भल्लातकलवण, भल्लातकतर्पण; ये

भल्लातक के विधान हैं ।

जब भल्लातक को गुड के साथ मिश्रित करके प्रयोग करांयगे तो उसका नाम गुडभल्लातक होगा । इसे भल्लातकक्षौद्रवत् ही समझना चाहिये । भल्लातकयूष को भल्लातकक्षीर की तरह । यहां दूध की जगह यूष का प्रयोग होगा । भल्लातकसर्पि को भल्लातकतैल के सदृश । यहां कृष्ण तिलों के तैल के स्थल पर गव्यघृत से पाक होगा । भल्लातकपलल में भल्लातक और तिलों के कल्क को मिश्रित करके प्रयोग किया जाता है । भल्लातक और जौ के सत्तू मिलाकर प्रयोग करने के विधान को भल्लातकशक्तु कहते हैं । भल्लातक और सैन्धव का एकत्र प्रयोग हो तो भल्लातकलवण कहाता है । भल्लातक और लाजा के सत्तुओं के एकत्र प्रयोग को भल्लातकतर्पण कहते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर० ४९ अ० में कहा है—

'सहामलकशुक्तिभिर्दधिसरेण तैलेन वा
गुडेन पयसा घृतेन यवसक्तुभिर्वा सह ।
तिलेन सह माक्षिकेण पललेन सूपेन वा
वपुष्करमरुष्करं परममेध्यमायुष्करम् ॥

भल्लातकघृतप्राश का भी वहां एक प्रयोग दिया है—

पुष्टानि पाकेन परिच्युतानि भल्लातकान्याढकसम्मितानि ।
घृष्ट्वेष्टिकाचूर्णकणैर्जलेन प्रक्षाल्य संशोष्य च मारुतेन ॥
जर्जराणि विपचेज्जलकुम्भे पादशेषघृतगालितशीतम् ।
तद्रसं पुनरपि श्रपयेत क्षीरकुम्भसहितं चरणस्थे ॥
सर्पिःपाकं तेन तुल्यप्रमाणं युञ्ज्यात्स्वेच्छं शर्कराया रजोभिः ।
एकीभूतं तत्खजक्षोभणेन स्थाप्यं धान्ये सप्तरात्रं सुगुप्तम् ॥
तममृतरसपाकं यः प्रगे प्राशमश्नन्ननुपिबति यथेष्टं वारि दुग्धं रसं वा ।
स्मृतिमतिबलमेधासत्वसारैरुपेतः कनकनिकषगौरः सोऽश्नुते दीर्घमायुः ॥

---

१ आमलकशुक्तय आमलकदलानि—अस्थिरहितानि आमलकानि ।

अर्थात् पके हुए भिलावे १ आढक लेकर शोध ले और छाया में सुखा ले । इनके छोटे २ टुकड़े करके ४ द्रोण जल में पकावें । जब चतुर्थांश रह जाय तो वस्त्र से छान लें । शीतल होजाने पर पुनः उस रस में ४ द्रोण गौ का दूध डालकर पकावें । जब चतुर्थांश रह जाय तो नीचे उतार लें । अब इसमें बराबर का घी मिलाकर घृतपाकविधान से पाक करें । जब घृत सिद्ध हो जाय तब उतार कर घृत को छान लें। इसमें यथेष्ट खांड मिलावें और घृतभावित मृत्पात्र में डालकर सात दिन तक धान्यराशि में रख छोड़े । पश्चात् प्रातः मात्रा में प्रयोग करावें । अनुपान—जल, दूध अथवा मांस-रस वा यूष । इससे स्मृति बुद्धि बल मेधा तथा सत्त्व; इनके सारों से युक्त होता है । शरीर का वर्ण निर्मल और गौर हो जाता है । दीर्घ आयु होती है ॥ १६ ॥

भवन्ति चात्र ।

भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च ।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि ॥ १७ ॥

भल्लातक के गुण—भल्लातक अग्नि के सदृश तीक्ष्ण और पका देने वाले होते हैं । जहां इनका रस वा तेल लग जाता है वही अंग पक जाता है और शोथ एवं जलन होती है । परन्तु इनका यदि यथाविधि प्रयोग हो तो ये अमृत के तुल्य होते हैं ॥ १७ ॥

एते दशविधास्त्वेषां प्रयोगाः परिकीर्तिताः ।
रोगप्रकृतिसात्म्यज्ञस्तान् प्रयोगान् प्रकल्पयेत् ॥ १८ ॥

भल्लातकों के १० प्रकार के प्रयोग यहां वर्णन कर दिये हैं । रोग प्रकृति (वातादिप्रकृति) तथा सात्म्य को जानने वाला वैद्य उन उन प्रयोगों की कल्पना करे । अर्थात् रोग के हेतु वात पित्त कफ सेवक की प्रकृति (वात आदि जनित) तथा सात्म्य के अनुसार रोगी को भल्लातक के विधानों का प्रयोग कराना चाहिये ॥ १८ ॥

कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन ।

यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम् ॥ १६ ॥

ऐसा कोई कफज रोग नहीं और ऐसा कोई विबन्ध (स्रोतों में मलों वा दोषों का रुक जाना) नहीं जिस का नाश भल्लातक न कर सके। यह शीघ्र ही मेधा और अग्नि को बढ़ाता है । अष्टाङ्गसंग्रह में भल्लातकप्रयोग के समय क्या २ परिहार्य (परहेज़) है—यह भी बताया है—

विशेषेण विवर्जयेत् ।

कुलत्थदधिशुक्तानि तैलाभ्यङ्गाग्निसेवनम् ॥ उत्तर० ४९ अ० ।

अर्थात् भल्लातक के प्रयोग के समय कुलथी दही शुक्त (सिरका आचार आदि) का सेवन तैल की मालिश आग का तापना; इनका त्याग करना चाहिये ॥ १६ ॥

प्राणकामाः पुरा जीर्णाश्च्यवनाद्या महर्षयः ।
रसायनैः शिवैरेतैर्बभूवुरमितायुषः ॥ २० ॥

पुराकाल में जीवन के इच्छुक वृद्ध हुए हुए च्यवन आदि महर्षि इन्हीं कल्याणकारक रसायनों के प्रयोग से अपरिमित अर्थात् दीर्घ आयु को प्राप्त हुए थे ॥ २० ॥

ज्ञानं तपो ब्रह्मचर्यमध्यात्म्यध्यानमेव च ।
दीर्घायुषो यथाकामं संभृत्य त्रिदिवं गताः ॥ २१ ॥

वे दीर्घ आयु वाले महर्षि ज्ञान तप ब्रह्मचर्य अध्यात्मध्यान (ब्रह्मध्यान) का यथेष्ट पालन करते हुए स्वर्ग वा मुक्ति को प्राप्त हुए ॥२१॥

तस्मादायुःप्रकर्षार्थं प्राणकामैः सुखार्थिभिः ।
रसायनविधिः सेव्यो विधिवत्सुसमाहितैः ॥ २२ ॥

अतः प्राणों की कामना करने वाले सुख वा आरोग्य को चाहने वाले पुरुषों को अपनी आयु की वृद्धि के लिये दत्तावधान होकर विधिवत् रसायनविधान का सेवन करना चाहिये ॥ २२ ॥

तत्र श्लोकः।

रसायनानां संयोगाः सिद्धा भूतहितैषिणा।
निर्दिष्टाः प्राणकामीये सप्तत्रिंशन्महर्षिणा ॥ २३ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने प्राणकामीयो नाम रसायनपादो द्वितीयः।

प्राणिमात्र के हित को चाहने वाले महर्षि आत्रेय ने प्राणकामीय अध्याय में रसायनों के ३७ प्रयोग कह दिये हैं। यथा—आमलकघृत के दो पाक (शतपाक सहस्रपाक), आमलकलेह, आमलकचूर्ण, विडङ्गावलेह, अपर आमलकावलेह, नागबलारसायन, बला आदि नौ और पुनर्नवान्त १० ओषधियां, भल्लातकक्षीर, भल्लातकक्षौद्र, भल्लातकतैल तथा गुडभल्लातक आदि ८ योग। इसप्रकार ये ३७ प्रयोग हैं ॥२३॥

इति द्वितीयो रसायनपादः।

अथातः करप्रचितीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम करप्रचितीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। यहां पर पूर्व 'करप्रचित' शब्द आया है। अतः इस अध्याय का नाम करप्रचितीय है ॥ १ ॥

आमलकायसब्राह्मरसायनम्।

करप्रचितानां यथोक्तगुणानामामलकानामुद्धृतास्थ्नां शुष्कचूर्णितानां पुनर्माघे फाल्गुने वा मासे त्रिःसप्तकृत्वः स्वरसपरिपीतानां पुनः शुष्कचूर्णीकृतानामाढकमेकं ग्राहयेत्, अथ जीवनीयानां बृंहणीयानां स्तन्यजननानां शुक्रवर्धनानां वयःस्थापनानां षड्विरेचनशताश्रितीयोक्तानामौषधगणानां चन्दनागुरुधवतिनिसखदिरशिंशपासनसाराणां चाणुशः [1]छिन्नानामभयाबिभीतकपिप्पलीवचाचव्यचित्रकविडङ्गानां च समस्ताना-

१ 'छिन्नानां ग.।

माढकमेकं दशगुणेनाम्भसा साधयेत् तस्मिन्नाढकावशेषे रसे सुपूते तान्यामलकचूर्णानि दत्त्वा गोमयाग्निभिर्वंशविदलशरतेजनाग्निभिर्वा साधयेद्यावदपनयाद्रसस्य, तमनुपदग्धमुपहृत्यायसीषु पात्रीष्वास्तीर्य शोषयेत्, सुशुष्कं कृष्णाजिनस्योपरि दृषदि श्लक्ष्णपिष्टमयःस्थाल्यां निधापयेत्सम्यक्, तच्चूर्णमयश्चूर्णाष्टभागसंप्रयुक्तं मधुसर्पिर्भ्यामग्निबलमभिसमीक्ष्य प्रयोजयेदिति ॥ २ ॥

माघ वा फाल्गुन मास में पूर्वोक्त गुणों से युक्त आंवलों को वृक्ष पर से हाथ द्वारा उतार कर एकत्रित करें । उनकी गुठलियां निकाल दें और छाया में सुखा लें । पश्चात् उनका चूर्ण करें । २१ वार आंवलों का ही स्वरस पिलावें । एक बार स्वरस पिलाने के पश्चात् चूर्ण को पूर्णतया शुष्क कर लेना चाहिये । इस प्रकार २१ बार स्वरस पिलाने के पश्चात् जब छाया में चूर्ण शुष्क हो जाय तब वह चूर्ण १ आढक परिमाण में ले । षड्विरेचनशताश्रितीय में कहे गये जीवनीय बृंहणीय स्तन्यजनन शुक्रवर्धन और वयःस्थापन; इन गणों की ओषधियां तथा चन्दन अगर धव तिनिश (आबनूस) खदिर (खैर), शिंशपा (शीशम) असन (पीतशाल); इनके सारों (मध्यकाष्ठ) के छोटे २ टुकड़े एवं हरड़ बहेड़ा पिप्पली वचा चव्य चित्रक वायबिडङ्ग; ये सब द्रव्य मिलाकर १ आढक (६ सेर ३२ तोले) लेवें । इन्हें दसगुने (१० आढक = १ मन २४ सेर) जल में सिद्ध करें । जब जल २ आढक (१२॥ सेर ४ तोले) रह जाय तब उसे नीचे उतार कर वस्त्र से छान लें । इस रस वा क्वाथ में पूर्व ही तय्यार किया हुआ आंवलों का वह चूर्ण डाल दें । अब उपलों की आग से अथवा फाड़े हुए बांस की आग से वा शर (सरकण्डा, सरपत), अथवा तेजन (तेजबल) की अग्नि से तब तक पकावे जब तक कि वह

---

१ वंशविदलशराभ्यां तेजनैः प्रज्वालितैरग्निभिः इति गङ्गाधरः ।

२ ' तच्चूर्णमयःस्वर्णा० ' ग. ।

काथ सूख नहीं जाता। अधिकतीव्र वा अधिक काल तक आंच न दें, नहीं तो औषध के जल जाने का डर रहता है। अब उसे निकाल कर लोहे के पात्रों में फैलाकर सुखा लें। जब अच्छी प्रकार सूख जाय तब उस चूर्ण को काले मृग के चर्म पर रखी हुई सिल पर अच्छी प्रकार बारीक पीस लें और लोहे की हांडी वा अन्य किसी पात्र में रख छोड़ें। प्रयोग के समय उस चूर्ण में आठवां भाग लोहभस्म मिला कर मधु और घी से अग्नि के बल के अनुसार प्रयोग करावें। मात्रा—चूर्ण १६ रत्ती+लोहभस्म २ रत्ती ॥ २ ॥

तत्र श्लोकाः।

एतद्रसायनं पूर्वं वसिष्ठः कश्यपोऽङ्गिराः।
जमदग्निर्भरद्वाजो भृगुरन्ये च तद्विधाः ॥ ३ ॥
प्रयुज्य प्रयता मुक्ताः श्रमव्याधिजराभयात्।
यावदैच्छंस्तपस्तेपुस्तत्प्रभावान्महाबलाः ॥ ४ ॥

वसिष्ठ, कश्यप, अङ्गिरा, जमदग्नि, भरद्वाज, भृगु और इसी प्रकार के अन्य महर्षियों ने इस रसायन का प्रयोग किया। वे श्रम (थकावट) व्याधि (रोग) और जरा से मुक्त होकर उसके प्रभाव से यथेच्छ तपश्चरण करते रहे थे ॥ ३-४ ॥

तपसा ब्रह्मचर्येण ध्यानेन प्रशमेन च।
रसायनविधानेन कालयुक्तेन चायुषा ॥ ५ ॥
स्थिता महर्षयः पूर्वं,

पुराकाल में रसायनविधान द्वारा महर्षि तप ब्रह्मचर्य ध्यान प्रशम आदि से युक्त रहते हुए अपरिमित काल तक आयु का उपभोग करते रहे हैं ॥ ५ ॥

न हि किंचिद्रसायनम्।
ग्राम्याणामन्यकार्याणां सिध्यंत्यप्रयतात्मनाम् ॥ ६ ॥

१ 'सिद्धिश्चाप्रयत॰' ग.।

कोई भी रसायन ग्राम्य (नगर वा शहरों में रहने वाले) पुरुषों को–जो अन्य (गृहस्थी के) कार्यों में फंसे हुए हैं, तप ब्रह्मचर्य आदि का पालन नहीं कर सकते, जो संयम से नहीं रहते–कोई लाभ नहीं करता । जब तक पुरुष नानाप्रकार के कार्यों में व्यस्त रहते हैं, भोजन में सात्म्यासात्म्य का ध्यान नहीं करते, इन्द्रियविषयों के भोगने में तत्पर रहते हैं उन्हें रसायनों से वह फल नहीं होता जो होना चाहिये । दीर्घायुष्क तथा जरा आदि का नाश रसायनों के सेवन से तभी सम्भव है जब मनुष्य मन वचन और कर्म से विषयवासना तथा अन्य गृहस्थी की चिन्ताओं से पृथक् रहे ॥ ६ ॥

इदं रसायनं चक्रे ब्रह्मा वार्षसहस्रिकम् ।
जराव्याधिप्रशमनं बुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥ ७ ॥

इत्यामलकायसब्राह्मरसायनम् ।

इस आमलकायसरसायन को–जो सहस्र वर्ष की आयु को देने वाला है, जरा तथा रोगों को शान्त करने वाला है, बुद्धि और इन्द्रियों में बल प्रदान करता है–ब्रह्मा ने किया था ॥ ७ ॥

केवलामलकरसायनम् ।

संवत्सरं पयोवृत्तिर्गवां मध्ये वसेत्सदा ।
सावित्रीं मनसा ध्यायन् ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
संवत्सरान्ते पौषीं वा माघीं वा फाल्गुनीं तिथिम्[1] ।
त्र्यहोपवासी शुक्लश्च प्रविश्यामलकीवनम् ॥ ९ ॥
बृहत्फलाढ्यमारुह्य द्रुमं शाखागतं फलम् ।
गृहीत्वा पाणिना तिष्ठेज्जपन् ब्रह्मामृतागमात् ॥ १० ॥
तदा ह्यवश्यममृतं वसत्यामलके क्षणम् ।
शर्करामधुकल्पानि स्नेहवन्ति मृदूनि च ॥ ११ ॥
भवन्त्यमृतसंयोगात्तानि यावन्ति भक्षयेत् ।

---

१ तिथिं पौर्णमासीमिति गङ्गाधरः ।

जीवेद्वर्षसहस्राणि तावन्त्यागतयौवनः ॥ १२ ॥
सौहित्यमेषां गत्वा तु भवत्यमरसन्निभः।
स्वयं चास्योपतिष्ठन्ते श्रीर्वेदा वाक्च रूपिणी ॥ १३ ॥

इति केवलामलकं रसायनम्।

केवलामलकरसायन—एक वर्ष पर्यन्त केवल दूध पर निर्वाह करता हुआ गौओं के बीच में रहे। और वहां जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी रहता हुआ मन में सावित्री (गायत्रीमन्त्र) का ध्यान किया करे। एक वर्ष के पश्चात् पौष माघ फाल्गुन की किसी शुभ तिथि में प्रयोग को प्रारम्भ करे। प्रयोग से पूर्व तीन दिन तक उपवास करे। पश्चात् स्नान आदि से शुद्ध होकर आंवलों के वन में किसी बड़े फल वाले आंवले के वृक्ष पर चढ़कर शाखा में लगे हुए फल को हाथ से पकड़ कर अमृत के आने तक ब्रह्म वा ओङ्कार का जप करता हुआ वैसा ही बैठा रहे। उस समय आंवले में क्षण भर के लिये अमृत आ जाता है। अमृत के संयोग से आंवले खांड वा शहद के सदृश मधुर स्निग्ध तथा मृदु हो जाते हैं। जितनी संख्या में उन आंवलों को वह खायगा उतने ही सहस्र वर्ष वह युवा रहता हुआ जीवित रहेगा। अर्थात् यदि एक आंवला खायगा तो १००० वर्ष यदि दो खायगा तो २००० इत्यादि। यदि भरपेट खाकर तृप्त हो जाय तो अमर सदृश ही हो जाता है अर्थात् उसकी आयु बहुत ही दीर्घ हो जाती है। कान्ति अथवा लक्ष्मी वेद और वाणी (सरस्वती) स्वयं साक्षात् आ उपस्थित होती है ॥ ८—१३ ॥

लौहादिरसायनम्।

त्रिफलाया रसे मूत्रे गवां क्षारे[2] च लावणे।
क्रमेण चेङ्गुदीक्षारे[3] किंशुकक्षार एव च ॥ १४ ॥

---

1 'श्रीर्वेदवाक्यरूपिणी' च.। 2 क्षारे यवक्षारोदके, लावणे सैन्धवलवणोदके गङ्गाधरः। 3 इङ्गुदीक्षारे जीवपुत्रिकाकाष्ठक्षारोदके गङ्गाधरः।

तीक्ष्णायसस्य पत्राणि वह्निवर्णानि तापयेत् ।
चतुरङ्गुलदीर्घाणि तिलोत्सेधसमानि[1] च ॥ १५ ॥
ज्ञात्वा तान्यञ्जनाभानि सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
तानि चूर्णानि मधुना रसेनामलकस्य च ॥ १६ ॥
युक्तानि लेहवत्कुम्भे स्थितानि घृतभाविते ।
संवत्सरं निधेयानि यवपल्ले तदेव च ॥ १७ ॥
दद्यादालोडनं मासे सर्वत्रालोडयन् बुधः ।
संवत्सरात्यये तस्य प्रयोगो मधुसर्पिषा ॥ १८ ॥
प्रातः प्रातर्बलापेक्षी सात्म्यं जीर्णे च भोजनम् ।
एष एव च लोहानां प्रयोगः संप्रकीर्तितः ॥ १९ ॥
अनेनैव विधानेन हेम्नश्च रजतस्य च ।
आयुःप्रकर्षकृत्सिद्धः प्रयोगः सर्वरोगनुत् ॥ २० ॥
नाभिघातैर्न चातङ्कैर्जरया न च मृत्युना ।
स धृष्यः[2] स्याद्गजप्राणः सदा चातिबलेन्द्रियः ॥ २१ ॥
धीमान् यशस्वी वाक्सिद्धः श्रुतधारी महाधनः[3] ।
भवेत्समां प्रयुञ्जानो नरो लौहरसायनम् ॥ २२ ॥

इति लौहादिरसायनम् ।

लौहादिरसायन—तीक्ष्णलोह (फ़ौलाद) के चार अंगुल लम्बे और तिल की मोटाई के समान मोटे पत्र बनवा कर अङ्गारों में तपायें। जब तपकर आग के सदृश लाल हो जांय तब त्रिफला के क्वाथ में बुझावे । इससे निकाल कर पुनः अङ्गारों पर लाल करे और गोमूत्र में बुझाये। गोमूत्र से निकाल अग्नि में लाल कर ज्योतिष्मती (मालकंगनी) के क्षारोदक में बुझाये । तत्पश्चात् इंगुदी (हिंगोट) के क्षारोदक में और अन्त में पलाश (ढाक) के क्षारोदक में आग में लाल करके बुझाना चाहिये । यह तीक्ष्णलोह का बुझाना

१ 'तिलोत्सेधतनूनि च' ग. । २ 'बाध्यः' ग. । ३ 'महाबलः' पा० ।

उक्त क्रम से ही करना चाहिये । इसप्रकार बुझाने से वह तीक्ष्ण लौह का पत्र अञ्जन के सदृश अति कृष्णवर्ण का और खस्ता हो जाता है । उसे कूटकर बारीक चूर्ण कर लें । इस चूर्ण में मधु और आंवलों का रस डालकर लेह (चटनी) सा बना लेवे । अब एक घी से भावित पात्र में डालकर जौ के ढेर में दबा दें और एक वर्ष तक उसी में रखा रहने दें । प्रतिमास उसे तीक्ष्णलोह अथवा लकड़ी के दण्ड से आलोडन कर देना चाहिये । आलोडन करते समय सर्वत्र अच्छी प्रकार आलोडन किया जाय । कोई भाग आलोडन से बचा न रहे । वर्ष के पश्चात् मधु और घी से प्रतिदिन प्रातः बल के अनुसार उसका प्रयोग करना चाहिये । औषध के जीर्ण होने पर सात्म्यभोजन करे । यही लोहों (धातुओं) का प्रयोग कह दिया है । साधारणतया तीक्ष्ण लोह चूर्ण की मात्रा—आधी रत्ती से २ रत्ती तक है ।

इसी ही विधान के अनुसार सुवर्ण और चांदी का प्रयोग सम्पूर्ण रोगों को नष्ट करता है तथा आयु को अत्यन्त दीर्घ करता है ।

लौहरसायन के लगातार एक वर्ष तक प्रयोग करने से पुरुष अभिघात (चोट वा आगन्तुज रोगोंका उपलक्षण),आतङ्क (रोग—निजरोग), जरा,मृत्यु;इनसे अभिभूत नहीं होता । सेवन करने वाले का प्राण वा जीवन हाथी के प्राण वा जीवन की तरह दृढ़ होता है, इन्द्रियां सदा अति बलवान् रहती हैं । वह मनुष्य बुद्धिमान् यशस्वी वाक्सिद्ध (जिसे वाणी की सिद्धि हो—जो कहे वही कुछ हो) श्रुतधारी (सुनने मात्र से जो धारण करले) तथा महाधनी हो जाता है ॥ १४—२२ ॥

ऐन्द्रीरसायनम् ।

ऐन्द्री मत्स्याक्षको ब्राह्मी वचा ब्रह्मसुवर्चला ।
पिप्पल्यो लवणं हेम शङ्खपुष्पी विषं घृतम् ॥ २३ ॥
एषां त्रियवकान् भागान् हेमसर्पिर्विषैर्विना ।
द्वौ यवौ तत्र हेम्नस्तु तिलं दद्याद्विषस्य च ॥ २४॥
सर्पिषश्च पलं दद्यात्तदैकध्यं प्रयोजयेत् ।

घृतप्रभूतं सक्षौद्रं जीर्णे चान्नं प्रशस्यते ॥ २५ ॥
जराव्याधिप्रशमनं स्मृतिमेधाकरं परम् ।
आयुष्यं पौष्टिकं बल्यं स्वरवर्णप्रसादनम् ॥ २६ ॥
परमोजस्करं चैतत्सिद्धमेतद्रसायनम् ।
नैनं प्रसहते कृत्या नालक्ष्मीर्न विषं न रुक् ॥ २७ ॥
श्वित्रं सकुष्ठं जठराणि गुल्माः प्लीहा पुराणो विषमज्वरश्च ।
मेधास्मृतिज्ञानहराश्च रोगाः शाम्यन्त्यनेनातिबलाश्च वाताः॥२८॥

इत्यैन्द्रीरसायनम् ।

ऐन्द्री रसायन—ऐन्द्री (दिव्य औषधि), मत्स्याक्षक (मछेछी) ब्राह्मी, वचा, ब्रह्मसुवर्चला (दिव्य औषधि-इसका वर्णन चतुर्थ रसायनपाद में है), पिप्पली, सैन्धवलवण, हेम (सुवर्ण), शङ्खपुष्पी (संखाहुली), विष (वत्सनाभ), घी; इनमें से सुवर्ण घी और विष को छोड़कर शेष औषधियां तीन तीन जौ लेवे । सुवर्णभस्म दो जौ, वत्सनाभ एक तिल तथा घी एक पल परिमाण में लेकर एकत्र मिला प्रयोग करे । औषध के जीर्ण होने पर प्रभूत घृत युक्त तथा मधु मिश्रित अन्न हितकर होता है । यह सिद्ध रसायन जरा और रोगों को शान्त करता है, स्मृति मेधा को बढ़ाता है, आयुष्कर है, पौष्टिक है, बलकारक है, स्वर और वर्ण को शुद्ध करता है । इसका प्रयोग करने वाले पुरुष से कृत्या (पाप वा अभिचार कर्म), अलक्ष्मी (दरिद्रता) विष और रोग परास्त हो जाते हैं । श्वित्र, कुष्ठ, उदररोग, गुल्म, प्लीहा (तिल्ली) पुराना विषमज्वर तथा मेधा स्मृति और ज्ञान को हरने वाले अर्थात् अपस्मार मूर्च्छा हिस्टीरिया आदि रोग तथा अत्यन्त बलवान् हुए २ वात इसके सेवन से शान्त हो जाते हैं ।

गंगाधर ऐन्द्री से इन्द्रायण की जड़ का और ब्रह्मसुवर्चला से सूरजमुखी (हुरहुर) का ग्रहण करता है । अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने ब्रह्मसुवर्चला से मण्डूकपर्णी लेने को कहा है ॥२३-२८॥

मेध्यरसायनानि ।

मण्डूकपर्ण्याः[1] स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।
रसो गुडूच्यास्तु समूलपुष्प्याः कल्कः प्रयोज्यः खलु शङ्खपुष्प्याः ॥
आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि ।
मेध्यानि चैतानि रसायनानि मेध्या विशेषेण च शङ्खपुष्पी ॥३०॥

इति मेध्यरसायनानि[2] ।

मेध्य रसायनें—१ मण्डूकपर्णी के स्वरस का प्रयोग करना चाहिये।
२—मुलहठी के चूर्ण को गव्यदुग्ध के साथ पीना चाहिये ।
३—गिलोय का रस पीना चाहिये।
४—मूल और पुष्प युक्त संखाहुली के कल्क का प्रयोग करना चाहिये ।

ये चारों रसायन आयुष्कर हैं, रोगनाशक हैं, बल अग्नि वर्ण और स्वर को बढ़ाते हैं, मेधा के लिये हितकर हैं । इन चारों में से शङ्खपुष्पी विशेषतः मेध्य है—मेधा को बढ़ाती है ॥

सुश्रुत के मेधायुष्कामीय प्रकरण में मण्डूकपर्णी के स्वरस के प्रयोग का विधान भी दिया गया है—

'हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तो यथोक्तमागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसम्पाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसाऽऽलोड्य पिबेत्पयोऽनुपानं वा । तस्यां जीर्णायां यवान्नं पयसोपयुञ्जीत । तिलैर्वा सह भक्षयित्वा त्रीन् मासान् पयोऽनुपानम् । जीर्णे पयःसर्पिरोदन इत्याहारः । एवमुपयुञ्जानो ब्रह्मवर्चसः श्रुतिनिगादी भवति, वर्षशतमायुरवाप्नोति । त्रिरात्रोपोषितश्च त्रिरात्रेनेनं भक्षयेत् त्रिरात्रादूर्ध्वं पयःसर्पिरिति चोपयुञ्जीत । बिल्वमात्रं पिण्डं वा पयसाऽऽलोड्य पिबेदेवं दशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुर्भवति ॥'

---

१ मण्डूकपर्ण्याः दन्त्याः इति गंगाधरस्तच्चिन्त्यम् ।

२ 'मेधाकररसायनानि' च. ।

इन चारों ही रसायनों को अर्थात् मण्डूकपर्णी स्वरस, मुलहठी चूर्ण, गिलोय का रस तथा शङ्खपुष्पी के कल्क को गौ के दूध के साथ प्रयोग कराना चाहिये। इच्छा हो तो गौ के दूध में आलोडन कर सकते हैं वा अनुपान के तौर पर गौ का दूध पिलाया जा सकता है ॥ २९–३० ॥

पिप्पलीरसायनम् ।

पञ्च षट् सप्त दश वा पिप्पलीर्मधुसर्पिषा ।
रसायनगुणान्वेषी समामेकां प्रयोजयेत् ॥ ३१ ॥
तिस्रस्तिस्रस्तु पूर्वाह्णे भुक्त्वाऽग्रे भोजनस्य च ।
पिप्पल्यः किंशुकक्षारभाविता घृतभर्जिताः ॥ ३२ ॥
प्रयोज्या मधुसर्पिर्भ्यां[२] रसायनगुणैषिणा ।
जेतुं कासं क्षयं शोषं श्वासं हिक्कां गलामयान् ॥ ३३ ॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषं पाण्डुतां विषमज्वरम् ।
वैस्वर्यं पीनसं शोफं गुल्मं वातबलासकम् ॥ ३४ ॥

इति पिप्पलीरसायनम् ।

पिप्पलीरसायन—१ रसायन के गुणों को चाहने वाला पांच छह सात अथवा दस पिप्पलियों को (चूर्ण कल्क शृत शीत अथवा फाण्ट रूप में) मधु और घी के साथ एक वर्ष तक प्रयोग करे।

२—पिप्पलियों को पूर्व पलाश (ढाक) के क्षारोदक में भावना देकर गव्यघृत में थोड़ा २ भून ले। रसायन के गुणों को चाहने वाला प्रतिदिन प्रातःकाल, भोजन से पूर्व तथा भोजन के पश्चात् तीन तीन पिप्पलियों को मधु और घी के साथ प्रयोग करे। इसके सेवन से

---

१ 'पञ्चाष्टौ सप्त दश वा' च. । 'पञ्चेत्यादौ संख्याव्यतिक्रमेणानुक्तसंख्यानामपि पिप्पलीनामुपयोगं सूचयति' चक्रः ।

२ 'मधुसंमिश्रा' पा० ।

कास क्षय शोष श्वास हिक्का गले के रोग अर्श संग्रहणी पाण्डुरोग विषमज्वर स्वरभेद पीनस (प्रतिश्याय) शोफ गुल्म और वातबलासक-ज्वर (अथवा वातकफजरोग) नष्ट होता है।

' पञ्च षट् सप्त ' इसके स्थल पर ' पञ्चाष्टौ सप्त ' यह पाठ प्रायशः अधिक प्रचलित है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी ऐसा ही पाठ है। इसके अनुसार पांच आठ सात वा दस यह अर्थ होता है। इस पर व्याख्या करते हुए जेज्जट ने कहा है कि पांच आठ सात इस प्रकार कहने से संख्या का क्रम टूट जाता है। जिससे आचार्य का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि यह आवश्यक नहीं कि इन्हीं संख्याओं में पिप्पली का प्रयोग कराया जाय। पांच पिप्पली से कम का भी प्रयोग करा सकते हैं। इनकी संख्या का निर्धारण दोष के मान आदि के ऊपर निर्भर करता है। यही अभिप्राय चक्रपाणि का भी है।

पिप्पलीरसायन के दूसरे प्रयोग पर भी जेज्जट ने एक विशेष बात कही है। वह कहता है कि एक ही पुरुष को प्रातःकाल, भोजन से पूर्व तथा भोजन के पश्चात् अर्थात् तीनों कालों में पिप्पली का सेवन न करना चाहिये। ये तीन काल भिन्न २ पुरुषों की अपेक्षा से कहे हैं। कफप्रकृति पुरुष में जब दोष अत्यन्त प्रवृद्ध हो तो प्रातः प्रयोग कराना चाहिये यदि मध्यम प्रवृद्ध हो तो भोजन से पूर्व यदि अल्प ही दोष हो तो भोजन के पश्चात् प्रयोग कराना चाहिये।

भावना देने के लिये एक घृतभावित मृत्पात्र में पिप्पलियां डाल कर क्षारोदक डाल दें। क्षारोदक उतना ही डालें जिससे पिप्पलियां डूब जांय। उस पात्र को छाया में पड़ा रहने दें जब देखें कि क्षारोदक उनके सम्पूर्ण मध्य में पहुंच गया है तो निकाल लें। अथवा जब देखें कि वह सम्पूर्ण क्षारोदक सूख गया है तब पिप्पलियों को निकाल लें। यह एक भावना होती है। पूर्वोक्त आमलकलेह में आंवले और पिप्पलियों को एक ही बार इस प्रकार भावित करने को कहा

जा चुका है । अतः यहां पर भी हमारी समझ में एक वार ही भावना देना पर्याप्त है । अथवा वहां 'भावना' शब्द का प्रयोग नहीं है अतः वहां एक ही वार करना चाहिये और यहां सातवार भावना दी जानी चाहिये । गङ्गाधर भी सातवार ही भावना देने को लिखता है । भावना का सामान्य नियम यह है—

'दिवा दिवातपे शुष्कं रात्रौ रात्रौ निवासयेत् ।
श्लक्ष्णचूर्णीकृतं द्रव्यं सप्ताहं भावनाविधिः ॥

जहां पर यह न लिखा हो कि कितने दिन भावना देनी है वहां सामान्यतः सातदिन भावना देने का विधान है—यही समझा जाता है । परन्तु यदि कहीं किसी द्रव से मर्दन वा पेषण करने को लिखा हो तो वहां एक वार ही समझना चाहिये । यही आजतक वृद्ध वैद्यों का व्यवहार चला आता है ॥ ३१–३४ ॥

पिप्पलीवर्धमानरसायनम् ।

क्रमवृद्धया दशाहानि दशपैप्पलिकं[1] दिनम् ।
वर्धयेत्पयसा सार्धं तथा चापनयेत्पुनः ॥ ३५ ॥
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ।
पिप्पलीनां सहस्रस्य प्रयोगोऽयं रसायनम् ॥ ३६ ॥
पिष्टास्ता बलिभिः सेव्याः श्रृता मध्यबलैर्नरैः ।
शीतीकृता[2] ह्रस्वबलैर्योज्या दोषामयान् प्रति ॥ ३७ ॥
दशपैप्पलिकः श्रेष्ठो मध्यमः षट्प्रकीर्तितः ।
प्रयोगो यस्त्रिपर्यन्तः[3] स कनीयान् स चाबलैः ॥ ३८ ॥
बृंहणं स्वर्यमायुष्यं प्लीहोदरविनाशनम् ।
वयसः स्थापनं मेध्यं पिप्पलीनां रसायनम् ॥ ३९ ॥

इति पिप्पलीवर्धमानं रसायनम् ।

पिप्पलीवर्धमानरसायन—एक दिन में दस पिप्पलियों का दूध

---

१ 'दशपिप्पलिकं' च. । 'दश पिप्पलयो यत्र वर्धन्ते तद्दिनं दशपिप्पलिकं, तेन प्रत्यहं दश पिप्पलयो वर्धनीया इत्यर्थः' चक्रः । २ 'चूर्णीकृता' च. । ३ 'ऽयं त्रिपर्यन्तः' च. ।

के साथ प्रयोग करे। इस प्रकार दस दिन तक क्रमशः प्रतिदिन दूध के साथ दस दस बढ़ाता जाय। और पश्चात् क्रमशः प्रति-दिन दूध के साथ ही दस दस घटाता जाय। इस प्रकार १००० पिप्पलियों का प्रयोग करे। प्रथम दिन १० पिप्पलियों का प्रयोग करे, दूसरे दिन २०, तीसरे दिन ३०। इस प्रकार प्रति-दिन दस दस बढ़ाता जाय। दसवें दिन १०० पिप्पलियों का प्रयोग होगा। पुनः ग्यारहवें दिन ९० पिप्पलियां, बारहवें दिन ८०। इस प्रकार दस दस घटाते जांय तो उन्नीसवें दिन १० पिप्पलियां प्रयोग में आंयगी। पहिले दस दिनों में ५५० पिप्पलियों का और पीछे के ९ दिनों में ४५० पिप्पलियों का प्रयोग होगा। सब मिलाकर १००० पिप्पलियां होंगी। इसमें पिप्पलियों के बढ़ाने और घटाने के साथ २ सहपान वा अनुपान रूप में प्रयुक्त होने वाले दूध की मात्रा को भी क्रमशः बढ़ाना और घटाना पड़ेगा। हारीत ने दुग्ध का प्रमाण बताया है—

'त्रिः पञ्च सप्त मगधाः प्रकुञ्चपयसा सह।
पिबन् क्रमाद्वर्द्धयेन्नीरुक् पित्तवातकफान् जयेत्॥'

भोज ने भी कहा है—

'त्रिः पञ्च सप्त दश वा पिप्पल्यः पयसा सह।
प्रकुञ्चवृद्धेन पिबन् नरः प्रोक्तान् गदान् जयेत्॥'

चन्द्रट के अनुसार तीन पिप्पली के साथ तीन प्रकुञ्च पांच के साथ पांच प्रकुञ्च परिमाण में दूध का प्रयोग होना चाहिये। पर यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि क्रमशः दूध को इसी प्रकार बढ़ाने से दूध की इतनी मात्रा हो जायगी जो पी नहीं जा सकेगी। वस्तुतः अभिप्राय यह है कि प्रथम दिन जब दस पिप्पली का प्रयोग हो तो उसके साथ एक प्रकुञ्च (पल) दूध का प्रयोग होगा जब बीस तब दो प्रकुञ्च, जब सौ तब दस प्रकुञ्च। पुनः क्रमशः एक एक प्रकुञ्च घटाते जांयगे। इस प्रकार १० पिप्पली के दिन पुनः एक प्रकुञ्च दूध का प्रयोग होगा।

सुश्रुत में भी कहा है—

'पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टाः पञ्चाभिवृद्धया सप्ताभिवृद्धया दशाभिवृद्धया वा पिबेत् क्षीरौदनाहारो दशरात्रम् । दशरात्रात् भूयश्चापकर्षयेत् यावत्पञ्च सप्त दश वेति । एतत्पिप्पलीवर्द्धमानं वातशोणितविषमज्वरारोचकपाण्डुरोगप्लीहोदरार्शःश्वासकासशोषशोफाग्निसादहृद्रोगोदराण्यपहन्ति ।'

प्रतिदिन जब ये जीर्ण हो जांय तब दूध और घी के साथ सांठी के भात का भोजन करना चाहिये ।

दोष और रोगों को देखते हुए बलवान् पुरुष को पीसकर सेवन करनी चाहियें, मध्यम बल वाले पुरुषों को क्वाथ करके सेवन करनी चाहियें और दुर्बल पुरुषों को पिप्पलियों का शीत कषाय पीना चाहिये ।

दस पिप्पली से प्रारम्भ कर दस दिन तक प्रतिदिन दस दस पिप्पली बढ़ाने का और पश्चात् इसी प्रकार क्रमशः दश तक घटाने का प्रयोग सबसे श्रेष्ठ अर्थात् सब से बड़ी मात्रा में प्रयोग है । इससे अधिक पिप्पली कदापि न सेवन करनी चाहिये । यह पूर्णमात्रा (Maximum dose) है । छह पिप्पलियों से प्रारम्भ कर दस दिन तक प्रतिदिन छह छह पिप्पलियों का बढ़ाना और पश्चात् इसी प्रकार क्रमशः छह तक घटाना यह मध्यम मात्रा है । तीन पर्यन्त पिप्पलियों का प्रयोग सबसे अवर (अल्प) है । अर्थात् तीन पिप्पलियों से प्रारम्भ कर दस दिन तक तीन तीन पिप्पलियां बढ़ाते जाना और पश्चात् इसी प्रकार तीन तक घटाने का प्रयोग अल्पतम (Minimum dose) है । यह क्रम निर्बल पुरुषों के लिये है ।

दशपैप्पलिक क्रम अभी ऊपर कहा ही है । उसके अनुसार १००० पिप्पलियों का प्रयोग होता है । षट्पैप्पलिक क्रम में ६०० पिप्पलियों का प्रयोग होगा । त्रिपैप्पलिक क्रम में २८० पिप्पलियों का प्रयोग होगा ।

गङ्गाधर ने तो षट्पैप्पलिक क्रम में १०१४ पिप्पलियों का

और त्रिपैप्पलिक क्रम में १०२६ पिप्पलियों का प्रयोग बताया है। उसके अनुसार छह पिप्पली वाले क्रम में प्रथम दिन छह पिप्पलियों का प्रयोग करके प्रति दिन छह छह बढ़ाते हुए तेरहवें दिन ७८ पिप्पलियों का प्रयोग होता है। चौदहवें दिन से छह छह पिप्पलियां प्रतिदिन घटायी जाती हैं। पचीसवें दिन छह पिप्पलियों का सेवन होता है। तीन पिप्पलियों के क्रम में प्रथम दिन तीन पिप्पलियां प्रारम्भ करके प्रतिदिन तीन २ बढ़ाते हुए अठारहवें दिन ५४ पिप्पलियों का सेवन होगा। उन्नीसवें दिन भी ५४ पिप्पलियों का प्रयोग होगा। तदनन्तर प्रतिदिन तीन २ पिप्पलियां घटाता जाय। छत्तीसवें दिन पुनः तीन पिप्पलियों का प्रयोग होगा। तीन पिप्पलियों तक का क्रम निर्बल पैत्तिक पुरुषों के लिये हैं। छह पिप्पलियों का क्रम मध्यमबल वा वातिक पुरुषों के लिये है और दस पिप्पली का क्रम अति बलवान् श्लैष्मिक पुरुषों के लिये है। गङ्गाधर ने तीनों अवस्थाओं में १००० पिप्पलियों का प्रयोग आवश्यक माना है। परन्तु यद्यपि मध्यम बल और दुर्बल पुरुष के लिये इस प्रयोग में उत्तम बल वाले पुरुष की अपेक्षा एक वार में अधिक पिप्पलियों का सेवन नहीं तो भी अन्त में सारे क्रम की पिप्पलियों की संख्या १००० से अधिक हो जाती है। हमने सुश्रुत के—

'पिप्पलीर्वा क्षीरपिष्टाः पञ्चाभिवृद्ध्या सप्ताभिवृद्ध्या दशाभिवृद्ध्या वा पिबेत् क्षीरौदनाहारो दशरात्रम्।'

इस वचन के अनुसार वर्धमानक्रम १० दिन का रखकर पुनः ह्रसमान क्रम करने को कहा है। इससे जहां एकत्र अपेक्षया अधिक पिप्पलियों का सेवन नहीं होता वहां सारे क्रम के पिप्पलियों की संख्या का योग भी कम ही रहता है। जो मध्यमबल वा निर्बल पुरुष के लिये योग्य ही है। 'त्रिपर्यन्त' कहने से आचार्य ने यह भी बता दिया कि तीन पिप्पलियों से कम पिप्पलियों का क्रम भी किया जा सकता

है । इस प्रकार अवरबल पुरुष एक पिप्पली से लेकर तीन पिप्पली तक के क्रम का प्रयोग कर सकते हैं । मध्यम बल वाले चार पिप्पलियों से छह पिप्पलियों तक का क्रम कर सकते हैं और उत्तम बल वाले सात पिप्पलियों से दस पिप्पलियों तक के क्रम का । दस पिप्पलियों के क्रम से अधिक पिप्पलीवर्धमानक्रम नहीं होता । तन्त्रान्तरों में कहे गये पांच सात आदि के क्रम भी इसी में अन्तर्भूत हैं ।

यह पिप्पलीवर्धमान रसायन पुष्टिकर स्वर के लिये हितकर आयुष्कर प्लीहोदर-नाशक वयःस्थापक तथा मेधा के लिये हितकर है ॥३५—३६॥

त्रिफलारसायनम् ।

जरणान्तेऽभयामेकां प्राग्भुक्ते द्वे बिभीतके ।
भुक्त्वा तु मधुसर्पिर्भ्यां चत्वार्यामलकानि च ॥ ४० ॥
प्रयोजयेत्समामेकां त्रिफलाया रसायनम् ।
जीवेद्वर्षशतं पूर्णमजरोऽव्याधिरेव च ॥ ४१ ॥

इति त्रिफलानां रसायनम् ।

त्रिफलारसायन—पूर्व किये हुए भोजन के जीर्ण होने पर प्रातःकाल एक हरड़, भोजन से पूर्व दो बहेड़े और भोजन के पश्चात् चार आंवले मधु और घी के साथ सेवन करे । तीनों द्रव्यों को ही कूटकर मधु और घी के साथ सेवन करना होता है । इस त्रिफलारसायन के एक वर्ष के प्रयोग से पुरुष पूरे सौ बरस तक जरारहित एवं नीरोग होकर जीवित रहता है ॥ ४०—४१ ॥

त्रिफलारसायनम् ।

त्रैफलेनायसीं पात्रीं[1] कल्केनालेपयेन्नवाम् ।
तमहोरात्रिकं लेपं पिबेत्क्षौद्रोदकाप्लुतम् ॥ ४२ ॥
प्रभूतस्नेहमशनं जीर्णे तत्र प्रशस्यते ।

---

१ 'पत्रीं' पा० ।

अजरोऽरुक् समाभ्यासाज्जीवेच्चैव समाः शतम् ॥ ४३ ॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्[1]।

त्रिफलारसायन—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) के कल्क से नये लोहपात्रों में लेप करें। चौबीस घण्टे तक उस लेप को न उतारें। पश्चात् उस कल्क को उतार कर शहद के शर्बत में घोल कर पी जाय। इस औषध के जीर्ण होने पर प्रभूतघृत-युक्त ओदन आदि का भोजन करना चाहिये। इस के एक वर्ष के अभ्यास से जरा एवं रोग से रहित होकर पुरुष १०० बरस तक जीता है ॥४२—४३॥

त्रिफलारसायनम्।

मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या क्षौद्रसर्पिषा।
त्रिफला सितया चापि युक्ता सिद्धं रसायनम् ॥ ४४ ॥
इति त्रिफलारसायनमपरम्[2]।

त्रिफलारसायन—त्रिफला के साथ मुलहठी, वंशलोचन, पिप्पली तथा खांड का चूर्ण मिलाकर मधु और घी के साथ सेवन करना चाहिये। यह सिद्ध रसायन है। इसमें त्रिफला के तीनों द्रव्य (पृथक् पृथक्) मुलहठी वंशलोचन और पिप्पली;इनका चूर्ण समपरिमाण में होगा। और सारे के समान खांड मिलायी जायगी। इस चूर्ण को २ मासा मात्रा में मधु और घी के साथ सेवन करना चाहिये। अष्टाङ्ग-संग्रहकार ने ये पृथक् योग माने हैं। गङ्गाधर ने भी ये पांच ही योग माने हैं। परन्तु आचार्य का मत इन्हें पृथक् २ योग मानने का नहीं है। यदि आचार्य पृथक् २ योग मानता तो उपसंहार के श्लोक में १६ योग न लिखता। पृथक् २ योग मानने से संख्या का अतिक्रम होता है। अतः इसे एक ही योग मानना चाहिये ॥ ४४ ॥

त्रिफलारसायनम्।

सर्वलोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा।

१—२ 'त्रिफलारसायनम्' च.।

विडङ्गपिप्पलीभ्यां च त्रिफला लवणेन च ॥ ४५ ॥
संवत्सरप्रयोगेण मेधास्मृतिबलप्रदा ।
भवत्यायुष्प्रदा धन्या जरारोगनिबर्हणी ॥ ४६ ॥

इति त्रिफलारसायनमपरम्[1] ।

त्रिफलारसायन—त्रिफला में सब धातुएं सुवर्ण वचा विडङ्ग पिप्पली सैन्धव लवण; इनका चूर्ण मिश्रित करके मधु और घी के साथ प्रयोग करना चाहिये । सब धातुओं में ही यद्यपि सुवर्ण का भी ग्रहण हो जाता है परन्तु उसका पृथक् नाम इसीलिये पढ़ा है कि इस योग में सुवर्णभस्म अवश्य और एक भाग परिमित डाली जाय । शेष धातुओं की भस्मों को यथालाभ डाल सकते हैं । धातुएं सात हैं—सुवर्ण, रजत (चांदी), वङ्ग, सीसक, ताम्र, यशद, लोह[2] । इस में भी त्रिफला के तीनों द्रव्य (पृथक् २) सुवर्ण के अतिरिक्त ६ धातु (मिलाकर), सुवर्ण, वच, वायविडङ्ग, पिप्पली तथा सेन्धानमक समपरिमाण में लिये जांयगे । अर्थात् आजकल के मान के अनुसार हरड़ १ तोला, बहेड़ा १ तोला, छह धातुएं मिलाकर १ तोला (प्रत्येक २ मासे = १६ रत्ती), सुवर्ण १ तोला, वचा १ तोला, बायविडङ्ग १ तोला, सेन्धानमक १ तोला मिलावें । मात्रा—२ रत्ती से ४ रत्ती तक । एक मात्रा को मधु और घी के साथ सेवन करना चाहिये । एक वर्ष तक प्रयोग करने से यह रसायन मेधा, स्मृति तथा बल देता है, आयुष्कर है, धन्य है और जरा एवं रोग को नष्ट करता है । गङ्गाधर ने ये पृथक् पृथक् ६ योग माने हैं पर ऐसा मानने पर पूर्वोक्त दोष आता है । तथा च मधुघृत के साथ

---

१ 'त्रिफलारसायनम्' च. । २ 'स्वर्णतारारताम्राणि नागवङ्गौ च तीक्ष्णकम् । धातवः सप्त विज्ञेया अष्टमः कापि पारदः' । इति केचिद् । अन्ये तु 'स्वर्णं तारं च ताम्रं च वङ्गो नागस्तु पञ्चमः । रीतिका च तथा घोषो लोहं चेत्यष्टधातवः' ॥ इत्याहुः ।

गङ्गाधरके अनुसार त्रिफला योग का पूर्व ४४ श्लोकमें कहे जा चुकने पर पुनः इसमें कहने से पुनरुक्तिदोष भी आता है। अतः इसे भी एक ही योग मानना उचित है। वृद्धवाग्भट ने यद्यपि अपने संग्रह में यह पुनरुक्तिदोष नहीं आने दिया पर सब धातुओं के साथ, सुवर्ण के साथ, वचा के साथ और लवण के साथ पृथक् २ त्रिफला के योग कहे हैं—

' मधुकेन तवक्षीर्या पिप्पल्या सिन्धुजन्मना ।
पृथग्लोहैः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा ॥
सितया वा समायुक्ता समायुक्ता रसायनम् ।
त्रिफला सर्वरोगघ्नी मेधायुःस्मृतिबुद्धिदा ॥' अ० सं० उ० अ० ४६

परन्तु यह तो निश्चित ही है कि चरकाचार्य को ' मधुकेन ' इत्यादि द्वारा तथा ' सर्वलोहैः ' इत्यादि द्वारा दो ही योग अभिमत हैं। इन योगों में रसशास्त्र की विधियों से मारित और पुटित धातुओं की भस्म डालने से ही अधिक लाभ की सम्भावना है ॥ ४५-४६ ॥

अनम्ल[1]ं च कषायं च कटु पाके शिलाजतु ।
नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य संभवः ॥ ४७ ॥

शिलाजीत का सामान्य वर्णन—शिलाजीत अम्ल नहीं होता, कषायरस होता है, विपाक में प्रायः कटु होता है। हमने प्रायः इस लिये कहा है क्योंकि आचार्य रजतमय शिला से निकलने वाली शिला-जीत का विपाक मधुर कहेंगे। यह न अत्यन्त उष्ण होती है और न शीतल होती है। चार धातुओं से इसकी उत्पत्ति होती है। चारों प्रकार की शिलाजीतों में अम्लरस नहीं होता। कषाय अनुरस होता है। शेष चारों रस शिलाजीतों में पाये जाते हैं। इनका वर्णन आगे होगा। चक्रपाणि ने अपने चिकित्सासंग्रहमें 'अनम्लञ्चाकषायञ्च' यह पढ़ा है। जिसके अनुसार अम्ल और कषाय रस शिलाजीतोंमें नहीं होते। शेष चारों रस होतेहैं।

सुश्रुत ने तो त्रपु (वंग) और सीसक की शिलाओं से उत्पन्न

१ अनम्लमिति-पदम्लं, न त्वम्लरसरहितं कषायमित्युक्त्या तल्लाभे अनम्ल-मिति वचनस्य वैयर्थ्यात् इति गङ्गाधरस्तच्चिन्त्यम् ।

होने वाले दो प्रकार के शिलाजतु और भी माने हैं ॥ ४७ ॥

हेम्नश्च रजतात्ताम्राद्वरं कृष्णायसादपि ।
रसायनं तद्विधिभिस्तद्वृष्यं तच्च रोगनुत् ॥ ४८ ॥

वे चार धातुऐं ये हैं जिनसे शिलाजीत की उत्पत्ति होती है—सुवर्ण, चांदी, तांबा कृष्णायस (लोह) । विधिपूर्वक प्रयुक्त की हुई शिलाजीत रसायन वृष्य और रोगनाशक होती है ॥ ४८ ॥

वातपित्तकफघ्नैस्तु निर्यूहैस्तत्सुभावितम् ।
वीर्योत्कर्षं परं याति सर्वैरेकैकशोऽपि वा ॥ ४९ ॥

विशुद्ध शिलाजीत को वातघ्न पित्तघ्न कफघ्न गणों के रसों से वा काथों से अथवा उन गणों की एक २ औषध से अच्छीप्रकार भावना देने से वह अपने कर्म में अधिक समर्थ होजाती है । रोगी के दोष आदि के अनुसार यदि सम्पूर्ण गण के औषधों के काथ से भावना देनी हो तो सम्पूर्ण गण से भावना देनी चाहिये । यदि किसी गण की दो एक औषधियों के काथ की भावना देनी अभीष्ट हो तो वैसे ही एक वा दो २ वा तीन२ आदि ओषधियों के काथ से भावना दी जा सकती है । ओषधियों के काथों से भावना देने से पूर्व स्वच्छ जल से शोधन करके सुखा लेनी चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर अ० ४९ में कहा भी है—

'व्याधिव्याधितसात्म्यं समनुसरन् भावयेदयःपात्रे ।
प्राक्केवलजलधौतं शुष्कं काथैस्ततो भाव्यम् ॥'

वातघ्न पित्तघ्न तथा कफघ्न गण अष्टाङ्गसंग्रह में दिये गये हैं,जिनसे शिलाजीत को उन २ दोषों के नाश के लिये भावना दी जानी चाहिये।

'रास्नादशमूलबलापुनर्नवैरण्डशुण्ठिमधुकानाम् ।
काथेन भावितं तद्विशेषतो वातरोगघ्नम् ॥
द्राक्षाभीरुपटोलत्रायन्तिगुडूचिजीवनीयानाम् ।

---

१ 'वरात्' च. ।

निर्यूहेण सुभिन्नं शस्तं पित्तामये सुतराम् ॥
क्रिमिजिद्वचाफलत्रयकरञ्जघनमुख्यमूलानाम् ।
सह पञ्चकोलकानां क्राथेन कफामये भाव्यम् ॥
लघुपञ्चमूलशुण्ठीद्राक्षाकाश्मर्यवाजिगन्धानाम् ।
सगुडूचिशरबलानां रसेन पित्तानिलगदेषु ॥
घनकुष्ठवचात्रिफलासुरदारुविडङ्गपञ्चकोलानाम् ।
रजनीमरिचातिविषायुक्तानां वातकफजेषु ॥
पाठापटोलनिम्बत्रिफलाघनकुटजसप्तपर्णानाम् ।
त्रायन्त्यमृतातिविषासहितानां पित्तकफजेषु ॥
निचयेऽपि दोषबलतो योगानेतान् विकल्प्य युञ्जीत ।
विविधगणसंग्रहोक्तैस्तैस्तैश्च गणैर्गिरेः सारम् ॥

चिकित्साकलिका में भी वातघ्न आदि गणों का संग्रह है । उन गणों को उस ग्रन्थ में देख लेना चाहिये ।

शिलाजीत को शोधकर ही प्रयोग में लाना चाहिये । शिलाजीत के शोधन के विधान रसग्रन्थों में कहे गये हैं । सबसे पूर्व स्वच्छ जल से शुद्ध करना चाहिये । अशुद्ध शिलाजीत में रेत पत्थर पत्ते आदि बहुत सी मलिनतायें होती हैं । उन्हें स्वच्छजल में घोलकर पृथक् कर लेना चाहिये । जितनी अशुद्ध शिलाजीत हो उससे दुगुना गरम जल ले । उस गरम जल में अशुद्ध शिलाजीत के छोटे २ टुकड़े करके डाल दें । इससे कुछ शिलाजीत जल में घुल जायगी और मैल नीचे बैठी रहेगी । अब ऊपर के जल को नितार कर वस्त्र से छान लें और दूसरे लोहपात्र में डाल दें । यह पात्र घाम में रखे होने चाहियें । जब इसका घन भाग ऊपर आ जाय और मैल नीचे बैठ जाय तब ऊपर के घनभाग को तीसरे लोहपात्र में डाल दें । इसी प्रकार तीसरे से चौथे में इत्यादि । इन सब पात्रों में उष्ण जल होना चाहिये जिस से शिलाजीत घुल जाय और मैल नीचे बैठ जाय । जब देखें कि पात्र में मैल नीचे नहीं बैठता तो उसे घाम में सूखने देना चाहिये ।

पुनः सब पात्रों की मैल को एकत्रित करके इसी विधान के अनुसार तब तक करते रहें जब तक सारी शिलाजीत मल से पृथक् न हो जाय। यह शिलाजीत के निर्मल करने का विधान है । जब इस प्रकार स्वच्छ जल द्वारा शिलाजीत का शोधन हो जाय तो शुष्क होने पर वात आदि दोष के अनुसार वातघ्न आदि गणों से भावनायें देवें । इस प्रकार उसकी रोगनाशक शक्ति अधिकाधिक हो जाती है ॥ ४९ ॥

प्रक्षि¹प्योद्धृतमावा²पं पुनस्तत्प्रक्षिपेद्रसे ।
कोष्णे सप्ताहमेतेन विधिना तस्य भावना ॥ ५० ॥

भावनायें--स्वच्छ जल से शोधित शिलाजीत में वातघ्न आदि गण का कोष्ण क्वाथ डालकर घाम में सुखाने रख दें। जब देखें कि वह पूर्णतया शुष्क हो गया है तब पुनः कोसा २ क्वाथ डालें । इस प्रकार सात दिन भावनायें दें। शिलाजीत को भावना देने के लिये क्वाथ का यह विधान है—

'समगिरिजमष्टगुणिते निष्क्वाथ्यं भावनौषधं तोये ।
तन्निर्यूहेऽष्टांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेत् गिरिजम् ॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः ।
स्वैः स्वैरेव क्वाथैर्भाव्यं वारान् भवेत्सप्त ॥' अष्टाङ्गसंग्रह उ०अ०४९

अर्थात् शिलाजीत के बराबर क्वाथ्य द्रव्य लेकर आठगुने जल में काढ़ें। जब अष्टमांश अवशिष्ट रह जाय तब वस्त्र से छानकर उस कोसे २ क्वाथ से भावना देवें। जब शिलाजीत अच्छी प्रकार घुल जाय तो घाम में सुखा लें। सूखने पर पुनः भावना दें । चक्रपाणि ने चिकित्सासंग्रह के रसायनाधिकारमें भावनार्थ क्वाथ का यह विधान कहा है—

'तुल्यं गिरिजेन जले चतुर्गुणे भावनौषधं क्वाथ्यम् ।
तत्क्वाथे पादांशे पूतोष्णे प्रक्षिपेद्गिरिजम् ॥
तत्समरसतां यातं संशुष्कं प्रक्षिपेद्रसे भूयः ॥'

अर्थात् जिन द्रव्यों से शिलाजीत को भावना देनी हो वे

---

१ 'प्रक्षिप्तोद्धृत०' च. । २ 'मप्येनं' पा० ।

द्रव्य मिलाकर शिलाजीत के समान होने चाहियें । क्वाथ्य द्रव्य से चौगुना पानी डालकर क्वाथ करें जब चतुर्थांश रह जाय तो वस्त्र से छान लें । इससे एक भावना देवें । इस प्रकार सात वार भावना देनी चाहिये । चक्रपाणि के अनुसार क्वाथ्य द्रव्यों में आठ गुना जल डाल कर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर जो क्वाथ तय्यार होता है उससे भावनायें देनी चाहिये । यथा—

'शिलाजतुसमं द्रव्यं क्वाथ्यमष्टगुणे जले ।
पादावशिष्टं तत्पूतं तस्मिन्कोष्णे विनिक्षिपेत् ॥'

परन्तु इस विधान में जल अधिक होता है । जो कि सामान्य भावना के नियम से विरुद्ध है और सूखने में भी बहुत काल लगता है । अष्टाङ्गसंग्रहोक्त विधान ही सर्वश्रेष्ठ है । उसमें ओषधियों का सार भी पूर्णरूप से आ जायगा और सूखने में भी बहुत काल न लगेगा । चक्रपाणि का विधान मृदु द्रव्यों के लिये प्रतीत होता है ॥ ५० ॥

पूर्वोक्तेन विधानेन लोहैश्चूर्णीकृतैः सह ।
तत्पीतं पयसा दद्याद्दीर्घमायुः सुखान्वितम् ॥ ५१ ॥

पूर्वोक्त विधान के अनुसार शिलाजीत को चूर्णीकृत धातुओं के साथ मिश्रित करके दूध के साथ पीने से आरोग्ययुक्त दीर्घ आयु प्राप्त होती है । अर्थात् रसायनसेवक की प्रकृति के अनुसार एक दो तीन चार जितनी धातुओं का मिलाना अभीष्ट हो मिलाकर प्रयोग करा सकते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ४९ में भी कहा है—

संस्कृतं संस्कृतं देहे प्रयुक्तं गिरिजाह्वयम् ।
युक्तं व्यस्तैः समस्तैर्वा ताम्रायोरूप्यहेमभिः ॥
क्षीरेणालोडितं कुर्याच्छीघ्रं रासायनं फलम् ।
हन्याद्रोगानशेषांश्च जीर्णे हितमिताशनः ॥

इन प्रयोगों में रसशास्त्रों के अनुसार धातुओं की भस्म बनाकर

प्रयुक्त करानी चाहिये। तथा रसायनों के सेवन के जो जो नियम हैं उनका पालन करना चाहिये। यहां 'पूर्वोक्तेन विधानेन' से पूर्वोक्तरसायन विधान के अनुसार यह अर्थ किया है। इसका दूसरी ओर भी अर्थ होता है—वह यह है कि पूर्वोक्त विधि के अनुसार धातुओं को चूर्ण रूप में लाकर उनके साथ शिलाजीत का प्रयोग कराये। तीक्ष्णलोह को चूर्ण करने की विधि लौहादिरसायन में दी जा चुकी है। ताम्र स्वर्ण आदि का भी चूर्ण उसी प्रकार किया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह में तो केवल त्रिफलाक्वाथ से तीक्ष्णलोह को चूर्ण करने को कह कर—

'ताम्ररूप्यसुवर्णानामयमेव पृथग्विधिः ।
द्विगुणं तद्गुणोत्कर्षं जानीयादुत्तरोत्तरम् ॥'

अर्थात् ताम्र आदि धातुओं के चूर्ण करने का भी यही विधान है। भेद इतना ही है कि क्रमशः दुगुनी बार निर्वापण और त्रिफला क्वाथ में डुबोकर क्रमशः दुगने काल तक रखना आदि पड़ता है। जितना लोह को चूर्ण करने के लिये उससे दुगुने काल आदि तक ताम्र, उससे दुगुने काल आदि तक चांदी, उससे दुगुने काल आदि तक सुवर्ण। और उनमें क्रमशः गुण भी एक दूसरे से उत्तरोत्तर अधिक होते हैं। यह इस श्लोक के टीकाकार इन्दु के अनुसार व्याख्या है। साधारण अभिप्राय यह है कि जो लोह चूर्ण करने का विधान कहा है वह ही पृथक् २ ताम्र चांदी और सुवर्ण का है; परन्तु उनमें गुण उत्तरोत्तर दुगुने होते जाते हैं। हमारी समझ में तो इन लोहचूर्णों की अपेक्षा रसशास्त्र की विधियों से शोधित और पुटित ही धातुओं का प्रयोग उत्तम रहेगा ॥ ५१ ॥

जराव्याधिप्रशमनं देहदार्ढ्यकरं परम् ।
मेधास्मृतिकरं बल्यं क्षीराशी तत्प्रयोजयेत् ॥ ५२ ॥

शिलाजीत का प्रयोग करते समय दूध का सेवन करना चाहिये। यह

१ 'धन्यं' च. ।

बुढ़ापे और रोग को शान्त करता है । देह को अत्यन्त दृढ़ करता है। मेधा और स्मृति को बढ़ाता है । बलकारक है ॥५२॥

प्रयोगः सप्त सप्ताहास्त्रयश्चैकश्च सप्तकः ।
निर्दिष्टस्त्रिविधस्तस्य परो मध्योऽवरस्तथा ॥ ५३ ॥

शिलाजीत का प्रयोग तीन प्रकार का है । १ पर (सब से अधिक) २ मध्य ३ अवर । सात सप्ताह तक निरन्तर प्रयोग करना पर प्रयोग है । तीन सप्ताह तक निरन्तर प्रयोग मध्य कहाता है । और एक सप्ताह का प्रयोग अवर (सब से न्यून) है । जो बलशाली हैं वा बहुदोष हैं उन्हें सात सप्ताह तक, जो मध्यबल वा मध्य दोष हैं उन्हें तीन सप्ताह तक और जो अल्पबल वा अल्प-दोष हैं उन्हें एक सप्ताह तक प्रयोग करना चाहिये ॥५३॥

पलमर्धपलं कर्षो मात्रा तस्य त्रिधा मता ।

शिलाजीत की मात्रा——शिलाजीत की मात्रा तीन प्रकार की है । प्रवरमात्रा (Maximum dose) १ पल । मध्यम मात्रा—आधा पल । अवरमात्रा (Minimum dose) १ कर्ष । परन्तु यह प्राचीन मात्रा है । आजकल यह दो रत्ती से आठ रत्ती तक की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है । प्रवर मात्रा ८ रत्ती । मध्यम मात्रा ४ रत्ती । और अवर मात्रा २ रत्ती है । बलवान् पुरुष को ८ रत्ती, मध्यबल पुरुष को ४ रत्ती और निर्बल पुरुष को २ रत्ती सेवन करानी चाहिये ।

जातेर्विशेषं सविधिं तस्य वक्ष्याम्यतः परम् ॥ ५४ ॥
हेमाद्याः[1] सूर्यसन्तप्ताः स्रवन्ति गिरिधातवः ।
जत्वाभं[2] मृदु मृत्स्नाच्छं[3] यन्मलं तच्छिलाजतु ॥ ५५ ॥

---

१ 'हेमादिशब्देनेह हेमादिसंभवस्थानभूतशिलोच्यते, यतो न साक्षात्स्वर्णादिभ्य एव शिलाजतु भवति ' चक्रः ।

२ 'जत्वाभं स्पर्शतो जत्वाभं लाक्षासमं न वर्णतः' गङ्गाधरः । ३ 'मृत्स्नाभं' ग. । 'मृत्स्नाभं मृत्तिकाभं' गङ्गाधरः ।

अब हम शिलाजीत की भिन्न २ जातियां विधिसहित कहेंगे—

शिलाजतु का स्वरूप—सूर्य के ताप से तपी हुई सुवर्ण आदि पर्वत की धातुएं जो लाख की आभा वाले नरम पिच्छिल स्वच्छ मल को चुआती हैं वह शिलाजतु कहाता है। वस्तुतः हेम आदि धातु जिनमें होती हैं ऐसी शिलाओं वा पर्वतचट्टानों पर जब सूर्य की धूप पड़ती है तो वहां से एक गाढ़ा द्रव चूने लगता है। यह गाढ़ा द्रव प्रायः काला सा पिच्छिल तथा मृदु होता है। यही शिलाजीत है। अष्टाङ्गसंग्रह उत्तरतन्त्र अ० ४९ में भी कहा है—

'ग्रीष्मेऽर्कतप्ता गिरयो जतुतुल्यं वमन्ति यत्।
हेमादिषड्धातुरसं प्रोच्यते तच्छिलाजतु ॥'

यहां छह धातु सुश्रुत के मतानुसार कही हैं। उसने आगे कहे जाने वाली चार शिलाजीतों के अतिरिक्त रांगा और सीसक से भी दो प्रकार की शिलाजीत की उत्पत्ति मानी है ॥ ५४-५५ ॥

मधुरश्च सतिक्तश्च जपापुष्पनिभश्च यः ।
कटुर्विपाके शीतश्च स सुवर्णस्य निःस्रवः ॥ ५६ ॥

सुवर्णनिःसृत शिलाजीत—जो शिलाजीत तिक्तरस युक्त मधुर तथा जपाकुसुम (ओडहुल) के समान लाल विपाक में कटु और शीतल वीर्य होती है, वह सुवर्ण का निःस्रव है। अर्थात् स्वर्णगर्भ शिलाओं से निकली शिलाजीत है। इसे सौवर्ण शिलाजीत कहते हैं ॥५६॥

रूप्यस्य कटुकः श्वेतः शीतः स्वादु विपच्यते ।
ताम्रस्य बर्हिकण्ठाभस्तिक्तोष्णः कटु पच्यते ॥ ५७ ॥

रूप्यनिःसृत शिलाजीत—जो शिलाजीत कटुरस श्वेत-वर्ण शीत-वीर्य विपाक में मधुर है वह चांदी का स्राव है। इसे राजत-शिलाजीत कहते हैं।

ताम्रनिःसृत शिलाजीत—जिसमें मोर के कण्ठ की (नीली) आभा हो, जो रस में तिक्त हो, उष्णवीर्य हो, विपाक में कटु हो; वह तांबे से

निकली हुई शिलाजीत है । इसे ताम्रशिलाजति कहते हैं ॥ ५७ ॥

यस्तु गुग्गुलुकाभासस्तिक्तको लवणान्वितः ।
कटुर्विपाके शीतश्च सर्वश्रेष्ठः स चायसः ॥ ५८ ॥

आयस शिलाजीत—जो गूगल के सदृश आभा युक्त हो, रस में तिक्त तथा लवण (अनुरस), विपाक में कटु, वीर्य में शीत हो, वह लोहे से निकली शिलाजीत है; उसे आयस शिलाजीत कहते हैं । यह सब से श्रेष्ठ है ॥ ५८ ॥

गोमूत्रगन्धयः सर्वे सर्वकर्मसु यौगिकाः ।
रसायनप्रयोगेषु पश्चिमस्तु विशिष्यते ॥ ५९ ॥

सब (चारों प्रकार की) शिलाजीतों में गोमूत्र के सदृश गन्ध होती है । ये सबकी सब शिलाजीतें सब कर्मों में प्रयुक्त होती हैं । परन्तु रसायन के प्रयोगों में अन्तिम अर्थात् आयस शिलाजतु अधिक लाभ करता है ॥ ५९ ॥

यथाक्रमं वातपित्ते श्लेष्मपित्ते कफे त्रिषु ।
विशेषतः प्रशस्यन्ते मला हेमादिधातुजाः ॥ ६० ॥

शिलाजीतों का विशेष प्रयोग—स्वर्ण आदि धातुओं से उत्पन्न होने वाले मल अर्थात् शिलाजीतें क्रमसे विशेषतः वात-पित्त में कफ-पित्त में कफ में तथा तीनों दोषों में प्रशस्त हैं । अर्थात् विशेषतः सौवर्ण शिलाजतु का प्रयोग वात पित्त में, राजत शिलाजतु का प्रयोग कफ पित्त में, ताम्रशिलाजतु का कफ में और आयस शिलाजतु का प्रयोग तीनों दोषों में होना चाहिये ॥ ६० ॥

शिलाजतुप्रयोगेषु विदाहीनि गुरूणि च ।
वर्जयेत्सर्वकालं तु कुलत्थान् परिवर्जयेत् ॥ ६१ ॥

शिलाजीत के सेवन के समय परिहार्य—शिलाजीत के प्रयोगों में विदाही और गुरु (भारी) द्रव्यों का सेवन न करना चाहिये । कुलत्थों का तो जब तक शिलाजतुरसायन के गुण विद्यमान हैं तब

१ 'कुनखान्' च. ।

तक सर्वथा प्रयोग न करना चाहिये । अथवा 'सर्वकाल' का अर्थ आजीवन भी किया जाता है । कई व्याख्याकार कहते हैं कि कुलत्थों का त्याग एक वर्ष तक होना चाहिये । रसायन का गुण अन्तवान् होता है आत्यन्तिक तो होता ही नहीं, जो अविनाशी हो । काल शब्द छह ऋतुरूप सम्वत्सर (वर्ष) का वाचक भी है । अतः 'सर्वकालं' से एक सम्पूर्ण वर्ष का ग्रहण है । शिलाजीत के प्रयोग के एक वर्ष बाद तक शरीर अत्यन्त दृढ़ हो जायगा । तब कुलत्थों का हानिकारक प्रभाव देह पर नहीं होगा । कुलत्थों का इतना निषेध उनके अत्यन्त विरोधी होने से है ॥६१॥

ते ह्यत्यन्तविरुद्धत्वादश्मनो भेदनाः परम् ।
लोके दृष्टास्ततस्तेषां प्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥ ६२ ॥

लोक में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि पत्थरों से अत्यन्त विरोध रखने के कारण कुलत्थ पत्थरों को फोड़ डालते हैं अतएव शिलाजीत के प्रयोग के समय भी उनका सेवन निषिद्ध किया गया है । कुलत्थ शरीरान्तर्गत शिलाजीत के उपादानों को परिवर्तित करके वा मूत्र द्वारा निकाल कर उसे निर्वीर्य कर देते हैं । वृद्धवाग्भट ने भी उ० अ० ४९ में पथ्यापथ्य बताया है । यथा—

'व्यायामातपमारुतचेतःसन्तापगुरुविदाह्यादि ।
उपयोगादपि परतो द्विगुणं परिवर्जयेत्कालम् ॥
कुलत्थान् काकमाचीं च कपोतांश्च सदा त्यजेत् ।
पिबेन्माहेन्द्रमुदकं कौपं प्रास्रवणाम्बु वा ॥' ६२ ॥

पयांसि शुक्तानि रसाः सयूषास्तोयं समूत्रं विविधाः कषायाः ।
आलोडनार्थं गिरिजस्य शस्तास्ते ते प्रयोज्याः प्रसमीक्ष्य कार्यम् ६३

शिलाजीत के आलोडन द्रव—दूध, शुक्त (सिरका आदि), मांसरस, यूष, जल, गोमूत्र आदि मूत्र, विविध प्रकार के क्वाथ; ये शिलाजीत के

---

१ 'तक्राणि' च. ।

आलोडन के लिये कहे गये हैं। कार्य की विवेचना करके उन उन का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् दोष आदि के अनुसार इन में से किसी एक द्रव में शिलाजीत को घोलकर पिलाना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने उदाहरणस्वरूप कहा है---

'ज्वरी ज्वरघ्नाम्बुदपर्पटादेः क्वाथेन रक्ती मधुयष्टिकायाः।
शोषी रसैः क्रव्यभुगामिषोत्थैर्मायूरमांसैः पयसा च कार्श्ये॥
मध्वम्बुना मेदसि सम्प्रवृद्धे क्षीरेण पर्याकुलबुद्धिसत्त्वः।
पाण्ड्वामयार्त्तावुदरे सशोफे पिबेच्छिलाजं महिषीजलेन॥
अश्म वीरताद्येन कुष्ठं खदिरवारिणा।
विषं विषघ्नैरगदैर्हन्त्येवं तद्यथामयम्॥' इत्यादि।

अ० सं० उ० ४९।

न सोऽस्ति रोगो भुवि साध्यरूपः शिलाह्वयं यं न जयेत्प्रसह्य।
तत्कालयोगैर्विधिभिः प्रयुक्तं स्वस्थस्य चोर्जां विपुलां ददाति ६४

इति शिलाजतुरसायनम्।

इस पृथ्वी पर ऐसा कोई साध्य कहाने वाला रोग नहीं है, जिसे शिलाजीत उस २ अवस्थाओं के योग्य योगों के साथ विधिपूर्वक प्रयुक्त होने पर बलात् न नष्ट करता हो। यह स्वस्थ पुरुषों को भी विपुल बल देता है॥ ६४॥

तत्र श्लोकः।

करप्रचितिके पादे दश षट् च महर्षिणा।
रसायनानां सिद्धानां संयोगाः समुदाहृताः॥ ६५॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने करप्रचितीयो नाम रसायनपादस्तृतीयः।

उपसंहार---इस करप्रचितीय रसायनपाद में महर्षि ने सोलह सिद्धरसायनों के प्रयोग कहे हैं। वे सोलह प्रयोग ये हैं--१ आमलकायसब्राह्मरसायन २ केवलामलकरसायन ३ लौहादिरसायन ४ ऐन्द्र-

रसायन ५-६-७-८ मेधाकर रसायन (चार) ६—१० पिप्पली-रसायन (दो) ११-पिप्पलीवर्धमान रसायन १२-१३-१४-१५ त्रिफलारसायन (चार) १६ शिलाजतुरसायन ॥ ६५ ॥

इति रसायनपादस्तृतीयः ।

अथात आयुर्वेदसमुत्थानीयं रसायनपादं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम आयुर्वेदसमुत्थानीय रसायनपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था। यह रसायनपाद आयुर्वेद की उत्पत्ति को अधिकृत करके कहा गया है ॥ १ ॥

ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च[1] ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः सांपन्निका[2] मन्दचेष्टा नातिकल्याश्च प्रायेण बभूवुः; ते सर्वासामितिकर्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वनिवासमपगतग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्वयक्षकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षिसिद्धचारणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवशिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः ॥ २ ॥

पुराकाल में कदाचित् शालीन (गृहों में स्थिर होकर रहने वाले) और यायावर (भ्रमण करते रहने वाले) ऋषि ग्रामीण वा नागरिक मनुष्य जिन ओषधियों का आहार करते थे उन ओषधियों का (गेहूं आदि) आहार करते हुए सम्पन्न पुरुषोंके सदृश भारी शरीर और भारीपेट वाले आलसी हो गये और प्रायः वे अति नीरोग न रहने लगे। वे भृगु अङ्गिरा अत्रि वसिष्ठ कश्यप अगस्त्य पुलस्त्य वामदेव असित गौतम प्रभृति महर्षि जब उस

---

१ 'शालीनत्वं यायावरत्वं च कर्षणकर्मविशेषापरिग्रहात्' चक्रः । 'शालीनाः कर्मविशेषपरिग्रहात् ग्रामीणजनानां सदृशाः यायावराः पुनः पुनर्वक्रगमनशीलाः' गङ्गाधरः । २ 'संपन्नमनु उपयुज्यन्त इति सांपन्निकाः' चक्रः ।

आहार के करने से अन्त में तपश्चर्या पूजा पाठ आदि कर्तव्यों के करने में भी असमर्थ हो गए तब नगर में रहने से ही यह दुरवस्था हो गई है ऐसा निश्चय करके अपने पहिले निवासस्थान (हिमालय) को ही ग्राम्यदोषों से रहित जानकर कल्याणकारक पुण्य उदार पवित्र पापियों से अगम्य गङ्गा के उत्पत्तिस्थान देव गन्धर्व यक्ष किन्नरों की सञ्चारभूमि अनेक रत्नों की कान अचिन्त्य एवं अद्भुत (आश्चर्यमय) प्रभाव वाले ब्रह्मर्षि सिद्ध पुरुष तथा चारणों से सेवित दिव्य तीर्थ एवं दिव्य ओषधियों के उत्पत्ति स्थान अति शरण्य (शरण में आये के लिये हितकर—आश्रयदाता) तथा देवराज इन्द्र से सुरक्षित हिमालय पर्वत पर वापिस चले गए ॥ २ ॥

तानिन्द्रः सहस्रदृगमर[1]गुरुवरोऽब्रवीत्—स्वागतं, ब्रह्मविदां ज्ञानतपोधनानां ब्रह्मर्षीणामस्ति म[2]नोग्लानिरप्रभावत्वं वैस्वर्यं वैवर्ण्यं च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखानुबन्धं च; ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानां, तत्कृतः पुण्यकृद्भिरनुग्रहः प्रजानां [3]स्वशरीरमरक्षिभिः, कालश्चायमायुर्वेदोपदेशस्य; ब्रह्मर्षीणामात्मनः प्रजानां चानुग्रहार्थमायुर्वेदमश्विनौ मह्यं प्रायच्छतां, प्रजापतिरश्विभ्यां प्रजापतये ब्रह्मा, प्रजानामल्पमायुर्जराव्याधिबहुलमसुखमसुखानुबन्धमल्पत्वादल्पतपोदमनियमदानाध्ययनसंचयं मत्वा पुण्यतममायुःप्रकर्षकरं जराव्याधिप्रशमनमूर्जस्करममृतं शिवं शरण्यमुदात्तं मत्तः श्रोतुमर्हथोपधारयितुं प्रकाशयितुं च प्रजानुग्रहार्थमार्षं [4]ब्रह्मचर्यं प्रति मैत्रीं कारुण्यमात्मनश्चानुत्तमं पुण्यमुदारं ब्राह्ममक्षयं कर्मेति ॥ ३ ॥

उन महर्षियों को सहस्रचक्षु श्रेष्ठ देवगुरु इन्द्र ने कहा—आपका

---

१ '०गमरवरो०' ग. । २ 'वो ग्लानि०' ग. ।

३ 'प्रजानां, स्वशरीरमवेक्षितुं कालः' च. ।

४ 'ब्रह्म च' ग. ।

स्वागत हो । ब्रह्मज्ञानी ज्ञान और तप के धनी आप ब्रह्मर्षियों में मानसिक ग्लानि, तेज रहितता, स्वर विकृति, विवर्णता, ग्राम वा नगरों में रहने से उत्पन्न होने वाला असुख (अनारोग्य) और उस रोगिता के अनुबन्ध रूप अन्य दोष दिखाई दे रहे हैं। ग्राम वा नगरों में वास सब अशुभ अर्थात् अधर्म और रोगों का मूल (कारण) है। अपने शरीर की रक्षा का ध्यान न करते हुए भी आप पुण्यकर्माओं ने प्रजा पर (धर्मोपदेश आदि द्वारा) अनुग्रह किया है (तथा च अब मैं आप महर्षियों को आयुर्वेद का उपदेश करूंगा और पुनः आप लोग प्रजाओं को उपदेश करें । यदि देह नीरोग वा निर्दोष रहते तो सम्भवतः आप का ध्यान आकृष्ट न होता) अब यह आयुर्वेद के उपदेश का समुचित काल आ उपस्थित हुआ है । ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने अश्विनीकुमारों को, अश्विनीकुमारों ने मुझे आप ब्रह्मर्षियों के अपने निज के और प्रजाओं के लिये आयुर्वेद का उपदेश किया था । प्रजाओं की आयु असुखपूर्ण तथा असुख (अनारोग्य) के अनुबन्ध रूप जरा (बुढ़ापा) तथा रोगों से भरपूर और अल्प है । आयु के अल्प होने से तप दम नियम दान अध्ययन (स्वाध्याय) आदि पुण्यकर्मों का सञ्चय भी अल्प ही होता है—यह जानकर तुम मुझ से पुण्यतम आयु को दीर्घ करने वाले, बुढ़ापे और रोगों को शान्त करने वाले ओज वा जीवनशक्ति को देने वाले, अमृतरूप, कल्याणकारक, शरण में आये के लिये हितकर (रोग की निवृत्ति कर देने से) तथा उदात्त (उदार) आयुर्वेद को मुझ से सुनिये और हृदयङ्गम कर के प्रजाओं पर अनुग्रह के लिये आर्ष सत्त्व तथा ब्रह्मचर्य के लिये प्राणियों पर मैत्री और करुणाभाव से तथा अपने निज के सर्वश्रेष्ठ पुण्य उदार ब्रह्म (ब्रह्मसम्बन्धी—वेदसम्बन्धी, ज्ञानसम्बन्धी) क्षीण न होने वाले कर्म के संचय के प्रयोजन से प्रकाशित कीजियेगा ॥ ३ ॥

तच्छ्रुत्वा विबुधपतिवचनमृषयः सर्व एवामरवरमृग्भिस्तु-

ष्टुवुः प्रहृष्टाश्च तद्वचनमभिननन्दुश्चेति ॥ ४ ॥

देवराज इन्द्र के उस वचन को सुनकर सब ऋषियों ने उस देवश्रेष्ठ (इन्द्र) की ऋचाओं से स्तुति की और प्रसन्न होकर उसके उपदेश का अभिनन्दन किया ॥ ४ ॥

इन्द्रोक्तं रसायनम् ।

अथेन्द्रस्तदायुर्वेदामृतमृषिभ्यः संक्रम्योवाच[1]ैतत्सर्वमनुष्ठेयं, अयं च शिवः कालो रसायनानां दिव्याश्चौषधयो हिमवतः प्रभवाः[2] प्राप्तवीर्याः, तद्यथा—ऐन्द्री ब्राह्मी पयस्या क्षीरपुष्पी श्रावणी महाश्रावणी शतावरी विदारी जीवन्ती पुनर्नवा नागबला स्थिरा वचा छत्राऽतिच्छत्रा मेदा महामेदा जीवनीयाश्चान्याः पयसा प्रयुक्ताः षण्मासात्परमायुर्वयश्च तरुणमनामयत्वं स्वरवर्णसंपदमुपचयं मेधां स्मृतिमुत्तमबलमिष्टांश्चापरान् भावानावहन्ति सिद्धाः ॥ ५ ॥

इतीन्द्रोक्तं रसायनम् ।

इन्द्रोक्तरसायन—तदनन्तर इन्द्र ने ऋषियों को आयुर्वेदामृत का उपदेश करके कहा कि इस सारे (आयुर्वेद) का अनुष्ठान करना चाहिये । देह के परिपालनार्थ आयुर्वेदोक्त सम्पूर्ण नियमों पर चलना चाहिये । रसायनों के सेवन का अब उत्तम काल है । हिमालय पर्वत पर उत्पन्न होने वाली दिव्य औषधियां इस समय वीर्य-सम्पन्न हैं । उदाहरणार्थ—ऐन्द्री, ब्राह्मी, पयस्या (क्षीरकाकोली), क्षीरपुष्पी (शंखपुष्पी अथवा विष्णुक्रान्ता), श्रावणी (मुण्डी), महाश्रावणी[3] (मुण्डीभेद) शतावर, विदारीकन्द, जीवन्ती, पुनर्नवा, नागबला (गंगेरन), स्थिरा

---

१ 'सङ्क्रमय्यो०' ग. । २ 'प्रभावात्' ।

३ अरत्निमात्रक्षुपका पत्रैर्द्व्यङ्गुलसम्मितैः । पुष्पैर्नीलोत्पलाकारैः फलैश्चाञ्जनसन्निभैः । श्रावणी महती ज्ञेया कनकाभा पयस्विनी ॥ श्रावणी पाण्डुराभासा महाश्रावणिलक्षणा ॥ महाश्रावणी अलम्बुषा इति चक्रः ।

(शालपर्णी), वचा, छत्रा, अतिच्छत्रा[1], मेदा, महामेदा और जीवनीय-गण की अन्य ओषधियां (काकोली, जीवक, ऋषभक, मुलहठी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी); इन्हें दूध के साथ यथाविधि ६ मास तक सेवन करने से दीर्घ आयु, तरुण वय, आरोग्य, शुभ स्वर एवं शुभ वर्ण, पुष्टि, मेधा, स्मृति, उत्तम बल तथा अन्य अभिलषित भावों की प्राप्ति होती है ।

ऐन्द्री से गङ्गाधर इन्द्रायण का ग्रहण करता है । ऐन्द्री छोटी और बड़ी इलायचियों को भी कहते हैं । कई टीकाकार छत्रा अतिच्छत्रा से क्रमशः सौंफ और सोये का ग्रहण करते हैं ।

ऐन्द्री आदि ओषधियों को व्यस्त (एक एक करके) वा समस्त (दो २ तीन २ आदि मिलाकर) रूप में दूध के साथ प्रयुक्त किया जाता है ॥ ५ ॥

द्रोणीप्रावेशिकरसायनम् ।

ब्रह्मसुवर्चलानामौषधिर्या हिरण्यक्षीरा पुष्करसदृशपत्रा, आदित्यपर्णी नामौषधिर्या सूर्यकान्तेति विज्ञायते सुवर्णवर्णक्षीरा सूर्यमण्डलाकारपुष्पा च, नारी नामौषधिरश्वबलेति विज्ञायते या बल्वजसदृशपत्रा[2], काष्ठगोधा नामौषधिर्गोधाकारा, सर्पा नामौषधिः सर्पाकारा, सोमो नामौषधिराजः पञ्चदशपर्णः स सोम इव हीयते वर्धते च, पद्मा नामौषधिः पद्माकारा पद्मरक्ता पद्मगन्धा च, अजा नामौषधिरजशृङ्गीति विज्ञायते, नीला नामौषधिस्तु नीलक्षीरा नीलपुष्पा लताप्रतानबहुला, इत्यासामष्टानामौषधीनां यां यामेवोपलभेत तस्यास्तस्याः स्वरसस्य सौहित्यं गत्वा स्नेहभा-

---

१ छत्रातिच्छत्रके विद्याद्रक्षोघ्ने कन्दसम्भवे । जरामृत्युनिवारिण्यौ श्वेतकापोतिसंस्थिते ॥ सु० चि० अ० ३० ॥ अतिच्छत्रा मधुरिका इति चक्रः ।

२ 'अजासदृशपत्रा' ग. ।

वितायामार्द्रपलाशद्रोण्यां सपिधानायां दिग्वासाः शयीत, तत्र प्रलीयते षण्मासेन पुनः संभवति, तस्याजं पयः प्रत्यवस्थापनं[1], षण्मासेन देवतानुकारी भवति वयोवर्णस्वराकृतिबलप्रभाभिः, स्वयं चास्य सर्ववाचोगतानि[2] प्रादुर्भवन्ति, दिव्यं चास्य चक्षुः श्रोत्रं भवति, गतिर्योजनसहस्रं, दशवर्षसहस्राण्यायुरनुपद्रवं चेति ६

इति द्रोणीप्रावेशिकरसायनम्।

द्रोणीप्रावेशिकरसायन—१ ब्रह्मसुवर्चला नाम की औषधि जिस का दूध स्वर्णवर्ण (पीला) होता है और जिसके पत्ते पुष्कर (पद्म) के सदृश होते हैं। सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० ३० में भी इसका वर्णन है—

'कनकाभा जलान्तेषु सर्वतः परिसर्पति।
सक्षीरा पद्मिनीप्रख्या देवी ब्रह्मसुवर्चला॥'
देवसुन्दे ह्रदवरे तथा सिन्धौ महानदे।
दृश्यते च जलान्तेषु मध्ये ब्रह्मसुवर्चला॥'

२ आदित्यपर्णिनी नाम की ओषधि जो सूर्यकान्ता नाम से प्रसिद्ध है, जिसका दूध सुवर्ण वर्ण (पीला) होता है। जिसका फूल सूर्यमण्डल के आकार के सदृश होता है। सुश्रुत चि० अ० ३० में—

'मूलिनी पञ्चभिः पत्रैः सुरक्तांशुककोमलैः।
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया सदादित्यानुवर्त्तिनी॥
आदित्यपर्णिनी ज्ञेया तत्रैव[3] हि हिमक्षये॥'

३ नारी नाम की ओषधि जो अश्वबला नाम से जानी जाती है, जिसके पत्र बल्वज (तृणविशेष) के सदृश होते हैं। सुश्रुत चि० अ०३०में कन्या नाम से एक ओषधि कही है,सम्भवतः यह वही हो—

१ 'प्रत्यवस्थापनमिति आहारसेवायां योऽयमित्यर्थः' चक्रः।
२ 'सर्ववाचोगतानि सर्वावाचो गतानि अतीतानि वक्तुं प्रादुर्भवन्ति' गङ्गाधरः।
३ तत्रेति देवसुन्दे तथा सिन्धौ इत्यर्थः। हिमक्षय इति शिशिरे वसन्ते वा।

'कान्तैर्द्वादशभिः पत्रैर्मयूराङ्गरुहोपमैः ।
कन्दजा काञ्चनक्षीरा कन्या नाम महौषधिः ॥
काश्मीरेषु सरो दिव्यं नाम्ना क्षुद्रकमानसम् ।
करेणुस्तत्र कन्या च छत्रातिच्छत्रके तथा ॥

४ काष्ठगोधा नाम की ओषधि जो गोधा (गोह) के आकार की होती है ।

५ सर्पा नाम की ओषधि जो सांप के आकार की होती है । सुश्रुत चि० अ० ३० में अजगरी नाम से एक औषधि पढ़ी गई है—

'मण्डलैः कपिलैश्चित्रैः सर्पाभा पञ्चपर्णिनी ।
पञ्चारत्निप्रमाणा वा विज्ञेयाजगरी बुधैः ॥
दृश्यतेऽजगरी नित्यं गोनसी चाम्बुदागमे ॥'

सोम नामकी एक ओषधिराज (ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ) है जिसके पन्द्रह पत्ते होते हैं वह चन्द्रमा की तरह ही घटती और बढ़ती है । अर्थात् शुक्लपक्ष में एक २ पत्र बढ़ता जाता है और पूर्णिमा के दिन पन्द्रह पत्ते हो जाते हैं । पुनः कृष्णपक्ष में प्रति दिन एक एक पत्र गिरता जाता है । अमावस्या के दिन पत्र रहित लता मात्र अवशिष्ट रहती है । सुश्रुत में इसी एक ही सोम के स्थान नाम आकृति और वीर्य के भेद से २४ भेद कहे हैं । उनका विस्तृत वर्णन सुश्रुतसंहिता चिकित्सास्थान २९ अध्याय में है ।

६ पद्मा नामक ओषधि जो पद्म (कमल) के आकार की पद्म के समान रक्तवर्ण की और पद्म के समान ही गन्ध वाली होती है ।
७ अजा नाम की ओषधि जो अजशृङ्गी नाम से प्रसिद्ध है । सुश्रुत चि० अ० ३० में—

'अजास्तनाभकन्दा तु सक्षीरा क्षुपरूपिणी ।
'अजा महौषधिर्ज्ञेया शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरा ॥'

८ नीला नाम की ओषधि जिसका दूध नीला होता है, फूल भी नीले

होते हैं और लता का प्रतान वा फैलाव बहुत होता है ।

इन आठ ओषधियों (तथा नौवीं औषधिराज सोम) में से जो २ भी ओषधि प्राप्त हो उस २ ओषधि के स्वरस को भरपेट पीकर घी तेल आदि स्नेह से भावित ताज़ी (गीली) पलाश (ढाक) की बनाई हुई द्रोणी (tub) में जिसपर पलाश की ताज़ी (गीली) लकड़ी का ही ढकना भी हो नग्न होकर लेट जाय । वह वहां मूर्च्छित हो जाता है । छह मास के पश्चात् पुनः संज्ञा में आता है । उस समय बकरी के दूध से उसे स्वस्थावस्था में रखना चाहिये । अर्थात् बकरी का दूध पीने को देना चाहिये । छह मास के बाद वह उम्र वर्ण स्वर आकृति बल तथा कान्ति में देवताओं के सदृश हो जाता है । और स्वयं ही उसे सब वाणियें (भाषायें) प्रकट होती हैं । अर्थात् वह सब भाषाओं को अनायास ही जान जाता है । उसके नेत्र और कान दिव्य हो जाते हैं । जो साधारण मनुष्य देख और सुन नहीं सकते वह भी उन्हें दिखाई और सुनाई देता है । वह एक हजार योजन तक एक दिन में चल सकता है । रोग आदि उपद्रवों से रहित दश हज़ार बरस की आयु होती है ।

अन्य टीकाकार 'प्रलीयते' का अर्थ अदृश्य हो जाता है और 'सम्भवति' का अर्थ पुनः सब अङ्ग प्रकट होते हैं—ऐसा करते हैं । दूध देने के लिये ठीक उसके मुख की सीध में पिधान (ढक्कन) में छिद्र कर छोड़ना चाहिये । और नली आदि द्वारा उसके मुख में थोड़ा थोड़ा बकरी का दूध डालना चाहिये । जिससे वह वहीं लेटा हुआ दूध पीले । यह गङ्गाधर ने लिखा है । श्वास प्रश्वास के लिये छिद्र होने तो आवश्यक ही हैं ॥ ६ ॥

भवन्ति चात्र ।

दिव्यानामौषधीनां यः प्रभावः स भवाद्विधैः ।
शक्यः सोढुमशक्यस्तु स्यात् सोढुमकृतात्मभिः ॥ ७ ॥

दिव्य औषधियों का जो प्रभाव है उसे आप जैसे (महर्षि) लोग ही सह सकते हैं । पापी पुरुष उसे नहीं सह सकते ॥ ७ ॥

ओषधीनां प्रभावेण तिष्ठतां स्वे च कर्मणि¹ ।
भवतां निखिलं श्रेयः सर्वमेवोपपत्स्यते ॥ ८ ॥

अपने कर्मों (तप दम नियम जप आदि) में लगे रहते हुए आप लोगों को ओषधियों के प्रभाव से सम्पूर्ण श्रेय (कल्याण) सर्वथा ही सम्पन्न होगा ॥ ८ ॥

वानप्रस्थैर्गृहस्थैश्च प्रयतैर्नियतात्मभिः ।
शक्या ओषधयो ह्येताः सेवितुं विषयाभिजाः ॥ ९ ॥

वानप्रस्थी गृहस्थी जो प्रयत्नशील और संयमी हों वे भी उन २ देशों में उत्पन्न प्राप्त होने वाली ओषधियों का सेवन कर सकते हैं । अर्थात् दिव्य ओषधियों में से जो २ उनके निवास देशों में देखी जांय उन २ का सेवन कर सकते हैं । उन ओषधियों के वीर्य को वे सहन कर लेगें ॥ ९ ॥

तासु² क्षेत्रगुणैस्तेषां मध्यमेन च³ कर्मणा ।
मृदुवीर्यतया⁴ तासां विधिर्ज्ञेयः स एव तु ॥ १० ॥

उन साधारण देशों में उत्पन्न होने वाली इन ओषधियों के सेवन की भी विधि वही है जो हिमालय पर उत्पन्न होने वाली दिव्य ओषधियों की है । परन्तु इन का वीर्य, क्षेत्र (भूमि जहां पर वह ओषधि उत्पन्न हुई है) के गुणों के कारण तथा कर्म [जराव्याधिनाश आदि] के मध्यम होने से मृदु होता है । हिमालय पर्वत आदि से अतिरिक्त अन्य देशों में उत्पन्न होने वाली वे ही ओषधियां वीर्य में मृदु होती हैं क्योंकि उन देशों की भूमि वह उत्तम प्रभाव नहीं रखती जो हिमालय पर्वत रखता है । इन मृदुवीर्य ओषधियों को भी वे ही वानप्रस्थी वा गृहस्थी सेवन कर सकते हैं जो उद्यमी और साथ ही साथ संयमी हो । असंयत पुरुष उनका भी वीर्य नहीं सह

---

१ 'वर्त्मनि' पा. । २ 'तास्तु' पा. । ३ 'निकर्मणा' ग. । ४ 'मृदुवीर्यतारारतासां' ग. ।

सकते । जो मनुष्य हिमालय आदि श्रेष्ठ पर्वतों पर रहते हुए तप आदि का अनुष्ठान सच्चे अर्थों में करते हैं वे ही तीक्ष्णवीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि के वीर्यको सह सकते हैं। क्योंकि वे उत्तम बल होते हैं । जो अन्यत्र नगर आदि में वा नगर आदि के पास वनों में रहते हैं परन्तु संयमी हैं तो वे बल में मध्यम होते हैं । वे मृदुवीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि के वीर्य का सहन कर लेते हैं । जो नागरिक साधारण पुरुष आलसी विषयजाल में फंसे रहते हैं, वे अत्यन्त निर्बल होते हैं और इन औषधियों के वीर्य को सहन ही नहीं कर सकते । मध्यमबल पुरुषों को मृदु-वीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि के रस का प्रयोग उसी प्रकार कराना चाहिये जैसे उत्तमबल महर्षियों को तीक्ष्णवीर्य ब्रह्मसुवर्चला आदि का प्रयोग कराने को कहा है ॥ १० ॥

पर्येष्टुं ताः प्रयोक्तुं वा येऽसमर्थाः सुखार्थिनः ।
रसायनविधिस्तेषामयमन्यः प्रशस्यते ॥ ११ ॥

जो मनुष्य आरोग्य चाहते हैं परन्तु उन्हें ढूंढने में वा प्रयोग करने में (निर्बल होने के कारण) असमर्थ हैं उन के लिये यह (निम्नोक्त) दूसरा रसायनविधान हितकर है ॥ ११ ॥

इन्द्रोक्तं रसायनम् ।

बल्यानां जीवनीयानां बृंहणीयाश्च या दश ।
वयसः स्थापनानां च खदिरस्यासनस्य च ॥ १२ ॥
खर्जूराणां मधूकानां मुस्तानामुत्पलस्य च ।
मृद्वीकानां विडङ्गानां वचायाश्चित्रकस्य च ॥ १३ ॥
शतावर्याः पयस्यायाः पिप्पल्या जोङ्गकस्य च ।
ऋद्ध्या नागबलायाश्च हरिद्र्याया धवस्य च ॥ १४ ॥
त्रिफलाकण्टकार्योश्च विदार्याश्चन्दनस्य च ।
इक्षूणां शरमूलानां श्रीपर्ण्यास्तिनिशस्य च ॥ १५ ॥

१ 'द्वारदाया' च. । 'द्वारदा शाकतरुः कपिकच्छुर्वा' चक्रः ।

रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्याः पलाशक्षार एव च ।
एषां पलोन्मितान् भागान् पयो गव्यं चतुर्गुणम् ॥१६॥
द्वे पात्रे तिलतैलस्य द्वे च गव्यस्य सर्पिषः ।
तत्साध्यं सर्वमेकत्र सुसिद्धं स्नेहमुद्धरेत् ॥ १७ ॥
तत्रामलकचूर्णानामाढकं शतभावितम् ।
स्वरसेनैव दातव्यं क्षौद्रस्याभिनवस्य च ॥ १८ ॥
शर्कराचूर्णपात्रं च प्रस्थमेकं प्रदापयेत् ।
तुगाक्षीर्याः सपिप्पल्याः स्थाप्यं संमूर्च्छितं च तत् ॥१६॥
सुक्षौद्रे मार्त्तिके कुम्भे मासार्धं घृतभाविते ।
मात्रामग्निसमां तस्य तत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ॥ २० ॥
हेमताम्रप्रवालानामयसः स्फटिकस्य च ।
मुक्तावैदूर्यशङ्खानां चूर्णानां रजतस्य च ॥ २१ ॥
प्रक्षिप्य षोडशीं मात्रां विहायायासमैथुनम् ।
जीर्णे जीर्णे च भुञ्जीत षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ॥ २२ ॥
सर्वरोगप्रशमनं वृष्यमायुष्यमुत्तमम् ।
सत्त्वस्मृतिशरीराग्निबुद्धीन्द्रियबलप्रदम् ॥ २३ ॥
परमूर्जस्करं चैव वर्णस्वरकरं तथा ।
विषालक्ष्मीप्रशमनं सर्ववाचोगतप्रदम् ॥ २४ ॥
सिद्धार्थतां चाभिनवं वयश्च प्रजाप्रियत्वं च यशश्च लोके ।
प्रयोज्यमिच्छद्भिरिदं यथावद्रसायनं ब्राह्ममुदारवीर्यम् ॥ २५ ॥

इतीन्द्रोक्तरसायनमपरम् ।

इन्द्रोक्तरसायन—बल्य दस ओषधियां, जीवनीयगण की दस ओषधियां, बृंहणीय गण की दस ओषधियां, वयःस्थापक दस ओषधियां, खदिर(खैर)काष्ठ, असनत्वक्, खजूर, मधूक (महुआ), मोथा, नीलोत्पल, मृद्वीका (किशमिश वा मुनक्का), वायविडङ्ग, वचा, चित्रक, शतावर, पयस्या (क्षीरकाकोली), पिप्पली, जेङ्गक (अगर), ऋद्धि,

नागबला (गंगेरन), हरिद्रा (हलदी), धव, त्रिफला, कण्टकारी, विदारी, लालचन्दन, ईख की जड़, सरकण्डे (सरपत) की जड़, श्रीपर्णी (गाम्भारी), तिनिश (आबनूस); इनका रस पृथक् पृथक् ३२ प्रस्थ, कल्कार्थ— पलाशक्षार १ पल (८ तोले), यही बल्य आदि उपर्युक्त प्रत्येक ओषधि १ पल। गौ का दूध १२८ प्रस्थ (५ मन ४॥ सेर ४ तोले), तिलतैल ४ पात्र (१६ प्रस्थ = २५॥ सेर ८ तोले), गोघृत ४ पात्र, यथाविधि स्नेहपाक करके स्नेह को वस्त्र से छानकर पृथक् करलें।

बल्य ओषधियां ये हैं—ऐन्द्री, ऋषभी (कौंच), अतिरसा (मुलहठी), ऋष्यप्रोक्ता (शतावर), पयस्या [क्षीरकाकोली], असगन्ध, शालपर्णी, जटामांसी, बला, अतिबला। जीवनीय ओषधियां— जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीरकाकोली, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, जीवन्ती, मुलहठी। बृंहणीय ओषधियां—क्षीरिणी [क्षीरलता वा क्षीरविदारी अथवा सारिवा वा खिरनी], राजक्षवक, बला, काकोली, क्षीरकाकोली, वाट्यायनी, भद्रौदनी, भारद्वाजी, पयस्या, ऋष्यगन्धा। वयःस्थापक ओषधियां—अमृता, अभया, धात्री, मुक्ता, श्वेता, जीवन्ती, अतिरसा, मण्डूकपर्णी, स्थिरा, पुनर्नवा। इन सब का वर्णन सूत्रस्थान ४ र्थ अध्याय में हो चुका है। वहां ही इनके प्रसिद्ध नाम आदि देख लें। इन सब ओषधियों तथा खदिरकाष्ठ आदि ओषधियों का पृथक् पृथक् क्वाथ करना होता है। क्वाथ करने के लिये एक ओषधि को १६ प्रस्थ ले और आठगुणा जल (१२८ प्रस्थ) डाल कर क्वाथ करे। जब चतुर्थांश (३२ प्रस्थ) रह जाय तब उतार कर छान लें। इस प्रकार पृथक् २ सब क्वाथ्य ओषधियों का क्वाथ करें। जिन ओषधियों का रस निकल सकता हो उनका रस ३२ प्रस्थ ले। इस योग में—

'पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसम्विधौ ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम् ॥'

के अनुसार स्नेह के समान लिये जांयगे इन्हीं ओषधियों का कल्क भी डाला जायगा। कल्कार्थ ये पृथक् २ एक एक पल ली जांयगी। पलाशक्षार भी १ पल लिया जायगा। चक्रपाणि पलाशक्षार से पलाशक्षारोदक का ग्रहण करता है। यदि पलाशक्षारोदक ही अभीष्ट हो तो उसे स्नेह के समान ही लें। परन्तु आचार्य को पलाशक्षारोदक लेना अभीष्ट नहीं प्रतीत होता। वहां 'रसाः पृथक् पृथग्ग्राह्या पलाशक्षार एव च। एषां पलोन्मितान् भागान्' पढ़ने से पलाशक्षार को भी कल्कद्रव्यों में ही पढ़ना अभीष्ट प्रतीत होता है।

जब स्नेह को वस्त्र से छान लिया जाय तब उस में आंवलों का चूर्ण १ आढक (६।सेर १२तोले) डालें। आंवलों के चूर्ण को आंवलों के ही रस से १०० वार भावना दी हुई हो। इन आंवलों के चूर्ण को मिलाकर ताजा शहद २ आढक, विशुद्ध खांड का चूर्ण १ पात्र (१ आढक) वंशलोचन १ शराव (६४तोले), पिप्पलीचूर्ण १ शराव डालकर अच्छी प्रकार आलोडन करके मिला देवे। अब इसे घृत से भावित दृढ़ एवं निर्मल मिट्टी के पात्र में डालकर १५ दिन पड़ा रहने दे। तत्पश्चात् सुवर्णभस्म, ताम्रभस्म, प्रवालभस्म (मूंगाभस्म), लोहभस्म, स्फटिक (बिल्लौर) भस्म, मुक्ता (मोती) भस्म, वैदूर्यभस्म (लहसुनिया), शङ्खभस्म, रजतभस्म; प्रत्येक १ पल मिलावे। अब इसे अग्नि के बलानुसार आयास (श्रम) और मैथुन का त्याग करते हुए मात्रा में प्रयोग करे। जब औषध जीर्ण हो जाय तब दूध और घी के साथ सांठी का ओदन खाये। यह सब रोगों को शान्त करता है। उत्तम वीर्यवर्द्धक और आयुष्कर है। मन स्मृति देह अग्नि बुद्धि तथा इन्द्रियों को बल देता है। परम ओजस्कर है। वर्ण और स्वर को निर्मल करता है। विष और अलक्ष्मी (दारिद्र्य) को शान्त करता है। सब वाणियों का देने वाला है (सब भाषायें अनायास सीख जाता है)। सिद्धार्थता

(कामनासिद्धि) नयी उम्र (तरुणवय) प्रजाप्रियता (लोगों का प्रिय होना) तथा लोक में कीर्ति चाहने वालों को इस ब्राह्म (ब्रह्मा द्वारा उपदिष्ट) तथा उदारवीर्य (बहुत गुणों से युक्त) रसायन का यथावत् सेवन करना चाहिये ।

गङ्गाधर तो सम्पूर्ण औषध से १/१६ भाग सुवर्णभस्म आदि प्रत्येक भस्म का प्रक्षेप देना लिखता है । वह 'षोडशी का अर्थ १६ वां भाग लेता है । चक्रपाणि की व्याख्या से यह स्पष्ट नहीं कि पृथक् पृथक् भस्मों का सोलहवां भाग लेना है या मिश्रित का । हमने तो 'षोडशी' का अर्थ एक पल किया है । कहा भी है—

'प्रकुञ्चः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते ।' ॥ १२–२५ ॥

समर्थानामरोगाणां धीमतां नियतात्मनाम् ।
कुटीप्रवेशः क्षमिणां[1] परिच्छदवतां हितः ॥ २६ ॥
अतोऽन्यथा तु ये तेषां सौर्यमारुतिको विधिः ।

कुटीप्रवेश विधि से तथा वातातपिक विधि से किन्हें रसायन का सेवन करना चाहिये—जो पुरुष समर्थ हों—शक्तिशाली हों, नीरोग हों, बुद्धिमान् हों, अपने को वश में किया हुआ हो—काम क्रोध शोक आदि से रहित हों, क्षमाशील हों और धन जन आदि से सम्पन्न हों उन्हें कुटीप्रवेश करना चाहिये ॥

इन से जो विपरीत हैं उनके लिये सौर्यमारुतिक (वातातपिक) विधि ही हितकर है ॥ २६ ॥

ताभ्यां श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः ॥ २७ ॥

इन दोनों में से पूर्व की विधि अर्थात् कुटीप्रवेश ही अधिक श्रेष्ठ है । परन्तु उसके विधान का पालन अत्यन्त दुष्कर (कठिन) होता है ॥ २७ ॥

रसायनविधिभ्रंशाज्जायेरन् व्याधयो यदि ।

---

१ 'क्षमिनां' च. । 'क्षमिनामिति व्यापारकरणं प्रति स्वतन्त्राणाम्' चक्रः।

यथास्वमौषधं तेषां कार्यं मुक्त्वा रसायनम् ॥ २८ ॥

रसायनविधि के समुचित रूप से पालन न होने पर यदि रोग उत्पन्न होजांय तो तत्काल रसायन का त्याग करके उस उस रोग की अपनी चिकित्सा करनी चाहिये ॥ २८ ॥

आचाररसायनम् ।

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्यमैथुनात् ।
अहिंसकमनायासं प्रशान्तं प्रियवादिनम् ॥ २९ ॥
जपशौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम् ।
देवगोब्राह्मणाचार्यगुरुवृद्धार्चने रतम् ॥ ३० ॥
आनृशंस्यपरं नित्यं नित्यं करुणवेदिनम्[१] ।
समजागरणस्वप्नं नित्यं क्षीरघृताशिनम् ॥ ३१ ॥
देशकालप्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहङ्कृतम् ।
शस्ताचारमसंकीर्णमध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्[२] ॥ ३२ ॥
उपासितारं वृद्धानामास्तिकानां जितात्मनाम् ।
धर्मशास्त्रपरं विद्यान्नरं नित्यरसायनम् ॥ ३३ ॥

आचाररसायन—सत्यवादी, क्रोधरहित, मद्यपान तथा मैथुन न करने वाला, अहिंसक (मन वचन और कर्म से), आयास (श्रम) रहित, प्रशान्त, प्रियभाषी (मीठा बोलने वाला), जप एवं पवित्रता में तत्पर, धीर, नित्य दान करने वाला, तपस्वी, गौ ब्राह्मण आचार्य गुरु एवं ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुषों की पूजा वा सेवा शुश्रूषा में रत, नित्य क्रूरता से रहित, तथा प्राणियों पर दया-दृष्टि रखने वाला, निद्रा और जागरण को समावस्था में सेवन करने वाला अर्थात् जितना सोना वा जितना जागना आवश्यक हो उतना ही उन का सेवन करने वाला, नित्य दूध और घी का भोजन करने वाला,

---

१ 'करुणया सत्त्वानि पश्यतीति करुणवेदी' चक्रः । 'कारुण्यवेदिनम्' ग. ।
२ '०मध्यात्मप्रवणेन्द्रियम्' ग. ।

देश काल और मात्रा का जानने वाला, युक्ति को जानने वाला, अहङ्काररहित, सदाचारयुक्त, उदार, जिसकी इन्द्रियां अध्यात्म (आत्मज्ञान) की ओर झुकी हुई हैं, वृद्धपुरुषों आस्तिकों और संयमी पुरुषों का उपासक अर्थात् उनके संग रहने वाला, धर्मशास्त्रों का स्वाध्याय करने वाला तथा तदनुसार आचरण करने वाला पुरुष नित्य रसायन-सेवी ही है—ऐसा समझना चाहिये। अर्थात् इन सद्वृत्तों के पालन से ही उसे रसायनोक्त लाभ हो जाते हैं ॥ २९-३३ ॥

गुणैरेतैः समुदितः प्रयुङ्क्ते यो रसायनम्।
रसायनगुणान् सर्वान् यथोक्तान् स समश्नुते ॥ ३४ ॥

आचाररसायनम्।

इन गुणों से युक्त होकर जो पुरुष रसायन औषधों का सेवन करता है वह रसायन के सम्पूर्ण उक्त गुणों को प्राप्त होता है ॥३४॥

यथास्थूलमनिर्वाह्य दोषाञ्शारीरमानसान्।
रसायनगुणैर्जन्तुर्युज्यते न कदाचन ॥ ३५ ॥

कायिक और मानस दोषों का निराकरण न करके जो पुरुष रसायन का सेवन करता है वह मोटे २ गुणों के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्मगुणों को प्राप्त नहीं होता।

अर्थात् उन पुरुषों को कुछ काल के लिये नीरोगता वा उनकी थोड़ी सी आयु दीर्घ हो सकती है परन्तु सर्वथा नीरोग रहना, जरा का सर्वथा प्रादुर्भूत न होना और बहुत ही लम्बी आयु का होना उनके लिये असम्भव है ॥ ३५ ॥

योगा ह्यायुःप्रकर्षार्था जरारोगनिबर्हणाः।
मनःशरीरशुद्धानां सिध्यन्ति प्रयतात्मनाम् ॥ ३६ ॥

आयु को अत्यन्त दीर्घ करने वाले जरा एवं रोगों के नाशक योग (रसायन) उन्हीं पुरुषों में सिद्धि देते हैं जिनका मन और शरीर शुद्ध है और जो संयमी हैं ॥ ३६ ॥

तदेतन्न भवेद्वाच्यं सर्वमेव हतात्मसु ।
अरजोभ्यो द्विजातिभ्यः शुश्रूषा येषु नास्ति च ॥ ३७ ॥

अतः यह सब रसायनें हतात्मा (जिनका मन देह वा आत्मा पापों में लिप्त हैं) पुरुषों को नहीं बतानी चाहियें । तथा उन द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य ।जिन्होंने वेदाध्ययन वा उत्तम ज्ञान प्राप्त किया है) को जो रजोगुण से रहित तो हैं पर रसायन वा रसायन के गुणों को सुनना नहीं चाहते उन्हें भी न बताये । अथवा रजोरहित द्विजाति पुरुषों के प्रति जिनमें सेवाभाव नहीं उन्हें भी न बताये । द्विजाति शब्द से ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य का अथवा वैद्य का ग्रहण है । आगे ५२ वें श्लोक में वैद्य को द्विज कहा जायगा ॥३७॥

ये रसायनसंयोगा वृष्ययोगाश्च ये मताः ।
यच्चौषधं विकाराणां सर्वं तद्वैद्यसंश्रयम् ॥ ३८ ॥
प्राणाचार्यं बुधस्तस्माद्धीमन्तं वेदपारगम् ।
अश्विनाविव देवेन्द्रः पूजयेदतिशक्तितः ॥ ३९ ॥

रसायन के प्रयोग, वृष्य प्रयोग और रोगों की जो औषध हैं वे सब वैद्य के आश्रित हैं । अतः बुद्धिमान् वेद के पारङ्गत प्राणाचार्य (श्रेष्ठ वैद्य) की अपनी शक्ति से भी बढ़कर पूजा करे—आदर करे; जैसे देवराज इन्द्र ने अश्विनीकुमारों की पूजा की थी ॥ ३८—३९ ॥

अश्विनौ देवभिषजौ यज्ञवाहाविति स्मृतौ ।
यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुनस्ताभ्यां समाहितम् ॥ ४० ॥
प्रशीर्णा दशनाः पूष्णो नेत्रे नष्टे भगस्य च ।
वज्रिणश्च भुजस्तम्भस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ॥ ४१ ॥
चिकित्सितस्तु शीतांशुर्गृहीतो राजयक्ष्मणा ।

---

१ 'अरुजोभ्योऽद्विजातिभ्यः' ग. । २ 'अरजोभ्यो द्विजातिभ्यः सुश्रूषा येषु पुरुषेषु नास्ति, तेषु चैतन्न वाच्यमिति योजना' चक्रः ।

सोमाभिपतितश्चन्द्रः कृतस्ताभ्यां पुनः सुखी ॥ ४२ ॥
भार्गवश्च्यवनः कामी वृद्धः सन् विकृतिं गतः।
वीतवर्णस्वरोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥ ४३ ॥

देव-चिकित्सक अश्विनीकुमार यज्ञवाह माने गए हैं। इनको यज्ञ में यदि भाग न मिले तो वह यज्ञ पूर्ण नहीं समझा जाता। उस यज्ञ की कोई सिद्धि नहीं होती जिसमें देववैद्य अश्विनीकुमारों की पूजा न हो। यज्ञ का सिर काट दिया गया था वह अश्विनीकुमारों ने ही जोड़ा था। सूर्य के टूटे हुए दांत की और भग के नष्ट हुए नेत्रों की तथा इन्द्र के भुजस्तम्भ की चिकित्सा अश्विनीकुमारों ने ही की थी। चन्द्रमा जब राजयक्ष्मा रोग से आक्रान्त हुआ तब इन्होंने चिकित्सा की। जब चन्द्र में सौम्यभाव नष्ट हो गया तब भी इन्होंने ही उसे सुखी—स्वस्थ किया। भृगुवंशोत्पन्न च्यवन ऋषि को कामी हो जाने से शीघ्र ही बुढ़ापे ने आ घेरा था, वर्ण और स्वर नष्ट हो गए थे। अश्विनीकुमारों ने ही चिकित्सा करके उसे पुनः जवान कर दिया था।

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ।
बभूवतुर्भृशं पूज्यविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥ ४४ ॥

इन और इसी प्रकार के अन्य कर्मों के करने से चिकित्सक-श्रेष्ठ अश्विनीकुमार इन्द्र आदि महात्माओं के अत्यन्त पूजापात्र हो चुके हैं ॥ ४४ ॥

ग्रहाः स्तोत्राणि मन्त्राणि तथाऽन्यानि हवींषि च।
धूम्राश्च पशवस्ताभ्यां प्रकल्प्यन्ते द्विजातिभिः ॥ ४५ ॥

द्विजाति (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य) लोग अश्विनीकुमारों के लिये ग्रह (सोमपान के पात्र), स्तोत्र, मन्त्र तथा अन्य हवि [आहुतियां,

---

१ 'सोमातिपाचित' पा०। 'सोमाभिपतितः' ग.। २ 'ग्रहाः सोमपानपात्राणि' चक्रः। 'ग्रहणार्थं विषयः' गङ्गाधरः। ३ 'शस्त्राणि' पा०। ४ 'धूम्राश्च' च.। 'धूम्राश्च पशव इति धूमवर्णपशवः, एवं वर्णाश्च पशवः श्रेष्ठा भवन्ति' चक्रः।

अन्न] धूम [पूजार्थ धूप अगरबत्ती आदि के धूम वा यज्ञधूम] तथा पशुओं का संकल्प किया करते हैं ॥ ४५ ॥

प्रातश्च सवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्नुते ।
सौत्रामण्यां च भगवानश्विभ्यां सह मोदते ॥ ४६ ॥
इन्द्राग्नी चाश्विनौ चैव स्तूयन्ते प्रायशो द्विजैः ।
स्तूयन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः ॥ ४७ ॥

प्रातःसवन [प्रातःकाल का यज्ञ] में इन्द्र अश्विनीकुमारों के साथ बैठकर सोमपान करता है । सौत्रामणि यज्ञ में भगवान् अश्विनीकुमारों के साथ बैठकर प्रसन्न होते हैं । द्विज प्रायः इन्द्र अग्नि और अश्विनीकुमारों की स्तुति किया करते हैं । वेदवाक्यों में भी अन्य देवताओं की इतनी स्तुति नहीं है जितनी इनकी ॥४६–४७॥

अमरैरजरैस्तावद्विबुधैः साधिपैर्ध्रुवैः ।
पूज्येते प्रयतैरेवमश्विनौ भिषजाविति ॥ ४८ ॥
मृत्युव्याधिजरावश्यैर्दुःखप्रायैः सुखार्थिभिः ।
किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नातिशक्तितः ॥ ४९ ॥

जब अमर [मृत्युरहित] अजर [जरारहित] विबुध [बुद्धिमान्] तथा ध्रुव (स्थिर) अर्थात् देवता भी अपने स्वामी (इन्द्र) सहित बड़े प्रयत्न से चिकित्सक अश्विनीकुमारों की पूजा करते हैं तो जिन्हें मृत्यु बुढ़ापा रोग अवश्य होते हैं और जिन्हें प्रायः दुःख घेरे रहते हैं ऐसे सुखाभिलाषी मरणधर्मा मनुष्य क्यों न अपनी शक्ति से भी बढ़कर वैद्यों की पूजा करें ? अर्थात् वैद्यों की अवश्य पूजा करनी चाहिये ॥

शीलवान्मतिमान् युक्तो द्विजातिः[1] शास्त्रपारगः ।
प्राणिभिर्गुरुवत्पूज्यः प्राणाचार्यः स हि स्मृतः ॥ ५० ॥

प्राणाचार्य का लक्षण—सुशील बुद्धिमान् युक्त (युक्तिमान्) द्विजाति आयुर्वेद शास्त्र में पारङ्गत पुरुष ही प्राणाचार्य कहाता है ।

---

१ 'त्रिजातिः' ग. ।

प्राणियों को चाहिये कि उसकी गुरु के समान पूजा करें। जैसे गुरु पूज्य होता है वैसे ही उपर्युक्त गुण सम्पन्न वैद्य भी पूज्य है ॥५०॥

विद्यासमाप्तौ भिषजो द्वितीया[1] जातिरुच्यते।
अश्नुते वैद्यशब्दं हि न वैद्यः पूर्वजन्मना ॥ ५१ ॥

आयुर्वेदविद्या की समाप्ति पर ही चिकित्सक की दूसरी जाति (जन्म) कहाती है। तभी वह वैद्य कहाने योग्य होता है। पूर्वजन्म से किसी को वैद्य नहीं कहना चाहिये। वैद्य का पुत्र वैद्य नहीं। अपि तु यथावत् आयुर्वेद का अध्ययन करने पर ही कोई वैद्य कहाने योग्य होता है और यतः उसका वह दूसरा जन्म होता है अतः वह द्विज भी कहाता है ॥ ५१ ॥

विद्यासमाप्तौ ब्राह्मं वा सत्त्वमार्षमथापि वा।
ध्रुवमाविशति ज्ञानात्तस्माद्वैद्यो[2] द्विजः स्मृतः ॥ ५२ ॥

यथावत् विद्या की प्राप्ति के पश्चात् ही ज्ञानालोक से पुरुष में ब्राह्म वा आर्ष सत्त्व का प्रवेश होता है। अतः उस समय से ही वैद्य द्विज कहाता है। ब्राह्म और आर्ष सत्त्व के लक्षण शारीरस्थान ४र्थ अध्याय में कहे जा चुके हैं ॥ ५२ ॥

नाभिध्यायेन्न चाक्रोशेदहितं न समाचरेत्।
प्राणाचार्यं बुधः कश्चिदिच्छन्नायुरनित्वरम्[3] ॥ ५३ ॥

बुद्धिमान् पुरुष, जो दीर्घ आयु का अभिलाषी है उसे प्राणाचार्य-वैद्य के धन की इच्छा न करनी चाहिये। न उसकी निन्दा करे और न उस का अहित करे ॥ ५३ ॥

चिकित्सितस्तु संश्रुत्य यो वाऽसंश्रुत्य मानवः।
नोपाकरोति वैद्याय नास्ति तस्येह निष्कृतिः ॥ ५४ ॥

---

१ 'भिषजस्तृतीया' ग.। २ '० द्वैद्यस्त्रिजः' ग.। ३ 'रनुत्तमम्' ग०। इतः परं—चिकित्सितशरीरं यो न निष्क्रीणाति दुर्मतिः। स यत्करोति सुकृतं तत्फलं भिषगश्नुते। इत्यधिकः पठ्यते ॥

जो पुरुष वैद्य द्वारा चिकित्सा किये जाने पर धन आदि द्वारा मान वा उपकार की प्रतिज्ञा करके वा प्रतिज्ञा न करके भी उस वैद्य का प्रत्युकार नहीं करता उसकी जगत् में निष्कृति नहीं ॥ ५४ ॥

भिषगप्यातुरान् सर्वान् स्वसुतानिव यत्नवान् ।
आबाधेभ्यो हि संरक्षेदिच्छन् धर्ममनुत्तमम् ॥ ५५ ॥

वैद्य को भी चाहिये कि वह सर्वोत्तम धर्म की इच्छा करता हुआ प्राणिमात्र को अपने पुत्रों की तरह समझ बड़े यत्न से रोगों से बचाये ॥ ५५ ॥

धर्मार्थं नार्थकामार्थमायुर्वेदो महर्षिभिः ।
प्रकाशितो धर्मपरैरिच्छद्भिः स्थानमक्षरम् ॥ ५६ ॥

धर्मपरायण महर्षियों ने अक्षर स्थान (मुक्ति-ब्रह्मप्राप्ति) की इच्छा से धर्मार्थ ही आयुर्वेद को प्रकाशित किया है, अर्थ (धन आदि) और काम के लिये नहीं ॥ ५६ ॥

नार्थार्थं नापि कामार्थमथ भूतदयां प्रति ।
वर्तते यश्चिकित्सायां स सर्वमतिवर्तते ॥ ५७ ॥

जो वैद्य अर्थ (धन) और काम के लिये नहीं, अपि तु प्राणिमात्र पर दयाभाव से चिकित्सा में प्रवृत्त होता है वह सब को लांघ जाता है अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ है और वह मोक्ष का अधिकारी है ॥५७॥

कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम् ।
ते हित्वा काञ्चनं राशिं पांशुराशिमुपासते ॥ ५८ ॥

जो पुरुष आजीविका के लिये चिकित्सा को बाज़ार में बेचते हैं, वे स्वर्ण के ढेर को छोड़कर धूलि के ढेर को पाते हैं ॥ ५८ ॥

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैवस्वतक्षयम् ।
छित्त्वा वैवस्वतान् पाशाञ्जीवितं च प्रयच्छति ॥ ५९ ॥

धर्मार्थदाता सदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते[1] ।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते ॥ ६० ॥

जो वैद्य दारुण रोगों द्वारा यमालय की ओर बलात् ले जाये जाते हुए प्राणियों के यम-पाशों को काटकर जीवन देता है, उससे बढ़कर धर्म और अर्थ का दान करने वाला इस संसार में नहीं पाया जाता । जीवनदान से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं ॥५९-६०॥

परो भूतदया धर्म इति मत्वा चिकित्सया ।
वर्तते यः स सिद्धार्थः सुखमत्यन्तमश्नुते ॥ ६१ ॥

प्राणियों पर दया करना उत्कृष्ट धर्म है—यह मन में धारण कर जो चिकित्साकर्म करता है उसकी सब कामनायें सिद्ध होती हैं । धर्म अर्थ काम तीनों की प्राप्ति होती है और वह अत्यन्त सुख को भोगता है वा मोक्ष को पाता है ॥ ६१ ॥

तत्र श्लोकौ ।

आयुर्वेदसमुत्थानं दिव्यौषधिविधिः शुभः ।
अमृताल्पान्तरगुणं सिद्धं रत्नरसायनम् ॥ ६२ ॥
सिद्धेभ्यो ब्रह्मचारिभ्यो यदुवाचामरेश्वरः ।
आयुर्वेदसमुत्थाने तत्सर्वं संप्रकाशितम् ॥ ६३ ॥

इत्याग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने आयुर्वेदसमुत्थानीयो नाम रसायनपादश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायं प्रथमो रसायनाध्यायः ॥ १ ॥

उपसंहार—आयुर्वेद की उत्पत्ति, दिव्य ओषधियों का हितकर विधान, अमृत से थोड़े ही भिन्न गुण रखने वाला सिद्ध (प्रत्यक्ष फलप्रद) रत्नरसायन (इन्द्रोक्तरसायन—इसमें प्रवाल मुक्ता स्फटिक वैदूर्य आदि रत्न मिश्रित किये जाते हैं); आदि उन सब को जो देवराज इन्द्र ने सिद्ध ब्रह्मचारियों को उपदेश किया इस आयुर्वेदसमु-

---

१ 'धर्मार्थसदृशस्तस्य दाता' ग. ।

स्थानीय नामक रसायनपाद में प्रकाशित कर दिया है ॥६२-६३॥

इति रसायनपादश्चतुर्थः । प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः ।

प्रथमः पादः ।

अथातः संयोगशरमूलीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम संयोगशरमूलीय नामक वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ।

वाजीकरणाध्याय को भी चार भागों में विभक्त किया गया है । उसका प्रथमभाग संयोगशरमूलीय नाम से है । 'पाद' चौथे भाग को कहते हैं। प्रथम वाजीकरण की भूमिका बांधकर 'शरमूलेक्षुमूलानि' से वाजीकरण प्रयोग प्रारम्भ होता है । अतएव इस पाद का नाम भी संयोगशरमूलीय रखा है ॥ १ ॥

वाजीकरणमन्विच्छेत्पुरुषो नित्यमात्मवान् ।
तदायत्तौ हि धर्मार्थौ प्रीतिश्च यश एव च ॥ २ ॥

आत्मवान् पुरुष को नित्य ही वाजीकरण की इच्छा करनी चाहिये अथवा उन द्रव्यों का अन्वेषण करना चाहिये । क्योंकि उस पर ही धर्म अर्थ प्रीति और यश आश्रित हैं ।

अथवा रसायन के पश्चात् वाजीकरण की इच्छा करनी चाहिये । रसायन का सेवन एक वार ही होता है और उसके यथाविधि प्रयोग से आश्चर्यमय लाभ महर्षि ने प्रगट किये हैं । उन रसायनों का सेवन पूर्ण ब्रह्मचारी ही यथाविधि कर सकते हैं । गृहस्थियों के लिये उनका सेवन दुष्कर ही होता है। गृहस्थियों के लिये भी रसायनप्रयोग तथा वात-तपिक विधि का निर्देश हो चुका है । उन रसायनों के सेवन के समय भी पुरुषों को संयम से रहना चाहिये । रसायन के गुणों की प्राप्ति के अनन्तर सारभूत धातु-वीर्य की भी पूर्णता रहनी चाहिये ।

गृहस्थ धर्म के समुचित रूप में पालन से यद्यपि अत्यधिक क्षीणता नहीं दिखाई देती परन्तु जो लोग विषयों की तृप्ति में ही लगे रहते हैं, उनमें अत्यधिक क्षीणता देखी जाती है। ब्रह्मचर्य के पालन न करने से राजयक्ष्मा आदि रोग हो जाते हैं। वात का प्रकोप तो विशेषतः होता है। वीर्य धातुओं का सार है। इसके नष्ट होने से शरीर की सब धातुएं क्षीण हो जाती हैं। बुद्धि मन्द हो जाती है। शरीर में स्फूर्ति और तेज नहीं रहता। अतः उस कमी को पूरा करने के लिये गृहस्थियों को प्रतिदिन वाजीकरण आहार विहार वा औषध का सेवन करना अत्यावश्यक होता है। यदि इस होती हुई क्षीणता को आहार आदि द्वारा पूरा न किया जाय तो यह शरीर शीघ्र ही धराशायी हो जायगा ॥ २ ॥

पुत्रस्यायतनं ह्येतद्गुणाश्चैते सुताश्रयाः।

वाजीकरण पुत्रोत्पत्ति का हेतु है। धर्म अर्थ आदि गुण पुत्र पर आश्रित हैं। पुत्र वा सन्तान ही पिता के प्रारम्भ किये गये धर्म कार्यों का सम्पादन करता है। यदि पुत्र धर्मात्मा न हो तो ऐसा पुत्र पिता को पाप का भागी बनाता है। वह पिता अत्यन्त पापी है जिसने सुपुत्र उत्पन्न न किया। कुपुत्र को उत्पन्न करना भी माता पिता के लिये पाप है। शुभ विचारों से युक्त रहते हुए केवल ऋतुगामी होने से जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह देह आदि में स्वस्थ होगा, मन वचन और कर्म से धर्मात्मा होगा। परन्तु यदि दुष्टात्मा पुरुष वाजीकरण का सेवन करेगा तो उससे उत्पन्न गुणों के मिथ्याप्रयोग से उत्पन्न सन्तान चाहे देखने में हृष्टपुष्ट भी प्रतीत हो पर उसका मन अत्यन्त निर्बल होगा। अत एव वाजीकरण भी आत्मवान् पुरुष के लिये ही है। आत्मवान् पुरुष वाजीकरण के सेवन से सुपुत्र को उत्पन्न करता है और इसी सुपुत्र पर धर्म अर्थ प्रीति और यश आश्रित रहते हैं।

वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥

सबसे उत्तम वाजीकरण क्षेत्र है । वह क्षेत्र हर्ष को करने वाली स्त्री ही है । स्त्री को क्षेत्र कहा है क्योंकि उसी के गर्भाशय में गर्भाङ्कुर की उत्पत्ति होती है । यदि स्त्री और पुरुष में प्रीति है तभी दोनों में मैथुन की पूर्ण शक्ति उत्पन्न होती है । यदि एक को किन्हीं आतङ्कनीय कारणों से दूसरे में प्रीति नहीं तो समुचितरूप में मैथुन नहीं हो सकता। और इसप्रकार के मैथुनों से सन्तान भी उत्तम उत्पन्न नहीं होती । यह एक प्रकार का बलात्कार ही होता है । यदि स्त्री हर्ष को उत्पन्न करती है तो वह सबसे प्रधान वाजीकरण है ।

इष्टा ह्येकैकशोऽप्यर्थाः परं प्रीतिकराः स्मृताः ।
किं पुनः स्त्रीशरीरे ये सङ्घातेन व्यवस्थिताः ॥ ४ ॥

एक एक भी अभीष्ट विषय अत्यन्त प्रीति को उत्पन्न करता है । पुनः जब स्त्री के शरीर में वे सब अभीष्ट विषय एकत्र ही विद्यमान् रहते हैं तो उन का क्या कहना ? अर्थात् वहां क्यों न प्रीति की पराकाष्ठा हो ? ॥ ४ ॥

सङ्घातो हीन्द्रियार्थानां स्त्रीषु नान्यत्र विद्यते ।
स्त्र्याश्रयो हीन्द्रियार्थो यः स प्रीतिजननोऽधिकम् ॥ ५ ॥

इन्द्रियों के अभीष्ट विषयों का सङ्घात (समूह) स्त्रियों में ही है, अन्यत्र नहीं । यद्यपि रूप रस आदि अन्यत्र भी विद्यमान् रह सकते हैं परन्तु वे अभिलषित नहीं । जो इन्द्रियविषय स्त्रियों में आश्रित है वह ही अधिक प्रीति को उत्पन्न करने वाला है ॥ ५ ॥

स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषेण स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम् ।
धर्मार्थौ स्त्रीषु लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ६ ॥

स्त्रियों में विशेषतः प्रीति प्रतिष्ठित है । स्त्रियों में ही सन्तान प्रतिष्ठित है । स्त्रियों में धर्म अर्थ और लक्ष्मी प्रतिष्ठित है । स्त्रियों में ही सब लोक प्रतिष्ठित हैं । गृहस्थी पुरुषों के लिये स्त्री से बढ़कर

दूसरा कोई नहीं। स्त्री प्रेम को उत्पन्न करती है। स्त्री के विना सन्तानोत्पत्ति नहीं हो सकती। स्त्री के विना गृहस्थी के कोई यज्ञ आदि धर्म-कार्य पूर्ण नहीं होते। स्त्री ही घर की लक्ष्मी है। यदि स्त्रियां न हों तो जगत् ही नष्ट हो जाय। जहां पर स्त्रियों की प्रतिष्ठा होती है, वहीं देवता निवास करते हैं।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।'

अष्टाङ्गसंग्रह उत्तर अ० ५० में भी—

'सारो हि जीवलोकस्य स्त्री स्त्रीगुणसमन्विता।
स्त्रियः साध्व्यः प्रसुवते नरान् गुणमयानिव॥
गोत्रवृद्धिकरा ह्येता गृहिण्यो गृहदेवताः।
गृहं हि हीनमेताभिर्न श्रीमदपि शोभते॥'

सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता।
या वश्या शिक्षिता या च सा स्त्री वृष्यतमा मता॥ ७॥

वाजीकरण योग्य वृष्यतम स्त्री का लक्षण—रूपवती, युवती, जो शुभलक्षणों से युक्त हो, जो वश्य हो—वश में रहने वाली हो—उच्छृङ्खल न हो और जो शिक्षित हो—पढ़ी लिखी हो अथवा कामशास्त्रोक्त गीत वादित्र (गाना बजाना) आदि ६४ कलाओं से युक्त हो, वह स्त्री वृष्यतम (वाजीकरणों में सब से श्रेष्ठ) मानी गई है॥ ७॥

नानाभक्त्या¹ तु लोकस्य दैवयोगाच्च योषिताम्।
तं तं प्राप्य विवर्धन्ते² नरं रूपादयो गुणाः॥ ८॥

जगत् की नानाप्रकार की रुचि होने से तथा दैवयोग से स्त्रियों के रूप आदि गुण उस उस पुरुष को पाकर बढ़ा करते हैं। नानाप्रकार की रुचि होने से कोई किसी के मन को भाती है कोई किसी के। जब किसी को उसके अनुरूप पुरुष की प्राप्ति होती है तब उसके

---

१ 'नानाभुक्त्या' ग.। 'नानाभुक्त्या बहूपभोगेन' गङ्गाधरः।
२ 'निवर्तन्ते' च.। 'निवर्तन्ते निष्पन्नाः संपद्यन्ते' च.।

रूप लावण्य आदि गुणों में अतिशय वृद्धि होने लगती है। यदि सम्बन्ध मन के अनुकूल न हो तो वे ही गुण क्षीण हो जाते हैं ॥ ८ ॥

वयोरूपवचोहावैर्या[1] यस्य परमाङ्गना ।
प्रविशत्याशु हृदयं दैवाद्वा कर्मणोऽपि वा ॥ ९ ॥
हृदयोत्सवरूपा या या समानमनःशया[2] ।
समानसत्त्वा या वश्या या यस्य प्रीयते प्रिये[3] ॥ १० ॥
या पाशभूता सर्वेषामिन्द्रियाणां परैर्गुणैः ।
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत् ॥ ११ ॥
यस्याः ऋते शरीरं ना धत्ते शून्यमिवेन्द्रियैः ।
शोकोद्वेगारतिभयैर्यां दृष्ट्वा नाभिभूयते ॥ १२ ॥
याति यां प्राप्य विस्रम्भं दृष्ट्वा हृष्यत्यतीव याम् ।
अपूर्वमिव[4] यां याति नित्यं हर्षातिवेगतः ॥ १३ ॥
गत्वा गत्वाऽपि बहुशो यां तृप्तिं नैव गच्छति ।
सा स्त्री वृष्यतमा तस्य नानाभावा हि मानवाः ॥ १४ ॥

जो उत्कृष्ट स्त्री उम्र रूप वाणी वा हावभाव द्वारा अथवा दैवयोग से अथवा किसी अन्य कर्म के कारण जिस पुरुष के हृदय में शीघ्र प्रवेश करती है, जो हृदय में आनन्दका संचार करती है, जिसका काम (कामेच्छा) समान (पुरुष के अनुरूप) होता है, जिसका मन पुरुष के मन के तुल्य होता है, जो वशवर्तिनी है, जो जिसके प्रियभाव में प्रीति रखती है, जो सब इन्द्रियों के उत्कृष्ट गुणों (रूप लावण्य आदि) से जिस पुरुष के लिये पाश के समान है (अर्थात् अपने रूप आदि इन्द्रियों के गुणों से जो जिस पुरुष के मन को अपनी और खींचे रखती है), जिसके वियोग से पुरुष अरति (जिसका मन किसी भी कार्य में प्रीति न रखे) होकर संसार को स्त्रीरहित मानता है (अर्थात् जो पुरुष जिस स्त्री को अत्यधिक

१ '०वयोरूपमृजाहावैर्या' च. ।
२ 'समानमनोरमा' पा० । 'समान मनःश्रया' ग. ।
३ 'प्रियैः' ग. । ४ 'अपूर्वामिव' पा० ।

चाहता है), जिस स्त्री के विना पुरुष अपने देह को इन्द्रियों से शून्य की तरह समझता है, जिसे देखकर पुरुष शोक उद्वेग अरति तथा भय आदि से पराभूत नहीं होता अर्थात् उन्हें भूल जाता है, जिसे पाकर पुरुष विश्वास करता है, जिसे देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है,हर्ष के अत्यन्तवेग से युक्त होकर जो पुरुष नित्य जिस स्त्री से ऐसे भोग करता है जैसे उससे पूर्व किया ही न हो (अर्थात् जिसके कारण पुरुष में पूर्णशक्ति से ध्वजहर्ष हो और नित्य मैथुन करने पर भी स्फूर्ति वा उत्तेजना में कमी न हो—सुस्ती न हो), जिससे बहुत वार भोग करने पर भी पुरुष को तृप्ति न हो; वह स्त्री उस पुरुष के लिये वृष्यतम होती है । पुरुष नानाप्रकार के स्वभाव वाले होते हैं । किसे कोई विषय प्यारा है किसे कोई और अतएव ही कोई पुरुष किसी स्त्री को चाहता है कोई किसी को। प्रिया की प्राप्ति से ही प्रीति आदि स्त्री-प्रतिष्ठित भावों की प्राप्ति होती है । अन्यथा नहीं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में—

' तस्माद्या यस्य हृदयं विशतीव वराङ्गना ।
तुल्यस्वभावा या हारिमृजारूपगुणान्विता ॥
पाशभूतैर्वहन्त्यङ्गैर्लावण्यमिव मूर्तिमत् ।
आलपन्त्यमृतेनेव या गात्राणि निषिञ्चति ॥
पिबन्तीव च पश्यन्ती स्पृशन्ती लिम्पतीव या ।
नित्यमुत्सवभूता या या समानमनःशया ॥
नयत्युत्सुकतां चेतो नित्यं सन्निहितापि या ।
यया वियुक्तो निस्त्रीकमरतिर्मन्यते जगत् ।
प्रगल्भा रतिसंग्रामे स्वस्था लज्जामयी च या ।
बहुशोऽपि च यां गत्वा तत्पूर्वमिव गच्छति ॥
चरितैर्निर्विकारा या विकारैरिव निर्मिता ।

१ ' शृङ्गारचेष्टासु पुनर्विकारैरिव निर्मिता ' शशिलेखा ।

कान्तानुवृत्तिपरमा सा स्त्री वृष्यतमा मता ॥' ॥ ६–१४ ॥

अतुल्यगोत्रां वृष्यां च प्रहृष्टां निरुपद्रवाम् ।
शुद्धस्नातां व्रजेन्नारीमपत्यार्थी निरामयः ॥ १५ ॥

किसके लिये कौन स्त्री गृहस्थधर्म के योग्य है—सन्तान को चाहने वाला नीरोग पुरुष भिन्न गोत्र वाली वृष्यतम हर्ष-युक्त उपद्रव-रहित (रोग आदि से रहित) तथा मासिक रजःस्राव के पश्चात् शुद्धिस्नान किये हुई स्त्री से मैथुन करे ।

'असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः ।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने ॥' ॥ १५ ॥

अच्छायश्चैकशाखश्च निष्फलश्च यथा द्रुमः ।
अनिष्टगन्धश्चैकश्च निरपत्यस्तथा नरः ॥ १६ ॥

सन्तानरहित पुरुष की निन्दा—छायारहित, एक शाखा वाला, फलरहित, दुर्गन्ध पूर्ण और अकेला जैसे कोई वृक्ष हो वैसे ही निपूते पुरुष को जानना चाहिये । अभिप्राय यह है जैसे इस प्रकार के वृक्ष से जगत् को कोई लाभ नहीं वैसे ही वह पुरुष भी कोई विशेष उपकार नहीं कर पाता ॥ १६ ॥

चित्रदीपः सरः शुष्कमधातुर्धातुसन्निभः ।
निष्प्रजस्तृणपूलीति ज्ञातव्यः[1] पुरुषाकृतिः ॥ १७ ॥

जैसे चित्रलिखित दीपक वा जैसे सूखा हुआ तालाब वैसे ही सन्तानरहित पुरुष को जानना चाहिये । अभिप्राय यह है कि चित्र में बनाया गया दीपक जिस प्रकार प्रकाश नहीं देता और जिस प्रकार सूखा हुआ तालाब प्यासे की प्यास को नहीं बुझाता वैसे ही अपत्य-रहित पुरुष भी अपने संसार में आने के प्रयोजन को पूर्ण नहीं कर पाता । संसार को उससे कोई विशेष सुख प्राप्त नहीं होता । जैसे कोई

1 'ज्ञातव्या' च. ।

द्रव्य धातु तो न हो पर देखने में धातुसदृश प्रतीत हो वैसे ही प्रजा (सन्तान) रहित पुरुष को पुरुषाकार बनाया गया तृणसमूह ही जानना चाहिये। जिस पुरुष की सन्तान न हो वह वस्तुतः पुरुष ही कहाने योग्य नहीं। उसे तो ऐसा समझना चाहिये जैसे किसी कारीगर ने तिनकों को जोड़ जोड़कर पुरुष का आकार बना दिया हो। जैसे तिनकों के पुरुष में जीवन नहीं वैसे ही उस पुरुष को जानना चाहिये। वास्तव में सीप हो और देखने में चांदी प्रतीत हो। जैसे वह सीप चांदी के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता वैसे ही वह पुरुष भी पुरुष के प्रयोजन को सिद्ध नहीं कर सकता ॥ १७ ॥

अप्रतिष्ठश्च नग्नश्च शून्यश्चैकेन्द्रियश्च ना।
मन्तव्यो निष्क्रियश्चैव यस्यापत्यं न विद्यते॥ १८ ॥

जिस पुरुष की सन्तान नहीं उसे प्रतिष्ठारहित, नग्न (जिसे कोई दुःख से छुड़ाने वाला नहीं), शून्य, एक ही इन्द्रिय वाला तथा निष्क्रिय जानना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

'अदृष्टपुत्रपौत्रस्य कुलतन्त्वन्तवर्त्तिनः।
संसारसुखबाह्यस्य कीदृशं नाम जीवितम् ॥' १८ ॥

बहुमूर्तिर्बहुमुखो बहुव्यूहो बहुक्रियः।
बहुचक्षुर्बहुज्ञानो बह्वात्मा च बहुप्रजः ॥ १९ ॥

बहुसन्तान पुरुष की प्रशंसा—बहुत सन्तान वाला पुरुष बहुत मूर्तियों वाला होता है। उसके बहुत मुख होते हैं। वह बहुव्यूह (बहुत संघ वाला), बहुक्रिय,(बहुत क्रियाओं वाला) बहुचक्षु (बहुत नेत्रों वाला) तथा बहुज्ञान (बहुत ज्ञान वाला) और बह्वात्मा (बहुत सी आत्माओं वाला अथवा बहुस्वरूप) होता है ॥ १९ ॥

मङ्गल्योऽयं प्रशस्तोऽयं धन्योऽयं वीर्यवानयम्।
बहुशाखोऽयमिति च स्तूयते ना बहुप्रजः ॥ २० ॥

१ बहुप्रजाः' च.। २ 'प्रशस्योऽयं च.।

बहुत सन्तान वाले पुरुष की लोग स्तुति करते हैं कि यह मङ्गलमय है, प्रशस्त है, धन्य है, वीर्यवान् है, बहुत शाखाओं वाला है २०

प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम् ।
यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिश्चापत्यसंश्रिता ॥ २१ ॥
तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान् ।
वाजीकरणनित्यः स्यादिच्छन् कामसुखानि च ॥ २२ ॥

प्रीति, बल, सुख, आजीविका, विस्तार, कुल का विस्तृत होना, यश, सुख है परिणाम जिनका ऐसे लोक, सन्तोष; ये सन्तान पर आश्रित हैं । अर्थात् सन्तान के होने से प्रीति आदि गुण होते हैं । अतः सन्तान तथा सन्तानाश्रित गुणों की कामना करते हुए और काम के सुख की इच्छा रखते हुए पुरुष को नित्य वाजीकरणों का सेवन करना चाहिये ॥ २१–२२ ॥

उपभोगसुखान् सिद्धान् वीर्यापत्यविवर्धनान् ।
वाजीकरणसंयोगान् प्रवक्ष्याम्यत उत्तरम् ॥ २३ ॥

इसके पश्चात् उपभोग में सुख देने वाले अनुभवसिद्ध वीर्य और सन्तान की वृद्धि करने वाले वाजीकरण योगों को कहूंगा ।

इस सारे कथन से यह भी ज्ञात होगया कि वाजीकरण का प्रयोजन क्या है और किन्हें सेवन करना चाहिये ? सुश्रुत ने भी चि० अ० २६ में कहा है—

कल्यस्योदग्रवयसो वाजीकरणसेविनः ।
सर्वेष्वृतुष्वहरहर्व्यवायो न निवारितः ।
स्थविराणां रिरंसूनां स्त्रीणां वाल्लभ्यमिच्छताम् ।
योषित्प्रसङ्गात् क्षीणानां क्लीबानामल्परेतसाम् ॥
विलासिनामर्थवतां रूपयौवनशालिनाम् ।
नृणाञ्च बहुभार्याणां योगा वाजीकरा हिताः ॥

---

१ 'विभवः' ग. ।

सेवमानो यदौचित्यांद्वाजीवात्यर्थवेगवान्।
नारीस्तर्पयते तेन वाजीकरणमुच्यते' ॥ २३ ॥

बृंहणीगुडिका।

शरमूलेक्षुमूलानि काण्डेक्षुः सेक्षुवालिका।
शतावरी पयस्या च विदारी कण्टकारिका ॥ २४ ॥
जीवन्ती जीवको मेदा वीरा चर्षभको बला।
ऋद्धिर्गोक्षुरकं रास्ना सात्मगुप्ता पुनर्नवा ॥ २५ ॥
एषां त्रिपलिकान् भागान् माषाणामाढकं नवम्।
विपाचयेज्जलद्रोणे चतुर्भागं च शेषयेत् ॥ २६ ॥
तत्र पेष्याणि मधुकं द्राक्षा फल्गूनि पिप्पली।
आत्मगुप्ता मधूकानि खर्जूराणि शतावरी ॥ २७ ॥
विदार्यामलकेक्षूणां रसस्य च पृथक् पृथक्।
सर्पिषश्चाढकं दद्यात्क्षीरद्रोणं च तद्भिषक् ॥ २८ ॥
साधयेद् घृतशेषं च सुपूतं योजयेत्पुनः।
शर्करायास्तुगाक्षीर्याश्चूर्णैः प्रस्थोन्मितैः पृथक् ॥ २९ ॥
पलैश्चतुर्भिर्मागध्याः पलेन मरिचस्य च।
त्वगेलाकेशराणां च चूर्णैरर्धपलोन्मितैः ॥ ३० ॥
मधुनः कुडवाभ्यां च द्वाभ्यां तत्कारयेद्भिषक्।
पलिका गुडिकाः स्त्यानास्ता[1] यथाग्नि प्रयोजयेत् ॥ ३१ ॥
एष वृष्यः परो योगो बृंहणो बलवर्धनः।
अनेनाश्व इवोदीर्णो लिङ्गमर्पयते स्त्रियाम् ॥ ३२ ॥

इति बृंहणीगुडिका।

बृंहणी गुडिका—शरमूल (सरकण्डे की जड़), ईख की जड़, काण्डेक्षु (ईखभेद, काठागन्ना) की जड़, इक्षुवालिका (करङ्कशालि नामक ईखभेद) की जड़, शतावर, क्षीरकाकोली, विदारीकन्द, कण्टकारी, जीवन्ती, जीवक, मेदा, वीरा (काकोली), ऋषभक, बलामूल (खरैंटी की जड़), ऋद्धि,

---

1 'गुडिका कृत्वा ता' ग.।

गोखरू, रास्ना, आत्मगुप्ता (कौंच), पुनर्नवा; प्रत्येक ३ पल (२४ तोले), ताजे उड़द १ आढक (६४ पल = ६। सेर १२ तोले) इन्हें एकत्र २ द्रोण (५१ सेर १६ तोले) जल में पकावे । जब चतुर्थांश शेष (१२॥। सेर ४ तोले) रह जाय तब उसे वस्त्र से छान लें । कल्कार्थ—मुलहठी, द्राक्षा (मुनक्का), फल्गु (उदुम्बर, गूलर) पिप्पली, आत्मगुप्ता [कौंचबीज], महुआ, खजूर, शतावर; सब मिलाकर आधा आढक [३ सेर १६ तोले]। विदारीकन्द का स्वरस २ आढक। आंवले का रस २ आढक । ईख का रस २ आढक। घी २ आढक [१२॥। सेर ४ तोले] । दूध २ द्रोण । इन्हें घृतपाक विधि से सिद्ध करें । सिद्ध घी को वस्त्र से छान लें और उसमें खांड १ प्रस्थ [१॥ सेर ८ तोले] वंशलोचन का चूर्ण १ प्रस्थ, पिप्पली चूर्ण ४ पल [३२ तोले], कालीमिर्च का चूर्ण १ पल [८ तोले], दारचीनी का चूर्ण आधा पल [४ तोले], छोटी इलायची का चूर्ण ४ तोले, नागकेसर ४ तोले, विशुद्ध मधु ४ कुडव [३२ पल = ३ सेर १६ तोले]; इन्हें एकत्र मिश्रित कर एक एक पल की गुडिकायें बनावें । इन्हें अग्नि के अनुसार प्रयोग करे । यह योग अत्यन्त वृष्य [वीर्यवर्धक एवं पुंस्त्व शक्तिप्रद], बृंहण और बलवर्धक है । इसके प्रयोग से पुंस्त्वशक्ति वा मैथुनशक्ति अत्यन्त बढ़ती है । आजकल के पुरुषों के लिये पूर्णमात्रा १ तोले से २ तोले तक है । इसकी गोलियां वा मोदक बनने तो कठिन होंगे । अतः गुडिका का यहां अभिप्राय केवल पिण्डमात्र से है । अर्थात् निर्दिष्ट मात्रा में वह घना २ पिण्ड लेकर रोगी को खाना चाहिये। यद्यपि सामान्य नियम कुडव में दुगुना करने का नहीं—

'कुडवे मानिकायां च तुलामाने तथैव च ।
पलोल्लेखागते माने न द्वैगुण्यमिहेष्यते ॥'

परन्तु—' कुडवेऽपि क्वचिद् द्वित्वं यथा दन्तीघृते स्मृतम् ।

सर्पिःखण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु।
अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते ॥'

इस परिभाषा के अनुसार हमने कुडव में निर्दिष्ट मधु के प्रमाण को द्विगुण लिया है। गङ्गाधर ने दो कुडव (८ पल) ही मधु डालने को लिखा है। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने दो कुडव से १६ पल का ही ग्रहण किया है जो कि उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार ठीक ही है। गङ्गाधर ने वीरा का अर्थ शालपर्णी किया है। वृद्धवाग्भट ने कुछ भेद से इस योग को पढ़ा है—

'शरेक्षुकुशकाशानां विदार्या वीरणस्य च।
मूलानि कण्टकार्याश्च जीवकर्षभकौ बलाम् ॥
मेदे द्वे द्वे च काकोल्यौ सूर्प्यपर्ण्यौ शतावरीम्।
अश्वगन्धामतिबलामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ॥
वीरां पयस्यां जीवन्तीमृद्धिं रास्नां त्रिकण्टकम्।
मधुकं शालपर्णीं च भागांस्त्रिपलिकान् पृथक् ॥
माषाणामाढकं चैतद् द्विद्रोणे साधयेदपाम्' ॥
रसेनाढकशेषेण पचेत्तेन घृताढकम्।
दत्त्वा विदारिधात्रीक्षुरसानामाढकाढकम्।
घृताच्चतुर्गुणं क्षीरं पेष्याणीमानि चावपेत् ॥
वीरां स्वगुप्तां काकोल्यौ यष्टीं फल्गूनि पिप्पलीम्।
द्राक्षां विदारीं खर्जूरं मधूकानि शतावरीम् ॥
तत्सिद्धपूतं चूर्णस्य पृथक् प्रस्थेन योजयेत्।
शर्करायास्तुगायाश्च पिप्पल्याः कुडवेन च ॥
मरिचस्य प्रकुञ्चेन पृथगर्द्धपलोन्मितैः।
त्वगेलाकेसरैः श्लक्ष्णैः क्षौद्रद्विकुडवेन च ॥
पलमात्रं ततः खादेद् प्रत्यहं रसदुग्धभुक्।
तेनारोहति वाजीव कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥ उ० अ० ५०

वृद्धवाग्भट ने क्वाथ्य द्रव्य २९ कहे हैं और प्रकृत ग्रन्थ में १९ हैं। चरकोक्त १९ क्वाथ्य द्रव्यों में से काण्डेक्षु (काठा गन्ना), इक्षु-वालिका (करङ्केक्षु) वृद्धवाग्भट ने नहीं पढ़े । यदि काण्डेक्षु का अर्थ कथञ्चित् काश किया जाय तो इक्षुवालिका नहीं पढ़ी। और कुश वीरण (खस) महामेदा क्षीरिका क्षीरविदारी मुद्गपर्णी माषपर्णी अश्वगन्धा अतिबला मधुक (मुलहठी) और शालपर्णी; ये अधिक पढ़े हैं। हमने मूलपाठ के वीरा का अर्थ काकोली और पयस्या का अर्थ क्षीरकाकोली किया है। ये प्रसिद्ध अर्थ हैं। परन्तु वृद्धवाग्भट ने 'द्वे च काकोल्यौ' कहकर 'वीरां पयस्यां' पुनः कहे हैं । टीकाकार इन्दु ने वीरा से क्षीरविदारी और पयस्या से क्षीरिका का ग्रहण करने को कहा है। यदि चरकोक्त पाठ में भी क्षीरविदारी और क्षीरिका का ग्रहण किया जाय तो वृद्धवाग्भट के अधिक पठित द्रव्यों की गणना में इन के स्थल पर काकोली और क्षीरकाकोली का परिगणन किया जाय । क्वाथ्य द्रव्यों के अधिक होने से यह आवश्यक ही था कि क्वाथार्थ जल की मात्रा भी बढ़ायी जाय अतएव वृद्धवाग्भट ने क्वाथार्थ जल भी चरक से दुगुना लिया है। चतुर्थांश अवशेष रहने पर भी चरक के क्वाथ से दुगुना ही रहेगा। और इसीलिये दुगुना ही क्वाथ वृद्ध-वाग्भट ने पढ़ा है। घी का प्रमाण दोनों में बराबर ही है । विदारी-कन्द आदि के रस का प्रमाण भी एक ही है। चरक में कल्कद्रव्य आठ हैं। वृद्धवाग्भट ने बारह पढ़े हैं। वीरा काकोली क्षीरकाकोली विदारी; ये चार द्रव्य अधिक हैं। परन्तु दोनों में ही परिभाषा के अनुसार घी से चतुर्थांश मिलित कल्कद्रव्य डाले जांयगे । इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य के प्रमाण में परस्पर भिन्नता होगी । परन्तु समष्टिरूप से कल्क का प्रमाण एक ही होगा। दूध तथा अन्य आलोड्य द्रव्यों का प्रमाण दोनों में समान ही है ॥ २४-३२ ॥

वाजीकरणघृतम्।

माषाणामात्मगुप्ताया बीजानामाढकं नवम्।
जीवकर्षभकौ वीरां मेदामृद्धिं शतावरीम् ॥ ३३ ॥
मधुकं चाश्वगन्धां च साधयेत्कुडवोन्मिताम्।
रसे तस्मिन् घृतप्रस्थं गव्यं दशगुणं पयः ॥ ३४ ॥
विदारीणां रसप्रस्थं प्रस्थमिक्षुरसस्य च।
दत्त्वा मृद्वग्निना साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् ॥ ३५ ॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्य च पृथक् पृथक्।
भागांश्चतुष्पलांस्तत्र पिप्पल्याश्चावपेत्पलम् ॥ ३६ ॥
पलं पूर्वमतो लीढ्वा ततोऽन्नमुपयोजयेत्।
य इच्छेदक्षयं शुक्रं शेफसश्चोत्तमं बलम् ॥ ३७ ॥

इति वाजीकरणं घृतम्।

वाजीकरण घृत—नवीन उड़द १ आढक (६४ पल=६। सेर १२ तोले), नवीन कौंच के बीज १ आढक, जीवक, ऋषभक, वीरा (काकोली), मेदा, ऋद्धि, शतावर, मुलहठी, अश्वगन्धा; प्रत्येक १ कुडव (४ पल=३२ तोले)। क्वाथार्थ आठ गुणा जल (१२८सेर) डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट (३२ सेर) रखे। गौ का घी २ प्रस्थ (३२ पल=३ सेर १६ तोले)। गौ का दूध घी से दस गुणा (३२ सेर)। विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ। विधिपूर्वक मन्द २ आंच पर घी को सिद्ध करे। जब सिद्ध होजाय तब वस्त्र से छान लें और उस में खांड ४ पल, वंशलोचन ४ पल, मधु ४ पल, पिप्पली १ पल डाले। मधु को छोड़ कर शेष द्रव्य गरम घी में डाल सकते हैं। परन्तु मधु को शीतल होने पर ही डालना चाहिये। जो पुरुष वीर्य का अक्षयकोष और जननेन्द्रिय में उत्तम बल चाहते हैं उन्हें इस औषध में से १ पल औषध का लेहन करके अन्न का भोजन करना चाहिये। अर्थात् भोजन से तत्काल पूर्व ही

औषध खानी चाहिये । आजकल इस औषध की पूर्ण मात्रा १ तोला है । अष्टाङ्गसंग्रह उ०अ०५० में भी यह योग कुछ भेद से पढ़ा है—

माषात्मगुप्ताबीजानामाढकं प्रसृतोन्मितम् ।
मेदाश्वगन्धर्द्धिवरी वीरा यष्टी द्विजीवकम् ॥
शूर्पेऽपां विपचेत्तेन पादशेषेण पाचयेत् ।
विदारीक्षुरसप्रस्थद्वयेन सदृशेन च ।
सर्वैः क्षीरेण हविषो नवात्प्रस्थं शृतेऽत्र च ।
सिताक्षौद्रसितादृयानां पृथग्दद्याच्चतुष्पलम् ॥
पलं कणात् पुरोभक्तं लिहंस्तत्पलपूर्वकम् ।
तरुणीष्वश्वतृप्तासु प्रसभं रासभायते ॥

इस के अनुसार यह योग इस प्रकार है । घी २ प्रस्थ (३२ पल) । क्वाथार्थ द्रव्य माष (उड़द) १ आढक । कौंच बीज १ आढक । मेदा, अश्वगन्धा, ऋद्धि, शतावर, वीरा, मुलहठी, जीवक ऋषभक; प्रत्येक २ पल । जल ४ द्रोण । अवशिष्ट क्वाथ १ द्रोण (२५६ पल) । विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ । ईख का रस २ प्रस्थ । दूध ३२० पल । आवाप द्रव्य—खांड, मधु तथा वंशलोचन प्रत्येक ४ पल, पिप्पली १ पल ॥३३—३७॥

वाजीकरणपिण्डरसाः ।

शर्करा माषविदलास्तुगाक्षीरी पयो घृतम् ।
गोधूमचूर्णषष्ठानि सर्पिष्युत्कारिकां पचेत् ॥ ३८ ॥
तां नातिपक्वां मृदितां कौक्कुटे मधुरे रसे ।
सुगन्धे प्रक्षिपेदुष्णे यथा सान्द्रीभवेद्रसः ॥ ३९ ॥
एष पिण्डरसो वृष्यः पौष्टिको बलवर्धनः ।
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत् ॥ ४० ॥

---

१ 'सर्पिःपू०' ।

शिखितित्तिरिहंसानामेवं पिण्डरसो मतः।

इति वाजीकरणपिण्डरसाः।

खांड, उड़द की दाल, वंशलोचन, दूध, घी और छठा गेहूं का आटा; इन्हें यथायोग्य परिमाण में लेकर यथाविधि उत्कारिका बनाकर घी में मृदु तल ले। बहुत अधिक न तले। पश्चात् उसे तोड़कर मधुर तथा इलायची आदि सुगन्धि द्रव्यों से सुगन्धित गरम गरम कुक्कुटमांसरस में डाल दे। जिससे वह रस गाढ़ा हो जाय। वह पिण्डरस कहाता है। यह वृष्य पौष्टिक और बलवर्धक है। इसके प्रयोग से पुरुष घोड़े के सदृश मैथुनशक्ति से युक्त होता है।

इसीप्रकार मोर तीतर और हंसों के पिण्डरस भी होते हैं और उनके गुण भी उसीप्रकार हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में कुक्कुट आदि के पिण्डरस का विधान नहीं कहा। वहां उत्कारिका (मूषिकाकृति भक्ष्यविशेष) भोजन के पश्चात् कुक्कुट आदि के मांसरस के अनुपान का विधान है—

'शर्करामाषगोधूमतुगाक्षीरीपयोघृतैः।
पक्वामुत्कारिकां खादेत् कृकवाकुरसानुपः।
मायूरं तैत्तिरं हांसमेवमेव रसं पिबेत्।
अनेनाश्व इवोदीर्णो बली लिङ्गं समर्पयेत्' ॥ ३८-४० ॥

वृष्यमाहिषरसः।

घृतं माषान् सबस्ताण्डान् साधयेन्माहिषे रसे।
भर्जयेत्तं रसं पूतं फलाम्लं नवसर्पिषि ॥ ४१ ॥
ईषत्सलवणं युक्तं धान्यजीरकनागरैः।
एष वृष्यश्च बल्यश्च बृंहणश्च रसोत्तमः ॥ ४२ ॥

इति वृष्यमाहिषरसः।

घी, उड़द, बस्ताण्ड (बकरे के अण्ड); इन्हें भैंसे के मांसरस में यथाविधि सिद्ध करे। जब सिद्ध होजाय तब उसे वस्त्र से छान लें और रस को ताजे

घी में भून लें । अनार आदि फलों के रस से ईषत् अम्ल करलें । पश्चात् थोड़ा सा नमक और धनियां जीरा सोंठ डाल दें । यह रस वृष्य बलकारक तथा बृंहण (पौष्टिक) है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में भी—

' घृतं माषान् सबस्ताण्डान् फलाम्ले माहिषे रसे ।
स्वादौ वा साधयेत्पूतं तद्रसं भर्जयेद् घृते ॥
ईषल्लवणितं युक्तं धान्यजीरकनागरैः ।
पीतः स वृष्यो बल्यश्च बृंहणश्च परं रसः ' ॥ ४१-४२ ॥

वृष्यरसाः ।

चटकांस्तित्तिरिरसे तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे ।
कुक्कुटान् बार्हिणरसे हांसे बर्हिणमेव च ॥ ४३ ॥
नवसर्पिषि संतप्तान् फलाम्लान् कारयेद्रसान् ।
मधुरान्वा यथासात्म्यं गन्धाढ्यान् बलवर्धनान् ॥ ४४ ॥

इति वृष्यरसाः ।

तीतर के रस में चटकों (चिड़ियों) को, मुर्गे के मांसरस में तीतरों को, मोर के रस में कुक्कुटों (मुर्गों) को और हंस के रस में मोर को सिद्ध करना चाहिये । इन चारों रसों को ताजे घी से छौंक ले । इस रस को नीबू अनार आदि के रस से खट्टा कर ले । अथवा मधुर ही रहने दे । रस को इलायची आदि से सुगन्धित कर लेना चाहिये । जिसे जो साधित रस स्वाद में खट्टा वा मधुर सात्म्य हो वह उसे ही सेवन करे । ये रस बलवर्धक हैं । माहिष (भैंसे के) मांसरस को जैसे उड़द और बस्ताण्डों से सिद्ध किया है वैसे ही इन्हें भी उन २ के साथ माष (उड़द) को मिलाकर सिद्ध कर सकते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में कहा है—

' चटकांस्तैत्तिरे तद्वत्तित्तिरीन् कौक्कुटे रसे ।
कल्पयेच्छिखिनो हांसे हंसान् वा शिखिजे रसे ॥४३-४४॥

वृष्यं चटकमांसम् ।

तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनुपिबेत्पयः ।
न तस्य लिङ्गशैथिल्यं स्यान्न शुक्रक्षयो निशि ॥ ४५ ॥

इति वृष्यमांसम् ।

जो पुरुष चटक के मांस को भरपेट खाकर ऊपर से दूध पी लेता है । उसका लिङ्ग (मेढ्र, मूत्रेन्द्रिय) शिथिल नहीं होता और रात भर वीर्य का क्षय नहीं होता अर्थात् स्तम्भन करता है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में भी—

'तृप्तिं चटकमांसानां गत्वा योऽनु पयः पिबेत् ।
प्रभूतकालसंरुद्धाः सन्तर्पयति योषितः ॥ ४५ ॥

वृष्यमाषयोगः ।

माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम् ।
पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान् ॥ ४६ ॥

इति वृष्यमाषयोगः ।

जो प्रभूतघृतयुक्त सांठी के भात के उड़द के यूष के साथ खाकर दूध पीता है वह वेग से युक्त होकर सारी रात जागता रहता है । अर्थात् वह कामातुर होकर पूर्ण ध्वजहर्ष के साथ सारी रात स्त्रीसहवास करता है ॥ ४६ ॥

नक्ररेतोभृष्टं कुक्कटमांसम्

न ना स्वपिति रात्रीषु नित्यस्तब्धेन च शेफसा ।
तृप्तः कुक्कटमांसानां भृष्टानां नक्ररेतसि ॥ ४७ ॥

इति वृष्यं भृष्टमांसम् ।

नक्र के वीर्य में भूने गए मुर्गे के मांस को खाकर पुरुष स्तब्ध-लिङ्ग होकर सारी रात सोता ही नहीं । अर्थात् संभोग के समय उस पुरुष को सारी रात पूर्ण ध्वजहर्ष रहता है ॥ ४७ ॥

अण्डरसाः ।

निःस्राव्य मत्स्याण्डरसं भृष्टं सर्पिषि भक्षयेत् ।
हंसबर्हिणदक्षाणां[1] चैवमण्डानि भक्षयेत् ॥ ४८ ॥

इति वृष्या अण्डरसाः ।

मछली के अण्डों के रस को चुआ कर वाजीकरण के लिये घी में भूनकर खावे । इसी प्रकार हंस मोर और मुर्गी के अण्डों को भी घी में भूनकर प्रयोग करना चाहिये । ये वृष्य हैं । वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—

'हंसबर्हिणदक्षाण्डान् भृष्टांस्तप्तेन सर्पिषा ।
सुरानुपानान् यः खादेत्स तृप्तस्तर्पयेत् स्त्रियः' ॥ उ० अ० ५० ।

इसमें सुरा का अनुपान रूप में प्रयोग विशेष कहा है ॥ ४८ ॥

भवतश्चात्र ।

स्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे वृष्यं यदा[1] ना मितमत्ति काले ।
वृषायते तेन परं मनुष्यस्तद्बृंहणं चैव बलप्रदं च ॥ ४९ ॥
तस्मात्पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं न हि वृष्ययोगाः[2] ।
सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः॥

स्रोतों के शुद्ध होने से देह के मलरहित होने पर जब पुरुष योग्य काल में मात्रा में वृष्य आहार करता है उससे उसका वीर्य और पुंस्त्व शक्ति अत्यन्त बढ़ जाती है । वह बृंहण और बलदायक होता है । अतएव वृष्य आहार वा औषध के प्रयोग से पूर्व सेवन करने वाले के बल के अनुसार उसके शरीर का वमन विरेचन आदि द्वारा शोधन करना चाहिये । जैसे मलिन वस्त्र पर रंग ठीक नहीं चढ़ते उसी प्रकार मलिन देह में प्रयुक्त किये हुए वृष्य योग भी कोई लाभ नहीं करते ॥ ४९–५० ॥

---

१ 'हांसबार्हिणदाक्षाणि' ग० । १ 'यदान्नं हि तदत्ति' ग. । २ 'सिद्धयोगाः' ग.।

तत्र श्लोकौ।

वाजीकरणसामर्थ्यं क्षेत्रं स्त्री यस्य चैव या।
ये दोषा निरपत्यानां गुणाः पुत्रवतां च ये ॥ ५१ ॥
दश पञ्च च संयोगा वीर्यापत्यविवर्धनाः।
उक्तास्ते शरमूलीये पादे पुष्टिबलप्रदाः ॥ ५२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने संप्रयोग-
शरमूलीयो नाम वाजीकरणपादः प्रथमः।

वाजीकरण का प्रयोजन, जिस पुरुष के लिये जो स्त्री क्षेत्र है, अपत्यरहित पुरुषों के दोष, पुत्रवानों के गुण, वीर्य और सन्तान के बढ़ाने वाले पुष्टि एवं बल देने वाले पन्द्रह प्रयोग शरमूलीय वाजीकरण पाद में कह दिये हैं। हंस मोर वा मुर्गे के अण्डों के तीन योगों का पृथक् परिगणन नहीं किया। उन्हें मत्स्याण्डरस के प्रयोग में ही गिन लिया है। इस तरह पन्द्रह संख्या पूर्ण होती है। अथवा यहां 'अष्टौ दश च' ऐसा पाठ कर लेना चाहिये ॥ ५१-५२ ॥

इति वाजीकरणपादः प्रथमः।

अथात आसिक्तक्षीरीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम आसिक्तक्षीरीय वाजीकरण पाद की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

आसिक्तक्षीरमापूर्णमशुष्कं शुद्धषाष्टिकम्।
उदूखले समापोथ्य पीडयेत्क्षीरमर्दितम् ॥ २ ॥
क्षुण्णं विमृदितं क्षीरे पीडयेत्सुसमाहितः।
गृहीत्वा तं रसं पूतं गव्येन पयसा सह ॥ ३ ॥
बीजानामात्मगुप्ताया धान्यमाषरसेन च।

१ 'आसिक्तक्षीरिकं' च. । २ 'क्षीरमोदितम्' ग.।

बलायाः सूर्पपर्ण्योश्च जीवन्त्या जीवकस्य च ॥ ४ ॥
ऋद्धचर्षभककाकोलीश्वदंष्ट्रामधुकस्य च ।
शतावर्या विदार्याश्च द्राक्षाखर्जूरयोरपि ॥ ५ ॥
संयुक्तं मात्रया वैद्यः साधयेत्तत्र चावपेत् ।
तुगाक्षीर्याः समांषाणां[1] शालीनां षष्टिकस्य च ॥ ६ ॥
गोधूमानां च चूर्णानि यैः स सान्द्रीभवेद्रसः ।
सान्द्रीभूतं च तं कुर्यात्प्रभूतमधुशर्करम् ॥ ७ ॥
गुडिका बदरैस्तुल्यास्ताश्च सर्पिषि भर्जयेत् ।
ता यथाग्नि प्रयुञ्जानः क्षीरमांसरसाशनः ।
पश्यत्यपत्यं विपुलं वृद्धोऽप्यात्मजमक्षयम्[2] ॥ ८ ॥

इत्यपत्यकरा षष्टिकादिगुडिका ।

षष्टिकादिगुडिका—शुद्ध सांठी के कच्चे चावलों को दूध में भिगोवें । जब वे फूल जांय तब गीला २ ही ऊखल में वा कूंडीसोटे से घोटें । जब बारीक हो जांय तब थोड़ा सा दूध कपड़े से छान लें । जो मोटा भाग बचे पुनः उसे इसीप्रकार घोटें और पुनः थोड़ा सा दूध डालकर कपड़े में निचोड़ कर छान लें । इस छाने हुए रसमें सांठी के समपरिमाण गौ का दूध और तुल्य ही कौंच के बीजों का क्वाथ डालकर पकावें । जब यह क्वाथ सूख जाय तब उड़द का क्वाथ डाल दें और मन्द २ आंच पर पकावें । जब यह क्वाथ भी सूख जाय तब इसीप्रकार बलामूलक्वाथ, मुद्गपर्णीक्वाथ, माषपर्णीक्वाथ, जीवन्ती क्वाथ, जीवकक्वाथ, ऋद्धिक्वाथ, ऋषभकक्वाथ, काकोलीक्वाथ, गोखरू-क्वाथ, मुलहठीक्वाथ, शतावररस, विदारीकन्दरस, द्राक्षाक्वाथ, खर्जूरक्वाथ देकर पकावें । जब क्वाथ सूख जाय तब उतार लें । परन्तु अन्तिम क्वाथ देने के समय उसे अधिक सुखावे । जब रबड़ी सा बन जाय

१ 'समानानां' ग. ।

२ 'आत्मजमपत्यमक्षयं दीर्घजीविनं विपुलं बहुसंख्यं पश्यति' गङ्गाधरः ।

तब उसमें वंशलोचन चूर्ण, उड़द का आटा, शालि चावल का आटा, और गेहूं का आटा; इनका प्रक्षेप देकर घना वा कठिन कर लें। उसमें मधु और खांड प्रभूत मात्रा में मिलाकर मधुर कर लें। अब इसकी बेर बराबर गुडिकायें बनाकर उन्हें घी में तल लें। दूध तथा मांसरस का आहार करने वाला वृद्ध पुरुष भी अग्नि के अनुसार इन का प्रयोग करता हुआ विपुल सन्तान और अक्षय वीर्य को पाता है। आत्मा शब्द मन के लिये भी प्रयुक्त होता है। अतः आत्मज शब्द से मनोज का ग्रहण होगा। काम मन से उत्पन्न होता है। स्त्री आदि उत्तेजक विषय के मन में ध्यान से ही वीर्य का अपने स्वरूप में आना प्रारम्भ हो जाता है। अतः मनोज से शुक्र का भी ग्रहण होता है। गंगाधर ने 'धान्यमाष' शब्द से धनियां और उड़द दो द्रव्य लिये हैं। यह उचित नहीं प्रतीत होता। धान्यमाष शब्द से यहां केवल उड़द का ही ग्रहण होना चाहिये। और यही हमें ठीक जंचा है ॥ २—८ ॥

वृष्यभक्ष्याः ।

चटकानां सहंसानां दक्षाणां शिखिनां तथा ।
शिशुमारस्य नक्रस्य भिषक् शुक्राणि संहरेत् ॥ ९ ॥
गव्यं सर्पिर्वराहस्य कुलिङ्गस्य वसामपि ।
षष्टिकानां च चूर्णानि चूर्णं गोधूमकस्य[1] च ॥ १० ॥
एभिः पूपलिकाः कार्याः शष्कुल्यो वर्तिकास्तथा ।
पूपाधानाश्च विविधा भक्ष्याश्चान्ये पृथग्विधाः ॥ ११ ॥
एषां प्रयोगाद्भक्ष्याणां स्तब्धेनापूर्णरेतसा ।
शेफसा वाजिवद्याति यावदिच्छं स्त्रियो नरः ॥ १२ ॥

इति वृष्यभक्ष्याः[2] ।

वैद्य, चटक, हंस, मुर्गा, मोर, शिशुमार (नक्रभेद), नक्र; इनके वीर्य

1 'गोधूममेव' ग. । 2 'वृष्यपूपलिकादियोगः'

और गौ का घी, सूअर की चर्बी, कुलिङ्ग (चटक) की चर्बी, सांठी के चावलों का आटा, गेहूं का आटा; इन्हें एकत्र करके यथा-विधि पूपलिकायें, शष्कुली, वर्तिका, पूप, धाना तथा अन्य नानाप्रकार के भक्ष्यपदार्थ बनाये और उनका प्रयोग करे। इनके प्रयाग से वीर्य से पूर्ण होकर और पूर्ण ब्रजहर्ष के साथ वह पुरुष घोड़े की तरह यथेच्छ मैथुन कर सकता है। चक्रपाणि कहता है कि यद्यपि चटक आदि के शुक्र को एकत्रित करने को आचार्य ने कहा है परन्तु उनका संग्रह अशक्य है, अतः उनके स्थल पर उन २ के अण्डे भी प्रयोग में आते हैं। यथायोग्य परिमाण में आटे और अण्डों के रस मिलाकर चर्बी और घी में पूपलिका आदि यथाविधि तलें वा सिद्ध करें ॥ ९-१२ ॥

अपत्यकरः स्वरसः ।

आत्मगुप्ताफलं माषान् खर्जूराणि शतावरीम् ।
शृङ्गाटकानि मृद्वीकां साधयेत्प्रसृतोन्मिताम् ॥ १३ ॥
क्षीरप्रस्थं जलप्रस्थमेतत्प्रस्थावशेषितम् ।
शुद्धेन वाससा पूतं योजयेत्प्रसृतैस्त्रिभिः ॥ १४ ॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः सर्पिषोऽभिनवस्य च ।
तत्पाययेत सक्षौद्रं षष्टिकान्नं च भोजयेत् ॥ १५ ॥
जरापरीतोऽप्यबलो योगेनानेन विन्दति ।
नरोऽपत्यं सुविपुलं युवेव च स हृष्यति ॥ १६ ॥

इत्यपत्यकरः स्वरसः ।

अपत्यकरस्वरस—कौंच बीज, उड़द, खजूर, शतावर, सिंघाड़े, मुनक्का वा किशमिश; प्रत्येक १ प्रसृत (२ पल), दूध २ प्रस्थ (३२ पल), जल २ प्रस्थ डालकर मन्द मन्द आंच पर पकावें। जब २ प्रस्थ रह जाय अर्थात् जल उड़ जाय और दूध रहजाय तब उसे स्वच्छ वस्त्र से

छान लें। अब खांड वंशलोचन और ताज़ा घी प्रत्येक ३ प्रसृत (६ पल) परिमाण में मिलायें। पश्चात् मधु मिलाकर इस दूध को पिलावें। और भोजन में सांठी के भात का प्रयोग करावें। इस योग से बुढ़ापे से आक्रान्त निर्बल पुरुष भी बहुत सन्तानों को प्राप्त होता है और वह जवान के तुल्य ध्वजहर्ष युक्त होता है॥ १३–१६ ॥

वृष्यक्षीरम्।

खर्जूरीमस्तकं माषान् पयस्यां सशतावरीम्।
खर्जूराणि मधूकानि मृद्वीकामजडाफलम्॥ १७॥
पलोन्मितानि मतिमान् साधयेत्सलिलाढके।
तेन पादावशेषेण क्षीरप्रस्थं विपाचयेत्॥ १८॥
क्षीरशेषेण तेनाद्याद्घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
सशर्करेण संयोग एष वृष्यः परं स्मृतः॥ १६॥

इति वृष्यक्षीरम्।

वृष्यक्षीर—खजूर वृक्ष का मस्तक, उड़द, पयस्या (क्षीरकाकोली), शतावर, पिण्डखजूर, महुआ, मृद्वीका (मुनक्का), कौंच बीज; प्रत्येक १ पल लेकर २ आढक (१२८ पल) जल में पकावे। जब चतुर्थांश (३२ पल) रहजाय तब उतार कर छान ले। इस क्वाथ को २ प्रस्थ (३२ पल) गौ के दूध में मिलाकर मन्द २ आंच से पकावे। जब दूध ही (२ प्रस्थ) बच जाय तो उसे उतार ले। इस दूध में खांड डालकर प्रभूत घृतयुक्त सांठी के भात के साथ सेवन करे। यह प्रयोग अत्यन्त वृष्य है॥ १७–१६ ॥

वृष्यघृतम्।

जीवकर्षभकौ मेदां जीवन्तीं श्रावणीद्वयम्।
खर्जूरं मधुकं द्राक्षां पिप्पलीं विश्वभेषजम्॥ २०॥
शृङ्गाटकं विदारीं च नवं सर्पिः पयो जलम्।
सिद्धं घृतावशेषं तच्छर्कराक्षौद्रपादिकम्॥ २१॥
षष्टिकान्नेन संयुक्तमुपयोज्यं यथाबलम्।

वृष्यं बल्यं च वर्ण्यं च कण्ठ्यं बृंहणमुत्तमम् ॥ २२ ॥

इति वृष्यघृतम् ।

वृष्यघृत—कल्कार्थ—जीवक, ऋषभक, मेदा, जीवन्ती, दोनों प्रकार की श्रावणी (दिव्य ओषधियों में कही गई अथवा मुण्डी), खजूर, मुलहठी, द्राक्षा (मुनक्का), पिप्पली, सोंठ, सिङ्घाड़ा, विदारीकन्द; सब मिलाकर ८ पल । ताजा घी २ प्रस्थ (३२ पल) । दूध २ प्रस्थ (३२ पल) । जल ६ प्रस्थ । यथाविधि घृत सिद्ध करें । पश्चात् छान लें और इस घी में खांड ४ पल मधु ४ पल मिलावें । इसे सांठी के भात के साथ मिलाकर बल के अनुसार खाना चाहिये । यह वृष्य, बल्य, वर्ण को निर्मल करने वाला, कण्ठ के लिये हितकर तथा उत्तम बृंहण है । यहां पर दूध की मात्रा—

'...द्रवान्तरानुक्तौ क्षीरमेव चतुर्गुणम् ।

द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार निश्चित की गई है । यहां पर द्वितीय द्रव जल पढ़ा गया है अतः दूध घी के समान परिमाण में लेना चाहिये ॥ २०–२२ ॥

दधिसरप्रयोगः ।

दध्नः सरं शरच्चन्द्रसंनिभं दोषवर्जितम् ।
शर्कराक्षौद्रमरिचैस्तुगाक्षीर्या च बुद्धिमान् ॥ २३ ॥
युक्त्या युक्तं ससूक्ष्मैलं नवे कुम्भे शुचौ पटे ।
मार्जितं प्रक्षिपेच्छीते घृताढ्ये षष्टिकौदने ॥ २४ ॥
पिबेन्मात्रां रसालायास्तं भुक्त्वा षष्टिकौदनम् ।
वर्णस्वरबलोपेतः पुमांस्तेन वृषायते ॥ २५ ॥

इति वृष्यो[1] दधिसरप्रयोगः ।

दधिसरप्रयोग—शरद् के चन्द्रमा के सदृश निर्मल दोषरहित

1 'वृष्यदध्यादि' ग. ।

दहीकी मलाई में खांड,शहद,कालीमिर्च,तबाशीर(वंशलोचन),छोटी इलायची; इन्हें युक्तिपूर्वक बुद्धिमान् वैद्य नवीन मृत्पात्र में मिलावे । कालीमिर्च आदि का चूर्ण वस्त्र से छाना हुआ होना चाहिये । जब अच्छी प्रकार मिश्रित हो जांय तो स्वच्छ पतले वस्त्र पर डालकर हाथों से धीमे २ मलें । वह उस में से छनकर नीचे रखे पात्र में आजायगी । इसे शीतल एवं प्रभूत घृत युक्त सांठी के भात पर डालकर खावे । इसे खाने के पश्चात् मात्रा में रसाला (श्रीखण्ड) पीवे । इस प्रयोग से पुरुष वर्ण स्वर तथा बल से युक्त होता है । यह अत्यन्त वृष्य है। दही में खांड मिला वस्त्र से छानकर उसमें चतुर्जात कपूर आदि यथायोग्य मात्रा में डाल कर आलोडन करने से रसाला बनती है । अन्यत्र रसाला बनाने का एक विधान भी दिया गया है। यथा—

'अर्द्धाढकं सुचिरपर्युषितस्य दध्नः
खण्डस्य षोडशपलानि शशिप्रभस्य ।
सर्पिः पलं मधुपलं मरिचार्द्धकर्षं
शुण्ठ्यास्तदर्धपलमर्धपलं चतुर्णाम् ॥

शुक्ले पटे ललनया मृदुपाणिघृष्टा
कर्पूरगन्धसुरभिर्नवभाण्डसंस्था ।
एषा वृकोदरकृता सुरसा रसाला ।
यास्वादिता भगवता मधुसूदनेन ॥'

अर्थात् देर की वासी खट्टी दही ४ प्रस्थ, विशुद्ध खांड १६ पल (१ प्रस्थ), घी १ पल, शहद १ पल, कालीमिर्च आधा पल, सोंठ आधा पल, चतुर्जात मिलाकर आधा पल । इस परिमाण में मिश्रित कर वस्त्र से छान लें। और कर्पूर से सुगन्धित कर लें। यदि काली मिर्च आदि के चूर्ण वस्त्र से छाने हुए हों तो रसाला को वस्त्र में से मल मल कर निकालने से पूर्व मिला सकते हैं । इच्छा हो तो दही खांड घी और शहद मिलाकर वस्त्र में से मल मलकर निकालने के

पश्चात् कालीमिर्च आदि के चूर्ण मिलावें । कई इस रसाला के योग में दही को द्विगुण परिमाण में नहीं लेते अर्थात् २ प्रस्थ ही लेते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में दधिसर का प्रयोग है—

दध्नः सरेण सघृतो भक्षितः षष्टिकौदनः ।
सैलातुगोषणक्षौद्रः शर्कराढ्येन शुक्रकृत् ॥

इसमें सांठी के भात में इलायची वंशलोचन कालीमिर्च और मधु का डालना लिखा है । अथवा यहां 'सैलातुगोषणक्षौद्रशर्कराढ्येन' ऐसा पाठ होगा । तब दही की मलाई में ये मिलाये जांयगे ॥२३-२५॥

षष्टिकौदनप्रयोगः ।

चन्द्रांशुकल्पं पयसा घृताढ्यं षष्टिकौदनम् ।
शर्करामधुसंयुक्तं प्रयुञ्जानो वृषायते ॥ २६ ॥

इति वृष्यषष्टिकौदनप्रयोगः ।

षष्टिकौदनप्रयोग—प्रभूत घृत युक्त और चन्द्रकिरणों के सदृश निर्मल श्वेत सांठी के ओदन में खांड तथा मधु मिलाकर दूध के साथ प्रयोग करने से अत्यधिक वृषता होती है ॥ २६ ॥

तप्ते सर्पिषि नक्राण्डं ताम्रचूडाण्डमिश्रितम् ।
युक्तं षष्टिकचूर्णेन सर्पिषाऽभिनवेन च ॥ २७ ॥
पक्त्वा पूपालिकाः खादेद्वारुणीमण्डपो नरः ।
य इच्छेदश्ववद्गन्तुं प्रसेक्तुं गजवच्च यः ॥ २८ ॥

इति वृष्यपूपालिकाः ।

जो अपने में घोड़े की तरह अत्यधिक रमणशक्ति और हाथी की तरह अत्यधिक शुक्र चाहता है उसे चाहिये कि वह नक्र का अण्डा, कुक्कुट का अण्डा, सांठी चावलों का आटा; तथा ताज़ा घी; इन्हें समुचित परिमाण में मिश्रित कर तपे हुए घी में पूपलिकायें तल लें और उसका सेवन करे । इनके आहार के पश्चात् वारुणी का मण्ड (उपरितन स्वच्छभाग) पीवे ॥ २७-२८ ॥

भवन्ति[1] चात्र ।

आसिक्तक्षीरिके पादे ये योगाः परिकीर्तिताः ।
अष्टावपत्यकामैस्ते प्रयोज्याः पौरुषार्थिभिः ॥ २९ ॥

उपसंहार—इस आसक्तक्षीरीय पाद में जो आठ योग कहे हैं, वे सन्तान के इच्छुक तथा पौरुष (पुंस्त्वशक्ति) की कामना करने वालों को सेवन करने चाहियें ॥ २९ ॥

एतैः प्रयोगैर्विविधैर्वपुष्मान् स्नेहोपपन्नो बलवर्णयुक्तः ।
हर्षान्वितो वाजिवदष्टवर्षो[2] भवेत्समर्थश्च वराङ्गनासु ॥ ३० ॥

इन विविध प्रकार के योगों के प्रयोग से पुरुष डीलडौल युक्त शरीर वाला स्निग्ध बल वर्ण युक्त होता है। अश्व के सदृश हर्ष से युक्त तथा अति वीर्य सम्पन्न होकर वह पुरुष वराङ्गनाओं (श्रेष्ठ स्त्रियों) में समर्थ रहता है ॥ ३० ॥

यद्यच्च किंचिन्मनसः प्रियं स्याद्रम्या वनान्ताः पुलिनानि शैलाः।
इष्टाः स्त्रियो भूषणगन्धमाल्यं प्रिया वयस्याश्च तदत्र योग्यम् ३१

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने आसिक्त-
क्षीरीयो नाम वाजीकरणपादो द्वितीयः ।

जो जो भी कुछ मन को प्रिय हो, रम्य वन, रम्य नदियों के तट, रम्य पर्वत तथा इष्ट स्त्रियां, भूषण, सुगन्ध, मालायें एवं प्रिय मित्र; ये सब वाजीकरण में सहायक हैं ॥ ३१ ॥

इति वाजीकरणपादो द्वितीयः ।

अथातो माषपर्णभृतीयं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम माषपर्णभृतीय वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

---

१ 'भवतश्चात्र' ग. । २ 'वाजिवदष्टवृषं' ग. ।

वृष्यगव्यदुग्धम् ।

माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम् ।
समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान् ॥ २ ॥
रोहिणीमथवा कृष्णामूर्ध्वशृङ्गीमदारुणाम् ।
इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत् ॥ ३ ॥
केवलं तु पयस्तस्याः शृतं वाऽशृतमेव वा ।
शर्कराक्षौद्रसर्पिर्भिर्युक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ॥ ४ ॥

इति वृष्यकेवलक्षीरप्रयोगः ।

जो उड़द के पत्तों पर पली हो, जिसे प्रथम वार ही प्रसव हुआ हो, पुष्ट हो, चार थन हों, जिसका बछड़ा सदृश ही वर्ण का हो और जीवित हो, लाल अथवा काले वर्ण की हो, सींग ऊंचे उठे हुए हों, दारुण न हो—नम्र हो—मारती न हो, ईख वा अर्जुन वृक्ष के पत्ते खाती हो, जिसका दूध गाढ़ा हो ऐसी गौ को बुद्धिमान् रखे। उसका दूध अकेला ही चाहे वह उबाला गया हो वा कच्चा ही हो अथवा खांड, मधु और घी मिलाकर पीने से उत्तम वृष्य है । अर्थात् इस दूध में अन्य शतावर विदारी आदि वीर्यवर्धक द्रव्य मिलाने की आवश्यकता ही नहीं । यह स्वयं ही वीर्यवर्धक होता है । अष्टाङ्ग-संग्रह में भी—

गृष्टिर्बष्कयणी[1] नीरुगूर्ध्वशृङ्गी चतुःस्तनी ।
सान्द्रस्वादुबहुक्षीरा रूपशीलसमन्विता ॥
इक्षुभिर्माषपर्णेन या सुपुष्टार्जुनेन वा ।
तत्क्षीरं ससिताक्षौद्रघृतं पुंस्त्वं रतिप्रदम् ॥

ये तीन प्रयोग हैं । १ शृत (उबाला हुआ) २ जो उबाला न गया हो और ३—जिसमें खांड आदि मिलाये गये हों । तथा

---

१ वष्कयणीति अनवप्रसूता । जिस गौ का प्रसव थोड़े दिनों का न हो उस गौ को संस्कृत में बष्कयणी कहते हैं । पञ्जाबी में उसे खांगड कहा जाता है । इसका दूध गाढ़ा होता है ॥

च गौ के आहार में भी तीन विकल्प कहे हैं–ऐसा कई टीकाकारों का अभिप्राय है। अर्थात् या तो गौ माष के पत्ते ही खाती हो, या ईख ही या अर्जुन वृक्ष के पत्ते ही अतः दूध भी तीन प्रकार के होंगे ॥२–४॥

वृष्यक्षीरप्रयोगः।

शुक्रलैर्जीवनीयैश्च बृंहणैर्बलवर्धनैः।
क्षीरसंजननैश्चैव पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥
युक्तं गोधूमचूर्णेन सघृतक्षौद्रशर्करम्।
पर्यायेण प्रयोक्तव्यमिच्छता शुक्रमक्षयम् ॥ ६ ॥

इति वृष्यक्षीरप्रयोगः।

वृष्य क्षीरप्रयोग—शुक्रसञ्जनन, जीवनीय, बृंहणीय, बल्य, स्तन्यसञ्जनन; इन पांच गणों से यथाविधि पृथक् पृथक् दूध को सिद्ध करें। तदनन्तर उनमें पृथक् पृथक् यथायोग्य मात्रा में गेहूं का आटा और घी मिलाकर पकावें। जब गाढ़े हो जांय तब खांड और ठण्डा होने पर मधु मिलाकर क्रम से प्रयोग में लाने चाहियें। इससे अक्षय वीर्य मिलता है। अथवा हलवे की तरह पका सकते हैं। घी में गेहूं के आटे को भून लें। जब आटा ठीक भुन जाय तब उस सिद्ध दूध और खांड को उसी में डाल दें और कड़छी से हिलाते हुए उसे गाढ़ा कर लें। ठण्डा होने पर मधु मिलावें। ये पांच योग हैं। इन्हें क्रमशः प्रयोग करे। प्रथम दिन शुक्रजनन गण से सिद्ध, द्वितीय दिन जीवनीय गण से सिद्ध, तृतीय दिन बृंहणीय गण से साधित, चौथे दिन बल्य गण से साधित और पांचवें दिन स्तन्यजनन गण से सिद्ध दूध का प्रयोग किया जाता है। पुनः छठे दिन से यही क्रम दोहराया जायगा। इसीप्रकार यह क्रम अभीष्ट काल तक जारी रखना चाहिये। ये गण सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय में कहे जा चुके है। १०६ पृष्ठ पर जीवनीय और बृंहणीय गण, १११ पृष्ठ पर बल्यगण, ११४ पृष्ठ पर स्तन्यजनन और शुक्रजनन गण कहे

हैं । उन्हें वहीं देख लें । वृद्धवाग्भट ने इसमें एक परिवर्तन करके शेष योग वैसा ही रखा है । वह स्तन्यजनन के स्थल पर वयःस्थापन गण पढ़ता है । यथा—

शुक्लैर्जीवनीयाख्यैर्बृंहणैर्बलवर्द्धनैः ।
वयसः स्थापनैश्चैतत् पयः सिद्धं पृथक् पृथक् ॥ इत्यादि ।
उ० अ० ५० ।

वयःस्थापन गण १२३ पृष्ठ पर कहा है । परन्तु यह गण रसायनोक्त फल देने वाला है । स्तन्यजनन गण का प्रयोजन यद्यपि मुख्यतया स्त्री के स्तनों में दूध प्रकट करना है परन्तु साथ ही साथ वे सब ओष-धियां पुरुष के वीर्य को भी उत्पन्न करती हैं । स्त्री की अन्य जननेन्द्रियों पर भी उनका प्रभाव होता है । क्षीरपाक का विधान ये है—

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥'

द्रव्य से आठगुना दूध और दूध से चौगुना पानी डालकर पकावें । जब दूध अवशिष्ट रहे । तब उतारकर छान ले । यह क्षीर-पाक विधि है । इसी परिभाषा के अनुसार पृथक् २ उपर्युक्त गणों से पृथक् २ दूध को सिद्ध करना चाहिये ॥५—६॥

अपत्यकरक्षीरयोगः ।

मेदां पयस्यां जीवन्तीं विदारीं कण्टकारिकाम् ।
श्वदंष्ट्रां क्षीरिकां माषान् गोधूमान् शालिषष्टिकान् ॥७॥
पयस्यर्धोदके पक्त्वा कार्षिकानाढकोन्मिते ।
विवर्जयेत्पयःशेषं तत्पूतं क्षौद्रसर्पिषा ॥ ८ ॥
युक्तं सशर्करं पीत्वा वृद्धः साप्ततिकोऽपि वा ।
विपुलं लभतेऽपत्यं युवेव च स हृष्यति ॥ ६ ॥

इत्यपत्यकरक्षीरयोगः ।

अपत्यकर क्षीरयोग—मेदा, पयस्या (क्षीरकाकोली), जीवन्ती, बिदारीकन्द, कण्टकारी (छोटी कटेरी) गोखरू, क्षीरिका (दूधी अथवा खिरनी फल), उड़द, गेहूं, शालि चावल, सांठी चावल; प्रत्येक १ कर्ष । इन्हें अर्धजल मिश्रित दूध २ आढक (१२८ पल) में पकावे । जब जल उड़कर दूध शेष रहजाय तब उतार लें और छान लें । नीरस औषधियों को फैंक दें । दूध में खांड घी और ठण्डा होने पर मधु मिलावें । इसके पान से सत्तर बरस के बूढ़े की भी बहुत सी सन्तान होती है । और वह युवा पुरुष के सदृश पुंस्त्व शक्ति सम्पन्न होता है ॥ ७-९ ॥

अपत्यजननक्षीरयोगः ।

मण्डलैर्जातरूपस्य तस्या एव पयः शृतम् ।
अपत्यजननं सिद्धं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ १० ॥

इत्यपत्यजननक्षीरयोगः ।

अपत्यजनन क्षीरयोग—पूर्वोक्त लक्षणों वाली गौ के दूध में सुवर्ण के वर्क डालकर काढ़ें । जब कढ़ जाय तो घी खांड और शहद मिलावें । यह सन्तानोत्पादक है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में तो—

'मण्डलैर्जातरूपस्य सुतप्तैस्तत्पयः शृतम् ।
सिद्धं पुंसवनं वृष्यं ससिताघृतमाक्षिकम् ॥
रूप्यायस्ताम्रसीसानामयमेव पृथग्विधिः ॥'

यह पाठ है । इसके अनुसार तिल के समान मोटे सुवर्ण के पत्रों को निर्धूम अङ्गारों पर लाल करके दूध में बुझावें । इसप्रकार करते करते जब दूध कथित हो जाय तो उसमें खांड घी और मधु मिलाकर पीना चाहिये ।

यदि पूर्व विधान के अनुसार बनाना हो तो थोड़ी सी खांड के साथ वर्कों को अच्छी तरह पीसे । जब सुवर्ण की चमक न दिखाई दे तब उसे दूध में डालकर काढ़े ॥ १० ॥

वृष्यक्षीरयोगः ।

त्रिंशत्सुपिष्टाः पिप्पल्यः प्रकुञ्चे तैलसर्पिषोः ।
भृष्टा सशर्कराक्षौद्राः क्षीरधारावदोहिताः ॥ ११ ॥
पीत्वा यथाबलं चोर्ध्वं षष्टिकं क्षीरसर्पिषा ।
भुक्त्वा न रात्रिमस्तब्धं लिङ्गं पश्यति ना क्षरत् ॥ १२ ॥

इति वृष्यक्षीरयोगः ।

वृष्यक्षीरयोग—३० पिप्पलियों को तिलतैल और गव्यघृत मिलाकर १ प्रकुञ्च (पल) में भून लें। पश्चात् अच्छीप्रकार पीसकर खांड और मधु मिला दोहनपात्र में डाल दें। और गौ का दूध दुहें। बलानुसार उस दूध को पीकर दूध और घी से अथवा दूध से निकाले घी से सांठी का भात खाये। इसके सेवन से रात्रि में मैथुन के समय पुरुष की इन्द्रिय शिथिल नहीं होती और वीर्य का शीघ्र क्षरण नहीं होता ॥११-१२॥

वृष्यपायसः ।

श्वदंष्ट्राया विदार्याश्च रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
घृताढ्यः साधितो वृष्यो माषषष्टिकपायसः ॥ १३ ॥

इति वृष्यपायसप्रयोगः ।

गौ के दूध से चौगुना गोखरू का क्वाथ और उतना ही विदारीकन्द का रस डाल कर यथाविधि पाक करें। जब दूध मात्र अवशिष्ट रह जाय तब उसमें सोलहवां भाग उड़द और सांठी के चावल (मिलाकर) डालें। और कुछ घी भी डालें। जब दूध आधा रह जाय और उड़द और चावल अच्छीप्रकार पक जांय तब उतार लें। यह पायस (खीर) वृष्य है।

अथवा चावल और उड़द को पहिले जल में भिगों रक्खें। पश्चात् घी डालकर उन्हें भून लें। जब भुन जांय तब वह साधित दूध डालकर खीर पका लें। इसे मधुर करने के लिये खांड और मधु मिला सकते हैं।

गङ्गाधर के अर्थ के अनुसार इस पायस का यह विधान है—उड़द और सांठी चावल (मिलाकर) जितने परिमाण में लें उसके समान ही पृथक् पृथक् गोखरू क्वाथ और विदारीकन्द का रस लें । और रस से चौगुना दूध डालकर खीर बनावें । इस खीर में प्रचुर परिमाण में घी मिलाकर प्रयोग करें ॥ १३ ॥

वृष्यपूपलिकाः ।

फलानां जीवनीयानां स्निग्धानां रुचिकारिणाम् ।
कुडवश्चूर्णितानां स्यात्स्वयंगुप्ताफलस्य च ॥ १४ ॥
कुडवश्चैव माषाणां द्वौ द्वौ च तिलमुद्गयोः ।
गोधूमशालिचूर्णानां कुडवः कुडवो भवेत् ॥ १५ ॥
सर्पिषः कुडवश्चैकस्तत्सर्वं क्षीरसंयुतम् ।
पक्त्वा पूपलिकाः खादेद्बह्व्यः स्युर्यस्य योषितः ॥ १६ ॥

इति वृष्यपूपलिकाः ।

जीवनदाता स्निग्ध तथा रुचिकारक फलों के चूर्ण १ कुडव (४ पल), कौंचबीज १ कुडव, उड़द १ कुडव (४ पल), तिल २ कुडव (८ पल) और मूंग २ कुडव, गेहूं का आटा १ कुडव और शालि चावलों का आटा १ कुडव, घी १ कुडव; इन्हें एकत्र मिलाकर दूध से गूंधकर घी में पूपलिकायें तल लें । जिसकी बहुत स्त्रियां हों उसे खानी चाहियें । द्राक्षा (मुनक्का) खजूर तथा बादाम नारियल पिस्ता आदि जीवनीय स्निग्ध एवं रुचिकर हैं । जतूकर्ण ने भी कहा है—

' द्राक्षाखर्जूरमाषाजडागोधूमशालिघृतानां कुडवः, तिलमुद्गौ द्विकौडविकौ चूर्णयित्वा ' इत्यादि ।

चक्रपाणि तथा गंगाधर ने जीवनीय स्नेहोपग तथा हृद्य गणों के फलों का ग्रहण किया है । परन्तु यह अनुचित है । जीवनीयगण में कोई फल नहीं है । स्नेहोपयोग में मृद्वीका को छोड़कर और कोई फल नहीं । केवल हृद्यगण में फल हैं परन्तु वे खट्टे होने से वाजी-

करण में बहुत अधिक लाभ नहीं कर सकते। पका हुआ मीठा आम और मीठा अनार लाभ कर सकते हैं । अतएव अष्टाङ्गसंग्रहकार ने इस सन्देह को दूर करने के लिये जीवनीय शब्द ही नहीं पढ़ा और स्पष्ट कहा है—

'सुखप्रियाणां स्निग्धानां फलानां मधुरात्मनाम् ।
फलानामात्मगुप्तायाः शालेर्माषात्तिलाद् घृतात् ॥
मुद्गात् गोधूमतश्चापि कुडवं कुडवं पृथक् ।
चूर्णितैर्निस्तुषैस्तैस्तु क्षीरेणालोड्य मर्दितैः ॥'
पक्वां पूपलिकां खादन् स्त्रीषु हृष्यति वाजिवत् ॥ उ० अ० ५० ॥

इस योग में केवल तिल और मूंग के मान में भेद है। यहां पर एक एक कुडव परिमाण दिया है और प्रकृत ग्रन्थ में दो दो कुडव हैं।

शतावरीघृतम् ।

**घृतं शतावरीगर्भं क्षीरे दशगुणे पचेत् ।
शर्करापिप्पलीक्षौद्रयुक्तं तद्वृष्यमुत्तमम् ॥ १७ ॥**

इति वृष्यं शतावरीघृतम् ।

शतावरीघृत-घी २ प्रस्थ (३२ पल)। दूध २० प्रस्थ। कल्कार्थ-शतावर ८ पल । यथाविधि सिद्ध करें । इसे खांड पिप्पलीचूर्ण और मधु मिलाकर सेवन करें। यह अत्यन्त वृष्य है। अष्टाङ्गसंग्रह में—

'शतावरीकल्करसे पयो दशगुणं घृतम् ।
शृतं सपिप्पलीक्षौद्रशर्करं वृष्यमुत्तमम् ॥' उ० अ० ५०

यह पढ़ा है। इसके अनुसार शतावर का रस भी डालना चाहिये॥१७

मधुकयोगः ।

**कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमांशिकम् ।
प्रयुङ्क्ते यः पयश्चानु नित्यवेगः स ना भवेत् ॥ १८ ॥**

इति वृष्यमधुकयोगः ।

मुलहठी के १ कर्ष चूर्ण में घी १ कर्ष और मधु १ कर्ष मिला-

कर दूध के अनुपान से जो प्रयोग करता है वह पुरुष नित्य वेगयुक्त रहता है। आजकल मुलहठी की निर्धारित मात्रा—३ मासा पर्यन्त है १८

घृतक्षीराशनो निर्भीर्निर्व्याधिर्नित्यगो[1] युवा ।
सङ्कल्पप्रवणो नित्यं नरः स्त्रीषु वृषायते ॥ १९ ॥

वाजीकरभाव—जो घी और दूध का प्रतिदिन प्रयोग करता है, भयरहित, व्याधिरहित, नित्य सैर करने वाला, सङ्कल्प की ओर झुका हुआ अर्थात् रमण की इच्छा वाला जवान पुरुष नित्य मैथुन करने में समर्थ होता है ॥ १९ ॥

कृतैककृत्याः सिद्धार्था ये चान्योन्यानुवर्तिनः ।
कलासु[2] कुशलास्तुल्याः सत्त्वेन वयसा च ये ॥ २० ॥
कुलमाहात्म्यदाक्षिण्यशीलशौचसमन्विताः ।
ये कामनित्या ये हृष्टा ये विशोका गतव्यथाः ॥ २१ ॥
ये तुल्यशीला ये भक्ता ये प्रिया ये प्रियंवदाः ।
तैर्नरः सह विश्रब्धः सुवयस्यैर्वृषायते ॥ २२ ॥

एक ही कर्म करने वाले, जिनके प्रयोजन एक दूसरे से सिद्ध होते हैं, जो परस्पर एक दूसरे के अनुसार कार्य करते हैं, गीत वादित्र आदि कलाओं में कुशल, मन और उम्र जिनकी तुल्य हो, उच्च कुलोत्पन्न, दाक्षिण्य से युक्त (एक दूसरे के लिये धन आदि के व्यय में उदार), शील और पवित्रता से युक्त, जो नित्य कामुक हैं, जो नित्य प्रसन्न रहते हैं, जो शोक रहित हैं, जिन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं, जिनका स्वभाव तुल्य है, जो परस्पर भक्त हैं—एक दूसरे के इच्छुक हैं, जो प्यारे हैं और जो मधुरभाषी हैं—ऐसे विश्वासपात्र मित्रों के साथ रहते हुए पुरुष वीर्य एवं पुंस्त्व से सम्पन्न होता है ॥ २०–२२ ॥

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः ।

---

१ 'नित्यग इत्यनेन व्यवायनित्यतया शुक्रमार्गानवरोधेन व्यवायशक्तिं दर्शयति ' चक्रः । २ 'कलाः सुवाद्यां ये' ग. ।

गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥ २३ ॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणां चाभरणस्वनैः ।
संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानां च वृषायते ॥ २४ ॥

अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, गन्ध, मालायें, भूषण, सुखजनक गृह, शय्या (पलङ्ग और बिछौना) और आसन (बैठने की चौकी आदि), प्रिय नवीन वस्त्र, पक्षियों के मनोहर कलरव, स्त्रियों के भूषण के शब्द (उनके चलने फिरने वा हाथ आदि के हिलाने से जो आभूषणों के शब्द होते हैं) एवं प्रिय सुन्दरी स्त्रियों द्वारा संवाहन (गात्र मर्दन–मुट्ठीचापी करना) द्वारा पुरुष में वृषता उत्पन्न होती है २३–२४

मत्तद्विरेफाचरिताः सपद्माः सलिलाशयाः ।
जात्युत्पलसुगन्धीनि शीतगर्भगृहाणि च ॥ २५ ॥
नद्यः फेनोत्तरीयाश्च गिरयो नीलसानवः ।
उन्नतिर्नीलमेघानां रम्यचन्द्रोदया निशाः ॥ २६ ॥
वायवः सुखसंस्पर्शाः कुमुदाकरगान्धिनः ।
रतिभोगक्षमा रात्र्यः संकोचागुरुवल्लभाः[1] ॥ २७ ॥
सुखाः सहायाः परपुष्टघुष्टाः फुल्ला वनान्ता विशदान्नपानाः ।
गान्धर्वशब्दाश्च सुगन्धयोगाः सत्त्वं विशालं निरुपद्रवं च । २८
सिद्धार्थता चाभिनवश्च कामः स्त्री चायुधं सर्वमिहात्मजस्य ।
वयो नवं जातमदश्च कालो हर्षस्य योनिः परमा नराणाम्॥२९॥

मत्त भ्रमरों द्वारा गुञ्जित कमलों से युक्त जलाशय, जाती (चमेली) और कमल की सुगन्ध से सुगन्धित शीतलगृह और गर्भगृह अथवा शीतल गर्भगृह, वे नदियां जिनमें तरङ्गों के टकराने से अत्यन्त फेन (झाग) उठता हो, ऐसे पर्वत जिनकी चोटियां वृक्ष वनस्पति आदि से हरी भरी हों, नीलवर्ण के मेघों का आकाश में उठना,

---

१ सङ्कोचाः प्रविरलाः अगुरुवल्लभाः गुरवो मातापित्रादयो वल्लभा वयस्यास्तद्रहिताः इति वाभिप्रायः ।

सुन्दर चांदनी रातें, कुमुदों के समूह की भीनी गन्ध वाली स्पर्श में सुखकर वायुएं, रतिभोग के योग्य रात्रियें [मन्द मन्द वृष्टि के शब्द आदि द्वारा जो रतिभोग योग्य हों], संकोच [कुङ्कुम, केसर] और अगर के लेप से अतिशय प्रिय कामिनियां, सुखप्रद सहायक, ऐसे वन और बाग जिनमें कोयलें कुहू कुहू करती हों, विशद अन्नपान, गान्धर्वशब्द [गाना बजाना], सुगन्धियां, उदार और शोक लोभ आदि उपद्रव रहित मन, प्रयोजन की सिद्धि, नया २ काम अर्थात् नयी २ चाह और स्त्री; ये कामदेव के अस्त्र हैं। नयी उम्र अर्थात् जवानी भरी उम्र और वह काल जिसमें मस्ती भरी हो वसन्त आदि अथवा जिस काल में शरीर में मद उत्पन्न हो ये मनुष्यों के लिये हर्ष का प्रधान कारण है। अर्थात् इन भावों में काम अत्यन्त जागृत होता है। सुश्रुत में भी—

'भोजनानि विचित्राणि पानानि विविधानि च।
वाचः श्रोत्रानुगामिन्यस्त्वचः स्पर्शसुखास्तथा॥
यामिनी सेन्दुतिलका कामिनी नवयौवना।
गीतं श्रोत्र मनोहारि ताम्बूलं मदिराः स्रजः॥
मनसश्चाप्रतीघातो वाजीकुर्वन्ति मानवम्॥ चि० अ० २६॥

यद्यपि प्रकृत ग्रन्थ में ऋतुओं का नाम नहीं लिया परन्तु जो २ भाव जिन २ ऋतुओं में कामोत्पादक हैं वह २ क्रमशः कहे हैं। ग्रीष्म ऋतु के 'मत्तद्विरेफाचरिताः' से शीतगर्भगृहाणिच' तक। वर्षा वा प्रावृट् के 'नद्यः' से 'उन्नतिनीलमेघानां' तक। शरद् के 'रम्यचन्द्रोदयाः' से 'कुमुदाकरगन्धिनः' तक। 'रतिभोगक्षमाः संकोचागुरुवल्लभाः' हेमन्तशिशिर के। और आगे वसन्त काल के कामोत्पादकभाव कहे हैं। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ५० में—

'अभ्यञ्जनोद्वर्तनसेकगन्धस्रक्चित्रवस्त्राभरणप्रकाराः।
सुगन्धिपुष्पोत्कररेणुकीर्णा मृदुर्मनोज्ञा विपुला च शय्या॥
प्राज्ञाः कलाज्ञा वशगा विनीता प्रियंवदाः प्रीतिकराः वयस्याः।

विस्रम्भसत्त्वप्रकृतिक्रियैक्याच्छरीरमात्रेण पृथक्त्वभूताः ॥
कान्ता वनान्ताः परपुष्टघुष्टा रम्याः स्रवन्त्यः सततं स्रवन्त्यः ।
मद्यं मदामोदकरं विशेषाद्धृद्या प्रसन्ना सुरभिः प्रसन्ना ॥
शकाङ्गनागण्डतलाभिपाण्डु ताम्बूलपत्रं परिवारशोभि ।
प्रसाधनं स्त्रीमुखपङ्कजानां यदायुधं मूर्तमिवात्मजस्य ॥
हिमाचलोद्धूनितदुग्धसिन्धुसमुद्भवत्फेनचयावदातम् ।
सौधं, सुधाशुभ्रतराः कराश्च चन्द्रस्य कुर्वन्ति परं वृषत्वम् ॥
बन्धेन पूर्वोपहितेन पुंसः खिन्नस्य वृत्तिः करणान्तरेण ।
संवाहनं स्पर्शसुखैः करैश्च करोत्यपूर्वामिव मन्मथेच्छाम् ॥
प्रायोगिकाधिकरणोदितचित्रचेष्टासंशीलनोद्भवदनल्परसार्द्रचित्तः ।
वृष्योपयोगपरिबृंहितदेहधातुर्नारीमनांसि वशमानयति प्रसह्य ।
तस्मान्नित्यं स्त्रीषु वाञ्छन् प्रियत्वं वृष्यैर्योगैर्जातकामोऽपि कामी ।
सत्त्वं सात्म्यं देशकालौ च बुद्ध्वा चातुःषष्टे चेष्टिते व्याप्रियेत ॥
वलयस्वनसंकुलमुष्टिरवद्विगुणीकृतमेखलिकानिनदः ।
चलनूपुरशब्दयुतोऽपि मुहुः शममावहते न रतातिशयः ॥
सर्वार्थसिद्धिः प्रथमोऽनुरागः शृङ्गारगान्धर्वकथाविशेषाः ।
सीत्कारगर्भं हसितं सहावं छिन्नाक्षरं विभ्रमवच्च गीतम् ॥
सव्याजसन्दर्शितचारुगात्रं वृत्तं प्रियाणामवलोकितं च ।
चूताङ्कुरं पुष्पफलं यथर्तु विद्युत्वदुद्योतितगर्जितानि ॥
विहङ्गभृङ्गस्तनितानुयातं स्त्रीकूजितं भूषणशिञ्जितानि ।
काले यथास्वं वपुषश्च शुद्धिः संकल्पयोनेर्धुरमुद्वहन्ति ॥२५-२९॥

तत्र श्लोकः ।

प्रहर्षयोनयो योगा व्याख्याता दश पञ्च च ।
माषपर्णभृतीयेऽस्मिन् पादे शुक्रबलप्रदाः ॥ ३० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
माषपर्णभृतीयो नाम वाजीकरणपादस्तृतीयः ।

उपसंहार—इस माषपर्णभृतीय नामक वाजीकरणपाद में प्रहर्ष (ध्वजहर्ष) के कारण एवं वीर्य और बल को देने वाले पन्द्रह योग कहे हैं। वृष्यकेवलक्षीरप्रयोग में तीन प्रयोग, वृष्यक्षीर पांच प्रयोग, अपत्यकरक्षीरयोग, अपत्यजननक्षीरयोग, वृष्य पिप्पलीयोग, वृष्यपायस, पूपलिका, शतावरीघृत, मधुकयोग; ये मिलाकर पन्द्रह होते हैं ॥३०॥

इति वाजीकरणपादस्तृतीयः ।

अथातः पुमाञ्जातबलादिकं चतुर्थं वाजीकरणपादं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रयः ॥ १ ॥

अब हम पुमान् जातबलादिक नाम के चौथे वाजीकरणपाद की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

पुमान् यथा जातबलो यावदिच्छं[1] स्त्रियो व्रजेत् ।
यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते ॥ २ ॥

जिस प्रकार बलवान् पुरुष यथेष्ट स्त्रीगमन और जिसप्रकार शीघ्र ही सन्तान प्राप्त कर सकता है, वह अब उपदेश किया जायगा ॥ २ ॥

न हि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः ।
बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः ॥ ३ ॥
सन्ति चाल्पबलाः स्त्रीषु बलवन्तो बहुप्रजाः ।
प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः ॥ ४ ॥
नराश्चटकवत्केचिद्व्रजन्ति बहुशः स्त्रियम् ।
गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः ॥ ५ ॥
का[2]लयोगबलाः केचित्केचिदभ्यसनै[3]र्ध्रुवाः ।
केचित्प्रयत्नैर्वाह्यन्ते वृषाः केचित्स्वभावतः ॥ ६ ॥

१ 'यावदिच्छन्' ग । २ 'कामयोगबलाः' ग. । ३ केचिदभ्यशनध्रुवाः' पा०।

यह आवश्यक नहीं कि जितने बली पुरुष हैं उनकी सन्तान भी अवश्य हो । महाकाय और बली पुरुष भी स्त्रियों में दुर्बल देखे जाते हैं । अर्थात् शरीर के बली होने से ही वह पुरुष मैथुन में भी समर्थ है यह नहीं कहा जा सकता । ऐसे पुरुष भी संसार में बहुत से हैं जो निर्बल हैं परन्तु मैथुन में अच्छीप्रकार समर्थ हैं और उनकी बहुत सी सन्तानें हैं । कई पुरुष स्वभाव से ही दुर्बल होते हैं और कई रोगों के कारण दुर्बल हो जाते हैं । कई पुरुष चटक के समान बहुतवार स्त्रीभोग करते हैं । कई पुरुष मैथुन के समय हाथी के समान वीर्य का त्तरण करते हैं । कई पुरुष बहुशः स्त्रीगामी नहीं होते अर्थात् कम वार ही मैथुन कर सकते हैं । अथवा कई जो बहुधा स्त्रीगामी नहीं होते वे गजवत् बड़ी मात्रा में वीर्य का त्तरण करते हैं । कई विशेष २ कालों में मैथुनसमर्थ होते हैं । कई अभ्यास से (वारवार मैथुन करने से) मैथुन में समर्थ हो पाते हैं । कई अन्य प्रयत्नों (चुम्बन आलिङ्गन आदि द्वारा) से इसमें समर्थ होते हैं । कई पुरुष स्वभावतः ही वृष होते हैं अर्थात् वीर्य और पुंस्त्व शक्ति से सम्पन्न होते हैं ।

एक वार के त्तरण में वीर्य की क्या राशि होनी चाहिये यह निर्धारित करना अत्यन्त दुष्कर है । प्राचीन काल से लेकर आज तक इस विषय में कोई निश्चित सम्मति नहीं दे सका । लीगॉयस की सम्मति में यह राशि १से३(लगभग२४ रत्ती)ग्राम तक होती है । ऑस्टिन फ्लिण्ट की सम्मति में आधे से एक ड्राम (६०बूंद) तक । माण्टेगाज़ा के मत में ०.७५ से ६ घनसैण्टीमीटर तक । डुवल १ से ८ ग्राम तक मानता है। अल्ट्ज़ामन१०से१५ग्राम तक । ल्योपोल्ड कैस्पर ५ से २० ग्राम तक । इस प्रकार मतभेद कितना अधिक है यह स्पष्ट हो जाता है । वस्तुतःयह विभिन्नता अवस्थाओं के भेद से हो जाती है । कई पुरुष शुक्रसार होते हैं उनमें वीर्य की अधिकता होनी स्वाभाविक ही है । बहुधा यह देखने में भी आया है कि जब निरन्तर बहुशः मैथुन हो रहा हो तो शुक्र की मात्रा

जो बाहिर क्षरित होती है क्रमशः कम होती जाती है। यदि बहुत दिन के ब्रह्मचर्य के बाद मैथुन हो तो क्षरित वीर्य की मात्रा अपेक्षया अधिक होगी। वीर्य की न्यूनाधिकता में उत्तेजना की न्यूनाधिकता का भी प्रभाव होता है।

यह समझना कि प्रत्येक वीर्यवान् पुरुष मैथुन में समर्थ होगा ठीक नहीं। कई पुरुषों में परीक्षा करने पर वीर्य में कोई दोष नहीं होता पर वे मैथुन में समर्थ नहीं होते। यह भी कहना ठीक नहीं कि जो मैथुन में समर्थ है उसका वीर्य भी सर्वथा निर्दोष ही होगा। ऐसे पुरुष भी देखे गये हैं जो मैथुन में पूर्ण योग्य हैं और स्त्रीबीज के निर्दोष होने पर भी उनकी सन्तान नहीं। आर्थर कूपर ने The Sexual Disabilities of Man नामक पुस्तक की भूमिका में कहा है—

"........it has long been known that a man may be able to perform the sexual act to his own complete satisfaction, and yet be quite incapable of begetting children."

तथाच—

"A man of course may be both impotent and sterile, but it must not be forgotten that a sterile man is frequently potent and that a so-called impotent man is not always sterile; for there are degrees of impotence, some of which in favouring circumstances are compatible with the procreation of children."

प्रयत्न के अन्तर्गत आलिङ्गन चुम्बन दर्शन केलि गन्ध मानसिक विचार आदि का समावेश होता है। इन कारणों से उन पुरुषों का मस्तिष्कस्थित केन्द्र उत्तेजित हो जाता है। जिसके कारण प्रहर्ष होता है। इसीप्रकार मेरुदण्डस्थित केन्द्र भी मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) के अग्रभाग आदि के स्पर्श वा क्षोभ द्वारा उत्तेजित हो जाते हैं। आर्थर कूपर ने कहा है—

"Erection can be evoked by stimulation of the cerebral centre, either by impressions originating in the brain, sexual thoughts for example, or by

impressions conveyed through the senses, especially those of sight, touch, and smell. Erection may also be produced by spinal irritation either of the external genital organs, especially the glans penis, the urethra, or the prostate, and sometimes by flagellation applied to the buttocks, as well as by distension of the urinary bladder or seminal vesicles."

तस्मात्प्रयोगान्वक्ष्यामो दुर्बलानां बलप्रदान् ।
सुखोपभोगान् बलिनां भूयश्च बलवर्धनान् ॥ ॥ ७ ॥

अतएव दुर्बलों को बल देने वाले और बली पुरुषों के बल को और भी अधिक बढ़ाने वाले एवं साथ ही उपभोग में सुखकर वृष्य योगों को कहेंगे ॥ ७ ॥

पूर्वं शुद्धशरीराणां निरूहान् सानुवासनान् ।
बलापेक्षी[1] प्रयुञ्जीत शुक्रापत्यविवर्धनान् ॥ ८ ॥

सब से पूर्व बल के अनुसार वमन विरेचन आदि द्वारा शरीर का शोधन करके वीर्य और सन्तानवर्धक निरूह तथा अनुवासन बस्तियां देनी चाहियें ॥ ८ ॥

वृष्या बस्तयः ।

घृततैलरसक्षीरशर्करामधुसंयुताः ।
बस्तयः संविधातव्याः क्षीरमांसरसाशिनाम् ॥ ९ ॥

इति वृष्या बस्तयः ।

दूध और मांसरस का आहार करने वाले पुरुष को घी तैल मांसरस दूध खांड और मधु से युक्त बस्तियों का प्रयोग करना चाहिये । बस्तियां सिद्धिस्थान में दी गई हैं । दोष आदि के अनुसार विवेचना करके बस्ति की कल्पना कर प्रयोग करानी चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह में कहा है—

---

१ 'बलावेक्षी' ग. ।

' जीवनीयघृतक्षीरमधुतैलसितारसैः ।
रसक्षीराशिनः क्षिप्रं वृषं कुर्वन्ति बस्तयः ॥'
सिद्धबस्तिविकल्पोक्तान् बलशुक्रसुतप्रदान् ।
युञ्जीत बस्तीन् पुत्रार्थी पुत्रकामोदितं च यत् ॥'
हम उदाहरणार्थ सिद्धबस्तिकल्पोक्त एक बस्ति को उद्धृत करते हैं—
' बस्तसूकरजैर्मुष्कैः कुलीरचटकामिषैः ।
सिद्धं पयो बस्तशुक्रमुच्चटेक्षुरकं मधु ॥
तैर्घृताढ्योऽल्पलवणो बस्तिर्वृष्यतमः परम् ।
सिद्धेन पयसा भोज्यमात्मगुप्तोच्चटेक्षुरैः ॥
अतो दशदशाहेन यस्तु बस्तीन् निषेवते ।
वाजीव पुष्टः सुवृषो गच्छति प्रमदाशतम् ॥
एते माक्षिकसंयुक्ताः कुर्वन्त्यतिवृषं नरम् ॥' क० अ० ५ ॥
अन्य बस्तियां उसी ग्रन्थ में देख लें ॥ ९ ॥

मांसगुडिकाः ।

पिष्ट्वा वराहमांसानि दत्त्वा मरिचसैन्धवे ।
कोलवद्गुडिकाः कृत्वा तप्ते सर्पिषि भर्जयेत् ॥ १० ॥
भर्जनैस्तम्भितास्ताश्च[1] प्रक्षेप्याः कौक्कुटे रसे ।
घृताढ्ये गन्धपिशुने दधिदाडिमसारिके[2] ॥ ११ ॥
यथा न भिन्द्याद्गुडिकास्तथा तं साधयेद्रसम् ।
तं पिबन् भक्षयंस्ताश्च लभते शुक्रमक्षयम् ॥ १२ ॥
मांसानामेवमन्येषां मेध्यानां कारयेद्भिषक् ।
गुडिकाः सरसास्तासां प्रयोगः शुक्रवर्धनः ॥ १३ ॥

इति वृष्या मांसगुडिकाः ।

---

१ 'वर्तन० च.' । २ 'सारिके साम्लीभूते ' इतीन्दुः । 'दधिदाडिमसाराभ्यां साधितं दधिदाडिमसारिकम् । दाडिमसारश्च दाडिमरसः चक्रः' । 'साधिते' ग. ।

मांसगुडिका—सूअर के मांस को पीसकर उसमें उचित मात्रा में कालीमिर्च और सेन्धानमक मिलावें। और बेर बराबर गोलियां बनाकर तप्त घी में भून लें। जब भूनने से कठिन हो जांय तब प्रभूत घृत और गन्ध युक्त दही और अनार के रस से किञ्चित् अम्ल साधित कुक्कुट के मांसरस में डाल दें और मन्द २ आंच पर पकावें। मांसरस को कड़छी से बहुत अधिक आलोडन न करे। नहीं तो गोलियां टूट जांयगी। सिद्ध करते समय प्रयत्न यही रखे कि वे गुडिकायें (गोलियां) टूटे नहीं। उस मांसरस को पीने से और इन गोलियों को खाने से अक्षय वीर्य की प्राप्ति होती है। इसीप्रकार अन्य मेध्य (मेदुर अथवा भक्ष्य) मांसों की गुडिकाओं को मांसरस में सिद्धकर प्रयोग करने से वीर्य की वृद्धि होती है ॥ १०–१३ ॥

माहिषरसः ।

माषानङ्कुरिताञ्शुद्धान्निस्तुषान् साजडाफलान् ।
घृताढ्ये माहिषरसे दधिदाडिमसारिके ॥ १४ ॥
प्रक्षिपेन्मात्रया युक्तान् धान्यजीरकनागरैः ।
भुक्तः पीतश्च[1] स रसः कुरुते शुक्रमक्षयम् ॥ १५ ॥

इति वृष्यो माहिषरसः ।

माहिषरस—उड़दों को जल में भिगो दें। जब उनके अंकुर निकल आवें तब जल से धो डालें और उनके छिलके अलग कर दें। इन उड़दों के समान परिमाण में ही ताजे कौंचबीज लें। इन्हें प्रभूत घृतयुक्त, दही और अनार के रस से संस्कृत, भैंस के मांसरस में डालकर पकावें। इसमें धनियां जीरा सोंठ भी उचित मात्रा में यथासमय डाल दें। जब यथाविधि सिद्ध हो जाय तब उड़द और कौंच के बीजों को खाने से और उस रस को पीने से अक्षय शुक्र की प्राप्ति होती है। उड़द और कौंचबीज के पूर्वविधि के अनुसार वटक बनाकर भी

---

१ 'घनभागस्य भोजनं, द्रवभागस्य पानं ज्ञेयं' चक्रः ।

माहिषरस में सिद्ध किया जा सकता है ॥ १४–१५ ॥

मत्स्यमांसानि ।

आर्द्राणि मत्स्यमांसानि भृष्टाश्च शफरीश्च वा ।
तप्ते सर्पिषि यः खादेत्स गच्छेत्स्त्रीषु न क्षयम् ॥ १६ ॥

इति वृष्यघृतभृष्टमत्स्यमांसानि ।

ताज़ी मछलियों (विशेषतः रोहित) के मांस शफरी (बंगाली–पुंठिमाछ) नामक मछली को तप्त घी में भूनकर जो पुरुष खाता है, वह स्त्रियों में क्षीणता को प्राप्त नहीं होता । अर्थात् यह वृष्य है । स्त्रीभोग करते हुए भी वीर्य की क्षीणता नहीं होती ॥ १६ ॥

गर्भाधानकरो योगः ।

घृतभृष्टान् रसे छागे रोहितान् फलसारिके ।
अनुपीतरसान् सिद्धानपत्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ १७ ॥

इति गर्भाधानकरो योगः ।

गर्भाधानकरयोग—रोहित (रोहू) मत्स्यों को घी में तलकर अनार आदि फलों के रस से संस्कृत बकरे के मांसरस में डाल सिद्ध करें । जब सिद्ध हो जाय तब सन्तान का इच्छुक पूर्व मत्स्य-खण्डों को खाकर ऊपर से वह रस पी जाय ॥ १७ ॥

पूपलिकायोगौ ।

कुट्टकं मत्स्यमांसानां हिङ्गुसैन्धवधान्यकैः ।
युक्तं गोधूमचूर्णेन घृते पूपलिकाः पचेत् ॥ १८ ॥
माहिषे च रसे मत्स्यान् स्निग्धाम्ललवणान् पचेत् ।
रसे चानुगते मांसं पेषयेत्तत्र चावपेत् ॥ १९ ॥
मरिचं जीरकं धान्यमल्पं हिङ्गु नवं घृतम् ।
माषपूपलिकानां तद्गर्भार्थमुपकल्पयेत् ॥ २० ॥
एतौ पूपलिकायोगौ बृंहणौ बलवर्धनौ ।

हर्षसौभाग्यजननौ परं शुक्राभिवर्धनौ ॥ २१ ॥

इति वृष्यौ पूपलिकायोगौ ।

दो पूपलिका योग—१ मछली (प्रधानतः रोहू) के मांस को कुट्टित (कीमा) करके उसमें हींग सेन्धानमक धनियां उचितमात्रा में मिलावें। इसे गेहूं के आटे के साथ मिलाकर घी में यथाविधि पूपलिकायें तले। अथवा गेहूं के आटे को जल से गूंधकर जैसे कचौरियों में दाल की पठी भरी जाती है वैसे ही उस में यह मछली के मांस का कीमा भरकर तल लें।

२ घी अनारदाना और सेन्धानमक से युक्त मछलियों के मांस को भैंस के मांसरस में पकावे। जब सारा मांसरस सूख जाय तब मछलियों के मांस को कूट कर कीमा कर लें और उस में कालीमिर्च जीरा, धनियां, थोड़ी सी हींग और ताजा घी मिलावे। उड़द के आटे की पूपलिकाओं के बीच में यही मत्स्यमांस की पीठी भरे। इन्हें घी में तल ले।

ये दोनों पूपलिकायोग बृंहण बलवर्धक पुरुषों में प्रहर्ष तथा स्त्रियों में सौभाग्य को उत्पन्न करने वाले और अत्यन्त वीर्यवर्धक हैं॥

माषादिपूपलिका।

माषात्मगुप्तागोधूमशालिषष्टिकपैष्टिकम्।
शर्करायां विदार्याश्च चूर्णमिक्षुरकस्य च ॥ २२ ॥
संयोज्य मसृणे क्षीरे घृते पूपलिकाः पचेत्।
पयोऽनुपानास्ताः शीघ्रं कुर्वन्ति वृषतां परम् ॥ २३ ॥

इति वृष्या माषादिपूपलिकाः।

माषादिपूपलिका—उड़द कौंचबीज गेहूं शालिचावल सांठी-चावल; इन सब के आटे, खांड विदारीकन्द तालमखाना; इनके चूर्ण

---

१ 'हर्षसौभाग्यदौ पुत्र्यौ' ग.।

सब को एकत्र मिश्रित कर दूध से गूंध लें और पश्चात् घी में तल लें। इन्हें खाकर ऊपर से दूध पीना चाहिये। ये शीघ्र ही अत्यधिक वृषता करती हैं॥ २२–२३॥

वृष्ययोगः।

शर्करायास्तुलैका स्यादेका गव्यस्य सर्पिषः।
प्रस्थो विदार्याश्चूर्णस्य पिप्पल्याः प्रस्थ एव च॥२४॥
अर्धाढकं तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्याभिनवस्य च।
तत्सर्वं मूर्च्छितं तिष्ठेन्मार्तिके घृतभाजने॥ २५॥
मात्रामग्निसमां तस्य प्रातः प्रातः प्रयोजयेत्।
एष वृष्यः परं योगो बल्यो[1] बृंहण एव च॥ २६॥

इति वृष्ययोगः।

वृष्ययोग—खांड १ तुला (१० सेर), गौ का घी १ तुला (१० सेर), विदारीकन्द का चूर्ण १ प्रस्थ (१॥ सेर ८ तोले), पिप्पलीचूर्ण १ प्रस्थ, वंशलोचन आधा आढक (२ प्रस्थ=३ सेर १६ तोले) ताजा मधु १ आढक (द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार; ६। सेर १२ तोले) इन्हें एकत्र मिलाकर घी से भावित मिट्टी के पात्र में डाल रखे। अग्नि के अनुसार इसकी एक मात्रा प्रतिदिन प्रातः काल प्रयोग करे। यह योग अत्यन्त वृष्य बल्य एवं बृंहण है। मात्रा—१ तोले से ४ तोले तक॥ २४–२६॥

अपत्यकरं घृतम्।

शतावर्या विदार्याश्च तथा माषात्मगुप्तयोः।
श्वदंष्ट्रायाश्च निष्क्वाथान्[2] जलेषु च पृथक् पृथक्॥२७॥
साधयित्वा घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पुनः।
शर्करामधुसंयुक्तमपत्यार्थी प्रयोजयेत्॥ २८॥

इत्यपत्यकरं घृतम्।

---

१ 'कण्ठ्यो' च.। २ 'निक्काथनल्वणेषु पृथक्' ग.।

अपत्यकर घृत—शतावर, विदारीकन्द, उड़द, कौंचबीज, गोखरू; इन पांचों के क्वाथ पृथक् पृथक् जलों में सिद्ध करे। इन क्वाथों से तथा १६ प्रस्थ दूध से यथाविधि २ प्रस्थ घी को सिद्ध करे। पश्चात् खांड और मधु मिलाकर सन्तान के अभिलाषी पुरुष को सेवन करना चाहिये। मात्रा—आधा तोला। यहां पर घी और दूध का प्रमाण दिया है। क्वाथ का प्रमाण नहीं दिया, अतः—

'पञ्चप्रभृति यत्रस्युर्द्रवाणि स्नेहसम्विधौ ।
तत्र स्नेहसमानयद्दुरर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार शतावर आदि के क्वाथ पृथक् दो दो प्रस्थ लिये जांयगे। क्वाथार्थ क्वाथ्य द्रव्य १ प्रस्थ लेना चाहिये। जल ८ प्रस्थ। शेष क्वाथ २ प्रस्थ। टिप्पणयुक्त गङ्गाधर के पाठ के अनुसार प्रत्येक क्वाथ की मात्रा २ द्रोण (३२ प्रस्थ) होनी चाहिये ॥ २७-२८॥

वृष्यगुटिका ।

घृतपात्रं शतगुणे विदारीस्वरसे पचेत् ।
सिद्धं पुनः शतगुणे गव्ये पयसि साधयेत् ॥ २९ ॥
शर्करायास्तुगाक्षीर्याः क्षौद्रस्येक्षुरसस्य च ।
पिप्पल्याः साजडायाश्च भागैः पादांशिकैर्युतम् ॥३०॥
गुडिकाः कारयेद्वैद्यो यथा स्थूलमुदुम्बरम् ।
तासां प्रयोगात्पुरुषः कुलिङ्ग इव हृष्यति ॥ ३१ ॥

इति वृष्यगुटिकाः ।

वृष्य गुडिका—गव्य घृत ८ प्रस्थ को विदारीकन्द का रस ८०० प्रस्थ से सिद्ध करें। जब थोड़ा सा रस अवशिष्ट रह जाय तब उतार लें और ८०० प्रस्थ गौ का दूध डालकर पकावें। जब सिद्ध होजाय तब वस्त्र से छान लें। इस घी में खांड, वंशलोचन, मधु, ईख का रस पिप्पली, कौंचबीज; प्रत्येक घी से चतुर्थांश प्रमाण में डालें। अर्थात् इन प्रक्षेप द्रव्यों में प्रत्येक का प्रमाण २ प्रस्थ होना चाहिये। वैद्य

इस औषध की गूलर के प्रमाण की गुडिकायें बनावे। इनके प्रयोग से पुरुष कुलिङ्ग (चटक) के सदृश हर्षयुक्त होता है।

गङ्गाधर प्रक्षेप्य द्रव्यों को मिलाकर २ प्रस्थ प्रमाण में डालने को कहता है। परन्तु यहां तो घी में ये द्रव्य डालकर गुडिकायें बनानी हैं। २ प्रस्थ मिलित प्रक्षेपद्रव्य डालने से गुडिकाओं का बनाया जाना दुष्कर है। साथ ही प्रत्येक द्रव्य को पृथक् पढ़कर भागों को भी बहुवचनान्त पढ़ा है, अतः प्रत्येक प्रक्षेप द्रव्य को २ प्रस्थ परिमाण में लेना ही उपयुक्त है। आजकल नागरिक मनुष्यों के लिये इसकी तीन मासे से ६ मासे तक की मात्रा पर्याप्त है ॥ २९–३१ ॥

वृष्योत्कारिका।

सितोपलापलशतं तदर्धं नवसर्पिषः।
क्षौद्रपादेन संयुक्तं साधयेज्जलपादिकम् ॥ ३२ ॥
सान्द्रं गोधूमचूर्णानां पादं स्तीर्णे शिलातले।
शुचौ श्लक्ष्णे समुत्कीर्य मर्दनेनोपपादयेत् ॥ ३३ ॥
शुद्धा उत्कारिकाः कार्याश्चन्द्रमण्डलसन्निभाः।
तासां प्रयोगाद्गजवन्नारीः संतर्पयेन्नरः ॥ ३४ ॥

इति वृष्योत्कारिका[1]।

वृष्य उत्कारिका—मिसरी १०० पल, ताज़ा घी ५० पल, मधु २५ पल, जल २५ पल; इन्हें यथाविधि सिद्ध करें। अथवा १०० पल मिसरी को २५ पल जल में डाल कर मन्द मन्द आंच पर रखें जब मिसरी पूर्णतया मिल जाय और चाशनी गाढ़ी हो जाय तो उसमें ताज़ा घी डालकर अच्छी प्रकार मिलावें। ठण्डा होने पर मधु मिलावें। पश्चात् गेहूं का आटा चतुर्थांश (२५ पल) मिलाकर अच्छी प्रकार मर्दन करें। तदनन्तर उसे एक विस्तृत चिकनी शिलापर फैलाकर चन्द्रमण्डलके सदृश गोल उत्का-

१ 'वृष्या लप्सिकाः' ग.।

रिकायें पकालें । इनके प्रयोग से पुरुष हाथी की तरह स्त्रियों को तृप्त करता है ॥ ३२-३४ ॥

वृष्यलक्षणम् ।

यत्किञ्चिन्मधुरं स्निग्धं जीवनं बृंहणं गुरु ।
हर्षणं मनसश्चैव सर्वं तद्वृष्यमुच्यते ॥ ३५ ॥

वृष्य का लक्षण—जो कोई भी द्रव्य मधुर, स्निग्ध, जीवन (Vitality) दाता, बृंहण, गुरु, मन में हर्ष उत्पन्न करने वाला है; वह सब वृष्य है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अन्य द्रव्य वाजीकर नहीं होते । अम्ल दही और रूक्ष मधु भी वाजीकर हैं । यहां गुणाश्रित सामान्य नियम कहा है । अन्यत्र द्रव्याश्रित कर्म है। और उसे ही प्रभाव कहते हैं ॥३५॥

द्रव्यैरेवंविधैस्तस्माद्भावितः प्रमदां व्रजेत् ।
आत्मवेगेन चोदीर्णः स्त्रीगुणैश्च प्रहर्षितः ॥ ३६ ॥

मैथुन में नियम—अतः मधुर आदि गुण युक्त द्रव्य के सेवन से संस्कृत-देह पुरुष अपने बल एवं कामवेग से प्रेरित और स्त्री के रूप हावभाव संवाहन मधुर आलाप आदि चेष्टितों से प्रहर्षयुक्त होकर मैथुन करे ॥ ३६ ॥

गत्वा स्नात्वा पयः पीत्वा रसं चानुशयीत ना ।
तथाऽस्याप्यायते भूयः शुक्रं च बलमेव च ॥ ३७ ॥

मैथुन के पश्चात् पुरुष स्नान करके दूध वा मांसरस पीकर सो जाय । इसप्रकार करने से वह पुनः वीर्य और बल से पूर्ण हो जाता है ॥

यथा मुकुलपुष्पस्य सुगन्धो नोपलभ्यते ।
लभ्यते तद्विकाशात्तु तथा शुक्रं हि देहिनाम् ॥ ३८ ॥

जैसे फूल की कली से सुगन्ध नहीं आती । परन्तु खिल जाने पर सुगन्ध आने लगती है । इसी प्रकार प्राणियों के वीर्य को जानना चाहिये । अर्थात् वीर्य की उपलब्धि बाल्यावस्था में नहीं होती और

मध्यमावस्था वा युवावस्था में वीर्य की उपलब्धि होती है। सुश्रुत में भी कहा है—

'यथा हि पुष्पमुकुलस्थो गन्धो न शक्यमिहास्तीति वक्तुं नैव नास्तीति, अथवास्ति सतां भावानामनभिव्यक्तिरिति कृत्वा केवलं सौक्ष्म्यान्नाभिव्यज्यते। स एव गन्धो विवृतपत्रकेशरैः कालान्तरेणाभिव्यक्तिं गच्छति। एवं बालानामपि वयःपरिणामाच्छुक्रप्रादुर्भावो भवति। इत्यादि'॥ ३८॥

नर्ते वै षोडशाद्वर्षात्सप्तत्याः परतो न च।
आयुष्कामो नरः स्त्रीभिः संयोगं कर्तुमर्हति॥ ३९॥

सोलह बरस से कम आयु वाले और सत्तर बरस से ऊपर की आयु वाले पुरुष को—यदि वह दीर्घ आयु चाहता है—कभी मैथुन न करना चाहिये॥ ३९॥

अतिबालो ह्यसंपूर्णसर्वधातुः स्त्रियो व्रजन्।
उपतप्येत सहसा तडागमिव काजलम्॥ ४०॥

अत्यन्त बालक अर्थात् सोलह बरस से कम आयु वाला बालक जिसकी रस से शुक्र पर्यन्त सब धातुएं अभी पूर्ण नहीं है यदि वह मैथुन करता है तो वह अल्प जल वाले तालाब की तरह सहसा धातुओं की क्षीणता से दुःखी होता है। जिस प्रकार अल्प जल का तालाब शीघ्र सूख जाता है और उसमें उत्पन्न पौधे सूख जाते हैं, मछलियां आदि मर जाती है। उसी प्रकार धातुओं का सारभूत शुक्र जो अभी विकसित नहीं उसके क्षय से देह की अन्य रस आदि अपूर्ण धातुएं भी क्षीण हो जाती हैं। परिणाम यह होता है कि वह पुरुष सर्वथा निर्बल ढांचामात्र और रोगों का आश्रय रहता है॥ ४०॥

शुष्करूक्षं यथा काष्ठं जन्तुजग्धं विजर्जरम्।
स्पृष्टमाशु विशीर्येत तथा वृद्धः स्त्रियो व्रजन्॥ ४१॥

जैसे सूखी स्नेहरहित कीड़ों से खाई हुई जीर्ण लकड़ी छूने पर शीघ्र ही टूट फूट जाती है, इसीप्रकार वृद्ध पुरुष भी मैथुन से शीघ्र नष्ट हो जाता है। वृद्ध पुरुष में सब धातुएं ही पककर क्षीण हो रही होती हैं। भोजन आदि द्वारा भी उस क्षीणता की पूर्ति नहीं होती। ऐसी अवस्था में धातुओं के सारभूत यत्किञ्चिद् अवशिष्ट शुक्र को भी नष्ट कर दें तो नाश शीघ्र होना ही है ॥ ४१ ॥

जरया चिन्तया शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात् ।
क्षयं गच्छत्यनशनात्स्त्रीणां चातिनिषेवणात् ॥ ४२ ॥

वीर्य की क्षीणता के हेतु—जरा (बुढ़ापा), चिन्ता, रोग, पञ्चकर्म अथवा अन्य कर्मों (overwork) से उत्पन्न शारीरिक क्षीणता, अनशन (उपवास) तथा अत्यन्त स्त्रीभोग से वीर्य क्षीण हो जाता है ॥ ४२ ॥

क्षयाद्भयादविश्रम्भाच्छोकात्स्त्रीदोषदर्शनात् ।
नारीणामरसज्ञत्वादभिचारादसेवनात् ॥ ४३ ॥
तृप्तस्यापि स्त्रियो गन्तुं न शक्तिरुपजायते ।
देहसत्त्वबलापेक्षी हर्षः शक्तिश्च हर्षजा ॥ ४४ ॥

मैथुनासमर्थता वा नपुंसकता के कारण—धातुओं की विशेषतः वीर्य की क्षीणता, भय, अविश्वास, शोक, स्त्री में किसी दोष के देखने से, स्त्रियों के रसज्ञ न होने से, अभिचार से, सर्वथा मैथुन न करने से तथाच मैथुन से तृप्त पुरुष में भी मैथुन-शक्ति उत्पन्न नहीं होती ॥

हर्ष (erection) देह मन एवं बल की अपेक्षा रखता है और मैथुन-शक्ति हर्ष से उत्पन्न होती है ॥ ४३–४४ ॥

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।
सर्वत्रानुगतं देहे शुक्रं संस्पर्शने तथा ॥ ४५ ॥[1]

जैसे ईख में रस, दही में घी, तिल में तैल सर्वत्र व्याप्त है, वैसे ही देह में

---

१ 'संस्पर्शने इति संस्पर्शनवति, तेन केशादौ संस्पर्शनाऽप्राप्तेः शुक्रमपि नास्तीति दर्शयति' चक्रः ।

त्वगिन्द्रिय वा स्पर्शज्ञानयुक्त स्थलों पर सर्वत्र व्याप्त है । इससे शुक्र की सम्पूर्ण देह में व्यापकता बताई है । केश नखाग्र आदि स्पर्शज्ञान-रहित अवयवों में यह नहीं रहता । सुश्रुत शारीर अ० ४ में भी कहा है—'सप्तमी (कला) शुक्रधरा नाम, या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ।

'यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षौ रसो यथा ।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः ॥' ४५ ॥

तत्स्त्रीपुरुषसंयोगे चेष्टासंकल्पपीडनात् ।
शुक्रं प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात्पटादिव ॥ ४६ ॥

वह वीर्य स्त्री और पुरुष का संयोग होने पर चेष्टा और सङ्कल्प (desire) द्वारा निचोड़ा जाने पर अपने स्थान से च्युत होता है । जिस प्रकार गीले कपड़े को निचोड़ने से जल निकलता है । सुश्रुत शारीर ४ अ० में—

'कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत्सम्प्रवर्तते ॥'

अभिप्राय यह है कि वीर्य सर्वत्र शरीर में व्याप्त है । पर जब मन में काम उत्पन्न होता है तब वह अण्डों में मथा जाकर वा पेला जाकर उस रूप में अपने बाहिर आने के मार्ग से बाहिर आता है । गन्ने में रस सर्वत्र है । तिलों में तैल सर्वत्र है, दही में घी सर्वत्र है । परन्तु जब तक इन्हें कोल्हू में पेरा नहीं जाता वा मथा नहीं जाता तब तक पृथक् नहीं होते । पुरुष में वीर्य तो सर्वत्र है । संयोग के समय पुरुष की चेष्टा और सङ्कल्प (कामोत्तेजना) के कारण वह वीर्य प्रकट होता है

चक्रपाणि ने पीडन को वीर्य के प्रकट होने में पृथक् कारण माना है । ' पीडनं नारीपुरुषयोः परस्परसम्मूर्च्छनम् ' यह टीका की है । अर्थात् चेष्टा सङ्कल्प और स्त्री पुरुष के परस्पर मेल से शुक्र अपने स्थान से च्युत होता है । परन्तु वह हेतु श्लोक के प्रथम चरण में ही कह दिया है । पुनः 'पीडनात्' में यह अर्थ करना उचित नहीं ॥४६॥

हर्षात्तर्षात्सरत्वाच्च पैच्छिल्याद्गौरवादपि ।
अणुप्रवणभावाच्च द्रुतत्वान्मारुतस्य च ॥ ४७ ॥

अष्टाभ्य एभ्यो हेतुभ्यः शुक्रं देहात्प्रसिच्यते ।
चरतो विश्वरूपस्य रूपद्रव्यं यदुच्यते ॥ ४८ ॥

शुक्रप्रसेक के आठ हेतु—१ हर्ष से २ तर्ष (उपभोगेच्छा, Sexual appetite) से, ३ वीर्य के सर गुणयुक्त होने से, ४ पिच्छिल (चिपचिपा) होने से, ५ गुरु होने से, ६, ७ अणु (सूक्ष्म) होने के साथ साथ बाहिर निकलने का स्वभाव होने से और ८ वायु के द्रुत (गतिशील) होने से अर्थात् इन आठ कारणों से देह से वीर्य का क्षरण होता है॥

टिप्पणी में कहे गए गङ्गाधर के पाठ के अनुसार ये आठ हेतु होते हैं—१ हर्ष होना (उच्चकोटि का मानस आनन्द), २ शुक्र का सर होना, ३ शुक्र की सूक्ष्मता, ४ शुक्र की पिच्छिलता ५ शुक्र की गुरुता, ६ शुक्र का अनुप्लुत होना (अपने स्थान से चलित होना), ७ शुक्र का द्रुत (द्रव, Liquid) होना ८ वायु का द्रुत (गतिशील) होना । अर्थात् स्त्रीपुरुष के संयोग होने पर शरीरचेष्टा और मनःसंकल्प के कारण वायु के गमनशील होने से तथा स्पर्श और योनिलिङ्गसंघर्ष आदि भावों से उत्पन्न हर्ष के कारण सर आदि छह गुणों से युक्त शुक्र का प्रसेक (Ejaculation) होता है । हर्ष जहां मानस आनन्द का वाचक है वहां ध्वजहर्ष का भी । स्वप्नावस्थाओं में शुक्रप्रसेक तभी होगा जब ध्वजहर्ष विद्यमान होगा । अनुप्लवन शब्द मांसपेशी (Bulbo-cavernosus) के ठहर ठहर कर होने वाले सङ्कोच और शुक्राशय (Seminal vesicles) के तरङ्गसदृश सङ्कोच की ओर भी निर्देश करता है । इन सङ्कोचों के

---

१ 'हर्षात्सरत्वात्सौक्ष्म्याच्च' ग. । २ 'अणुप्रवणभावोऽणुत्वे सति बहिर्निर्गमनस्वभावत्वं' चक्रः । 'अनुप्लवनभावाच्च' ग. । ३ 'रूपं द्रव्यं' ग. ।

२३१

कारण ही वीर्य वेगयुक्त झटकों के साथ क्षरित होता है। मैथुन और वीर्यक्षरण का कार्य वात पर ही आश्रित है। इस कार्य के केन्द्र मस्तिष्क और मेरुदण्ड में हैं। जिनके सहारे वातनाड़ियों (Nerves) द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। आर्थर कूपर ने The Sexual Disabilities of Man नामक पुस्तक में कहा है—

"This complex function which is a twofold function including both copulation and insemination, is under the control of nerve centres situated in the brain and in the lumbo-sacral portion of the spinal cord or, as some suppose, in the lumber ganglia of the sympathetic system. The cerebral centre is the seat of the sexual appetite and impulse. The lumber centres regulate the machinery of erection and ejaculation."

यह शुक्र नानायोनियों में सञ्चार करते हुए विश्वरूप (आत्मा) का रूप द्रव्य है। जिस योनि में जो शुक्र होगा वह उसी रूप वाले अपत्य को उत्पन्न करेगा। मनुष्य का शुक्र मनुष्य को इत्यादि। अथवा नानायोनियों में सञ्चार करने वाले आत्मा को रूप में लाने वाला द्रव्य यही है। यह वीर्य अव्यक्त आत्मा को व्यक्त कर देता है। देह मन का सम्बन्ध होने पर आत्मा व्यक्त हो जाता है ॥४७-४८॥

बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम्।
शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥ ४९ ॥

फलवत् शुक्र का लक्षण—बहल (घना), मधुर, (Neutral in reaction), स्निग्ध, अविस्र (जो आमगन्धि न हो), गुरु, पिच्छिल (चिपचिपा), श्वेतवर्ण, तथा बहुत शुक्र निःसन्देह सन्तानोत्पादक होगा। वीर्य प्रतिक्रिया में थोड़ा सा क्षारीय भी हो सकता है ॥४९॥

येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीवल्लभते नरः।
व्रजेच्चाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥ ५० ॥

वाजीकरण का निर्वचन वा लक्षण—जिस आहार विहार वा औषध से पुरुष वाजी (घोड़े) के सदृश स्त्रियों में (मैथुन समय वेगवल से) समर्थ होता है और जिसके द्वारा अधिक वार अथवा अधिक काल तक मैथुन कर सकता है, वह वाजीकरण ही है॥

तत्र श्लोकः ।

हेतुर्योगोपदेशस्य योगा द्वादश चोत्तमाः ।
यत्पूर्वं मैथुनात्सेव्यं सेव्यं यन्मैथुनादनु ॥ ५१ ॥
यदा न[1] सेव्याः प्रमदाः कृत्स्नः शुक्रविनिश्चयः ।
निरुक्तं चेह निर्दिष्टं पुमाञ्जातबलादिके ॥ ५२ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने पुमाञ्जात-बलादिको नाम वाजीकरणपादश्चतुर्थः ।

समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः ॥ २ ॥

उपसंहार—पुमाञ्जातबलादिक पाद में वाजीकर योगों के उपदेश का हेतु, बारह उत्तम योग, मैथुन से पूर्व और पश्चात् जो सेवन करना चाहिये वह, और जब मैथुन का निषेध है, सम्पूर्ण वीर्य का विज्ञान, वाजीकरण की निरुक्ति कह दी है ॥ ५१–५२ ॥

इति वाजीकरणपादश्चतुर्थः । समाप्तश्चायं द्वितीयो वाजीकरणाध्यायः ।

तृतीयोऽध्यायः

अथातो ज्वरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम ज्वरचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—यह भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

विज्वरं ज्वरसन्देहं पर्यपृच्छत्पुनर्वसुम् ।
विविक्ते शान्तमासीनमग्निवेशः कृताञ्जलिः ॥ २ ॥

---

१ 'हि' ग. ।

ज्वररहित (रोगरहित वा त्रिविध तापरहित) भगवान् पुनर्वसु से, जब वे एकान्त में शान्त बैठे हुए थे, अग्निवेश ने हाथ जोड़कर ज्वर-सम्बन्धी सन्देहों को पूछा ॥ २ ॥

देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली ।
ज्वरः प्रधानं रोगाणामुक्तो भगवता पुरा ॥ ३ ॥
तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये ।
प्रकृतिं च प्रवृत्तिं च प्रभावं कारणानि च ॥ ४ ॥
पूर्वरूपमधिष्ठानं बलकालात्मलक्षणम् ।
व्यासतो विधिभेदाच्च पृथग्भिन्नस्य चाकृतिम् ॥ ५ ॥
लिङ्गमामस्य जीर्णस्य सौषधं च क्रियाक्रमम् ।
विमुञ्चतः प्रशान्तस्य चिह्नं यच्च पृथक् पृथक् ॥ ६ ॥
ज्वरावशिष्टो रक्ष्यश्च यावत्कालं यतो यतः ।
प्रशान्तः कारणैर्यैश्च पुनरावर्तते ज्वरः ॥ ७ ॥
यश्चापि पुनरावृत्तिं क्रियाः प्रशमयन्ति तम् ।
जगद्धितार्थं तत्सर्वं भगवन् ! वक्तुमर्हसि ॥ ८ ॥

भगवन् ! आपने पूर्व (निदानस्थान में) देह इन्द्रिय और मन को तपाने वाले, सब रोगों से पूर्व उत्पन्न तथा बली ज्वर को रोगों में सब से प्रधान बताया था । उस प्राणिमात्र के शत्रु, जन्म और मरण के समय अवश्यम्भावी ज्वर की प्रकृति (समवायि कारण) प्रवृत्ति (उत्पत्ति), प्रभाव, कारण, पूर्वरूप, अधिष्ठान (आश्रय), बलकाल (वृद्धि का समय), आत्मलक्षण (अपने लक्षण), विस्तार पूर्वक प्रकारभेदों से भिन्न ज्वरों के लक्षण, आमज्वर के लक्षण, जीर्णज्वर के लक्षण, उनकी औषध, ज्वर का चिकित्साक्रम, छोड़ते हुए तथा शान्त ज्वर के पृथक् पृथक् चिन्ह, ज्वरमुक्त पुरुष को जितने काल तक जिन जिन से बचाना चाहिये । शान्त हुआ ज्वर जिन जिन

१ 'प्रधानो' च. । २ 'विधिभेदञ्च' ग. ।

कारणों से पुनः लौट आता है—उत्पन्न हो जाता है तथा इस पुनः लौटने को जो २ क्रियायें शान्त करती हैं—रोकती हैं, हे भगवन् ! वह सब कुछ हमें बताइये ॥ २-८ ॥

तदग्निवेशस्य वचो निशम्य गुरुरब्रवीत् ।
ज्वराधिकारे यद्वाच्यं तत्सौम्य ! निखिलं शृणु ॥ ९ ॥

अग्निवेश के उस वचन को सुनकर गुरु ने कहा—सौम्य ! ज्वराधिकार में जो वक्तव्य है वह सब कहता हूं, सुनो ॥ ९ ॥

ज्वरो विकारो रोगश्च व्याधिरातङ्क एव च ।
एकोऽर्थो नामपर्यायैर्विविधैरभिधीयते[1] ॥ १० ॥

रोग के पर्याय—ज्वर, विकार, रोग, व्याधि आतङ्क; इन सब विविध नामपर्यायों से एक ही अर्थ कहा जाता है । अर्थात् ये सब नाम सामान्यतः रोग के वाचक हैं ॥ १० ॥

तस्य प्रकृतिरुद्दिष्टा दोषाः शारीरमानसाः ।
देहिनं नहि निर्दोषं ज्वरः समुपसेवते ॥ ११ ॥

ज्वर की प्रकृति—उसकी प्रकृति (समवायिकारण) शारीर और मानस दोष है । वात पित्त कफ शारीर दोष हैं और रज तम मानस दोष हैं । दोषरहित प्राणी को ज्वर (रोग) नहीं हो सकता । अभिप्राय यह है कि दुष्ट हुए वात पित्त कफ वा रज तम से ज्वर (रोगमात्र) होता है ॥ ११ ॥

क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्ता यमात्मकाः[2] ।
पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणां[3] क्लिश्यतां स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥
इत्यस्य प्रकृतिः प्रोक्ता,

अपने २ कर्मों द्वारा क्लेश पाते हुए मनुष्यों के पञ्चत्व (पुनः पांच भूत हो जाना—मरना) के कारण से क्षय तम ज्वर पाप्मा मृत्यु;

---

१ 'एकार्थनामपर्यायै०' ग. ।

२ 'अत्र च 'उक्ताः' इति, तथा 'यमात्मकाः' इति बहुवचनमेकस्मिन्नर्थे ज्वरे क्षयकर्तृत्वादिधर्मभेदविवक्षया ज्ञेयं' चक्रः । 'यमात्मजाः' इति वा पाठः ।

३ 'पञ्चत्वप्रत्यया नृणां' इति वा पाठः ।

ये यमस्वरूप कहे हैं। रोगों के, क्षय आदि धर्मभेद को जताने के लिये, पृथक् पृथक् नाम है। जैसे क्षीण करने से क्षय, मोहक होने से तम, सन्ताप करने से ज्वर, पाप के कारण उत्पन्न होने से पाप्मा और मृत्यु का हेतु होने से मृत्यु। यही कारण है कि 'उक्ता यमात्मकाः' में बहुवचन पाठ है। गङ्गाधर ने यह श्लोक पाठ किया है—

'क्षयस्तमो ज्वरः पाप्मा मृत्युश्चोक्तोऽयमात्मजः।
कर्मभिः क्लिश्यमानानां पञ्चत्वप्रत्ययान्नृणाम् ॥

इसके अनुसार रोग का नाम आत्मज भी है। क्योंकि स्वयं किए हुए दुष्कर्मों से उत्पन्न अधर्म का परिणाम होता है। अथवा यहां पर 'मृत्युश्चोक्तोऽयमामयः' यह पाठ होना चाहिये। आमय का अर्थ भी रोग है। अर्थात् रोग के क्षय तम आदि नाम हैं। अष्टाङ्ग-संग्रह निदान १ अ० में कहा है—

'ज्वरस्तमो विकार आतङ्कः पाप्मा गदो व्याधिराबाधो दुःखमामयो यक्ष्मा रोग इत्यनर्थान्तरम् ॥'

यह ज्वर की प्रकृति कह दी है ॥ १२ ॥

प्रवृत्तिस्[1]तु परिग्रहात्।
निदाने पूर्व[2]मुद्दिष्टा रुद्रकोपाच्च दारुणात् ॥ १३ ॥

ज्वर की प्रवृत्ति परिग्रह से होती है। रोगों की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन विमानस्थान ३य अध्याय में हो चुका है। परिग्रह शब्द से उसी ओर इशारा है। अर्थात् रोगों की प्रवृत्ति (आद्य उद्भव) परिग्रह से हुई है। परिग्रह का अर्थ उसी अध्याय में किया जा चुका है। तथा निदानस्थान में दारुण रुद्रकोप से भी उसकी पूर्व उत्पत्ति बताई जा चुकी है ॥ १३ ॥

---

१ 'प्रवृत्तिः प्रथमाविर्भावः, परिग्रहादिति जनपदोद्ध्वंसनीये 'भ्रश्यति तु कृतयुगे' इत्यादिना परिग्रहाज्ज्वरप्रवृत्तिमुक्तां स्मारयति' चक्रः।

२ 'पूर्वमितिपदेन रुद्रकोपभवा प्रथमा, परिग्रहभवा तु द्वितीया प्रवृत्तिरिति दर्शयति' चक्रः।

द्वितीये हि युगे शर्वमक्रोधव्रतमास्थितम् ।
दिव्यं सहस्रं वर्षाणामसुरा अभिदुद्रुवुः ॥ १४ ॥
तपोविघ्नाशनाः[1] कर्तुं तपोविघ्नं महात्मनाम् ।
पश्यन् समर्थश्चोपेक्षां चक्रे दक्षः[2] प्रजापतिः ॥ १५ ॥
पुनर्माहेश्वरं भागं ध्रुवं दक्षः प्रजापतिः ।
यज्ञे[3] न कल्पयामास प्रोच्यमानः सुरैरपि ॥ १६ ॥
ऋचः[4] पशुपतेर्याश्च शैव्यश्चाहुतयश्च याः ।
यज्ञसिद्धिप्रदास्ताभिर्हीनं[5] चैव स इष्टवान् ॥ १७ ॥

परिग्रहजन्य प्रवृत्ति विस्तार से विमानस्थान ३ अध्याय में कही जा चुकी है । अतः उसे पुनः न दोहराते हुए निदानस्थान में संक्षेप से कही गई रुद्रकोपजन्य प्रवृत्ति को विस्तार से बताते हैं—दूसरे युग में अर्थात् त्रेता में जब शर्व (रुद्र, महेश्वर) ने अक्रोध (शान्ति) का व्रत लिया हुआ था, उस समय हजारों दिव्य वर्षों तक, तप में विघ्न द्वारा ही आजीविका करने वाले असुर, महात्माओं के तपों में विघ्न डालने के लिये चारों ओर से उपद्रव करने लगे । परन्तु उससमय समर्थ होते हुए भी दक्ष प्रजापति ने उपेक्षा की । रुद्र तो उससमय अक्रोधव्रत में बंधे हुए थे अतः यदि वह असुरों का नाश करते तो व्रतभङ्ग हो जाता । परन्तु दक्ष प्रजापति ने समर्थ होते हुए भी उनसे महात्माओं की रक्षा न की । तथाच दक्ष प्रजापति ने यज्ञ रचा । उससमय देवताओं द्वारा बतलाया जाने पर भी माहेश्वरभाग (रुद्रभाग) की कल्पना नहीं की । उसने यज्ञ की सिद्धि वा सफलता को देने वाली पशुपति की ऋचाओं और शैव्य आहुतियों से रहित यज्ञ किया । पशुपति और शिव ये दोनों महेश्वर वा रुद्र के नाम हैं । अभिप्राय यह कि यज्ञ में जहां जहां भी महेश्वर-सम्बन्धी

१ 'तपोविघ्नं शमीकर्तुं' ग. । २ 'रुद्रः' ग. । ३ 'प्रायो' ग. ।
४ 'पाशुपत्य ऋचो याश्च' ग. । ५ 'यज्ञसिद्धिकृतस्ताभि०' ग. ।

कुछ विधान था वह उसने नहीं किया ॥ १४–१७ ॥

अथोत्तीर्णव्रतो देवो बुद्ध्वा दक्षव्यतिक्रमम् ।
रुद्रो रौद्रं पुरस्कृत्य भावमात्मविदात्मनः ॥ १८ ॥
सृष्ट्वा[1] ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभुः ।
बाणं[2] क्रोधाग्निसंतप्त[3]मसृजत्सत्र[4]नाशनम् ॥ १९ ॥
ततो यज्ञः स विध्वस्तो व्यथिताश्च दिवौकसः ।
दाहव्यथापरीताश्च भ्रान्ता भूतगणा दिशः ॥ २० ॥

जब रुद्रदेव अपने व्रत को पार कर गये अर्थात् व्रत को पूर्ण-तया निभा चुके तब दक्षप्रजापति के व्यतिक्रम (नियमोल्लंघन—महात्माओं के तप की रक्षा और यज्ञ में माहेश्वर भाग की कल्पना आदि के विधान का उल्लङ्घन) को जानकर उन आत्मज्ञानी ने अपना रौद्ररूप धारण किया । अपने मस्तष्क की चक्षु को खोला और उन असुरों को जलाकर भस्म कर दिया । तदनन्तर प्रभु रुद्र ने क्रोधाग्नि से तपा हुआ बाण यज्ञ के नाश के लिये फैंका । जिससे वह यज्ञ नष्ट हो गया । देवता दुःखित हुए । प्राणी दाह और व्यथा से दिग्भ्रान्त हो गये और हाहाकार मच गया ॥१८—२०॥

अथेश्वरं देवगणाः सह सप्तर्षिभिर्विभुम् ।
तमृग्भिरस्तुवद्यावच्छिवे भावे शिवः स्थितः ॥ २१ ॥

तदनन्तर सप्तर्षि-सहित देवता ऋचाओं से विभु महेश्वर की तब तक स्तुति करते रहे जब तक कि उन्होंने अपना पुनः शिव-रूप न धारण किया । अर्थात् उसकी स्तुति से रुद्र प्रसन्न हो गए, उन्होंने अपने रौद्ररूप का त्याग किया और शिवरूप में आ गए ॥२१॥

शिवं शिवाय भूतानां स्थितं ज्ञात्वा कृताञ्जलिः ।
भिया भस्मप्रहरणस्त्रिशिरा नव लोचनः ॥ २२ ॥

---

१ 'स्पृष्ट्वा' च. । २ 'बालं' ग. वीरभद्रमित्यर्थः । ३ 'सन्दीप्त०' ग. । ४ 'शत्रुनाशनम्' ग. ।

ज्वालामालाकुलो रौद्रो ह्रस्वजङ्घोदरः क्रमात् ।
क्रोधाग्निरुक्तवान् देवमहं किं करवाणि ते ॥ २३ ॥

जब महेश्वर ने अपना रौद्ररूप त्याग कर प्राणियों के कल्याण की इच्छा से शिवरूप धारण कर लिया तब भस्म है शस्त्र जिसका, तीन शिर और नौ आंखों वाले, ज्वालाओं से व्याप्त शरीर वाले, भयङ्कर, क्रमशः छोटी जङ्घा और छोटे उदर वाले क्रोधाग्नि ने भयभीत हो कहा—कहिये, मैं आप की क्या सेवा कर सकता हूं, आदेश करिये। पौराणिक कथानक के अनुसार रुद्र की क्रोधाग्नि से ही वीरभद्र की उत्पत्ति हुई थी। इसी वीरभद्र ने इन्द्र के यज्ञ का ध्वंस किया था। वीरभद्र ने महेश्वर को कहा था कि यदि उसकी आज्ञा हो तो भू-मण्डल को एक ग्रास में खा सकता हूं। इस वचन से सन्तुष्ट होकर ही महेश्वर ने कहा कि तू वीर है, तेरा भद्र हो। तभी से उसका नाम वीरभद्र पड़ गया। और इसी वीरभद्र ने इन्द्र के अश्वमेध सत्र का नाश किया। भस्मप्रहरण आदि उसी के रूप का वर्णन है। अतएव उन्नीसवें श्लोक में ' बाणं ' के स्थल पर ' बालं ' यह पाठ किया जाता है। कई व्याख्याकार ' भिया से क्रमात् ' तक प्रक्षिप्त मानते हैं ॥ २२–२३ ॥

तमुवाचेश्वरः क्रोधं ज्वरो लोके भविष्यसि ।
जन्मादौ निधने च त्वमपचारान्तरेषु च ॥ २४ ॥

महेश्वर ने क्रोध को कहा—तू संसार में प्राणी के जन्म होते ही और मृत्युकाल में तथा अपथ्य सेवन होने पर ज्वर होगा ॥ २४ ॥

सन्तापः सारुचिस्तृष्णा चाङ्गमर्दो हृदि व्यथा ।
ज्वरप्रभावो जन्मादौ निधने च महत्तमः ॥ २५ ॥
प्रकृतिश्च प्रवृत्तिश्च प्रभावश्च प्रदर्शितः ।

---

१ 'त्वमपि चावान्तरेषु च' ग. । २ 'अपचारान्तरेष्विति ज्वरनिदानसेवासु' चक्रः।

ज्वर का प्रभाव---सन्ताप अरुचि तृष्णा अङ्गमर्द (अङ्गों में मर्दनवत् पीड़ा) और हृदय में व्यथा; यह ज्वर का प्रभाव है। अपथ्य-सेवन से उत्पन्न होने वाले ज्वर में ये पांच लक्षण अवश्य होते हैं। यह ज्वरों का सामान्य रूप है।

जन्मते ही और मृत्यु के समय ज्वर का रूप महा तम होता है। निदानस्थान में कह भी आये हैं—

'सर्वे प्राणभृतश्च सज्वरा एव जायन्ते, सज्वरा एव म्रियन्ते, स महामोहः, तेनाभिभूताः प्राग्दैहिकं देहिनः कथञ्चित् किञ्चिदपि न स्मरन्ति। सर्वप्राणिनां ज्वर एवान्ते प्राणानादत्ते।'

इसी महान् तम वा महामोह रूप ज्वर के कारण पूर्वदैहिक विषयों का स्मरण नहीं होता। अष्टाङ्गसंग्रह निदानस्थान के प्रथमाध्याय में भी ज्वर के प्रथम आविर्भाव का वर्णन सङ्गृहीत है—

'ज्वरस्तु स्थाणुशापात् प्राचेतसत्वमुपागतस्य प्रजापतेः क्रतौ भागमपरिकल्पयतस्तद्विनाशार्थं पूर्वजन्मावमानितया रुद्राण्या प्रेरितस्य पशुपतेर्दिव्यमब्दसहस्रं परिरक्षितवतः क्रोधमतिचिरकालसम्भृतो व्रतान्ते रोषाग्निः किङ्कररूपेण किल पिण्डितमूर्तिर्वीरभद्रनामा भस्मप्रहरणस्त्रिशिरोऽक्षिबाहुपादः पिङ्गललोचनो दंष्ट्री शङ्कुकर्णः कृष्णतनुरुत्तमाङ्गान्निश्चचार। स देवीविनिर्मितया सह भद्रकाल्या प्रतिरोमकूपमभिनिःसृतैर्विविधविकृताकृतिभिरनन्तैर्भयानकवाक्यक्रियावपुर्भिरनुचरैः परिवृतश्चतुर्युगान्तकरकालाम्भोदसहस्रनिनदोऽनुनादयन् रोदसी ज्वालागर्भेण परीतः कलकलारावेण महाभूतसम्प्लवकारिणा विधाय दानवबधमश्वमेधाध्वरविध्वंसनञ्च प्राञ्जलिर्विज्ञापयामास शिवम्। शिवीभूतोऽसि देव देव, दैवैः पितामहप्रभृतिभिर्जगतः पित्रा च धात्राभिष्टूयमानः। सम्प्रत्यहं किं करवाणीति। तं शूली क्रोधमादिदेश। यस्मात् त्रिदशैरप्यजय्य! मत्क्रोध! व्रतविघ्नं चिकीर्षु दैत्यसैन्यं दक्षो दक्षहव्यं च त्वया जीर्णमतो जगतोऽस्य सस्थावरस्य ज्वरयिता ज्वरो भवान् भवतु। त्वं हि सर्वरोगाणां प्रथमः

प्रवरो जन्ममरणेषु तमोमयतया महामोहः प्राग्जन्मनो विस्मारयितापचारान्तरेषु चोष्माश्रमाणत्वात्सन्तापात्मा द्वयेष्वपि ध्रुवो भवेति ।'

इस प्रकार ज्वर की प्रकृति प्रवृत्ति और प्रभाव बता दिया है॥२४-२५॥

निदाने कारणान्यष्टौ पूर्वोक्तानि विभागशः ॥ २६ ॥

निदान में ज्वर के आठ कारण विभागशः पूर्व कहे गये हैं । दोषप्रकोप द्वारा ज्वर की उत्पत्ति के हेतु निदानस्थान में आठ प्रकार के कहे जा चुके हैं । 'रूक्षलघु' इत्यादि द्वारा १ वातप्रकोपक, 'उष्णाम्ल०' इत्यादि द्वारा २ पित्तप्रकोपक, स्निग्ध गुरु आदि द्वारा ३ श्लेष्मप्रकोपक, विषमाशन आदि द्वारा ४.५.६ द्वन्द्वप्रकोपक और ७ त्रिदोषप्रकोपक तथा 'अभिघात' आदि द्वारा ८ आगन्तु । इन्हें निदानस्थान के प्रथमाध्याय में देखें । कई टीकाकार इन आठ कारणों से—

'अथ खल्वष्टभ्यः कारणेभ्यो ज्वरः सञ्जायते मनुष्याणाम् । तद्यथा—वातात्, पित्तात्, वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, पित्तश्लेष्मभ्यां, वातपित्तश्लेष्मभ्यः, आगन्तोरष्टमात्कारणात् ॥'

वात आदि व्यस्त समस्त और आगन्तु का ग्रहण करते हैं । पर इनका ग्रहण तो 'प्रकृति' से ही हो जाता है । आचार्य ने इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए भी 'इत्यष्टविधा ज्वरप्रकृतिरुक्ता' कहा है । जिससे स्पष्ट है कि यहां 'अष्टभ्यः कारणेभ्यः' तथा 'अष्टमात्कारणात्' में कहे गए 'कारण' शब्द से 'प्रकृति' का ही ग्रहण किया है । यहां पर 'प्रकृति' पूर्व पढ़कर पुनः 'कारण' पढ़ना ज्वरोत्पादक वात आदि दोषों (प्रकृति) के कोपक कारणों के ही ग्रहण को प्रकट करता है । और वे निदानस्थान में 'रूक्षलघु' आदि द्वारा कहे गये हैं ॥ २६ ॥

आलस्यं नयने सास्रे जृम्भणं गौरवं क्लमः ।

ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ ॥ २७ ॥
अविपाकास्यवैरस्ये हानिश्च बलवर्णयोः ।
शीलवैकृतमल्पं च ज्वरलक्षणमग्रजम् ॥ २८ ॥

ज्वर के पूर्वरूप—आलस्य, अश्रुपूर्ण नेत्र, जम्भाई, गुरुता, क्लम (अनायास श्रम) तथा अग्नि धूप वायु जल; इन में इच्छा और द्वेष का अनिश्चित होना अर्थात् पूर्व अग्नि के तापने में इच्छा होनी और थोड़ी ही देर में अग्नि के पास से उठ जाने में ही शान्ति प्रतीत होनी इत्यादि, अपचन, मुख का विरस होना (कडुआ मीठा वा फीका सा होना इत्यादि) निर्बलता, शरीर के वर्ण में हीनता और शील (स्वभाव) में परिवर्तन होना; ये ज्वर के संक्षिप्त पूर्वरूप हैं ।

निदानस्थान में विस्तार से ज्वर के पूर्वरूप कहे जा चुके हैं। यहां संक्षेप में और मुख्य पूर्वरूप कहे हैं । सुश्रुत उ० अ० ३९ में—

'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः ।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥
जृम्भाङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ।
अप्रहर्षश्च शीतञ्च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥'

ये सामान्य पूर्वरूप हैं ॥ सुश्रुत में विशिष्ट पूर्वरूप भी कहे हैं-

' विशेषात्तु जृम्भात्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफान्नान्नाभिनन्दनम् ॥
सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे ।
द्वयोर्द्वयोस्तु रूपेण संसृष्टं द्वन्द्वजं विदुः ॥' २७-२८ ॥

केवलं समनस्कं च ज्वराधिष्ठानमुच्यते ।
शरीरं,

ज्वर का अधिष्ठान—केवल शरीर और मनोयुक्त शरीर ज्वर का अधिष्ठान कहा जाता है । शरीर कहने से ही इन्द्रियों का भी ग्रहण हो जाता है । अथवा ' केवल ' का अर्थ सम्पूर्ण भी होता है ।

सम्पूर्ण शरीर में इन्द्रियां भी आ ही जाती है । जब वात आदि दोष के प्रकोप से वा शरीर पर चोट आदि लगने से ज्वर होता है उसका अधिष्ठान शरीर ही है । जब काम शोक क्रोध आदि कारणों से ज्वर होता है, तब मन और शरीर अधिष्ठान होते हैं ।

बलकालस्तु निदाने संप्रदर्शितः ॥ २९ ॥

ज्वर का बलकाल निदान में कह दिया है । वहां वातज्वर के लक्षणों में कहा है—' जरणान्ते दिवासान्ते निशान्ते घर्मान्ते वा ज्वराभ्यागमनमभिवृद्धिर्वा ' । पित्तज्वर के लिङ्गों में—' भुक्तस्य विदाहकाले मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे शरदि वा विशेषेण ।' कफज्वर के रूपों में ' भुक्तमात्रे पूर्वरात्रे वसन्तकाले वा विशेषेण ।' निदानस्थान में ही इन का अर्थ देखें ॥ २९ ॥

ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं संतापो देहमानसः ।
ज्वरेणाविशता भूतं न हि किंचिन्न तप्यते ॥ ३० ॥

ज्वर का अपना स्वरूप—देह और मन का सन्ताप ही ज्वर का अपना स्वरूप है । प्राणियों के ज्वराक्रान्त होने पर ऐसा कोई नहीं जिसे सन्ताप न होता हो अर्थात् ज्वर से शारीरिक और मानस सन्ताप अवश्य होता है ॥ ३० ॥

द्विविधो विधिभेदेन ज्वरः शारीरमानसः ।
पुनश्च द्विविधो दृष्टः सौम्यश्चाग्नेय एव च ॥ ३१ ॥
अन्तर्वेगो बहिर्वेगो द्विविधः पुनरुच्यते ।
प्राकृतो वैकृतश्चैव साध्यश्चासाध्य एव च ॥ ३२ ॥

ज्वर के भेद—प्रकारभेद से ज्वर दो प्रकार का है । १ शारीर ज्वर २ मानस ज्वर । जब केवल शरीर में आश्रित होता है तब शारीरज्वर कहाता है । जब मनोयुक्त शरीर ज्वर का अधिष्ठान होता है तो मानसज्वर कहाता है । पुनरपि दो प्रकार का देखा जाता है, १ सौम्य २ आग्नेय । वेग के अभिप्राय से भी दो प्रकार का है,

१ बहिर्वेग २ अन्तर्वेग । १ प्राकृत २ वैकृत भेद से भी दो प्रकार का है । १ साध्य एवं असाध्य भेद से भी ज्वर द्विविध है॥३१-३२॥

पुनः पञ्चविधो दृष्टो दोषकालबलाबलात् ।
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥ ३३ ॥

दोष और काल के बल और अबल के हेतु से ज्वर पांच प्रकार का भी देखा गया है । १ सन्तत २ सतत ३ अन्येद्युक ४ तृतीयक ५ चतुर्थक । अर्थात् ज्वर के कारणभूत दोष के कोप में जो काल निमित्त होता है उसके बलवान् वा निर्बल होने से सन्तत आदि पांच प्रकार के ज्वर होते हैं । जब सन्तत आदि ज्वरों में दोषकाल बलवान् नहीं होता तब उन का वेग शान्त होजाता है ॥ ३३ ॥

पुनराश्रयभेदेन धातूनां सप्तधा मतः ।
भिन्नः कारणभेदेन पुनरष्टविधो ज्वरः ॥ ३४ ॥

रस आदि सात धातुरूप आश्रय के भेद से ज्वर सात प्रकार का है । १ रसज २ रक्तज ३ मांसज ४ मेदोज ५ अस्थिज ६ मज्जज ७ शुक्रज ।

कारणभेद से ज्वर आठ प्रकार का होता है । १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ वातपित्तज ५ वातकफज ६ कफपित्तज ७ सन्निपातज ८ आगन्तुज ॥ ३४ ॥

शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः ।
वैचित्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम् ॥ ३५ ॥
इन्द्रियाणां च वैकृत्यं देहसन्तापलक्षणम् ।[1]

शारीर ज्वर—शारीरज्वर वात आदि के कोप से पूर्व देह में होता है । इस में पीछे से मन भी आक्रान्त हो सकता है । शारीर-ज्वर में भी मनःसन्ताप तो होता ही है ।

मानसज्वर—प्रथम मन में आश्रित होता है । यह रज और तम से होता है । पीछे से शरीर भी आक्रान्त होजाता है ॥

१ 'ज्ञेयं संतापलक्षणम्' च० ।

मनस्ताप वा मानसज्वर के लक्षण—वैचित्य (चित्त का विक्षिप्त होना), अरति (किसी भी ओर मन का न लगना), ग्लानि; ये मनः-सन्ताप के लक्षण हैं।

देहसन्ताप का लक्षण—इन्द्रियों की विकृति ही देहसन्ताप का लक्षण है। सुख दुःख का अनुभव करने वाला देह इन्द्रियों के विना नहीं रह सकता। अतः इन्द्रियों की विकृति से ही देह की विकृति का भी ग्रहण है।

अथवा गंगाधर ने 'इन्द्रियाणां च वैकृत्यं देहे सन्तापलक्षणम्।' यह पाठ पढ़ा है। जिसके अनुसार वह इन्द्रियों की विकृति से इन्द्रिय-सन्ताप और देह की विकृति से देह-सन्ताप का ग्रहण करता है। अथवा चक्रपाणि के 'इन्द्रियाणां च वैकृत्यं ज्ञेयं सन्तापलक्षणम्।' पाठ के अनुसार यह इन्द्रियसन्ताप का लक्षण है। वह कहता है कि देहसन्ताप का लक्षण तो स्पष्ट ही है, उसे कहने की आचार्य को आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई। मन और इन्द्रियों के सन्ताप का लक्षण यहां कहा है। तथा च 'देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली' यह जो प्रश्न में पूर्व कहा है उसका भी प्रतिपादन कर दिया है। ज्वर देह इन्द्रिय और मन को तपाने वाला है ॥ ३५ ॥

वातपित्तात्मकः शीतमुष्णं वातकफात्मकः ॥ ३६ ॥
इच्छत्युभयमेतत्तु ज्वरो व्यामिश्रलक्षणः ।
योगवाही[1] परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् ॥ ३७ ॥
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात् ।

जो ज्वर वात पित्त से उत्पन्न होगा, वह शीत चाहता है और जो वातकफ से होगा वह उष्ण चाहता है। जिसमें मिश्रित लक्षण होंगे वह शीत और उष्ण दोनों ही चाहता है। वात परम योगवाही है। वह संयोग से दोनों कार्य करता है। जब तेज के साथ

१ 'योगवाहः' च०।

संयुक्त होगा तो दाह करेगा। जब सोम संयुक्त होगा तो शीतकारक होगा। जब पित्त के साथ मिलेगा तो औष्ण्यगुण-युक्त होगा। जब कफ के साथ मिश्रित होगा तो शैत्यगुण-युक्त होगा। अतः वातपित्तज्वर आग्नेय है और वातकफज्वर सौम्य है। जब वात के साथ पित्त और कफ दोनों होंगे तो पुरुष शीत उष्ण दोनों को ही चाहता है। अष्टाङ्गसंग्रह निदान अ० २ में भी कहा है—

'पवने योगवाहित्वाच्छीतं श्लेष्मयुते भवेत्।
दाहः पित्तयुते मिश्रं मिश्रे.........' ॥३६-३७॥

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ॥ ३८ ॥
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः।
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ॥ ३९ ॥

अन्तर्वेगज्वर के लक्षण—अन्दर अधिक दाह होना, तृष्णा (प्यास), प्रलाप, श्वास का अधिक वेग से चलना, भ्रम, सन्धियों और अस्थियों में शूल, पसीना न आना वा थोड़ा आना, दोष वा पुरीष का रुकना अर्थात् दोष का बाहिर न निकलना और कब्ज होना, ये अन्तर्वेग ज्वर के लक्षण हैं ॥ ३८-३९ ॥

सन्तापोऽभ्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम्।
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ॥ ४० ॥

बहिर्वेगज्वर के लक्षण—बहिर्वेग ज्वर में बाह्य ताप बहुत अधिक होता है। तृष्णा प्रलाप श्वास आदि लक्षण मृदु होते हैं, और यह सुखसाध्य होता है। इसकी सुखसाध्यता द्वारा आचार्य ने अन्तर्वेग ज्वर की दुःसाध्यता को बताया है ॥ ४० ॥

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।
कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्रोच्यते प्राकृतो ज्वरः ॥ ४१ ॥

प्राकृतज्वर—वसन्त और शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाला प्राकृतज्वर सुखसाध्य होता है। कफकोप का काल वसन्त है।

वसन्त में उत्पन्न कफज्वर प्राकृतज्वर होता है और वह सुखसाध्य होता है। शरद् पित्त के कोप का काल है। शरद् में उत्पन्न पित्तज्वर प्राकृतज्वर कहायगा। यह भी सुखसाध्य है। परन्तु वातकोप के काल वर्षा ऋतु में उत्पन्न वातज्वर प्राकृतज्वर होते हुए भी कष्टसाध्य होता है। अतएव सुखसाध्य प्राकृतज्वरों में वर्षाकालोत्पन्न वातज्वर का नाम नहीं पढ़ा।

काल की प्रकृति (स्वभाव) के उद्देश से ही प्राकृतज्वर कहा जाता है ॥ ४१ ॥

उष्णमुष्णेन संवृद्धं पित्तं शरदि कुप्यति।
चितः शीते कफश्चैवं वसन्ते समुदीर्यते ॥ ४२ ॥

कालप्रकृति—बढ़ा हुआ वा सञ्चित हुआ उष्ण गुण वाला पित्त धूप आदि की उष्णता द्वारा शरद् ऋतु में प्रकुपित हो जाता है। शीतकाल वा हेमन्त में सञ्चित हुआ कफ वसन्त में प्रकुपित होता है। अतएव शरद् में पैत्तिक रोग और हेमन्त में श्लैष्मिक रोग होते हैं। इसीप्रकार ज्वर भी होता है। शरद् में पैत्तिकज्वर और हेमन्त में श्लैष्मिकज्वर। ये प्राकृतज्वर हैं। इन्हें अगले श्लोकों में विस्तार से बताया गया है ॥ ४२ ॥

वर्षास्वम्लविपाकाभिरोषधीभिः सवारिभिः।[1]
सञ्चितं पित्तमुद्रिक्तं शरद्यादित्यतेजसा ॥ ४३ ॥
ज्वरं संजनयत्याशु तस्य चानुबलः कफः।
प्रकृत्यैव विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ॥ ४४ ॥

प्राकृत पैत्तिकज्वर—वर्षा ऋतु में ओषधियों और जलों के अम्ल-विपाकी हो जाने से सञ्चित हुआ हुआ पित्त शरद् ऋतु में सूर्य के तेज से प्रकुपित होकर शीघ्र ज्वर को उत्पन्न करता है। काल के

---

१ '०रद्भिरोषधिभिस्तथा' च.।

स्वभाव तथा विसर्गकाल होने से उससमय उस ज्वर में कफ का अनुबन्ध होता है। शरद् से ही कुछ कफ का सञ्चय प्रारम्भ होता है तथा विसर्गकाल में सोम बलवान् होता है। अतएव सौम्य—जलीय—कफभाव की ही वृद्धि होगी । ये ही हेतु है जिससे इस ज्वर में अनशन वा लङ्घन से कोई भय नहीं होता। पित्त और कफ दोनों में द्रवत्व विद्यमान है तथा काल भी बलवर्धक है अतएव आमदोष के निवारण के लिये कराये गये लङ्घन से पित्त कफ और आमदोष की शान्ति से ज्वर भी शान्त हो जायगा। यही उसकी सुखसाध्यता है ॥ ४३—४४ ॥

अद्भिरोषधिभिश्चैव मधुराभिश्चितः कफः ।
हेमन्ते सूर्यसन्तप्तः स वसन्ते प्रकुप्यति ॥ ४५ ॥
वसन्ते श्लेष्मणा तस्माज्ज्वरः समुपजायते ।
आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु ॥ ४६ ॥

मधुररस जलों और ओषधियों से हेमन्त ऋतु में सञ्चित हुआ कफ सहसा सूर्य के तेज से तपाया जाने पर वसन्त में प्रकुपित हो जाता है। अतएव वसन्त में कफ से ज्वर होता है । यतः यह आदान का मध्यकाल होता है अतः सूर्य किरणों द्वारा स्नेह वा सौम्यभाव में कमी होने से रूक्ष वायु तथा ईषत्स्निग्ध और उष्ण पित्त का अनुबन्ध हो जाता है । इस काल में शरीर के मध्यमबल होने से कुछ लङ्घन हो सकता है। जिससे आमाशयस्थित दोष का नाश होकर ज्वर शान्ति हो जाती है ॥ ४५—४६ ॥

आदावन्ते च मध्ये च बुद्ध्वा दोषबलाबलम् ।
शरद्वसन्तयोर्विद्वाञ्ज्वरस्य प्रतिकारयेत् ॥ ४७ ॥
कालप्रकृतिमुद्दिश्य निर्दिष्टः प्राकृतो ज्वरः ।

शरद् और वसन्त ऋतु में उत्पन्न प्राकृतज्वर की चिकित्सा—विद्वान् वैद्य को काल के आदि अन्त और मध्य में दोष के बलाबल का विचार करके करनी चाहिये। जैसे वसन्त के आदि में वात पित्त का बल कम होगा,

मध्य में मध्यम और अन्त में अधिक होगा । इसीप्रकार शरद् में भी ऋतु के पूर्व भाग में कफ निर्बल होगा, मध्य में मध्यम और अन्त में अधिक बलवान् होगा । इसी प्रकार अनुबन्ध्य दोषों का क्रम इससे विपरीत होगा । बसन्त में पूर्व कफ की प्रबलता, मध्य में मध्यमबलता और अन्त में निर्बलता । शरद् में पूर्व पित्त प्रबल, मध्य में मध्यमबल और अन्त में निर्बल होता है । अतएव इनका विचार करके ही विद्वान् वैद्य को चिकित्सा करनी होती है ॥

यह काल की प्रकृति के उद्देश से प्राकृतज्वर का निर्देश कर दिया है ॥ ४६–४७ ॥

प्रायेणानिलजो दुःखः कालेष्वन्येषु वैकृतः ॥ ४८ ॥

परन्तु वर्षाकाल में उत्पन्न होने वाला वातिकज्वर भी यद्यपि प्राकृत होता है परन्तु वह प्रायः कष्टसाध्य होता है । ज्वर प्रायः आमाशय से उत्पन्न होता है । लङ्घन से ही उस आमदोष का निवारण होता है परन्तु उससे वायु की वृद्धि होती है । इस प्राकृतज्वर में विसर्गकाल का प्रारम्भ होने से पुरुष अभी अल्पबल ही होते हैं । विसर्गकाल होने से उस ज्वर में अल्प सा कफ हो जाता है । पित्तसञ्चय का काल होने से पित्त का भी । वृद्धवाग्भट ने कहा है—

' वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् ।
कुर्यात् ॥'

उसने वहीं पर इस प्राकृत वातज्वर के प्रायः दुःसाध्य होने में हेतु भी दिया है—

' वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाधः प्रायश्च प्राकृतोऽनिलात् ॥
एकमार्गक्रियारम्भव्यतिवृत्तेर्महात्ययात् ॥'

अन्य कालों में वैकृतज्वर कष्टसाध्य हुआ करता है । अर्थात् जब काल के अतिरिक्त अन्य निदानोक्त कारणों से विसदृश काल में ज्वर

होगा तो वह कष्टसाध्य होगा। जैसे वसन्त में पैत्तिकज्वर का होना। अथवा शरद् में कफज्वर का होना। यहां विरुद्धोपक्रम होने से ये दुःखसाध्यता होती है ॥ ४८ ॥

हेतवो विविधास्तस्य निदाने संप्रदर्शिताः।

उस वैकृत ज्वर के विविध हेतु निदान में कहे जा चुके हैं।

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वरः साध्योऽनुपद्रवः ॥ ४६ ॥

साध्य ज्वर—बलवान् तथा अल्पदोष वाले पुरुषों में उपद्रवों से रहित ज्वर साध्य होता है। तन्त्रान्तर में ज्वर के ये उपद्रव कहे गये हैं—

'श्वासो मूर्च्छारुचिच्छर्दितृष्णातीसारविड्ग्रहाः।
हिक्काकासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश' ॥ ४६ ॥

हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः।
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनः ॥ ५० ॥

असाध्यज्वर—जो ज्वर बहुत से प्रबल हेतुओं से उत्पन्न हुआ हो, जिसमें बहुत से लक्षण हों तथाच जो शीघ्र इन्द्रियशक्ति को नष्ट करने वाला हो वह प्राणनाशक होता है।

यहां पर यह भी समझ लेना चाहिये कि यदि हेतु बहुत से हों तो लक्षण भी बहुत होगें यह आवश्यक नहीं। जैसे—कुम्हार और उसका पुत्र मिलकर भी एक घड़े को बनाते हैं। अत एव आचार्य ने यहां पर हेतु की बहुलता और लक्षणों की बहुलता पृथक् पृथक् पढ़ी है। एक हेतु से बहुत लक्षण हो जाते हैं और बहुत से हेतुओं से बहुत लक्षण नहीं भी होते। अत एव जब बहुत से प्रबल हेतुओं से बहुत से लक्षणों वाला ज्वर हो तो उसे मारक जानना चाहिये। यदि ज्वर उत्पन्न होने के बाद अल्प से समय में ही अथवा उत्पन्न होते ही रोगी के ज्ञानेन्द्रियों वा कर्मेन्द्रियों की शक्ति का नाश कर दे तो उसे भी प्राणनाशक जानें ॥ ५० ॥

सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा द्वादशाहात्तथैव च ।
सप्रलापभ्रमश्वासस्तीक्ष्णो हन्याज्ज्वरो नरम् ॥ ५१ ॥

असाध्य ज्वर—प्रलाप भ्रम श्वास; इनसे युक्त तीक्ष्ण ज्वर सात दस वा बारह दिन से मारता है । प्रलाप आदि लक्षणों से युक्त तीक्ष्ण वातिकज्वर वात के शीघ्रकारी होने से सात दिन से, इसीप्रकार प्रलाप आदि लक्षण युक्त पैत्तिकज्वर पित्त के अल्प शीघ्र होने के कारण दस दिन से और प्रलाप आदि से युक्त श्लैष्मिक ज्वर कफ के मन्द होने के कारण बारह दिन से घातक होता है ॥ ५१ ॥

ज्वरः क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ।
असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ॥ ५२ ॥

असाध्यज्वर—क्षीण एवं शोथयुक्त पुरुष को गम्भीर एवं दीर्घकाल तक रहने वाला ज्वर असाध्य होता है । तथा च जो ज्वर बली और केशों में सीमन्त (मांग) कर देने वाला हो वह भी असाध्य है । गम्भीर-ज्वर का लक्षण सुश्रुत ने किया है—

'गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ।
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च ॥'

ये चरकोक्त अन्तर्वेगज्वर के लक्षण ही हैं जो अभी पूर्व कहे जा चुके हैं । अतः यदि क्षीण और श्वयथु युक्त पुरुष को दीर्घकाल तक रहने वाला (Chronic) अन्तर्वेगज्वर हो तो उसकी मृत्यु होती है । अथवा 'गम्भीर' से गम्भीर धातु (मज्जा शुक्र) गत ज्वर का ग्रहण किया जाता है । कई व्याख्याकार 'दीर्घां मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'दैर्घरात्रिक' का अर्थ 'मृत्युकर' करते हैं । उनके अनुसार यह अर्थ होगा कि यदि क्षीण एवं शोफयुक्त व्यक्ति को गम्भीर ज्वर हो जाय तो वह मृत्यु का कारण है । सुश्रुत में भी कहा है—

'हतप्रभेन्द्रियं क्षामं दुरात्मानमुपद्रुतम् ।

गम्भीरतीक्ष्णवेगार्त्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ॥'
'केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ।
लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे' ॥ ५२ ॥

स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः।
सर्वगात्रानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥ ५३ ॥

सन्तत ज्वर—प्रवृद्ध हुए एवं साम होने से गुरु वात आदि दोष जब रसवाही स्रोतों द्वारा फैलकर सम्पूर्ण अंगों में वा शरीर में अनुगमन करके स्तब्ध हो जाते हैं—स्थिर हो जाते हैं तब सन्ततज्वर को करते हैं।

सन्तत आदि पांच प्रकार के ज्वर प्रायः सन्निपात (त्रिदोष) से उत्पन्न माने जाते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह निदान २ अ० में कहा है—

'ज्वरः पञ्चविधः प्रोक्तो मलकालबलाबलात्।
प्रायः स सन्निपातेन भूयसा त्वपदिश्यते ॥
सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ ॥'

सन्निपात से उत्पन्न होने पर भी जो दोष प्रधान होता है उसी द्वारा उत्पन्न यह व्यपदेश (जैसे वातज आदि) किया जाता है। यह सन्तत ज्वर की सम्प्राप्ति है। अष्टाङ्गसंग्रह निदान २ अ० में—

धातुमूत्रशकृद्वाहिस्रोतसां व्यापिनो मलाः।
तापयन्तस्तनुं सर्वां तुल्यदूष्यादिवर्धिताः ॥
बलिनो गुरवः स्तब्धा विशेषेण रसाश्रिताः।
सन्ततं निष्प्रतिद्वन्द्वा ज्वरं कुर्युः सुदुस्सहम् ॥' ५३ ॥

दशाहं द्वादशाहं वा सप्ताहं वा सुदुःसहः।
स शीघ्रं शीघ्रकारित्वात्प्रशमं याति हन्ति वा ॥ ५४ ॥

सन्तत ज्वर की मर्यादा—अत्यन्त दुःसह वह ज्वर शीघ्रकारी होने के कारण दस बारह या सात दिन में शीघ्र शान्त हो जाता है अथवा रोगी का हनन करता है। यह मोक्ष और वध की मर्यादा दोषों के अनुसार है।

वात शीघ्रतम है अतः सात दिन की, पित्त शीघ्रतर है अतः दस दिन की, और कफ मन्द है अतः बारह दिन की मर्यादा होती है। कफ मन्द है उसकी अपेक्षा पित्त शीघ्र है और वायु तो पित्त से भी अधिक शीघ्र है। मोक्ष और बध के विकल्प का उत्तर आचार्य ५७ वें श्लोक में स्वयं देंगे। अन्यत्र कहा भी है—

'पित्तकफानिलवृद्धया दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात्।
हन्ति विमुञ्चति वाशु ज्वरोष्मा धातुमलपाकात् ॥' ५४ ॥

कालदूष्यप्रकृतिभिर्दोषस्तुल्यो हि सन्ततम्।
निष्प्रत्यनीकः[1] कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः ॥ ५५ ॥

सन्ततज्वर के दुःसह होने में हेतु—काल, दूष्य (रस आदि धातु) और प्रकृति (वातल आदि) के तुल्य तथा जिसका कोई विरोधी न हो ऐसा दोष यतः सन्ततज्वर को करता है अतः अत्यन्त दुःसह होता है। अर्थात् यदि कोई दोष का विरोधी हो, काल आदि में से किसी के गुण विसदृश हों तो रोग का वेग कम हो सकता है। परन्तु सन्तत ज्वर तो सर्वदा अनुकूल स्थितियों में दोष द्वारा उत्पन्न होता है, अतः सर्वदा ही दुःसह होता है ॥ ५५ ॥

यथा धातुं[2] तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः।
युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात् सन्तते ज्वरे[3] ॥ ५६ ॥

सन्तत ज्वर में वात आदि दोष नियम से जैसे रस आदि धातु

---

१ निष्प्रत्यनीकमिति पठित्वा प्रत्यनीकभेषजहीनं सन्ततं ज्वरमिति व्याचष्टे गङ्गाधरः।

२ 'धातूंस्तथा' पा०। ३ 'एभिर्धात्वादिद्वादशाश्रयित्वदशाहादिव्यापकत्वादिभिर्धर्मैः सन्ततो भिन्न एव वातादिज्वरेभ्यः कालानियमेन द्वित्रिदिनेषु व्यवच्छेदेनानुसक्तेभ्यः, यस्तु तन्त्रान्तरे 'तथा सन्तत एवान्यः स्वल्पदुर्बलकारणः। अतुल्यदूष्यप्रकृतिः स्वल्पोपद्रवलक्षणः। एकदोषो द्विदोषो वा' इत्यादिना ग्रन्थेनोच्यते, स एतस्मादन्य एवेति तन्त्रान्तरेऽपि अन्यशब्दप्रयोगात्प्रतिपादितमिति न विरोधः' चक्रः।

को प्राप्त होते हैं वैसे ही नियम से युगपत् मूत्र और पुरीष में भी प्राप्त होते हैं ॥ ५६ ॥

स शुद्ध्या वाऽप्यशुद्ध्या वा रसादीनामशेषतः ।
सप्ताहादिषु कालेषु प्रशमं याति हन्ति वा ॥ ५७ ॥

वह सन्ततज्वर रस आदियों की सर्वथा शुद्धि वा अशुद्धि के कारण सप्ताह आदि उपर्युक्त कालों में या तो स्वयं शान्त हो जाता है अथवा रोगी के वध का कारण होता है । अष्टाङ्गसंग्रह निदान अ० २ में—

'मलान् ज्वरोष्मा धातून् वा स शीघ्रं क्षपयंस्ततः ।
सर्वाकारं रसादीनां शुद्ध्याशुद्ध्यापि वा क्रमात् ॥
वातपित्तकफैः सप्त दश द्वादशवासरान् ।
प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च ॥
इत्याग्निवेशस्य मतं ॥'

अर्थात् ज्वर की ऊष्मा का स्वभाव क्षीण करने का है। जब यह ऊष्मा मलों को क्षीण करता है तब निर्दिष्टकाल में रस आदियों की सर्वथा शुद्धि हो जाने से ज्वर की यथादोष सात दस वा बारह दिनों में शान्ति हो जाती है । परन्तु यदि ज्वर की ऊष्मा से धातुओं की क्षीणता हो तो निर्दिष्टकाल में रस आदि के सर्वथा अशुद्ध हो जाने से यथादोष सात दस वा बारह दिनों में रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥ ५७ ॥

यदा तु नातिशुध्यन्ति न वा शुध्यन्ति सर्वशः ।
द्वादशैते समुद्दिष्टाः सन्ततस्याश्रयास्तदा ॥ ५८ ॥
विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम् ।
दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥ ५९ ॥

जब ऊपर कहे गये सन्ततज्वर के बारह आश्रय (तीन दोष+सात धातु+मूत्र और पुरीष) अत्यन्त शुद्ध नहीं होते अथवा सर्वशः शुद्ध नहीं होते (अर्थात् बारह में से कुछ शुद्ध हों और कुछ न हों) तब बारहवें दिन अस्पष्ट चिन्हों से मोक्ष करके दुःखसाध्य होकर दीर्घकाल

तक अनुवर्तन करता है । अर्थात् यदि सर्वथा और सर्वशः शुद्धि न हो तो यह ज्वर दीर्घकाल तक रहा करता है और वह कष्टसाध्य होता है । ऐसे समय बारहवें दिन शान्त तो होता है पर उसका पता नहीं चलता, क्योंकि दोषों के अभी लीन रहने के कारण ज्वरमुक्ति के देहलघुता आदि लक्षण स्पष्ट दिखाई नहीं देते । पुनः कुछ काल के बाद या तो उसी दिन या उससे अगले दिन पुनः प्रकट होता है और बहुत दिनों तक रोगी उससे आक्रान्त रहा करता है ॥५८—५९॥

इति बुद्ध्वा ज्वरं वैद्य उपक्रामेत्तु सन्ततम् ।
क्रियाक्रमविधौ युक्तः प्रायः प्रागपतर्पणैः ॥ ६० ॥

सन्ततज्वर को इसप्रकार का समझ कर प्रायः पूर्व अपतर्पण (लङ्घन आदि कराना) द्वारा चिकित्साक्रम के विधान में वैद्य प्रवृत्त हो । दुःसह सन्ततज्वर के स्वभाव को समझ कर ही सावधानी से चिकित्सा की जा सकती है ॥ ६० ॥

रक्तधात्वाश्रयः प्रायो दोषः सततकं ज्वरम् ।
[1]सप्रत्यनीकः कुरुते कालवृद्धिक्षयात्मकम् ॥ ६१ ॥

सततज्वर—विरोधी-युक्त दोष प्रायः रक्त धातु में आश्रित होकर काल में बढ़ने और क्षीण होने वाले सततज्वर को उत्पन्न करता है । अर्थात् जब दोष के अनुकूल काल होता है तब वृद्धि होती है । और जब अनुकूल नहीं होता तब क्षय होता है । इस ज्वर में काल प्रकृति वा दूष्य में से कोई न कोई दोष के विरोधी होते हैं । अत एव जब विरोधी प्रबल होता है तब यह ज्वर छिप जाता है और पुनः अनुकूल द्वारा बल प्राप्त होने पर ज्वर हो जाता है ॥ ६१ ॥

अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ।
कालप्रकृतिदूष्याणां प्राप्यैवान्यतमाद्बलम् ॥ ६२ ॥

---

१ 'सप्रत्यनीक इति कालादिषु मध्ये अन्यतमः प्रत्यनीकः' चक्रः ।

काल प्रकृति वा दूष्य में से किसी एक द्वारा बल पाकर ही सततक ज्वर अहोरात्र (२४ घण्टे में) में दो बार अनुवर्तन करता है । यह दिन में दो वार हो सकता है अथवा रात्रि में दो वार हो सकता है अथवा एक वार दिन और एक वार रात में हो सकता है ॥ ६२ ॥

दोषो[1] मेदोवहा रुद्ध्वा नाडीरन्येद्युकं ज्वरम् ।
सप्रत्यनीकः कुरुते एककालमहर्निशिं[2] ॥ ६३ ॥

अन्येद्युष्क ज्वर—काल प्रकृति वा दूष्य में से किसी के विरोधी होने पर दोष मेदोवहा नाड़ियों को रोककर अन्येद्युष्क ज्वर को उत्पन्न करता है । यह अहोरात्र में एक वार होता है । २४ घण्टे में इसका वेग एक वार होता है ॥ ६३ ॥

दोषोऽस्थिमज्जगः कुर्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वर—अस्थि (हड्डी) और मज्जा में पहुंचा हुआ दोष तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को करता है ।

गतिर्ह्येकान्तरान्येद्युर्दोषस्योक्ताऽन्यथा परैः ॥ ६४ ॥
रक्तमेवाभिसंसृज्य कुर्यादन्येद्युकं ज्वरम् ।
मांसस्रोतांस्यनुसृतो जनयेत्तु तृतीयकम् ॥ ६५ ॥
ज्वरं दोषः संसृतो हि मेदोमार्गं चतुर्थकम् ।

दोष की गति—प्रतिदिन, एक दिन के अन्तर से वा दो दिन के अन्तर से कही गई है । जब प्रतिदिन एक वार गति होती है तब

---

१ ‘अन्येद्युष्कं ज्वरं दोषो रुद्ध्वा मेदोवहाः सिराः । सप्रत्यनीकं जनयत्येककालमहर्निशम्’ ग.। ‘इतः पूर्वं ‘अन्येद्युष्कं ज्वरं कुर्यादपि संश्रित्य शोणितम्’ इत्यधिकं पठ्यते । २ अस्मादनन्तरं दोष इत्यारभ्य ज्वरम् इति पर्यन्तं न पठितं गङ्गाधरेण । अत्र च ‘अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं छित्वा तृतीयकः । नातिप्रकुपितो दोष-एककालमहर्निशम् । मांसस्रोतस्यनुगतो जनयेत्तु तृतीयकम् ॥ संश्रितो मेदसो मार्गं दोषश्चापि चतुर्थकम् ॥ दिनद्वयं यो विश्राम्य प्रत्येति स चतुर्थकः॥’ इति पठयते ।

अन्येद्युष्क ज्वर होता है । जब एक दिन के अन्तर से तब तृतीयक जब दो दिन के अन्तर से तब चतुर्थक ।

अन्य आचार्यों ने अन्यथा गति कही है । जब दोष रक्त के साथ संसर्ग को प्राप्त होता है तब अन्येद्युष्क होता है । मांसस्रोतों में गया हुआ तृतीयकज्वर को करता है । जब मेदोमार्ग में फैल जाता है तब चतुर्थक ज्वर होता है । सुश्रुत उ० अ० ३९ में अन्यथा ही कहा है—

'सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ।
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।
कुर्याच्चातुर्थकं घोरमन्तकं रोगसङ्करम् ॥'

वृद्धवाग्भट ने—

दोषो रक्ताश्रयः प्रायः करोति सततं ज्वरम् ।
अहोरात्रस्य स द्विःस्यात्सकृदन्येद्युराश्रितः ॥
तस्मिन्मांसवहा नाडीर्मेदोनाडीस्तृतीयके ।
चतुर्थको मले मेदोमज्जास्थ्यन्यतमास्थिते ।
मज्जस्थ एवेत्यपरे ॥' निदान अ० २ ॥

अभिप्राय यह है कि इन ज्वरों की सम्प्राप्ति के विषय में आचार्यों में परस्पर मतभेद है ॥ ६४—६५ ॥

अन्येद्युष्कः प्रतिदिनं दिनं त्विप्त्वा तृतीयकः ॥ ६६ ॥
दिनद्वयं यो विश्राम्य प्रत्येति स चतुर्थकः ।

अन्येद्युष्क ज्वर प्रतिदिन लौटकर आता है । तृतीयक एक दिन के व्यवधान से और चतुर्थक दो दिन विश्राम कर लौटता है ॥६६॥

अधिशेते यथा भूमिं बीजं काले च रोहति ॥ ६७ ॥
अधिशेते तथा धातुं दोषः काले च कुप्यति ।

जिस प्रकार बीज भूमि में पड़ा रहता है और अपने उचित काल में रोहण करता है उसी प्रकार दोष रक्त आदि धातुओं में पड़ा

रहता है और अनुकूल काल में कुपित हो जाता है ॥ ६७ ॥

स वृद्धिं बलकालं च प्राप्य दोषस्तृतीयकम् ॥ ६८ ॥
चतुर्थकं च कुरुते प्रत्यनीकबलक्षयात्[1] ।

वह दोष बढ़कर बलकाल को पाकर विरोधी के बल के क्षीण होने के कारण तृतीयक (तिजारी) और चतुर्थक (चौथिया) ज्वर को करता है ॥ ६८ ॥

कृत्वा वेगं गतबलाः स्वे[2] स्वे स्थाने व्यवस्थिताः ॥ ६९ ॥
पुनर्विवृद्धाः स्वे काले ज्वरयन्ति नरं मलाः ।

वेग को करके निर्बल हुए दोष अपने अपने स्थानों में जा ठहरते हैं। अपने अनुकूल काल में पुनः बढ़कर मनुष्य को ज्वर कर देते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह निदान द्वितीयाध्याय में कहा है—

'कृशानां व्याधिमुक्तानां मिथ्याहारादिसेविनाम् ।
अल्पोऽपि दोषो दूष्यादेर्लब्ध्वान्यतमतो बलम् ॥
सप्रत्यनीको विषमं कुर्याद् वृद्धिक्षयान्वितः ॥
सूक्ष्मसूक्ष्मतरास्येषु दूरदूरतरेषु च ।
दोषो रक्तादिमार्गेषु शनैरल्पश्चिरेण यत् ॥
याति देहं च नाशेषं भूयिष्ठं भेषजेऽपि च ।
क्रमोऽयं तेन विच्छिन्नसन्तापो लक्ष्यते ज्वरः ॥
यथोत्तरं मन्दगतिर्मन्दशक्तिर्यथा यथा ।
कालेनाप्नोति सदृशान् स रसादींस्तथा तथा ॥
दोषो ज्वरयति क्रुद्धाश्चिराच्चिरतरेण च ॥
भूमौ स्थितं जलैः सिक्तं कालमेव प्रतीक्षते ।
अङ्कुराय यथा बीजं दोषबीजं रुजे तथा ॥

---

१ 'प्रत्यनीकस्य कालप्रकृत्यादेर्दोषविरुद्धस्य बलक्षयः, तेन दोषवृद्ध्या यदा प्रत्यनीकस्य क्षयो भवति तदा ज्वरयतीत्यर्थः' चक्रः। 'प्रत्यनीकं बलक्षयात्' ग.। 'प्रत्यनीकं आतुरस्य मारकं' गङ्गाधरः।

२ 'श्लेष्मस्थाने' ग.।

वेगं कृत्वा विषं यद्वदाशये लीयतेऽबलम् ।
कुप्यत्याप्तबलं भूयः काले दोषविषं तथा ॥
एवं ज्वराः प्रवर्तन्ते विषमाः सततादयः ॥
दोषः प्रवर्तते तेषां स्वे काले ज्वरयन् बली ।
निवर्तते पुनश्चैष प्रत्यनीकबलाबलः ।
क्षीणे दोषे ज्वरः सूक्ष्मो रसादिष्वेव लीयते ।
लीनत्वात्कार्श्यवैवर्ण्यजाड्यादीनादधाति सः ॥
अतिलीनोऽतिमन्दत्वात् भवत्यह्नि न पञ्चमे ॥

सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी कहा है—

वातेनोद्धूयमानस्तु यथा पूर्येत सागरः ।
वातनोदीरितास्तद्वद् दोषाः कुर्वन्ति वै ज्वरान् ॥
यथा वेगागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः ।
वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्निधीयते ॥
दोषवेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽस्य वा ।
वेगहानौ प्रशाम्येत यथाम्भः सागरे तथा ॥' ६९ ॥

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः ॥ ७० ॥
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ।

तृतीयक के तीन भेद—त्रिकदेश पर पूर्व वेदना करके जो तृतीयकज्वर होता है वह कफपित्त से होता है । पीठ में वेदना कर जो तृतीयकज्वर होता है वह वातकफ से होता है । यदि शिर में वेदना करता हुआ तृतीयकज्वर हो तो उसे वातपित्त से जानना चाहिये । इसप्रकार १ कफपित्तज २ वातकफज और ३ वातपित्तज तीन प्रकार का तृतीयकज्वर है ॥ ७० ॥

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः ॥ ७१ ॥
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ।

चतुर्थकज्वर का दो प्रकार का प्रभाव—चतुर्थक ज्वर दो प्रकार

का प्रभाव दिखाता है । १ श्लैष्मिक चतुर्थक ज्वर तो पूर्व जङ्घाओं में पीडा शिथिलता आदि करता है और, २ वातज पूर्व शिरः पीडा करता हुआ प्रकट होता है। चतुर्थकज्वर में पित्त की प्रधानता नहीं होती। अनुबन्ध रूप से पित्त रह सकता है । अथवा प्रायः श्लैष्मिक और वातिक ही होता है । पैत्तिक कदाचित् ही दिखाई देता है, अतः यहां पर उसका वर्णन नहीं है । क्योंकि नागभर्तृ तन्त्र में कहा है—

ऊर्ध्वकायं तु यः पूर्वं गृह्णाति सोऽनिलात्मकः ।
मध्यकायं तु गृह्णाति पूर्वं यस्तु स पित्तजः ॥
पूर्वं गृह्णात्यधःकायं श्लेष्मवृद्धश्चतुर्थकः ॥ ७१ ॥

विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ॥ ७२ ॥
त्रिविधो धातुरेकैको द्विधातुस्थः करोत्ययम् ।

चतुर्थकविपर्यय—एक अन्य चतुर्थकविपर्यय नाम का ज्वर विषमज्वर ही है । यह एक दिन न होकर दो दिन वेग करता है और पश्चात् एक दिन विश्राम करता है । तन्त्रान्तर में कहा भी है—

'विषमज्वर एवान्यश्चतुर्थकविपर्ययः ।
स मध्ये ज्वरयत्यह्नी आदावन्ते च मुञ्चति ॥'

यह ज्वर बहुत ही कम देखा जाता है। सुश्रुत उ० अ० ३९ के—

'कफस्थानेषु वा तिष्ठन् दोषो द्वित्रिचतुर्षु वा ।
विपर्ययाख्यान् कुरुते विषमान् कृच्छ्रसाधनान् ॥

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए जेज्जट ने अन्येद्युष्क तृतीयक चतुर्थक; प्रत्येक का विपर्यय माना है । यदि एक काल को छोड़कर सारा अहोरात्र ज्वर रहे तो वह अन्येद्युष्कविपर्यय होगा । आदि और अन्त के दो दिन ज्वर न हो और मध्य के एक दिन में ज्वर हो तो वह तृतीयकविपर्यय कहायगा । चातुर्थकविपर्यय में तो कई व्याख्याकार चार

१ 'त्रिविधो धातुरिति वातादिः। 'द्विधातुस्थ इति अस्थिमज्जगतः' चक्रः ।
२ 'करोति यम्' ग. ।

दिन को लेते हैं । आदि का एक दिन ज्वररहित, पुनः दो दिन ज्वर युक्त, तदन्तर एक दिन ज्वररहित । परन्तु हरिश्चन्द्र ने तीन दिन का ग्रहण किया है । प्रथम दिन ज्वररहित पुनः दो दिन ज्वर युक्त । हमें तो हरिश्चन्द्र का मत ही ठीक प्रतीत होता है । अतएव चरक ने तो अन्य कोई भी विपर्यय नहीं पढ़ा । तीन प्रकार का धातु अर्थात् वात पित्त कफ एक एक दो धातुओं में स्थिर होकर इस चातुर्थकविपर्यय नामक ज्वर को करता है । अर्थात् इन तीनों दोषों में से कोई एक जब दो धातुओं में स्थित होता है तब ही यह ज्वर होता है । पाराशर ने कहा भी है—

'अस्थिमज्जोभयगते चतुर्थकविपर्ययः ।
त्र्यहाद् द्व्यहं ज्वरयत्यादावन्ते च मुञ्चति' ॥ ७२ ॥

प्रायशः संनिपातेन दृष्टः पञ्चविधो ज्वरः ॥ ७३ ॥
सन्निपाते तु यो भूयान् स दोषः परिकीर्तितः ।

सन्तत आदि पांच प्रकार का ज्वर प्रायशः सन्निपात (त्रिदोष) से ही देखा जाता है । सन्निपात में जो प्रबलतम होता है वह ही दोष कहा जाता है । अर्थात् ये पांचों ही ज्वर त्रिदोष से होते हैं, परन्तु यदि हम एक दोष का नाम लेकर कहें कि वह उससे उत्पन्न हुआ है तो वहां अभिप्राय उस दोष के सबसे अधिक प्रवृद्ध होने से होगा । शेष दोष भी साथ ही समझने चाहियें । उदाहरणार्थ श्लैष्मिक चतुर्थक कहा है, वहां यद्यपि पित्त और वात भी साथ ही है परन्तु कफ के वृद्धतम होने से हम उसे श्लैष्मिक कहते हैं । 'प्रायशः' कहने का यह तात्पर्य है कि कदाचित् एक दोष से भी हो सकते हैं ।

ऋत्वहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात् ॥ ७४ ॥
कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते ।

ऋतु, अहोरात्र, दोष और मन के बलाबल के कारण तथा अर्थवश अर्थात् प्राक्तनकर्मवश ज्वर उस उस काल को प्राप्त होता है ।

अभिप्राय यह है कि इन ज्वरों की परस्पर उपर्युक्त कारणों से परावृत्ति भी हो जाती है। अर्थात् जैसे सन्तत-सतत अन्येद्युष्क तृतीयक वा चतुर्थक रूप में बदल जाता है। इसीप्रकार सतत-सन्तत अन्येद्युष्क आदि रूप में बदलता हुआ देखा जाता है। इन पांचों में परस्पर परिवर्तन हो सकता है। कोई ज्वर किसी दूसरे रूप को धारण कर लेता है। इस रूप-परिवर्तन में ऋतु आदि का बलाबल वा प्राक्तनकर्म कारण होता है। चक्रपाणि ने उदाहरण दिये हैं, जैसे-ऋतु बलाबल से-वर्षा काल में उत्पन्न वातप्रधान सततज्वर अपने विरोधी शरद् ऋतुको पाकर अन्येद्युष्क रूप हो जाता है। अहोरात्र के बलाबल से जैसे—वसन्त के मध्य के दिवसों में उत्पन्न वातिक चातुर्थक वसन्त के पिछले दिवसों में बलवान् होकर तृतीयक आदि रूप हो जाता है। इसी प्रकार उन्हीं दिनों में उत्पन्न हुआ श्लैष्मिक सततज्वर पिछले कफविरुद्ध दिनों में अन्येद्युष्क आदि हो जाता है। दोष के बलाबल से ज्वर की परावृत्ति तो स्पष्ट ही है। मन के बल से—सततज्वर मन की निवृत्ति द्वारा अन्येद्युष्क हो जाता है। भय आदि मन की दुर्बलता से चतुर्थक ज्वर तृतीयक आदि ज्वर में बदल जाता है। ज्वर की उत्पत्ति और निवृत्ति में भी मन का बड़ा प्रभाव है। आगे कहा भी जायगा—

'ज्वरकालं च वेगञ्च चिन्तयन् ज्वर्यते तु यः।'

तथा प्राक्तनकर्मवश—दुःसह ज्वर उस की अपेक्षा अल्प दुःखदमें और अल्प दुःख देने वाला दुःसह ज्वर के रूप में बदल जाता है।

वस्तुतः यह श्लोक आचार्य ने केवल परावृत्ति को ही दृष्टि में रखते हुए नहीं कहा। यह नियम तो उनके अपने अपने विशेष-रूप पर भी लागू है। अर्थात् सन्तत अन्येद्युष्क आदि ज्वर ऋतु आदि के बलाबल के कारण उस उस अवस्था को धारण करते हैं ॥७४॥

गुरुत्वं दैन्यमुद्वेगः सदनं छर्द्यरोचकौ ॥ ७५ ॥

रसस्थिते बहिस्तापः साङ्गमर्दो विजृम्भणम् ।

रसाश्रित ज्वर के लक्षण—जब ज्वर रसधातु में आश्रित होता है तब गुरुता, दीनता, उद्वेग, शिथिलता, छर्दि (कै), अरुचि, बाहिर ताप, अङ्गमर्द तथा जम्भाई; ये लक्षण होते हैं ॥ ७५ ॥

रक्तोत्थाः पिडकास्तृष्णा सरक्तं ष्ठीवनं मुहुः ॥ ७६ ॥
दाहरागभ्रममदाः प्रलापो रक्तसंस्थिते ।

रक्ताश्रित ज्वर के लक्षण—जब ज्वर रक्त में स्थित होता है, तब रक्तज पिडकायें, तृष्णा, बारंबार रक्तमिश्रित थूकना, दाह, राग (शरीर का रक्तवर्ण का होना), भ्रम, मद और प्रलाप होता है॥७६॥

अन्तर्दाहो[1]ऽधिकस्तृष्णा ग्लानिः[2] संसृष्टविट्कता ॥ ७७ ॥
दौर्गन्ध्यं गात्रविक्षेपो ज्वरे मांसस्थिते भवेत् ।

मांसाश्रित ज्वर के लक्षण—अत्यधिक अन्तर्दाह, तृष्णा, ग्लानि, मलप्रवृत्ति वा अतीसार, शरीर से दुर्गन्ध आना, गात्रविक्षेप (अङ्गों का पटकना जैसे आक्षेपक रोग में); ये लक्षण मांसस्थित ज्वर में होते हैं ॥ ७७ ॥

स्वेदस्तीव्रा पिपासा च प्रलापो[3] वम्यभीक्ष्णशः ॥ ७८ ॥
स्वगन्ध[4]स्यासहत्वं च मेदःस्थे ग्लान्यरोचकौ ।

मेद में आश्रित ज्वर के लक्षण—स्वेद (पसीना), तीव्र पिपासा (प्यास), प्रलाप, बहुत वार कै आना, अपने शरीर की गन्ध को न सहना, ग्लानि और अरुचि; ये मेदःस्थित ज्वर के लक्षण हैं ॥ ७८ ॥

विरेकवमने चोभे सास्थिभेदं प्रकूजनम् ॥ ७९ ॥
विक्षेपणं च गात्राणां श्वासश्चास्थिगते ज्वरे ।

अस्थिगत ज्वर के लक्षण—अतीसार, कै, अस्थिभेद (अस्थियों

---

१ 'अन्तर्दाहः सतृषमोहैः' पा० । २ 'सग्लानिः सृष्टविट्कता' ग. । ३ 'प्रलापारत्यभीक्ष्णशः' ग. । ४ 'सगन्धास्यासहत्वं' ग. ।

में पीड़ा), प्रकूजन (कण्ठ से पीड़ासूचक अव्यक्त शब्द करना), गात्रविक्षेप (अंगों का फैंकना) और श्वास; ये लक्षण अस्थिगतज्वर में होते हैं ॥ ७९ ॥

हिक्का श्वासस्तथा कासस्तमसश्चातिदर्शनम् ॥ ८० ॥
मर्मच्छेदो बहिः शैत्यं दाहोऽन्तश्चैव मज्जगे ।

मज्जागत ज्वर के लक्षण—हिचकी, श्वास, कास, आंखों के आगे बहुधा अन्धकार दिखाई देना, मर्मच्छेद (मर्मान्त-व्यथा), बाहिर शीतलता और अन्दर दाह; ये मज्जाश्रितज्वर के लक्षण हैं ॥८०॥

शुक्र[1]स्थानगते शुक्रमोक्षं कृत्वा विनाश्य च ॥ ८१ ॥
प्राण[2]वाय्वग्निसोमैश्च सार्धं गच्छत्यसौ विभु[3]ः ।

शुक्रगतज्वर के लक्षण—शुक्राश्रित ज्वर में शुक्र (वीर्य) का स्राव होता है, तथा आत्मा शुक्र का नाशकर प्राणवायु अग्नि और सोम के साथ चला जाता है अर्थात् उस रोगी की मृत्यु हो जाती है ॥८१॥

रसरक्ताश्रितः साध्यो मेदोमांसगतश्च यः ॥ ८२ ॥
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थो नैव सिध्यति ।

धात्वाश्रित ज्वरों की साध्यासाध्यता—रस रक्त मांस तथा मेद धातु में आश्रित ज्वर साध्य होते हैं । अस्थि और मज्जा में आश्रित ज्वर कष्टसाध्य होते हैं । शुक्रस्थित ज्वर असाध्य है ॥ ८२ ॥

हेतुभिर्लक्षणैश्चोक्तः पूर्वमष्टविधो ज्वरः ॥ ८३ ॥
समासेनोपदिष्टस्य व्यासतः शृणु लक्षणम् ।

प्रथम (निदानस्थान में) हेतु और लक्षणों द्वारा आठ प्रकार का ज्वर कहा जा चुका है । वहां पर जिन्हें संक्षेप से कहा है उनके

---

१ 'शुक्रस्थानगतः' च. । २ 'प्राणं वाय्वग्नि' ग० । ३ रसादिधातुगत-ज्वरलक्षणपाठस्त्वनार्ष इति केचित्, अत एव चक्रेण नायं व्याख्यातः, सुश्रुत-व्याख्यायां जेज्झटेनाप्येवमेवोक्तं, तथाहि—निबन्धसंग्रहे डल्हणः—'यतः सर्व-शरीरं सन्ततेन व्याप्तं सततादिभिश्च रसादिधातव कुतो रसादिधातुगतज्वरावकाश इति रसादिस्थज्वराणां पाठो न पठनीय एवेति जेज्जटाचार्याभिमतम्' इति ।

लक्षणों को विस्तार से सुनो ।

वहां द्वन्द्वज सान्निपातिक और आगन्तु ज्वरों को संक्षेप में कहा है । अतः उन्हें ही यहां आचार्य विस्तार से कहते हैं । एकदोषजों के लक्षण विस्तृत रूप से वहीं कहे जा चुके हैं । यहां पुनः नहीं कहे जांयगे ॥ ८३ ॥

शिरोरुक् पर्वणां भेदो दाहो रोम्णां प्रहर्षणम् ॥ ८४ ॥
कण्ठास्यशोषो वमथुस्तृष्णा मूर्च्छा भ्रमोऽरुचिः ।
स्वप्ननाशोऽतिवाग्जृम्भा वातपित्तज्वराकृतिः ॥ ८५ ॥

वातपित्तज्वर के लक्षण—सिर में दर्द, पर्वों में भेदनवत् पीड़ा, दाह, लोमहर्ष, कण्ठ और मुख का सूखना, कै, पिपासा, मूर्च्छा, भ्रम, अरुचि, निद्रानाश, अधिक बोलना, जम्भाईयां; ये वातपित्त ज्वर के लक्षण हैं ॥ ८४-८५ ॥

शीतको गौरवं तन्द्रा स्तैमित्यं पर्वणां च रुक् ।
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ॥ ८६ ॥
सन्तापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ।

वातकफज्वर के लक्षण—शीतक (शीत लगना), गौरव (भारीपन), तन्द्रा, स्तिमितता (आर्द्रवस्त्र से आच्छादन सी अनुभूति), पोरों में दर्द, शिर का जकड़ा जाना, प्रतिश्याय (जुकाम), कास, पसीना न आना, सन्ताप तथा ज्वर का वेग मध्यम होना; ये वातकफ ज्वर के लक्षण हैं ।

चक्रपाणि ने शीतक का अर्थ शीतपित्त किया है । माधवनिदान की टीका में मधुकोषकार ने 'स्वेदाप्रवर्तनम्' का अर्थ पसीने की अतिशय प्रवृत्ति किया है । उसका अभिप्राय यह है कि यह लक्षण विकृतिविषमसमवाय द्वारा है और अपने अर्थ की पुष्टि में हारीत का वचन प्रमाणित करता है—

'शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य ।'

'स्वेदभव' का अर्थ स्वेद की उत्पत्ति है ॥ ८६ ॥

मुहुर्दाहो मुहुः शीतं स्वेदस्तम्भो[1] मुहुर्मुहुः ॥ ८७ ॥
मोहः कासोऽरुचिस्तृष्णा श्लेष्मपित्तप्रवर्तनम् ।
लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥ ८८ ॥
इत्येते द्वन्द्वजाः प्रोक्ताः,

कफपित्त ज्वर के लक्षण—बारं बार दाह और शीत का होना और बार बार पसीना ना आना अर्थात् कभी शीत लगना कभी दाह होना, कभी पसीना आना कभी न आना, मोह (मूर्च्छा), अरुचि, तृष्णा (प्यास), कफ और पित्त की प्रवृत्ति (वमन द्वारा अथवा मल के साथ), मुख का कफलिप्त तथा तिक्त (कडुआ) होना, तन्द्रा; ये कफपित्त ज्वर के लक्षण हैं । इन में 'स्वेदस्तम्भः' से स्वेद और स्तम्भ यह भी अर्थ किया जा सकता है अर्थात् कफपित्त ज्वर में बार बार पसीना आता है और बार बार स्तम्भ होता है । अष्टाङ्ग संग्रहकार ने भी स्वेद और स्तम्भ को पृथक् पृथक् गिना है—

शीतस्तम्भस्वेददाहाव्यवस्था तृष्णा कासः श्लेष्मपित्तप्रवृत्तिः ।
मोहस्तन्द्रा लिप्ततिक्तास्यता च ज्ञेयं रूपं श्लेष्मपित्तज्वरस्य ॥

स्तम्भ का अर्थ अङ्ग का गतिरहित वा जड़वत् होना है । गङ्गाधर ने 'स्तम्भ' का अर्थ 'पसीना ना आना' किया है ।

ये द्वन्द्वज कह दिये हैं ॥ ८७-८८ ॥

सन्निपातज उच्यते ।
सन्निपातज्वरस्योर्ध्वं त्रयोदशविधस्य हि ॥ ८९ ॥
प्राक्सूत्रितस्य वक्ष्यामि लक्षणं वै पृथक् पृथक् ।

अब सन्निपातज ज्वर कहा जायगा । पूर्व सूत्ररूप में कहे गये तेरह प्रकार के सन्निपातज्वर के लक्षण पृथक् पृथक् कहूंगा ॥ ८९ ॥

भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक् ॥ ९० ॥

---

१ 'स्वेदस्तम्भ इति स्वेदाप्रवर्तनं' चक्रः ।

वातपित्तोल्वणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ।

१ वातपित्तप्रधान मन्दकफ सन्निपातज्वर के लक्षण—भ्रम, पिपासा (प्यास), दाह, गुरुता, शिर में अत्यधिक वेदना; ये लक्षण उस सन्निपात ज्वर में होते हैं जिस में वात और पित्त अधिक हों--प्रवृद्ध हों और कफ अपेक्षया मन्द हो ॥ ९० ॥

शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रा पिपासा दाहरुग्व्यथाः[1] ॥ ९१ ॥
वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ।

२ वातकफप्रधान हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण—शीत-लगना, खांसी, अरुचि, तन्द्रा, श्वास, दाह, पीड़ा, व्यथा, ये वातकफ-प्रधान हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण हैं ॥ ९१ ॥

छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना ॥ ९२ ॥
मन्दवाते व्यवस्यन्ते[2] लिङ्गं पित्तकफोल्बणे ।

३ पित्तकफप्रधान हीनवात सन्निपातज्वर के लक्षण—कै, शीत-लगना, बारबार दाह होना, तृष्णा (प्यास), मोह (मूर्च्छा), हड्डियों में दर्द; ये पित्तकफप्रधान मन्दवात त्रिदोषज्वर के लक्षण हैं ॥९२॥

सन्ध्यस्थिशिरसः शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः ॥ ९३ ॥
वातोल्बणे स्याद्व्यनुगे तृष्णा कण्ठास्यशोषता ।

४ वातप्रधान पित्तकफहीन सन्निपातज्वर के लक्षण—सन्धियों हड्डियों और शिर में शूल होना, प्रलाप, गुरुता, भ्रम, तृष्णा, कण्ठ और मुख का सूखना; ये वातप्रधान हीनपित्तकफ त्रिदोषज्वर के लक्षण हैं॥९३॥

रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृड्बलसंक्षयः ॥ ९४ ॥
मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ।

५ पित्तप्रधान हीनकफवात सन्निपातज्वर के लक्षण—मल और मूत्र का लालवर्ण का वा रक्तमिश्रित जाना, पसीना, प्यास, दुर्बलता; मूर्च्छा; ये लक्षण पित्तप्रधान

---

१ 'दाहहृद्व्यथाः' पा० । २ 'व्यवस्यन्ति' ग. ।

त्रिदोषज्वर में दिखाई देते हैं ॥ ९४ ॥

आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः ॥ ९५ ॥
कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ।

६ कफप्रधान मन्दवातपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण—आलस्य, अरुचि, हृल्लास (जी मिचलाना), दाह, कै, अरति (किसी भी कार्य में मन न लगना), भ्रम, तन्द्रा और कास, इन लक्षणों से कफप्रधान सन्निपातज्वर जाने ॥ ९५ ॥

प्रतिश्या छर्दिरालस्यं तन्द्राऽरुच्यग्निमार्दवम् ॥ ९६ ॥
हीनवाते पित्तमध्ये चिह्नं श्लेष्माधिके मतम् ।

७ कफप्रधान पित्तमध्य वातहीन सन्निपातज्वर के लक्षण—प्रतिश्याय, कै, आलस्य, तन्द्रा, अरुचि, मन्दाग्नि; ये चिन्ह हीनवात पित्तमध्य कफाधिक सन्निपातज्वर के हैं ॥ ९६ ॥

हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः ॥ ९७ ॥
हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ।

८ पित्ताधिक मध्यकफ हीनवात सन्निपातज्वर के लक्षण—मूत्र और नेत्र का हलदी के वर्ण का होना, दाह, तृष्णा, भ्रम, अरुचि, ये लक्षण हीनवात मध्यकफ पित्ताधिक सन्निपातज्वर के हैं ॥९७॥

शिरोरुग्वेपथुः श्वासः प्रलापश्छर्द्यरोचकौ ॥ ९८ ॥
हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ।

९ वाताधिक मध्यकफ हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण—शिरोवेदना, कंपकंपी, श्वास, प्रलाप, कै, अरुचि, ये हीनपित्त मध्यकफ वाताधिक सन्निपातज्वर के लक्षण हैं ॥ ९८ ॥

शीतको गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोतिरुक् ॥ ९९ ॥
हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः ।

१० कफाधिक वातमध्य हीनपित्त सन्निपातज्वर के लक्षण—शीत लगना, गुरुता, तन्द्रा, प्रलाप, हड्डियों तथा शिर में अत्यन्त

वेदना; ये हीनपित्त वातमध्य कफाधिक त्रिदोषज्वर के लक्षण हैं॥९९॥

श्वासकासप्रतिश्याया मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् ॥ १०० ॥
कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम् ।

११ वाताधिक पित्तमध्य हीनकफ सन्निपातज्वर के लक्षण—श्वास, कास, प्रतिश्याय, मुख का सूखना और पार्श्वों में वा पसलियों में अत्यन्त दर्द; ये कफहीन पित्तमध्य और वाताधिक सन्निपातज्वर के लक्षण हैं ॥ १०० ॥

पर्वभेदोऽग्निमान्द्यं च तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १०१ ॥
कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ।

१२ पित्ताधिक वातमध्य कफहीन सन्निपातज्वर के लक्षण—पर्व में भेदनवत् पीड़ा, अग्निमान्द्य, तृष्णा, दाह, अरुचि, भ्रम; ये लक्षण कफहीन वातमध्य पित्ताधिक त्रिदोषज्वर के हैं ॥

भालुकितन्त्र में एक और दो दोष प्रवृद्ध सन्निपात ज्वरों के लक्षण अन्यथा पढ़े हैं[1] । और वहां उनके पृथक् पृथक् नाम भी दिये

---

१ 'आमो ह्याहारदोषात् प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे, श्लेष्मत्वं याति भुक्तं सकलमपि ततोऽसौ कफो वायुदुष्टः । स्रोतांस्यापूर्य रुन्ध्यादनिलमथ मरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः, सम्मूर्च्छर्यान्योऽन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सान्निपातम् ॥ वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट् तालुशोषप्रमीलकौ । आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः ॥ पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । अन्तर्दाहो बहिःशैत्यं तस्य तन्द्रा च वर्धते । तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहः॥निष्ठीवेत्कफपित्तं च कृच्छ्रात्कण्डूश्च जायते॥विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्धन्ते सप्रमीलकाः । विभुः फल्गुश्च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ ॥ श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णापार्श्वनिग्रहाः । शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः । उदरं दह्यते चास्य कटिर्बस्तिश्च दूयते । सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः । वातोल्बणः सान्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति । तस्य तृष्णा ज्वरो ग्लानिः पार्श्वरुक् दृष्टिसंक्षयः । पिण्डिकोद्वेष्टनं दाह ऊरुसादो बलक्षयः । सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः । निर्भिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिगृह्यते (परिक्लिश्यते पा०) । आयम्यते भिद्यते च हिक्कते विलपत्यपि । मूर्च्छते स्फार्यते रौति नाम्ना विस्फारकः (वि·

हैं। यथा १ वातपित्ताधिक सन्निपात—विभु। २ पित्तश्लेष्माधिक सन्नि-पात—फल्गु। ३ कफवाताधिक सन्निपात—मकरी। ४ वाताधिक सन्निपात—विस्फारक। ५ पित्ताधिक सन्निपात—शीघ्रकारी। ६ कफा-धिक सन्निपात--उल्बण।

इन बारह सन्निपात ज्वरों के लक्षणों का मूलपाठ काश्मीर से उपलब्ध चरकसंहिताओं में है। अन्यत्र यह पाठ नहीं। इसे टीकाकार अनार्ष मानते हैं। उनका कहना है कि ये लक्षण प्रकृतिसमसमवाय से हैं। आचार्य प्रकृतिसमसमवाय के लक्षणों को विस्तार से नहीं पढ़ते, यही उनकी शैली है। यदि प्रकृतिसमसमवाय लक्षणों को सर्वत्र पढ़ें तो ग्रन्थ अत्यधिक बढ़ जाता है। जब प्रत्येक दोष से उत्पन्न ज्वरों के लक्षण कह दिये तो सन्निपातों में प्रकृतिसम-समवाय से उत्पन्न लक्षणों को स्वयं समझा जा सकता है। उन्हें पृथक् पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं॥ तथाच 'सन्निपातज उच्यते' कहकर पुनः 'सन्निपातज्वरस्योदूर्ध्वं' इत्यादि का कहना भी उचित नहीं प्रतीत होता। 'अतएव सन्निपातज्वरस्योदूर्ध्वं' से लेकर 'अतो वक्ष्यामि-

---

स्फुरकः' पा०) स्मृतः। पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते। शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ। ततश्चैनं प्रबाधन्ते हिक्काश्वासप्रमीलिकाः॥ विसूचिका पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः। नाभिपार्श्वरुजा तस्य स्विन्नस्याशु विवर्धते। स्विद्यमानस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः सम्प्रवर्तते। शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा श्वासः प्रबाधते। असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते। नहि जीवत्यहोरात्रमनेनाविष्टविग्रहः। कफोल्बणः सन्नि-पातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति। तस्य शीतज्वरः स्वप्नगौरवालस्यतन्द्रिकाः। छर्दि-मूर्च्छातृषादाहतृष्णारोचकहृद्ग्रहाः। ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः। श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक्। तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात्सोपद्रवं ज्वरम्। निगृहीते तु पित्ते च भृशं वायुः प्रकुप्यति। निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदो-मज्जास्थि बाधते॥ अथात्र स्नाति भुङ्क्ते वा त्रिरात्रं नैव जीवति। मेदोगतः सन्नि-पातो ह्युल्बणः ('कर्कशः' पा०) परिकीर्तितः॥ कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चापि प्रपद्यते। मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत्। तस्य रोगास्त एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः॥

लक्षणम्' तक अनार्ष है ॥ १०१ ॥

सन्निपातज्वरस्योर्ध्वमतो वक्ष्यामि लक्षणम् ॥१०२॥
क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि दर्शने ॥ १०३ ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १०४ ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥ १०५ ॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥ १०६ ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥ १०७ ॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥ १०८ ॥

इसके पश्चात् सन्निपातज्वर के लक्षण कहेंगे—क्षण में दाह, क्षण में शीत, हड्डी सन्धि और शिर में पीड़ा, नेत्रों से पानी बहना तथा उनका मलिन रक्तवर्ण और कुटिल होना, कानों में आवाज़ें आना तथा पीड़ा होनी, कण्ठ का विकृत होना—ऐसा प्रतीत हो जैसे कण्ठ शूक (गेहूं आदि धान्यों के बाल) से आच्छादित है, तन्द्रा, मोह, प्रलाप, कास, श्वास, अरुचि, भ्रम, जिह्वा का जला हुआ सा (पीला काला) तथा स्पर्श में खरदरा सा होना, शरीर का अत्यन्त शिथिल होना, कफमिश्रित रक्त-पित्त का थूकना, शिर का लोठन अर्थात् इधर उधर हिलाना वा लुढ़-काना, तृष्णा, नींद न आना, हृदय देश पर (वा छाती में) पीड़ा, स्वेद मूत्र और पुरीष का देर से और थोड़ा थोड़ा करके आना, अङ्गों की अत्यधिक कृशता न होनी, निरन्तर कण्ठ से शब्द करना, कोठ

और श्यामरक्त वर्ण के मण्डलोंका देह(पर विशेषतः छाती और पेट पर) दिखाई देना, मूकता (बोल न सकना), स्रोतों (मुख आदि) का पक जाना,उदर का भारी प्रतीत होना और दोषों का देर से पकना; ये सन्निपातज्वर के लक्षण है । काश्मीरपाठके अनुसार जब तीनों दोष एक से प्रवृद्ध होते हैं तब ये लक्षण होते हैं । यह तेरहवां सन्निपातज्वर है।

'निर्भुग्न' का अर्थ व्याख्याकारों ने भिन्न भिन्न किया है । जेज्जट ने निर्भुग्न का अर्थ 'विस्फारित' किया है । अन्य 'अन्तःप्रविष्ट' यह अर्थ करते हैं । चक्रपाणि ने सामान्य अर्थ 'अतिकुटिल' किया है । अष्टाङ्गसंग्रह ज्वरनिदान में कुछ एक अन्य लक्षण भी दिये हैं, यथा—

'सर्वजो लक्षणैः सर्वैर्दाहोऽत्र च मुहुर्मुहुः ।
तद्वच्छीतं, महानिद्रा दिवा, जागरणं निशि ॥
सदा वा नैव वा निद्रा मुहुः स्वेदोऽति नैव वा ।
गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम् ॥' इत्यादि ।

इसीप्रकार जहां किन्हीं रोगियों को मलबन्ध होता है वहां अतीसार की प्रवृत्ति भी प्रायशः किन्हीं सन्निपात के रोगियों में देखी जाती है । अतएव वृद्धवाग्भट ने कहा भी है—'मलसंसङ्गः प्रवृत्तिर्वाल्पशोऽति वा ।' सुश्रुत उ० अ० ३९ में सन्निपातज्वर के सामान्य लक्षण कहकर अभिन्यास नामक सन्निपातज्वरभेद के लक्षण इस प्रकार पढ़े हैं—

'नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः ।
खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥
साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः ।
श्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः ॥
अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे ।
सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे जगुः ॥ १०२—१०८ ॥

दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्णलक्षणः ।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः कृच्छ्रसाध्यस्त्वतोऽन्यथा ॥ १०९ ॥

सन्निपातज्वर की असाध्यता और कष्टसाध्यता—दोष अन्दर ही बंध जाय—बाहिर न निकले, अग्नि नष्ट हो जाय तब यदि उपर्युक्त सम्पूर्ण लक्षण दिखाई दें तो उसे असाध्य जानना चाहिये । अन्यथा कष्टसाध्य है । अर्थात् यदि दोष चल हों—मल मूत्र आदि की प्रवृत्ति के साथ बाहिर निकल जांय, अग्नि बलवान् हो और सम्पूर्ण लक्षण न हों तो ज्वर कष्टसाध्य होता है अर्थात् अति यत्न से चिकित्सा करने पर वह रोगी बच सकता है । सन्निपातज्वर सुखसाध्य कभी नहीं होता ॥१०९॥

निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः ।
संसर्गसन्निपातानां तथा चोक्तं स्वलक्षणम् ॥ ११० ॥

ज्वर निदान में जो पृथक् पृथक् दोषों से उत्पन्न होने वाले ज्वरों के तीन प्रकारके लक्षण कहे हैं तथा जो द्वन्द्वों और सन्निपात के अपने लक्षण कहे हैं वे सब मिलाकर सात प्रकार के हुए । सन्निपात को १३ भेदों में बांट कर उनके लक्षण चरक के काश्मीरपाठ में ही पूर्व देखे गये हैं ऐसा प्राचीन व्याख्याकारों का मत है । अन्यत्र ऐसा पाठ नहीं । वहां तो केवल 'क्षणे दाहः' इत्यादि से एक ही सन्निपात का वर्णन है । वहां 'सन्निपातज उच्यते' के बाद 'क्षणे दाहः' इत्यादि पाठ ही है । प्रकृतिसमसमवाय से तो मिलित दोषों के अपने २ लक्षणों से विभिन्न लक्षण नहीं हो सके । विकृतिविषमसमवाय से उनसे अतिरिक्त अधिक वा विभिन्न लक्षण भी होते हैं । द्वन्द्वज और सन्निपातज लक्षणों में अधिक लक्षण कहे गये हैं । उदाहरण के तौर पर वातपैत्तिक में अरुचि और रोमहर्ष, वातश्लैष्मिक में सन्ताप, कफपित्तज में अस्थिर शीत और दाह । सन्निपात में नेत्रों का अश्रुयुक्त वा आविल होना आदि ॥ ११० ॥

---

१ 'अत्र दोषशब्दोऽपि बद्धोपपदान्मले वर्तते' चक्रः ।

आगन्तुरष्टमो यस्तु स निर्दिष्टश्चतुर्विधः ।
अभिघाताभिषङ्गाभ्यामभिचाराभिशापतः ॥ १११ ॥

आठवां आगन्तु ज्वर चारप्रकार का कहा गया है । १—अभिघातज २ अभिषङ्गज ३ अभिचारज और ४ अभिशापज ॥ १११ ॥

शस्त्रलोष्टकशाकाष्ठमुष्ट्यरत्नितलाद्विजैः ।
तद्विधैश्च हते गात्रे ज्वरः स्यादभिघातजः ॥ ११२ ॥

अभिघातज ज्वर के हेतु—शस्त्र, ढेला, कशा (चाबुक), लकड़ी, अरत्नि हाथ वा पैर की तली (चपेट आदि) दांत तथा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं के कारण देह वा अंग पर चोट लगने से अभिघातज्वर होता है ॥ ११२ ॥

तत्राभिघातजे वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् ।
सव्यथाशोफवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम् ॥ ११३ ॥

अभिघातजज्वर की सम्प्राप्ति और लक्षण—अभिघातजज्वर में प्रायः वायु रक्त को दूषित करके पीड़ा सूजन तथा विवर्णता, वेदना; इन लक्षणों से युक्त ज्वर को उत्पन्न करता है ॥ ११३ ॥

कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः ।
सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः ॥ ११४ ॥

अभिषङ्गजज्वर—काम शोक भय क्रोध अथवा भूतों से आक्रान्त पुरुष को इन्हीं के कारण जो ज्वर होता है वह अभिषङ्गज कहाता है । काम इत्यादि के सङ्ग से उत्पन्न होने के कारण ये ज्वर अभिषङ्गज कहाते हैं ॥ ११४ ॥

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः ।
भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ॥ ११५ ॥
भूताधिकारे व्याख्यातं तदष्टविधलक्षणम् ।

सम्प्राप्ति—काम शोक और भय से वायु कुपित होता है । क्रोध से पित्त। भूतों से तीनों दोष। जो ज्वर जिस भूत से होगा उस भूत के सामान्य लक्षण उस ज्वर में होंगे अथवा उस उस भूत के लक्षण तथा ज्वर

के सामान्य लक्षण होंगे । आठ प्रकार के भूतों के लक्षण भूताधिकार (उन्मादचिकित्सान्तर्गत) में कहे गये हैं ।

विषवृक्षानिलस्पर्शात्तथाऽन्यैर्विषसंभवैः ॥ ११६ ॥
अभिषक्तस्य चाप्याहुर्ज्वरमेकेऽभिषङ्गजम् ।
चिकित्सया विषघ्न्यैव [1]प्रशमं लभते नरः ॥ ११७ ॥

कई एक आचार्य विषवृक्ष से छूकर आने वाली वायु के स्पर्श से तथा अन्य विषमय पदार्थों के अभिषङ्ग से अर्थात् देह के साथ सम्बन्ध से जो ज्वर होता है उसे भी अभिषङ्गज मानते हैं । इसमें विषनाशक चिकित्सा से ही लाभ होता है । यदि यह दोषज होता तो ज्वरसामान्यचिकित्सा से भी लाभ होता । आगन्तु ज्वरों में पीछे से दोष का कोप तो हो ही जाता है । परन्तु जबतक वैद्य दोषप्रकोप के कारणभूत विष को नष्ट नहीं कर डालता तब तक कितनी ही दोष को शान्त करने की चिकित्सा की जाय निष्फल है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में इस ज्वर के लक्षण भी दिये हैं—

'श्यावास्यता विषकृते दाहातीसारहृद्ग्रहाः ।
अभक्तरुक् पिपासा च तोदो मूर्च्छा बलक्षयः ॥
ओषधीगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुस्तथा ' ॥११६-११७॥

अभिचाराभिशापाभ्यां सिद्धानां यः प्रवर्तते ।
सन्निपातज्वरो घोरः स विज्ञेयः सुदुःसहः ॥ ११८ ॥
सन्निपातज्वरस्योक्तं लिङ्गं यत्तस्य तत्स्मृतम् ।
चित्तेन्द्रियशरीराणामर्तयोऽन्याश्च नैकशः ॥ ११९ ॥

अभिचारज और अभिशापजज्वर—सिद्ध पुरुषों के अभिचार (हिंसार्थ होम आदि) और अभिशाप से जो घोर सन्निपातज्वर होता है उसे अत्यन्त दुःसह जानना चाहिये । जो सन्निपातज्वर के लक्षण ('क्षणे दाहः क्षणे शीतं ' इत्यादि) कहे हैं वे ही लक्षण इन दोनों

---

1 ' स शमं लभते ज्वरः' ग. ।

प्रकार के आगन्तु ज्वरों में होते हैं। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार से मन इन्द्रिय और देहों के दुःख रोगी को सताते हैं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते।'

वृद्धवाग्भट ने नि० २ अ० में कहा है—

'तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते।
पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः।
सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः' ॥ ११८-११९ ॥

प्रयोगं त्वभिचारस्य दृष्ट्वा शापस्य चैव हि।
स्वयं श्रुत्वाऽनुमानेन लक्ष्यते प्रशमेन वा ॥ १२० ॥

स्वयं देखकर, सुनकर, अनुमान द्वारा अथवा प्रशम (शान्ति वा उपशय) द्वारा अभिचार वा अभिशाप के प्रयोग को जाना जाता है। अर्थात् यदि कोई पुरुष अभिशापज वा अभिचारज ज्वर से पीड़ित हो तो वहां अभिशाप वा अभिचाररूप हेतु का जानना अत्यन्त कठिन होजाता है। क्योंकि लक्षण तो प्रायशः सन्निपातज्वर के होते हैं तथा च इसके अतिरिक्त अन्य लक्षण भी सब में एक से नहीं होते। जिस हानि के उद्देश्य से ये कर्म किये जाते हैं वैसे ही लक्षण इसमें प्रकट होते हैं। अतएव सामान्यबुद्धि पुरुष को इस हेतु के ज्ञान में अत्यन्त कठिनता होती है। यदि तो कदाचित् किये जाते अभिचार को अपनी आंखों से देखा हो या कहे जाते अभिशाप को स्वयं सुना हो तो ज्ञान हो सकता है अथवा किसी विश्वसनीय पुरुष से सुना हो कि अमुक पुरुष के विरुद्ध अमुक पुरुषने यह कर्म किया है वा कहा है। अथवा अनुमान करे जो कि विविधप्रकार के लक्षणों से किया जा सकता है। अथवा अभिचारज वा अभिशापज ज्वर की चिकित्सा करे। यदि उस चिकित्सा से ज्वर शान्त हो तो समझ ले कि यह ज्वर अभिचार वा अभिशाप से उत्पन्न हुआ है ॥ १२० ॥

वैविध्यादभिचारस्य शापस्य च तदात्मके।

यथाकर्मप्रयोगेण लक्षणं स्यात्पृथग्विधम् ॥ १२१ ॥

अभिचार और अभिशाप दोनों के ही नाना रूप होने के कारण उस उस कर्म के प्रयोग के अनुसार ही इन ज्वरों में नानाप्रकार के लक्षण हुआ करते हैं ॥ १२१ ॥

ध्याननिःश्वासबहुलं लिङ्गं कामज्वरे स्मृतम् ।
शोकजे बाष्पबहुलं त्रासप्रायं भयज्वरे ॥ १२२ ॥

कामज्वर—में ध्यान (चिन्ता) और निःश्वास प्रधान लक्षण माने गये हैं । सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्रालस्यमभोजनम् ।
हृदये वेदना चाशु गात्रञ्च परिशुष्यति ॥'

शोकजज्वर—में बहुधा आंसू आते हैं । सुश्रुत तथा वृद्ध-वाग्भट में शोकज ज्वर में 'प्रलाप' लक्षण कहा है ।

भयज्वर में—रोगी को बहुधा त्रास लगा रहता है । वृद्धवाग्भट ने इसका भी 'प्रलाप' ही विशेष लक्षण कहा है । कई व्याख्याकारों के अनुसार सुश्रुत ने भी इस ज्वर का भी प्रलाप ही विशेष लक्षण कहा है । परन्तु हमें तो सुश्रुत में देह का शीघ्र सूख जाना ही विशेष लक्षण कहा गया प्रतीत हुआ है । प्रलाप शोकज्वर का विशेष लक्षण है, वहां इस प्रकार पाठ है—

'कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्रालस्यमभोजनम् ।
हृदये वेदना चाशु गात्रञ्च परिशुष्यति ॥
भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ॥'

यहां पर 'आशु गात्रञ्च परिशुष्यति भयात्' ऐसा अन्वय करना चाहिये । यद्यपि कामज्वर में शरीर सूखता है परन्तु भय से शीघ्र ही देह सूख जाता है ॥ १२२ ॥

क्रोधजे बहुसंरम्भं भूतावेशे त्वमानुषम् ।
मूर्च्छामोहमदग्लानिभूयिष्ठं विषसंभवे ॥ १२३ ॥

क्रोधजज्वर—में प्रायः बहुत संरम्भ(ज्वर आदि की तीव्रता,रक्तवर्णता) होता है । सुश्रुत में 'कांपना' लक्षण कहा है । साधारण तौर पर भी जब मनुष्य अत्यन्त क्रोधाविष्ट होता है देह कांपने लगता है । वृद्धवाग्भट ने तो कांपना और शिरःपीडा दो लक्षण कहे हैं ।

भूताविष्टज्वर में—रोगी अमानुष क्रियायें करता है । साधारणतया ज्वर में जो मनुष्य नहीं करता वह कर्म वा क्रियायें भूताविष्ट ज्वर का रोगी करता है । सुश्रुत उ० अ० ३९ में—

'भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यकम्पनरोदनम् ।'

विषजज्वर में—मूर्च्छा मोह (इन्द्रिय और मन द्वारा ठीक ज्ञान न होना) मद और ग्लानि; ये लक्षण अधिकतया होते हैं । सुश्रुतोक्त लक्षण १८८७पृष्ठ पर पूर्व कहे जा चुके हैं ॥ १२३ ॥

केषांचिदेषां लिङ्गानां सन्तापो जायते पुरः ।
पश्चात्तुल्यं तु केषांचिदेषु कामज्वरादिषु ॥ १२४ ॥

कामज्वर आदियों में किन्हीं पुरुषों में इन कहे गये लक्षणों से पूर्व किन्हीं में पश्चात् और किन्हीं में साथ ही सन्ताप उत्पन्न होता है ॥ १२४ ॥

कामादिजानामुद्दिष्टं ज्वराणां यद्विशेषणम् ।
कामादिजानां रोगाणामन्येषामपि तत्स्मृतम् ॥ १२५ ॥

जो यहां पर काम आदि से उत्पन्न होने वाले ज्वरों की विशेषता (विशेष लक्षण) बताई है वह ही काम आदि से उत्पन्न होने वाले अन्य (उन्माद आदि) रोगों में भी होती हैं ॥ १२५ ॥

ते पूर्वं केवलाः पश्चान्निजैर्व्यामिश्रलक्षणाः ।
हेत्वौषधविशिष्टाश्च भवन्त्यागन्तवो ज्वराः ॥१२६॥

आगन्तुज्वरों की विशेषता—आगन्तुज्वर पूर्व स्वतन्त्र होते हैं,पश्चात् दोषों (वात पित्त कफ) के लक्षणों से मिश्रित हो जाते हैं। ये ज्वर हेतु और औषध में निज ज्वरों से भिन्न होते हैं ॥ १२६ ॥

मनस्यभिहते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरः प्राप्नोति वाताद्यैर्देहो यावन्न दुष्यति ॥ १२७ ॥

काम आदि द्वारा मन के आक्रान्त होने पर ज्वर पूर्व उतना बलवान् नहीं होता जब तक वात आदि द्वारा देह दुष्ट नहीं होता । गङ्गाधर ने यह पाठ पढ़ा है—

'मनस्यभिद्रुते पूर्वं कामाद्यैर्न तथा बलम् ।
ज्वरः प्राप्नोति कामाद्यैर्मनो यावन्न दुष्यति ॥'

इसका अभिप्राय यह है कि मन में काम आदि के उत्पन्न होने पर ही ज्वर नहीं हो जाता जब तक उन काम आदि द्वारा मन दुष्ट नहीं होता ॥ १२७ ॥

संसृष्टाः सन्निपतिताः पृथग्वा कुपिता मलाः ।
रसाख्यं धातुमन्वेत्य पक्तिं स्थानान्निरस्य च ॥ १२८ ॥
स्वेन[2] तेनोष्मणा चैव कृत्वा देहोष्मणो बलम् ।
स्रोतांसि रुद्ध्वा संप्राप्ताः[3] केवलं[4] देहमुल्बणाः ॥ १२९ ॥
संतापमधिकं देहे जनयन्ति नरस्तदा ।
भवत्यत्युष्णसर्वाङ्गो ज्वरितस्तेन चोच्यते ॥ १३० ॥

सम्प्राप्ति—द्वन्द्वरूप में सन्निपात(त्रिदोष)रूप में अथवा पृथक् कुपित हुए हुए दोष रस नामक धातु का अनुगमन करके अग्नि को स्थान से निकाल कर अपनी उस गरमी से देह की गरमी को बलवान् करके स्रोतों को रोककर प्रबल हुए हुए समस्त देह में व्याप्त होकर देह में अधिक सन्ताप को उत्पन्न करते हैं । उस समय मनुष्य के सब अङ्ग अधिक उष्ण हो जाते हैं । अतएव वह मनुष्य ज्वराक्रान्त कहा जाता है । अभिप्राय यह है कि जब वात पित्त वा कफ

---

१ '०र्मनो' पा० । २ स्वेनेति दोषोष्मणा' चक्रः । ३ 'संयाताः' ग. । ४ 'केवलमिति समस्तं' चक्रः ।

पृथक् अथवा वातपित्त वातकफ वा कफपित्त द्वन्द्वरूप से अथवा वात-पित्तकफ सन्निपातरूप से अपने २ (निदानस्थानोक्त) हेतुओं से कुपित हो जाते हैं तब रसायनियों द्वारा पहुंच कर समस्त पाचकाग्नि को अपने स्थान (आमाशय और पक्वाशय ग्रहणी) से बाहिर निकाल देते हैं। उस बाहिर निकाली गई अग्नि द्वारा देह का स्वाभाविक तापमान बढ़ जाता है। तथा च आमरस की अधिकता के कारण और ताप के अत्यन्त प्रवृद्ध होने से स्वेदवाही आदि स्रोतों के मुख रुक जाते हैं। पश्चात् जब सम्पूर्ण देह में अत्यधिक कुपित होकर वे दोष फैल जाते हैं तब प्रत्येक अङ्ग अत्यन्त उष्ण हो जाता है। यह ही ज्वर की सम्प्राप्ति है। दोष रसायनियों में पहुंच कर ही रस का अनुगमन कर सकते हैं। क्योंकि रसायनियां ही रस के मार्ग हैं। अष्टाङ्गहृदय निदान १ अ० में कहा है—

'प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥ १२८–१३० ॥

स्रोतसां संनिरुद्धत्वात्स्वेदं ना नाधिगच्छति।
स्वस्थानात्प्रच्युते चाग्नौ प्रायशस्तरुणे ज्वरे ॥ १३१ ॥

स्रोतों के रुक जाने से वा बन्द हो जाने से और अग्नि के अपने स्थान से च्युत हो जाने के कारण तरुणज्वर (नवज्वर) में पुरुष को प्रायशः पसीना नहीं आता। सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी—

'दोषाः प्रकुपिताः स्वेषु कालेषु स्वैः प्रकोपणैः।
व्याप्य देहमशेषेण ज्वरमापादयन्ति हि ॥
दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः प्राप्यामाशयमूष्मणा।
सहिता रसमागत्य रसस्वेदप्रवाहिणाम् ॥
स्रोतसां मार्गमावृत्य मन्दीकृत्य हुताशनम्।

१ 'संविबद्धत्वात्' ग.।

निरस्य बहिरूष्माणं पक्तिस्थानाच्च केवलम् ॥
शरीरं समभिव्याप्य स्वकालेषु ज्वरागमम् ।
जनयन्त्यथ वृद्धिश्च स्ववर्णाश्च त्वगादिषु ॥'

इत्यादि सम्प्राप्ति कह कर ज्वर के विविध हेतुओं को बताने के पश्चात्—

'ज्वरो दोषैः प्रवर्तते ।
तैर्वेगवद्भिर्बहुधा समुद्भ्रान्तैर्विमार्गगैः ॥
विक्षिप्यमाणोऽन्तरग्निर्भवत्याशु बहिश्चरः ।
रुणद्धि चाप्यपां धातुं यस्मात्तस्माज्ज्वरातुरः ॥
भवत्यत्युष्णगात्रश्च न च स्विद्यति सर्वशः ॥'

अरुचिश्चाविपाकश्च गुरुत्वमुदरस्य च ।
हृदयस्याविशुद्धिश्च तन्द्रा चालस्यमेव च ॥ १३२ ॥
ज्वरोऽविसर्गी बलवान् दोषाणामप्रवर्तनम् ।
लालाप्रसेको हृल्लासो क्षुन्नाशो विरसं मुखम् ॥ १३३ ॥
स्तब्धसुप्तगुरुत्वं च गात्राणां बहुमूत्रता ।
न विड्जीर्णा न च ग्लानिर्ज्वरस्यामस्य लक्षणम् ॥ १३४ ॥

आमज्वर के लक्षण—स्रोतोरोध तथा अग्नि के स्थानभ्रष्ट होने के कारण ही अरुचि, अपचन, पेट का भारी होना, हृदय का विशुद्ध न होना, तन्द्रा, आलस्य, अविसर्गी बलवान् ज्वर (जो ज्वर सर्वथा न हटे—निरन्तर रहे), दोषों का प्रवृत्त न होना—बाहिर न निकलना, मुख में लाला का अधिक बहना, जी मितलाना, भूख न लगना, मुख के रस का विकृत होना, अङ्गों का जड़वत् स्तब्ध होना सो जाना वा भारी होना, मूत्र का बहुत अधिक आना, कच्चे मल (पुरीष) का आना और ग्लानि (कृशता अथवा बलहीन) न होनी; ये आमज्वर के लक्षण हैं। तन्त्रान्तर में भी रससामता के लक्षण कहे हैं—

'लालाप्रसेको हृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः ।

१ अविशदं ग. । २ 'न ग्लानिरिति न क्षीणमांसता ' चक्रः ।

तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ॥
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवान् ज्वरः ।
आमज्वरस्य लिङ्गानि ' ॥१३२-१३४॥

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ १३५ ॥

पच्यमान ज्वर के लक्षण—ज्वर का अधिक वेग, तृष्णा, प्रलाप, श्वास, भ्रम, मल की प्रवृत्ति—पाखाना आना अथवा अतीसार, उत्क्लेश (जी मिचलाना अथवा दोषों के बाहिर निकलने की ओर रुचि); ये पच्यमान ज्वर के लक्षण हैं ।

इस श्लोक को कई टीकाकार नहीं पढ़ते । उन्होंने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की । जब सामदोष पक रहे होते हैं तब उपर्युक्त लक्षण होते हैं ॥ १३५ ॥

क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिरष्टाहो निरामज्वरलक्षणम् ॥ १३६ ॥

निरामज्वर के लक्षण—भूख लगना, देह का कृश होना, अंगों की लघुता, ज्वर का मृदु हो जाना, दोष की प्रवृत्ति (मल मूत्र स्वेद आदि के साथ बाहिर निकलना) तथा आठवां दिन; ये निरामज्वर के लक्षण हैं । अन्यत्र कहा भी है—

' सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः ।
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ॥'

परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि आठवां दिन सामान्यतः कहा गया है । इससे पूर्व तथा इससे पश्चात् भी निरामता देखी जाती है । खरनाद ने कहा है—

' न च निःसप्ततैवैका निरामज्वरलक्षणम् ।
चिरादपि हि पच्यन्ते सन्निपातज्वरे मलाः ॥
सप्तरात्रातिवृद्धिश्च ह्यामतादिस्त्वलक्षणम् ।

तस्मादेतद्द्वयं दृष्ट्वा निरामज्वरमादिशेत् ॥'

आठवां दिन केवल इसीलिये कहा है कि इस समय ज्वर में मुख्य औषध दी जा सकती है। यदि आठवें दिन भूख लगना आदि लक्षण न हों तो पाचन औषध दी जानी चाहिये। यदि आठवां दिन भी हो और भूख लगना आदि लक्षण भी उपस्थित हों तो शमन औषध देनी चाहिये। यदि दोष का पाक आठवें दिन से पूर्व ही हो जाय अर्थात् भूख लगना आदि लक्षण दिखाई दें तो औषध पूर्व भी दी जा सकती है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा भी है—

'अचिरज्वरितस्यापि देयं स्याद्दोषपाकतः ॥'

सुश्रुत उ० अ० ३९ में दोष के पक्व होने पर लक्षण कहे हैं—

'मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च ।
पक्वं दोषं विजानीयात्　　　　॥' १३६ ॥

नवज्वरे दिवास्वप्नस्नानाभ्यङ्गान्नमैथुनम् ।
क्रोधप्रवातव्यायामकषायांश्च विवर्जयेत् ॥ १३७ ॥

नवज्वर में अपथ्य—दिन में सोना, स्नान, अभ्यङ्ग (तैल आदि की मालिश), अन्न[1], मैथुन, क्रोध, प्रवात (वायु का सीधा आना, Draught) व्यायाम तथा कषायों का नवज्वर में रोगी त्याग करे। अन्न से यहां गुरु स्निग्ध आदि अन्न का ग्रहण है। अथवा पांचगुने जल द्वारा सिद्ध किये गये ओदन भी नवज्वर में नहीं देने चाहियें अन्य गुरु भोजनों का तो क्या कहना अर्थात् पूर्ण उपवास होना चाहिये। परन्तु यदि रोगी अत्यन्त निर्बल हो उपवास को न सहने वाला हो तो लघु द्रवभोजन मण्ड पेया आदि दी जानी चाहिये। कषाय शब्द से कसैले द्रव्यों का ग्रहण है। अथवा पांच प्रकार की कषायकल्पना में से कोई भी कल्पना यदि कषायरसविशिष्ट हो तो उसका भी प्रयोग न होना चाहिये। कषायरस स्तम्भक होता है, वह दोषों की प्रवृत्ति नहीं होने

---

१ ' अन्नशब्देनात्र गुर्वन्नमभिधत्ते ' चक्रः ।

देता, अतः तरुणज्वर में निषिद्ध है। तथा च स्वरस कल्क शृत शीत फाण्ट पांचों में से जिसका विशेष नाम भी कषाय (शृत) है उसका भी त्याग होना चाहिये। अन्यत्र कहा भी है—

'चतुर्भागावशिष्टस्तु यः षोडशगुणाम्भसा।
स कषायः कषायः स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे॥'

तथा—'कषायं यः प्रयुञ्जीत नराणां तरुणज्वरे।
स सुप्तं कृष्णसर्पन्तु कराग्रेण परामृशेत्॥'

भावार्थ यह है कि नवज्वरमें कषायरस वाली किसी भी कल्पना का और सोलह गुना जल डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने दिये जाने वाले कषाय (काढे) का सेवन नहीं कराना चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

न कषायं प्रयुञ्जीत नराणां तरुणे ज्वरे।
कषायेणाकुलीभूता दोषा जेतुं सुदुष्कराः॥ १३७॥

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात्॥ १३८॥

चिकित्साक्रम—क्षयजन्य, वातज, भयज, क्रोधज, कामज, शोकज और श्रम से उत्पन्न होने वाले ज्वरों को छोड़कर शेष ज्वरों में प्रारम्भ में लङ्घन कराना चाहिये। लङ्घन का जहां अनशन अर्थ है वहां निर्बल पुरुषों के लिये लघु भोजन भी। लङ्घन का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

'शरीरलाघवकरं यद् द्रव्यं कर्म वा पुनः।
तल्लङ्घनमिति ज्ञेयं ॥'

देह में लघुता उत्पन्न करने वाले द्रव्यों का अथवा कर्म का सेवन लङ्घन कहाता है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी कहा है—

'अव्यक्तरूपेषु हितमेकान्तेनापतर्पणम्।
आमाशयस्थे दोषे तु सोत्क्लेशे वमनं परम्॥

आनद्धः स्तिमितैर्दोषैर्यावन्तं कालमातुरः ।
कुर्यादनशनं तावत्ततः संसर्गमाचरेत् ॥
न लङ्घयेन्मारुतजे क्षयजे मानसे तथा ।
अलङ्घ्याश्चापि ये पूर्वं द्विव्रणीये प्रकीर्तिताः ॥'

लङ्घन क्यों कराना चाहिये इसका उत्तर अष्टाङ्गसंग्रह चिकित्सा-स्थान प्रथम अध्याय में दिया गया है—

'आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधापयन् ।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्माल्लङ्घनमाचरेत् ॥'

अभिप्राय यह है कि ज्वर में आमाशय और पक्वाशय में आम-रस के साथ मिलकर दोष देह में स्रोतों के मुख को बन्द कर देते हैं। जाठराग्नि मन्द होती है—वह भोजन को पचा नहीं सकती। जितना भी भोजन करेंगे उतना ही आमरस की मात्रा शरीर में बढ़ेगी जिससे ज्वर की वृद्धि होगी। यदि अनशन वा लघुभोजन आदि द्वारा आम-रस की उत्पत्ति न हो तो उतना ही जल्दी दोषों का पाक होकर ज्वर से मुक्ति हो जायगी ॥ १३८ ॥

लङ्घनेन क्षयं नीते दोषे सन्धुक्षितेऽनले ।
विज्वरत्वं लघुत्वं च क्षुच्चैवास्योपजायते ॥ १३९ ॥

लङ्घन से लाभ—लङ्घन द्वारा दोषों के क्षीण होने पर और अग्नि के प्रज्वलित होने से ज्वर नष्ट होता है, देह में लघुता होती है और रोगी को भूख लगने लगती है। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'अनवस्थितदोषाग्नेर्लङ्घनं दोषपाचनम् ।
ज्वरघ्नं दीपनं काङ्क्षा रुचिलाघवकारकम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ १ में—

'लङ्घनैः क्षपिते दोषे दीप्तेऽग्नौ लाघवे सति ।
स्वास्थ्यं क्षुत्तृड् रुचिः पक्तिर्बलमोजश्च जायते' ॥ १३९ ॥

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्[1]।
बलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः ॥ १४० ॥

लङ्घन की मात्रा—जितनी मात्रा में लङ्घन कराने से प्राण वा बल की क्षीणता न हो उतना ही लङ्घन करवाना चाहिये। क्योंकि आरोग्य के लिये ही यह चिकित्सा है और आरोग्य बल पर निर्भर है। रोगी के बलाबल को देखकर तदनुरूप ही लङ्घन कराना चाहिये। लङ्घन उचित मात्रा में होने के जो लक्षण हैं, वे सुश्रुतसंहिता उ० अ० ३९ में कहे गए हैं—

'सृष्टमारुतविण्मूत्रं क्षुत्पिपासासहं लघुम्।
प्रसन्नात्मेन्द्रियं क्षामं नरं विद्यात्सुलङ्घितम् ॥'

अन्यत्र भी कहा है—

'वातमूत्रपुरीषाणां विसर्गे गात्रलाघवे।
हृदयोद्गारकण्ठास्यशुद्धौ तन्द्राक्लमे गते ॥
स्वेदे जाते रुचौ चापि क्षुत्पिपासासहोदये।
कृतं लङ्घनमादेश्यं निर्व्यथे चान्तरात्मनि ॥'

लङ्घनं स्वेदनं कालो[2] यवाग्वस्तिक्तको रसः।
पाचनान्यविपक्वानां दोषाणां तरुणे ज्वरे ॥ १४१ ॥

दोषों के पाचन—लङ्घन, स्वेदन (पसीना लाना), काल, यवागू, तिक्तरस; ये तरुणज्वर में आमदोषों को पकाते हैं ॥१४१॥

तृष्यते सलिलं चोष्णं दद्याद्वातकफज्वरे।
मद्योत्थे पैत्तिके वाऽथ शीतलं तिक्तकैः शृतम् ॥ १४२ ॥

ज्वर के रोगी के लिये पानार्थ जल—वातज वा कफज ज्वर में यदि रोगी को प्यास लगे तो उष्ण जल पीने को देना चाहिये। मद्यपान से उत्पन्न ज्वर में अथवा पैत्तिकज्वर में तिक्तरस द्रव्यों से

---

१ 'प्राणाविरोधिनेति बलाविरोधिना, विरोधश्चात्रिक्षयकरत्वेनेहोच्यते' चक्रः।

२ ' काल इत्यष्टाहः ' चक्रः।

साधित शीतल जल पीने को देना चाहिये ॥१४२॥

दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत् ।
स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ॥ १४३ ॥

ये दोनों अर्थात् उष्ण तथा तिक्तद्रव्यों से साधित शीतल जल दीपन, पाचन, ज्वरनाशक, स्रोतों को शोधने वाले, बलकारक, रुचिकर, पसीना लाने वाले तथा कल्याणकारक हैं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में भी—

'दीपनं कफविच्छेदि पित्तवातानुलोमनम् ।
कफवातज्वरार्तेभ्यो हितमुष्णाम्बु तृट्छिदम् ॥
तद्धि मार्दवकृद्दोषस्रोतसां शीतमन्यथा ।
सेव्यमानेन तोयेन ज्वरः शीतेन वर्द्धते ॥
पित्तमद्यविषोत्थेषु शीतलं तिक्तकैः शृतम्' ॥ ४३ ॥

षडङ्गपानीयम् ।

मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः ।
शृतशीतं जलं दद्यात्पिपासाज्वरशान्तये ॥ १४४ ॥

षडङ्गपानीय—मोथा, पित्तपापड़ा, खस, चन्दन, गन्धबाला तथा शुण्ठी; इन्हें उबाल कर ठण्डा करके प्यास और ज्वर की शान्ति के लिये रोगी को देना चाहिये । इसे सिद्ध करने के लिये—

'यदप्सु शृतशीतासु षडङ्गादिप्रयुज्यते ।
कर्षमात्रं ततो द्रव्यं साधयेत्प्रास्थिकेऽम्भसि ॥
अर्धशृतं प्रयोक्तव्यं पाने पेयादिसम्विधौ ॥

इस परिभाषा के अनुसार मोथा आदि छहों द्रव्य मिलाकर १ कर्ष लेने चाहियें और उन्हें २ प्रस्थ (३२ पल) जल में उबालना चाहिये । जब आधा जल अर्थात् १ प्रस्थ (१६ पल) रह जाय तब छान कर शीतल होने पर पिलाना चाहिये । चिकित्साकलिका में शुण्ठी (सोंठ) के स्थल पर पद्मक पढ़ा है ॥ १४४ ॥

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान्दोषानामाशयस्थितान् ।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत् ॥ १४५ ॥

ज्वरविशेष में वमन—आमाशय में स्थित कफप्रधान दोष यदि ज्वर के हेतु हों और यदि वे दोष उत्क्लिष्ट हों अर्थात् उनकी बाहिर निकलने की ओर रुचि हो पर निकलते न हों तब उचितकाल में वामनीय पुरुषों को वमन कराकर उन दोषों का निर्हरण करें। उत्क्लेश का लक्षण सु० शारीर ४ अ० में दिया गया है—

'उत्क्लिश्यान्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम् ।
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥'

इस संहितामें वामनीय और अवामनीय पुरुषोंकी गणना सिद्धिस्थान द्वितीय अध्याय में की गई है। वमन औषध प्रायः पूर्वाह्णकाल में पिलायी जाती है। अथवा काल से रोगी की उक्त अवस्था का ही ग्रहण करना चाहिये ॥ १४५ ॥

अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे ।
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं च जनयेद् भृशम् ॥ १४६ ॥

अन्यथा वमन से हानि—तरुण ज्वर में यदि दोष बहिर्निर्गमनोन्मुख न हों तो वमन कराने से हृद्रोग, श्वास, आनाह, मोह (मूर्च्छा) आदि उपद्रव हो जाते हैं। यदि दोष कफप्रधान न हो, आमाशय स्थित न हो तथा च रोगी अवामनीय हो तो भी ये उपद्रव हो जाया करते हैं ॥ १४६ ॥

सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था दुःखनिर्हराः[1] ।
दोषाः फलेभ्य आमेभ्यः स्वरसा इव सात्ययाः ॥ १४७ ॥

सम्पूर्ण देह में व्याप्त धातुओं में स्थित सामदोष को निकालना अत्यन्त दुष्कर एवं विनाश का कारण है जैसे कच्चे फल से स्वरस का निकालना अत्यन्त कठिन होता है और अतएव केवल उस फल का नाश ही होता है। अभिप्राय यह है कि दोष के परिपक्व

१ 'असुनिर्हराः' च. । 'दुर्विनिर्हराः' ग. ।

होने पर ही उसे बाहिर निकालने की चेष्टा करना कर्तव्य है ॥१४७॥

वमितं लङ्घितं काले यवागूभिरुपाचरेत् ।
यथास्वौषधसिद्धाभिर्मण्डपूर्वाभिरादितः ॥ १४८ ॥

यवागुओं के प्रयोग का विधान—उपर्युक्त अवस्थाओं में वमन वा लङ्घन कराने के पश्चात् उपयुक्त काल में (वा अन्न के समय) प्रारम्भ में अपनी अपनी औषधों से साधित मण्ड यवागू आदि से चिकित्सा करे। सब से पूर्व मण्ड का सेवन करावे। इसमें चावल वा चावलों की कणी नहीं होती। ये अत्यन्त द्रव होता है। इसके बाद दिनों में क्रमशः यवागुएं घनी देवें। मण्ड प्रस्तुत करने के लिये चावलों की कणी से चौदह गुना जल वा क्वाथ डाला जाता है। सिद्ध होने पर द्रव भाग को मण्ड कहते हैं। सामान्य यवागू के साधन के लिये चावलों की कणी से ६ गुना जल वा क्वाथ डालकर पकाया जाता है। इस में द्रवभाग और भक्तकण दोनों होते हैं। दोषहर औषधों के क्वाथ से साधन में षडङ्गपानीय में कही गई परिभाषा से ही क्वाथ को सिद्ध करना चाहिये। कई व्याख्याकार (चक्रपाणि आदि) 'मण्डपूर्वाभिः यवागूभिः' का अर्थ यह करते हैं कि प्रथम यवागू के उपरितन द्रवभाग को पिलाकर पश्चात् शेष खिला दे। परन्तु यह अर्थ हृदयग्राही नहीं। सुश्रुत उ० अ० ३९ में कहा है—

'अन्नकाले हिता पेया यथास्वं पाचनैः कृता ।' १४८ ॥

यावज्ज्वरमृदूभावात्षडहं वा विचक्षणः ।
तस्याग्निर्दीप्यते ताभिः समिद्भिरिव पावकः ॥ १४९ ॥

जबतक ज्वर मृदु नहीं होता अथवा सामान्यतः छह दिन तक मण्ड और यवागू का प्रयोग करावे। इसके प्रयोग से जिस प्रकार अग्नि समिधाओं से प्रदीप्त होती है, वैसे ही रोगी की जठराग्नि भी दीप्त होती है ॥

ताश्च भेषजसंयोगाल्लघुत्वाच्चाग्निदीपनाः ।
वातमूत्रपुरीषाणां दोषाणां चानुलोमनाः ॥ १५० ॥
स्वेदनाय द्रवौष्ण्यत्वाद् द्रवत्वात्तट्प्रशान्तये ।

आहारभावात्प्राणाय सरत्वाल्लाघवाय च ॥ १५१ ॥
ज्वरघ्न्यो ज्वरसात्म्यत्वात्तस्मात्पेयाभिरादितः ।
ज्वरानुपचरेद्धीमान्

यवागुओं के हितकर होने में हेतु—औषध के संयोग से तथा लघु होने के कारण वे अग्नि को दीप्त करती हैं । वात मूत्र पुरीष और दोषों का अनुलोमन करती हैं । द्रव एवं उष्ण होने से पसीना लाती हैं । द्रव होने के कारण प्यास को मिटाती हैं । आहार होने के कारण प्राण वा बल को देती हैं । सर होने से शरीर में लघुता उत्पन्न करती हैं । ज्वर में सात्म्य होने से ज्वर को नष्ट करती हैं।

अतएव बुद्धिमान् वैद्य को चाहिये कि वह प्रारम्भ में पेयाओं द्वारा ज्वरों की चिकित्सा करे ॥ १५०–१५१ ॥

ऋते मद्यसमुत्थितात् ॥ १५२ ॥
मदात्यये मद्यनित्ये ग्रीष्मे पित्तकफाधिके ।
ऊर्ध्वगे रक्तपित्ते च यवागूर्न हिता ज्वरे ॥ १५३ ॥

यवागुओं का ज्वरविशेषों में निषेध—मद्यपान से उत्पन्न ज्वर में यवागुएं न देनी चाहियें । मदात्यय में जो नित्य मद्य पीता है, ग्रीष्म ऋतु में, ऊर्ध्वग रक्तपित्त में ज्वर होने पर और पित्तकफप्रधान ज्वर में, यवागुएं हितकर नहीं होतीं । अभिप्राय यह है कि जब ज्वर मदात्यय आदि उपर्युक्त अवस्थाओं में हो तो यवागू देना अहितकर होता है क्योंकि वे उस २ अवस्था को और भी अधिक बढ़ा देती हैं ॥१५२–१५३॥

तत्र तर्पणमेवाग्रे[1] प्रयोज्यं लाजशक्तुभिः ।
ज्वरापहैः फलरसैर्युक्तं समधुशर्करम् ॥ १५४ ॥

मद्यजन्य आदि ज्वरों में प्रारम्भिक चिकित्सा—इन अवस्थाओं में यवागुओं का प्रयोग न कराकर प्रारम्भ में लाजा के सत्तुओं का तर्पण पीने को देना चाहिये । जल वा द्रव में आलोडित सत्तुओं को तर्पण कहते हैं। इस

१ 'तर्पणं तोयपरिप्लुताः सक्तवः' चक्रः ।

तर्पण में मधु खांड तथा ज्वरनाशक फलों के रस डालने चाहियें ॥

द्राक्षादाडिमखर्जूरपियालैः सपरूषकैः ।
तर्पणार्हेषु कर्तव्यं तर्पणं ज्वरशान्तये ॥ १५५ ॥

ज्वरनाशक फल——जो तर्पण कराने के योग्य हों उन्हें ज्वर की शान्ति के लिये अङ्गूर (अथवा किशमिश, मुनक्का), अनार, खजूर, पियाल, फालसा; इन फलों के रसों से तर्पण कराना चाहिये। अभिप्राय यह है कि सत्तुओं में इन फलों का रस (दोष की विवेचना करके) डालकर रोगी को पिलाना चाहिये ॥ १५५ ॥

ततः सात्म्यबलापेक्षी भोजयेज्जीर्णतर्पणम् ।
तनुना मुद्गयूषेण जाङ्गलानां रसेन वा ॥ १५६ ॥

तदनन्तर जब तर्पण पचजाय तब सात्म्य तथा बल के अनुसार मूंग के पतले यूष अथवा जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस के साथ ओदन खिलावे ॥ १५६ ॥

अन्नकालेषु चाप्यस्मै विधेयं दन्तधावनम् ।
योऽस्य वक्त्ररसस्तस्माद्विपरीतं प्रियं च यत् ॥ १५७ ॥

दातौन का प्रयोग——आहारकालों में रोगी को दातौन भी करानी चाहिये। दातौन ऐसा होना चाहिये जिसका रस रोगी के मुख के रस से विपरीत हो और रोगी को प्रिय हो ॥ १५७ ॥

तदस्य मुखवैशद्यं प्रकाङ्क्षां चान्नपानयोः ।
धत्ते रसविशेषाणामभिज्ञत्वं करोति यत् ॥ १५८ ॥

दातौन के लाभ——जो दातौन भिन्न २ रसों का परिज्ञान कराती है वह मुख को स्वच्छ करती है, अन्न पान में अभिलाषा को उत्पन्न करती है ॥ १५८ ॥

विशोध्य द्रुमशाखाग्रैरास्यं प्रक्षाल्य चासकृत् ।
मस्त्विक्षुरसमद्याद्यैर्यथाहारमवाप्नुयात् ॥ १५९ ॥

वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग से अर्थात् दातौन से मुख का

शोधन करके और बारम्बार दोष के अनुसार मस्तु(दही का पानी)इक्षुरस (ईख का रस) तथा मद्य आदि के कवलधारण द्वारा धोकर हितकर आहार करे। रोगी भोजन से पूर्व मुख और दांतों का उपर्युक्त विधान के अनुसार स्वच्छ कर ले।

गंगाधर ने इस श्लोक का यह अर्थ किया है कि दातौन के पश्चात् उष्णजल से मुख को साफ़ करके मस्तु ईख का रस मद्य तथा (आद्य शब्द से) मूंग का यूष, जाङ्गलमांसरस तथा शाक आदि व्यञ्जनों के साथ उचित आहार करे॥ १५९ ॥

पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्।
ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम्॥ १६०॥

छठे दिन के व्यतीत होने पर जिसने लघु अन्न खाया हो उसे आने वाले दिन पाचन वा शमनीय कषाय पिलावे। जो अपक्व आहार अपक्व रस वा अपक्व दोषों का परिपाक करता है, उसे पाचन कहते हैं। जो दुष्ट दोषों को बाहिर नहीं निकालते और प्रकृतिस्थित दोषों में किसी की वृद्धि नहीं करते परन्तु प्रकुपित दोषों को साम्यावस्था में लाते हैं, उन्हें शमन कहते हैं। ज्वर के प्रारम्भ होने के दिवस का परिगणन न करते हुए ही सामान्यतः श्लोक के छठे दिनके व्यतीत होने पर ऐसा कहा है। यदि ज्वर का प्रारम्भ दिन गिना जाय तो सातवें दिन के व्यतीत होने पर यह अर्थ होगा। सातवें दिन के व्यतीत होने पर आठवें दिन पाचन कषाय वा शमन कषाय पिलावे। यदि दोष साम हों तो पाचन यदि निराम हो तो शमन कषाय देना चाहिये। ज्वर की तरुणता प्रायः सातदिन तक होती है। अतएव अन्यत्र कहा भी है—

'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः।'

तथा च ज्वरकी निरामता बताते हुए भी 'आठवां दिन' कहा है। सामज्वर में सामान्यतः कषायपान का निषेध मुख्य औषध होने से है। अतः आठवें दिन ही कषायपान कराना चाहिये। परन्तु यदि लङ्घन यवागूपान आदि

द्वारा दोषों का पाक सातवें दिन तक न हो तो पाचनकषाय की व्यवस्था करनी होती है। जब तक सुलङ्घित के लक्षण प्रकट न हों तब तक लङ्घन कराना चाहिये। लङ्घन कितने काल तक कराना उचित है, इस विषय में हारीत ने कहा है—

'लङ्घनं लङ्घनीयानां कुर्याद्दोषानुरूपतः।
त्रिरात्रमेकरात्रं वा षड्रात्रमथवा ज्वरे॥'

एक दिन तीन दिन वा छह दिन लङ्घन के काल की मर्यादा है। यदि दोष अत्यधिक साम हों रोगी बलवान् हो तभी छह दिन तक लङ्घन कराना चाहिये। अन्यथा दोष और रोगी के बलानुसार एकदिन वा तीनदिन ही लङ्घन होता है। लङ्घन के पश्चात् पाचनार्थ मण्ड पेया आदि का विधान है। यह छठे दिन तक(ज्वर प्रारम्भ दिन की गणना से सातवें दिन तक) होता है। तब भी यदि वे दोष न पकें तो आठवें दिन पाचनकषाय का प्रयोग होगा। अन्यथा शमनीयकषाय का।

स्तभ्यन्ते न विपच्यन्ते कुर्वन्ति विषमज्वरम्।
दोषा बद्धाः कषायेण[1] स्तम्भित्वात्तरुणे ज्वरे॥ १६१॥

कषायनिषेध में हेतु—तरुणज्वर में कषायके स्तम्भकारक होने से कषाय द्वारा बंधे हुए दोष देह में जड़वत् स्तब्ध हो जाते हैं, पचते नहीं और विषमज्वर को उत्पन्न कर देते हैं॥ १६१॥

न[2] तु कल्पनमुद्दिश्य कषायः प्रतिषिध्यते।
यः कषायः कषायः स्यात्स वर्ज्यस्तरुणज्वरे॥ १६२॥

कल्पना के उद्देश से कषाय को निषिद्ध नहीं कहा गया। परन्तु जो कषाय (स्वरस आदि कल्पना) कषायरस विशिष्ट हो वह नवज्वरमें वर्जित है। कई तो सोलह गुणा जल से साधित चतुर्थांश अवशिष्ट क्काथ को भी कषायत्वेन निषिद्ध मानते हैं। परन्तु चरक के अपने वचन

१ 'कषायरसेनेत्यर्थः' चक्रः। २ 'नतु कल्पनमुद्दिश्येति स्वरसकल्कशृतशीतफाण्टरूपकल्पनं लक्ष्यीकृत्य, यः कषायः कषाय इति कषायैरामलकादिभिः कृतः स्वरसादिरूपः कषायः, स निषिध्यत इत्यर्थः' चक्रः।

से यह सिद्ध नहीं होता । वह तो कषायरसविशिष्ट किसी भी स्वरस आदि कल्पना को निषिद्ध मानता है । अन्य मत हम पूर्व १३७ श्लोक की व्याख्या में कह चुके हैं । तन्त्रान्तरों के अनुसार क्वाथ के मुख्य-भेषज रूप में होने से उसे निषिद्ध माना जासकता है ॥ १६२ ॥

यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जाङ्गलैर्वा रसैर्हितैः ।
दशाहं यावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ॥ १६३ ॥

ज्वर की शान्ति के लिये दसवें दिन तक ज्वरघ्न अनार आदि फलों के रस से खट्टे किये हुए अथवा अनम्ल ही हितकर मूंग आदि के यूष वा जाङ्गलमांसरसों के साथ लघु अन्न खिलाना चाहिये । अभिप्राय यह है कि पूर्व लघङ्न के पश्चात् यवागू का सेवन और यवागू के पश्चात् मूंग आदि के यूष के साथ लघु भोजन कराना चाहिये । यवागू तक का विधान छह दिन तक का है उसके पश्चात् चार दिन यूष वा मांस रस आदि के साथ लघु अन्न का विधान है । पूर्व दोष की सामावस्था थी पुनः पच्यमानावस्था हुई ।

'आसप्तरात्रं तरुणं ज्वरमाहुर्मनीषिणः ।
मध्यं द्वादशरात्रन्तु पुराणमत उत्तरम्' ॥ १६३ ॥

अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे ।
परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥ १६४ ॥

घृतपान की व्यवस्था—तदनन्तर जिस ज्वर में कफ मन्द हो और जिस ज्वर में वात, पित्त अथवा वातपित्त प्रधान हों उसमें दोषों के पूर्णतया पक जाने पर घृत का पान अमृत के सदृश लाभ करता है ॥

निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलङ्घितम् ।
न सर्पिः पाययेद्वैद्यः शमनैस्तमुपाचरेत् ॥ १६५ ॥

दस दिन व्यतीत हो जाने पर भी यदि वैद्य यह जाने कि रोगी को लङ्घन नहीं कराया गया और कफ प्रधान हो तो घी न पिलावें ।

---

१ 'कषायैः' ग. ।

उसकी संशमन औषधों से चिकित्सा करे ॥ १६५ ॥

यावल्लघुत्वादशनं दद्यान्मांसरसेन च ।
बलं ह्यलं दोषहरं परं तच्च बलप्रदम्[1] ॥ १६६ ॥

जब तक देह में लघुता न हो तब तक मांसरस के साथ लघु आहार खिलावें । बल ही दोषों को नष्ट करने में समर्थ है । और मांसरस उत्कृष्ट बलजनक है ॥ १६६ ॥

दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ।
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ॥ १६७ ॥

दूध की व्यवस्था—दाह और तृष्णा से आक्रान्त वात, पित्त अथवा वातपित्त प्रधान निरामज्वर को जिसमें दोष बंधे हुए हों पर अपने स्थान से विचलित हो गये हों दूध के प्रयोग द्वारा जीते ॥१६७॥

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः ।
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः ॥ १६८ ॥

इन क्रियाओं से यदि ज्वर शान्त न हो तो जिस रोगी का बल मांस वा अग्नि क्षीण न हुई हो उसे ज्वर की शान्ति के लिये विरेचन दें ॥

ज्वरक्षीणस्य न हितं वमनं न विरेचनम् ।
कामं तु पयसा तस्य निरूहैर्वा हरेन्मलान् ॥ १६९ ॥

दूध वा निरूह का मलहरणार्थ विषय—जो पुरुष ज्वर से क्षीण हो गया हो उसे वमन वा विरेचन कराना हितकर नहीं । यदि अभीष्ट हो तो दूध के प्रयोग से अथवा निरूह बस्तियों द्वारा मल का निर्हरण करना चाहिये ॥ १६९ ॥

निरूहो बलमग्निं च विज्वरत्वं मुदं रुचिम् ।
परिपक्वेषु दोषेषु प्रयुक्तः शीघ्रमावहेत् ॥ १७० ॥

---

1 'बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणां बलकृच्च तत्' च. । 'तदिति मांसरसेनाशनं' चक्रः ।

निरूह के लाभ—दूध को जिस अवस्थामें प्रयोग कराने से लाभ होता है वह अभी पूर्व ही कही जा चुकी है । ज्वर में दोषों के परिपक्व हो जाने पर प्रयुक्त कराया हुआ निरूह (आस्थापनबस्ति) बल देता है, अग्नि को दीप्त करता है, ज्वर को हटाता है, हर्ष देता और आहार में रुचि करता है ॥ १७० ॥

पित्तं वा कफपित्तं वा पित्ताशयगतं हरेत् ।
स्रंसनं, त्रीन्मलान् बस्तिर्हरेत्पक्वाशयस्थितान् ॥ १७१ ॥

विरेचन और बस्ति के तुलनात्मक विषय—स्रंसन अर्थात् विरेचन पित्ताशय के पित्त वा कफपित्त को हरता है । यहां पित्ताशय से पित्ताशय (Gall bladder) के अतिरिक्त आमाशय के नीचे का क्षुद्रान्त्र का पूर्व भाग—ग्रहणी और क्षुद्रान्त्र का भी ग्रहण करना चाहिये ।

बस्ति पक्वाशय में स्थित वात पित्त कफ तीनों को हरती है । पक्वाशय से बहुधा बृहदन्त्र का ही ग्रहण किया जाता है । क्योंकि क्षुदान्त्रों तक ही प्रायशः अन्न का पूर्णपाक हो जाता है ॥१७१॥

ज्वरे पुराणे संक्षीणे कफपित्ते दृढाग्नये ।
रूक्षबद्धपुरीषाय प्रदद्यादनुवासनम् ॥ १७२ ॥

अनुवासन का विषय—पुराने ज्वर में, कफपित्त के क्षीण होने पर जिस रोगी को रूखा और कठिन बंधा हुआ वा गांठदार पाखाना आता हो परन्तु साथ ही जिस की अग्नि दृढ़ हो उसे अनुवासन (स्निग्धबस्ति) दे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २ में कहा है—

' प्रक्षीणकफपित्तस्य त्रिकपृष्ठकटीग्रहे ।
दीप्ताग्नेर्बद्धशकृतः प्रयुञ्जीतानुवासनम् ॥ '

यहां पर त्रिक आदि के ग्रहसे कुछ वायु की प्रधानता भी बतायी है १७२

गौरवे शिरसः शूले विबद्धेष्विन्द्रियेषु च ।
जीर्णज्वरे रुचिकरं कुर्यान्मूर्धविरेचनम् ॥ १७३ ॥

---

१ ' स्रंसनस्त्रीन् ' ग. ।

शिरोविरेचन का विषय—जीर्णज्वर में देह के गुरु होने पर, शिर में शूल होने पर और इन्द्रियों के विबद्ध होने पर अर्थात् विषय-ग्रहण में पूर्णतया समर्थ न होने पर शिरोविरेचन (नस्य) करना चाहिये । यह रुचि को भी करता है । यह वैरेचनिक नस्य का विषय है । वृद्धवाग्भट ने तो स्नैहिक और शमन नस्य का भी विषय कहा है—

'स्नैहिकं शून्यशिरसो दाहार्ते पित्तनाशनम् ॥

जब शिर शून्य सा प्रतीत हो तो स्नैहिक (बृंहण) नस्य देना चाहिये । यदि दाह हो तो पित्तनाशक (शमन) नस्य देना हितकर है ॥

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च सस्नेहान् सावगाहनान् ।
विभज्य शीतोष्णतया[१] कुर्याज्जीर्णे ज्वरे भिषक् ॥ १७४ ॥

अभ्यङ्ग आदि का विधान—जीर्णज्वर में शीतसमुत्थ एवं उष्णसमुत्थ की विवेचना करके अभ्यङ्ग प्रदेह स्नेहन एवं अवगाहनों की व्यवस्था करनी चाहिये । यदि ज्वर शीतसमुत्थ हो तो उष्ण अभ्यङ्ग आदि और यदि उष्णसमुत्थ हो तो शीत अभ्यङ्ग आदि कराने चाहियें ॥ १७४ ॥

तैराशु हि शमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः ।
लभन्ते सुखमङ्गानि बलं वर्णश्च वर्धते ॥ १७५ ॥

इनके लाभ—इनके द्वारा बाह्यमार्गगत ज्वर शीघ्र शान्त हो जाता है, अङ्गों को सुख प्राप्त होता है, बल और वर्ण की वृद्धि होती है । रक्त आदि धातुएं और त्वचा ये रोग के बाह्यमार्ग हैं । तीन प्रकार के रोगों के मार्ग का स्पष्टीकरण सूत्र ११ अ० में हो चुका है । अथवा बहिर्मार्गगत से बहिर्वेग ज्वर का ग्रहण है ॥ १७५ ॥

धूपनाञ्जनयोगैश्च यान्ति जीर्णज्वराः शमम् ।
त्वङ्मात्रशेषा[२] येषां च भवत्यागन्तुरन्वयः ॥ १७६ ॥
इति क्रियाक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः संप्रकाशितः ।

---

१ 'शीतोष्णकृतान्' च. । २ 'त्वङ्मात्रशेषो' ग. ।

धूपन आदि का विधान—केवल त्वचा में ही जो जीर्णज्वर अवशिष्ट रह गये हैं वे धूपन तथा अञ्जन के योगों से शान्त हो जाते हैं। जिन ज्वरों में आगन्तु अनुबन्ध होता है वे भी धूपन एवं अञ्जनों के योग से शान्त हो जाया करते हैं।

यह ज्वरनाशक फलप्रद चिकित्साक्रम प्रकाशित कर दिया है १७६

येषां त्वेष क्रमस्तानि द्रव्याण्यूर्ध्वमतः शृणु ॥ १७७॥
रक्तशाल्यादयः शस्ताः पुराणाः षष्टिकैः सह ।
यवाग्वोदनलाजार्थे ज्वरितानां ज्वरापहाः ॥ १७८ ॥

इसके पश्चात् जिनका यह क्रम है उन द्रव्यों को सुनो—ज्वर के रोगी को यवागू ओदन और लाजाओं में प्रयोग के लिये ज्वरनाशक पुराने लाल शालि आदि तथा साँठी के चावल प्रशस्त माने गये हैं ॥ १७७–१७८ ॥

लाजपेयां सुखजरां पिप्पलीनागरैः शृताम् ।
पिबेज्ज्वरी ज्वरहरां क्षुद्वानल्पाग्निरादितः ॥ १७९ ॥

ज्वराक्रान्त पुरुष, जिसकी जाठराग्नि अल्प हो प्रारम्भ में भूख लगने पर ज्वरनाशक शीघ्र पच जाने वाली पिप्पली और सोंठ से साधित लाजाओं की पेया को पीवे ॥ १७९ ॥

अम्लाभिलाषी तामेव दाडिमाम्लां सनागराम् ।
सृष्टविट् पैत्तिको वाऽथ शीतां मधुयुतां पिबेत् ॥ १८० ॥

जो रोगी अम्लरस का अभिलाषी हो वह उसी लाजाओं की पेया को जिसमें सोंठ डाली गई है अनार के रस से खट्टा करके पीवे।

जिसे मल पतला आता हो अथवा पैत्तिक पुरुष लाजाओं की पेया को शीतल करके शहद डालकर पीवे ॥ १८० ॥

पेयां वा रक्तशालीनां पार्श्वबस्तिशिरोरुजि ।
श्वदंष्ट्राकण्टकारीभ्यां सिद्धां ज्वरहरां पिबेत् ॥ १८१ ॥

यदि पार्श्वों में, बस्ति में, वा शिर में वेदना हो तो गोखरू तथा

छोटी कटेरी से साधित रक्तशालि की पेया का पान करे । अथवा ' बस्तिशिर ' से मूत्राशय के ऊर्ध्वभाग का ग्रहण करना चाहिये ॥१८१॥

ज्वरातिसारी पेयां वा पिबेत्साम्लां शृतां नरः ।
पृश्निपर्णीबलाबिल्वनागरोत्पलधान्यकैः ॥ १८२ ॥

ज्वरातिसार का रोगी पृश्निपर्णी, बलामूल, बिल्व (बेलगिरी), सोंठ, नीलोत्पल तथा धनियां; इनसे साधित अनार के रस से खट्टी की हुई पेया का पान करे ॥ १८२ ॥

शृतां विदारीगन्धाद्यैर्दीपनीं स्वेदनीं नरः ।
कासी श्वासी च हिक्की च यवागूं ज्वरितः पिबेत् ॥ १८३ ॥

ज्वर का रोगी कास श्वास वा हिक्का में विदारीगन्धादिगण से साधित यवागू को पीवे । यह दीपन तथा पसीना लाने वाली है । विदारीगन्धादि गण स्वल्पपञ्चमूल को कहते हैं—

विदारिगन्धां बृहतीं पृश्निपर्णीं निदिग्धिकाम् ।
विद्याद्विदारीगन्धाद्यं श्वदंष्ट्रापञ्चमं गणम् ॥

शालपर्णी, बृहती, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, गोखरू; यह विदारीगन्धाद्यगण है । इसे ही स्वल्प पञ्चमूल भी कहते हैं ॥ १८३ ॥

विबद्धवर्चाः सयवां पिप्पल्यामलकैः शृताम् ।
सर्पिष्मतीं पिबेत्पेयां ज्वरी दोषानुलोमनीम् ॥ १८४ ॥

ज्वर का रोगी, यदि मल अत्यन्त कठिन बंधा हुआ आता हो तो पिप्पली और आंवलों से साधित जौ युक्त लाल शालि की पेया को पीवे । इस पेया में प्रभूत घृत डालना चाहिये । यह दोषों का अनुलोमन करती है ॥ १८४ ॥

कोष्ठे विबद्धे सरुजि पिबेत्पेयां शृतां ज्वरी ।
मृद्वीकापिप्पलीमूलचव्यामलकनागरैः ॥ १८५ ॥

यदि कोष्ठबन्ध (कब्ज) हो और पेट में दर्द हो तो मुनक्का,

---

१ ' शालपर्णी ' ग. ।

पिप्पलीमूल, चव्य, आंवला और सोंठ; इनसे साधित पेया को पीवे १८५

पिबेत्सबिल्वां पेयां वा ज्वरे सपरिकर्तिके ।
बलावृक्षाम्लकोलाम्लकलशीधावनीश्रृताम् ॥ १८६ ॥

जब ज्वर में परिकर्तिका (गुदा वा उदर में कर्तनवत् पीडा) हो तो बलामूल, वृक्षाम्ल (विषांबिल, तिन्तिडीक), खट्टे बेर, पृश्निपर्णी, कण्ट-कारी; इन से साधित बिल्व (बेलगिरी) युक्त पेया को पीवे। गङ्गाधर ने बिल्वचूर्ण का यवागू में प्रक्षेप देना लिखा है। अथवा बेलगिरी को भी बलामूल आदि क्वाथ्य द्रव्यों के साथ मिलाकर क्वाथ कर सकते हैं। गङ्गाधर ने कलशी से शालपर्णी और धावनी से पृश्निपर्णी का ग्रहण किया है ॥ १८६ ॥

अस्वेदनिद्रस्तृष्णार्तः पिबेत्पेयां सशर्कराम् ।
नागरामलकैः सिद्धां घृतभृष्टां ज्वरापहाम् ॥ १८७ ॥

जिसे पसीना न आता हो, नींद न पड़ती हो, प्यास से पीड़ित हो; वह सोंठ और आंवले से साधित घी में भूनी हुई पेया में खांड डाल कर पीवे। यह ज्वर को नष्ट करती है।

यवागूसाधन क्वाथ से करना हो तो षडङ्गपानीय की विधि के अनुसार क्वाथ को सिद्ध कर यवागू प्रस्तुत करनी चाहिये। यदि कल्कसाध्य यवागू हो तो—

'कर्षार्द्धं वा कणाशुण्ठ्योः कल्कद्रव्यस्य वा पलम् ।
विनीय पाचयेद् युक्त्या वारिप्रस्थेन चापराम् ॥

इस परिभाषा के अनुसार पिप्पली और सोंठ मिलाकर आधाकर्ष अथवा अन्य कल्क द्रव्यों को १ पल लेकर २ प्रस्थ जल डालकर युक्ति-पूर्वक यवागू बनावे। द्रव्य तीन प्रकार के हैं। १ तीक्ष्णवीर्य २ मध्य-वीर्य और ३ मृदुवीर्य। पिप्पली सोंठ आदि तीक्ष्ण वीर्य द्रव्यों के कल्क से यदि यवागू बनानी हो तो वे द्रव्य मिलाकर आधा कर्ष वा एक कर्ष लेने चाहियें। यदि मृदुवीर्य हों तो वे मिलाकर १ पल परिमाण में लिये

जा सकते हैं । यदि मध्यवीर्य हों तो दो कर्ष ले सकते हैं । यदि मृदु और तीक्ष्ण वीर्य मिश्रित हों तो वहां अपनी बुद्धि से विवेचना करके प्रत्येक द्रव्य की मात्रा निर्धारित करनी होगी ।

काथ्यद्रव्याञ्जलिं क्षुण्णं श्रपयित्वा जलाढके ।
पादशेषेण तेनास्य यवागूरुपकल्पयेत् ॥

यह जो काथ्यसाध्य यवागू के लिये काथ के साधन की परिभाषा है वह रसप्रधान द्रव्यों के लिये है । जैसे पूर्व कहा जा चुका है—

'सिद्धा वराहनिर्यूहे यवागूर्बृंहणी मता ।'

यहां रसप्रधान द्रव्य सूअर के मांस से यवागू सिद्ध करनी होती है । ऐसे स्थलों पर ४ पल काथ्य द्रव्य को २ आढक जल में पकाकर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने दिया जाता है । वीर्यप्रधान द्रव्यों में काथ के लिये षडङ्गपानीयोक्त परिभाषा का ही प्रायशः प्रयोग होता है । वृन्दोक्त परिभाषा हम सूत्रस्थान २ अध्याय में वराहनिर्यूह-साध्य यवागू की व्याख्या में लिख चुके हैं । कई व्याख्याकार तो यवागू आदि के साधन में द्रव्यों के परिमाण को उस २ देश के निवासियों के व्यवहार के अनुसार लेने को कहते हैं—

'यवागूरसयूषेषु रसालापानकादिषु ।
द्रव्यमात्रां प्रयुञ्जीत लोकसिद्धां यथार्हतः ॥
अथवा यावता व्याप्तिर्नाति स्याद् भेषजेन तु' ॥१८७॥

मुद्गान्मसूरांश्चणकान् कुलत्थान् समकुष्ठकान् ।
यूषार्थे यूषसात्म्यानां ज्वरितानां प्रकल्पयेत् ॥ १८८ ॥

ज्वर में किन किन द्रव्यों से यूष सिद्ध करना चाहिये—मूंग, मसूर, चने, कुलत्थ, मोठ; इनका यूष ज्वर के रोगियों को जिन्हें यूष सात्म्य हो देना चाहिये । यूष के साधन का प्रकार ८०२ पृष्ठ पर २५७ वें श्लोक की व्याख्या में कह दिया है ॥ १८८ ॥

पटोलपत्रं सफलं कुलकं पापचेलिकाम् ।

कर्कोटकं कठिल्लं च विद्याच्छाकं ज्वरे हितम् ॥ १८९ ॥

ज्वर में हितकर शाक—पटोलपत्र (परवल के पत्ते), पटोल-फल (परवल), कुलक (पटोलभेद अथवा करेला), पापचेलिका (पाठाशाक), कर्कोटक (ककोड़ा), कठिल्लक (लाल पुनर्नवा); इन का शाक ज्वर में हितकर होता है ॥१८९॥

लावान् कपिञ्जलानेणांश्चकोरानुपचक्रकान् ।
कुरङ्गान् कालपुच्छांश्च हरिणान्पृषताञ्शशान् ॥ १९० ॥
प्रदद्यान्मांससात्म्याय ज्वरिताय ज्वरापहान् ।
ईषदम्लाननम्लान्वा रसान् काले विचक्षणः ॥ १९१ ॥

ज्वर में हितकर मांस—जिन ज्वर के रोगियों को मांस सात्म्य हो उनको लावपक्षी, कपिञ्जल (श्वेत तीतर), एण (काला हरिण) चकोर, उपचक्रक (चकोर भेद), कुरङ्ग (हरिणभेद, जो न काला हो न ताम्रवर्ण हो), कालपुच्छ (हरिणभेद—जिसकी पूंछ काली हो), हरिण (ताम्रवर्ण का), पृषत (चित्तल हरिण), शश (शशक, खरगोश); इनका मांस देना चाहिये । ये ज्वरहर हैं। इन मांसों से यथाविधि रस तय्यार कर ज्वर में मांससात्म्य रोगियों को देना हितकर है। मांसरस के साधन का प्रकार ८०४ पृष्ठ पर व्याख्या में कहा जा चुका है । इन मांसरसों को दोष की विवेचना करके थोड़ा खट्टा वा विना खट्टा किये ही उचित आहारकाल में पीने को देना चाहिये । खट्टा करने के लिये ज्वरनाशक अम्लफलों (यथा अनार) का रस डालना चाहिये ॥ १९०-१९१ ॥

कुक्कुटांश्च मयूरांश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकान् ।
गुरूष्णत्वान्न शंसन्ति ज्वरे केचिच्चिकित्सकाः ॥ १९२ ॥
लङ्घनेनानिलबलं ज्वरे यद्यधिकं भवेत् ।
भिषङ्मात्राविकल्पज्ञो दद्यात्तानपि कालवित् ॥ १९३ ॥

कुक्कुट (मुर्गा), मोर, तीतर, क्रौञ्च तथा वर्तक पक्षियों के

मांस के गुरु तथा गरम होने के कारण कई चिकित्सक ज्वर में प्रयोग कराने को अच्छा नहीं समझते। परन्तु यदि ज्वर में लङ्घन कराने से वायु का बल अधिक बढ़ जाय तो काल तथा मात्रा के विकल्पों को जानने वाला चिकित्सक इनका भी प्रयोग करावे ॥ १९२–१९३ ॥

घर्माम्बु चानुपानार्थं तृषिताय प्रदापयेत् ।
मद्यं वा मद्यसात्म्याय यथादोषं यथाबलम् ॥ १९४ ॥

अनुपानक्रम—यदि रोगी को प्यास हो तो उपर्युक्त आहार में अनुपान के तौर पर उष्ण जल पिलाना चाहिये। परन्तु जो पुरुष मद्यसात्म्य हो उसे दोष तथा रोगी के बल के अनुरूप मद्य के अनुपान की व्यवस्था होनी चाहिये। मद्योत्थ ज्वर में उष्ण जल का निषेध पूर्व इसी अध्याय में कर आये हैं। तन्त्रान्तर में कहा है—

'ज्वरे पिबेदनुष्णाम्बु मद्यसात्म्यस्तु यो भवेत् ।
तस्मै दोषबलं दृष्ट्वा युक्त्या मद्यं विधीयते ॥' १९४ ॥

गुरूष्णस्निग्धमधुरकषायांश्च नवज्वरे ।
आहारान् दोषपक्त्यर्थं प्रायशः परिवर्जयेत् ॥ १९५ ॥
अनुपानक्रमः सिद्धो ज्वरघ्नः संप्रकाशितः ।

नवज्वर में दोषों के पाचन के लिये गुरु उष्ण स्निग्ध मधुर तथा कषायरस द्रव्यों का आहार प्रायशः नहीं करना चाहिये।

यह ज्वरनाशक लाभकर अनुपानक्रम बता दिया है ॥१९५॥

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यन्ते कषाया ज्वरनाशनाः ॥ १९६ ॥
पार्क्यं शीतकषायं वा मुस्तपर्पटकं पिबेत् ।
सनागरं पर्पटकं पिबेद्वा सदुरालभम् ॥ १९७ ॥
किराततिक्तकं मुस्तं गुडूचीं विश्वभेषजम् ।
पाठामुशीरं सोदीच्यं पिबेद्वा ज्वरशान्तये ॥ १९८ ॥

१ 'पाक्यमिति पूतम्' चक्रः।

इसके पश्चात् ज्वरनाशक कषाय कहे जायंगे—१ मोथा, पित्तपापड़ा २—अथवा सोंठ, पित्तपापड़ा। ३—पित्तपापड़ा, दुरालभा। ४—अथवा चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ। ५—पाठा (पाढ़), उशीर (खस), उदीच्य (गन्धबाला); इन पांचों योगों का क्वाथ वा शीतकषाय ज्वर की शान्ति के लिये रोगी पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १ में ये योग सङ्गृहीत हैं—

'मुस्तया पर्पटं युक्तं शुण्ठ्या दुःस्पर्शयापि वा।
पाक्यं शीतकषायं वा पाठोशीरं सबालकम् ॥
पिबेत्तद्वच्च भूनिम्बगुडूचीमुस्तनागरम्' ॥

जेज्जट के अनुसार प्रथम योग केवलपित्त ज्वर में, द्वितीययोग पित्तप्रधान ज्वर में, तृतीय योग मन्दाग्नियुक्त पित्तकफप्रधान ज्वर में, चतुर्थयोग शीतप्राय ज्वर में और पञ्चमयोग दाहप्रधान ज्वर में प्रयोग कराना चाहिये। कई व्याख्याकार पांचों योगों को सब ज्वरों में ही देने को कहते हैं।

जतूकर्ण ने उक्त चतुर्थ और पञ्चम योग से एक ही योग स्वीकार किया है। चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ पाढ़, खस, गन्धबाला; इन सात द्रव्यों का एक ही योग कहा है। इस योग का अन्यत्र नाम पाठासप्तक भी है। पित्तप्रधान पित्तकफज्वर में इसके प्रयोग की व्यवस्था है। मूलपाठ में यहां कोई व्यवच्छेदक शब्द आचार्य ने नहीं कहा। व्यवहार में ये योग भिन्न भिन्न भी और मिलाकर एक रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने तो इन्हें भिन्न भिन्न ही पढ़ा है। जेज्जट आदि व्याख्याकारों ने भी दो योग स्वीकार करके व्याख्या की है। चिरायता, मोथा, गिलोय, सोंठ; इन चार द्रव्यों से कहे गये चतुर्थयोग का नाम चातुर्भद्र भी है। शिवदास ने इस योग को कफप्रधान कफपित्तज्वर में देने को कहा है।

गङ्गाधर ने ये तीन योग ही माने हैं। प्रथम योग पूर्ववत् ही है।

द्वितीययोग सोंठ पित्तपापड़ा और दुरालभा से होता है और तृतीय-योग चिरायता आदि सात द्रव्यों का (पाठासप्तक) है । प्रथम योग को पित्ताधिक कफवातानुबन्ध ज्वर में देने को कहता है और शेष दो योगों को सब ज्वरों में ॥ १९६-१९८ ॥

ज्वरघ्ना दीपनाश्चैते कषाया दोषपाचनाः ।
तृष्णारुचिप्रशमना मुखवैरस्यनाशनाः ॥ १९९ ॥

ये कषाय ज्वरनाशक, दीपन, दोष का परिपाक करने वाले, तृष्णा अरुचि को शान्त करने वाले और मुख की विरसता को हटाने वाले हैं ॥ १९९ ॥

पटोलं सारिवा मुस्तं पाठा कटुकरोहिणी ।
कलिङ्गकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ॥ २०० ॥
निम्बः पटोलस्त्रिफला मृद्वीकामुस्तवत्सकाः ।
किराततिक्तममृता चन्दनं विश्वभेषजम् ॥ २०१ ॥
गुडूच्यामलकं मुस्तमर्धश्लोकसमापनाः ।
कषायाः शमयन्त्याशु पञ्च पञ्चविधाञ्ज्वरान् ॥ २०२ ॥
सन्ततं सततान्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकान् ।

पांच कषाय—१ पटोलपत्र, सारिवा, मोथा, पाढ़, कटुकी । २ इन्द्रजौ, पटोलपत्र, कटुकी । ३ नीम की छाल, पटोलपत्र, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मुनक्का, मोथा, इन्द्रजौ । ४ चिरायता, गिलोय, लालचन्दन, सोंठ । ५ गिलोय, आंवला, मोथा । ये आधे श्लोक में पूर्ण होने वाले पांच कषाय क्रमशः सन्तत सतत अन्येद्युष्क तृतीयक चतुर्थक पांचों प्रकार के ज्वरों को शीघ्र शान्त करते हैं ॥ २००-२०२ ॥

वत्सकारग्वधं पाठां षड्ग्रन्थां कटुरोहिणीम् ॥ २०३ ॥
मूर्वां सातिविषां निम्बं पटोलं धन्वयासकम् ।
वचां मुस्तमुशीराणि मधुकं त्रिफलां बलाम् ॥ २०४ ॥
पाक्यं शीतकषायं वा पिबेज्ज्वरहरं नरः ।

वत्सकादि—ज्वर का रोगी इन्द्रजौ, अमलतास, पाढ़, श्वेतवचा, कटुकी, मूर्वामूल, अतीस, नीम की छाल, पटोलपत्र, धन्त्रयास (धमासा), लालवचा, मोथा, खस, मुलहठी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, बलामूल; इन का क्वाथ अथवा शीतकषाय पीवे । यह ज्वरनाशक है । कई व्याख्याकार एक योग न मानकर तीन योग मानते हैं। कटुकीपर्यन्त प्रथमयोग, धन्वयासपर्यन्त द्वितीययोग और बलामूलपर्यन्त तृतीययोग ॥२०३-२०४॥

मधूकमुस्तमृद्वीकाकाश्मर्याणि परूषकम् ॥ २०५ ॥
त्रायमाणामुशीराणि त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।
पीत्वा निशिस्थितं जन्तुर्ज्वराच्छीघ्रं विमुच्यते ॥ २०६ ॥

मधूकादिहिम—महुवे के फूल, मोथा, मुनक्का, गाम्भारी, फालसा, त्रायमाणा, खस, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कटुकी; इन्हें कूटकर जल में भिगो दें । रातभर भीगा रहने दें । प्रातःकाल छानकर पीवें । इसके प्रयोग से मनुष्य ज्वर से शीघ्र छूट जाता है । यह हिम सम्पूर्ण ज्वरों को नष्ट करता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १ में भी—

'मधूकपुष्पमृद्वीकात्रायमाणापरूषकम् ।
सोशीरतिक्ता त्रिफला काश्मर्यं कल्पयेद्धिमम् ॥
कषायं तं पिबन् काले ज्वरान् सर्वानपोहति ॥'२०५—२०६॥

बृहत्यौ वत्सकं मुस्तं देवदारु महौषधम् ।
कोलवल्ली च योगोऽयं संनिपातज्वरापहः । २०७ ॥

सन्निपातज्वरनाशककषाय—दोनों बृहती (छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी अथवा बृहत्फला बृहती और चणकफला बृहती), इन्द्रजौ, मोथा, देवदारु, सोंठ, कोलवल्ली (चव्य); यह कषाययोग सन्निपातज्वर का नाशक है ॥ २०७ ॥

जात्यामलकमुस्तानि तद्वद्धन्वयवासकम् ।
विबद्धदोषो ज्वरितः कषायं सगुडं पिबेत् ॥ २०८ ॥

---

१ 'अत्र जातीशब्देन जातिपल्लवा ग्राह्याः' चक्रः ।

जात्यादिकषाय—चमेली के पत्ते, आंवला, मोथा, धमासा; इन का क्वाथ सन्निपातज्वर का नाशक है। ज्वर का रोगी जिसमें दोष विबद्ध हों-रुके हुए हों वह काथ में गुड का प्रक्षेप देकर पीवे। गुड काथ से चतुर्थांश डाला जाता है ॥ २०८ ॥

त्रिफलां त्रायमाणां च मृद्वीकां कटुरोहिणीम् ।
पित्तश्लेष्महरस्त्वेष कषायो ह्यानुलोमिकः ॥ २०९ ॥
त्रिवृताशर्करायुक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः ।

त्रिफलादिकषाय—त्रिफला, त्रायमाणा, मुनक्का, कटुकी; यह क्वाथ पित्तकफ को हरता है। अतः इस क्वाथ को पित्तकफज्वर में प्रयोग कराना चाहिये। परन्तु यदि पित्तकफज्वर में अति मलबद्धता हो तो इसी क्वाथ के द्रव्यों में त्रिवृता (निसोत) को बढ़ा लें। और क्वाथ को छानकर खांड का प्रक्षेप देकर पिलावें। यह पित्त-श्लेष्म ज्वर के नाश के साथ साथ अनुलोमन भी करता है॥ २०९ ॥

शटी पुष्करमूलं च व्याघ्री शृङ्गी दुरालभा ॥ २१० ॥
गुडूची नागरं पाठा किरातं कटुरोहिणी ।
एष शट्यादिको वर्गः संनिपातज्वरापहः ॥ २११ ॥
कासहृद्ग्रहपार्श्वार्तिश्वासतन्द्रासु शस्यते ।

शट्यादिवर्ग—शटी (कचूर) पुष्करमूल (पोहकरमूल), छोटी कटेरी, काकड़ासिंगी, दुरालभा, गिलोय, सोंठ, पाठा, चिरायता, कटुकी; यह शट्यादिवर्ग सन्निपात ज्वर को नष्ट करता है। यह खांसी, हृद्ग्रह (हृदय में वेदना), पार्श्वशूल, श्वास तथा तन्द्रा होने पर हितकर होता है। अभिप्राय यह है कि जब कास आदि लक्षण विद्यमान हों तब सन्निपातज्वर में इस शट्यादिवर्ग के कषाय का प्रयोग करना चाहिये॥

बृहत्यौ पुष्करं भार्गी शटी शृङ्गी दुरालभा ॥ २१२ ॥
वत्सकस्य च बीजानि पटोलं कटुरोहिणी ।
बृहत्यादिर्गणः प्रोक्तः संनिपातज्वरापहः ॥ २१३ ॥

कासादिषु च सर्वेषु दद्यात्सोपद्रवेषु च।

बृहत्यादिगण—दोनों बृहती (छोटी कटेरी और बड़ी कटेरी), पुष्करमूल, भारंगी, कचूर, काकड़ासिंगी, दुरालभा (धन्वयास, धमासा), इन्द्रजौ, पटोलपत्र, कटुकी; ये बृहत्यादिगण सन्निपातज्वर को नष्ट करता है। इसे उपद्रवों से युक्त कास आदि सब रोगों में दे सकते हैं॥ २१२-२१३॥

कषायाश्च यवाग्वश्च पिपासाज्वरनाशनाः॥ २१४॥
निर्दिष्टा भेषजाध्याये भिषक्तानपि योजयेत्।

पिपासा एवं ज्वर को नष्ट करने वाले कषाय और यवागुएं भेषजाध्याय में कही जा चुकी हैं। वैद्य को चाहिये कि उनका भी विवेचनापूर्वक प्रयोग कराये। भेषजाध्याय से भेषजचतुष्क लिया जाता है। सूत्रस्थान के प्रारम्भ के चार अध्यायों के समुदाय को भेषजचतुष्क कहते हैं। सूत्रस्थान के चतुर्थ अध्याय षड्विरेचनशताश्रितीय में तृष्णानिग्रह (११७ पृष्ठ पर) और ज्वरहर (१२० पृष्ठ पर) दस २ कषाय कहे हैं। अपामार्गतण्डुलीय नामक सूत्रस्थान के द्वितीय अध्याय में यवागुएं कही हैं॥२१४॥

ज्वराः कषायैर्वमनैर्लङ्घनैर्लघुभोजनैः॥ २१५॥
रूक्षस्य ये न शाम्यन्ति सर्पिस्तेषां भिषग्जितम्।

जो ज्वर कषायपान वमन लङ्घन (उपवास) और लघुभोजनों से रूक्ष-देह रोगी के शान्त नहीं होते उनकी औषध घी है॥२१५॥

रूक्षं तेजो ज्वरकरं तेजसा रूक्षितस्य च॥ २१६॥
यः स्यादनुबलो धातुः स्नेहसाध्यः[1] स चानिलः।

घी का प्रयोग क्यों हितकर है—ज्वरोत्पादक तेज रूक्ष होता है। उस तेज द्वारा रोगी का देह रूक्ष हो जाता है। रूक्ष होने के कारण जो धातु पश्चात् बलवान् हो जाता है वह वायु स्नेहसाध्य है

[1] 'स्नेहवध्यः' च.।

अर्थात् स्नेह से नष्ट होता है। अतः घी का प्रयोग हितकर है। घी के प्रयोग का काल पूर्व (१६०६ पृष्ठ पर) कहा जा चुका है ॥ २१६ ॥

कषायाः सर्व एवैते सर्पिषा सह योजिताः ॥ २१७ ॥
प्रयोज्या ज्वरशान्त्यर्थमग्निसंधुक्षणाः शिवाः ।

ऊपर कहे गये सब कषाय उचित अवस्था में ज्वर की शान्ति के लिये घी के साथ प्रयोग कराने चाहियें। ये प्रयोग अग्नि को उद्दीप्त करेंगे और अतएव हितकर होंगे। चक्रपाणि आदि—कषायों से घृत को सिद्धकर वह घृत प्रयोग कराना चाहिये—ऐसा तात्पर्य निकालते हैं॥

पिप्पल्यश्चन्दनं मुस्तमुशीरं कटुरोहिणी ॥ २१८ ॥
कलिङ्गकस्तामलकी सारिवाऽतिविषा स्थिरा ।
द्राक्षामलकबिल्वानि त्रायमाणा निदिग्धिका ॥ २१९ ॥
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो जीर्णज्वरमपोहति ।
क्षयं कासं शिरःशूलं पार्श्वशूलं हलीमकम् ॥ २२० ॥
अंसाभितापमग्निं च विषमं संनियच्छति ।

पिप्पल्यादिघृत—पिप्पली, लालचन्दन, मोथा, खस, कटुकी, इन्द्रजौ, भुंई आंवला, सारिवा (अनन्तमूल), अतीस, शालपर्णी, मुनक्का, आंवला, बेल की छाल, त्रायमाणा, छोटी कटेरी; इनसे सिद्ध किया हुआ घी शीघ्र ज्वर को नष्ट करता है। क्षय, कास, शिरोवेदना, पार्श्वशूल, हलीमक, अंसाभिताप, और विषम अग्नि को हटाता है। इस घी के साधन में—

'यत्राधिकरणेनोक्तिर्गणे स्यात्स्नेहसम्विधौ ।
तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिना ॥

इस परिभाषा के अनुसार घृत का पाक केवल पिप्पली आदि के कल्क से किया जाता है। चक्रपाणि ने चिकित्सासारसंग्रह में कहा भी है—

'एतद्वाक्यबलेनैव कल्कसाध्यपरं घृतम् ।'

जहां पर साधनार्थ घृत का प्रमाण नहीं कहा होता वहां सामान्यतः अन्तःप्रयोग के लिये २ प्रस्थ घी लिया जाता है—

'अनिर्दिष्टप्रमाणानां स्नेहानां प्रस्थ इष्यते।'

अतः गव्यघृत २ प्रस्थ (३२ पल)। कल्कार्थ—पिप्पली आदि द्रव्य मिलित १ शराव (८ पल)। पाकार्थ जल ८ प्रस्थ। घृतपाक विधि से घी को पकावें। सामान्यतः स्नेहपाक का विधान निम्न है—

' प्रथमे मूर्च्छनं स्नेहे क्वाथो देयो द्वितीयके।
कल्कद्रव्यं तृतीये च गन्धद्रव्यं तथा परे॥
क्रमेण विधिवत्पाच्यं मन्दमन्दाग्निना भिषक्।
निर्मलं निर्जलं तैलं तदा सिद्धिं विनिर्दिशेत्॥'

सब से पूर्व स्नेह का मूर्च्छन किया जाता है। मूर्च्छन द्वारा स्नेह का आमदोष हट जाता है और उसमें उत्तम वर्ण एवं सुगन्ध का आविर्भाव होता है। घी का मूर्च्छन निम्नप्रकार से होता है—

'पथ्याधात्रीबिभीतैर्जलधररजनीमातुलुङ्गद्रवैश्च
द्रव्यैरेतैः समस्तैः पलकपरिमितैर्मन्दमन्दानलेन।
आज्यप्रस्थं विफेनं परिचपलगतं मूर्च्छयेद्वैद्यवर्य-
स्तस्मादामोपदोषं हरति च सकलं वीर्यवत्सौख्यदायि॥'

प्रथम २ प्रस्थ घृत अग्नि पर गरम करें। जब झागरहित हो जाय तो नीचें उतार लें और शीतल होने पर हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा, हलदी; इन का कल्क, बिजौरे का रस; प्रत्येक १ पल परिमाण में लेकर ८ प्रस्थ जल में आलोडित कर घी में डाल दें। पुनः अग्नि पर रख मन्द मन्द आंच से पकावें। जब थोड़ा सा जल शेष रह जाय तो नीचे उतार लें।

मूर्च्छापाक के पश्चात् क्वाथ आदि से पाक किया जाता है। क्वाथ से पकाने के अनन्तर कल्कद्रव्यों से पाक होता है।

यदि गन्धार्थ द्रव्य हों तो उनका सबसे पीछे पाक किया जाता है।

गङ्गाधर 'यत्राधिकरणेनोक्तिः' इत्यादि परिभाषा की दूसरी व्याख्या करता है और वह इसी परिभाषा के अनुसार कल्क और क्वाथ दोनों के साथ पाक करने को कहता है । वह इस परिभाषा का अर्थ यह करता है कि जहां औषधों के अधिकरण ग्रन्थ में स्नेह के विधान में जिस गण अर्थात् साधन द्रव्यों के समूह में कल्क और क्वाथ स्वरस आदि की उक्ति न हो वहां उसी साधन द्रव्यों के समूह से कल्क और क्वाथ दोनों का ग्रहण करना चाहिये । अतः पिप्पल्यादिघृत को भी पिप्पली आदि के कल्क और इन्हीं के क्वाथ दोनों से सिद्ध करना चाहिये ।

कई व्याख्याकार इसी परिभाषा का अर्थ यह करते हैं जहां स्नेह के विधान में अधिकरण द्वारा (सप्तम्यन्त) उक्ति हो वहां कल्क और क्वाथ दोनों से और जहां करण द्वारा (तृतीयान्त) उक्ति हो वहां केवल कल्क द्वारा पाक होना चाहिये । जैसे यदि कहा जाय कि शट्यादिगण में घी पकाओ तो वहां शट्यादिगण का क्वाथ और शट्यादिगण का कल्क दोनों लेने चाहिये । परन्तु यदि यह कहा जाय कि शट्यादिगण से घी पकाओ तो वहां शट्यादिगण का केवल कल्क लिया जायगा । इस व्याख्या के अनुसार भी यह घृत कल्क द्वारा ही पकाया जायगा । क्योंकि यहां पर 'सिद्धमेतैर्घृतं' में करण द्वारा पाक का निर्देश है ।

तीसरी व्याख्या उसी परिभाषा की इस प्रकार है—स्नेह प्रकरण में जहां पर आचार्यों अथवा संग्रहकर्ताओं ने किसी 'गण' का निर्देश किया हो वहां क्वाथ और कल्क के अनिर्देश में उसी गण की औषधियों से स्नेहपाक करने के लिये क्वाथ और कल्क दोनों तय्यार करने चाहियें । परन्तु यदि औषधों का नाम पृथक् पृथक् लिया हो और उन्हें गणविशेषत्वेन न कहा हो और वे किसी गणविशेष की औषध न हों

२०५

तो वहां केवल कल्क द्वारा ही पाक करना चाहिये । इस व्याख्या के अनुसार भी यह घृत कल्क द्वारा ही पकाया जाना चाहिये । यही आजकल मान्य मानी गई है । चिकित्साकलिका में भी इस घृत का विधान है, वहां स्पष्ट ही कल्क से पाक करने को कहा है—

'कृष्णातामलकीघनप्रतिविषासिंहीस्थिरासारिवा-
विश्वोशीरकलिङ्गबिल्वकटुकात्रायन्तिकाचन्दनैः ।
सद्राक्षामलकाग्निभिः पिचुमितैः प्रस्थं पचेत्सर्पिषः
कासश्वासहलीमकारुचिवमीगुल्मज्वरघ्नं नृणाम् ॥'

इस में सोंठ और चित्रक दो द्रव्य अधिक हैं और छोटी कटेरी के स्थल पर बड़ीकटेरी का पाठ है । यहां प्रत्येक द्रव्य को एक कर्ष परिमाण में लेने को कहा है । मिलाकर कल्क १७ कर्ष (४ पल १ कर्ष) होता है । यह चिकित्साकलिकोक्त योग सुश्रुतोक्त योग के अनुसार कहा है । परन्तु सुश्रुत में भी कल्क क्राथ का अनिर्देश है । और न ही वहां प्रमाण दिया है—

पिप्पल्यतिविषाद्राक्षासारिवाबिल्वचन्दनैः ।
कटुकेन्द्रयवोशीरसिंहीतामलकीघनैः ॥
त्रायमाणास्थिराधात्रीविश्वभेषजचित्रकैः ।
पक्वमेतैर्घृतं पीतं विजित्य विषमाग्नितान् ॥
जीर्णज्वरशिरःशूलगुल्मोदरहलीमकम् ।
क्षयकासं ससन्तापं पार्श्वशूलानपास्यति ॥

हमने सामान्य विधान के अनुसार कल्क १ शराव परिमाण में लेने को कहा है । यही अन्य व्याख्याकारों का मत है । अथवा तीसटाचार्य के अनुसार प्रत्येक कल्कद्रव्य को १ कर्ष परिमाण में लेना चाहिये । इस घृत को किसी तन्त्रान्तर में दूध से भी पकाने का विधान है । चक्रदत्त ज्वर चि० में कहा है—

'पिप्पल्याद्यमिदं कापि तन्त्रे क्षीरेण पच्यते ॥'

यदि दूध के साथ पिप्पल्यादिघृत को सिद्ध करना हो तो दूध

घी से चौगुना लेना चाहिये । दूध गौ का ही उत्तम होता है । आधुनिक मात्रा—आधा तोला ॥२१८-२२० ॥

वासां गुडूचीं त्रिफलां त्रायमाणां यवासकम् ॥ २२१ ॥
पक्त्वा तेन कषायेण पयसा द्विगुणेन च ।
पिप्पलीमुस्तमृद्वीकाचन्दनोत्पलनागरैः ॥ २२२ ॥
कल्कीकृतैश्च विपचेद्धृतं जीर्णज्वरापहम् ।

वासाद्यघृत—वासामूलत्वक् (अडूसे की जड़ का छिलका), गिलोय, हरड़, बहेड़ा, आंवला, त्रायमाणा, यवासक (जवासा); इनके दुगुने क्वाथ से और दुगुने गव्य दुग्ध से पकाकर पिप्पली, मोथा, मुनक्का, लालचन्दन, नीलकमल, सोंठ; इनके कल्क से पकावे । यह घृत जीर्णज्वर को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला। इसके साधन में क्वाथ आदि का प्रमाण इसप्रकार है । गव्यघृत २ प्रस्थ । वासामूलत्वक् आदि द्रव्यों का क्वाथ ४ प्रस्थ । गोदुग्ध ४ प्रस्थ । पिप्पली आदि कल्कद्रव्य मिलाकर १ शराव । क्वाथ के लिये वासामूलत्वक् आदि क्वाथ्य द्रव्यों को मिला कर २ प्रस्थ परिमाण में लें । १६ प्रस्थ जल में डाल कर काढ़ा करें । जब चतुर्थांश (४ प्रस्थ) रह जाय तो उतार कर छान लें ।

इस योग में 'द्विगुणेन' यह 'कषायेण' और 'पयसा' दोनों का विशेषण है अतः क्वाथ और दूध घी से दुगुने लिये जाते हैं ।

परन्तु अन्य व्याख्याकार इसी को दूसरी प्रकार कहते हैं । वे कहते हैं कि—

'पञ्चप्रभृति यत्र स्युर्द्रवाणि स्नेहसम्विधौ ।
तत्र स्नेहसमान्याहुरर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार यह बात स्पष्ट है कि पांच से कम द्रव होने पर घी की अपेक्षा मिलितद्रव चतुर्गुण लिया जाता है । अतः 'द्विगुणेन' को केवल 'पयसा' का विशेषण मानने पर भी क्वाथ द्विगुण ही लेना सङ्गत है । क्योंकि इसप्रकार क्वाथ और दूध मिलाकर घी से चौगुने होते

हैं। जो परिभाषा में कहे गये 'अर्वाक् स्याच्च चतुर्गुणम्।' से पांच से कम द्रवों के होने पर प्रत्येक द्रव का चौगुना लेना मानते हैं वे वासामूलत्वक् आदि का क्काथ घी से चौगुना (८ प्रस्थ) ही ही लेते हैं और दूध को चूंकि दुगुना लेने को कहा है अतः ४ प्रस्थ ही लेते हैं। सुश्रुत उ० अ० ३६ में भी यह योग पढ़ा है। पर वहां दूध से पाक करने को नहीं कहा। उस पठित योग में तो सामान्य स्नेहसाधन की परिभाषा के अनुसार क्काथ चौगुना ही लिया जायगा।

'गुडूचीत्रिफलावासात्रायमाणायवासकैः।
क्वथितैर्विधिवत्पक्वमेतैः कल्ककृतैः समैः॥
द्राक्षामागधिकाम्भोदनागरोत्पलचन्दनैः।
पीतं सर्पिः क्षयश्वासकासजीर्णज्वरान् जयेत्॥' २२१-२२२॥

बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीं कलसीं धावनीं स्थिराम्॥ २२३॥
निम्बं पर्पटकं मुस्तं त्रायमाणां दुरालभाम्।
कृत्वा कषायं पेष्यार्थे दद्यात्तामलकीं शटीम्॥ २२४॥
द्राक्षां पुष्करमूलं च मेदामामलकानि च।
घृतं पयश्च तत्सिद्धं सर्पिर्ज्वरहरं परम्॥ २२५॥
क्षयकासशिरःशूलपार्श्वशूलांसतापनुत्।

बलाद्यघृत—गौ का घी २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—बलामूल, गोखरू, बृहती, कण्टकारी, पृश्निपर्णी, शालपर्णी, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, मोथा, त्रायमाणा, दुरालभा; इनका क्काथ ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—भुंई आंवला, कचूर, मुनक्का, पुष्करमूल, मेदा, आंवले; सब मिलाकर १ शराव। यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा—आधा तोला।

क्वाथ के लिये बलामूल आदि द्रव्य ४ प्रस्थ लेकर ३२ प्रस्थ जल में पकावें जब ८ प्रस्थ शेष बचे तो उतार कर छान लें। दूध का प्रमाण—

'द्रवान्तरेण योगे हि क्षीरं स्नेहसमं भवेत्'

के अनुसार २ प्रस्थ लिया है । अष्टाङ्गसंग्रह में इस योग की व्याख्या में इन्दु का भी यही अभिप्राय है ।

चक्रपाणि पूर्वोक्त घृत के साहचर्य के कारण तदनुसार ही क्वाथ और दूध का प्रमाण लेने को कहता है । अर्थात् उसके मत में दोनों ही पृथक घी से दुगुने (४ प्रस्थ) लिये जाने चाहियें । सुश्रुत चि० अ० ३९ में—

'कलशीबृहतीद्राक्षात्रायन्तीनिम्बगोक्षुरैः ।
बलापर्पटकाम्भोदशालपर्णीयवासकैः ॥
पक्वमुत्क्वथितैः सर्पिः कल्कैरेभिः समन्वितैः ।
शठीतामलकीभार्गीमेदाकतकपौष्करैः ॥
क्षीरद्विगुणसंयुक्तं जीर्णज्वरमपोहति ॥
शिरःपार्श्वरुजाकासक्षयप्रशमनं परम् ।

इस में क्वाथ्य द्रव्यों में द्राक्षा अधिक है । और पेष्य द्रव्यों में द्राक्षा और आमलक न पढ़कर भार्गी और कतक (निर्मली) पढ़े हैं । यहां पर घी से दुगुना दूध लेने को कहा है । अतः पांच द्रवों से कम अर्थात् चार द्रवों तक में मिलित द्रव को स्नेह से चतुर्गुण लेने वाले क्वाथ को घी से दुगुना लेते हैं । चक्रपाणि को भी इसी प्रमाण में यहां दूध और क्वाथ का लेना अभीष्ट है । पांच से कम द्रवों में जो प्रत्येक द्रव को चतुर्गुण लेते है, वे सुश्रुतोक्त पाठ के अनुसार भी इस योग में क्वाथ को चतुर्गुण ही लेते हैं ।

यह घृत ज्वर को हरता है । क्षय कास, शिरोवेदना, पार्श्वशूल तथा अंसताप को हटाता है ॥ २२३–२२५ ॥

ज्वरिभ्यो बहुदोषेभ्य ऊर्ध्वं चाधश्च बुद्धिमान् ॥ २२६ ॥
दद्यात्संशोधनं काले कल्पे यदुपदेक्ष्यते ।

जिन ज्वर के रोगियों में दोष की मात्रा बहुत अधिक हो, उन्हें

उचित काल में ऊपर और नीचे का संशोधन अर्थात् वमन और विरेचन कराना चाहिये। संशोधनों का कल्पस्थान में उपदेश होगा। काल का सामान्य निर्देश पूर्व (११०७ पृष्ठ पर) कर आये हैं—

क्रियाभिराभिः प्रशमं न प्रयाति यदा ज्वरः।
अक्षीणबलमांसाग्नेः शमयेत्तं विरेचनैः॥

इस में विरेचन से वमन और विरेचन दोनों का का ग्रहण है। कल्पस्थान प्रथम अध्याय में कहा भी जायगा—

'तत्र दोषहरणमूर्ध्वभागं वमनसंज्ञं, अधोभागं विरेचनसंज्ञकं, उभयं वा शरीरमलविरेचनसंज्ञां लभते।' ॥ २२६ ॥

मदनं पिप्पलीभिर्वा कलिङ्गैर्मधुकेन वा ॥ २२७ ॥
युक्तमुष्णाम्बुना पेयं वमनं ज्वरशान्तये।
क्षौद्राम्बुना रसेनेक्षोरथवा लवणाम्बुना ॥ २२८ ॥
ज्वरे प्रच्छर्दनं शस्तं मद्यैर्वा तर्पणेन वा।

वमन के योग—मैनफल को पिप्पली अथवा इन्द्रजौ अथवा मुलहठी के साथ गरम जल के अनुपान से ज्वर की शान्ति के लिये वमनार्थ देना चाहिये। वमनार्थ मैनफल की मात्रा १॥ माशे तक है। कफ की प्रबलता में पिप्पली के साथ, पित्तकफ में इन्द्रजौ के साथ, दाह में मुलहठी के साथ मैनफल को दिया जाता है। इसीप्रकार अनुपान के तौर पर मधु का शरबत अथवा गन्ने का रस अथवा लवणोदक अथवा मद्य या तर्पण (जलालोडित सत्तू) का दोष और रोगी के बलाबल के अनुसार वमनार्थ प्रयोग कराना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने चि० अ० २ में कहा है—

'न शाम्यत्येवमपि चेज्ज्वरः कुर्वीत शोधनम्।
शोधनार्हस्य वमनं प्रागुक्तं तस्य योजयेत्॥
आमाशयगते दोषे बलिनः पालयन् बलम्।
सन्तर्पणोत्थे वमनं पिप्पलीलवणाम्बुना॥

शर्करामाद्धिकाम्भोभिर्दाहतृष्णोल्बणे ज्वरे ॥' २२७-२२८ ॥

मृद्वीकामलकानां वा रसं प्रस्कन्दनं पिबेत् ॥ २२६ ॥

रसमामलकानां वा घृतभृष्टं ज्वरापहम् ।

लिह्याद्वा त्रैवृतं चूर्णं संयुक्तं मधुसर्पिषा ॥ २३० ॥

पिबेद्वा चौद्रमासाद्य सघृतं त्रिफलारसम् ।

आरग्वधं वा पयसा मृद्वीकानां रसेन वा ॥ २३१ ॥

त्रिवृतां त्रायमाणां वा पयसा ज्वरितः पिबेत् ।

ज्वराद्विमुच्यते पीत्वा मृद्वीकाभिः सहाभयाम् ॥ २३२ ॥

पयोऽनुपानमुष्णं वा पीत्वा द्राक्षारसं नरः ।

विरेचन के योग—अथवा यदि विरेचन आवश्यक हो तो अङ्गूर का रस (वा मुनक्के क्वाथ) और आंवलों का रस मिलाकर रोगी पीवे। इनका पृथक् पृथक् भी उपयोग किया जा सकता है । अथवा आंवलों के रस को घी में भर्जन कर प्रयोग कराने से ज्वर नष्ट होता है । अथवा मधु और घी के साथ निसोत के चूर्ण को चाटना चाहिये । अथवा त्रिफला के रस में मधु और घी मिलाकर पीवे । अथवा अमलतास को दूध के साथ अथवा अङ्गूर के रस वा मुनक्के के क्वाथ के साथ पीवे । अथवा ज्वर का रोगी त्रिवृता (निसोत) वा त्रायमाणा के चूर्ण को दूध के साथ पीवे । हरड़ के चूर्ण को मुनक्के के क्वाथ के साथ पीने से रोगी ज्वर से छूट जाता है । अथवा मुनक्का और हरड़ के चूर्ण को जल के साथ पीना चाहिये । अथवा ज्वर से छुटकारा पाने के लिये विरेचनार्थ अंगूरों का रस पीकर ऊपर से उष्णजल पी जाय ॥ २२६-२३२ ॥

कासाच्छ्वासाच्छिरःशूलात्पार्श्वशूलाच्चिरज्वरात् ॥ २३३ ॥

मुच्यते ज्वरितः पीत्वा पञ्चमूलशृतं पयः ।

पञ्चमूलीपय—छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी,

---

१ 'प्रच्छर्दनं ' ग. । २ ' चौद्रमावाप्य ' ग. ।

गोखरू; इस क्षुद्रपञ्चमूल से यथाविधि साधित दूध को पीने से ज्वर का रोगी कास, श्वास, शिरःशूल, पार्श्वशूल, प्रतिश्याय (जुकाम); इनसे छूट जाता है । क्षीरपाक का विधान यह है—

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥

यदि प्रमाण का निर्देश न हो तो सामान्यतः औषध से आठगुना दूध और दूध से चारगुना जल डालकर पकाना चाहिये । जब जल उड़ जाय और दूध रह जाय तो उतार ले और छान लें । यह दूध को सिद्ध करने की विधि है । इस परिभाषा के अनुसार क्षुद्रपञ्चमूल २ तोले, दूध १६ तोला, जल ६४ तोला लेकर पकावें । संस्कृत होने पर छान लें । वातपित्त का नाशक होने से यहां स्वल्प पञ्चमूल लिया है । क्योंकि दूध का काल बताते हुए पूर्व कहा जा चुका है—

'दाहतृष्णापरीतस्य वातपित्तोत्तरं ज्वरम् ।
बद्धप्रच्युतदोषं वा निरामं पयसा जयेत् ॥'

गङ्गाधर पञ्चमूल से बृहत्पञ्चमूल का ग्रहण करता है ॥२३३॥

एरण्डमूलोत्क्वथितं ज्वरात्सपरिकर्तिकात् ॥ २३४ ॥
पयो विमुच्यते पीत्वा तद्वद्बिल्वशलाटुभिः ।

यदि ज्वर में परिकर्तिका भी साथ हो तो एरण्डमूल अथवा बेलगिरी से यथाविधि साधित दूध पीना चाहिये ॥ २३४ ॥

त्रिकण्टकबलाव्याघ्रीगुडनागरसाधितम् ॥ २३५ ॥
वर्चोमूत्रविबन्धघ्नं शोफज्वरहरं पयः ।

त्रिकण्टकाद्य पय—गोखरू, बलामूल, छोटी कटेरी, गुड़, सोंठ; इनसे साधित गौ का दूध मलबन्ध और मूत्रबन्ध को नष्ट करता है । शोथ और ज्वर को हरता है । इसमें गुड़ को छोड़कर शेष द्रव्यों के कल्क से यथाविधि दूध को सिद्ध करना चाहिये । पश्चात् वस्त्र से छानकर गुड़ डालकर रोगी पीवे ॥ २३५ ॥

सनागरं समृद्वीकं सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥ २३६ ॥
शृतं पयः सखर्जूरं पिपासाज्वरनाशनम्।

नागराद्यपय—सोंठ, मुनक्का, खर्जूर; इनके कल्क से यथाविधि साधित दूध में गौ का घी मधु और खांड मिलाकर पिपासा (प्यास) और ज्वर के नाश के लिये पिलाना चाहिये। दूध के शीतल होने पर ही मधु को डालना चाहिये ॥ २३६ ॥

चतुर्गुणेनाम्भसा वा शृतं ज्वरहरं पयः ॥ २३७ ॥
धारोष्णं वा पयः सद्यो वातपित्तज्वरं जयेत्।

चौगुने जल से सिद्ध किया हुआ दूध ज्वर को हरता है। अथवा धारोष्ण (ताज़ा दुहते ही जो स्वभावतः उष्ण होता है) दूध शीघ्र ही वातपित्तज्वर को शान्त करता है ॥ २३७ ॥

जीर्णज्वराणां सर्वेषां पयः प्रशमनं परम् ॥ २३८ ॥
पेयं तदुष्णं शीतं वा यथास्वं भेषजैः शृतम्।

सब जीर्णज्वरों को शान्त करने में दूध उत्कृष्ट है। उसे यथा-दोष औषधों से यथाविधि संस्कृत कर गरम वा शीतल पीना चाहिये २३८

प्रयोजयेज्ज्वरहरान्निरूहान् सानुवासनान् ॥ २३९ ॥
पक्वाशयगते दोषे वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु।

निरूह और अनुवासन के प्रयोग की अवस्था—जब दोष पक्वाशयगत हों तो सिद्धिस्थान में कहे जाने वाले ज्वरनाशक निरूह और अनुवासनों का प्रयोग करना चाहिये ॥ २३९ ॥

पटोलारिष्टपत्राणि सोशीरश्चतुरङ्गुलः ॥ २४० ॥
ह्रीबेरं रोहिणी तिक्ता श्वदंष्ट्रा मदनानि च।
स्थिरा बला च तत्सर्वं पयस्यर्धोदके शृतम् ॥ २४१ ॥
क्षीरावशेषं निर्यूहं संयुक्तं मधुसर्पिषा।
कल्कैर्मदनमुस्तानां पिप्पल्या मधुकस्य च ॥ २४२ ॥

वत्सकस्य च संयुक्तं बस्तिं दद्याज्ज्वरापहम्।
शुद्धे मार्गे हृते दोषे विप्रसन्नेषु धातुषु ॥ २४३ ॥
गताङ्गशूलो लघ्वङ्गः सद्यो भवति विज्वरः।

पटोलाद्यबस्ति—परवल के पत्ते, नीम के पत्ते, खस, अमलतास, गन्धबाला, कटुकी, गोखरू, मैनफल, शालपर्णी, बलामूल; इन्हें जिसमें आधा जल हो उस दूध में डालकर पकावें। जब दूध अवशिष्ट रह जाय और डाला गया जल उड़ जाय तब उसे छान लें। मधु और घी मिला दें। मैनफल, मोथा, पिप्पली, मुलहठी, इन्द्रजौ का कल्क डालें यह बस्ति ज्वर को नष्ट करती है। मार्ग के शुद्ध होने पर, दोष के निकल जाने पर, धातुओं के निर्मल हो जाने पर पुरुष ज्वररहित हो जाता है। अङ्गों में होने वाला शूल जाता रहता है और वह देह को लघु अनुभव करता है। इनका प्रमाण सिद्धिस्थान में कहे जाने वाले वचनों के अनुसार लेना चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह में इस योग की टीका करते हुए इन्दु 'अर्धोदके पयसि' से दूध में बराबर का जल डालने को कहता है। वह कहता है कि क्वाथ्य द्रव्यों से आठ गुना दूध डाल कर उतना ही जल डाल दे। चक्रपाणि का भी अभिप्राय यही है कि दूध के समान ही जल डाला जाय। गङ्गाधर २ भाग दूध में १ भाग जल डालने का पक्षपाती है ॥२४०-२४३॥

आरग्वधमुशीराणि मदनस्य फलानि च ॥ २४४ ॥
चतस्रः पर्णिनीश्चैव निर्यूहमुपकल्पयेत्।
प्रियङ्गुर्मदनं मुस्तं शताह्वा मधुयष्टिका[1] ॥ २४५ ॥
कल्कः सर्पिर्गुडः क्षौद्रं ज्वरघ्नो बस्तिरुत्तमः।

आरग्वधाद्यबस्ति—अमलतास, खस, मैनफल, चारों पर्णियां (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी); इनका क्वाथ बनावे। इस क्वाथ में प्रियङ्गु, मैनफल, मोथा, सोये, मुलहठी; इनका कल्क

१ 'मधुकं मधुराणि च' च०।

डाले । घी, गुड़ और शहद मिलावे । यह ज्वरनाशक उत्तम बस्ति है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २ में यह योग पढ़ा है पर वहां क्वाथ्य द्रव्यों में मुलहठी अधिक है । उसके अनुसार पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'आरग्वधमुशीराणि मधुकं मदनानि च ।'

अष्टाङ्गसंग्रह में—

चतस्रः पर्णिनीर्यष्टीफलोशीरनृपद्रुमान् ।

क्वाथयेत्कल्कयेद्यष्टीशताह्वाफलिनीफलम् ।

मुस्तं च बस्तिः सगुडक्षौद्रसर्पिर्ज्वरापहः' ॥२४४-२४५॥

गुडूचीं त्रायमाणां च चन्दनं मधुकं वृषम् ॥ २४६ ॥
स्थिरां बलां पृश्निपर्णीं मदनं चेति साधयेत् ।
रसं जाङ्गलमांसस्य रसेन सहितं भिषक् ॥ २४७ ॥
पिप्पलीफलमुस्तानां कल्केन मधुकस्य च ।
ईषत्सलवणं युक्त्या निरूहं मधुसर्पिषा ॥ २४८ ॥
ज्वरप्रशमनं दद्याद्बलस्वेदरुचिप्रदम् ।

गुडूच्यादिनिरूह—गिलोय, त्रायमाण, चन्दन, मुलहठी, अडूसा, शालपर्णी, बलामूल, पृश्निपर्णी, मैनफल; इनका क्वाथ सिद्ध करे । इस क्वाथ में जाङ्गल मांस का रस और पिप्पली, मैनफल, मोथा, मुलहठी; इनका कल्क डाले । युक्तिपूर्वक थोड़ा सा सैन्धानमक और मधु एवं घी मिलाकर निरूह बस्ति दें । यह ज्वर को शान्त करती है, बलप्रद है, पसीना लाती है और रुचि उत्पन्न करती है । अष्टाङ्गसंग्रह में गिलोय आदि क्वाथ्य द्रव्यों के साथ ही जाङ्गल मांस डालकर क्वाथ करने को कहा है । उसके अनुसार पृथक् मांसरस का साधन नहीं करना ।

'त्रायमाणामृतायष्टीमदनांशुमतीद्वयैः ।

सबलाचन्दनवृषैर्जाङ्गलैश्च मृगद्विजैः ॥

क्वाथे कृते क्षिपेत्पिष्ट्वा फलयष्टीकणाघनम् ।

स सद्यो ज्वरहा बस्तिः साज्यक्षौद्रोऽल्पसैन्धवः' ॥२४६–२४८॥

जीवन्तीं मधुकं मेदां पिप्पलीं मरिचं वचाम् ॥ २४६ ॥
ऋद्धिं रास्नां बलां विश्वं शतपुष्पां शतावरीम् ।
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं च विपचेद्भिषक् ॥ २५० ॥
आनुवासनिकं स्नेहमेतद्विद्याज्ज्वरापहम् ।

जीवन्त्याद्यनुवासन—जीवन्ती, मुलहठी, मेदा, पिप्पली, काली-मिर्च, वच, ऋद्धि, रास्ना, बला, सोंठ सोये, शतावर; इनके कल्क से दूध जल घी तिलतैल; इन्हें एकत्र पकावे। जब स्नेह सिद्ध हो जाय तो उससे अनुवासन करे। यह आनुवासनिकबस्ति ज्वर को नष्ट करती है। अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु के अनुसार दूध, जल, घी और तिल तैल; ये चारों समान परिमाण में लेने चाहिये। कल्क द्रव्य स्नेह (घी और तिलतैल मिलित) से चतुर्थांश। चक्रपाणि और गङ्गाधर के अनुसार सामान्य स्नेहसाधन-विधि से स्नेह के समान दूध और तिगुना जल और चतुर्थांश कल्क डाल कर पाक करना चाहिये। क्योंकि दो द्रव यदि हों तो वे मिलाकर स्नेह से चतुर्गुण होने चाहियें इस पक्ष को मानते हैं। और यतः द्रवान्तर का योग होने पर दूध स्नेह के समान लिया जाता है अतः स्नेहसम दूध डालकर तिगुना जल डालते हैं। इस प्रकार ये दोनों द्रव स्नेह से मिला कर स्नेह से चौगुने हो जाते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २ में—

जीवन्तीं मदनं मेदां पिप्पलीं मधुकं वचाम् ।
ऋद्धिं रास्नां बलां बिल्वं शतपुष्पां शतावरीम् ॥
पिष्ट्वा क्षीरं जलं सर्पिस्तैलं चैकत्र साधितम् ।
ज्वरेऽनुवासनं कुर्यात्तथा स्नेहं यथामलम् ॥

इस अष्टाङ्गसङ्ग्रहोक्त पाठ के अनुसार 'मरिचं' के स्थल पर 'मदनं' पाठ होना चाहिये। गङ्गाधर ने भी 'मदनं' ही पढ़ा

है । तथा च दोष के अनुसार यमक में से एक की मात्रा कम और एक की अधिक भी ले सकते हैं । अर्थात् यदि दो प्रस्थ यमक हो तो एक एक प्रस्थ लेने की अपेक्षा दोष के अनुसार एक आधा प्रस्थ और दूसरा १॥ प्रस्थ आदि लिया जा सकता है ॥२४९–२५०॥

पटोलपिचुमर्दाभ्यां गुडूच्या मधुकेन च ॥ २५१ ॥
मदनैश्च शृतः स्नेहो ज्वरघ्नमनुवासनम् ।

पटोलाद्य अनुवासन—पटोलपत्र, नीम के पत्ते, गिलोय, मुलहठी, मैनफल; इनसे यथाविधि साधित स्नेह के अनुवासन से ज्वर नष्ट होता है ॥ २५१ ॥

चन्दनागुरुकाश्मर्यपटोलमधुकोत्पलैः ॥ २५२ ॥
सिद्धः स्नेहो ज्वरहरः स्नेहबस्तिः प्रयुज्यते ।

चन्दनाद्य अनुवासन—चन्दन, अगर, गाम्भारी, पटोलपत्र, मुलहठी, नीलोत्पल; इनसे सिद्ध स्नेह अनुवासन विधि से प्रयोग कराने पर ज्वर को हरता है ॥ २५२ ॥

यदुक्तं भेषजाध्याये विमाने रोगभेषजे ॥ २५३ ॥
शिरोविरेचनं कुर्याद्युक्तिज्ञस्तज्ज्वरापहम् ।

जो भेषजाध्याय में कहा गया है और जो विमानस्थान में रोगभेषज में कहा है, ज्वरनाशक वह २ शिरोविरेचन युक्ति को जानने वाला वैद्य करावे । भेषजाध्याय से सूत्रस्थान के पूर्व चार अध्याय लिये जाते हैं । अपामार्गतण्डुलीय नामक द्वितीय अध्याय में शीर्षविरेचन के प्रयोग कहे हैं । विमानस्थान के रोगभिषग्जितीय नामक आठवें अध्याय के अन्त में शिरोविरेचन द्रव्य कहे हैं । शिरोविरेचन का विषय ११०८ पृष्ठ पर 'गौरवे शिरसः शूले' इत्यादि द्वारा कहा जा चुका है ॥२५३॥

यच्च नावनिकं तैलं याश्च प्राग्धूमवर्तयः ॥ २५४ ॥
मात्राशितीये निर्दिष्टाः प्रयोज्यास्ता ज्वरेष्वपि ।

---

१ 'यच्च नावनिकं तैलमित्यणुतैलम्' चक्रः ।

पूर्व सूत्रस्थान के मात्राशितीय नामक पञ्चम अध्याय में जो नावनिकतैल (अणुतैल—१४८ पृष्ठ पर) और शिरोविरेचनार्थ धूमवर्त्ति (१३८ पृष्ठ पर) कही है, वह भी ज्वरों में प्रयोग करानी चाहिये२५४

अभ्यङ्गांश्च प्रदेहांश्च परिषेकांश्च कारयेत् ॥ २५५ ॥
यथाभिलाषं शीतोष्णं विभज्य द्विविधं ज्वरम् ।

दोनों प्रकार के ज्वरों को शीत और उष्ण भेद से विभक्त करके रोगी की अभिलाषा के अनुसार अभ्यङ्ग, प्रदेह (लेप) और परिषेक एवं अवगाहन आदि करावे। यदि शीतज्वर हो तो उष्ण अभ्यङ्ग आदि, यदि उष्णज्वर हो तो शीत अभ्यङ्ग आदि कराने चाहियें। शीतज्वर का रोगी उष्ण में प्रीति रखता है और उष्णज्वर का रोगी शीत में प्रीति रखता है ॥२५५॥

सहस्रधौतसर्पिर्वा[1] तैलं वा चन्दनादिकम् ॥ २५६ ॥
दाहज्वरप्रशमनं दद्यादभ्यञ्जनं भिषक् ।

दाहज्वर में—सहस्र (हज़ार बार धोया हुआ) घी अथवा चन्दनादितैल का अभ्यङ्ग करना चाहिये। सहस्रधौत से ही शतधौत का भी ग्रहण कर लेना चाहिये। इनकी मालिश से ज्वर का दाह नष्ट होता है ॥२५६॥

अथ चन्दनाद्यं तैलमुपदेक्ष्यामः—चन्दनशैलेयभद्रश्रियकालानुसार्यकालीयकपद्मापद्मकोशीरसारिवामधुकप्रपौण्डरीकनागपुष्पोदीच्यवन्यपद्मो[2]त्पलनलिनकुमुदसौगन्धिकपुण्डरीकशतपत्रबिसमृणालशालूकशैवालकशेरुकानन्ताकुशकाशेक्षुदर्भशरनलशालिमूलजम्बुवेत्रवेतसवानीरगुन्द्राककुभाशनाश्वकर्णस्यन्दनवातपोथशालतालधवतिनिशखदिरकदरकदम्बकाश्मर्यफलसर्जप्लक्षवट[3]कपीतनोदुम्बराश्वत्थन्यग्रोधधातकीदूर्वेत्कटकशृङ्गाटकमञ्जिष्ठाज्योतिष्मतीपुष्करबीजक्रौञ्चादनबदरीकोविदारकदली-

---

१ 'सहस्रशब्दो विपुलवचनः, तेन अनेकधा धौतमित्यर्थः सूचितः' चक्रः ।
२ 'दल्य' ग. । ३ 'वट' इति गङ्गाधरो न पठति।

संवर्तकारिष्टशतपर्वाश्वेतकुम्भिकाशतावरीश्रीपर्णीश्रावणीमहाश्रावणीरोहिणीशीतपाक्योदनपाकीकालाबलापयस्याविदारीजीवकर्षभकक्षुद्रसहामेदामहामेदामधुरष्यप्रोक्तातृणशून्यमोचरसाटरूषकबकुलकुटजपटोलनिम्बशाल्मलीनारिकेलखर्जूरमृद्वीकाप्रियालप्रियङ्गुधन्वनात्मगुप्तामधुकानामन्येषां च शीतवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्; तेन कषायेण द्विगुणितपयसा तेषामेव च कल्केन कषायार्धमात्रं मृद्वग्निना साधयेत्तैलं,एतत्तैलं सद्योदाहज्वरमपनयति; एतैरेव चौषधैः सुश्लक्ष्णपिष्टैः सुशीतैः प्रदेहं कारयेत्, एतैरेव च शृतशीतं सलिलमवगाहपरिषे कार्थं प्रयुञ्जीत॥

अब हम चन्दनाद्यतैल का उपदेश करेंगे—चन्दन, शैलेय (छैलछरीला), भद्रश्रिय (श्वेतचन्दन), कालानुसार्य (तगर) कालीयक (पीतकाष्ठ चन्दन), पद्मा (भार्गी) पद्मक (पद्माख), उशीर (खस), सारिवा (अनन्तमूल), मधुक (मुलइठी), प्रपौण्डरीक (पुण्डरीककाष्ठ), नागपुष्प (नागकेसर), उदीच्य (बालक), वन्य (मोथा अथवा वाराहीकन्द),पद्म [ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल],उत्पल [ईषन्नील क्षुद्रकमल], नलिन [ईषत् लाल क्षुद्रकमल], कुमुद, सौगन्धिक, [नीला कमल] पुण्डरीक [श्वेत कमल], शतपत्र [लालकमल], बिस (कमलनाल), मृणाल (कमलदण्ड), शालूक (कमल आदि के कन्द), शैवाल (जलनीली—जो जल पर हरे २ रंग की छा जाती है), कसेरू, अनन्ता (दुरालभा),कुशा की जड़,काश की जड़, ईख की जड़, दर्भ (दाभ की जड़, शर (सरकण्डा वा सरपत) की जड़, नलमूल (नड़े की जड़), शालि की जड़, जामुन, वेत्र (बेंत), वेतस,वानीर(जलवेतस), गुन्द्रा (तृणभेद), ककुभ (अर्जुन), अशन (पीतशाल), अश्वकर्ण (शालभेद), स्यन्दन (नेमिवृक्ष अथवा तिन्दुक), वातपोथ (पलाश, ढाक), शाल, ताल (ताड), धव, तिनिश, खदिर (खैर), कदर (श्वेत खैर), कदम्ब (कदम), गाम्भारी का फल, सर्ज (जिसकी

गोंद राल होती है), प्लक्ष (पिलखन), वट (बरगद-जिसमें प्ररोह व जटायें न हों), कपीतन (शिरीष अथवा आम्रातक), उदुम्बर (गूलर), पीपल, न्यग्रोध (वह बरगद जिसकी बहुत सी जटायें लटकती हैं), धातकी (धाय के फूल), दूब, इत्कटक (तृणविशेष), सिंघाड़ा, मंजीठ, ज्योतिष्मती (मालकंगनी), पुष्करबीज (कमल बीज), क्रौञ्चादन (खिरनी अथवा छोटे कसेरू), बेर, कोविदार [श्वेतकचनार], केला, संवर्तक [बहेड़ा], अरिष्ट [नीम], शतपर्वा [श्वेत दूब], श्वेत-कुम्भिका [काष्ठपाटला], शतावर, श्रीपर्णी [गाम्भारी की छाल], श्रावणी [मुण्डी], महाश्रावणी [मुण्डीभेद], रोहिणी [कटुकी], शीतपाकी [गन्धदूर्वा अथवा बलाभेद], ओदनपाकी [नील झिण्टी], काला [नलिका-सुगन्धिद्रव्य], बलामूल, पयस्या [क्षीरकाकोली], विदारीकन्द, जीवक, ऋषभक, क्षुद्रसहा [मुद्गपर्णी], मेदा, महा-मेदा, मधुरा [काकोली], ऋष्यप्रोक्ता [अतिबला], तृणशून्य [केतकी, केवड़ा], मोचरस [सेमल की गोंद], अडूसा, बकुल [मौलसिरी], कुटज [कुडा], पटोलपत्र, नीम, सेमल की जड़, नारियल, खजूर, मुनक्का, प्रियाल [पियाल-चिरौंजी], प्रियंगु, धन्वन आत्मगुप्ता [कौंच], मधुक [मुलहठी]; इन और अन्य शीतद्रव्यों को जो प्राप्त हो सकें लेकर क्वाथ करे। इस क्वाथ से तथा तैल से दुगुने दूध से और इन्हीं द्रव्यों के कल्क से तिलतैल को मन्द आंच से सिद्ध करे। तैल क्वाथ से आधे प्रमाण में होना चाहिये। यह तैल शीघ्र दाहज्वर को दूर करता है।

इन्हीं औषधों को बारीक पीसकर अत्यन्त शीतल प्रदेह करवावे। इन्हें ही काढ़कर ठण्डा होने पर उस जल से अवगाहन वा परिषेचन में प्रयोग कराना चाहिये।

तैलपाक में तिलतैल २ प्रस्थ (३२ पल) हो तो चन्दन आदि का क्वाथ ४ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ और कल्क १ शराव(८ पल) होना चाहिये॥ २५७॥

मद्यारनालक्षीरसौवीरदधिघृतसलिलसेकावगाहाश्च सद्यो-दाहज्वरमपनयन्ति शीतस्पर्शत्वादिति ॥ २५८ ॥

मद्य, आरनाल, क्षीर (दूध), सौवीर (जौ वा गेहूं से सन्धित धान्यासव), दही, घी तथा जल का परिषेक और अवगाह शीघ्र दाहज्वर को नष्ट करता है, क्योंकि ये स्पर्श में शीत हैं ॥ २५८ ॥

भवन्ति चात्र ।

पौष्करेषु सुशीतेषु पद्मोत्पलदलेषु च ।
कह्लाराणां च पत्रेषु क्षौमेषु विमलेषु च ॥ २५९ ॥
चन्दनोदकशीतेषु सुप्याद्दाहार्दितः सुखम् ।
हिमाम्बुसिक्ते[1] सदने शीते धारागृहेऽपि वा ॥ २६० ॥

पुष्कर (लालकमल), पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल), उत्पल (ईषत् नील-वर्ण क्षुद्रकमल) तथा कह्लार (कुमुद) के अत्यन्त शीतल पत्तों पर अथवा चन्दन के जल के सिञ्चन से शीतल हुए निर्मल क्षौमवस्त्रों पर अत्यन्त शीतल वा बर्फ से शीतल किये गये जल से सिक्त कमरे में अथवा शीतल धारागृह [जिस कमरे में शीतल जल के फुहारे हों] में दाह से पीडित पुरुष सुख से सो जाय ॥ २५९–२६० ॥

हेमशङ्खप्रवालानां मणीनां मौक्तिकस्य च ।
चन्दनोदकशीतानां संस्पर्शानुरसान्[2] स्पृशेत् ॥ २६१ ॥

सुवर्ण, शङ्ख, मूंगा, विविध प्रकार के मणि, और मोती जो चन्दनजल के सींचने के कारण शीतल हों अथवा सुवर्ण आदि के अतिरिक्त अन्य द्रव्य भी जो चन्दनोदक के सेचन से शीतल हों उन्हें थोड़े काल के लिये जब तक वे उष्ण नहीं होते स्पर्श करे । स्पर्श से कुछ काल पश्चात् वे

---

१ 'हिमाम्बुपूर्णे' ग. । २ 'ना संस्पर्शान् रसान् स्पृशेत्' ग. । 'संस्पर्शानुरसान् स्पृशेदिति वचनान्न चिरं धारयेदिति दर्शयति, चिरधारणे हि तेषामप्युष्णता स्यात्' चक्रः ।

उष्ण होजाते हैं। जब उष्ण होजांय तो स्पर्श न करे। यदि इसप्रकार दाह न जाय तो शीतल द्रवों का स्पर्श करे॥ २६१॥

स्रग्भिर्नीलोत्पलैः पद्मैर्व्यजनैर्विविधैरपि।
शीतवातावहैर्व्यज्येच्चन्दनोदकवर्षिभिः॥ २६२॥

पुष्पमालाओं, नीलोत्पलों, पद्मों तथा शीतल वायु का झोंका देने वाले चन्दनोदक की फुहार बरसाने वाले नाना प्रकार के पंखों से वायु करें॥ २६२॥

नद्यस्तडागाः पद्मिन्यो ह्रदाश्च विमलोदकाः।
अवगाहे हिता दाहतृष्णाग्लानिज्वरापहाः॥ २६३॥

नदियां, तालाब, पद्मिनी [पुष्करिणी], ह्रद, जिनका जल निर्मल हो अवगाहन के लिये हितकर हैं। अवगाहन से दाह तृष्णा ग्लानि और ज्वर नष्ट होता है॥ २६३॥

प्रियाः प्रदक्षिणाचाराः प्रमदाश्चन्दनोक्षिताः।
सान्त्वयेयुः[1] परैः कामैर्मणिमौक्तिकभूषणाः॥ २६४॥

प्रिय, अनुकूल आचार वाली, चन्दन से सिञ्चित वस्त्र वाली अथवा चन्दन का अंगों पर लेप किये हुए और मणि मोती के आभूषणों के पहिरे हुए कामातुर स्त्रियां सान्त्वना देवें। यह ध्यान रहे कि रोगी के वीर्य का क्षय न हो॥ २६४॥

शीतानि चान्नपानानि शीतान्युपवनानि च।
वायवश्चन्द्रपादाश्च शीता दाहज्वरापहाः॥ २६५॥

शीतल अन्नपान, शीतल बाग बगीचे, शीतल वायुएं, चन्द्रमा की शीतल किरणें दाहज्वर को नष्ट करती हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २ में—

वल्लकी[2]मधुरं गीतं चन्द्रिका हर्म्यमस्तकम्।
हरन्ति दाहं हाराश्च हरिचन्दनशीतलाः॥

---

१ 'शान्तयेऽयुः' ग.। २ वल्लकी वीणा।

दाहं मन्दानिलोद्धूताः कुल्यासलिलमालिनः ।
चलत्प्रवालाङ्गुलिभिस्तर्जयन्ति महाद्रुमाः ॥
वाचः शिशूनामव्यक्ता योषितो मदनातुराः ।
दाहं निर्भर्त्सयन्त्याशु सज्जनानां च सूनृताः ॥
रुचिभेदानुरोधेन नानाशक्तिसमन्वितः ।
दाहशीतज्वरहरः कान्ताकान्ताङ्गसङ्गमः ।
दाहशीतव्युपशमे तास्ततोऽपनयेत्पुनः' ॥ २६५ ॥

अथोष्णाभिप्रायिणां ज्वरितानामभ्यङ्गादीनुपक्रमानुपदेक्ष्यामः—अगुरुकुष्ठतगरपत्रनलदशैलेयकध्यामकहरेणुकास्थौणेयकक्षेमकैलावरा[1]वराङ्गदलपुरतमालपत्रभूतीकरोहिषसरलशल्लकीदेवदार्वग्निमन्थबिल्वस्योनाककाश्मर्यपाटलापुनर्नवावृश्चीरकण्टकारिकाबृहतीशालिपर्णीपृश्निपर्णीमाषपर्णीमुद्गपर्णीगोक्षुरकैरण्डशोभाञ्जनकवरुणार्कचिरिबिल्वतिल्वकशटीपुष्करमूलगण्डीरोरुबूकपत्तूराक्षीवाश्मन्तकशिग्रुमातुलुङ्गमूल[2]कमूलपर्णीपीलुपर्णीतिलपर्णीमोरटा[3]मेषशृङ्गीहिंस्रादन्तशठैरावतकभल्लातकास्फोतकण्डीरात्मजाकाकाण्डैकैषी[4]काकरञ्जधान्यकाजमोदपृथ्वीकासुमुखसुरस[5]कुठेरककाण्डीरकालमालकपर्णासक्षवकफणिज्जकभूस्तृणशृङ्गवेरपिप्पलीसर्षपाश्वगन्धारास्नारुहावरोहावचाबलातिबलागुडूचीशतपुष्पाशीतवल्लीनाकुलीगन्धनाकुलीश्वेताज्योतिष्मतीचित्रकाध्यण्डाम्लचाङ्गेरीबदरकुलत्थमाषा[6]णामेवंविधानामन्येषां चोष्णवीर्याणां यथालाभमौषधानां कषायं कारयेत्, तेन कषायेण तेषामेव च कल्केन सुरासौवीरकतुषोदकमैरेयमेदकदधिमण्डार-

१ 'वरा' गङ्गाधरो न पठति । २ 'मूषकपर्णी' ग. । ३ 'मोरटा' गङ्गाधरो न पठति । ४ 'काकाण्डैषीका' ग. । ५ सुरस इत्यनन्तरं कवक इत्यधिकः पठति गङ्गाधरः । ६ 'माष' इति न पठति गङ्गाधरः ।

नालकट्वरप्रतिविनीतेन तैलपात्रं विपाचयेत्, तेन सुखोष्णेन तैलेनोष्णाभिप्रायिणं ज्वरितमभ्यञ्ज्यात्, तथा शीतज्वरः प्रशाम्यति; तैरेव चौषधैः श्लक्ष्णपिष्टैः सुखोष्णैः प्रदेहं कारयेत्, एतेषामेव च सुखोष्णमुत्क्वाथमवगाहनपरिषेकार्थं प्रयुञ्जीत ज्वरप्रशमार्थमिति ॥ २६६ ॥

इति शीतज्वरेऽगुर्वादितैलम्।

अब जो उष्ण के अभिलाषी हैं ऐसे ज्वर के रोगियों के लिये अभ्यङ्ग आदि उपक्रम का उपदेश करेंगे;अगुर्वादि तैल—अगर, कुष्ठ [कुठ], तगर, तेजपत्र, नलद [जटामांसी, बालछड़], शैलेय [छैलछरीला], ध्यामक [तृणविशेष], हरेणुका [रेणुका], स्थौणेयक [गठिवन], चोमक [चोरक], एला [इलायची], वरा [त्रिफला, पाठा अथवा विडङ्ग], वराङ्गदल [दालचीनीकी त्वचा अथवा प्रियङ्गुपत्र],पुर [गुग्गुलु], तमालपत्र, भूतीक [तृणविशेष], रोहिष [तृणविशेष], सरल [चीड़], शल्लकी [सर्जभेद], देवदारु, अग्निमन्थ [अरणी], बिल्व, श्योनाक [अरलू], गाम्भारी, पाटला [पाढल], श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, छोटी कटेरी, बृहती [बड़ी कटेरी], शालपर्णी, पृश्निपर्णी, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, गोखरू, एरण्ड, सहिजन, वरुण [वरना], अर्क [आक, मदार], चिरिबिल्व [नाटाकरञ्ज], तिल्वक, शटी [कचूर], पुष्करमूल, गण्डीर (शमठशाक), उरुबूक (लाल एरण्ड), पत्तूर (शालिञ्च), अक्षीव (महानिम्ब), अश्मन्तक, लाल सहिजन, मातुलुङ्ग (बिजौरा) की जड़ (अथवा मातुलुङ्ग और मूली), मूलपर्णी (गुग्गुलु अथवा काला सहिजन) पीलुपर्णी (बिम्बी अथवा मूर्वाभेद), तिलपर्णी (अजगन्धा अथवा चन्दन) मोरटा (मूर्वा, अथवा शमठभेद) मेषशृङ्गी (मेढासिङ्गी), हिंस्रा (मांसी अथवा कण्टकपाली लता), दन्तशठ (गलगल), ऐरावतक (नारंगी), भल्लातक (भिलावा), आस्फोता (हाफरमाली),कण्डीर (करेली), आत्मजा (पुत्रंजरा), काकाण्डा (कौंच), एकैषीका (त्रिवृता अथवा पाठा),

डहरकरञ्ज, धनियां, अजमोदा, पृथ्वीका [बड़ी इलायची], सुमुख, सुरस, कुठेरक, कांयडीर, कालमालक, पर्णास, त्तवक, फणिज्जक [सुमुख आदि तुलसी के भेद हैं], भूस्तृण [गन्धतृण], अदरक, पिप्पली, सरसों, असगन्ध, रास्ना, रुहा [वृत्तरुहा अथवा मांसरोहिणी] अवरोहा [असगन्धभेद अथवा लाजवन्ती] वच, बला, अतिबला, गिलोय, सोये, शीतवल्ली [वृत्तकलम्बुका अथवा गिलोयभेद], नाकुली [रास्नाभेद अथवा चव्य] गन्धनाकुली [गन्ध रास्ना], श्वेता [श्वेत विष्णुक्रान्ता] ज्योतिष्मती [मालकङ्गनी], चित्रक, अध्यण्डा[1] [तालमखाना अथवा कौंच] अम्लचाङ्गेरी [तिपतिया], बेर कुलत्थ, उड़द; इनका और इसप्रकार के अन्य उष्णवीर्य औषधों—का जो प्राप्त होसकें-क्वाथ करे। उस क्वाथ से और उन्हीं के कल्क से सुरा[2] सौवीर तुषोदक मैरेय मेदक दही का पानी आरनाल कट्वर [वह तक्र जिसमें से मक्खन नहीं निकाला गया]; इन्हें डालकर २ आढक (द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार] तिलतैल यथाविधि पकावे । इसमें सुरा आदि प्रत्येक तैल के समान प्रमाण में और कल्क तेल से चतुर्थांश प्रमाण में लिया जाता है।

इन्हीं औषधों को बारीक पीसकर सुहाता गरम लेप करे । इन्हें ही काढ़ कर सुहाता गरम अवगाह और परिषेक द्वारा ज्वर की शान्ति के लिये प्रयोग करायें ॥ २६६ ॥

भवन्ति चात्र ।

त्रयोदशविधः स्वेदः स्वेदाध्याये निदर्शितः ।
मात्राकालविदा युक्तः स च शीतज्वरापहः ॥ २६७ ॥

स्वेदाध्याय (सू० १४ अ०) में तेरह प्रकार का स्वेद बताया जा चुका है । मात्रा और काल को जानने वाले वैद्य द्वारा प्रयुक्त वे स्वेद शीतज्वर को नष्ट करते हैं ॥ २६७ ॥

---

१ अध्यण्डेक्षुरकस्तैलकण्टकः कोकिलाक्षकः । इति निघण्टुः ।
२ सुरा आदि के लक्षण सू० २५ और २७ अ० में किये जा चुके हैं ।

स कुटी तच्च शयनं तच्चावच्छादनं[1] ज्वरम् ।
शीतं प्रशमयन्त्याशु धूपाश्चागुरुजा[2] घनाः ॥ २६८ ॥

वह कुटी वह बिछौना और वह ओढ़ने के वस्त्र [सूत्र १४ अ० में कुटीस्वेद में कहे गये] और अगर के घने धूप शीघ्र ही शीत को शान्त करते हैं । धूप के लिये अगर के चूर्ण को अङ्गारों पर डालना चाहिये ॥ २६८ ॥

पवित्रचारुगात्राश्च तरुण्यो यौवनोष्मणा ।
आश्लेषाच्छमयन्त्याशु प्रमदाः शिशिरज्वरम् ॥ २६९ ॥

स्वच्छ एवं सुन्दर शरीर वाली युवती स्त्रियां आलिङ्गन द्वारा अपनी जवानी की गर्मी से शीतज्वर को शीघ्र शान्त करती हैं ॥२६९॥

स्वेदनान्यन्नपानानि वातश्लेष्महराणि च ।
शीतज्वरं जयन्त्याशु संसर्गबलयोजनात् ॥ २७० ॥

स्वेदन करने वाले–पसीना लाने वाले वातकफ को हरने वाले अन्नपान संसर्ग के बल के अनुसार प्रयुक्त कराने पर शीघ्र शीत-ज्वर को जीतते हैं । यदि वातकफ संसर्ग में वात प्रधान हो तो गुरु उष्ण एवं स्निग्ध अन्नपान देने चाहियें, यदि कफप्रधान हो तो लघु उष्ण एवं रूक्ष देने चाहियें ॥ २७० ॥

वातजे[3] श्रमजे चैव पुराणे क्षतजे[4] ज्वरे ।
लङ्घनं न हितं विद्याच्छमनैस्तानुपाचरेत् ॥ २७१ ॥

वातज, थकावट से उत्पन्न, पुराने तथा क्षतज [घाव से अथवा उरःक्षत से उत्पन्न] ज्वर में लङ्घन कराना हितकर नहीं । वहां संशमनचिकित्सा ही करनी चाहिये ॥ २७१ ॥

विक्षिप्यामाशयोष्माणं यस्माद्गत्वा रसं नृणाम् ।
ज्वरं कुर्वन्ति दोषास्तु हीयतेऽग्निबलं ततः ॥ २७२ ॥

---

१ 'तच्च शयनमिति कुटीपरिकरतया प्रतिपादितं शयनं, एवं छादनमपि, एतच्च शयनाच्छादनं पृथगप्यत्र हितमिति पृथक्पाठाः दर्शयति' चक्रः ।
२ 'धूपा गुग्गुलुजा' च. । ३ 'निरामे वातजे चैव' ग. । ४ 'क्षयजे' ग. ।

यतः दोष आमाशय की ऊष्मा को बाहिर निकाल कर रस-धातु में जाकर ज्वर को उत्पन्न करते हैं, अतः अग्नि का बल न्यून हो जाता है ॥ २७२ ॥

यथा प्रज्वलितो वह्निः स्थाल्यामिन्धनवानपि ।
न पचत्योदनं सम्यगनिलप्रेरितो बहिः ॥ २७३ ॥
पक्तिस्थानात्तथा दोषैरूष्मा क्षिप्तो बहिर्नृणाम् ।
न पचत्यभ्यवहृतं कृच्छ्रात्पचति वा लघु ॥ २७४ ॥
अतोऽग्निबलरक्षार्थं लङ्घनादिक्रमो हितः ।

जैसे ईन्धनयुक्त और जलती हुई भी अग्नि वायु के वेग से बाहिर की ओर प्रेरणा की जाती हुई पतीली में ओदन को नहीं पकाती । अर्थात् जब पतीली में चावल डालकर आग पर रखे हों और वायु से अग्नि की ज्वाला पतीली पर न लग कर बाहिर की ओर जाय तब आंच के न लगने से ओदन नहीं पकते, वैसे ही दोष द्वारा आमाशय की ऊष्मा बाहिर निकल जाती है अतएव पाचन-शक्ति के नष्ट हो जाने से खाया गया अन्न पचता नहीं अथवा लघु भोजन हो तो बड़ी कठिनता से पचता है । अतः अग्नि के बल की रक्षा के लिये लङ्घन आदि क्रम हितकर होता है ॥२७३-२७४॥

सप्ताहेन हि पच्यन्ते सर्वधातुगता मलाः ॥ २७५ ॥
निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि ।

सब धातुओं में प्राप्त दोष सप्ताह में प्रायः पक जाते हैं । अत-एव प्रायः आठवें दिन ज्वर निराम कहा जाता है । 'प्रायः' से यह भी सूचित कर दिया है कि आठवें दिन से पूर्व भी निरामता हो जाती है वा सात दिन के बाद अधिक दिनों तक भी सामता रह सकती है ॥ २७५ ॥

उदीर्णदोषस्त्वल्पाग्निरश्नन् गुरु विशेषतः ॥ २७६ ॥
मुच्यते सहसा प्राणैश्चिरं क्लिश्यति वा नरः ।

विशेषतः अत्यन्त प्रवृद्ध दोष वाला अल्पाग्नि पुरुष गुरु भोजन करता हुआ सहसा मृत्यु का ग्रास होता है अथवा चिरकाल तक क्लेश पाता है ॥ २७६ ॥

एतस्मात्कारणाद्विद्वान्वातिकेऽप्यादितो ज्वरे ॥ २७७ ॥
नाति गुर्वति वा स्निग्धं भोजयेत्सहसा नरम् ।

इसीकारण विद्वान् चिकित्सक वातिकज्वर में भी प्रारम्भ में रोगी को सहसा अत्यन्त गुरु वा अतिस्निग्ध भोजन न करावे । यद्यपि वात के रूक्ष और लघु होने से स्निग्ध एवं गुरु भोजन होना चाहिये परन्तु चूंकि ज्वर में पाचकाग्नि मन्द होती है अतः सामावस्था में अति स्निग्ध और अति गुरु भोजन सर्वदा अहितकर होता है ॥ २७७ ॥

ज्वरे मारुतजे त्वादावनपेक्ष्यापि हि क्रमम् ॥ २७८ ॥
कुर्यान्निरनुबन्धानामभ्यङ्गादीनुपक्रमान् ।

वातजज्वर में तो आदि में कहे गये चिकित्साक्रम की अपेक्षा न करते हुए भी जिसमें कफ पित्त का अनुबन्ध न हो ऐसे रोगियों को अभ्यङ्ग आदि का उपक्रम कराना चाहिये । चिकित्साक्रम को बताते हुए जीर्णज्वर में अभ्यङ्ग आदि का विधान कहा है परन्तु वातज्वर में उसके जीर्ण होने से पूर्व ही अभ्यङ्ग आदि करा सकते हैं परन्तु ये तभी पूर्व कराने चाहियें जब कफ पित्त का अनुबन्ध न हो ॥ २७८ ॥

पाययित्वा कषायं च भोजयेद्रसभोजनम् ॥ २७९ ॥
जीर्णज्वरहरं कुर्यात्सर्वशश्चाप्युपक्रमम् ।

और पूर्वोक्त क्रम की उपेक्षा करते हुए कषायपान कराकर मांस रस का भोजन देना चाहिये । जो भी जीर्णज्वर-नाशक उपक्रम है वह सब वातज्वर [निरनुबन्ध] में पूर्व ही करना होता है ॥ २७९ ॥

श्लेष्मलानामवातानां ज्वरोऽनुष्णो कफाधिकः ॥ २८० ॥
परिपाकं न सप्ताहेनापि याति मृदूष्मणाम् ।

तं क्रमेण यथोक्तेन लङ्घनाल्पाशनादिना ॥ २८१ ॥
आदशाहमुपक्रम्य कषायाद्यैरुपाचरेत् ।

जो कफप्रकृति हों, जब वात न हो और ऊष्मा वा अग्नि मृदु हो तो कफप्रधान ज्वर सप्ताह में भी नहीं पकता । उनकी यथोक्त लङ्घन अल्पभोजन आदि के क्रम द्वारा दस दिन तक और तदनन्तर कषायपान आदि द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये ॥

२७२ श्लोक से लेकर २८१ श्लोक (कषायाद्यैरुपाचरेत्) तक चक्रपाणि गङ्गाधर आदि नहीं पढ़ते ॥ २८०–२८१ ॥

सामा ये ये च कफजाः कफपित्तज्वराश्च ये ॥ २८२ ॥
लङ्घनं लङ्घनीयोक्तं तेषु कार्यं प्रति प्रति ।

जो ज्वर साम हों जो कफज हों उनमें तथा कफपित्त ज्वर में लङ्घनीय प्रत्येक पुरुष को लङ्घन कराना चाहिये । यदि साम वात से ज्वर हो तो भी लङ्घन कराना होगा (सामे वातेऽपि लङ्घनम्)। कफज ज्वर की निरामावस्था में भी लङ्घन कराना होगा । कफ और पित्त जब मिले होंगे तब भी लङ्घन आवश्यक है । कहा भी है—

'कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत् ।'

परन्तु यदि पित्त कफ के साथ मिला न हो और वह निराम हो वा पित्त का द्रवांश क्षीण हो तो लङ्घन नहीं कराना होगा । यदि पित्त साम हो तो लङ्घन कराना ही चाहिये । अन्यत्र कहा भी है—

'सामे पित्ते लङ्घनं कुर्यादेवामपक्त्यर्थम् ॥' २८२ ॥

वमनैश्च विरेकैश्च बस्तिभिश्च यथाक्रमम् ॥ २८३ ॥
ज्वरानुपचरेद्धीमान् कफपित्तानिलोद्भवान् ।

कफज पित्तज और वातज ज्वरों में यथाक्रम वमन विरेचन और बस्तियों से उपचार करे । अर्थात् कफज में वमन, पित्तज में विरेचन

और वातज में बस्ति हितकर होती है ॥ २८३ ॥

संसृष्टान् सन्निपतितान् बुद्ध्वा तरतमैः समैः ॥ २८४ ॥
ज्वरान्दोषक्रमापेक्षी यथोक्तैरौषधैर्जयेत् ।

द्वन्द्वज और सन्निपातज ज्वरों को उनके आरम्भक दोषों की न्यूनाधिकता और समता द्वारा समझ कर दोष और पूर्वोक्त लङ्घनादि क्रम के अनुसार यथोक्त औषधों से जीते ॥ २८४ ॥

वर्धनेनैकदोषस्य क्षपणेनोच्छ्रितस्य वा ॥ २८६ ॥
कफस्थानानुपूर्व्या वा संनिपातज्वरं जयेत् ।

सन्निपात की चिकित्सा—एक दोष को बढ़ाकर और बढ़े हुए को क्षीण करके सन्निपात को जीते। अथवा कफस्थान के अनुक्रम से चिकित्सा करे।

जब दोष वृद्ध वृद्धतर वृद्धतम हों वा व्युल्बण हों तो वृद्धदोष को

---

१ 'वर्धनेनेत्यादि। पञ्चविंशतिप्रकारोऽत्र सन्निपात उच्यते "व्युल्बणैकोल्बणैः षट्स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्" इत्यादिना; तत्र, स्वमते क्षीणसन्निपातेषु द्वादशसु ज्वरारम्भकत्वं नास्ति, क्षीणा दोषाः स्वलिङ्गहानिमात्रविकारा नाधिकं ज्वरं कर्तुं समर्थाः, शेषेषु त्रयोदशसु त्रिदोषहरद्रव्यस्याभावादभ्यर्हितदोषापेक्षया द्वयोश्चिकित्सोच्यते, गत्यन्तराभावात्; तत्र, वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेन एकदोषस्य वर्धनेनापीत्यर्थः; एकशब्देन च वृद्धो दोष एवापेक्षितः, न वृद्धतरो नापि वृद्धतमः तयोर्हि सतोर्वृद्धयोर्वर्धनेनातिवृद्ध्याऽत्यहितमेव स्यात्; वर्धनेनैकदोषस्येति वृद्धतरवृद्धतमदोषक्षयेणैकदोषवर्धनेन, यथा—वृद्धे कफे वृद्धतरयोश्च वातपित्तयोर्मधुरं, तद्धि वृद्धतरवातपित्तक्षपकतया कफं क्षीणं वर्धयदपि ज्वरं बलवद्दोषहन्तृतया हरति; तथा वृद्धे कफे वृद्धतमे च वाते वृद्धतरे च पित्ते मधुरयोगो ज्ञेयः; एवमुदाहरणान्तराणि ज्ञेयानि; अतस्त्वत्र वर्धनेनैकदोषस्येत्यनेन व्युल्बणानां त्रयाणां तथा हीनमध्याधिकदोषाणां सन्निपातानां चिकित्सोक्ता; क्षपणेनैकदोषस्येत्यनेन च क्षीणद्वयसंवर्धकमपि यन्महात्ययवृद्धतरवृद्धतमदोषक्षपकं भवति, तद्भेषजं कर्तव्यं; वृद्धतमो ह्युपेक्षितः सद्यो हन्ति, तत्प्रक्रियायां च क्षीणयोर्वृद्धिरल्पायासक्रमेण प्रतिकर्तव्येति भावः। अनेनैकोल्बणास्त्रयः सन्निपाताश्चिकित्सिताः' चक्रः।

२ 'परिशिष्टसमसंनिपातचिकित्सामाह कफेत्यादि' चक्रः।

बढ़ायें परन्तु साथ ही वृद्धतर और वृद्धतम को घटायें । जैसे कफ वृद्ध हो और वात पित्त क्रमशः वृद्धतर वा वृद्धतम हों तो मधुर द्रव्य दें। इसी प्रकार जब कफ वृद्ध हो और वात पित्त दोनों वृद्धतर हों तो भी मधुर द्रव्य का प्रयोग करायें। मधुर रस जहां कफ को बढ़ायगा वहां वातपित्त को क्षीण करेगा। यदि सन्निपात में तीनों दोष सम हों तो पूर्व कफस्थान की चिकित्सा करे। कफस्थान कहने से कफ का भी ग्रहण होता है। स्थानी दोष की अपेक्षा स्थान की मुख्यता है। कहा भी है—'स्थानं जयेद्धि पूर्वम्।' दोष आमाशय को ही दुष्टकर ज्वर उत्पन्न करते हैं। अतः लङ्घन आदि द्वारा आमाशय और कफ की चिकित्सा करनी चाहिये। तदनन्तर पित्त की और पश्चात् वात की। भेल ने कहा भी है—

सन्निपातज्वरे पूर्वं कुर्यादामकफापहम्।
पश्चात् श्लेष्मणि संक्षीणे शमयेत्पित्तमारुतौ ॥

ज्वर से अन्यत्र सन्निपातों में यह क्रम नहीं होता। वहां प्रायः पूर्व वात की चिकित्सा करनी होती है। तदनन्तर पित्त की और पश्चात् कफ की। कहा भी है—

'वातस्यानु जयेत्पित्तं पित्तस्यानु जयेत्कफम् ॥'

एकोल्बण सन्निपातों में प्रवृद्ध एक दोष को न्यून करना चाहिये। तथा जो क्षीण है साथ ही साथ उनकी स्वल्पवृद्धि क्रमशः करनी चाहिये। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

'न्यूनैकदोषसंवृद्धिरेकवृद्धजयोऽपि वा।
सन्निपातेषु कर्तव्यः सन्निपातवशेन तु ॥'

कई व्याख्याकार तो पश्चात्पदलोपी समास द्वारा कफस्थान का अर्थ पित्त करते हैं। कफस्थान (आमाशय) रूप है स्थान जिसका अर्थात् पित्त। इसमें एक 'स्थान' पद का लोप है। उसके अनुसार पित्त की पूर्व चिकित्सा करनी चाहिये। वे सुश्रुत का यह प्रमाण देते हैं—

' शमयेत्पित्तमेवादौ ज्वरेषु समवायिषु ।
दुर्निवारतरं तद्धि ज्वरार्तेषु विशेषतः ॥'

सुश्रुत के इस वचन को जीर्ण त्रिदोषज्वर के लिये समझना चाहिये—यह चक्रपाणि का अभिप्राय है । परन्तु यदि नवज्वर हो तो पूर्व कफस्थान की ही चिकित्सा होनी चाहिये ।

कई व्याख्याकार ' वर्धनेनैकदोषस्य ' में वर्धन का अर्थ छेदन करते हैं । छेदन से अभिप्राय संशोधन से है । अर्थात् एक एक दोष का संशोधन द्वारा मूलच्छेद करना चाहिये । और यदि संशोधन न हो सकता हो तो प्रवृद्ध दोष का संशमन करना चाहिये ।

इस प्रकार तेरहप्रकार के वृद्धदोष सन्निपातज्वरों की चिकित्सा कह दी है ।

वृद्धदोष सन्निपातों की तरह क्षीणदोष सन्निपात भी १३ होते हैं । परन्तु ये ज्वर के आरम्भक नहीं हो सकते ये केवल अपने लक्षणों का त्याग रूप विकार करते हैं । कहा भी है—'क्षीणा जहति लिङ्गं स्वम् ।' अतएव इनकी यहां चिकित्सा बताने की आवश्यकता ही नहीं । एक सन्निपात वे भी होते हैं जिन में पृथक् पृथक् दोषों की युगपत् वृद्धि और क्षय होता है । ये १२ होते हैं । उन में से छह में समदोष की चिकित्सा की आवश्यकता ही नहीं शेष एक क्षीण और एक वृद्ध रह जाता है । वृद्धदोष को उस औषध द्वारा घटाना चाहिये जिससे साथ साथ क्षीण दोष को क्रमशः उपचय हो । ' क्षपणेनोच्छ्रितस्य ' द्वारा ही इनकी चिकित्सा कह दी है । इसी प्रकार शेष छह जिन में दो वृद्ध एक क्षीण और एक वृद्ध दो क्षीण हैं, उन में वृद्धदोष वा दोषों को कम करते हुए चिकित्सा की जाती है और उसके साथ २ ही क्षीण दोष वा क्षीण दोषों को क्रमशः प्रकृति में लाना होता है । क्षीणदोष सन्निपात तथा युगपत् वृद्धक्षय कृत सन्निपातों की चिकित्सा का यहां प्रकरण ही नहीं, क्योंकि

ज्वरोत्पादक रूप में इन २५ सन्निपातों का कहना अनुचित ही है। क्षीण और सम (प्रकृतिस्थित) तो ज्वर के उत्पादक होते ही नहीं परन्तु वृद्ध दोष वा दोषों के साथ मिलकर यद्यपि विशेष लक्षण हो सकते हैं पर वहां वृद्ध दोष वा दोषों की चिकित्सा से ही लाभ हो जाता है । उनमें एकदोषज ज्वरचिकित्सा द्विदोषज ज्वर चिकित्सा ही की जाती है । वृद्ध दोषों से उत्पन्न १३ सन्निपात ज्वरों के लक्षण इसी अध्याय में पूर्व कहे जा चुके हैं। सामान्य सन्निपातों के भेद सूत्र० अ० १७ में कह आये हैं ॥ २८५ ॥

संनिपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः ॥ २८६ ॥
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ।

सन्निपातज्वर के अन्त में कर्णमूल में दारुण शोथ हो जाता है उससे विरला ही मुक्त होता है ।

अथवा इसका अर्थ यह भी होता है कि सन्निपातज्वर के अन्त में कर्णमूल में दारुण कोई शोथ होता है उससे मुक्त हो ही जाता है । तब अन्वय इस प्रकार होगा—सन्निपातज्वरस्य अन्ते कर्णमूले कश्चित् सुदारुणः शोथः सञ्जायते, तेन प्रमुच्यत एव । तन्त्रान्तर में भी कहा है—

ज्वरादितो वा ज्वरमध्यतो वा ज्वरान्ततो वा श्रुतिमूलशोथः ।
क्रमादसाध्यः खलु कृच्छ्रसाध्यः सुखेन साध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥

गणनाथसेन आदि ने तो इस श्लोक की दूसरी पङ्क्ति अन्यथा पढ़ी है ।

'क्रमेण साध्यः खलु कृच्छ्रसाध्यस्तथाप्यसाध्यो मुनिभिः प्रदिष्टः ॥'

इस से ज्वर के अन्त में उत्पन्न कर्णमूलशोथ की असाध्यता ही जताई है ॥

अथवा यह अर्थ भी होता है कि सन्निपातज्वर के अन्त में जो दारुण कर्णमूल में शोथ होता है उस से कोई चिकित्साकौशल

द्वारा मुक्त हो भी जाता है। सूत्रस्थान १५ अध्याय में भी कहा जा चुका है—

'यस्य पित्तं प्रकुपितं कर्णमूलेऽवतिष्ठते ।
ज्वरान्ते दुर्जयोऽन्ताय शोथस्तस्योपजायते ॥' २८६ ॥

रक्तावसेचनैः शीघ्रं सर्पिष्पानैश्च तं जयेत् ॥ २८७ ॥
प्रदेहैः कफपित्तघ्नैर्नावनैः कवलग्रहैः ।

कर्णमूलशोथ की चिकित्सा—ज्वर के अन्त में कर्णमूल में शोथ हो जाने पर शीघ्र ही जलौकापात आदि द्वारा रक्तावसेचन, घृतपान, कफपित्तनाशक प्रदेह नस्य और कवलधारण द्वारा उसे जीते ॥२८७॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्ज्वरो यस्य न शाम्यति ॥ २८८ ॥
शाखानुसारी रक्तस्य सोऽवसेकात्प्रशाम्यति ।

जिस पुरुष का ज्वर शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष आदि चिकित्साओं से शान्त नहीं होता। उसका वह शाखानुसारी—रक्तधातुगत ज्वर रक्त के अवसेचन से शान्त हो जाता है ॥ २८८ ॥

विसर्पेणाभिघातेन यश्च विस्फोटकैर्ज्वरः ॥ २८९ ॥
तत्रादौ सर्पिषः पानं कफपित्तोत्तरो न चेत् ।

जिसे विसर्प के कारण, चोट से अथवा विस्फोटकों के कारण ज्वर हो और यदि वह कफपित्त प्रधान न हो तो वहां आदि में घृतपान करावे ॥ २८९ ॥

दौर्बल्याद्देहधातूनां ज्वरो जीर्णोऽनुवर्तते ॥ २९० ॥
बल्यैः संबृंहणैस्तस्मादाहारैस्तमुपाचरेत् ।

देह की धातुओं की दुर्बलता के कारण जीर्णज्वर अनुवर्तन करता है। अतएव उससमय बल्य एवं बृंहण आहारों द्वारा चिकित्सा करें ॥ २९० ॥

कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ ॥ २९१ ॥
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ।

तृतीयक और चतुर्थक ज्वर को साधारणकर्म अर्थात् दैवव्यपाश्रय और युक्तिव्यपाश्रय कर्म नष्ट करते हैं। विषमज्वर में प्रायशः आगन्तु अनुबन्ध होता है। आगन्तु अनुबन्ध होने के कारण ही बलिमङ्गल आदि रूप दैवव्यपाश्रय और ज्वरनाशक कषायपान आदि युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा करनी पड़ती है। अथवा निज और आगन्तु दोनों में हितकर कर्म तृतीयक और चतुर्थक में करना चाहिये। अर्थात् जहां ज्वर का संशमन करना होता है वहां साथ ही आगन्तु भूतों (कीटाणुओं) के नाश का उपाय भी करना होता है ॥ २९१ ॥

वातप्रधानं सर्पिर्भिर्बस्तिभिः सानुवासनैः ॥ २९२ ॥
स्निग्धोष्णैरनुपानैश्च शमयेद्विषमज्वरम् ।

यदि वातप्रधान विषमज्वर हो तो स्निग्ध एवं उष्ण घृतों, बस्तियों अनुवासनों और अनुपानों से उसे शान्त करे ॥ २९२ ॥

विरेचनेन पयसा सर्पिषा संस्कृतेन च ॥ २९३ ॥
विषमं तिक्तशीतैश्च ज्वरं पित्तोत्तरं जयेत् ।

यदि विषमज्वर पित्तप्रधान हो तो उसे विरेचन, सिद्ध दूध, औषधों से संस्कृत घी तथा तिक्त एवं शीत द्रव्यों से जीते ॥२९३॥

वमनं पाचनं रूक्षमन्नपानं विलङ्घनम् ॥ २९४ ॥
कषायोष्णं च विषमे ज्वरे शस्तं कफोत्तरे ।

कफप्रधान विषमज्वर में वमन, पाचन, रूक्ष अन्नपान, लङ्घन तथा कषाय एवं उष्णद्रव्य हितकर होते हैं ॥ २९४ ॥

योगाः परं प्रवक्ष्यन्ते विषमज्वरनाशनाः ॥ २९५ ॥
प्रयोक्तव्या मतिमता दोषादीन् प्रविभज्य ये ।

अब विषमज्वर के नष्ट करने वाले योग कहे जाते हैं। इन्हें बुद्धिमान् वैद्य दोष आदि के विभाग की विवेचना करके प्रयोग कराये२९५

सुरां समण्डां पानार्थे भक्ष्यार्थे चरणायुधान् ॥ २९६ ॥
तित्तिरींश्च मयूरांश्च प्रयुञ्ज्याद्विषमज्वरे ।

विषमज्वर में पीने के लिये मण्डयुक्त सुरा तथा भोजन में कुक्कुट तीतर और मोर के मांस का प्रयोग करे ॥ २९६ ॥

पिबेद्वा षट्पलं सर्पिरभयां वा प्रयोजयेत् ॥ २९७ ॥
त्रिफलायाः कषायं वा गुडूच्या रसमेव वा ।

अथवा षट्पल घी पीवे अथवा हरड़ का अथवा त्रिफलाक्वाथ वा गिलोय का रस प्रयोग करना चाहिये । षट्पलघृत गुल्मचिकित्सा में कहा जायगा ॥ २९७ ॥

नीलिनीमजगन्धां च त्रिवृतां कटुरोहिणीम् ॥ २९८ ॥
पिबेज्ज्वरागमे युक्त्या स्नेहस्वेदोपपादितः ।

ज्वर होने पर नीलीमूल, अजगन्धा (अजमोदा), त्रिवृत् (निसोत) कटुकी;इन्हें पीवे । इस क्वाथके प्रयोग से पूर्व रोगी स्नेहन और स्वेदन कर लेना चाहिये ॥ २९८ ॥

सर्पिषो महतीं मात्रां पीत्वा वा छर्दयेत्पुनः ॥ २९९ ॥
उपयुज्यान्नपानं वा प्रभूतं पुनरुल्लिखेत् ।

अथवा घी की बड़ी मात्रा पीकर पुनः वमन करावे । अथवा प्रभूत मात्रा में अन्नपान खिलाकर वमन कराना चाहिये ॥ २९९ ॥

सान्नं मद्यं प्रभूतं वा पीत्वा स्वप्याज्ज्वरागमे ॥ ३०० ॥
आस्थापनं यापनां वा कारयेद्विषमज्वरे ।

अथवा ज्वरागम होने पर अन्न खाकर और मद्य को प्रभूत मात्रामें पीकर सो जाय । अथवा विषमज्वर में आस्थापन वा यापनबस्ति करावे । ये यापन बस्तियां आगे (सिद्धिस्थान में) कही जायगी ॥ ३०० ॥

पयसा वृषदंशस्य शकृद्वा तदहः पिबेत् ॥ ३०१ ॥
वृषस्य दधिमण्डेन सुरया वा ससैन्धवम् ।

अथवा उसी दिन (ज्वरागम के दिन) बिल्ली के पुरीष को दूध के साथ पीवे । अथवा सांड के गोबर के चूर्ण में सेन्धानमक मिलाकर दही के पानी वा सुरा के साथ पीवे ॥ ३०१ ॥

पिप्पल्यास्त्रिफलायाश्च दध्नस्तक्रस्य सर्पिषः ॥ ३०२ ॥
पञ्चगव्यस्य पयसः प्रयोगो विषमज्वरे ।

विषमज्वर में पिप्पली, त्रिफला, दही, छाछ, घी और पञ्चगव्य (दही, दूध, घी, मूत्र, गोमयरस अथवा अपस्मारोक्तपञ्च गव्यघृत) अथवा दूध का प्रयोग करना चाहिये ॥३०२॥

लशुनस्य सतैलस्य प्राग्भक्तमुपसेवनम् ॥ ३०३ ॥
मेध्यानामुष्णवीर्याणामामिषाणां च भक्षणम् ।

भोजन से पूर्व तैलयुक्त लहसन का सेवन करना चाहिये तथा मेध्य (पवित्र अथवा मेदुर) उष्णवीर्य मांसों का भक्षण करना चाहिये ३०३

हिङ्गुतुल्या तु वैयाघ्री वसा नस्यं ससैन्धवा ॥ ३०४ ॥
पुराणसर्पिः सिंहस्य वसा तद्वत्ससैन्धवा ।

विषमज्वर में व्याघ्र (Tiger) की वसा और हींग और सैन्धव को समपरिमाण में मिलाकर नस्य देना चाहिये। इसीप्रकार पुराना घी, शेर की चर्बी और सेन्धानमक मिलाकर नस्य देना चाहिये ॥३०४॥

सैन्धवं पिप्पलीनां च तण्डुलाः समनःशिलाः ॥३०५॥
नेत्राञ्जनं तैलपिष्टं शस्यते विषमज्वरे ।

अञ्जनयोग—सेन्धानमक, पिप्पली के निस्तुष दाने, मनसिल; इन्हें तिलतैल से पीसकर विषमज्वर में नेत्राञ्जन कराना चाहिये॥३०५॥

पलङ्कषा निम्बपत्रं वचा कुष्ठं हरीतकी ॥ ३०६ ॥
सर्षपाः सयवाः सर्पिर्धूपनं ज्वरनाशनम् ।

धूपनयोग—गुग्गुलु, नीम के पत्ते, वच, कुठ, हरड़, सरसों, जौ और घी; इन्हें एकत्र मिला ज्वरनाशक धूपन करना चाहिये ॥३०६॥

ये धूमा धूपनं यच्च नावनं चाञ्जनं च यत् ॥ ३०७ ॥
मनोविकारे व्याख्यातं कार्यं तद्विषमज्वरे ।

जो धूम धूपन नावन (नस्य) और अञ्जन मनोविकार अर्थात

उन्माद और अपस्मार में कहे गये हैं वे विषमज्वर में भी प्रयोग कराने चाहियें ॥ ३०७ ॥

मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च ॥ ३०८ ॥
धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।

मणि, ओषधि (जयन्ती आदि) आदि माङ्गलिक द्रव्य तथा विष के धारण से और अगदों (औषधों) के सेवन से ज्वर नहीं होता ३०८

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ॥ ३०९ ॥
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ।

पार्वती तथा नन्दी आदि अनुचर एवं ब्राह्मी माहेश्वरी आदि आठ मातृकाओं से युक्त श्रीशङ्कर की पूजा से रोगी शीघ्र ही विषमज्वर से मुक्त हो जाता है ॥ ३०९ ॥

विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ॥ ३१० ॥
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ।

सहस्र शिर वाले, चराचर के स्वामी, सर्वव्यापक अर्थात् 'सहस्र शीर्षा पुरुषः' इत्यादि द्वारा प्रतिपादित विष्णु की नामसहस्र (विष्णु सहस्रनाम) द्वारा स्तुति करने से सम्पूर्णज्वर नष्ट हो जाते हैं ३१०

ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम् ॥ ३११ ॥
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्ट्या[1] पूजयञ्जयति ज्वरान् ।

ब्रह्मा, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्र, अग्नि, हिमाचल (हिमालय पर्वत), गङ्गा, मरुद्गण; इन्हें इष्टि (यज्ञ) द्वारा पूजने से ज्वर शान्त होते हैं ॥ ३११ ॥

भक्त्या मातापितॄणां च गुरूणां पूजनेन च ॥ ३१२ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च ।
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ॥ ३१३ ॥
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ।

---

१ 'मरुद्गणांश्चेष्टान्' पा० ।

भक्ति से, माता पिता और गुरुओं की पूजा से तथा ब्रह्मचर्य तप सत्य नियम (शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः), जप होम दान और वेदश्रवण के अनुष्ठान से तथा साधुपुरुषों के दर्शन से रोगी शीघ्र ज्वर से मुक्त हो जाता है ॥ ३१२—३१३ ॥

ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत् ॥ ३१४ ॥
सेकप्रदेहौ रक्तस्थे तथा संशमनानि च ।

रसस्थ ज्वर की चिकित्सा—जब ज्वर रसधातुगत हो तो वमन और उपवास करवावे ॥

रक्तस्थ ज्वर की चिकित्सा—रक्तगतज्वर में परिषेचन, प्रदेह तथा संशमन औषधों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३१४ ॥

विरेचनं सोपवासं मांसमेदःस्थिते हितम् ॥ ३१५ ॥
अस्थिमज्जगते देया निरूहाः सानुवासनाः ।

मांस और मेदःस्थित ज्वर में उपचार—मांस और मेदोधातु में स्थित ज्वर के नाश के लिये विरेचन और उपवास हितकर होता है ।

अस्थि एवं मज्जास्थित ज्वर में कर्म—अस्थि एवं मज्जागतज्वर में निरूह और अनुवासन बस्तियां देनी चाहियें ॥ ३१४ ॥

शापाभिचाराद्भूतानामभिषङ्गाच्च यो ज्वरः ॥ ३१६ ॥
दैवव्यपाश्रयं तत्र सर्वमौषधमिष्यते ।

आगन्तुज्वर-चिकित्सा—अभिशाप, अभिचार वा भूताभिषङ्ग से जो ज्वर होता है वहां सम्पूर्ण औषध दैवव्यपाश्रय (बलि मङ्गल होम आदि) होती है ॥ ३१६ ॥

अभिघातज्वरो नश्येत्पानाभ्यङ्गेन सर्पिषः ॥ ३१७ ॥
रक्तावसेकैर्मद्यैश्च[1] सात्म्यैर्मांसरसौदनैः ।
सानो[2]हो मद्यसात्म्यानां मदिरारसभोजनैः ॥ ३१८ ॥

अभिघातज्वर की चिकित्सा—घी के पान एवं अभ्यङ्ग से, रक्त-

१ ' रक्तावसेकैर्मेध्यैश्च ' ग. । २ ' पानाद्वा ' ग. ।

निर्हरण से, सात्म्य मद्य के पीने से और सात्म्य ही मांसरस और ओदन (भात) के भोजन से अभिघातज्वर नष्ट होता है।

अभिघातज्वर में आनाह भी साथ हो तो यदि रोगी मद्य सात्म्य है तो मदिरा और मांसरस के भोजन से वह ज्वर नष्ट होता है॥

१क्षतानां व्रणितानां च क्षतव्रणचिकित्सया।

जिन्हें क्षत वा व्रण हों और उन्हीं के कारण ज्वर हो तो क्षत वा व्रण की चिकित्सा द्वारा ज्वर को नष्ट करना चाहिये॥

आश्वासेनेष्टलाभेन वायोः प्रशमनेन च॥ ३१९॥
हर्षणैश्च शमं यान्ति कामशोकभयज्वराः।

कामज आदि ज्वरों की चिकित्सा--सान्त्वना से, इष्टप्राप्ति (चाही वस्तु का मिलना) से, वायु के शान्त करने वाली औषध के सेवन से तथा हर्ष (प्रसन्नता) को उत्पन्न करने से काम शोक और भय से उत्पन्न होने वाले ज्वर नष्ट होते हैं॥ ३१९॥

काम्यैरर्थैर्मनोज्ञैश्च पित्तघ्नैश्चाप्युपक्रमैः॥ ३२०॥
सद्वाक्यैः शाम्यति ह्याशु ज्वरः क्रोधसमुत्थितः।

क्रोधज ज्वर की चिकित्सा——अभिलषित और मन को प्रिय विषयों की प्राप्ति से, पित्तनाशक उपचार से, तथा श्रेष्ठ प्रिय मधुर वचनों से क्रोधज ज्वर शीघ्र शान्त होता है॥ ३२०॥

कामात्क्रोधज्वरो नाशं क्रोधात्कामसमुद्भवः॥ ३२१॥
याति ताभ्यामुभाभ्यां च भयशोकसमुत्थितः।

काम आदि मानस भावों द्वारा परस्पर उन २ से उत्पन्न ज्वरों की चिकित्सा——काम से क्रोधज ज्वर, क्रोध से कामज ज्वर तथा क्रोध और काम दोनों से भयज और शोकज ज्वर नष्ट होते हैं॥ ३२१॥

ज्वरकालं च वेगं च चिन्तयञ्ज्वर्यते तु यः॥ ३२२॥
तस्येष्टैस्तु विचित्रैश्च विषयैर्नाशयेत्स्मृतिम्।

---

१ 'क्षतानामिति उरःक्षतानां' चक्रः।

ज्वरचिन्ता से उत्पन्न ज्वर में उपचार—जो पुरुष ज्वर के काल को वा ज्वर के वेग को मन में सोचने से ज्वराक्रान्त हो जाता है उसकी उस स्मृति को अभीष्ट एवं विचित्र विषयों द्वारा भुलाने का प्रयत्न करे। इसप्रकार काल वा वेग की चिन्ता से उत्पन्न होने वाला वह ज्वर नहीं होगा ॥ ३२२ ॥

ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजन्वमति[1] चेष्टते ॥ ३२३ ॥
श्वसन्विवर्णः स्विन्नाङ्गो वेपते लीयते[2] मुहुः ।
प्रलपत्युष्णसर्वाङ्गः शीताङ्गश्च भवत्यपि ॥ ३२४ ॥
विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्ष्यते[3] ।
सदोषशब्दं च शकृद्द्रवं स्रवति[4] वेगवत् ॥ ३२५ ॥
लिङ्गान्येतानि जानीयाज्ज्वरमोक्षे विचक्षणः ।

ज्वर के मोचन काल के चिन्ह—जब ज्वर छोड़ता है तब पुरुष कण्ठ से कूजन [अव्यक्तध्वनि] करता हुआ कै करता है, नाना प्रकार की चेष्टायें करता है, दीर्घश्वास लेता हुआ विवर्ण और पसीने से तर देह वाला होकर कांपता है, बारबार मूर्च्छित होता है, प्रलाप करता है, सारे अङ्ग उष्ण हो जाते हैं अथवा देह शीतल भी हो जाता है, ज्वर के वेग से पीड़ित हुआ हुआ निःसंज्ञ (बेहोश) हो जाता है । क्रोधी सा देखा जाता है । रोगी को शब्द के साथ दोषयुक्त एवं पतला मल बड़े वेग से आता है । बुद्धिमान् इन्हें ज्वरमोक्ष के लक्षण जाने । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० २ में भी—

' धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले विलीयते ।
ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन् वमति चेष्टते ॥
वेपते प्रलपत्युष्णैः शीतैश्चाङ्गैर्हतप्रभः ।

---

१ ' कूजन्वमन्विचेष्टते ' । २ ' शीयते ' ग. । तत्र स्वयमेव तदुद्वेगात् शयनमाश्रयते न तु स्वाभिप्रायेण शेते च इत्यर्थः । ३ ' वीक्षते ' पा० । ४ ' सृजति ' पा० ।

विसंज्ञो ज्वरवेगार्तः सक्रोध इव वीक्षते ॥
सदोषशब्दञ्च शकृद् द्रवं सृजति वेगवत् ॥'

चक्रपाणि कहता है कि ये लक्षण सन्निपातज्वर के मोक्षकाल में ही जानने चाहिये। अन्यत्र नहीं। परन्तु उसका यह निश्चय ठीक नहीं, क्योंकि अन्यत्र भी ये लक्षण देखे जाते हैं। सर्वत्र सब लक्षणों का होना आवश्यक नहीं होता। सन्निपातज्वर के मोक्षकाल में ये लक्षण बहुधा और स्पष्टतया दीखते हैं ऐसा माना जा सकता है।

जैसे बुझता हुआ दीपक एक वार अत्यन्त चमकता है वैसे ही क्षीण दोष भी मोक्षकाल में एक वार इन बलवान् लक्षणों को दिखाता है ॥ ३२३-३२५ ॥

बहुदोषस्य बालिनः[1] प्रायेणाभिनवो ज्वरः ॥ ३२६ ॥
सत्क्रियादोषपक्त्या[2] चेद्विमुञ्चति स दारुणम् ।

प्रायः नवीनज्वर चिकित्सा द्वारा दोष के सहसा पकने पर जब बहुत दोष से युक्त बली पुरुष को त्यागता है तो अत्यन्त दारुण होता है। 'बालिनः' के स्थल पर 'बलवान्' यह पाठान्तर उपलब्ध होता है और वही पाठ यहां उचित प्रतीत होता है। इस पाठान्तर के होने पर यह अर्थ होगा कि प्रायः करके बलवान् नवज्वर जब लङ्घन आदि चिकित्सा द्वारा दोष के पक जाने से बहुदोषाक्रान्त पुरुष को त्यागता है, तब दारुण होता है ॥ ३२६ ॥

कृत्वा दोषवशाद्वेगं क्रमादुपरमन्ति ये ॥ ३२७ ॥
तेषामदारुणो मोक्षो ज्वराणां चिरकारिणाम् ।

जो दोषवश अपने वेग को करके क्रमशः शान्त होते हैं उन चिरकारी ज्वरों का मोक्ष दारुण नहीं होता ॥ ३२७ ॥

विगतक्लमसंतापमव्यथं विमलेन्द्रियम् ॥ ३२८ ॥
युक्तं प्रकृतिसत्त्वेन विद्यात्पुरुषमज्वरम् ।

---

१ 'बलवान्' पा०। २ 'स क्रिया०' ग.।

विज्वर पुरुष के लक्षण—क्लम (अनायास श्रम) सन्ताप और व्यथा से रहित, निर्मल इन्द्रियों वाले और स्वाभाविक मन से युक्त पुरुष को ज्वररहित जाने । अन्यत्र कहा भी है—

देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः
पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम् ।
स्वेदः क्षवः प्रकृतिगामि मनोऽन्नलिप्सा
कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि ॥अ० सं० नि० अ० २॥

सज्वरो ज्वरमुक्तश्च विदाहीनि गुरूणि च ॥ ३२९ ॥
असात्म्यान्यन्नपानानि विरुद्धानि विवर्जयेत् ।
व्यवायमतिचेष्टाश्च स्नानमत्यशनानि च ॥ ३३० ॥
तथा ज्वरः शमं याति प्रशान्तो न च जायते ।

ज्वर में अपथ्य—ज्वरयुक्त और ज्वरमुक्त पुरुष विदाही गुरु असात्म्य एवं विरुद्ध अन्नपान, मैथुन, अत्यधिक चेष्टा (चलना फिरना आदि), स्नान, अधिक भोजन त्याग दे । इस प्रकार अपथ्य के त्याग से ज्वर शान्त हो जाता है और शान्त हुआ हुआ पुनः उत्पन्न नहीं होता ॥ ३२९-३३० ॥

व्यायामं च व्यवायं च स्नानं चङ्क्रमणानि च ॥ ३३१ ॥
ज्वरमुक्तो न सेवेत यावन्न बलवान् भवेत् ।

ज्वरमुक्त पुरुष जब तक बलवान् न हो तब तक व्यायाम, मैथुन, स्नान, अत्यधिक चलना; इनका सेवन न करे ॥ ३३१ ॥

असंजातबलो यस्तु ज्वरमुक्तो निषेवते ॥ ३३२ ॥
वर्ज्यमेतन्नरस्तस्य पुनरावर्तते ज्वरः ।

जो ज्वरमुक्त पुरुष बलवान् होने से पूर्व ही इस अपथ्य का सेवन करता है उसे पुनः ज्वर लौट आता है ॥ ३३२ ॥

दुर्हृतेषु च दोषेषु यस्य वा विनिवर्तते ॥ ३३३ ॥
स्वल्पेनाप्यपचारेण तस्य व्यावर्तते पुनः ।

दोषों के सम्यक्तया न निकलने पर जिसका ज्वर शान्त हो जाता है वह थोड़े से ही अपचार वा अपथ्य से पुनः लौट आता है॥

चिरकालपरिक्लिष्टं दुर्बलं दीनचेतसम् ॥ ३३४ ॥
अचिरेणैव कालेन स हन्ति पुनरागतः ।

वह पुनः लौटकर आया हुआ ज्वर चिरकाल से परिपीड़ित दुर्बल और दीनमना पुरुष को शीघ्र ही मार डालता है ॥ ३३४ ॥

अथवाऽपि परीपाकं धातुष्वेव क्रमान्मलाः ॥ ३३५ ॥
यान्ति ज्वरमकुर्वन्तस्ते तथाऽप्यपकुर्वते ।
दीनतां श्वयथुं ग्लानिं पाण्डुतां नान्नकामताम् ॥ ३३६ ॥
कण्डूरुत्कोठपिडकाः कुर्वन्त्यग्निं च ते मृदुम् ।

अथवा यदि वे अवशिष्ट दोष ज्वर के पुनरागमन द्वारा मृत्यु का कारण न भी हों तो भी वे धातुओं में क्रमशः पकते हैं । और यद्यपि वे ज्वर को उत्पन्न नहीं करते तथापि अन्यथा हानि पहुंचाते हैं । वे दीनता, शोथ, ग्लानि, पाण्डुता, भोजन में इच्छा न होना, खुजली, कोठ, पिड़कायें तथा मन्दाग्नि का कारण होते हैं ॥ ३३५–३३६ ॥

एवमन्येऽपि च गदा व्यावर्तन्ते पुनर्गताः ॥ ३३७ ॥
अनिर्घातेन दोषाणामल्पैरप्यहितैर्नृणाम् ।
निवृत्तेऽपि ज्वरे तस्माद् यथावस्थं यथाबलम् ॥ ३३८ ॥
यथाप्राणं हरेद्दोषं प्रयोगैर्वा शमं नयेत् ।

इसीप्रकार अन्य भी रोग हटजाने पर भी यदि दोष पूर्णतया नष्ट न हुए हों तो अल्प से भी अहितसेवन से पुनः लौट आते हैं । अतः ज्वर आदि रोगों के निवृत्त हो जाने पर भी अवस्था बल और प्राण के अनुसार दोष को निकाले अथवा प्रयोगों द्वारा शान्त करे ॥

मृदुभिः शोधनैः शुद्धिर्यापना बस्तयो हिताः ॥ ३३९ ॥
हिताश्च लघवो यूषा जाङ्गलामिषजा रसाः ।

---

१ 'संहन्ति' ग० । २ 'अथवा विपारीपाकं' ग० ।

इसमें मृदु संशोधनों से शुद्धि, यापन बस्तियां भोजन में लघु यूष और जाङ्गलमांसों का रस हितकर होता है ॥ ३३९ ॥

अभ्यङ्गोद्वर्तनस्नानधूपनान्यञ्जनानि च ॥ ३४० ॥
हितानि पुनरावृत्ते ज्वरे तिक्तघृतानि च ।

ज्वर के पुनरावर्तन में अभ्यङ्ग, उबटन, स्नान, धूपन, अञ्जन तथा तिक्तघृत (तिक्त द्रव्यों से साधित घृत यथा पञ्चतिक्तघृत) हित कर होते हैं ॥ ३४० ॥

गुर्वभिष्यन्द्यसात्म्यानां भोजनात्पुनरागते ॥ ३४१ ॥
लङ्घनोष्णोपचारादिः क्रमः कार्यश्च पूर्ववत् ।

गुरु अभिष्यन्दी तथा असात्म्य भोजन से यदि ज्वर पुनः लौट आय तो लङ्घन तथा अन्य उष्ण उपचार आदि क्रम पूर्ववत् करना चाहिये ॥ ३४१ ॥

किराततिक्तकं तिक्ता मुस्तं पर्पटकोऽमृता ॥ ३४२ ॥
घ्नन्ति पीतानि चाभ्यासात्पुनरावर्तकं ज्वरम् ।

किराततिक्तादिक्वाथ—चिरायता, कटुकी, मोथा, पित्तपापड़ा, गिलोय; इनके क्वाथ को कुछ दिन लगातार पीने से पुनरावर्तक ज्वर नष्ट होता है ॥ ३४२ ॥

तस्यां तस्यामवस्थायां ज्वरितानां विचक्षणः ॥ ३४३ ॥
ज्वरक्रियाक्रमापेक्षी कुर्यात्तत्र चिकित्सितम् ।

ज्वराक्रान्त रोगियों की उन उन अवस्थाओं में ज्वरचिकित्सा के क्रम के अनुसार वैसी वैसी चिकित्सा करे । अर्थात् पुनरावृत्तज्वर की सामावस्था पच्यमानावस्था वा विपाकावस्था में उस २ अवस्था के अनुसार उपयोगी पूर्वोक्त चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ३४३ ॥

रोगराट् सर्वभूतानामन्तकृद्दारुणो ज्वरः ।

---

१ 'लशुनो०' पा० ।

तस्माद्विशेषतस्तस्य यतेत प्रशमे भिषक् ॥ ३४४ ॥

ज्वर रोगों का राजा है, सब प्राणियों का अन्त करने वाला और दारुण है। अतः वैद्य को चाहिये कि वह ज्वर की शान्ति में विशेषतः प्रयत्न करे ॥ ३४४ ॥

तत्र श्लोकः।

यथाक्रमं यथाप्रश्नमुक्तं ज्वरचिकित्सितम्।
अत्रिजेनाग्निवेशाय भूतानां हितमिच्छता ॥ ३४५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

भगवान् आत्रेय ने प्राणियों की हितकामना से क्रम तथा प्रश्न के अनुसार ज्वर की चिकित्सा कह दी है ॥ ३४५ ॥

इति ज्वर-चिकित्सा।

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातो रक्तपित्तचिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम रक्तपित्त की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

विहरन्तं जितात्मानं[1] पञ्चगङ्गे पुनर्वसुम्।
प्रणम्योवाच निर्मोहमाग्निवेशोऽग्निवर्चसम् ॥ २ ॥
भगवन् रक्तपित्तस्य हेतुरुक्तः सलक्षणः।
वक्तव्यं यत्परं तस्य वक्तुमर्हसि तद्गुरो ॥ ३ ॥

पञ्चगङ्ग (पञ्जाब वा पञ्चनद) देश में परिभ्रमण करते हुए जितात्मा अग्नि के समान तेजस्वी मोह से रहित भगवान् पुनर्वसु को प्रणाम करके

१ 'यतात्मानं' ग.।

अग्निवेश ने कहा—भगवन् ! अपने रक्तपित्त का हेतु और लक्षण (निदानस्थान में) बता दिये हैं । हे गुरो ! उसके विषय में अन्य भी जो कुछ वक्तव्य है वह कहने की कृपा कीजिये ॥ २–३ ॥

गुरुरुवाच ।

महागदं महावेगमग्निवच्छीघ्रकारि च ।
हेतुलक्षणविच्छीघ्रं रक्तपित्तमुपाचरेत् ॥ ४ ॥

गुरु पुनर्वसु ने कहा—हेतु और लक्षण को जानने वाला चिकित्सक अत्यधिक वेग वाले अग्नि के समान शीघ्रकारी (शीघ्र ही मृत्यु करने वाले) महारोग रक्तपित्त की शीघ्र ही चिकित्सा करे ॥४॥

तस्योष्णं तीक्ष्णमम्लं च कटूनि लवणानि च ।
घर्मश्चान्नविदाहश्च हेतुः पूर्वं निदर्शितः ॥ ५ ॥

रक्तपित्त का हेतु—उस रक्तपित्त का उष्ण, तीक्ष्ण, अम्ल, कटु, लवण, घर्म (घाम) और अन्न का विदाह; ये हेतु पूर्व (निदान स्थान में) बताया जा चुका है ॥ ५ ॥

तैर्हेतुभिः समुत्क्लिष्टं पित्तं रक्तं प्रपद्यते ।
तद्योनित्वात्प्रपन्नं च वर्धते तत्प्रदूषयत् ॥ ६ ॥
तस्योष्मणा द्रवो धातुर्धातोर्धातोः प्रसिच्यते ।
स्विद्यतस्तेन संवृद्धिं भूयस्तदधिगच्छति ॥ ७ ॥

रक्तपित्त की सम्प्राप्ति—उन हेतुओं से उत्क्लिष्ट (अपने स्थान से बहिर्गमनोन्मुख) हुआ हुआ पित्त रक्तधातु में पहुंचता है । उसी से यतः पित्त की उत्पत्ति होती है अतः अथवा रक्त और पित्त के समानयोनि होने (यकृत् और प्लीहा में उत्पन्न होने) के कारण वहां पहुंचकर बढ़ता है और उसे (रक्त को) दूषित कर देता है । उस पित्त की ऊष्मा (गर्मी) से स्वेदन की जाती हुई मांस आदि प्रत्येक धातु से वह द्रव

१ 'द्रवो धातुरिति द्रवरूपोंऽशः, धातोर्धातोरिति रसादेः, प्रसिच्यत इति क्षरति, स्विद्यतस्तेनेति पित्तोष्मणा स्विद्यमानधातुभ्यश्च्युतेन द्रवरूपेण धातुना युक्तं सत् पित्तं भूयोऽतितरां वृद्धिं गच्छतीति योजना' चक्रः ।

धातु (रक्त) द्रवित होता है। इसी हेतु रक्त भी परिमाण में बढ़ जाता है। द्रवधातु से अन्य टीकाकार द्रवरूप अंश का ग्रहण करते हैं और कहते हैं कि उस द्रवरूप अंश के साथ मिलने पर पित्त और भी अधिक बढ़ जाता है। वास्तव में निदान में कहे गये 'लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन्प्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहानां स्रोतसां लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखानि ' इत्यादि पाठ से तो जो रक्ताभिवृद्धि कही गई है उसका भी हेतु आचार्य ने बताना था। वह ही यहां बताया है ॥६—७॥

संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः ।
रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः ॥ ८ ॥

रक्त के साथ संयोग होने के कारण, रक्त को दूषित करने के कारण और गन्ध एवं वर्ण में रक्त के तुल्य होने से उस पित्त को बुद्धिमानों ने रक्तपित्त कहा है। निदानस्थान में भी कहा जा चुका है—

'तल्लोहितसंसर्गाल्लोहितप्रदूषणाल्लोहितगन्धवर्णानुविधानाच्च पित्तं लोहितपित्तमित्याचक्षते ' ॥ ८ ॥

प्लीहानं च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते ।
स्रोतांसि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् ॥ ९ ॥

वह पित्त प्लीहा और यकृत् का आश्रय करके ही रहता है। प्राणियों के रक्तवाही स्रोतों के मूल भी यकृत् और प्लीहा (तिल्ली) हैं। विमान० अ० ५ में भी कहा है——

' शोणितवहानां स्रोतसां यकृन्मूलं प्लीहा च ।'

सुश्रुत शारीर अ० ९ में भी—

'रक्तवहे द्वे तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः ।'

यकृत एवं प्लीहा में स्थित पित्त को रञ्जक पित्त कहते हैं। सुश्रुत सू० अ० २१ में कहा है—

'यत्तु यकृत्प्लीह्नोः पित्तं तस्मिन् रञ्जकोऽग्निरिति संज्ञा । स रसस्य रागकृदुक्तः ।'

अत एव स्थान और योनि के समान होने से पित्त की वृद्धि होती है । तदनन्तर वह रक्त को दूषित करके रक्तपित्त का कारण होता है ॥ ९ ॥

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।
श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥ १० ॥

श्लैष्मिक रक्तपित्त के लक्षण—यदि रक्तपित्त कफयुक्त हो तो वह गाढ़ा किञ्चित् पाण्डुवर्ण स्निग्ध और चिपचिपा होता है ।

वातिक रक्तपित्त का स्वरूप—वातिक रक्तपित्त श्याम और अरुण-वर्ण का झागयुक्त पतला और रूखा होता है ॥ १० ॥

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥ ११ ॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सांनिपातिकम् ।

पैत्तिक रक्तपित्त का स्वरूप—पैत्तिक रक्तपित्त कषाय वर्ण की आभा वाला, काला, गोमूत्र के सदृश और मेचक (चिकना काला वस्त्र) गृहधूम अथवा अञ्जन की आभा वाला होता है ।

द्वन्द्वज और सान्निपातिक रक्तपित्त—संसर्ग से अर्थात् दो दो दोषों के संयोग से उन २ आरम्भक दोषों के मिले हुए लक्षण होते हैं और सन्निपात में तीनों दोषों के लक्षण दिखाई देते हैं ।

श्लैष्मिक रक्तपित्त में 'कफान्वितम्' कहने से यह जता दिया है कि रक्तपित्त पित्त के विना नहीं हो सकता परन्तु जब वह कफ से युक्त होता है तभी श्लैष्मिक कहाता है । उसमें कफ के विशेष लक्षण दीखने लगते हैं । जैसे सब ज्वरों में पित्त के रहने पर भी अथवा जैसे सब गुल्मों में वात के रहने पर भी उस २ दोष के विशेष लक्षण होने पर वे उस २ दोष से उत्पन्न कहे जाते हैं

वैसे ही यहां समझना चाहिये। वातिक रक्तपित्त भी इसीप्रकार कहाता है। अर्थात् रक्तपित्त के सामान्य रूप को छोड़कर विशेष लक्षण जिस अनुगत दोष के होते हैं उसी दोष से उत्पन्न वह रक्तपित्त कहाता है। जब कफ वा वात अनुगत नहीं होते तब वह पैत्तिक कहाता है। अथवा जब रक्तपित्त के आरम्भक पित्त के साथ स्थानान्तर पित्त अनुगत होता है तब पैत्तिक कहाता है। उससमय पित्त के ही तीव्र लक्षण होते हैं। रक्तपित्त के सामान्यतः दो ही मार्ग हैं, ऊपर का और नीचे का। जब पैत्तिक रक्तपित्त ऊर्ध्वमार्ग से प्रवृत्त होता है तो अवश्य कफयुक्त हो जाता है और जब नीचे की ओर प्रवृत्त होता है तो वात से संयुक्त हो जाता है उस समय कफ और वात से युक्त होने पर भी उन २ के लक्षण प्रकट नहीं होते। जो श्लैष्मिक और वातिक हैं उनमें तो उन २ दोष के लक्षण दिखाई देते ही हैं ॥ ११ ॥

एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते ॥ १२ ॥
यत्त्रिदोषमसाध्यं तन्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत् ॥ १३ ॥

रक्तपित्त का साध्यासाध्य विज्ञान—जो रक्तपित्त एक दोष से अनुगत हो वह साध्य होता है। द्विदोषज याप्य होता है और त्रिदोषज असाध्य होता है। मन्दाग्नि पुरुष को अत्यन्त वेग वाला कोई भी रक्तपित्त हो तो वह असाध्य है। अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष की अग्नि मन्द है उसे यदि एकदोषज वा द्विदोषज रक्तपित्त की प्रवृत्ति अत्यन्त वेग से हो तो वह भी असाध्य ही जानना। इसीप्रकार रोगों से निर्बल और कृश देह वाले को वृद्ध को और आहार न करते हुए को यदि रक्तपित्त का अति वेग हो (चाहे वह एकदोषज वा द्विदोषज ही हो) तो वह असाध्य है। आगे कहा भी जायगा—

'एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ।

रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ' ॥ १२-१३ ॥

गतिरूर्ध्वमधश्चैव रक्तपित्तस्य दर्शिता ।
ऊर्ध्वा सप्तविधद्वारा द्विद्वारा त्वधरा गतिः ॥ १४ ॥
सप्तच्छिद्राणि शिरसि, द्वे चाधः,

रक्तपित्त की गतियां—रक्तपित्त की ऊर्ध्वगति तथा अधोगति—दो प्रकार की गतियां (निदानस्थान में) बताई जा चुकी हैं । ऊर्ध्वगति के सात द्वार हैं । नीचे की ओर गति के दो द्वार हैं । इन द्वारों से रक्तपित्त प्रवृत्त होता है । शिर में जो सात छिद्र हैं अर्थात् दो कान दो नथुने दो नेत्र और एक मुख; ये ऊपर की ओर से प्रवृत्त होने वाले रक्तपित्त के सात द्वार हैं । गुदा और उपस्थ; ये दो छिद्र नीचे की ओर से प्रवृत्त होने वाले रक्तपित के द्वार हैं ॥ १४ ॥

साध्यमूर्ध्वगम् ।
याप्यं त्वधोगं, मार्गौ तु द्वावसाध्यं प्रपद्यते ॥ १५ ॥
यदा तु सर्वच्छिद्रेभ्यो[1] रोमकूपेभ्य एव च ।
वर्तते तामसङ्ख्येयां गतिं तस्याहुरान्तिकीम् ॥ १६ ॥

मार्गभेद से साध्यासाध्यता—ऊपर की ओर जाने वाला रक्तपित्त साध्य होता है । नीचे की ओर जाने वाला याप्य और दोनों मार्गों में जाने वाला असाध्य होता है । जब सब (ऊपर नीचे के नौ) छिद्रों से और रोमकूपों से प्रवृत्त होता है उस गिनी न जा सकने वाली गति को आन्तिकी कहते हैं—उससे शीघ्र मृत्यु हो जाती है । इसका विशेष विवरण और इस प्रकार की साध्यासाध्यता में हेतु निदान स्थान में कहे जा चुके हैं ॥ १५-१६ ॥

यच्चोभयाभ्यां मार्गाभ्यामतिमात्रं प्रवर्तते ।
तुल्यं कुणपगन्धेन रक्तं कृष्णमतीव च ॥ १७ ॥
संसृष्टं कफवाताभ्यां कण्ठे सज्जति चापि यत् ।

---

१ ' छिद्रेभ्य एभ्यः सर्वेभ्यो ' ग. ।

यच्चाप्युपद्रवैः सर्वैर्यथोक्तैः समभिद्रुतम् ॥ १८ ॥
हारिद्रनीलहरितताम्रैर्वर्णैरुपद्रुतम् ।
क्षीणस्य कासमानस्य यच्च तच्च न सिध्यति ॥ १९ ॥

जो रक्तपित्त दोनों मार्गों से अतिमात्रा में प्रवृत्त होता है, जिस की गन्ध शव की गन्ध के सदृश होती है और जो प्रवृत्त रक्त अत्यन्त कृष्णवर्ण का होता है, जो कफवात दोनों से युक्त होता है, जो कण्ठ में आकर रुक जाता है (बाहिर नहीं निकलता अथवा कठिनता से निकलता है), और जो यथोक्त (निदानस्थान में कहे गये) दुर्बलता अरुचि आदि सब उपद्रवों से युक्त है, जो रक्त-पित्त हलदी के वर्ण नीले हरे अथवा ताम्रवर्ण से आक्रान्त है और जो क्षीण पुरुष को खांसने के साथ प्रवृत्त होता है वह सिद्ध नहीं होता ॥ १७–१९ ॥

यद् द्विदोषानुगं यद्वा[1] शान्तं शान्तं[2] प्रकुप्यति ।
मार्गान्मार्गं चरेद्यद्वा याप्यं पित्तमसृक् च तत् ॥ २० ॥

जो रक्तपित दो दोषों से अनुगत हो, जो शान्त हो होकर पुनः प्रकुपित हो जाता हो, जो एक मार्ग से दूसरे मार्ग में चला जाता हो, जैसे पूर्व मुख से प्रवृत्त हो पुनः गुदा से, पुनः मुख से इत्यादि वह रक्तपित्त याप्य होता है ॥ २० ॥

एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ।
रक्तपित्तं सुखे[3] काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ॥ २१ ॥

बलवान् पुरुष को एक मार्ग से प्रवृत्त होने वाला, जिसका वेग अधिक न हो, नवीन ही उत्पन्न हुआ हो, सुखकर काल में अर्थात् हेमन्त वा शिशिर में उत्पन्न हुआ हो, जिसमें कोई उपद्रव न हो वह रक्तपित्त साध्य होता है । एकमार्ग कहने से ऊर्ध्वमार्ग का ही

---

१ 'यद्वा' ग. । २ 'भूयः प्रवर्तते' ग. । ३ 'सुखे काले इति हेमन्ते शिशिरे च' चक्रः ।

ग्रहण करना चाहिये क्योंकि अधोमार्गगत रक्तपित्त को याप्य कहा जा चुका है ॥ २१ ॥

स्निग्धोष्णमुष्णरूक्षं च रक्तपित्तस्य कारणम् ।
अधोगस्योत्तरं प्रायः पूर्वं स्यादूर्ध्वगस्य तु ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वग और अधोग रक्तपित्त का हेतु—प्रायः ऊर्ध्वग रक्तपित्त का स्निग्ध और उष्ण एवं अधोग रक्तपित्त का उष्ण और रूक्ष आहार विहार कारण है ॥ २२ ॥

ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं मारुतानुगम् ।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्ध्यते ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वग रक्तपित्त कफ से संयुक्त होता है । अधोगत रक्तपित्त में वायु अनुगत होता है । जो रक्तपित्त दोनों मार्गों से प्रवृत्त होता है उसमें कफ और वात दोनों का अनुबन्ध रहता है ॥ २३ ॥

अक्षीणबलमांसस्य रक्तपित्तं यदश्नतः ।
तद्दोषदुष्टमुत्क्लिष्टं नादौ स्तम्भनमर्हति ॥ २४ ॥

चिकित्साक्रम—जिस पुरुष का बल मांस क्षीण नहीं और अच्छा खाता पीता भी है उसे यदि रक्तपित्त हो तो दोष से दुष्ट और बाहिर की ओर प्रवृत्त होने को उन्मुख उस रक्तपित्त का प्रारम्भ में स्तम्भन न करे ॥ २४ ॥

गलग्रहं पूतिनस्यं मूर्च्छायमरुचिं ज्वरम् ।
गुल्मं प्लीहानमानाहं किलासं कृच्छ्रमूत्रताम् ॥ २५ ॥
कुष्ठान्यर्शांसि वीसर्पं वर्णनाशं भगन्दरम् ।
बुद्धीन्द्रियोपरोधं च कुर्यात्स्तम्भितमादितः ॥ २६ ॥

स्तम्भन से हानि—यदि उस रक्तपित्त का स्तम्भन किया गया तो गलग्रह, पूतिनस्य, मूर्च्छा, अरुचि, गुल्म, तिल्ली, आनाह, किलास (श्वित्र), मूत्र

---

१ '०मनुवर्तते ' ग. । २ ' मूत्रकृच्छ्रताम् ' ग. ।

का कष्ट से आना, कुष्ठ, अर्श, विसर्प, विवर्णता, भगन्दर, बुद्धि और इन्द्रियों का स्वकर्म में असमर्थ हो जाना अथवा ज्ञानेन्द्रिय का अपने विषय के ग्रहण में असमर्थ होना; ये व्यापत्तियां वा उपद्रव हो जाते हैं॥

तस्मादुपेक्ष्यं बलिनो बलदोषविचारिणा ।
रक्तपित्तं प्रथमतः प्रवृत्तं सिद्धिमिच्छता ॥ २७ ॥

अतः बल और दोष का विचार रखने वाले वैद्य को चाहिये कि बली पुरुष के प्रवृत्त हुए रक्तपित्त की आदि में उपेक्षा करे अर्थात् प्रवृत्त होने दे । तभी चिकित्सा में सफलता होगी ॥ २७ ॥

प्रायेण हि समुत्क्लिष्टमामदोषाच्छरीरिणाम् ।
वृद्धिं प्रयाति पित्तासृक्तस्मात्तल्लङ्घयमादितः ॥ २८ ॥

प्रायशः आमदोष के कारण ही उत्क्लेश को प्राप्त हुआ रक्तपित्त वृद्धि को प्राप्त होता है, अतः सबसे पूर्व लङ्घन कराना चाहिये ॥२८॥

मार्गौ दोषानुबन्धं च निदानं प्रसमीक्ष्य च ।
लङ्घनं रक्तपित्तादौ तर्पणं वा प्रयोजयेत् ॥ २९ ॥

दोनों मार्ग, दोष का अनुबन्ध और निदान (स्निग्ध उष्ण वा रूक्ष उष्ण) को देखकर रक्तपित्त के आदि में लङ्घन वा तर्पण कराना चाहिये । यदि ऊर्ध्वमार्ग हो कफ का अनुबन्ध हो, स्निग्ध उष्ण निदान हो तो लङ्घन वा अपतर्पण कराना उचित है । यदि अधोमार्ग हो, वात का अनुबन्ध हो, रूक्ष उष्ण निदान हो तो सन्तर्पण वा बृंहण करना चाहिये ॥ २९ ॥

ह्रीबेरचन्दनोशीरमुस्तपर्पटकैः शृतम् ।
केवलं शृतशीतं वा दद्यात्तोयं पिपासवे ॥ ३० ॥

ह्रीबेरादिपानीय—ह्रीबेर (गन्धबाला), लालचन्दन, खस, मोथा, पित्तपापड़ा; इनका षडङ्गपानीय विधि से तय्यार किया हुआ क्वाथ अथवा केवल शृतशीत (उबालकर ठण्डा किया) जल रोगी को प्यास लगने पर देना चाहिये ॥ ३० ॥

ऊर्ध्वगे तर्पणं पूर्वं पेयां पूर्वमधोगते ।
कालसात्म्यानुबन्धज्ञो दद्यात्प्रकृतिकल्पवित् ॥ ३१ ॥

काल सात्म्य एवं अनुबन्ध (कफ वात के) को तथा प्रकृति के भेदों को जानने वाला अथवा द्रव्य की गुरुता लघुता आदि स्वाभाविक गुण और संस्कार को जानने वाला ऊर्ध्वग रक्तपित्तमें प्रथम तर्पण और अधोगत रक्तपित्त में पूर्व पेया का प्रयोग कराये । अभिप्राय यह है कि यदि रोगी—लङ्घनीय है तो पूर्व लङ्घन कराके ऊर्ध्वग रक्तपित्त में तर्पण (लाजा के सत्तू) और अधोगत में पेया पिलावे। यदि रोगी लङ्घनीय न हो तो पूर्व ही तर्पण वा पेया का प्रयोग होगा ॥ ३१ ॥

जलं खर्जूरमृद्वीकामधूकैः सपरूषकैः ।
शृतशीतं प्रयोक्तव्यं तर्पणार्थे सशर्करम् ॥ ३२ ॥

खर्जूरादि जल—पिण्डखजूर, मुनक्का, महुए के फूल अथवा मुलहठी, फालसे; इन्हें काढ़कर ठण्डा किया हुआ जल खांड मिलाकर तर्पण के लिये प्रयोग करना चाहिये । इस जल को षडङ्गपानीय विधि से बनाना चाहिये । अर्थात् क्वाथ्य द्रव्य २ तोला, जल २ प्रस्थ (३ सेर १६ तोले) अवशिष्ट जल १ प्रस्थ (१॥ सेर ८ तोले) । अथवा यदि प्रधान औषधरूप में प्रयोग कराना हो तो जैसे क्वाथ चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है वैसे ही तर्पणकषाय पञ्चमांश अवशिष्ट रखा जाता है । इसके अनुसार क्वाथ्य द्रव्य २ तोला । पाकार्थ जल ३२ तोले । अवशिष्ट क्वाथ लगभग ६॥ तोले क्वाथ को छान लें । शीतल होने पर खांड मिला प्रयोग करावें ॥ ३२ ॥

तर्पणं सघृतक्षौद्रं लाजचूर्णैः प्रयोजयेत् ।
ऊर्ध्वगं रक्तपित्तं तत् पीतं काले व्यपोहति ॥ ३३ ॥

लाजतर्पण—लाजाचूर्ण में घी और शहद मिलाकर तर्पण दें ।

---

१ ' खर्जूरादिना जलं षडङ्गविधानेनैव कर्तव्यं, एतच्च जलमत्र मधुरमपि ऊर्ध्वगे कफसमर्थत्वेऽपि यौगिकं भवति, रक्तपित्तव्याधिप्रत्यनीकत्वात् ' चक्रः ।

इस तर्पण को उचित काल में पीने से ऊर्ध्वग रक्तपित्त नष्ट होता है। यहां 'पीने से' कहा गया है। इससे यह अभिप्राय है कि लाजा के चूर्ण वा सत्तुओं में घी और शहद मिलाकर पूर्वोक्त खर्जूरादि जल डालकर आलोडित करें। वह तर्पण वा मन्थ रोगी को पीने के लिये दें॥

मन्दाग्नेरम्लसात्म्याय तत्साम्लमपि कल्पयेत् ।
दाडिमामलके विद्वानम्लार्थं चानुदापयेत् ॥ ३४ ॥

यदि रोगी की अग्नि मन्द हो तो अम्लसात्म्य पुरुष को वही तर्पण कुछ खट्टा कर के देना चाहिये। अम्ल (खट्टा) करने के लिये अनार वा आंवले के रस का प्रयोग करें। इन में से किसी एक का वा दोनों का रस उतना ही डालें जिससे उसका स्वाद थोड़ा सा खट्टा हो जाय। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में भी—

मधुखर्जूरमृद्वीकापरूषकसिताम्भसा ।
मन्थो वा पञ्चसारेण सघृतैर्लाजसक्तुभिः ।
दाडिमामलकाम्लो वा मन्दाग्न्यम्लाभिलाषिणः ॥ ३४ ॥

शालिषष्टिकनीवारकोरदूषप्रशातिकाः ।
श्यामाकश्च प्रियङ्गुश्च भोजनं रक्तपित्तिनाम् ॥ ३५ ॥

रक्तपित्त के रोगी के लिये भोजनार्थ धान्य—शालि, सांठी, नीवार (धान्यविशेष), कोरदूष (कोदों), प्रशातिका, श्यामाक और प्रियङ्गु (कङ्गुनी); इनका रक्तपित्त के रोगियों को भोजन करना चाहिये॥३५॥

मुद्गा मसूराश्चणकाः समकुष्ठाढकीफलाः ।
प्रशस्ताः सूपयूषार्थे कल्पिता रक्तपित्तिनाम् ॥ ३६ ॥

रक्तपित्त के रोगियों को सूप एवं यूष के लिये मूंग, मसूर, चने, मोठ और अरहर प्रशस्त माने गये हैं ॥ ३६ ॥

पटोलनिम्बवेत्राग्रप्लक्षवेतसपल्लवाः ।
किराततिक्तकं शाकं गण्डीरः सकाठिल्लकः ॥ ३७ ॥

रक्तपित्त में हितकर शाक—शाकके लिये पटोलपत्र, नीमके पत्ते, वेत्राग्र

(बेंत का अग्रभाग), प्लक्ष (पिलखन) के पत्ते, वेतस के पत्ते, चिरायता, गण्डीर (शमठशाक), कठिल्लक (पुनर्नवा), इनका प्रयोग करना चाहिये ॥ ३७ ॥

कोविदारस्य पुष्पाणि काश्मर्याश्चाथ शाल्मलेः ।
अन्नपानविधौ शाकं यच्चान्यद्रक्तपित्तनुत् ॥ ३८ ॥

कोविदार (कचनार) के फूल, गाम्भारी के फूल, सेमल के फूल; इनके अतिरिक्त अन्य भी जो अन्नपान के विधान में रक्तपित्त के नाशक हैं उनका प्रयोग करना चाहिये ॥ ३८ ॥

शाकार्थं शाकसात्म्यानां तच्छस्तं रक्तपित्तिनाम् ।
स्विन्नं वा सर्पिषा भृष्टं यूषवद्वा विपाचितम् ॥ ३९ ॥

ये शाक रक्तपित्त के उन रोगियों को जिन्हें शाक सात्म्य है प्रयोग करावे । उन शाकों का स्वेदन करके पीछे से घी में भूनकर अथवा यूषसाधन की विधि से पकाकर प्रयोग कराना चाहिये ॥३९॥

पारावतान्कपोतांश्च लावान् रक्ताक्षवर्तकान् ।
शशान्कपिञ्जलानेणान् हरिणान्कालपुच्छकान् ॥ ४० ॥
रक्तपित्ते हितान्विद्याद्रसांस्तेषां प्रयोजयेत् ।
ईषदम्लाननम्लान् वा घृतभृष्टान् सशर्करान् ॥ ४१ ॥

हितकर मांसरस—पारावत (कबूतर), कपोत (घुग्घी), लावापक्षी, रक्ताक्ष (सारस), वर्त्तक (बटेर), शश (खरगोश), कपिञ्जल (श्वेत तीतर), एण (कालाहरिण), हरिण, कालपुच्छ (मृगविशेष); इन्हें रक्तपित्त में हितकर जाने । इन मांसों के रसों का ही प्रयोग करना चाहिये ।

रोगी की अभिलाषा वा सात्म्य के अनुसार मांसरस को अनार वा आंवले के रस से कुछ खट्टा करके वा वैसे ही बिना खट्टा किये, घी में भूनकर और खांड मिलाकर देना चाहिये ॥ ४०–४१ ॥

कफानुगे यूषशाकं दद्याद्वातानुगे रसम् ।

दोष विशेष के अनुसार पथ्य--यदि रक्तपित्त में कफ अनुगत हो तो यूष तथा शाक और यदि वात अनुगत हो तो मांसरस देना चाहिये ॥

रक्तपित्ते यवागूनामतः कल्पः प्रवक्ष्यते ॥ ४२ ॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः पृश्निपर्णी प्रियङ्गुकाः ।
जले साध्या रसे तस्मिन् पेया स्याद्रक्तपित्तिनाम् ॥ ४३ ॥

अब हम रक्तपित्त के रोगियों के लिये यवागुओं का कल्प कहेंगे-

१ पद्मोत्पलादिरससाधित पेया—पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल), के केशर, उत्पल (ईषन्नील क्षुद्रकमल) के केसर, पृश्निपर्णी, प्रियंगु; इन्हें जल में सिद्ध करें। इस साधित रस मे पेया तय्यार करें । यह रक्तपित्त में हितकर है। रस सिद्ध करने का विधान षडङ्गपानीय परिभाषा के अनुसार है। कहा भी है--

'षडङ्गपरिभाषैव प्रायः पेयादिसम्मता ।'

अर्थात् एक कर्ष द्रव्य लेकर २ प्रस्थ जल में पकावें । जब १ प्रस्थ शेष रह जाय उसे छान लें । इस में शालि षष्टिक आदि पूर्वोक्त रक्तपित्त में उपयोगी धान्यों में किसी एक से यथाविधि पेया बनावे ॥ ४२-४३ ॥

चन्दनोशीरलोध्राणां रसे तद्वत्सनागरे ।
किराततिक्तकोशीरमुस्तानां तद्वदेव च ॥ ४४ ॥

२ चन्दनादिरससाध्य पेया—उसीप्रकार चन्दन, खस, लोध तथा सोंठ; इनके रस में साधित पेया रक्तपित्त में हितकर है ॥

३ किराततिक्तादिरससाध्य पेया--उसीप्रकार चिरायता, खस, मोथा; इनसे साधित यवागू रक्तपित्त में प्रशस्त है ॥ ४४ ॥

धातकीधन्वयासाम्बुबिल्वानां वा रसे शृताः ।
मसूरपृश्निपर्ण्योर्वा स्थिरामुद्गरसेऽथवा ॥ ४५ ॥
रसे हरेणुकानां वा सघृते सबलारसे ।

सिद्धाः पारावतादीनां रसे वा स्युः पृथक्पृथक् ॥ ४६ ॥
इत्युक्ता रक्तपित्तघ्न्यः शीताः समधुशर्कराः ।
यवाग्वः,

४ धातक्यादिजलसाधित पेया——धाय के फूल, धमासा, गन्धबाला, बेलगिरी इनके रस में साधित अथवा—

५ मसूरादिजलसाधित पेया——मसूर और पृश्निपर्णी से सिद्ध की गई अथवा—

६ स्थिरादिजलसाधित पेया——शालपर्णी और मूंग के रस में साधित अथवा—

७ रेणुका के रस में अथवा ८ घृतयुक्त बलारस में अथवा ९ पारावत आदि के मांसरस में साधित यवागुएं रक्तपित्त में हितकर होती हैं । ५, ६, ९ संख्या की पेया में मसूर मूंग वा मांस की मात्रा रसप्रधान द्रव्य होने के कारण अधिक ली जायगी । यवागूसाधन में क्वाथ की परिभाषा सू० अ० २ (८३ पृष्ठ) और चि० अ० ३ (१९१२ पृष्ठ) पर कह चुके हैं ॥

इन रक्तपित्तनाशक यवागुओं को शीतल और मधु तथा खांड मिलाकर प्रयोग कराना चाहिये ॥ ४५—४६ ॥

कल्पना चैषां कार्या मांसरसेष्वपि ॥ ४७ ॥

इनकी कल्पना मांसरसों में भी करनी चाहिये । अर्थात् पेयासाधनार्थ पद्मकेशर आदि के रस जो अभी कहे गये हैं उनसे रक्तपित्त में प्रयोग किये जाने वाले मांसरसों को भी संस्कृत करना चाहिये ॥ ४७ ॥

शशः सवास्तुकः शस्तो विबन्धे रक्तपित्तिनाम् ।
वातोल्बणे तित्तिरिः स्यादुदुम्बररसे शृतः ॥ ४८ ॥

रक्तपित्त के रोगी को यदि विबन्ध हो तो वास्तुक (बथुआं) के साथ शशक के मांसरस को सिद्ध करना चाहिये । यदि रक्तपित्त

वातोल्वण हो तो गूलर के रस में साधित तीतर का मांसरस प्रशस्त है ॥ ४८ ॥

मयूरः प्लक्षनिर्यूहे न्यग्रोधस्य च कुक्कुटः ।
रसे बिल्वोत्पलादीनां[1] वर्तकक्रकरौ हितौ ॥ ४९ ॥

पाखर के रस में साधित मोर के मांस का रस, बट के रस में साधित मुर्गे के मांस का रस, बेलगिरी और उत्पल आदि के रस में साधित बटेर वा क्रकर (विष्किर पक्षी विशेष) का मांसरस हितकर होता है। इन में से उष्ण वीर्यद्रव्यों में रक्तपित्त को नष्ट करने का गुण संयोग की महिमा के कारण है ॥ ४९ ॥

तृष्यते तिक्तकैः सिद्धं तृष्णाघ्नं वा फलोदकम् ।
सिद्धं विदारिगन्धाद्यैरथवा भृतशीतलम् ॥ ५० ॥

रोगी को प्यास लगने पर तिक्तद्रव्यों से सिद्ध जल अथवा तृष्णाघ्न फलों (खजूर मुनक्का फालसा आदि) के रस अथवा विदारिगन्धादिगण (स्वल्प पञ्चमूल) से सिद्ध जल अथवा केवल जल को उबाल कर ठण्डा करके देना चाहिये ॥ ५० ॥

ज्ञात्वा दोषावनुबलौ बलमाहारमेव च ।
जलं पिपासवे दद्याद्विसर्गादल्पशोऽपि वा[2] ॥ ५१ ॥

प्यास लगने पर अनुबल दोष (वात कफ), रोगी के बल तथा आहार को जानकर यथेच्छ अथवा थोड़ा २ जल पिलावे ॥ ५१ ॥

निदानं रक्तपित्तस्य यत्किंचित्संप्रकाशितम् ।
जीवितारोग्यकामैस्तन्न सेव्यं रक्तपित्तिभिः ॥ ५२ ॥

जीवन वा आरोग्य की कामना वाला रक्तपित्त का रोगी रक्तपित्त का जो कुछ निदान कहा जा चुका है उसका सेवन न करे।

इत्यन्नपानं निर्दिष्टं क्रमशो रक्तपित्तिषु ।
वक्ष्यते बहुदोषाणां कार्यं बलवतां च यत् ॥ ५३ ॥

---

१ 'बिसोत्पलादीनां' ग० । २ 'दद्याद्बहुशो वाऽल्पशोपि वा' ग० ।

ये रक्तपित्त के रोगियों की यथाक्रम चिकित्सा कह दी है।

अब बलवान् तथा बहुत दोष वाले रोगियों का उपक्रम बताया जायगा ॥ ५३ ॥

अक्षीणबलमांसस्य यस्य संतर्पणोत्थितम् ।
बहुदोषं बलवतो रक्तपित्तं शरीरिणः ॥ ५४ ॥
काले संशोधनार्हस्य तद्धरेन्निरुपद्रवम् ।
विरेचनेनोर्ध्वभागमधोगं वमनेन च ॥ ५५ ॥

जो बलवान् (कालकृत बलयुक्त) है, जिसका बल (स्वाभाविक) और मांस क्षीण नहीं उसे यदि सन्तर्पण-जन्य बहुत दोष वाला तथा उपद्रवरहित रक्तपित्त हो तो संशोधनयोग्य पुरुष को उचितकाल में संशोधन कराना चाहिये। ऊर्ध्वभाग के रक्तपित्त को विरेचन द्वारा और अधोगत को वमन द्वारा नष्ट करे ॥ ५४-५५ ॥

त्रिवृतामभयां प्राज्ञः फलान्यारग्वधस्य वा ।
त्रायमाणागवाक्ष्योर्वा मूलमामलकानि वा ॥ ५६ ॥
विरेचनं प्रयुञ्जीत प्रभूतमधुशर्करम् ।
रसः प्रशस्यते तेषां रक्तपित्ते विशेषतः ॥ ५७ ॥

विरेचनयोग—त्रिवृता (निसोत) अथवा हरड़ अथवा अमलतास का फल अथवा त्रायमाणा और इन्द्रायण दोनों की जड़ अथवा आंवले; इनमें मधु और खांड प्रभूत मात्रा में मिश्रित कर प्रयोग कराना चाहिये। इनका रस रक्तपित्त में विशेषतः प्रशस्त है। जिसका रस निकल सकता है उसका रस और जिसका रस न निकल सके उस का क्वाथ करके प्रयोग कराना होता है। रस में मधु और खांड मिलाकर रोगी को पिलावें॥ ५६-५७ ॥

---

१ 'अक्षीणबलमांसस्येत्यनेन सहजा बलहानिरुच्यते, बलवत इत्यनेन कालकृतं बलमुच्यत इत्यपौनरुक्त्यम्' चक्रः।

वमनं मदनोन्मिश्रो मन्थः सक्षौद्रशर्करः ।
सशर्करं वा सलिलमिक्षूणां रस एव वा ॥ ५८ ॥

वमनयोग—मैनफल से युक्त मन्थ में मधु और खांड मिलाकर अथवा शरबत में या ईख के रस में मैनफल का चूर्ण डालकर वमन के लिये पिलाना चाहिये । द्रवालोडित सत्तुओं को मन्थ कहते हैं ५८

वत्सकस्य फलं मुस्तं मदनं मधुकं मधु ।
अधोगे रक्तपित्ते तु वमनं परमुच्यते ॥ ५९ ॥

वत्सकादियोग—इन्द्रजौ, मोथा, मैनफल, मुलहठी और मधु; इन्हें एकत्र मिश्रित कर वमनार्थ चटाना चाहिये । अथवा इन्द्रजौ मोथा और मुलहठी; इनका क्वाथ करके मैनफल का प्रक्षेप देकर मधु मिश्रित कर रोगी को पिलावें ।

अधोगत रक्तपित्त में वमन कराना प्रशस्त माना गया है ॥५९॥

ऊर्ध्वगे शुद्धकोष्ठस्य तर्पणादिक्रमो हितः ।
अधोवहे यवाग्वादिर्न चेत्स्यान्मारुतो बली ॥ ६० ॥

शुद्धि के अनन्तर क्रियाक्रम—ऊर्ध्वग रक्तपित्त में जब विरेचन द्वारा कोष्ठ शुद्ध हो जाय तब पूर्वोक्त तर्पण आदि का क्रम हितकर है । अधोगत रक्तपित्त में जब वमन द्वारा शुद्धि हो जाय और वायु बलवान् न हो तो पूर्वोक्त यवागू आदि क्रम हितकर होता है । वायु बलवान् होने पर मांसरस आदि क्रम कराना होगा ॥६०॥

बलमांसपरिक्षीणं शोकभाराध्वकर्शितम् ।
ज्वलनादित्यसंतप्तमन्यैर्वा क्षीणमामयैः ॥ ६१ ॥
गर्भिणीं स्थविरं बालं रूक्षाल्पप्रमिताशनम् ।
अवम्यमविरेच्यं वा यं पश्येद्रक्तपित्तिनम् ॥ ६२ ॥
शोषेण सानुबन्धं वा तस्य संशमनी क्रिया ।
शस्यते रक्तपित्तस्य परं चातः प्रवक्ष्यते ॥ ६३ ॥

---

१ ' अधोगमे ' ग. ।

संशमन चिकित्सा—जिसका मांस क्षीण हो, शोक भार उठाने वा बहुत चलने से जो कृश हो गया हो, अग्नि वा सूर्य के ताप से जो सन्तप्त हो अथवा अन्य रोगों से क्षीण हो, गर्भिणी, बूढ़ा, बालक, रूखा और मात्रा से अत्यल्प आहार करने वाला, जो वामनीय वा विरेचन के योग्य न हो अथवा जिसमें यक्ष्मा का अनुबन्ध हो; ऐसे रक्तपित्त के रोगी की संशमनचिकित्सा करनी चाहिये। वह संशमन-चिकित्सा अब कही जायगी ॥ ६१—६३ ॥

अटरूषकमृद्वीकापथ्याक्काथः सशर्करः ।
मधुमिश्रः श्वासकासरक्तपित्तनिबर्हणः ॥ ६४ ॥

आटरूषकादिक्काथ—अडूसा, मुनक्का, हरड़; इनके क्काथ में खांड और मधु मिलाकर रोगी को पिलावें। यह क्काथ श्वास कास और रक्तपित्त को नष्ट करता है ॥ ६४ ॥

अटरूषकनिर्यूहे प्रियङ्गुं मृत्तिकाञ्जने ।
विनीय लोध्रं क्षौद्रं च रक्तपित्तहरं पिबेत् ॥ ६५ ॥

आटरूषकक्काथ—रोगी अडूसे के यथाविधि साधित क्काथ में प्रियङ्गु, सोरठी मिट्टी (अभाव में फटकरी), अञ्जन (रसौंत), पठानी लोध और मधु यथायोग्य परिमाण में मिलाकर पीवे ॥ ६५ ॥

पद्मकं पद्मकिञ्जल्कं दूर्वां वास्तूकमुत्पलम् ।
नागपुष्पं च लोध्रं च तेनैव विधिना पिबेत् ॥ ६६ ॥

पद्माख, कमलकेसर, दूब, बथुआ, उत्पल (ईषत् नील क्षुद्रकमल), नागकेसर और लोध; इन्हें पूर्वोक्त विधि से पीवे। अर्थात् अडूसे के क्काथ में पद्माख आदि का कल्क और मधु मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ ६६ ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं मधु चाश्वशकृद्रसे ।
यवासभृङ्गरजसोर्मूलं वा गोशकृद्रसे ॥ ६७ ॥
विनीय रक्तपित्तघ्नं पेयं स्यात्तण्डुलाम्बुना ।

युक्तं वा मधुसर्पिर्भ्यां लिह्याद्धोश्वशकृद्रसम् ॥ ६८ ॥

घोड़े की लीद के रस में पुण्डरीककाष्ठ तथा मुलहठी का कल्क और शहद डालकर अथवा गौ के गोबर के रस में जवासे की जड़ और भांगरे की जड़ का चूर्ण डालकर तण्डुलोदक के साथ पीना चाहिये। ये योग रक्तपित्त नाशक हैं।

अथवा गौ के गोबर और घोड़े की लीद के रस में मधु और घी मिलाकर चटाना चाहिये ॥ ६७-६८ ॥

खदिरस्य प्रियङ्गूणां कोविदारस्य शाल्मलेः।
पुष्पचूर्णानि मधुना लिह्याद्वा रक्तपैत्तिकः ॥ ६९ ॥

खैर, प्रियङ्गु, कचनार, सेमल; इनके फूलों के चूर्णों को रक्तपित्त का रोगी मधु के साथ चाटे ॥ ६९ ॥

शृङ्गाटकानां लाजानां मुस्तखर्जूरयोरपि।
लिह्याच्चूर्णानि मधुना पद्मानां केशरस्य च ॥ ७० ॥

सिंघाड़ा, लाजा, मोथा और खजूर, कमल, नागकेसर अथवा कमलकेसर; इनके चूर्णों को मधु के साथ चाटे ॥ ७० ॥

धन्वजानामसृग्लिह्यान्मधुना मृगपक्षिणाम्।
सक्षौद्रं ग्रथिते रक्ते लिह्यात्पारावतं शकृत् ॥ ७१ ॥

जाङ्गलदेश में उत्पन्न मृग और पक्षियों के खून को मधु के साथ चाटे॥

यदि रक्त ग्रथित (गांठदार जमा हुआ) हो तो कबूतर की बीठ को शहद के साथ चाटे ॥ ७१ ॥

उशीरकालीयकलोध्रपद्मकप्रियङ्गुकाकट्फलशङ्खगैरिकाः।
पृथक्पृथक्[1] चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः ७२

---

१ 'पृथक् पृथगिति वीप्सायां प्रत्येकमुशीरादीनां चन्दनसमानां प्रयोगं दर्शयति, तथा चाष्टौ योगा भवन्ति; सशर्करा इति वचनेनात्र शर्करा समभागैव देया' चक्रः।

रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः ।

रक्तपित्तनाशक अन्य योग—खस, कालीयक (सुगन्धि पीतकाष्ठ), लोध, पद्माख, प्रियङ्गु के फूल, कट्फल, शङ्खभस्म, शोधित स्वर्णगैरिक; इन्हें पृथक् पृथक् चन्दन के समान लेकर और खांड मिलाकर चावलों के धोवन के जल के साथ आलोडित कर पिलावें । ये आठ योग हैं । उशीर (खस) आदि प्रत्येक द्रव्य के साथ चन्दन चूर्ण समभाग में मिलाकर समभाग ही खांड मिलावे । आठ योगों में से किसी एक योग को तण्डुलोदक में डालकर रोगी पीवे । ये योग रक्तपित्त, तमक-श्वास, पिपासा (तृष्णा), दाह; इन्हें शीघ्र शान्त करते हैं ॥७२॥

किराततिक्तं कमुकं समुस्तं प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च ॥ ७३ ॥
ह्रीबेरमूलानि पटोलपत्रं दुरालभा पर्पटको मृणालम् ।
धनञ्जयोदुम्बरवेतसत्वङ्न्यग्रोधशालेययवासकत्वक्[1] ॥ ७४ ॥
तुगालताकेशरतण्डुलीयं[2] ससारिवं मोचरसः समङ्गा ।
पृथक् पृथक् चन्दनयोजितानि तेनैव कल्पेन हितानि तत्र ॥७५॥
निशि स्थिता वा स्वरसीकृता वा कल्कीकृता वा मृदिता शृता वा ।
एते समस्ता गणशः पृथग्वा रक्तं सपित्तं शमयन्ति[3] योगाः ॥७६॥

चिरायता, पट्टिकालोध्र, मोथा, पुण्डरीककाष्ठ, कमल, उत्पल (ईषत् नील क्षुद्रकमल), गन्धबाला की जड़ें, पटोलपत्र, दुरालभा, पित्तपापड़ा, मृणाल (कमलनाल), धनञ्जय (अर्जुन की छाल), गूलर की छाल, वेतस की छाल, वट की छाल, शालेय (जामुन अथवा चाणाक्यमूलक), की छाल, यवासक की त्वचा, वंशलोचन, लता (श्यामालता अथवा मञ्जिष्ठा या दूब), नागकेसर, तण्डुलीय (चौलाई), शारिवा (अनन्तमूल), मोचरस, समङ्गा (लज्जालु-लाजवन्ती); इन्हें पृथक् पृथक् चन्दन के साथ मिलाकर पूर्वोक्त प्रकार से पिलाना हितकर होता है । चिरायता आदि प्रत्येक द्रव्य को पृथक् २ चन्दन के साथ मिलाने से पृथक् २ योग बनते हैं । प्रत्येक

---

१ '०वत्सकत्वङ्०' ग. । २ 'वेतसतण्डुलीयं' पा० । ३ 'शमयत्युदीर्णम्' ग.

योग में खांड मिश्रित कर तण्डुलोदक के साथ प्रयोग कराना चाहिये।

इन सब द्रव्यों को व्यस्त (एक एक) वा समस्त (गण) रूप में शीतकषाय, स्वरस, कल्क, फाण्ट वा क्वाथ करके प्रयोग कराया जाता है। ये रक्तपित्त को शान्त करते हैं। समस्त रूप में प्रयोग करते समय चन्दन १ भाग डालना चाहिये ॥ ७६ ॥

मुद्गाः सलाजाः सयवाः सकृष्णाः सोशीरमुस्ताः सह चन्दनेन।
[१]बलाजले पर्युषितः [२]कषायो रक्तं सपित्तं शमयत्युदीर्णम् ॥ ७७ ॥

बला के क्वाथ में मूंग, लाजा, जौ, पिप्पली, खस, मोथा, चन्दन इनका अधकुटा चूर्ण डालकर रात भर पड़ा रहने दें। प्रातः छानकर पीवें। यह प्रवृद्ध रक्तपित्त को शान्त करता है।

अथवा 'बलाजल' कहने से अर्धश्रृत जल(षडङ्गपानीयविधि द्वारा साधित जल) का ग्रहण करना चाहिये। अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० ३ में—

'चन्दनोशीरजलदलाजमुद्गकणायवैः।
बलाजले पर्युषितैः कषायो रक्तपित्तहा ॥'

बलाजल ६ पल में मूंग आदि का अधकुटा चूर्ण १ पल डाल कर रात भर पड़ा रहने दें। दूसरे दिन प्रातः छान कर रोगी को मात्रा में प्रयोग करावें ॥ ७७ ॥

[३]वैडूर्यमुक्तामणिगैरिकाणां मृच्छङ्खहेमामलकोदकानाम्।
मधूदकस्येक्षुरसस्य चैव पानाच्छमं गच्छति रक्तपित्तम् ॥ ७८ ॥

वैडूर्य (मणिविशेष) भस्म, मोतीभस्म, गेरू, सोरठी मिट्टी (अभाव में फटकरी), शङ्ख, हेम (सुवर्ण अथवा नागकेसर), आंवला; गन्धबाला; इनके चूर्ण को जल के साथ पीवें अथवा वैदूर्य (लहसुनिया) आदि के चूर्ण को जल में डाल कर आलोडित कर दें। पश्चात नितार कर जल पीवें। यह रक्तपित्त को शान्त करता है।

---

१ 'बलाजले इति बलासाधितार्धश्रृतजले, पर्युषितः कषायः शीतकषायः' चक्रः। २ 'पर्युषिताः कषायाः' ग.। ३ 'वैडूर्यादिना सह स्थितं जलं वैदूर्यादिजलं ज्ञेयम्' चक्रः।

अथवा शहद का शरबत या ईख के रस को पीने से रक्तपित्त शान्त होता है ॥ ७८ ॥

उशीरपद्मोत्पलचन्दनानां पक्वस्य लोष्टस्य च यः प्रसादः।
सशर्करः क्षौद्रयुतः सुशीतो रक्तातियोगप्रशमाय देयः ॥ ७९ ॥

खस, पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल), चन्दन, इनके अर्ध कुट्टित चूर्ण को जल में डालें और रात भर पड़ा रहने के पश्चात् ऊपर से जल नितार लें अथवा पके हुए मिट्टी के ढेले को पानी में डाल दें जो ऊपर का स्वच्छ जल हो उसे नितार लें। इस अत्यन्त शीतल नितारे जलों में खांड वा मधु डालकर अत्यधिक रक्तस्राव की शान्ति के लिये पीना चाहिये । अथवा अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ के अनुसार इसे एक योग भी मान सकते हैं । उशीर आदि तथा पका हुआ मिट्टी का ढेला एक वार में ही षड्गुण जल में आलोडित करके उचित काल तक स्थिर रखने के पश्चात् उपरितन स्वच्छ भाग नितार सकते हैं—

'प्रसादश्चन्दनाम्भोजसेव्यमृद्भृष्टलोष्टजः ।
सुशीतः ससिताक्षौद्रः शोणितातिप्रवृत्तिजित् ॥'

इसमें उत्पल के स्थल मृत्तिका डाली गई है ।

प्रियङ्गुकाचन्दनलोध्रसारिवामधूकमुस्ताभयधातकीजलम् ।
समृत्प्रसादं सह षष्टिकाम्बुना सशर्करं रक्तनिवर्हणं परम् ॥ ८० ॥

प्रियंगु, चन्दन, लोध, अनन्तमूल, महुए के फूल, मोथा, खस, धाय के फूल; इनके जल को पकी हुई मिट्टी के स्वच्छ जल के साथ (अथवा सोरठी मिट्टी को जल में डालने से उसका जल में विलीन होने वाला अंश जब घुल जाय तो ऊपर के स्वच्छ जल को नितार लें और उसे प्रियंगु आदि के जल वा शीतकषाय में मिलादें) और षष्टिकतण्डुलों के जल के साथ खांड डालकर रोगी को पिलावें । प्रियंगु आदि के जल में मिट्टी का नितारा हुआ जल और तण्डुलोदक मिलाकर खांड वा मिसरी डालकर रोगी को पिलावें । यह रक्तपित्त

के प्रवाह को रोकने में अत्यन्त उत्कृष्ट है। अष्टाङ्गसंग्रह में यह योग इस प्रकार है—

'तद्वदच्छः सितालोध्रमधुकोशीरचन्दनात्।
मृच्छयामाशारिवामुस्ताधातकीषष्टिकान्वितात् ॥'

इसके अनुसार जल में एक बार ही खांड लोध मुलहठी खस चन्दन कृष्णमृत्तिका अनन्तमूल मोथा धाय के फूल और सांठी के चावल डालकर जो स्वच्छ जल नितारा जाय वह रोगी को पिलाना चाहिये ॥ ८० ॥

कषाययोगैर्विविधैर्यथोक्तैर्दीप्तेऽनले श्लेष्मणि निर्जिते च।
यद्रक्तपित्तं प्रशमं न याति तत्रानिलः स्यादनु तत्र कार्यम् ८१
छागं पयः स्यात्परमं प्रयोगे गव्यं शृतं पञ्चगुणे जले वा।
सशर्करं माक्षिकसंप्रयुक्तं विदारिगन्धादिगणैः शृतं वा ॥ ८२ ॥

इन कहे गये विविध प्रकार के कषाययोगों से अग्नि के दीप्त होने पर और कफ के जीते जाने पर जो रक्तपित्त शान्त नहीं होता वहां वात को प्रवृद्ध जानना चाहिये।

वहां प्रथम बकरी का दूध अथवा पांच गुने जल में सिद्ध किया गया गौ का दूध अथवा स्वल्पपञ्चमूल से यथाविधि साधित गौ का दूध जिसमें खांड और मधु मिलाया हो पिलाना चाहिये ॥ ८२ ॥

द्राक्षाशृतं नागरकैः शृतं वा बलाशृतं गोक्षुरकैः शृतं वा।
सजीवकं सर्षभकं ससर्पिः पयः प्रयोज्यं सितया शृतं वा ॥ ८३ ॥

द्राक्षा, सोंठ, बलामूल, गोखरू, इनमें से किसी एक से यथाविधि साधित दूध में खांड डालकर रोगी को पिलाना चाहिये। अथवा उबाले हुए दूध में जीवक, ऋषभक और घी का प्रक्षेप देकर खांड मिलाकर पिलाना चाहिये ॥ ८३ ॥

शतावरीगोक्षुरकैः शृतं वा शृतं पयो वाऽप्यथ पर्णिनीभिः।

---

१ 'प्रथमं' पा०।

रक्तं हिनस्त्याशु विशेषतस्तु यन्मूत्रमार्गात्सरुजं प्रयाति ॥ ८४ ॥

मूत्रमार्ग से प्रवृत्त रक्तपित्त में योग—शतावरी और गोखरू से साधित अथवा मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी; इन चारों पर्णियों से साधित दूध रक्तपित्त को नष्ट करता है विशेषतः उस रक्तपित्त को जो वेदना के साथ मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होता है ॥ ८४ ॥

विशेषतो विट्पथसंप्रवृत्ते पयो हितं मोचरसेन सिद्धम् ।
वटावरोहैर्वटशुङ्गकैर्वा ह्रीबेरनीलोत्पलनागरैर्वा ॥ ८५ ॥

गुदा से प्रवृत्त रक्तपित्त के नाशक योग—विशेषतः गुदा से प्रवृत्त होने वाले रक्तपित्त में मोचरस से साधित दूध हितकर होता है । अथवा वटजटा या वटाङ्कुर अथवा गन्धबाला नीलोत्पल और सोंठ; इनसे यथाविधि सिद्ध किया गया दूध प्रशस्त है ॥ ८५ ॥

कषाययोगान्पयसा पुरा वा पीत्वा तु चाद्यात्पयसैव शालीन् ।
कषाययोगैरथवा विपक्वमेतैः पिबेत्सर्पिरतिस्रुते च ॥ ८६ ॥

अथवा दूध के साथ कहे गये अटरूषकादि क्वाथ प्रभृति कषाय-योगों को पूर्व पीकर दूध के साथ ही शालि का ओदन खावे । अथवा उन योगों से यथाविधि गव्यघृत को सिद्धकर रक्त के अतिस्राव में पीना चाहिये । जो संशमनार्थ कषाययोग पूर्व कहे गये हैं उन योगों के चूर्णों को दूध के साथ पीकर दूध के साथ ही शालि चावलों का ओदन खाना चाहिये । गंगाधर कषाययोगों से दूध को सिद्ध करने को कहता है । और संस्कृत दूध को पीकर उसी संस्कृत दूधके साथ ही ओदन को भी खाने का विधान करता है । लाभ दोनों ही प्रकार से होगा ॥ ८६ ॥

वासाघृतम्

वासां सशाखां सपलाशमूलां कृत्वा कषायं कुसुमानि चास्य ।

---

१ ' सफलां समूलां ' ग. ।

प्रदाय कल्कं विपचेद् घृतं तत्सक्षौद्रमाश्वेव निहन्ति रक्तम् ॥ ८७ ॥

इति वासाघृतम् ।

वासाघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—अडूसे की शाखा पत्ते और जड़ मिलाकर ४ प्रस्थ, पाकार्थ जल ३२ प्रस्थ, शेष क्वाथ ४ प्रस्थ । कल्कार्थ—अडूसे के फूल ४ पल । यथाविधि घृतपाक करें । मात्रा—आधा तोला । इस घृत में चतुर्थांश मधु मिलाकर प्रयोग करने से शीघ्र ही रक्तपित्त नष्ट होता है । इसमें कल्कार्थ अडूसे के फूल की मात्रा का निर्धारण—

'शणस्य कोविदारस्य वृषस्य ककुभस्य च ।
कल्काढ्यत्वात् पुष्पकल्कं प्रस्थे पलचतुष्टयम् ॥'

इस परिभाषा के अनुसार किया जाता है । यद्यपि सामान्य परिभाषा के अनुसार क्वाथ को चतुर्थांश रखने का विधान है परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार आठ गुने जल में क्वाथकर अष्टमांश अवशिष्ट रखा जाता है ।

'समूलमस्तकं क्षुण्णं वृषमष्टगुणेऽम्भसि ।
पक्त्वाष्टांशावशेषेण घृतं तेन विपाचयेत् ॥
तत्पुष्पगर्भं तच्छीतं सक्षौद्रं पित्तशोणितम् ।
पित्तगुल्मज्वरश्वासकासहृद्रोगकामलाः ।
तिमिरभ्रमवीसर्पस्वरसादांश्च नाशयेत् ॥' चि० अ० ३ ॥

यहां पर भी घृत और क्वाथ का परिमाण नहीं दिया । अतएव कई क्वाथ को अष्टमांश अवशिष्ट रख कर भी घी से चौगुना ही लेते हैं । परन्तु प्रायः व्यवहार उपर्युक्त परिमाण से ही होता है । अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु तो अन्य ही परिमाण में लेने को कहता है । उसके अनुसार १६ पल (१ प्रस्थ) अडूसा लेकर १२८ पल जल में कार्ढ़ें, जब ३२ पल (२ प्रस्थ) रह जाय तब २ प्रस्थ घी को चतुर्थांश अथवा शौनक के मतानुसार छठाभाग अडूसे के फूलों

का कल्क लेकर यथाविधि सिद्ध करें ॥ ८७ ॥

पलाशवृन्तस्य रसेन सिद्धं तस्यैव कल्केन मधुद्रवं हि ।
लिह्याद्घृतं वत्सककल्कसिद्धं तद्वत्समङ्गोत्पललोध्रसिद्धम् ॥८८॥
स्यात् त्रायमाणाविधिरेष एव सोदुम्बरे चैव पटोलपत्रे ।

अन्य घृतयोग—घी को पलाश (ढाक) के पत्तों के वृन्तों (जिसके द्वारा पत्ता शाखा से बन्धा रहता है) के स्वरस और उसी के कल्क से यथाविधि सिद्ध करें। इस घृत में चतुर्थांश मधु मिलाकर रोगी चाटे। घृत की मात्रा—आधा तोला ॥

इन्द्रजौ वा कुटज के कल्क से यथाविधि सावित घृत और उसी प्रकार समङ्गा(मञ्जिष्ठा वा लाजवन्ती) नीलोत्पल और लोध (कल्क) से सिद्ध किये गये घी को शहद के साथ रक्तपित्त का रोगी चाटे। त्रायमाणा की तथा गूलर और पटोलपत्र की भी यही विधि है। त्रायमाणा (कल्क) से सिद्ध तथा गूलर और पटोलपत्र (कल्क) में सिद्ध घी में मधु मिलाकर प्रयोग कराना रक्तपित्त में हितकर है। अ० सं० चि अ० ३ में—

'पलाशवृन्तस्वरसे तद्गर्भं च घृतं पचेत् ।
सक्षौद्रं तच्च रक्तघ्नं तद्वद्वत्सकसावितम् ॥
लोध्रोत्पलसमङ्गाभिस्तथैव त्रायमाणया ॥' ८८ ॥

सर्पींषि पित्तज्वरनाशनानि सर्वाणि शस्तानि च रक्तपित्ते ॥८९॥

पित्तज्वर के नष्ट करने वाले सब के सब घृत रक्तपित्त में प्रशस्त हैं ॥ ८९ ॥

अभ्यङ्गयोगाः परिषेचनानि सेकावगाहाः शयनानि वेश्म ।
शीतो विधिर्बस्तिविधानमग्र्यं पित्तज्वरे यत्प्रशमाय दृष्टम् ॥९०॥
तद्रक्तपित्ते निखिलेन कालं च मात्रां च पुरा समीक्ष्य ।
सर्पिर्गुडा ये च हिताः क्षतेभ्यस्ते रक्तपित्तं शमयन्ति सद्यः ॥९१॥

पित्तज्वर(दाहज्वर)की शान्ति के लिये जो अभ्यङ्ग योग, परिषेचन,

---

१ 'मधुद्रवमिति पादिकेन मधुना द्रवीकृतं' चक्रः । 'मधुद्रुमेण' ग. ।

सेक (चन्दनोदक आदि की फुहार से सींचना), अवगाह, शयन (बिछौना आदि), धारागृह आदि गृह, शीतल विधान और श्रेष्ठ वस्तियां कही गई हैं वे सब के सब उपचार मात्रा और काल की विवेचना करके रक्तपित्त में भी प्रयोग कराने चाहियें।

और जो उरःक्षत के रोगियों के लिये सर्पिर्गुड हितकर हैं वे भी शीघ्र रक्तपित्त को शान्त करते हैं। सर्पिर्गुड उसी अधिकार में कहे जायंगे ॥ ९०—९१ ॥

कफानुबन्धे रुधिरे सपित्ते कण्ठागमे स्याद्ग्रथिते प्रयोगः।
युक्तस्य युक्त्या[1] मधुसर्पिषोश्च क्षारस्य चैवोत्पलनालजस्य[2] ॥ ९२ ॥

रक्तपित्त में जब कफ का अनुबन्ध हो और ग्रथित होने के कारण रक्त कण्ठ में रुकता हो तो कमल के नाल के क्षार के साथ मधु और घृत को मात्रा में युक्तिपूर्वक मिलाकर प्रयोग कराना चाहिये ॥ ९२ ॥

मृणालपद्मोत्पलकेशराणां तथा पलाशस्य तथा प्रियङ्गोः।
तथा मधूकस्य तथाऽसनस्य क्षाराः प्रयोज्या विधिनैव तेन ॥९३॥

इसी विधिसे कमलनाल,कमलके केसर और नीलोत्पलके केसर;इनके क्षार का, पलाश (ढाक) के क्षार का, प्रियङ्गु के क्षार का, महुए के क्षार का तथा असन के क्षार का प्रयोग करना चाहिये। अर्थात् क्षार में मधु और घृत मिलाकर चटाना चाहिये ॥ ९३ ॥

शतमूल्यादिघृतम्।

शतावरीदाडिमतिन्तिडीकं काकोलिमेदे मधुकं विदारीम्।
पिष्ट्वा च मूलं फलपूरकस्य घृतं पचेत्क्षीरचतुर्गुणेन ॥ ९४ ॥
कासज्वरानाहविबन्धशूलं तद्रक्तपित्तं च घृतं निहन्यात्।
इति शतमूल्यादिघृतम्।

शतमूल्यादिघृत—घी २ प्रस्थ। गौ का दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—शतावर,

---

१ 'युक्तस्ये युक्त्येति मात्रया युक्तस्य, युक्तिशब्दोऽत्र मात्रावचनः' चक्रः।
२ 'यद्यपि च क्षारस्तीक्ष्णस्तथाऽपि कण्ठस्थितकफविलयनार्थमुत्पलनालादिकृतः क्षारो दीयत एव, एवंभूत-रक्तपित्तहरत्वप्रभावात्' चक्रः।

अनारदाना वा अनार का छिलका, तिन्तिडीक(विषांबिल),काकोली, मेदा, मुलहठी, बिदारीकन्द, बिजौरे की जड़, मिलित १ शराव। यथाविधि घृत सिद्ध करें। यह घृत कास,ज्वर,आनाह, विबन्ध, शूल और रक्तपित्त को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ३ में—

'घृतं क्षीरेण साधयेत्।
पिष्टैरभीरुकाकोलीमेदावृक्ताम्लदाडिमैः ॥
फलपूरकमूलेन विदार्या मधुकेन च।
तद्विबन्धज्वरानाहशूलकासास्रपित्तजित् ॥

शिवदास आदि तो 'काकोल्यादिमेदे' में मध्यपदलोपी समास करते हैं। जिससे अर्थ यह होता है कि काकोली युक्त दोनों मेदा अर्थात् मेदा और महामेदा। क्योंकि तन्त्रान्तर में कहा है—

'काकोली मधुकं मेदे तिन्तिडीकं सदाडिमम्।
शतावरीं विदारीञ्च बीजपूरजटान्विताम् ॥
पिष्ट्वा चतुर्गुणे तोये पक्वमाज्यं ज्वरापहम् ॥'

परन्तु इसे दूसरा योग ही समझना चाहिये। क्योंकि वहां द्रव दूध है और यहां जल है। अष्टाङ्गसंग्रह में मेदा ही पठित है, महामेदा नहीं ॥ ९४ ॥

यत्पञ्चमूलैरथ पञ्चभिर्वा सिद्धं घृतं तच्च तदर्थकारि ॥ ९५ ॥

पञ्चपञ्चमूलघृत——पांचों पञ्चमूलों से यथाविधि साधित घृत भी रक्तपित्त कास ज्वर आनाह मलबन्ध और शूल को नष्ट करता है। यह घृत क्वाथ और कल्क दोनों से सिद्ध किया जायगा। पांचों पञ्चमूल प्रथम अध्याय में कहे गये ब्राह्मरसायन में (१९९८ पृष्ठ पर) बताये जा चुके हैं। उनके क्रमशः ये नाम भी हैं १ क्षुद्रपञ्चमूल २ महत्पञ्चमूल ३ मध्यपञ्चमूल ४ जीवनपञ्चमूल ५ तृणपञ्चमूल। कई व्याख्याकारों ने मध्यपञ्चमूल को वल्लीपञ्चमूल और जीवनपञ्चमूल को कण्टकीपञ्चमूल नाम से अभिहित किया है ॥ ९५ ॥

कषाययोगा य इहोपदिष्टास्ते चावपीडे भिषजा प्रयोज्याः।

घ्राणात्प्रवृत्तं रुधिरं सपित्तं यदा भवेन्निःस्रुतदुष्टदोषम् ॥ ९६ ॥

नस्य—जब नाक से रक्तपित्त प्रवृत्त हो तो आदि में ही उसे रोकने का प्रयत्न न करना चाहिये। जब देखे कि दुष्ट दोष निकल गया है तब उसे रोकें। रोकने के लिये जो कषाययोग इस अध्याय में कहे गये हैं उनका नथुनों में अवपीड देना चाहिये।

द्रव्य को कुचल कर स्वच्छ वस्त्रखण्ड में डाल कर निचोड़ने से जो रस की बूंदें निकलती हैं, वे बूंदें यदि नथुनों में डाली जांय तो उसे अवपीड कहते हैं। अन्यत्र कहा भी है—

'अवपीड्य दीयते यस्मादवपीडस्ततस्तु सः ॥

ये दो प्रकार का होता है १ शोधन और २ स्तम्भन। इस अध्याय में पूर्व जितने अन्तःप्रयोगार्थ क्वाथ चूर्ण आदि संशमन कषाययोग कहे गये हैं प्रायशः अवपीड द्वारा स्तम्भन होने से प्रवृत्त हुए दूषित रक्तपित्त को रोकने के कारण उनका प्रारम्भ प्रारम्भ में प्रयोग हितकर नहीं॥

रक्ते प्रदुष्टे ह्यवपीडबन्धे दुष्टप्रतिश्यायशिरोविकाराः ।
रक्तं सपूयं कुणपश्च गन्धः स्याद्घ्राणनाशः कृमयश्च दुष्टाः ॥ ९७॥

दुष्ट रक्त के स्तम्भन से हानि—यदि रक्त दुष्ट हो और अवपीड के प्रयोग से उसका स्तम्भन कर दिया जाय तो दुष्ट प्रतिश्याय(जुकाम) और शिरोरोग होजाता है, अथवा पूययुक्त रक्तस्राव होता है, मुर्दे की सी गन्ध आती है, घ्राणेन्द्रिय का नाश होता है अर्थात् गन्ध का ज्ञान नहीं होता और नाक के अन्दर दुष्ट कृमि उत्पन्न होजाते हैं ॥ ९७ ॥

नीलोत्पलं गैरिकशङ्खयुक्तं सचन्दनं स्यात्तु सिताजलेन ।
नस्यं तथाऽऽम्रास्थिरसः समङ्गा सधातकी मोचरसः सलोध्रः ९८

नस्य के अन्य योग—नीलोत्पल, गेरूमिट्टी, शङ्खभस्म, श्वेत चन्दन; इनके कल्क को शरबत से अच्छी प्रकार पीसकर अवपीड दें। आम की गुठली की मज्जा के रस की बूंदें नाक से निचोड़ें। लाजवन्ती व मञ्जिष्ठा को धाय के फूल के साथ जल में पीसकर अव-

पीड दें । अथवा मोचरस और लोध को जल से पीसकर नथुनों में रस निचोड़ें ॥ ९८ ॥

द्राक्षारसस्येक्षुरसस्य नस्यं क्षीरस्य दूर्वास्वरसस्य चैव ।
यवासमूलानि पलाण्डुमूलं नस्यं तथा दाडिमपुष्पतोयम् ॥ ९९ ॥

अंगूर वा मुनक्के के रस की अथवा ईख के रस की अथवा दूध की अथवा दूब के स्वरस की अथवा जवासे की जड़ के रस की अथवा प्याज के रस की अथवा अनार के फूल के रस की नस्य देनी चाहिये। अन्यत्र भी कहा है—

'नस्यं दाडिमपुष्पोत्थो रसो दूर्वाभवोऽथवा ।
आम्रास्थिजः पलाण्डोर्वा नासिकास्रुतरक्तजित्' ॥९९॥

प्रियालतैलं मधुकं पयश्च सिद्धं घृतं माहिषमाजकं वा ।
आम्रास्थिपूर्वैः पयसा च नस्यंससारिवैः स्यात्कमलोत्पलैश्च १००

पियाल के तेल का नस्य वा मुलहठी को दूध के साथ पीसकर उसका अवपीड देना चाहिये अथवा पियाल के तैल को मुलहठी के कल्क और दूध के साथ यथाविधि सिद्ध करके उस तैल का नस्य देना चाहिये । भैंस और बकरी के घी को आम की गुठली की मज्जा का रस, द्राक्षा-रस (अथवा मुनक्के का क्वाथ), गन्ने का रस, गौ का दूध, दूब का रस, जवासे की जड़ का रस, प्याज का रस, अनार के फूलों का रस; इनसे तथा लाजवन्ती, धाय के फूल, मोचरस और लोध, इनके कल्क से यथाविधि पकावें । सब द्रव घी के समान लिये जांयगे और मिलित कल्क द्रव्य घी से चतुर्थांश । इस घी का नस्य हितकर होता है। अथवा भैंस और बकरी के घी को दूध के साथ अनन्तमूल कमल और नीलोत्पल के फूलों के कल्क से यथाविधि पकावें । इसका नस्य हितकर है । नस्यार्थ स्नेहपाक में स्नेह का मान ८ पल लिया जाता है ॥ १०० ॥

भद्रश्रियं लोहितचन्दनं च प्रपौण्डरीकं कमलोत्पले च ।
उशीरवानीरजलं मृणालं सहस्रवीर्या मधुकं पयस्या ॥ १०१ ॥

शालीक्षुमूलानि यवासगुन्द्रामूलं नलानां कुशकाशयोश्च ।
कुचन्दनं शैवलमप्यनन्ता कालानुसार्या तृणमूलमृद्धिः ॥१०२॥
मूलानि पुष्पाणि च वारिजानां प्रलेपनं पुष्करिणीमृदश्च ।
उदुम्बराश्वत्थमधूकलोध्राः कषायवृक्षाः शिशिराश्च सर्वे ॥ १०३॥
प्रदेहकल्पे परिषेचने च तथाऽवगाहे घृततैलसिद्धौ ।
रक्तस्य पित्तस्य च शान्तिमिच्छन् भद्रश्रियादीनि भिषक्प्रयुञ्ज्यात्॥

भद्रश्रिय (श्वेत चन्दन), लालचन्दन, प्रपौण्डरीक (पुण्डरीक-काष्ठ), कमल, नीलोत्पल, खस, वानीर (जलबेतस), जल (गन्धबाला), मृणाल (कमलनाल), सहस्रवीर्या (दूब), मुलहठी, क्षीरकाकोली, शालि की जड़, ईख की जड़, जवासे की जड़, गुन्द्रा (तृणविशेष) की जड़, नल (नडा) की जड़, कुश की जड़, काश की जड़, कुचन्दन (बकम काष्ठ), शैवल (पद्माख अथवा जलनीली जो जल में हरी हरी तैरती है), अनन्ता (अनन्तमूल अथवा धमासा), कालानुसार्या (तगर), तृणमूल (गन्धतृण की जड़), ऋद्धि, कमलों की जड़ें और फूल, पुष्करिणी (तालाब) की मिट्टी का प्रलेप, गूलर, महुआ, लोध तथा कषाय रस वाले एवं शीतल वृक्ष; इन भद्रश्रिय आदि औषधों को रक्तपित्त की शान्ति की इच्छा से प्रदेह, परिषेचन, अवगाह, तथा घी तैल के संस्कारों द्वारा प्रयोग करे । पुष्करिणी की मिट्टी का केवल लेप द्वारा ही प्रयोग होगा ॥ १०१–१०४ ॥

धारागृहं भूमिगृहं च शीतं वनं च रम्यं जलवातशीतम् ।
वैदूर्यमुक्तामणिभाजनानां स्पर्शाश्च दाहे शिशिराम्बुशीताः॥१०५॥

दाह में शीतल धारागृह (जिन गृहों में फव्वारे हों अथवा जहां छिद्रित नलों का ऐसा प्रबन्ध हो जिन से पानी की धारायें गिरती हों), शीतल भूमिगृह (तहखाना), में निवास, जल और वायु से शीतल सुन्दर वनों में विचरण, वैदूर्य (लहसुनिया), मोती, कांस्य

१ 'भूरिवराधारायुक्तं गृहं धारागृहं' चक्रः ।

आदि से निर्मित पात्रों के शीतल जलों से किये गये शीतल स्पर्श अर्थात् चन्दनोदक आदि अथवा हिम से शीतल जलों से सिक्त वैदूर्य मोती आदि मणि तथा इन्हीं शीतल जलों से भरे कांस्यपात्र आदि का स्पर्श हितकर होता है ॥ १०५ ॥

पत्राणि पुष्पाणि च वारिजानां क्षौमं च शीतं कदलीदलं च ।
प्रच्छादनार्थं शयनासनानां पद्मोत्पलानां च दलाः प्रशस्ताः १०६

जल में उत्पन्न होने वाले कमल आदियों के पत्ते और फूल, शीतल क्षौम के वस्त्र, केले का पत्ता, तथा पद्म (ईषत् श्वेत क्षुद्रकमल) और नीलोत्पल के पत्ते बिछौने और आसनों पर बिछाने के लिये प्रशस्त हैं। रोगी इन पर लेटे वा बैठे॥ १०६ ॥

प्रियङ्गुकाचन्दनरूषितानां स्पर्शाः प्रियाणां च वराङ्गनानाम् ।
दाहे प्रशस्ताः सजलाः सुशीताः पद्मोत्पलानां च कलापवाताः[1] १०७

दाह में प्रियंगु और श्वेतचन्दन से लिप्त अङ्गों वाली प्रिय वराङ्गनाओं (युवती स्त्रियों) के स्पर्श, सुशीतल जल युक्त पद्म और उत्पलों का स्पर्श एवं कलापवात अर्थात् मोरपंख से बने पङ्खों का डुलाना प्रशस्त है ॥ १०७ ॥

सरिद्ध्रदानां हिमवद्दरीणां चन्द्रोदयानां कमलाकराणाम् ।
मनोऽनुकूलाः शिशिराश्च सर्वाः कथाः सरक्तं शमयन्ति पित्तम् १०८

नदियों, ह्रदों (प्राकृतिक जलाशय), हिमालय की कन्दराओं, चांदनी रातों और तालाबों का सेवन मन के अनुकूल और शीतल-शान्ति देने वाली सब कथायें रक्तपित्त को शान्त करती हैं ॥१०८॥

तत्र श्लोकौ ।

हेतुं वृद्धिं संज्ञां[2] स्थानं लिङ्गं पृथक् प्रदुष्टस्य ।

---

१ 'पद्मोत्पलानां च कलापवाता इति पद्मोत्पलसमूहकृतवाता इत्यर्थः' चक्रः ।
२ 'संख्यास्थानं' ग. ।

मार्गौ साध्यमसाध्यं याप्यं कार्यक्रमं चैव ॥ १०६ ॥
पानान्नमिष्टमेव च वर्ज्यं संशोधनं च शमनं च ।
गुरुरुक्तवान् यथावच्चिकित्सिते रक्तपित्तस्य ॥ ११० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
रक्तपित्तचिकित्सितं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।

रक्तपित्त का हेतु, बढ़ना, संज्ञा (नाम का निर्वचन), स्थान, पृथक् पृथक् लक्षण, दोनों मार्ग, साध्यता, असाध्यता, याप्यता, चिकित्साक्रम, हितकर अन्नपान, त्याज्य पदार्थ, संशोधन और संशमन; ये सब गुरु ने रक्तपित्तचिकित्सित नामक अध्याय में कह दिये हैं १०६–११०

इति रक्तपित्तचिकित्सा ।

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातो गुल्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम गुल्मचिकित्सित की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

सर्वप्रजानां पितृवच्छरण्यः पुनर्वसुर्भूतभविष्यदीशः ।
चिकित्सितं गुल्मनिबर्हणार्थं प्रोवाच सिद्धं वदतां वरिष्ठः ॥ २ ॥

सब प्राणियों के लिये पिता के समान हितकर, भूत और भविष्यत के जानने वाले, वाग्मियों में श्रेष्ठ भगवान् पुनर्वसु ने गुल्म के नाश के लिये प्रत्यक्ष फलप्रद अनुभूत चिकित्सा का उपदेश किया ॥२॥

विट्श्लेष्मपित्तातिपरिस्रवाद्वा तैरेव वृद्धैरतिपीडनाद्वा ।
वेगैरुदीर्णैर्विहतैरधो वा बाह्याभिघातैरतिपीडनैर्वा ॥ ३ ॥
रूक्षान्नपानैरतिसेवितैर्वा शोकेन मिथ्याप्रतिकर्मणा वा ।

१ 'सिद्धमिति साध्याव्यभिचारि सर्वमेव चिकित्सितं यद्यपि सिद्धमेव वक्तव्यं, तथाऽप्यारब्धप्रकरणे स्तुत्यर्थं सिद्धपदं ज्ञेयं' चक्रः ।

विचेष्टितैर्वा विषमातिमात्रैः कोष्ठे प्रकोपं समुपैति वायुः ॥ ४ ॥

गुल्म का निदान—पुरीष, कफ, पित्त; इनके अत्यधिक स्राव से अथवा उन्हीं के ही अत्यन्त प्रवृद्ध होकर पीडन करने से—रुकावट उत्पन्न करने से, मलमूत्र के प्रवृत्त वेग को रोकने से, अथवा किसी प्रकार की बाह्य चोट के लगने से, अत्यधिक दबाव के पड़ने से, रूखे अन्नपान के अत्यधिक सेवन से, शोक से अथवा चिकित्सा (वमन विरेचन आदि) के ठीक न होने से अथवा विषम चेष्टाओं के अत्यधिक करने से कोष्ठ में वायु प्रकुपित हो जाता है। गुल्मनिदान विस्तार से निदानस्थान में कहा जा चुका है ॥३–४॥

कफं च पित्तं च स दूषयित्वा प्रोद्धूय मार्गान्विनिबद्ध्य ताभ्याम्।
हृन्नाभिपार्श्वोदरबस्तिशूलं करोत्यधो याति न बद्धमार्गः ॥ ५ ॥

सम्प्राप्ति—वह कुपित वायु कफ और पित्त को दूषित एवं अपने स्थान से विचलित करके उनके द्वारा मार्गों को रोक लेता है। हृदय नाभि पार्श्व उदर और बस्ति में शूल उत्पन्न करता है। तथा च मार्ग के बंधे हुए होने से नीचे नहीं जाता। यहां पर वातज के साथ साथ कफज पित्तज सान्निपातिक गुल्म की भी सम्प्राप्ति कह दी है। वात का कुपित होना तो प्रत्येक गुल्म में आवश्यक है। जब केवल वात ही कुपित होता है तो वातज और वात के साथ कफ भी कुपित होता है तो कफज। जब वात के साथ पित्त कुपित होता है तो पित्तज। जब वात पित्त और कफ तीनों कुपित होते हैं तो सान्निपातिक होता है। गुल्म में वातज आदि का व्यपदेश अनुबन्ध-रूप से होता है अनुबन्ध्य रूप से नहीं ॥ ६ ॥

पक्वाशये पित्तकफाशये वा स्थितः स्वतन्त्रः परसंश्रयो वा ।

---

१ 'स दुष्टवायुरुद्धूय' ग. ।

२ 'वायोः कोष्ठस्याधोगमनमेव प्रायो भवति, तेन तन्निषेधः साक्षादुक्तः, इतरमार्गगमननिषेधस्तु सामान्यतया लभ्यते' चक्रः ।

स्पर्शोपलभ्यः परिपिण्डितत्वाद्गुल्मो यथादोषमुपैति नाम ॥ ६ ॥

पक्काशय में पित्ताशय में वा कफाशय में स्वतन्त्र अथवा पराधीन होकर स्पर्श द्वारा जाना जा सकने वाला, पिण्डिताकृति होने से गुल्म-दोष के अनुसार नाम (वातगुल्म आदि) को पाता है। स्वतन्त्र वात-गुल्म में और पराधीन शेष गुल्मों में। अर्थात् जब कुपित वायु स्वतन्त्र ही पक्काशय में अवस्थिति करता है तो उसे वातगुल्म; यदि वह वायु पित्ताश्रित होकर पित्ताशय में अवस्थिति करता है तो पितगुल्म; यदि वह वायु कफाश्रित होकर कफाशय में अवस्थिति करे तो कफगुल्म कहाता है। गुल्म के सदृश परिपिण्डित होने से इसका नाम भी गुल्म है ॥६॥

बस्तौ च नाभ्यां हृदि पार्श्वयोर्वा स्थानानि गुल्मस्य भवन्ति पञ्च।
पञ्चात्मकस्य प्रभवं तु तस्य वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ७॥

गुल्म के स्थान—पांच हैं। १ बस्ति २ नाभि ३ हृदय और ४.५ दोनों पार्श्व।

उस वातज पित्तज कफज सान्निपातिक और आर्तवज पांच प्रकार के गुल्म का निदान लक्षण और चिकित्सा कहूंगा ॥ ७ ॥

रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ८ ॥

वातगुल्म का निदान—रूखा, अन्नपान, अतिमात्रा में विषम चेष्टायें, वेगों का धारण, शोक, अभिघात (चोट), मल का अति-क्षीण होना, अनशन अथवा मात्रा से अत्यल्प भोजन करना; ये वातिकगुल्म के हेतु हैं ॥ ८ ॥

यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम्।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥ ९ ॥
करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥ १० ॥

१ 'परिपीडितत्वाद्' ग.।

वातगुल्म के लक्षण—जिसका स्थान नियत न हो कभी नाभि कभी बस्ति कभी पार्श्व आदि में होना, जिसकी आकृति वा रूप एक सा न रहे, कभी छोटा कभी बड़ा आदि होना, जिसमें वेदना (दर्द) भी बदल बदल कर कई प्रकार की हो कभी थोड़ी कभी अधिक कभी असह्य कभी कुछ काल के लिये न भी होना, मल का रुकना, (कब्ज), मलवात का अन्दर ही रुका रहना—बाहिर न निकलना, मुख और गले का सूखना, शरीर का श्याम वा अरुणवर्ण का होना, शीतज्वर तथा हृदय कुक्षि पार्श्व और असंदेश में वेदना होना, जिस का प्रकोप भोजन के पचने के समय अधिक हो, भोजन करने पर जिसमें कमी हो जाय वह गुल्म वात से होता है । उस गुल्म को रूक्ष कसैले तिक्त और कटु द्रव्य शान्त नहीं करते—बढ़ाते हैं ९—१०

कट्वम्ललतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा ।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ११

पित्तगुल्म का निदान—कटु अम्ल तीक्ष्ण गरम विदाही रूखे अन्नपान, क्रोध, शराब का अधिक पीना, अग्नि तापना, आमाभिघात अर्थात् विदग्धाजीर्ण से उत्पन्न आमरस का दुष्ट प्रभाव अथवा आमरस और किसी प्रकार की चोट, दुष्ट हुआ रक्त; ये पैत्तिक गुल्म का निदान कहा गया है ॥ ११ ॥

ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च ।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् १२

पित्तगुल्म के लक्षण—ज्वर, प्यास, मुख और देह का लाल होना, जब भोजन पच रहा होता है उस समय तीव्र शूल, स्वेद (पसीना आना), विदाह और व्रण के सदृश स्पर्शासह होना अर्थात् गुल्म पर स्पर्शमात्र से तीव्र वेदना होने के कारण न सहना; ये पैत्तिक गुल्म के लक्षण हैं ॥ १२ ॥

---

१ 'रुधिरं च दुष्टमित्यनेन दुष्टाद्रुधिरान्मलभूतस्य पित्तस्य जन्म दर्शयति' चक्रः ।

शीत गुरु स्निग्धमचेष्टनं च संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च ।
गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य,

कफगुल्म का निदान—शीत भारी तथा स्निग्ध अन्नपान, चेष्टा न करना अर्थात् श्रम के कार्य न करना, तृप्तिपूर्वक आहार, दिन में सोना; ये कफगुल्म के हेतु हैं ।

सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥ १३ ॥

सान्निपातिक गुल्म—तीनों दोषों को दूषित करने वाले सब आहार विहार सान्निपातिक गुल्म के हेतु हैं ॥ १३ ॥

स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि ।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१४॥

कफगुल्म के लक्षण—स्तिमितता (आर्द्र वस्त्र से आच्छादित की तरह अनुभव अथवा निश्चल होना), शीतज्वर, देह की शिथिलता, हृल्लास (उत्क्लेश, जी मिचलाना), कास, अरुचि, भारीपन, देह का शीतल होना, वेदना का थोड़ा थोड़ा होना, कठिन और ऊंचा उठा हुआ होना; ये श्लैष्मिक गुल्म के रूप हैं ॥ १४ ॥

निमित्तलिङ्गान्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च ।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांस्तु गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् १५

द्विदोषज गुल्म में निदान लक्षण और दोषों के बलाबल को देखकर औषध की कल्पना के लिये अन्य मिश्रित लक्षणों वाले तीन गुल्मों को जानें । वातपित्तज वातकफज और पित्तकफज ये तीन द्वन्द्वज गुल्म कहाते हैं । दोष के बलाबल के कहने से इन्हीं तीनों द्वन्द्वज गुल्मों द्वारा एकोल्बण द्वन्द्वजों का भी ग्रहण हो जाता है । इन द्वन्द्वजों में उनके आरम्भक दो दोषों के अपने लक्षणोंसे अतिरिक्त अन्य लक्षण नहीं होते अतः पृथक् परिगणन न करते हुए अष्टोदरीय अध्याय में पांच गुल्म ही कहे हैं । सान्निपातिक में तीनों दोषज गुल्मों के लक्षणों से अतिरिक्त लक्षण और असाध्यता आदि प्रभाव विशेष भी

होता है, अतः उसे पृथक् गिना गया है ॥ १५ ॥

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् ।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् १६

सान्निपातिक गुल्म के लक्षण और उसकी असाध्यता—जिसमें बड़ी वेदना हो, दाह से युक्त, पत्थर की तरह कठिन और ऊंचा उठा हुआ, शीघ्र विदाह को प्राप्त होने वाला, मन शरीर और अग्नि के बल को नष्ट करने वाला त्रिदोषज गुल्म असाध्य होता है ॥१६॥

ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविनिग्रहैश्च ।
संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति ॥ १७ ॥

रक्तगुल्म का निदान—ऋतुकाल में आहार न करने से, भय से (गर्भस्थिति के भयमात्र से), रूक्ष आहार विहार आदि से, वेगों को रोकने से, रक्त के स्तम्भक आहार विहार वा औषध के प्रयोग से, उल्लेखन (वमन) से तथा योनिरोगों के कारण स्त्री को रक्तजगुल्म हो जाता है १७

यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः ।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः १८

रक्तगुल्म के लक्षण—जो करचरणादि अंगों से रहित पिण्डित मात्र ही देर से स्पन्दन करता है, जिसमें शूल होता है, जिसमें गर्भ के लक्षणों के तुल्य लक्षण होते हैं वह रक्तजन्य गुल्म स्त्रियों को ही होता है। दसवां मास व्यतीत होने पर ही इसकी चिकित्सा करनी चाहिये क्योंकि उस समय ही वह सुखसाध्य होता है। कहा भी है—

'रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥'

जो लोग यह कहते हैं कि दसवें मास तक गर्भ की शङ्का होने से और चूंकि प्राचीन वैद्य उससे पूर्व गर्भ का निश्चयात्मक ज्ञान नहीं कर सकते थे अतः चिकित्साका निषेध है—उनका यह विचार नितान्त भ्रमपूर्ण है। क्योंकि 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' कहने से ही उन्होंने गर्भ

---

१ 'स्त्रिया' च.।

का गुल्म से विभेद बतादिया है। गर्भ के तृतीय मास में कर चरण आदि अङ्गों की पिण्डिकायें निकल आती हैं और उसके पश्चात् के महीनों में हृदय तथा हाथ पैर आदि की परीक्षा की जा सकती है। साथ ही यहां पर विभेद के लिये यह भी बताया है कि इसमें देर से स्पन्दन होता है अर्थात् गर्भ के स्पन्दन तृतीय मास में होने प्रारम्भ होते हैं और माता को प्रायः चौथे पांचवें महीने में अनुभव होते हैं परन्तु इसमें स्पन्दन देर से होता है। ये स्पन्दन गुल्म के स्थान बदलने से प्रतीत होते हैं। साथ ही यतः ये धीरे २ बढ़ता है और बढ़कर जब तक प्रमाण में पर्याप्त बड़ा नहीं हो जाता तब तक गर्भाशय में भी आकुञ्चन नहीं होते और वे आकुञ्चन भी गर्भस्थिति में होने वाले आकुञ्चनों के काल के समकाल अनुभव नहीं किये जा सकते। अतः ये स्पष्ट है कि प्राचीन चिकित्सक गुल्म और गर्भ की विभेदक परीक्षा को अच्छी प्रकार से जानते थे। यह देर से चिकित्सा केवल उसके उस समय सुखसाध्य होने के कारण ही कही गई है। उस समय तक गुल्म पर्याप्त प्रमाण में प्रवृद्ध हो जाता है और उसको निकालने वा हरण करने में अन्दर से स्वाभाविक सहायता भी मिल जाती है १८॥

क्रियाक्रममतः सिद्धं गुल्मिनां गुल्मनाशनम् ।
प्रवक्ष्याम्यत[२] ऊर्ध्वं च योगान् गुल्मनिबर्हणान् ॥ १९ ॥

चिकित्सा का उपक्रम—अब गुल्म के रोगियों के गुल्म को नष्ट करने वाला सिद्ध चिकित्साक्रम कहा जायगा और उसके पश्चात् गुल्मनाशक योग कहे जांयगे ॥ १९ ॥

रूक्षव्यायामजं गुल्मं वातिकं तीव्रवेदनम् ।
बद्धविण्मारुतं स्नेहैरादितः समुपाचरेत् ॥ २० ॥

वातिकगुल्म का चिकित्साक्रम—रूखे आहार और व्यायाम से उत्पन्न, तीव्र वेदना मलबन्ध और मलवात-रोध से युक्त वातिक

२ 'अत ऊर्ध्वं चेति क्रियाक्रमाभिधानादुत्तरं' चक्रः ।

गुल्म की प्रारम्भ में स्नेहों द्वारा चिकित्सा करे ॥ २० ॥

भोजनाभ्यञ्जनैः पानैर्निरूहैः सानुवासनैः ।
स्निग्धस्य भिषजा स्वेदः कर्तव्यो गुल्मशान्तये ॥ २१ ॥

स्नेह के भोजन अभ्यङ्ग पान वा निरूहबस्ति और अनुवासन द्वारा रोगी का स्नेहन कराके गुल्म की शान्ति के लिये चिकित्सक स्वेदन करावे ॥ २१ ॥

स्रोतसां मार्दवं कृत्वा जित्वा मारुतमुल्बणम् ।
भित्त्वा विबन्धं स्निग्धस्य स्वेदो गुल्ममपोहति ॥ २२ ॥

स्वेद के लाभ—रोगी को स्नेहन के पश्चात् कराया गया स्वेद स्रोतों को मृदु करके प्रवृद्ध वात को जीतकर विबन्ध (पित्त कफ वा मलबन्ध आदि से उत्पन्न रुकावट) को तोड़कर गुल्म का नाश करता है ॥ २२ ॥

स्नेहपानं हितं गुल्मे विशेषेणोर्ध्वनाभिजे ।
पक्वाशयगते बस्तिरुभयं जठराश्रये ॥ २३ ॥

भिन्न २ अवस्थाओं में स्नेह के भिन्न २ विधान—यदि गुल्म नाभि से ऊपर हो तो वहां विशेषतः स्नेहपान कराना चाहिये। यदि पक्वाशय में गुल्म हो तो बस्ति, यदि उदर में आश्रित हो अर्थात् आमाशय पच्यमानाशय और पक्वाशय में गुल्म ने अपना आश्रय बनाया हो तो स्नेहपान और बस्ति दोनों ही देनी चाहियें ॥ २३ ॥

दीप्तेऽग्नौ वातिके गुल्मे विबन्धेऽनिलवर्चसोः ।
बृंहणान्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि प्रयोजयेत् ॥ २४ ॥

वातिक गुल्म में यदि वायुरोध एवं मलबन्ध हो परन्तु अग्नि दीप्त हो तो स्निग्ध उष्ण और बृंहण अन्नपान का प्रयोग कराना चाहिये ॥ २४ ॥

पुनः पुनः स्नेहपानं निरूहाः सानुवासनाः ।

प्रयोज्या वातगुल्मेषु कफपित्तानुरक्षिणा ॥ २५ ॥

वातगुल्म में कफपित्त की रक्षा करते हुए पुनः पुनः स्नेहपान एवं निरूह और अनुवासन कराना चाहिये । अर्थात् वातगुल्म में स्नेहपान आदि का प्रयोग उसी विधान से कराना चाहिये जिससे कफ वा पित्त की वृद्धि न हो ॥ २५ ॥

कफवाते जितप्राये पित्तं शोणितमेव वा[1] ।
यदि कुप्यति वा तस्य क्रियमाणे चिकित्सिते ॥ २६ ॥
यथोल्बणस्य[2] दोषस्य तत्र कार्यं भिषग्जितम् ।
आदावन्ते च मध्ये च मारुतं परिरक्षता ॥ २७ ॥

कफवात के प्रायः जीता जा चुकने पर यदि गुल्म की चिकित्सा करते हुए पित्त वा रक्त कुपित हो जाय तो प्रवृद्ध दोष के अनुसार औषध करनी चाहिये । परन्तु आदि अन्त और मध्य में सर्वदा ही वात की रक्षा का ध्यान होना चाहिये अर्थात् वात को कथञ्चिदपि न बढ़ने देना चाहिये ॥ २६–२७ ॥

वातगुल्मे कफो वृद्धो हत्वाऽग्निमरुचिं यदि ।
हृल्लासं गौरवं तन्द्रां जनयेदुल्लिखेत्तु तम् ॥ २८ ॥

वातगुल्म में यदि कफ प्रवृद्ध होकर अग्निमान्द्य करके अरुचि, हृल्लास (जी मिचलाना), गौरव (भारीपन), तन्द्रा को उत्पन्न करे तो रोगी को वमन करावे ॥ २८ ॥

शूलानाहविबन्धेषु गुल्मे वातकफोल्बणे ।
वर्तयो[3] गुटिकाश्चूर्णं कफवातहरं हितम् ॥ २९ ॥

वातकफप्रधान गुल्म में शूल आनाह और मलबन्ध होने पर कफवातनाशक वर्तियां, गोलियें और चूर्णों का प्रयोग करावें ॥२९॥

पित्तं वा यदि संवृद्धं सन्तापं वातगुल्मिनः ।

---

१ 'च' ग. । २ 'यथोल्वणं च' ग. । ३ 'वर्ति चूर्णानि गुडिकाः कफवातहराः हिताः' ग. ।

कुर्याद्विरेच्यः स भवेत्स्नेहैर्नैरानुलोमिकैः ॥ ३० ॥

यदि वातगुल्म के रोगी का पित्त प्रवृद्ध होकर सन्ताप को उत्पन्न करे तो अनुलोमन प्रभाव वाले स्नेहों द्वारा विरेचन कराना चाहिये। यथा एरण्डतैल ॥ ३० ॥

गुल्मो यद्यनिलादीनां कृते सम्यग्भिषग्जिते।
न प्रशाम्यति रक्तस्य सोऽवसेकात् प्रशाम्यति ॥ ३१ ॥

यदि वात आदि दोषों की सम्यक्तया औषध करने पर भी गुल्म की शान्ति न हो तो (वहां रक्त को दुष्ट जाने) वह रक्तावसेचन से शान्त होता है। यह रक्तावसेचन गुल्मस्थान से शृङ्ग आदि के यथाविधि प्रयोग से किया जाता है ॥ ३१ ॥

स्निग्धोष्णेनोदिते गुल्मे पैत्तिके स्रंसनं हितम्।
रूक्षोष्णेन तु संभूते सर्पिः प्रशमनं परम् ॥ ३२ ॥

स्निग्ध एवं उष्ण से उत्पन्न पैत्तिक गुल्म में स्रंसन कराना उचित है। तीव्र विरेचन नहीं देना चाहिये। यदि रूक्ष एवं उष्ण निदान से पैत्तिक गुल्म उत्पन्न हो तो घृत ही उत्कृष्ट शमन औषध है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

'पित्तगुल्मे तु स्निग्धोष्णेन जाते स्रंसनार्थं मधुना काम्पिल्लकमवलिह्यात्। द्राक्षाभयारसं वा सगुडं पिबेत्। कल्पोदितानि वा विरेचनानि प्रयुञ्जीत ॥'

'रूक्षोष्णसमुद्भूते पुनः संशमनार्थं तिक्तकं वासाघृतं वा पिबेत्। अथवा तृणपञ्चमूलक्वाथेन जीवनीयकल्केन च सिद्धं सर्पिः। तथा न्यग्रोधादिगणेन तृणपञ्चमूलादिभिर्वा पृथक् साधितं क्षीरम्' ३२

पित्तं वा पित्तगुल्मं वा ज्ञात्वा पक्वाशयास्थितम्।
कालविन्निर्हरेत्सद्यः सतिक्तैः क्षीरबस्तिभिः ॥ ३३ ॥

---

१ 'सस्नेहै०' ग.। २ 'रक्ताश्रयत्वादेव च गुल्मस्य अनिलादिचिकित्सया अप्रशमो ज्ञेयः, रक्ताधिष्ठानत्वं च गुल्मस्य पाकप्रस्तावे दर्शनीयं' चक्रः।

यदि पित्त अथवा पित्तगुल्म पक्काशय में आश्रित हो तो काल-ज्ञाता वैद्य शीघ्र ही तिक्तद्रव्यों से युक्त दूध की बस्तियों से उसका निर्हरण करे ॥ ३३ ॥

पयसा वा सुखोष्णेन सतिक्तेन विरेचयेत् ।
भिषगग्निबलापेक्षी सर्पिषा तैल्वकेन वा ॥ ३४ ॥

अथवा वैद्य अग्नि के बल के अनुसार तिक्त द्रव्यों से युक्त सुहाता गरम दूध वा तैल्वकघृत को मात्रा में पिलाकर विरेचन करावे। तैल्वकघृत उदररोग चिकित्सा में कहा जायगा ॥ ३४ ॥

तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवे ।
गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत् ॥ ३५ ॥

तृष्णा, ज्वर, दाह, शूल, स्वेद, अग्निमान्द्य वा अरुचि होने पर गुल्म के रोगियों का रक्तावसेचन ही कराना चाहिये । ये रक्तावसेचन पैत्तिक गुल्मों में विदाह के पूर्वरूप होने पर ही किया जाता है ॥ ३५ ॥

छिन्नमूला विदह्यन्ते न गुल्मा यान्ति च क्षयम् ।
रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्च नास्ति न चास्ति रुक् ॥ ३६ ॥

रक्तावसेचन द्वारा मूल के कट जाने पर गुल्म विदाह को प्राप्त नहीं होते और नष्ट हो जाते हैं। रक्त विदग्ध हो जाता है यदि वह कारण रक्त ही न होगा तो रोग भी नहीं होगा ॥ ३६ ॥

हृतदोषं परिम्लानं जाङ्गलैस्तर्पितं रसैः ।
समाश्वस्तं सशेषार्तिं सर्पिरभ्यासयेत् पुनः ॥ ३७ ॥

रक्तावसेचन के कारण मुरझाये हुए रोगी को जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरसों से तर्पण करे और आश्वासन दे। पश्चात् शेष कष्ट वा रोग के निवारण के लिये घी का प्रतिदिन पुनः प्रयोग करावे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में भी—

'स्रुतरक्तं च जाङ्गलरसैर्लब्धबलमार्तिशेषनाशाय च पुनः सर्पिरभ्यासयेत् ॥' ३७ ॥

रक्तपित्तातिवृद्धत्वात्क्रियामनुपलभ्य च ।
यदि गुल्मो विदह्येत शस्त्रं तत्र भिषग्जितम् ॥ ३८ ॥

यदि रक्त और पित्त के अत्यन्त प्रवृद्ध होने अथवा चिकित्सा न होने के कारण गुल्म का विदाह हो जाय तो वहां शस्त्रकर्म ही औषध है ॥ ३८ ॥

गुरुः कठिनसंस्थानो गूढमांसोत्तराश्रय[1]ः ।
अविवर्णः स्थिरः स्निग्धो ह्यपक्वो गुल्म उच्यते ॥ ३९ ॥

अपक्व गुल्म के लक्षण—गुरु, कठोर आकृति वाला, गम्भीर मांस में प्रधानतः आश्रित, जो विवर्ण न हो–जैसा देह का वर्ण है उसमें गुल्मस्थान पर कोई परिवर्तन न हो, स्थिर, स्निग्ध (चिकना) गुल्म अपक्व होता है–कच्चा होता है ॥ ३९ ॥

दाहशूलार्तिसंक्षोभस्वप्ननाशा[2]रतिज्वरैः ।
विदह्यमानं जानीयाद् गुल्मं तमुपनाहयेत् ॥ ४० ॥

विदह्यमान गुल्म के लक्षण–दाह, शूल, व्यथा, संक्षोभ (Irritation अथवा विद्रधि के सदृश उथल पुथल सी अनुभूति), निद्रानाश, अरति (बेचैनी),ज्वर; इन लक्षणों से गुल्म को विदह्यमान जाने अर्थात् उस समय गुल्म पक रहा होता है । इस विदह्यमान वा पच्यमान गुल्म का उपनाहन करना चाहिये–पुल्टिस आदि बांधनी चाहिये ॥४०॥

विदाहलक्षणे गुल्मे बहिस्त्वग[3]गे समुन्नते ।
श्यावे सरक्तपर्यन्ते संस्पर्शे बस्तिसंनिभे ॥ ४१ ॥
निपीडितोन्नते स्तब्धे सुप्ते तत्पार्श्वपीडनात् ।
तत्रैव पिण्डिते शूले संपक्वं गुल्ममादिशेत् ॥ ४२ ॥

पक्व गुल्म के लक्षण—जब गुल्म में विदाह के लक्षण हों अर्थात् वेदना की कमी, वलीप्रादुर्भाव, कण्डू, 'तोद आदि हों और उसकी

---

१ ' गूढमांसान्तराश्रयः ' च० ।

२ '०रुचिज्वरैः ' ग० । ३ ' बहिस्त्वङ्गे ' ग० । ' बहिस्तुङ्गे ' च० ।

गति गूढमांस को छोड़कर बाहिर त्वचा की ओर हो गई हो, जो ऊँचा उठा हो, जिस गुल्म का चारों ओर का किनारा थोड़ा लाल हो, मध्य में श्याम वर्ण का हो, जो स्पर्श में बस्ति के समान हो (जैसे बस्ति अथवा मशक को जल से भर दें और उसे एक ओर से हाथ की अङ्गुलि से टकोरें तो दूसरी ओर के हाथ के उस टकोर वा तरङ्ग का अनुभव होता है वैसे ही यदि पक्व गुल्म को हम एक ओर से अङ्गुली से झटका दें तो दूसरी ओर रखा हाथ उस झटके को अनुभव करेगा), यदि अङ्गुली से दबायें तो वह स्थल पुनः उन्नत होजाय, जो सोने वा लेटने पर उसके पार्श्व के दबने से स्तब्ध हो जाय तथा च गुल्मस्थान में ही शूल के पिण्डित होने पर गुल्म को पक्का हुआ जानना चाहिये ४१—४२

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ।
वैद्यानां कृतयोग्यानां व्यधशोधनरोपणे ॥ ४३ ॥

जब गुल्म पक्व जाय तब व्यध शोधन और रोपण में जिन्होंने योग्यता प्राप्त की हुई है ऐसे धान्वन्तरीय वैद्यों (Surgeons, शस्त्र चिकित्सकों) का चिकित्सा में अधिकार है अर्थात् गुल्म के पकने पर शस्त्रकर्म करना पड़ता है ॥ ४३ ॥

अन्तर्भागस्य चाप्येतत्पच्यमानस्य लक्षणम्।
हृत्क्रोडशूनताऽन्तःस्थे बहिःस्थे पार्श्वनिर्गतिः ॥ ४४ ॥

अन्तर्गत पच्यमान गुल्म के लक्षण—सब गुल्म यद्यपि कोष्ठ में में ही होते हैं अतः अन्तःस्थ ही हैं परन्तु जब वे संचित होकर अन्दर की ओर उन्नत होते हैं तब अन्तःस्थ गुल्म कहाते हैं। यदि बाहिर की ओर संचित होकर उन्नत दिखाई दें तो ये बहिःस्थ गुल्म कहाते हैं। अन्तर्भाग गुल्म (कोष्ठस्थित गुल्म) जब पक्व रहा होता है तब अन्तःस्थित गुल्म में हृदयदेश और क्रोड (कुक्षि वा उदर) में सूजन और उन्नतता हो जाती है और बहिःस्थित में सूजन होकर पार्श्वों की ओर निर्गमन होता है।

कई व्याख्याकार इस श्लोक को नहीं पढ़ते ॥ ४४ ॥

पक्वः स्रोतांसि संक्लिद्य व्रजत्यूर्ध्वमधोऽपि वा ।
स्वयंप्रवृत्तं तं दोषमुपेक्षेत हिताशनैः ॥ ४५ ॥

गुल्म पककर स्रोतों को क्लिन्न (गीला) करके ऊपर (वमन द्वारा) या नीचे की ओर (मल के साथ) प्रवृत्त होता है। स्वयं प्रवृत्त हुए उस दोष की पथ्याहार द्वारा दस या बारह दिन तक उपद्रवों से बचाते हुए उपेक्षा करे अर्थात् दोष को प्रवृत्त होने दे ॥ ४५ ॥

दशाहं द्वादशाहं वा रक्षन्भिषगुपद्रवान् ।
अत ऊर्ध्वं हितं पानं सर्पिषः सविशोधनम् ॥ ४६ ॥
शुद्धस्य तिक्तं सक्षौद्रं प्रयोगे सर्पिरिष्यते ।
अन्तर्विद्रधिवच्चास्य कार्ये शोधनरोपणे ॥ ४७ ॥

इसके पश्चात् विशोधन औषध युक्त घृत का पान हितकर है। जब पूय आदि का शोधन हो जाय तो तिक्त द्रव्यों से साधित घृत का मधु के साथ प्रयोग कराना चाहिये। और अन्तर्विद्रधि के सदृश शोधन एवं रोपण करना चाहिये ॥ ४६-४७ ॥

शीतलैर्गुरुभिः स्निग्धैर्गुल्मे जाते कफात्मके ।
अवम्यस्याल्पकायाग्नेः कुर्याल्लङ्घनमादितः ॥ ४८ ॥

कफगुल्म चिकित्सा—शीतल गुरु एवं स्निग्ध आहार विहार आदि हेतुओं से उत्पन्न कफज गुल्म में जो रोगी वामनीय न हो और कायाग्नि दुर्बल हो उसे प्रारम्भ में लङ्घन करावे ॥ ४८ ॥

मन्दोऽग्निर्वेदना मन्दा गुरुस्तिमितकोष्ठता ।
सोत्क्लेशा चारुचिर्यस्य स गुल्मी वमनोपगः ॥ ४९ ॥

वामनीय गुल्मरोगी—जिसकी अग्नि मन्द हो, वेदना मन्द हो, कोष्ठ भारी और जकड़ा हुआ सा प्रतीत हो, उत्क्लेश हो वह गुल्म रोगी वमन के योग्य है।

अभिप्राय यह है कि यदि रोगी वमन कराने के योग्य हो तो पूर्व वमन

करावे अन्यथा लङ्घन ॥ ४९ ॥

उष्णैरेवोपचर्यश्च कृते वमनलङ्घने ।
योज्याश्चाहारसंसर्गा भेषजैः कटुतिक्तकैः ॥ ५० ॥

वमन वा लङ्घन कराने के पश्चात् उष्ण द्रव्यों से ही उपचार करें। कटु एवं तिक्तरस औषधों से युक्त आहार खिलाना चाहिये। तिक्तरस यद्यपि वीर्य में शीत होता है परन्तु लघु एवं रूक्ष होने से गुरु एवं स्निग्ध कफ से विपरीत है ॥ ५० ॥

सानाहं सविबन्धं च गुल्मं कठिनमुन्नतम् ।
दृष्ट्वाऽऽदौ स्वेदयेद्युक्त्या स्विन्नं च विलयेद्भिषक् ॥५१॥

यदि आनाह और विबन्ध हो, गुल्म कठिन तथा उन्नत (ऊंचा उठा हुआ) हो तो आदि में गुल्म का युक्ति पूर्वक स्वेदन करे। स्वेदन के पश्चात् वैद्य उसे विलीन करने का प्रयत्न करे। अंगूठे आदि से दबाकर मर्दन द्वारा वह गुल्म विलीन किया जाता है ॥ ५१ ॥

लङ्घनोल्लेखने स्वेदे कृतेऽग्नौ संप्रधुक्षिते।
कफगुल्मे पिबेत्काले सक्षारकटुकं घृतम् ॥ ५२ ॥

लङ्घन वा वमन और स्वेद के पश्चात् अग्नि के प्रदीप्त हो जाने पर कफगुल्म में क्षार और कटु द्रव्यों से युक्त घी उचित काल में पीवे ५२

स्थानादपसृतं ज्ञात्वा कफगुल्मं विरेचनैः ।
सस्नेहैर्बस्तिभिर्वाऽपि शोधयेद्दाशमूलिकैः ॥ ५३ ॥

जब वह कफगुल्म स्थान से विचलित हो जाय तब विरेचनों द्वारा अथवा स्नेहयुक्त दशमूल की बस्तियों से शोधन करे ॥ ५३ ॥

वृद्धेऽग्नावनिलेऽमूढे ज्ञात्वा सस्नेहमाशयम् ।
गुटिकाश्चूर्णनिर्यूहाः प्रयोज्याः कफगुल्मिनाम् ॥ ५४ ॥

अग्नि के प्रवृद्ध और वायु के अनुलोम हो जाने पर कोष्ठ को स्निग्ध हुआ समझ कर कफगुल्म के रोगी को गुटिका चूर्ण और काथों का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ५४ ॥

कृतमूलं महावास्तुं कठिनं स्तिमितं गुरुम् ।
जयेत्कफकृतं गुल्मं क्षारारिष्टाग्निकर्मभिः ॥ ५५ ॥

जिस कफगुल्म ने जड़ पकड़ ली हो, बहुत बड़ा स्थान घेरा हो, कठिन, स्तिमित और गुरु हो उसे क्षारप्रयोग अरिष्ट पान और अग्निकर्म (दाह) द्वारा जीते ॥ ५५ ॥

दोषप्रकृतिगुल्मर्तुयोगं[1] बुद्ध्वा कफोल्बणे ।
बलदोषप्रमाणज्ञः क्षारं गुल्मे प्रयोजयेत् ॥ ५६ ॥

क्षारप्रयोग का काल—रोगी के बल और दोष के प्रमाण को जानने वाला वैद्य कफप्रधान गुल्म में दोष (कफ) के बल, प्रकृति (श्लैष्मिक), गुल्म (स्थिर तथा कृतमूल आदि उपर्युक्त लक्षण युक्त) तथा ऋतु (वसन्त वा शिशिर) के योग को जानकर क्षार का प्रयोग करावे ॥ ५६ ॥

एकान्तरं द्व्यन्तरं वा त्र्यहं विश्रम्य वा पुनः ।
शरीरबलदोषाणां वृद्धिक्षपणकोविदः ॥ ५७ ॥

शरीर बल और दोषों की वृद्धि और क्षय को जानने वाला क्षार के एकबार प्रयोग के पश्चात् एक दिन के वा दो दिन के अन्तर से अथवा तीन दिन ठहर कर पुनः पुनः गुल्म के नाश पर्यन्त क्षार का प्रयोग करावे ॥ ५७ ॥

श्लेष्माणं मधुरं स्निग्धं मांसक्षीरघृताशिनः ।
भित्त्वा भित्त्वाऽऽशयात्क्षारः क्षरत्वात्क्षारयत्यधः ॥ ५८ ॥

मांस दूध और घी का भोजन करने वाले गुल्माक्रान्त पुरुष के मधुर एवं स्निग्ध कफ को क्षार क्षरण करने वाला होने के कारण आमाशय से तोड़ तोड़ कर क्षरण करता है ॥ ५८ ॥

मन्देऽग्नावरुचौ सात्म्ये मद्ये सस्नेहमश्नताम् ।

---

१ 'दोषप्रकृतिगुल्मं तु' ग. ।

प्रयोज्या मार्गशुद्ध्यर्थमरिष्टाः कफगुल्मिनाम् ॥ ५९ ॥

अरिष्टप्रयोग का काल—कफगुल्म के रोगियों को जो स्निग्ध आहार करते हों अग्नि के मन्द एवं अरुचि होने पर यदि उन्हें मद्य सात्म्य हो तो मार्ग की शुद्धि के लिये अरिष्टों का प्रयोग कराना चाहिये ॥

लङ्घनोल्लेखनैः स्वेदैः सर्पिष्पानैर्विरेचनैः ।
वस्तिभिर्गुटिकाचूर्णक्षारारिष्टगणैरपि ॥ ६० ॥
श्लैष्मिकः कृतमूलत्वाद्यस्य गुल्मो न शाम्यति ।
तस्य दाहो हृते रक्ते शरलोहादिभिर्हितः ॥ ६१ ॥

अग्निकर्म का काल—जिस पुरुष का कफगुल्म जड़ पकड़ लेने के कारण लङ्घन, वमन, स्वेद, घृतपान, विरेचन, बस्ति, गुटिका, चूर्ण, क्षार तथा अरिष्टों के प्रयोगों से शान्त नहीं होता उस गुल्म का शरलोह (बाण के लोह) आदि से दाह करना हितकर होता है ॥

औष्ण्यात्तैक्ष्ण्याच्च शमयेदग्निर्गुल्मे कफानिलौ ।
तयोः शमाच्च संघातो गुल्मस्य विनिवर्तते ॥ ६२ ॥

उष्ण एवं तीक्ष्ण होने के कारण अग्नि गुल्म में कफ और वायु को शान्त करती है । कफ और वात के शान्त होने से गुल्म का संघात नष्ट हो जाता है ॥ ६२ ॥

दाहे धान्वन्तरीयाणामत्रापि भिषजां बलम् ।
क्षारप्रयोगे भिषजां क्षारतन्त्रविदां बलम् ॥ ६३ ॥

गुल्म के दाह में भी धान्वन्तरीय चिकित्सकों (शस्त्रचिकित्सकों) का अधिकार है । क्षार के प्रयोग में क्षारतन्त्र को जानने वालों का अधिकार है । अर्थात् क्षार के प्रयोग अथवा अग्नि द्वारा दाह करने में सुश्रुतसंहिता आदि में कहे गये विधानों से शस्त्रचिकित्सक को कर्म

१ ०' आमशुद्ध्यर्थं० ' ग. ।

२ 'क्षारतन्त्रस्य अष्टाङ्गेषु पृथगनभिधानात् शल्यतन्त्रमेवानुशस्त्रक्षारविधायकं क्षारतन्त्रमुच्यते' चक्रः ।

करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

' अथ वस्त्रान्तरितं सपर्यन्तं गुल्मनिचयं प्रदीप्तेन शरलोहाग्निमन्थ-तिन्दुककाष्ठानामन्यतमेन नाभिबस्तिहृदयान्त्ररोमराजीः परिहरन् नातिगाढं परामृशेत् । ततः कषायस्वादुशीतैरग्निवेगमुपशमय्य व्रणोपक्रमं कुर्वीत' ॥ ६३ ॥

व्यामिश्रदोषैर्व्यामिश्र एष एव क्रियाक्रमः ।

मिश्रित दोषों में यही ऊपर कहा चिकित्साक्रम दोषों के अनुसार मिश्रित करके करना चाहिये ।

सिद्धानतः[2] प्रवक्ष्यामि योगान् गुल्मनिबर्हणान् ॥ ६४ ॥

त्र्यूषणादिघृतम्

त्र्यूषणात्रिफलाधान्यविडङ्गचव्यचित्रकैः ।
कल्कीकृतैर्घृतं सिद्धं सक्षीरं वातगुल्मनुत् ॥ ६५ ॥

इति त्र्यूषणादिघृतम् ।

अब मैं गुल्मनाशक सिद्ध योगों को कहूंगा—

त्र्यूषणादिघृत—कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, धनियां, वायविडङ्ग, चव्य, चित्रक; इनके कल्क से और दूध से सिद्ध किया गया घी वातगुल्म को नष्ट करता है । गव्यघृत २ प्रस्थ । दूध ८ प्रस्थ । कालीमिर्च आदि का कल्क मिलित १ शराव । यथाविधि घृत को सिद्ध करें । मात्रा—आधा तोला ॥६४-६५॥

अपरं त्र्यूषणादिघृतम्

एत एव च कल्काः स्युः कषायः पाञ्चमूलिकः ।
द्विपञ्चमूलिको वाऽपि तद्घृतं गुल्मनुत्परम् ॥ ६६ ॥

इति त्र्यूषणादिघृतमपरम् ।

त्र्यूषणादिघृत (दूसरा)—घी २ प्रस्थ । बृहत्पञ्चमूल का

---

१ एतस्मादनन्तरं " सन्निपातोद्भवे गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः ' । इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः । २ ' सिद्धानिति ' वक्ष्यमाणयोगस्तुतिः शिष्यप्रवर्तका ।

काथ ८ प्रस्थ। कल्कार्थ पूर्वोक्त घृत के कालीमिर्च आदि द्रव्य मिला कर १ शराव। अथवा बृहत्पञ्चमूल के काथ के स्थल पर दशमूल का काथ डालकर भी यह घृत पकाया जा सकता है। मात्रा—आधा तोला।

षट्पलं वा पिबेत्सर्पिर्यदुक्तं राजयक्ष्मणि[1]।
प्रसन्नया वा क्षीरोत्थं सुरया दाडिमेन वा ॥ ६७ ॥
दध्नः सरेण वा कार्यं घृतं मारुतगुल्मनुत्।

अथवा राजयक्ष्मा में जो षट्पलघृत कहा गया है रोगी उसे पीवे। अथवा दूध से निकाले घी को प्रसन्ना (सुरा का ऊपर का स्वच्छ भाग) या सुरा या अनार का रस या दही के सर से सिद्ध करना चाहिये। यह वातगुल्मनाशक है। जहां दूध सात्म्य न हो वहां दूध के स्थान पर प्रसन्ना आदि में से कोई एक द्रव डालकर पूर्वोक्त कालीमिर्च आदि के कल्क से घी को सिद्ध करें॥

गङ्गाधर तो दूध के साथ प्रसन्ना आदि में से किसी एक को मिलाकर मथने से घी निकालने को कहता है॥६७॥

हिङ्गुसौवर्चलाद्यं घृतम्

हिङ्गुसौवर्चलाजाजीविडदाडिमदीप्यकैः ॥ ६८ ॥
पुष्करव्योषधान्याकवेतसक्षारचित्रकैः।
शटीवचाजगन्धैलासुरसैश्च विपाचितम् ॥ ६९ ॥
शूलानाहहरं सर्पिर्दध्ना चानिलगुल्मिनाम्।

इति हिङ्गुसौवर्चलाद्यं घृतम्।

हिङ्गुसौवर्चलाद्य घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। दही ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—हींग, सौंचर नमक, अजाजी (जीरा), बिडनमक, अनारदाना, दीप्यक (अजवाइन), पुष्करमूल, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, धनियां, वेतस, यवक्षार, चित्रक, शटी (कचूर), वचा, अजगन्धा (अजमोदाभेद),

१ षट्पलमित्यादि श्लोकार्धं गङ्गाधरेण न पठितम्।

छोटी इलायची, सुरस (तुलसी); मिलित १ शराव (८ पल)। यथाविधि सिद्ध करें । मात्रा—आधा तोला । यह घृत वातगुल्म के रोगियों के शूल और आनाह को नष्ट करता है । सुश्रुत में भी यही योग पढ़ा गया है । अष्टांङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में कहा है—

'हिङ्गुधान्यकाम्लवेतससौवर्चलैलाविडशटीदाडिमयवक्षारात्रिकटुका-जगन्धाजमोदाजाजीपुष्करमूलवचाचित्रकसुरसैर्वा दधिसंयुक्तम्॥' ६८–६९

हवुषाद्यं घृतम्

हवुषाव्योषपृथ्वीकाचव्यचित्रकसैन्धवैः ॥ ७० ॥
साजाजीपिप्पलीमूलदीप्यकैर्विपचेद् घृतम् ।
मातुलुङ्गदधिक्षीरकोलमूलकदाडिमैः ॥ ७१ ॥
रसैस्तद्वातगुल्मघ्नं शूलानाहविमोक्षणम् ।
योन्यर्शोग्रहणीदोषश्वासकासारुचिज्वरान् ॥ ७२ ॥
बस्तिहृत्पार्श्वशूलं च घृतमेतद्व्यपोहति ।

इति हवुषाद्यं घृतम् ।

हबुषाद्य घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । मातुलुङ्ग का रस २ प्रस्थ । दही २ प्रस्थ । दूध २ प्रस्थ । कोल (बेर) का क्वाथ २ प्रस्थ । मूली का क्वाथ २ प्रस्थ । अनार का रस २ प्रस्थ । कल्कार्थ—हवुषा (हाऊबेर), कालीमिर्च, सोंठ पिप्पली, पृथ्वीका (हिङ्गुपर्णी) चव्य, चित्रक, सेंधानमक, अजाजी (जीरा), पिप्पलीमूल, दीप्यक (अजवायन); मिलित १ शराव । यथाविधि घृतपाक करे । मात्रा—आधा तोला । यह वातगुल्म को नष्ट करता है । शूल और आनाह को हटाता है । योनिदोष, अर्श (बवासीर), ग्रहणीदोष श्वास, कास, अरुचि, ज्वर, बस्तिशूल, हृच्छूल और पार्श्वशूल को यह घृत नष्ट

१ '०वृक्षीर०' ग.।

करता है। क्वाथ के लिये क्वथनीय द्रव्य १ प्रस्थ, जल ८ प्रस्थ डालकर २ प्रस्थ शेष रखना चाहिये । अन्यत्र मातुलुङ्ग के रस के विना यही योग पढ़ा गया है ।—

' पृथ्वीकाजीरकव्योषहपुषाजाजिसैन्धवैः ।
सचव्यपिप्पलीमूलैर्वह्निदीप्यकसंयुतैः ॥
मूलदाडिमकोलानां रसे दध्नि पयस्यपि ।
सिद्धं घृतं जयेद् गुल्मं वह्निसन्दीपनं परम् ॥

अष्टाङ्गसंग्रहकार ' पृथ्वीका ' के स्थान पर ' बाष्पिका ' पढ़ता है। जिस का अर्थ इन्दु ने हिङ्गुपत्री किया है।

' हपुषामरिचबाष्पिकासैन्धवदीप्यकाजाजीपञ्चकोलकैः कोलमूलकदाडिमरसदधिक्षीरवत्सर्पिः सिद्धं सिद्धं शूलविबन्धहिध्माध्मानप्लीहहृद्रोगग्रहणीहतनामक्रिमिवर्ध्मपाण्डुक्षयश्वासकासयोनिरोगोदरज्वरारोचकेषु ।'
चि० अ० १६ ॥

अतएव पृथ्वीका से हिङ्गुपत्री का भी ग्रहण किया जा सकता है। हिङ्गुपत्री का पर्याय भी पृथ्वीका है। यथा—

' हिङ्गुपत्री तु कबरी पृथ्वीका पृथुला पृथुः ।
बाष्पिका दीर्घिका तन्वी बिल्विका दारुपत्रिका ॥'

इसके गुण—'बाष्पिका कटुतीक्ष्णोष्णा हृद्या वातकफापहा ।
क्रिमिप्लीहविबन्धार्शोगुल्महृद्बस्तिशूलनुत् ॥ '

कई टीकाकार पृथ्वीका से उपकुञ्चिका (स्थूलजीरक) का ग्रहण करते हैं । राजनिघण्टु में इसके पर्याय और गुण इस प्रकार कहे हैं—

' दीप्योपकुञ्चिका काली पृथ्वी स्थूलकणा पृथुः ।
मनोज्ञा जारणी जीर्णा तरुणः स्थूलजीरकः ॥
सुषवी कारवी ज्ञेया पृथ्वीका च चतुर्दश ॥
पृथ्वीका कटुतिक्तोष्णा वातगुल्मामदोषनुत् ।

श्लेष्माध्मानहरा जीर्णा जन्तुघ्नी दीपनी परा ॥'

वैद्यकनिघण्टु आदि में बाष्पिका भी जीरकभेद का पर्याय है। अतः यद्यपि यह घृत आजकल बड़ी इलायची द्वारा ही प्रायशः पकाया जाता है और वह भी गुल्मरोग में हितकर होती है, परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह आदि के अनुसार इसे हिंगुपत्री वा स्थूलजीरक से पकाना चाहिये। भैषज्यरत्नावली की टीका में हमने भी वैद्यों के व्यवहार के अनुसार पृथ्वीका से बड़ी इलायची को लेने को कहा है ॥ ७०-७२ ॥

पिप्पल्याद्यं घृतम् ।

पिप्पल्याः पिचुरध्यर्धो दाडिमाद् द्विपलं पलम् ॥ ७३ ॥
धान्यात्पञ्च घृताच्छुण्ठ्याः कर्षः क्षीरं चतुर्गुणम् ।
सिद्धमेतैर्घृतं सद्यो वातगुल्मं चिकित्सति ॥ ७४ ॥
योनिशूलं शिरःशूलमर्शांसि विषमज्वरम् ।

इति पिप्पल्याद्यं घृतम् ।

पिप्पल्याद्य घृत—गव्यघृत ५ पल। गौ का दूध २० पल। कल्कार्थ—पिप्पली १॥ पिचु (१॥ कर्ष), अनारदाना २ पल, धनियां १ पल, सोंठ १ कर्ष। यथाविधि सिद्ध किया गया यह घी वातगुल्म, योनिशूल, शिरःशूल, अर्श और विषमज्वर को हटाता है। इस घृत का नाम चक्रपाणि ने अपने संग्रह में पञ्चपल घृत रखा है। गङ्गाधर 'पञ्च घृतात्' के स्थान पर 'प्रस्थं घृतात्' पढ़ता है। जिसके अनुसार २ प्रस्थ घी और ८ प्रस्थ दूध लिया जायगा और कल्क उक्त परिमाण में ही लिये जांयगे। अष्टाङ्गसंग्रहकार ने भी ५ पल घी को उपर्युक्त विधान से सिद्ध करने को कहा है। परन्तु वहां पर चौगुना योग दिया है—

' शुण्ठीपलं पिप्पलीपलमध्यर्धं धान्यककुडवं दाडिमद्विकुडवं घृतपलानि विंशतिः क्षीरं चैकध्यं विपचेत्'। चि० अ० १६ ॥

अतः ग्रन्थान्तरसंवाद से ' प्रस्थं घृतात् ' यह पाठ

नहीं होना चाहिये । यद्यपि इस पाठ के अनुसार कल्क की अधिकता होगी परन्तु—

'निर्देशः श्रूयते तत्र द्रव्याणां यत्र यादृशः ।
तस्मिन् स संविधातव्यः शब्दाभावे प्रसिद्धितः ॥'

इस न्याययुक्ति के अनुसार ही पाक करना चाहिये ॥७३-७४॥

घृतानामौषधगणा य एते परिकीर्तिताः ॥ ७५ ॥
ते चूर्णयोगा वर्त्यस्ताः कषायास्ते च गुल्मिनाम् ।

जो ये घृतों के साधन के लिये औषधगण कहे गये हैं वे ही चूर्ण वर्ति वा कषायरूप में भी गुल्म के रोगियों को प्रयोग कराये जा सकते हैं ॥ ७५ ॥

कोलदाडिमघर्माम्बुसुरामण्डाम्लकाञ्जिकैः ॥ ७६ ॥
शूलानाहनुदः पेया बीजपूररसेन वा ।

इन औषध गणों के चूर्ण को बेर का रस, अनार का रस, उष्ण जल, सुरामण्ड (सुरा का उपरितन स्वच्छ द्रव), अम्लकाञ्जिक (खट्टी कांजी) अथवा बिजौरे का रस; इनमें से किसी एक द्रव के अनुपान के साथ पीना चाहिये । इसप्रकार प्रयोग से शूल और आनाह नष्ट होते हैं ।

गङ्गाधर ने तो इन्हें पेयाओं के छह योग माने हैं । वस्तुतः ये पेयाओं के योग नहीं हैं । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने घृतसाधनार्थ कहे गये गणों के चूर्ण आदि को इन द्रवों से संस्कृत करने को कहा है ।

'तत्कृतेषु च शूलानाहविबन्धेष्वनन्तरोक्तानां घृतानामौषधैश्चूर्ण-गुडिकाक्वाथान् कोलदाडिममातुलुङ्गसुरामण्डतक्रमस्तुधान्याम्लोष्णोदका-नामन्यतमेन प्रकल्पयेत् ' । चि० अ० १६ ॥ ७६ ॥

चूर्णानि मातुलुङ्गस्य भावितानि रसेन वा ॥ ७७ ॥
कुर्याद्वर्तीः सगुडिका गुल्मानाहार्तिशान्तये ।

मातुलुङ्ग के रस से उन्हीं चूर्णों को भावना देकर गुल्म आनाह

की व्यथा की शान्ति के लिये वर्तियां और गुडिकायें बनावें । कषाय (क्वाथ) साधन के लिये यतः आचार्य ने कोई विधान नहीं कहा अतः सामान्यविधि से ही क्वाथ करना चाहिये ॥ ७७ ॥

हिङ्ग्वादिचूर्णम्

हिङ्गु त्रिकटुकं पाठां हवुषामभयां शटीम् ॥ ७८ ॥
अजमोदाजगन्धे च तिन्तिडीकाम्लवेतसौ ।
दाडिमं पुष्करं धान्यमजाजीं चित्रकं वचाम् ॥ ७९ ॥
द्वौ क्षारौ लवणे द्वे च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ।
चूर्णमेतत्प्रयोक्तव्यमनुपानेष्वनत्ययम् ॥ ८० ॥
प्राग्भक्तमथवा पेयं मद्येनोष्णोदकेन वा ।
पार्श्वहृद्बस्तिशूलेषु गुल्मे वातकफात्मके ॥ ८१ ॥
आनाहे मूत्रकृच्छ्रे च शूले च गुदयोनिजे ।
ग्रहण्यर्शोविकारेषु प्लीह्नि पाण्ड्वामयेऽरुचौ ॥ ८२ ॥
उरोविबन्धे कासे च हिक्काश्वासे गलग्रहे ।

हिङ्ग्वादिचूर्ण—शुद्ध हींग, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, पाठा (पाढ), हवुषा (हाऊबेर), हरड़, कचूर, अजमोदा, अजगन्धा (अजमोदाभेद), तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल, विषांबिल), अम्लवेतस, अनारदाना, पुष्करमूल, धनियां, श्वेतजीरा, चित्रक, यवक्षार, सर्जिक्षार, सैन्धानमक, सौंचरनमक, चव्य; इनके चूर्णों को एकत्र समपरिमाण में मिश्रित करे । मात्रा—१ मासे से २ मासे तक । इस चूर्ण को भोजन के तत्काल पश्चात् उष्ण जल तक्र आदि अनुपानों में सेवन करना चाहिये । अथवा भोजन से पूर्व मद्य वा उष्ण जल से इस चूर्ण को पीना चाहिये । यह चूर्ण पार्श्वशूल हृच्छूल बस्तिशूल वातज कफज वा वातकफज गुल्म आनाह मूत्रकृच्छ्र गुदशूल योनिशूल ग्रहणी अर्श प्लीहा (तिल्ली) पाण्डुरोग अरुचि उरोविबन्ध

(जब छाती रुकी सी प्रतीत हो) कास, हिक्का (हिचकी), श्वास गलग्रह; इन रोगों में प्रयुक्त कराया जाता है । चिकित्साकालिका में इसी चूर्ण में बिडनमक और पिप्पलीमूल ये दो द्रव्य अधिक पढ़े हैं । अन्तःप्रयोगों में यदि अजमोदा पढ़ी हो तो वहां अजमोद न लेकर अजवाइन ही लेनी चाहिये । कहा भी है—

'अन्तःसम्मार्जने प्रायोऽजमोदा च यमानिका ।
बहिःसम्मार्जने ज्ञेया चाजमोदाजमोदिका' ॥ ७८–८२ ॥

हिङ्ग्वादिगुडिका

भावितं मातुलुङ्गस्य चूर्णमेतद्रसेन वा ॥ ८३ ॥
बहुशो गुडिकाः कार्याः कार्मुकाः स्युस्ततोऽधिकम् ।

इति हिङ्ग्वादिचूर्णं गुडिका च ।

हिङ्ग्वादिगुडिका—इसी हिङ्ग्वादिचूर्ण को मातुलुङ्ग (बिजौरा) के रससे बहुत वार भावना देकर गुडिकायें बना लेनी चाहियें । ये गुडिकायें चूर्ण की अपेक्षा अधिक लाभकर होती हैं । बहुत वार से बहुधा सातवार का ग्रहण होता है । वस्तुतस्तु जब तक चूर्ण कुछ खट्टा न हो जाय तब तक भावनायें देनी चाहियें ॥ ८३ ॥

मातुलुङ्गरसो हिङ्गु दाडिमं बिडसैन्धवे ॥ ८४ ॥
सुरामण्डेन पातव्यं वातगुल्मरुजापहम् ।

मातुलुङ्ग का रस, हींग, अनारदाना, विडनमक, सेन्धानमक; इन्हें उपयुक्त परिमाण में मिश्रित कर सुरामण्ड के अनुपान के साथ पीना चाहिये। यह वातगुल्म की पीड़ा को नष्ट करता है । अथवा सुरामण्ड (सुरा के उपरितन स्वच्छ द्रव) में मातुलुङ्गरस आदि उचित प्रमाण में डालकर पी सकते हैं ॥ ८४ ॥

शट्यादिचूर्णम्

शटीपुष्करहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारचित्रकान् ॥ ८५ ॥

धन्याकं च यवानीं च विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ।
सचव्यपिप्पलीमूलमजगन्धां सदाडिमाम् ॥ ८६ ॥
अजाजीं चाजमोदां च चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।
रसेन मातुलुङ्गस्य मधुशुक्तेन वा पुनः ॥ ८७ ॥
भावितं गुडिकां कृत्वा सुपिष्टां कोलसंमिताम् ।
गुल्मं प्लीहानमानाहं श्वासं कासमरोचकम् ॥ ८८ ॥
हिक्कां हृद्रोगमर्शांसि विविधां शिरसो रुजाम् ।
पाण्ड्वामयं कफोत्क्लेशं सर्वजां च प्रवाहिकाम् ॥ ८९ ॥
पार्श्वहृद्बस्तिशूलं च गुटिकैषा व्यपोहति ।

शट्यादि चूर्ण—कचूर, पुष्करमूल, हींग, अम्लवेतस, यवक्षार, चित्रक, धनियां, अजवाइन, वायविडङ्ग, सेन्धानमक, वच, चव्य, पिप्पलीमूल, अजगन्धा (अजमोदाभेद, वनयमानी), अनारदाना, श्वेतजीरा, अजमोदा; इनका चूर्ण करके प्रयोग करावे। अथवा इस चूर्ण को मातुलुङ्ग के रस से अथवा मधुशुक्त से भावना देकर अच्छी प्रकार मर्दन करके कोल प्रमाण की गोलियां बनावें। यह गुल्म प्लीहा आनाह श्वास कास अरुचि हिक्का हृद्रोग अर्श विविध प्रकार की शिर की वेदनायें पाण्डुरोग कफ का उत्क्लेश सब दोषोंसे उत्पन्न अर्थात् त्रिदोषज प्रवाहिका पार्श्वशूल, हृच्छूल बस्तिशूल; इन्हें नष्ट करती है। ऊपर कोलप्रमाण की गोली बनाने के लिये कहा है, परन्तु आजकल के नागरिक एवं हीनबल पुरुषों को १ मासा मात्रा में ही सेवन करानी चाहिये मधु के पात्र में जम्बीर का रस और पिप्पलीमूल का कल्क डालकर सन्धान से मधुशुक्त बनता है ॥ ८५-८९ ॥

नागरादियोगः ।

नागरार्धपलं पिष्ट्वा द्वे पले लुञ्चितस्य च ॥ ९० ॥
तिलस्यैकं गुडपलं क्षीरेणोष्णेन ना पिबेत् ।
वातगुल्ममुदावर्तं योनिशूलं च नाशयेत् ॥ ९१ ॥

नागरादियोग—सोंठ आधापल (२ कर्ष), धोकर छिलके

उतारे हुए तिल २ पल, गुड १ पल; इन्हें एकत्र कूट कर मात्रा में गरम दूध के अनुपान के साथ पीवे। यह वातगुल्म, उदावर्त और योनिशूल को नष्ट करता है। मात्रा—३ मासे से ६ मासे तक ९०-९१

पिबेदेरण्डतैलं वा वारुणीमण्डमिश्रितम्।
तदेव तैलं पयसा वातगुल्मी पिबेन्नरः ॥ ९२ ॥
श्लेष्मण्यनुबले पूर्वं हितं पित्तानुगे परम्।

अथवा एरण्डतैल में वारुणी का मण्ड (उपरितन स्वच्छ द्रव) मिलाकर वातगुल्म का रोगी पीवे। अथवा एरण्डतैल को ही दूध के साथ पीवे। जब कफ का अनुबन्ध हो तो पूर्व का योग और पित्त का अनुबन्ध हो तो दूसरा योग हितकर है। अर्थात् वातगुल्म में कफ का अनुबन्ध होने पर वारुणीमण्डमिश्रित एरण्डतैल और पित्त का अनुबन्ध होने पर दूध में एरण्डतैल डालकर पिलाना चाहिये। एरण्डतैल की मात्रा-आधी छटांक तक है॥ ९२ ॥

लशुनक्षीरम्

साधयेत् शुद्धशुष्कस्य[1] लशुनस्य चतुष्पलम् ॥ ९३ ॥
क्षीरे जलाष्टगुणिते क्षीरशेषं[2] च ना पिबेत्।
वातगुल्ममुदावर्तं गृध्रसीं विषमज्वरम् ॥ ९४ ॥
हृद्रोगं विद्रधिं शोथं साधयत्याशु तत्पयः।

इति लशुनक्षीरम्।

लशुनक्षीर—सूखे हुए लहसन का छिलका उतारकर गिरियों को ४ पल मात्रा में ले। इसे जलमिश्रित दूध आठ गुना में अर्थात् १६ पल दूध और १६ पल जल मिलाकर उसमें सिद्ध करे। जब सब जल उड़जाय दूध रहजाय तब उतार कर छान ले। रोगी इसे पीवे। वह दूध वातगुल्म उदावर्त गृध्रसी (Sciatica), विषम-

---

१ सिद्धशुष्कस्येति पाठान्तरम्। २ 'क्षीररसोनयोश्च यद्यपि सहोपयोगो विरुद्धस्तथाऽपि व्याधिमहिम्ना अत्र महर्षिवचनादविवाद उन्नीयते' चक्रः।

ज्वर, हृद्रोग, विद्रधि, शोथ; इन्हें शीघ्र नष्ट करता है । मात्रा—१ तोले से २ तोले तक । 'क्षीरे जलाष्टगुणिते' के स्थान पर 'क्षीरोदकेऽष्ट-गुणिते' यह पाठ है—इसका भी अर्थ वही है ॥ ९३—९४ ॥

तैलपञ्चकम्

तैलं प्रसन्ना गोमूत्रमारनालं यवाग्रजम् ॥ ९५ ॥
गुल्मं जठरमानाहं पीतमेकत्र साधयेत् ।

इति तैलपञ्चकम् ।

तैलपञ्चक—एरण्डतैल, प्रसन्ना (सुरा का उपरितन स्वच्छ द्रव), गोमूत्र, आरनाल (कांजीभेद), यवक्षार; इन्हें एकत्र उचित मात्रा में मिश्रित कर पीने से गुल्म, जठर (उदररोग) तथा आनाह नष्ट होता है ॥ ९५ ॥

शिलाजतुप्रयोगः

पञ्चमूलीकषायेण सक्षीरेण शिलाजतु ॥ ९६ ॥
पिबेत्तस्य प्रयोगेण वातगुल्मात्प्रमुच्यते ।

इति शिलाजतुप्रयोगः ।

शिलाजतु प्रयोग—क्षुद्र पञ्चमूलके क्राथमें दूध डालकर उसके साथ विशुद्ध शिलाजीत को मात्रा में पीवे । इसके प्रयोग से पुरुष वातगुल्म से मुक्त होजाता है । गङ्गाधर पञ्चमूली से बृहत्पञ्चमूल का ग्रहण करता है । विशुद्ध शिलाजीत की मात्रा—२ रत्ती से ८ रत्ती तक है ॥ ९६ ॥

वाट्यं[२] यूषेण पिप्पल्या मूलकानां रसेन वा ॥ ९७ ॥
भुक्त्वा स्निग्धमुदावर्ताद्वातगुल्माद्विमुच्यते ।

स्नेहयुक्त जौ के अन्न को मुद्ग आदि के यूष के साथ अथवा पिप्पली के साथ अथवा मूली के रस के साथ खाकर रोगी उदावर्त और वातगुल्म से मुक्त होजाता है ॥ ९७ ॥

शूलानाहविबन्धार्तं स्वेदयेद्वातगुल्मिनम् ॥ ९८ ॥

---

१ 'तैलं प्रसन्नेत्यादौ यौगिकत्वाजतुकर्णसंवादादेरण्डतैलं ज्ञेयं, यदुक्तं जतुकर्णे 'मदिरारनालमूत्रक्षारैः संयोज्य तैलमैरण्डम्' इत्यादि ।

२ 'वाट्यं यवान्नं, पिप्पलीप्रधानो यूषः पिप्पलीयूषः' चक्रः ।

स्वेदैः स्वेदविधावुक्तैर्नाडीप्रस्तरसङ्करैः।

वातगुल्म में शूल आनाह और विबन्ध से पीड़ित रोगी को स्वेदाध्याय (सू० अ० १४) में कहे गये नाडीस्वेद प्रस्तरस्वेद वा सङ्करस्वेद से स्वेदन करे॥ ९८॥

बस्तिकर्मणः प्राधान्यम्

बस्तिकर्म परं विद्याद्गुल्मघ्नं तद्धि मारुतम् ॥ ९९॥

स्वे स्थाने प्रथमं जित्वा सद्यो गुल्ममपोहति।

बस्तिकर्म को उत्कृष्ट गुल्मनाशक जानें। क्योंकि वह प्रथम अपने स्थान—पक्वाशय में वायु को जीतकर शीघ्र ही गुल्म को हटाता है ९९

तस्मादभीक्ष्णशो गुल्मा निरूहैः सानुवासनैः॥ १००॥
प्रयुज्यमानैः शाम्यन्ति वातपित्तकफात्मकाः।
गुल्मघ्ना विविधा दृष्टाः सिद्धाः सिद्धिषु बस्तयः॥ १०१॥

इति बस्तिक्रिया।

अतएव बार बार निरूह और अनुवासन बस्तियों के प्रयोग से वातिक पैत्तिक वा श्लैष्मिक गुल्म शान्त होते हैं।

सिद्धिस्थान में विविध प्रकार की गुल्मनाशक सिद्ध बास्तियां कही गई हैं॥ १००—१०१॥

गुल्मघ्नानि च तैलानि वक्ष्यन्ते वातरोगिके।
तानि मारुतगुल्मेषु पानाभ्यङ्गानुवासनैः॥ १०२॥
प्रयुक्तान्याशु सिध्यन्ति तैलं ह्यनिलजित् परम्[1]।

वातव्याधिचिकित्सित अध्याय में गुल्मनाशक तैल कहे जांयगे। वे तैल वातगुल्मों में पान अभ्यङ्ग अनुवासनों द्वारा प्रयुक्त किये हुए शीघ्र सिद्धि देते हैं। यतः तैल वात को जीतने में उत्कृष्ट होता है॥१०२॥

नीलिनीचूर्णसंयुक्तं पूर्वोक्तं घृतमेव च॥ १०३॥
समलाय प्रदेयं स्याच्छोधनं वातगुल्मिने।

---

१ 'ह्यनिलजित्वरम्' पा०।

वातगुल्म के रोगी के उदर में यदि मल हो तो पूर्वोक्त घृत में नीलीमूल का चूर्ण मात्रा में डालकर शोधनार्थ देना चाहिये । पूर्वोक्त घृत त्रायमाणाद्य घृत है । इस घृत में नीलीमूल का चूर्ण डालकर रोगी को दें ॥ १०३ ॥

नीलिन्याद्यं घृतम्

नीलिनीत्रिवृतादन्तीपथ्याकाम्पिल्लकैः सह ॥ १०४ ॥
शोधनार्थं घृतं देयं सबिडक्षारनागरम् ।

नीलीमूल, त्रिवृता (निसोत), दन्तीमूल, हरड़ और कमीला; इनसे साधित घी में बिडनमक यवक्षार और सोंठ का प्रक्षेप देकर शोधनार्थ देना चाहिये । गव्यघृत को नीलीमूल आदि के कल्क से घृतापेक्षया चतुर्गुण जल देकर यथाविधि सिद्ध किया जाता है । मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक । कई व्याख्याकार कहते हैं कि त्र्यूषणाद्यघृत में ही नीलीमूल निसोत आदि का चूर्ण अथवा बिडनमक यवक्षार और सोंठ का चूर्ण मिलाकर शोधन के लिये देना चाहिये ॥ १०४½ ॥

नीलिन्याद्यं घृतम्

नीलिनीं त्रिफलां रास्नां बलां कटुकरोहिणीम् ॥ १०५ ॥
पचेद्विडङ्गं व्याघ्रीं च पलिकानि जलाढके ।
तेन पादावशेषेण घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १०६ ॥
दध्नः प्रस्थेन संयोज्य सुधाक्षीरपलेन च ।
ततो घृतपलं दद्याद्यवागूमण्डमिश्रितम् ॥ १०७ ॥
जीर्णे सम्यग्विरिक्तं च भोजयेद्रसभोजनम् ।
गुल्मकुष्ठोदरव्यङ्गशोफपाण्ड्वामयज्वरान् ॥ १०८ ॥
श्वित्रं प्लीहानमुन्मादं घृतमेतद्व्यपोहति ।

इति नीलिन्याद्यं घृतम् ।

नीलिन्याद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—नीलीमूल, हरड़,

बहेड़ा, आंवला, रास्ना, बलामूल (खरैंटी की जड़), कटुकी, वायविडङ्ग, छोटी कटेरी, प्रत्येक को १ पल परिमाण में लेकर २ आढक (१२८ पल) जल में क्वाथ करे। जब चतुर्थांश (३२ पल) बच जाय तो छान ले। दही २ प्रस्थ (३२ पल)। सेहुण्ड का दूध १ पल। यथाविधि घृतपाक करे। तदनन्तर घी को १ पल प्रमाण में लेकर यवागू के मण्ड में अथवा यवागू या मण्ड में मिलाकर रोगी को दें। यह पूर्वदिन के भोजन के पच जाने पर अर्थात् प्रातः देना चाहिये। जब रोगी को सम्यक् विरेचन हो जाय तो मांसरस का भोजन करे। यह घृत गुल्म कुष्ठ उदररोग व्यङ्ग शोथ पाण्डुरोग ज्वर श्वित्र प्लीहा और उन्माद को नष्ट करता है। घी की मात्रा १ पल आजकल के लोगों के लिये बहुत अधिक है। आजकल आधा तोला मात्रा में दिया जाता है॥ १०५—१०८॥

कुक्कुटाश्च मयूराश्च तित्तिरिक्रौञ्चवर्तकाः ॥ १०६ ॥
शालयो मदिरा सर्पिर्वातगुल्मभिषग्जितम्।

वातगुल्म में पथ्य—कुक्कुट (मुर्गा), मोर, तीतर, क्रौञ्च (कुंज पक्षी), वर्त्तक (बटेर) शालिचावल, मदिरा, घी; ये वातगुल्म की औषध है ॥ १०६ ॥

हितमुष्णं द्रवं स्निग्धं भोजनं वातगुल्मिनाम् ॥ ११० ॥
समण्डवारुणीपानं पक्वं वा धान्यकैर्जलम्।

वातगुल्म के रोगियों के लिये गरम द्रव (Liquid), स्निग्ध भोजन हितकर है। मण्ड (उपरितन स्वच्छ द्रव) युक्त वारुणी अथवा धनियें से पकाया हुआ जल हितकर होता है। धनियें का जल षडङ्गपानीय की विधि से प्रस्तुत करना चाहिये ॥ ११० ॥

मन्देऽग्नौ वर्धते गुल्मो दीप्ते चाग्नौ प्रशाम्यति ॥ १११ ॥
तस्मान्ना नातिसौहित्यं कुर्यान्नातिविलङ्घनम्।

अग्नि मन्द हो जाय तो गुल्म की वृद्धि होती है। अग्नि दीप्त हो तो गुल्म शान्त हो जाता है। अतएव रोगी को चाहिये कि वह

भोजन से अतितृप्ति न करे । ना ही गुल्म के रोगी को अत्यधिक लङ्घन करना चाहिये क्योंकि उससे वात की वृद्धि होती है । गुल्म की शान्ति के लिये पूर्व वात की शान्ति आवश्यक है ॥१११॥

सर्वत्र गुल्मे प्रथमं स्नेहस्वेदोपपादिते ॥ ११२ ॥
या क्रिया क्रियते सिद्धिं सा याति न विरूक्षिते ।

सब गुल्मों में प्रथम स्नेहन और स्वेदन कराकर जो क्रिया की जाती है उसी से ही सिद्धि होती है। यदि स्नेहन और स्वेदन न कराने से अथवा अति लङ्घन आदि से रूक्षण हो तो किसी चिकित्सा से लाभ नहीं होता ॥ ११२ ॥

भिषगात्ययिकं बुद्ध्वा पित्तगुल्ममुपाचरेत् ॥ ११३ ॥
वैरेचनिकसिद्धेन पयसा सर्पिषाऽपि वा ।

पित्तगुल्म में उपचार—चिकित्सक पित्तगुल्म को आत्ययिक (घातक) जानकर विरेचन द्रव्यों से सिद्ध घृत अथवा दूध से चिकित्सा करे॥११३॥

रोहिण्याद्यं घृतम् ।

रोहिणीकटुकानिम्बमधुकं त्रिफलात्वचः ॥ ११४ ॥
कार्षिकास्त्रायमाणा च पटोलत्रिवृतोः पले ।
द्विपलं च मसूराणां साध्यमष्टगुणेऽम्भसि ॥ ११५ ॥
घृताच्छेषं[1] घृतसमं सर्पिषश्च चतुष्पलम् ।
पिबेत्संमूर्च्छितं तेन गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ॥ ११६ ॥
ज्वरस्तृष्णा च शूलं च भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तथा ।

इति रोहिण्याद्यं घृतम् ।

रोहिण्याद्यघृत—कटुकी, नीम की छाल, मुलहठी, गुठलीरहित हरड़ बहेड़ा और आंवला, त्रायमाणा; प्रत्येक १ कर्ष, पटोलमूल १ पल, त्रिवृता (निसोत) १ पल, मसूर २ पल; इन्हें घी से आठगुना जल

१ ' भृताच्छेषं ' पा० ।

(३२ पल) में डालकर क्वाथ करें। जब ४ पल अवशिष्ट रह जाय तब छान लें। इसे ४ पल घी के साथ मिलाकर रोगी पीवे। इसके प्रयोग से पैत्तिक गुल्म शान्त होता है। तथा ज्वर तृष्णा शूल भ्रम मूर्च्छा और अरुचि नष्ट होते हैं।

गंगाधर पटोल और त्रिवृता प्रत्येक को २ पल लेने को कहता है। और 'घृताच्छेषं' के स्थान पर 'शृताच्छेषं' पढ़कर मिलित क्वाथ्यद्रव्य को उससे आठ गुना जल में सिद्ध करते हुए ४ पल अवशिष्ट रखने को कहता है। ४ पल घी की और ४ पल क्वाथ की मात्रा आजकल के पुरुषों के लिये असह्य है। इस रोग के महावीर्य होने से उस समय ८ पल की मात्रा निर्धारित की हुई थी—

'गुल्मिनः सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये।
तेषां मात्रा विनिर्दिष्टा पलान्यष्टौ विशेषतः॥'

परन्तु आजकल तो यदि क्वाथ और घी को समान परिमाण में मिलाकर एकवार ही देना हो तो अधिक से अधिक क्वाथ २ तोले और घी २ तोले मिलाकर दें॥ ११४–११६॥

त्रायमाणाद्यं घृतम्।

जले दशगुणे साध्यं त्रायमाणाचतुष्पलम्॥ ११७॥
पञ्चभागस्थितं पूतं कल्कैः संयोज्य कार्षिकैः।
रोहिणी कटुका मुस्ता त्रायमाणा दुरालभा॥ ११८॥
कल्कैस्तामलकीवीराजीवन्तीचन्दनोत्पलैः।
रसस्यामलकानां च क्षीरस्य च घृतस्य च॥ ११९॥
पलानि पृथगष्टाष्टौ दत्त्वा सम्यग्विपाचयेत्।
पित्तरक्तभवं गुल्मं वीसर्पं पैत्तिकं ज्वरम्॥ १२०॥
हृद्रोगं कामलां कुष्ठं हन्यादेतद्घृतोत्तमम्।

इति त्रायमाणाद्यं घृतम्।

त्रायमाणाद्य घृत—गौ का घी ८ पल। आंवले का रस ८ पल।

गौ का दूध ८ पल । क्वाथार्थ—त्रायमाणा ४ पल को दस गुने जल अर्थात् ४० पल में सिद्ध करें । जब पांच भाग अर्थात् ८ पल शेष रहजाय तो उतार कर छान लें । कल्कार्थ—कटुकी, मोथा, त्रायमाणा, दुरालभा, तामलकी (भुंई आंवला), क्षीरा (क्षीरकाकोली अथवा आंवला), जावन्ती, लालचन्दन, नीलोत्पल; प्रत्येक १ कर्ष । इन्हें यथाविधि सम्यक्तया पकावे । यह उत्तम घृत पित्तरक्तज गुल्म, वीसर्प, पैत्तिक ज्वर, हृद्रोग कामला तथा कुष्ठ को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला ॥ ११७—१२० ॥

आमलकाद्यं घृतम्

रसेनामलकेक्षूणां घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ १२१ ॥
पथ्यापादं पिबेत्सर्पिस्तत्सिद्धं पित्तगुल्मनुत् ।

इत्यामलकाद्यं घृतम् ।

आमलकाद्य घृत—गौ का घी २ प्रस्थ (३२ पल), । आंवले का रस वा क्वाथ ८ प्रस्थ । ईख का रस ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—हरड़ १ शराव (८ पल) । यथाविधि साधित यह घृत पित्तगुल्म को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला ॥ १२१ ॥

द्राक्षाद्यं घृतम्

द्राक्षां मधूकं खर्जूरं विदारीं सशतावरीम् ॥ १२२ ॥
परूषकाणि त्रिफलां साधयेत्पलसंमिताम् ।
जलाढके पादशेषं रसमामलकस्य च ॥ १२३ ॥
घृतमिक्षुरसं क्षीरमभयाकल्कपादिकम् ।
साधयेत्तद्धृतं सिद्धं शर्कराक्षौद्रपादिकम् ॥ १२४ ॥
प्रयोगात्पित्तगुल्मघ्नं सर्वपित्तविकारनुत् ।

इति द्राक्षाद्यं घृतम् ।

द्राक्षाद्यघृत—घृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ द्राक्षा (मुनक्का), मधूक (महुए फूल), पिण्डखजूर, विदारीकन्द, शतावर, फालसे, हरड़, बहेड़ा,

आंवला; प्रत्येक १ पल जल, २ आढक (१२८ पल), अवशिष्ट क्वाथ ३२ पल (२ प्रस्थ)। आंवले का रस २ प्रस्थ । ईख का रस २ प्रस्थ । दूध २ प्रस्थ । कल्कार्थ—हरड़ १ शराव (८ पल) । यथाविधि घृत को सिद्ध करें । घृत की मात्रा—आधा तोला । शीतल होने पर घृत में उससे चौथाई भाग खांड और मधु (मिलित) मिलाकर प्रयोग करने से पित्तगुल्म तथा सब पैत्तिक रोग नष्ट होते हैं । जहां मधूक के स्थान पर मधुक पाठ है वहां मुलहठी ली जाती है ॥१२२-१२४॥

वासाघृतम्

वृषं समूलमापोथ्य पचेदष्टगुणे जले ॥ १२५ ॥
शेषेऽष्टभागे तस्यैव पुष्पकल्कं प्रदापयेत् ।
तेन सिद्धं घृतं शीतं सक्षौद्रं पित्तगुल्मनुत् ॥ १२६ ॥
रक्तपित्तज्वरश्वासकासहृद्रोगनाशनम् ।

इति वासाघृतम् ।

वासाघृत—जड़ सहित अडूसे को लेकर उसे कुचल लें और आठगुना जल देकर उसका क्वाथ करें। जब जल का आठवां भाग शेष रह जाय तब उतार लें और वस्त्र से छान लें । इस क्वाथ से तथा अडूसे के फूलों के कल्क से घृत को यथाविधि पकावें । शीतल होने पर मधु का प्रक्षेप देकर रोगी को प्रयोग करावें । वासाघृत की मात्रा—आधा तोला । यह पित्तगुल्म, रक्तपित्त, ज्वर, श्वास, कास तथा हृद्रोग को नष्ट करता है । यह घृत रक्तपित्त में भी कहा जा चुका है । वहां पर यद्यपि क्वाथ का विधान मूल में नहीं दिया गया परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार आठ गुना जल से सिद्धकर अष्टमांश शेष रखने को हमने कहा है। वृद्धवाग्भट ने वह पाठ इस संहिता के गुल्मोक्त वासाघृत के अनुसार ही रक्तपित्ताधिकार में पढ़ा है । चक्रपाणि कहता है कि यह घृत रक्तपित्तोक्त वासाघृत से पृथक् है । उसके मतानुसार रक्तपित्तोक्त वासाघृत में सामान्य परिभाषा के अनुसार ही

वासा (अड्सा) का क्वाथ किया जाता है। अर्थात् वासा से चतुर्गुण जल देकर चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है। वह कहता है कि इसी हेतु आचार्य ने अतिदेश न करके यहां वासाघृत को पुनः पढ़ा है ॥

द्विपलं त्रायमाणाया जलद्विप्रस्थसाधितम् ॥ १२७ ॥
अष्टभागस्थितं पूतं कोष्णं क्षीरसमं पिबेत् ।
पिबेदुपरि तस्योष्णं क्षीरमेव यथाबलम् ॥ १२८ ॥
तेन निर्हृतदोषस्य गुल्मः शाम्यति पैत्तिकः ।

२ पल त्रायमाणा को ४ प्रस्थ (६४ पल) जल में डालकर काढ़े। जब ८ पल शेष रह जाय तब उसे छान ले और कोसा होने पर उसमें समान दूध मिलाकर मात्रा में पीवे । इस के ऊपर साधारण गरम दूध अपने बल के अनुसार पीवे । इससे दोष के निकल जाने पर पैत्तिक गुल्म शान्त हो जाता है । गुल्म में उपयोगी आधुनिक मात्रा क्वाथ २ तोले में २ तोले दूध मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये । वृद्धवाग्भट ने त्रायमाणा से दूध को सिद्धकर उसे प्रयोग कराने को कहा है—

'क्षीरं वा त्रायमाणाशृतं कोष्णं पीत्वा क्षीरमेव सुखोष्णमनुपिबेत्' ॥ १२७–१२८ ॥

द्राक्षाभयारसं गुल्मे पैत्तिके सगुडं पिबेत् ॥ १२९ ॥
लिह्यात्कम्पिल्लकं वाऽपि विरेकार्थं मधुद्रवम् ।

पैत्तिक गुल्म में विरेचन के लिये द्राक्षा और हरड़ के क्वाथ में गुड़ डालकर रोगी पीवे । अथवा कमीले के साथ मधु मिलाकर चाटे। कमीले की मात्रा—१॥ मासा ॥ १२९ ॥

दाहप्रशमनोऽभ्यङ्गः सर्पिषा पित्तगुल्मिनाम् ॥ १३० ॥
चन्दनाद्येन तैलेन तैलेन मधुकस्य वा ।

पित्तगुल्म में अभ्यङ्ग—पित्तगुल्म के रोगियों को दाह की शान्ति के लिये घी (शतधौत वा सहस्रधौत), चन्दनाद्य तैल (ज्वरचिकित्सोक्त) अथवा

मुलहठी के (क्वाथ और कल्क से साधित) तैल का अभ्यङ्ग कराना चाहिये ॥ १३० ॥

ये च पित्तज्वरार्तानां सतिक्ताः क्षीरबस्तयः ॥ १३१ ॥
हितास्ते पित्तगुल्मिभ्यो वक्ष्यन्ते ये च सिद्धिषु ।

पित्तगुल्म में बस्तियां—जो पित्तज्वर के रोगियों के लिये तिक्तद्रव्य युक्त दूध की बस्तियां हितकर हैं वे और जिन्हें सिद्धिस्थान में कहा जायगा वे पित्तगुल्म के रोगियों के लिये सुखकर हैं । ज्वर-चिकित्सित में बस्तियों के योग १९३१ पृष्ठ पर प्रारम्भ होते हैं ॥१३१॥

शालयो जाङ्गलं मांसं गव्याजे पयसी घृतम् ॥ १३२ ॥
खर्जूरामलकं द्राक्षां दाडिमं सपरूषकम् ।
आहारार्थं प्रयोक्तव्यं,

आहारार्थ द्रव्य——शालिचावल, जाङ्गल पशुपक्षियों का मांस, गौ और बकरी का दूध, घी, पिण्डखजूर, आंवला, द्राक्षा (अंगूर), अनार, फालसा; इनका आहारार्थ प्रयोग करना चाहिये ॥ १३२ ॥

पानार्थं सलिलं शृतम् ॥ १३३ ॥
बलाविदारिगन्धाद्यैः पित्तगुल्मचिकित्सितम् ।

पानार्थ द्रव—पीने के लिये बला और विदारिगन्धादिगण (क्षुद्रपञ्चमूल); इन छह ओषधियों से षडङ्गपानीय परिभाषा के अनुसार साधित जल देना चाहिये । यह पित्तगुल्म की चिकित्सा है ॥१३३॥

आमान्वये पित्तगुल्मे सामे वा कफवातिके ॥ १३४ ॥
यवागूभिः खडैर्यूषैः सन्धुक्ष्योऽग्निर्विलङ्घिते ।

यदि पित्तगुल्म में आम का अनुबन्ध हो अर्थात् साम पित्तगुल्म में अथवा साम श्लैष्मिक वा साम वातिक में पूर्व लङ्घन कराकर यवागुओं खडों और यूषों द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिये । सूत्रस्थान अ० १३ की व्याख्या में खड की परिभाषा बतायी जा चुकी है ॥ १३४ ॥

---

१ 'पित्तज्वरहराः' च. ।

शमप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रितौ ॥ १३५ ॥
तस्मादग्निं सदा रक्षेन्निदानानि च वर्जयेत् ।

सब दोषों की शान्ति वा प्रकोप अग्नि पर आश्रित है, अतः सदा अग्नि की रक्षा करे और निदान का त्याग करे ॥ १३५ ॥

वमनार्हाय वमनं प्रदद्यात्कफगुल्मिने ॥ १३६ ॥
स्निग्धस्विन्नशरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते ।
परिवेष्ट्य[1] प्रदीप्तांस्तु बल्वजानथवा कुशान् ॥ १३७ ॥
भिषक्कुम्भे समावाप्य गुल्मं घटमुखे क्षिपेत्[2] ।
संगृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत् ॥ १३८ ॥
वस्त्रान्तरं ततः कृत्वा भिन्द्याद्गुल्मं प्रमाणवित् ।
विमार्गाजपदादर्शैर्यथालाभं[3] प्रपीडयेत् ॥ १३९ ॥
मृद्गीयाद्गुल्ममेवैकं न त्वत्र हृदयं स्पृशेत् ।

कफगुल्म की चिकित्सा—वमनयोग्य कफगुल्म के रोगी को पूर्व वमन करावे । जब स्नेह और स्वेद से गुल्म शिथिल हो जाय तब गुल्म के मूल को वस्त्र से लपेट दे। एक घड़े (घटीयन्त्र) में जलते हुए बल्वज (तृणविशेष) अथवा कुशों को डाल दे और घड़े के मुख को गुल्म पर लगा दे । इस से गुल्म घड़े के मुख की ओर खींचा और पकड़ा जाता है । इस क्रिया को आजकल Cupping कहते हैं। पश्चात् इस घट को उतार ले । तदनन्तर गुल्म के मूल पर वस्त्र को कस कर बांध दे और प्रमाण को जानने वाला वैद्य उस उन्नत हुए २ गुल्म का भेदन करे—चीरा दे । अब विमार्ग अजपद आदर्श (दर्पण); इनमें से जो प्राप्त होसके उससे पीडन करे जिससे दोष निकल जाय। गुल्मका ही पीडन वा मर्दन करे हृदय को न छूए। अभिप्राय यह है कि यह सब कर्म हृदय को बचाकर करना चाहिये।घटीयन्त्र

---

१ 'परिवेश्य' ग. । २ 'न्यसेत्' ग. । ३ 'विमार्गजं यदा पश्येद्यथा-लाभं' ग० ।

का प्रयोग प्रायशः प्रचुर श्वेताणुओं (Leuceytes) से और हानिकारक क्षुद्र जीवाणुओं के घातक उपादानों से युक्त रक्तरस (Blood-serum) को अधिक मात्रा में लाने के लिये किया जाता है। इसके साथ ही भेदन आदि द्वारा कफ और दुष्ट रक्त को भी इसकी सहायता से बाहिर निकाला जाता है। विमार्ग वह यन्त्र है जिससे मोची वा चमड़े का काम करने वाले रेखा डालते हैं यह लकड़ी का लम्बा गोल बना होता है। अजपद बकरी के पैर के सदृश बने लकड़ी के यन्त्र को कहते हैं। दोष के बाहिर निकालने वा विलयन के लिये इनसे मर्दन वा पीडन किया जाता है। दर्पण के चिकने गोल किनारे से भी पीडन कर सकते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में तो—

'ततोऽस्य सर्वमङ्गं गुल्मं च साध्मानं सविबन्धं कठिनमुन्नतं गूढमांसं स्थिरं महावास्तुं च बहुधा बहुशश्च स्वेदयेत्। स्निग्धस्विन्न-शरीरस्य शिथिलतां गते गुल्मे यथोक्तां घटिकां लागयेत्। तया संगृहीते च गुल्मे घटीमपनयेत् भिन्द्याद्वा। ततो हृदयमान्त्रं च वर्जयन् गुल्मं विमार्गाजपदादर्शान्यतमेन वस्त्रान्तरितं प्रपीडयेत् प्रमृज्यात्॥'

आजकल घटीयन्त्र (Cupping Glasses) में बल्वज कुश आदि तृण न जलाकर स्पिरिट डालकर आग लगाते हैं। फल एक सा ही है। घटी के गर्म होने से वहां का वायु बाहिर निकल जाता है॥ १३६–१३९॥

तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च ॥ १४० ॥
श्लेष्मगुल्ममयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक् ।

श्लैष्मिक गुल्म पर तिल, एरण्डबीज, अलसी, सरसों; इनका लेप करके सुहाते गरम लोहे के पात्रों से स्वेदन करे ॥१४०॥

दशमूलीघृतम्

सव्योषक्षारलवणं दशमूलीशृतं घृतम् ॥ १४१ ॥

कफगुल्मं जयत्याशु सहिङ्गुबिडदाडिमम् ।

इति दशमूलीघृतम् ।

दशमूलीघृत—घी को दशमूल के क्वाथ और त्रिकटु, यवक्षार सेन्धानमक, हींग, बिडनमक और अनारदाना; इनके कल्क से यथाविधि सिद्ध करें। यह घृत शीघ्र कफगुल्म को जीतता है । घी २ प्रस्थ। दशमूल क्वाथ ८ प्रस्थ। त्रिकटु आदि का कल्क १ शराव। यथाविधि सिद्धकर आधा तोला मात्रा में प्रयुक्त कराना चाहिये । अष्टाङ्ग चि० अ १६ में—

'दशमूलक्वाथे व्योषदाडिमहिङ्गुयवक्षारबिडसैन्धवयुक्तं सर्पिः सिद्धं श्लेष्मगुल्मघ्नम् ।'

गङ्गाधर तो दशमूल के क्वाथ और दशमूल के कल्क से ही सिद्धकर त्रिकटु आदि का प्रक्षेप देने को कहता है । वह दाडिम से अनार के फल का छिलका लेता है । पर यह प्रमादवचन ही है ॥ १४१ ॥

भल्लातकाद्यं घृतम्

भल्लातकानां द्विपलं पञ्चमूलं पलोन्मितम् ॥ १४२ ॥
साध्यं विदारिगन्धाद्यमापोथ्य सलिलाढके।
पादशेषे रसे तस्मिन् पिप्पलीं नागरं वचाम् ॥ १४३ ॥
विडङ्गं सैन्धवं हिङ्गु यावशूकं बिडं शटीम् ।
चित्रकं मधुकं रास्नां पिष्ट्वा कर्षसमं भिषक् ॥ १४४ ॥
प्रस्थं च पयसः[1] कृत्वा घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
एतद्भल्लातकघृतं कफगुल्महरं परम् ॥ १४५ ॥
प्लीहपाण्ड्वामयश्वासग्रहणीरोगकासनुत् ।

इति भल्लातकाद्यं घृतम् ।

---

१ 'पयसो दत्त्वा' ग. ।

भल्लातकाद्य घृत—घी २ प्रस्थ (३२ पल)। क्वाथार्थ—भिलावे २ पल,विदारिगन्धाद्य पञ्चमूल अर्थात् क्षुद्रपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती, गोक्षुर) प्रत्येक १ पल को कुचल कर २ आढक (८ प्रस्थ) जल में क्वाथ करे। जब चतुर्थांश (२ प्रस्थ) अवशिष्ट रह जाय तब छान ले। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिप्पली, सोंठ, वच, वायविडङ्ग, सेन्धानमक, हींग, यवक्षार, विडनमक, कचूर, चित्रक, मुलहठी, रास्ना; प्रत्येक का कल्क २ तोला। यथाविधि पाक करे। यह भल्लातकघृत परम कफगुल्म-नाशक है। प्लीहा पाण्डुरोग श्वास ग्रहणीरोग तथा कास को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे से ४ मासे तक। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

'भल्लातकपलद्वयं लघुपञ्चमूलं च पालिकमुदकाढके प्रस्थावशेषं पाचयेत्। तस्मिन् क्षीरप्रस्थे च सर्पिः प्रस्थं हिङ्गुविडङ्गशटीविडसैन्धवक्षाररास्नानागरपिप्पलीषड्ग्रन्थामधुकचित्रकैः कार्षिकैर्विपचेत्। एतद् भल्लातकघृतं कफगुल्मप्लीहकासश्वासग्रहणीपाण्डुरोगघ्नम्।' १४२-१४५

पञ्चकोलघृतम्।

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः ॥ १४६ ॥
पलिकैः सयवक्षारैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत्।
क्षीरप्रस्थेन तत्सर्पिर्हन्ति गुल्मं कफात्मकम् ॥ १४७ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं प्लीहकासज्वरापहम्।

इति पञ्चकोलघृतम्।

पञ्चकोलघृत—गौ का घी २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ और यवक्षार प्रत्येक १पल। यथाविधि पाक करे। यह घृत कफगुल्म का घातक है। ग्रहणी पाण्डुरोग प्लीहा कास और ज्वर को हटाता है। मात्रा—आधा तोला। इसे क्षीरषट्पलक नाम से भी कहा जाता है॥१४६-१४७॥

मिश्रकस्नेहः

त्रिवृतां त्रिफलां दन्तीं दशमूलं पलोन्मितम् ॥ १४८ ॥
जले चतुर्गुणे पक्त्वा चतुर्भागस्थितं रसम् ।
सर्पिरेरण्डजं तैलं क्षीरं चैकत्र साधयेत् ॥ १४९ ॥
स सिद्धो मिश्रकस्नेहः सक्षौद्रः कफगुल्मनुत् ।
कफवातविबन्धेषु कुष्ठप्लीहोदरेषु च ॥ १५० ॥
प्रयोज्यो मिश्रकः स्नेहो योनिशूलेषु चाधिकम् ।

इति मिश्रकः स्नेहः ।

मिश्रकस्नेह—क्वाथार्थ–त्रिवृता (निसोत), त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), दन्तीमूल, दशमूल (बिल्व, अग्निमन्थ, अरलु, पाटला, गम्भारी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती, गोखरू); प्रत्येक को १ पल लेकर चौगुने (६० पल) जल में क्वाथ करे जब चतुर्थांश (१५ पल) क्वाथ रह जाय तब छान ले । घी १५ पल । एरण्ड तैल १५ पल । दूध १५ पल । यथाविधि स्नेहपाक करे । इस मिश्रक स्नेह में मधु मिलाकर प्रयोग कराने से कफगुल्म नष्ट होता है । मात्रा—आधा तोला । यह मिश्रकस्नेह कफवातजन्य विबन्धों में कुष्ठ प्लीहा तथा उदररोगों में और विशेषतः योनिशूलों में प्रयोग कराना चाहिये । जतूकर्ण ने भी कहा है—

"त्रिवृतादन्तीत्रिफलादशमूलसमेनोरुवुकं तैलम् ।
सर्पिश्च शृतं पयसा सममुदावर्त्तशूलादौ ॥"

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

"त्रिफलाकुम्भनिकुम्भ दशमूलानां षोडशांशावशिष्टं क्वाथं घृतमेरण्डतैलं क्षीरं चैकतः साधयेत । अयं मिश्रकस्नेहः कफगुल्मवातविड्विबन्धोदावर्तप्लीहोदरयोनिशूलान्यपकर्षति ।"

यहां पर क्वाथ के लिये सोलह गुना जल डाल कर सोलहवां भाग अवशिष्ट रखने को कहा है—यह विशेषता है । टीकाकार इन्दु के

अनुसार भी घी, एरण्डतैल और दूध क्वाथ के समान ही लिये जाते हैं। गङ्गाधर ने भी क्वाथ आदि सब समान ही लेने को कहे हैं। जतूकर्ण के उद्धृतवचन से भी यही प्रतीत होता है। अतएव हमने घृत एरण्डतैल और दूध का मान क्वाथ के समान ही लेने को कहा है। सामान्यपरिभाषा के बाधित करने में जतूकर्ण का उद्धृत वचन पर्याप्त है।

चक्रपाणि दूध को तो क्वाथ के समान ही लेता है परन्तु घी और एरण्डतैल को क्वाथ और दूध के मिलित द्रव से चतुर्थांश लेने को कहता है। अथवा वह कहता है कि द्रवान्तर के योग होने पर यतः दूध स्नेह के समान लिया जाता है अतः उतना दूध और उक्त परिमाण (१५ पल) में क्वाथ लेकर दोनों के मिलितप्रमाण से चतुर्थांश स्नेह (घी और एरण्डतैल मिलित) लेना चाहिये। इसके अनुसार ५ पल दूध, १५ पल क्वाथ और स्नेह ५ पल लिया जायगा॥१४८-१५०॥

यदुक्तं वातगुल्मं स्रंसनं नीलिनीघृतम् ॥ १५१ ॥
द्विगुणं तद्विरेकार्थं प्रयोज्यं कफगुल्मिनाम् ।

जो हमने वातगुल्म के नाश के लिये विरेचनार्थ "नीलिनीं त्रिवृतां" इत्यादि द्वारा नीलिनीघृत कहा है—कफगुल्म में वही घृत विरेचनार्थ दुगुनी मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये ॥ १५१ ॥

सुधाक्षीरद्रवे चूर्णं त्रिवृतायाः सुभावितम् ॥ १५२ ॥
कार्षिकं मधुसर्पिर्भ्यां लीढ्वा साधु विरिच्यते ।

त्रिवृता (निसोत) के चूर्ण को सेहुण्ड के दूध से अच्छीप्रकार भावना देकर १ कर्ष प्रमाण में मधु और घी के साथ चाटे। इससे अच्छीप्रकार विरेचन हो जाता है। आजकल के लोगों के लिये १ कर्ष मात्रा बहुत ही अधिक है। इस समय तो ४ या ६ रत्ती मात्रा में इसे प्रयुक्त कराना चाहिये ॥ १५२ ॥

दन्तीहरीतकी ।

जलद्रोणे विपक्तव्या विंशतिः पञ्च चाभयाः ॥ १५३ ॥
दन्त्याः पलानि तावन्ति चित्रकस्य तथैव च ।
अष्टभागस्थितं[1] तं च रसं पूतमधिक्षिपेत् ॥ १५४ ॥
दन्तीसमं गुडं पूतं क्षिपेत्तत्राभयाश्च ताः ।
तैलार्धकुडवं चैव त्रिवृतायाश्चतुष्पलम् ॥ १५५ ॥
चूर्णितं पलमेकं च[2] पिप्पलीविश्वभेषजम् ।
तत्साध्यं लेहवच्छीते तस्मिंस्तैलसमं मधु ॥ १५६ ॥
क्षिपेच्चूर्णपलं[3] चैकं त्वगेलापत्रकेशरात् ।
ततो लेहपलं लीढ्वा जग्ध्वा चैकां हरीतकीम् ॥ १५७ ॥
सुखं विरिच्यते स्निग्धो दोषप्रस्थमनामयः ।
गुल्मं श्वयथुमर्शांसि पाण्डुरोगमरोचकम् ॥ १५८ ॥
हृद्रोगं ग्रहणीदोषं कामलां विषमज्वरम् ।
कुष्ठं प्लीहानमानाहमेषा हन्त्युपयोजिता ॥ १५९ ॥
निरत्ययः क्रमश्चास्या द्रवो मांसरसौदनः ।

इति दन्तीहरीतकी ।

दन्तीहरीतकी—बड़ी हरड़ (ढीली पोटली में बंधी हुई) २५, दन्तीमूल २५ पल, चित्रक २५ पल; पाकार्थ जल २ द्रोण (३२ प्रस्थ)। पकाकर आठवां भाग अर्थात् ४ प्रस्थ शेष रह जाय तब उतार लें और छान लें। इस काथ में २५ पल गुड को घोलकर पुनः वस्त्रसे छान लें। अब पोटलीमें से हरड़ों को पृथक् कर उनकी गुठली निकाल डालें। उन पचीस हरड़ों को ४ पल तिलतैल में भून लें और इसी में ही वह गुडयुक्तकाथ डाल दें। मन्द मन्द आंच पर पकावें। जब यथावत् पाक हो जाय तब निसोत का चूर्ण ४ पल पिप्पली और

---

१ 'अष्टभागावशेषं तु' ग.।　२ 'चूर्णितं चार्धपलिकं' ग.।
३ 'दद्याच्चूर्णपलं' ग.।

सोंठ का चूर्ण मिलित १ पल डालकर अच्छी प्रकार आलोडन कर दें । इसप्रकार अवलेह के सदृश सिद्ध हो जाने पर नीचे उतार लें । शीतल होने पर तैल के समान अर्थात् ४ पल मधु और दालचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र, नागकेसर; इनका चूर्ण मिलित १ पल डाल-कर अच्छी प्रकार मिला दें । इस अवलेह को १ पल मात्रा में चाटकर और एक हरड़ खाकर नीरोग एवं स्निग्ध (जिसका स्नेहन किया गया है) पुरुष को १ प्रस्थ दोष का सुख से विरेचन हो जाता है । यहां पर १ प्रस्थ से १३॥ पल का ग्रहण है । भोज ने कहा भी है—

'वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे ।
सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥'

यह गुल्म शोथ अर्श पाण्डुरोग अरुचि हृद्रोग ग्रहणीदोष कामला विषमज्वर कुष्ठ प्लीहा आनाह;इनको नष्ट करती है । इसका सेवन निर्दोष है । इस में पथ्य मांसरस और भात है । मांसरस इतना होना चाहिये जिससे भात द्रवरूप हो जाय । आजकल लेह १ तोले से २ तोले तक प्रयुक्त होता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

'दन्त्याः पलानि पञ्चविंशतिस्तावन्त्येव चित्रकस्य तावत्य एव हरीतक्यः सर्वमेकत्र सलिलकलशेऽष्टांशावशिष्टं साधयित्वा पूते च तस्मिन् रसे ताश्च हरीतकीः पञ्चविंशतिं गुडपलानि तैलार्धकुडवं चूर्णी-कृतं त्रिवृताकुडवमर्धपलोन्मितां मागधिकां महौषधं च प्रदिशेत् । ततो मृद्वग्निना लेहीभूतेऽवतारिते शीते च तैलसमं मधु कर्षांशं च चतुर्जात-कचूर्णं मिश्रयेत् । एता दन्तीहरीतक्यः सावलेहाः पञ्चविंशत्यहोभिर्भ-क्ष्यमाणा गुल्मार्शःश्वयथुकुष्ठकामलारोचकग्रहणीपाण्डुहृद्रोगोदक्लेशप्लीहो-दरविषमज्वरानपोहन्ति । हृद्यं सुखं च विरेचनम् ' ॥१५३-१५९॥

सिद्धाः सिद्धिषु वक्ष्यन्ते निरूहाः कफगुल्मिनाम् ॥१६०॥
अरिष्टयोगाः सिद्धाश्च ग्रहण्यर्शश्चिकित्सिते ।

कफगुल्म में प्रयोग के योग्य सिद्ध निरूह बस्तियां सिद्धिस्थान

में कही जांयगी । सिद्ध अरिष्टों के योग ग्रहणी और अर्श की चिकित्सा में कहे जांयगे ॥ १६० ॥

यच्चूर्णं गुटिका याश्च विहिता वातगुल्मिनाम् ॥ १६१ ॥
द्विगुणक्षारहिङ्ग्वम्लवेतसास्ताः कफे मताः ।

जो चूर्ण और गुटिकायें वातगुल्म के रोगियों के लिये कहीं हैं उनमें क्षार हींग और अम्लवेतस को दुगुने प्रमाण में डालकर कफगुल्म में प्रयोग करावें । जैसे हिङ्ग्वादिचूर्ण में हींग, अम्लवेतस, यवक्षार, सर्जिक्षार एक एक भाग डाले हैं परन्तु कफगुल्म में प्रयोग कराने के लिये इनके दो दो भाग डालने चाहियें । चूर्ण के शेष द्रव्यों का परिमाण उतना ही अर्थात् एक २ भाग ही रहेगा ॥१६१॥

य एव ग्रहणीदोषे क्षारास्ते कफगुल्मिनाम् ॥ १६२ ॥
सिद्धा निरत्ययाः शस्ता दाहस्त्वन्ते प्रशस्यते ।

जो ग्रहणीदोष की चिकित्सा में क्षार कहे हैं, वे ही कफगुल्म के रोगियों को भी लाभप्रद है उनसे कोई हानि नहीं होती ।

यदि इस उपर्युक्त चिकित्सा से लाभ न हो तभी अन्त में दाह की व्यवस्था करनी चाहिये । अथवा यदि दाह करना हो तो गुल्म के चारों ओर प्रान्तदेशों पर करना चाहिये ॥ १६२ ॥

अपुराणानि धन्यानि जाङ्गला मृगपक्षिणः ॥ १६३ ॥
कौलत्थो मुद्गयूषश्च पिप्पल्या नागरस्य च ।
शुष्कमूलकयूषश्च बिल्वस्य वरुणस्य[1] च ॥ १६४ ॥
चिरिबिल्वाङ्कुराणां च यवान्याश्चित्रकस्य च ।

अति पुरातनधान्य (तीन चार वर्ष के पुराने धान्य), जाङ्गल पशु एवं पक्षी, कुलथी का यूष, मूंग का यूष, पिप्पली का यूष, सोंठ वा अदरख का यूष, सूखी मूली का यूष तथा बिल्व (बेलगिरी), वरुण करञ्ज के अंकुर अजवाइन चित्रक; इनके यूष भी कफगुल्म में

1 'तरुणस्य' ग. ।

हितकर हैं ॥ १६३-१६४ ॥

बीजपूरकहिङ्ग्वम्लवेतसक्षारदाडिमैः ॥ १६५ ॥
तक्रेण तैलसर्पिर्भ्यां व्यञ्जनान्युपकल्पयेत् ।

बीजपूर (बिजौरा) हींग अम्लवेतस क्षार अनारदाना तक्र (छाछ) तैल घी; इनके संयोग से व्यञ्जनों (सूप शाक आदि) को प्रस्तुत करे ॥ १६५ ॥

पञ्चमूलीशृतं तोयं पुराणं वारुणीरसम् ॥ १६६ ॥
कफगुल्मी पिबेत्काले जीर्णं माध्वीकमेव वा ।

कफगुल्म का रोगी प्यास आदि के समय उचित काल में लघु-पञ्चमूल से सिद्ध किया जल पुरानी वारुणी अथवा पुरानी माध्वीक पीवे। ताड़ अथवा खजूर आदि के रस से प्रस्तुत मद्य को वारुणी कहते हैं। मधु, महुए के फूल अथवा अंगूर की मद्य को माध्वीक कहा जाता है ॥ १६६ ॥

यवानीचूर्णितं तक्रं विडेनं लवणीकृतम् ॥ १६७ ॥
पिबेत्संदीपनं वातमूत्रवर्चोनुलोमनम् ।

तक्र में अजवायन का चूर्ण डाल कर विडनमक से नमकीन कर लें। यह तक्र अग्नि को दीप्त और वात मूत्र एवं मल का अनुलोमन करती है ॥ १६७ ॥

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः ॥ १६८ ॥
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोन्नतः ।
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासवम्यरतिज्वरैः ॥ १६९ ॥
तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते न स सिध्यति ।

गुल्म की असाध्यता के लक्षण—जो गुल्म क्रमशः सञ्चित होता हुआ बहुत बड़े स्थान को घेर लेता है, जिसने जड़ पकड़ ली है, सिराओं से बांधा गया अर्थात् शिराजाल से व्याप्त और जब कछुए के सदश

१ 'विडेनालवणीकृतम्' ग. ।

उन्नत होजाता है, तथाच दुर्बलता, अरुचि, जी मचलाना, कास, कै, अरति (किसी भी कार्य में प्रीति न होना), ज्वर, तृष्णा, तन्द्रा, प्रतिश्याय; इन से युक्त होता है—वह असाध्य होता है ॥ १६८-१६९ ॥

गृहीत्वा सज्वरश्वासं वम्यतीसारपीडितम् ॥ १७० ॥
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोफः कर्षति गुल्मिनम् ।

ज्वर श्वास कै अतीसार से पीड़ित गुल्म के रोगी को हृदय नाभि हाथ पैरों में हुआ शोथ पकड़ कर खींचता है अर्थात् मृत्यु का कारण होता है ॥ १७० ॥

रौधिरस्य तु गुल्मस्य गर्भकालव्यतिक्रमे ॥ १७१ ॥
स्निग्धस्विन्नशरीरायै दद्यात्स्नेहविरेचनम् ।

रक्तगुल्म की चिकित्सा—गर्भकाल अर्थात् दस मास के व्यतीत हो जाने पर, गर्भिणी स्त्री के देह का स्नेहन और स्वेदन कराकर रुधिरगुल्म में स्नेह का विरेचन दे । यथा—एरण्डतैल ॥ १७१ ॥

पलाशक्षारपात्रे[1] द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः ॥ १७२ ॥
गुल्मशैथिल्यजननीं पक्त्वा मात्रां प्रयोजयेत् ।

पलाशक्षारयमक—तिलतैल २ पात्र (२ आढक=१२८ पल) गौ का घी २ पात्र । पलाशक्षारोदक ४ पात्र (४ आढक) । यथाविधि स्नेहपाक करे । गुल्म को शिथिल करने वाली इस यमक की मात्रा रोगिणी को पिलावे । पलाश (ढाक) की भस्म को ६ गुना जल में घोलकर २१ वार परिस्रुत करने से क्षारोदक प्रस्तुत होता है । क्षारसाध्य स्नेह की सिद्धि के लक्षण ये होते हैं—

'यस्मिन्नवसरे क्षारतोयसाध्यघृतादिषु ।
फेनोद्गमस्य निर्वृत्तिः नष्टदुग्धसमाकृतिः ।
स एव तस्य पाकस्य कालो नेतरलक्षणः ॥'

---

१ 'पलाशक्षारपादे द्वे द्वे पादे' च. ।

अर्थात् जब क्षारजल से किसी स्नेह का पाक किया जाता है तो उस में झाग उठती है और आकृति फटे दूध वा किलाट के सदृश हो जाती है। मात्रा—चौथाई तोला ॥ १७२ ॥

[1]प्रभिद्येत न यद्येवं दद्याद्योनिविशोधनम् ॥ १७३ ॥

यदि इसके प्रयोगसे गुल्मका भेदन न हो तो योनिविशोधन करावे।

क्षारेण युक्तं पललं सुधाक्षीरेण वा पुनः।
[2]आभ्यां वा भावितान्दद्याद्योनौ कटुकमत्स्यकान् ॥१७४॥

योनि के शोधनार्थ क्षार से अथवा सेहुण्ड के दूध से युक्त तिल-कल्क को योनि में देवे अथवा क्षार और सेहुण्ड दूध दोनों से भावित कटुमत्स्यों (शफरी नामक मछली) को योनि में दे। कटुकमत्स्य का अर्थ मरिच पिप्पली आदि कटुद्रव्यों से संस्कृत मत्स्य भी हो सकता है। गङ्गाधर तो पलल का अर्थ मांसखण्ड करता है और कहता है कि उस मांसखण्ड को क्षार से अथवा सेहुण्ड के दूध से चुपड़ कर योनि में प्रविष्ट करादे। क्षार से प्रायः प्रकरणागत पलाश-क्षार का ग्रहण करते हैं। परन्तु अन्य पिप्पलक्षार यवक्षार आदि से भी यह कार्य सिद्ध हो जाता है ॥ १७४ ॥

वराहमत्स्यपित्ताभ्यां नक्तकान् वा सुभावितान्।
अधोहरैश्चोर्ध्वहरैर्भावितान् वा समाक्षिकैः ॥ १७५ ॥

अथवा सूअर के पित्त वा मछली के पित्त से अच्छी प्रकार भावना दिये हुए पिचुओं को अथवा मधु से युक्त विरेचनद्रव्य और मधुयुक्त वमन द्रव्यों से भावित पिचुओं को योनि में प्रविष्ट करावे॥ १७५॥

किण्वं वा सगुडक्षारं दद्याद्योनिविशोधनम्।
रक्तपित्तहरं क्षारं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥ १७६ ॥

अथवा योनि के शोधनार्थ किण्व (सुराबीज) में गुड और क्षार मिश्रित कर वर्त्ति बना योनि में रखे।

---

१ 'प्रभिद्यते' ग.। २ 'ताभ्यां' ग.।

रक्तपित्तनाशक क्षार (नीलोत्पलक्षार), को मधु और घी के साथ रोगिणी को चटावे ॥ १७६ ॥

लशुनं मदिरां तीक्ष्णां मत्स्यांश्चास्यै प्रदापयेत् ।
बस्तिं सक्षीरगोमूत्रं सक्षारं दाशमूलिकम् ॥ १७७ ॥

तथा च रोगिणी को अन्नपान में लहसुन तीक्ष्ण मदिरा एवं मछली का प्रयोग करावे और दूध गोमूत्र तथा क्षार से युक्त दशमूलक्वाथ की उत्तरबस्ति दे ॥१७७॥

अदृश्यमाने रुधिरे दद्याद्गुल्मप्रभेदनम् ।
प्रवृत्तमाने रुधिरे दद्यान्मांसरसौदनम् ।
घृततैलेन चाभ्यङ्गं पानार्थं तरुणीं सुराम् ॥ १७८ ॥

यदि योनि से रुधिर की प्रवृत्ति न हो तब यह गुल्म की भेदन चिकित्सा करनी चाहिये । यदि रुधिर प्रवृत्त हो तो उसे मांसरस और ओदन (भात) खाने को दे । घी तैल की मालिश और पीने के लिये नवीन मद्य दे ॥ १७८ ॥

रुधिरेऽतिप्रवृत्ते तु रक्तपित्तहराः क्रियाः ।
कार्या वातरुगार्तायाः सर्वा वातहराः पुनः ॥ १७९ ॥
घृततैलावसेकांश्च तित्तिरींश्चरणायुधान् ।
सुरां समण्डां पूर्वं च पानमम्लस्य सर्पिषः ॥ १८० ॥
प्रयोजयेदुत्तरं वा जीवनीयेन सर्पिषा ।
अतिप्रवृत्ते रुधिरे सतिक्तेनानुवासनम् ॥ १८१ ॥

यदि रुधिर अत्यधिक मात्रा में प्रवृत्त होने लगे तो रक्तपित्तनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। यदि किसी वातजरोग वा वातज वेदनाओं से पीड़ित हो तो सब वातहर चिकित्सा की जाती है । घी और तैल का परिषेक, तीतर और मुर्गे के मांसरस का भोजन, मण्ड (प्रसन्ना) युक्त सुरा का अथवा अम्लरस द्रव्यों से युक्त घी का भोजन से पूर्व पना हितकर है । रुधिर के अत्यधिक प्रवृत्त होने पर जीवनीय द्रव्यों

से साधित घृत की उत्तरबस्ति दे। और तिक्तकघृत से अनुवासन करावे। अथवा पूर्व अम्ल घृत और मण्ड युक्त सुरा का पान कराकर पश्चात् तिक्तद्रव्ययुक्त जीवनीय घृत का अनुवासन करावे॥१८०-१८१॥

तत्र श्लोकाः ।

स्नेहः स्वेदः सर्पिश्चूर्णानि बृंहणं गुडिकाः ।
वमनविरेकौ मोक्षः क्षतजस्य च वातगुल्मवताम् ॥ १८२ ॥

उपसंहार—वातगुल्म में स्नेह, स्वेद, घृत, चूर्ण, बृंहण, गुडिकायें, वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण कराना चाहिये ॥१८२॥

सर्पिः सतिक्तसिद्धं क्षीरं प्रस्रंसनं निरूहाश्च ।
रक्तस्य चावसेचनमाश्वासनसंशमनयोगाः ॥ १८३ ॥
उपनाहनं सशस्त्रं पक्वस्याभ्यन्तरप्रभिन्नस्य ।
संशोधनसंशमने पित्तप्रभवस्य गुल्मस्य ॥ १८४ ॥

पित्तगुल्म में तिक्तद्रव्यों से सिद्ध घी, दूध, विरेचन, निरूह, रक्तावसेचन, आश्वासन और संशमनयोग, उपनाह (पुल्टिस), पक्वगुल्म की शस्त्रचिकित्सा, आभ्यन्तर गुल्म के प्रभिन्न होने पर संशोधन और संशमन; यह चिकित्सा की जाती है ॥ १८३—१८४ ॥

स्नेहः स्वेदो भेदो लङ्घनमुल्लेखनं विरेकश्च ।
सर्पिर्बस्तिर्गुडिकाश्चूर्णमरिष्टाश्च सक्षाराः ॥ १८५ ॥
गुल्मस्यान्ते दाहः कफजस्याग्रेऽपनीतरक्तस्य ।

कफजगुल्म में स्नेह, स्वेद, भेदन, लङ्घन, वमन, विरेचन, घृत, बस्ति, गुडिकायें, चूर्ण, अरिष्टप्रयोग, क्षारप्रयोग तथा पूर्व रक्तनिर्हरण करके अन्त में दाह; यह क्रियाक्रम है ॥ १८५ ॥

गुल्मस्य रौधिरस्य क्रियाक्रमः स्त्रीभवस्योक्तः ॥ १८६ ॥
पथ्यान्नपानसेवा हेतूनां वर्जनं यथास्वं च ।
नित्यं चाग्निसमाधिः स्निग्धस्य च सर्वकर्माणि ॥ १८७ ॥
हेतुर्लिङ्गं सिद्धिः क्रियाक्रमः साऽध्यता न योगाश्च ।

गुल्मचिकित्सित संग्रह एतावानाग्निवेशस्य ॥ १८८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
गुल्मचिकित्सितं नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

स्त्रियों को होने वाले रक्तज गुल्म का चिकित्साक्रम कह दिया है। पथ्य अन्न पान का सेवन, अपने अपने निदान का त्याग, नित्य अग्नि की रक्षा, गुल्मरोगी का स्नेहन कराने के पश्चात् सब कर्म कराना, गुल्म का हेतु लक्षण सिद्धि, चिकित्साक्रम, साध्यता, असाध्यता, योग, गुल्म की चिकित्सा का इतना संग्रह है जो अग्निवेश ने बताया है ॥१८६-१८८॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः प्रमेहचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम प्रमेहचिकित्सा की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

निर्मोहमानानुशयो निराशः पुनर्वसुर्ज्ञानतपोविशालः ।
कालेऽग्निवेशाय सहेतुलिङ्गानुवाच मेहाञ्शमनं च तेषाम् ॥ २ ॥

निर्मोह निरभिमान तृष्णारहित निराकाङ्क्ष (महाज्ञानी महातपस्वी पुनर्वसु ने अग्निवेश को उपयुक्त समय पर प्रमेह उसके हेतु लिङ्ग और शमन (चिकित्सा) का उपदेश दिया था ॥२॥

आस्यासुखं स्वप्नसुखं दधीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पयांसि ।
नवान्नपानं गुडवैकृतं च प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम् ॥ ३ ॥

कफप्रमेह का निदान—आस्यासुखं अर्थात् सुखपूर्वक सदा बैठे रहना—चलना फिरना नहीं, शयनसुख (बहुधा आराम से लेटे रहना), दही, ग्राम्य औदक (जलचर) आनूप (जल प्रधान देश के) पशु

१ 'व्याहृतोऽग्निवेशाय' ग. ।

पक्षियों के मांसरस का अतिशय प्रयोग, दूध, नया अन्नपान (जैसे नवीन धान्य और नवीन मद्य आदि), गुड से बने खांड शक्कर आदि इनका अधिक सेवन; इनके अतिरिक्त अन्य भी जो कुछ कफ-कारक है वह प्रमेह का हेतु है ॥३॥

मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिंगतः प्रदूष्य ।
करोति मेहान्

कफ प्रमेह की सम्प्राप्ति—दुष्ट कफ मेद मांस और शारीरिक क्लेद को दूषित करके बस्ति में पहुंच कर प्रमेहों को करता है ॥

समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥ ४ ॥

पैत्तिकप्रमेह की सम्प्राप्ति—उष्ण द्रव्यों से प्रवृद्ध एवं कुपित हुआ हुआ पित्त उन्हीं मेद आदि दूष्यों को दूषित करके पैत्तिक प्रमेहों को करता है ॥ ४ ॥

क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य बस्तौ धातून्प्रमेहाननिलः करोति ।

वातिक प्रमेह की सम्प्राप्ति—कफपित्त दोषों के अपेक्षया क्षीण होने पर वायु वसा मज्जा ओज और लसीका; इन धातुओं को बस्ति में लाकर प्रमेहों को करता है ।

यहां पर कफ पित्त का क्षीण होना जो कहा है वहां समावस्था से भी क्षीण होने का अभिप्राय नहीं है अपितु वृद्ध वात की अपेक्षा जो न्यून है यह अर्थ अभीष्ट है । यदि कफपित्त के वृद्ध होने पर वायु अपने हेतुओं से क्रमशः बढ़कर प्रमेहों को करे तो वहां असाध्यता नहीं होती । उनकी चिकित्सा का निर्देश होने से साध्य मानना ही उचित है । आगे कहा भी जायगा—

'या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा ।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ॥'

दोषो हि बस्तिं समुपेत्य मूत्रं संदूष्य मेहाञ्जनयेद्यथास्वम् ॥ ५ ॥

१ 'बस्तिगतं' पा० । २ 'कुरुतेऽनिलश्च' ग. ।

प्रमेह सम्प्राप्ति में मूत्र की दुष्टि—दोष बस्ति में पहुंच कर मूत्र को दूषित करके अपने अपने लक्षणों वाले प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

सम्प्राप्ति का विस्तृत विवरण निदानस्थान में देखें ॥ ५ ॥

साध्याः कफोत्था दश पित्तजाः षट् याप्या न साध्यः पवनाच्चतुष्कः। समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥ ६ ॥

प्रमेहों की साध्यासाध्यता—समक्रिय होने से कफज दस प्रमेह साध्य हैं अर्थात् कफ की जो कटु तिक्त आदि चिकित्सा है वही मेद आदि दूष्यों की। अतएव एक ही चिकित्सा से दोष दूष्य की चिकित्सा हो जाती हैं। कहा भी है—

'ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम् ॥'

पित्तज छह प्रमेह याप्य हैं क्योंकि विषमक्रिय हैं—दोष दूष्य की चिकित्सा विसदृश है। पित्त की चिकित्सा मधुर आदि है परन्तु उस से मेद आदि दूष्य की अभिवृद्धि होती है। जो मेद के नाशक कटु द्रव्य है उन से पित्त की वृद्धि होती है। अतएव ये प्रमेह जड़ से नष्ट नहीं होते यथाकथञ्चित् दबाये जा सकते हैं।

महात्यय होने से वातिक प्रमेह असाध्य है। यह वसा मज्जा ओज लसीका आदि गम्भीर धातुओं पर आक्रमण करने के कारण बहुत उपद्रवों को करता है अतएव विनाशकारी होता है। तथा साथ ही ये प्रमेह विषमक्रिय भी होते हैं। क्योंकि वायु की चिकित्सा स्निग्ध होती है वह मेद को बढ़ाती है और जो मेद की रूक्ष चिकित्सा की जाय तो वात की अभिवृद्धि हो। इन दो हेतुओं से वातिक प्रमेह असाध्य होते हैं।

निदानस्थान में भी प्रमेहों की साध्यासाध्यता का विवेचन हो चुका है ॥ ६ ॥

कफः सपित्तः पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः ।
मज्जारसौजः पिशितं च दूष्यं प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥ ७ ॥

प्रमेह के दोष और दूष्यों का परिगणन—प्रमेह के रोगियों में कफ पित्त वायु; ये दोष हैं । मेद, रक्त, शुक्र (वीर्य), अम्बु (शारीरिक क्लेद—जलीयभाग), वसा, लसीका (मांस और त्वचा के अभ्यन्तर स्थित गाढ़ा जलीय भाग), मज्जा, रस, ओज, मांस ये दूष्य हैं । प्रमेह बीस ही होते हैं ॥ ७ ॥

जलोपमं चेक्षुरसोपमं वा घनं घनं चोपरि विप्रसन्नम् ।
शुक्लं सशुक्रं शिशिरं शनैर्वा लालेव वा वालुकया युतं वा ॥ ८ ॥
विद्यात्प्रमेहान्कफजान्दशैतान् ,

कफज प्रमेह—१ जिसमें मूत्र जल के सदृश होता है (इसे उदकमेह कहते हैं), २ ईख के रस के सदृश (इसे इक्षुवालिका-रसमेह भी कहते हैं), ३ जिसमें मूत्र घना होता है (इसे सान्द्रमेह कहते हैं), ४ जिसमें नीचे का भाग घना और ऊपर का स्वच्छ होता है (सान्द्रप्रसादमेह), ५ जिसमें मूत्र श्वेत होता है (शुक्लमेह), ६ जिसमें मूत्र शुक्रमिश्रित होता है (शुक्रमेह), ७ जिसमें मूत्र शीतल होता है (शीतमेह), ८ जिसमें रोगी शनैः शनैः निर्वेग मूत्र करता है (शनैर्मेह), ९ जब मूत्र लाला के सदृश होता है (लाला-मेह), १० जो मूत्र वालुका (दोष के छोटे २ मूर्त टुकड़ों से) युक्त हो (सिकतामेह); इन दस प्रमेहों को कफज जानें ॥ ८ ॥

क्षारोपमं कालमथापि नीलम् ।
हारिद्रमाञ्जिष्ठमथापि रक्तमेतान्प्रमेहान्षडुशन्ति पैत्तान् ॥ ९ ॥

पैत्तिक प्रमेह—१ क्षारसदृश (क्षारमेह), २ काले वर्ण का मूत्र (कालमेह), ३ नीले वर्ण का (नीलमेह), ४ हल्दी के वर्ण का (हारिद्रमेह), ५ मंजीठ के वर्ण का (माञ्जिष्ठमेह), ६ लाल वर्ण का (रक्तमेह); ये छह प्रमेह पैत्तिक कहाते हैं ॥ ९ ॥

मज्जौजसा वा वसयाऽन्वितं वा लसीकया वा सततं विबद्धम् ।
चतुर्विधं मूत्रयतीह[1] वाताच्छेषेषु धातुष्वपकर्षितेषु ॥ १० ॥

वातिक प्रमेह—१ मज्जा (मज्जमेह) २ ओज (ओजोमेह), ३ वसा (वसामेह) से युक्त और लसीका द्वारा निरन्तर बंधा हुआ (मूत्र करते समय लसीका की तारें निकलती हो—लसीकामेह); यह चार प्रकार का मूत्र वायु के कारण शेष धातुओं के क्षीण होने पर आता है। अथवा धातु से पित्त वा कफ का ग्रहण है। अर्थात् अपेक्षाकृत पित्त कफ में न्यूनता होने पर वायु इन चार प्रकार के प्रमेहों को उत्पन्न करता है ॥ १० ॥

वर्णं रसं स्पर्शमथापि गन्धं यथास्वदोषं भजते प्रमेहः ।
श्यावारुणो वातकृतः सशूलो मज्जादिसाद्गुण्यमुपैत्यसाध्यः ११

प्रमेह अपने २ वात आदि दोष के अनुसार वर्ण रस स्पर्श अथवा गन्ध को प्राप्त होता है।

असाध्य वातज प्रमेह वर्ण में श्याम अरुण, शूलयुक्त, तथा मज्जा वसा लसीका वा ओज के सदृश गुण युक्त होता है। मूत्र के साथ उन २ धातुओं के अतिमात्रा में क्षरण होने से उन २ धातुओं के गुण उसमें होते हैं ॥ ११ ॥

स्वेदोऽङ्गगन्धः शिथिलाङ्गता तु शय्यासनस्वप्नसुखे रतिश्च ।
हृन्नेत्रजिह्वाश्रवणोपदेहा घनाङ्गता केशनखातिवृद्धिः ॥ १२ ॥
शीतप्रियत्वं गलतालुशोषो माधुर्यमास्ये करपाददाहः ।
भविष्यतो मेहगदस्य रूपं मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च ॥ १३ ॥

प्रमेह के पूर्वरूप—पसीना, शरीर से गन्ध आना, अङ्गों का शिथिल होना, आराम से लेटे वा बैठे रहने में प्रीति, हृदयदेश नेत्र जिह्वा तथा कान का मैल से लिप्त रहना, शरीर का मोटा होना, केश तथा

---

१ 'मूत्रयतेऽनिलेन' ग.।

नखों की अत्यन्त वृद्धि, शीत में प्रीति होना, गले और तालु का सूखना, मुंह का स्वाद मीठा रहना, हाथ पैरों में दाह, मूत्र पर (विशेषतः मधुमेह में) चिऊंटियों का आना; ये प्रमेह रोग के पूर्वरूप हैं । सुश्रुत नि० अ० १६ में—

' तेषान्तु पूर्वरूपाणि हस्तपादतलदाहः स्निग्धपिच्छिलगुरुता गात्राणां मधुरशुक्लमूत्रता तन्द्रा सादः पिपासा दुर्गन्धः श्वासश्च तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्तिर्जटिलीभावः केशानां वृद्धिश्च नखानाम् ।'

स्थूलः प्रमेही बलवानिहैकः कृशस्तथैकः परिदुर्बलश्च ।
संबृंहणं तत्र कृशस्य कार्यं संशोधनं दोषबलाधिकस्य ॥ १४ ॥

प्रमेह का चिकित्साक्रम—प्रमेह के रोगी दो प्रकार के हो सकते हैं । १ वे जो स्थूल और बलवान् हों । २ वे जो कृश हों और अत्यन्त दुर्बल हों । जो रोगी कृश हो उसका तो बृंहण करना चाहिये और जिसमें दोष और बल अधिक हो उसका संशोधन करना चाहिये । सुश्रुत चि० अ० ११ में कहा है—

' तत्र कृशमन्नपानप्रतिसंस्कृताभिः क्रियाभिश्चिकित्सेत । स्थूलमपतर्पणयुक्ताभिः ।'

अपतर्पणसे संशोधन और लङ्घन आदि का ग्रहण होता है ।

सुश्रुत ने प्रमेह को हेतुभेद से स्थूल रूप में दो प्रकार का कहा है—१ सहज—जो माता पिता के बीज दोष से होता है और २ अपथ्य से उत्पन्न होने वाला । सहज प्रमेही का शरीर कृश होता है और अपथ्य से उत्पन्न होने वाले का शरीर स्थूल ।

' द्वौ प्रमेहौ भवतः सहजोऽपथ्यनिमित्तश्च । तत्र सहजो मातृपितृबीजदोषकृतः अहिताहारजोऽपथ्यनिमित्तः । तयोः पूर्वेणोपद्रुतः कृशो रूक्षोऽल्पाशी पिपासुर्भृशं परिसरणशीलश्च भवति । उत्तरेण स्थूलो बह्वाशी स्निग्धः शय्यासनस्वप्नशीलः प्रायेणेति ' ॥ १४ ॥

स्निग्धस्य योगा विविधाः प्रयोज्याः कल्पोपदिष्टा मलशोधनाय ।

ऊर्ध्वं तथाऽधश्च मलेऽपनीते मेहेषु सन्तर्पणमेव कार्यम् । १५ ॥

स्निग्ध रोगी को मल के शोधन के लिये कल्पस्थान में कहे गये विविध प्रकार के योगों का विवेचनापूर्वक प्रयोग कराना चाहिये। यह शोधन वमन वा विरेचन द्वारा किया जाता है। वमन वा विरेचन से पूर्व रोगी का स्नेहन करना आवश्यक है। स्नेहनार्थ सरसों अलसी इङ्गुदी बहेड़ा नीम आदि में से किसी एक के तेल वा प्रियङ्ग्वादि गण से सिद्ध घृत आदि से स्नेहन किया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में—

'अथ संशोधनार्हं प्रमेहिणमादावेव बिभीतकसर्षपेङ्गुदीकरञ्जनिम्बनिकुम्भान्यतमतैलेन त्रिकण्टकादिना वा यथास्वं सिद्धेन स्नेहेन प्रियङ्ग्वादिशृतेन वा हविषा स्नेहयित्वा कल्पविहितैः प्रयोगैर्वामयेद्विरेचयेच्च' ॥

यही सुश्रुत का अभिप्राय है। प्रियङ्ग्वादिगण सुश्रुतोक्त ही ग्रहण करना चाहिये। जो कि इस प्रकार है—

"प्रियङ्गुसमङ्गाधातकीपुन्नागनागपुष्पचन्दनकुचन्दनमोचरसरसाञ्जनकुम्भीकस्रोतोऽञ्जनपद्मकेसरयोजनवल्ल्यो दीर्घमूला चेति ।"

कफमेह में वमन कराया जाता है और पैत्तिक प्रमेह में विरेचन। जब यथाविधि वमन वा विरेचन द्वारा ऊपर वा नीचे से मल का संशोधन कर लिया जाय तब प्रमेह रोगों में सन्तर्पण ही कराना चाहिये ॥ १५ ॥

गुल्मः क्षयो मेहनबस्तिशूलं मूत्रग्रहश्चाप्यपतर्पणेन ।
प्रमेहिणः स्युः परिबृंहणानि कार्याणि तस्य प्रसमीक्ष्य वह्निम् १६

सन्तर्पण में हेतु—प्रमेह के रोगी का इस समय अपतर्पण कराने से गुल्म, क्षय, मूत्रेन्द्रिय वा बस्ति में शूल और मूत्रग्रह (मूत्र का कम आना वा सर्वथा न आना) हो जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में कहा है—

'ततश्च जाङ्गलरसैः क्रमेण सन्तर्पयेत् । अत्यपतर्पणेन हि प्रमेहिणो विशेषेण मूत्रकृच्छ्रबस्तिमेढ्रशूलगुल्मातिकार्श्यभ्रमादीनां संभवः ।'

जिस रोगी में अपतर्पण के कारण उपर्युक्त गुल्म आदि लक्षण हों उसकी अग्नि को देखकर बृंहण चिकित्सा करनी चाहिये ॥ १६ ॥

संशोधनं नार्हति यः प्रमेही तस्य क्रिया संशमनी प्रयोज्या ।
मन्थाः कषाया यवचूर्णलेहाः प्रमेहशान्त्यै लघवश्च भक्ष्याः १७

जो रोगी संशोधन के योग्य नहीं वहां संशमनचिकित्सा करनी चाहिये।

संशमनचिकित्सा—प्रमेह की शान्ति के लिये मन्थ (जलालोडित सत्तू), कषाय, जौ, चूर्ण, अवलेह और लघु भक्ष्य पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ १७ ॥

ये विष्किरा ये प्रतुदा विहङ्गास्तेषां रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः ।
यवौदनं रूक्षमथापि वाट्यं मद्यान्ससक्तूनपि चाप्यपूपान् ॥ १८ ॥
मुद्गादियूषैरथ तिक्तशाकैः पुराणशाल्योदनमाददीत ।
दन्तीङ्गुदीतैलयुतं प्रमेही तथाऽतसीसर्षपतैलयुक्तम् ॥ १९ ॥
सषष्टिकं स्यात्तृणधान्यमन्नं यवप्रधानस्तु भवेत्प्रमेही ।

जो सूत्रस्थान में विष्किर वा प्रतुदपक्षी कहे गये हैं उनके और जाङ्गल पशुपक्षियों के मन को भाने वाले मांसरसों के साथ रूक्ष (घृत आदि स्नेह से रहित) यवान्न तथा वाट्य (जौ का मण्ड) देना चाहिये । पुरानी मद्य, जौ के सत्तू और जौ के ही आटे के अपूप (पूड़े) रोगी को खाने के लिये दें । मूंग आदि के यूष के साथ अथवा तिक्तरस वाले शाकों के साथ पुराने शालिचावलों का भात आहारार्थ दें । दन्ती हिंगोट तथा अलसी वा सरसों के तैल के साथ सांठी वा श्यामाक आदि तृणधान्यों का अन्न खाने को दें । प्रमेह के रोगी को आहार में प्रधानतः जौ का ही प्रयोग करना चाहिये ॥ १८–१९ ॥

यवस्य भक्ष्यान्विविधांस्तथाऽद्यात्कफप्रमेही मधुसंप्रयुक्तान् २०

कफमेह का रोगी जौ के विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों को

मधु के साथ मिश्रित करके खाये ॥ २० ॥

निशिस्थितानां त्रिफलाकषाये स्युस्तर्पणाः क्षौद्रयुता यवानाम् ।
तान्सीधुयुक्तान्प्रपिबेत्प्रमेही प्रायोगिकान्मेहवधार्थमेव ॥ २१ ॥

प्रमेह का रोगी त्रिफला के क्वाथ में जौ को डालकर रात भर पड़ा रहने दे । पश्चात् इनके सत्तू बना जल में आलोडित कर और मधु मिला तर्पण प्रस्तुत करे । इन प्रायोगिक (प्रतिदिन के प्रयोग योग्य) तर्पणों को प्रमेह के नाश के लिये ही सीधु के साथ पीवे । अर्थात् इन तर्पणों को सीधु के साथ मिश्रित कर प्रतिदिन रोगी को पीना चाहिये ॥ २१ ॥

ये श्लेष्ममेहे विहिताः कषायास्तैर्भावितानां च पृथग्यवानाम् ।
सक्तूनपूपान्सगुडान्सधानान्भक्ष्यांस्तथाऽन्यान्विविधांश्च खादेत् २२

जो कफमेह में प्रयोग कराने के लिये क्वाथ कहे हैं अवस्था के अनुसार उन क्वाथों से पृथक् २ जौ को भावित करके सत्तू, अपूप, धाना (भुने हुए जौ) तथा अन्य विविध प्रकार के भक्ष्यों को प्रस्तुत करके गुड के साथ रोगी खावे ॥ २२ ॥

खराश्वगोहंसपृषद्धृतानां तथा यवानां विविधाश्च भक्ष्याः ।
देयास्तथा वेणुयवा यवानां कल्पेन गोधूममयाश्च भक्ष्याः ॥ २३ ॥

तथा गदहा, घोड़ा, गौ, हंस, पृषत (हरिण); इनके द्वारा खाये गये जौ—जो उनके पुरीष के साथ बाहिर आते हैं—के विविध प्रकार के भक्ष्य देने चाहियें । जौ के विधान के सदृश ही वेणुयव (बांस के जौ) और गेहूं के बने भक्ष्य पदार्थों का सेवन करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में कहा है—

' आहारं च यवविकृतिप्रायं मध्वामलकोपेतमाहारयेत् । यथायथं प्रमेहघ्नौषधनिर्यूहे सुबहुशो यवान् भावयित्वा सक्तुमन्थापूपधानालाज-वाट्यादीन् विविधांश्च लघून् भक्ष्यानुपकल्पयेत् तद्वच्च गोधूमान् । गवा-श्वखरजठरस्थितैश्च यवैर्वंशयवैर्वा । यवो हि बद्धमूत्रो मेदःपित्तकफहरः स्थैर्यकरश्च । तथा शालिषष्टिकतृणधान्यानि मुद्गादयस्तिक्तकानि शा-

कानि जाङ्गलानि च पिशितानि शूल्यानि परिशुष्कानि प्रदिग्धानि मृष्ट-चणकोपदंशानि विविधासवानुपानान्युपयुञ्जीत ' ॥ २३ ॥

संशोधनोल्लेखनलङ्घनानि काले प्रयुक्तानि कफप्रमेहान्।
जयन्ति पित्तप्रभवान्विरेकाः संतर्पणः संशमनो विधिश्च ॥ २४ ॥

यथोपयुक्त काल में प्रयुक्त कराये गये संशोधन उल्लेखन (वमन) लङ्घन कफप्रमेह को; तथा विरेचन सन्तर्पण और संशमनविधि पित्त से उत्पन्न प्रमेह को जीतते हैं ॥ २४ ॥

दार्वीं सुराह्वां त्रिफलां समुस्तां कषायमुत्क्वाथ्य पिबेत्प्रमेही।
क्षौद्रेण युक्तामथवा हरिद्रां पिबेद्रसेनामलकीफलानाम् ॥ २५ ॥

सब प्रमेहों में सामान्ययोग—प्रमेह का रोगी दारुहरिद्रा, देव-दारु, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मोथा; इनका क्वाथ पीवे। अथवा हल्दी के चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर आंवलों के रस के साथ पीवे ॥२५॥

हरीतकीकट्फलमुस्तलोध्रपाठाविडङ्गार्जुनधन्वनाश्च।
उभे हरिद्रे तगरं विडङ्गं कदम्बशालार्जुनदीप्यकाश्च ॥ २६ ॥
दार्वी विडङ्गं खदिरो धवश्च सुराह्वकुष्ठागुरुचन्दनानि।
दार्व्यग्निमन्थौ त्रिफला सपाठा पाठा च मूर्वा च तथा श्वदंष्ट्रा २७
यवान्युशीराण्यभया गुडूची चव्याभयाचित्रकसप्तपर्णाः।
पादैः कषायाः कफमेहिनां ते दशोपदिष्टा मधुसंप्रयुक्ताः ॥ २८ ॥

कफप्रमेह में दस योग—१ हरड़, कट्फल, मोथा, लोध।

२ पाठा, वायविडङ्ग, अर्जुनत्वक्, धन्वन (धामन) की त्वक्।

३ हल्दी, दारहल्दी, तगर, वायविडङ्ग।

४ कदम्ब (कदम की छाल), शाल, अर्जुन की छाल, दीप्यक (अजवाइन)।

५ दारुहरिद्रा (दारहल्दी), वायविडङ्ग, खैर की लकड़ी, धवत्वक्।

६ देवदारु, कुठ, अगर, लाल चन्दन।

७ दारहल्दी, हरड़, बहेड़ा, आंवला, पाठा (पाद)।

८ पाढ़, मूर्वामूल, गोखरू ।

९ अजवाइन, खस, हरड़, गिलोय ।

१० चव्य, हरड़, चित्रक, सप्तपर्ण (सतिवन की छाल)।

ये श्लोक के चतुर्थ भाग में कहे गये दस कषाय योग हैं । ये कफमेह में मधु के साथ प्रयोग कराये जाते हैं ॥ २६–२८ ॥

उशीरलोध्राञ्जनचन्दनानामुशीरमुस्तामलकाभयानाम् ।
पटोलनिम्बामलकामृतानां मुस्ताभयापद्मकवृक्षकाणाम् ॥ २९
लोध्राम्बुकालीयकधातकीनां निम्बार्जुनाम्रातनिशोत्पलानाम् ।
शिरीषसर्जार्जुनकेशराणां प्रियङ्गुपद्मोत्पलकिंशुकानाम् ॥ ३० ॥
अश्वत्थपाठासनवेतसानां कटङ्कटेर्युत्पलमुस्तकानाम् ।
पैत्तेषु मेहेषु दशैव दिष्टाः पादैः कषाया मधुसंप्रयुक्ताः ॥ ३१ ॥

पैत्तिक प्रमेह में दस कषाययोग—१ खस, लोध, अर्जुनत्वक्, लालचन्दन ।

२ खस, मोथा, आंवला, हरड़ ।

३ पटोलपत्र, नीम की छाल, आंवला, गिलोय ।

४ मोथा, हरड़, पद्माख, वृक्षक (इन्द्रजौ अथवा कुटज की छाल) ।

५ लोध, गन्धबाला, कालीयक (पीतकाष्ठ चन्दन), धाय के फूल ।

६ नीम की छाल, अर्जुन की छाल, आम्रात (अम्बाड़ा), हल्दी, नीलोत्पल ।

७ शिरीष (सिरस) की छाल, सर्जत्वक्, अर्जुनत्वक्, नागकेसर ।

८ प्रियङ्गु, पद्म (ईषच्छ्वेत क्षुद्रकमल), नीलोत्पल, ढाक के फूल ।

९ अश्वत्थ (पीपल), पाठा (पाढ़), असन (पीतशाल) त्वक् , वेतस की छाल ।

१० कटङ्कटेरी (दारहल्दी), नीलोत्पल, मोथा ।

ये श्लोकों के चतुर्थभाग में कहे दस कषाययोग पैत्तिकमेह में

कहे गये हैं । इन्हें मधु के साथ प्रयुक्त कराना चाहिये ॥२९-३१॥

सर्वेषु मेहेषु मतौ तु पूर्वौ कषाययोगौ, विहितास्तु सर्वे ।
मन्थस्य पाने यवभावनायां स्युर्भोजने पानविधौ पृथक्च ॥ ३२ ॥

सब से पूर्व (दार्वीं सुराह्वां इत्यादि द्वारा) कहे गये दो योग सब प्रमेहों में दिये जा सकते हैं ।

ऊपर कहे गये सब (बाईस) योग मन्थ के पीने में, जौ को भावना देने में, नाना प्रकार के भक्ष्य वा पेय पदार्थों के संस्कार में विवेचना करके प्रयुक्त कराये जाते हैं ॥ ३२ ॥

सिद्धानि तैलानि घृतानि चैव देयानि मेहेष्वनिलात्मकेषु ।
मेदः कफश्चैव कषाययोगैः स्नेहैश्च वायुः शममेति तेषाम् ॥ ३३ ॥

वातप्रमेहों में इन्हीं कषायों से सिद्ध किये गये तैल वा घृत देने चाहियें । कषाययोगों से मेद (दूष्य) और कफ तथा स्नेह द्वारा वायु शान्त होता । अर्थात् कषाययोगों से सिद्ध स्नेह के प्रयोग से वातप्रमेहों में कफ वा पित्त दोष का तथा मेद आदि दूष्य का नाश तो कषायों का संस्कार करता है और वात को स्नेह शान्त कर देता है । परन्तु यहां पर इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि असाध्यत्वेन कहे गये वातज प्रमेहों की यह चिकित्सा नहीं । ये चिकित्सा उन्हीं की कही है जहां कफ पित्त उल्वण (प्रवृद्ध) हो और वात भी क्रमशः प्रवृद्ध होजाय—अपेक्षाकृत कफ पित्त क्षीण न हों । अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० १४ में कहा है—

' वातजेष्वपि यापनार्थं कफपित्तोल्बणेषु पिबेत्कषायम् । तत्र वसामेहेऽग्निमन्थस्य । मज्जमेहेऽमृताचित्रकयोः कुष्ठकुटजपाठाकटुरोहिणीमिश्रम् । हस्तिमेहे हस्तिसूकरखरोष्ट्रास्थिक्षारम् । मधुमेहे कदरखदिरपुरकषायम् । कफानुगतेषु तु वसादिमेहेषु यथास्वकषायेण साधितानि तैलानि । पित्तानुगतेषु च घृतानि यमकं वा प्रयुञ्जीत । एतेन शेषेष्वपि मेहेषु स्नेहविकल्प उक्तो वेदितव्यः । तथा कषायसम्पृक्तैः स्नेहैः

कफपित्तमूत्रमेदसामनिलस्य चोपशमो भवति ॥ ३३ ॥

कम्पिल्लसप्तच्छदशालजानि बैभीतरौहीतककौटजानि ।
कपित्थपुष्पाणि च चूर्णितानि क्षौद्रेण लिह्यात्कफपित्तमेही ॥३४॥

कफमेह वा पित्तमेह से पीड़ित रोगी कमीला, सतिवन की छाल, शाल की लकड़ी; इनका चूर्ण अथवा बहेड़ा, रोहीतक (रोहेड़ा) की छाल, कुटज की छाल; इनका चूर्ण अथवा कैथ के फूलों के चूर्ण को मधु के साथ चाटे ॥ ३४ ॥

पिबेद्रसेनामलकस्य वापि कल्कीकृतान्यक्षसमानि काले ।
जीर्णे च भुञ्जीत पुराणमन्नं मेही रसैर्जाङ्गलजैर्मनोज्ञैः ॥ ३५ ॥

अथवा उपयुक्त काल में (रोगी आदि की अवस्था के अनुसार) इन्हीं तीनों योगों में से किसी एक के कल्क को १ कर्ष प्रमाण में आंवले के रस के साथ पीवे ।

औषध के जीर्ण होने पर पुराने शालि आदि के भात को जाङ्गल पशुपक्षियों के सुस्वादु मांसरसों के साथ रोगी खावे ।

अष्टाङ्गसंग्रह में एक ही योग करके ये संगृहीत हैं । वहां इन सब के फूल लेने को कहा है—

'आमलकरसेन पिबेदथवा शालसप्तपर्णकुटजकपित्थकम्पिल्लकबिभीतकरोहीतककुसुमानि, तच्चूर्णं वा क्षौद्रेण लिह्यात् ।

आजकल इन चूर्णों की प्रयोज्य मात्रा बल दोष आदि के अनुसार २ मासे से ४ मासे तक समझनी चाहिये ॥ ३५ ॥

दृष्ट्वाऽनुबन्धं पवनात्कफस्य पित्तस्य वा स्नेहविधिर्विकल्प्यः ।
तैलं कफे स्यात्स्वकषायसिद्धं पित्ते घृतं पित्तहरैः कषायैः ॥ ३६ ॥

कफमेह में अपने (कफमेहनाशक) कषायों से साधित तैल और पित्तमेह में पित्तनाशक क्वाथों से सिद्ध किया घृत प्रयोग कराना चाहिये ।

त्रिकण्टकाद्यं तैलं घृतं यमकञ्च

त्रिकण्टकाश्मन्तकसोमवल्कैर्भल्लातकैः सातिविषैः सलोध्रैः ।
वचापटोलार्जुननिम्बमुस्तैर्हरिद्रया पद्मकदीप्यकैश्च ॥ ३७ ॥
मञ्जिष्ठया वाऽगुरुचन्दनैश्च सर्वैः समुस्तैः कफवातजेषु ।
मेहेषु तैलं, विपचेद्घृतं तु पैत्तेषु, मिश्रं त्रिषु लक्षणेषु ॥ ३८ ॥

त्रिकण्टकाद्य तैल—कफवातज (अर्थात् जब कफमेह में वात का अनुबन्ध हो) प्रमेहों में त्रिकण्टक (गोखरू), अश्मन्तक, सोम-वल्क (श्वेत खदिर), भिलावा, अतीस, लोध, वच, पटोलपत्र, अर्जुन की छाल, मोथा, हल्दी, पद्माख, अजवाइन, मञ्जिष्ठा, अगर, लाल-चन्दन; इन सब को एकत्र मिश्रित कर इनके कल्क से तैल का यथा-विधि पाक कर प्रयोग कराये । अर्थात् तैल से चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण जल देकर मन्द मन्द आंच पर तैल को पकावें । सिद्ध होने पर वस्त्र से छान रोगी को पिलावें । मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ।

पैत्तिक प्रमेहों में (जब वात का अनुबन्ध हो) इन्हीं द्रव्यों के कल्क से घृतपाक करें ।

जब तीनों दोषों के लक्षण हों तो इन्हीं द्रव्यों के कल्क से घी और तैल के यमक को यथाविधि सिद्धकर प्रयोग करावें ।

गङ्गाधर समस्तैः के स्थल पर समुस्तैः पढ़ता हुआ इन्हें पांच योग मानता है । सोमवल्क पर्यन्त प्रथम योग । लोध्रपर्यन्त द्वितीय योग । मोथा पर्यन्त तृतीय योग । अजवाइन पर्यन्त चौथा योग । चन्दनपर्यन्त पांचवा योग । तृतीय योग में मोथा पढ़ा ही गया है अतः पुनः वहां मोथा डालने की आवश्यकता नहीं । शेष चारों योगों में भी मोथा डालना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १४ में त्रिकण्टकाद्य स्नेह का योग पढ़ा है—

'त्रिकण्टकातिविषाभल्लातकलोध्रवचापिचुमन्दघननिशाजमोदार्जुना-

श्मन्तकपटोलसोमवल्कमञ्जिष्ठापद्मकचन्दनागुरुभिश्च स्नेहो विपक्वः सर्वमेहघ्नः' ॥ ३७—३८ ॥

फलत्रिकादिक्वाथः

फलत्रिकं दारुनिशां विशालां मुस्तां च निःक्वाथ्य निशासकल्कम्[1]
पिबेत्कषायं मधुसंप्रयुक्तं सर्वप्रमेहेषु समुद्धतेषु ॥ ३९ ॥

फलत्रिकादिक्वाथ—हरड़, बहेड़ा, आंवला, दारहल्दी, विशाला (इन्द्रायण), मोथा; मिलित २ तोला । क्वाथार्थ जल ३२ तोला । शेष ८ तोला । इस क्वाथ में हल्दी के कल्क का प्रक्षेप देकर मधु मिला अत्यन्त प्रवृद्ध सब प्रमेहों में रोगी पीवे ॥ ३९ ॥

लोध्रासवः

लोध्रं शटीं पुष्करमूलमेलां मूर्वां विडङ्गं त्रिफलां यवानीम् ।
चव्यं प्रियङ्गुं क्रमुकं विशालां किराततिक्तं कटुरोहिणीं च ४०
भार्गीं नतं चित्रकपिप्पलीनां मूलं सकुष्ठातिविषं सपाठम् ।
कालिङ्गकान्केशरमिन्द्रसाह्वां[2] नखं सपत्रं मरिचं प्लवं च ॥४१॥
द्रोणेऽम्भसः कर्षसमानि पक्त्वा पूते चतुर्भागजलावशेषे ।
रसेऽर्धभागं मधुनः प्रदाय पक्षं निधेयो घृतभाजनस्थः ॥ ४२ ॥
लोध्रासवोऽयं कफपित्तमेहान् क्षिप्रं निहन्याद्द्विपलप्रयोगात् ।
पाण्ड्वामयार्शांस्यरुचिं ग्रहण्या दोषं किलासं विविधं च कुष्ठम् ४३

इति लोध्रासवः ।

लोध्रासव—लोध, कचूर, पुष्करमूल, छोटी इलायची, मूर्वामूल, वायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आंवला, अजवायन, चव्य, प्रियङ्गु, क्रमुक (पट्टिकालोध्र अथवा सुपारी), विशाला (इन्द्रायण), चिरायता, कटुकी, भारङ्गी, नत (तगर), चित्रकमूल, पिप्पलीमूल, कुष्ठ, अतीस, पाठा, कलिङ्गक (इन्द्रजौ), नागकेसर, इन्द्रसाह्वा (छोटी इन्द्रायण), नखी, तेजपत्र, कालीमिर्च, प्लव (केवटीमोथा); प्रत्येक १ कर्ष ।

---

१ 'निशासकल्काः' पा० । २ 'इन्द्रसाह्वान्' ग. ।

इन्हें एकत्र २ द्रोण जल में पकावें। जब चतुर्थांश (२ आढक=१२८ पल) जल शेष रह जाय तो उतार कर छान लें। इस क्वाथ में आधा मधु मिला कर घी से भावित पात्र में एक पक्ष (१५ दिन) तक बन्द कर रखें। इस लोध्रासव को २ पल मात्रा में प्रयोग करने से शीघ्र कफज प्रमेह, पित्तज प्रमेह, पाण्डुरोग अर्श, अरुचि, संग्रहणी, किलास (श्वित्र) और विविध प्रकार के कुष्ठ नष्ट होते हैं। आजकल यह आसव १। तोले से २॥ तोले तक की मात्रा में प्रयुक्त किया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में—

'लोध्रमूर्वाशटीविडङ्गत्रिफलापुष्करमूलचातुर्जातकक्रमुकचविकायवानीश्यामाभार्ङ्गीद्विविशालाभूनिम्बतगरचित्रकपिप्पलीमूलकटुरोहिणीकुष्ठपाठेन्द्रयवातिविषाप्लवनखमरिचानि कर्षांशान्यपां कलशेऽधिश्रृत्य तुर्यशेषे रसे पूते जतुसृतपुराणघृतभाजनस्थेऽर्धभागेन मधु निधाय पक्षमुपेक्षितोऽयं लोध्रासवः सर्वप्रमेहकुष्ठकिलासस्थौल्यारोचककामिपाण्डुशोफार्शोग्रहणीदोषान्निहन्ति।'

इसमें 'चातुर्जातक' पढ़ने से दालचीनी अधिक पढ़ी है ॥४०—४३॥

क्वाथः स एवाष्टपले च दन्त्या भल्लातकानां च चतुष्पलं स्यात्।
सितोपला त्वष्टपला विशेषः क्षौद्रं च तावत्पृथगासवौ तौ ॥४४॥

दन्त्यासव—दन्तीमूल के आठपल चूर्ण में पूर्वोक्त (लोध्रासवोक्त) क्वाथ (उक्त प्रमाण में ही—आधा द्रोण) मिसरी ८ पल और मधु उतना ही (क्वाथ से आधा) डालकर सन्धान करे तो उसे दन्त्यासव कहते हैं। मात्रा—१। तोला।

भल्लातकासव—लोध्रासवोक्त क्वाथ आधा द्रोण (१२८ पल) में विशुद्ध भल्लातक चूर्ण ४ पल, मिसरी ८ पल और शहद क्वाथ से आधा डाल कर सन्धान करें। यह आसव भल्लातकासव कहाता है। मात्रा—६ मासे से १। तोले तक।

ये दोनों आसव कफज पित्तज मेहों को नष्ट करते है ॥४४॥

सारोदकं चाथ कुशोदकं वा मधूदकं वा त्रिफलारसं वा ।
शीधुं पिबेद्वा निगदं प्रमेही माध्वीकमग्र्यं चिरसंस्थितं वा ॥४५॥

रोगी खैर की लकड़ी से षडङ्गपानीयोक्त विधि द्वारा साधित जल अथवा कुशामूल का जल (वा क्वाथ), अथवा मधूदक (शहद का शरबत) अथवा त्रिफला का क्वाथ अथवा पुरानी दोषरहित शीधु (यवकृत मद्य) अथवा श्रेष्ठ एवं पुरानी माध्वीक (मधु वा द्राक्षा आदि से निर्मित मद्य) को पीवे ॥ ४५ ॥

मांसानि शूल्यानि मृगद्विजानां खादेद्यवानां विविधांश्च भक्ष्यान् ।
संशोधनारिष्टकषायलेहैः संतर्पणोत्थान् शमयेत्प्रमेहान् ॥ ४६ ॥

पशु पक्षियों के शूल्य(शलाका पर चढ़ाकर भूने हुए कबाब) मांस तथा जौ के विविध प्रकार के भक्ष्यों को खावे । सन्तर्पण से उत्पन्न प्रमेहों को संशोधन (वमन वा विरेचन), अरिष्ट, क्वाथ वा लेहों द्वारा शान्त करे ॥ ४६ ॥

भृष्टान् यवान् भक्षयतः प्रयोगान्[1] शुष्कांश्च सक्तून्न भवन्ति मेहाः ।
श्वित्रं च कृच्छ्रं च कफं च कृच्छ्रं तथैव मुद्गामलकप्रयोगान् ॥४७॥

भुने हुए जौ और सूखे सत्तुओं को तथा मूंग और आंवलों के आहार को नित्य खाने से प्रमेह, श्वित्र, कुष्ठ, कफरोग तथा मूत्रकृच्छ्र नहीं होते ॥ ४७ ॥

संतर्पणोत्थेषु गदेषु योगा मेदस्विनां ये च मयोपदिष्टाः ।
विरूक्षणार्थं कफपित्तजेषु सिद्धाः प्रमेहेष्वपि ते प्रयोज्याः ॥ ४८ ॥

सन्तर्पण से उत्पन्न होने वाले रोगों में और मेदस्वी पुरुषों के विरूक्षण के लिये जो सिद्ध योग मैंने कहे हैं वे कफज वा पित्तज प्रमेहों में भी प्रयोग कराने चाहियें । सन्तर्पणोत्थ रोगों में योग सूत्रस्थान के सन्तर्पणीयाध्याय में कहे गये हैं और मेदस्वी पुरुषों के विरूक्षण लिये योग सूत्रस्थान के अष्टौनिन्दितीयाध्याय में कहे हैं॥४८॥

---

[1] 'प्रयोगाच्छुष्कांश्च' पा० ।

व्यायामयोगैर्विविधैः प्रगाढैरुद्वर्तनैः स्नानजलावसेकैः ।
सेव्यत्वगेलागुरुचन्दनाद्यैर्विलेपनैश्चाशु न सन्ति मेहाः ॥ ४६ ॥

विविध व्यायामों के करने से, अच्छीप्रकार बलपूर्वक उबटने से, स्नान और जल के परिषेकों से, खस, दारचीनी, इलायची, अगर तथा चन्दन आदियों के अनुलेपनों से प्रमेह नष्ट होते हैं ॥ ४६ ॥

क्लेदश्च मेदश्च कफश्च वृद्धो प्रमेहहेतुः प्रसमीक्ष्य तस्मात् ।
वैद्येन पूर्वं कफपित्तजेषु मेहेषु कार्याण्यपतर्पणानि ॥ ५० ॥

प्रवृद्ध क्लेद मेद और कफ, प्रमेह का हेतु होता है अत एव वैद्य को चाहिये कि कफपित्तज प्रमेहों में पूर्व अपतर्पण करावे ॥ ५० ॥

या वातमेहान्प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा ।
वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितानां कुप्यत्यसाध्यान्प्रति नास्ति चिन्ता ५१

जो हमने वातप्रमेहों की चिकित्सा पूर्व कही है वह वातोल्बण में जाननी चाहिये । प्रमेहों में अत्यधिक कर्षण होने पर वायु कुपित हो जाता है अत एव वे वातोल्बण हो जाते हैं । असाध्य वातज प्रमेहों का विचार नहीं किया गया । वे तो असाध्य ही हैं, उनकी चिकित्सा नहीं हो सकती ॥ ५१ ॥

यैर्हेतुभिर्ये प्रभवन्ति मेहास्तेषु प्रमेहेषु न ते निषेव्याः ।
हेतोरसेवा विहिता यथैव जातस्य रोगस्य भवेच्चिकित्सा ॥ ५२ ॥

जिन हेतुओं से जो प्रमेह उत्पन्न होते हैं उन उन प्रमेहों में उन उन हेतुओं का सेवन न करना चाहिये । जैसे स्वस्थ पुरुषों में रोगों को उत्पन्न न होने देने के लिये हेतुओं के सेवन न करने का विधान है वह ही (अर्थात् हेतु का न सेवन करना) उत्पन्न हुए रोग की चिकित्सा होती है । अर्थात् जैसे रोगविशेष के हेतु का न सेवन करना उस रोग से बचाये रखता है वैसे ही उस रोग के उत्पन्न हो जाने पर उस रोग की निवृत्ति भी करता है अर्थात् हेतु का त्याग प्रवृद्ध दोष को अधिक बढ़ने नहीं देता ॥ ५२ ॥

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः ।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत्प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः ॥ ५३ ॥

प्रमेह के पूर्वरूपों के बिना यदि किसी रोगी का मूत्र हल्दी के वर्ण का, लाल अथवा रक्तयुक्त हो तो उसे प्रमेह न समझे वहां रक्त-पित्त का अथवा रक्त का वा पित्त का कोप जाने ॥ ५३ ॥

दृष्ट्वा प्रमेहं मधुरं सपिच्छं मधूपमं स्याद्द्विविधो विचारः ।
क्षीणेषु दोषेष्वनिलात्मकाः स्युः संतर्पणाद्वा कफसंभवाः स्युः ५४

प्रमेह को मधुर रस, पिच्छायुक्त (पिच्छिल) तथा मधु सदृश देखकर दो प्रकार का विचार होता है । एक तो यह कि दोषों (कफ मेद आदि) के क्षीण होने पर प्रमेह वातात्मक हो सकते हैं अथवा दूसरा यह कि सन्तर्पण से कफज हो सकते हैं । अतएव उन प्रमेहों के उत्पत्तिकारण दोष का निर्णय करके चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिये ॥ ५४ ॥

सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः ।
साध्या न ते पित्तकृतास्तु याप्याः साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम् ॥

जो कफज, पित्तज वा क्रम से हुए वातज प्रमेह (वातोल्बण) पूर्वरूप युक्त हों वे असाध्य होते हैं । पित्तज प्रमेह जिन में साथ पूर्वरूप न हों वे याप्य होते हैं । यदि पैत्तिक प्रमेह में अत्यन्त दुष्ट न हो तो साध्य होते हैं । अभिप्राय यह है कि यदि रोग के उत्पन्न होने पर भी पूर्वरूप नष्ट न हुए हों तो वे असाध्य होते हैं। पैत्तिक सामान्यतः याप्य होते हैं परन्तु यदि मेद की दुष्टि अल्प ही हो तो वह साध्य होता है। अतिकर्षण से उत्पन्न वातप्रमेह यद्यपि साध्य होता है परन्तु यदि रोग होने पर भी पूर्वरूप विद्यमान रहे तो वह असाध्य होगा दूसरे प्रकार के वातप्रमेह तो सर्वथा असाध्य ही होते हैं ॥ ५५ ॥

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।

ये चापि केचित्कुलजा विकारा भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥

मधुमेह से आक्रान्त पिता से उत्पन्न प्रमेही असाध्य होता है क्योंकि वहां बीज का दोष है। और भी जो कोई रोग कुलज (परम्परागत वा आनुषङ्गिक) हैं वे भी असाध्य ही माने गये हैं। यहां मधुमेह शब्द से सभी प्रमेहों का ग्रहण है। वाग्भट्ट नि० अ० १० में कहा है—

'मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः' ॥ ५६ ॥

प्रमेहिणां याः पिडका मयोक्ता रोगाधिकारे पृथगेव सप्त।
ताः शल्यविद्भिः[1] कुशलैश्चिकित्स्याः शस्त्रेण संशोधनरोपणैश्च ५७

प्रमेहपिडकाचिकित्सा—जो मैंने पृथक् ही रोगाधिकार (रोगचतुष्क सू० अ० १७) में शराविका आदि सात प्रमेहपिडकायें कहीं हैं उनकी चिकित्सा कुशल शस्त्रचिकित्सक को (Surgeon) शस्त्रकर्म (Operation) और संशोधन रोपण द्वारा करनी चाहिये ॥५७॥

तत्र श्लोकाः।

हेतुर्दोषो दूष्यं मेहानां साध्यताग्ररूपं च।
मेहो द्विविधो द्विविधं भिषग्जितं तल्लक्षणं दोषः ॥ ५८ ॥
आद्या यवान्नविकृतिर्मन्था मेहापहाः कषायाश्च।
तैलघृतलेहयोगा भक्ष्याः प्रवरासवाः सिद्धाः ॥ ५९ ॥
व्यायामविधिर्विविधः स्नानान्युद्वर्तनानि गन्धाश्च।
मेहानां प्रशमार्थं चिकित्सिते दृष्टमेतावत् ॥ ६० ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
प्रमेहचिकित्सितं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

उपसंहार—प्रमेहों का हेतु दोष दूष्य, साध्यता, पूर्वरूप, दो प्रकार का प्रमेह, दो प्रकार की भेषज, उसके लक्षण, उसके न करने

---

1 'शल्यहृद्भिः' ग.।

में दोष, आहारार्थ जौ के भक्ष्य, मन्थ, मेहनाशक कषाय, तैल घृत और लेह के योग, अन्य भक्ष्यपदार्थ, श्रेष्ठ सिद्ध आसव, विविध प्रकार के व्यायाम करने का आदेश, स्नान, उबटनें, गन्धों का अनुलेपन; इन सब का प्रमेहों की शान्ति के लिये इस अध्याय में विचार किया है ॥

इति षष्ठोऽध्यायः ।

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः कुष्ठचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम कुष्ठचिकित्सा की व्याख्या करेंगे ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

हेतुं लिङ्गं विविधं कुष्ठानामाश्रयं प्रशमनं च ।
शृण्वग्निवेश सम्यग्विशेषतः स्पर्शनघ्नानाम् ॥ २ ॥

हे अग्निवेश ! स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) के नाशक कुष्ठों के विविध हेतु, विविध लक्षण आश्रय और प्रशमन (चिकित्सा) को विशेषतः दत्तावधान होकर सुनो ॥ २ ॥

विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च ।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥ ३ ॥
व्यायाममतिसंतापमतिभुक्त्वा निषेविणाम् ।
शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणाम् ॥ ४ ॥
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ।
अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ॥ ५ ॥
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् ।
माषमूलकपिष्टान्नगुडक्षीरतिलाशिनाम् ॥ ६ ॥

---

१ ' हेतुं द्रव्यं ।लिङ्गं कुष्ठाना० ' ग. ।

व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा।
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ॥ ७ ॥
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ॥ ८ ॥
ततः कुष्ठा विजायन्ते सप्त चैकादशैव च।
न चैकदोषजं किञ्चित्कुष्ठं समुपलभ्यते ॥ ९ ॥

कुष्ठ के हेतु और सम्प्राप्ति—विरोधी अन्नपान, द्रव स्निग्ध एवं गुरु भोजनों का सेवन, आई हुई कै और अन्य वेगों को रोकना, अधिक भोजन करने के पश्चात् व्यायाम वा सन्ताप का अत्यधिक सेवन, शीत उष्ण एवं लङ्घन भोजन का क्रम को त्याग कर सेवन करना (यथा–सहसा शीत से उष्ण वा उष्ण से शीत एवं लङ्घनानन्तर भरपेट भोजन वा सहसा भरपेट भोजनके पश्चात् सहसा लङ्घन वा अनशन), घाम थकावट वा डर से पीड़ित पुरुष का शीघ्र शीतल जल पीना, पूर्व खाये हुए भोजन के न पचने पर भी और भोजन करना, यथाविधि पञ्चकर्म (वमन विरेचन आदि) का न होना अथवा पञ्चकर्म में जो हितसेवन है वह न करके अहितसेवन करना, नवीन अन्न (शालि आदि) दही मछली लवण (नमक) वा खट्टे का अति सेवन, उड़द मूली पिष्टान्न (चावल के आटे वा मैदे आदि के बने भक्ष्य) गुड दूध तिल; इनका अत्यधिक सेवन, भोजन के जीर्ण होने पर ही मैथुन का बहुधा करना, दिन में सोना, ब्राह्मण और गुरुओं का तिरस्कार करना, अन्य पापाचरण; इन हेतुओं का निरन्तर सेवन करने वाले में वात आदि तीनों दोष दुष्ट होकर त्वचा, रक्त, मांस वा अम्बु (शरीरस्थित जलीयभाग वा लसीका) को दूषित कर देते हैं। ये संक्षेप में कुष्ठ के आधारभूत वा उत्पादक सात द्रव्य हैं।

दोषों द्वारा दूष्यों के दूषित होने पर सात महाकुष्ठ और ग्यारह

१ 'अजीर्णे विदग्धे' चक्रः।

क्षुद्रकुष्ठ उत्पन्न हो जाते हैं । कोई भी कुष्ठ एकदोषज नहीं पाया जाता । अर्थात् अठारहों प्रकार के कुष्ठ त्रिदोषज हैं ।

निदानस्थान में केवल सात महाकुष्ठों का वर्णन किया गया है ॥

स्पर्शाज्ञत्वमतिस्वेदो न वा वैवर्ण्यमुन्नतिः ।
कोठानां लोमहर्षश्च कण्डूस्तोदः श्रमः क्लमः ॥ १० ॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः[1] ।
दाहः सुप्ताङ्गता चेति कुष्ठलक्षणमग्रजम् ॥ ११ ॥

कुष्ठ के पूर्वरूप—स्पर्श ज्ञान न होना, बहुत पसीना आना वा सर्वथा न आना, विवर्णता, कोठों की उत्पत्ति, लोमहर्ष, कण्डू (खुजली) तोद, श्रम (थकावट), क्लम (परिश्रम न करने पर भी थकावट सी होना), उत्पन्न व्रण में शूल का अधिक होना, व्रण का शीघ्र उत्पन्न होना और देर तक रहना, दाह, अङ्ग का सो जाना अर्थात् अङ्ग में स्पर्शज्ञान न होना; ये कुष्ठ के पूर्वरूप हैं । इनके अतिरिक्त अन्य भी पूर्वरूप निदानस्थान में कहे हैं । यहां पर प्रधान पूर्वरूपों का ही परिगणन है ॥ १०–११ ॥

अत ऊर्ध्वमष्टादशानां कुष्ठानां कपालोदुम्बरमण्डलर्ष्यजिह्वपुण्डरीकसिध्मकाकणकैककुष्ठचर्माख्यकिटिमविपादिकालसकदद्रुचर्मदलपामाविस्फोटकशतारुर्विचर्चिकानां लक्षणान्युपदेक्ष्यामः ॥ १२ ॥

इसके पश्चात् १ कपाल २ उदुम्बर ३ मण्डल ४ ऋष्यजिह्व, ५ पुण्डरीक ६ सिध्म ७ काकणक (ये सात महाकुष्ठ हैं) ८ एक कुष्ठ, ९ चर्माख्य (चर्मनामक), १० किटिम, ११ विपादिका, १२ अलसक, १३ दद्रु (दाद), १४ चर्मदल (चम्बल), १५ पामा, १६ विस्फोटक, १७ शतारु, १८ विचर्चिका; (ये ग्यारह क्षुद्र कुष्ठ हैं); इन अठारह कुष्ठों के लक्षणों का उपदेश करेंगे ॥१२॥

---

१ 'शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव' चक्रः ।

कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ।
कपालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥ १३ ॥

कपालकुष्ठ का लक्षण—काले अरुण वर्ण के कपाल (घड़े का ठीकरा) की आभावाले, रूक्ष, परुष (कठोर वा खरदरे), तनु (पतले वा जो घन न हो—जिनकी मोटाई कम हो) जिनमें तोद बहुत हो, जो विषम हो (विषम रूप से फैला हो—जिसके किनारे समता में न हों) वह कपाल कुष्ठ होता है ॥ १३ ॥

कण्डूविदाहरुग्रागपरीतं[1] लोमपिञ्जरम् ।
उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं विदुः ॥ १४ ॥

औदुम्बर कुष्ठ का लक्षण—कण्डू विदाह रुक् (वेदना) एवं राग (रक्तता, लाली) से युक्त, लोमों से पिञ्जरवर्ण का हुआ २ (अर्थात् जिसपर पिङ्गल वर्ण के लोम हों), जो गूलर के फल के सदृश वर्ण वाले हों उन्हें उदुम्बर कुष्ठ जानते हैं ॥ १४ ॥

श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ।
कृच्छ्रमन्योन्यसंसक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ॥ १५ ॥

मण्डलकुष्ठ का लक्षण—श्वेत, रक्त, स्थिर (जो क्रमशः अधिक स्थान न घेरता हो), घना, स्निग्ध, उन्नत, मण्डलाकार, कृच्छ्र (कष्ट देने वाला वा कष्टसाध्य), एक दूसरे से जुड़ा हुआ (अर्थात् मण्डलकुष्ठ में एक मण्डल दूसरे मण्डल से जुड़ा रहता है) कुष्ठ मण्डलकुष्ठ कहाता है ॥ १५ ॥

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् ।
यदृष्यजिह्वासंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ॥ १६ ॥

ऋष्यजिह्व का लक्षण—खुरदरा, जिसका किनारा रक्तवर्ण का हो, अन्दर का भाग श्याम हो, वेदनायुक्त, ऋष्य (नीले अण्डकोष

१ 'रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं' ग. ।

वाला हरिण) की जिह्वा के सदृश लक्षणों वाला कुष्ठ ऋष्यजिह्व कहाता है ॥ १६ ॥

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ।
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ॥ १७ ॥

पुण्डरीक कुष्ठ का लक्षण—श्वेतवर्ण से युक्त, जिसके किनारा रक्तवर्ण का हो, पुण्डरीक (कमल) की पंखड़ी के सदृश, तथा उन्नत एवं राग (लालिमा) युक्त कुष्ठ को पुण्डरीक कहते हैं । 'सश्वेतं और सरागं' पढ़ने से कुष्ठ का रङ्ग श्वेत और लाल मिला हुआ होगा ॥ १७ ॥

श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति ।
अलाबुपुष्पवर्णं तत्सिध्मं प्रायेण[1] चोरसि ॥ १८ ॥

सिध्म का लक्षण—जो श्वेत और ताम्रवर्ण हो, घना न हो, जिसे घिसने से धूल सी गिरे और जो घीयाकद्दू के फूल के वर्ण का हो उसे सिध्म कहते हैं । यह प्रायः छाती पर होता है ॥ १८ ॥

यत्काकणन्तिकावर्णमपाकं तीव्रवेदनम् ।
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ॥ १९ ॥

इति सप्त महाकुष्ठानि ।

काकणक कुष्ठ का लक्षण—जिसका वर्ण घुंघची (रत्ती) के सदृश हो, जो पकता नहीं, जिसमें तीव्र वेदना होती है और तीनों दोषों के लक्षण होते हैं (अत एव पीछे से अनेक वर्ण हो जाते हैं); वह काकणक कहाता है । यह असाध्य है ।

ये सात महाकुष्ठों के लक्षण कह दिये हैं ॥ १९ ॥

अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ।
तदेककुष्ठं,

एककुष्ठ का लक्षण—जिसमें पसीना नहीं आता, जिसने बड़ा प्रदेश घेरा हो, जो मछली के छिलके के सदृश हो उस कुष्ठ को एककुष्ठ जाने ॥

---

१ 'भूयस्तोरसि' ग. ।

चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत् ॥ २० ॥

चर्मकुष्ठ के लक्षण—चर्म कुष्ठ घन(मोटा) और हाथी के चमड़े के सदृश होता है ॥ २० ॥

श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिमं स्मृतम् ।

किटिम का लक्षण—श्याम वर्ण का, स्पर्श में किण (Scar) के सदृश खुरदरा और कठोर कुष्ठ किटिम कहाता है ।

वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम् ॥ २१ ॥

विपादिका का लक्षण—तीव्र वेदना युक्त हाथ पैर के फूटने को विपादिका कहते हैं ॥ २१ ॥

कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ।

अलसक का लक्षण—कण्डू एवं राग (रक्तता) युक्त गण्डों (स्फोटों) से अलसक जाना जाता है ।

सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम् ॥ २२ ॥

दद्रु का लक्षण—कण्डू रक्तता तथा छोटी २ पिड़काओं से युक्त ऊंचा उठा हुआ मण्डल दद्रु (दाद) कहाता है ॥२२॥

रक्तं[1] सकण्डु सस्फोटं सरुग्दलति चापि यत् ।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥ २३ ॥

चर्मदल का लक्षण—जो लाल हो, कण्डूयुक्त हो, जिसमें फोड़ा हो, जिस में वेदना हो और जो विदीर्ण भी हो जाता हो; उसे चर्मदल कहते हैं। यह स्पर्शासह होता है—हाथ आदि के स्पर्श से तीव्र वेदना होती है॥

पामाः श्वेतारुणश्यावाः पिडका कण्डुला भृशम् ।
श्वेताः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ॥ २४ ॥

पामा का लक्षण—श्वेत अरुण वा श्याम वर्ण की पिड़कायें जिनमें बहुत खुजली चलती हो पामा कहाती हैं ।

---

१ ' रक्तं सशूलं कण्डूमत्सस्फोटं यद्दलत्यपि ' ग. ।

विस्फोटक का लक्षण—श्याम अरुण वर्ण के स्फोट (फोड़े) युक्त कुष्ठ विस्फोटक कहाते हैं। इन पर त्वचा पतली होती है ॥२४॥

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम्।

शतारु का लक्षण—शतारु कुष्ठ रक्तश्याम वर्ण का दाह और पीड़ा से युक्त तथा बहुत व्रणों वाला होता है।

सकण्डुपिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका॥ २५ ॥

इत्येकादश क्षुद्रकुष्ठानि।

विचर्चिका का लक्षण—श्याम वर्ण की पिड़का जिसमें खुजली चलती हो और स्राव बहुत निकलता हो उसे विचर्चिका कहते हैं।

ये ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ हैं ॥ २५ ॥

वातेऽधिकतरे कुष्ठं कापालं मण्डलं कफे।

पित्ते त्वौदुम्बरं विद्यात्काकणं तु त्रिदोषजम्॥ २६ ॥ 26

वातपित्ते श्लेष्मपित्ते वातश्लेष्माणि चाधिके।

ऋष्यजिह्वं पुण्डरीकं सिध्मकुष्ठं च जायते॥ २७ ॥

भिन्न २ कुष्ठों में दोषों की प्रधानता—यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोष से उत्पन्न होते हैं अतएव त्रिदोषज हैं परन्तु भिन्न २ कुष्ठों में जो २ दोष प्रधान है उससे निर्देश होता है। वात के अपेक्षया अधिक होने पर कापाल कुष्ठ, कफ के अधिक होने पर मण्डल, पित्त के अधिक होने पर औदुम्बर होता है। काकणक कुष्ठ त्रिदोषज है। वातपित्त के आधिक्य में ऋष्यजिह्व, कफपित्त में पुण्डरीक और वातकफ में सिध्मकुष्ठ की उत्पत्ति होती है ॥२६—२७॥

चर्माख्यमेककुष्ठं च किटिमं सविपादिकम्।

कुष्ठं चालसकं ज्ञेयं प्रायो वातकफाधिकम्॥ २८ ॥

पामा शतारुर्विस्फोटं दद्रुश्चर्मदलं तथा।

पित्तश्लेष्माधिकं प्रायः कफप्राया विचर्चिका ॥ २९ ॥

चर्माख्य, एककुष्ठ, किटिम, विपादिका, अलसक; इन सब कुष्ठों

में प्रायः वातकफ अधिक होते हैं। पामा, शतारु, विस्फोट, दद्रु, चर्मदल; इनमें प्रायः पित्तकफ की अधिकता होती है । विचर्चिका में कफ की बहुलता रहती है ॥ २८–२९ ॥

सर्वं त्रिदोषजं कुष्ठं दोषाणां च बलाबलम् ।
यथास्वैर्लक्षणैर्बुद्ध्वा कुष्ठानां क्रियते क्रिया ॥ ३० ॥

कुष्ठ की चिकित्सा का उपक्रम—सब कुष्ठ त्रिदोषज हैं । कुष्ठों में अपने अपने लक्षणों द्वारा दोषों के बलाबल को समझकर चिकित्सा की जाती है ॥ ३० ॥

दोषस्य यस्य पश्येत्कुष्ठेषु विशेषलिङ्गमुद्रिक्तम् ।
तस्यैव शमं कुर्यात्ततः परं चानुबन्धस्य ॥ ३१ ॥

कुष्ठों में जिस दोष के विशेष लक्षणों को बढ़ा हुआ देखें उसी की ही पूर्व चिकित्सा करे । तत्पश्चात् अनुबन्ध दोष की चिकित्सा करे ।

कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि ।
ज्ञायन्ते, ते हेतुं हेतुस्तांश्च प्रकाशयति ॥ ३२ ॥

कुष्ठविशेष (कुष्ठ के विभेदक लक्षणों) से दोष जाने जाते हैं, दोषविशेष (दोष के विशेष लक्षणों) से कुष्ठ जाने जाते हैं । जैसे कापालकुष्ठ में रूक्षता कठिनता तोद तथा विषमता आदि लक्षणों से वाताधिक होने का ज्ञान होता है और रूक्षता परुषता आदि लक्षण देखकर कापाल कुष्ठ का ज्ञान होता है । दोषविशेष से उत्पन्न कुष्ठविशेष हेतु को और हेतु दोषविशेष से उत्पन्न कुष्ठविशेष को प्रकाशित करता है । अथवा अभिप्राय यह है कि कुष्ठों में अज्ञात हेतु को हम दोषविशेष से जानते हैं । यदि रूक्षता आदि वात के लिङ्ग है तो वात की अधिकता होने से उसका हेतु वातजनक रूक्ष विरुद्धाशन आदि होंगे । रूक्ष विरुद्धाशन आदि हेतुओं के सेवन को देखकर हम कह सकते हैं कि इसे वातप्रधान अर्थात् कापाल कुष्ठ होगा । अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि वे कुष्ठ

विशेष हेतुभूत वात आदि विशेष को और वात आदि विशेष हेतु कार्यभूत कुष्ठविशेष को जताते हैं । अर्थात् कुष्ठ और दोष परस्पर एक दूसरे के गमक होते हैं ॥ ३२ ॥

रौच्यं शोषस्तोदः शूलं संकोचनं तथाऽऽयासः ।
पारुष्यं खरभावो हर्षः श्यावारुणत्वं च ॥ ३३ ॥
कुष्ठेषु वातलिङ्गं,

कुष्ठों में वात के लक्षण—रूक्षता, शोष (सूखना), तोद, शूल, सङ्कोचन, आयास, परुषता (कठिनता), खरता (खुरदरापन), हर्ष (लोमहर्ष आदि हर्ष), श्याम और अरुण वर्ण होना; ये कुष्ठों में वात के लक्षण होते हैं । अर्थात् इन लक्षणों के आधिक्य द्वारा चिकित्सक कुष्ठ के वाताधिक होने का निर्णय करता है ॥ ३३ ॥

दाहो रागः परिस्रवः पाकः ।
विस्रो गन्धः क्लेदस्तथाऽङ्गपतनं च पित्तकृतम् ॥ ३४ ॥

कुष्ठों में पित्त के लक्षण--दाह, रक्तता, परिस्रव (स्राव का बहना), पकना, आमगन्ध, क्लेद, अङ्गपतन (अङ्गों का झड़ना), ये पित्त के लिङ्ग हैं । इन लक्षणों के आधिक्य से कुष्ठ के पित्ताधिक होने का निर्णय होता है ॥ ३४ ॥

श्वैत्यं शैत्यं कण्डूः स्थैर्यं सोत्सेधगौरवस्नेहाः ।
कुष्ठेषु तु कफलिङ्गं जन्तुभिरभिभक्षणं क्लेदः ॥ ३५ ॥

कुष्ठों में कफ के लक्षण—श्वेतता, शीतता, खुजली, स्थिरता, उत्सेध (उन्नति—ऊंचा उठा होना), भारीपन, स्निग्धता, कृमियों द्वारा खाया जाना, क्लेद; ये कुष्ठों में कफ के लक्षण होते हैं । इन के अधिक्य से कुष्ठ के कफाधिक होने का निश्चय होता है ॥ ३५ ॥

सर्वैरेतैर्लिङ्गैर्युक्तं मतिमान्विवर्जयेदबलम् ।
तृष्णादाहपरीतं शान्ताग्निं जन्तुभिर्जग्धम् ॥ ३६ ॥

कुष्ठ की साध्यासाध्यता—तीनों दोषों के इन कहे गये लक्षणों से युक्त, निर्बल, तृष्णा और दाह से पीड़ित, जिसकी अग्नि शान्त है (मन्दाग्नियुक्त) तथा कृमियों से खाये गये कुष्ठी की बुद्धिमान् चिकित्सा न करे। वह असाध्य है ॥ ३६ ॥

वातकफप्रबलं यद्यदेकदोषोल्बणं न तत्कृच्छ्रम् ।
कफपित्तवातपित्तप्रबलानि तु कृच्छ्रकुष्ठानि ॥ ३७ ॥

जिस कुष्ठ में वातकफ (द्वन्द्व) प्रबल हो वा तीनों में से कोई एक दोष ही प्रबल हो वह कृच्छ्रसाध्य नहीं—सुखसाध्य है। परन्तु जिन कुष्ठोंमें कफपित्त (द्वन्द्व),वातपित्त (द्वन्द्व), प्रबल हों वे कुष्ठ कष्टसाध्य होते हैं॥

वातोत्तरेषु सर्पिर्वमनं श्लेष्मोत्तरेषु कुष्ठेषु ।
पित्तोत्तरेषु मोक्षो रक्तस्य विरेचनं चाग्रे ॥ ३८ ॥

वातप्रधान कुष्ठों में पूर्व घृतपान, कफप्रधान कुष्ठों में पूर्व वमन और पित्तप्रधान कुष्ठों में पूर्व रक्तमोक्षण और विरेचन कराना चाहिये।

वमनविरेचनयोगाः कल्पोक्ताः कुष्ठिनां प्रयोक्तव्याः ।
प्रच्छनमल्पे कुष्ठे महति च शस्तं सिराव्यधनम् ॥ ३९ ॥

वमनार्थ वा विरेचनार्थ कल्पस्थान में कहे गये योगों का कुष्ठियों को प्रयोग कराना चाहिये। रक्तनिर्हरणार्थ क्षुद्रकुष्ठ में अथवा उस कुष्ठ में जिसमें दोष अल्प हो पछना चाहिये और महाकुष्ठ में सिरा-व्यध वा फ़स्त खोलना प्रशस्त है ॥ ३९ ॥

बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठी बहुशोऽनुरक्षता प्राणान् ।
दोषे ह्यतिमात्रहृते वायुर्हन्यादबलमाशु ॥ ४० ॥

जिस कुष्ठ में दोष की मात्रा बहुत हो वहां प्राणों वा जीवन की रक्षा करते हुए कुष्ठी का बहुशः संशोधन कराना चाहिये। अभिप्राय यह है कि थोड़ा २ करके बहुत वार संशोधन करावे। अन्यथा यदि एक दिन में ही दोष का अत्यन्त निर्हरण करेंगे तो प्रवृद्ध हुआ वायु उस निर्बल व्यक्ति के प्राणों को सङ्कट में डाल देगा ॥ ४० ॥

स्नेहस्य पानमिष्टं शुद्धे कोष्ठे प्रवाहिते रुधिरे ।
वायुर्हि शुद्धकोष्ठं कुष्ठिनमबलं विशति शीघ्रम् ॥ ४१ ॥

कोष्ठ शुद्ध हो जाने पर अर्थात् वमन वा विरेचन के बाद तथा रक्त के निर्हरण के पश्चात् कुष्ठी को स्नेहपान कराना अभीष्ट है क्योंकि निर्बल कुष्ठी के शुद्ध कोष्ठ में वायु शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाता है । वायु से बचाने के लिये अवश्य स्नेहपान कराना चाहिये ॥ ४१ ॥

दोषोत्क्लिष्टे हृदये वाम्यः कुष्ठेषु चोर्ध्वभागेषु ।
कुटजफलमदनमधुकैः सपटोलैर्निम्बरसयुक्तैः ॥ ४२ ॥

देह के ऊपर के भाग में उत्पन्न कुष्ठों में जब हृदयदेश में दोष का उत्क्लेश हो तब इन्द्रजौ, मैनफल, मुलहठी, पटोलपत्र; इन्हें नीम के रस में डालकर वमनार्थ पिलावे ॥ ४२ ॥

शीतरसः पक्वरसो मधूनि मधुकं च वमनानि ।

वमन द्रव्य—शीतरस (मद्यविशेष), पक्वरस (मद्यविशेष), शहद, मुलहठी; ये भी कुष्ठ में वमनार्थ प्रयुक्त होते हैं । शीतरस और पक्वरस के गुण सूत्रस्थान २७ अध्याय के मद्यवर्ग में कहे जा चुके हैं ।

चक्रपाणि पूर्वोक्त कुटज आदि को केवल वमनद्रव्यों का परिगणन कहता है । परन्तु यदि केवल परिगणन होता तो मधुक को दो वार न पढ़ता । गङ्गाधर और चक्रपाणि दोनों ही शीतरस से शीतकषाय लेते हैं । गङ्गाधर तो कहता है कि इन्द्रजौ से लेकर पटोलपत्रपर्यन्त द्रव्यों का कल्क करके उससे शीतकषाय वा क्वाथ (पक्वरस) प्रस्तुत करना चाहिये । परन्तु उस शीतकषाय वा क्वाथ में नीम का कल्क न डाले अपि तु रस डाले । इस में मुलहठी का चूर्ण और मधु मिश्रित कर कुष्ठी को पिलावे ।

कुष्ठे त्रिवृता दन्ती त्रिफला च विरेचने शस्ता ॥ ४३ ॥

विरेचनद्रव्य—कुष्ठ में विरेचनार्थ निसोत, दन्तीमूल वा त्रिफला

का प्रयोग प्रशस्त है ॥ ४३ ॥

सौवीरकं तुषोदकमालोडनमासवांश्च शीध्वादीन्[1] ।
शंसन्त्यधोहराणां यथाविरेकं क्रमश्चेष्टः ॥ ४४ ॥

विरेचन द्रव्यों के आलोडन द्रव—सौवीर, तुषोदक, शीधु (मद्यविशेष) आदि आसव; ये द्रव अधोहर (विरेचन) द्रव्यों के आलोडनार्थ प्रयुक्त कराने चाहियें । कच्चे वा पकाये हुए निस्तुष जौ से तय्यार की हुई काञ्जिक को सौवीर और कच्चे सतुष जौ से प्रस्तुत काञ्जिक को तुषोदक कहते हैं ।

विरेचन के पश्चात् विरेचन के अनुसार पेया आदि क्रम का सेवन करना चाहिये । कहा भी है—

'पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रीनुभयं तथैकम् ।
क्रमेण सेवेत नरोऽन्नकालान् प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ॥'

अर्थात् प्रवरशोधन होने पर तीन वार और मध्यम शोधन होने पर दो वार और अवर शुद्धि होने पर एक वार अन्नकाल है । इन समयों में पेया आदि के क्रम का सेवन करना चाहिये ॥ ४४ ॥

दार्वीबृहतीसेव्यैः पटोलपिचुमर्दमदनकृतमालैः ।
सस्नेहैरास्थाप्यः कुष्ठी सकलिङ्गयवमुस्तैः ॥ ४५ ॥

आस्थापनयोग—दार्वी (दारहल्दी), बृहती (बड़ी कटेरी), सेव्य (खस), पटोलपत्र, पिचुमर्द (नीम), मैनफल, कृतमाल (अमलतास); इनके क्वाथ में इन्द्रजौ और मोथे का कल्क तथा स्नेह डालकर आस्थापन करावें । अथवा जैसा उचित समझे वैसे ही क्वाथ और कल्क की कल्पना कर ले । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में भी—

' दार्वीपटोलबृहतीसेव्यमदननिम्बकृतमालघनेन्द्रयवैः सस्नेहैरास्थापनम् ' ॥

यद्यपि कुष्ठ के रोगियों को अनास्थाप्य कहा है परन्तु जहां उस

---

१ ' सीधूनि ' ग. ।

के विना काम नहीं चलता वहां कराना ही पड़ता है ।

अतएव कहा भी है—' प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणसंयोगे गुरुलाघवं सम्प्रधार्य सम्यगधिगच्छेत् ।।' ४५ ।।

वातोल्वणं विरिक्तं निरूढमनुवासनार्हमालक्ष्य ।
फलमधुकनिम्बकुटजैः सपटोलैः साधयेत्स्नेहम् ।। ४६ ।।

विरेचन और निरूह के पश्चात् वातप्रधान कुष्ठी को यदि अनुवासन के योग्य समझें तो मैनफल, मुलहठी, नीम की छाल, कुटज की छाल, पटोलपत्र; इनसे यथाविधि स्नेह को सिद्धकर अनुवासन दें।

सैन्धवदन्तीमधुकं फणिज्जकं सपिप्पलिकरञ्जफलम् ।
नस्यं स्यात्सविडङ्गं क्रिमिकुष्ठकफप्रदोषघ्नम् ।। ४७ ।।

शिरोविरेचनार्थ नस्य——सैन्धानमक, दन्तीमूल, मुलहठी, तुलसीबीज, पिप्पली, करञ्जफल, वायविडङ्ग; इन्हें मिश्रित कर नस्य लेना कृमि कुष्ठ और कफदोष को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह में भी——

' दन्तीमरिचफणिज्झकार्द्रकरञ्जबीजपिप्पलीविडङ्गसैन्धवैरूर्ध्वजत्रुगते कुष्ठे कृमिषु च शिरोविरेकः ' ।। ४७ ।।

वैरेचनिकैर्धूमैः श्लोकस्थानेरितैश्च शाम्यन्ति ।
कृमयः कुष्ठकिलासाः प्रयोजितैरुत्तमाङ्गस्थाः ।। ४८ ।।

सूत्रस्थान में कहे गये वैरेचनिक धूमों के प्रयोगों से शिरस्थित वा ऊर्ध्वजत्रुगत कृमि कुष्ठ किलास नष्ट होते हैं । सूत्रस्थान अ० ५ में एक ही श्लोक में वैरेचनिक धूम कहा है परन्तु उन्हीं द्रव्यों को व्यस्त समस्तरूप में विवेचना करके प्रयोग कराने से नानाप्रकार के वैरेचनिक धूम हो सकते हैं ।। ४८ ।।

स्थिरकठिनमण्डलानां स्विन्नानां प्रस्तरप्रणाडीभिः ।
कूर्चैर्विघट्टितानां रक्तोत्क्लेशोऽपनेतव्यः ।। ४९ ।।

स्थिर कठिन मण्डल वाले कुष्ठों को प्रस्तरस्वेद वा नाडीस्वेद से स्विन्न करके कूर्चशस्त्र से विघट्टन (घर्षण) करके रक्त के उत्क्लेश को हटाना

चाहिये । अर्थात् उत्क्लिष्ट रक्त के निकल जाने से शान्ति होती है॥४९॥

आनूपवारिजानां मांसानां पोट्टलैः सुखोष्णैश्च ।
स्विन्नोत्स्विन्नं विलिखेत्कुष्ठं तीक्ष्णेन शस्त्रेण ॥ ५० ॥
रुधिरागमार्थम्,

आनूप और जलज पशुपक्षियों के मांस को कूट कर पोटली बनावें । इस पोटली को सुहाता गरम करके स्वेदन करें । जब अच्छी प्रकार स्वेदन हो तो तीक्ष्ण शस्त्र से लेखन करें ॥ ५० ॥

अथवा शृङ्गालाबुभिराहरेद्रक्तम् ।
प्रच्छितमल्पं कुष्ठं विरेचयेद्वा जलौकोभिः ॥ ५१ ॥

अथवा थोड़ा सा पछकर शृङ्ग (सिंगी) वा अलाबू (तूंबी) द्वारा रक्तनिर्हरण करे अथवा जोंकें लगाकर रक्त का विरेचन करे॥५१॥

ये लेपाः कुष्ठानां युज्यन्ते निर्हृतास्रदोषाणाम् ।
संशोधिताशयानां सद्यः सिद्धिर्भवेत्तेषाम् ॥ ५२ ॥

दुष्ट रक्त को निकालकर शुद्धकोष्ठ वाले कुष्ठी को जो लेप लगाये जाते हैं उससे शीघ्र सिद्धि होती है । अभिप्राय यह है कि लेप लगाने से पूर्व दुष्ट रक्त का निर्हरण और आशय की शुद्धि अवश्य कर लेनी चाहिये ॥ ५२ ॥

येषु न शस्त्रं क्रमते स्पर्शेन्द्रियनाशनानि यानि स्युः ।
तेषु निपात्यः क्षारो रक्तं दोषं च विस्राव्य ॥ ५३ ॥

जहां पर शस्त्रकर्म नहीं कराया जा सकता और जो स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा) के नाशक हों (अर्थात् जिनमें स्पर्शज्ञान न हो) उन कुष्ठों में रक्तनिर्हरण करके और संशोधनों द्वारा दोष को निकाल कर क्षारपातन करना चाहिये अर्थात् यथाविधि क्षार लगाकर नष्ट कर देना चाहिये ॥५३॥

पाषाणकठिनपरुषे सुप्ते कुष्ठे स्थिरे पुराणे च ।
पीतागदस्य कार्यो विषैः प्रदेहोऽगदैश्चानु ॥ ५४ ॥

पत्थर के सदृश कठिन परुष, स्थिर, पुराने तथा सुप्त (जहां

---

१ 'स्विन्नोत्सन्नं' पा० ।

स्पर्शज्ञान न हो) कुष्ठ में पहिले अगद (औषध) पिलाकर विषों वा अगदों (औषधों) का प्रदेह (लेप) करे ॥ ५४ ॥

स्तब्धानि सुप्तसुप्तान्यस्वेदनकण्डुलानि कुष्ठानि ।
कूर्चैर्दन्तीत्रिफलाकरवीरकरञ्जकुटजानाम् ॥ ५५ ॥
जात्यर्कनिम्बजैर्वा पत्रैः शस्त्रैः समुद्रफेनैर्वा ।
घृष्टानि गोमयैर्वा ततः प्रलेपैः प्रदेह्यानि ॥ ५६ ॥

जो कुष्ठ स्तब्ध हों, स्पर्शज्ञान से सर्वथा रहित हों, जहां पसीना न आता हो, खुजली बहुत होती हो, वहां कूर्चशस्त्र से अथवा त्रिफला कनेर करञ्ज कुटज चमेली आक वा नीम के पत्तों से, शस्त्रों से, समुद्रफेन से अथवा शुष्क गोबर से घर्षण करके प्रलेप लगाने चाहियें ॥ ५५-५६ ॥

मारुतकफकुष्ठघ्नं कर्मोक्तं कुष्ठिनां कार्यम् ।
कफपित्तरक्तहरणं तिक्तकषायैः प्रशमनं च ॥ ५७ ॥

कुष्ठ के रोगियों की वातकफकुष्ठ-नाशक चिकित्सा जो अभी कही है करनी चाहिये। अर्थात् कुष्ठ में कफ (वमन द्वारा) पित्त (विरेचन द्वारा) तथा रक्त का (रक्तमोक्षण द्वारा) हरना, और तिक्त एवं कषायरस द्रव्यों से संशमन करना होता है ॥ ५७ ॥

सर्पींषि तिक्तकानि च यच्चोक्तं रक्तपित्तनुत्कर्म ।
बाह्याभ्यन्तरमग्र्यं तत्कार्यं पित्तकुष्ठेषु ॥ ५८ ॥
दोषाधिक्यविभागादित्येतत्कर्म कुष्ठनुत्प्रोक्तम् ।

पित्तकुष्ठों में तिक्त द्रव्यों से साधित घृत अथवा तिक्तकघृत और जो रक्तपित्तनाशक बाह्य वा आभ्यन्तर प्रधान वा श्रेष्ठ कर्म कहा है, वह सब करना चाहिये।

दोष की अधिकता के विभाग के अनुसार यह कुष्ठनाशक चिकित्सा कह दी है ॥ ५८ ॥

---

१ 'प्रदेहैः' ग.।

वक्ष्यामि कुष्ठशमनं प्रायस्त्वग्दोषसामान्यात् ॥ ५९ ॥

अब सब कुष्ठों में ही त्वचा के दोषयुक्त होने से कुष्ठ के शमन करने वाले योग कहूंगा—॥ अभिप्राय यह है कि आगे कहे जाने वाले योग सभी कुष्ठों में प्रयोग कराये जाते हैं ॥ ५९ ॥

दार्वीं रसाञ्जनं वा गोमूत्रेण प्रबाधते कुष्ठम् ।
अभया प्रयोजिता वा मासं सव्योषगुडतैला[1] ॥ ६० ॥

दारुहल्दी अथवा रसौंत (यह दार्वी के क्वाथ को घना करने से प्रस्तुत होता है) को गोमूत्र के साथ पिलाने से कुष्ठ नष्ट होता है । अथवा त्रिकटु गुड और तैल के साथ हरड़ को एक मास पर्यन्त सेवन कराने से कुष्ठ नष्ट होता है ॥ ६० ॥

पटोमूलादिक्वाथः ।

मूलं पटोलस्य तथा गवाक्ष्याः पृथक्पलांशं त्रिफला त्रिवृच्च ।
स्यात्त्रायमाणा कटुरोहिणी च भागाधिका नागरपादयुक्ता ॥६१॥
पलं तथैकं[2] सह चूर्णितानां जले शृतं[3] दोषहरं पिबेन्ना ।
जीर्णे रसे धन्वमृगद्विजानां पुराणशाल्योदनमाददीत ॥६२॥
कुष्ठानि शोफं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि कृच्छ्राणि हलीमकं च ।
योगः प्रयोगेण[4] निहन्ति चैषं[5] हृद्बस्तिशूलं विषमज्वरं च ॥६३॥

पटोलमूल (परवल की जड़) १ पल, इन्द्रायण की जड़ १ पल, हरड़ १ पल, बहेड़ा १ पल, आंवला १ पल, त्रिवृत् (निसोत) १ पल, त्रायमाणा १॥ कर्ष, कटुकी १॥ कर्ष, सोंठ १ कर्ष; इन्हें एकत्र कूटकर उस में से १ पल औषध ले और जल में क्वाथ करें । इस क्वाथ को रोगी पुरुष पीवे । यह दोष को हरता है । इस औषध के जीर्ण हो जाने पर पुराने शालि के भात को जाङ्गल

१ 'अभयाप्रयोगे गुडतैलयोः कुष्ठनिदानत्वेनोक्तयोरपि संयोगमहिम्ना हरीतक्याः समं प्रयोगः कुष्ठहन्ता भवति' चक्रः ।
२ 'पलं तथैषां' ग. । ३ 'श्रृते' ग. ।
४ 'षड्भूत्रयोगेन' चक्रः । ५ 'चैषां' ग. ।

पशुपक्षियों के मांसरस के साथ खाये । यह योग प्रयोगसे कुष्ठ शोथ, ग्रहणीदोष, कष्टसाध्य अर्श, हलीमक, हृच्छूल, बस्तिशूल, विषमज्वर को नष्ट करता है । जतूकर्ण में भी कहा है—

पटोलमूलत्रिफलागवाक्षीत्रिवृतापलैः ।

त्रायन्ती कटुका द्वाभ्यां कृत्वा नागरपादिकम् ॥

चूर्णं पलं पिबेत्तस्माच्छृतम् ॥

चक्रपाणि 'त्रिवृच्च' के स्थल पर 'पृथक् च' पढ़ता है । और इस योग को छह पल का मानता है । इस योग के छह दिन के प्रयोग से ही कुष्ठ नष्ट होते हैं—ऐसा तात्पर्य निकालता है । तन्त्रान्तरों में भी त्रिवृत् के बिना छह पल का योग भी मिलता है । जैसे—

'पटोलमूलं त्रिफला विशाला च पलोन्मिता ।

पलार्द्धं त्रायमाणा च तथा कटुकरोहिणी ।

कर्षार्द्धं नागरं दत्त्वा षट्पलान्यवचूर्णयेत् ।

जले शृतं पिबेत्कोष्णं चूर्णस्यात्र पलं पलम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में—

पटोलविशालयोर्मूलं त्रिफला च पृथक् त्रिभागोनत्रिशाणाः कटुकात्रायमाणे शाणांशे शुण्ठ्यास्त्रिभागोनः शाणः तदेतत् पलमेकध्यं सलिले विपाच्य पाययेत् । ऊर्ध्वाधो विरिक्तश्च जीर्णे जाङ्गलरसेनाश्नीयात् । एवमेतत् षड्रात्रप्रयोगात् परं पित्तकफशोफकुष्ठदुष्टनाडीव्रणार्शोभगन्दरग्रहणीपाण्डुहलीमककामलाविषमज्वरहृद्बस्तिवेदनाघ्नम् ६१—६३

मुस्तादिचूर्णम् ।

मुस्तं व्योषं त्रिफला मञ्जिष्ठा दारु पञ्चमूले द्वे ।

सप्तच्छदनिम्बत्वक् सविशालश्चित्रको मूर्वा ॥ ६४ ॥

चूर्णं तर्पणभागैर्नवभिः संयोजितं समध्वाज्यम् ।

---

१ 'तर्पणभागैरिति शक्तुभागैः' चक्रः ।

सिद्धं कुष्ठनिबर्हणमेतत्प्रायोगिकं भक्ष्यम् ॥ ६५ ॥
श्वयथुं सपाण्डुरोगं श्वित्रं ग्रहणीप्रदोषमर्शांसि ।
ब्रध्नभगन्दरपिडकाकण्डूकोठांश्च विनिहन्ति ॥ ६६ ॥
इति मुस्तादिचूर्णम् ।

मुस्तादिचूर्ण—मोथा, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, मञ्जिष्ठा, देवदारु, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, बेल की छाल, अरणी की छाल, अरलू की छाल, पाटला की छाल, गाम्भारी की छाल, सतिवन (सप्तपर्ण) की छाल, नीम की छाल, इन्द्रायण, चित्रक, मूर्वामूल; प्रत्येक १ भाग, सत्तू ९ भाग; इन्हें एकत्र मिश्रितकर मधु और घी के साथ प्रयोग करे । यह सिद्ध कुष्ठनाशक है । यह प्रायोगिक भक्ष्य है अर्थात् इसे निरन्तर प्रतिदिन खाना चाहिये । शोथ पाण्डुरोग श्वित्र ग्रहणीदोष अर्श ब्रध्न भगन्दर पिडका कण्डू और कोठ को नष्ट करता है । मात्रा—चार मासा ॥ ६४–६६ ॥

त्रिफलादिचूर्णम् ।

त्रिफलातिविषाकटुकानिम्बकलिङ्गकवचापटोलानाम् ।
मागधिकारजनीद्वयपद्मकमूर्वाविशालानाम् ॥ ६७ ॥
भूनिम्बपलाशानां दद्याद्द्विपलं ततस्त्रिवृद्द्विगुणा ।
तस्याश्च पुनर्ब्राह्मी तच्चूर्णं सुप्तिनुत् परमम् ॥ ६८ ॥

त्रिफलादिचूर्ण—हरड़, बहेड़ा, आंवला, अतीस, कटुकी, नीम की छाल, इन्द्रजौ, वच, पटोलपत्र, पिप्पली, हल्दी, दारहल्दी, पद्माख, मूर्वामूल, इन्द्रायण की जड़, चिरायता, पलाश (ढाक) की छाल अथवा बीज; प्रत्येक २ पल, त्रिवृत् (निसोत) ४ पल, ब्राह्मी ८ पल । इन्हें एकत्र मिश्रित करें । यह चूर्ण सुप्ति (स्पर्शाज्ञता) को नष्ट करता है । मात्रा—२ मासे से ६ मासे तक । अष्टाङ्गसंग्रह में यह चूर्ण थोड़े से भेद से पढ़ा है । वहां पलाश के स्थल पर पाठा

की गई है । तथा दन्तीमूल ४ पल, त्रिवृत् ८ पल और ब्राह्मी १६ पल डाली है । दन्तीमूल का पाठ अधिक है और अतएव त्रिवृत् और ब्राह्मी के मान में भी भेद है—

' भूनिम्बनिम्बत्रिफलापद्मकातिविषाकणाः ।
मूर्वापटोलीद्विनिशापाठातिक्तेन्द्रवारुणीः ॥
सकलिङ्गवचास्तुल्या द्विगुणाश्च यथोत्तरम् ।
लिह्याद्दन्तीत्रिवृद्ब्राह्मीर्चूर्णिता मधुसर्पिषा ॥
कुष्ठमेहप्रसुप्तीनां परमं स्यात्तदौषधम् ॥'

गङ्गाधर तो त्रिफला आदि सत्रह द्रव्यों से दुगुनी निसोत और निसोत से दुगुनी ब्राह्मी डालने को लिखता है । परन्तु यह ठीक नहीं ।

लेलीतकप्रयोगो[1] रसेन जात्याः[2] समाक्षिकः परमः ।
सप्तदशकुष्ठघाती माक्षिकधातुश्च मूत्रेण ॥ ६६ ॥

लेलीतक (आंवलासार गन्धक) का चमेली के पत्तों के रस और मधु के साथ प्रयोग परम कुष्ठनाशक है । गन्धक की मात्रा १ रत्ती से ८ रत्ती तक है । चक्रपाणि यहां 'जाती' से आंवले का ग्रहण करता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में कहा है—

' यतेर्लेलीतकवसा क्षौद्रजातीरसान्विता ।
कुष्ठघ्नी समसर्पिर्वा सगायत्र्यसनोदका ॥'

गोमूत्र के साथ स्वर्णमाक्षिकभस्म को सेवन कराने से सत्रह कुष्ठ नष्ट होते हैं । काकणक असाध्य है, अतएव अठारह नहीं कहे । स्वर्णमाक्षिकभस्म की मात्रा—आधी रत्ती से २ रत्ती पर्यन्त है । अष्टाङ्ग-

---

१ 'नवनीतकप्रयोगो' ग. । ' लेलीहकप्रयोगो ' च. । ' लेलीहकः पाषाणभेद औत्तरापथिकः । उच्यते च निघण्टौ,—"आसीद्दैत्यो महाबाहुर्लेलीहानो महासुरः । योजनानां त्रयस्त्रिंशत्कायेनाच्छाद्य तिष्ठति । विष्णुचक्रहतस्तूर्णं पपात धरणीतले । वसा तस्य समाख्याता लेलीहक इति क्षितौ"—इत्यादि । 'लेलीतकवसा उत्तरापथे रसरूपा प्रसिद्धा' इति इन्दुः । २ 'जात्या इत्यामलक्याः' चक्रः ।

संग्रह उ० अ० ४९ में तो कहा है—

सोदश्वित्को माक्षिकधातुः सघृतो वा ।
सक्षौद्रो वा क्षौद्रघृताभ्यां सहितो वा ।
साम्भस्को वा तैलयुतो वा विनिहन्ता
त्वग्दोषाणां सर्वविषाणां सगराणाम् ॥' ६६ ॥

गन्धकयोगादथवा[1] सुवर्णमाक्षीकयोगाद्वा[2] ।
सर्वव्याधिविनाशनमद्यात्कुष्ठी रसं च निगृहीतम् ॥७०॥

गन्धक के योग से अथवा स्वर्णमाक्षिक के योग से निगृहीत (बांधे गये) पारद भस्म को कुष्ठी खावे । यह पारदभस्म सब रोगों को नष्ट करती है । गन्धक पारद का पक्षच्छेद करने के विषय में रसहृदयतन्त्र तृतीय अवबोध में कहा है—

'रसराजरागदायी बीजानां पाकजारणसमर्थः ।
सूतकपक्षच्छेदी रसबन्धे गन्धकोऽभिहितः ॥'

अथवा निगृहीत से भस्म अर्थ ही लें । क्योंकि भस्म में पारद बद्ध ही होता है । अर्थात् गन्धक वा स्वर्णमाक्षिक के योग से भस्म की हुई पारदभस्म को रोगी सेवन करे । भस्म की विधि रसशास्त्रों में देखनी चाहिये । पारदभस्म की मात्रा $\frac{1}{4}$ रत्ती से $\frac{1}{2}$ रत्ती तक है ॥७०॥

वज्रं शिलाजतुसहितं सहितं वा योगराजेन ।
सर्वव्याधिनिबर्हणमद्यात्कुष्ठी निगृह्य नित्यं च ॥ ७१ ॥

सब रोगों की नाशक वज्रभस्म (हीरकभस्म) को शिलाजीत के साथ अथवा योगराज के साथ कुष्ठी नित्य खावे । हीरकभस्म की मात्रा $\frac{1}{32}$ रत्ती से $\frac{1}{16}$ रत्ती तक है । शिलाजीत की मात्रा २ रत्ती से आठ रत्ती तक है । योगराज योगविशेष का नाम है । इसका वर्णन इस संहिता में नहीं है । अष्टाङ्गसंग्रह कुष्ठचिकित्सा में योगराज का योग कहा है—

---

१ 'श्रेष्ठो गन्धकयोगः' पा० । २ 'सुवर्णमाक्षिकयोगादेव' पा० ।

' खदिरकदरतिनिशासनशिरीषाशिंशपाशाकसर्जार्जुनजम्बू-करवीरधवामलकीमुष्ककाग्निकबदरीवञ्जुलनिम्बकरञ्जकदम्बमधूकसारान् सार्द्रान् कृतमालशिचुलपटोलाङ्कोलबलाबिल्वकुटजकटभीपारिभद्रसहचर-गृध्रनखीवरणावर्धमानार्कशोभाञ्जनाटरूषकशतावरीश्वदंष्ट्राहिमाराश्वकर्णश्री-पर्णीस्वयंगुप्ताग्निमन्थेन्द्रवारुणीकाकोदुम्बरिकामेषशृङ्गीडुण्डुकगुडूचीवर्षा-भूवायसीबृहतीद्वयरोहिणीमूर्वाशार्ङ्गेष्टामूलानि च शकलयित्वा पृथक् त्रिंशत्पालिकानि सङ्क्षुद्य महति कटाहेऽष्टगुणेनाम्भसा क्वाथयेत् ।अष्टभागशेषं निर्यूहमवतार्य परिस्राव्य च तस्मिन् सर्पिषः पलशतत्रयं विपचेदीषदव-शेषकषाये च विदलीकृतारुष्करसहस्रत्रयमत्रावाप्य पुनः पाचयेद्विगतस्व-रसान्यरुष्कराण्यपास्य तस्मिन् स्नेहे सुचूर्णितानि प्रक्षिपेत् । व्याधिघात-व्योषनाकुलीमार्कवार्ककाकादनीतगरकटुकाकुष्ठबिल्वहिङ्गुविडङ्गचित्रका-तिविषामुस्तेन्द्रवारुणीरूप्यमललोहरजोलोहकान्तरसाञ्जनाभ्रशुकनासादेव-दालीत्रिफलालाङ्गलिकीविशालाकुम्भनिकुम्भवचावाराहीमहाद्रुमकोशातकी-प्रपुन्नाटसोमपर्णीनलिकाद्वयपटोलीजातीपल्लवताप्यकारवेल्लीकुलिकाकन्द-कसप्तच्छदशार्ङ्गेष्टोत्पलशारिवागुग्गुलुशिलाजतुमूर्वाकुस्तुम्बरीजीवकद्वयपा-ठेन्दुरेखावज्रकन्दहरिद्राद्वयलवणपञ्चकानि प्रत्येकं त्रिपलिकानि शृङ्गी-विषपलं चैकं ततो दर्व्या समन्तादाघट्य सुगुप्तं भूमौ धान्ये वा मासं निखनेत् ।

अथ कृतसंशुद्धिस्वस्त्ययनः कुष्ठी प्रातस्ततो मात्रामुपयुञ्जीत । जीर्णे च यथेष्टमाहारं तेनास्य पूर्वमङ्गानि तुद्यन्ते भिद्यन्ते शूयन्ते स्फुर-न्ति स्फुटन्ति च । ततः सप्तरात्रात्परं पुनः स्वस्थीभवन्ति । अपि च—

योगराजमवलिह्य समस्तं संज्ञयैव कथितोत्तमशक्तिम् ।
हन्ति कुष्ठमतिपातितगात्रं स्नायुजालपरिशेषमशेषम् ॥
श्वासाग्निकासारुचिकासयक्ष्मगुल्माढ्यवातग्रहणीप्रमेहान् ।

शोफं क्रमीन् पाण्डुगदं ज्वरांश्च निवर्तयत्येष रसायनाग्र्यः ।

अर्थात्, खैर, श्वेत खैर, तिनिश, असन, सिरस, शीशम, सागवान, सर्ज, अर्जुन, जामुन, कनेर, धव, आंवला, मुष्कक (मोखा), आक्षिक (रजनक, वृक्षविशेष), बेरी, जलवेतस, नीम, करञ्ज, महुआ; इनकी ताजी गीली मध्यकाष्ठ और अमलतास,निचुल (समुद्रफल), पटोल, अङ्कोलफल (हिंगोट), बलामूल, बेल की छाल, कुटज (कुड़ा) की छाल, कटभी (मालकंगनी), पारिभद्र (फरहद) की छाल, सहचर (झिण्टी) की जड़, गृध्रनखी (तिन्दुकी अथवा गुडकांउली, मकोय), वरुण (बरना) की छाल, एरण्डमूल, मदार की जड़, सहिजन की छाल, वासामूलत्वक्, शतावर, गोखरू, अहिमार (अरिमेद, दुर्गन्धि खदिर), अश्वकर्ण (सर्जभेद), श्रीपर्णी (गाम्भारी), कौंच, अग्निमन्थ (अरणी) की छाल, इन्द्रायण की जड़, काकोदुम्बरिका (काठगुलरिया), मेढ़ासिंगी, डुण्डुक (मयूरजङ्घा), वायसी (श्वेत मकोय), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, रोहिणी (कटुकी), मूर्वामूल, घुंघची की जड़; इनके टुकड़े करके पृथक् तीस तीस पल ले और आठगुना जल में डालकर बड़े कड़ाहे में पकावे। जब आंठवां भाग शेष रहजाय तब उतार कर छान ले । अब उस क्वाथ में ३०० पल गौ का घी डाल कर पकावे । जब थोड़ा क्वाथ बचजाय तब ३००० शुद्ध भिलावों के दो दो टुकड़े करके उसमें डाल दे तथाच घी से चौगुना जल भी डाल दे और आंच पर पुनः पकावे । जब भिलावे नीरस हो जांय तो उन्हें निकाल डाले और यदि कुछ जल अवशिष्ट हो तो मन्द आंच पर यथाविधि घी को सिद्ध कर ले। अब इस घी को पृथक् कर अमलतास, त्रिकटु, रास्ना, भृङ्गराज(भांगरा),मदारकी जड़, काकादनी(लाल मकोय), तगर, कटुकी, कुष्ठ, बेल की छाल, हींग, वायविडङ्ग, चित्रक, अतीस, मोथा, इन्द्र जौ, इन्द्रायण की जड़, चांदी की मैल अथवा रौप्यमाक्षिकभस्म, तीक्ष्णलोहभस्म, कान्तलोहभस्म, रसौत, अभ्रकभस्म, अरलू की

छाल, देवदाली (जीमूतक,घघरवेल), त्रिफला,लाङ्गलीमूल, बड़ी इन्द्रायण की जड़, निसोत, दन्तीमूल, वचा, वाराहीकन्द (गेंठी), महाद्रुम (पीपल अथवा राजजम्बू बड़ा जामुन) की छाल,कोशातकी (कड़वी तुरई), प्रपुन्नाट (चक्रमर्द, पंवाड़), सोमपर्णी (उच्चटा) की जड़, दोनों प्रकार की नलिका (सुगन्धि द्रव्य), पटोलपत्र, चमेली के पत्ते, ताप्य (स्वर्णमाक्षिक) भस्म, कारवेल्ली (करेली), कूलिकाकन्द (बांझककोड़ा का कन्द अथवा हाड़जोड़ा का कन्द), कुस्तुम्बरी (ताजा धनियां), जीवक, ऋषभक, पाठा, सोमराजी (कालीजीरी), वज्रकन्द (सेहुण्ड की जड़ अथवा जङ्गली सूरण), हल्दी, दारहल्दी, पांचों नमक; प्रत्येक द्रव्य ३ पल, शृङ्गीविष १ पल; इसका चूर्ण डाल कर लकड़ी की कड़छी से अच्छीप्रकार मिला कर घृतभावित मिट्टी के पात्र में डाल दें और मुख बन्द करके भूमि में वा धान्यराशि में एक मास पर्यन्त दबा रखें। पश्चात् निकाल कर प्रयोग करावें। पूर्व रोगी का संशोधन कराके प्रातः रोगी को मात्रा में खिलावे। पचने पर यथेष्ट आहार दें। इसके प्रयोग से प्रथम शरीर में तोद भेद सूजन स्फुरण होंगे। शरीर फूटेगा। तदनन्तर सात दिन के बाद पुनः स्वस्थ हो जायगा।

यह योगराज जिस कुष्ठी के शरीर में कुष्ठ के कारण स्नायुमात्र अवशिष्ट रह गया है उसके कुष्ठ को भी नष्ट कर देता है। तथाच इसके प्रयोग से मन्दाग्नि, अरुचि, कास, यक्ष्मा, गुल्म, वातरक्त, ग्रहणी, प्रमेह, शोथ कृमिरोग, पाण्डुरोग, ज्वर नष्ट होते हैं।

रसतन्त्रों में भी एक योगराज नाम से योग प्रसिद्ध है,वह इस प्रकार है—

त्रिफलायास्त्रयोभागास्त्रयस्त्रिकटुकस्य च।
भागश्चित्रकमूलस्य विडङ्गानां तथैव च॥
पञ्चाश्मजतुनोभागास्तथा रूप्यमलस्य च।
माक्षिकस्य विशुद्धस्य लौहस्य रजसस्तथा॥
अष्टौ भागाः सितायाश्च तत्सर्वं श्लक्ष्ण चूर्णितम्।

माक्षिकेणाप्लुतं स्थाप्यमायसे भाजने शुभे ॥
चतुर्गुञ्जामितां मात्रां ततः खादेत् यथाग्नि ना ।
दिने दिने प्रयोगेण जीर्णे भोज्यं यथेप्सितम् ॥
वर्जयित्वा कुलत्थांश्च काकमाचीं कपोतकान् ।
योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः ।
रसायनमिदं श्रेष्ठं सर्वरोगहरं परम् ।
पाण्डुरोगं विषं कासं यक्ष्माणं विषमज्वरम् ॥
कुष्ठान्यजरकं मेहं श्वासं हिक्कामरोचकम् ।
विशेषाद्धन्त्यपस्मारं कामलां गुदजानि च ॥

त्रिफला मिलित ३ भाग, त्रिकटु मिलित ३ भाग, चित्रकमूल १ भाग, वायविडङ्ग १ भाग, शुद्ध शिलाजतु ५ भाग, रजतमाक्षिक-भस्म ५ भाग, स्वर्णमाक्षिकभस्म ५ भाग, तीक्ष्णलोहभस्म ५ भाग, खांड ८ भाग; इन्हें अच्छीप्रकार मिला मधु मिश्रित कर लौहपात्र में रखें । इसके सेवन के समय कुलथी, मकोय और कबूतर का मांस त्याज्य है। मात्रा—४ रत्ती । यह योग योगराज नाम से प्रसिद्ध है । अमृत के तुल्य लाभकर है। सब रोगों को नष्ट करता है। पाण्डुरोग, विष, कास, यक्ष्मा, विषमज्वर, कुष्ठ, मन्दाग्नि, प्रमेह, श्वास, हिचकी, अरुचि, अपस्मार, कामला, अर्श, इन्हें विशेषतः नष्ट करता है । इस योग के साथ भी वज्रभस्म का कुष्ठ में प्रयोग कराया जा सकता है ॥७१॥

मध्वासवः ।

खदिरसुरदारुसारं श्रपयित्वा तद्रसेन तोयार्थः ।
क्षौद्रप्रस्थे कार्यः कार्ये ते चाष्टपलिके च ॥ ७२ ॥
तत्रायश्चूर्णानामष्टपलं प्रक्षिपेत्तथाऽमूनि ।
त्रिफलैले त्वङ् मरिचं पत्रं कनकं च कर्षांशम् ॥ ७३ ॥
मत्स्यण्डिका मधुसमा तन्मासं जातमायसे भाण्डे ।
मध्वासवमाचरतः कुष्ठकिलासे शमं यातः ॥ ७४ ॥

मध्वासव—खैर और देवदारु की मध्यकाष्ठों को पृथक् आठ आठ पल लेकर यथाविधि क्वाथ करें । क्वाथ को छान कर उसमें मधु २ प्रस्थ (३२ पल) घोल दें और विशुद्ध लोहचूर्ण (अथवा भस्म) ८ पल, हरड़ बहेड़ा आंवला छोटी इलायची दारचीनी काली मिर्च तेजपत्र नागकेसर; प्रत्येक १ कर्ष, मत्स्यण्डिका (राब वा दानेदार खांड) को मधुके समपरिमाण अर्थात् ३२ पल का प्रक्षेप देकर लोहपात्र में डाल दें । मुख बन्द कर एक मास तक पड़ा रहने दें । आसव ठीक बनजाने पर मुख खोल कर बोतलों में भरलें । इस मध्वासव के अभ्यास से कुष्ठ और किलास (श्वित्र) शान्त होते हैं । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक । क्वाथ करने के लिये खदिर और देवदारु की मध्यकाष्ठ के प्रमाण से ८ गुना अर्थात् १२८ पल जल डालें । जब ३२ पल (२ प्रस्थ) शेष रह जाय तो उतार कर छान लें । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में भी यह योग सङ्गृहीत है—

'खदिरसुरदारुसारक्वाथप्रस्थं क्षौद्रप्रस्थं मत्स्यण्डिकाप्रस्थं लोहचूर्णार्धप्रस्थं त्रिफलाचतुर्जातकमरिचानि च कार्षिकाणि प्रक्षिप्यायसे भाण्डे मासस्थितं तदुपयोजयेत् ॥' ७२–७४ ॥

कनकबिन्द्वरिष्टम्

खदिरकषायद्रोणं कुम्भे घृतभाविते समावाप्य ।
द्रव्याणि चूर्णितानि त्वष्टपलिकान्यत्र देयानि ॥ ७५ ॥
त्रिफलाव्योषविडङ्गरजनीमुस्ताटरूषकेन्द्रयवाः ।
सौवर्णी च तथा त्वक् छिन्नरुहा चेति तन्मासम् ॥ ७६ ॥
निदधीत धान्यमध्ये प्रातः प्रातः पिबेत्ततो युक्त्या ।
मासेन महाकुष्ठं हन्त्येवाल्पं तु पक्षेण ॥ ७७ ॥
अर्शःश्वासभगन्दरकासकिलासप्रमेहशोषांश्च ।

१ 'षट्पलिकान्यत्र' ग. । २ 'सौवर्णी त्वक् दारुहरिद्रा' चक्रः ।

ना भवति कनकवर्णः पीत्वाऽरिष्टं कनकबिन्दुम् ॥ ७८ ॥

इति कनकबिन्द्वरिष्टम् ।

कनकबिन्द्वरिष्ट—खैर की मध्यकाष्ठ के क्वाथ २ द्रोण को घी से भावित घड़े में डालकर निम्नलिखित द्रव्यों के चूर्णों को समपरिमाण में मिलाकर आठपल परिमाण में डाले। हरड़, बहेड़ा, आंवला, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, वायविडङ्ग, हल्दी, मोथा, अडूसे की छाल, इन्द्रजौ, इद्रायण, दालचीनी, गिलोय। घड़े का मुख बन्द कर १ मास पर्यन्त धान्यराशि में रखे। तदनन्तर जब तय्यार हो जाय तो प्रतिदिन प्रातः काल युक्तिपूर्वक पीवे। एक मास पर्यन्त पीने से महाकुष्ठ और पन्द्रह दिन पीने से क्षुद्रकुष्ठ को यह नष्ट करता है। तथा च इसके सेवन से अर्श, श्वास, भगन्दर, कास, किलास (श्वित्र), प्रमेह, शोष; ये रोग नष्ट होते हैं। इस कनकबिन्दु अरिष्ट के पीने से पुरुष का वर्ण सुवर्ण के सदृश होजाता है। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक।

चक्रपाणि सौवर्णीत्वक् से दारहल्दी का ग्रहण करता है। गङ्गाधर अमलतास वृक्ष की छाल लेता है।

इसमें उत्सेचनार्थ अनुक्त खांड और मधु भी डालना चाहिये।

'अनुक्तमानारिष्टेषु द्रवद्रोणे तुलां गुडम्।

क्षौद्रं क्षिपेद् गुडादर्धं प्रक्षेपं दशमांशिकम् ॥'

इस शार्ङ्गधरोक्त परिभाषा के अनुसार खांड १ तुला और शहद आधी तुला (५० पल) डालना चाहिये ॥ ७५–७८ ॥

कुष्ठेष्वनिलकफकृतेष्वेवं पेयस्तथा च पित्तेषु।

कृतमालक्वाथश्चाप्येष विशेषात्कफकृतेषु ॥ ७९ ॥

वात कफ वा पित्तज कुष्ठों में अमलतास की त्वचा का क्वाथ भी इसीप्रकार पीना चाहिये। यह विशेषतः कफज कुष्ठों में हितकर है। अथवा अरिष्ट का प्रकरण होने से अमलतास के क्वाथ में पूर्वोक्त

अरिष्ट के त्रिफला आदि प्रक्षेपद्रव्य डाल कर अरिष्ट बना कर प्रयुक्त करायें ॥

त्रिफलासवश्च गौडः सचित्रकः श्वित्ररोगकुष्ठघ्नः[1] ।
क्रमुकदशमूलदन्तीवराङ्गमधुयोगसंयुक्तः ॥ ८० ॥

त्रिफलाक्वाथ में गुड, मधु और चित्रक, सुपारी, दशमूल (क्षुद्र-पञ्चमूल+बृहत्पञ्चमूल), दन्तीमूल, वराङ्ग (दालचीनी) का प्रक्षेप देकर सन्धित त्रिफलासव श्वित्ररोग तथा कुष्ठनाशक है ।

त्रिफलाक्वाथ २ द्रोण । गुड १ तुला । मधु आधी तुला । चित्रक आदि का प्रक्षेप १० पल डालकर अरिष्ट सन्धित कर लें ॥ चक्रपाणि 'वराङ्ग' से गुग्गुलु का ग्रहण करता है ॥ ८० ॥

लघूनि चान्नानि हितानि विद्यात्कुष्ठेषु शाकानि च तिक्तकानि ।
भल्लातकैः सत्रिफलैः सनिम्बैर्युक्तानि चान्नानि घृतानि चैव ॥८१॥
पुराणधान्यान्यथ जाङ्गलानि मांसानि मुद्गाश्च पटोलयुक्ताः ।
शस्ता न गुर्वम्लपयोदधीनि नानूपमत्स्या न गुडस्तिलाश्च ॥८२॥

पथ्यापथ्य—कुष्ठोंमें लघु अन्न और तिक्तरस युक्त शाक हितकर होते हैं । भिलावे त्रिफला और नीम से युक्त अन्न और घी, पुराने धान्य, जाङ्गल पशुपक्षियों के मांस मूंग और परवल; ये कुष्ठी के लिये प्रशस्त हैं ।

भारी अन्न, दूध, दही और आनूपमांस, मछली, गुड, तिल; ये अपथ्य हैं ॥ ८१—८२ ॥

एला कुष्ठं दार्वी शतपुष्पा चित्रकं विडङ्गं च ।
कुष्ठालेपनमिष्टं रसाञ्जनं चाभया चैव ॥ ८३ ॥

एलाद्यालेपन—इलायची, कुष्ठ, दारुहल्दी, सोये, लाल चित्रक, वायविडङ्ग, रसौंत, हरड़; इन्हें एकत्र पीसकर जल से कुष्ठ में प्रलेप करना चाहिये ॥ ८३ ॥

चित्रकमेलां बिम्बीं वृषकं त्रिवृदर्कनागरकम् ।
चूर्णीकृतमष्टाहं भावयितव्यं पलाशस्य ॥ ८४ ॥

---

१ 'कुष्ठरोगविनिहन्ता' ग. ।

क्षारेण गवां मूत्रस्रुतेन तेनास्य मण्डलान्याशु ।
भिद्यन्ते विलयन्ति च लिप्तान्यर्काभितप्तानि ॥ ८५ ॥

चित्रकादि लेप—लाल चित्रक, छोटी इलायची, बिम्बी, वृषक (अडूसा), त्रिवृत् (निसोत), मदार की जड़, सोंठ इन्हें एकत्र चूर्ण कर गोमूत्र में घोल कर छाने हुए पलाशक्षार से आठ दिन भावना देनी चाहिये । इस का कुष्ठ मण्डल पर लेप कर के धूप में बैठायें । इस प्रकार करने से वे फूट जाते हैं और विलीन हो जाते हैं । अन्यत्र बिम्बी के स्थल पर निम्ब और त्रिवृत् के स्थल कुरुविन्द का पाठ है । कुरुविन्द का अर्थ नागरमोथा है । यथा अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में—

'एलाचित्रकनिम्बवृषकं कुरुविन्दनागरार्कं च ।
चूर्णीकृतमष्टाहं भावयितव्यं पलाशस्य ।
क्षारेण गवांमूत्रस्रुतेन तेनास्य मण्डलान्याशु ।
भिद्यन्ते दीर्यन्ति च लिप्तान्यर्काभितप्तानि ॥' ८४—८५ ॥

मांसी मरिचं लवणं रजनी तगरं सुधा गृहधूमः ।
मूत्रं[1] पित्तं क्षारः पालाशः कुष्ठनुल्लेपः ॥ ८६ ॥

मांस्यादिलेप—जटामांसी (बालछड़),कालीमिर्च, सेन्धानमक, हल्दी, तगर, सुधा (सेहुण्ड), गृहधूम, गोमूत्र, पित्त (गोरोचन वा गौ का पित्त), पलाश (ढाक) का क्षार; यह लेप कुष्ठ को नष्ट करता है । सुधा से चूने (Lime) का भी ग्रहण किया जा सकता है ॥ ८६ ॥

त्रपुसीसमयश्चूर्णं मण्डलनुत्फल्गुचित्रकौ बृहती ।
गोधारसः सलवणो दारु च मूत्रं च मण्डलनुत् ॥८७॥

त्रप्वादि लेप—वङ्ग, सीसक और लौह इनका चूर्ण अर्थात् भस्म का लेप मण्डलकुष्ठ को नष्ट करता है ।

फल्ग्वादि लेप—फल्गु (काठ गूलरिया), चित्रक, बृहती, गोधा का

१ 'मूत्रं गोः पित्तं च' ग. ।

मांसरस, सैन्धानमक, देवदारु, गोमूत्र; इनका लेप मण्डल कुष्ठ को नष्ट करता है । कई व्याख्याकार त्रपु से बृहती पर्यन्त एक और गोधारस से गोमूत्रपर्यन्त दूसरा लेप मानते हैं ॥ ८७ ॥

कदलीपलाशपाटलिनिचुलक्षाराम्भसा प्रसन्नेन ।
मांसेषु तोयकार्यं कार्यं पिष्टे च किण्वे च ॥ ८८ ॥
तैर्मेदकः सुजातः किण्वैर्जनितप्रलेपनं शस्तम् ।
मण्डलकुष्ठविनाशनमातपसंस्थं कृमिघ्नं च ॥ ८९ ॥

केला, पलाश (ढाक), पाटला, निचुल (जलवेतस); इनके निर्मल क्षारजल से मांस, चावल का आटा और किण्व (सुराबीज) में जलकार्य करना चाहिये । अर्थात् धोने भावना देने स्वेदन करने आदि में इस क्षारजल से कार्य करना चाहिये । जाङ्गल मांस को इस क्षारजलमें उबालें । इस मांसरस में पिष्ट(शालि चावलों का चूर्ण) और सुराबीज डाल दें । इससे तय्यार हुए मेदक का पीना और किण्व (सुराबीज—शुष्क नीचे का कल्कभाग) का प्रलेप प्रशस्त है । मण्डलकुष्ठ पर लेप करके धूप में बैठायें इससे मण्डलकुष्ठ नष्ट होता है । यह कृमिनाशक है । इस योग को अरिष्टसाधन परिभाषा के अनुसार प्रस्तुत करना चाहिये ॥ ८८–८९ ॥

मुस्तं मदनं त्रिफला करञ्ज आरग्वधः कलिङ्गयवाः ।
दार्वी ससप्तपर्णा स्नानं सिद्धार्थकं नाम ॥ ९० ॥
एष कषायो वमनं विरेचनं वर्णकस्तथोद्धर्षः ।
त्वग्दोषकुष्ठशोफप्रबाधनः पाण्डुरोगघ्नः ॥ ९१ ॥

सिद्धार्थकस्नान—मोथा, मैनफल, त्रिफला, करञ्ज, अमलतास की छाल, इन्द्रजौ, दारहल्दी, सप्तपर्ण; इन से साधित जल से स्नान कराना चाहिये । यह सिद्धार्थकस्नान कहाता है ।

इनका क्वाथ कुष्ठ में वमन और विरेचन के लिये भी प्रयुक्त होता

१ 'क्लिन्ने' ग. । २ 'तैर्मेदकः' पा० ।

है । इस चूर्ण का देह पर घर्षण वर्ण को चमकाने वाला, त्वचा के दोष कुष्ठ एवं शोथ को नष्ट करने वाला और पाण्डुरोग-नाशक है ॥

कुष्ठं करञ्जबीजान्येडगजः कुष्ठसूदनो लेपः ।
प्रपुन्नाडबीजसैन्धवरसाञ्जनकपित्थलोध्राश्च ॥ ९२ ॥

कुष्ठ, करञ्जबीज, एडगज (चक्रमर्द, पंवाड़); इनका लेप कुष्ठ-नाशक है ॥

पंवाड के बीज, सैन्धानमक, रसौंत, कैथ और लोध; इनका लेप भी कुष्ठ को नष्ट करता है ॥ ९२ ॥

करवीरमूलकल्कः कुटजकरञ्जयोः फलं त्वचो दार्व्याः ।
सुमनःप्रवालयुक्तो लेपः कुष्ठापहः सिद्धः ॥ ९३ ॥

कनेर की जड़ का कल्क, इन्द्रजौ, करञ्ज का फल, दारुहल्दी की त्वचा, चमेली के प्रवाल (कोमलपत्ते); इनका लेप सिद्ध कुष्ठ-नाशक है ॥ ९३ ॥

लोध्रस्य धातकीनां वत्सकबीजस्य नक्तमालस्य ।
कल्कश्च मालतीनां कुष्ठेषूद्वर्तनालेपौ ॥ ९४ ॥

लोध, धाय के फूल, इन्द्रजौ, नक्तमाल(वृहत्करञ्ज फल)तथा मालती के फूल; इनके कल्क से कुष्ठों में उबटन वा आलेपन करना चाहिये ॥

शैरीषी त्वक् पुष्पं कार्पास्या राजवृक्षपत्राणि ।
पिष्टा च काकमाची [1]चतुर्विधः कुष्ठनुल्लेपः ॥ ९५ ॥

सिरस की छाल, कपास के फूल, अमलतास के पत्ते और मकोय, यह कुष्ठनाशक चार प्रकार का लेप है । सामान्यतः यह पृथक् चार योग हैं । कई व्याख्याकार इन चारों का एक योग मानते हैं । परन्तु लेप के अवचूर्णन, उद्वर्त्तन (उबटन), जल से पीस कर लेप

---

१ 'शैरीषी त्वगित्यादौ प्रत्येकद्रव्यकृतत्वेन चतुर्विधलेपो ज्ञेयः; अन्ये तु चतुर्भिरपि मिलितैरवचूर्णनमुद्वर्तनं जलपिष्टलेपनं रसक्रियालेपनमिति चतुर्विधलेपं वदन्ति ' चक्रः ।

तथा रसक्रिया करके लेप; ये चार भेद मानकर चार प्रकार के लेप कहते हैं। परन्तु आचार्य का यह अभिप्राय नहीं॥ ९५॥

दार्व्या रसाञ्जनस्य च निम्बपटोलस्य खदिरसारस्य।
आरग्वधवृक्षकयोस्त्रिफलायाः सप्तपर्णस्य॥ ९६॥
इति षट्कषाययोगाः कुष्ठघ्नाः सप्तमश्च तिनिशस्य।
स्नाने पाने च हितास्तथाऽष्टमश्चाश्वमारस्य॥ ९७॥
आलेपनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेत एव च कषायाः।
तैलघृतपाकयोगे चेष्यन्ते कुष्ठशान्त्यर्थम्॥ ९८॥

आठ कषाय—१ दारुहरिद्रा (दारहल्दी) से बनाया गया रसौंत, २ नीम और पटोलपत्र, ३ खैर का मध्यकाष्ठ ४ अमलतास की छाल और कुटज की छाल ५ त्रिफला ६ सप्तपर्णत्वक् ७ तिनिश काष्ठ ८ अश्वमार (कनेर) की जड़; ये आठ कषाययोग कुष्ठनाशक हैं। स्नान और पानार्थ हितकर हैं। इन्हें ही लेप उद्वर्ष (चूर्ण का देह पर मलना), अवचूर्णन (Dusting) तथा तैलपाक और घृतपाक के योगों में कुष्ठ की शान्ति के लिये प्रयुक्त करना चाहिये॥ ९६–९८॥

त्रिफलानिम्बपटोलं मञ्जिष्ठा रोहिणी वचा रजनी।
एष कषायोऽभ्यस्तो हिनस्ति[1] कफपित्तजं कुष्ठम्॥ ९९॥
एतैरेव च सर्पिः सिद्धं वातोल्बणं जयति कुष्ठम्।
एष च कल्पो दृष्टः खदिरासनदारुनिम्बानाम्[2]॥ १००॥

त्रिफलादिकषाय—त्रिफला, नीम की छाल, पटोलपत्र, मञ्जिष्ठा, कटुकी, वच, हल्दी; मिलाकर २ तोले। क्वाथार्थ जल ३२ तोले। अवशिष्ट क्वाथ ८ तोले। इस क्वाथ को पीने से कफपित्तज कुष्ठ नष्ट होता है॥

इन्हीं त्रिफला आदि द्रव्यों से यथाविधि साधित घी वातोल्बण कुष्ठ को जीतता है॥

---

१ 'निहन्ति' ग.। २ 'खदिरसुरदारु०' ग.।

यही कल्प खैर की लकड़ी असनकाष्ठ देवदारु और नीम की छाल का है। अर्थात इन से यथाविधि साधित क्वाथ को पीने से कफपित्तज कुष्ठ तथा यथाविधि साधित घी के प्रयोग से वातोल्वण कुष्ठ नष्ट होता है ॥ ९९-१०० ॥

कुष्ठार्कतुत्थकट्फलमूलकबीजानि रोहिणी कटुका ।
कुटजफलोत्पलमुस्तं बृहतीकरवीरकाशीसम् ॥ १०१ ॥
एडगजनिम्बपाठा दुरालभा चित्रको विडङ्गश्च ।
तिक्तेक्ष्वाकोर्बीजं कम्पिल्लकसर्षपं वचा दार्वी ॥ १०२ ॥
एतैस्तैलं सिद्धं कुष्ठघ्नं योग एष वा लेपः ।
उद्वर्तनं प्रघर्षणमवचूर्णनमेष एवेष्टः ॥ १०३ ॥

कुष्ठाद्यतैल—कुष्ठ, मदार की जड़, नीला तूतिया, कट्फल, मूली के बीज, कटुकी, इन्द्रजौ, नीलोत्पल, मोथा, बृहती (बड़ी कटेरी), कनेर की जड़, कासीस, एड़गज (पंवाड़ के बीज), नीम की छाल, पाठा, दुरालभा, चित्रक, वायविडङ्ग, कड़वी तुम्बी के बीज, कमीला, सरसों, वच, दारहल्दी; इनसे यथाविधि साधित तैल कुष्ठ-नाशक है। इन्हीं द्रव्यों के योग को ही आलेपन उबटन प्रघर्षण और अवचूर्णन द्वारा प्रयोग कराना चाहिये। तैल से चक्रपाणि के मतानुसार तिलतैल लेना चाहिये। परन्तु वैद्यों का व्यवहार ऐसा नहीं। कुष्ठ में बाह्यप्रयोग के लिये सरसों के तैल का ही प्रायशः व्यवहार होता है। यह कल्कसाध्य तैल है। गंगाधर क्वाथ और कल्क दोनों से सिद्ध करने को कहता है ॥ १०१-१०३ ॥

श्वेतकरवीराद्यं तैलम्

श्वेतकरवीरकरसो गोमूत्रं चित्रको विडङ्गश्च ।
कुष्ठेषु तैलयोगः सिद्धोऽयं संमतो भिषजाम् ॥ १०४ ॥

इति श्वेतकरवीराद्यं तैलम् ।

सरसों का तेल २ प्रस्थ। श्वेत कनेर की जड़ का रस ८ प्रस्थ।

गोमूत्र ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—चित्रक, वायविडङ्ग; मिलित १ शराव । इस लाभकर तैल के योग को चिकित्सक कुष्ठों में बाह्यप्रयोग कराते हैं ॥

गङ्गाधर आदि जो दो तीन वा चार द्रवों को मिलाकर तैल से चौगुना लेना मानते हैं वे कनेर का रस ४ प्रस्थ और गोमूत्र ४ प्रस्थ लेते हैं ॥ १०४ ॥

श्वेतकरवीराद्यं तैलम् (अपरम्)

श्वेतकरवीरपल्लवमूलत्वक् वत्सको विडङ्गश्च ।
कुष्ठार्कमूलसर्षपशिग्रुत्वग्रोहिणी कटुका ॥ १०५ ॥
एतैस्तैलं साध्यं कल्कैः पादांशिकैर्गवां मूत्रम् ।
दत्त्वा तैलचतुर्गुणमभ्यङ्गात्कुष्ठकण्डूघ्नम् ॥ १०६ ॥
इति श्वेतकरवीराद्यं तैलम् ।

श्वेतकरवीराद्य तैल—कटुतैल २ प्रस्थ । गोमूत्र तैल से चौगुना अर्थात् ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—श्वेत कनेर के पत्ते और जड़ का छिलका, कुटज की छाल, वायविडङ्ग, कुष्ठ, मदार की जड़, सरसों, सहिजन की छाल, कटुकी; मिलाकर तैल से चतुर्थांश अर्थात् १ शराव (८ पल) यथाविधि पाक करें । यह तैल अभ्यङ्ग से कुष्ठ तथा कण्डू (खुजली) को हटाता है ॥ १०५-१०६ ॥

तिक्तेक्ष्वाकुतैलम्

तिक्तेक्ष्वाकोर्बीजं द्वे तुत्थे रोचना हरिद्रे द्वे ।
बृहतीफलमेरण्डः सविशालश्चित्रको मूर्वा ॥ १०७ ॥
काशीसहिङ्गुशिग्रुत्र्यूषणसुरदारुतुम्बुरुविडङ्गम् ।
लाङ्गलकं कुटजत्वक् कटुकाख्या रोहिणी चैव ॥ १०८ ॥
सर्षपतैलं कल्कैरेतैर्मूत्रे चतुर्गुणे साध्यम् ।

---

१ 'सिद्धं' ग. ।

कण्डूकुष्ठविनाशनमभ्यङ्गाद्वातकफहन्तृ ॥ १०६ ॥

इति तिक्तेद्वाकुतैलम् ।

तिक्तेद्वाकु तैल—कड़वी तुम्बी के बीज, दोनों तुत्थ अर्थात् नीला तूतिया (ताम्र का उपधातु) और खर्परीतुत्थ (अथवा खर्पर—यशद का उपधातु), गोलोचन, हल्दी, दारुहल्दी, बृहती का फल, एरण्डमूल, इन्द्रायण की जड़, चित्रक, मूर्वामूल, हीराकसीस, हींग, सहिजन की छाल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, देवदारु, तुम्बुरु (नेपाली धनियां), वायविडङ्ग, लाङ्गलीमूल, कुटज की छाल, कटुकी; इस कल्क से चतुर्गुण सरसों के तेल को यथाविधि सिद्ध करें। यह तैल अभ्यङ्ग द्वारा कण्डू और कुष्ठ को नष्ट करता है। यह वातकफ का घातक है ॥ १०७–१०६ ॥

कनकक्षीरीतैलम् ।

कनकक्षीरी शैला भार्गी दन्त्याः फलानि मूलं च ।
जातीप्रवालसर्षपलशुनविडङ्गं करञ्जत्वक् ॥ ११० ॥
सप्तच्छदार्कपल्लवमूलत्वङ्निम्बचित्रकास्फोताः ।
गुञ्जैरण्डं बृहतीमूलकसुरसार्जकफलानि ॥ १११ ॥
कुष्ठं पाठा मुस्तं तुम्बुरुमूर्वावचाः सषड्ग्रन्थाः ।
एडगजकुटजाशिग्रुत्र्यूषणभल्लातकक्षवकाः ॥ ११२ ॥
हरितालमवाक्पुष्पी तुत्थं कम्पिल्लकोऽमृतासङ्गः ।
सौराष्ट्री कासीसं दार्वीत्वक् सर्जिकालवणम् ॥ ११३ ॥
कल्कैरेतैस्तैलं करवीरकमूलपल्लवकषाये ।
सार्षपमथवा तैलं गोमूत्रचतुर्गुणं साध्यम् ॥ ११४ ॥
कटुकालाब्वां स्थाप्यं तत्सिद्धं तेन मण्डलान्याशु ।
भिन्द्याद्भिषगभ्यङ्गात्कृमींश्च कण्डूंश्च विनिहन्यात् ॥११५॥

इति कनकक्षीरीतैलम् ।

कनकक्षीरीतैल—सरसों का तैल अथवा तिलतैल २ प्रस्थ ।

कनेर की जड़ और पत्तों का क्वाथ ८ प्रस्थ। गोमूत्र ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—कनकक्षीरी (सत्यानासी, चोक), शैला (मनःशिला), भारंगी, दन्तीमूल और जमालगोटा, चमेली के नवीन कोमल पत्ते, सरसों, लहसन, वायविडंग, करंजवृक्ष की छाल, सप्तपर्ण (सतिवन) की छाल, मदार के पत्ते और जड़ का छिलका, नीम की छाल, चित्रक, आस्फोता (हाफरमाली अथवा अपराजिता), घुंघची (रत्ती), एरण्डबीज (अथवा मूल), बृहतीफल, मूली के बीज, सुरसा (तुलसी) के बीज, अर्जक (तुलसीभेद) के बीज, कुठ, पाठा, मोथा, तुम्बुरु (धनियां), मूर्वामूल, श्वेत वच, षड्ग्रन्था (लाल वच), एडगज (चक्रमर्द, पंवाड़) के बीज, कुटज की छाल, सहिजन की छाल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, मिलावा, क्षवक (छींचिया), हड़ताल, अवाक्पुष्पी (अन्धाहुली, अधोपुष्पी अथवा अपामार्ग), नीलातूतिया, कमीला, अमृतासङ्ग (कर्परीतुत्थ, खर्पर) सौराष्ट्री (सोरठीमिट्टी वा फिटकरी), हीराकसीस, दारुहल्दी की छाल, सर्जिक्षार, सेन्धानमक; मिला कर १ शराव। यथाविधि तैलपाक कर कड़वी तुम्बी में रखे। वैद्य इसके अभ्यंग से मण्डलों का भेदन करे। यह कृमियों और कण्डू को भी नष्ट करता है।

गङ्गाधर 'अवाक्पुष्पी' से सोये का ग्रहण करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में भी यह योग पढ़ा है। वहां वचा और षड्ग्रन्था दो नहीं पढ़े। वहां पाठान्तर यह है—

'कुष्ठं पाठा मुस्ता षड्ग्रन्थातुम्बरुत्वचो मूर्वा।'

जिससे वचा के स्थल पर 'त्वक्' अर्थात् दालचीनी का ग्रहण होता है। इन्दु 'अमृतासङ्ग' में अमृता आसङ्ग इसप्रकार सन्विच्छेद करके गिलोय और रसाञ्जन लेता है। और 'सर्जिकालवणम्' से केवल सर्जिकाक्षार का ग्रहण करता है॥ ११०–११५॥

सिध्मलेपः

कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं समनःशिलं सकाशीसम्।
तैलेन युक्तमुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे॥ ११६॥

तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद्व्येति तिष्ठतो घर्मे।
मासान्नवं किलासं स्नानं मुक्त्वा विशुद्धतनोः॥ ११७॥
इति सिध्मलेपः।

कुठ, तमालपत्र, कालीमिर्च, मनःशिला, कासीस; इन पांचों द्रव्यों के चूर्ण को तेल में डाल कर ताम्रपात्र में सप्ताहभर रख छोड़ें। पश्चात् इसका सिध्म पर लेप करें। लेप के पश्चात् रोगी धूप में बैठे। इसप्रकार सात दिन करने से सिध्म नष्ट होता है। एक मास तक लेप करने से नवीन उत्पन्न किलास (श्वित्र) नष्ट होता है। इसके प्रयोग के समय स्नान नहीं करना चाहिये। परन्तु देह को शुद्ध रखना चाहिये। वमन विरेचन आदि संशोधनों से पूर्व अन्तःशुद्धि कर लेनी चाहिये। इसीप्रकार देह को बाहिर से भी स्नान के बिना अन्य उपायों से स्वच्छ रखना चाहिये॥

बाह्य प्रयोग होने से चिकित्सक सरसों का तेल लेते हैं। तैल इतना ही डालना चाहिये जिससे लेप बन सके॥ ११६-११७॥

सर्षपकरञ्जकोषातकीनां तैलान्यथेङ्गुदीनां च।
कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं यच्चापि खदिरस्य॥ ११८॥

कुष्ठ में हितकर तैल—सरसों, करञ्ज, कोषातकी (कड़वी तुरई), हिंगोट; इन के तेल कुष्ठ में हितकर हैं। तथा च खदिर का तैल भी हितकर होता है। सरसों आदि के बीजों से तैल निकाला जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह ने खदिर की मध्यकाष्ठ का तैल लेने को कहा है—

'सर्षपकरञ्जकोशातकानि तैलान्यथेङ्गुदीनां च।
कुष्ठेषु हितान्याहुस्तैलं श्रेष्ठं च खदिरसारस्य॥' ११८॥

विपादिकाहरघृततैले

जीवन्ती मञ्जिष्ठा दार्वी कम्पिल्लकं पयस्तुत्थम्।
एष घृततैलपाकः सिद्धः सिद्धे च सर्जरसः॥ ११९॥

१ 'सप्ताहाद्धर्मसेविनो व्येति' ग.। २ 'कम्पिल्लकं पयस्तुल्यम्' ग.।

क्षेप्यः समधूच्छिष्टो विपादिका तेन नश्यतीत्युक्तम् ।
चर्मैककुष्ठं किटिमं कुष्ठं शाम्यत्यलसकं च ॥ १२० ॥

इति विपादिकाहरघृततैले ।

विपादिकाहर घृततैल (यमक)—घी और तैल मिलाकर २ प्रस्थ में जीवन्ती, मंजीठ, दारुहल्दी, कमीला, नीलाथोथा; इन का कल्क १ शराव देकर यथाविधि स्नेहपाक करें। जब सिद्ध हो जाय तब छान लें। पश्चात् सर्जरस (राल) और मधूच्छिष्ट (मोम) का प्रक्षेप दें। 'क्षेप्यः' कहने से यह प्रक्षेप समझा जाता है और प्रक्षेप स्नेहों में चतुर्थांश डाला जाता है। स्नेह को मन्द आंच पर रखें। राल और मोम डाल दें। जब मोम पिघल जाय तब अच्छी प्रकार कड़छी से हिलायें और नीचे उतार कर पात्र को शीतल जल में रखें। कड़छी से आलोडन निरन्तर करते रहें। जब मलहम की तरह गाढ़ा हो जाय तो निकाल कर प्रयोग करायें। इसके लगाने से विपादिका नष्ट होती है-ऐसा कहा गया है। चर्माख्य, एककुष्ठ, किटिम एवं अलसक नामक कुष्ठ शान्त होते हैं॥ ११९—१२० ॥

मण्डलकुष्ठे लेपौ

किण्वं वराहरुधिरं[1] पृथ्वीका सैन्धवं च लेपः स्यात् ।
लेपो योज्यः कुस्तुम्बुरूणि कुष्ठं च मण्डलनुत् ॥१२१॥

इति मण्डलकुष्ठे लेपौ ।

किण्वादि लेप—किण्व (सुराबीज), सूअर का रक्त, पृथ्वीका (बड़ी इलायची अथवा जीरा), सेन्धानमक; इन्हें एकत्र मिला कर मण्डलकुष्ठ पर लेप करें।

कुस्तुम्बुर्वादि लेप—कुस्तुम्बुरु (धनियां) और कुष्ठ (कुठ); यह लेप मण्डल कुष्ठ को नष्ट करता है॥ १२१ ॥

पूतीकादिलेपः

पूतीकदारु जटिला पक्वसुरा क्षौद्रमुद्गपर्ण्यौ च ।

1 'किण्वं वराहरुधिरे' ग.।

लेपः सकाकनासो मण्डलकुष्ठापहः सिद्धः ॥ १२२ ॥

इति मण्डलकुष्ठे तृतीयो लेपः ।

पूतिकादिलेप–पूतीक (लताकरञ्ज), देवदारु, जटामांसी, पक्क-सुरा (पक्करस नामक तीक्ष्ण मद्य), मधु, मुद्गपर्णी, काकनासा (कौआ ठोडी); यह लेप सिद्ध मण्डलकुष्ठ-नाशक है । चक्रपाणि 'पक्कसुरा' से गोरक्षकर्कटी (इन्द्रायण) का ग्रहण करता है ॥१२२ ॥

चित्रकशोभाञ्जनकौ गुडूच्यपामार्गदेवदारूणि ।

खदिरो धवश्च लेपः श्यामा दन्ती द्रवन्ती च ॥ १२३ ॥

लाक्षारसाञ्जनैला पुनर्नवा चेति कुष्ठिनां लेपाः ।

दधिमण्डयुताः सर्वे देयाः षण्मारुतकफघ्नाः ॥ १२४ ॥

वातकफकुष्ठ नाशक छह लेप—१ चित्रक, सहिजन की छाल २ गिलोय, अपामार्ग, देवदारु ३ खदिरकाष्ठ और धवकाष्ठ ४ श्यामा (श्याम मूल वाली त्रिवृत्–निसोत), दन्तीमूल, द्रवन्ती(बड़ी दन्ती)-मूल, ५ लाक्षा (लाख), रसौंत, इलायची ६ पुनर्नवा; ये सब छह लेप दही के जल के साथ कुष्ठ के रोगियों में प्रयुक्त होते हैं। ये वात-कफ-नाशक हैं । गङ्गाधर खदिर और धव; इन्हें पृथक् दो लेप मानता है और लाक्षा से पुनर्नवा पर्यन्त एक योग ॥ १२३–१२४ ॥

एडगजकुष्ठसैन्धवसौवीरकसर्षपैः क्रिमिघ्नैश्च ।

कृमिकुष्ठमण्डलाख्यं दद्रुकुष्ठं च शममुपैति ॥ १२५ ॥

एडगजादि लेप—एडगज (पंवाड़ के बीज), कुठ, सेन्धानमक, सौवीरक (कांजिक भेद), सरसों, वायविडङ्ग; इस लेप से कृमि, मण्डलकुष्ठ तथा दद्रुनामक कुष्ठ शान्त होता है । पंवाड के बीज आदि को कांजी से पीस कर लेप करना चाहिये ॥ १२५ ॥

एडगजः सर्जरसो मूलकबीजं च सिध्मकुष्ठानाम् ।

काञ्जिकयुक्तं तु पृथङ्मतमिदमुद्वर्तनं क्रमशः ॥ १२६ ॥

१ 'द्वितीयो' पा० । २ 'पुनर्नवाश्चेति' पा० । ३ 'नाशयति' ग. ।

एडगज (पंवाड़ के बीज), सर्जरस (राल), मूली के बीज; इन्हें पृथक् पृथक् क्रमशः काञ्जिक के साथ सिध्मकुष्ठों में उबटन करे ॥

वासा त्रिफला पाने स्नाने चोद्वर्तने[1] प्रलेपे च ।

बासा त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला); ये क्वाथ पान और स्नान में हितकर हैं । इन के चूर्णों का उबटन और जल आदि के साथ लेप भी किया जाता है ।

बृहतीसेव्यपटोलाः ससारिवा रोहिणी चैव ॥ १२७ ॥
खदिरामयघातककुभरोहितकरोध्रकुटजधवनिम्बाः ।
सप्तच्छदकरवीराः शस्यन्ते स्नानपानेषु ॥ १२८ ॥
इति कुष्ठे स्नानं पानं च ।

बृहती (बड़ी कटेरी), सेव्य (खस), पटोलपत्र, सारिवा, रोहिणी (कटुकी), खदिर (खैर), आमयघात (अमलतास), ककुभ (अर्जुन), रोहितक (रोहेड़ा), लोध, कुटज, धव, नीम, सप्तच्छद (सप्तपर्ण), करवीर (कनेर); ये द्रव्य स्नान और पान में प्रशस्त हैं १२७-१२८॥

जलवाप्य[2]लोहकेशरपत्रप्लव[3]चन्दनं मृणालानि ।
भागोत्तराणि सिद्धं प्रलेपनं पित्तकफकुष्ठे ॥ १२९ ॥

जल (गन्धबाला), वाप्य (कुठ), लोह (अगर), नागकेसर, पत्र (तेजपत्र), प्लव (केवटी मोथा), चन्दन (लालचन्दन), मृणाल (खस); इन्हें क्रमशः एक एक भाग से प्रवृद्ध परिमाण में लेकर पित्तकफ कुष्ठ में प्रलेप देना चाहिये । यह अत्यन्त लाभकर है । गन्धबाला १ भाग, कुठ २ भाग, अगर ३ भाग, नागकेसर ४ भाग, तेजपत्र ५ भाग, केवटी मोथा ६ भाग, चन्दन ७ भाग, खस ८ भाग लेकर जल से पीस कर लेप करना चाहिये ॥ १२९ ॥

यष्ट्याह्वलोध्रपद्मकपटोलपिचुमर्दचन्दनरसाश्च ।

---

१ 'चोन्मर्दने प्रदेहे च' ग. ।
२ 'वाप्यं कुष्ठं, लोहमगरु' चक्रः । ३ 'चण्डामृणालानि' ग. ।

स्नाने पाने च हिताः सुशीतलाः पित्तकुष्ठिभ्यः ॥ १३० ॥

मुलहठी, लोध, पद्माख, पटोलपत्र, नीमछाल, लालचन्दन; इनके सुशीतल क्वाथ पित्तकुष्ठ के रोगियों के लिये स्नानार्थ और पानार्थ हितकर होते हैं ॥ १३० ॥

पित्तकुष्ठ आलेपनम्

आलेपनं प्रियङ्गुर्हरेणुका वत्सकस्य च फलानि ।
सातिविषा च ससेव्या सचन्दना रोहिणी कटुका ॥१३१॥

प्रियङ्ग्वाद्यालेपन—पैत्तिक कुष्ठ में प्रियङ्गु, रेणुका, इन्द्रजौ, अतीस, खस, चन्दन, कटुकी; यह लेप करना चाहिये ॥ १३१ ॥

तिक्तघृतैर्धौतघृतैरभ्यङ्गो दह्यमानकुष्ठेषु ।
तैलैश्चन्दनमधुकप्रपौण्डरीकोत्पलयुतैश्च ॥ १३२ ॥

इति अभ्यङ्गः ।

जब कुष्ठों में अत्यन्त दाह हो तो तिक्तघृत, शतधौतघृत वा सहस्रधौत घृत (१००० वार धोया घी) अथवा चन्दन, मुलहठी, पुण्डरीककाष्ठ, नीलोत्पल; इनसे युक्त वा इनसे साधित तैल का अभ्यङ्ग (मालिश) करना चाहिये ॥ १३२ ॥

क्लेदे प्रपतति चाङ्गे दाहे विस्फोटके सचर्मदले ।
शीताः प्रदेहसेका व्यधो विरेको घृतं तिक्तम् ॥ १३३ ॥

कुष्ठरोगी के कुष्ठों में क्लेद होने पर अङ्गों के झड़ने पर वा दाह होने पर और विस्फोटक तथा चर्मदल नामक कुष्ठ में शीतल प्रदेह, शीतल परिषेक, शिराव्यध (फस्त खोलना), विरेचन तथा तिक्त-घृत हितकर हैं ॥ १३३ ॥

खदिरघृतं निम्बघृतं दार्वीघृतमुत्तमं पटोलघृतम् ।
कुष्ठेषु रक्तपित्तप्रबलेषु भिषग्जितं सिद्धम् ॥ १३४ ॥

रक्तपित्तप्रधान कुष्ठों में खदिरकाष्ठ से साधित घृत, निम्बघृत, (नीम की छाल से साधित घृत), दार्वीघृत [दारुहरिद्रा से सिद्ध घृत],

पटोलघृत [पटोलपत्र से साधित घी] लाभकर उत्तम औषध है । प्रत्येक घृत उस २ द्रव्य के क्वाथ और कल्क से सिद्ध करना चाहिये। तन्त्रान्तर में कथित खदिरघृत खदिरसार (मध्यकाष्ठ) के क्वाथ और त्रिफला के कल्क से सिद्ध किया जाता है ॥ १३४ ॥

त्रैफलयोगः ।

त्रिफलात्वचोऽर्धपलिकाः पटोलपत्रं च कार्षिकाः शेषाः ।
कटुरोहिणी सनिम्बा यष्ट्याह्वा त्रायमाणा च ॥ १३५ ॥
एष कषायः साध्यो दत्त्वा द्विपलं मसूरविदलानाम् ।
सलिलाढकेऽष्टभागे शेषे पूतो रसो ग्राह्यः ॥ १३६ ॥
तत्र कषायेऽष्टपले[1] चतुष्पलं सर्पिषश्च पक्तव्यम् ।
यावत्स्यादष्टपलं शेषं पेयं ततः कोष्णम् ॥ १३७ ॥
तद्वातपित्तकुष्ठं वीसर्पं वातशोणितं प्रबलम् ।
ज्वरदाहगुल्मविद्रधिविभ्रमविस्फोटकान्हन्ति ॥ १३८ ॥

गुठली रहित त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला) का प्रत्येक द्रव्य आधा पल, पटोलपत्र आधा पल (२ कर्ष), कटुकी १ कर्ष, नीम की छाल १ कर्ष, मुलहठी १ कर्ष, त्रायमाणा १ कर्ष, मसूर की दाल २ पल; इन्हें एकत्र १ आढक (६४ पल) जल में पकावें। जब आठवां भाग (८ पल) बच जाय तब उसे छान लें। इस आठ

---

१ ते च 'कषायाष्टपले' इति पठित्वा व्याचष्टे चक्रः—अष्टभागे इति षोडशपले । अत एव ते च कषायाष्टपले इति प्रथमाद्विवचनान्तं षोडशपलमाह । अत्र चाष्टाविंशत्युत्तरपलशतमानस्याष्टभागशेषे षोडशपलानि भवन्ति । तच्च द्रवषोडशपलमष्टपलशब्देनाकृतद्वैगुण्यमेवोच्यते । यदि पलोपरि द्रवद्वैगुण्यं स्यात्तदा षोडशपलेन द्वात्रिंशत्पलानि स्युः । न चेह भागशेषे द्वात्रिंशत्पलत्वं किन्तु षोडशपलत्वमेव । तेनैतत्स्यादष्टपलशब्देनाकृतद्वैगुण्याद्द्रवषोडशपलग्रहणं तु नोच्यते । यत्पलोल्लेखनाद् द्वैगुण्यं नास्ति किन्तु कुडवादावेव द्रवद्वैगुण्यमिहानुमतम्, तन्त्रान्तरेऽपि सम्मतमिति ।'

पल क्वाथ में चार पल गौ का घी डाल कर पकावें । जब आठ पल शेष रहजाय (अर्थात् ४ पल जल उड़जाय) तब उसे कोसा २ पी जाय। यह योग वातपित्तज कुष्ठ, वीसर्प, प्रबल वातरक्त, ज्वर, दाह, गुल्म, विद्रधि, विभ्रम (चक्कर आना) और विस्फोटों को नष्ट करता है। यहां पर अष्टमांश अवशिष्ट क्वाथ को 'अष्टपल' निर्देश करने से जल को द्विगुण न करने की ओर आचार्य इशारा करता है। अतएव आढक जल से ६४ पल जल ही क्वाथार्थ लिया है। चक्रपाणि तो यहां आढक को द्विगुण परिमाण—१२८ पल में लेता है। इसका अष्टमांश १६ पल होता है। 'तत्र कषायेऽष्टपले' के स्थल पर 'ते च कषायेऽष्टपले' पढ़कर दो आठ पल अर्थात् १६ पल अर्थ करता है। इस १६ पल क्वाथ में ४ पल घी डालकर पकावे। जब १२ पल जल उड़ जाय अर्थात् घी और क्वाथ मिलकर ८ पल रह जांय तब उसे प्रयोग करना चाहिये। यह मात्रा आजकल के लोगों के लिये अधिक है अतः इसे १ तोला वा २ तोला मात्रा में प्रयोग कराना चाहिये ॥ १३५–१३८ ॥

तिक्तषट्पलकं घृतम् ।

निम्बपटोलं दार्वीं दुरालभां तिक्तरोहिणीं त्रिफलाम् ।
कुर्यादर्धपलांशां पर्पटकं त्रायमाणां च ॥ १३९ ॥
सलिलाढकसिद्धानां रसेऽष्टभागस्थिते क्षिपेत्पूते ।
चन्दनकिराततिक्तकमागधिकास्त्रायमाणां च ॥ १४० ॥
मुस्तं वत्सकबीजं कल्कीकृत्यार्धकार्षिकान् भागान् ।
नवसर्पिषश्च षट्पलमेतत्सिद्धं घृतं पेयम् ॥ १४१ ॥
कुष्ठज्वरगुल्मार्शोग्रहणीपाण्ड्वामयश्वयथुहारि ।
पामावीसर्पपिडककण्डूमदगण्डनुत्तिक्तम् ॥ १४२ ॥

इति तिक्तषट्पलकं घृतम् ।

तिक्तषट्पलकघृत—गौ का ताजा घी ६ पल । क्वाथार्थ—नीम

की छाल, पटोलपत्र, दारुहल्दी, दुरालभा, कटुकी, त्रिफला (पृथक् २) पित्तपापड़ा, त्रायमाणा; प्रत्येक आधा पल और जल २ आढक डालकर पकावें । जब आठवां भाग (१६ पल) बच जाय तो उतार कर छान लें । कल्कार्थ—लालचन्दन, चिरायता, पिप्पली, त्रायमाणा, मोथा, इन्द्रजौ; प्रत्येक आधा कर्ष । यथाविधि घृतपाक करें । यह घृत कुष्ठ के रोगी को पीना चाहिये । यह कुष्ठ ज्वर गुल्म अर्श ग्रहणी पाण्डुरोग शोथ पामा वीसर्प पिडका कण्डू उन्माद तथा गण्डमाला वा गलगण्ड को नष्ट करता है । यद्यपि घी को ६ पल मात्रा में सिद्ध करने से कुष्ठ के रोगी को दिन में ६ पल की उत्तम मात्रा ही प्रयुक्त कराना चाहिये यह प्रतीत होता है परन्तु आजकल के निर्बल व्यक्तियों के लिये यह मात्रा बहुत ही अधिक है । आजकल तो दिन में दो बार करके दो तोले की मात्रा दे सकते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में भी यह योग पढ़ा है । वहां 'त्रिफला' के स्थल पर 'पाठा' का पाठ है । योग दुगुना है—

' पटोलपिचुमन्ददार्वीदुरालभातिक्तरोहिणीपाठापर्पटकत्रायमाणानां पालिकान् भागान् जलाढकद्वयेऽष्टभागशेषं क्वाथयेत् । तेन कार्षिकैश्चन्दनोपकुल्यात्रायन्तीन्द्रयवभूनिम्बैः कल्कितैः सर्पिषो द्वादशपलं साधयेत् । एतत्तिक्तकं सर्पिः कुष्ठविसर्पविस्फोटगण्डगण्डमालाश्वयथुपिटकारक्तपित्तदुर्नामवातशोणितकामलापाण्ड्वामयोन्माददाहतृड्भ्रमकण्डूकुष्ठनाडीगुल्ममदतिमिरव्यङ्गश्वित्रापस्मारभगन्दरोदरप्रदरज्वरगरविद्रधिग्रहणीहृद्रोगानपहरति।'

तिक्तकघृत का योग सुश्रुत में भी है । परन्तु इस संहिता में जहां दार्वी है वहां सुश्रुत में वासा पढ़ा है—

त्रिफलापटोलपिचुमन्दाटरूषककटुरोहिणीदुरालभात्रायमाणाः पर्पटकश्चैतेषां द्विपलिकान् भागान् जलद्रोणे प्रक्षिप्य पादावशेषं कषायमादाय कल्कपेष्याणीमानि भेषजान्यर्धपलिकानि त्रायमाणामुस्तेन्द्रयवचन्दनकिराततिक्तानि पिप्पल्यश्चैतानि घृतप्रस्थे समावाप्य विपचेत् । एतत्ति-

क्तकं नाम सर्पिः कुष्ठविषमज्वरगुल्मार्शोग्रहणीदोषशोफपाण्डुरोगविसर्प-षाण्ढ्यशमनं चेति ।'

परन्तु यहां घी ३२ पल सिद्ध करना है और क्वाथ्य तथा कल्क द्रव्य प्रकृतसंहिता में कहे गये प्रमाण से चौगुने लिये हैं। क्वाथ भी चतुर्थांश अवशिष्ट रखने को कहा है। इस सुश्रुतोक्त योग को पृथक् योग भी मान सकते हैं।

चिकित्साकलिका में तो सुश्रुतोक्त और चरकोक्त दोनों योगों को मिलाकर पढ़ा है। वहां क्वाथ्य द्रव्यों में २ पल दार्वी और २ पल वासा दोनों पढ़े हैं। शेष प्रमाण सुश्रुत के अनुसार ग्रहण किया है। पाठ चिकित्साकलिका में ही देखें ॥ १३९–१४२ ॥

महातिक्तकघृतम् ।

सप्तच्छदं प्रतिविषां शम्याकं तिक्तरोहिणीं पाठाम् ।
मुस्तमुशीरं त्रिफलां पटोलपिचुमर्दपर्पटकम् ॥ १४३ ॥
धन्वयवासं चन्दनमुपकुल्यां पद्मकं रजन्यौ च ।
षड्ग्रन्थां सविशालां शतावरीं सारिवे चोभे ॥ १४४ ॥
वत्सकबीजं वासां मूर्वाममृतं किराततिक्तं च ।
कल्कान्कुर्यान्मतिमान्यष्ट्याह्वां त्रायमाणां च ॥ १४५ ॥
कल्कस्य चतुर्भागे जलमष्टगुणं रसोऽमृतफलानाम्[1] ।
द्विगुणो घृतात्प्रदेयस्तत्सर्पिः पाययेत्सिद्धम् ॥ १४६ ॥
कुष्ठानि रक्तपित्तप्रबलान्यर्शांसि रक्तवाहीनि ।
वीसर्पमम्लपित्तं वातासृक्पाण्डुरोगं च ॥ १४७ ॥
विस्फोटकान्सपामानुन्मादं कामलां ज्वरं कण्डूम् ।
हृद्रोगगुल्मपिडका असृग्दरं गण्डमालां च ॥ १४८ ॥
हन्यादेतत्सर्पिः पीतं काले यथाबलं सद्यः ।

---

१ 'अमृतफलानां गुडूचीफलानाम्' चक्रः । तच्च तन्त्रान्तरविरोधात् ।

योगशतैरप्यजितान्महाविकारान्महातिक्तम् ॥ १४६ ॥

इति महातिक्तकं घृतम् ।

महातिक्तक घृत—कल्कार्थ-सप्तपर्ण की छाल, अतीस, अमलतास, कटुकी, पाठा (पाढ), मोथा, खस, त्रिफला (पृथक्), पटोल-पत्र, नीम की छाल, पित्तपापड़ा, धन्वयवास (धमासा, दुरालभा), लाल चन्दन, पिप्पली, पद्माख, हल्दी, दारुहल्दी, वचा, इन्द्रायण की जड़, शतावर, दोनों शारिवायें (अनन्तमूल, श्यामालता), इन्द्रजौ, अड़ूसे की जड़ का छिलका, मूर्वामूल, गिलोय, चिरायता, मुलहठी, त्रायमाणा; ये सब मिलाकर घी से चतुर्थांश । जल—घी से आठ गुना। आंवलों का रस घी से दुगुना । इन से घी को यथाविधि सिद्ध कर रोगी को पिलायें ।

यदि घी ४ सेर हो तो आंवलों का रस ८ सेर, जल ३२ सेर। कल्क १ सेर लेना होगा ।

इस महातिक्तक घृत को बल के अनुसार उपयुक्त काल में पीने से रक्त एवं पित्त जिनमें प्रबल है ऐसे कुष्ठ रक्तवाही अर्श (खूनी बवासीर), विसर्प, अम्लपित्त, वातरक्त, पाण्डुरोग, विस्फोटक, पामा, उन्माद, कामला, ज्वर, कण्डू, हृद्रोग, गुल्म, पिडकायें, रक्तप्रदर, गण्ड-माला प्रभृति रोग तथा सैकड़ों योगों के प्रयोग से भी न जीते जाने वाले महारोग नष्ट होते हैं । मात्रा—आधा तोला । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में उक्त घृत के कल्कद्रव्यों में गजपिप्पली अधिक पढ़ी है—

' सप्तच्छदकटुकातिविषाशम्याकपाठामुस्तात्रिफलोशीरपटोलपर्पटक-पिप्पलीद्वयद्विरजनीद्विशारिवाचन्दनदुरालभापद्मकवचाशतावरीविशाला-कुटजबीजवृषमूर्वागुडूचीभूनिम्बत्रायमाणामधुकगर्भं द्विगुणामलकरसमष्ट-गुणाम्बु सर्पिर्विपक्वं महातिक्तकाख्यं घृतमधिकगुणं पूर्वस्मात्—(तिक्तकघृतात्) ।"

यह योग सुश्रुत कुष्ठचिकित्सा अ० ९ में भी कहा है, परन्तु

कुछ भेद से। वहां दारुहरिद्रा, श्यामालता का पाठ नहीं और 'उशीर' के स्थल पर 'गृष्टिका' (वाराहीकन्द) पढ़ा है। डल्हण ने टीका करते हुए वहां कहा है कि तन्त्रान्तर (यथा अष्टाङ्गसङ्ग्रह) के प्रमाण से हरिद्रा से दोनों हल्दी और 'सारिवा' कहने से दोनों शारिवायें और 'उपकुल्या' कहने से दोनों पिप्पलियां लेनी चाहियें। सुश्रुतोक्त पाठ को सुश्रुतसंहिता में देखें॥ १४३—१४९॥

दोषे हृतेऽपनीते रक्ते बाह्यान्तरे कृते शमने[1]।
स्नेहे च कालयुक्ते न कुष्ठमनुवर्तते[2] साध्यम्॥ १५०॥

संशोधनों द्वारा दोषों का निर्हरण करने पर, शिराव्यध आदि द्वारा रक्तनिर्हरण करने पर, बाह्य एवं आभ्यन्तर संशमन चिकित्सा करने पर और उचित काल में स्नेह का प्रयोग कराने पर साध्यकुष्ठ का अनुवर्तन नहीं होता अर्थात् वह नष्ट होजाता है॥ १५०॥

महाखादिरघृतम्।

खादिरस्य तुलाः पञ्च शिंशपासनयोस्तुले।
तुलार्धाः सर्व एवैते करञ्जारिष्टवेतसाः॥ १५१॥
पर्पटः कुटजश्चैव वृषः क्रिमिहरस्तथा।
हरिद्रे कृतमालश्च गुडूची त्रिफला त्रिवृत्॥ १५२॥
सप्तपर्णश्च संक्षुण्णा दशद्रोणेषु वारिणः।
अष्टभागावशेषं तु कषायमवतारयेत्॥ १५३॥
धात्रीरसं च तुल्यांशं सर्पिषश्चाढकं पचेत्।
महातिक्तककल्कैस्तु यथोक्तैः[3] पलसंमितैः॥ १५४॥
निहन्ति सर्वकुष्ठानि पानाभ्यङ्गनिषेवणात्।
महाखादिरमित्येतत्परं कुष्ठविकारनुत्॥ १५५॥

इति महाखादिरं घृतम्।

---

१ वमने ग.। २ 'कुष्ठमतिवर्तते' ग.। ३ 'यथोक्तैस्तैस्तु साधयेत्' च.।

महाखदिरघृत—गौ का घी २ आढक (१२८ पल) । क्वाथार्थ-खैर की मध्यकाष्ठ ५ तुला (५०० पल), शिंशपासार (शीशम की मध्यकाष्ठ) १ तुला (१०० पल), असन (पीला शाल) की मध्य-काष्ठ १ तुला (१०० पल), करञ्ज, नीम की छाल, वेतस, पित्तपापड़ा, कुटज की छाल, वासा (अडूसा), विडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी, कृतमाल (अमलतास), गिलोय, त्रिफला (पृथक्), त्रिवृत् (निसोत), सप्तपर्ण की छाल, प्रत्येक आधी तुला (५० पल); इन्हें कूटकर एकत्र २० द्रोण जल में पकावें । जब अष्टमांश ($2\frac{1}{2}$ द्रोण=४० प्रस्थ=६४० पल) रहजाय तो उतार कर छान लें। आंवले का रस घी के तुल्य अर्थात् १२८ पल (८ प्रस्थ) । कल्कार्थ—महातिक्तकघृत में कहे गये सप्तपर्ण की छाल आदि प्रत्येक कल्कद्रव्य १ पल । यथाविधि घृतपाक करें । पान और अभ्यङ्ग द्वारा यह घृत सब कुष्ठों को नष्ट करता है । यह महा-खदिर घृत उत्कृष्ट कुष्ठनाशक है । अन्तःप्रयोगार्थ मात्रा—आधा तोला ॥ १५१–१५५ ॥

प्रपतत्सु लसीकाप्रस्रुतेषु गात्रेषु जन्तुजग्धेषु ।
मूत्रं निम्बविडङ्गे स्नानं पानं प्रदेहश्च ॥ १५६ ॥

जब कुष्ठी के अंगों को कृमि खा रहे हों, लसीका चू रही हो, अङ्ग झड़ रहे हों तब स्नान पान एवं प्रदेह के लिये गोमूत्र तथा नीम और वायविडङ्ग का प्रयोग हितकर है ॥ १५६ ॥

वृषकुटजसप्तपर्णाः करवीरकरञ्जनिम्बखदिराश्च ।
स्नाने पाने लेपे क्रिमिकुष्ठनुदः सगोमूत्राः ॥ १५७ ॥

गोमूत्र युक्त वासा (अडूसा), कुटज की छाल, सप्तपर्ण की छाल, कनेर की जड़, करञ्ज, नीम की छाल, खदिरकाष्ठ; इनके प्रयोग स्नान, पान वा लेप द्वारा क्रिमि कुष्ठों को नष्ट करते हैं ॥ १५७ ॥

पानाहारविधाने प्रसेचने धूपने प्रदेहे च।
कृमिनाशनं विडङ्गं विशिष्यते कुष्ठहा खादिरः ॥ १५८ ॥

कुष्ठी के लिये अन्नपान के विधानों में, परिषेक में, धूपन में और प्रदेह में कृमिनाशक विडङ्ग और कुष्ठनाशक (व्याधिविपरीत) खदिर का प्रयोग उत्कृष्ट है। अभिप्राय यह है कि इन दोनों द्रव्यों का आवश्यकता के अनुसार परिषेक आदि में तथा अन्नपान के संस्कार में प्रयोग अवश्य कराना चाहिये ॥ १५८ ॥

एडगजः सविडङ्गो मूलान्यारग्वधस्य कुष्ठानाम्।
उद्दालनं श्वदन्ता गोश्ववराहोष्ट्रदन्ताश्च ॥ १५९ ॥

कुष्ठोद्दालन योग—पंवाड के बीज, वायविडङ्ग, अमलतास की जड़; यह योग कुष्ठों का उद्दालन करता है—कुष्ठों की निबिड़ता—घनेपन को नष्ट करता है अथवा जड़ से उखाड़ कर ऊंचा कर देता है।

इसी प्रकार कुत्ते के दांत, गौ के दांत, घोड़े के दांत, सूअर के दांत, और ऊंट के दांत, कुष्ठ का उद्दालन करते हैं। इनमें से किसी एक दांत को जल वा गोमूत्र में घिस कर कुष्ठों पर लेप करना चाहिये ॥ १५९ ॥

एडगजः सविडङ्गो द्वे च निशे राजवृक्षमूलं च।
कुष्ठोद्दालनमग्र्यं सपिप्पलीपाकलं योज्यम् ॥ १६० ॥
श्वित्राणां सविशेषं प्रयोक्तव्यं सर्वतो विशुद्धानाम्।

पंवाड़ के बीज, वायविडङ्ग, हल्दी, दारुहल्दी, अमलतास की जड़, पिप्पली, कुष्ठ; यह योग कुष्ठ के नाश में श्रेष्ठ है। इसका लेप कराना चाहिये।

श्वित्रचिकित्सा—श्वित्र में पूर्व सर्वतः वमनविरेचन आदि द्वारा शोधन करके इस योग का विशेषतः प्रयोग कराना चाहिये। इसके प्रयोग से जब वहां श्वित्र उन्नत हो जाता है तब सवर्णीकरण लेपों का

---

१ 'प्रथमार्थं' ग.।

प्रयोग कराना होता है ॥ १६० ॥

श्वित्रे स्रंसनमग्र्यं मलयूरस इष्यते सगुडः ॥ १६१ ॥

श्वित्रों में शोधनार्थ स्रंसन वा विरेचन श्रेष्ठ है । गुड के साथ मलयू (कठूमर वा काठगुलरिया) के रस का पीना अभीष्ट है॥१६१॥

तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपादसन्तापम् ।
संसेवेत विरिक्तस्त्र्यहं पिपासुः पिबेत्पेयाम् ॥ १६२ ॥

स्नेहपान आदि द्वारा सुस्निग्ध रोगी विरेचन के पश्चात् अपने बल के अनुसार गुडयुक्त कठूमर के रस को पीकर धूप में—घाम में बैठे । ऐसा तीन दिन तक करे । जब पीने की इच्छा हो तब पेया पीवे ॥ १६२ ॥

श्वित्रेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन तान् भिन्द्यात् ।
स्फोटेषु विस्रुतेषु प्रातः प्रातः पिबेत्पक्षम् ॥ १६३ ॥

मलयूमसनं प्रियङ्गुं शतपुष्पां चाम्भसा समुत्क्वाथ्य ।
पालाशं वा क्षारं यथाबलं फाणितोपेतम् ॥ १६४ ॥

इस से देह में श्वित्र पर जो स्फोट (फुन्सियां) उत्पन्न हो उन्हें कांटे से विदीर्ण कर दे । स्फोटों में से स्राव के बह जाने पर १५ दिन तक प्रति दिन प्रातः कठूमर, असनकाष्ठ, प्रियङ्गु, शतपुष्पा (सोये); इन्हें यथाविधि जल से काढ कर वह क्वाथ पीवे अथवा बल के अनुसार पलाशक्षार को फाणित (राब) में मिलाकर पीवे ॥ १६३–१६४ ॥

यच्चान्यत्कुष्ठघ्नं श्वित्राणां सर्वमेव तच्छस्तम् ।
खदिरोदकसंयुक्तं खदिरोदकपानमग्र्यं वा ॥ १६५ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य जो भी कुष्ठनाशक है वह सब ही खदिर-

---

१ 'सर्वमेतत्पथ्यम् ग.।

जल से युक्त वा संस्कृत श्वित्र में प्रशस्त है । अथवा खदिरोदक का पीना श्रेष्ठ वा मुख्य है ॥ १६५ ॥

मनःशिलादिलेपः ।

समनःशिलं विडङ्गं काशीसं रोचनां कनकपुष्पीम् ।
श्वित्राणां प्रशमार्थं ससैन्धवं लेपनं दद्यात् ॥ १६६ ॥

मनःशिलादिलेप—मनसिल, वायविडङ्ग, कासीस, गोरोचन, कनकपुष्पी (सत्यानासी) की जड़ वा बीज, सेन्धानमक; इन्हें पीस कर श्वित्रों की शान्ति के लिये लेप करें ॥ १६६ ॥

कदलीक्षारयुतं वा खरास्थि दग्धं गवां रुधिरयुतम् ।
हस्तिमदाध्युषितं वा मालत्याः कोरकक्षारम् ॥ १६७ ॥

अथवा गदहे की हड्डी को जलाकर उस में कदलीक्षार और गौ का रक्त मिलाकर लेप करें ।

अथवा मालती की कलियों के क्षार को हाथी के मद के साथ मिलाकर रख छोड़े । एक वा दो दिन के बाद उसका लेप करें ॥१६७

नीलोत्पलं सकुष्ठं ससैन्धवं हस्तिमूत्रपिष्टं वा ।
मूलकबीजावल्गुजलेपः पिष्टो गवां मूत्रे ॥ १६८ ॥

अथवा नीलोत्पल, कुठ, सैन्धानमक; इन्हें एकत्र हाथी के मूत्र में पीसकर लेप करें ।

अथवा मूली के बीज और बावची; इन्हें गोमूत्र में पीसकर लेप करना चाहिये ॥ १६८ ॥

काकोदुम्बरिकावासावल्गुजाचित्रका गवां मूत्रे ।
पिष्टा मनःशिला वा संयुक्ता बर्हिपित्तेन ॥ १६९ ॥

इति श्वित्रे लेपाः ।

काकोदुम्बरिका (कठूमर), वासा (अडूसा), बावची, चित्रक; इन्हें गोमूत्र में पीस कर लेप करे ।

अथवा मनःशिला को मोर के पित्त के साथ घोट कर श्वित्र पर लेप करें ॥ १६९ ॥

लेपः किलासहन्ता बीजान्यवल्गुजानि लाक्षा च ।
गोपित्तमञ्जने द्वे पिप्पल्यः काललोहरजः ॥ १७० ॥

बावची, लाक्षा (कच्ची लाख), गोपित्त (अथवा गोरोचन), दोनों अञ्जन (रसाञ्जन और सौवीराञ्जन), पिप्पली, तीक्ष्णलोह का चूर्ण (वा भस्म); यह लेप किलास (श्वित्र) को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० २१ में गोपित्त से लोहचूर्ण पर्यन्त का एक योग दिया है। उसमें बावची और लाक्षा का पाठ नहीं। यथा—

'गोपित्तयुक्तमथवा चपलाञ्जनयुग्मलोहरजः ।'

अत एव इसे कई दो योग मानते हैं। एक तो बावची और लाक्षा का दूसरा गोपित्त आदि। परन्तु हम तो इसे एक ही योग समझते हैं। इसमें विशेषता यह है कि बावची और पिप्पली आदि जहां श्वित्र में फुन्सियों को पैदा करेंगे वहां तीक्ष्णलोहचूर्ण अपना रङ्ग निक्षिप्त करेगा और दोनों अञ्जन पित्त लाक्षा आदि त्वक् सङ्कोच करेंगे और पूय की उत्पत्ति से बचाये रखेंगे ॥ १७० ॥

शुद्ध्या शोणितमोक्षैर्विरूक्षणैर्भक्षणैश्च सक्तूनाम् ।
श्वित्रं कस्यचिदेव प्रशाम्यति क्षीणपापस्य ॥ १७१ ॥

किसी ही ऐसे पुरुष का जिसका पाप क्षीण हो गया है—श्वित्र संशोधनसे,रक्तमोक्षण से, विरूक्षण से तथा सत्तुओं के खाने से शान्त होता है। अभिप्राय यह है कि श्वित्र कष्टसाध्य होते हैं ॥१७१॥

दारुणं चारुणं[1] श्वित्रं किलासं नामभिस्त्रिभिः ।
यदुच्यते तत् त्रिविधं त्रिदोषं प्रायशश्च तत् ॥१७२॥

श्वित्र के भेद—जो किलास दारुण चारुण और श्वित्र; इन तीन

---

१ 'दारयं चारयं' ग. । 'दारुयं वारुयं' पा० ।

नामों से कहा जाता है, वह तीन प्रकार का है और प्रायशः त्रिदोषज होता है। प्रायशः कहने का तात्पर्य यह है कि कदाचित् एकदोषज और द्विदोषज भी हो सकते हैं ॥ १७२ ॥

दोषे रक्ताश्रिते रक्तं ताम्रं मांससमाश्रिते ।
श्वेतं मेदःश्रिते श्वित्रं गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् ॥ १७३ ॥

जब दोष रक्त में आश्रित होता है तब रक्तवर्ण, जब मांसधातु में आश्रित होता है तब ताम्रवर्ण और जब मेद में आश्रित होता है तब श्वेतवर्ण का श्वित्र होता है। ये क्रमशः उत्तरोत्तर गुरु हैं अर्थात् उत्तरोत्तर चिकित्सा में कठिनता होती है। यह वर्णभेद दोषाधिक्य की दृष्टि से भी अष्टाङ्गसंग्रह आदि में कहा है—

'कुष्ठैकसम्भवं श्वित्रं किलासं चारुणं च तत् ।
निर्दिष्टमपरिस्रावि त्रिधातूद्भवसंश्रयम् ॥
वाताद्रूक्षारुणं पित्तात्ताम्रं कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि कफाच्छ्वेतं घनं गुरु ॥
सकण्डु च क्रमाद्रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् ॥

भालुकितन्त्र आदि में धात्वाश्रय के भेद से किलास के तीनों नामों को कहा है—

'वारुणं तत्तु विज्ञेयं मांसधातुसमाश्रयम् ।
मेदःश्रितं भवेच्छ्वित्रं दारुणं रक्तसंश्रयम् ॥'

अर्थात् जब किलास का आश्रय मांस होता है तब उसका नाम वारुण (चारुण) होता है। जब मेद में आश्रित हो तब श्वित्र कहाता है और रक्ताश्रित को दारुण कहते हैं। प्रकृतसंहिता में भी क्रम के देखने से यही अभिप्राय प्रतीत होता है।

यह रोग केवल त्वचागत ही होता है। यहां जो तीन धातुओं का आश्रय कहा है उसका इतना ही अभिप्राय है कि दोष उन २ धातुओं में आश्रित रहता हुआ ही त्वचा में उन २ वर्णों को पैदा

करता है। अन्य कुष्ठों में की तरह आश्रयभूत उन २ धातुओं को विकृत करके दोष उन धातुसम्बन्धी विशिष्ट विकृतिलक्षणों का उत्पन्न नहीं करता ॥ १७३ ॥

यत्परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत् ।
यच्च वर्षगणोत्पन्नं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति ॥ १७४ ॥

श्वित्र के असाध्यलक्षण—जो श्वित्र (मण्डल) परस्पर मिले हुए हों, जिसने बहुत देश आक्रान्त किया हो, जिसमें लोम रक्तवर्ण के हों, जो कई बरसों से उत्पन्न हो वह श्वित्र असाध्य है। सुश्रुत नि० अ० ५ में भी कहा है—

'तेषु सम्बद्धमण्डलमन्ते जातं रक्तरोम चासाध्यमग्निदग्धजं च ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १४ में भी इसका स्पष्टीकरण किया है—

'अशुक्लरोमाबहुलमसंसृष्टमथो नवम् ।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥
गुदपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम् ॥'

अग्निदग्धज श्वित्र का अन्तर्भाव व्रणज में किया जा सकता है। भोजने श्वित्र को व्रणज और दोषज भेद से दो भेदों में बांटा है और दोषज को पुनः दो भेदों में आत्मज और परज।

'श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा ।
तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥
दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा ।
परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत्परजमुच्यते ॥
तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलादिजम् ॥' १७४ ॥

वचांस्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा सुराणां गुरुधर्षणं च ।
पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतुः किलासस्य विरोधि चान्नम् १७५

किलास का हेतु—असत्यवचन, कृतघ्नता, देवताओं की निन्दा, गुरुओं का तिरस्कार, ऐहिक पापकर्म तथा पूर्वजन्मकृत कर्म और

विरोधी अन्न; ये किलास वा श्वित्र का हेतु है ॥ १७५ ॥

तत्र श्लोकाः ।

हेतुर्द्रव्यं लिङ्गं विविधं ये येषु चाधिका दोषाः ।
कुष्ठेषु दोषलिङ्गं समासतो दोषनिर्देशः ॥ १७६ ॥
साध्यमसाध्यं कृच्छ्रं कुष्ठापहाश्च ये योगाः ।
सिद्धाः किलासहेतुर्लिङ्गं गुरुलाघवं तथा शान्तिः ॥१७७॥
इति संग्रहः प्रणीतो महर्षिणा कुष्ठनाशनेऽध्याये ।
स्मृतिबुद्धिवर्धनार्थं शिष्याय हुताशवेशाय ॥ १७८ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सास्थाने
सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

उपसंहार—कुष्ठ के हेतु, द्रव्य, विविध लक्षण, जो २ दोष जिन २ कुष्ठों में अधिक होते हैं, कुष्ठों में वात आदि दोषों के लक्षण, संक्षेप से दोषों का निर्देश (कुष्ठविशेषैः इत्यादि ३२ वें श्लोक द्वारा), साध्य असाध्य एवं कष्टसाध्य कुष्ठ, कुष्ठनाशक सिद्ध योग, किलास का हेतु लिङ्ग गुरुता लघुता चिकित्सा; ये महर्षि ने शिष्य अग्निवेश की स्मृति और बुद्धि को बढ़ाने के लिये कुष्ठचिकित्साध्याय में संग्रह किया है ॥ १७६–१७८ ॥

इति सप्तमोऽध्यायः ।

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातो राजयक्ष्मचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम राजयक्ष्मा की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

दिवौकसां कथयतामृषिभिर्वै श्रुता कथा ।

कामव्यसनसंयुक्ता पौराणी शशिनं प्रति ॥ २ ॥

यक्ष्मा की प्रागुत्पत्ति--देवताओं के कथा करते हुए उन से ऋषियों ने चन्द्रमा की काम के व्यसन से युक्त पौराणिक वा पुरातन कथा सुनी ॥ २ ॥

रोहिण्यामतिसक्तस्य शरीरं नानुरक्षतः ।
आजगामाल्पतामिन्दोर्देहः स्नेहपरिक्षयात् ॥ ३ ॥
दुहितॄणामसंभोगाच्छेषाणां च प्रजापतेः ।
क्रोधो निःश्वासरूपेण मूर्तिमान् निःसृतो मुखात् ॥ ४ ॥
प्रजापतेर्हि दुहितॄरष्टाविंशतिमंशुमान् ।
भार्यार्थे प्रतिजग्राह न च सर्वास्ववर्तत ॥ ५ ॥
गुरुणा तमवध्यातं भार्यास्वसमवर्तिनम् ।
रजःपरीतमबलं यक्ष्मा शशिनमाविशत् ॥ ६ ॥

वह कथा इस प्रकार है कि दक्ष प्रजापति की–१ अश्विनी २ भरणी ३ कृत्तिका ४ रोहिणी ५ मृगशिरा ६ आर्द्रा ७ पुनर्वसु ८ पुष्य ९ आश्लेषा १० मघा ११ पूर्वाफल्गुनी १२ उत्तराफल्गुनी १३ हस्त १४ चित्रा १५ स्वाती १६ विशाखा १७ अनुराधा १८ ज्येष्ठा १९ मूल २० पूर्वाषाढा २१ उत्तराषाढा २२ श्रवणा २३ धनिष्ठा २४ शतभिषा २५ पूर्वाभाद्रपदा २६ उत्तराभाद्रपदा २७ रेवती २८ अभिजित्; इन अट्ठाईस कन्याओं ही को चन्द्रमा ने भार्यात्वेन स्वीकार किया था। इन में से वह रोहिणी में अत्यन्त आसक्त था। जब चन्द्र अपने देह की परवाह न करते हुए रोहिणी में अत्यन्त कामासक्त रहा तब स्नेह की क्षीणता से चन्द्रमा का शरीर कृश हो गया। अश्विनी प्रभृति अन्य स्त्रियां जब सहवास के सुख से वञ्चित रहीं तब उन्होंने चन्द्रमा के इस विषम व्यवहार की कथा दक्ष प्रजापति को कही। तब

शेष कन्याओं में प्रेम न होने के कारण प्रजापति के मुख से निःश्वास रूप में मूर्तिमान् क्रोध प्रादुर्भूत हुआ क्योंकि चन्द्रमा ने प्रजापति की २८ कन्याओं को ही भार्यात्वेन ग्रहण किया था पर उसने सब से न्याय न किया। अतः भार्याओं में समता से व्यवहार न करने वाले चन्द्रमा को गुरु (श्वसुर) प्रजापति ने शाप दिया। तदनन्तर रजोगुण से युक्त निर्बल चन्द्रमा में यक्ष्मा ने प्रवेश किया अर्थात् उसे राजयक्ष्मा हो गया ॥ ३—६ ॥

सोऽभिभूतोऽतिबलिना गुरुक्रोधेन निष्प्रभः ।
देवदेवर्षिसहितो जगाम शरणं गुरुम् ॥ ७ ॥

वह चन्द्रमा गुरु के अतिबलवान् क्रोध से पराभूत होने के कारण कान्तिरहित हुआ हुआ देव और देवर्षियों के साथ गुरु प्रजापति की शरण में गया ॥७॥

अथ चन्द्रमसः शुद्धां मतिं बुद्ध्वा प्रजापतिः ।
प्रसादं कृतवान्[1]सोमस्ततोऽश्विभ्यां चिकित्सितः ॥ ८ ॥
स विमुक्तो[2] ग्रहश्चन्द्रो विरराज विशेषतः ।
ओजसा वर्धितोऽश्विभ्यां शुद्धं सत्त्वमवाप च ॥ ९ ॥

तदनन्तर जब प्रजापति ने यह जाना कि चन्द्रमा की बुद्धि शुद्ध होगई है अर्थात् उसने अपनी भूल को मान लिया है और उसके निवारण का उपाय करना चाहता है तब प्रसन्न होगया और अपने शाप को वापिस ले लिया। तत्पश्चात् अश्विनीकुमारों ने चन्द्रमा की चिकित्सा की। इसप्रकार रोग से विमुक्त वह चन्द्रग्रह (चन्द्रमा) विशेषतः शोभायमान होने लगा और वह अपनी पूर्व सी कान्तियुक्त होगया। अश्विनीकुमारों ने ओज को बढ़ाया जिससे वह स्वस्थ हुआ और शुद्ध सत्त्व-मन को प्राप्त हुआ ॥ ८—९ ॥

क्रोधो यक्ष्मा ज्वरो रोग एको[3]ऽर्थो दुःखसंज्ञितः ।

---

१ 'कृतवान् सोमे ततो' ग.। २ 'विमुक्तग्रहश्चन्द्रो' ग.।
३ 'एकार्थो दुःखसंज्ञकः' ग.।

यस्मात्स राज्ञः प्रागासीद्राजयक्ष्मा ततो मतः ॥ १० ॥

क्रोध, यक्ष्मा, ज्वर, रोग, दुःख; ये सब एक ही अर्थ को बताते हैं। यतः वह रोग नक्षत्रराज चन्द्रमा को पूर्व हुआ था अतएव राजयक्ष्मा वा राजरोग नाम से कहा गया है ॥ १० ॥

स यक्ष्मा हुङ्कृतोऽश्विभ्यां मानुषं लोकमागतः ।
लब्ध्वा चतुर्विधं हेतुं समाविशति मानवान् ॥ ११ ॥

वह यक्ष्मा अश्विनीकुमारों द्वारा त्रस्त किया गया वा भगाया हुआ मनुष्यलोक में आगया । तब से वह चारप्रकार के हेतुओं को पाकर मनुष्यों को आक्रान्त करता है ॥ ११ ॥

अयथाबलमारम्भं वेगसन्धारणं क्षयम् ।
यक्ष्मणः कारणं विद्याच्चतुर्थं विषमाशनम् ॥ १२ ॥

राजयक्ष्मा के चार हेतु—१ अपने बल वा शक्ति से अधिक कार्य करना, २ वेगों का रोकना, ३ धातुक्षय, ४ विषमाशन (विषम भोजन); ये यक्ष्मा के कारण हैं ॥ १२ ॥

युद्धाध्ययनभाराध्वलङ्घनप्लवनादिभिः ।
पतनैरभिघातैर्वा साहसैर्वा तथाऽपरैः ॥ १३ ॥
अयथाबलमारम्भैर्जन्तोरुरसि विक्षते ।
वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति ॥ १४ ॥
स शिरःस्थः शिरःशूलं करोति गलमाश्रितः ।
कण्ठोद्ध्वंसं च कासं च स्वरभेदमरोचकम् ॥ १५ ॥
पार्श्वशूलं च पार्श्वस्थो वर्चोभेदं गुदे स्थितः ।
जृम्भां ज्वरं च सन्धिस्थ उरस्थश्चोरसो रुजम् ॥ १६ ॥
[1]क्षणनाच्चोरसो रक्तं कासमानः कफानुगम् ।

---

१ 'क्षणनादुरसः कासात्कफं ष्ठीवेत्सशोणितम् । जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूली निरस्यति' ग. ।

जर्जरेणोरसा कृच्छ्रमुरःशूली निरस्यति ॥ १७ ॥
इति साहसिको यक्ष्मा रूपैरेतैः प्रपद्यते ।
एकादशभिरात्मज्ञः सेवेतातो न साहसम् ॥ १८ ॥

अपनी शक्ति से अधिक कार्य करने(अयथाबल आरम्भ) से उत्पन्न यक्ष्मा की सम्प्राप्ति और रूप—युद्ध, अध्ययन (पढ़ना), भार उठाना, मार्ग चलना, लङ्घन, प्लवन (तैरना कूदना आदि), पतन (गिरना) अथवा अभिघात (चोट), साहस तथा और भी जो अपनी शक्ति से अधिक कार्य किये जाते हैं, उन से मनुष्य की छाती में वा फुप्फुसों में क्षत हो जाता है। तब प्रकुपित हुआ वायु दोनों दोषों अर्थात् पित्त और कफ को उदीर्ण करके इतस्ततः गति करता है। वह शिर में स्थित होकर शिरःशूल, गले में आश्रित हुआ कण्ठोद्ध्वंस, कास, स्वरभेद और अरुचि,पार्श्व में स्थित होकर पार्श्वशूल (पार्श्वों में वेदना), गुदा (आमाशय से गुदापर्यन्त देश का यहां ग्रहण है) में आश्रित होकर मलभेद वा अतीसार, सन्धियों में स्थित जम्भाई और ज्वर, छाती में स्थित हुआ छाती वा फुप्फुसों में पीड़ा उत्पन्न करता है।

छाती में शूल युक्त रोगी छाती के विक्षत होने के कारण खांसते हुए क्षतों से जीर्ण छाती वा फुप्फुस में से कष्टपूर्वक कफयुक्त रक्त थूकता है। अथवा यह कष्टसाध्य होता है।

इसप्रकार साहस से उत्पन्न होने वाला यक्ष्मा रोगी को इन ११ रूपों से पीड़ित करता है। अतएव अपने सामर्थ्य को जानने वाले पुरुष को कभी साहस (अपने सामर्थ्य से अधिक कार्य) न करना चाहिये।

ग्यारह रूप जो अभी ऊपर कहे हैं उनका संग्रह करके यहां लिखते हैं। १ शिरःशूल २ कण्ठोद्ध्वंस (कण्ठ का खराब होना) ३ कास ४ स्वरभेद ५ अरुचि ६ पार्श्वशूल, ७ मलभेद ८ जृम्भा (जम्भाई) ९ ज्वर १० उरःशूल ११ कफ युक्त रक्त का थूकना॥

ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्।
वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः॥ १९॥
तदा वेगप्रतीघातात्कफपित्ते समीरयन्।
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव विकारान्कुरुतेऽनिलः॥ २०॥
प्रतिश्यायं च कासं च स्वरभेदमरोचकम्।
पार्श्वशूलं शिरःशूलं ज्वरमंसावमर्दनम्॥ २१॥
अङ्गमर्दं मुहुश्छर्दिं वर्चोभेदं त्रिलक्षणम्।
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मा यैरुच्यते महान्॥ २२॥

वेगसन्धारण से उत्पन्न होने वाले यक्ष्मा का हेतु सम्प्राप्ति वा रूप—जब पुरुष लज्जावश घृणावश वा भयवश वात मूत्र और पुरीष के आये हुए वेगों को रोकता है तब वेग में रुकावट होने से कुपित वायु कफ और पित्त को ऊपर नीचे और तिर्यग् तीनों गतियों में प्रेरित करके विकारों को करता है। वे विकार ये हैं—१ प्रतिश्याय २ कास ३ स्वरभेद ४ अरुचि ५ पार्श्वशूल ६ शिरःशूल ७ ज्वर ८ अंसावमर्द (अंसदेश में मर्दनवत् पीड़ा) ९ अङ्गमर्द (अङ्गों में थकावट सी पीड़ा होनी) १० बार बार कै होना ११ मलभेद। ये विकार तीनों दोषों के लक्षणों वाले होते हैं। ये ११ रूप हैं जिन्हें देखकर राजयक्ष्मा वा महारोग कहा जाता है॥ १९—२२॥

[1]हर्षोत्कण्ठाभयत्रासक्रोधशोकातिकर्षणात्।
[2]व्यवायानशनाभ्यां च शुक्रमोजश्च हीयते॥ २३॥
ततः स्नेहक्षयाद्वायुर्वृद्धो दोषावुदीरयन्।
प्रतिश्यायं ज्वरं कासमङ्गमर्दं शिरोरुजम्॥ २४॥
श्वासं विड्भेदमरुचिं पार्श्वशूलं स्वरक्षयम्।
करोति चांससन्तापमेकाद[3]शमिह ग्रहम्॥ २५॥

---

१ 'ईर्ष्योत्कण्ठा०' ग.। २ 'अतिव्यवायानशनात्' ग.।
३ '०मेकादशमहाग्रहः ग.।' '०मेकादशमिहाङ्गहृत्' पा०।

क्षयज राजयक्ष्मा का हेतु सम्प्राप्ति और रूप—हर्ष, उत्कण्ठा, भय, त्रास, क्रोध, शोक; इनके अति सेवन से अतिकर्षण होने पर तथा च अति मैथुन वा उपवास से शुक्र (वीर्य) और ओज क्षीण हो जाते हैं।

तदनन्तर स्नेहभाग के क्षय हो जाने के कारण वायु प्रवृद्ध हो जाता है और वह पित्त कफ को उदीर्ण करता है। जिससे १ प्रतिश्याय २ ज्वर ३ कास ४ अङ्गमर्द ५ शिरोवेदना ६ श्वास ७ मलभेद ८ अरुचि ९ पार्श्वशूल १० स्वरभेद और ११वां लक्षण अंसताप होता है।

यहां पर ओज से हृदयस्थायी रस का ग्रहण किया जा सकता है। मैथुन से शुक्रक्षय और आहार न करने से हृदयस्थायी रस का क्षय होता है। यह हृदयस्थायी रस और कुछ नहीं वसायुक्त लसीका है। जो वसा भोजन के आत्मीकरण के समय क्षुदान्त्र आदि के ग्राहकाङ्कुरों से लेजायी जाती हुई लसीका के साथ मिलकर अपनी वाहिनी द्वारा वामपार्श्व में ग्रीवा के बायें भाग की बड़ी शिरा और बांई ऊर्ध्वशाखा की शिरा के सङ्गम पर रक्त में जा मिलती है। इसीप्रकार अन्य भी जो भोजन के पचने से रस उत्पन्न होता है उसका भाग रक्तकेशिकाओं द्वारा रक्त में मिलजाता है। भोजन के न खाने से रस नहीं बनेगा। परिणाम यह होगा कि सभी धातुएं क्षीण होजांयगी॥

लिङ्गान्यावेदयन्त्येतान्येकादश महागदम्।
संप्राप्तं राजयक्ष्माणं क्षयात्प्राणक्षयप्रदम् ॥ २६ ॥

ये ग्यारह लक्षण क्षय से उत्पन्न होने वाले जीवन के नाशक महारोग—राजयक्ष्मा के होने को जताते हैं ॥ २६ ॥

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।
जनयन्त्यामयान् घोरान्विषमान्मारुतादयः ॥ २७ ॥

विषमाशन से उत्पन्न होने वाले राजयक्ष्मा का हेतु, सम्प्राप्ति

और रूप—विविध प्रकार के अन्नपानों को विषमता से खाने वाले पुरुष के वात आदि दोष घोर एवं विषम रोगों को उत्पन्न करते हैं ॥ २७ ॥

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद्विषमं गताः ।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः ॥ २८ ॥

विषमता के कारण विषम हुए दोष रक्त आदियों के स्रोतों के मार्ग को रोककर रोगों को उत्पन्न करते हैं और धातुएं पुष्ट नहीं होतीं ॥ २८ ॥

प्रतिश्यायं प्रसेकं च कासं छर्दिमरोचकम् ।
ज्वरमंसाभितापं च छर्दनं रुधिरस्य च ॥ २९ ॥
पार्श्वशूलं शिरःशूलं स्वरभेदमथापि च ।
कफपित्तानिलकृतं लिङ्गं विद्याद्यथाक्रमम् ॥ ३० ॥

यक्ष्मा में तीनों दोषों के लिङ्ग—प्रतिश्याय, प्रसेक (कफ का आना), कास, छर्दि (कै), अरुचि । ज्वर, अंसताप, रक्त का वमन । पार्श्वशूल, शिरःशूल और स्वरभेद । ये क्रमशः कफ पित्त और वात के लक्षण होते हैं । राजयक्ष्मा में तीनों दोषों के लक्षण होते हैं प्रतिश्याय से अरुचि पर्यन्त कफ के । ज्वर से रक्तवमन पर्यन्त पित्त के और शेष पार्श्वशूल से स्वरभेदपर्यन्त वात के लक्षण हैं ॥ २९—३० ॥

इति व्याधिसमूहस्य रोगराजस्य हेतुजम् ।
रूपमेकादशविधं हेतुश्चोक्तश्चतुर्विधः ॥ ३१ ॥

यह रोगों के समूहरूप रोगराज—राजयक्ष्मा का हेतु से उत्पन्न होने वाला ग्यारह प्रकार का रूप कहा है और चारप्रकार का हेतु भी बता दिया है ॥ ३१ ॥

पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम् ।
अदोषेष्वपि भावेषु काये बीभत्सदर्शनम् ॥ ३२ ॥
घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षयः ।
स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ ३३ ॥

मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च ।
प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चाभिवर्धनम् ॥ ३४ ॥
पतत्त्रिभिः पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिधर्षणम् ।
स्वप्ने केशास्थिराशीनां भस्मनश्चाधिरोहणम् ॥ ३५ ॥
जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि ।
शुष्यतां क्षीयमाणानां पततां यच्च दर्शनम् ॥ ३६ ॥
प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मणः ।

राजयक्ष्मा का पूर्वरूप—प्रतिश्याय, दुर्बलता, दोषरहित भावों में भी दोष का देखना, देह में बीभत्सता का देखना, घृणा होना और खाते पीते भी बल और मांस क्षीण होते जाना, स्त्रियों को चाहना, मद्यपान वा मांसभक्षण में रुचि, अवगुण्ठन में प्रियता अर्थात् सुन्दर सुन्दर वस्त्रों के पहिरने का शौक अथवा लोगों से मिलने जुलने में रुचि न होना, अन्नपान में प्रायः मक्खी घुण केश (बाल) और तिनकों का गिरना, केश और नखों की शीघ्र वृद्धि, स्वप्न में—पक्षियों और श्वापदों (व्याघ्र आदि हिंस्र पशु) से पराभूत होना, केशों के हड्डियों के वा राख के ढेर पर चढ़ना, तालबों पर्वतों वनों और तारकाओं को सूखते क्षीण होते वा गिरते हुए देखना; यह बहुत रूप वाले राजयक्ष्मा का पूर्वरूप जानना चाहिये ॥ ३२–३६ ॥

रूपं त्वस्य यथोद्देशं परं शृणु सभेषजम् ॥ ३७ ॥
यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः ।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुनां ॥ ३८ ॥

अब इस राजयक्ष्मा का उद्देशक्रम से रूप और औषध सुनो—देह की धातुएं अपनी अपनी ऊष्मा से पकती हैं और अपने अपने स्रोत द्वारा जाकर धातु से धातु का पोषण होता है । रस से परिणत होकर रक्त आदि धातुएं पुष्ट होती हैं ॥ ३७–३८ ॥

---

१ 'धातुतः' ग. ।

स्रोतसां संनिरोधाच्च रक्तादीनां च संक्षयात् ।
धातूष्मणां चापचयाद्राजयक्ष्मा प्रवर्तते ॥ ३९ ॥

स्रोतों के मार्ग के रुकजाने से रक्त आदि धातुओं के क्षीण हो जाने तथा धातुओं की उष्मा के अल्प हो जाने से राजयक्ष्मा प्रवृत्त होता है। अर्थात् जब रस का मार्ग ही रुक गया तब रक्त कैसे बने? रक्त के क्षीण होने से अन्य धातुएं भी क्षीण हो जाती हैं। जब धातुएं क्षीण हो रही हों तो इंधन के न मिलने से धातुओं की ऊष्मा भी क्षीण होती जाती है। परिणाम यह होता है कि राज-यक्ष्मा हो जाता है ॥ ३९ ॥

तस्मिन्काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमाश्रितम् ।
मलीभवति तत्प्रायः कल्पते किंचिदोजसे ॥ ४० ॥
तस्मात्पुरीषं संरक्ष्यं विशेषाद्राजयक्ष्मिणः ।
सर्वधातुक्षयार्तस्य बलं तस्य हि विड्बलम् ॥ ४१ ॥

उससमय कोष्ठाग्नि जिस अन्न को पचाती है वह प्रायः मल ही होजाता है। उसका थोड़ा सा भाग ही ओज बन पाता है। 'ओज' यहां हृदयस्थायी रस का नाम है। अभिप्राय यह है कि अन्न पक्व होने पर दो भागों में बंट जाता है एक प्रसाद और दूसरा मल। प्रसादसंज्ञक भाग लसीकावाहिनियों और रक्तकेशिकाओं द्वारा आत्मीकरण के लिये देह में जाया करता है और मलभाग गुदा से बाहिर निकल जाता है। परन्तु यक्ष्मा में स्रोतों के मार्ग के बन्द होने के कारण प्रसादभाग वा ओज का पूर्णरूप से आत्मीकरण नहीं होता। बहुत ही अल्प सा भाग देह मे आत्मीकरण के लिये जाता है। अतएव धातुओं का पोषण नहीं होता। और यही कारण है कि राजयक्ष्मा के रोगी के पुरीष की विशेष तौर पर रक्षा करनी होती है। अभिप्राय यह है कि रोगी को मलभेद वा अतीसार से वा मल के बहुत बार आने से बचाना होता है। जिससे अधिक से

अधिक ओज का आत्मीकरण हो सके। यदि प्रसादसंज्ञक भाग मल के बार बार आने से बाहिर ही निकलता जाय तब तो शीघ्र ही रोगी क्षीण हो जायगा। मल के सड़ने से पूर्वतक जितना भी रोगी के देह में वह अन्नरस चला जाय उतना ही अच्छा है। अतः चिकित्सा में पुरीष-रक्षा की ओर विशेष ध्यान होना चाहिये। सम्पूर्ण धातुओं की क्षीणता से पीड़ित रोगी के पुरीष का बल ही उसका बल होता है॥

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्धते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते॥ ४२॥

स्रोतों के मार्ग के अवरुद्ध होजाने पर रस अपने स्थान में संचय होकर प्रवृद्ध होता रहता है। वह कास के वेग के साथ बहुत रूपों वाला होकर ऊपर को मुख नासा आदि द्वारा (कफरूपमें) प्रवृत्त होता है॥४२॥

जायन्ते व्याधयश्चातः षडेकादश वा पुनः।
येषां संघातयोगेन राजयक्ष्मेति कल्प्यते॥ ४३॥

इसके पश्चात् वे छह वा ग्यारह रोग होजाते हैं जिनके एकत्र समूह को राजयक्ष्मा नाम से कहा जाता है॥ ४३॥

कासोऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा।
शोणितश्लेष्मणोश्छर्दिः श्वासः कोष्ठामयोऽरुचिः॥४४॥
रूपाण्येकादशैतानि यक्ष्मिणः,

यक्ष्मा के ग्यारह रूप—१ कास २ अंसाभिताप ३ स्वरभेद ४ ज्वर ५ पार्श्वशूल ६ शिरःशूल ७ रक्तवमन ८ कफ का थूकना ९ श्वास १० कोष्ठामय (अतीसार), ११ अरुचि; ये यक्ष्मा के रोगी के ग्यारह रूप हैं॥ ४४॥

षडिमानि वा।
कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोगदोऽरुचिः॥ ४५॥

१ 'वर्चोगदो ग.।

अथवा ये छह रूप हैं--१ कास २ ज्वर ३ पार्श्वशूल ४ स्वरभेद ५ मलभेद ६ अरुचि ।

यदि दोष अत्यन्त प्रबल हों तो ग्यारह रूप होते हैं अन्यथा छह ॥ ४५ ॥

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये ।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ ४६ ॥

यक्ष्मा की साध्यासाध्यता—यदि रोगी का मांस और बल क्षीण हो गया हो तो चाहे सब अर्थात् ग्यारह रूप हों चाहे आधे अर्थात् छह रूप वा इन में से कोई से तीन ही रूप हों तो वह असाध्य है। परन्तु यदि बल और मांस क्षीण न हुऐ हों तो सकल लक्षण उपस्थित होने पर भी चिकित्सा के योग्य है ॥ सुश्रुत उ० अ० ४१ में असाध्यता बताते हुए ग्यारह छह और तीन रूप इस प्रकार कहे हैं—

'स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं सङ्कोचश्चांसपार्श्वयोः ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ।
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ।
एकादशभिरेतैर्वा षड्भिर्वापि समन्वितम् ।
कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ।
त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैर्ज्वरकासासृगामयैः ।
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविपुलं यशः ।' ४६॥

घ्राणमूले स्थितः श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा ।
मारुताध्मातशिरसः श्यायते मारुतं प्रति[1] ॥ ४७ ॥
प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्षणः ।

प्रतिश्याय की सम्प्राप्ति—वायु से पूर्ण शिर वाले रोगी के

---

१ 'मारुतः श्यायते प्रति' पा० ।

नासिकामूल में स्थित कफ रक्त अथवा पित्त ही वायु के प्रति गमन करते हैं। जिससे देह को कृश करने वाला घोर प्रतिश्याय होता है। 'मारुतं प्रति श्यायते' इससे प्रतिश्याय का निर्वचन भी कर दिया है। शिर में सञ्चित वायु की ओर नासिकामूल में स्थित कफ आदि दोष जब जाते हैं तब उनके संयोग से प्रतिश्याय होता है। सुश्रुत उ० अ० २४ में प्रतिश्याय का निदान कहा है—

'नारीप्रसङ्गः शिरसोऽभितापो धूमो रजः शीतमतिप्रतापः।
सन्धारणं मूत्रपुरीषयोश्च सद्यः प्रतिश्यायनिदानमुक्तम् ॥४७॥

तस्य रूपं शिरःशूलं गौरवं घ्राणविप्लवः ॥ ४८ ॥
ज्वरः कासः कफोत्क्लेशः स्वरभेदोऽरुचिः क्लमः।
इन्द्रियाणामसामर्थ्यं यक्ष्मा [1]चातः प्रवर्तते ॥ ४९ ॥

प्रतिश्याय का रूप—शिर में दर्द, भारीपन, घ्राणविप्लव (नाक का क्लेद से पूर्ण रहना), ज्वर, कास, कफ का उत्क्लेश, स्वरभेद, अरुचि, क्लम (अनायास थकावट); और इन्द्रियों की अपने विषय के ग्रहण में असमर्थता; ये रूप हैं। प्रतिश्याय से राजयक्ष्मा भी उत्पन्न हो जाता है ॥ ४८–४९ ॥

पिच्छिलं बहलं विस्रं हरितं श्वेतपीतकम्।
[2]कासमानो रसं यक्ष्मी निष्ठीवति कफानुगम् ॥ ५० ॥

यक्ष्मा का रोगी खांसी के साथ कफमिश्रित चिपचिपे, घने, आमगन्ध वाले हरे श्वेत वा पीले रस को थूकता है। ४२ वें श्लोक में जो प्रवृत्त होने वाले रस की बहुरूपता कही है उसे भी यहां दर्शा दिया है ॥ ५० ॥

अंसपार्श्वाभितापश्च [3]तापः पादकरस्य च।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥ ५१ ॥

---

१ 'वातः प्रजायते' ग.। २ 'व्यापन्नं ष्ठीवति रसं कासन् यक्ष्मी कफानुगम्' ग.। ३ 'संतापः करपादयोः' ग.।

राजयक्ष्मा का लक्षण—अंस और पार्श्वों का अभिताप वा पीड़ा पैर और हाथों का दाह, और सर्वशरीरगत ज्वर; यह राजयक्ष्मा का लक्षण है ॥ ५१ ॥

वातात्पित्तात्कफाद्रक्तात्कासवेगात्सपीनसात् ।

स्वरभेद का विवरण—वात से, पित्त से, रक्त से, कास के वेग से और प्रतिश्याय से स्वरभेद होता है ।

स्वरभेदो भवेत् वातद्रूक्षः क्षामश्चलः स्वरः ॥ ५२ ॥

वातज स्वरभेद के लक्षण—वात से उत्पन्न स्वरभेद में स्वर रूक्ष, निर्बल और कम्पित होता है ॥ ५२ ॥

तालुकण्ठपरीदाहः पित्ताद्वक्तुमसूयते ।

पित्तजस्वरभेद का लक्षण—पित्त से तालु और कण्ठ में दाह होता है और रोगी बोलना नहीं चाहता अथवा पूरा बोल नहीं सकता ।

कफान्मन्दो विबद्धश्च स्वरः खुरखुरायते[1] ॥ ५३ ॥

कफज स्वरभेद का लक्षण—कफ से स्वर मन्द, बंधा हुआ होता है और खुरखुर करता है ॥ ५३ ॥

सन्नो रक्तविबन्धत्वात्स्वरः कृच्छ्रात्प्रवर्तते ।

रक्तज स्वरभेद का लक्षण—रक्त का विबन्ध होने से रोगी का स्वर बैठा हुआ और बड़े कष्ट से प्रवृत्त होता है ।

कासातिवेगात्कर्षणः[2],

कास के अत्यन्त वेग के कारण उत्पन्न स्वरभेद का रूप—कास के अत्यन्त वेग से उत्पन्न स्वरभेद में, कण्ठ वा स्वरयन्त्र बहुत ही खराब होजाता है । 'करुणः' इस पाठ के अनुसार—कासवेग से उत्पन्न स्वरभेद में स्वर अत्यन्त कातर होता है—यह अभिप्राय होगा ।

पीनसात्कफवातिकः ॥ ५४ ॥

प्रतिश्याय से उत्पन्न स्वरभेद का रूप—प्रतिश्याय से उत्पन्न

---

१ 'कफान्मन्दो विबद्धश्च स्वरः खुनखुनायते' ग. । २ 'करुणः' ग. ।

स्वरभेद के लक्षण कफवातिक होते हैं। कफज और वातज के लक्षण अभी कह ही चुके हैं ॥ ५४ ॥

पार्श्वशूलं त्वनियतं संकोचायामलक्षणम्।
शिरःशूलं ससंतापं यक्ष्मिणः स्यात्सगौरवम् ॥५५॥

यक्ष्मा के रोगी के पार्श्वों में सङ्कोच और आयाम (विस्तार) के लक्षण-वाला पार्श्वशूल अनियत होता है। अर्थात् पार्श्वशूल का होना सर्वदा निश्चित नहीं। यह लक्षण कदाचित् नहीं भी पाया जाता। अथवा पार्श्वशूल में सर्वदा ही पार्श्व का सङ्कोच वा सर्वदा ही विस्तार नहीं होता। कदाचित् पार्श्वों में सङ्कोच और कदाचित् आयाम (विस्तार) होता है। अथवा किसी रोगी में पार्श्व-सङ्कोच हो सकता है और किसी में विस्तार पाया जा सकता है।

यक्ष्मा के रोगी को शिर में शूल, सन्ताप (दाह) और गुरुता (भारीपन प्रतीत होना) होती है ॥ ५५ ॥

[1]अतिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विषमाशनात्।
कण्ठात्प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्टसंचितः ॥ ५६ ॥

रक्त के कण्ठ से आने का हेतु—शरीर के अत्यन्त शिथिल वा दुर्बल होने पर विषमभोजन के कारण यक्ष्मा के रोगी के कण्ठ द्वारा उत्क्लेश से सञ्चित हुए रक्त की और कफ की प्रवृत्ति होती है ॥५६॥

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात्कण्ठमेति वा ॥ ५७ ॥

रक्तप्रवृत्ति क्यों होती है?—मार्गों के दोषों द्वारा विबद्ध होने के कारण रक्त मांस आदि धातुओं में नहीं जाता। परिणाम यह होता है कि फुप्फुस में रक्त सञ्चित हो जाता है सञ्चय होने से वह उत्क्लिष्ट होकर निर्बल रक्तवाहिनी में से फूट कर बाहिर निकलने लगता है।

अथवा आमाशयस्थित रक्त सञ्चित होकर वहां परिमाण में बहुत

1 'अतिखिन्ने' ग.। 'अभिसन्ने' च.। 'अभिष्यण्णे' पा०।

होजाता है । जिससे उत्क्लिष्ट होकर कण्ठ की ओर आता है अर्थात् रक्त का वमन होता है ॥ ५७ ॥

वातश्लेष्मविबन्धत्वादुरसः श्वासमृच्छति ।
दोषैरुपहते चाग्नौ सपिच्छमतिसार्यते ॥ ५८ ॥

श्वास का हेतु—छातीके वात और कफ से बद्ध होने के कारण श्वास हो जाता है । अभिप्राय यह है कि यक्ष्मा के रोगी के फुप्फुस के वायुकोष्ठ (aircells) कफ से पूर्ण हो जाते हैं तथा च वे फैलते भी नहीं अतः रोगी को श्वास हो जाता है ।

अतीसार का हेतु—दोषों द्वारा पाचकाग्नि के मन्द हो जाने से यक्ष्मा के रोगी को पिच्छा युक्त अतीसार हो जाता है ॥ ५८ ॥

पृथग्दोषैः समस्तैर्वा जिह्वाहृदयसंश्रितैः ।
जायतेऽरुचिराहारे दुष्टैरर्थैश्च मानसैः ॥ ५९ ॥

अरुचि का हेतु—जिह्वा और हृदयदेश में आश्रित वात पित्त कफ पृथक् पृथक् अथवा समस्त दोषों से अथवा दुष्ट मनोविषयों (काम शोक क्रोध आदि) के कारण आहार में अरुचि हो जाती है ॥ ५९ ॥

कषायतिक्तमधुरैर्विद्यान्मुखरसैः क्रमात् ।
वाताद्यैररुचिं जातां मानसीं दोषदर्शनात् ॥ ६० ॥

यदि मुख का रस कषाय हो तो वातज अरुचि जानें । यदि तिक्त हो तो पैत्तिक । यदि मधुर हो तो श्लैष्मिक जानें । त्रिदोषज अरुचि के प्रकृतिसमसमवाय से उत्पन्न होने से उस में तीनों दोषों के मिश्रित रस ही होते हैं । मानस अरुचि उस २ भाव में अनुबन्ध-भूत दोष के देखने से तदनुसार जानी जाती है । अर्थात् भय और शोक से यदि अरुचि होगी तो उसका वातिक होना, यदि क्रोध से होगी तो पैत्तिक और ग्लानि वा तन्द्रा आदि में श्लैष्मिक होना इत्यादि । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ५ में कहा है—

'कषायतिक्तमधुरं वातादिषु मुखं क्रमात् ।

सर्वोत्थे विरसं शोकक्रोधादिषु यथामलम् ॥'

अन्यत्र तो--

'अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।

स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च ॥

अर्थात् शोक भय आदि से उत्पन्न अरोचक में मुख का स्वाद स्वाभाविक ही रहता है परन्तु आहार में रुचि नहीं होती—ऐसा कहा है । अथवा स्वाभाविक का तात्पर्य वहां उस २ मानस भाव के वातिक आदि होने से हैं ।

चक्रपाणि तो दोषदर्शन का अर्थ द्विष्टदर्शन करता है । अर्थात् जो मन को अप्रिय हो ऐसी वस्तु के दर्शन से मानसी अरुचि उत्पन्न हुई जाने ॥ ६० ॥

अरोचकात्कासवेगाद्दोषोत्क्लेशाद्भयादपि ।

छर्दिर्या सा विकाराणामन्येषामप्युपद्रवः ॥ ६१ ॥

छर्दि—यक्ष्मा में अरुचि, खांसी का वेग, दोष का उत्क्लेश, भय; इन हेतुओं से जो कै होता है वह अन्य विकारों में भी उपद्रवरूप से होता है॥६१॥

सर्वस्त्रिदोषजो यक्ष्मा दोषाणां तु बलाबलम् ।

परीक्ष्यावस्थिकं वैद्यः शोषिणं समुपाचरेत् ॥ ६२ ॥

यक्ष्माचिकित्सा—सब राजयक्ष्मा त्रिदोषज हैं । वैद्य को चाहिये कि वह यक्ष्मा के रोगी की अवस्था के अनुसार दोषों के बलाबल की परीक्षा करके चिकित्सा करे ॥ ६२ ॥

प्रतिश्याये शिरःशूले कासे श्वासे स्वरक्षये ।

पार्श्वशूले च विविधाः क्रियाः साधारणीः शृणु ॥ ६३ ॥

प्रतिश्याय (जुकाम); शिरःशूल, कास, श्वास, स्वरसाद तथा पार्श्वशूल में विविध प्रकार की सामान्य चिकित्सा अर्थात् संशमनचिकित्सा सुनो--॥ ६३ ॥

पीनसे स्वेदमभ्यङ्गं धूममालेपनानि च ।

परिषेकावगाहांश्च यावकं वाट्यमेव च ॥ ६४ ॥

प्रतिश्याय में स्वेद, अभ्यङ्ग, धूप, आलेप, परिषेक, अवगाह, यावक (यवान्न अथवा यवागू), वाट्य (यवमण्ड अथवा जौ का दलिया); इनका प्रयोग करे ॥ ६४ ॥

लवणाम्लकटूष्णांश्च रसान्स्नेहोपबृंहितान् ।
लावतित्तिरिदक्षाणां वर्तकानां च कल्पयेत् ॥ ६५ ॥

लावा तीतर मुर्गा और वर्तक (बटेर); इनके मांसों से लवण अम्ल कटु रसयुक्त उष्ण तथा घी आदि स्नेह से युक्त रसों की कल्पना कर रोगी को दें ॥ ६५ ॥

सपिप्पलीकं सयवं सकुलत्थं सनागरम् ।
दाडिमामलकोपेतं स्निग्धमाजं रसं पिबेत् ॥ ६६ ॥
तेन षड्विनिवर्तन्ते विकाराः पीनसादयः ।

पिप्पली, जौ, कुलत्थ, सोंठ, अनारदाना, आंवला; इन से यथाविधि साधित एवं घृत आदि स्नेह से युक्त बकरे के मांसरस को रोगी पीवे । इसके प्रयोग से प्रतिश्याय प्रभृति उपर्युक्त छहों विकार निवृत्त हो जाते हैं । इनमें पिप्पली और सोंठ को मसाले के तौर पर पीछे से बुरका सकते हैं । अनारदाना और आंवला इतना ही देना चाहिये जिससे मांसरस का स्वाद कुछ खट्टा होजाय ॥ ६६ ॥

मूलकानां कुलत्थानां यूषैर्वा सूपकल्पितैः[2] ॥ ६७ ॥
यवगोधूमशाल्यन्नैर्यथासात्म्यमुपाचरेत् ।

मूली वा कुलत्थों के यथाविधि प्रस्तुत यूष और जौ गेहूं वा शालि के अन्न सात्म्य के अनुसार रोगी को दें ॥ ६७ ॥

पिबेत्प्रसादं वारुण्या जलं वा पार्श्वमूलिकम्[1] ॥ ६८ ॥
धान्यनागरसिद्धं वा तामलक्याऽथवा शृतम् ।
पर्णिनीभिश्चतसृभिस्तेन चान्नानि कल्पयेत् ॥ ६९ ॥

---

१ 'पानकं' ग. । २ 'सूपसंस्कृतैः' ग., च. ।

वारुणी (मद्यविशेष) का उपरितन स्वच्छभाग अथवा क्षुद्र पञ्चमूल से सिद्ध जल अथवा धनियां और सोंठ से साधित जल अथवा तामलकी (भुईं आंवला) से सिद्ध किया जल अथवा चारों पर्णियों (मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी) से साधित जल पीने के लिये दें। और इन के जलों से ही अन्न को संस्कृत कर आहारार्थ दें। पानार्थ जलों का साधन षडङ्गपरिभाषा के अनुसार करना चाहिये ॥ ६८—६९ ॥

कृशरोत्कारिकामाषकुलत्थयवपायसैः।
संकरस्वेदविधिना कण्ठं पार्श्वमुरः शिरः ॥ ७० ॥
स्वेदयेत्,

स्वेद—कृशरा (तिल चावल तथा उड़द की यवागू), उत्कारिका (रोटी तरह बनाया अथवा पूरी सदृश तला हुआ अथवा जौ उड़द आदि वात नाशक द्रव्यों से निर्मित लप्सीसदृश खाद्य), उड़द, कुलत्थ, जौ, पायस (खीर); इनके द्वारा सङ्करस्वेद की विधि से कण्ठ, पार्श्व, छाती और शिर का स्वेदन करे। सङ्करस्वेद का विधान सूत्रस्थान अ० १४ में बताया जा चुका है ॥ ७० ॥

पत्रभङ्गेण शिरश्च परिषेचयेत्।
बलागुडूचीमधुकक्वाथैर्वा वारिभिः सुखैः ॥ ७१ ॥

परिषेक—वातहर पत्रों के क्वाथ से अथवा बला, गिलोय, मुलहठी; इन से साधित सुहाते गरम क्वाथ से शिर का परिषेचन करें ॥ ७१ ॥

बस्तमत्स्यशिरोभिर्वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत्।
कण्ठे शिरसि पार्श्वे च पयोभिर्वा सवातिकैः ॥ ७२ ॥

अथवा कण्ठ शिर और पार्श्व में बस्त (बकरा) का शिर और मछली के शिरों के क्वाथों से नाडीस्वेद दे। अथवा वातिक (वातघ्न) द्रव्यों से युक्त जलों से कण्ठ आदि पर नाडीस्वेद दे। तन्त्रान्तर में वातिक द्रव्य कहे गये हैं—

विल्वाग्निमन्थकाश्मर्यं श्रेयसी पाटला बला ।
शालपर्णी पृश्निपर्णी बृहती कण्टकारिका ॥
वर्धमानं मूलकं च वातिकान्यवतारयेत् ॥' ७२ ॥

औदकानूपमांसानि सलिलं पाञ्चमूलिकम् ।
सस्नेहमारनालं वा नाडीस्वेदं प्रयोजयेत् ॥ ७३ ॥

अथवा औदक और आनूप पशुपक्षियों के मांस से अथवा पञ्च-मूल के क्वाथ से अथवा काञ्जिक में स्नेह (तैल घृत वसा वा मज्जा) डाल कर यथाविधि नाडीस्वेद करे ॥ ७३ ॥

जीवन्त्याः शतपुष्पाया वसाया मधुकस्य च ।
वचाया वेशवारस्य विदार्या मूलकस्य च ॥ ७४ ॥
औदकानूपमांसानामुपनाहाश्च संस्कृताः ।
शस्यन्ते सचतुःस्नेहाः शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥ ७५ ॥

शिर पार्श्व तथा अंस देश में जिन्हें शूल हो ऐसे रोगियों को जीवन्ती, शतपुष्पा (सोये), बला, मुलहठी, वचा, वेशवार, विदारी-कन्द, मूली, औदक और आनूप मांस; इनके चारों महास्नेहों से युक्त यथाविधि संस्कृत (पृथक् पृथक्) उपनाह लगाने चाहियें ॥७४–७५॥

शतपुष्पा समधुकं कुष्ठं तगरचन्दने ।
आलेपनं स्यात्सघृतं शिरःपार्श्वांसशूलनुत् ॥ ७६ ॥

शतपुष्पाद्यालेपन—सोये, मुलहठी, कुठ, तगर, लालचन्दन; इन्हें एकत्र घी के साथ लेप करें । यह शिर पार्श्व और अंस के शूल को नष्ट करता है ॥ ७६ ॥

बला रास्ना तिलाः सर्पिर्मधुकं नीलमुत्पलम् ।
पलङ्कषा देवदारु चन्दनं केशरं घृतम् ॥ ७७ ॥

---

१ निरस्थिपिशितं पिष्टं स्विन्नं गुडघृतान्वितम् । कृष्णामरिचसंयुक्तं वेसवार इति स्मृतः ।

वीरा बला विदारी च कृष्णगन्धा पुनर्नवा ।
शतावरी पयस्या च कत्तृणं मधुकं घृतम् ॥ ७८ ॥

चत्वार एते श्लोकार्धैः प्रदेहाः परिकीर्तिताः ।
शस्ताः संसृष्टदोषाणां शिरःपार्श्वांसशूलिनाम् ॥ ७९ ॥

प्रदेह—१ बला, रास्ना, तिल, घी, मुलहठी, नीलोत्पल । २ गुग्गुलु, देवदारु, लालचन्दन, नागकेसर, घी । ३ क्षीरकाकोली, बला, विदारीकन्द, लालसहिजन, पुनर्नवा । ४ शतावर, क्षीरकाकोली, कत्तृण (सुगन्धितृण), मुलहठी, घी । ये आधे श्लोकों में कहे गये चार प्रदेह हैं । इन्हें यक्ष्मा में द्वन्द्व दोष से उत्पन्न शिरोवेदना पार्श्वशूल और अंसशूल में प्रयोग कराना चाहिये ॥ ७७-७९ ॥

नावनं धूमपानानि स्नेहाश्चौत्तरभक्तिकाः ।
तैलान्यभ्यङ्गयोगानि बस्तिकर्म तथा परम् ॥ ८० ॥
जलौकालाबुशृङ्गैर्वा प्रदुष्टं व्यधनेन वा ।
शिरःपार्श्वांसशूलेषु रुधिरं तस्य निर्हरेत् ॥ ८१ ॥

सिर पार्श्व तथा अंस के शूलों में नस्य, धूमपान, भोजन के पश्चात् स्नेहपान, अभ्यङ्ग के लिये तैल तथा बस्तिकर्म कराना चाहिये । रोगी के अत्यन्त दुष्ट रक्त को जोंक, तुम्बी, शृङ्ग अथवा सिराव्यध द्वारा निकालना चाहिये । रक्तनिर्हरणार्थ जोंक आदि का व्यवहार दोषों के अनुसार करना चाहिये । जैसे वाताधिक में सींग से पित्ताधिक में जोंक से और कफाधिक में तुम्बी से ॥ ८०-८१ ॥

प्रदेहः सघृतश्रेष्टः पद्मकोशीरचन्दनैः ।
दूर्वामधुकमञ्जिष्ठाकेशरैर्वा घृताप्लुतैः ॥ ८२ ॥

प्रदेह—पद्माख खस और चन्दन; इनका घी के साथ प्रदेह करना उत्तम है । अथवा दूब, मुलहठी, मञ्जिष्ठा, नागकेसर; इन्हें अच्छी प्रकार घी के साथ मिलाकर प्रदेह करें ॥ ८२ ॥

[1]प्रपौण्डरीकनिर्गुण्डीपद्मकेशरमुत्पलम्।
कशेरुकाः पयस्या च ससर्पिष्कं प्रलेपनम्॥ ८३॥

प्रपौण्डरीकाद्य प्रलेप—पुण्डरीककाष्ठ, निर्गुण्डी (सम्भालू), पद्म (श्वेत कमल), नागकेसर (अथवा कमल और नागकेसर के स्थान पर पद्मकेशर—कमलकेसर एक ही द्रव्य का ग्रहण करें), नीलोत्पल, कसेरु, क्षीरकाकोली; इन्हें पीस कर एकत्र घी के साथ मिश्रित कर प्रलेप करें॥ ८३॥

चन्दनाद्येन तैलेन शतधौतेन सर्पिषा।
अभ्यङ्गः पयसा सेकः शस्तश्च मधुकाम्बुना॥ ८४॥

चन्दनाद्यतैल (ज्वराधिकारोक्त) अथवा शतधौत घृत (१०० बार धोया घी) का अभ्यङ्ग प्रशस्त है। और दूध अथवा मुलइठी के क्वाथ का परिषेचन हितकर है॥ ८४॥

माहेन्द्रेण सुशीतेन चन्दनादिशृतेन वा।
परिषेकः प्रयोक्तव्य इति संशमनी क्रिया॥ ८५॥

इति संशमनी क्रिया।

सुशीतल वर्षाजल अथवा सुशीतल चन्दनादिगण (चन्दनाद्यतैलोक्त) के क्वाथ से परिषेचन करना चाहिये।

ये संशमन चिकित्सा कह दी गई है॥ ८५॥

दोषाधिकानां वमनं शस्यते सविरेचनम्।
स्नेहस्वेदोपपन्नानां सस्नेहं यन्न कर्षणम्॥ ८६॥

जिन यक्ष्मा के रोगियों में दोष अधिक हो उनका पूर्व स्नेहन और स्वेदन कर स्नेहयुक्त वमन वा स्नेहयुक्त विरेचन दें। परन्तु ये वमन और विरेचन ऐसे होने चाहियें जो देह को कृश वा निर्बल न करें।

शोषी मुञ्चति गात्राणि पुरीषस्रंसनादपि।
अबलापेक्षिणीं मात्रां किं पुनर्यो विरिच्यते॥ ८७॥

---

१ 'प्रपौण्डरीकं पद्मस्य केशरं नीलमुत्पलम्' ग.।

यक्ष्मा के रोगी की पुरीष के स्रंसन से भी मृत्यु होजाया करती है। परन्तु यदि रोगी के बल से अधिक मात्रा में विरेचन हो जाय तो उसका तो क्या कहना? अर्थात् तब तो मृत्यु निश्चित ही है। यक्ष्मा के रोगी को सामान्यतः कोई भी विरेचन न देना चाहिये। परन्तु यदि दोष अत्यधिक मात्रा में हो और विरेचन देना आवश्यक हो तो अत्यन्त ही मृदु विरेचन दें। ये विरेचन भी मांस आदि रस वा दूध आदि स्निग्ध द्रव्यों में मिला कर ही दिया जाना चाहिये। विरेचन के लिये अष्टाङ्गसंग्रह यक्ष्माचिकित्सा में कहा है—

'.........विरेचनं दद्यात्त्रिवृच्छ्यामानृपद्रुमान्।

शर्करामधुसर्पिर्भिः पयसा तर्पणेन वा॥

द्राक्षाविदारीकाश्मर्यमांसानां वा रसैर्युतान्॥'

वमन के योग कफप्रसेक की चिकित्सा में आगे कहे जांयगे॥८७॥

योगान् संशुद्धकोष्ठानां कासे श्वासे स्वरक्षये।

शिरःपार्श्वांसशूलेषु सिद्धानेतान्प्रयोजयेत्॥ ८८॥

जब कोष्ठ शुद्ध हो जाय तब कास, श्वास, स्वरभेद, शिरःशूल, पार्श्वशूल तथा अंसशूल में निम्न सिद्ध योगों का प्रयोग कराये॥८८॥

बलाविदारिगन्धाद्यैर्विदार्या मधुकेन वा।

सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्यात्स्वर्यमुत्तमम्॥ ८९॥

बला और स्वल्पपञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, कण्टकारी, बृहती और गोखरू) अथवा विदारीकन्द अथवा मुलहठी; इन के क्वाथों से सिद्ध किये गये घृत—जिन में सैन्धवनमक का कल्क दिया हो—के नस्य स्वर को ठीक करने में उत्तम हैं। अष्टाङ्गसंग्रह में तो—

'बलाविदारिगन्धाभ्यां विदार्या मधुकेन च।

सिद्धं सलवणं सर्पिर्नस्यं स्वर्यमनुत्तमम्॥'

इसप्रकार पढ़ा है। इस पाठ के अनुसार विदारिगन्धाद्य गण (स्वल्प-

---

१ 'योगाद्' ग.। २ बलाविदारिगन्धाभ्यां पिप्पल्या' ग.।

पञ्चमूल) न लेकर केवल शालपर्णी का ग्रहण होगा। 'च' के समुच्चयार्थक होने से योग भी एक ही माना जा सकता है। गङ्गाधरोक्त योग का पाठ अष्टाङ्गसंग्रह के पाठ के अनुसार ही है, परन्तु वह 'विदार्या' के स्थल पर 'पिप्पल्या' पढ़ता है। हमें तो अष्टाङ्गसंग्रह का पाठ ही ठीक प्रतीत होता है। उस के अनुसार बला, शालपर्णी, विदारीकन्द, मुलहठी और सैन्धा नमक; इन के कल्क से घृत को सिद्ध करना चाहिये। अथवा बला आदि द्रव्यों के क्वाथ और सेन्धा नमक के कल्क से घी को सिद्ध किया जा सकता है। कईएक बला आदि द्रव्यों के कल्क से घी को सिद्ध कर सेन्धा नमक का प्रक्षेप देना मानते हैं॥ ८९ ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पिप्पली बृहती बला ।
साधितं क्षीरसर्पिश्च[1] तत्स्वर्यं नावनं परम् ॥ ९० ॥

प्रपौण्डरीकाद्यघृत-नस्य--पुण्डरीककाष्ठ, मुलहठी, पिप्पली, बृहती (बड़ी कटेरी), बलामूलत्वक्; इन के कल्क से सिद्ध दूध से निकाले घी के नस्य से स्वरभेद नष्ट होता है। चक्रपाणि 'क्षीरसर्पिः' के स्थल पर क्षीरं सर्पिः पढ़ता है। उस के अनुसार घृतपाक में द्रव गौ का दूध होगा। परन्तु अष्टाङ्गसङ्ग्रह में भी 'क्षीरसर्पिः' ही पढ़ा है। अतः वही पाठ उचित होगा॥ ९० ॥

शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासनिबर्हणम् ।
प्रयुज्यमानं बहुशो घृतमौत्तरभक्तिकम् ॥ ९१ ॥

भोजन के पश्चात् बहुधा किया गया घृतपान शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास तथा श्वास को नष्ट करता है॥ ९१ ॥

दशमूलेन पयसा सिद्धं मांसरसेन च ।
बलागर्भं घृतं सद्यो रोगानेतान्प्रबाधते ॥ ९२ ॥

दशमूलाद्यघृत— घी २ प्रस्थ। दशमूल क्वाथ ८ प्रस्थ। दूध

1 'क्षीरं सर्पिश्च तत्सिद्धं स्वर्यं स्यान्नावनं परम्' च.।

२ प्रस्थ। मांस रस ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—बला की जड़ का छिलका १ शराव। यथाविधि घृतपाक करें। अग्नि के अनुसार मात्रा में भोजनोत्तर पिलाने से शिरःशूल आदि रोगों को नष्ट करता है। मात्रा—आधा तोला ॥ ६२ ॥

भक्तस्योपरि मध्ये वा यथाग्नि प्रविचारितम्।
रास्नाघृतं वा सक्षीरं सक्षीरं वा बलाघृतम् ॥ ६३ ॥

भोजनोत्तर वा भोजन के मध्य में यक्ष्मा के रोगी की अग्नि के अनुसार दूध में रास्नाघृत वा बलाघृत मात्रा में डालकर पिलाने से शिरःशूल आदि रोग नष्ट होते हैं। रास्नाघृत इसी अध्याय में आगे और एक कासचिकित्सा में और बलाघृत वातरक्तचिकित्सा में कहा गया है ॥

चक्रपाणि बलाघृत और बलाक्षीर रास्नाघृत और रास्नाक्षीर ऐसा अर्थ करता है। गङ्गाधर 'रास्नाघृतं सक्षीरं' से घी को रास्ना के कल्क और चतुर्गुण दूध से सिद्ध करने को कहता है। इसीप्रकार 'सक्षीरं वा बला घृतम्' से घी को बला के कल्क और चतुर्गुण दूध से सिद्ध करने को कहता है ॥६३॥

लेहान्कासापहान्स्वर्यान् श्वासहिक्कानिबर्हणान्।
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नान् स्नेहांश्चातः परं शृणु ॥ ६४ ॥

इसके पश्चात् कास स्वरभेद, श्वास, हिक्का, शिरःशूल, पार्श्वशूल एवं असंशूल के नष्ट करने वाले स्नेह और लेह के योग सुनो ॥ ६४ ॥

घृतं खर्जूरमृद्वीका मधुकैः[1] सपरूषकैः।
[2]सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासनिबर्हणम् ॥ ६५ ॥

खर्जूरादिघृत—घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिण्डखजूर, मुनक्का, मुलहठी, फालसा; मिलित १ शराव। पाकार्थ जल ८ प्रस्थ। यथाविधि पाक करें। पाक होने पर घी को पृथक् करले और पिप्पली चूर्ण का प्रक्षेप देकर मिला दें। यह घृत स्वरभेद, कास, श्वास को नष्ट करता है। मात्रा $\frac{1}{4}$ तोला ॥ ६५ ॥

---

१ '०शर्करा चौद्रसंयुतम्' पा०। २ 'सपिप्पलीकैवैं०' ग.।

दशमूलशृतात्क्षीरात्सर्पिर्यदुदियान्नवम् ।
सपिप्पलीकं सक्षौद्रं तत्परं स्वरबोधनम् ॥ ९६ ॥
शिरःपार्श्वांसशूलघ्नं कासश्वासज्वरापहम् ।
पञ्चभिः पञ्चमूलैर्वा शृताद्यदुदियाद् घृतम् ॥ ९७ ॥

दशमूल से यथाविधि साधित दूध से निकाले हुए ताज़े घी में पिप्पलीचूर्ण और मधु का प्रक्षेप देकर सेवन कराने से स्वरसाद, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल, कास, श्वास तथा ज्वर नष्ट होता है। अथवा पांचों पञ्चमूलों से साधित दूध से निकाला हुआ ताज़ा घी भी स्वरसाद आदि को नष्ट करता है। चिकित्सास्थान प्रथम अध्याय के प्रथम पाद में ब्राह्मरसायन योग में पांचों पञ्चमूल कहे जा चुके हैं। क्षीरपाक की परिभाषा निम्न हैं—

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ ९६–९७ ॥

पञ्चपञ्चमूलघृतम्

पञ्चानां पञ्चमूलानां रसे क्षीरचतुर्गुणे ।
सिद्धं सर्पिर्जयत्येतद्यक्ष्मणः सप्तकं बलम् ॥ ९८ ॥

पञ्चपञ्चमूलघृत—घी २प्रस्थ। पांचों पञ्चमूलों का क्वाथ ८प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। यथाविधि घी सिद्ध करें। मात्रा आधा तोला। यह घृत राजयक्ष्मा के स्वरभेद, शिरःशूल, पार्श्वशूल, अंसशूल कास, श्वास ज्वर; इन सातों उपद्रवों को नष्ट करता है।

इस ऊपर के योग में ये ही सात रोग पढ़े हैं अतः सप्तक से हम ने उन्हीं का ग्रहण किया है और ऊपर के योग में पञ्चपञ्चमूल द्वारा साधित दूध से मथ कर निकाले घी को भी उन्हीं सात रोगों को नष्ट करने वाला कहा है। अतः उन्हीं का ग्रहण यहां उचित है।

चक्रपाणि तो इस प्रकरण के प्रारम्भ में 'लिहान् कासापहान्' इत्यादि द्वारा कहे गये सात उपद्रवों का ग्रहण करता है। वहां ज्वर

न पढ़ कर हिक्का पढ़ी है । राजयक्ष्मा के लक्षणों में हिक्का यद्यपि नहीं पढ़ी गई परन्तु उपद्रव रूप में हो सकती है—यह समाधान किया है ।

अथवा 'हिक्का' यह लेखक के प्रमाद से लिखा गया हो—ऐसा हो सकता है । वहां ज्वर ही पढ़ा जाय तो अच्छा है । आचार्य ने इस रोग के प्रकरण में हिक्का के नाश का विधान नहीं किया । यहां पर इस सात रोगों के नाश के प्रकरण में योगों का गुण बताते हुए किसीका हिक्का का नाशक होना नहीं बताया । यद्यपि यह हो सकता है कि जो श्वासनाशक योग कहे हैं—वे हिक्कानाशक भी हों ॥९८॥

लेहाः

खर्जूरं पिप्पली द्राक्षा पथ्या शृङ्गी दुरालभा ।
त्रिफला पिप्पली मुस्तं शृङ्गाटगुडशर्कराः ॥ ९९ ॥
वीरा शटी पुष्कराख्यं सुरसः शर्करा गुडः ।
नागरं चित्रको लाजा पिप्पल्यामलकं गुडः ॥ १०० ॥
श्लोकार्धविहितानेतांल्लिह्यान्ना मधुसर्पिषा ।
कासश्वासापहान्स्वर्यान्पार्श्वशूलापहांस्तथा ॥ १०१ ॥

चार लेहयोग—१ पिण्डखजूर, पिप्पली, द्राक्षा (मुनक्का), हरड़, काकड़ासिंगी, दुरालभा ।

२—हरड़, बहेड़ा, आंवला, पिप्पली, मोथा, सिङ्घाड़ा, पुराना गुड़, खांड ।

३—वीरा (क्षीरकाकोली), कचूर, पुष्करमूल, तुलसी, खांड, पुराना गुड ।

४—सोंठ, चित्रक, लाजा, पिप्पली, आंवला, पुराना गुड़ ।

इन आधे श्लोकों में कहे गये चार योगों को पुरुष मधु और घी के साथ चाटे । ये कास, श्वास, स्वरभेद तथा पार्श्वशूल को नष्ट करते हैं ॥ ९९-१०१ ॥

सितोपलादिलेहः

सितोपलां तुगाक्षीरीं पिप्पलीं बहुलां त्वचम् ।
अन्त्यादूर्ध्वं द्विगुणितं लेहयेन्मधुसर्पिषा ॥ १०२ ॥
चूर्णितं प्राशयेद्वा तच्छ्वासकासकफातुरम् ।
सुप्तजिह्वारोचकिनमल्पाग्निं पार्श्वशूलिनम् ॥ १०३ ॥
हस्तपादाङ्गदाहेषु ज्वरे रक्ते तथोर्ध्वगे ।

सितोपलादिलेह—मिसरी १६ भाग, वंशलोचन ८ भाग, पिप्पली ४ भाग, इलायची २ भाग, दारचीनी १ भाग; इसप्रकार पीछे से पूर्व के द्रव्य को क्रमशः दुगुना लेकर चूर्ण को मधु और घी के साथ चटायें। अथवा चूर्ण को वैसे ही खिलावें। मात्रा—१ माशा । यह श्वास, कास, कफ को नष्ट करता है। जिसकी जिह्वा सुप्त हो अर्थात् जिस की जिह्वा को स्पर्श अथवा मधुर आदि रस का ज्ञान न होता हो तथा अरुचि मन्दाग्नि पार्श्वशूल से पीड़ित रोगी को इसका प्रयोग करावें। हाथ पैर वा शरीर के अन्य अङ्गों में दाह तथा उर्ध्वग रक्तपित्त में भी यह प्रयुक्त होता है ॥ १०२–१०३ ॥

वासासर्पिः शतावर्या सिद्धं वा परमं हितम् ॥ १०४ ॥

अथवा वासाघृत वा शतावरी के क्वाथ और कल्क से साधित घी अत्यन्त हितकर है। वासाघृत रक्तपित्त में कहा जा चुका है। शतावरी से सिद्ध घी से निर्देश रक्तपित्तोक्त शतमूल्यादिघृत की ओर भी हो सकता है ॥ १०४ ॥

गोक्षुरादिघृतम्

दुरालभां श्वदंष्ट्रां च चतस्रः पर्णिनीर्बलाम् ।
भागान्पलोन्मितान्कृत्वा पलं पर्पटकस्य च ॥ १०५ ॥

---

१ 'प्राशयेद्वैतच्छ्वासकासज्वरापहम्' ग. । 'चूर्णं वा प्राशयेदेतत् श्वास-कासक्षयापहम्' पा० । २ 'श्वदंष्ट्रां सदुरालभां' ग. ।

पचेद्दशगुणे तोये दशभागावशेषिते ।
रसे सुपूते द्रव्याणामेषां कल्कान्समावपेत् ॥ १०६ ॥
शट्याः पुष्करमूलस्य पिप्पलीत्रायमाणयोः ।
तामलक्याः किराततानां तिक्तस्य कुटजस्य च ॥ १०७ ॥
फलानां सारिवायाश्च सुपिष्टान्कर्षसंमितान् ।
ततस्तेन घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं पचेत्[1] ॥ १०८ ॥
ज्वरं दाहं भ्रमं कासमंसपार्श्वशिरोरुजम् ।
तृष्णां छर्दिमतीसारमेतत् सर्पिरपोहति ॥ १०६ ॥

इति गोक्षुरादिघृतम् ।

गोक्षुरादिघृत—क्वाथार्थ–गोखरू, दुरालभा, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, बलामूलत्वक्; प्रत्येक १ पल और पित्तपापड़ा भी १ पल; इन्हें एकत्र घी से दस गुने (२० प्रस्थ) जल में काढ़ें। जब दसवां भाग अर्थात् २ प्रस्थ शेष बच जाय तब वस्त्र से छान लें। कल्कार्थ–कचूर, पोहकरमूल, पिप्पली, त्रायमाणा, तामलकी (भुई आंवला), चिरायता, कुटज के फल अर्थात् इन्द्रजौ, सारिवा (अनन्तमूल); प्रत्येक १ कर्ष। गौ का घी २ प्रस्थ। दूध ४ प्रस्थ यथाविधि पाक करें। मात्रा–आधा तोला। यह घी, ज्वर, दाह, भ्रम, कास, असंपीड़ा पार्श्वशूल, शिरःशूल, तृष्णा, छर्दि (कै), अतीसार; इन्हें नष्ट करता है।

यद्यपि सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि क्वाथार्थ क्वाथ्यद्रव्यों से दस गुना जल लिया जाय और दशमांश अवशिष्ट रखा जाय—गंगाधर ने इसी प्रकार लेने को कहा भी है, इन्दु का भी यही अभिप्राय है—परन्तु यह क्वाथ अत्यन्त ही अल्प होता है, जिससे स्नेह का संस्कार ठीक नहीं हो सकता। जतूकर्ण का अभिप्राय घी से ही दसगुना क्वाथार्थ जल लेने का है ॥ १०५–१०६ ॥

१ 'साधयेत्तु घृतप्रस्थं क्षीरद्विगुणितं भिषक्' ग.।

जीवन्त्यादिघृतम्

जीवन्तीं मधुकं द्राक्षां फलानि कुटजस्य च ।
शटीं पुष्करमूलं च व्याघ्रीं गोक्षुरकं बलाम् ॥ ११० ॥
नीलोत्पलं तामलकीं त्रायमाणां दुरालभाम् ।
पिप्पलीं च समं पिष्ट्वा घृतं वैद्यो विपाचयेत् ॥ १११ ॥
एतद्व्याधिसमूहस्य रोगेशस्य समुत्थितम् ।
रूपमेकादशविधं सर्पिरग्र्यं व्यपोहति ॥ ११२ ॥

इति जीवन्त्यादिघृतम् ।

जीवन्त्यादिघृत—गौ का घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—जीवन्ती, मुलहठी, मुनक्का, इन्द्रजौ, कचूर, पोहकरमूल, छोटी कटेरी, गोखरू, खरैंटी की जड़ का छिलका, नीलोत्पल, तामलकी (भुंइ आंवला), त्रायमाणा, दुरालभा, पिप्पली; इन्हें समपरिमाण में मिलाकर १ शराव लें । यथाविधि घृतपाक करें । मात्रा—आधा तोला । यह श्रेष्ठ घृत रोग-समूह-रूप रोगराज के उत्पन्न हुए ग्यारह प्रकार के रूप को नष्ट करता है । इसमें सामान्य परिभाषा के अनुसार जल चौगुना लिया जाता है ।

यही योग अष्टाङ्गसंग्रह यक्ष्माचिकित्सा में भी पढ़ा है । टीकाकार इन्दु कहता है कि जल घी के समान लिया जाना चाहिये । परन्तु उसकी यह व्याख्या प्रमादपूर्ण ही प्रतीत होती है॥११०–११२॥

बलादिक्षीरम् ।

बलां स्थिरां पृश्निपर्णीं बृहतीं सनिदिग्धिकाम् ।
साधयित्वा रसे तस्मिन्पयो गव्यं सनागरम् ॥ ११३ ॥
द्राक्षाखर्जूरसर्पिर्भिः पिप्पल्या च शृतं सह ।
सक्षौद्रं ज्वरकासघ्नं स्वर्यं चैतत्प्रयोजयेत् ॥ ११४ ॥

बलादिक्षीर—बलामूलत्वक्, स्थिरा (शालपर्णी), पृश्निपर्णी, बृहती (बड़ी कटेरी), निदिग्धिका (छोटी कटेरी); इन्हें समपरिमाण में

लेकर आठ गुने जल में क्वाथ करें । जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहजाय तब छान लें । इस क्वाथ से चतुर्थांश गौ का दूध और दूध से अष्टमांश सोंठ, मुनक्का, पिण्डखजूर, गौ का घी, पिप्पली; इनका मिलित कल्क डाल कर पकावें । इस दूध में मधु मिला रोगी को मात्रा में प्रयोग करावें । यह ज्वर कास और स्वरभेद को नष्ट करता है । इस में कल्क द्रव्यों में सोंठ न डाल कर कई पीछे से प्रक्षेप करते हैं ॥

आजस्य पयसश्चैव प्रयोगो जाङ्गला रसाः ।
यूषार्थं चणका मुद्गा मकुष्ठाश्चोपकल्पिताः ॥ ११५ ॥

पथ्य—बकरी का दूध, जाङ्गलपशु-पक्षियों के मांसरस और यूषार्थ चने, मूंग, मोठ; इनका व्यवहार करना चाहिये ॥ ११५ ॥

ज्वराणां शमनीयो यः पूर्वमुक्तः क्रियाविधिः ।
यक्ष्मिणां ज्वरदाहेषु ससर्पिष्कः प्रशस्यते ॥ ११६ ॥

जो ज्वर की संशमन चिकित्सा पूर्व कही गई है, वही घृत मिश्रित करके यक्ष्मा के रोगी को ज्वर और दाह में प्रशस्त मानी गई है॥११६॥

कफप्रसेके बलवान् श्लैष्मिकश्छर्दयेन्नरः ।
पयसा फलयुक्तेन मधुरेण[1] रसेन वा ॥ ११७ ॥
सर्पिष्मत्या यवाग्वा वा वमनीयोपसिद्धया ।

कफप्रसेक की चिकित्सा—बलवान् श्लैष्मिक पुरुष को यदि कफप्रसेक हो तो वमन कराना चाहिये ।

मदनफलयुक्त मधुर दूध से अथवा मदनफलयुक्त मांसरस से अथवा वमनीयद्रव्यों से सिद्ध की गई घृतयुक्त यवागू द्वारा रोगी को कै करावें ॥ ११७ ॥

वान्तोऽन्नकाले लघ्वन्नमाददीत सदीपनम् ॥ ११८ ॥

वमन होने के पश्चात् आहारकाल में दीपन द्रव्यों से युक्त लघु अन्न खाने को दें ॥ ११८ ॥

---

१ 'मधुकेन' ग. ।

यवगोधूममाध्वीकशीध्वरिष्टसुरासवान् ।
जाङ्गलानि च शूल्यानि सेवमानः कफं जयेत् ॥ ११९ ॥

पथ्य—जौ, गेहूं, माध्वीक, शीधु, अरिष्ट, सुरा, आसव और जाङ्गल पशुपक्षियों के शूल्य मांस; इन्हें सेवन करते हुए कफ को जीते ॥११९

श्लेष्मणोऽतिप्रसेकेन वायुः श्लेष्माणमस्यति ।
कफप्रसेकं तं विद्वान्स्निग्धोष्णेनैव निर्जयेत् ॥ १२० ॥

फुप्फुसों में कफ के अत्यन्त निकलने से वायु उस कफ को बाहिर फैंकता है । उस कफप्रसेक को विद्वान् स्निग्ध और उष्ण चिकित्सा द्वारा जीते ॥ १२० ॥

क्रिया कफप्रसेके या वम्यां सैव प्रशस्यते ।
हृद्यानि चान्नपानानि वातघ्नानि लघूनि च ॥ १२१ ॥

छर्दिचिकित्सा—जो चिकित्सा कफप्रेसक की है वही कै में भी प्रशस्त मानी गई है । हृद्य (रुचिकर तथा हृदय के लिये हितकर) वातनाशक और लघु अन्नपान का सेवन पथ्य है ॥ १२१ ॥

प्रायेणोपहताग्नित्वात्सपिच्छमतिसार्यते ।
प्राप्नोत्यास्यस्य वैरस्यं न चान्नमभिनन्दति ॥ १२२ ॥

अतिसार आदि की चिकित्सा—अग्नि के मन्द होने के कारण प्रायः रोगी को पिच्छा (आंव) युक्त अतिसार होता है । उसके मुख का स्वाद भी बिगड़ जाता है और न अन्न खाने में ही रुचि होती है ॥

तस्याग्निदीपनान्योगानतीसारनिबर्हणान् ।
वक्त्रशुद्धिकरान्कुर्यादरुचिप्रतिबाधकान् ॥ १२३ ॥

उसे अग्निदीपक, अतीसारनाशक, मुख को शुद्ध करने वाले तथा अरुचि-नाशक योगों का प्रयोग कराना चाहिये ॥ १२३ ॥

सनागरानिन्द्रयवान्पिबेद्वा तण्डुलाम्बुना ।
सिद्धां यवागूं जीर्णे[2] च चाङ्गेरीतक्रदाडिमैः ॥ १२४ ॥

---

१ 'विद्यात्' पा० । २ 'जीर्णान्ते' ग. ।

सोंठ और इन्द्रजौ को एकत्र मिलाकर मात्रा में तण्डुलोदक (चावलों का धोवन) के साथ रोगी पीवे। जब यह औषध जीर्ण हो जाय तब चाङ्गेरी, छाछ और अनारदाने से यथाविधि साधित यवागू पीवे ॥ १२४ ॥

यवागूसाधन—परिभाषा सूत्रस्थान द्वितीय अध्याय के यवागू-प्रकरण की व्याख्या में कही जा चुकी है ॥ १२४ ॥

पाठां बिल्वं यमानीं च पातव्यं तक्रसंयुतम् ।
दुरालभां शृङ्गवेरं पाठां च सुरया सह ॥ १२५ ॥

पाढ़, बेलगिरी, अजवाइन; समपरिमाण में मिश्रित इस चूर्ण को छाछ के साथ पीना चाहिये। मात्रा—२ मासा।

दुरालभा, अदरक, पाढ़; इन्हें समपरिमाण में मिश्रित कर २ माशा मात्रा में सुरा के साथ रोगी पीवे ॥ १२५ ॥

जम्ब्वाम्रमध्यं बिल्वं च सकपित्थं सनागरम् ।
पेयामण्डेन[1] पातव्यमतीसारनिवृत्तये ॥ १२६ ॥

जम्ब्वादिचूर्ण—जामुन के बीज, आम की गुठली, बेलगिरी, कैथ, सोंठ; प्रत्येक सम। इस चूर्ण को अतीसार की निवृत्ति के लिये पेया (यवागू) के मण्ड के साथ पिलाना चाहिये ॥ १२६ ॥

एतानेव च योगांस्त्रीन्पाठादीन्कारयेत्खडान् ।
[2]सूप्यधान्यान्सस्नेहान्साम्लान्संग्रहणान्परान् ॥ १२७ ॥

इन उपर्युक्त पाढ़ आदि तीन योगों से खडयूष प्रस्तुत करके रोगी को देने चाहियें। ये खडयूष मसूर आदि सूप्य (दाल के उपयोगी) धान्य और घृत आदि स्नेह से युक्त तथा कपित्थ अनार चाङ्गेरी आदि से कुछ खट्टे किये होने चाहियें। ये अत्यन्त सांग्राहिक होते हैं—मल को बांधकर लाते हैं ॥ १२७ ॥

वेतसार्जुनजम्बूनां मृणालीकृष्णगन्धयोः ।

---

१ 'सुरामण्डेन' ग.। २ 'सचुकधान्यान्' ग.।

श्रीपर्ण्या मदयन्त्यांश्च यूथिकायाश्च पल्लवान् ॥ १२८ ॥
मातुलुङ्गस्य धातक्या दाडिमस्य च कारयेत् ।
स्नेहाम्ललवणोपेतान् खडान् सांग्राहिकान् परान् ॥ १२९ ॥

वेतस, अर्जुन, जामुन, मृणाली (लामज्जक, खवी), कृष्णगन्धा (सहिजन), श्रीपर्णी (गाम्भारी), मदयन्ती (नवमल्लिका), यूथिका (जूही), मातुलुङ्ग (बिजौरा), धातकी, अनार; इनके (पृथक् २) पत्तों से घृत आदि स्नेह, कपित्थ आदि अम्ल और लवण से युक्त अत्यन्त सांग्राहिक खडों को प्रस्तुत करके रोगी को दें। अथवा वेतस अर्जुन और जामुन; इन्हें षष्ठयन्त इकट्ठा पढ़ने से एक योग और मृणाली और कृष्णगन्धा के षष्ठयन्त इकट्ठा पढ़ने से एक योग समझा जा सकता है । शेष द्रव्यों के नाम यतः पृथक् पृथक् पढ़े हैं अतः उन्हें पृथक् पृथक् योग ही समझा जाना चाहिये ॥ १२८–१२९ ॥

चाङ्गेर्याश्चुक्रिकायाश्च दुग्धिकायाश्च कारयेत् ।
खडान्दधिसरोपेतान्ससर्पिष्कान्सदाडिमान् ॥ १३० ॥

चाङ्गेरी, चुक्रिका (इमली), दुग्धिका; इन से पृथक् २ दही का सर (ऊपर का स्निग्ध भाग, मलाई), घृत तथा अनारदाना वा अनार के रस से युक्त करके यथाविधि खड प्रस्तुत करने चाहियें॥ १३०॥

मांसानां लघुपाकानां रसाः सांग्राहिकैर्युताः ।
व्यञ्जनार्थं प्रशस्यन्ते भोज्यार्थं रक्तशालयः ॥ १३१ ॥

व्यञ्जन के लिये शीघ्र पच जाने वाले मांसों के रसों को सांग्राहिक (काबज़) द्रव्यों (बेलगिरी आदि) से युक्त करके प्रस्तुत करना चाहिये । खाने के लिये लाल शालि उत्तम हैं ॥ १३१ ॥

स्थिरादिपञ्चमूलेन पाने शस्तं शृतं जलम् ।
तक्रं सुरा सचुक्रीका दाडिमस्याथवा रसः ॥ १३२ ॥
दीपनं ग्राहि निर्दिष्टं भेषजं भिन्नवर्चसे ।

१ 'श्रीपर्णीमदयन्त्योश्च' ग.। २ 'इत्युक्तं भिन्नशकृतां दीपनं ग्राहि भेषजम् । वच्याम्यूर्ध्वं रुचिकरं मुखवैरस्यनाशनम्' ग.।

पीने के लिये--शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी और गोखरू; इस क्षुद्रपञ्चमूल से षडङ्गपानीयोक्त परिभाषा के अनुसार सिद्ध किया जल प्रशस्त है। अथवा छाछ, चुक्र (सिरका) युक्त सुरा वा अनार का रस हितकर है ।

ये अतिसार-पीड़ित यक्ष्मारोगी के लिये दीपन और ग्राही औषध कह दी है ॥ १३२ ॥

परं मुखस्य वैरस्यनाशनं रोचनं शृणु ॥ १३३ ॥
द्वौ कालौ दन्तपवनं भक्षयेन्मुखधावनम् ।
तद्वत्प्रक्षालयेदास्यं धारयेत्कवलग्रहान् ॥ १३४ ॥
पिबेद्धूमं ततो मृष्टमद्यादीपनपाचनम् ।
भेषजं पानमन्नं च हितमिष्टोपकल्पितम् ॥ १३५ ॥

अब मुख की विरसता को नष्ट करने वाली और रुचिकारक भेषज को सुनो—

दो काल में मुख को शुद्ध करने वाली दातौन करनी चाहिये। ये सूत्रस्थान के ५ अ० स्वस्थवृत्तप्रकरण में कही जा चुकी हैं। दो काल से प्रातः और भोजनोपरान्त काल अभिप्रेत है। चक्रपाणि सायं और प्रातः यह अर्थ करता है।

इसी प्रकार मुखशोधक कषायों से मुख धोवे और कवलधारण करे। तदनन्तर प्रयोगिक धूमपान करे। दीपक पाचक स्वच्छ औषध और मन को पसन्द हितकर और अच्छीप्रकार प्रस्तुत किये अन्नपान का सेवन करे ॥ १३३–१३५ ॥

त्वङ्मुस्तमेला धान्यानि मुस्तमामलकं त्वचम् ।
दार्वीं त्वचो यमानी च पिप्पल्यस्तेजवत्यपि ॥ १३६ ॥

---

१ 'धूममिति प्रायौगिकम्। ' कषायैः चालयेदास्यं धूमं प्रायौगिकं पिबेत्' इति वृद्धवाग्भटे उक्तत्वात्। २ ' तेजवती चविका ' चक्रः ।

यमानी तिन्तिडीकं च पञ्चैते मुखधावनाः ।
श्लोकपादेष्वभिहिता रोचना मुखशोधनाः ॥ १३७ ॥
गुलिकां धारयेदास्ये चूर्णैर्वा शोधयेन्मुखम् ।
एषामालोडितानां वा धारयेत्कवलग्रहान् ॥ १३८ ॥

मुखशोधक पांच योग—१ दारचीनी, मोथा, इलायची, धनियां। २ मोथा, आंवला, दालचीनी । ३ दारहल्दी, दारचीनी, अजवाइन । ४ पिप्पली, तेजवती (तेजबल) । ५ अजवाइन, तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल, विषांबिल) । ये श्लोक के पादों (चौथा भाग) में कहे गये मुख-शोधक योग हैं । इनके क्वाथों से मुख को धोना चाहिये । ये योग रुचिकर तथा मुख को साफ़ करते हैं । इनकी गुडिकायें बनाकर मुख में रख सकते हैं । अथवा इनके चूर्णों (दन्तमंजन) से मुख को शुद्ध कर सकते हैं । अथवा इन चूर्णों को जल आदि द्रव में आलोडित कर कवल-धारण करना चाहिये ॥ १३६—१३८ ॥

सुरामाध्वीकसीधूनां[1] तैलस्य मधुसर्पिषोः ।
कवलान्धारयेदिष्टान्क्षीरस्येक्षुरसस्य च ॥ १३९ ॥

कवलधारण—सुरा, माध्वीक (मद्यविशेष), शीधु (मद्यविशेष), तैल, मधु और घी (मिलित) , दूध, गन्ने का रस; इनमें से जो अभीष्ट हो—उसका रोगी कवल धारण करे ॥ १३९ ॥

यमानीषाडवम् ।

यमानीं तिन्तिडीकं च नागरं साम्लवेतसम् ।
दाडिमं बदरं चाम्लं कार्षिकं चोपकल्पयेत् ॥ १४० ॥
धान्यसौवर्चलाजाजीवराङ्गं चार्धकार्षिकम् ।
पिप्पलीनां शतं चैकं द्वे शते मरिचस्य च ॥ १४१ ॥
शर्करायाश्च चत्वारि पलान्येकत्र चूर्णयेत् ।

१ ' सुरामाध्वीकसीधूनि ' ग. ।

जिह्वाविशोधनं हृद्यं तच्चूर्णं भक्तरोचनम् ॥ १४२ ॥
हृत्प्लीहपार्श्वशूलघ्नं विबन्धानाहनाशनम् ।
कासश्वासहरं ग्राहि ग्रहण्यर्शोविकारनुत् ॥ १४३ ॥

इति यमानीषाडवम् ।

यमानीषाडव—अजवाइन, तिन्तिडीक (वृक्षाम्ल, विषांबिल अथवा इमली) सोंठ, अम्लवेतस, अनारदाना, खट्टे बेर (सूखे हुए); प्रत्येक १ कर्ष, धनियां, सौंचर नमक, जीरा, दालचीनी; प्रत्येक आधा कर्ष, पिप्पली १०० (संख्या में), कालीमिर्च २०० (संख्या से), खांड ४ पल (१६ कर्ष) । इन्हें चूर्णकर उपर्युक्त परिमाण में एकत्र मिश्रित करे । यह चूर्ण जिह्वा का विशोधक, हृद्य, भोजन में रुचि करने वाला है । हृदय, तिल्ली और पार्श्वशूल, विबन्ध, आनाह, कास, श्वास, ग्रहणी तथा अर्श (बवासीर) को नष्ट करता है । यह मल-संग्राहक है ॥ १४०-१४३ ॥

तालीसाद्यं चूर्णम् ।

तालीशपत्रं मरिचं नागरं पिप्पली शुभा ।
यथोत्तरं भागवृद्ध्या त्वगेले चार्धभागिके ॥ १४४ ॥
पिप्पल्यष्टगुणा चात्र प्रदेया सितशर्करा ।
कासश्वासारुचिहरं तच्चूर्णं दीपनं परम् ॥ १४५ ॥
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषशोषप्लीहज्वरापहम् ।
वम्यतीसारशूलघ्नमूर्ध्ववातानुलोमनम् ॥ १४६ ॥
कल्पयेद्गुटिकां चैवं चूर्णं पक्त्वा सितोपलैः ।
गुटिका ह्यग्निसंयोगाच्चूर्णाल्लघुतराः स्मृताः ॥ १४७ ॥

इति तालीसाद्यं चूर्णं गुटिकाश्च ।

तालीसाद्यचूर्ण—तालीसपत्र १ भाग, कालीमिर्च २ भाग, सोंठ ३ भाग, अच्छी पिप्पली ४ भाग, दारचीनी आधाभाग, छोटी इलायची आधाभाग,

---

१ '०घ्नं मूढवातानुलोमनम्' ग. । २ 'चैतच्चूर्णं पक्त्वा सितोपलाम्' ग.।

और पिप्पली से आठगुना अर्थात् ३२ भाग श्वेत खांड वा मिसरी। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक। यह चूर्ण कास, श्वास अरुचि को नष्ट करता है, अत्यन्त अग्नि दीपक है। हृद्रोग, पाण्डु, संग्रहणी, शोष (यक्ष्मा), तिल्ली, ज्वर, कै, अतीसार तथा शूल को नष्ट करता है। ऊर्ध्ववात का अनुलोमन करता है।

मिसरी की चाशनी करके इस चूर्ण को डालकर गुटिकायें भी बना सकते हैं। अग्नि से पकने के कारण गुटिकायें चूर्ण की अपेक्षा अधिक लघु होती है। चाशनी करने के लिये मिसरी को समजल में घोल कर पकाना चाहिये।

कई 'शुभा' से वंशलोचन का ग्रहण करते हैं। प्रायः आजकल व्यवहार भी इसीप्रकार है। यदि वंशलोचन डालना हो तो उसके ५ भाग लेने चाहियें। वंशलोचनयुक्त योग विशेषतः पैत्तिक कास श्वास आदि में हितकर है॥ १४४–१४७॥

शुष्यते क्षीणमांसाय कल्पितानि विधानवित्।
दद्यान्मांसादमांसानि बृंहणानि विशेषतः॥ १४८॥

राजयक्ष्मा में मांस का विधान जानने वाला वैद्य, शोष से सूखते हुए तथा जिसका मांस क्षीण हो गया है ऐसे रोगी को मांस खाने वाले प्राणियों के मांस को सम्यक्तया बनाकर प्रयोग करावे। मांस खाने वाले प्राणियों का मांस विशेषतः बृंहण वा पुष्टिकर होता है॥

शोषिणे बर्हिणं दद्याद्बर्हिशब्देन चापरान्।
गृध्रानुलूकांश्चाषांश्च विधिवत्सूपकल्पितान्॥ १४९॥

शोष (यक्ष्मा) के रोगी को मोर का मांस दे और गिद्ध, उल्लू, चाष पक्षी; इनके मांस को मोर का मांस कह कर रोगी को प्रयोग कराये। ये मांस विधिवत् प्रस्तुत किये जाने चाहियें।

यदि रोगी को गिद्ध आदि के मांस का प्रयोग कराते समय

१ 'गृध्रान् नकुलान् भासांश्च' ग.।

सच सच बता दिया जाय कि यह मांस गिद्ध आदि का है तो रोगी के मन में घृणा उत्पन्न हो जाने से उत्क्लेश होगा वा कै हो जायगी । अतः उनके मांसों को भी दूसरे प्राणी का नाम—जिससे रोगी को घृणा न हो—लेकर दे देना चाहिये ॥ १४९ ॥

काकांस्तित्तिरिशब्देन वर्मिशब्देन चोरगान् ।
भृष्टान्मत्स्यान्त्रशब्देन दद्याद्गण्डूपदानपि ॥ १५० ॥

कौओं को तीतर शब्द से, सांपों को वर्मि (मत्स्यविशेष, बं० वाइन माछ) शब्द से, भूने हुए गण्डूपदों (केंचुए, गिण्डोये) को मछली की आंत कहकर रोगी को प्रयोग करावे ॥ १५० ॥

लोपाकान्स्थूलनकुलान्बिडालांश्चोपकल्पितान् ।
शृगालशावांश्च भिषक् शशशब्देन दापयेत् ॥ १५१ ॥

लोमड़ी, बड़े नेवले बिल्ले का मांस तथा शृगाल (गीदड़, सियार) के बच्चों का मांस विधिवत् बनाकर शशक के नाम से रोगी को दे दे ॥

सिंहानृक्षांस्तरक्षूंश्च व्याघ्रानेवंविधांस्तथा ।
मांसादान् मृगशब्देन दद्यान्मांसाभिवृद्धये ॥ १५२ ॥

मांस की वृद्धि के लिये सिंह, भालू, तरक्षु (लगड़भगड़ वा तरक्ष), व्याघ्र (बघेरा) तथा इसीप्रकार के अन्य मांस खाने वाले पशुओं के मांस को मृग कह कर प्रयोग करा दें ॥ १५२ ॥

गजखड्गितुरङ्गाणां वेशवारीकृतं भिषक् ।
दद्यान्महिषशब्देन मांसं मांसाभिवृद्धये ॥ १५३ ॥

हाथी, गैंडा, घोड़ा; इनके मांसों का वेशवार करके (अच्छी प्रकार कुट्टित और उचित मसालों से तय्यार करके) भैंसे का मांस कहकर मांस की वृद्धि के लिये रोगी को दे ॥ १५३ ॥

मांसेनोपचिताङ्गानां मांसं मांसकरं परम् ।
तीक्ष्णोष्णलाघवाच्छस्तं विशेषान्मृगपक्षिणाम् ॥ १५४ ॥

---

१ 'संभृष्टान्मत्स्यशब्देन' ग. ।

मांस से उपचित (पुष्ट) शरीर वाले पशुपक्षियों का मांस विशेषतः मांस को बढ़ाता है। और वह तीक्ष्ण, उष्ण (गर्म) और लघु होने से प्रशस्त है ॥ १५४ ॥

मांसानि यान्यनभ्यासादनिष्टानि प्रयोजयेत् ।
तेषूपधा सुखं भोक्तुं तथा शक्यानि तानि हि ॥ १५५ ॥
जानञ्जुगुप्सन्नैवाद्याज्जग्धं वा पुनरुल्लिखेत् ।
तस्माच्छद्मोपसिद्धानि मांसान्येतानि दापयेत् ॥ १५६ ॥

जो मांस कभी खाये नहीं और अतएव यदि रोगी को प्रिय न हों तो उन्हें सुख से खिलाने के लिये गुप्त प्रयोग कराना पड़ता है। क्योंकि उनका सेवन उसीप्रकार हो सकता है। यदि रोगी जानता हो तो घृणावश या तो खायेगा ही नहीं या खाने के बाद उसे कै हो जायगी। अतः गुप्तरूप से सिद्ध किये हुए ये मांस देने चाहियें ॥ १५५–१५६ ॥

बर्हितित्तिरिदक्षाणां हंसानां शूकरोष्ट्रयोः ।
खरगोमहिषाणां च मांसं मांसकरं परम् ॥ १५७ ॥

मोर, तीतर, मुर्गा, हंस, शूकर (सूअर), ऊँट, गदहा, गौ, भैंसा; इनके मांस परम मांसकर हैं ॥ १५७ ॥

योनिरष्टविधा चोक्ता मांसानामन्नपानिके ।
तां परीक्ष्य भिषग्विद्वान्दद्यान्मांसानि शोषिणे ॥ १५८ ॥

सूत्रस्थान अ० २७ अन्नपानाध्याय में मांसों की आठप्रकार की योनि (प्राप्त होने के स्थान) कही है। विद्वान् वैद्य को चाहिये कि यक्ष्मा के रोगी को विवेचनापूर्वक उन मांसों का प्रयोग कराये ॥ १५८ ॥

प्रसहा भूशयानूपवारिजा वारिचारिणः ।
आहारार्थं प्रदातव्या मात्रया वातशोषिणे ॥ १५९ ॥

जिसे वातप्रधान यक्ष्मा हो उसे प्रसह भूशय आनूप जलज

---

१ 'तस्मात्सद्मोपसिद्धानि', ग. ।

और जलचर पशुपक्षियों के मांस मात्रा में आहार के लिये देने चाहियें । प्रसह आदि प्राणियों का परिगणन सूत्रस्थान २७ अ० में किया जा चुका है । उस अध्याय में प्रसह भूमिशय आनूप जलज वारिशय और जलचरों के गुण बताते हुए बल आदि को बढ़ाने के साथ २ इनका अत्यधिक वातहर भी गुण कहा है । इसके पश्चात् कहा जाचुका है कि इनमें से भी मांसभक्षी प्रसह जाति के प्राणियों का मांस शोष में विशेषतः हितकर है । प्रकरण वहीं देखें ॥ १५९ ॥

प्रतुदा विष्किराश्चैव धन्वजाश्च मृगद्विजाः ।
कफपित्तपरीतानां प्रयोज्याः शोषरोगिणाम् ॥ १६० ॥

प्रतुद विष्किर और धन्वज (जाङ्गल) पशुपक्षियों के मांस कफ पित से आक्रान्त यक्ष्मा के रोगियों को प्रयोग कराने चाहियें । इन योनियों में जिन जिन पशुपक्षियों का परिगणन है उनके नाम और गुण सूत्र स्थान २७ अध्याय में देखें ॥ १६० ॥

विधिवत्सूपसिद्धानि मनोज्ञानि मृदूनि च ।
रसवन्ति सुगन्धीनि मांसान्येतानि भक्षयेत् ॥ १६१ ॥

विधिपूर्वक सिद्ध किये हुए, मन को भाने वाले, मृदु, शुभ रस और शुभ गन्ध से युक्त इन मांसों को रोगी खावे ॥ १६१ ॥

मांसमेवाश्नतः शोषो माध्वीकं पिबतोऽपि च ।
नियतानल्पचित्तस्य[1] चिरं काये न तिष्ठति ॥ १६२ ॥

मांस ही का आहार करते हुए, माध्वीक (मद्यविशेष) को पीते हुए संयत एवं उदारचित्त रोगी के देह में शोष देर तक नहीं ठहर सकता ॥ १६२ ॥

वारुणीमण्डनित्यस्य बहिर्मार्जनसेविनः ।
अविधारितवेगस्य यक्ष्मा न लभतेऽन्तरम्[2] ॥ १६३ ॥

जो पुरुष नित्य वारुणी का मण्ड पीता है और बहिःपरिमार्जन

---

१ 'नियतस्याल्पचितस्य' ग. । २ 'लभते बलम्' ग. ।

का सेवन करता है, वेगों को धारण नहीं करता उसे यक्ष्मा आक्रान्त नहीं कर सकता । बहिःमार्जन अभी आगे कहा जायगा ॥१६३॥

प्रसन्नां वारुणीं शीधुमरिष्टानासवान्मधु ।
यथार्हमनुपानार्थं पिबेन्मांसानि भक्षयेत् ॥ १६४ ॥

प्रसन्ना, वारुणी, शीधु, अरिष्ट, आसव, मधु; इनमें से जो जिस रोगी के लिये योग्य हो वह रोगी उसे अनुपान के लिये पीवे और मांस खावे ॥ १६४ ॥

मद्यं तैक्ष्ण्यौष्ण्यवैशद्यसूक्ष्मत्वात्स्रोतसां मुखम् ।
प्रमथ्य विवृणोत्याशु तन्मोक्षात्सप्त धातवः ॥ १६५ ॥
पुष्यन्ति धातुपोषाच्च शीघ्रं शोषः प्रशाम्यति ।

यक्ष्मा में मद्यपान क्यों हितकर है—मद्य तीक्ष्ण उष्ण विशद और सूक्ष्म गुणयुक्त होता है और अतएव वह बलात् स्रोतों के मुख को खोल देती हैं उनके खुल जाने से रस आदि सातों धातुएं पुष्ट होती हैं और धातुओं के पुष्ट होने से यक्ष्मा शीघ्र शान्त हो जाता है ॥ १६५ ॥

मांसादमांसस्वरसे सिद्धं सर्पिः प्रयोजयेत् ॥ १६६ ॥
सक्षौद्रं पयसा सिद्धं सर्पिर्दशगुणेन वा ।

मांसभोजी पशुपक्षियों के मांसरस से साधित घी का यक्ष्मा में प्रयोग करायें । साधनार्थ घी से चतुर्गुण मांसरस लेना चाहिये ।

अथवा दसगुने गौ के दूध से घी को सिद्ध कर मधु मिला रोगी को प्रयोग करना चाहिये ॥ १६६ ॥

सिद्धं मधुरकैर्द्रव्यैर्दशमूलकषायिकैः ॥ १६७ ॥
क्षीरमांसरसोपेतैर्घृतं शोषहरं परम् ।

दशमूलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । दशमूलक्वाथ ८ प्रस्थ । दूध २ प्रस्थ । मांसरस ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—जीवनीयगण आदि मधुर द्रव्य मिलित १ शराव । यथाविधि घृत को सिद्ध करें । मात्रा—आधा

तोला। यह परम शोषनाशक है।

जो सब द्रव मिलित घी से चतुर्गुण लेते हैं, वे दशमूलक्काथ ३ प्रस्थ और मांसरस ३ प्रस्थ लेते हैं॥ १६७॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः॥ १६८॥
सयावशूकैः सक्षीरैः स्रोतसां शोधनं घृतम्।

पञ्चकोलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। दूध ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार; मिलित १ शराव। यथाविधि सिद्ध यह घृत स्रोतों का शोधन करता है। मात्रा—आधा तोला॥ १६८॥

रास्नाबलागोक्षुरकस्थिरावर्षाभुसाधितम्॥ १६९॥
जीवन्तीपिप्पलीगर्भं सक्षीरं शोषनुद्घृतम्।

रास्नादिघृत—घी २ प्रस्थ। रास्ना, बलामूल, गोखरू, शालपर्णी पुनर्नवा; इनका क्वाथ ८ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—जीवन्ती और पिप्पली; मिलित १ शराव। यह घृत शोष को नष्ट करता है। मात्रा $\frac{1}{4}$ तोले से $\frac{1}{2}$ तोले तक॥ १६९॥

यवाग्वा वा पिबेन्मात्रां लिह्याद्वा मधुना सह॥ १७०॥
सिद्धानां सर्पिषामेषामद्यादन्नेन वा सह।
शुष्यतामेष निर्दिष्टो विधिराभ्यवहारिकः॥ १७१॥

इन घृतों के सेवन की विधि—इन सब उक्त घृतों को यवागुओं के साथ मिलाकर रोगी पीवे। अथवा इनमें शहद मिलाकर चाटे। अथवा अन्न के साथ मिलाकर खावे।

यह शोष के रोगियों के लिये अन्नपानसम्बन्धी विधान कहा है॥ १७०–१७१॥

बहिःस्पर्शनमाश्रित्य वक्ष्यतेऽतः परं विधिः।
स्नेहक्षीराम्बुकोष्ठे तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत्॥ १७२॥
स्रोतोविबन्धमोक्षार्थं बलपुष्ट्यर्थमेव च।

अब बहिःस्पर्शन (बहिःमार्जन) सम्बन्धी विधि कही जायगी—

यक्ष्मा के रोगी को चन्दनाद्यतैल आदि की अच्छीप्रकार मालिश करके स्नेह (तैल आदि) दूध और जल (तीनों मिलाकर) से पूर्ण कोष्ठ (Tub) में बैठा कर स्रोतों के बन्ध को खोलने के लिये और बल एवं पुष्टि के लिये अवगाहन करावे ॥ १७२ ॥

उत्तीर्णं मिश्रकैः स्नेहैः पुनराक्तैः सुखैः करैः ॥ १७३ ॥
मृद्नीयात्सुखमासीनं सुखं चोत्सादयेन्नरम् ।

अवगाहन के पश्चात् जब कोष्ठक (Tub) के मिश्रक स्नेह से बाहिर आजाय तब हाथों पर घृत तैल आदि चुपड़ कर सुख से बैठे हुए रोगी के देह को धीमे धीमे मर्दन करे अर्थात् रोगी के देह पर धीमे धीमे मालिश करे । और सुख से उत्सादन (उबटन) करे ॥ १७३ ॥

जीवन्तीं शतवीर्यां च विकसां सपुनर्नवाम् ॥ १७४ ॥
अश्वगन्धामपामार्गं तर्कारीं मधुकं बलाम् ।
विदारीं सर्षपं कुष्ठं तण्डुलानतसीफलम् ॥ १७५ ॥
माषांस्तिलांश्च किण्वं[1] च सर्वमेकत्र चूर्णयेत् ।
यवचूर्णं त्रिगुणितं[2] दध्ना युक्तं समाक्षिकम् ॥ १७६॥
एतदुत्सादनं कार्यं पुष्टिवर्णबलप्रदम् ।

उत्सादनयोग—जीवन्ती, शतवीर्या (श्वेतदूर्वा अथवा शतावर), विकसा (मञ्जिष्ठा), पुनर्नवा, असगन्ध, अपामार्ग (चिरचिटा, ओंगा), तर्कारी (जयन्ती), मुलहठी, बला, विदारीकन्द, सरसों, कुठ, चावल, अलसी, उड़द, तिल, किण्व (सुराबीज); इन के चूर्णों को एकत्र समपरिमाण में मिश्रित करे । इस चूर्ण से तिगुना जौ का आटा डाले। इस उत्सादन चूर्ण को दही के साथ मिलाकर और थोड़ा शहद डाल

---

१ 'बिल्वं' पा० । २ 'द्विगुणितं' ग. ।

रोगी देह पर उबटन मलें। यह उबटन पुष्टि वर्ण और बल को देता है ॥ १७४—१७६ ॥

गौरसर्षपकल्केन गन्धैश्चापि सुगन्धिभिः ॥ १७७ ॥
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयौषधैः शृतैः ।

पश्चात् जीवनीयगण की औषधों से सिद्ध किये गये जलों से—जिस में श्वेत सरसों का कल्क और सुगन्ध वाले गन्धद्रव्य डाले हों—स्नान करे। ये जल ऋतु के अनुसार सुखकर होने चाहियें। किस ऋतु में कौनसा जल प्रयोग करना चाहिये यह ऋतुचर्या में आचुका है। ग्रीष्म में स्नानार्थ जल शीतल होना चाहिये और शीतकाल में उष्ण।

गङ्गाधर कहता है कि श्वेत सरसों के कल्क से साधित जलों से शीतकाल में, गन्धद्रव्यों से साधित जलों से उष्ण काल में और जीवनीय द्वारा साधित जलों से वर्षाकाल में रोगी स्नान करे ॥

कई टीकाकार श्वेत सरसों के कल्क और सुगन्ध द्रव्यों का रोगी के देह पर मर्दन वा उबटन करने का अभिप्राय बताते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ७ में यह पाठ है—

'गौरसर्षपकल्केन स्नानीयौषधिभिश्च सः ।
स्नायादृतुसुखैस्तोयैर्जीवनीयोपसाधितैः ॥' १७७ ॥

गन्धैः समाल्यैर्वासोभिर्भूषणैश्च विभूषितः ॥ १७८ ॥
स्पृश्यान्संस्पृश्य संपूज्य देवताः सभिषग्द्विजाः ।
इष्टवर्णरसस्पर्शगन्धवत्पानभोजनम् ॥१७९॥
इष्टमिष्टैरुपहितं हितमद्यात्सुखप्रदम् ।

गन्ध, पुष्पमालाओं, स्वच्छ वस्त्रों और भूषणों से विभूषित हुआ रोगी गौ सुवर्ण आदि मङ्गलकारक स्पृश्य द्रव्यों का स्पर्श करके देवताओं चिकित्सक और ब्राह्मणों की पूजा करके मन को अभीष्ट एवं वर्ण

१ '०रुपहृतं' पा०। २ 'सुखमश्नात्' पा०।

रस स्पर्श तथा गन्ध से युक्त सुस्वादु हितकर और सुख के देने वाले अन्नपान को अभीष्ट व्यञ्जनों के साथ खावे ॥ १७८-१७९ ॥

समातीतानि धान्यानि कल्पनीयानि शुष्यताम् ॥१८०॥
लघून्यहीनवीर्याणि स्वादूनि गन्धवन्ति च ।
यानि प्रहर्षकारीणि तानि पथ्यतमानि हि ॥ १८१ ॥

शोष के रोगी को एक वर्ष के पुराने धान्यों का प्रयोग कराना चाहिये । जो धान्य लघु वीर्य से पूर्ण सुस्वादु सुगन्धयुक्त और मन में हर्ष उत्पन्न करने वाले हों वे अत्यन्त पथ्य होते हैं १८०-१८१

यच्चोपदेक्ष्यते पथ्यं क्षतक्षीणचिकित्सिते ।
यक्ष्मिणस्तत्प्रयोक्तव्यं बलमांसाभिवृद्धये ॥ १८२ ॥

और जो क्षतक्षीणचिकित्सा में पथ्य कहा जायगा, वह भी बल मांस की वृद्धि के लिये यक्ष्मा के रोगी को प्रयोग कराना चाहिये १८२

अभ्यङ्गोत्सादनैः स्नानैरवगाहैर्विमार्जनैः ।
बस्तिभिः क्षीरसर्पिर्भिर्मांसैर्मांसरसौदनैः ॥ १८३ ॥
इष्टैर्मद्यैर्मनोज्ञानां गन्धानामुपसेवनैः ।
यथर्तुविहितैः स्नानैर्वासोभिरहतैः प्रियैः ॥ १८४ ॥
सुहृदां रमणीयानां प्रमदानां च दर्शनैः ।
गीतवादित्रशब्दैश्च प्रियश्रुतिभिरेव च ॥ १८५ ॥
हर्षणाश्वासनैर्नित्यं गुरूणां समुपासनैः ।
ब्रह्मचर्येण दानेन तपसा देवतार्चनैः ॥ १८६ ॥
सत्येनाचारयोगेन मङ्गलैरप्यहिंसया ।
वैद्यविप्रार्चनाच्चैव रोगराजो निवर्तते ॥ १८७ ॥

अभ्यङ्ग (तैल आदि की मालिश), उत्सादन (उबटन), स्नान, अवगाहन; इन विमार्जनों (बहिःमार्जन) से, बस्तियों से, क्षीरसर्पि (दूध से निकाला घी अथवा दूध और घी जो पूर्व कहे जा चुके हैं), मांस मांसरस और भात, मन को प्रिय मद्य तथा मन में आह्लाद उत्पन्न करने

---

१ 'लघून्यहीनवीर्याणि तानि पथ्यतमानि हि । यच्चोपेदक्ष्यते०' पा० ।

वाले गन्ध; इन के सेवन से, ऋतुचर्या में कहे गये ऋतु अनुसार स्नानों से, नवीन स्वच्छ एवं प्रिय वस्त्रों के परिधान से, मित्रों रमणीय दृश्यों और युवतियों के दर्शन से, सुनने में भले लगने वाले गाने बजाने के शब्दों से, मन में हर्ष उत्पन्न करने से तथा आश्वासन से, नित्य गुरुओं के पास बैठने से, ब्रह्मचर्य दान तप देवपूजा सत्य शुभाचार मङ्गलकार्य अहिंसा वैद्य एवं ब्राह्मण पूजा आदि शुभ कर्मों द्वारा रोगराज—यक्ष्मा निवृत्त होता है॥ १८३–१८७॥

यया प्रयुक्तया चेष्टया राजयक्ष्मा[1] पुरा जितः।
तां वेदविहितामिष्टिमारोग्यार्थी[2] प्रयोजयेत्॥ १८८॥

पुराकाल में जिस इष्टि (यज्ञ) के करने से राजयक्ष्मा जीता गया था उस वेदविहित इष्टि को आरोग्य का चाहने वाला करवावे॥ १८८॥

तत्र श्लोकौ।

प्रागुत्पत्तिनिमित्तानि प्राग्रूपं रूपसंग्रहः।
समासाद्व्यासतश्चोक्तं भेषजं राजयक्ष्मणः॥ १८९॥

उपसंहार—राजयक्ष्मा की संक्षेपतः, पुराकाल में उत्पत्ति हेतु पूर्वरूप और रूप तथा विस्तार से चिकित्सा कह दी है॥ १८९॥

नामहेतुरसाध्यत्वं साध्यत्वं कृच्छ्रसाध्यता।
इत्युक्तः संग्रहः कृत्स्नो राजयक्ष्मचिकित्सिते॥ १९०॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते राजयक्ष्मचिकित्सितं
नामाष्टमोऽध्यायः।

राजयक्ष्मा नाम पड़ने में हेतु, उसकी असाध्यता साध्यता वा कष्ट साध्यता; ये सब राजयक्ष्मचिकित्सा में संग्रह कर दिया है॥ १९०॥

इति राजयक्ष्मचिकित्सा।

---

१ 'राजयक्ष्मातुरो निरुक्' ग.। २ '०मारोग्यार्थं' ग.।

नवमोऽध्यायः ।

अथात उन्मादचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम उन्मादचिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

बुद्धिस्मृतिज्ञानतपोनिवासः पुनर्वसुः प्राणभृतां शरण्यः ।
उन्मादहेत्वाकृतिभेषजानि कालेऽग्निवेशाय शशंस पृष्टः ॥२॥

बुद्धि स्मृति ज्ञान और तप के आश्रय प्राणियों के लिये शरण्य भगवान् पुनर्वसु ने अग्निवेश द्वारा पूछा जाने पर यथाकाल उन्माद के हेतु लिङ्ग एवं चिकित्सा का उसे उपदेश किया ॥ २ ॥

विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम् ।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो[1] विषमाश्च चेष्टाः ॥३॥

उन्माद के सामान्य हेतु—वीर्य आदि में विरुद्ध दुष्ट और अपवित्र भोजन, देव गुरु एवं ब्राह्मणों का निरादर, अत्यन्त भय वा हर्ष से उत्पन्न मानसिक चोट, विषम चेष्टायें; ये उन्माद के हेतु हैं ॥ ३ ॥

तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टाः बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥४॥

सम्प्राप्ति—अल्पसत्त्व (जिनका मन दुर्बल हो अथवा जिसमें सत्त्व गुण की मात्रा अल्प हो) पुरुष के उन हेतुओं से दुष्ट हुए २ दोष बुद्धि के आश्रय-स्थान हृदय को दूषित कर मनोवह स्रोतों का आश्रय करके अर्थात् उन्हें आवृत कर चित्त को मोहयुक्त कर

---

१ 'मनोविघातो' ग. ।

देते हैं अर्थात् उन्माद उत्पन्न कर देते हैं ॥ ४ ॥

धीविभ्रमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥५॥

उन्माद के सामान्य लिङ्ग—बुद्धिविभ्रम, मनोविभ्रम अथवा मन का अत्यन्त चञ्चल होना (थोड़ी २ देर बाद मन का विषयान्तर में चलाजाना), दृष्टि का व्याकुल होना, अधीरता, असम्बद्ध बोलना, हृदय की शून्यता; यह उन्माद का सामान्य लिङ्ग है । चक्रपाणि इन्हें सामान्य पूर्वरूप कहता है ॥ ५ ॥

स मूढचेता न सुखं न दुःखं नाचारधर्मौ कुत एव शान्तिम् ।
विन्दत्यपास्तस्मृतिबुद्धिसंज्ञो भ्रमत्ययं चेत इतस्ततश्च ॥ ६ ॥

स्मृति बुद्धि एवं संज्ञा के नष्ट होने से वह मूढचेता पुरुष न सुख न दुःख न आचार न धर्म को पाता है । अतएव शान्ति उसे कहां ? उसका चित्त इतस्ततः भ्रान्त रहता है ॥ ६ ॥

समुद्भ्रमं बुद्धिमनःस्मृतीनामुन्मादमागन्तुनिजोत्थमाहुः ।
तस्योद्भवं पञ्चविधं पृथक् तु वक्ष्यामि लिङ्गानि चिकित्सितं च ॥

बुद्धि मन और स्मृति के विभ्रमस्वरूप उन्माद आगन्तु और निज(वात आदि) कारणों से उत्पन्न होता है । उन्माद का यह बुद्ध्यादिविभ्रमरूप स्वरूप निदानस्थान अ० ७ में कहा जा चुका है—

'उन्मादं पुनर्मनोबुद्धिसंज्ञाज्ञानस्मृतिभक्तिशीलचेष्टाचारविभ्रमं विद्यात् ॥'

उस उन्माद के पांच प्रकार के उद्भव को पृथक् पृथक् कहूंगा । उनके लिङ्ग और चिकित्सा भी पार्थक्येन कही जायगी । वात पित्त कफ सन्निपात; इस प्रकार निज चार और आगन्तु एक; ये पांच प्रकार का उद्भव है ॥ ७ ॥

रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।
चिन्तादिजुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिस्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥८॥

वातिकोन्माद के हेतु और सम्प्राप्ति—रूक्ष अल्प वा शीतल

भोजन, वमनविरेचन, धातुक्षीणता, उपवास; इन कारणों से अत्यन्त प्रवृद्ध वायु काम शोक चिन्ता आदि मानस भावों से आक्रान्त हृदय को दूषित करके शीघ्र ही बुद्धि और स्मृति का उपघातक होता है अर्थात् उन्माद को उत्पन्न करता है ॥ ८ ॥

अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥९॥

वातिकोन्माद का रूप--रोगी अस्थान में हंसता मुस्कराता नाचता गाता बोलता अङ्गों से चेष्टायें करता और रोता है। उनका देह परुष (कठोर) कृश एवं अरुणवर्ण का होता है। आहार के जीर्ण हो जाने पर उन्माद बलवान् होता है ॥९॥

अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम् ।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि श्रितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥१०॥

पैत्तिक उन्माद का हेतु और सम्प्राप्ति—अजीर्ण कटु अम्ल विदाही तथा उष्ण आहार से सञ्चित हुआ पित्त वेग करके अनात्मवान् दुष्टमना पुरुष के हृदय में आश्रित हो शीघ्र ही अत्यन्त उग्र उन्माद का पूर्ववत् (वातिकोन्माद में कही गयी सम्प्राप्ति द्वारा) कारण होता है ॥ १० ॥

अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनाभिद्रवणौष्ण्यरोषाः ।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषाः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम्॥

पैत्तिक उन्माद का रूप—असहिष्णुता, संरम्भ (आडम्बर करना), नंगा होना, सन्तर्जन (धमकाना), अभिद्रवण (शीघ्र गति से चलना वा दौड़ना), उष्णता, रोष (क्रोध) छाया शीतल अन्न और शीत जल की अभिलाषा होना, देह की प्रभा पीली होना; ये पित्तज उन्माद के लिङ्ग हैं ॥ ११ ॥

सम्पूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि संप्रवृद्धः ।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन्संजनयेद्विकारम् ॥१२॥

श्लैष्मिक उन्माद क हेतु और सम्प्राप्ति—अल्प चेष्टा करने वाले (जो श्रम नहीं करते ऐसे) पुरुष के भरपेट भोजन आदि द्वारा हृदय-मर्म में प्रवृद्ध हुआ २ ऊष्मा युक्त कफ बुद्धि और स्मृति को नष्ट करके चित्त को मोहयुक्त करता हुआ विकार को उत्पन्न करता है। ऊष्मा का अर्थ कई पित्त करते हैं। अर्थात् कफ पित्तयुक्त होकर ही उन्माद को उत्पन्न कर सकता है। जैसे मूर्च्छा रोग में। अन्य ऊष्मा का अभिप्राय शक्ति से है—ऐसा कहते हैं। अर्थात् उत्कृष्ट शक्तियुक्त कफ उक्त सम्प्राप्ति द्वारा उन्माद को उत्पन्न करता है। दूसरे कहते हैं कि सब पाञ्चभौतिक हैं अतएव गुरु शीत आदि गुण युक्त कफ भी अपने शीतविपरीत आरम्भक तेज के उद्रेक से ऊष्मा के साथ प्रवृद्ध होता है। उन्माद में शीतगुण से कफ की वृद्धि नहीं होती। अर्थात् उन्माद के उत्पन्न करने में कफ के शीतगुण की अधिकता नहीं होती यतः उस समय कफ के आरम्भक तेज की प्रबलता होती है ॥ १२ ॥

वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुक्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात् ॥

श्लैष्मिक उन्माद का रूप—कफज उन्माद में रोगी थोड़ा ही बोलता है और अल्प ही चेष्टायें करता है। अरुचि होती है। उसे स्त्रियां प्रिय होती हैं। एकान्त में रहना चाहता है। अत्यधिक निद्रा आती है। कै होती है। लार टपकती रहती है। भोजन करते ही उन्माद बलवान् होता है। रोगी के नख नेत्र आदि श्वेत वर्ण के होते हैं ॥ १३ ॥

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स तु हेतुभिः स्यात् ।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥१४॥

सन्निपातज उन्माद के हेतु लक्षण और असाध्यता—जो अत्यन्त घोर उन्माद त्रिदोष से उत्पन्न होता है वह उपर्युक्त समस्त

हेतुओं से होता है। उसमें सब रूप होते हैं। उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि वातोन्माद आदि तीनों एक-दोषज उन्मादों के जो हेतु पृथक् पृथक् कहे गये हैं वे सब ही एकत्र सन्निपातज उन्माद के हेतु होते हैं। जो उनके पृथक् २ रूप कहे हैं उन तीनों दोषों के रूप ही एकत्र सन्निपातज में दिखाई देते हैं यतः एक दोष की चिकित्सा दूसरे को बढ़ा देती है। अतः विरुद्धोपक्रम होने से असाध्य है। ॥ १४ ॥

देवर्षिगन्धर्वपिशाचयक्षरक्षःपितृणामभिधर्षणानि ।
आगन्तुहेतुर्नियमव्रतादि मिथ्याकृतं कर्म च पूर्वदेहे ॥१५॥

आगन्तु उन्माद के हेतु—देव ऋषि गन्धर्व पिशाच यक्ष रक्षोगण तथा पितरों की अवमानना, मिथ्याप्रकार से किये गये नियम व्रत आदि और पौर्वदेहिक कर्म आगन्तु उन्माद के हेतु हैं ॥ १५॥

अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥१६॥

भूतोत्थ उन्माद के रूप—जिस रोगी की वाणी पराक्रम शक्ति और चेष्टा अमानुषिक हो, जो ज्ञान विज्ञान बल आदि में भी अमानुष हो, उन्माद का काल नियत न हो कभी किसी काल में उन्माद हो और कभी किसी काल में उसे भूतज उन्माद कहना चाहिए। 'भूत' से देव आदि सब का ग्रहण है। पुरुष जिस भूत से आक्रान्त होता है उसमें वाणी बल ज्ञान स्मृति चेष्टा आदि तत्सदृश ही दिखाई देते हैं ॥ १६ ॥

अदूषयन्तः पुरुषस्य देहं देवादयः स्वैश्च गुणप्रभावैः ।
विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ ॥१७॥

जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब अथवा सूर्यकान्तमणि में आतप (धूप) अलक्षित भाव से प्रविष्ट होते हैं वैसे ही अदृश्य देव आदि पुरुष के देह को अधिक दूषित न करते हुए अपने अपने गुणों के प्रभाव से अलक्षित

भाव से शीघ्र आविष्ट होते हैं ॥ १७ ॥

आघातकालास्तु सपूर्वरूपाः प्रोक्ता निदानेऽथ सुरादिभिश्च।
उन्मादरूपाणि पृथङ्निबोध कालं च गम्यान्पुरुषांश्च तेषाम् ॥

भूतोन्माद के आघातकाल आदि—निदानस्थान में देव आदियों के आघातकाल और पूर्वरूप कहे जा चुके हैं। अब इनके पृथक् २ रूप काल (तिथि) तथा उन से गम्य पुरुष का वर्णन करते हैं, उन्हें समझो।

९९३ पृष्ठ पर पूर्वरूप और ९९४ पृष्ठ पर आघातकाल कहे जा चुके हैं। यहां पर पूर्व उन देवग्रह आदि से आक्रान्त पुरुषों के लक्षण कहे जायेंगे और पश्चात् ये देव आदि ग्रह किन पुरुषों में और किस २ काल में आविष्ट होते हैं यह बताया जायगा ॥१८॥

तद्यथा—सौम्यदृष्टिं गम्भीरमप्रधृष्यमकोपनमस्वप्नमभोजनाभिलाषिणमल्पस्वेदमूत्रपुरीषवातं शुभगन्धं फुल्लपद्मवदनमिति देवोन्मत्तं विद्यात् ॥ १६ ॥

देवोन्मत्त के लक्षण—जो उन्माद का रोगी सौम्यदृष्टि, गम्भीर, अधृष्य (जिसे पराभूत न किया जा सके), अक्रोधी, निद्राहीन, भोजन में जिसकी अधिक अभिलाषा न हो, जिसमें पसीना मूत्र पुरीष और वायु की मात्रा अल्प हो, देह से शुभ गन्ध आती हो, खिले कमल के समान प्रफुल्लवदन हो उसे देवोन्मत्त जानें। सुश्रुत उ० अ० ६० में देवग्रहाविष्ट के ये लक्षण कहे हैं—

'सन्तुष्टः शुचिरति दिव्यमाल्यगन्धो निस्तन्द्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥' १६ ॥

गुरुवृद्धसिद्धर्षीणामभिशापाभिचाराभिध्यानानुरूपाहारचेष्टाव्याहारं तैरुन्मत्तं विद्यात् ॥ २० ॥

गुर्वाद्युन्मत्त के लक्षण—जो गुरु, वृद्धपुरुष (ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध), सिद्ध पुरुष और ऋषियों के अभिशाप अभिचार वा

अभिध्यान (चिन्ता) से उन्मत्त होते हैं उनके आहार चेष्टा और वाणी आदि उस अभिशाप आदि के अनुरूप होते हैं। जैसा वे शाप देते हैं जिस प्रयोजन से अभिचारकर्म करते हैं या जैसी उसके लिये चिन्ता की होती है रोगी में वैसे ही लक्षण दीखते हैं ॥ २० ॥

अप्रसन्नदृष्टिमपश्यन्तं निद्रालुं प्रतिहतवाचमनन्नाभिलाषिणमरोचकाविपाकपरीतं पितृभिरुन्मत्तं विद्यात् ॥ २१॥

पितरों से उन्मत्त के लक्षण——जिसके नेत्रों से अप्रसन्नता टपके, जो किसी की ओर देखे नहीं, निद्रालु, जिसकी वाणी रुकती हो, आहार में अभिलाषा न हो, अरुचि और अपचन से आक्रान्त रोगी को पितरों द्वारा उन्मत्त जानें। सुश्रुत उत्तर० अ० ६० में अन्य ही लक्षण कहे हैं——

'प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्
　　शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः ।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
　　स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥ २१ ॥

चण्डं साहसिकं तीक्ष्णं गम्भीरमप्रधृष्यं मुखवाद्यनृत्यगीतान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तवस्त्रबलीकर्महास्यकथानुयोगप्रियं शुभगन्धं च गन्धर्वोन्मत्तं विद्यात् ॥ २२ ॥

गन्धर्वोन्मत्त के लक्षण——जो क्रूर वा उग्र साहसी तीक्ष्ण गम्भीर अधृष्य (जिसके बल को सहा न जासके) हो, जिसे मुखवाद्य (मुख से बजाना) तथा धूप गन्ध आदि प्यारे हों, लालवस्त्र बलिकर्म हास्य कथा अनुयोग (पृच्छा, पूछताछ) में जिसे अनुराग हो, जिसकी देह से शुभ गन्ध आती हो; उसे गन्धर्वोन्मत्त जानें। सुश्रुत उत्तर० अ० ६० में गन्धर्वोन्मत्त के निम्न लक्षण कहे हैं——

'हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
　　स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः ।

नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २२ ॥

असकृत्स्वप्नरोदनहास्यं नृत्यगीतवाद्यपाठकथान्नपानस्नानमाल्यधूपगन्धरतिं रक्तविप्लुताक्षं द्विजातिवैद्यपरिवादिनं रहस्यभाषिणमिति यक्षोन्मत्तं विद्यात् ॥ २३ ॥

यक्षोन्मत्त के लक्षण––जो रोगी बारम्बार सोये, बारम्बार रोये वा हंसे, जिसे नृत्य गीत बाजा पढ़ना कथा अन्नपान स्नान मालाधारण धूप गन्ध आदि में रुचि हो, जिसकी आंखें लाल और अश्रुपूर्ण हों, जो ब्राह्मण और वैद्यों की निन्दा करे––बुराभला कहे, जो गोपनीय बात को कहने वाला हो उसे यक्षोन्मत्त जानें । सुश्रुत उ० अ० ६० में तो—

'ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक्सहिष्णुः ।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥' २३ ॥

नष्टनिद्रमन्नपानद्वेषिणमनाहारमप्रतिबलं शस्त्रशोणितमांसरक्तमाल्याभिलाषिणं सन्तर्जकं च राक्षसोन्मत्तं विद्यात् ॥२४॥

राक्षसोन्मत्त के लक्षण—जिस की निद्रा नष्ट होगई हो, अन्नपान में अभिलाषा न हो, जो आहार न खाये, अतुल बलशाली, शस्त्र रुधिर मांस और लाल पुष्पों की माला का अभिलाषी, दूसरों की तर्जना करने वाला राक्षसोन्मत्त होता है । सुश्रुत उ० अ० ६० में निम्न लक्षण कहे हैं—मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सुर्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः । क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥२४॥

प्रहासानृतवादिनं देवविप्रवैद्यद्वेषावज्ञाभिः स्तुतिवेदमन्त्रशास्त्रोदाहरणैः काष्ठादिभिरात्मपीडनेन च ब्रह्मराक्षसोन्मत्तं विद्यात् ॥ २५ ॥

ब्रह्मराक्षसोन्मत्त के लक्षण—हंसी मखौल की बात कहने वाले झूठ बोलने वाले देवता ब्राह्मण वैद्य से द्वेष रखने वाले एवं उनका तिरस्कार करने वाले स्तुति वेदमन्त्र एवं शास्त्रों के वाक्यों को पढ़ने वाले, लकड़ी दण्ड आदि से अपने को मारने वाले उन्मादी को ब्रह्मराक्षसोन्मत्त जाने ॥ २५ ॥

अस्वस्थचित्तं[1] स्थानमलभमानं नृत्यगीतहासिनं बद्धाबद्धप्रलापिनं सङ्कटकूटमलिनरथ्याचेलतृणाश्मकाष्ठाधिरोहणरतिं संभिन्नरूक्षवर्णस्वरं नग्नं विधावन्तं नैकत्र तिष्ठन्तं दुःखान्यावेदयन्तं नष्टस्मृतिं च पिशाचोन्मत्तं विद्यात् ॥ २६ ॥

पिशाचोन्मत्त के लक्षण—पिशाचोन्मत्त पुरुष अस्वस्थचित्त वाला, स्थान को न पाने वाला (जिसे कोई बैठने की जगह ही पसन्द न आवे), नृत्य गान और हंसने के शील वाला, सम्बद्ध एवं असम्बद्ध भाषण करने वाला, सङ्कटस्थान (भीड़ वाली जगह वा जहां बहुत सी वस्तुएं इकट्ठी पड़ी हो) कूट (ऊंची जगह, पर्वत की चोटी आदि अथवा गृह अथवा ढेर) मलिन सड़कों वस्त्र तृणराशि पत्थर लकड़ी आदि पर चढ़ने की चाह वाला होता है। उसका वर्ण और स्वर भिन्न तथा रूक्ष होता है। अर्थात् वर्ण रूखा सा और एकसा नहीं होता और स्वर भी टूटे पात्र के सदृश और रूखा होता है। यह नग्न, दौड़ते रहने वाला, एक जगह न टिकने वाला, अपने दुःखों को प्रत्येक से कहने वाला, स्मृतिरहित होता है। सुश्रुत उ० ६० अध्याय में—

'उद्ध्वस्तः कृशपरुषोऽचिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथातिलोलः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥

[1] 'अस्वस्थचित्तमनाभिमानं' ग० ।

सुश्रुत और चरक के आठ ग्रहों के परिगणन में केवल दो में भेद है। चरक में जहां गुर्वाद्युन्मत्त और ब्रह्मराक्षसोन्मत्त कहे हैं सुश्रुत में वहां नागोन्मत्त और असुरोन्मत्त (देवशत्रून्मत्त) कहे हैं। ग्रह यद्यपि असंख्य हैं परन्तु आचार्यों ने जो रोगी बहुधा मिलते थे उन्हीं का विशेष वर्णन किया है ॥ २६ ॥

तत्र शौचाचारं[1] तपःस्वाध्यायकोविदं नरं प्रायः शुक्लप्रतिपदि त्रयोदश्यां च देवाः, स्नानशुचिविविक्तसेविनं धर्मशास्त्रश्रुतिकाव्यकुशलं प्रायः षष्ठीनवम्यो ऋषयः, मातृपितृगुरुवृद्ध-[2]सिद्धाचार्योपसेविनं प्रायो दशम्याममावस्यायां च पितरः, गन्धर्वास्तु स्तुतिगीतवादित्ररतिं परदारगन्धमाल्यप्रियं शौचाचारं[3] द्वादश्यां चतुर्दश्यां च, सत्त्वबलरूपगर्वशौर्ययुक्तं माल्यानुलेपनहास्यप्रियमतिवाक्करणं[4] प्रायः शुक्लैकादश्यां सप्तम्यां च यक्षाः, स्वाध्यायतपोनियमोपवासव्रतचर्यादेवयतिगुरुपूजारतिं नष्टशौचं ब्रह्मवादिनं शूरमानिनं देवतागारसलिलक्रीडनरतिं प्रायः शुक्लपञ्चम्यां पूर्णचन्द्रदर्शने च ब्रह्मराक्षसाः, रक्षःपिशाचास्तु हीनसत्त्वपिशुनस्त्रैणलुब्धं प्रायो द्वितीयातृतीयाष्टमीषु पुरुषं छिद्रमवेक्ष्याभिधर्षयन्ति; इत्यपरिसंख्येयानां ग्रहाणामाविष्कृततमा ह्यष्टावेते व्याख्याताः ॥ २७ ॥

भूतों के आवेशकाल और गम्य पुरुष——देवग्रह छिद्र पाकर पवित्र आचार वाले तप और स्वाध्याय के पण्डित पुरुष में प्रायः शुक्लप्रतिपदा और त्रयोदशी में आविष्ट होते हैं।

ऋषिग्रह छिद्र पाकर स्नानपरायण शुद्धाचारसेवी एकान्त में रहने वाले धर्मशास्त्र (स्मृति) श्रुति एवं काव्य में कुशल व्यक्ति को प्रायः षष्ठी और नवमी तिथि में आक्रान्त करते हैं।

पितृग्रह छिद्र पाकर माता पिता गुरु वृद्ध एवं आचार्य का

---

१ 'शौचाचारतपः०' ग०। २ 'देवमातृपितृ०' ग०। ३ 'चौचाचारं' ग०। ४ '०मतिवाक् प्रबलं' ग.।

सत्सङ्ग करने वाले व्यक्ति को प्रायः दशमी और अमावस में आक्रान्त करते हैं।

गन्धर्वग्रह छिद्र पाकर स्तुति गाना बाजा बजाना—इनमें शौक रखने वाले, परस्त्री इत्र फुलेल आदि गन्ध तथा पुष्पमालायें जिन्हें प्यारी हैं एवं शुद्धाचार व्यक्तिमें प्रायः द्वादशी और चतुर्दशीमें आविष्ट होते हैं।

यक्षग्रह छिद्र पाकर सत्त्व बल रूप गर्व एवं शूरता युक्त, माला-धारण चन्दन आदि का अनुलेपन तथा हास्य के प्रिय अति बोलने वाले पुरुष को प्रायः शुक्ला एकादशी और सप्तमी तिथि में आक्रान्त करते हैं।

ब्रह्मराक्षस छिद्र पाकर स्वाध्याय तप नियम उपवास व्रताचरण देवपूजा यतिपूजा तथा गुरुपूजा में रत पवित्राचाररहित ब्रह्मवादी अपने को शूर समझने वाले देवालय और जलक्रीडा के प्रिय पुरुष में प्रायः शुक्ल पञ्चमी और पूर्णमासी तिथि को आविष्ट होते हैं।

रक्षोगण और पिशाचग्रह हीनसत्त्व पिशुन (चुगलखोर) स्त्रैण और लोभी पुरुष को छिद्र देखकर प्रायः द्वितीया तृतीया वा अष्टमी तिथियों में पराभूत करते हैं॥

इस प्रकार यह असंख्य ग्रहों में से अत्यन्त आविष्कृत (अत्यधिक पाये जाने वाले) आठ ग्रहों की व्याख्या कर दी है। सुश्रुत सू० अ० ६० में ग्रहों का काल इसप्रकार कहा है—

'देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ॥
कृष्णपक्षे च पितरः पञ्चम्यामपि चोरगाः।
रक्षांसि निशि पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति च॥' २७॥

सर्वेष्वपि तु खल्वेतेषु यो हस्तावुद्यम्य रोषसंरम्भान्निःसंज्ञ-मन्येष्वात्मनि वा पातयेत् स ह्यसाध्यो ज्ञेयः, तथा यः साश्रु-

---

१ 'संरम्भान्निशङ्क०'।

नेत्रो मेढ्रप्रवृत्तरक्तः क्षताजिह्वः प्रस्रुतनासिकश्छिद्यमानमर्मा प्रतिहन्यमानवाणिः[1] सततं विकूजन् दुर्वर्णस्तृषार्तः पूतिगन्धिश्च हिंसार्थमुन्मत्तो[2] ज्ञेयस्तं परिवर्जयेत् ॥ २८ ॥

असाध्य उन्मादरोगी—इन सब में से जो उन्माद का रोगी हाथ उठाकर क्रोध से भरा हुआ संज्ञारहित होकर दूसरों को वा अपने को मारता है उसे असाध्य जानें ।

तथा च जिसके नेत्र अश्रुपूर्ण हों, मूत्रेन्द्रिय से रक्त आता हो, जिह्वा पर दांत से क्षत हो, नाक से जल बहता हो, मर्म (हृदय) में छेदनवत् व्यथा हो, जो वाणी से स्पष्ट न बोल सकता हो—रुकावट होती हो, निरन्तर अव्यक्त बोलता हो, विकृत अशुभवर्ण वाला, प्यास से अत्यन्त पीडित, जिससे दुर्गन्ध आती हो और जो हिंसा के लिये उद्यत हो उस उन्मत्त को असाध्य जाने । सुश्रुत उ० अ० ६० में निम्न असाध्य लक्षण कहे हैं—

'स्थूलाक्षस्त्वरितगतिः स्वफेनलेही
निद्रालुः पतति च कम्पते च योऽति ।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः सन्
संसृष्टो न भवति वार्द्धकेन जुष्टः ॥' २८ ॥

रत्यर्चनकामोन्मादिनौ तु भिषगभिचाराभिशापाभ्यां बुद्ध्वा तदङ्गोपहारबलिमिश्रेण मन्त्रभैषज्यविधिनोपक्रमेत् ॥२९॥

भूत वा ग्रहगण रतिकामना से जिस पर आक्रमण करते हैं एवं अर्चना (पूजा) की इच्छा से जिस पर आक्रमण करते हैं इन दोनों प्रकार के उन्मादियों को अभिचार से वा अभिशाप से उन्मत्त हुआ जानकर कामना वा पूजा के पूर्त्यर्थ उन २ वस्तुओं को उपहार रूप में वा बलिरूप में देने के साथ २ मन्त्र और औषध प्रयोग द्वारा उनकी चिकित्सा करे ।

---

१ '०मर्मप्रतिहन्यमानपाणिः' च० । २ 'हिंसार्थी स उन्मत्तो' ग०

उन्मादकर भूतों के तीन प्रयोजन हैं हिंसा रति और अभ्यर्चना; ये निदानस्थान में कहा जा चुका है। हिंसार्थ उन्मत्त असाध्य होते हैं। शेष दोनों साध्य हैं। उनकी चिकित्सा में उन २ भूतों के प्रयोजन की पूर्ति आवश्यक होती है। और इसके साथ ही मन्त्र और औषधों का प्रयोग भी कराना होता है ॥ २९ ॥

तत्र द्वयोरपि निजागन्तुनिमित्तयोरुन्मादयोः समासविस्ताराभ्यां भेषजविधिं व्याख्यास्यामः ॥ ३० ॥

अब निज और आगन्तु कारणों से उत्पन्न होने वाले उन्मादों में संक्षेप और विस्तार से औषधविधान कहा जायगा—॥ ३० ॥

उन्मादे वातजे पूर्वं स्नेहपानं विशेषवित् ।
कुर्यादावृतमार्गे तु सस्नेहं मृदु शोधनम् ॥ ३१ ॥

वातज उन्माद की चिकित्सा——विशेषज्ञ वैद्य वातज उन्माद में पूर्व स्नेहपान करवावे। परन्तु यदि कफपित्त द्वारा मार्ग आवृत होने से वायु रुका हो तो अल्प स्नेहयुक्त मृदु शोधन (वमन वा विरेचन) करवाना उचित है ॥ ३१ ॥

कफपित्तभवेऽप्यादौ वमनं सविरेचनम् ।
स्निग्धस्विन्नस्य कर्तव्यं शुद्धे संसर्जनक्रमः ॥ ३२ ॥

पित्तज वा कफज उन्माद की चिकित्सा——कफ पित्तज उन्मादों में स्नेहन और स्वेदन के पश्चात् आदि में रोगी को वमन वा विरेचन करवाना चाहिये। यदि पैत्तिक उन्माद हो तो विरेचन यदि श्लैष्मिक हो तो वमन करवावें। जब सम्यक्तया शोधन हो जाय तब रोगी को पेया आदि संसर्जनक्रम का पालन करना चाहिये॥ ३२ ॥

निरूहान् स्नेहबस्तींश्च शिरसश्च विरेचनम् ।
ततः कुर्याद्यथादोषं तेषां भूयस्त्वमाचरेत् ॥ ३३ ॥

संसर्जनक्रम के अनुपालन से सबल हुए रोगी को तदनन्तर दोष के अनुसार निरूह स्नेहबस्ति (अनुवासन) वा शिरोविरेचन

करवावे । इन वमन विरेचन और निरूह आदि को दोष की मात्रा के अनुसार बारंबार कराना चाहिये ॥ ३३ ॥

हृदिन्द्रियशिरःकोष्ठे संशुद्धे वमनादिभिः ।
मनःप्रसादमाप्नोति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति ॥ ३४ ॥

वमन आदि द्वारा हृदय इन्द्रिय शिर और कोष्ठ के शुद्ध होजाने पर रोगी का मन प्रसन्न या निर्मल हो जाता है और वह स्मृति और संज्ञा को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

शुद्धस्याचारविभ्रंशे तीक्ष्णं नावनमञ्जनम् ।
ताडनं च मनोबुद्धिदेहसंवेजनं हितम् ॥ ३५ ॥

आचारभ्रंश में वमन आदि द्वारा शुद्ध पुरुष को तीक्ष्ण नस्य देना, तीक्ष्ण अञ्जन कराना, ताडना तथा मन बुद्धि एवं देह को उद्विग्न वा दुःखी करना हितकर है अथवा यदि शोधन के पश्चात् भी उन्माद नष्ट न हो तो तीक्ष्णनस्य आदि दे ॥ ३५ ॥

यः शक्तो विनये पट्टैः संयम्य सुदृढैः सुखैः ।
अपेतलोष्टकाष्ठाद्ये संरोध्यश्च तमोगृहे ॥ ३६ ॥

जो विनय में समर्थ है—आचारविभ्रष्ट नहीं उसे सुदृढ सुखकर वस्त्रपट्टों से बांधकर ढेले लकड़ी पत्थर आदि से रहित अन्धेरी कोठरी में बन्द कर देना चाहिये ॥ ३६ ॥

तर्जनं त्रासनं दानं सान्त्वनं हर्षणं भयम् ।
विस्मयो विस्मृतेर्हेतोर्नयन्ति प्रकृतिं मनः ॥ ३७ ॥

मन को प्रकृति में लाने के उपाय——तर्जन (धमकाना), त्रास उत्पन्न कराना, दान, सान्त्वना, हर्षण (मन में हर्ष उत्पन्न करना), भय और विस्मय; ये मन को विस्मृति के हेतु उन्माद से प्रकृति (स्वभाव) की ओर ले आते हैं अर्थात् उन्माद को नष्ट करते हैं । अथवा उन्माद के हेतु को भुला देने वाले होने से मन को स्वस्थावस्था में ले आते हैं ॥ ३७ ॥

---

१ '०देहसंतर्जनं' पा० । २ 'विनयेत् पट्टैः' च० ।

प्रदेहोत्सादनाभ्यङ्गधूमाः पानं च सर्पिषः ।
प्रयोक्तव्यं मनोबुद्धिस्मृतिसंज्ञाप्रबोधनम् ॥ ३८ ॥

मन बुद्धि स्मृति और संज्ञा को जगाने वाले प्रदेह उबटन अभ्यङ्ग धूमपान और घृतपान का प्रयोग करना चाहिये ॥ ३८ ॥

सर्पिःपानादिरागन्तोर्मन्त्रादिश्चेष्यते विधिः ।

आगन्तु उन्माद की चिकित्सा—आगन्तु उन्माद में घृतपान आदि और मन्त्र आदि के विधान अभीष्ट हैं । अभिप्राय यह है कि इसमें युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय दोनों चिकित्सायें होती हैं । युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा निजोन्माद की चिकित्सा में कह दी है ।

अतः सिद्धतमान्योगाञ्छृणून्मादविनाशनान् ॥ ३९ ॥

हिङ्ग्वाद्यं घृतम्

हिङ्गुसौवर्चलव्योषैर्द्विपलांशैर्घृताढकम् ।
चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम् ॥ ४० ॥

अब उन्माद के नाशक सिद्धतम योगों को सुनो—

हिङ्ग्वाद्यघृत—गौ का घी २ आढक (८ प्रस्थ) । गोमूत्र चौगुना अर्थात् ८ आढक (३२ प्रस्थ) । कल्कार्थ—हींग, सौंचर नमक, काली मिर्च, सोंठ, पिप्पली; प्रत्येक २ पल । यथाविधि घृतपाक करें । यह घृत उन्माद को नष्ट करता है । मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥ ३९-४० ॥

कल्याणकं घृतम्

विशाला त्रिफला कौन्ती देवदार्वेलवालुकम् ।
स्थिरा[1] नतं रजन्यौ[2] द्वे सारिवे द्वे प्रियङ्गुकम् ॥ ४१ ॥
नीलोत्पलैलामञ्जिष्ठादन्तीदाडिमकेशरम् ।
तालीशपत्रं बृहती मालत्याः कुसुमं नवम् ॥ ४२ ॥
विडङ्गं पृश्निपर्णी च कुष्ठं चन्दनपद्मकौ ।

१ 'स्थिराऽनन्ता' पा० । २ 'हरिद्रे' पा० ।

अष्टाविंशतिभिः कल्कैरेतैः कर्षसमैर्भिषक् ॥ ४३ ॥
चतुर्गुणे जले सम्यक् घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
अपस्मारे ज्वरे कासे श्वासे मन्देऽनले क्षये ॥ ४४ ॥
वातरक्ते प्रतिश्याये तृतीयकचतुर्थके ।
छर्द्यर्शोमूत्रकृच्छ्रेषु विसर्पोपहतेषु च ॥ ४५ ॥
कण्डूपाण्ड्वामयोन्मादविषमेहगदेषु च ।
भूतोपहतचित्तानां गद्गदानामरेतसाम् ॥ ४६ ॥
शस्तं स्त्रीणां च वन्ध्यानां धन्यमायुर्बलप्रदम् ।
अलक्ष्मीपापरक्षोघ्नं सर्वग्रहविनाशनम् ॥ ४७ ॥
कल्याणकमिदं सर्पिः श्रेष्ठं पुंसवनेषु च ।

इति कल्याणकं घृतम् ।

कल्याणक घृत—गौ का घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—विशाला (इन्द्रायण), हरड़, बहेड़ा, आंवला, कौन्ती (रेणुका), देवदारु, एलवालुक, स्थिरा (शालपर्णी), तगर, हल्दी, दारुहल्दी, अनन्तमूल, श्यामालता, प्रियंगु, नीलोत्पल, छोटी इलायची, मंजीठ, दन्तीमूल, अनारदाना, नागकेसर, तालीशपत्र, बृहती (बड़ी कटेरी, भटकटैया), मालती के ताजे फूल, वायविडङ्ग, पृश्निपर्णी (पिठवन), कुष्ठ, लालचन्दन, पद्माख; ये प्रत्येक १ कर्ष । जल—८ प्रस्थ । यथाविधि वैद्य पाक करवावे । मात्रा—आधा तोला । यह घृत अपस्मार, ज्वर, कास श्वास, प्रतिश्याय, तृतीयकज्वर, चतुर्थकज्वर, कै, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, विसर्प, कण्डू, पाण्डुरोग, उन्माद, विषरोग तथा प्रमेहरोगों में हितकर है । यह जिनका मन भूतों से आक्रान्त है (आगन्तु उन्माद) उनके लिये, गद्गद बोलने वाले, क्षीणवीर्य तथा वन्ध्या स्त्रियों के लिए प्रशस्त है । यह धन्य है, आयु और बल को देने वाला है । यह अलक्ष्मी पाप और

---

१ 'कल्कैः कर्षसमैरेतैर्विंशत्यष्टाभिरेव च' पा० । अष्टाविंशतिरित्येतैः कल्कैः कर्षसमन्वितैः ग० ।

रक्षोगण एवं सब ग्रहों को नष्ट करता है। यह कल्याणक-घृत पुंसवन कर्म के लिये भी श्रेष्ठ है। इसे तन्त्रान्तरों में पानीय-कल्याणक नाम से कहा है॥ ४१–४७॥

महाकल्याणकं घृतम्

एभ्य एव स्थिरादीनि जले पक्त्वैकविंशतिम् ॥ ४८॥
रसे तस्मिन्पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरे चतुर्गुणे ।
वीरा[1]द्विमाषकाकोलीस्वयंगुप्तर्षभार्द्धिभिः ॥४९॥
मेदया च समैः कल्कैस्तत्स्यात्कल्याणकं महत् ।
बृंहणीयं विशेषेण सान्निपातहरं परम् ॥५०॥

इति महाकल्याणकं घृतम् ।

महाकल्याण घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—पूर्वघृतोक्त शालपर्णी आदि २१ द्रव्य अर्थात् शालपर्णी, तगर, हल्दी, दारुहल्दी, अनन्तमूल, श्यामालता, प्रियङ्गु, नीलोत्पल, छोटी इलायची, मंजीठ, दन्तीमूल, अनारदाना, नागकेसर, तालीसपत्र, बड़ी कटेरी, मालती के फूल, वायविडङ्ग, पृश्निपर्णी, कुष्ठ, लाल चन्दन, पद्माख; प्रत्येक को समपरिमाण में मिलाकर ४ प्रस्थ, जल ३२ प्रस्थ, अवशिष्ट क्वाथ ८ प्रस्थ। प्रथमवार प्रसूत गौ का दूध ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—वीरा (क्षीरकाकोली) दोनों माष (माष, राजमाष अथवा कृष्ण उड़द और हरे उड़द), काकोली, स्वयंगुप्ता (कौंच), ऋषभक, ऋद्धि, मेदा; प्रत्येक समपरिमाण में मिलाकर घी से चतुर्थांश अर्थात् १ शराव (८ पल)। यथाविधि पाक करें। यह महाकल्याण घृत कहाता है। मात्रा—आधा तोला। यह गुणों में पूर्वघृत के समान है और विशेषतः उत्कृष्ट बृंहण करने वाला और सान्निपात का नाशक है। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ६ में इस प्रकार पढ़ा है—

---

[1] 'वीरा पृश्निपर्णी,द्विमाषाविह सजातीयत्वान्माषपर्णी मुद्गपर्णी चेति' गङ्गाधरः।

'एभ्यो द्विशारिवादीनि जले पक्त्वैकात्रिंशतिम् ।
जले तस्मिन् पचेत्सर्पिर्गृष्टिक्षीरचतुर्गुणम् ॥
वीराद्विमेदाकाकोलीकपिकच्छूत्रिषाणिभिः ।
सूर्प्यपर्णीयुतैरेतन्महाकल्याणकं परम् ॥
बृंहणं सन्निपातघ्नं पूर्वस्मादधिकं गुणैः ॥

यहां कल्कद्रव्य सात कहे हैं जोकि इसप्रकार हैं—क्षीरकाकोली, मेदा, महामेदा, काकोली, कौंच, ऋषभक, सूर्प्यपर्णी (मुद्गपर्णी) यहां पर सूर्प्यपर्णी पाठ होने के कारण प्रकृत ग्रन्थ में 'द्विमाष' से कई एक माषपर्णी और मुद्गपर्णी का ग्रहण करते हैं। दोनों के पाठ में इतना भेद है कि प्रकृतग्रन्थ में ऋद्धि है और यहां महामेदा। वहां 'द्विमाष' है और यहां एक सूर्प्यपर्णी। चिकित्साकलिका के भूतविद्याप्रकरण में—

'कौन्तीदारुमृगादनीविरहितैः कल्याणकोक्तौषधै-
रित्येभिस्त्रिफलैलवालुवियुतैः क्वाथीकृतैरत्र च ।
निःक्वाथे मधुरौषधैश्च विपचेत् सर्पिः सदुग्धं पृथु
स्यात् कल्याणकमेतदेव हि रुजः कल्याणकोक्ता जयेत् ॥'

यहां कल्कद्रव्यों में मधुर औषध मात्र ही लिखा है। जिस से टीकाकार चन्द्रट उसी ग्रन्थ में कहे गये काकोल्यादिगण का ग्रहण करता है॥ ४९-५० ॥

महापैशाचिकघृतम्

जटिलां पूतनां केशीं चारटीं मर्कटीं वचाम् ।
त्रायमाणां जयां वीरां चोरकं कटुरोहिणीम् ॥ ५१ ॥

---

१ कौन्ती रेणुका, दारु देवदारु, मृगादनी इन्द्रवारुणी।
२ 'पूतना गन्धमांसी' इन्दुः। ३ 'केशी केशिनी शंखपुष्पीति लोके' गङ्गाधरः। 'केशी शतावरी' इन्दुः। ४ 'चारटी कुम्भारुः (पद्मचारिणी) ब्रह्मयष्टिकेत्यन्ये' चक्रः। ५ 'जया अग्निमन्थः अपराजिता च' इन्दुः। ६ वीरा पृश्निपर्णीति केचित्। 'वीरा काकोली' इन्दुः। ७ 'चोरकः स्थलजचोरपुष्पी' गङ्गाधरः। 'चोरकश्च-

कायस्थां[1] शूकरीं छत्रा[2]मतिच्छत्रां[3] पलङ्कषाम्[4] ।
महापुरुषदन्तां[5] च वयःस्थां[6] नाकुलीद्वयम् ॥ ५२ ॥
कटम्भरां वृश्चिकालीं[7] स्थिरां चाहृत्य तैर्घृतम् ।
सिद्धं चातुर्थकोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ ५३ ॥
महापैशाचिकं नाम घृतमेतद्यथामृतम् ।
बुद्धिस्मृतिकरं चैव बालानां चाङ्गवर्धनम् ॥ ५४ ॥

इति महापैशाचिकं घृतम् ।

महापैशाचिकघृत—घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—जटामांसी, हरड़, भूतकेशी, ब्राह्मी, कौंच के बीज, वच, त्रायमाण, जयन्ती, क्षीरकाकोली, चोरपुष्पी, कटुकी, छोटी इलायची, वाराहीकन्द, सौंफ, सोये, गुग्गुलु, विष्णुक्रान्ता, गिलोय, रास्ना, गन्धरास्ना, मालकंगनी, वृश्चिकाली (बिछाटी), शालपर्णी; मिलित १ शराव । पाकार्थ जल ८ प्रस्थ । यथाविधि पाक करें । यह घृत चातुर्थक ज्वर, उन्माद, ग्रह, अपस्मार को नष्ट करता है । यह घृत अमृत के सदृश लाभकर है । बुद्धि स्मृति और बालकों के देह की वृद्धि करता है। मात्रा आधा तोला ।

इस घृत में उक्त कई द्रव्यों के नाम द्व्यर्थक हैं । अतएव द्रव्यों के ग्रहण में टीकाकारों में मतभेद हैं । उक्त द्रव्यनामों से किन का ग्रहण हो सकता है इस विषय में कुछ एक प्राचीन टीकाकारों का निर्णय निम्न श्लोकों में प्रकट किया है—

जटिला शतपुष्पी स्यान्मांसीभेदेऽपि चेष्यते ।
पूतना अभया, केशी मांसी भूकेश एव च ॥

एडालकः ब्राह्मी गुडूची वा चक्रः । 'चोरकः शठी चण्डा च' इन्दुः ।
१ कायस्थामलकी' गङ्गाधरः। 'कायस्था हरीतकी सुरसश्च' इन्दुः। २ 'छत्रा कुतुम्बकम् धान्यकमिति च' इन्दुः । ३ 'अतिच्छत्रा गौतमाख्या शतपुष्पेति च' इन्दुः । ४ पलङ्कषा गोक्षुरकः' गङ्गाधरः । ' पलङ्कषा लाक्षा ' इन्दुः । ५ ' महापुरुषदन्ता महामेदा शतावरीति च' इन्दुः । ६ ' वयःस्था हरीतकीभेदः ' गङ्गाधरः। आमलकमितीन्दुः । ७ 'वृश्चिकाली चक्रा उष्ट्रधूमक इति च' इन्दुः ।

चारटी ब्रह्मिका ज्ञेया, मर्कटी शूकशिम्बिका ।
वीरा तु पृश्निपर्णी स्याच्चण्डा स्यादिह चोरकः ॥
कायस्था सिन्धुवारस्तु सूदमैला वाथ सूकरी ।
वाराहीकन्दकाभावाच्चर्मकारालुकग्रहः ।
छत्राजाजी, त्वतिच्छत्रा शतपुष्पा, परे त्विमे ।
द्रोणपुष्पीद्वयं प्राहुः, पलङ्कषा तु गुग्गुलुः ॥
महापुरुषदन्ता च विष्णुक्रान्ताऽथवा वरी ।
वयःस्था त्वमृता ज्ञेया, नाकुलीद्वयमत्र तु ॥
सर्पगन्धाद्वयं प्राहू रास्नाद्वयमथापि वा ।
कटम्भरा तु कटभी प्रसारण्यथवामृता ॥
व्यक्तमन्यच्च सकलं महापैशाचिके घृते ॥' ५१–५४ ॥

लशुनाद्यं घृतम्

लशुनानां शतं त्रिंशदभया त्र्यूषणात्पलम् ।
गवां चर्ममसीप्रस्थमाढकं क्षीरमूत्रयोः ॥ ५५ ॥
पुराणसर्पिषः प्रस्थमेभिः सिद्धं प्रयोजयेत् ।
हिङ्गुचूर्णपलं शीते दत्त्वा च मधुमाणिकाम् ॥ ५६ ॥
तद्दोषागन्तुसम्भूतानुन्मादान्विषमज्वरान् ।
अपस्मारांश्च हन्त्याशु पानाभ्यञ्जननावनैः ॥ ५७ ॥

इति लशुनाद्यं घृतम् ।

लशुनाद्य घृत—दस वर्ष का पुराना घी २ प्रस्थ । निस्तुष(छीला हुआ) लहसन १००, गुठली रहित हरड़ ३०, त्रिकटु (मिलित) १ पल, गोचर्ममसी (दग्ध गो चर्म) १ प्रस्थ । गौ का दूध १ आढक (४ प्रस्थ) । गोमूत्र १ आढक । यथाविधि घृतपाक करें । पश्चात् घी को पृथक् कर विशुद्ध हींग का चूर्ण १ पल और शीतल होने पर मधु १ मानिका (८ पल) मिलावें । मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक । यह घृत पान अभ्यङ्ग वा नस्य द्वारा निज और आगन्तु

उन्मादों विषमज्वरों और अपस्मारों को नष्ट करता है।

इस घृत के अत्यन्त तीक्ष्णवीर्य होजाने से चक्रपाणि आदि १०० लहसन न लेकर लहसन को छीलने से निकलने वाली मींगी या तुरियां १०० संख्या में लेने को कहता है। 'मधुमानिका' से गङ्गाधर और चक्रपाणि दोनों द्विगुण करके ३२ पल मधु डालने को कहते हैं। क्योंकि मानिका २ कुडव के बराबर होती है और

'सर्पिःखण्डजलक्षौद्रतैलक्षीरासवादिषु ।
अष्टौ पलानि कुडवो नारिकेले च शस्यते ।'

इस परिभाषा के अनुसार मधु के प्रमाण में एक कुडव से ८ पल का ग्रहण होता है। इसप्रकार २ कुडव अर्थात् मानिका १६ पल के बराबर हुई। द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा के अनुसार मधु की मात्रा ३२ पल हुई। परन्तु हम तो जहां 'कुडव' शब्द से कहा जाय वहां ही कुडव से घृत आदि का परिमाण ८ पल लेना ठीक समझते हैं। अतः सामान्यतः कुडव ४ पल का होता है। दो कुडव की एक मानिका होने से वह ८ पल के बराबर होती है। तथा च इस योग में—

'कुडवे मानिकायां च तुलामाने तथैव च ।
पलोल्लेखागते माने न द्वैगुण्यमिहेष्यते ॥'

इस परिभाषा के अनुसार 'मानिका' का द्विगुण नहीं किया जायगा। इस परिभाषा से यह भी तात्पर्य निकलता है कि सामान्यतः 'कुडव' शब्द से निर्दिष्ट परिमाण का द्विगुण नहीं किया जाता। परन्तु यदि घृत खांड आदि में 'कुडव' शब्द से मान का निर्देश हो तो पूर्व परिभाषा इस परिभाषा की बाधक होगी। वहां ४ पल के स्थल पर ८ पल अर्थात् द्विगुण मान लिया जायगा।

अष्टाङ्गसंग्रह के टीकाकार इन्दु ने भी 'मानिका' से यहां ८ पल प्रमाण ही ग्रहण किया है॥ ५५–५७॥

द्वितीयं लशुनाद्यं घृतम्

लशुनस्याविनष्टस्य तुलार्धं निस्तुषीकृतम् ।
तदर्धं दशमूल्यास्तु व्याढकेऽपां विपाचयेत् ॥ ५८ ॥
पादशेषे घृतप्रस्थं लशुनस्य रसं तथा ।
कोलमूलकवृक्षाम्लमातुलुङ्गार्द्रकै रसैः ॥ ५९ ॥
दाडिमाम्लसुरामस्तुकाञ्जिकाम्लैस्तदर्धिकैः ।
साधयेत्त्रिफलादारुलवणव्योषदीप्यकैः ॥ ६० ॥
यमानीचव्यहिङ्ग्वम्लवेतसैश्च पलार्धिकैः ।
सिद्धमेतत्पिबेच्छूलगुल्मार्शो जठरापहम् ॥ ६१ ॥
ब्रध्नपाण्ड्वामयप्लीहयोनिदोषज्वरकृमीन् ।
वातश्लेष्मामयान्सर्वानुन्मादं चापकर्षति ॥ ६२ ॥

इति द्वितीयं लशुनाद्यं घृतम् ।

लशुनाद्य घृत (दूसरा)--घी २ प्रस्थ (३२ पल)। जो सड़े गले न हों ऐसे उत्तम निस्तुष लहसन आधीतुला (५० पल), दशमूल (बिल्व, श्योनाक, अग्निमन्थ, गाम्भारी, पाटला, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, शालपर्णी, पृश्निपर्णी) मिलित २५ पल, क्वाथार्थ जल ४ आढक, अवशिष्ट क्वाथ १ आढक (६४ पल)। लहसन का रस २ प्रस्थ। बदरक्वाथ १ प्रस्थ। मूली का रस १ प्रस्थ। वृक्षाम्ल (विषांबिल) का रस वा क्वाथ १ प्रस्थ। बिजौरे का रस १ प्रस्थ। अदरक का रस १ प्रस्थ। खट्टे अनार का रस १ प्रस्थ। सुरा १ प्रस्थ। दही का पानी १ प्रस्थ। खट्टी कांजी १ प्रस्थ। कल्कार्थ—हरड़, बहेड़ा, आंवला, देवदारु, सेन्धानमक, कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, दीप्यक (अजवाइन भेद), यमानी (अजवाइन), चव्य, हींग, अम्लवेतस; प्रत्येक आधा पल। यथाविधि घृतपाक करें। इस सिद्ध हुए घृत को पीने से शूल, गुल्म, अर्श, उदररोग, ब्रध्न, पाण्डुरोग, तिल्ली, योनिदोष, ज्वर, कृमि तथा सब वातकफज रोग और उन्माद नष्ट

होते हैं । मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ॥ ५८-६२ ॥

हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च सकायस्थावयःस्थया ।
सिद्धं सर्पिर्हितं तद्वद्वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ॥ ६३ ॥

अन्य घृतयोग—हींग से साधित अथवा हिङ्गुपर्णी (हिंगुपत्री), कायस्था (छोटी इलायची), वयःस्था (ब्राह्मी); इन से साधित और इसीप्रकार वयःस्था (ब्राह्मी) हींग और चोरक; इन से सिद्ध घी उन्माद में हितकर है ।

चक्रपाणि ने हिङ्गुना हिङ्गुपर्ण्या च' से एक योग; 'सकायस्थावयःस्थया' से द्वितीय योग और 'वयःस्थाहिङ्गुचोरकैः' से तृतीय योग माना है । गङ्गाधर ने 'तद्वत्' के स्थल 'वा स्यात्' यह पाठ पढ़ा है और वह दो योग स्वीकार करता है । हींग से वयःस्था-पर्यन्त द्रव्यों से एक और वयःस्था से चोरक पर्यन्त द्रव्यों से द्वितीय ॥

केवलं सिद्धमेभिर्वा पुराणं पाययेद् घृतम् ।
पाययित्वोत्तमां मात्रां श्वभ्रे रुन्ध्याद् गृहेऽपि वा ॥६४॥

अथवा केवल पुरातन घृत या उपर्युक्त हिंगु आदि द्रव्यों से सिद्ध किया हुआ पुरातन घृत उन्माद के रोगी को पिलाना चाहिए । इस घी की उत्तममात्रा (Maximum dose) पिला कर गडहे में अथवा कोठरी में रोगी को बन्द करदे ॥ ६४ ॥

(विशेषतः पुराणं च घृतं तं पाययेद्भिषक् ।
त्रिदोषघ्नं पवित्रत्वाद्विशेषाद्ग्रहमोक्षणम् ॥ ६५ ॥
गुणकर्माधिकं स्थानादास्वादात्कटुतिक्तकम् ।

उन्माद के रोगी को वैद्य पुरातन घृत पिलावे । पुरातनघृत त्रिदोषनाशक है और पवित्र होने से विशेषतः ग्रहों से मुक्त करता है । देर तक पड़ा रहने से गुणकर्मों में दूसरे घृत से श्रेष्ठ है । स्वाद में कटुतिक्त होता है ॥ ६५ ॥

उग्रगन्धं पुराणं स्याद्दशवर्षस्थितं घृतम् ॥ ६६ ॥

लाक्षारसनिभं शीतं प्रपुराणमतः परम् ।
मेध्यं विरेचनेष्वग्र्यं तद्धि सर्वग्रहापहम् ॥ ६७ ॥

दस वर्ष के रखे हुए घी में से उग्रगन्ध आती है । यह पुराण घृत (पुराना घी) कहा जाता है । इससे भी अधिक काल तक यदि रखा जाय तो वह लाक्षारस के सदृश शीतल होता है यह प्रपुराणघृत (अत्यन्त पुराना घी) कहाता है । यह मेधा के लिए हितकर, श्रेष्ठ विरेचनकारक होता है । यह सब ग्रहों को नष्ट करता है ॥ ६६—६७ ॥

नासाध्यं नाम तस्यास्ति यत्स्याद्वर्षशतस्थितम् ।
दृष्टं स्पृष्टमथाघ्रातं तद्धि सर्वग्रहापम् ।
अपस्मारग्रहोन्मादवतां शस्तं विशेषतः ॥ ६८ ॥

१०० वर्ष के रखे हुए घी (प्रपुराणघृत) के लिए कुछ भी असाध्य नहीं वह देखने छूने वा सूंघने से ही सब ग्रहों को नष्ट करता है । यह अपस्मार और भूतोन्माद में विशेषतः प्रशस्त है ।

' पुराणं च ' से लेकर ' कटुतिक्तकम् ' तक का पाठ कई एक हस्तलिखित प्रतियों में नहीं मिलता तथा ' उग्रगन्धं ' आदि से ' शस्तं ' विशेषतः तक का पाठ भी कई अनार्ष मानते हैं ॥ ६८ ॥

एतानौषधवर्गान् वा विधेयत्वमगच्छति ।
अञ्जनोत्सादनालेपनावनादिषु योजयेत्[1] ॥ ६९ ॥

यदि इन औषधवर्गों का पान द्वारा प्रयोग न होसके अथवा कार्य सिद्ध न होसके तो उन्हीं का अञ्जन उबटन लेप तथा नस्य आदियों द्वारा प्रयोग करावे ॥ ६९ ॥

शिरीषो मधुकं हिङ्गु लशुनं तगरं वचा ।

---

१ ' एतैरौषधवर्गैर्वा विधेयत्वं स गच्छति । अञ्जनोत्सादनालेपान्नावनादींश्च योजयेत् ' चक्रः ॥

कुष्ठं च बस्तमूत्रेण पिष्टं स्यान्नावनाञ्जनम् ॥ ७० ॥

इति नस्याञ्जनम् ।

शिरीष (सिरस के बीज), मुलहठी, हींग, लहसन, तगर, वचा, कुष्ठ; इन्हें एकत्र समपरिमाण में मिलाकर छागमूत्र से अच्छी प्रकार पीसें। जब अत्यन्त श्लक्ष्ण हो जाय तब उन्माद में इस का नस्य वा अञ्जन द्वारा प्रयोग करायें ॥ ७० ॥

तद्वद्व्योषं हरिद्रे द्वे मञ्जिष्ठाहिङ्गुसर्षपाः ।
शिरीषबीजं चोन्मादग्रहापस्मारनाशनम् ॥ ७१ ॥

इति नस्यमञ्जनम् ।

कालीमिर्च, पिप्पली, सोंठ, हल्दी, दारुहल्दी, मञ्जिष्ठा, हींग, सरसों, शिरीष (सिरस) के बीज; इन के अतिश्लक्ष्ण चूर्णों को समपरिमाण में एकत्र मिलावें। यह पूर्वयोग के सदृश नस्य और अञ्जन द्वारा उन्माद ग्रह अपस्मार को नष्ट करता है ॥ ७१ ॥

अपामार्गाद्यञ्जनम्

पिष्ट्वा तुल्यमपामार्गहिङ्ग्वा[1]लं हिङ्गुपत्रिकाम् ।
वर्तिः स्यान्मारिचार्धांशा पित्ताभ्यां गोशृगालयोः ॥७२॥
तयाऽञ्जयेदपस्मारभूतोन्मादज्वरार्दितान् ।
भूतार्तानमरार्तांश्च नरां[2]श्चैव दृगामये ॥ ७३ ॥

अपामार्गादिवर्ति—अपामार्ग (चिरचिटा, पुठकण्डा) के बीज, हींग, हरिताल, हिङ्गुपत्री; प्रत्येक १ भाग, कालीमिर्च आधा भाग; इन्हें एकत्र गोपित्त और गीदड़ के पित्त से पीस कर वर्ति बनायें। इस वर्ति को घिस कर अपस्मार भूतोन्माद और भूतज्वर के रोगियों को तथा भूतपीडित देवग्रहपीडित और मनुष्यों को एवं नेत्ररोगों में आंजे।

---

१ '०मार्गहिङ्गुनी' ग. । २ 'नरार्तांश्चैव गोमये' पा० ।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'हिङ्ग्वालं' के स्थल पर 'हिङ्गुलं' पाठ है । यह प्रमाद से लिखा गया प्रतीत होता है ॥ ७२-७३ ॥

मरिचं चातपे मासं सपित्तं स्थितमञ्जनम् ।
वैकृतं पश्यतः कार्यं दोषभूतहतस्मृतेः ॥ ७४ ॥

इत्यञ्जनम् ।

कालीमिर्च के चूर्ण को पित्त के साथ पीस कर धूप में रखें । सूखने पर अगले दिन प्रातः नवीन पित्त डाल कर पीसें और धूप में रखें । मास भर इस प्रकार धूप में रख कर दोषज (वात आदि से उत्पन्न) और भूतज उन्माद में—जब रोगी वैकृत रूप देखता हो— नेत्रों में आंजें । इस रोग में पूर्वोक्त योग का साहचर्य होने से पित्त द्वारा गोपित्त और शृगालपित्त का ग्रहण होगा ॥ ७४ ॥

सिद्धार्थकादिरगदः

सिद्धार्थको वचा हिङ्गु करञ्जो देवदारु च ।
माञ्जिष्ठा त्रिफला श्वेता कटभीत्वक् कटुत्रिकम् ॥ ७५ ॥
समांशानि प्रियङ्गुश्च शिरीषो रजनीद्वयम् ।
बस्तमूत्रेण पिष्टोऽयमगदः पानमञ्जनम् ॥ ७६ ॥
नस्यमालेपनं चैव स्नानमुद्वर्तनं तथा ।
अपस्मारविषोन्मादकृत्यालक्ष्मीज्वरापहः ॥ ७७ ॥
भूतेभ्यश्च भयं हन्ति राजद्वारे च शस्यते ।
सर्पिरेतेन सिद्धं वा सगोमूत्रं तदर्थकृत् ॥ ७८ ॥

सिद्धार्थकादि अगद—श्वेत सरसों, वच, हींग, करञ्जबीज, देवदारु, मंजिष्ठा, हरड़, बहेड़ा, आंवला, श्वेता (श्वेत अपराजिता), कटभी (कण्टकि-शिरीष) की छाल, कालीमिर्च, सोंठ, पिप्पली, प्रियङ्गु, शिरीष की छाल, हल्दी, दारुहल्दी; इन अठारह द्रव्यों को समपरिमाण में छागमूत्र से पीसें । यह अगद है । इसे पान अञ्जन नस्य लेप स्नान उबटन आदि द्वारा प्रयोग कराया जाता है । यह अगद अपस्मार विष उन्माद

कृत्या (अभिचार देवता) अलक्ष्मी ज्वर तथा भूतों से होने वाले भय को नष्ट करता है और राजद्वार या न्यायालय में प्रशस्त माना गया है अर्थात् इसके धारण से विजय होती है ।

यदि इन्हीं द्रव्यों के कल्क से गोमूत्र द्वारा यथाविधि घृतपाक किया जाय तो भी वही लाभ होता है । यह घृतयोग तीसटाचार्य ने भी चिकित्साकलिका में कहा है—

सिद्धार्थत्रिकटुत्वपायुगवचामञ्जिष्ठिकारामठ-
श्वेताह्वा त्रिफलाकरञ्जकटभीश्यामाशिरीषामरैः ।
इत्यष्टादशभिः शृतं घृतमिदं गोमूत्रयुक्तं नृणा-
मुन्मादघ्नमपस्मृतिघ्नमगदं स्याद्बस्तमूत्रेण वा ॥

इस घृत का नाम सिद्धार्थकघृत है । चन्द्रट ने 'कटभी' से शालपर्णी का ग्रहण किया है । अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० ८ में यह योग है पर वहां कल्कद्रव्यों में निम्बपत्र का पाठ अधिक है—

सिद्धार्थकवचाहिङ्गुप्रियङ्गुरजनीद्वयम् ।
मञ्जिष्ठा श्वेतकटभी वरा श्वेताद्रिकर्णिका ॥
निम्बस्य पत्रं बीजन्तु नक्तमालशिरीषयोः ।
सुराह्वं त्र्यूषणं सर्पिर्गोमूत्रं तच्चतुर्गुणे ॥
सिद्धं सिद्धार्थकं नाम पाने नस्ये च योजितम् ।
ग्रहान् सर्वान् निहन्त्याशु विशेषादासुरान् ग्रहान् ॥
कृत्यालक्ष्मीविषोन्मादज्वरापस्मारपाप्मजित् ।
एभिरेवौषधैर्बस्तवारिणा कल्पितोऽगदः ॥
पाननस्याञ्जनालेपस्नानोद्धर्षणयोजितः ।
गुणैः पूर्ववदुद्दिष्टो राजद्वारे च सिद्धिकृत् ॥

घृत २ प्रस्थ । गोमूत्र ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—श्वेत सरसों आदि अठारह वा उन्नीस द्रव्य मिलित १ शराव (८ पल) । इनसे यथाविधि घृतपाक किया जाता है । चन्द्रट ने चिकित्साकलिका की

टीका में इस घृत के प्रत्येक कल्क द्रव्य को कर्ष परिमाण में लेने को कहा है ॥ ७५–७८ ॥

प्रसेके पीनसे गन्धैर्धूमवर्तिं कृतां पिबेत् ।
वैरेचनिकधूमोक्तैः श्वेताद्यैर्वा सहिङ्गुभिः ॥ ७६ ॥

यदि रोगी के मुख से लार बहती हो वा प्रतिश्याय हो तो ज्वरचिकित्साधिकारोक्त अगर आदि गन्धद्रव्यों से अथवा वैरेचनिकधूम (सूत्र० अ० ५ पृष्ठ १३८) में कहे गये श्वेता (अपराजिता) मालकंगनी हड़ताल मनसिल और हींग; इनसे धूमवर्ति बना कर धूमपान करे। गन्धद्रव्यों में तगर और कुष्ठ का प्रयोग सामान्यतः नहीं किया जाता। शालाक्य में कहा है—

'नतकुष्ठे स्रावयतो धूमवर्तिप्रयोजिते ।
मस्तुलुङ्गं विशेषेण तस्मात्ते नैव योजयेत् ॥' ७६ ॥

शल्लकोलूकमार्जारजम्बूकवृकबस्तजैः ।
मूत्रपित्तशकृल्लोमनखैश्चर्मभिरेव च ॥ ८० ॥
सेकाञ्जनं प्रधमनं नस्यं धूमं च कारयेत् ।
वातश्लेष्मात्मके प्रायः,

प्रायः वातकफज उन्माद में शल्लक (सेह), उल्लू, बिल्ला, गीदड़, भेड़िया, बकरा; इनके मूत्र पित्त पुरीष लोम नख और चर्मों से यथायोग्य परिषेक अञ्जन प्रधमननस्य और धूम देना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रह अध्याय ६ में 'मार्जार' के स्थल पर 'जतुका' पाठ है। अर्थात् बिल्ले की जगह चिमगादड़ है ॥८०॥

पैत्तिके च प्रशस्यते ॥ ८१ ॥

तिक्तकं जीवनीयं च सर्पिः स्नेहश्च मिश्रकः ।
शीतानि चान्नपानानि मधुराणि मृदूनि च ॥ ८२ ॥

पैत्तिक उन्माद में तिक्तकघृत, जीवनीयघृत, मिश्रकस्नेह तथा अन्य मधुर एवं मृदु अन्नपान प्रशस्त हैं। यहां तिक्तकघृत से कुष्ठ-

चिकित्सितोक्त तिक्तषट्पलक घृत का ग्रहण है । जीवनीयघृत वातरक्त में कहा जायगा । मिश्रकस्नेह गुल्मचिकित्सा में कहा जा चुका है ॥

शंखे[1] केशान्तसन्धौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम् ।
उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ ८३ ॥

विज्ञ वैद्य को चाहिये कि वह उन्माद में विषमज्वर में अथवा अपस्मार में शङ्खदेश वा केशान्तसन्धि में सिरामोक्षण (फस्त खोलना) करे ॥

घृतमांसवितृप्तं वा निवाते स्वापयेत्[2]सुखम् ।
त्यक्त्वा मतिस्मृतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रबुध्यते[3] ॥ ८४ ॥

अथवा रोगी को पुराना घी और मांस भरपेट खिलाकर निवात गृह में सुख से सुला दे । रोगी मतिस्मृति-विभ्रंश अर्थात् उन्माद को त्याग संज्ञालाभ कर जागता है । अर्थात् जब वह जागता है तो उसे उन्माद नहीं होता । तन्त्रान्तरों में ऐसा पाठ मिलता है—

' सम्भोज्य पिक्रमांसं वा निर्वाते स्वापयेत् सुखम् ।
त्यक्त्वा स्मृतिमतिभ्रंशं संज्ञां लब्ध्वा प्रबुध्यते ॥ '

अष्टाङ्गसंग्रह अध्याय १० में तो—

' विध्येत्सिरां यथोक्तां वा तृप्तं मेद्यामिषस्य वा ।
निवाते शाययेदेवं मुच्यते मतिविभ्रमात् । '

मेद्य (मेदुर) मांस खाने का विधान है ॥ ४८ ॥

आश्वासयेत्सुहृद्वा तं वाक्यैर्धर्मार्थसंहितैः ।
ब्रूयादिष्टविनाशं वा दर्शयेदद्भुतानि च ॥ ८५ ॥

अथवा उन्माद के रोगी को कोई उसका मित्र धर्म अर्थ से पूर्ण वचनों से आश्वासना दे । अथवा रोगी को कोई इष्ट के विनाश का समाचार कहें अर्थात् रोगी को जिस से बहुत प्यार हो ऐसे पुत्र आदि की मृत्यु का समाचार कह दें । अथवा रोगी को अद्भुत

---

१ 'शङ्खकेशान्त०' ग. । २ 'स्थापयेत्' ग. । ३ 'प्रमुच्यते' ग. ।

आश्चर्योत्पादक दृश्य वा पदार्थ दिखावें ॥ ८५ ॥

बद्धं सर्षपतैलाक्तं न्यसेद्वोत्तानमातपे ।
कपिकच्छ्वाऽथवा तप्तलौहतैलजलैः स्पृशेत् ॥ ८६ ॥

अथवा देह पर सरसों का तेल चुपड़ कर वस्त्रपट्ट आदि से बांध कर धूप में उत्तानावस्था में अर्थात् चित लेटा दें । अथवा कौंच की फली का अथवा अच्छे गरम लोहे तेल वा जल का स्पर्श करावें । कौंच की फली के स्पर्श से असह्य कण्डू होती है ॥ ८६ ॥

कशाभिस्ताडयित्वा वा सुबद्धं विजने गृहे ।
रुन्ध्याच्चेतो हि विभ्रान्तं व्रजत्यस्य यथा शमम् ॥ ८७ ॥

अथवा उन्मादी को अच्छीप्रकार बांध कर चाबुकें लगायें और पीछे से निर्जन कोठरी में बन्द कर दें, जिस से भ्रान्त हुआ चित्त शान्त हो जाय ॥ ८७ ॥

सर्पेणोद्धृतदंष्ट्रेण दान्तैः सिंहैर्गजैश्च तम् ।
त्रासयेच्छस्त्रहस्तैर्वा तस्करैः शत्रुभिस्तथा ॥ ८८ ॥

जिस की दाढ़ निकाल ली हो ऐसे सांप से, वश में किये हुए सिंहों और हाथियों से अथवा जिन के हाथ में शस्त्र हों ऐसे डाकुओं और शत्रुओं से रोगी को त्रास उत्पन्न करे ॥ ८८ ॥

अथवा राजपुरुषा बहिर्नीत्वा सुसंयतम् ।
त्रासयेयुर्वधेनैनं तर्जयन्तो नृपाज्ञया ॥ ८९ ॥

अथवा राजपुरुष रोगी को अच्छी प्रकार बांधकर बाहिर ले जांय और वहां उसे धमकाते हुए राजा की आज्ञा से बध करने का भय दें । अर्थात् वे पुरुष धमकाते हुए कहें कि हमें राजा ने तेरे बध करने की आज्ञा दी है—हम तुझे अभी मार डालते हैं ॥ ८९ ॥

देहदुःखभयेभ्यो हि परं प्राणभयं महत् ।
तेन याति शमं तस्य सर्वतो विप्लुतं मनः ॥ ९० ॥

---

१ 'विस्मृतं' ग. ।

यतः दैहिक दुःखों के भयों में सब से बढ़ कर प्राणभय है। अतः प्राणभय होने से रोगी का सर्वतः विभ्रष्ट हुआ मन शान्त हो जाता है—उन्माद नष्ट हो जाता है ॥ ९० ॥

इष्टद्रव्यविनाशात्तु मनो यस्योपहन्यते ।
तस्य तत्सदृशप्राप्त्या शान्त्याश्वासैः शमं नयेत् ॥९१॥

जिस के मन पर किसी इष्ट वस्तु के विनाश के कारण आघात पहुंचा हो और वह उससे उन्मादी हो गया हो तो उसी वा उसीके सदृश वस्तु की प्राप्ति सान्त्वना पूर्ण वचनों वा आश्वासन से शान्त करे॥

कामशोकभयक्रोधहर्षेर्ष्यालोभसम्भवान् ।
परस्परप्रतिद्वन्द्वैरेभिरेव शमं नयेत् ॥ ९२ ॥

काम शोक भय क्रोध हर्ष ईर्ष्या लोभ इन कारणों से उत्पन्न मनोविघात (उन्माद) को परस्पर विरुद्ध इन्हीं भावों से शान्त करे। अर्थात् यदि कामज हो तो क्रोध वा भय उत्पन्न कर के यदि शोक से हो तो हर्ष उत्पन्न कर के शान्त करे। इसीप्रकार यदि क्रोधज हो तो काम उत्पन्न कर के यदि हर्षज हो तो शोक उत्पन्न कर के शान्त करे। अन्य भावों से उत्पन्न मनोविघातों को भी उन के यथा-योग्य प्रतिद्वन्द्वी भावों को उत्पन्न कर शान्त करना चाहिये ॥ ९२ ॥

बुद्ध्वा देशं वयः सात्म्यं दोषं कालं बलाबले ।
चिकित्सितमिदं कुर्यादुन्मादे दोषभूतजे ॥ ९३ ॥

दोषज और भूतज उन्माद में देश उम्र सात्म्य दोष काल बला-बल आदि का विचार कर के ही उपर्युक्त सम्पूर्ण चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९३ ॥

देवर्षिपितृगन्धर्वैरुन्मत्तस्य तु बुद्धिमान् ।
वर्जयेदञ्जनादीनि तीक्ष्णानि क्रूरकर्म च ॥ ९४ ॥
सर्पिष्पानादि तस्येह मृदुभैषज्यमाचरेत् ।

१ 'सान्त्वा०' ग. ।

पूजां बल्युपहारांश्च मन्त्राञ्जनविधींस्तथा ॥ ६५ ॥
शान्तिकर्मेष्टिहोमांश्च जपस्वस्त्ययनानि च ।
वेदोक्तान् नियमांश्चापि प्रायश्चित्तानि चाचरेत् ॥ ६६ ॥

बुद्धिमान् वैद्य देव ऋषि पितर गन्धर्व; इन ग्रहों से उन्मत्त हुए पुरुष को तीक्ष्ण अञ्जन नस्य आदि न करवावे और नाहीं उन के प्रति बांधना केशाघात आदि क्रूरकर्म करे । उन की घृतपान आदि द्वारा मृदु चिकित्सा करनी चाहिये । पूजा बलि उपहार मन्त्रविधान अञ्जनविधान शान्तिकर्म इष्टि (यज्ञ) होम जप स्वस्त्ययन वेदोक्त नियम और प्रायश्चित्त करे वा करवावे । सुश्रुत में भी कहा है—

'न चायुक्तं प्रयुञ्जीत प्रयोगं देवताग्रहे ।
ऋते पिशाचादन्येषु प्रतिकूलं न चाचरेत् ॥
वैद्यातुरौ निहन्युस्ते ध्रुवं क्रुद्धा महौजसः ॥' ६४–६६ ॥

भूतानामधिपं देवमीश्वरं जगतः प्रभुम् ।
पूजयन् प्रयतो नित्यं जयत्युन्मादजं भयम् ॥ ६७ ॥

प्रयत्नशील पुरुष भूतों के अधिपति जगत् के स्वामी परमेश्वर की नित्य पूजा करता हुआ उन्माद से उत्पन्न होने वाले भय को जीत लेता है ॥ ६७ ॥

रुद्रस्य प्रमथा नाम गणा लोके चरन्ति ये ।
तेषां पूजां च कुर्वाण उन्मादेभ्यो विमुच्यते ॥ ६८ ॥

रुद्र के प्रमथ नाम के गण जो इस लोक में विचरते हैं उनकी पूजा से भी पुरुष उन्माद से मुक्त होजाता है ॥ ६८ ॥

बलिभिर्मङ्गलैर्होमैरोषध्यगदधारणैः ।
सत्याचारतपोज्ञानप्रदाननियमव्रतैः ॥ ६६ ॥
देवगुह्यकविप्राणां गुरूणां पूजनेन च ।
आगन्तुः प्रशमं याति सिद्धैर्मन्त्रौषधैस्तथा ॥ १०० ॥

आगन्तु उन्माद—बलि मङ्गल कर्म होम ओषधिधारण अगद-

धारण सत्य सदाचार तप ज्ञान दान नियम व्रत का पालन और देव गुह्यक ब्राह्मण एवं गुरुओं की पूजा तथा सिद्ध मन्त्र वा औषधों से शान्त होता है ॥ ९९–१०० ॥

यच्चोपदेक्ष्यते किंचिदपस्मारचिकित्सिते ।
उन्मादे तच्च कर्तव्यं सामान्याद्धेतुदूष्ययोः ॥ १०१ ॥

यतः उन्माद और अपस्मार के हेतु और दूष्य एक ही हैं अतः जो अपस्मारचिकित्सा में उपदेश किया जायगा वह भी उन्माद में करना चाहिये ॥ १०१ ॥

निवृत्तामिषमद्यो यो हिताशी प्रयतः शुचिः ।
निजागन्तुभिरुन्मादैः सत्त्ववान् न स युज्यते ॥ १०२ ॥

जो मद्यमांस का सेवन नहीं करता जो हिताहार करता है प्रयत्नशील पवित्र तथा सत्वगुणान्वित पुरुष निज और आगन्तु उन्मादों से ग्रस्त नहीं होता ॥ १०२ ॥

प्रसादश्चेन्द्रियार्थानां बुद्ध्यात्ममनसां तथा ।
धातूनां प्रकृतिस्थत्वं विगतोन्मादलक्षणम् ॥ १०३ ॥

विगतोन्माद के लक्षण—इन्द्रियविषय बुद्धि आत्मा तथा मन की प्रसन्नता और धातुओं का प्रकृतिस्थ होना (समता); ये उन्मादमुक्ति के लक्षण हैं ॥ १०३ ॥

तत्र श्लोकः ।

उन्मादानां समुत्थानं लक्षणं सचिकित्सितम् ।
निजागन्तुनिमित्तानामुक्तवान् भिषगुत्तमः ॥ १०४ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते उन्मादचिकित्सितं नाम
नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

उपसंहार—चिकित्सकों में श्रेष्ठ महर्षि आत्रेय ने निज आगन्तु

उन्मादों का निदान लक्षण और चिकित्सा इस अध्याय में कही है ॥१०४॥

इति उन्मादचिकित्सा ।

दशमोऽध्यायः ।

अथातोऽपस्मारचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब अपस्मार चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

स्मृतेरपगमं प्राहुरपस्मारं भिषग्विदः ।
तमःप्रवेशं बीभत्सचेष्टं धीसत्त्वसंप्लवात् ॥ २ ॥

अपस्मार का निर्वचन और उसका सहेतुक स्वरूप-चिकित्सक स्मृति के अपगम (नष्ट हो जाने) को अपस्मार कहते हैं । बुद्धि और मन के विप्लव (विभ्रंश) के कारण अन्धकारदर्शन तथा नेत्रविकृति फेनवमन अङ्गादिविक्षेप आदि बीभत्स (घृणित) चेष्टायें अपस्मार में उपस्थित होती हैं ॥ २ ॥

विभ्रान्तबहुदोषाणामहिताशुचिभोजिनाम् ।
रजस्तमोभ्यां विहते सत्त्वे दोषावृते हृदि ॥ ३ ॥
चिन्ताकामभयक्रोधशोकोद्वेगादिभिस्तथा ।
मनस्यभिहते नृणामपस्मारः प्रवर्तते ॥ ४ ॥

अपस्मार का हेतु और सम्प्राप्ति—जिन पुरुषों में दोष उन्मार्गगामी वा प्रभूतमात्रा में हैं जो अहित और अपवित्र भोजन करते हैं उन के रज और तम द्वारा सत्त्व गुण के पराभूत वा नष्ट हो जाने से और हृदय के वात आदि दोषों से आच्छन्न होने पर तथा चिन्ता काम भय क्रोध शोक उद्वेग (ग्लानि) आदि हेतुओं से मनोविघात होने पर अपस्मार की प्रवृत्ति होती है ॥ ३–४ ॥

धमनीभिश्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि ।

संपीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रान्तेन चेतसा ॥ ५ ॥
पश्यत्यसन्ति रूपाणि पतति प्रस्फुरत्यपि[1] ।
जिह्माक्षिभ्रूः स्रवल्लालो हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥ ६ ॥
दोषवेगे च विगते सुप्तवत्प्रतिबुद्ध्यते ।

धमनियों से सञ्चित हुए दोष हृदय को पीड़ित करते हैं। वात आदि दोषों द्वारा पीड़ित किया जाता हुआ और अतएव मूढपुरुष भ्रान्त (उन्मार्गगत) चित्त से व्यथा को प्राप्त होता है।

वह असत् वा अवास्तविक रूपों को देखता है, गिरता है, कांपता है, उसकी आंख और भौंहें कुटिल हो जाती हैं, लार बहने लगती है, हाथ पैर को फैंकता है अर्थात् आक्षेप होता है। जब दोष का वेग (दौरा) हट जाता है तो सोया पुरुष जैसे जागता है ऐसे वह संज्ञा में आ जाता है ॥ ५–६ ॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च वक्ष्यते स चतुर्विधः ॥ ७ ॥

अपस्मार के भेद—वात, पित्त, कफ से पृथक् तीन और सान्निपात से चौथा; इस प्रकार चार प्रकार का अपस्मार कहा जायगा ॥७॥

कम्पते प्रदशेद्दन्तान्फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥ ८ ॥

वातिक अपस्मार का रूप—वातज अपस्मार में रोगी कांपता है, दांतों को काटता है, उस के मुख से झाग निकलती है। वह गहरे और अधिक श्वास लेता है और परुष (कठिन वा खुरदरे) अरुण वा कृष्ण वर्ण के रूपों को देखता है। सुश्रुत उ० अ० ६१ में कहा है—

'वेपमानो दशेद्दन्तान् श्वसन् फेनं वमन्नपि ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्त्वं कृष्णं मामनुधावति ॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्सोऽपस्मारोऽनिलात्मकः' ॥ ८ ॥

---

1 'प्रस्फुरत्यति' ग. ।

पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शनः ।
सतृष्णोष्मानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ ९ ॥

पैत्तिक अपस्मार का रूप—पित्तापस्मारी के मुख से पीले रंग की झाग आती है उस का देह और विशेषतः मुख नेत्र पीतवर्ण के होते हैं। वह दौरे के समय पीले लाल रूपों को देखता है । वह प्यासा होता है, उसकी देह गरम होती है। वह संसार को अग्नि से व्याप्त देखता है। सुश्रुत उ० अ० ६१ में भी—

'तृट्तापस्वेदमूर्च्छार्तो धुन्वन्नङ्गानि विह्वलः ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्त्वं पीतं मामनुधावति ॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्स पित्तभव उच्यते ॥' ९ ॥

शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्यञ्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥१०॥

श्लैष्मिक अपस्मार का रूप—जिसके मुख से निकलने वाली झाग देह मुख और नेत्र श्वेतवर्ण के हों, देह शीतल रोमाञ्चयुक्त और भारी हो, दौरे के समय सब रूपों को शुक्लवर्ण का ही देखता हो उसे श्लैष्मिक अपस्मार से आक्रान्त जानना चाहिए। इसका दौरा वातज वा पित्तज की अपेक्षा देर तक रहता है । सुश्रुत उ० अ० ६१ में भी—

'शीतहृल्लासनिद्रार्त्तः पतन् भूमौ वमन् कफम् ।
यो ब्रूयाद् विकृतं सत्त्वं शुक्लं मामनुधावति ॥
ततो मे चित्तनाशः स्यात्सोऽपस्मारः कफात्मकः ॥
तथाच—
'हृदि तोदस्तृडुत्क्लेशास्त्रिष्वप्येतेषु संख्यया ।
प्रलापः कूजनं क्लेशः प्रत्येकञ्च भवेदिह ॥'

यह तीनों अपस्मारों में क्रमशः तथा सर्वत्र होने वाले लक्षण कहे हैं १०

सर्वैरेतैः समस्तैस्तु लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।

अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ ११ ॥

सान्निपातिक अपस्मार का रूप—इन सब (पृथक् दोषों के कहे गये) समस्त लिङ्गों से त्रिदोषज अपस्मार जाना जाता है। अभिप्राय यह है कि जहां तीनों दोषों के अपस्मार के लक्षण दिखाई दें उसे त्रिदोषज अपस्मार जाने । सुश्रुत उ० अ० ६१ में भी—

'सर्वलिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपजे'।

अपस्मार की असाध्यता—त्रिदोषज अपस्मार असाध्य होता है। जो क्षीण व्यक्ति को हो और जो पुराना हो वह अपस्मार भी असाध्य होता है चाहे वह वातिक पैत्तिक वा कफज ही हो ॥ ११ ॥

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ १२ ॥

कुपित हुए वात आदि दोष पक्ष पक्ष से बारह बारह दिन से वा मास मास से अपस्मार के वेग को कुछ काल के लिए किया करते हैं। यहां पर पक्ष आदि काल सामान्यतः कहा है। इस से कम वा इस से अधिक काल से भी अपस्मार (मृगी) के दौरे हुआ करते हैं ॥ १२ ॥

तैरावृतानां हृत्स्रोतोमनसां संप्रबोधनम् ।
तीक्ष्णैरादौ भिषक् कुर्यात्कर्मभिर्वमनादिभिः ॥ १३ ॥

अपस्मार की चिकित्सा—उन दोषों से आवृत हृदय स्रोतों और मन के प्रबोधन के लिए तीक्ष्ण वमन आदि कर्मों द्वारा चिकित्सा करे १३

वातिकं बस्तिभिर्भूयिष्ठैः पैत्तं प्रायो विरेचनैः ।
श्लैष्मिकं वमनप्रायैरपस्मारमुपाचरेत् ॥ १४ ॥

वातिक अपस्मार की बस्तिप्रधान कर्मों द्वारा पैत्तिक अपस्मार की प्रायः विरेचनों द्वारा और श्लैष्मिक अपस्मार की प्रायः वमनों द्वारा चिकित्सा करे ॥ १४ ॥

सर्वतः सुविशुद्धस्य सम्यगाश्वासितस्य च ।

अपस्मारविमोक्षार्थं योगान्संशमनाञ्छृणु ॥ १५ ॥

इस प्रकार अपस्मार रोगी का सर्वतः शोधन करके और सम्यक् आश्वासना देकर जो संशमनयोग अपस्मार से मुक्ति के लिए प्रयोग कराये जाते हैं—वे कहे जाते हैं, सुनो——॥ १५ ॥

पञ्चगव्यं घृतम्

गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैः समैर्घृतम् ।
सिद्धं पिबेदपस्मारकामलाज्वरनाशनम् ॥ १६ ॥

इति पञ्चगव्यं घृतम् ।

पञ्चगव्यघृत——गव्यघृत २ प्रस्थ । गोमयरस २ प्रस्थ । गौ के दूध की खट्टी दही २ प्रस्थ । गौ का दूध २ प्रस्थ । गोमूत्र २ प्रस्थ । यथाविधि सिद्ध करे । यह घृत अपस्मार कामला तथा ज्वर को नष्ट करता है । मात्रा——चौथाई तोला ॥ १६ ॥

महापञ्चगव्यं घृतम् ।

द्वे पञ्चमूल्यौ त्रिफलां रजन्यौ कुटजत्वचम् ।
सप्तपर्णमपामार्गं नीलिनीं कटुरोहिणीम् ॥ १७ ॥
सम्पाकं फल्गुमूलं च पौष्करं सदुरालभम् ।
द्विपलानि जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते ॥ १८ ॥
भार्गीं पाठां त्रिकटुकं त्रिवृतां निचुलानि च ।
श्रेयसीमाढकीं मूर्वां दन्तीं भूनिम्बचित्रकौ ॥ १९ ॥
द्वे सारिवे रोहिषं च भूतीकं मदयन्तिकाम् ।
क्षिपेत्पिष्टाऽक्षमात्राणि तैः प्रस्थं सर्पिषः पचेत् ॥ २० ॥
गोशकृद्रसदध्यम्लक्षीरमूत्रैश्च तत्समैः ।
पञ्चगव्यमिति ख्यातं महत्तदमृतोपमम् ॥ २१ ॥
अपस्मारे तथोन्मादे[1] श्वयथावुदरेषु च ।
गुल्मार्शःपाण्डुरोगेषु कामलासु[2] भगन्दरे ।

---

१ 'ज्वरे कासे' ग. । २ 'कामलायां हलीमके' ग. ।

अलक्ष्मीग्रहरोगघ्नं चातुर्थकविनाशनम् ॥ २२ ॥

इति महापञ्चगव्यं घृतम् ।

महापञ्चगव्य घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—दोनों पञ्चमूल (स्वल्पपञ्चमूल और बृहत्पञ्चमूल) अर्थात् शालपर्णी पृश्निपर्णी छोटी कटेरी बड़ी कटेरी गोखरू बिल्वत्वक् श्योनाकत्वक् अग्निमन्थत्वक् गाम्भारीत्वक् पाटलात्वक्, हरड़, बहेड़ा, आंवला, हल्दी, दारुहल्दी कुटजछाल, सप्तपर्ण (सतिवन) की छाल, अपामार्ग (चिरचिटा) की जड़, नीलीमूल, कटुकी, अमलतास, गूलर की जड़, पोहकरमूल, दुरालभा; प्रत्येक २ पल, जल २ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण (८ प्रस्थ) । गोमयरस २ प्रस्थ । गौ की खट्टी दही २ प्रस्थ । गौ का दूध २ प्रस्थ । गोमूत्र २ प्रस्थ । कल्कार्थ—भारंगी, पाढ़, पिप्पली, कालीमिर्च, सोंठ, त्रिवृत् (निसोत), निचुल (हिज्जल अथवा जलवेतस), गजपिप्पली, अरहर की जड़, मूर्वामूल, दन्तीमूल, चिरायता, चित्रक, अनन्तमूल, श्यामालता, रोहिषतृण, भूतीक (गन्धतृण), मदयन्ती (मल्लिका) के फूल; प्रत्येक का कल्क १ कर्ष । यथाविधि घृतपाक करें । यह महापञ्चगव्यघृत अपस्मार उन्माद शोथ उदररोग गुल्म अर्श पाण्डुरोग कामला भगन्दर; इन रोगों में अमृतसदृश लाभकर है । अलक्ष्मी तथा ग्रहजनित रोगों को और चातुर्थक ज्वर को नष्ट करता है । मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक ।

रोहिष का अर्थ इन्दु ने प्लीहघ्न अर्थात् रोहीतक किया है । भैषज्यरत्नावली में पाठ ही 'रोहितक' है । 'मदयन्ती' से कई वैद्य मैनफल का ग्रहण करते हैं । इन्दु ने मदयन्ती का अर्थ धातकी किया है ॥

तन्त्रान्तर में महापञ्चगव्य घृत का यह पाठ है—

'भार्गीफल्गुफलत्रिकद्विपकणाशम्याकशक्रद्रुम-

त्वङ्मूर्वादशमूलमोरटजटासप्तच्छदत्वक्तुला ।

निःक्वाथ्या सलिलार्मणेन शुचिना क्वाथे च पादस्थिते
गोमूत्रेण सगोशकृद्रसदधिक्षीरेण सर्पिःपचेत् ॥
सव्योषैः सवचाविडङ्गहुतभुक्भूनिम्बतिक्तात्रिवृत-
पाठापुष्कररसारिवाद्वयनिशायुग्यष्टिकायासकैः ।
पूतीकच्छदनीलिनीफलयुतैः स्यात्पञ्चगव्यं पृथु
श्वासापस्मृतिरुक्प्रमेहपिटकाजीर्णज्वरोन्मादनुत् ॥

इसके अनुसार—गव्य घृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—भारंगी, कठूमर की जड़, त्रिफला (पृथक्), गजपिप्पली अमलतास, कुटजत्वक्, मूर्वामूल, दशमूल (पृथक्), अपामार्गमूल, सप्तपर्णत्वक् ; मिलित १ तुला, जल २ द्रोण अवशिष्ट क्वाथ आधा द्रोण । गोमयरस २ प्रस्थ । गव्य दही २ प्रस्थ । गव्य दुग्ध २ प्रस्थ । गोमूत्र २ प्रस्थ । कल्कार्थ-त्रिकटु (पृथक्), वचा, वायविडङ्ग, चित्रक, चिरायता, कटुकी, निसोत, पाढ़, पुष्करमूल, अनन्तमूल श्यामलता, हल्दी, दारुहल्दी, मुलहठी, दुरालभा, करञ्ज के पत्ते, नीली के बीज (अथवा नीली मूल और मैनफल); प्रत्येक १ कर्ष लेकर यथाविधि पाक करें ।

इन दोनों योगों की तुलना स्वयं कर सकते हैं ॥ १७-२२ ॥

ब्राह्मीघृतम्

ब्राह्मीरसवचाकुष्ठशङ्खपुष्पीभिरेव च ।
पुराणं घृतमुन्मादालक्ष्म्यपस्मारपाप्मजित्[1] ॥ २३ ॥

ब्राह्मीघृत—पुराना घी २ प्रस्थ । ब्राह्मीरस ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—वच, कुष्ठ, शङ्खपुष्पी (संखाहुली) मिलित १ शराव । यथाविधि घृत पाक करें । मात्रा—चौथाई तोला । यह घृत उन्माद अलक्ष्मी तथा अपस्मार रोग को जीतता है । चिकित्साकलिका में ब्राह्मी के रस के स्थल पर मण्डूकपर्णी का रस पढ़ा है और घृत का नाम मण्डूकपर्णीघृत रखा है ॥ २३ ॥

---

१ '०दायक्ष्मा०' ग. ।

घृतं सैन्धवहिङ्गुभ्यां वार्षे ब्रास्ते चतुर्गुणे ।
मूत्रे सिद्धमपस्मारहृद्ग्रहामयनाशनम् ॥ २४ ॥

अन्य घृतयोग——घी २ प्रस्थ । बैल वा बकरे का मूत्र ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—सैन्धानमक और हींग । यद्यपि सामान्य परिभाषा के अनुसार सेन्धानमक ४ पल और हींग ४ पल होनी चाहिये । परन्तु हींग तीक्ष्णवीर्य है और इतनी मात्रा में घी में पड़ जाने से वमन होगा । अतः उचित यह है कि हींग २ पल और सेन्धानमक ६ पल डाला जाय । मात्रा—चौथाई तोला ॥ २४ ॥

वचाद्यं घृतम् ।

वचाशम्पाककैटर्यवयःस्थाहिङ्गुचोरकैः ।
सिद्धं पलङ्कषायुक्तैर्वातश्लेष्मात्मके घृतम् ॥ २५ ॥

वचाद्यघृत——घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—वच, अमलतास, कैटर्य (पर्वतनिम्ब), वयःस्था (गिलोय, आंवला वा ब्राह्मी), हींग, चोरक, गुग्गुलु; मिलित १ शराव । पाकार्थ जल ८ प्रस्थ । यथाविधि पाक करे । यह घृत वातश्लैष्मिक अपस्मार में हितकर है ॥ २५ ॥

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं जीवनीयैः पलोन्मितैः ।
क्षीरद्रोणे पचेत्सिद्धमपस्मारविनाशनम् ॥ २६ ॥

जीवनीययमक——तैल २ प्रस्थ । घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ—जीवनीयगण की दस ओषधियां मिलाकर १ शराव और दूध २ द्रोण । इन्हें एकत्र मिश्रित कर पाक करें । मात्रा—आधा तोला । जीवनीयगण की दस ओषधियां सूत्रस्थान चतुर्थ अध्याय (पृ० १०९) में कही जा चुकी हैं ॥ २६ ॥

कंसे क्षीरेक्षुरसयोः काश्मर्येऽष्टगुणे रसे ।
कार्षिकैर्जीवनीयैश्च घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २७ ॥
वातपित्तोद्भवं क्षिप्रमपस्मारं नियच्छति ।

तद्वत्काशविदारीक्षुकुशक्वाथशृतं घृतम् ॥ २८ ॥

अपर घृतयोग—घी २ प्रस्थ । गौ का दूध १ आढक (४ प्रस्थ)। ईख का रस १ आढक । गाम्भारी का क्वाथ घी से आठ गुना अर्थात् १६ प्रस्थ । कल्कार्थ—जीवनीयदशक की प्रत्येक औषधि १ कर्ष । यथाविधि सिद्ध करें । यह घृत वातपित्तज अपस्मार को शीघ्र नष्ट करता है ॥

इसीप्रकार काशमूल विदारीकन्द ईख की जड़ कुशा की जड़; इन के क्वाथ से साधित घी वातपित्तज अपस्मार को नष्ट करता है । घी २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—काशमूल आदि मिलाकर ४ प्रस्थ, जल ३२ प्रस्थ अवशिष्ट क्वाथ ८ प्रस्थ । इसप्रमाण में लेकर घी सिद्ध करना चाहिये ॥

मधुकाद्विपले कल्के द्रोणे चामलकीरसात् ।
तद्वत्सिद्धं घृतप्रस्थं पित्तापस्मारभेषजम् ॥ २९ ॥

घी २ प्रस्थ । आंवले का रस २ द्रोण । कल्कार्थ—मुलहठी २ पल । यथाविधि घृतपाक करें । मात्रा—आधा तोला । यह सिद्ध घृत पित्तापस्मार की औषध है ॥ २९ ॥

अभ्यङ्गः सार्षपं तैलं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ।
सिद्धं स्याद्गोशकृन्मूत्रे स्नानोत्सादनमेव च ॥ ३० ॥

अभ्यङ्ग, स्नान और उत्सादन के योग—सरसों के तेल को चतुर्गुण छागमूत्र में सिद्ध करे । यह तैल अपस्मार में अभ्यङ्ग के लिये प्रयुक्त कराना चाहिये ।

उत्सादन में गोबर और स्नान में गोमूत्र का यथायोग्य रोगी व्यवहार करे ॥ ३० ॥

कटभ्यादितैलम्

कटभीनिम्बकट्वङ्गमधुशिग्रुत्वचां रसे ।
सिद्धं मूत्रसमं तैलमभ्यङ्गार्थे प्रशस्यते ॥ ३१ ॥

कटभ्यादितैल—क्वाथार्थ—कटभीत्वक् (कण्टकिशिरीष की छाल),

---

१ ' मधूकाद्विपले ' ग. ।

नीम की छाल, कट्वङ्ग (श्योनाक, अरलू) की छाल, मधुशिग्रु (मीठा साहिजन) की छाल; मिलित ४ प्रस्थ, जल ६४ प्रस्थ, शेष काथ ८ प्रस्थ। तैल २ प्रस्थ। छागमूत्र २ प्रस्थ। यथाविधि तैलपाक करें। यह तैल अभ्यङ्ग के लिये प्रशस्त है।

पूर्व अभ्यङ्गार्थ सरसों के तेल का विधान है। अतः यहां पर भी तैल से सरसों का तैल ही कई ग्रहण करते हैं। 'मूत्र' से इन्दु आदि व्याख्याकार गोमूत्र ही लेते हैं।

जो तैल से मिलित द्रव चतुर्गुण लेते हैं वे काथ को घी से तिगुना लेते हैं ॥ ३१ ॥

पलङ्कषाद्यं तैलम्

पलङ्कषावचापथ्यावृश्चिकाल्यर्कसर्षपैः ।
जटिलापूतनाकेशीनाकुलीहिङ्गुचोरकैः ॥ ३२ ॥
लशुनातिरसाचित्राकुष्ठैर्विड्भिश्च पक्षिणाम् ।
मांसाशिनां यथालाभं बस्तमूत्रे चतुर्गुणे ॥ ३३ ॥
सिद्धमभ्यञ्जनं तैलमपस्मारविनाशनम् ।
एतैश्चैवौषधैः कार्यं धूपनं सम्प्रलेपनम् ॥ ३४ ॥

पलङ्कषाद्य तैल—तैल २ प्रस्थ। छागमूत्र ८ प्रस्थ। कल्कार्थ—गुग्गुलु, वच, हरड़, वृश्चिकाली (बिछाटी), मदार की जड़, सरसों, जटिला (जटामांसी, बालछड़), भूतकेशी, नाकुली (रास्ना), हींग, चोरक, लहसन, अतिरसा (मुलहठी), दन्तीमूल, कुष्ठ (कुठ), तथा यथालाभ (जिन जिन की प्राप्त हो सके) मांसभोजी बाज गिद्ध आदि पक्षियों की बीठ; मिलित १ शराव। यथाविधि पाक करें। यह तैल अभ्यङ्ग द्वारा अपस्मार को नष्ट करता है।

टीकाकार पूतनाकेशी से हरड़ और भूतकेशी इन दो द्रव्यों का भी ग्रहण करते हैं। परन्तु जतुकर्ण के पाठ में पूतनाकेशी के स्थल पर गोलोमी पाठ है। अतः केवल भूतकेशी का ग्रहण ही अधिक उपयुक्त

ऐसा कइयों का मत है। इन्दु ने अतिरसा से मूर्वा का ग्रहण किया है। अतिरसा का अर्थ मुलहठी वा जलज मुलहठी भी है। जतूकर्ण के पाठ में भी 'मधुक' ही पढ़ा है। अतः मुलहठी लेना ही उचित है। जतूकर्ण का पाठ यह है—

'वृश्चिकालीपथ्यागोलोमीनाकुलीगुग्गुलुकुष्ठैः सर्षपजटिलाहिङ्गुवचा-मधुकाचित्रादिमांसादपुरीषैर्बस्तमूत्रेऽभ्यङ्गः।'

अष्टाङ्गसंग्रह में 'चित्रा' के स्थल पर 'छत्रा' पाठ है। तन्त्रान्तरों में 'नाकुली' के स्थल पर 'लाङ्गली' पाठान्तर भी उपलब्ध होता है।

तैलसाधन की इन्हीं औषधों से ही अपस्मार में धूपन और प्रलेपन करना चाहिए॥ ३२—३४॥

पिप्पलीं लवणं शिग्रुं हिङ्गुं हिङ्गुशिवाटिकाम्।
काकोलीं सर्षपान्काकनासां कैटर्यचन्दने॥ ३५॥
शुनःस्कन्धास्थिनखरान्पर्शुकांश्चेति पेषयेत्।
बस्तमूत्रेण पुष्यर्क्षे प्रदेहः स्यात्सधूपनः॥ ३६॥

प्रदेह और धूपन के लिये पिप्पल्यादि योग—पिप्पली, सेन्धानमक, सहिजन के बीज, हींग, हिङ्गुशिवाटिका (हिङ्गुपत्री), काकोली, सरसों, काकनासा (कौआठोडी), कैटर्य (पर्वतनिम्ब), चन्दन, कुत्ते की कन्धे की हड्डी नख और पसलियां; इन्हें एकत्र पुष्य नक्षत्र में छागमूत्र से पीसें। यह अपस्मार में प्रदेह वा धूपन में प्रयुक्त होता है।

कैटर्य से गङ्गाधर ने कटूफल और इन्दु ने पूतिकरञ्ज का ग्रहण किया है॥ ३५-३६॥

अपेतराक्षसीकुष्ठपूतनाकेशिचोरकैः।
उत्सादनं मूत्रपिष्टैर्मूत्रैरेवावसेचनम्॥ ३७॥

उत्सादनयोग—अपेतराक्षसी (श्वेत अथवा कृष्ण तुलसी), कुष्ठ, हरड़, भूतकेशी (अथवा पूतनाकेशी से केवल भूतकेशी का ही ग्रहण होता है, हरड़ का नहीं), चोरक; इन्हें मूत्र से पीस कर उबटन करें।

मूत्रों से ही रोगी का परिषेचन करना चाहिए ।

चक्रपाणि शिवदास प्रभृति टीकाकार तुलसी का स्वरस लेने को कहते हैं । प्रधानकल्पना द्वारा मूत्र से गोमूत्र का ग्रहण होता है । अथवा पूर्वयोग में यतः छागमूत्र है अतः यहां भी मूत्र से छागमूत्र का ग्रहण करना चाहिए—ऐसा भी मत है ॥ ३७ ॥

जतूकाशकृता[1] तद्वद्दग्धैर्वा बस्तलोमभिः ।
खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तथा गोपुच्छलोमभिः ॥ ३८ ॥

इसीप्रकार चिमगादड़ की विष्ठा को, अथवा बकरे के लोमों को अथवा गधे की हड्डी को अथवा हाथी के नखों को अथवा गौ की पूंछ के बालों को जला कर बकरी वा गौ के मूत्र में पीस कर उबटन करना चाहिए । और इन्हें ही जल में काढ़ कर परिषेचन करना चाहिए । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में भी—

गोपुच्छलोमभिर्दग्धैरथवा बस्तरोमभिः ।
खरास्थिभिर्हस्तिनखैस्तद्वद्वा मूत्रकल्कितैः ॥
उद्वर्तनं सदा कुर्याच्छृतैश्च परिषेचनम् ॥' ३८ ॥

कपिलानां गवां मूत्रं नावनं परमं हितम् ।
श्वसृगाल[2]बिडालानां सिंहादीनां च शस्यते ॥ ३९ ॥

नावनयोग—अपस्मार के रोगी को नस्य के लिये कपिला गौओं का मूत्र हितकर है । कुत्ता, गीदड़, बिल्ला और सिंह आदियों में से किसी एक का मूत्र भी अपस्मार में नावन (नस्य) के लिये प्रशस्त कहा गया है ॥ ३९ ॥

भार्गी वचा नागदन्ती[3] श्वेता श्वेता[4] विषाणिका ।
ज्योतिष्मती नागदन्ती पादोक्ता मूत्रपेषिताः ॥ ४० ॥

---

१ 'जलौकाशकृता' पा० । २ 'सश्वगाल०' ग० । ३ नागदन्ती काष्ठ-पाटला चक्रः । ४ 'श्वेताविषाणिका शतावरी' चक्रः । शतश्वेता विषाणिका' पा० । 'श्वेता शतविषाणिका' ग० । 'शतविषाणिका बृहदजशृङ्गीति' गङ्गाधरः ।

योगास्त्रयोऽतः षड्बिन्दून् पञ्च वा नावयेद्भिषक् ।

१ भारंगी, बच, नागदन्ती की जड़ २ श्वेता (अपराजिता), श्वेता (कटभी), विषाणिका (अजशृङ्गी अथवा मरोड़फली) ३ ज्योतिष्मती (मालकंगनी), नागदन्ती की जड़ । श्लोक के एक एक पाद में कहे गये इन तीन योगों को गोमूत्र में पीस कर वैद्य रोगी को ५-६ बूंद की नस्य दे ॥ ४० ॥

त्रिफलाद्यं तैलम् ।

त्रिफलाव्योषपीतद्रुयवक्षारफणिज्जकैः ॥ ४१ ॥
श्रीवेष्टापामार्गकारञ्जफलैर्मूत्रेऽथ बस्तजे ।
साधितं नावनं तैलमपस्मारविनाशनम् ॥ ४२ ॥

त्रिफलाद्य तैल—तिलतैल १ सेर । कल्कार्थ हरड़, बहेड़ा, आंवला, दारुहल्दी, यवक्षार, फणिज्जक (तुलसी भेद), श्रीवेष्ट (गन्धबिरोजा), अपामार्ग बीज, करञ्जफल; मिलित १ पाव। छागमूत्र ४ सेर। यथाविधि साधित तैल नस्य द्वारा अपस्मार को नष्ट करता है ।

चक्रपाणि ने पीतद्रु से देवदारु और इन्दु ने श्रीवेष्ट से बिल्व का ग्रहण किया है ॥ ४१–४२ ॥

पिप्पली वृश्चिकाली च कुष्ठं च लवणानि च ।
भार्गी च चूर्णितं नस्तः कार्यं प्रधमनं परम् ॥ ४३ ॥

प्रधमननस्य योग—पिप्पली, वृश्चिकाली (बिछाटी), कुठ, पांचों नमक, भारंगी; इन के चूर्ण का अपस्मार में प्रधमन नस्य देना चाहिये। नाडीयन्त्र में एक ओर चूर्ण डालकर मुख आदि की फूंक से नासिका के अन्दर पहुंचायें ॥ ४३ ॥

कायस्थाद्या वर्तिः ।

कायस्थाञ्छारदान्मुद्गान्मुस्तोशीरयवांस्तथा ।
सव्योषान्बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तीः प्रकल्पयेत् ॥ ४४ ॥
अपस्मारे तथोन्मादे सर्पदष्टे गरार्दिते ।

१ 'श्यामा०' ग० ।

विषपीते जलमृते चैताः स्युरमृतोपमाः ॥ ४५ ॥

कायस्थाद्य वर्ति—कायस्था (हरड़ अथवा इलायची), शरद् ऋतु में होने वाले हरे मूंग, मोथा, खस, जौ, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च; इन्हें छागमूत्र से पीस कर वर्तियां बनावें। अपस्मार एवं उन्माद में और सर्पदष्ट गरदोष-पीड़ित जिस ने विष पीया हो तथा जल में मृत व्यक्ति के लिये ये अमृत के तुल्य हैं। इन वर्तियों का नेत्र में अञ्जन किया जाता है।

अष्टाङ्गसंग्रह में तो दो योगों को मिला कर एक योग पढ़ा है—

'वृश्चिकालीबलाकुष्ठभार्ङ्गीलवणपञ्चकम् ।
कायस्थां शारदां मुद्गमुशीरं जलदं यवान् ॥
व्योषं च बस्तमूत्रेण पिष्ट्वा वर्तिं प्रकल्पयेत् ।
अपस्मारगरोन्मादसर्पदष्टविषाशिते ॥

प्रकृतग्रन्थ में तो वृश्चिकाली आदि पांच औषध का प्रधमन योग कहा है। भेद इतना ही है कि वहां पिप्पली है और अष्टाङ्गसंग्रह में बला पढ़ी है। परन्तु अष्टाङ्गसंग्रह में प्रधमनयोग और कायस्थाद्य वर्ति मिला कर एक वर्तियोग कहा गया है। यहां 'शारदान्' न कह कर 'शारदां' पढ़ा है। 'शारदा' का अर्थ इन्दु ने जलपिप्पली किया है। शारदा का अर्थ ब्राह्मी भी है ॥ ४४-४५ ॥

मुस्ताद्यवर्तिः ।

मुस्तं वयःस्थां त्रिफलां कायस्थां हिङ्गु शाद्वलम् ।
व्योषं माषान् यवान्मूत्रैर्बास्तमेषर्षभैस्त्रिभिः ॥ ४६ ॥
पिष्ट्वा कृत्वा च तां वर्तिमपस्मारे प्रयोजयेत् ।
किलासे च तथोन्मादे ज्वरेषु विषमेषु च ॥ ४७ ॥

मुस्ताद्यवर्ति—मोथा, वयःस्था (दारुहल्दी), हरड़, बहेड़ा, आंवला, कायस्था (इलायची अथवा तुलसीबीज), हींग, शाद्वल (दूब), सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, उड़द, जौ; इन्हें छागमूत्र मेषमूत्र और भैंसे के मूत्र से पीस कर वर्ति बनावे इसे अपस्मार किलास (श्वित्र) उन्माद और

विषमज्वरों में अञ्जनार्थ प्रयोग करावे ॥ ४६–४७ ॥

पुष्योद्धृतं शुनः पित्तमपस्मारघ्नमञ्जनम् ।
तदेव सर्पिषा युक्तं धूपनं परमं मतम् ॥ ४८ ॥

पुष्य नक्षत्र में निकाला हुआ कुत्ते का पित्त अञ्जन द्वारा अपस्मार को नष्ट करता है । यह ही घृतमिश्रित उत्तम धूपन है ॥४८॥

नकुलोलूकमार्जारगृध्रकीटाहिकाकजैः ।
तुण्डैः[1] पक्षैः पुरीषैश्च धूपनं कारयेद्भिषक् ॥ ४९ ॥

नेवला, उल्लू, बिल्ला, गिद्ध, कीट (बिच्छू), सर्प, कौआ; इन के चोंच पङ्ख और पुरीषों से वैद्य रोगी का धूपन करावे ॥४९॥

आभिः क्रियाभिः सिद्धाभिर्हृदयं सम्प्रबुध्यते[2] ।
स्रोतांसि चापि शुध्यन्ति स्मृतिं संज्ञां च विन्दति ॥५०॥

उपर्युक्त सिद्ध क्रियाओं द्वारा रोगी का हृदय प्रबुद्ध हो जाता है, स्रोत शुद्ध हो जाते हैं और वह स्मृति एवं संज्ञा को पाता है ॥५०॥

यस्यानुबन्धस्त्वागन्तुर्दोषलिङ्गाधिकाकृतिः ।
पश्येत्तस्य भिषक्कुर्यादागन्तून्मादभेषजम् ॥ ५१ ॥

आगन्तु अनुबन्धयुक्त अपस्मार की चिकित्सा—जिस अपस्मार में आगन्तु अनुबन्ध दिखाई दे उस में वैद्य को आगन्तु उन्मादोक्त चिकित्सा करनी चाहिये। ये आगन्तु—भूत आदि का अनुबन्ध दोषों के लिङ्गों से अधिक लक्षणों द्वारा जाना जाता है। जो दोषज अपस्मारों के लिङ्ग हैं उनकी अपेक्षा अधिक उस २ भूत के लक्षण दिखाई देंगे जो अनुबन्ध रूप से विद्यमान् होगा ।

अपस्मार चार ही होते हैं । परन्तु इन में अनुबन्ध रूप में भूतावेश हो सकता है । स्वतन्त्रता से भूतावेश होकर अपस्मार नहीं होता—उन्माद होता है । अतएव उन्माद को पांच प्रकार का कहा है ५१

---

१ ऊर्ध्वैः ग. । २ ' संप्रमुच्यते ' पा० ।

अतत्त्वाभिनिवेशचिकित्सा ।

अनन्तरमुवाचेदमग्निवेशः कृताञ्जलिः ।
भगवन् प्राक् समुद्दिष्टः श्लोकस्थाने महागदः ॥ ५२ ॥
अतत्त्वाभिनिवेशो यस्तद्धेत्वाकृतिभेषजम् ।
तत्र नोक्तं ततः श्रोतुमिच्छामि तदिहोच्यताम् ॥५३॥

अतत्त्वाभिनिवेश—इस के पश्चात् अग्निवेश ने हाथ जोड़ कर कहा—हे भगवन् ! आप ने सूत्रस्थान में पूर्व अतत्त्वाभिनिवेश नाम से जो महारोग कहा है उसका हेतु लक्षण और औषध वहां नहीं कही अतः वह मैं सुनना वा जानना चाहता हूं—इस प्रकरण में मुझे बताने की कृपा कीजिये ॥ ५२-५३ ॥

शुश्रूषवे वचः श्रुत्वा शिष्यायाह पुनर्वसुः ।
महागदं सौम्य शृणु सहेत्वाकृतिभेषजम् ॥ ५४ ॥

यह वचन सुन कर जिज्ञासु शिष्य को भगवान् पुनर्वसु ने कहा—हे सौम्य ! महारोग एवं उसका हेतु लक्षण और औषध कहता हूं, सुन ॥ ५४ ॥

मलिनाहारशीलस्य वेगान्प्राप्तान्निगृह्णतः ।
शीतोष्णस्निग्धरूक्षाद्यैर्हेतुभिश्चातिसेवितैः ॥ ५५ ॥
हृदयं समुपाश्रित्य मनोबुद्धिवहाः सिराः ।
दोषाः संदूष्य तिष्ठन्ति रजोमोहावृतात्मनः ॥ ५६ ॥
रजस्तमोभ्यां वृद्धाभ्यां बुद्धौ मनसि चावृते ।
हृदये व्याकुले दोषैरथ मूढाल्पचेतसः ॥ ५७ ॥
करोति विषमां बुद्धिं नित्यानित्ये हिताहिते ।
अतत्त्वाभिनिवेशं तमाहुराप्ता महागदम् ॥ ५८ ॥

अतत्त्वाभिनिवेश का हेतु और सम्प्राप्ति—मलिन आहार का निरन्तर सेवन करने वाले पुरुष के प्राप्त हुए वेगों को रोकते हुए

तथा शीत उष्ण स्निग्ध रूक्ष आदि हेतुओं के अत्यन्त सेवन से कुपित वात आदि दोष उस रज और तम से आच्छन्न मन वाले के हृदय का आश्रय करके मनोवहा और बुद्धिवहा शिराओं को दूषित करके वहां ठहर जाते हैं (स्थानसंश्रय) ॥

बढ़े हुए रज और तम से बुद्धि एवं मन के आवृत होने पर और वात आदि दोषों के कारण हृदय के व्याकुल होने पर मूढ एवं अल्प चित्त वाले पुरुष की नित्य अनित्य एवं हित अहित में बुद्धि को यह महारोग विषम करता है । आप्त पुरुष उस महारोग को अतत्त्वाभिनिवेश कहते हैं । अर्थात् अतत्त्वाभिनिवेश का रोगी हित को अहित, अहित को हित, नित्य को अनित्य और अनित्य को नित्य समझता है ॥५५-५८॥

स्नेहस्वेदोपपन्नं तं संशोध्य वमनादिभिः ।
कृतसंसर्जनं मेध्यैरन्नपानैरुपाचरेत् ॥ ५६ ॥

चिकित्सा—रोगी का स्नेहन और स्वेदन कराने के पश्चात् दोषानुसार वमन आदि द्वारा संशोधन करके पेया आदि संसर्जनक्रम करावे । अनन्तर मेधा के लिये हितकर अन्नपान द्वारा उपचार करे ॥ ५९ ॥

ब्राह्मीस्वरसयुक्तं यत् पञ्चगव्यमुदाहृतम् ।
तत्सेव्यं शङ्खपुष्पी च यच्च मेध्यं रसायनम् ॥ ६० ॥

जो ब्राह्मीस्वरस से युक्त तथा जो पञ्चगव्य पूर्व कहा गया है उनका और शङ्खपुष्पी तथा अन्य मेध्य रसायनों का रोगी को सेवन करना चाहिये ।

ब्राह्मीस्वरस से युक्त कहने से ब्राह्मीघृत की ओर निर्देश है । पञ्चगव्यघृत तथा महापञ्चगव्यघृत दोनों का अतत्त्वाभिनिवेश में प्रयोग कराना चाहिये । शङ्खपुष्पी मेध्य ओषधियों में श्रेष्ठतम है अतः उसका भी नानाविध कल्पनाओं द्वारा प्रयोग हितकर होता है । मेध्य रसायनों के छोटे छोटे योग १७४६ पृष्ठ पर कहे गये हैं ।

इनके अतिरिक्त अन्य रसायनयोग भी जो मेध्य हैं उनका प्रयोग हो सकता है ॥ ६० ॥

सुहृदश्चानुकूलास्तं स्वाप्तधर्मार्थवादिनः।[1]
संयोजयेयुर्विज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः ॥ ६१ ॥

सत्य एवं आप्त धर्म अर्थ को कहने वाले प्रिय एवं इष्ट मित्र उस रोगी को विज्ञान धैर्य स्मृति और समाधि (एकाग्रचित्तता) से युक्त करें ॥ ६१ ॥

प्रयुञ्ज्याच्चैललशुनं[2] पयसा वा शतावरीम्[3]।
ब्राह्मीरसं कुष्ठरसं वचां वा मधुसंयुताम्[4] ॥ ६२ ॥

अतत्त्वाभिनिवेश के रोगी को १ तैल और लहसन का अथवा २ दूध से शतावर का अथवा ३ ब्राह्मीरस को मधु के साथ अथवा ४ कुष्ठ के रस वा क्राथ को मधु के साथ अथवा ५ वचाचूर्ण को मधु के साथ प्रयोग कराये।

इन योगों का प्रयोग दोष आदि की विवेचना करके यथायोग्य कराना चाहिये।

उपर्युक्त अतत्त्वाभिनिवेश के प्रकरण को कई अनार्ष मानते हैं ॥ ६२ ॥

दुश्चिकित्स्यो ह्यपस्मारश्चिरकारी कृतास्पदः[5]।
तस्माद्रसायनैरेनं प्रायशः समुपाचरेत् ॥ ६३ ॥

यतः अपस्मारः प्रायः चिरकारी (Chronic) और आश्रय बना लेने वाला एवं कष्टसाध्य होता है अतः रोगी की प्रायशः रसायनों द्वारा ही चिकित्सा करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह उ० अ० १० में भी कहा है—

---

१ 'हृदयस्यानुकूलाश्च कथाः सिद्धार्थवादिनः। संयोजयेयुर्विज्ञानं धैर्यस्मृतिशमादिभिः' ग.। २ 'प्रयोज्यं' ग.। ३ 'शतावरी' ग.। ४ 'ब्राह्मीरसः कुष्ठरसो वचा वा मधुसंयुता' ग०। ५ 'महागद': ग.।

'समं क्रुद्धैरपस्मारो दोषैः शारीरमानसैः ।
यज्जायते यतश्चैष महामर्मसमाश्रयः ॥
तस्माद्रसायनैरेनं दुश्चिकित्स्यमुपाचरेत् ॥'

गङ्गाधर 'कृतास्पदः' के स्थान पर 'महागदः' पाठ स्वीकार करके यह अर्थ करता है—अपस्मार कष्टसाध्य है । अतत्त्वाभिनिवेश नामक महागद चिरानुबन्धी है । अतः अपस्मार वा अतत्त्वाभिनिवेश के रोगी की रसायनों द्वारा चिकित्सा करे ॥ ६३ ॥

जलाग्निद्रुमशैलेभ्यो विषमेभ्यश्च [1]तं सदा ।
रक्षेदुन्मादिनं चैव सद्यः प्राणहरा हि ते ॥ ६४ ॥

जल अग्नि वृक्ष पर्वत आदि विषमस्थलों से अपस्मार और उन्माद के रोगियों को सदा बचाये क्योंकि वे उनके लिये सद्यः घातक होते हैं । उन्माद और अपस्मार दोनों में स्मृतिमतिभ्रंश होता है । उन्माद के रोगी के मन में अपनी हिंसा के भाव भी उदय होजाते हैं और वह उसीसमय अपने को मारना चाहता है । अतः उस प्राणनाश से बचाने के लिये उन्मादी को ऐसे विषमस्थलों पर जाने ही न देना चाहिये । यही अवस्था अपस्मार के रोगी की है । दौरे के समय रोगी निःसंज्ञ होकर गिर पड़ता है । यदि ऐसे ही विषमस्थल पर रोगी हो और इसका दौरा होजाय तो मृत्यु होजाने की अत्यन्त सम्भावना है ६४

तत्र श्लोकौ ।

हेतुः कुर्वन्त्यपस्मारं दोषाः प्रकुपिता यथा ।
सामान्यतः पृथक्त्वाच्च लिङ्गं तेषां च भेषजम् ॥ ६५ ॥
महा[2]गदसमुत्थानं लिङ्गं चोवाच सौषधम् ।
मुनिर्व्याससमासाभ्यामपस्मारचिकित्सिते ॥ ६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृतेऽपस्मारचिकित्सितं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

---

१ 'तौ' ग. । २ 'अतत्त्वाभिनिवेशस्य प्रोवाच वदतां वरः । प्रजाहितार्थं भगवानपस्मारचिकित्सिते' ग. ।

अध्यायोपसंहार—आत्रेय मुनि ने अपस्मारचिकित्साध्याय में अपस्मार का हेतु, प्रकुपित दोष जिस प्रकार अपस्मार को करते हैं अर्थात् सम्प्राप्ति, सामान्य लक्षण, पृथक् २ लक्षण उनकी चिकित्सा, महागद (अतत्त्वाभिनिवेश) का हेतु लक्षण तथा औषध; ये विस्तार और संक्षेप से कहे हैं ॥ ६५–६६ ॥

इत्यपस्मारचिकित्सा ।

एकादशोऽध्यायः ।

अथातः क्षतक्षीणचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब क्षतक्षीणचिकित्सा की व्याख्या की जायगी, ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

उदारकीर्तिर्ब्रह्मर्षिरात्रेयः परमार्थवित् ।
क्षतक्षीणचिकित्सार्थमिदमाह चिकित्सितम् ॥ २ ॥

यशस्वी परमार्थ को जानने वाले ब्रह्मर्षि आत्रेय ने क्षत (उरःक्षत) से क्षीण व्यक्ति की चिकित्सा के लिये यह चिकित्सित (अध्याय) कहा ॥ २ ॥

धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् ।
पततो विषमोच्चेभ्यो बलिभिः सह युध्यतः ॥ ३ ॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः ।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥ ४ ॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् ।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ ५ ॥
सहसोत्पततोऽत्यर्थं तूर्णं चातिप्रनृत्यतः ।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ ६ ॥

१ 'युध्यमानस्य चाधिकैः' पा० ।

विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते।

उरःक्षत का हेतु और लक्षण—धनुष द्वारा अत्यन्त आयास करते हुए (चिल्ला चढ़ाते और आकृष्ट करते हुए), भारी भार उठाते हुए, पर्वत आदि विषम और ऊंचे स्थलों से गिरते हुए, अपने से अधिक बलवान् व्यक्तियों से मल्लयुद्ध करते हुए, भागते हुए बैल सांड घोड़ा अथवा अन्य किसी दमन के योग्य पशु आदि को रोकते हुए, शिला काष्ठ पत्थर निर्घात (गदा आदि) को फैंकते हुए वा उससे दूसरों को मारते हुए अथवा अत्यन्त ऊंचा पढ़ते हुए, अथवा दूर स्थानों पर बहुत शीघ्रता से चलते हुए, अथवा बड़ी बड़ी नदियों को तैरते हुए, अथवा घोड़ों के साथ मुक़ाबले में दौड़ते हुए, सहसा अत्यधिक छलांग लगाते हुए, शीघ्र और अति नृत्य करते हुए तथा अन्य क्रूर कर्मों से सर्वतः अत्यन्त आहत पुरुष की छाती में (फुप्फुस) क्षत होने पर यह बलवान् व्याधि प्रारम्भ होती है।

स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः॥ ७॥
उरो विरुज्यते तस्य भिद्यतेऽथ विदह्यते।
प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते॥ ८॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदोऽग्निवधस्तथा॥ ९॥
दुष्टः श्यावः सदुर्गन्धिः पीतो विग्रथितो बहुः।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सास्रः प्रवर्तते॥ १०॥
स क्षतः क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात्।

तथा अत्यन्त स्त्रीसंग—मैथुन में तत्पर, रूक्ष एवं मात्रा से अत्यल्प भोजन करने वाले पुरुष की छाती (फुप्फुस) में वेदना होती है। छाती विदीर्ण होती है और वहां विदाह (Inflammation) हो जाता है। तदनन्तर पार्श्वों में पीड़ा होती है, अङ्ग (देह) सूख जाता

१ 'विभज्यते' ग.। २ 'विड्भेदोऽग्निवधादपि' पा०।

है, कांपता है। क्रम से वीर्य बल वर्ण रुचि और अग्नि हीन हो जाती है।

ज्वर वेदना मानसिक दीनता अतीसार जाठराग्निनाश; ये लक्षण उपस्थित होते हैं। जब उरःक्षत के कारण रोगी खांसता है तब दोष से दूषित श्यामवर्ण का पीला दुर्गन्धित ग्रथित (गांठदार अर्थात् अत्यन्त गाढ़ा) मात्रा में बहुत तथा रुधिरमिश्रित कफ निकलता है। वह उरःक्षत का रोगी शुक्र और ओज के क्षीण होने से अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

चक्रपाणि 'प्रमिताशन' से यहां एक रस के शीलन वा अतीत-काल में भोजन का ग्रहण करता है।

अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ ११ ॥

क्षतक्षीण का पूर्वरूप—क्षतक्षीण के अव्यक्त लक्षण ही पूर्व-रूप होते हैं। अर्थात् लक्षण व्यक्त होने से पूर्व की अवस्था पूर्वरूप कहाती है ॥ ११ ॥

उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटिग्रहः ॥ १२ ॥

विशेष लक्षण—उरःक्षत में छाती में दर्द, रुधिर का मुख से आना और कास; ये लक्षण अधिक होते हैं। क्षीण व्यक्ति में मूत्र का रक्तमिश्रित आना तथा पार्श्व पीठ और कमर में पीड़ा; ये विशेष लक्षण हैं।

अभिप्राय यह है कि जब धनुराकर्षण आदि क्रूरकर्मों से उरः-क्षत होता है तब छाती में दर्द आदि लक्षण अधिक होते हैं और जब स्त्रीसङ्ग आदि द्वारा शुक्र और ओज के क्षय से उरःक्षत होता है तब मूत्र का रक्त मिश्रित आना आदि विशेष लक्षण होते हैं। इन लक्षणों से चिकित्सक रोगी के उरःक्षत के निदान को पहिचान सकता है।

अन्य इससे यह अभिप्राय निकालते हैं कि जब तक उरःक्षत की प्रारम्भावस्था होती है वा नवीन होता है तब तक तो छाती में दर्द आदि लक्षण विशेष होते हैं परन्तु जब वह उससे क्षीण हो जाता है, रोग पुराना हो जाता है तब रक्तमिश्रित मूत्र आना आदि लक्षणविशेष हो जाते हैं। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ३ में क्षतज कास का वर्णन किया है—

'युद्धाद्यैः साहसैस्तैस्तैः सेवितैरयथाबलम्।
उरस्यन्तः क्षते वायुः पित्तेनानुगतो बली॥
कुपितः कुरुते कासं कफं तेन सशोणितम्।
पीतं श्यावं च शुष्कं च ग्रथितं कुथितं बहु॥
ष्ठीवेत् कण्ठेन रुजता विभिन्नेनेव चोरसा।
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यकम्पवान्।
पारावत इवाकूजन् पार्श्वशूली ततोऽस्य च॥
क्रमाद्वीर्यं रुचिः पक्तिर्बलं वर्णश्च हीयते।
क्षीणस्य सासृङ्मूत्रत्वं स्याच्च पृष्ठकटीग्रहः' ॥ १२ ॥

अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥ १३ ॥

क्षतक्षीण की साध्यासाध्यता—जो बलवान् हो, जिस की अग्नि दीप्त हो, रोग नवीन हो और लक्षण अल्प हों वह साध्य है। यह एक वर्ष के पश्चात् याप्य होता है। जिस रोगी में सम्पूर्ण लक्षण विद्यमान हो वह असाध्य है॥ १३ ॥

उरो मत्वा क्षतं लाक्षां पयसा मधुसंयुताम्।
सद्य एव पिबेज्जीर्णे पयसाऽद्यात्सशर्करम् ॥ १४ ॥

चिकित्सा—छाती में क्षत हुआ जानकर रोगी लाक्षा (कच्ची

---

१ 'विवर्जयेत्' ग.।

लाख) को मधुमिश्रित कर दूध के साथ तत्काल ही पी लेवे । जब यह औषध जीर्ण होजाय तब शर्करायुक्त अन्न को दूध के ही साथ खाये। अन्न में शालि चावल उत्तम हैं ॥ १४ ॥

पार्श्वबस्तिरुजश्चाल्पपित्ताग्निस्तां सुरायुताम् ।
भिन्नविट्कः समुस्तातिविषापाठां सवत्सकाम् ॥ १५ ॥

पार्श्व और बस्ति में वेदना भी साथ होने पर अल्पपित्त एवं अल्पाग्नि पुरुष को लाक्षाचूर्ण ही सुरा के अनुपान से देना चाहिये ।

जिसे उरःक्षत के साथ अतीसार भी हो उसे लाक्षा को ही मोथा, अतीस, पाठा और इन्द्रजौ; इनके चूर्ण के साथ मिश्रित करके दें।

'समुस्तातिविषां पाठां सवत्सकाम्' पाठ होने पर यह अर्थ होगा—उरःक्षत में अतीसार होने पर मोथा अतीस पाठा इन्द्रजौ;इन का चूर्ण दें॥१५॥

लाक्षां सर्पिर्मधूच्छिष्टं जीवनीयगणं सिताम् ।
त्वक्क्षीरीं समितं क्षीरे पक्त्वा दीप्तानलः पिबेत् ॥ १६ ॥

कच्चीलाख, घी, शहद की मक्खियों के छत्ते की मोम (Beeswax) जीवनीयगण की दस ओषधियां, खांड, वंशलोचन, गेहूं का आटा; इन्हें यथायोग्य मात्रा में लेकर यथाविधि दूध में पकाकर दीप्ताग्नि रोगी पीवे ।

प्रथम क्षीरपाकविधि के अनुसार कच्ची लाख और जविनयिगण की दस ओषधियों से दूध को सिद्ध कर लें और छानकर खांड घोल दें। पश्चात् गेहूं के आटे को घी में भून लें । जब भुन जाय तब वह दूध, वंशलोचन चूर्ण और मोम इसमें डाल दें । आवश्यकता हो तो इसमें जल भी डाला जा सकता है । मन्द आंच पर पकावें । जब सिद्ध हो जाय तब नीचे उतार लें । शीतल होने पर रोगी पीवे । यह योग दीप्ताग्नि पुरुष के लिये ही है।मन्दाग्नि पुरुष इसे प्रयोग न करे॥१६॥

---

१ 'समुस्तातिविषां पाठां' पा० ।

२ 'त्वक्क्षीरीं समितां०' ग. । 'त्वक्क्षीरीसंमितं' पा० ।

इक्ष्वालिकाबिसग्रन्थिपद्मकेशरचन्दनैः ।
शृतं पयो मधुयुतं सन्धानार्थं पिबेत्क्षती ॥ १७ ॥

इक्ष्वालिकादिक्षीर—इक्ष्वालिका (इक्षुभेद अथवा काश) बिसग्रन्थि (कमलनाल की गांठ), पद्मकेसर (कमलकेशर), लालचन्दन; इनसे यथाविधि साधित दूध में शीतल होने पर मधु मिला उरःक्षत का रोगी क्षत के सन्धान के लिये पीवे। गङ्गाधर 'ग्रन्थि' से पिप्पलीमूल का ग्रहण करता है । क्षीरपाकपरिभाषा यह है—

'द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं क्षीरात्तोयं चतुर्गुणम् ।
क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः' ॥ १७ ॥

यवानां चूर्णमादाय क्षीरसिद्धं घृतप्लुतम् ।
ज्वरे दाहे सिताक्षौद्रसक्तून् वा पयसा पिबेत् ॥ १८ ॥

जब उरःक्षत में ज्वर और दाह हो तब जौ के आटे को प्रभूत घृत से ईषद् भूनकर दूध से पेया के सदृश पकाकर रोगी को पिलावें अथवा खांड मधु और सत्तुओं को दूध में घोलकर रोगी पीवे । अष्टाङ्गसंग्रहकार ने ' यवानां चूर्णमादाय ' के स्थल पर ' यवानां चूर्णमामानां ' पढ़ा है ॥ १८ ॥

कासी पर्वास्थिशूली च लिह्यात्सघृतमाक्षिकाः ।
मधूकमधुकद्राक्षात्वक्क्षीरीपिप्पलीबलाः ॥ १९ ॥

मधूकादियोग—उरःक्षत में कास तथा पर्व वा अस्थियों में शूल हो तो मधूक (महुए के फूल), मुलहठी, मुनक्का, वंशलोचन, पिप्पली, बलामूलत्वक्; इनके चूर्ण को घी और मधु के साथ चाटे। मात्रा—२ मासे से ४ मासे तक ॥ १९ ॥

एलादिगुलिका ।

एलापत्रत्वचोऽर्धाक्षाः पिप्पल्यर्धपलं तथा ।
सितामधुकखर्जूरमृद्वीकाश्च पलोन्मिताः ॥ २० ॥
संचूर्ण्य मधुना युक्ता गुलिकाः संप्रकल्पयेत् ।

अक्षमात्रां ततश्चैकां भक्षयेन्ना दिने दिने ॥ २१ ॥
कासं श्वासं ज्वरं हिक्कां छर्दिं मूर्च्छां मदं भ्रमम् ।
रक्तनिष्ठीवनं तृष्णां पार्श्वशूलमरोचकम् ॥ २२ ॥
शोषप्लीहाढ्यवातांश्च स्वरभेदं क्षतं क्षयम् ।
गुलिका तर्पणी वृष्या रक्तपित्तं च नाशयेत् ॥ २३ ॥

इति एलादिगुलिका ।

एलादिगुडिका—छोटी इलायची, तेजपत्र, दालचीनी; प्रत्येक का चूर्ण आधा कर्ष, पिप्पली का चूर्ण आधा पल; खांड, मुलहठी, पिण्डखजूर, मुनक्का वा किशमिश का चूर्ण प्रत्येक १ पल; इन्हें एकत्र मधु के साथ मर्दन करके एक कर्ष की गुटिकायें बना ले । इन में से एक गुलिका रोगी पुरुष प्रतिदिन खावे । यह कास श्वास ज्वर हिचकी कै मूर्च्छा मद भ्रम रक्तनिष्ठीवन (रुधिर थूकना) तृष्णा पार्श्वशूल अरुचि शोष प्लीहा (तिल्ली) आढ्यवात स्वरभेद उरःक्षत क्षय और रक्तपित्त को नष्ट करती है । यह तर्पण एवं वृष्य है । इसके सेवन का विधान यह है कि रोगी थोड़ा थोड़ा मुख में रखकर धीरे २ चूसे ।

आजकल के नागरिकों के लिये सारे दिन की मात्रा आधा तोला पर्याप्त है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० ५ में यह योग कहा है । वहां 'मधुक' के स्थल पर 'मधूक' पढ़ा है । आढयवात के स्थान पर किसी किसी तन्त्र में आमवात पाठ भी मिलता है । ऊरुस्तम्भ को ही आढ्यवात नाम से कई आचार्य कहते है। वृद्धवाग्भट नि० अ० १५ में कहा भी है—

'शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथायाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥
सश्लेष्ममेदःपवनमाममत्यर्थसञ्चितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥
सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन तत् ।
तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥

परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥
संयुतः पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥'

अन्यत्र आढ्यवात का निम्न लक्षण कहा गया है—

'चलः स्निग्धे मृदुः शीते शोफोऽङ्गेषु मृदुस्तथा ।
आढ्यवात इति ज्ञेयः सकृच्छ्रो मेदसावृतः ॥' २०—२३ ॥

रक्तेऽतिवृत्ते दद्यादण्डं यूषैस्तोयेन वा पिबेत् ।
चटकाण्डरसं वाऽपि रक्तं वा छागजाङ्गलम् ॥ २४ ॥

यदि रक्त की प्रवृत्ति अत्यधिक हुई हो तो कुक्कुटाण्ड को यूष वा जल के साथ रोगी पीवे । अथवा यूष वा जल के साथ ही चटक (चिड़िया) के अण्डे के रस को पीवे। अथवा बकरे और जाङ्गल पशु—हरिण आदि का ताजा रुधिर पीवे ॥

इनके सेवन से देह में हुई रक्त की न्यूनता पूर्ण होती है ॥ २४ ॥

चूर्णं पौनर्नवं रक्तशालितण्डुलशर्करम् ।
रक्तष्ठीवी पिबेत्सिद्धं द्राक्षारसपयोघृतैः ॥ २५ ॥
मधूकमधुकक्षीरसिद्धं वा तण्डुलीयकम् ।

रक्तष्ठीवी (रुधिर थूकने वाला) पुरुष पुनर्नवा, लाल शालि चावल, खांड; इनके चूर्णों को अङ्गूर का रस दूध और घी से सिद्ध कर पीवे ।

प्रत्येक द्रव्य को यथोचित मात्रा में लेकर अग्नि पर सिद्ध करे । जब पेयावत् पाक होजाय तब उतार ले और शीतल होने पर पीवे ।

अथवा महुए के फूल और मुलहठी से दूध को साधित कर उस दूध से तण्डुलीयक (चौलाई) के शाक को पकावें । इस शाक के सेवन से भी रक्त का थूकना बन्द होता है । अथवा महुए के फूल और मुलहठी से साधित दूध में चौलाई का कल्क और

चतुर्गुण जल डालकर अथवा केवल चौलाई का रस डालकर सिद्ध करें। जब दूधमात्र अवशिष्ट रह जाय तब उतार कर छान लें। वह दूध रक्तष्ठीवी को पीने के लिये दें।

मूढवातस्त्वजामेदः सुराभृष्टं ससैन्धवम् ॥ २६ ॥
क्षामः क्षीणः क्षतोरस्कस्त्वनिद्रः सबलेऽनले।[1]
शृतक्षीरसरेणाद्यात्सक्षौद्रघृतशर्करम् ॥ २७ ॥

जिस रोगी को मूढवात हो (वायु अन्दर ही रुकी हो, अनु- लोम मार्ग से प्रवृत्त न हो), वह बकरे के मेद को सुरा में भूनकर किंचित् सेन्धानमक मिलाकर प्रयोग करे।

यदि वह उरःक्षत का रोगी कृश हो क्षीण हो, निद्रा न आती हो परन्तु अग्नि प्रबल हो तो बकरे के मेद को ही मधु घी और खांड में मिश्रित कर क्वथित दूध की मलाई के साथ खावे। वृद्धवाग्भट चि० अ ५ में—

'क्षामः क्षीणः क्षतोरस्को मन्दनिद्रोऽग्निदीप्तिमान्।
शृतक्षीरसरेणाद्यात् सघृतक्षौद्रशर्करम् ॥'

गङ्गाधर ने 'शृतक्षीरसरेण' के स्थल पर 'शृतक्षीररसेन' ऐसा पाठ पढ़ा है। वह कहता है कृशता आदि लक्षण युक्त रोगी को वात के निर्बल होने पर घृत मधु खांड युक्त अन्न क्वथित दूध वा मांसरस के साथ खाना चाहिये।

दूध में चौगुना जल डालकर उबालना चाहिये। जब दूध मात्र अवशिष्ट रह जाय तब नीचे उतार लें। यह दूध सामान्यतः शृत वा क्वथित कहाता है ॥ २६—२७ ॥

[2]शर्करा यवगोधूमौ जीवकर्षभकौ मधु।
शृतक्षीरानुपानं वा लिह्यात्क्षीणः क्षती कृशः ॥ २८ ॥

अथवा क्षीण कृश उरःक्षत का रोगी खांड, भुने हुए जौ का

१ '०निद्रस्त्वबलेऽनिले' ग.। '०निद्रः सबलेऽनिले' पा०।
२ 'शर्करां च यवक्षौद्रौ' पा०।

चूर्ण, भुने हुए गेहुओं का चूर्ण, जीवक, ऋषभक; इन्हें एकत्र मधु में मिलाकर चाटे और ऊपर से क्वथित दूध पीवे ॥ २८ ॥

क्रव्यादमांसनिर्यूहं घृतभृष्टं पिबेच्च सः।
पिप्पलीक्षौद्रसंयुक्तं मांसशोणितवर्धनम् ॥ २९ ॥

क्षीण एवं कृश उरःक्षत का रोगी मांसभोजी पशुपक्षियों के घृत में भृष्ट मांसरस में शीतल होने पर पिप्पली और मधु का प्रक्षेप देकर पीवे। यह मांस और रक्त को बढ़ाता है ॥ २९ ॥

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थप्लक्षशालप्रियङ्गुभिः।
तालमस्तकजम्बूत्वक्पियालैश्च सपद्मकैः ॥ ३० ॥
साश्वकर्णैः शृतात्क्षीराद्दध्याज्जातेन सर्पिषा।
शाल्योदनं क्षतोरस्कः क्षीणशुक्रश्च मानवः ॥ ३१ ॥

न्यग्रोध (बरगद), उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ (पीपल), प्लक्ष (पिलखन); इनकी छालें, शाल की लकड़ी, प्रियङ्गु, तालमस्तक, जामुन की छाल, पियाल (चिरौंजी) पद्माख, अश्वकर्ण (शालभेद), इनसे यथाविधि साधित दूध से निकाले गये घी से शालि चावलों का भात उरःक्षती तथा क्षीणवीर्य रोगी खाये। न्यग्रोध त्वक् आदि द्रव्य से आठ गुना दूध और दूध से चौगुना जल डालकर पकाना चाहिये। जब दूध सिद्ध हो जाय तब छानकर उससे मक्खन निकाल लें। यहां पर दूध से दही नहीं बनानी। दूध को ही मथ-कर मक्खन निकालना है ॥ ३०-३१ ॥

यष्ट्याह्वानागबलयोः क्वाथे क्षीरसमं घृतम्।
पयस्या[1]पिप्पलीवांशीकल्कसिद्धं क्षते शुभम् ॥ ३२ ॥

यष्ट्याह्वादिघृत—गौ का घी २ प्रस्थ। मुलहठी और नाग-बला का क्वाथ ८ प्रस्थ। गौ का दूध २ प्रस्थ। कल्कार्थ—पयस्या (क्षीरकाकोली अथवा क्षीरविदारी), पिप्पली, वांशी (वंशलोचन);

---

१ पयस्या क्षीरिणीति केचित्।

मिलित १ शराव । यथाविधि घृतपाक करें । यह उरःक्षत में प्रशस्त है । मात्रा—आधा तोला ॥ ३२ ॥

कोललाक्षारसे तद्वत्क्षीराष्टगुणसाधितम् ।
कल्कैः कट्वङ्गदार्वीत्वग्वत्सकत्वक्फलैर्घृतम् ॥३३॥

कोलादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । सूखे बेर और लाक्षा का एकत्र किया क्वाथ ८ प्रस्थ (कई सूखे बेरों का क्वाथ ८ प्रस्थ । और लाक्षारस ८ प्रस्थ लेते हैं) । दूध घी से आठगुना अर्थात् १६ प्रस्थ । कल्कार्थ—कट्वङ्ग (श्योनाक, अरलू) की छाल, दारुहल्दी की छाल, कुटज की छाल, इन्द्रजौ; मिलित १ शराव । यथाविधान पाक करें । यह घृत भी पूर्ववत् उरःक्षत में हितकर है । मात्रा-आधा तोला ।

कई व्याख्याकार बदरक्वाथ और लाक्षारस पृथक् घी के समान लेने को कहते हैं ॥ ३३ ॥

अमृतप्राशघृतम्

जीवकर्षभकौ वीरां जीवन्तीं नागरं शटीम् ।
चतस्रः पर्णिनीर्मेदे काकोल्यौ द्वे निदिग्धिके ॥ ३४ ॥
पुनर्नवे द्वे मधुकमात्मगुप्तां शतावरीम् ।
ऋद्धिं परूषकं भार्ङ्गीं मृद्वीकां बृहतीं तथा ॥ ३५ ॥
शृङ्गाटकं तामलकीं पयस्यां पिप्पलीं बलाम् ।
बदराक्षोटखर्जूरवातामाभिषुकाण्यपि ॥ ३६ ॥
फलानि चैवमादीनि कल्कान् कुर्वीत कार्षिकान् ।
धात्रीरसविदारीक्षुच्छागमांसरसं पयः ॥ ३७ ॥
एषां प्रस्थेऽन्मितान् भागान् घृतप्रस्थं विपाचयेत् ।
प्रस्थार्धं मधुनः शीते शर्करार्धतुलां तथा ॥ ३८ ॥
द्विकार्षिकाणि पत्रैलाहेमत्वङ्मरिचानि च ।
चूर्णितानि विनीयास्माल्लिह्यान्मात्रां सदा नरः ॥ ३९ ॥
अमृतप्राशमित्येतन्नराणाममृतं घृतम् ।

सुधामृतरसं प्राश्यं क्षीरमांसरसाशिना ॥ ४० ॥
नष्टशुक्रक्षतक्षीणदुर्बलव्याधिकर्षितान् ।
स्त्रीप्रसक्तान्कृशान्वर्णस्वरहीनांश्च बृंहयेत् ॥ ४१ ॥
कासहिक्काज्वरश्वासदाहतृष्णास्रपित्तनुत् ।
पुत्रदं वमिमूर्च्छाहृद्योनिमूत्रामयापहम् ॥ ४२ ॥

इत्यमृतप्राशघृतम् ।

अमृतप्राश घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । आंवलों का रस २ प्रस्थ । विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ । ईख का रस २ प्रस्थ । बकरे का मांस-रस २ प्रस्थ । गौ का दूध २ प्रस्थ । कल्कार्थ—जीवक, ऋषभक, वीरा (क्षीरकाकोली अथवा श्वेत मूसली), जीवन्ती, सोंठ, कचूर, शाल-पर्णी पृश्निपर्णी, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर-काकोली, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, मुलहठी, कौंच के बीज, शतावर, ऋद्धि, फालसा, भारंगी, मृद्वीका (मुनक्का), बृहती (बड़ी कटेरी), सिङ्घाड़ा, तामलकी (भुईं आंवला), पयस्या (क्षीरविदारी अथवा दुग्धिका), पिप्पली, बज्रामूल, सूखे बेर, अखरोट, पिण्डखजूर, बादाम, अभिषुक (पिस्ता) तथा इसप्रकार के अन्य फल; प्रत्येक का कल्क १ कर्ष । यथाविधि घी पकावें । जब सिद्ध होजाय तब छान लें और शीतल होने पर मधु १ प्रस्थ, खांड आधी तुला (५०पल),तेजपत्र, छोटी इलायची, नागकेसर, दारचीनी,कालीमिर्च;प्रत्येक का चूर्ण २ कर्ष मिलाकर मात्रा में पुरुष सदा चाटे । मात्रा—चौथाई तोले से एक तोले तक । यह अमृतप्राशघृत मनुष्यों के लिये अमृत के सदृश है । दूध और मांस रस का भोजन करते हुए को इस सुधा-रूपी अमृतरस का सेवन करना चाहिये । यह घृत जिनका वीर्य नष्ट हो गया है क्षतक्षीण दुर्बल रोगों से कृश मैथुनासक्त कृश हीनवर्ण और हीनस्वर व्यक्तियों का बृंहण करता है । कास हिचकी ज्वर श्वास दाह तृष्णा रक्तपित्त कै मूर्च्छा हृद्रोग योनिरोग तथा मूत्ररोगों को नष्ट

करता है। यह पुत्र-प्रसव का कारण भी है।

अमृतप्राशघृत नाम से दो योग और तन्त्रान्तरों में मिलते हैं। एक योग तो इस योग से बहुत कुछ मिलता जुलता है और दूसरा काशीराजोक्त कहाता है। काशीराजोक्त अमृतप्राशघृत भैषज्यरत्नावली के वाजीकरणाधिकार में उद्धृत है, उसे वहीं देखें। जो इस ग्रन्थ में कहे गये योग से मिलता है और उरःक्षत वा राजयक्ष्मा में प्रयुक्त होता है, उसका पाठ हम नीचे लिखते हैं—

द्राक्षाजमांसरसदुग्धविदारिकेक्षु-
　　धात्रीवरीरससमं विधिवद्विपाच्य ।
प्रस्थं घृतात्समधुकाष्टकवर्गभार्गी-
　　वीरावरीबदरनागबलाबलाभिः ॥
द्राक्षाकसेरुकपरूषकनारिकेल-
　　शृङ्गाटकोत्पलपियालमधूलिकाभिः ।
शृङ्गीमृणालकपिकच्छुकणाशटीभिः
　　सौम्यान्विताभिरिति सारिवया युताभिः ॥
शीतेऽपरेऽहनि सितार्द्धतुलासमेतं
　　प्रस्थं पृथक् च मधुनो मगधापले द्वे ।
दत्त्वार्द्धपालिकमितोषणनागपुष्प-
　　पृथ्वीवराङ्गदलचूर्णयुतः प्रयोज्यः ॥
शस्तः शोषवतामपस्मृतिवतामुन्मादिनां मेहिनां
हिक्काकामलिनामरोचकवतां सश्वासिनां कासिनाम् ।
ऊर्ध्वासृक्प्रदरप्रमूढमनसां हृद्रोगिणां गुल्मिनां
क्षीणानामुरसा भिषग्भिरमृतप्राशः प्रकाशीकृतः ॥

इस पाठ के अनुसार योग यह है—गव्यघृत २ प्रस्थ। द्राक्षा क्वाथ २ प्रस्थ। बकरे का मांसरस २ प्रस्थ। दूध २ प्रस्थ। विदारी-

२८०

कन्द का रस २ प्रस्थ। ईख का रस २ प्रस्थ । आंवलों का रस २ प्रस्थ। शतावरीस्वरस २ प्रस्थ। कल्कार्थ—मुलहठी, अष्टवर्ग की प्रत्येक ओषधि, भारंगी, वीरा (क्षीरकाकोली अथवा श्वेतमूसली), शतावर, सूखे बेर, नागबला की जड़, बला की जड़, मुनक्का, कसेरू, फालसा, नारियल, सिंघाड़ा, नीलोत्पल, चिरौंजी, जलज मुलहठी, काकड़ासिंगी, मृणाल (कमलदण्ड अथवा खस), कौंछबीज, पिप्पली, कचूर, शालपर्णी, अनन्तमूल; मिलित ८ पल । यथाविधि घृतपाक कर छान लें और शीतल होने पर दूसरे दिन घृत में ५० पल खांड, शहद २ प्रस्थ, पिप्पलीचूर्ण २ पल, कालीमिर्च, नागकेसर, इलायची, दालचीनी, प्रत्येक २ कर्ष; इनका घृत में प्रक्षेप दें॥

श्वदंष्ट्रादिघृतम्।

श्वदंष्ट्रोशीरमञ्जिष्ठाबलाकाश्मर्यकत्तृणम्[1]।
दर्भमूलं पृथक्पर्णीं पलाशर्षभकौ स्थिराम्॥ ४३॥
पालिकान् साधयेत्तेषां रसे क्षीरचतुर्गुणे।
कल्कैः स्वगुप्ताजीवन्तीमेदर्षभकजीवकैः॥ ४४॥
शतावर्यृद्धिमृद्वीकाशर्कराश्रावणीबिसैः।
प्रस्थः सिद्धो घृताद्वातपित्तहृद्द्रव[2]शूलनुत्॥ ४५॥
मूत्रकृच्छ्रप्रमेहार्शः कासशोषक्षयापहः।
धनुःस्त्रीमद्यभाराध्वखिन्नानां बलमांसदः॥ ४६॥

इति श्वदंष्ट्रादिघृतम्।

श्वदंष्ट्रादिघृत—घी २ प्रस्थ। क्वाथार्थ—गोखरू, खस, मंजिष्ठा, बलामूल, गाम्भारी, कत्तृण (गन्धतृण), दाभ की जड़, पृश्निपर्णी, पलाश (ढाक) की छाल, ऋषभक, स्थिरा (शालपर्णी); प्रत्येक १ पल जल ८८ पल, अवशिष्ट क्वाथ २२ पल। दूध घी से चौगुना अर्थात्

---

१ श्वदंष्ट्रेत्यादौ क्वाथ्यद्रव्यपरिमाणानुसारेण पादोनप्रस्थत्रयं जलं दत्वा चतुर्भागावशेषेण द्वाविंशक्वाथपलानि भवन्ति।' चक्रः। २ '०हृद्द्रव०' ग.।

८ प्रस्थ (अथवा क्वाथ से चौगुना ८८ पल)। कल्कार्थ—कौंछ के बीज, जीवन्ती, मेदा, ऋषभक, जीवक, शतावर, ऋद्धि, मृद्वीका (मुनक्का वा किशमिश), खांड, श्रावणी (गोरखमुण्डी); बिस (कमल नाल); मिलित १ शराव (८ पल) । यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा—आधातोला । यह घृत वातपित्तज हृद्द्रवशूल, मूत्रकृच्छ्र, प्रमेह, अर्श, कास, शोष, धातुओं का क्षय; इन्हें नष्ट करता है। धनुराकर्षण प्रभृति आयासोत्पादक कर्म स्त्रीभोग, मद्यपान, भार उठाना मार्ग चलना आदि कारणों से क्षीण पुरुषों के बल और मांस की वृद्धि करता है।

अथवा 'रसे क्षीरचतुर्गुणे' से यह भी अभिप्राय हो सकता है कि दूध तो घी के समान हो और क्वाथ्य द्रव्यों का क्वाथ दूध से चौगुना अर्थात् ८ प्रस्थ हो। परन्तु ८ प्रस्थ क्वाथ के लिये ११ पल क्वाथ्य द्रव्यों में ३२ प्रस्थ जल डालना असङ्गत ही है। इन्दु ४४पल क्वाथ लेने को कहता है। जो कि १६ गुना जल डालकर चतुर्थांश अवशिष्ट रखने से होता है। अथवा ११ पल क्वाथ्य द्रव्यों में ८ प्रस्थ जल डाल कर क्वाथ करें जब क्वाथ २ प्रस्थ रहजाय तो छान लें। यह क्वाथ घी के समान होगा। इसप्रकार पांचगुणे द्रव से घी का पाक होगा ॥४२–४६॥

शक्तुप्रयोगः।

मधुकाष्टपलद्राक्षाप्रस्थक्वाथे घृतं पचेत् ।
पिप्पल्यष्टपले कल्के प्रस्थं सिद्धे च शीतले ॥ ४७ ॥
पृथगष्टपलं क्षौद्रशर्कराभ्यां विमिश्रयेत् ।
समं शक्तु क्षतक्षीणे रक्तगुल्मे च तद्धितम् ॥ ४८ ॥

इति शक्तुप्रयोगः।

शक्तु प्रयोग—घी २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—मुलहठी ८ पल, द्राक्षा

---

१ 'मधूक'० पा०। मधूकेत्यादावपि क्वाथ्यमानानुसारेण क्वाथस्य सार्द्धप्रस्थो भवति', चक्रः। २ 'समं शक्तु' पा०।

१ प्रस्थ (१६ पल); जल १९२ पल, अवशिष्ट काथ ४८ पल (अथवा जल १६ गुना ३८४ पल अर्थात् डालकर काथ को ९६ पल रखना चाहिये) । कल्कार्थ–पिप्पली ८ पल । यथाविधि घृतपाक करें । शीतल होने पर घी में मधु ८ पल और खांड ८ पल मिश्रित करें । इस घी में समपरिमाण सत्तू मिलाकर प्रयोग करावें । यह क्षतक्षीण और रक्तगुल्म में हितकर है ॥ ४७-४८ ॥

अथ सर्पिर्गुडाः ।

धात्रीफलविदारीक्षुजीवनीयरसाद्घृतात्[1] ।
अजागोपयसोश्चैव सप्त प्रस्थान्पचेद्भिषग् ॥ ४९ ॥
सिद्धशीते सिताक्षौद्रं द्विप्रस्थं विनयेत्ततः ।
यक्ष्मापस्मारपित्तासृक्कासमेहक्षयापहम् ॥ ५० ॥
वयःस्थापनमायुष्यं मांसशुक्रबलप्रदम् ।

आंवले का रस २ प्रस्थ, विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ, ईख का रस २ प्रस्थ, जीवनीयगण का काथ २ प्रस्थ । घी २ प्रस्थ । बकरी का दूध २ प्रस्थ । गौ का दूध २ प्रस्थ । इन्हें स्नेहपाक के विधान से पकावे । जब घृत सिद्ध हो जाय तब शीतल होने पर खांड १ प्रस्थ और मधु २ प्रस्थ मिश्रित करे । मात्रा—एक तोला । यह घृत यक्ष्मा अपस्मार रक्तपित्त कास प्रमेह तथा धातुओं की क्षीणता को नष्ट करता है । यह वयःस्थापक आयुष्कर और मांस वीर्य एवं बल देने वाला है ।

घृतं तु पित्तेऽभ्यधिके लिह्याद्वातेऽधिके पिबेत् ॥ ५१ ॥
लीढं निर्वापयेत्पित्तमल्पत्वाद्धन्ति नानलम् ।
आक्रामत्यनिलं पीतमूष्माणं निरुणद्धि च ॥ ५२ ॥

पित्त वा वात में घी के प्रयोग का नियम—यदि पित्त अधिक हो तो घी को चाटना चाहिये और यदि वात अधिक हो तो पीना चाहिये । क्योंकि चाटा हुआ घी पित्त को शान्त करता है और मात्रा

---

[1] '०रसे घृतम् ग. ।

में अल्प होने से अग्नि को मन्द नहीं करता। वात अधिक होने पर पीया हुआ पिघला घी वायु को पराभूत करता है और उस वायु के संयोग से फैलती हुई ऊष्मा (गरमी) को रोकता है।

कई 'निरुणद्धि' के स्थल पर 'न रुणद्धि' ऐसा पढ़ते हैं। अर्थात् वह घी अग्निनाश नहीं करता।

अथवा इस वचन का यह अभिप्राय है कि खांड आदि से युक्त जो घृत हैं उनका पैत्तिकरोगों में लेहन और खांड आदि से रहित घृतों का वात में पान करना चाहिये॥ ५१–५२॥

क्षामक्षीणकृशाङ्गानामेतान्येव घृतानि च।
त्वक्क्षीरीशर्करालाजचूर्णैः स्त्यानानि योजयेत्॥ ५३॥

जिन रोगियों का देह कृश एवं क्षीण है उन्हें ये ही घृत वंशलोचन खांड तथा लाजाचूर्ण के प्रक्षेप से गाढे हुए हुए प्रयोग कराने चाहियें। घृत में वंशलोचन आदि का चूर्ण इतना मिलायें जिससे घी गाढा हो जाय॥ ५३॥

सर्पिर्गुडान् समध्वंशाञ्जग्ध्वा चानु पयः पिबेत्।
रेतो वीर्यं बलं पुष्टिं तैराशुतरमाप्नुयात्॥ ५४॥

चूर्णयुक्त गाढे इन सर्पिर्गुडों में एक भाग मधु मिलाकर खावे और ऊपर से दूध पीवे। इनके सेवन से शुक्र वीर्य बल और पुष्टि अत्यन्त शीघ्र प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है कि सर्पिर्गुड में मधु का प्रमाण वंशलोचन आदि के एकभाग के समान होगा।

अथवा अंश का अर्थ चतुर्थ भाग भी होता है अतः सार्पिर्गुडक में मधु सम्पूर्ण से चतुर्थांश लेकर प्रयोग कराना चाहिये॥ ५४॥

द्वितीयसर्पिर्गुडाः।

बला विदारी ह्रस्वा च पञ्चमूली पुनर्नवा।
पञ्चानां क्षीरिवृक्षाणां शुङ्गा मुष्ट्यंशका अपि॥ ५५॥
एषां कषाये द्विक्षीरे विदार्याजरसांशिके।

जीवनीयैः पचेत्कल्कैरत्तमात्रैर्घृताढकम् ॥ ५६ ॥
सितापलानि पूतेऽस्मिन् शीते द्वात्रिंशदावपेत् ।
गोधूमपिप्पलीवांशीचूर्णं शृङ्गाटकस्य च ॥ ५७ ॥
सक्षौद्रं कुडवांशेन तत्सर्वं खजमूर्च्छितम् ।
स्त्यानं सर्पिर्गुडान् कृत्वा भूर्जपत्रेण वेष्टयेत् ॥ ५८ ॥
तान् जग्ध्वा पलिकान् क्षीरं मद्यं चानुपिबेत्कफे ।
शोषे कासे क्षते क्षीणे श्रमस्त्रीभारकर्षिते ॥ ५९ ॥
रक्तनिष्ठीवने तापे पीनसे चोरसि स्थिते ।
शस्ताः पार्श्वशिरःशूले भेदे च स्वरवर्णयोः ६० ॥

इति द्वितीयसर्पिर्गुडाः ।

द्वितीय सर्पिर्गुडक—बलामूल, विदारीकन्द, स्वल्प पञ्चमूल (शालपर्णी, पृश्निपर्णी, बृहती, कण्टकारी, गोक्षुर पृथक् २), पुनर्नवा, पांचों क्षीरिवृक्षों (वट, पीपल, पिलखन, गूलर, बेतस पृथक् २) के शुङ्ग (पत्राङ्कुर); इस १३ पल क्वाथ्य द्रव्य में आठ गुना जल (१०४ पल) डालकर क्वाथ करें । जब चतुर्थांश (२६ पल) अवशिष्ट रह जाय तो उतार कर छान लें । इस क्वाथ से दुगुना (५२ पल) दूध । विदारीकन्द का रस २६ पल । बकरे का मांसरस २६ पल । कल्कार्थ—जीवनीयगण की ओषधियां प्रत्येक १ कर्ष । इनसे यथाविधि २ आढक (८ प्रस्थ) घी को पकावें । सिद्ध होने पर छान लें और शीतल होने पर ३२ पल खांड का प्रक्षेप दें । पीछे गेहूं का आटा, पिप्पलीचूर्ण, वंशलोचन, सिङ्घाड़े का आटा; प्रत्येक ४ पल, मधु ८ पल; इन्हें मिश्रित कर खजदण्ड से आलोडित करें । पश्चात् जब अच्छीप्रकार मिलकर गाढ़ा (लड्डू बनाने योग्य) हो जाय तो सर्पिर्गुड बनाकर भोजपत्र लपेट कर रख छोड़ें । भोजपत्र इसलिये लपेटा जाता है जिससे गुडक एक दूसरे के साथ जुड़े नहीं । सर्पिर्गुड एक एक पल के हों । सर्पिर्गुडक को खाकर ऊपर से दूध पीना चाहिये । यदि कफ अधिक हो तो दूध के

स्थान पर मद्य का अनुपानरूप में प्रयोग करना चाहिये। ये श्रम स्त्री-भोग भारवहन आदि से कृश तथा क्षीण व्यक्ति के लिये हितकर हैं। तथा च इन्हीं कारणों से उत्पन्न छाती (फेफड़ों) में स्थित यक्ष्मा कास क्षत रक्तनिष्ठीवन ताप एवं पीनस (नासास्राव) रोगों में हितकर हैं। पार्श्वशूल शिरोवेदना स्वरभेद तथा विवर्णता में प्रशस्त कहे गये हैं।

उरःस्थित (छाती में स्थित) इसीलिये कहा है कि यक्ष्मा आदि रोग अन्यत्र दोषों के स्थित होने पर भी होते हैं। परन्तु ये सर्पिर्गुडक विशेषतः वहां अधिक लाभ करते हैं जो यक्ष्मा कास क्षत आदि रोग छाती वा फेफड़ों की विकृति से सम्बन्ध रखते हैं।

योग में गेहूं का आटा डालने को कहा है इस आटे को या तो घी में हलका भून लेना चाहिये अथवा गेहुंओं को ही रेत में भून कर उस का चूर्ण करना चाहिये।

बहुत से चिकित्सक बला विदारी आदि का क्वाथ सोलहगुने जल में करते हैं उनके अनुसार दूध आदि के प्रमाण में भी भिन्नता आती है—बला आदि द्रव्यों का क्वाथ ५२ पल। दूध १०४ पल। विदारीकन्द का रस ५२ पल। बकरे के मांस का क्वाथ ५२ पल। शेष द्रव्यों का मान पूर्ववत् ही होता है।

चक्रपाणि ने तो अपने चिकित्सासारसंग्रह (चक्रदत्त) नामक ग्रन्थ में इस योग के अन्त में—

'क्वाथ्ये त्रयोदशपले द्रव्यात्पत्वभयाज्जलम्।
अष्टगुणं क्वाथसमौ विदार्याजरसौ पृथक्॥
केचिद्यथोक्तक्वाथ्ये तु क्वाथं घृतसमं जगुः।'

ये परिभाषा पढ़ी है जिसमें बताया है कि कई कहते हैं उपर्युक्त बला आदि क्वाथ्य द्रव्योंसे जो क्वाथ प्रस्तुत किया जाय वह परिमाण में घृत के समान होना चाहिये। घृत २ आढक है और क्वाथ भी २ आढक होना चाहिये। अतः १३ पल क्वाथ्य द्रव्यों में २ द्रोण जल डालकर

क्वाथ करें और चतुर्थांश आधा द्रोण (२ आढक) रहने पर उतार लें। इसके अनुसार दूध ४ आढक, विदारीरस २ आढक और बकरे का मांस-रस २ आढक लिया जायगा। इसप्रकार मिलित द्रव घी से पांचगुना होंगे। 'द्विक्षीर' का अर्थ यह भी किया जाता है कि जिसमें दो प्रकार का दूध हो अर्थात् बकरी का दूध और गौ का दूध। जब दो प्रकार के दूध लिये जांयगे तो प्रत्येक दूध क्वाथ के समान होगा। तन्त्रान्तर में भी कहा है—

'पुनर्नवां बलां ह्रस्वां पञ्चमूलीं विदारिकाम्।
उडुम्बरवटाश्वत्थप्लक्षवेतसशुङ्गकान्॥
पलिकांशान् जलद्रोणे पक्त्वा पादावशेषिते।
पादांशैश्छागगोक्षीरविदार्याजरसैः पृथक्॥
कर्षांशैर्जीवनीयैश्च कल्कैराज्याढकं पचेत्।
कृष्णागोधूमशृङ्गाटवांशीक्षौद्राञ्जलिं पृथक्॥
सिद्धे प्रस्थौ सितायाश्च दत्त्वा खादेत् खजाहतम्।
एतद्गुडीकृतं सर्पिर्घटे भूर्जान्वितं स्थितम्।
अनुपानं पिबेत् क्षीरं पित्ते मद्यं कफे हितम्॥
क्षतक्षयाम्लपित्तघ्नं ज्वरशोषप्रणाशनम्॥'

इस में 'पादांशैः' से अभिप्राय बकरी के दूध आदि को पृथक् चतुर्थांश अवशिष्ट क्वाथ के समान परिमाण में लेने से है।

अतः तन्त्रान्तरसंवाद के कारण यही विधान ठीक है। परन्तु व्यवहार प्रायः क्वाथ्य द्रव्यों में सोलह गुना जल देकर चतुर्थांश अवशेष रखने वाले मत के अनुसार प्रचलित है।

अष्टगुण जल देकर क्वाथ करने वालों के मत के अनुसार २ आढक घी के यथावत् पाक के लिये द्रव अत्यल्प होता है अतः वैद्य उस मत की उपेक्षा करते हैं।

कई घी को चतुर्गुण द्रव से सिद्ध करना चाहिये इस नियम के

अनुसार क्वाथ्य द्रव्यों को तो २ द्रोण जल में डालकर २ आढक क्वाथ अवशेष रखते है पर विदारीकन्द का रस (१ आढक) और छागमांसरस (१ आढक) दोनों मिलाकर २ आढक लेने को कहते हैं। इस प्रकार सामान्य नियम के अनुसार घी का संस्कार चतुर्गुण द्रव द्वारा होता है।

यहांपर पूर्व दूध को कषाय से दुगुना तथा विदारीरस और छागरस को कषाय के समान कहा है परन्तु वस्तुतः 'द्विक्षीरे विदार्याजरसांशिके' में दूध घी से दुगुना और विदारीकन्द का रस और छागमांसरस घी के समान लिया जाना चाहिये । क्वाथ का यतः मान नहीं दिया अतः तन्त्रान्तर के संवाद से वह घी के समान लिया जायगा। इस प्रकार द्रव घी से पञ्चगुण वा चतुर्गुण ही हो सकता है। सामान्यतः स्नेहपाकों में जहां द्विगुण त्रिगुण आदि वा समान लिखा होता है वहां स्नेह की अपेक्षा करके ही समझा जाता है।

ग्रन्थकार ने इस सर्पिर्गुड की मात्रा १ पल कही है परन्तु आजकल १ तोला मात्रा पर्याप्त है ॥ ५५-६० ॥

तृतीयसर्पिर्गुडकाः ।

त्वक्क्षीरीश्रावणीद्राक्षामूर्वर्षभकजीवकैः ।
वीरर्धिक्षीरकाकोलीबृहतीकपिकच्छुभिः ॥ ६१ ॥
खर्जूरफलमेदाभिः क्षीरपिष्टैः पलोन्मितैः ।
धात्रीविदारीक्षुरसप्रस्थैः प्रस्थं घृतात्पचेत् ॥ ६२ ॥
शर्करार्धतुलां शीते क्षौद्रार्धप्रस्थमेव च ।
क्षिप्त्वा सर्पिर्गुडान्कुर्यात्कासहिक्काज्वरापहान् ॥ ६३ ॥
यक्ष्माणं तमकं श्वासं रक्तपित्तं हलीमकम् ।
शुक्रनिद्राक्षयं तृष्णां हन्युः कार्श्यं सकामलम् ॥ ६४ ॥

इति तृतीयसर्पिर्गुडकाः ।

तृतीय सर्पिर्गुडक—घी २ प्रस्थ । आंवले का रस २ प्रस्थ । विदारीकन्द का रस २ प्रस्थ । ईख का रस २ प्रस्थ । कल्कार्थ—वंशलोचन, श्रावणी (मुण्डी), द्राक्षा (मुनक्का), मूर्वामूल, ऋषभक, जीवक, वीरा (श्वेतमूसली), ऋद्धि, क्षीरकाकोली, बृहती, कौंछबीज, पिण्डखजूर, मेदा; प्रत्येक १ पल । कल्क को अच्छी प्रकार गौ के दूध से पीस लेना चाहिये । यथाविधि घृतपाक करें । सिद्ध होने पर निर्मल वस्त्र से छान लें । शीतल होने पर खांड आधी तुला (५० पल) और शहद १ प्रस्थ (१६ पल) डालकर सर्पिर्गुडक बनावे । ये खांसी हिचकी ज्वर यक्ष्मा तमकश्वास रक्तपित्त हलीमक शुक्रक्षय (वीर्यक्षीणता) अनिद्रा तृष्णा कृशता और कामला को नष्ट करते हैं । मात्रा—एक तोला ॥ ६१–६४ ॥

चतुर्थसर्पिर्गुडकाः ।

नवमामलकं द्राक्षामात्मगुप्तां पुनर्नवाम् ।
शतावरीं विदारीं च समांशां पिप्पलीं तथा ॥ ६५ ॥
पृथग्दशपलान् भागान् पलान्यष्टौ च नागरात् ।
यष्ट्याह्वसौवर्चलयोर्द्विपलं मरिचस्य च ॥ ६६ ॥
क्षीरतैलघृतानां च त्र्याढके शर्कराशते ।
क्वथिते तानि चूर्णानि दत्त्वा बिल्वसमान् गुडान् ॥ ६७ ॥
कुर्याचान्भक्षयेत्क्षीणः क्षतशुष्कश्च मानवः ।
तेन सद्यो रसादीनां वृद्ध्या पुष्टिं स विन्दति ॥ ६८ ॥

इति चतुर्थसर्पिर्गुडकः ।

चतुर्थ सर्पिर्गुडक—गौ का दूध २ आढक, तिलतैल २ आढक, घी २ आढक; इन्हें एकत्र मिश्रितकर १०० पल खांड डाल दें और आग पर चढ़ा दें । जब दूध कुछ सूखकर गाढ़ा हो जाय तब आंवले, द्राक्षा, कौंछ के बीज, पुनर्नवा, शतावर, विदारीकन्द, समांशा (बलामूल), पिप्पली; प्रत्येक का चूर्ण १० पल, सोंठ का चूर्ण ८ पल, मुलहठी

१ 'द्राक्षां नवामामलकीमात्म०' च. ।

चूर्ण १ पल, सौंचरनमक १ पल, कालीमिर्च का चूर्ण २ पल का प्रक्षेप देकर अच्छीप्रकार मिला दें और एक एक पल के गुडक बनावे। इन्हें क्षीण तथा उरःक्षत से शुष्क पुरुष खाये। रस आदि की वृद्धि से वह सद्यः पुष्ट होता है।

यदि पूर्व दूध का खोया कर उसे घी और तेल में भून लें और पश्चात् खांड तथा आंवले आदि का चूर्ण मिश्रित करके गुडक बनायें तो सब से उत्तम रहेगा। ये गुडक पर्याप्त काल तक रह सकेंगे, बिगडेंगे नहीं।

आजकल के नागरिकों के लिये इसकी एक तोला मात्रा ही पर्याप्त है। चक्रपाणि कालीमिर्च का चूर्ण एक पल डालने को कहता है।

गंगाधर मुलहठी और सौंचलनमक प्रत्येक के चूर्ण को २पल डालता है। परन्तु षष्ठयन्त पाठ होने से द्रव्य के अप्रधान और मान के प्रधान होने से एक एक पल ही डालना चाहिये। जतूकर्ण ने भी एक एक पल ही प्रक्षेप देने को कहा है—

'घृततैलपयस्त्र्याढके सितातुलाञ्च प्रपच्य द्राक्षाविदारीवृश्चीरशतावरी-कृष्णाशूर्पणीबलाधात्रीश्च दशपलिकाः प्रपचेत् । यष्ट्याह्वारुचकञ्च पलिकमित्यादि ।

अष्टाङ्गसंग्रह में समांशा के स्थान पर समंगा पढ़ा है । समंगा बला का वाचक भी है ॥ ६५—६८॥

सर्पिर्मोदकः ।

गोक्षीराद् द्व्याढकं सर्पिः प्रस्थमिक्षुरसाढकम् ।
विदार्याः स्वरसात्प्रस्थं रसात्प्रस्थं च तैत्तिरात् ॥ ६९ ॥
दद्यात्सिध्यति तस्मिंस्तु पिष्टानिक्षुरसैरिमान् ।
मधूकपुष्पं कुडवं पियालकुडवं तथा ॥ ७० ॥
कुडवार्धं तुगाक्षीर्याः खर्जूराणां च विंशतिम् ।
पृथग्बिभीतकानां च पिप्पल्याश्च चतुर्थिकाम् ॥ ७१ ॥

त्रिंशत्पलानि खण्डाच्च मधुकात्कर्षमेव च ।
तथाऽर्धपलिकान्यत्र जीवनीयानि दापयेत् ॥ ७२ ॥
सिद्धेऽस्मिन्कुडवं क्षौद्रं शीते क्षिप्त्वाऽथ मोदकान् ।
कारयेन्मरिचाजाजीपलचूर्णावचूर्णितान् ॥ ७३ ॥
वातासृक्पित्तरोगेषु क्षतकासक्षयेषु च ।
शुष्यतां क्षीणशुक्राणां रक्ते चोरसि संस्थिते ॥ ७४ ॥
कृशदुर्बलवृद्धानां पुष्टिवर्णबलार्थिनाम् ।
योनिदोषक्षतस्रावहतानां चापि योषिताम् ॥ ७५ ॥
गर्भार्थिनीनां गर्भश्च स्रवेद्यासां म्रियेत वा ।
धन्या बल्या हितास्ताभ्यः शुक्रशोणितवर्धनाः ॥ ७६ ॥

इति सर्पिर्मोदकः ।

सर्पिर्मोदक—गौ का दूध ४ आढक, घी २ प्रस्थ, ईख का रस २ आढक, विदारीकन्द का स्वरस २ प्रस्थ, तीतर के मांस क्वाथ २प्रस्थ। पूर्व घी में दूध डाल कर पकावें जब दूध गाढ़ा होजाय पूर्ण शुष्क न हो तब ईख का रस डाल दें और मन्द आंच पर पकने दें इसी प्रकार सब द्रवों से पाक करें । द्रव को पूरा न सुखायें । घी के साथ गाढा द्रव रहने दें । अब इसमें महुए के फूल १ कुडव (४ पल), चिरौंजी १ कुडव, वंशलोचन आधा कुडव (२ पल), पिण्डखजूर २० (संख्या से), बहेड़े २० (संख्या से), पिप्पली १ पल, खांड ३० पल, मुलहठी १ कर्ष, जीवनीयगण की प्रत्येक औषध आधापल (२ कर्ष); इन्हें ईख के रस में अच्छीप्रकार पीसकर डाल दें और कड़छी से सम्यक्तया मिला दें । जब ठीक होजाय तब नीचे उतार लें और शीतल होने पर मधु ८ पल डाल कर मोदक बनालें । इन मोदकों पर कालीमिर्च और जीरे का चूर्ण मिलित १ पल का अवचूर्णन कर दें । ये मोदक वातरक्त पित्तरोग उरःक्षत खांसी धातुओं की क्षीणता शोष वीर्य की क्षीणता तथा फुप्फुसस्थित रक्त में (अर्थात् जब फुप्फुसों में

१ 'ःक्षत०' ग. ।

क्षत होने के कारण मुंह से रक्त आता हो) प्रयोग कराने चाहियें। कृश दुर्बल बूढ़े जो पुष्टि वर्ण और बल चाहते हों, जो स्त्रियां योनि-दोष योनिक्षत वा योनिस्राव से पीड़ित हों,जो गर्भधारण चाहती हों(अर्थात् जिन्हें गर्भ न होता हो) और जिन्हें गर्भस्राव हो जाता हो अथवा गर्भ मर जाता हो उनके लिये ये धन्य हैं बलकारक हैं और हितकर हैं। ये शुक्र शोणित को बढ़ाते हैं। मात्रा—एक तोला।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'गोक्षीराद्द्व्याढकं' के स्थलपर ' गोक्षीरार्धाढकं ' पढ़ा है। विदारीस्वरस का प्रमाण कुडव (४ पल) डालने को कहा है 'पृथग्बिभीतकानां च' के स्थान पर 'पृथग्त्रिभीतकान्मज्ज्ञः' ऐसा पाठ है। 'सिद्धेऽस्मिन्कुडवं' के स्थान पर 'सिद्धे द्विकुडवं' पाठ है-जिसके अनुसार मधु का प्रमाण १६ पल हो जायगा ॥ ६९—७६ ॥

बस्तिदेशे विकुर्वाणे स्त्रीप्रसक्तस्य मारुते।
वातघ्नान् बृंहणान् वृष्यान् योगांस्तस्य प्रयोजयेत् ॥ ७७ ॥

अति स्त्रीभोग के कारण कुपित वायु बस्ति देश में जिस पुरुष के विकार को उत्पन्न करता है उसे वातनाशक बृंहण और वृष्य योगों का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ७७ ॥

शर्करापिप्पलीचूर्णैः सर्पिषा माक्षिकेण च।
संयुक्तं वा शृतं क्षीरं पिबेत्कासज्वरापहम् ॥ ७८ ॥

अथवा क्वथित दूध में खांड पिप्पलीचूर्ण घी और मधु का प्रक्षेप देकर रोगी पीवे। यह कास और ज्वर को नष्ट करता है। इस योग को पञ्चसार भी कहते हैं ॥ ७८ ॥

फलाम्लं सर्पिषा भृष्टं विदारीक्षुरसे शृतम्।
स्त्रीषु क्षीणः पिबेद्यूषं जीवनं बृंहणं परम् ॥ ७९ ॥

स्त्रीसम्भोग से क्षीण व्यक्ति विदारीकन्द और ईख के रस में पकाये हुए तथा घी में भृष्ट यूष को अनार नीबू वा इमली आदि के रसों से थोड़ा खट्टा करके पीवे। यह जीवन और परम बृंहण है। यहां यूष

पाक में जल के स्थान पर विदारीकन्द और ईख का रस डाला जायगा। यूष मूंग आदि विदलों से प्रस्तुत होता है ॥ ७९ ॥

शक्तूनां वस्त्रपूतानां मन्थं क्षौद्रघृतान्वितम् ।
यवान्नसात्म्यो[1] दीप्ताग्निः क्षतक्षीणः पिबेन्नरः ॥ ८० ॥

जिस क्षतक्षीण दीप्ताग्नि व्यक्ति को जौ का आहार सात्म्य हो उसे वस्त्र से छाने हुए सत्तुओं के मन्थ में मधु और घी मिलाकर पीना चाहिये। द्रवालोडित सत्तू मन्थ कहाते हैं ॥ ८० ॥

जीवनीयोपसिद्धं वा घृतभृष्टं तु जाङ्गलम् ।
रसं प्रयोजयेत् क्षीणे व्यञ्जनार्थे सशर्करम् ॥ ८१ ॥

अथवा क्षीण व्यक्ति को आहार के साथ व्यञ्जन के लिये जीवनीय गण की ओषधियों से सिद्ध घी में भृष्ट एवं खांड से युक्त जाङ्गल पशु-पक्षियों के मांसरस प्रयोग कराने चाहियें ॥ ८१ ॥

गोमहिषष्यविनागाजैः क्षीरैर्मांसरसैस्तथा ।
यथाग्नि भोजयेद्यूषैः फलाम्लैर्घृतसंस्कृतैः ॥ ८२ ॥

गौ भैंस भेड़ हथिनी बकरी, इनके दूधों के साथ तथा ताज़े फलों के खट्टे रसों से अम्लीकृत और घृत से संस्कृत मांसरसों एवं यूषों के साथ अग्नि के अनुसार अन्न खिलावे ।

अष्टाङ्गसंग्रह में 'यथाग्नि' के स्थान पर 'यवान्नं' पाठ है ॥८२॥

दीप्तेऽग्नौ विधिरेषः स्यान्मन्दे दीपनपाचनः ।
यक्ष्मिणां विहितो ग्राही भिन्ने शकृति चेष्यते ॥ ८३ ॥

यह उपर्युक्त विधान दीप्ताग्नि पुरुष के लिये है । अग्नि के मन्द होने पर दीपनपाचन विधि और शकृद्भेद वा मल के पतला आने पर यक्ष्मचिकित्सितोक्त संग्राही विधि अभीष्ट है ॥ ८३ ॥

सैन्धवादिचूर्णम् ।

पलिकं सैन्धवं शुण्ठी द्वे च सौवर्चलात्पले ।

---

1 'यावन्न सात्म्यो' ग. ।

कुडवांशानि वृक्षाम्लं दाडिमं पत्रमर्जकात् ॥ ८४ ॥
एकैकं मरिचाजाज्योर्धान्यकाद् द्वे चतुर्थिके ।
शर्करायाः पलान्यत्र दश द्वे च प्रदापयेत् ॥ ८५ ॥
कृत्वा चूर्णमतो मात्रामन्नपाने प्रयोजयेत् ।
रोचनं दीपनं बल्यं पार्श्वार्तिश्वासकासनुत् ॥ ८६ ॥

इति सैन्धवादिचूर्णम् ।

सैन्धवादि चूर्ण—सैन्धानमक १ पल, सोंठ १ पल, सौंचरनमक २ पल, वृक्षाम्ल (विषांबिल) ४ पल, अनारदाना ४ पल, तुलसी के पत्ते ४ पल, कालीमिर्च १ पल, जीरा श्वेत १ पल, धनियां २ पल, खांड १२ पल, इस चूर्ण को मात्रा में रोगी को अन्नपान में प्रयोग करावे । यह रुचिकर, दीपन, बलकारक है पार्श्वशूल तथा श्वास कास को नष्ट करता है । मात्रा—४ मासे ॥ ८४—८६ ॥

षाडवः ।

एका षोडशिका धान्याद् द्वे द्वेऽजाज्यजमोदयोः ।
ताभ्यां दाडिमवृक्षाम्लाद् द्विर्द्विः सौवर्चलात्पलम् ॥ ८७ ॥
शुण्ठ्याः कर्षं दधित्थस्य मध्यात्पञ्च पलानि च ।
तच्चूर्णं षोडशपले शर्कराया विमिश्रयेत् ॥ ८८ ॥
मन्दानले शकृद्भेदे यक्ष्मिणामग्निवर्धनः ।
षाडवोऽयं प्रदेयः स्यादन्नपानेषु पूर्ववत् ॥ ८९ ॥

इति षाडवः ।

षाडव—धनियां १ पल, श्वेत जीरा २ पल, अजवाइन २ पल, अनारदाना ४ पल, वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक, विषांबिल) ४ पल, सौंचरनमक १ पल, सोंठ १ कर्ष, कैथ की शुष्क मज्जा ५ पल (कैथ फल का ऊपर का कठोर छिलका उतार कर मध्यभाग प्रयुक्त होता है); इस चूर्ण को १६ पल खांड में मिलावें । मात्रा—४ मासे । यक्ष्मा के रोगियों की अग्नि को बढ़ाने वाला यह षाडव मन्दाग्नि और शकृद्भेद (पुरीष का पतला

आना) में पूर्ववत् अन्नपानों देना में चाहिये।

इन्दु 'ताभ्यां' से जीरा और अजवाइन दोनों का मिलित ग्रहण करके उससे द्विगुण अनारदाना और वृक्षाम्ल को पृथक् २ लेता है अर्थात् अनारदाना ८ पल और वृक्षाम्ल ८ पल डालने को कहता है। पर यह भूल है। 'ताभ्यां' से दो पलों का ग्रहण है और दो पल से द्विगुण अर्थात् ४ पल ही अनारदाना और ४ पल ही वृक्षाम्ल लेना उचित है। जतूकर्ण ने भी कहा है—

'पलिके धान्यकरुचके, द्वौ जीरकदीप्यकौ, शुण्ठ्याश्च कर्षः, कपित्थदाडिमवृक्षाम्लानां कुडवमित्यादि ॥ ८७-८९ ॥

पिबेन्नागबलामूलमर्धकर्षाविवर्धनम् ।
पलं क्षीरयुतं मासं क्षीरवृत्तिरनन्नभुक् ॥ ९० ॥
एष प्रयोगः पुष्ट्यायुर्बलारोग्यकरः परः ।
मण्डूकपर्ण्याः कल्पोऽयं शुण्ठीमधुकयोस्तथा ॥ ९१ ॥

क्षीण पुरुष नागबला (गंगेरन) की जड़ को आधे कर्ष से प्रारम्भ कर प्रतिदिन आधा २ कर्ष बढ़ाते हुए पल पर्यन्त बढ़ाकर एक मास तक प्रयोग करे। इसके सेवन काल में पुरुष अन्न न खाये। भूख लगने पर केवल दूध ही पीवे। यह प्रयोग पुष्टि आयु बल और आरोग्य करने वाला है। आधुनिक मात्रा—२ मासे से ६ मासे तक।

इसी विधान के अनुसार मण्डूकपर्णी का तथा सोंठ और मुलहठी का कल्प है ॥ ९०-९१ ॥

यद्यत्संतर्पणं शीतमविदाहि हितं लघु ।
अन्नपानं निषेव्यं तत्क्षतक्षीणैः सुखार्थिभिः ॥ ९२ ॥

जो जो अन्नपान सन्तर्पण शीतल अविदाही लघु एवं हितकर है वह वह आरोग्य के इच्छुक क्षतक्षीण रोगियों को सेवन करना चाहिये ॥ ९२ ॥

यच्चोक्तं यक्ष्मिणां पथ्यं कासिनां रक्तपित्तिनाम् ।

तच्च कुर्यादवेक्ष्याग्निं व्याधिं सात्म्यबलं तथा ॥ ६३ ॥

जो यक्ष्मा कास और रक्तपित्त के रोगियों के लिये पथ्य कहा गया है वह भी अग्नि रोग सात्म्य और बल की परीक्षा करके रोगी को सेवन कराना चाहिये ॥ ६३ ॥

उपेक्षिते भवेच्चस्मिन्ननुबन्धो हि यक्ष्मणः ।
प्रागेवागमनात्तस्य तस्मात्तं त्वरया जयेत् ॥ ६४ ॥

क्षतक्षीण की उपेक्षा से राजयक्ष्मा का अनुबन्ध हो जाता है अतः वैद्य को चाहिये कि वह राजयक्ष्मा होने से पूर्व ही शीघ्रता से उसे जीते ॥ ४४ ॥

तत्र श्लोकौ ।

क्षतक्षयसमुत्थानं सामान्यपृथगाकृतिम् ।
असाध्ययाप्यसाध्यत्वं साध्यानां सिद्धिमेव च ॥ ६५ ॥
उक्तवान् ज्येष्ठशिष्याय क्षतक्षीणचिकित्सिते ।
तत्त्वार्थविद्वीतरजस्तमोमोहः पुनर्वसुः ॥ ६६ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने क्षतक्षीण-चिकित्सितं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

उपसंहार—क्षतक्षय का निदान, सामान्य लक्षण, पृथक् २ लक्षण, उसकी असाध्यता याप्यता वा साध्यता, साध्यों की चिकित्सा; ये सब विषय क्षतक्षीणचिकित्साध्याय में तत्वज्ञानी रज तम एवं मोह से रहित भगवान् पुनर्वसु ने शिष्य अग्निवेश को कहे हैं ॥६५–६६॥

इति क्षतक्षीणचिकित्सा ।

द्वादशोऽध्यायः ।

अथातः श्वयथुचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम श्वयथुरोग की चिकित्सा की व्याख्या करेंगे—ऐसा भग-वान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

भिषग्वरिष्ठं सुरसिद्धजुष्टं मुनीन्द्रमत्र्यात्मजमग्निवेशः।
महागदस्य श्वयथोर्यथावत्प्रकोपरूपप्रशमानपृच्छत् ॥ २ ॥

चिकित्सकश्रेष्ठ देवताओं तथा सिद्ध पुरुषों से सेवित मुनीन्द्र आत्रेय से अग्निवेश ने श्वयथुनामक महारोग के प्रकोप (निदान) रूप और चिकित्सा को यथावत्—प्रणामादि करके पूछा ॥ २ ॥

तस्मै जगादागदवेदसिन्धुप्रवर्तनाद्रिप्रवरोऽत्रिजस्तान्[1]।
वातादिभेदात्त्रिविधस्य सम्यङ्निजानिजैकाङ्गजसर्वजस्य ॥ ३ ॥

आयुर्वेदरूपी महानद के प्रवृत्त करने में हिमालय की उपमा वाले भगवान् आत्रेय ने अग्निवेश को वात आदि दोषों के भेद से त्रिविध तथा निज और आगन्तु एवं एकाङ्गज (एक अङ्ग में होने वाले) और सर्वाङ्गज (सम्पूर्ण देह में होने वाले) शोथ का निदान लक्षण और भेषज कहीं ॥ ३ ॥

शुद्ध्यामयाभक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ४ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ५

निजश्वयथु के हेतु—वमनविरेचन आदि संशोधन व्याधि तथा उप-वास से कृश एवं निर्बल व्यक्ति का क्षार अम्ल तीक्ष्ण उष्ण तथा गुरु द्रव्यों का निरन्तर सेवन अथवा दही कच्चा आहार मिट्टी शाक एवं विरोधी दूषित वा गर (संयोगजविष) मिश्रित अन्न का सेवन, अर्श, अचेष्टा (कोई चेष्टा वा श्रम का कार्य न करना, आलसियों की तरह बैठे रहना), देह की शुद्धि न करना (दोष के शोधन के आवश्यक होने पर शोधन न करना), मर्म पर अभिघात (चोट),

---

१ '०सिन्धुः प्रवर्त्तनाद् विप्रवरो०' ग.।

प्रसव का उचित रूप में न होकर विषमरूप में होना (गर्भपात आदि होना), चिकित्सा वा वमन आदि कर्म का मिथ्या प्रयोग; यह निज शोथ का हेतु कहा है।

मर्म पर चोट बाह्यहेतु दण्ड आदि के लगने से वा आन्तरिक विकृति से हो सकती है। बाह्य चोट आदि हेतु से उत्पन्न शोथ आगन्तु होगा वहां पीछे से दोषों का अनुबन्ध हो ही जाता है। निज शोथ के हेतुओं में मर्म पर दोषकृत अभिघात—आन्तरिक विकृति का ही परिगणन किया जायगा ॥ ५ ॥

बाह्यस्त्वचो दूषयिताऽभिघातः काष्ठाश्मशस्त्राग्न्यशनीविषा[1]द्यैः।
आगन्तुहेतुः,

आगन्तु श्वयथु के हेतु—लकड़ी अग्नि पत्थर वज्र शस्त्र आदि द्वारा त्वचा का दूषक बाह्य अभिघात (चोट) आगन्तु शोथ का हेतु है।

त्रिविधो निजश्च सर्वार्धगात्रावयवाश्रितत्वात् ॥६॥

निजशोथ के भेद—निज शोथ तीन प्रकार का है। एक वह जो सम्पूर्ण देह में हो, दूसरा वह जो आधे शरीर में हो और तीसरा वह जो किसी एक अवयव में हो।

इसप्रकार आगन्तु को भी त्रिविध ही जानना चाहिये ॥६॥

बाह्याः सिराः प्राप्य यदा कफासृक्पित्तानि सन्दूषयतीह वायुः।
तैर्बद्धमार्गः स तदा विसर्पन्नुत्सेधलिङ्गं श्वयथुं करोति ॥ ७ ॥

श्वयथु की सम्प्राप्ति—जब दुष्ट वायु बाह्य सिराओं में पहुंचकर कफ रक्त और पित्त को दूषित करता है तब उनके द्वारा मार्ग के रुक जाने पर अन्य देश में न जा सकने के कारण वहीं फैलता हुआ वायु उत्सेध (उठाव) लक्षण वाले शोथ का कारण होता है। वृद्ध वाग्भट नि० अ० १३ में—

पित्तरक्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिः सिराः।

---

१ 'काष्ठाग्निशल्याश्मविषायसाद्यैः' ग.।

नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात् त्वङ्मांससंश्रयम् ॥
उत्सेधं संहतं शोफं.................... ॥

अर्थात् दुष्ट वायु दुष्ट हुए हुए पित्त रक्त और कफ को बाहिर की सिराओं में ले जाकर उनके द्वारा मार्गरोध होने पर त्वचा और मांस में आश्रित शोफ को उत्पन्न करता है ॥ ७ ॥

उरःस्थितैरूर्ध्वमधश्च वायोः स्थानस्थितैर्मध्यगतैश्च मध्ये ।
सर्वाङ्गगः सर्वगतैः क्वचित्स्थैर्दोषैः क्वचित्स्याच्छ्वयथुस्तदाख्यः ८

जब दोष उरोदेश में स्थित होते हैं तब ऊपर के देश में शोथ होता है। जब वायु के स्थान (पक्वाशय वा बस्ति) में स्थित होते हैं तब नीचे के देश में और जब देह के मध्यभाग में स्थित होते हैं तो मध्यदेह में शोथ होता है।

जब दोष सर्वदेहगत होते हैं तो सर्वाङ्गशोथ और जब कहीं अवयवविशेष में स्थित होते हैं तब अवयवविशेष में शोथ होता है। अथवा दोष कहीं होता है और शोथ कहीं होता है, जैसे जिगर में दोष होने पर पैर में शोथ। और वह शोथ उस २ नाम से कहा जाता है। यथा—जब पैरों पर शोथ हो तो पादशोथ जब हाथ पर हो तो हस्तशोथ इत्यादि। अन्यत्र कहा भी है—

'............तैर्दोषा वक्षसि स्थिताः ।
ऊर्ध्वं शोफमधो बस्तौ मध्ये कुर्वन्ति मध्यगाः ॥
सर्वाङ्गगाः सर्वगतं प्रत्यङ्गेषु तदाश्रयाः ॥' अ० सं० नि० अ० १३ ॥८

ऊष्मा तथा स्याद्दवथुः सिराणामायाम इत्येव च पूर्वरूपम् ।

श्वयथु के पूर्वरूप—ऊष्मा (गर्मी—भावी शोथ के स्थान पर तापांश का अधिक होना), दवथु (उपताप—चक्षु आदि इन्द्रियों में दाह), और सिराओं में खिंचावट; ये ही श्वयथु का पूर्वरूप है।

अन्यत्र अङ्ग की गुरुता को भी पूर्वरूपों में गिना है। यथा—

---

१ 'ऊर्ध्वं स्थितै०' ग.।

'तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ।'

सर्वस्त्रिदोषोऽधिकदोषलिङ्गैस्तत्संज्ञमभ्येति भिषग्जितं च ॥९॥

शोथों के त्रिदोषज होने पर भी वातज आदि संज्ञा में हेतु—

सब श्वयथु त्रिदोषज हैं। परन्तु जिस शोथ में जिस दोष के लक्षण अधिक दिखाई देते हैं उस शोथ का उस दोष से उत्पन्न होना कहा जाता है। शोथ एकदोषज नहीं होता तीनों दोष ही शोथ को उत्पन्न करते हैं। यदि शोथ में वात के लक्षण अधिक दिखाई दें तो वह त्रिदोषज होते हुए भी वातज कहा जाता है। पित्त के लक्षण अधिक होने पर पित्तज इत्यादि।

इसीप्रकार इन शोथों की चिकित्सा में भी भेद होता है। जब अधिक लक्षण वात के होंगे तो वात की चिकित्सा प्रधानतः होगी और साथ ही शेष दोषों की गौण रूप से। इसीप्रकार पित्तज श्लैष्मिक आदि शोथों में समझ लेना चाहिये ॥ ९ ॥

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माथ सिरातनुत्वम् ।
सलोमहर्षाङ्गविवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥१०॥

श्वयथु का सामान्य लक्षण—गुरुता, शोथ की अस्थिरता (कभी अधिकता कभी कमी, अथवा एक देश में होकर वहां से हट कर दूसरे देश में चले जाना), उत्सेध (उठाव), ऊष्मा (गर्मी), शिराओं की कृशता (पतलापन), लोमहर्ष, अङ्ग के वर्ण का विकृत होना; यह श्वयथु का सामान्य लिङ्ग है।

'सिरातनुत्वं' के स्थान पर 'सिराततत्वं भी पाठ हो सकता है। अर्थात् शोथ स्थान का सिराओं से व्याप्त दीखना भी लक्षणों में से एक है ॥ १० ॥

चलस्तनुत्वक्परुषोऽरुणोऽसितः प्रसुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ११

वातज शोथ का रूप—सञ्चरणशील, पतली त्वचा वाला,

खुरदरा, अरुण वा कृष्ण वर्ण का, प्रसुप्तियुक्त (स्पर्शज्ञान विहीन), रोमहर्ष और झिनझिन करती वेदना से युक्त शोथ वायु से होता है। वातज शोथ अकारण ही शान्त भी हो जाता है। यदि शोथस्थान को अंगुली से दबायें तो वह स्थान पुनः फूल आता है। इस शोथ का बल दिन में अधिक होता है। वृद्धवाग्भट नि० अ० १३ में कहा है—

'वाताच्छोफश्चलो रूक्षः खररोमारुणासितः।
सङ्कोचस्पन्दहर्षार्त्तितोदभेदप्रसुप्तिमान् ॥
क्षिप्रोत्थानशमः शीघ्रमुन्नमेत् पीडितस्तनुः।
स्निग्धोष्णमर्दनैः शाम्येद्रात्रावल्पो दिवा महान् ॥
त्वक् च सर्षपलिप्तेव तस्मिंश्चिमचिमायते' ॥ ११ ॥

मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः।
य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत्स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् १२

पित्तज श्वयथु का रूप—जो शोथ मृदु, गन्धयुक्त, कृष्णपीत वर्ण वाला हो जिसमें रोगी भ्रम (चक्कर आना), ज्वर, पसीना, प्यास और मद से आक्रान्त हो, जिस शोथ में दाह हो, छूने से ही वेदना होती हो, जिसमें रोगी की आंखें लाल हों, वह पित्तज होता है। इसमें अत्यन्त दाह होती है और बहुधा पक जाया करता है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में पित्तजश्वयथु के लक्षण इसप्रकार कहे हैं—

'पीतरक्तासिताभासः पित्तादाताम्ररोमकृत्।
शीघ्रानुसारप्रशमो मध्ये प्राग्जायते तनोः ॥
सतृड्दाहज्वरस्वेददवक्लेदमदभ्रमः।
शीताभिलाषी विड्भेदी गन्धी स्पर्शासहो मृदुः ॥' १२ ॥

गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत्।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः १३

श्लैष्मिक श्वयथु के रूप—श्लैष्मिक श्वयथु गुरु, स्थिर (जो सञ्चरण

१ 'उष्यतेऽस्पर्शसहोऽक्षि०' च.।

शील न हो), पाण्डुवर्ण होता है । अरुचि लालाप्रसेक निद्रा अग्निमान्य; इनसे रोगी आक्रान्त होता है । यह शोथ चिर से उत्पन्न होता और चिर से ही शान्त होता है । यदि इसे दबाया जाय तो यह पुनः देर तक उन्नत नहीं होता श्लैष्मिक श्वयथु का बल रात्रि को अधिक होता है ।

रात्रि के समय स्रोतोरोध से उत्पन्न क्लेद के कारण तथा देह के निश्चेष्ट होने से कफ बलवान् होता है अतएव कफज शोथ रात्रि के समय बढ़ता है । दिन में स्रोतों के अपेक्षया खुल जाने से तथा चेष्टा के कारण कफ का बल घट जाता है अतएव कफज शोथ में कमी आ जाती है । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १३ में निम्न लक्षण कहे हैं—

'कण्डूमान् पाण्डुरोमत्वक्कठिनः शीतलो गुरुः ।
स्निग्धः श्लक्ष्णः स्थिरः स्त्यानो निद्राच्छर्द्यग्निसादकृत् ॥
आक्रान्तो नोन्नमेत् कृच्छ्रशमजन्मा निशाबलः ।
स्रवेन्नासृक् चिरात्पिच्छां कुशशस्त्रादिविक्षतः ॥
स्पर्शोष्णकाङ्क्षी च कफाद् ॥'

शोफ के लक्षण आदि विस्तार से सूत्रस्थान १८ अ० में कहे जा चुके हैं ।

अन्य तन्त्रों में श्वयथु को नौ प्रकार का कहा है । एकदोषज ३, द्विदोषज ३, त्रिदोषज १, अभिघातज १ और विषज १ भेद से । इन में से अभिघातज और विषज तो आगन्तु शोथ के भेद ही हैं । द्वन्द्वज और त्रिदोषजों में यतः दोष प्रकृतिसमसमवायावस्था में होते हैं अतः उन्हें यहां पृथक् नहीं पढ़ा । मुख्यतः तीन निज शोथ ही कहे हैं । द्वन्द्वजों में दो दोषों के मिलित लक्षण अधिक होते हैं और त्रिदोषज में तीनों दोषों के लक्षण ही प्रबल होते हैं । सात प्रकार के शोथों का विस्तृत वर्णन सूत्रस्थान के अठारहवें अध्याय में हो चुका है । वृद्धवाग्भट में भी कहा भी है—

'..................यथास्वं द्वन्द्वजास्त्रयः ।

सङ्कराद्धेतुलिङ्गानां निचयान्निचयात्मकः ॥' १३ ॥

कृशस्य रोगैरबलस्य यो भवेदुपद्रवैर्वा वमिपूर्वकैर्युतः ।
स हन्ति मर्मानुगतोऽथ राजिमान्परिस्रवेद्धीनबलस्य सर्वगः १४

शोथ की असाध्यता के लक्षण--जो शोथ कृश और रोगों से दुर्बल व्यक्ति को हो अथवा जो कै आदि उपद्रवों से युक्त हो और जो मर्मदेश में पहुंच गया हो, तथा च निर्बल व्यक्ति को हुआ राजिमान् (शिराजाल के दीखने के कारण) सर्वाङ्ग शोथ जिसमें से स्राव सरता हो असाध्य है ।

कै आदि शोथ के उपद्रव सूत्रस्थान के त्रिशोफीय अध्याय में कहे जा चुके हैं—

' छर्दिः श्वासोऽरुचिस्तृष्णा ज्वरोऽतीसार एव च ।

सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः ॥' १४ ॥

अहीनमांसस्य य एकदोषजो नवोऽबलस्तस्य सुखः स साधने ।

शोफ की साध्यता—जिस का मांस क्षीण नहीं हुआ ऐसे पुरुष को हुआ एकदोषज नवीन और बलरहित शोथ सुखसाध्य होता है ॥

निदानदोषर्तुविपर्ययक्रमैरुपाचरेत्तं बलदोषकालवित् ॥ १५ ॥

शोफ की चिकित्सा—बल दोष एवं काल को जानने वाला चिकित्सक निदानविपरीत दोषविपरीत और ऋतुविपरीत क्रम से उस साध्य शोथ की चिकित्सा करे ॥ १५ ॥

अथामजं लङ्घनपाचनक्रमैर्विशोधनैरुल्बणदोषमादितः ।
शिरोगतं शीर्षविरेचनैरधोविरेचनैरूर्ध्वमधस्तथोर्ध्वगम् ॥ १६ ॥

आमदोष से उत्पन्न श्वयथु में प्रारम्भ में लङ्घन और पाचन कराना चाहिये । जिस शोथ में दोष अत्यन्त प्रबल हो वहां दोष के अनुसार आदि में वमन विरेचन आदि द्वारा संशोधन प्रशस्त है ।

---

१ 'नवो बलस्थस्य' ग. ।

यदि शोथ शिर में हो तो नस्य आदि द्वारा शिरोविरेचन, यदि निम्न देह में हो तो अधोविरेचन और यदि ऊर्ध्व देह में हो तो ऊर्ध्वविरेचन अर्थात् वमन द्वारा उपचार करना चाहिये । 'अधोविरेचनैरूर्ध्वहरैस्तयोर्ध्वगम्' यह भी पाठ मिलता है ।

उपाचरेत् स्नेहकृतं विरूक्षणैः प्रकल्पयेत्स्नेहविधिं च रूक्षजे ।

यदि शोथ स्नेह के अधिक सेवन से उत्पन्न हुआ हो तो रोगी का रूक्षण करना चाहिये और यदि रूक्ष हेतु से उत्पन्न हुआ हो तो स्नेहविधान उचित है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में भी कहा है—

'श्वयथुषु दोषजेषु सर्वेषु सर्वसरेष्वामानुबद्धेषु लङ्घनपाचन-शोधनान्यादौ योजयेत् । स्नेहजेषु विरूक्षणान्यौषधानि । विरूक्षणोत्थेषु स्नेहनानि ॥' १६ ॥

विबद्धविट्केऽनिलजे निरूहणं घृतं तु पित्तानिलजे सतिक्तकम् १७
पयश्च मूर्च्छारतिदाहतर्षिते विशोधनीये तु समूत्रमिष्यते ।
कफोत्थितं क्षारकटूष्णसंयुतैः समूत्रतक्रासवयुक्तिभिर्जयेत् ॥ १८ ॥

वातज शोफ में जिसमें पुरीष बंधा हुआ हो (पुरीष कठिन हो) अथवा मलबन्ध हो वहां निरूहबस्ति देनी चाहिये । पित्तवातज (द्वन्द्वज) में तिक्त द्रव्यों से युक्त वा साधित घृत (तिक्तकघृत) हितकर है । यदि वातपित्तज शोथ में ही रोगी मूर्च्छा अरति दाह एवं तृषा से पीड़ित हो तो तिक्तद्रव्यों से संस्कृत दूध पीने को दें । यदि मूर्च्छा आदि से आक्रान्त शोफरोगी का शोधन करना आवश्यक हो तो इसी दूध को ही गोमूत्रयुक्त करके दें । अथवा यह भी अर्थ हो सकता है कि शोफरोगी के मूर्च्छा आदि से पीड़ित होने पर केवल (ओषधियों से असंस्कृत ही) दूध दे । यदि उसी का शोधन (विरेचन) आवश्यक हो तो दूध में गोमूत्र मिलाकर पिलाना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में कहा भी है—

'पित्तजे न्यग्रोधादिसिद्धं सर्पिः पिबेत् । तिक्तकं वा । मूर्च्छारति-तृड्दाहेषु क्षीरम् । तदेव तु स्रंसनार्थी मूत्रयुक्तम् ।'

कफज शोफ को क्षार कटु एवं उष्ण द्रव्यों से तथा गोमूत्र से युक्त तक्र और आसव अरिष्ट आदि योगों से जीते ॥ १७-१८ ॥

ग्राम्यानूपं पिशितलवणं शुष्कशाकं नवान्नं
गौडं पिष्टं दधि तिलकृतं विज्जलं मद्यमम्लम् ।
धाना वल्लूरं समशनमथो गुर्वसात्म्यं विदाहि
स्वप्नं चारात्रौ श्वयथुगदवान्वर्जयेन्मैथुनं च ॥ १९ ॥

शोथ में अपथ्य—ग्राम्य तथा आनूप मांस, ग्राम्य तथा आनूप लवण, सूखा शाक, नवीन अन्न (जो धान्य एक वर्ष पुराना न हुआ हो), गुड के बने भोज्य पदार्थ, पिष्ट (चावल के आटे से बने द्रव्य), दही, तिल के भक्ष्य पदार्थ, विज्जल (पिच्छिल) द्रव्य, मद्य, अम्ल (खट्टे द्रव्य—खटाई आचार आदि), धाना (भुने हुए जौ आदि), वल्लूर (शुष्क मांस), समशन (पथ्य और अपथ्य को मिश्रित करके खाना), गुरुभोजन, असात्म्यभोजन, विदाही भोजन, दिन में सोना और मैथुन; इनका शोथरोगी को त्याग करना चाहिये ।

गङ्गाधर ने यह श्लोक इस प्रकार पढ़ा है—

'ग्राम्याब्जानूपं पिशितलवणं शुष्कशाकं नवान्नं ।
गौडं पिष्टान्नं दधि सक्तुशरं विज्जलं मद्यमम्लम् ।

शेष मूलोक्त के सदृश ही है । अष्टाङ्गसंग्रहकार का पाठ इससे थोड़ा भिन्न है—

ग्राम्याब्जानूपं पिशितमबलं शुष्कशाकं तिलान्नं
गौडं पिष्टान्नं दधि सलवणं पिच्छिलं मद्यमम्लम् ।

शेष मूलोक्त के सदृश ही है ।

जहां ग्राम्य अब्ज और आनूप लवण कहे हैं वहां ग्राम्यलवण

१ 'सक्तुशरं' ग. ।

से अभिप्राय खारीमिट्टी के जल में घोलकर प्राप्त किये नमक से है। अब्ज (जलज) लवण से सामुद्र लवण का ग्रहण है। और आनूप लवण से साम्भर नमक का। शोथ में यथासम्भव सभी लवणों का परित्याग करना चाहिये। परन्तु इन तीन नमकों का तो सर्वथा निषेध है। यदि रोगी नमक के विना न रह सके तो अल्पमात्रा में सैन्धव का प्रयोग करा सकते हैं। 'पिशितमबलं' इस पाठ का यह अर्थ होगा कि रोगी दुर्बल पशु पक्षी आदि का मांस भी न खावे ॥१९॥

व्योषं त्रिवृत्तिक्तकरोहिणीश्च सायोरजस्कास्त्रिफलारसेन।
पीता कफोत्थं शमयेत्तु शोफं मूत्रेण गव्येन हरीतकी वा ॥ २० ॥

कफशोथहर योग—त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), त्रिवृत् (निसोत), कटुकी; इनके २ मासा परिमित चूर्ण में एक वा दो रत्ती तीक्ष्णलोहभस्म मिलाकर त्रिफलाकाथ के अनुपान से अथवा ६ मासे हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के साथ पीने से कफज शोथ शान्त होता है। वृद्धवाग्भट ने कहा है कि ये दोनों योग लघु एवं बद्ध पुरीष वाले रोगी को सेवन कराने चाहियें।

'इतरः (लघुबद्धपुरीषः) त्रिवृत्त्र्यूषणकटुरोहिण्ययश्चूर्णानि त्रिफलाक्वाथेन। .... । गुग्गुलुं वा गोमूत्रेण। हरीतकीं वा।' इत्यादि ॥ २० ॥

हरीतकीनागरदेवदारु सुखाम्बुयुक्तं सपुनर्नवं वा।
सर्वं पिबेत्त्रिष्वपि मूत्रयुक्तं स्नातश्च जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात् ॥ २१ ॥

तीनों शोथों में हरीतक्यादियोग—वातज पित्तज कफज तीनों शोथों में हरड़, सोंठ, देवदारु; इस चूर्ण को सुखोष्ण जल से अथवा हरड़, सोंठ, देवदारु, पुनर्नवा; इस चूर्ण को गोमूत्र से रोगी पीवे। चूर्णों की मात्रा—१॥ मासे से ४ मासे तक। औषध के जीर्ण होने पर रोगी स्नान करके दूध भात खावे ॥ २१ ॥

पुनर्नवानागरमुस्तकल्कान्प्रस्थेन क्षीरः पयसोऽक्षमात्रान्।

मयूरकं मागधिकां समूलां सनागरां वा प्रपिबेत्सवाते ॥ २२ ॥

क्षीर रोगी पुनर्नवा; सोंठ, मोथा; इनके कल्क को १ कर्ष मात्रा में २ प्रस्थ दूध के साथ अथवा मयूरक (अपामार्ग), पिप्पली, पिप्पली-मूल, सोंठ; इनके कल्क को दूध के साथ वातयुक्त शोथ में पीवे ।

एक कर्ष मात्रा आधुनिक पुरुषों के लिये अधिक है । ४ मासा मात्रा में ये कल्क प्रयुक्त करा सकते हैं । अनुपान के तौर पर दूध की मात्रा ३ पाव पर्याप्त है । गङ्गाधर 'समूलां' से मूली का ग्रहण करता है ॥ २२ ॥

दन्तीत्रिवृत्त्र्यूषणचित्रकैर्वा पयः शृतं दोषहरं पिबेन्ना।
द्विप्रस्थमात्रं च पलार्धिकैस्तैरर्धावशिष्टं पवने सपित्ते ॥ २३ ॥

वातपित्तजशोथ में दन्त्यादिक्षीर—दन्तीमूल, त्रिवृत्, त्रिकटु (पृथक्), चित्रक; प्रत्येक आधा पल । गौ का दूध ४ प्रस्थ । यथा-विधि सिद्ध करें । जब दूध आधा रह जाय तब उतार कर छान लें । इस दोषहर दूध को वातपित्तज शोथ में मात्रा में रोगी पीवे । दन्त्यादि-क्षीर की आधुनिक मात्रा—२ पाव वा ३ पाव ॥ २३ ॥

सशुण्ठिपीतद्रुरसं प्रयोज्यं श्यामोरुबूकोषणसाधितं वा ।
त्वग्दारुवर्षाभुमहौषधैर्वा गुडूचिकानागरदन्तिभिर्वा ॥ २४ ॥

सोंठ और पीतद्रु (देवदारु अथवा दारुहल्दी); इन के क्वाथ से युक्त दूध अथवा श्यामा (त्रिवृत), एरण्डमूल, कालीमिर्च; इन से साधित अथवा दारचीनी, देवदारु, पुनर्नवा, सोंठ; इन से साधित अथवा गिलोय, सोंठ, दन्तीमूल; इन से यथाविधि साधित दूध का प्रयोग करना चाहिये ॥ २४ ॥

सप्ताहमौष्ट्रं त्वथवाऽपि मासं पयः पिबेद्भोजनवारिवर्जी ।
गव्यं समूत्रं महिषीपयो वा क्षीराशनो मूत्रमथो गवां वा ॥ २५ ॥

अथवा रोगी अन्न और जल का त्याग कर के शोथ के बल के अनुसार एक सप्ताह वा एक मास पर्यन्त ऊंटनी का दूध ही पीवे ।

अथवा गौ के दूध में गोमूत्र मिला अथवा भैंस के दूध में गोमूत्र मिला कर सप्ताह वा एक मास तक रोगी पीवे। अन्न भोजन और जल का यहां भी त्याग करना होगा।

अथवा केवल मात्र दूध पर रहता हुआ एक सप्ताह वा मास पर्यन्त गोमूत्र पीवे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में भी कहा है—

'करभीक्षीरवृत्तिर्वा स्यात्। गोमूत्रं महिषीमूत्रं वा सक्षीरं क्षीराशनः पिबेत्' ॥ २५ ॥

तक्रं पिबेद्वा गुरुभिन्नवर्चाः सव्योषसौवर्चलमाक्षिकं च।
गुडाभयां वा गुडनागरं वा सदोषभिन्नामविबद्धवर्चाः ॥ २६ ॥

अथवा यदि पुरीष पतला और गुरु हो तो त्रिकटु, सौंचल-नमक और मधु; इनसे युक्त तक्र पीवे अथवा यदि कच्चा दोषयुक्त और विबद्ध (कठिन पुरीष से युक्त) मलभेद हो तो गुड और हरड़ अथवा गुड और सोंठ का प्रयोग कराना चाहिये ॥ २६ ॥

विड्वातसङ्गे पयसा रसैर्वा प्राग्भक्तमद्यादुरुबूकतैलम्।
स्रोतोविबन्धेऽग्निरुचिप्रणाशे मद्यान्यरिष्टांश्च पिबेत्सुजातान् ॥२७॥

यदि मल और वायु का निरोध हो तो भोजन से पूर्व एरण्ड-तैल को दूध वा मांसरसों के साथ पीवे। स्रोतोरोध होने पर और अग्नि एवं रुचि के नष्ट होने पर विधिवत् तय्यार की हुई मद्य वा अरिष्टों को रोगी पीवे ॥ २७ ॥

गण्डीराद्यरिष्टः।

गण्डीरभल्लातकचित्रकांश्च व्योषं विडङ्गं बृहतीद्वयं च।
द्विप्रस्थिकं गोमयपावकेन द्रोणे पचेत्कूर्चिकमस्तुनस्तु ॥ २८ ॥
त्रिभागशेषं तु सुपूतशीतं द्रोणेन तत्प्राकृतमस्तुना च।
सितोपलायाश्च शतेन युक्तं लिप्ते घटे चित्रकपिप्पलीभ्याम् ॥ २९ ॥
वैहायसे स्थापितमादशाहात्प्रयोजयंस्तद्विनिहन्ति शोफान्।
भगन्दरार्शःक्रिमिकुष्ठमेहान्वैवर्ण्यकार्श्यानिलहिक्कनं च ॥ ३० ॥

इति गण्डीराद्यरिष्टः।

गण्डीराद्यरिष्ट—गण्डीर (शमठशाक), भल्लातक, चित्रक, त्रिकटु, वायविडङ्ग, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी; इन्हें एकत्र २ प्रस्थ प्रमाण में लेकर २ द्रोण कूर्चिकमस्तु के साथ उपलों की आंच पर पकावें। जब तीसरा भाग बच जाय तब उतार कर छान लें। शीतल होने पर इसमें २ द्रोण प्राकृतमस्तु और मिसरी १०० पल डालकर अच्छी प्रकार घोल दें। एक घड़े को अन्दर की ओर चित्रक और पिप्पली के कल्क से लीप दें और उसमें यह द्रव डाल दें। मुख बन्द कर दें। इस घड़े को दस दिन तक खुली जगह पड़ा रहने दें—भूमि में न गाड़ें। अथवा छिक्के में लटका रखें। पश्चात् प्रयोग करावें। यह शोफ, भगन्दर, अर्श, क्रिमि, कुष्ठ, प्रमेह, विवर्णता, कृशता तथा वातजहिक्का को नष्ट करता है। मात्रा—१। तोला।

तप्त दूध में दही वा तक्र डालने से वह दूध फट जाता है। जिससे उसके दो भाग हो जाते हैं। एक द्रव भाग और एक कूर्चिक भाग। द्रवभाग को कूर्चिकमस्तु कहते हैं। प्राकृतमस्तु से अभिप्राय दही के स्वाभाविक जल से है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में तो भल्लातकारिष्ट पढ़ा है, जो कि इस प्रकार है—

'भल्लातकचित्रकव्योषविडङ्गबृहतीफलानि पृथक् प्रस्थांशान्यच्छधान्याम्लद्रोणे गोमयाग्निना त्रिभागशेषमवतारयेत्। तत्पूतशीतं मस्तुकलशेन सितोपलातुलया च युक्तमग्निकमागधिकाकल्कलिप्ते दृढे भाण्डे समावाप्य वैहायसे सुगुप्तं स्थापयेत्। ततो दशाहमुपयुक्तो भल्लातकारिष्टः शोफोदरार्शोभगन्दरग्रहणीक्रमिकुष्ठमेहकार्श्यहिक्कसान् सत्वरमपनयति॥'

इसमें क्वाथ्यद्रव्यों में गण्डीर और छोटी कटेरी नहीं पढ़ी। इसके साथ ही भल्लातक आदि प्रत्येक क्वाथ्य द्रव्य को एक प्रस्थ प्रमाण में लेने को कहा है। और इन्हें २ द्रोण स्वच्छ कांजी में गोमयाग्नि पर पकाकर त्रिभागावशिष्ट रखने का विधान है। शेष योग मूलोक्त के सदृश ही है॥ २८—३०॥

अष्टशतोऽरिष्टः

काश्मर्यधात्रीमरिचाभयाक्षद्राक्षाफलानां[1] च सपिप्पलीनाम् ।
शतं शतं क्षुद्रगुडात्[2] पुराणात्तुलां तु कुम्भे मधुना प्रलिप्ते ॥ ३१ ॥
सप्ताहमुष्णे द्विगुणं तु शीते स्थितं जलद्रोणयुतं पिबेन्ना ।
शोफान्विबन्धान्कफवातजांश्च स हन्त्यरिष्टोऽष्टशतोऽग्निकृच्च ३२

इत्यष्टशतोऽरिष्टः ।

अष्टशतारिष्ट—गाम्भारीफल, आंवला, कालीमिर्च, हरड़, बहेड़ा, मुनक्का, पिप्पली; प्रत्येक द्रव्य सौ सौ पल, पुराना क्षुद्रगुड १०० पल; इन्हें २ द्रोण जल में डालकर घोल दें और शहद से लिप्त मृत्पात्र में डालकर मुख बन्द कर दें । गर्मियों में सात दिन और शीतकाल में १४ दिन के पश्चात् खोलकर अरिष्ट को निकाल लें । यह अष्टशतारिष्ट कफवातज शोथ तथा विबन्धों को नष्ट करता है और अग्निदीपक है । क्षुद्रगुड का लक्षण सूत्रस्थान २७ अध्याय में ७१५ पृष्ठ पर कहा जा चुका है । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १६ में भी—

'त्रिफलामरिचद्राक्षापिप्पलीकाश्मर्यफलानां प्रत्येकं शतं गुडतुलामुदकद्रोणं च मधुलिप्तभाजनस्थं सप्ताहमुष्णे काले द्विसप्ताहं शीते धारयेत् ।'

यदि 'क्षौद्रगुडात् पुराणात्' पाठ हो तो ५० पल पुराना मधु और ५० पल गुड डालना चाहिये ॥ ३१-३२ ॥

पुनर्नवाद्यरिष्टः ।

पुनर्नवे द्वे च बले सपाठे दन्तीं गुडूचीमथ[3] चित्रकं च ।
निदिग्धिकां[4] च त्रिपलानि पक्त्वा द्रोणावशेषे सलिले ततस्तम् ३३

---

१ '०भयाक्षक्षुद्राफलानां' ग. । '०भयानां द्राक्षाफलानां' पा० । २ 'क्षौद्रगुडात्' पा० । ३ 'वासा गुडूची सह चित्रकेण' ग. । ४ 'निदिग्धिका' पा० ।

पूत्वा रसं द्वे च गुडात्पुराणात्तुले मधुप्रस्थयुतं सुशीतम् ।
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं पल्ले यवानां परतस्तु मासात् ३४
चूर्णीकृतैरर्धपलांशिकैस्तं पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः[1] ।
गन्धान्वितं क्षौद्रघृतप्रदिग्धं जीर्णे पिबेद्व्याधिबलं समीक्ष्य ३५
हृत्पाण्डुरोगं श्वयथुं प्रवृद्धं प्लीहभ्रमारोचकमेहगुल्मान् ।
भगन्दरं षड्जठराणि कासं श्वासं ग्रहण्यामयकुष्ठकण्डूः ॥ ३६ ॥
शाखानिलं बद्धपुरीषतां च हिक्कां किलासं च हलीमकं च ।
क्षिप्रं जयेद्वर्णबलायुरोजस्तेजोन्वितो मांसरसान्नभोजी ॥ ३७ ॥

इति पुनर्नवाद्यरिष्टः ।

पुनर्नवाद्यरिष्ट-श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, बला, अतिबला, पाठा, दन्तीमूल, गिलोय, चित्रक, निदिग्धिका (छोटी कटेरी); प्रत्येक ३ पल; जल ८ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ २ द्रोण । क्वाथ को छानकर उसमें पुराना गुड २ तुला (२०० पल) घोल दें । शीतल होने पर २ प्रस्थ मधु मिला घृत भावित पात्र में एक मास तक मुख रुद्ध करके यवपल्ल (जौ के ढेर) में रखें । मास के पश्चात् निकाल कर छान लें और उसमें तेजपत्र, दारचीनी, छोटी इलायची, काली-मिर्च, गन्धबाला, अगर; प्रत्येक का चूर्ण आधापल (२ कर्ष) डालकर मधु तथा घी से चुपड़े हुए पात्र में डाल दें । सात दिन के पश्चात जब वह गन्धयुक्त हो जाय तो निकाल कर पुनः छान लें और बोतलों में बन्द कर दें । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक । भोजन के जीर्ण होने पर रोग के बल के अनुसार मात्रा में रोगी पीवे । यह अरिष्ट मांसरस और अन्न का भोजन करने वाले पुरुष के हृद्रोग, पाण्डुरोग प्रवृद्ध शोथ, प्लीहा, भ्रम, अरुचि प्रमेह, गुल्म, भगन्दर, छह उदररोग (औषध से असाध्य दो उदररोग छिद्रोदर और दकोदर को छोड़कर) कास, श्वास, संग्रहणी कुष्ठ, कण्डू, शाखागत वात,

1 'हेमत्वगेलामरिचाम्बुपत्रैः' ग. ।

मलबद्धता, हिक्का, किलास (श्वित्र), हलीमक; इन रोगों को शीघ्र जीतता है । और वह पुरुष वर्ण बल आयु ओज और तेज से सम्पन्न होता है ।

अन्यत्र 'दन्ती गुडूचीमथ चित्रकं च' के स्थल पर 'वासा गुडूची सह चित्रकेण' 'द्रोणावशेषे' के स्थान पर 'द्रोणार्द्ध शेषे' तथा 'पत्रत्वगेलामरिचाम्बुलोहैः' के स्थान पर 'हेमत्वगेलामरिचाम्बुपत्रैः' यह पाठान्तर मिलता है । इन पाठान्तरों के अनुसार दन्ती के स्थान पर वासा (अडूसा) डाला जायगा । तथा क्वाथ के लिये ४ द्रोण जल लेकर एक द्रोण अवशिष्ट रखा जायगा । और अरिष्ट में गन्ध द्रव्यों में अगर न डालकर नागकेसर डाला जायगा ॥३३-३७॥

फलत्रिकाद्यरिष्टः

फलत्रिकं चित्रकपिप्पली च सदीप्यकं लोहरजो विडङ्गम् ।
चूर्णीकृतं कौडविकं द्विरंशं क्षौद्रं पुराणस्य तुलां गुडस्य ।
मासं निदध्याद् घृतभाजनस्थं यत्रेषु तानेव निहन्ति रोगान् ॥३८॥

इति फलत्रिकाद्यरिष्टः ।

फलत्रिकाद्यरिष्ट—त्रिफला, चित्रक, पिप्पली, दीप्यक (अजवाइन), लोहभस्म, वायविडङ्ग; प्रत्येक का चूर्ण १ कुडव (४ पल), मधु के २ भाग अर्थात् २ कुडव (१६ पल), पुराना गुड़ १ तुला; इन्हें एकत्र घी से भावित पात्र में डालकर मुख रुद्ध करें और यवराशि में दबा रखें । ये पुनर्नवाद्यरिष्ट के गुणपाठ में कहे गये सब रोगों को नष्ट करता है ।

इसमें जल आदि द्रव का नाम नहीं। अतः एक तुला गुड होने से परिभाषा के अनुसार २ द्रोण जल डालना चाहिये ।

कई टीकाकार त्रिफला आदि द्रव्यों का क्वाथ करते हैं । क्वाथार्थ द्रव्यों में चतुर्गुण जल देकर चतुर्थांश अवशिष्ट रखते हैं । परन्तु इस

प्रकार करने से गुड के मान की तुलना में द्रव बहुत कम होता है। जिससे अरिष्टसन्धान ठीक २ नहीं होगा ॥ ३८ ॥

ये चार्शसां पाण्डुविकारिणां च प्रोक्ताः शुभाः शोफिषु तेऽप्यरिष्टाः।

जो अर्श वा पाण्डुराग के रोगियों के लिये अरिष्ट हितकर कहे हैं वे भी शोफ के रोगियों के लिये हितकर होते हैं।

कृष्णा सपाठा गजपिप्पली च निदिग्धिका चित्रकनागरे च ॥
सपिप्पलीमूलरजन्यजाजी मुस्तं च चूर्णं सुखतोयपीतम् ३९ ॥
हन्यात्त्रिदोषं चिरजं च शोफं कल्कश्च भूनिम्बमहौषधस्य ।
अयोरजस्त्र्यूषणयावशूकं चूर्णं च पीतं त्रिफलारसेन ॥ ४० ॥

कृष्णाद्य चूर्ण—पिप्पली, पाठा, गजपिप्पली, छोटी कटेरी, चित्रक, सोंठ, पिप्पलीमूल, हल्दी, जीरा, मोथा; इस चूर्ण को सुखोष्ण जल के साथ पीने से तीनों दोषों के और पुराने शोथ नष्ट होते हैं। मात्रा—२ मासे।

चिरायता, सोंठ; इनके कल्क को भी सुखोष्ण जल के साथ (अथवा अनुपान पुनर्नवा क्वाथ दें) पीने से तीनों दोषों के और चिरज शोथ नष्ट होते हैं। मात्रा–१ मासा।

लोहभस्म, त्रिकटु (पृथक्), यवक्षार; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को त्रिफला क्वाथ के अनुपान से प्रयोग करने पर भी पूर्ववत् लाभ होता है। मात्रा–४ रत्ती से १ मासे तक ॥३९–४०॥

क्षारगुडिका

क्षारद्वयं स्याल्लवणानि चत्वार्ययोरजो व्योषफलत्रिके च ।
सपिप्पलीमूलविडङ्गसारं मुस्ताजमोदामरदारुबिल्वम् ॥ ४१ ॥
कलिङ्गकाश्चित्रकमूलपाठे सयष्टिकं चातिविषं पलांशम् ।
सहिङ्गुकर्षं तु सुसूक्ष्मचूर्णं द्रोणं तथा मूलकशुण्ठकानाम् ॥ ४२ ॥
स्याद्भस्मनस्तत् सलिलेन साध्यमालोड्य यावद्घनमप्रदग्धम् ।

१ 'यष्ट्याह्वयं सातिविषं' पा० । २ '०कर्षं त्वणुसुदमचूर्णं' च० ।

स्त्यानं ततः कोलसमां तु मात्रां कृत्वा सुशुष्कां विधिनोपयुञ्ज्यात् ॥
प्लीहोदरश्वित्रहलीमकार्शःपाण्ड्वामयारोचकशोषशोफान् ।
विसूचिकागुल्मगराश्मरीश्च सश्वासकासाः प्रणुदेत् सकुष्ठाः ॥ ४४ ॥

इति क्षारगुडिका ।

क्षारगुडिका—यवक्षार, सर्जक्षार, सौंचल नमक, सेन्धानमक, बिडनमक, औद्भिदनमक, लोहभस्म, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, पिप्पलीमूल, वायविडङ्ग का सार (छिलका उतारे हुए वायविडङ्ग), मोथा, अजवाइन, देवदारु, बेलगिरी, इन्द्रजौ, चित्रकमूल, पाठा, मुलहठी, अतीस; प्रत्येक का सूक्ष्म चूर्ण १ पल, हींग का चूर्ण १ कर्ष; इन्हें एकत्र कर मूली की भस्म १ द्रोण का क्षार जल आठ गुना डाल कर आलोडन करें और मन्द आंच पर पकावें। जब घना हो जाय, जले नहीं तब उस घनीभूत द्रव्य की बेर के बराबर गोली बनावें । जब ये गोलियां अच्छी प्रकार सूख जाय तब इन्हें विधिपूर्वक प्रयोग करावे । ये प्लीहोदर श्वित्र हलीमक अर्श पाण्डुरोग अरुचि शोष शोफ विसूचिका गुल्म गर (संयोगजविष) अश्मरी श्वास कास और कुष्ठों को नष्ट करती हैं । चक्रपाणि ने चिकित्सासारसंग्रह (चक्रदत्त) नामक ग्रन्थ में रहस्य को खोलने के लिये इस योग के अन्त में यह श्लोक पढ़ा है—

'सौवर्चलं सैन्धवं च बिडमौद्भिदमेव च ।
चतुर्लवणमत्र स्याज्जलमष्टगुणं भवेत् ॥'

अथवा मूलीभस्म १ द्रोण में छह गुना जल डालकर पकावें जब तृतीयांश वा आंधा बच जाय तब इसे वस्त्र से छान लें । तदनन्तर यवक्षार आदि चूर्ण की अपेक्षा इस क्षारजल को चौगुना (कइयों के मत से) वा आठ गुना लेकर पकावे । जब यह गाढ़ा हो जाय तब यवक्षार आदि का प्रक्षेप देकर और अच्छी प्रकार आलोडन करके नीचे उतार ले और गोलियां बनावे । व्यवहार प्रायः इसी विधान से है । आधुनिक

मात्रा—१ मासा ॥ ४१–४४ ॥

गुडार्द्रकप्रयोगः

प्रयोजयेदार्द्रकनागरं वा तुल्यं गुडेनार्धपलाभिवृद्ध्या ।
मात्रा परं पञ्चपलानि मासं जीर्णे पयोयूषरसान्नभोक्ता ॥४५
गुल्मोदरार्शःश्वयथुप्रमेहान् श्वासप्रतिश्यालसकाविपाकान् ।
सकामलान् शोषमनोविकारान्कासं कफं चैव जयेत्प्रयोगः ४६

इति गुडार्द्रकप्रयोगः ।

गुडार्द्रकयोग—ताजे अदरख को तुल्य गुडके साथ मिलाकर आधा पल मात्रा में रोगी को प्रथम दिन दें । पश्चात् प्रतिदिन आधा पल बढ़ाते जांय । इसकी सब से बड़ी प्रयोज्य मात्रा ५ पल है । प्रतिदिन आधापल बढ़ाने से दसवें दिन पांच पल मात्रा होगी । इसका प्रयोग एक मास तक होता है । दस दिन के पश्चात् शेष बीस दिन तक पांच पल मात्रा में ही प्रयोग कराते जाना चाहिये । जब औषध जीर्ण हो जाय तब दूध यूष वा मांसरस के साथ रोगी को अन्न का सेवन करना चाहिये । यह प्रयोग गुल्म, उदर, अर्श, शोफ, प्रमेह, श्वास, प्रतिश्याय, अलसक, अपचन, कामला, शोष, उन्माद अपस्मार आदि मनोविकार, कास और कफ को जीतता है ।

कई वैद्य कहते हैं प्रथम २ कर्ष मात्रा में प्रयोग करें । कुछ दिन तक इसी मात्रा में प्रयोग कर २ कर्ष मात्रा बढ़ादें । पुनः इसी प्रकार कुछ दिन सेवन करके २ कर्ष और बढ़ा दें । इसप्रकार बढ़ाते २ अन्तिम दिनों में ५ पल मात्रा में इसे रोगी सेवन करे ।

चक्रपाणि ने तो चिकित्सासारसंग्रह में कर्ष से प्रारम्भ कर एक पक्ष वा मास में ३ पल तक बढ़ाने को कहा है ।—

'गुडार्द्रकं वा गुडनागरं वा गुडाभयां वा गुडपिप्पलीं वा ।
कर्षाभिवृद्ध्या त्रिपलप्रमाणं खादेन्नरः पक्षमथापि मासम् ॥'

---

१ 'श्वासं ग. ।

इसके अनुसार कई पुराने वृद्ध वैद्य इसप्रकार कहते हैं कि प्रथम दिन कर्ष मात्रा में प्रारम्भ कर थोड़ा थोड़ा (४ मासे) बढ़ाते हुए १॥ मास में इसे ३ पल प्रमाण तक पहुँचा दें । यहां पर ' अथापि ' समुच्चयार्थक मानकर अर्थ किया गया है । परन्तु यह मात्रा भी आधुनिक पुरुषों के लिये अधिक ही है । आजकल तो अंग्रेज़ी मान के अनुसार २ मासे से प्रारम्भ कर अधिक से अधिक २० मासे तक क्रमशः बढ़ाता हुआ ले जाय॥ ४५-४६ ॥

रसस्तथैवार्द्रकनागरस्य पेयोऽथ जीर्णे पयसाऽन्नमद्यात् ।

इसीप्रकार ताज़े अदरख के रस को पीना चाहिये । अर्थात् २ कर्ष से प्रारम्भ कर ५ पल तक मात्रा को बढ़ाकर एक मास पर्यन्त ही इसका भी प्रयोग है । रस की प्राचीन मात्रा भी आजकल के नागरिकों के लिये अधिक है । इसे भी पूर्ववत् २ मासे (अंग्रेजी मान) से प्रारम्भ कर १॥ तोले तक ले जावें ।

शिलाजतुप्रयोगः ।

शिलाह्वयं च त्रिफलारसेन हन्यात्त्रिदोषं श्वयथुं प्रसह्य ॥ ४७ ॥

इति शिलाजतुप्रयोगः ।

शिलाजतुप्रयोग—त्रिफला के क्वाथ से प्रयोग कराया गया शिलाजतु बलात् त्रिदोषज शोथ को नष्ट करता है । शिलाजतु की मात्रा—४ रत्ती ॥ ४७ ॥

कंसहरीतकी

द्विपञ्चमूल्यास्तु पचेत्कषाये कंसेऽभयानां च शतं गुडस्य ।
लेहे सुसिद्धे च विनीय चूर्णं व्योषं त्रिसौगन्ध्यमुपास्थिते च ॥४८॥
प्रस्थार्धमात्रं मधुनः सुशीते किञ्चिच्च चूर्णादपि यावशूकात् ।
एकाभयां प्राश्य ततश्च लेहाच्छुक्तिं निहन्ति श्वयथुं प्रवृद्धम् ॥ ४९ ॥
श्वासज्वरारोचकमेहगुल्मप्लीहात्रिदोषोदरपाण्डुरोगान् ।
कार्श्यामवातावसृगम्लपित्तं वैवर्ण्यमूत्रानिलशुक्रदोषान् ॥ ५० ॥

इति कंसहरीतकी ।

कंसहरीतकी—दशमूल के २ कंस परिमित क्वाथ में १०० हरड़ें और १०० पल गुड डालकर पकावें। पकते २ जब लेहवत् गाढ़ा हो जाय तब उसमें त्रिकटु और त्रिसुगन्धि (दारचीनी, छोटी इलायची, तेजपत्र) का चूर्ण मिला दें। यह उषा काल तक पड़ा रहने पर जब सुशीतल हो जाय १ प्रस्थ मधु मिलावें और अल्प परिमाण में यवक्षार का चूर्ण भी डाल दें। इस में से एक हरड़ को खाकर ऊपर से लेह को एक शुक्ति (कर्ष) प्रमाण में चाटें। यह प्रवृद्ध शोथ श्वास ज्वर अरुचि प्रमेह गुल्म प्लीहा त्रिदोषज उदर पाण्डुरोग कृशता आमवात रक्तपित्त अम्लपित्त विवर्णता और मूत्र वायु एवं वीर्य के दोषों को नष्ट करता है।

दशमूल के दो कंस (८ प्रस्थ) परिमित क्वाथ के लिये दशमूल मिलित ४ प्रस्थ जल ३२ प्रस्थ डालकर क्वाथ करें। जब ८ प्रस्थ रहे तब छान लें। क्वाथ करते समय ही १०० हरड़ें एक ढीली पोटली में बांधकर डाल देनी चाहियें। जब क्वाथ तय्यार हो तो क्वाथ को पृथक् छानें और हरड़ों की पोटली को पृथक् करके हरड़ें निकाल लें और तीक्ष्ण चाकू से चीरा देकर गुठलियां निकाल कर फैंक दें। क्वाथ में गुड को घोलकर और ये हरड़ें डालकर पकाना चाहिये। इसमें त्रिकटु और त्रिजात मिलाकर ८ पल डालना चाहिये। अर्थात् त्रिकटु मिलित २ पल और त्रिसुगन्धि का प्रत्येक द्रव्य दो २ पल। यवक्षार का चूर्ण जेज्जट के अनुसार आधा पल होना चाहिये।

तन्त्रान्तरों में यह योग दशमूलहरीतकी नाम से है—

' दशमूलकषायस्य कंसे पथ्याशतं पचेत्।
तुलां गुडाद् घने दद्याद्व्योषक्षारं चतुःपलम्॥
त्रिसुगन्धं सुवर्णांशं प्रस्थार्धं मधुनो हिमे।
दशमूलहरीतक्यः शोथान् हन्युः सुदारुणान्॥
ज्वरारोचकगुल्मार्शोमेहपाण्डूदरामयान्।

इस पर चक्रपाणि ने व्याख्यार्थ ये श्लोक कहे हैं—

प्रत्येकमेव कर्षांशं त्रिसुगन्धिमितो भवेत् ।
कंसहरीतकी चैषा चरके पठ्यतेऽन्यथा ॥
एतन्मानेन तुल्यत्वं तेन तत्रापि वर्ण्यते ॥

इसके अनुसार त्रिकटु और यवक्षार मिलाकर ४ पल लेते हैं। अर्थात् सोंठ १ पल कालीमिर्च १ पल पिप्पली १पल यवक्षार १पल। और त्रिसुगन्ध का प्रत्येक द्रव्य एक कर्ष लिया जाता है। व्यवहार इसी मान के अनुसार है । मूलोक्त पाठ में 'किंचित्' शब्द पढ़ा जाने से कई यवक्षार को यहां पर भी १ पल से कुछ कम लेते हैं और जितना कम लेते हैं उसे त्रिकटु के द्रव्यों में पूरा कर देते हैं। वृन्द तो कहता है—

किञ्चिच्च कर्षपर्यायः शुक्तिरर्द्धपलं तथा ।
सान्निध्यान्मधुनो मानं व्योषादेर्मिलितस्य च ॥

अर्थात् 'किंचित्' शब्द कर्ष का वाचक है अतः वह यवक्षार को कर्ष प्रमाण में लेने को कहता है। मधु के मान के पास ही कहने से त्रिकटु आदि का मान भी उतना ही होगा। त्रिकटु और त्रिसुगन्धि मिला कर ८ पल लेना चाहिये। हमने इस ८ पलको २ पल त्रिकटु और ६ पल त्रिसुगन्धि में स्वयं विवेचना कर पूर्व लिखा है परन्तु सामान्य नियम के अनुसार छहों द्रव्यों को बराबर परिमाण में मिला कर ८ पल लिया जाता है। लेह की आधुनिक मात्रा—१ तोला।

पटोलमूलादिकषायः

पटोलमूलामरदारुदन्तीत्रायन्तिपिप्पल्यभयाविशालाः ।
यष्ट्याह्वयं तिक्तकरोहिणी च सचन्दना स्यान्निचुलानि दार्वी ५१
कर्षोन्मितैस्तैः क्वथितः कषायो घृतेन पेयः कुडवेन युक्तः ।
वीसर्पदाहज्वरसान्निपातांस्तृष्णां विषाणि श्वयथुं निहन्ति ॥५२॥

इति पटोलमूलादिकषायः ।

पटोलमूलादिक्वाथ—परवल की जड़, देवदारु, दन्तीमूल, त्रायमाणा, पिप्पली, हरड़, इन्द्रायण, मुलहठी, कटुकी, लालचन्दन, निचुल

(हिज्जलबीज अथवा जलवेतस), दारुहल्दी, प्रत्येक को १ कर्ष प्रमाण में लेकर आठगुने अर्थात् २४ पल जल में क्वाथ करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहजाय तो उतार कर छान लें। इस काथ में ४ पल घी मिला कर रोगी पीवे। यह काथ विसर्प दाह ज्वर सन्निपात तृष्णा विष और शोथ को नष्ट करता है। काथ में आठगुना जल निम्न परिभाषा के अनुसार है—

'कर्षादौ तु पलं यावद् दद्यात् षोडशिकं जलम्।
ततस्तु कुडवं यावत् तोयमष्टगुणं भवेत् ॥'

परन्तु आजकल के लोगों के लिये यह मान बहुत अधिक है। आजकल तो सम्पूर्ण क्वाथ्य द्रव्य मिलाकर २ तोला लेने चाहियें और सोलहगुना जल क्वाथ कर चतुर्थांश अवशिष्ट रहने पर वस्त्र से छान लें और एक वा दो तोला गौ का घी डालकर रोगी को पिलाना चाहिये॥

सचित्रकं धान्ययवान्यजाजीसौवर्चलं त्र्यूषणवेतसाम्लम्।
बिल्वात्फलं दाडिमयावशूकौ सपिप्पलीमूलमथोऽपि चव्यम् ५३
पिष्ट्वाऽक्षमात्राणि जलाढकेन पक्त्वा घृतप्रस्थमथ प्रयुञ्ज्यात्।
अर्शांसि गुल्मं श्वयथुं च कृच्छ्रं निहन्ति वह्निं च करोति दीप्तम् ५४

इति चित्रकादिघृतम्।

चित्रकादिघृत—घी २ प्रस्थ। कल्कार्थ—चित्रक, धनियां, अजवाइन, पाठा, दीप्यक (यवानक, अजमोदा), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, अम्लवेतस, बेलगिरी, अनारदाना, यवक्षार, पिप्पलीमूल, चव्य, प्रत्येक १ कर्ष। जल २ आढक। यथाविधि घृत पाककर रोगी को प्रयोग करावें। मात्रा—आधा तोला। यह अर्श गुल्म और कष्टसाध्य शोथ को नष्ट करता और अग्नि को दीप्त करता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार तो चित्रक आदि का काथ करने को कहता है, पर हमें वह रुचता नहीं।

'दाडिमयवानीयवानकधनिकापाठाम्लवेतसमरिचपञ्चकोलाबिल्वफल-यावशूकानक्षमात्रान् सलिलाढके विपाच्य तत्कषायेण घृतप्रस्थं साधयेच्छ्रो-

कार्शो गुल्ममेहाग्निसादहरम् ॥' चि० अ० १६ ॥ ५३-५४ ॥

चित्रकादिघृतम् ।

पिबेद् घृतं वाऽष्टगुणाम्बुसिद्धं सचित्रकक्षारमुदारवीर्यम् ।
कल्याणकं वाऽपि सपञ्चगव्यं तिक्तं महद्वाऽप्यथ तिक्तकं वा ५५

इति चित्रकादिघृतम् ।

चित्रकादि घृत (अपर)-अथवा गव्य घृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ-चित्रक और यवक्षार मिलित १ शराव । जल १६ प्रस्थ । यथाविधि पाक करें । इस महाशक्ति-युक्त घृत को रोगी पीवे । मात्रा-१/४ तोला ।

अथवा कल्याणकघृत (उन्मादोक्त), पञ्चगव्यघृत (अपस्मारोक्त), महातिक्तक घृत (कुष्ठोक्त) वा तिक्तकघृत का शोथ के रोगी को प्रयोग कराना चाहिये ॥ ५५ ॥

चित्रकघृतम्

क्षीरं घटे चित्रककल्कलिप्ते दध्यागतं साधु विमथ्य तेन ।
तज्जं घृतं चित्रकमूलगर्भं तक्रेण सिद्धं श्वयथुघ्नमग्र्यम् ॥ ५६ ॥
अर्शांसि सामानिलगुल्ममेहांश्चैतन्निहन्त्यग्निबलप्रदं च ।
तक्रेण वाऽद्यात्सघृतेन तेन भोज्यानि सिद्धामथवा यवागूम् ५७

इति चित्रकघृतम् ।

चित्रकघृत—एक घड़े वा मृत्पात्र में चित्रक के कल्क का लेपन करके गौ का दूध डाल दें और दही का जाग लगा दें । जब दही बन जाय तब मथकर मक्खन निकाल लें । इस मक्खन से निकले घी को चित्रकमूल के कल्क और उस तक्र से सिद्ध करें । कल्कार्थ-चित्रकमूल घी से चतुर्थांश लिया जायगा और वह तक्र घी से चौगुना । यह श्रेष्ठ शोथनाशक है और अर्श आमवात गुल्म प्रमेह; इन रोगों को नष्ट करता है । जाठराग्नि को बल देता है । मात्रा-चौथाई तोला ।

अथवा उस साधितघृत-युक्त तक्र के साथ आहार करे। अथवा उस साधितघृत-युक्त तक्र से यथाविधि सिद्ध की हुई यवागू पीवे।

जीवन्त्यजाजीशटिपुष्कराह्वैः सकारवीचित्रकबिल्वमध्यैः।
सयावशूकैर्बदरप्रमाणैर्वृक्षाम्लयुक्ता घृततैलभृष्टा ॥ ५८ ॥
अर्शोतिसारानिलगुल्मशोफहृद्रोगमन्दाग्निहिता यवागूः।

जीवन्त्यादियवागू—जीवन्ती, जीरा, कचूर, पुष्करमूल, कारवी (काला जीरा वा अजवाइन), चित्रक, बेलगिरी, यवक्षार; प्रत्येक को एक कोल प्रमाण में लेकर यथाविधि यवागू साधन करे। यह यवागू घी और तेल के यमक में भुनी होनी चाहिये। इसे तिन्तिडीक (विषांबिल) के रस से थोड़ा खट्टा भी कर लेना चाहिये। यह अर्श अतिसार वात-गुल्म शोथ हृद्रोग और मन्दाग्नि में हितकर है ॥ ५८ ॥

या पञ्चकोलैर्विधिनैव तेन सिद्धा भवेत् सा च समा तयैव ५९

पञ्चकोल यवागू—इसी विधान के अनुसार अर्थात् प्रत्येक द्रव्य को एक कोल प्रमाण में लेकर पञ्चकोल से सिद्ध यवागू गुणों में पूर्ववत् है। पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ एकत्र मिश्रित इन पांच द्रव्यों को पञ्चकोल कहते हैं।

पञ्चकोल के स्थान पञ्चमूल भी पाठ मिलता है ॥ ५८—५९ ॥

कुलत्थयूषश्च सपिप्पलीको मौद्गश्च सत्र्यूषणयावशूकः।
रसस्तथा विष्किरजाङ्गलानां सकूर्मगोधाशिखिशल्लकानाम् ६०

पथ्य- पिप्पलीयुक्त कुलत्थ का यूष, त्रिकटु और यवक्षार युक्त मूंग का यूष, विष्किर और जाङ्गल पशुपक्षियों के तथा कछुआ, गोह, मोर और शल्लक (सेह) के मांसरस हितकर हैं ॥ ६० ॥

सुवर्चिका गृञ्जनकं पटोलं सवायसीमूलकवेत्रनिम्बम्।
शाकार्थिनां शाकमिति प्रशस्तं भोज्ये पुराणश्च यवः सशालिः ६१
आभ्यन्तरं भेषजमुक्तमेतद्,

---

१ 'पञ्चमूलैः' ग.।

जो रोगी शाक चाहते हों उन्हें सुवर्चिका (जतुकालता--शाकविशेष) गृञ्जनक (शलगम लहसन वा गाजर), पटोल (परवल), मकोय, मूली, वेत्राग्र (बैंत का अग्रभाग), नीम; इनका शाक प्रशस्त है। और भोज्य द्रव्यों में पुराने जौ और पुराने शालि चावल श्रेष्ठ हैं।

ये आभ्यन्तर औषध कह दी है ॥ ६१ ॥

बहिर्हितं यच्छृणु तद्यथावत्।
स्नेहान्प्रदेहान्परिषेचनानि स्वेदांश्च वातप्रबलस्य कुर्यात् ॥ ६२ ॥

हे अग्निवेश! अब जो बाह्य हितकर औषध है उसे यथावत् सुन!

वातशोथ में बाह्योपचार—जिस शोथ में वात प्रबल हो वहां स्नेह प्रदेह परिषेचन और स्वेदन करना चाहिये ॥ ६२ ॥

शैलेयादितैलप्रदेहौ।

शैलेयकुष्ठागुरुदारुकौन्तीत्वक्पद्मकैलाम्बुपलाशमुस्तैः।
प्रियङ्गुथौणेयकहेममांसीतालीशपत्रप्लवपत्रधान्यैः ॥ ६३ ॥
श्रीवेष्टकध्यामकपिप्पलीभिः स्पृक्कानखैश्चैव यथोपलाभम्।
वातान्वितेऽभ्यङ्गमुशन्ति तैलं सिद्धं सुपिष्टैरपि च प्रदेहम् ॥ ६४ ॥

इति शैलेयादितैलप्रदेहौ।

शैलेयादितैल और प्रदेह—तिलतैल २ प्रस्थ। कल्कार्थ—शैलेय (छैलछरीला), कुष्ठ, अगर, देवदारु, कौन्ती (रेणुका बीज), दालचीनी, पद्माख, छोटी इलायची, गन्धबाला, पलाश (ढाक की छाल वा बीज), मोथा, प्रियङ्गु, थौणेयक (गठिवन), हेम (नागकेसर), बालछड़, तालीसपत्र, प्लव (केवटी मोथा,) तेजपत्र, धनियां, श्रीवेष्टक (गन्धबिरोजा), ध्यामक (गन्धतृण), पिप्पली, स्पृक्का (पिडिङ्ग-शाकविशेष), नखी; ये औषधियां जो जो मिलसकें मिलाकर १ शराव। यथाविधि सिद्ध करें। वातज शोथ में इस तैल की मालिश करनी चाहिये।

इस कल्क की ओषधियों को अच्छी प्रकार पीसकर वातशोथ में प्रदेह भी किया जाता है।

चक्रपाणि प्रभृति टीकाकार यहां 'पलाश' से शटी (कचूर) का ग्रहण करते हैं ॥ ६३—६४ ॥

जलैश्च वासार्ककरञ्जशिग्रुकाश्मर्यपत्रार्जकजैश्च सिद्धैः।
स्विन्नः कवोष्णै रवितप्ततोयैः स्नातश्च गन्धैरनुलेपनीयः ॥ ६५ ॥

वासा (अडूसा), अर्क (मदार), करञ्ज, शिग्रु (सहिजन), गाम्भारी, अर्जक (तुलसी), इनके पत्तों से सिद्ध कोसे जलों से स्वेदन और पश्चात् सूर्यकिरणों से तप्त जलों से स्नान करके अगर आदि गन्धों का अनुलेपन करना चाहिये।

वासा आदि का क्वाथ करके कोसा होने पर द्रोणी में डाल दें। रोगी उस में बैठकर तब तक अवगाहन करे जब तक स्वेदन न हो जाय वा पसीना न आ जाय। पश्चात् सूर्यकिरणों से तप्त जल से स्नान कर गन्धद्रव्यों का अनुलेपन करे ॥ ६५ ॥

सवेतसाः क्षीरवतां द्रुमाणां त्वचः समाञ्जिष्ठलतामृणालाः।
सचन्दनाः पद्मकबालकौ च पैत्ते प्रदेहस्तु सतैलपाकः ॥ ६६ ॥

पैत्तिक शोथ में प्रदेह और तैल—वेतस, क्षीरिवृक्षों (बरगद, पीपल, गूलर, प्लक्ष) की छालें, मञ्जिष्ठा, मृणाल (कमलनाल अथवा खस), श्वेतचन्दन, पद्माख, गन्धबाला; इन्हें एकत्र जल से घोट कर प्रदेह करना चाहिये। इन्हीं द्रव्यों के क्वाथ और कल्क से तैलपाक करके भी पित्तशोथ में अभ्यङ्ग कर सकते हैं ॥ ६६ ॥

आक्तस्य तेनाम्बु रविप्रतप्तं सचन्दनं साभयपद्मकं च।
स्नाने हितं क्षीरवतां कषायः क्षीरोदकं चन्दनलेपनं च ॥ ६७ ॥

पैत्तिक शोथ में स्नान और अनुलेपन—उपर्युक्त वेतस आदि द्रव्यों से सिद्ध तैल की मालिश करने के पश्चात् चन्दन खस और पद्माख से युक्त वा साधित जल-जो सूर्य की किरणों से तप्त हो--स्नानार्थ हितकर है। क्षीरिवृक्षों (बरगद, पीपल, गूलर, प्लक्ष, वेतस) का क्वाथ या क्षीरो-

---

१ 'जलैस्तथैरण्डवृषार्कशिग्रु०' ग.।

दक (दूध और जल मिलाकर) भी रोगी के स्नान के लिये प्रशस्त है । पश्चात् श्वेतचन्दन का लेपन करना चाहिये ॥ ६७ ॥

कफे तु कृष्णासिकतापुराणपिण्याकशिग्रुत्वगुमाप्रलेपः ।
कुलत्थशुण्ठीजलमूत्रसेकश्चण्डागुरुभ्यामनुलेपनं च ॥ ६८ ॥

श्लैष्मिक शोथ में प्रलेप परिषेक और अनुलेपन—कफ में तो पिप्पली, सिकता (रेत, बालू), पुराना तिलकल्क, सहिजन की छाल, उमा (अलसी); इन्हें एकत्र पीसकर प्रलेप करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १९ में बताया है कि वैद्य इसको गोमूत्र से पीसकर सुहाता गरम लेप करे ।

' पुराणपिण्याककृष्णाशिग्रुत्वगतसीसिकताः मूत्रपिष्टाः सुखोष्णाः प्रलेपे दद्यात् ।'

कुलत्थ और शुण्ठी से जल को सिद्ध करने के पश्चात् गोमूत्र मिश्रित कर परिषेचन वा स्नान कराना चाहिये । अथवा कुलत्थ तथा शुण्ठी के कषाय से और गोमूत्र से परिषेचन करना चाहिये । अथवा कुलत्थ और शुण्ठी से सिद्ध जल वा इन्हीं से सिद्ध गोमूत्र का परिषेचनार्थ प्रयोग होना चाहिये । अर्थात् ये पृथक् दो योग हैं । परिषेचन से ही स्नान का भी ग्रहण है । स्नानानन्तर अनुलेपनार्थ चण्डा (चोरक) और अगर का प्रयोग करें ॥ ६८ ॥

बिभीतकानां फलमध्यलेपः सर्वेषु दाहार्तिहरः प्रलेपः ।
यष्ट्याह्वमुस्तैः सकपित्थपत्रैः सचन्दनैस्तत्पिडकासु लेपः ॥ ६९ ॥

सब शोथों में सामान्य योग—सब शोथों में बहेड़े के फल की मज्जा के लेप से दाह और वेदना शान्त होती है ।

मुलहठी, मोथा, कैथ के पत्ते, चन्दन; इनका लेप दाह एवं वेदना युक्त पिडकाओं में करना चाहिये ॥ ६९ ॥

रास्नावृषार्कत्रिफलाबिडङ्गशिग्रुत्वचो मूषिककर्णिका च ।

निम्बार्जकौ व्याघ्रनखः सदूर्वा सुवर्चला तिक्तकरोहिणी च ७०
सकाकमाची बृहती सकुष्ठा पुनर्नवा चित्रकनागरे च।
उन्मर्दनं शोफिषु मूत्रपिष्टं शस्तस्तथा मूलकतोयसेकः॥ ७१॥

सब शोफों में सामान्य उन्मर्दन तथा परिषेचन—रास्ना, अडूसा, मदार, त्रिफला, वायविडङ्ग, सहिजन की छाल, मूषिककर्णी (चूहाकन्नी), नीम के पत्ते, तुलसी के पत्ते, व्याघ्रनख (नखी), दूब, सुवर्चला (हुरहुर, सूरजमुखी), कटुकी, मकोय, बृहती, कुठ, पुनर्नवा, चित्रक, सोंठ; इन्हें एकत्र गोमूत्र से पीसकर शोथ में मर्दन करना चाहिये।

परिषेचनार्थ मूली का जल वा सूखी मूली का क्वाथ प्रशस्त है।

शोफास्तु गात्रावयवाश्रिता ये ते स्थानदूष्याकृतिनामभेदात्।
अनेकसंख्याः कतिचिच्च तेषां निदर्शनार्थं शृणु चोच्यमानान्॥ ७२

जो शोफ देह के अवयवों में आश्रित रहते हैं वे स्थान दूष्य आकृति (रूप, लक्षण) और नाम के भेद से संख्या में अनेक हैं—बहुत हैं। उनमें से उदाहरणार्थ कुछ एक को मैं कहता हूं, सुनो।

दोषास्त्रयः स्वैः कुपिता निदानैः कुर्वन्ति शोफं शिरसः सुघोरम्।
अन्तर्गले घुर्घुरिकान्वितं च शालूकमुच्छ्वासनिरोधकारि॥ ७३॥

शिरःशोथ—अपने हेतुओं से कुपित हुए तीनों दोष शिर में अत्यन्त घोर शोथ को उत्पन्न करते हैं। जैसे—उपशीर्षक नामक रोग।

कण्ठशालूक—और गले में अन्दर की ओर उच्छ्वास में रुकावट उत्पन्न करने वाले और घुर्घुर शब्द से युक्त शालूक (कमलकन्द सदृश ग्रन्थि) को पैदा करते हैं। अन्यत्र कण्ठशालूक का यह लक्षण कहा है—

---

१ 'शोथा बहुत्वादतिवृत्तसंख्यास्तेषान्तु कांश्चिद् गदतो निबोध' ग.।

१ 'समूर्वा' ग.।

कोलास्थिमात्रः कफसम्भवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥ ७३ ॥

गलस्य सन्धौ चिबुके गले वा सदाहरागः श्वसनासु चोग्रः ।
शोफो भृशार्तिस्तु विदारिका स्याद्धन्याद्गले चेद्वलयीकृतः स्यात् ७४

विदारिका-गले की सन्धि में चिबुक (ठोडी--अन्दर की ओर से) में गले में वा श्वासवहा नालियों में दाह से युक्त रक्तवर्ण का विदारिका नामक अत्यन्त वेदना वाला शोथ होता है । तन्त्रान्तर में यह लक्षण है—

'सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्रमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥'

वलय—यदि शोथ गले में चारों ओर वलयाकार (छल्ले के आकार का) हो तो असाध्य है । तन्त्रान्तर में वलय का लक्षण यह है—

'बलास एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति' ॥ ७४ ॥

जिह्वोपरिष्टादुपजिह्विका स्यात् कफादधस्तादधिजिह्विका च ।
यो दन्तमांसेषु तु रक्तपित्तात् पाको भवेत् सोपकुशः प्रदिष्टः ७५

उपजिह्विका—जिह्वा के ऊपर कफ से उपजिह्विका नामक शोथ होता है । तन्त्रान्तर में तो—

'जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तमूर्तिः ।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ॥'

यह लक्षण है ।

अधिजिह्विका—जिह्वा के नीचे कफ से उत्पन्न शोथ को अधिजिह्विका कहते हैं ।

उपकुश—दन्तमांसों (मसूड़ों) में जो रक्त और पित्त से पाक होता है उसे उपकुश कहते हैं । कहा भी है—

---

१ 'श्वसनोच्छ्वसोग्रः' ग. । २ 'बिडालिका' च. । 'वितानिका' ग. ।

'वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च।
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः' ॥ ७५ ॥

स्याद्दन्तविद्रध्यपि दन्तमांसे शोफः कफाच्छोणितसंचयोत्थः।
गलस्य पार्श्वे गलगण्ड एकः स्याद्गण्डमाला बहुभिस्तु गण्डैः ७६
साध्याः स्मृताः, पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः।

दन्तविद्रधी—दन्तमांस में कफ से रक्तसञ्चय के कारण उत्पन्न शोथ-दन्तविद्रधि भी हुआ करती है। कहा भी है—

'दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः॥'

गलगण्ड—गले के पार्श्व में एक गलगण्ड कहाता है। तन्त्रान्तर में गलगण्ड के लक्षण आदि ये कहे हैं—

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले।
महान्वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत्।
वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये च संश्रित्य तथैव मेदः।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः॥

गण्डमाला—जब बहुत से (glands) होते हैं तब उसे गण्डमाला कहते हैं। तन्त्रान्तर में—

'कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु।
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद् गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः॥'

'शोफः कफाच्छोणितसञ्चयोत्थः' के स्थान पर माधवनिदान के टीकाकार विजयरक्षित ने 'मेदःकफाच्छोणितसञ्चयोत्थः' इस प्रकार पाठ पढ़ा है और इस हेतु को गलगण्ड की ओर लगाया है। यह गण्डमाला साध्य होती है परन्तु यदि पीनस (प्रतिश्याय), पार्श्वशूल, कास, ज्वर और छर्दि (कै) भी साथ हो तो असाध्य है ॥ ७६ ॥

तेषां सिराकायशिरोविरेका धूमः पुराणस्य घृतस्य पानम् ॥ ७७॥

इन शोथ रोगों की संक्षिप्त सामान्य चिकित्सा—उक्त शिरः-शोथ आदि सब रोगों में शिराविरेक (शिरावेध द्वारा रक्तावसेचन), कायविरेचन (वमन वा विरेचन) तथा शिरोविरेचन, धूमपान, पुराने घृत (दस वर्ष वा इससे अधिक पुराना) का पीना हितकर है ७७

सलङ्घनं वक्त्रभेवषु चापि प्रघर्षणं स्यात् कवलग्रहश्च ।

मुंह में होने वाले शोथरोगों में लङ्घन (उपवास), प्रघर्षण (उस २ दोष को हरने वाले द्रव्यों के चूर्ण का घर्षण) तथा कवलग्रह (कवलधारण—मुख में दोषहर द्रव पदार्थ को कुछ देर रख कर कुल्ला करना) कराना चाहिये ।

अङ्गैकदेशेष्वनिलादिभिः स्यात् स्वरूपधारी स्फुरणं सिराभिः ७८
ग्रन्थिर्महान्मांसभवस्त्वनर्तिर्मेदोभवः स्निग्धतमश्चलश्च ।

ग्रन्थि--देह के किसी एक देश में वात आदि के कारण अपने अपने लक्षणों से युक्त ग्रन्थि हो जाती है । यदि वातज ग्रन्थि होगी तो वात के लक्षण होंगे । यदि पित्त की तो पित्त के और यदि श्लैष्मिक होगी तो कफ के लक्षण होते हैं । वातग्रन्थि का लक्षण माधवनिदान में इसप्रकार संगृहीत है—

'आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते भिद्यति मथ्यते च ।
कृष्णो मृदुर्बस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥'

अर्थात् वातज ग्रन्थि में नाना प्रकार की वेदनायें होती हैं । वर्ण काला होता है । स्पर्श में मृदु और बहुत जगह घेरे हुए होती है । यदि इस ग्रन्थि का भेदन हो तो इस में से पतला स्वच्छ स्राव निकलता है ।

पित्तज ग्रन्थि का लक्षण सु० नि० अ० ११ में—
'दन्दह्यते धूप्यति चातिमात्रं पापच्यते प्रज्वलतीव चापि ।
रक्तः सपीतोऽप्यथवापि पित्ताद्भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥'

अर्थात् पैत्तिक ग्रन्थि में अत्यधिक दाह जलन वेदना होती है। यह पक भी जाती है। यह वर्ण में लाल या लालपीली होती है और भेदन होने पर निकलने वाला स्राव अत्यन्त उष्ण होता है।

कफग्रन्थि का लक्षण सु० नि० अ० ११ में—

'शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुः पाषाणवत् संहननोपपन्नः।
चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम्॥'

श्लैष्मिक ग्रन्थि शीतल तथा देह के समान वर्ण वाली होती है। इसमें वेदना कम होती है। कण्डू अधिक होती है। स्पर्श में पाषाणवत् कठिन होती है। यह बहुत धीमे २ बढ़ती है और भेदन होने पर जो पूयस्राव होता है वह श्वेत और घना होता है।

जो ग्रन्थि सिराओं से होती है उसमें स्फुरण (Pulsation) होता है। यह स्फुरण वा कम्पन रक्त की गति के कारण हुआ करता है। सु० नि० अ० ११ में सिराज ग्रन्थि के निम्नोक्त लक्षण कहे हैं—

'व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम्।
सङ्कुच्य सम्पिण्ड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम्॥
ग्रन्थिः सिराजः स तु कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्चलश्च।
स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः॥'

अपनी शक्ति से अधिक व्यायाम के कार्य करने पर कुपित वायु सिराजाल में व्याप्त हो उसे सङ्कुचित सम्पिण्डित और विशुष्क करके निर्बल व्यक्ति में शीघ्र ही गोलाकार ग्रन्थि को उत्पन्न करती है। यदि यह सिराग्रन्थि वेदनायुक्त और चल हो तो कष्टसाध्य होती है। यदि यही ग्रन्थि वेदनारहित वा अचल भी हो परन्तु बहुत जगह को घेरे हो या मर्मदेश में हो तो असाध्य ही जाननी चाहिये।

मांसज ग्रन्थिः—मांस में उत्पन्न ग्रन्थि महान् होती है। तन्त्रान्तर में कहा है—

'मांसास्रजं चार्बुदलक्षणेन तुल्यं हि दृष्टं स्वथ लक्षणैः।'

अर्थात् मांसरक्तज ग्रन्थि में अर्बुद के लक्षणों के समान ही लक्षण होते हैं। अर्बुद गोल स्थिर अत्यन्त अल्प वेदना वाला वा वेदनारहित महान् महामूल और देर से बढ़ने वाला होता है ॥

मेदोज ग्रन्थि—मेदोज ग्रन्थि अत्यधिक स्निग्ध और चल होती है। सु० नि० अ० ११ में कहा है--

'शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो महानल्परुजोऽतिकण्डूः ।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥'

मेदोजग्रन्थि देह की मेद की वृद्धि और क्षय के साथ घटती बढ़ती है। स्निग्ध कण्डुयुक्त महान् और अल्प वेदना युक्त होती है। भेदन होने पर इस में से तिलकल्क वा घी के समान मेद निकलता है ॥ ७८ ॥

संशोधिते स्वेदितमश्मकाष्ठैः साङ्गुष्ठदण्डैर्विलयेदपक्वम् ॥ ७९ ॥
विपाट्य चोद्धृत्य भिषक् सकोषं शस्त्रेण दग्ध्वा व्रणवच्चिकित्सेत् ।
अदग्ध ईषत्परिशेषितश्च प्रयाति भूयोऽपि शनैर्विवृद्धिम् ॥८०॥

ग्रन्थियों की चिकित्सा—पुरुष का वमन विरेचन आदि द्वारा संशोधन करने के पश्चात् ग्रन्थि का स्वेदन करे। यदि ग्रन्थि पकी हुई न हो तो स्वेदन के पश्चात पत्थर, गोल चिकनी लकड़ी, अङ्गूठे व दण्ड से उसे विलीन वा विम्लापन करने का प्रयत्न करे। अर्थात् अङ्गूठे आदि को उन्नत ग्रन्थि पर रख उचित दबाव देते हुए एक ओर से दूसरी ओर ले जाय। यह एक ही दिशा की ओर करना चाहिये। विपरीत दिशाओं में विम्लापन नहीं किया जाता।

यदि ग्रन्थि पकी हो तो शस्त्र से चीरा देकर कोषसहित सम्पूर्ण ग्रन्थि को बाहिर निकाल ले और उस स्थान को दग्ध करके व्रण के सदृश चिकित्सा करे। यदि उस स्थान का दाह न किया जाय और ग्रन्थि का कुछ भाग बचा रह गया हो तो वह पुनः शनैः शनैः बढ़ जाया करती है ॥ ७९—८० ॥

तस्मादशेषः कुशलैः समन्ताच्छेद्यो भवेद्धीद्य शरीरदेशान् ।

शेषे कृते पाकवशेन शीर्येत्ततः क्षतोत्थः प्रसरेद्विसर्पः ॥ ८१ ॥
उपद्रवं तं प्रतिवार्य तज्ज्ञः स्वैर्भेषजैः पूर्वतरं यथोक्तैः।
ततः क्रमेणास्य यथाविधानं व्रणं व्रणज्ञस्त्वरया चिकित्सेत् ८२

अतएव कुशल वैद्यों को चाहिये कि वे शरीर के देश--मर्म आदि के प्रति दृष्टि रखते हुए ग्रन्थि को चारों ओर से छेदन कर निःशेष निकाल दें। यदि किञ्चित् शेष रह गया तो वह स्वयं पककर शीर्ण होता है। पक जाने के कारण पूयोत्पत्ति होने से क्षतज विसर्प होकर फैलने लगता है। अतएव शल्यकर्म को जानने वाला वैद्य उस उपद्रव का यथोक्त अपनी औषधों से पूर्वतर निवारण करे और पश्चात् व्रणज्ञ वैद्य क्रमशः विधान के अनुसार व्रण की शीघ्रता से चिकित्सा करे॥

विवर्जयेत्कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ८३

असाध्य ग्रन्थि—कुक्षि उदर गला तथा अन्य मर्मदेश में आश्रित ग्रन्थि असाध्य है। तथा च ग्रन्थि यदि कुक्षि आदि देश में न भी उत्पन्न हुई हो परन्तु स्थूल (मोटी) और खर हो तो उसे भी असाध्य ही जानें। बालक वृद्ध वा निर्बल पुरुषों को उत्पन्न हुई ग्रन्थियां असाध्य होती हैं ॥ ८३ ॥

ग्रन्थ्यर्बुदानां च यतोऽविशेषः प्रदेशहेत्वाकृतिदोषदूष्यैः।
ततश्चिकित्सेद्भिषगर्बुदानि विधानविद् ग्रन्थिचिकित्सितेन ॥८४॥

अर्बुदचिकित्सा—यतः ग्रन्थि और अर्बुदों के देश (उत्पत्तिस्थान) हेतु लक्षण दोष और दूष्य (रक्त, मांस, मेद) प्रायशः समान होते हैं अतः विधानज्ञ वैद्य ग्रन्थिचिकित्सा के अनुसार ही अर्बुदों की चिकित्सा करे। अर्बुदों का निदान और चिकित्सा सुश्रुतसंहिता निदानस्थान

---

१ ०दतः क्षतोत्थः प्रसरेद्' ग०। २ 'निवारयेदादित एव यत्नाद् विधानवित् स्वस्वविधिं विधाय' ग०।

११ अ० और चिकित्सास्थान १८अ०में विस्तार से है। उसे वहीं देखें।

ताम्रा सशूला[1] पिडका भवेद्या सा चालजी नाम परिस्रुताग्रा।

अलजी—जो ताम्रवर्ण की और शूल युक्त पिडका होती है उसे अलजी कहते हैं इसके अग्रभाग से स्राव निकला करता है।

रोगः[2] क्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसास्रदूषी भृशशीघ्रपाकः ॥८५॥

चर्मनखान्तरक्षत—चर्म और नख के मध्य में मांस और रक्त को दूषित करने वाला तथा अत्यन्त शीघ्र पक जाने वाला क्षतरोग (सुश्रुत में इस का नाम चिप्प भी है) होता है॥ ८५॥

ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षजा या वर्तिर्निरर्तिः कठिनाऽऽयता च।
विदारिका सा कफमारुताभ्यां,

विदारिका—वङ्क्षण (रान) और कक्षा देश में जो वर्ति के सदृश वेदना-रहित कठिन और विस्तृत शोथ होता है उसे बिदारिका कहते हैं। इसमें रोगी को ज्वर भी होता है। यह कफ और वायु से होती है।

'निरर्तिः' का कई टीकाकार 'निश्चय से वेदनायुक्त' ऐसा अर्थ करते हैं। चक्रपाणि कहता है कि यतः सुश्रुत ने विदारिका को त्रिदोषज माना है अतः यह केवल कफ और वात से न मानकर इसे कफवाताधिक हीनपित्त मानना चाहिये। सुश्रुत नि० अ० १३ में यह लक्षण किया है—

'विदारीकन्दवद्वृत्तां कक्षावङ्क्षणसन्धिषु।
रक्तां विदारिकां विद्यात् सर्वजा सर्वलक्षणाम्॥'

तेषां यथादोषमुपक्रमः स्यात् ८६

विस्रावणं पिण्डकयोपनाहः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।

इन सबकी चिकित्सा दोष के अनुसार की जाती है। चिकित्सा में पूर्व दोष वा रक्त का विस्रावण और जौ आदि के आटे की पिण्डिकाओं द्वारा उपनाह (Ponltice) करना चाहिये। जब पक जांय तब व्रण के सदृश चिकित्सा होती है।

---

१ 'समूला पिडका भवद्वा' ग०। २ 'शोथः कृतः' पा०। 'रोगोऽक्षतः' पा०।

विस्फोटकाः सर्वशरीरगास्तु स्फोटाः सदाहा ज्वरतर्षयुक्ताः ८७

विस्फोटक—सम्पूर्ण शरीर में उत्पन्न हुए स्फोट जिनमें ज्वर दाह एवं तृषा (प्यास) होती है विस्फोटक कहाते हैं।

भोज ने भी कहा है—

'यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि।
अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः सर्वदेहगान्॥
सज्वरान् सपरीदाहान् विद्याद्विस्फोटकांस्तु तान्' ॥ ८७ ॥

यज्ञोपवीतप्रतिमाः प्रभूताः पित्तानिलाभ्यां जनितास्तु कक्षाः।
याश्चापराः स्युः पिडकाः प्रकीर्णाः स्थूलाणुमध्या अपि पित्तजास्ताः

कक्षा—पित्त और वात से उत्पन्न हुए यज्ञोपवीत (जनेऊ) के सदृश अत्यधिक स्फोटों को कक्षा कहा जाता है। सु० नि० अ० १३ में कहा भी है—

'बाहुपार्श्वांसकक्षासु कृष्णस्फोटां सवेदनाम्।
पित्तप्रकोपसम्भूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत्॥

अन्य पिडकायें—और भी जो पिडकायें देह में इतस्ततः व्याप्त अथवा बहुत प्रकार की उत्पन्न होती हैं जो आकृति में स्थूल अणु (छोटी वा मध्य प्रमाण की होती हैं वे पित्तज हैं ॥ ८८ ॥

क्षुद्रप्रमाणाः पिडकाः शरीरे सर्वाङ्गगाः सज्वरदाहतृष्णाः।
कण्डूयुताः सारुचिसप्रसेकाः रोमान्तिकाः पित्तकफात्प्रदिष्टाः ८९

रोमान्तिका—सम्पूर्ण देह में छोटे२ प्रमाण(राई के सदृश) वाली पिडकायें जिनमें ज्वर दाह तृष्णा अरुचि और कफ प्रसेक आदि लक्षण होते हैं रोमान्तिकायें (Measles) कहाती हैं।

यह श्लोक गङ्गाधर ने पढ़ा है। अन्यत्र प्रतियों में यह पाठ नहीं मिलता। तन्त्रान्तर में कहा है—

'रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः।
कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः' ॥ ८९ ॥

सर्वत्र गात्रेषु मसूरमात्र्यो मसूरिकाः पित्तकफात्प्रदिष्टाः।

मसूरिका—देह में सर्वत्र मसूर के प्रमाण की पिडकायें मसूरिका (Small Pox) कहाती हैं। ये पित्त और कफ से उत्पन्न कही जाती हैं। तन्त्रान्तरों में इन्हें पित्तरक्ताधिक कहा है—

'पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम् ।
तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥
मसूरमुद्गमाषाणां तुल्याः कोलोपमा अपि ।
मसूरिकास्तु ता ज्ञेयाः पित्तरक्ताधिका बुधैः ॥'

विसर्पशान्त्यै विहिता क्रिया या तां तासु कुष्ठे च हितां विदध्यात्

इन सब की चिकित्सा—जो क्रिया विसर्प की शान्ति के लिये कही है और जो कुष्ठ में हितकर है वह ही मसूरिका आदि पिड़काओं तथा विस्फोटक आदि में करनी चाहिये ॥ ९० ॥

**ब्रध्नोऽनिलाद्यैर्वृषणे स्वलिङ्गैरन्त्रं निरेति प्रविशेन्मुहुश्च ।
मूत्रेण पूर्णं मृदु मेदसा तु स्निग्धं च विद्यात्कठिनं च शोथम् ९१**

ब्रध्न—वात आदि दोषों से अपने लक्षणों के साथ ब्रध्न होता है। वातवृद्धि में वात के पित्तवृद्धि में पित्त के और कफवृद्धि में कफ के लक्षण होते हैं। आंत वङ्क्षण देश के अन्तःस्थित छिद्रों से निकल कर बारंबार अण्डकोश में चली जाती है और पुनः उदर में प्रविष्ट हो जाती है इस ब्रध्न को आन्त्रवृद्धि रोग भी कहते हैं।

यह मुख्यतः दो प्रकार की होती है--१ अप्राप्तफलकोषा २ प्राप्त फलकोषा। यदि अण्डकोष में आंत न जाय और वङ्क्षणसन्धि में ही फूल कर दीखने लगे तो उसे अप्राप्तफलकोषा कहते हैं। यह सबसे अधिक पायी जाती है। यदि आंत अण्डधारक रज्जुमार्ग (Inguinal canal) के अन्तःछिद्र से निकल कर न रुके और बहिःछिद्र से अण्डकोष में प्रविष्ट होजाय तो उसे प्राप्तफलकोषा आन्त्रवृद्धि कहते हैं। अण्डधारक रज्जुमार्ग विटपसन्धि के पार्श्वों

(वङ्क्षणदेश) पर कोष्ठ की भित्ति में अधोमुख अन्तर्मुख और पुरोमुख रहता है।

आन्त्रवृद्धि में दबाने से अंग गड़गड़ की आवाज़ के साथ उदर में लौट भी जाती है।

मूत्रज वृद्धि—मूत्र से जब अण्डवृद्धि (Hydrocele) होती है तब वह अण्ड भरा हुआ और स्पर्श में मृदु होता है।

मेदोजवृद्धि—मेद के कारण उत्पन्न अण्डशोथ स्निग्ध और कठिन होता है।

वृद्धि का लक्षण सूत्रस्थान १८ अध्याय में कहा जा चुका है—

'यस्य वायुः प्रकुपितः शोथशूलकरश्चरन्।
वङ्क्षणाद्वृषणौ याति वृद्धिस्तस्योपजायते ॥'

अन्य उद्धरण सूत्रस्थान १८ अध्याय की व्याख्या में ही देखें।

मूत्रवृद्धि के लिये अन्यत्र कहा है—

'मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः।
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सुरुङ् मृदुः।
मूत्रकृच्छ्रमधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः ॥'

मेदोजवृद्धि के विषय में भी तन्त्रान्तर में कहा है—

'कफवन्मेदसा वृद्धिः मृदुस्तालफलोपमः।'

इस प्रकार छह वृद्धियां कही हैं। १ वातज २ पित्तज ३ कफज ४ आन्त्रवृद्धि, ५ मूत्रवृद्धि ६ मेदोज वृद्धि। सुश्रुत नि० अ० १२ में सातवीं रक्तजवृद्धि कही है ॥ ९१ ॥

विरेचनाभ्यङ्गनिरूहलेपाः पक्वेषु चैव व्रणवच्चिकित्सा।
स्यान्मूत्र[1]भेदःकफजं विपाट्य विशोध्य सीव्यं व्रणवच्च पक्वम् ॥९२॥

वृद्धि का सामान्य चिकित्सासूत्र—वृद्धिरोग में विरेचन अभ्यङ्ग

१ 'स्यान्मूत्रसेकः कफजं' पा०।

निरूहबस्ति और लेप कराने चाहियें। यदि वृद्धि पक जाय तो व्रणसदृश चिकित्सा करनी चाहिये।

मूत्रज मेदोज और कफज की विशेष चिकित्सा—मूत्र मेद वा कफज वृद्धि में शस्त्र द्वारा पाटन करके व्रणशोधन द्रव्यों के क्वाथ आदि से शोधन करे और सी दे। यदि कथंचित् पक जाय तो व्रण के सदृश चिकित्सा करे।

विस्तृत चिकित्सा सुश्रुत आदि में देखनी चाहिये ॥ ९२ ॥

क्रिमेस्तृणादित्तणनव्यवायप्रवाहणात्युत्कटुकाश्वपृष्ठैः।
गुदस्य पार्श्वे पिडका भृशार्तिः पक्वप्रभिन्ना तु भगन्दरः स्यात् ९३

भगन्दर—कृमि, तिनका आदि चुभना तथा मैथुन, प्रवाहण (मलविसर्जन आदि के समय कुन्थन करना), उकड़ू बैठना, घोड़े की पीठ पर सवारी; इनके अतिसेवन से गुदा के पार्श्व में अत्यन्त वेदना वाली पिड़का होती है जो पककर फूटने पर भगन्दर कहाता है। तन्त्रान्तर में कहा है—

'गुदस्य द्व्यङ्गुले क्षेत्रे पार्श्वतः पिडकार्तिकृत्।
भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः ॥

सुश्रुत नि० अ० ४ में यह पांच प्रकार का कहा गया है। १ वातज-शतपोनक २ पित्तज-उष्ट्रग्रीव ३ कफज-परिस्रावी ४ सन्निपातज-शम्बूकावर्त्त ५ आगन्तु-उन्मार्गी। इनके नाम से ही प्रत्येक के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। विशेष विवरण सुश्रुत नि० अ० ४ में देखें। इन पांच के अतिरिक्त तन्त्रों में द्वन्द्वज भी कहे गये हैं—जिन्हें वातपित्तज-परिक्षेपी, वातश्लेष्मज-ऋजु और पित्तकफज-अर्शोज कहा जाता है। इनके सबके लक्षण आदि तन्त्रान्तरों में इस प्रकार हैं—

शतपोनक का लक्षण—

कषायरूक्षैरतिकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिटिकां करोति याम् ।
उपेक्षणात् पाकमुपैति दारुणं रुजां च भिन्नारुणफेनवाहिनी ॥
तत्रागमो मूत्रपुरीषरेतसां व्रणैरनेकैः शतपोनकं वदेत् ।

कषाय रूक्ष आदि वातकोपी हेतुओं से कुपित वात गुदा के पार्श्व में एक प्रकार की पिड़का को उत्पन्न करता है । जिसकी यदि उपेक्षा की जाय–चिकित्सा न की जाय तो वह पक जाती है और दारुण वेदना होती है । फटने पर इसमें से अरुणवर्ण का झागयुक्त स्राव निकलता है । यह भगन्दर बढ़ते बढ़ते आसपास के आशयों तक पहुंच जाता है जिससे भगन्दर के मुख से मूत्र पुरीष वा वीर्य का भी स्राव हो सकता है । इस भगन्दर के अनेक व्रण होते हैं अतएव बहुत से मुख होते हैं । यही कारण है कि इसका नाम शतपोनक रखा है ।

उष्ट्रग्रीव का लक्षण—

'प्रकोपणैः पित्तमतिप्रकोपितं करोति रक्तां पिटिकां गुदाश्रिताम् ।
तदाशुपाकाहिमपूतिवाहिनीं भगन्दरं तूष्ट्रशिरोधरं वदेत ॥

पित्तकोपक आहार विहार आदि हेतु से प्रकुपित पित्त गुदा के पास अत्यन्त दाहयुक्त रक्तवर्ण की पिडका को उत्पन्न करता है जो पककर शीघ्र ही फूट जाती है । इससे उष्ण पूय का स्राव होता है और व्रण ऊंट की ग्रीवा के समान कुछ वक्र होता है अतः इसे उष्ट्रग्रीव कहते हैं ।

परिस्रावी का लक्षण—

' कण्डूयनो घनस्रावी कठिनो मन्दवेदनः ।
श्वेतावभासः कफजः परिस्रावी भगन्दरः ॥ '

परिस्रावी भगन्दर कफज होता है । इसमें कण्डू होती है । स्राव गाढ़ा होता है । वेदना मन्द होती है । स्पर्श से यह पिडका कठोर अनुभव होती है । वर्ण श्वेत सा होता है ।

शम्बूकावर्त का लक्षण—

‘ बहुवर्णारुजास्रावा पिटका गोस्तनोपमा ।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः ॥ ’

इस सान्निपातिक भगन्दर की पिडका बड़ी और गौ के थन के सदृश आकार में होती है। यह नानावर्ण की और अत्यन्त वेदनायुक्त होती है। स्राव भी नाना प्रकार का होता है। इसका नाडीव्रण घोंघे के चक्करों की तरह कई चक्कर खाये रहता है॥

उन्मार्गी भगन्दर का लक्षण—

‘क्षताद् गतिः पायुगता विवर्धते ह्युपेक्षणात् स्युः कृमयो विदार्य ते ।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखैः व्रणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥’

गुदा में किसी बाह्यक्षत वा अन्तःक्षत के कारण गति वा नाडीव्रण हो जाने पर यदि उपेक्षा की जाय तो वहां कृमि (पूयोत्पादक) उत्पन्न हो जाते हैं। वे कृमि क्रमशः आस पास के देश को खाना प्रारम्भ करते हैं जिससे अनेक मुख वाले नाडीव्रण हो जाते हैं। इसे उन्मार्गी भगन्दर कहते हैं। यह आगन्तु है।

परिक्षेपी का लक्षण—

‘वातपित्तोद्भवो यस्तु तल्लक्षणपरिप्लुतः ।
परिक्षेपी तु तं विद्यात् परिक्षेपाद् भगन्दरः ॥ ’

परिक्षेपी भगन्दर वातपित्तज होता है। इसमें वात और पित्त के लक्षण होते हैं। इसका यह नाम इसीलिये रखा है चूंकि यह गुदा के चारों ओर घेरा डाले रखता है॥

ऋजु भगन्दर का लक्षण—

‘युक्तस्तु लक्षणैर्वातकफयोः ऋजुस्रावी च ।
सरलश्च व्रणो यस्य ऋज्वीति परिचक्षते ॥’

ऋजु भगन्दर का नाम उसके नाडीव्रण के सीधा होने के कारण

है। इसमें वात कफ के लक्षण रहते हैं। इसमें से स्राव भी सरता रहता है॥

अर्शोज भगन्दर का लक्षण—

'कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यतः।
अर्शोमूले ततः शोथः कण्डूदाहार्तिमान् भवेत्॥
स शीघ्रं पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन् मूलमर्शसः।
स्रवत्यजस्रं गतिभिरयमर्शोभगन्दरः॥

बवासीर का आश्रय करके जब कफ और पित्त कुपित होते हैं तब उस मस्से की जड़ में कण्डू दाह तथा पीड़ायुक्त शोथ उत्पन्न होजाता है। यह शीघ्र पक कर फूट जाता है और मस्से की जड़ को गीला करे रखता है। इस अर्शोभगन्दर में नाडीव्रणों से निरन्तर स्राव बहा करता है॥

भगन्दरोत्पादक पिड़का निम्नोक्त लक्षणों से जानी जाती है—

' गूढमूलां ससंरम्भां रुगाढ्यां रूढकोपिनीम्।
भगन्दरकरीं विद्यात् पिटिकां न त्वतोऽन्यथा॥

भगन्दर को उत्पन्न करने वाली पिटका गम्भीर-मूल, शोथयुक्त, अत्यन्त पीडाकर तथा उत्पन्न होते ही शीघ्रता से बढ़ती है। अन्य पिटिकायें ऐसी नहीं होतीं॥ ९३॥

विरेचनं चैषणपाटनं च विशुद्धमार्गस्य च तैलदाहः।
सात्क्षारसूत्रेण सुपाचितस्य भिन्नस्य चास्य व्रणवच्चिकित्सा ९४

भगन्दर की चिकित्सा—विरेचनानन्तर एषण,पाटन तथा व्रणमार्ग की शुद्धि होने पर तप्त तैल द्वारा दाह;यह उपक्रम है। अभिप्राय यह है कि सबसे पूर्व रोगी को विरेचन दें। जब कोष्ठ शुद्ध हो जाय तब एषणी (Director) से नाडीव्रण का एषण करे—उसके मार्ग को जाने। एषण करने से जहां व्रणमार्ग का ज्ञान होगा वहां यदि व्रणमार्ग में कहीं पूय जम गई होगी तो वह भी रुकावट हट जायगी। पश्चात् इस एषणी के सहारे

शस्त्र (Bistoury) से पाटन करे । पाटन करने पश्चात् शोधन तैल आदि में सिक्त स्वच्छ वस्त्रखण्ड (Gauze) को भिगोकर उस पाटित स्थल में रखें । जब शोधन हो जाय तो तप्त तैल से दाह करें । पश्चात् व्रणवत् चिकित्सा करके रोहण करें ।

यदि रोगी शस्त्र से डरता हो तो क्षारसूत्र का प्रयोग करना चाहिये । क्षारसूत्र के प्रयोग से पक कर जब व्रण विदीर्ण हो जाता है तब व्रणवत् चिकित्सा करें ।

उक्त सब भगन्दरों को हम तीन भेदों में बांट सकते हैं । १ वह जो बहिर्मुख होते हैं अर्थात् जिसका एक ही मुख (Blind Fistula) बाह्य त्वचा में होता है । २ वह जो अन्तर्मुख होते हैं जिनका केवल एक मुख होता है (Blind Fistula) और वह गुदा की श्लैष्मिक कला (Mucous membrane) में होता है । ३ वह जो बाह्याभ्यन्तर्मुख होते हैं । जिनका एक मुख त्वचा में और दूसरा मुख गुदा की श्लैष्मिक कला में होता है ।

आजकल एक मुख वाली भगन्दर गति (Blind Fistula) को एषणी द्वारा बाह्याभ्यन्तर्मुखकर लिया जाता है पश्चात् शस्त्रसे काट देते हैं।

जो भगन्दर बाह्यान्तर्मुख होते हैं वहां क्षारसूत्र का प्रयोग होता है । क्षारसूत्र का विधान यह है कि एक पतली डोर लें । उसे सेहुण्ड के दूध में मिश्रित हल्दी के चूर्ण से लिप्त करें । लिप्त करने के लिये डोर को कसकर कुछ दूर पर लगी दो खूटियों में बांध दें और हरिद्राचूर्ण और सेहुण्डदूध के मिश्रण में रूई को भिगोकर उस पर फेरें । पश्चात् सुखा लें इस प्रकार सातवार लिप्त करें । शुष्क होने पर स्वच्छ पात्र में रख छोड़ें ।

रजत की बनी एषणी सदृश मोटी सीधी सुई—जिसके एक ओर सूई के सदृश छिद्र हो पर दूसरा सिरा तीक्ष्ण न हो—को पूर्व उबलते जल में उबाल लें । पश्चात् स्वच्छ रूई वा वस्त्र से

पोंछ लें। इसके छिद्र में क्षारसूत्र पिरो दें। इस एषणी के आकार की सूई को दाहिने हाथ में लेकर क्षारसूत्रवाला सिरा भगन्दर में प्रविष्ट करें। और बांयें हाथ की तर्जनी को घी से अभ्यक्त करके गुदा में डाल दें। सूई को अन्दर धकेलें जब उसका क्षारसूत्र वाला भाग अन्तर्मुख से बाहिर निकलकर वामहस्त की तर्जनी को छूए तब धकेलना बन्द कर दे। अब गुदा में प्रविष्ट तर्जनी का दबाव डाल कर सूई का सच्छिद्र भाग आराम से बाहिर कर लें। अब सूत्रके एक प्रान्त को पकड़ कर निकाल लें। अब इस प्रान्त को पकड़े रखें और दाहिने हाथ से सूई को पुनः धीमे २ वापिस खींच लें। क्षारसूत्र का एक प्रान्त बाह्य मुख पर होगा और दूसरा सिरा अन्तर्मुख से होकर गुदा के बाहिर होगा। अब इन्हें कसकर बूट के तसमें की तरह बांध दें। यह गांठ न बहुत कस के लगानी चाहिये न ढीली। तीसरे दिन खोलकर थोड़ा सा कस दें। इसप्रकार प्रति तीसरे दिन कसते जाने से भगन्दर कट जायगा। भगन्दर व्रण ज्यों ही कटना प्रारम्भ हो आवश्यकता के अनुसार शोधन वा रोपण तैल वा मलहर की वर्ति को व्रणमार्ग से प्रविष्ट करा दें। और प्रतिदिन उसे बदलकर नई बत्ती डालते जांय। इस में रोगी अपने सब काम कर सकता है, चल फिर सकता है। जितना चलेगा उतना ही शीघ्र व्रण कटेगा। पुरीषविसर्जन के पश्चात् वर्ति बदल देनी चाहिये। जब व्रण सारा कट जाय तब १ इंच चौड़े और ४ या ५ इंच लम्बे निर्मल वस्त्रखण्ड पर दोनों ओर रोपण प्रलेप वा मलहर लगाकर उस पाटित व्रण में दे दें। जितना भाग ऊपर बचे उसे व्रण के ऊपर ही चिपकाकर रुई रखकर बांध दें।

इस विधान से रोगी को बहुत नियन्त्रण में नहीं रखना पड़ता और ना ही रोगी को बहुत कष्ट होता है। सुश्रुत चि० अ० १७ में कहा है—

'कृशदुर्बलभीरूणां नाडी मर्माश्रिता च या।
क्षारसूत्रेण तां छिन्द्यान्न तु शस्त्रेण बुद्धिमान्॥

एषण्या गतिमन्विष्य क्षारसूत्रानुसारिणीम् ।
सूचीं निदध्याद् गत्यन्ते तथोन्नम्याशु निर्हरेत् ॥
सूत्रस्यान्तं समानीय गाढं बन्धं समाचरेत् ।
ततः क्षारबलं वीक्ष्य सूत्रमन्यत्प्रवेशयेत् ॥
क्षाराक्तं मतिमान् वैद्यो यावन्न छिद्यते गतिः ।
भगन्दरेऽप्येष विधिः कार्यो वैद्येन जानता ॥

यदि भगन्दर एकमुख वाला हो और उसे दो मुख वाला (Complete Fistula) बनाना अभीष्ट न हो तो उसके सूक्ष्म मुख को शस्त्र से वा एषणी के आकार की शोधक लेखन वर्ति से चौड़ा करके तन्त्रों में भगन्दर अधिकार में कहे गये तैलों को पिचकारी (Probe pointed Hypodermic syringe) द्वारा प्रविष्ट कराना चाहिये ।

यहां पर व्रण को तैल से दग्ध करने को लिखा है । सुश्रुत में क्षार और जाम्बवौष्ठ आदि द्वारा अग्नि से दाह करने का विधान है । विशेष चिकित्सा सुश्रुत चिकित्सास्थान अ० ८ में देखें ॥ ६४ ॥

जङ्घासु पिण्डीषु पदोपरिष्टात्स्यात् श्लीपदं मांसकफास्रदोषात् ।
सिराकफघ्नश्च विधिः समग्रस्तत्रेष्यते सर्षपलेपनं च ॥ ६५ ॥

श्लीपद—जङ्घाओं में पिण्डलियों में और पैर के ऊपर के भाग पर मांस कफ और रक्त के दोष से श्लीपद नामक शोथ होता है । सुश्रुत नि० अ० १२ में—

'कुपितास्तु वातपित्तश्लेष्माणोऽधःप्रपन्ना वङ्क्षणोरुजानुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शोफं जनयन्ति तत् श्लीपदमित्याचक्षते ॥'

श्लीपद कफदोष के बिना नहीं हो सकते । चाहे श्लीपद वातज हो वा पित्तज कफ की दुष्टि के बिना नहीं होता—

---

१ 'जङ्घादिपिण्डीप्रपदोपरिष्टात्' च. ।

' त्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वञ्च महत्त्वञ्च यस्मान्नास्ति विना कफात् ॥'

यह कई आचार्यों के मत से कान आंख नाक होठ और शिश्न आदि पर भी हो सकता है।

चिकित्सा—श्लीपद में सिरावेध तथा कफनाशक समग्र विधान अभीष्ट है और इस पर सरसों का लेप करना चाहिये। विस्तृत चिकित्सा सुश्रुत चि० अ० १९ में देखें ॥ ९५ ॥

मन्दास्तु पित्तप्रबलाः प्रदुष्टा दोषाः सुतीव्रं तनुरक्तपाकम्।
कुर्वन्ति शोथं ज्वरतर्षयुक्तं विसर्पिणं जालकगर्दभाख्यम् ॥ ९६ ॥

जालगर्दभ—दुष्ट हुए २ पित्तप्रबल वातकफ मन्द दोष अत्यन्त तीव्र शोथ को—जो पतला रक्तवर्ण का तथा कदाचित् पकने वाला भी होता है, जिसमें रोगी को ज्वर होता है, प्यास लगती है और जो विसर्पण करता है—उत्पन्न करते हैं। सुश्रुत नि० अ० १३ में कहा है—

'विसर्पवत् सर्पति यो दाहज्वरकरस्तनुः।
अपाकः श्वयथुः पित्तात् स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥

यहां 'अपाकः' में ' नञ् ' का प्रयोग ईषत् अर्थ में है। भोज ने भी कहा है—

'पित्तोत्कटास्त्रयो दोषाः जनयन्ति त्वगाश्रिताः।
श्यावं रक्तं तनुं शोथमपाकं बहुवेदनम् ॥
विसर्पिणं सदाहं च तृष्णाज्वरसमन्वितम्।
विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम् ॥' ९६ ॥

विलेपनं रक्तविमोक्षणं च विरूक्षणं कायविशोधनं च।
धात्रीप्रयोगांश्शिशिरान् प्रदेहान्कुर्यात्सदा जालकगर्दभस्य ॥९७॥

चिकित्सासूत्र—जालकगर्दभ की विलेपन, रक्तमोक्षण (शिरावेध तुम्बी जोंक आदि द्वारा), विरूक्षण (शरीर को रूक्ष करना), विरेचन वमन आदि द्वारा देहशुद्धि, आंवले के प्रयोग तथा शीतल प्रदेह; इनके

द्वारा चिकित्सा करनी चाहिये । सुश्रुत ने पित्तजविसर्प की चिकित्सा के सदृश ही चिकित्सा करने को कहा है ॥ ९७ ॥

एवंविधांश्चाप्यपरान् परीक्ष्य शोथप्रकाराननिलादिलिङ्गैः ।
शान्तिं नयेद्दोषहरैर्यथास्वमालेपनच्छेदनभेददाहैः ॥ ९८ ॥

शोथोपसंहार—शोथके इसीप्रकार के अन्य भेदों को भी वात आदि के लक्षणों से परीक्षा करके अपने उस २ दोष के नाशक आलेपन छेदन भेदन और दाह आदि द्वारा शान्त करे ॥ ९८ ॥

प्रायोऽभिघातादनिलः सरक्तः शोथं सरागं प्रकरोति तत्र ।
वीसर्पनुन्मारुतरक्तनुच्च कार्यं विषघ्नं विषजे च कर्म ॥ ९९ ॥

आगन्तु शोथ चिकित्सा—अभिघात से प्रायः कुपित रक्तयुक्त वायु उस २ अवयव में रक्तिमायुक्त शोथ को उत्पन्न करता है। वहां वीसर्पनाशक वातघ्न और दुष्टरक्त-शामक चिकित्सा करनी चाहिये ।

विषज शोथ में चिकित्सासूत्र—विषजशोथ में विषनाशक चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ९९ ॥

भवति चात्र ।

त्रिविधस्य दोषभेदात्सर्वार्धावयवगात्रभेदाच्च ।
श्वयथोर्द्विविधस्य तथा लिङ्गानि चिकित्सितं चोक्तम् ॥१००॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने
श्वयथुचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अध्यायोपसंहार—दोषभेद से तथा समस्त देह अर्धदेह और अवयव में उत्पन्न भेद से त्रिविध तथा द्विविध (निज और आगन्तु भेद से) शोथ के लक्षण और चिकित्सा कह दी है ॥ १०० ॥

इति श्वयथुचिकित्सा ।

त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथात उदरचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।

इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम उदरचिकित्सित की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

सिद्धविद्याधराकीर्णे कैलासे नन्दनोपमे ।
तप्यमानं तपस्तीव्रं साक्षाद्धर्ममिव स्थितम् ॥ २ ॥
आयुर्वेदविदां[1] श्रेष्ठं भिषग्विद्याप्रवर्तकम्[2] ।
पुनर्वसुं जितात्मानमग्निवेशोऽब्रवीद्वचः ॥ ३ ॥
भगवन्नुदरैर्दुःखैर्दृश्यन्ते ह्यर्दिता नराः ।
शुष्कवक्त्राः कृशैर्गात्रैराध्मातोदरकुक्षयः ॥ ४ ॥
प्रनष्टाग्निबलाहाराः सर्वचेष्टास्वनीश्वराः ।
दीनाः प्रतिक्रियाभावाज्जहतोऽसूननाथवत् ॥ ५ ॥
तेषामायतनं संख्यां[3] प्राग्रूपाकृतिभेषजम् ।
यथावज्ज्ञातुमिच्छामि गुरुणा सम्यगीरितम् ॥ ६ ॥

सिद्ध विद्याधरों से व्याप्त नन्दनवन के सदृश रमणीक कैलास पर्वत पर स्थित तीव्र तप करते हुए साक्षात् धर्ममूर्ति आयुर्वेदज्ञों में श्रेष्ठ आयुर्वेद के प्रवर्तक जितात्मा भगवान् पुनर्वसु को अग्निवेश ने यह वचन कहा—हे भगवन्! मनुष्य दुःखदायक उदररोगों से अत्यन्त कष्ट पाते हुए दिखाई देते हैं। उनके मुख सूखे हुए, गात्र कृश, उदर और कुक्षि फूले हुए, अग्नि बल और आहार जिनके नष्ट हैं, चेष्टाओं के करने में असमर्थ दीन तथा चिकित्सा न होने से अनाथों की तरह काल का

---

१ 'भिषग्वेदविदां' ग० । २ 'भिषग्वेदप्रवर्तकम्' ग० ।

३ 'संख्या च यद्यपि रोगाधिकारेऽष्टावुदराणीत्यनेनोक्ता तथापि गुल्मकुष्ठयोस्तत्र संख्याविक्रमदर्शनात् पुनः संख्याप्रश्नः । किंवा प्रकरणागतत्वात् संख्योक्तापि पुनरुच्यते ॥' चक्रः ।

प्राप्त होते हुए दिखाई देते हैं ।

अतएव उन उदररोगों का कारण संख्या पूर्वरूप लक्षण तथा औषध यह सब श्रीमुख से सुनना चाहता हूं ॥ २-६ ॥

सर्वभूतहितायर्षिः शिष्येणैवं प्रचोदितः ।
सर्वभूतहितं वाक्यं व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ७ ॥

शिष्य-अग्निवेश द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों के हित के लिये प्रेरणा करने पर आत्रेय ऋषि ने सम्पूर्ण प्राणियों के लिये हितकर वाक्य को कहना प्रारम्भ किया ॥ ७ ॥

अग्नि[1]दोषान्मनुष्याणां रोगसङ्घाः पृथग्विधाः ।
मलवृद्ध्या प्रवर्तन्ते[2] विशेषेणोदराणि तु ॥ ८ ॥

उदर की सम्प्राप्ति—अग्नि के दोष से मल की वृद्धि होने पर मनुष्यों को नानाप्रकार के रोगसमूह विशेषतः उदररोग हुआ करते हैं ।

'मल' से यहां पुरीष आदि वा दुष्ट वात आदि का ग्रहण है ॥ ८ ॥

मन्देऽग्नौ मलिनैर्भुक्तैरपाकाद्दोषसंचयः ।
प्राणा[3]ग्न्यपानान्संदूष्य मार्गान् रुद्ध्वाऽधरोत्तरान् ॥ ९ ॥
त्वङ्मांसान्तरमागत्य कुक्षिमाध्मापयन्भृशम् ।
जनयत्युदरं,

अत्युष्ण आदि मलिन (दोषकारक) भोजनों से अग्नि के मन्द होने पर आहार के यथावत् न पचने के कारण दोषों का सञ्चय होता है । यह दोषों का संचय प्राण अग्नि और अपान को अत्यन्त दूषित

---

१ अग्निदोषोऽत्राग्निमान्द्यमेव विवक्षितं, तस्यैवेहोदरकारणदोषत्रयकर्तृत्व-मुक्तम् ।' चक्रः । २ 'प्रवर्द्धन्ते' ग० ।

३ 'प्राणेत्यादौ पुनरग्निदूषणाभिधानेन मन्दस्य वह्नेः पुनर्दोषकृतं नितरां मान्द्यं दर्शयति । दोषसञ्चयकृतेन वायुना प्राणापानयोर्दूषणमविरुद्धमेव । यतो वायुनापि वायुदुष्टिर्भवत्येव' चक्रः ।

करके नीचे ऊपर के मार्गों को रोक देते हैं। अतएव वह दोषसंचय त्वचा और मांस के मध्य में पहुंच कुक्षि को अत्यन्त अध्मात (फूला हुआ) करके उदर को उत्पन्न करता है। सुश्रुत नि० अ० ७ में कहा है--

'सुदुर्बलाग्नेरहिताशनस्य संशुष्कपूत्यन्ननिषेवणाद्वा ।
स्नेहादिमिथ्याचरणाच्च जन्तोर्वृद्धिं गताः कोष्ठमभिप्रपन्नाः ॥
गुल्माकृतिव्यञ्जितलक्षणानि कुर्वन्ति घोराण्युदराणि दोषाः ।
कोष्ठादुपस्नेहवदन्नसारो निःसृत्य दुष्टोऽनिलवेगनुन्नः ।
त्वचः समुन्नम्य शनैः समन्ताद्विवर्द्धमानो जठरं करोति ॥ ६ ॥

तस्य हेतुं शृणु सलक्षणम् ॥ १० ॥

अत्युष्णलवणक्षारविदाह्यम्लगराशनात् ।
मिथ्यासंसर्जनाद्रूक्षविरुद्धाशुचिभोजनात् ॥ ११ ॥
प्लीहार्शोग्रहणीदोषकर्षणात्कर्मविभ्रमात् ।
क्लिष्टानामप्रतीकाराद्रौक्ष्याद्वेगविधारणात् ॥ १२ ॥
स्रोतसां दूषणादामात्संक्षोभादतिपूरणात् ।
अर्शोवालशकृद्रोधादन्त्रस्फुटनभेदनात् ॥ १३ ॥
अतिसंचितदोषाणां पापं कर्म च कुर्वताम् ।
उदराण्युपजायन्ते मन्दाग्नीनां विशेषतः ॥ १४ ॥

हे अग्निवेश उस उदर के हेतु और लक्षण सुन--

उदर का हेतु--अति उष्ण, लवण, क्षार, विदाही, अम्ल तथा गर (संयोगज विष) के भोजन से, वमन विरेचन आदि संशोधनों के पश्चात संसर्जनक्रम के मिथ्यासेवन से अर्थात् जो भोजन विधि उस काल के लिये विहित है उसका उल्लङ्घन करने से, रूक्ष विरुद्ध तथा अपवित्र भोजन से, प्लीहा अर्श ग्रहणीदोष आदि रोगों द्वारा देह

---

१ 'क्लिष्टानामप्रतिकारादिति कृतया प्रतिक्रियया इत्यर्थः' चक्रः ।
२ 'संक्षोमाच्चिचस्य' इति गङ्गाधरः । ३ 'अर्शोवलिम्यकृद्रो०' पा० ।

के कृश एवं दुर्बल हो जाने से, स्नेहन स्वेदन तथा पञ्चकर्म के विभ्रम से—उचित प्रकार से न करने के कारण, क्लेश (रोग) युक्त का प्रतिकार न होने से, रूक्षता के कारण, वेगों को रोकने से, स्रोतों की दुष्टि से, आमदोष से, संक्षोभ से—यान आदि में विषम मार्गों से चलते हुए अथवा किसी अन्य कारण द्वारा कोष्ठ के विक्षुब्ध हो जाने से, पेट को अन्नपान द्वारा अत्यन्त भर लेने से, अर्श के अङ्कुरों से अथवा अन्न के साथ अन्दर गये बालों से पुरीष के रुकने पर, भक्षित हड्डी कण्टक आदि द्वारा आंतों के फूटने वा विदीर्ण होने से, जिन में दोषों का संचय अत्यधिक है, जो पापकर्म करते हैं ऐसे पुरुषों को विशेषतः मन्दाग्नि को उदर हो जाते हैं ॥१०–१४॥

क्षुन्नाशः स्वादुता स्निग्धगुर्वन्नं पच्यते चिरात् ।
भुक्तं विदह्यते सर्वं जीर्णाजीर्णं न वेत्ति च ॥ १५ ॥
सहते नातिसौहित्यमीषच्छोफश्च पादयोः ।
शश्वद्बलक्षयोऽल्पेऽपि व्यायामे श्वासमृच्छति ॥ १६ ॥
पुरीषनिचयो वृद्धिरुदावर्तकृता च रुक् ।
बस्तिसन्धौ रुगाध्मानं वर्धते पाटयतेऽपि च ॥ १७ ॥
आतन्यते च जठरं लघ्वल्पभोजनैरपि ।
राजीजन्म वलीनाश इति लिङ्गं भविष्यताम् ॥ १८ ॥

उदरों के पूर्वरूप—भूख न लगना, मुख का मीठा २ रहना, स्निग्ध तथा गुरु अन्न का अत्यन्त देर से पचना, सब खाये पीये का विदाह होना, पचन और अपचन का ज्ञान न होना (रोगी यह नहीं जान सकता कि भुक्त आहार पच गया है या नहीं), अति भरपेट खाने को न सहना—अति कष्ट अनुभव करना, पैरों में थोड़ा २ शोथ, निरन्तर बल में क्षीणता, थोड़ा सा व्यायाम वा परिश्रम का कार्य करने पर सांस का फूल आना, पुरीष का पेट में सञ्चय-प्रवृत्त न

१ 'राजी व्यक्ता शिरा' चक्रः ।

होना, उदावर्त के कारण उदरवृद्धि और वेदना, बस्तिसन्धि में वेदना, आध्मान, लघु और अल्प भोजन से भी पेट का बढ़ना वा छेदनवत् पीड़ा होनी फटा सा जाना और तन जाना, राजियों (रेखाओं) का पैदा होना अर्थात् पेट के आध्मात होने से सिराओं का दिखाई देना, वलीनाश—झुर्रियों का हट जाना, ये उदर के पूर्वरूप हैं। सु० नि० अ० ७ में—

'तत्पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षावलीविनाशो जठरे हि राज्यः।
जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो बस्तौ रुजः पादगतश्च शोफः॥' १५–१८॥

रुद्ध्वा[1] स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः।
प्राणाग्न्यपानान् सन्दूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम्॥ १९॥

निज उदर की सामान्य सम्प्राप्ति--सञ्चित हुए दोष स्वेदवाही अम्बुवाही स्रोतों को रोककर तथा प्राण, अग्नि अपान; इन्हें दूषित करके मनुष्यों में उदर को उत्पन्न कर देते हैं॥ १९॥

कुक्षेराध्मानमाटोपः शोफः पादकरस्य च।
मन्दोऽग्निः श्लक्ष्णगण्डत्वं कार्श्यं चोदरलक्षणम्॥ २०॥

उदर का सामान्य लक्षण—कुक्षि का आध्मान, आटोप (पेट के वायु पूर्ण होने के कारण गुड़गुड़ शब्द होना), हाथ पैर में शोथ, अग्निमान्द्य, गालों का मसृण (चिकना) होना, कृशता; ये उदर का लक्षण है॥ २०॥

पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः।
संभवन्त्युदराण्यष्टौ,

उदर की संख्या और भेद—पृथक् दोषों से, सन्निपात से, प्लीहा मल बद्धता क्षत तथा जल से आठ उदर होते हैं। १ वातज २ पित्तज

---

१ 'रुद्ध्वेत्यादिना चतुर्णां दोषजन्यानामुदराणां सामान्यात्सम्प्राप्तिमाह। पूर्वं या सम्प्राप्तिरुक्ता सा सर्वोदराणामित्येके वदन्ति। रुद्ध्वेत्यादिना पूर्वसम्प्राप्त्यनुक्तस्य स्वेदाम्बुवाहिस्रोतोदुष्टिरूपस्याभिधानात् अपौनरुक्त्यमित्यन्ये' चक्रः।

३ कफज ४ सन्निपातज ५ प्लीहोदर, ६ बद्धोदर ७ क्षतोदर ८ जलोदर । इनमें से क्षतोदर को आगन्तु उदर भी कहते हैं । सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'पृथक्समस्तैरपि चेह दोषैः प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव ।
आगन्तुकं सप्तममष्टमं च दकोदरञ्चेति वदन्ति तानि ॥'

तेषां[1] लिङ्गं पृथक् शृणु ॥ २१ ॥

रूक्षाल्पभोजनायासवेगोदावर्तकर्शनैः ।
वायुः प्रकुपितः कुक्षिहृद्वस्तिगुदमार्गगः २२ ॥
हत्वाऽग्निं कफमुद्धूय[2] तेन रुद्धगतिस्तथा ।
आचिनोत्युदरं जन्तोस्त्वङ्मांसान्तरमाश्रितः ॥ २३ ॥

उनके पृथक् लिङ्ग सुन—

वातोदर का लिङ्ग (हेतु सम्प्राप्ति)—रूक्ष भोजन, अल्प भोजन, आयास (श्रम), वेगविधारण, उदावर्त तथा अन्य कृश करने वाले हेतुओं से कुक्षि हृदय बस्ति तथा गुदा मार्ग का वायु प्रकुपित होकर अग्नि को मन्द करके कफ को कंपाकर अर्थात् अपने स्थान से हिलाकर उससे मार्ग के रुकजाने के कारण त्वचा और मांस के मध्य में आश्रित हो उदरवृद्धि करता है ॥ २२-२३ ॥

तस्य रूपाणि—कुक्षिपाणिपादवृषणश्वयथूदरविपाटनमनियतौ च वृद्धिह्रासौ कुक्षिपार्श्वशूलोदावर्ताङ्गमर्दपर्वभेदशुष्ककासकार्श्यदौर्बल्यारोचकाविपाका अधोगुरुत्वं वातवर्चोमूत्रसङ्गः श्यावारुणत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसामपि चोदरं तन्वसितराजीसिरासन्ततमाहतमाध्मातदृतिशब्दवच्च भवति, वायुश्चोर्ध्वमधस्तिर्यक् च सशूलशब्दश्चरत्येतद्वातोदरं विद्यात् ।

---

१ 'तेषां लिङ्गमित्यत्र लिङ्गशब्देन वक्ष्यमाणहेतुसम्प्राप्ती अपि व्याधिगमकतया सङ्गृहीते ज्ञेये ।' चक्रः

२ वातोदरे कफमुद्धूयेति कफस्याप्राधान्यं द्योतितम् ।

वातज उदर के रूप—कुक्षि हाथ पैर अण्डकोषों में शोथ, पेट में फटने के सदृश पीड़ा होनी, उदर की वृद्धि और ह्रास का अनिश्चित होना अर्थात् कदाचित् वृद्धि और कदाचित् ह्रास होना, कुक्षि और पार्श्वों में शूल, उदावर्त, अङ्गमर्द, पर्वभेद (पोरों में भेदनवत् पीड़ा), सूखी खांसी, कृशता, दुर्बलता, अरुचि, अपचन, देह के वा उदर के नीचे के भाग में गुरुता, वात पुरीष और मूत्र का रोध, नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष का श्याम वा अरुण वर्ण का होना, उदर का पतली तथा कृष्ण वर्ण की राजी (रेखाओं) वा सिराओं से व्याप्त होना, उदर पर अंगुली आदि से टकोरने पर वायुपूर्ण मशक वा ढोल का सा शब्द होना ये रूप होते हैं । इस में शूल और शब्द करता हुआ वायु ऊपर नीचे और तिर्यक् मार्ग में विचरण करता है । इसे वातोदर जाने । सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'सङ्गृह्य पार्श्वोदरपृष्ठनाभिर्यद्वर्द्धते कृष्णशिरावनद्धम् ।
सशूलमानाहवदुग्रशब्दं सतोदभेदं पवनात्मकं तत् ॥ '

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णाग्न्यातपसेवनैः ।
विदाह्य[1]ध्यशनाजीर्णैश्चाशु पित्तं समाचितम् ॥ २५ ॥
प्राप्यानिलकफौ[2] रुद्ध्वा[3] मार्गमुन्मार्गमास्थितम् ।
निहत्यामाशये वह्निं जनयत्युदरं ततः ॥ २६ ॥

पित्तोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—कटु अम्ल लवण अत्युष्ण तथा तीक्ष्ण द्रव्यों के भोजन से, अग्नि एवं घाम के तापने से, विदाही आहार से, अध्यशन (पूर्वकृत भोजन अभी पचा न हो कि और खा लेना) से तथा अजीर्ण से शीघ्र सञ्चित हुआ २ पित्त वायु और कफ को प्राप्त होकर अर्थात् उनसे मिलकर उन्हें कुपित करके उनके द्वारा मार्ग के रुकजाने से उन्मार्ग में आश्रित होकर (पथभ्रष्ट होकर)

---

१ 'विदाह्यजीर्णाध्यशनैः' ग० ।
२ प्राप्यानिलकफाविति अनिलकफयोरप्राधान्यं ज्ञेयम् । ३ 'बद्ध्वा', ग० ।

आमाशय में अग्नि को नष्ट कर उदर को उत्पन्न करता है ॥ २५--२६॥

तस्य रूपाणि—दाहज्वरतृष्णामूर्च्छातीसारभ्रमाः कटुकास्यत्वं हरितहारिद्रत्वं च नखनयनवदनत्वङ्मूत्रवर्चसामपि चोदरं नीलपीतहारिद्रहरितताम्रराजीसिरावनद्धं दह्यते दूयते धूप्यते ऊष्मायते स्विद्यते क्लिद्यते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं[1] च भवत्येतत् पित्तोदरं विद्यात् ॥ २७ ॥

पित्तोदर के रूप—दाह, ज्वर, तृष्णा (प्यास), मूर्च्छा, अतीसार, भ्रम (चक्कर आना), मुख का कटुरस होना, नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष का हरा वा हल्दी के वर्ण का होना, उदर का नीली पीली हल्दी के रंग की हरी और ताम्रवर्ण की रेखाओं वा शिराओं से व्याप्त होना होता है। उदर में दाह होता है, व्यथा होती है, धूंआं सा उठता प्रतीत होता है, गरमी सी निकलती अनुभव होती है, पसीना आता है, क्लेद (गीलापन) होता है, स्पर्श में मृदु तथा शीघ्र पक जाने वाला होता है। इसे पित्तोदर जाने। सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यच्चोषतृष्णाज्वरदाहयुक्तं पीतं शिरा यत्र भवन्ति पीताः ।
पीताक्षिविण्मूत्रनखाननस्य पित्तोदरं तत्त्वचिराभिवृद्धि ॥' २७ ॥

अव्यायामदिवास्वप्नस्वाद्वतिस्निग्धपिच्छिलैः ।
दधिदुग्धौदकानूपमांसैश्चात्युपसेवितैः ॥ २८ ॥
क्रुद्धेन श्लेष्मणा स्रोतःस्वावृतेष्वावृतोऽनिलः ।
तमेव पीडयन् कुर्यादुदरं बहिरन्त्रगः[2] ॥ २९ ॥

कफोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—अव्यायाम (श्रम न करना), दिन में सोना, मधुर अतिस्निग्ध पिच्छिल आहार, दही दूध तथा औदक (मछली आदि) और आनूप मांस के अत्यन्त सेवन से प्रकुपित कफ द्वारा

---

१ 'क्षिप्रपाकं भवति इति शीघ्रपाकाज्जलोदरतां याति', चक्रः ।

२ 'बहिरन्तरम्' ग० । अन्त्रगोऽनिलः तमेव पीडयन् उदरं बहिःकुर्यादित्यन्वयः ॥ 'बहिरन्त्रग इति आन्त्राद्बाह्यगः' इति चक्रः ।

स्रोतों के आवृत होजाने से आवृत हुआ २ आन्त्रगत वायु कफ को पीड़ित करता हुआ (दबाता हुआ) उदरवृद्धि करता है॥२८—२९॥

तस्य रूपाणि—गौरवारोचकाविपाकाङ्गमर्दसुप्तिपाणिपाद-मुष्कोरुशोफोत्क्लेशनिद्राकासश्वासाः शुक्लत्वं च नखनयनवदन-त्वङ्मूत्रवर्चसामपि चोदरं शुक्लराजीसिरासन्ततं गुरु स्तिमितं स्थिरं कठिनं च भवत्येतच्छ्लेष्मोदरं विद्यात् ॥ ३० ॥

कफोदर के रूप—गुरुता, अरुचि, अपचन, अङ्गमर्द, सुप्ति (अङ्ग का सो जाना अर्थात् स्पर्शज्ञान न होना), हाथ पैर अण्ड-कोष एवं ऊरु में शोथ, उत्क्लेश (जी मितलाना), निद्रा, कास, श्वास, नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष का श्वेत होना, उदर का श्वेत राजी और शिराओं से व्याप्त होना, उदर भारी स्तिमित (आर्द्र वस्त्र से आच्छादित की सी अनुभूतियुक्त) स्थिर और कठिन होता है। इसे कफोदर जाने । सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यच्छीतलं शुक्लसिरावनद्धं गुरु स्थिरं शुक्लनखाननस्य ।
स्निग्धं महच्छोफयुतं ससादं कफोदरं तच्च चिराभिवृद्धि ॥' ३० ॥

दुर्बलाग्नेरपथ्यादिविरोधिगुरुभोजनात् ।
स्त्रीदत्तैश्च रजोरोमविण्मूत्रास्थिनखादिभिः ॥ ३१ ॥
विषैश्च मन्दैर्वाताद्याः कुपिताः सञ्चितास्त्रयः ।
शनैः कोष्ठे विकुर्वन्तो[1] जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥ ३२ ॥

सन्निपातोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—दुर्बल अग्नि वाले व्यक्ति के अपथ्य भोजन विरुद्धाहार वा गुरुभोजन से और दुष्टा स्त्रियों आदि द्वारा वशीकरणार्थ वा सौभाग्यार्थ आहार में दी गई रज (आर्तव) लोम पुरीष मूत्र अस्थि नख आदियों से और मन्द विषों (दूषीविष) से कुपित हुए हुए वात आदि तीनों दोष कोष्ठ में शनैः शनैः विकार को करते हुए मनुष्यों में उदररोग को उत्पन्न करते हैं ॥ ३१—३२ ॥

१ 'प्रकुर्वन्तो' ग० ।

तस्य रूपाणि—सर्वेषामेव दोषाणां समस्तानि लिङ्गान्युपलभ्यन्ते वर्णाश्च नखादिषु, उदरमपि नानावर्णराजीसिरासन्ततं भवत्येतत्सन्निपातोदरं विद्यात् ॥ ३३ ॥

सन्निपातोदर के रूप—इसमें सब दोषों के समस्त लिङ्ग (लक्षण) तथा नख आदि में दोषों के समस्त वर्ण पाये जाते हैं। उदर भी नानावर्ण की राजी और सिराओं से आच्छन्न रहता है। इसे सन्निपातोदर जाने। सन्निपातोदर को दूष्योदर वा दूष्युदर भी तन्त्रान्तरों में कहा है। सुश्रुत नि० अ० ७ में इसके लक्षण इसप्रकार कहे हैं—

स्त्रियोऽन्नपानं नखरोममूत्रविडार्त्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्वन्ति घोरं जठरं त्रिलिङ्गम्।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥
स चातुरो मूर्च्छति सम्प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च।
प्रकीर्तितं दूष्युदरन्तु घोरं ' ॥ ३३ ॥

अशितस्यातिसंक्षोभाद्यानयानातिचेष्टितैः[1] ।
अतिव्यवायभाराध्ववमनव्याधिकर्शनैः ॥ ३४ ॥
वामपार्श्वाश्रितः प्लीहा च्युतः स्थानात्प्रवर्धते ।
शोणितं वा रसादिभ्यो विवृद्धं तं विवर्धयेत् ॥ ३५ ॥ इति

प्लीहोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—भोजन के पश्चात् सवारी पर जाने से वा अत्यन्त दैहिक चेष्टाओं से संक्षोभ होने पर अतिमैथुन अति भार उठाना अत्यधिक चलना के वा किसी रोग से कृश एवं दुर्बल होने पर वामपार्श्वस्थित प्लीहा (तिल्ली) स्थानच्युत होकर बढ़ जाती है। अथवा रस आदि द्वारा बढ़ा हुआ रक्त तिल्ली को बढ़ा देता है ॥ ३४—३५ ॥

---

१ 'अत्याशितस्य संक्षोभाद्' पा० ।

तस्य प्लीहा कठिनो'ऽष्ठीलेवादौ वर्धमानः कच्छपसंस्थान उपलभ्यते, स चोपेक्षितः क्रमेण कुक्षिं जठरमग्न्यधिष्ठानं च परिक्षिपन्नुदरमभिनिर्वर्तयति ॥ ३६ ॥

उस की प्लीहा प्रारम्भ में अष्ठीला (घन) के सदृश कठिन और पीछे से बढ़ती हुई कछुए के सदृश आकार वाली हो जाती है । यदि इस समय भी चिकित्सा न की जाय तो वह धीरे २ कुक्षि पेट अग्न्यधिष्ठान (ग्रहणी) को घेर लेती है और उदर को प्रकट करती है ।

स्थानच्युत होने वाली प्लीहावृद्धि वातज पित्तज कफज सन्निपातज भेद से चार प्रकार की होती है । पांचवीं रक्तज वृद्धि । इस प्रकार प्लीहादोष पांच माने जाते हैं ॥ ३६ ॥

तस्य रूपाणि—दौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रग्रहतमःप्रवेशपिपासाङ्गमर्दच्छर्दिमूर्च्छाङ्गसादकासश्वासमृदुज्वरानाहाग्निनाशकार्श्यास्यवैरस्यपर्वभेदाः कोष्ठे वातशूलं चापि चोदरमरुणं-वर्णं विवर्णं वा नीलहरितहारिद्रराजिमद्भवति । एवमेव यकृदपि दक्षिणपार्श्वस्थं कुर्यात्, तुल्यहेतुलिङ्गौषधत्वात्तस्य प्लीहजठर एवावरोध इत्येतद्यकृत्प्लीहोदरं विद्यात् ॥ ३७ ॥

प्लीहोदर के रूप—दुर्बलता, अरुचि, अपचन, मलमूत्र का न आना, अन्धकार--प्रवेश (नेत्रों के आगे अंधेरा आना), प्यास, अङ्गमर्द, कै, मूर्च्छा, देह की शिथिलता, कास, श्वास, मृदुज्वर (९९° F. वा १००° F.), आनाह, जाठराग्निनाश, कृशता, मुख का विरस होना, पर्वों में भेदनवत् पीड़ा, कोष्ठ में वातज शूल होता है । उदर का वर्ण अरुण वा विकृत वर्ण (पाण्डु सा) होता है । नीली हरी वा हल्दी के वर्ण की राजियां (व्यक्त शिरायें) दिखाई देती हैं ।

यकृदुदर—दक्षिण पार्श्व में स्थित यकृद् की वृद्धि से भी ये ही लक्षण होते हैं । उसके हेतु लक्षण और औषध के तुल्य होने के

---

१ 'कठिनो नीरुजो' ग० । २ ०'मरुणवर्णमविवर्णं वा' ग० ।

कारण प्लीहोदर से ही ग्रहण हो जाता है । इसप्रकार यकृदुदर और प्लीहोदर जाने । सुश्रुत नि० अ० ७ में कहा है—

'विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ।
प्लीहाभिवृद्धिं सततं करोति प्लीहोदरं तत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥
वामे च पार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ॥
सव्येतरस्मिन् यकृति प्रदुष्टे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥'

यकृदुदर को ही यहां यकृद्दाल्युदर कहा है। अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १२ में भी मूलोक्त हेतु सम्प्राप्ति और लक्षण संगृहीत हैं । परन्तु वहां वातज पित्तज वा कफज प्लीहावृद्धि के पृथक् लक्षण भी बताये हैं। यथा—

' उदावर्तरुजानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥'

श्लोकपादों में कहे गये लक्षणों से क्रमशः वातजत्व आदि का निश्चय करना चाहिये । उदावर्त आदि से वातज, मोह आदि से पित्तज और गौरव आदि से कफज प्लीहावृद्धि जानी जाती है ॥३७॥

पक्ष्मबालैः[1] सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे ।
उदावर्तैस्तथाऽर्शोभिरन्त्रसंमूर्च्छनेन वा ॥ ३८ ॥
अपानो मार्गसंरोधाद्धत्वाऽग्निं कुपितोऽनिलः ।
वर्चःपित्तकफान् रुद्ध्वा जनयत्युदरं ततः ॥ ३९ ॥

बद्धोदर वा बद्धगुदोदर का निदान और सम्प्राप्ति—अन्न के साथ पक्ष्म (पलकों के बाल) अथवा शिर आदि के बालों के अन्दर जाने से गुदा के मार्ग के बंध जाने पर अथवा उदावर्त बवासीर के मस्से वा आन्त्रसम्मूर्च्छन(Intussusception) के कारण मार्ग के रुक जाने से कुपित हुआ अपान वायु जाठराग्नि का नाशकर और पुरीष पित्त एवं कफ को रोककर तदनन्तर उदर को उत्पन्न करता है ३८—३९

---

१ पक्ष्मबालैरिति पठित्वा गङ्गाधरो व्याचष्टे पक्ष्मणां पत्रैर्नृणां केशैरिति ।

तस्य रूपाणि—तृष्णादाहज्वरमुखतालुशोषोरुसादकासश्वासदौर्बल्यारोचकाविपाकवर्चोमूत्रसङ्गाध्मानच्छर्दिक्षवथुशिरोहृन्नाभिगुदशूलान्यपि चोदरं मूढवातं स्थिरमरुणनीलराजिसिरावनद्धमराजिकं वा प्रायो नाभ्युपरि गोपुच्छवदभिनिर्वर्तत इत्येतद्बद्धगुदोदरं विद्यात् ॥ ४० ॥

बद्धोदर के रूप—तृष्णा, दाह, ज्वर, मुख और तालु का सूखना, ऊरु में शिथिलता, कास, श्वास, दुर्बलता, अरुचि, अपचन, मलमूत्र का रोध, आध्मान, कै, छींक आना, शिर हृदय नाभि और गुदा में शूल, उदर स्थिर एवं मूढवात (अर्थात् वायु का कभी ऊपर कभी नीचे जाता परन्तु बाहिर नहीं निकलता) युक्त होता है । उस पर अरुण वा नीली राजियां एवं शिरायें दिखाई देती हैं । अथवा कभी २ ये राजियां नहीं भी होतीं । प्रायः नाभि के ऊपर यह गौ की पूंछ के सदृश ऊंचा उठा हुआ प्रकट होता है । इसे बद्धगुदोदर जाने । सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा वालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।
सञ्चीयते तत्र मलः सदोषः क्रमेण नाड्यामिव सङ्करो[1] हि ॥
निरुध्यते चास्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति यच्चोदरं विट्समगन्धिकं च ॥
प्रच्छर्दयन् बद्धगुदो विभाव्यः ' ॥ ४० ॥

शर्करातृणकाष्ठास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः ।
भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा ॥ ४१ ॥
[2]ईयात्पाकं रसस्तेभ्यश्छिद्रेभ्यः प्रस्रवेद्बहिः ।
पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं ततः ॥ ४२ ॥

छिद्रोदर के हेतु और सम्प्राप्ति—अन्न के साथ प्रस्तरखण्ड तृण काष्ठखण्ड

---

१ सङ्करः सम्मार्जनीक्षिप्यमाणतृणाद्यवकरः ।

२ 'पाकं गच्छेद्' ग० ।

अस्थि वा कण्टक के पेट में जाने पर अथवा जम्भाई से वा अत्यधिक भोजन से यदि आन्त्र फट जाय और वह क्षत पक जाय तब उन छिद्रों से रस बाहिर सरता है जिससे गुदा और आंतें भर जाती हैं । और पश्चात् उदररोग हो जाता है ॥ ४१–४२ ॥

तस्य रूपाणि—तदधो नाभ्यां प्रायोऽभिनिर्वर्तमानमुदकोदरस्य च यथाबलं च दोषाणां रूपाणि दर्शयत्यपि चातुरः स लोहितनीलपीतपिच्छिलकुणपगन्ध्यामवर्चं उपवेशते, हिक्काश्वासकासतृष्णाप्रमेहारोचकाविपाकदौर्बल्यपरीतश्च भवति; एतच्छिद्रोदरं विद्यात् ॥ ४३ ॥

छिद्रोदर के रूप—वह प्रायः नाभि से नीचे प्रकट होता हुआ जलोदर के और अपने अपने बल के अनुसार दोषों के रूपों को दिखाता है। रोगी को लाल नीला पीला चिपचिपा वा पिच्छायुक्त मुर्दे की सी गन्धवाला कच्चा पुरीष आता है और वह हिचकी श्वास कास तृष्णा प्रमेह अरुचि अपचन तथा दुर्बलता से आक्रान्त होता है । इसे छिद्रोदर जाने । छिद्रोदर क्षतोदर का ही दूसरा नाम है । इसे परिस्राव्युदर भी कहते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ १२ में कहा है—

अस्थ्यादिशल्यैः सान्नैश्च भुक्तैरत्यशनेन वा ।
भिद्यते पच्यते चान्त्रं तच्छिद्रैश्च स्रवन् बहिः ॥
आम एव गुदादेति ततोऽल्पाल्पं सविड् रसः ।
तुल्यः कुणपगन्धेन पिच्छिलः पीतलोहितः ॥
शेषश्चापूर्य जठरं जठरं घोरमावहेत् ।
वर्धते तदधोनाभेराशु चैति जलात्मताम् ॥
उद्रिक्तदोषरूपं च व्याप्तं च श्वासतृट्भ्रमैः ।
छिद्रोदरमिदं प्राहुः परिस्रावीति चापरे ॥'

---

१ 'तदधो नाभेः प्रायो वर्द्धमानमुदकोदरं स्याद् यथाबलञ्च दोषाणां रूपाणि दर्शयति । अपि च आतुरः सलोहितः' पा० ।

सुश्रुत नि० अ० ७ में भी—

शल्यं यदन्नोपहितं तदन्त्रं भिनत्ति यस्यागतमन्यथा वा ।

तस्मात् स्रुतोऽन्त्रात् सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः ॥

नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यतेऽतीव विदह्यते च ।

एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं ' ॥ ४३ ॥

स्नेहपीतस्य मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा ।

अत्यम्बुपानान्नष्टेऽग्नौ मारुतः क्लोम्नि संस्थितः ॥ ४४ ॥

स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः ।

वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदराय तौ ॥ ४५ ॥

जलोदर का हेतु और सम्प्राप्ति—स्नेहपान के पश्चात् अथवा मन्दाग्नि क्षीण वा अत्यन्त कृश पुरुष के अत्यधिक जल पीने से अग्नि के नष्ट होने पर क्लोम में स्थित वायु और उसी जलपान से रुद्धमार्ग स्रोतों में जलमिश्रित कफ उसी जल(पीये हुए)को अपने स्थानसे उदररोग के लिये बढ़ाते है अर्थात् जल को बढ़ाकर उदररोग को उत्पन्न करते हैं । यह जल उदरावरण में भरा करता है ॥ ४४—४५ ॥

तस्य रूपाणि—अनन्नकाङ्क्षापिपासागुदस्रावशूलश्वासकास-दौर्बल्यान्यपि चोदरं नानावर्णराजिसिरासन्ततमुदकपूर्णदृतिक्षोभसंस्पर्शं भवति; एतदुदकोदरं विद्यात् ॥ ४६ ॥

जलोदर के लक्षण—आहार में अभिलाषा न होनी, प्यास, गुदा से स्राव, शूल, श्वास, कास, दुर्बलता होती है । उदर नाना प्रकार की राजी वा सिराओं से व्याप्त होता है । स्पर्श करने पर जल से भरी मशक की तरह अनुभव होता है ।

यदि हम पेट के एक पार्श्व पर हाथ रखें और दूसरे पार्श्व से अंगुली द्वारा झटका दें तो पहले पार्श्व पर रखे हथेली को तरङ्ग के लगने की सी अनुभूति होगी । इसे जलोदर जाने । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १२ में—

'प्रवृत्तस्नेहपानादेः सहसामाम्बुपायिनः ।
अत्यम्बुपानान्मन्दाग्नेः क्षीणस्यातिकृशस्य वा ॥
रुद्ध्वाम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः ।
वर्द्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ ॥
ततः स्यादुदरं तृष्णागुदस्रुतिरुजान्वितम् ।
कासश्वासारुचियुतं नानावर्णसिराततम् ॥
तोयपूर्णदृतिस्पर्शशब्दप्रक्षोभवेपथु ।
दकोदरं महत्स्निग्धं स्थिरमावृत्तनाभि तत् ॥'

सुश्रुत नि० अ० ७ में—

'यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि ॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ॥
स्निग्धं महत्सम्परिवृत्तनाभि भृशोन्नतं पूर्णमिवाम्बुना च ।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत्' ॥४६॥

तत्र अचिरोत्पन्नमनुपद्रवमनुदकमुदरं त्वरमाणश्चिकित्सेत् । उपेक्षितानां ह्येषां दोषाः स्वस्थानादपावृत्ता अपरिपाकाद्द्रवीभूताः सन्धीन् स्रोतांसि चोपक्लेदयन्ति, स्वेदश्च बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्तदेवोदकमाप्याययति ॥ ४७ ॥

जो उदर नवीन उपद्रवरहित हो जिसमें अभी जल न भरा हो-शीघ्रता से चिकित्सा करे । इनकी उपेक्षा से दोष अपने स्थानों से दूर हट जाते हैं और उनका पाक न हो सकने से द्रवीभूत होकर सन्धियों और स्रोतों को क्लिन्न कर देते हैं—गीला कर देते हैं । और पसीना भी बाह्यस्रोतों में न जा सकने के कारण तिर्यक् अवस्थिति करके उसी जल को प्रवृद्ध करते हैं ॥ ४७ ॥

तत्र पिच्छोत्पत्तौ मण्डलमुदरं गुरु स्तिमितमाकोटितमशब्दं मृदुस्पर्शमपगतराजीकमाक्रान्तं नाभ्यामेवोपसर्पतीति; ततोऽनन्तरमुदकप्रादुर्भावः ॥ ४८ ॥

जल के प्रादुर्भूत होने से पूर्व पिच्छा की उत्पत्ति होती है। कला के गाढे स्राव को पिच्छा कहते हैं। पिच्छा के उत्पन्न होने पर उदर मण्डलाकार, भारी, स्तिमित, टकोरने से शब्दरहित, स्पर्श में मृदु, राजीरहित (शिरा-रहित) होता है। सब से पूर्व नाभि पर आक्रान्त होकर ऊपर की ओर फैलने लगता है। तदनन्तर जल प्रकट होता है ॥ ४८ ॥

तस्य रूपाणि—कुक्षेरतिमात्रवृद्धिः सिरान्तर्धानगमनमुदकपूर्णदृतिसं[2]क्षोभसमस्पर्शत्वं च; तदातुरमुपद्रवाः स्पृशन्ति-छर्द्यतीसारतमकतृष्णाश्वासकासहिक्कादौर्बल्यपार्श्वशूलारुचिस्वरभेदमूत्रसङ्गादयः, तथाविधमचिकित्स्यं विद्यादिति ॥ ४९ ॥

जलप्रादुर्भाव के लक्षण—कुक्षि की अत्यन्त वृद्धि, सिराओं का छिप जाना, जल से पूर्ण मशक के सदृश क्षोभयुक्त स्पर्श होना (अर्थात् हिलाने पर तरंगों का स्पर्श होना); ये जल के प्रादुर्भूत होने पर लक्षण होते हैं।

इसके साथ ही रोगी में कै अतीसार तमकश्वास तृष्णा (प्यास) श्वास कास हिचकी दुर्बलता पार्श्वशूल अरुचि स्वरभेद और मूत्ररोध आदि उपद्रव हो जाते हैं। ऐसे रोगी को असाध्य जाने। कायचिकित्सा के अनुसार उसकी ओषधियों से चिकित्सा नहीं हो सकती वहां शस्त्रकर्म करना पड़ता है।

यतः ओषधिचिकित्सा उदक के उत्पन्न होने से पूर्व ही शीघ्रता से करनी चाहिये अतः अजातोदक के प्रायशः दिखाई देनेवाले लक्षणों का बताना अप्रासङ्गिक न होगा। यदि उदर बहुत फूला न हो, उदर पर

---

१ 'आकोठितमशब्दस्पर्शमपगत०' ग.। २ '०संक्षोभस्पर्शत्वं' पा०।

रक्तिमा दिखाई देती हो, आकोटन (Percussion) से शब्द सुनाई दे, रोगी को गुरुता न प्रतीत हो, शिराजाल स्पष्ट दिखाई पड़े, शूल हो, अग्नि अति मन्द न हो तो अजातोदक समझना चाहिये। विस्तार से स्वयं आचार्य आगे कहेंगे ॥ ४९ ॥

भवति चात्र ।

वातात्पित्तात्कफात्प्लीह्नः सन्निपातात्तथोदकात् ।
परं परं कृच्छ्रतरमुदरं भिषगादिशेत् ॥ ५० ॥

उदरों की कष्टसाध्यता आदि का निर्देश—वैद्य वातोदर, पित्तोदर, कफोदर, प्लीहोदर, सन्निपातोदर, जलोदर को क्रमशः अपेक्षया अधिक अधिक कष्टसाध्य जाने ॥ ५० ॥

पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा ।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥ ५१ ॥

बद्धगुदोदर पक्ष (१५ दिन) से ऊपर प्रायः मृत्यु का कारण होता है । और सब उदर जिन में जल प्रादुर्भाव होचुका है तथा छिद्रान्त्र प्रायः पक्ष से ऊपर मनुष्यों की मृत्यु के कारण होते हैं। विष आदि प्रयोग वा शस्त्रकर्म आदि से कदाचित् शान्ति भी हो सकती है—यही 'प्रायः' कहने का तात्पर्य है ॥ ५१ ॥

शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम् ।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च संत्यजेत् ॥ ५२ ॥

जिसमें उदररोगी की नेत्रों के नीचे का भाग सूज गया हो, उपस्थेन्द्रिय (मूत्रेन्द्रिय) टेढ़ी हो गई हो, जिसकी त्वचा गीली और पतली हो तथा च जिसका बल रक्त मांस और अग्नि अत्यन्त क्षीण हो उसका त्याग करे—वह असाध्य है ॥ ५२ ॥

श्वयथुः सर्वमर्मोत्थः श्वासो हिक्काऽरुचिः सतृट् ।
मूर्च्छाछर्द्यतिसारौ च निहन्त्युदरिणं नरम् ॥ ५३ ॥

सब (हृदय आदि) मर्मों में उत्पन्न शोथ, श्वास, हिचकी, अरुचि,

अत्यधिक पिपासा; मूर्च्छा, कै अतिसार, ये उपद्रव उदररोगी की मृत्यु का कारण हैं ॥ ५३ ॥

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥ ५४ ॥

सभी उदर उत्पन्न होते ही प्रायः कष्टसाध्य माने गये हैं । बलवान् पुरुष का नवीन तथा अजातोदक उदर यत्न से चिकित्सा करने पर साध्य होता है ॥ ५४ ॥

अशोथमरुणाभासं सशब्दं नातिभारिकम् ।
सदा गुडगुडायन्तं सिराजालगवाचितम् ॥ ५५ ॥
नाभिं विष्टभ्य वायुस्तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति ।
हृन्नाभिवङ्क्षणकटीगुदप्रत्येकशूलिनः ॥ ५६ ॥
कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके ।
लालया विरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विशि ॥ ५७ ॥
अजातोदकमित्येतैर्लिङ्गैर्विज्ञाय तत्त्वतः ।
उपक्रामेद्भिषग्दोषबलकालविशेषवित् ॥ ५८ ॥

अजातोदक के लक्षण और चिकित्सा की व्यवस्था—अधिक शोथ न हो, उदर रक्तिमायुक्त हो, आकोटन से अथवा कान लगाकर सुनने से वा द्विनाडीयन्त्र (Stethoscope-फुप्फुसेक्षक) से शब्द सुनाई दे, रोगी को अधिक भार न अनुभव हो, पेट में गुडगुड होती रहे, शिराजाल दिखाई दें, वायु नाभि पर विष्टम्भ करके और बाहिर निकलने की ओर वेग करके नष्ट हो जाय परन्तु बाहिर न निकले, रोगी को हृदय नाभि वंक्षण कमर गुदा; प्रत्येक अवयव में शूल हो, यदि मलवात निकले भी तो वह वेगयुक्त और पर्दन करता हो, अग्नि अत्यन्त मन्द न हो, मुख का रस लालास्राव से विकृत रहता हो । मूत्र कम आता है और पुरीष संहत--कठिन बंधा हुआ हो, वह उदर अजातोदक है

१ 'पायौ तु' ग. ।

इन लक्षणों से उदर को निश्चयपूर्वक अजातोदक जानकर दोष बल काल के भेदों को जानने वाला वैद्य चिकित्सा प्रारम्भ करे । अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० १२ में—

'सर्वं त्वतोयमरुणमशोफं नातिभारिकम् ।
गवाक्षितं सिराजालैः सदा गुडगुडायते ॥
नाभिमन्त्रं च विष्टभ्य वेगं कृत्वा प्रणश्यति ।
मारुतो हृत्कटीनाभिपायुवङ्क्षणवेदनः ॥
सशब्दो निश्चरेद्वायुर्विड् बद्धा मूत्रमल्पकम् ।
नातिमन्दोऽनलो लौल्यं न च स्याद्विरसं मुखम् ॥'

यहां पर 'लौल्यं न च स्याद्विरसं मुखम्' यह पाठ प्रमादपूर्ण ही है ॥ ५५—५८ ॥

वातोदरं बलवतः पूर्वं स्नेहैरुपाचरेत् ।
स्निग्धाय स्वेदिताङ्गाय दद्यात्स्नेहविरेचनम् ॥ ५६ ॥

वातोदर में चिकित्सा क्रम—बलवान् पुरुष के वातोदर का पूर्व स्नेहों से उपचार करे । जब स्नेहन हो जाय तब स्वेदन करे और स्नेहविरेचन दे । स्नेहविरेचन एरण्डतैल (Castor oil) आदि से अथवा विरेचनद्रव्यों से सिद्ध घृतों से कराना चाहिये । संशोधनार्थ घृत आगे कहे जांयगे । सुश्रुताचार्य तिल्वक से साधित घृत का अनुलोमनार्थ प्रयोग कहता है ॥ ५६ ॥

हृते दोषे परिम्लानं वेष्टयेद्वाससोदरम् ।
तथाऽस्यानवकाशत्वाद्वायुर्नाध्मापयेत्पुनः ॥ ६० ॥

जब स्नेहविरेचन से दोषहरण हो जाय और पेट पतला होजाय तब पेट पर चौड़ा वस्त्र लपेट दें वा Abdominal belt (उदरवेष्टन) कस दें इसप्रकार अवकाश (खाली स्थान) न पाकर वायु पेट को पुनः नहीं फुलाती ॥ ५६—६० ॥

दोषातिमात्रोपचयात्स्रोतोमार्गनिरोधनात्[1] ।
संभवन्त्युदराण्येवमतो[2] नित्यं विशोधयेत् ॥ ६१ ॥

विशोधन नित्य होना चाहिये—यतः दोषों के अति सञ्चय से और स्रोतों के मार्ग में रुकावट होने के कारण उदर होते हैं अतः उदर रोगियों का नित्य विशोधन होना चाहिये । वातोदर के रोगी को नित्य स्निग्धविरेचन देना चाहिये ॥ ६१ ॥

शुद्धं संसृज्य च क्षीरं बलार्थं पाययेत्तु तम् ।
प्रागुत्क्लेशान्निवर्त्यैवं बले लब्धे क्रमात्पयः ॥ ६२ ॥
यूषै रसैर्वा मन्दाम्ललवणैरेधितानलम् ।
सोदावर्तं पुनः स्निग्धं स्विन्नमास्थापयेन्नरम् ॥ ६३ ॥

जब रोगी का शोधन सम्यक्तया हो जाय तो उसे मण्डपेया आदि द्वारा संसर्जनक्रम कराने के पश्चात् बलाधानार्थ दुग्धपान करावे। निरन्तर दूध पीते २ मन भर जाता है और रोगी को उत्क्लेश (जी मितलाना) हो जाता है । परन्तु दूध तभी तक पिलाना चाहिये जब तक उत्क्लेश न हो । जब वैद्य देखे कि रोगी बलवान् हो गया है और उसे दूध पीते २ उत्क्लेश होने वाला है तो उससे (उत्क्लेश से) पूर्व ही क्रमशः दूध पिलाना बन्द कर दे। और अनार आदि के रस से ईषद् अम्लीकृत और स्वल्प ही जिनमें नमक डाला गया है ऐसे मूंग आदि के यूष वा मांसरसों से अग्नि को प्रदीप्त करके यदि रोगी को उदावर्त हो तो पुनः स्नेहन और स्वेदन कराकर आस्थापन बस्ति दे ६२—६३

स्फुरणाक्षेपसन्ध्यस्थिपार्श्वपृष्ठत्रिकार्तिषु ।
दीप्ताग्निं बद्धविड्वातं रूक्षमप्यनुवासयेत् ॥ ६४ ॥

जिस रोगी की अग्नि दीप्त हो, मलबद्धता हो, वायु न निकलता

---

१ ‘ स्रोतसां सन्निरोधनात् ’ पा० । ‘ स्रोतोमार्गनिरोधनादिति स्रोतोमुखनिरोधनादित्यर्थः । मार्गशब्दोऽत्र मुखरूपमार्गवाची ’ चक्रः ।

२ ‘ सम्भवन्त्युदरं तस्मान्नित्यमेव विरेचनम् ’ ग. ।

हो और रूक्षदेह हो उसे स्फुरण (अङ्गकम्पन वा अङ्गों का फड़कना) आक्षेप (Convulsion) सन्धिशूल, अस्थिशूल, पार्श्वशूल पृष्ठशूल वा त्रिकशूल में अनुवासन करावें ॥ ६४ ॥

तीक्ष्णाधोभागयुक्तः स्यान्निरूहो दाशमूलिकः ।
वातघ्नाम्लश्रृतैरण्डतिलतैलानुवासनः ॥ ६५ ॥

निरूह और अनुवासन—निरूहार्थ तीक्ष्ण विरेचन द्रव्यों से युक्त दाशमूलिक (दशमूल के क्वाथ से प्रस्तुत) बस्ति का प्रयोग कराना चाहिये।

वातघ्न द्रव्य और कांजी आदि अम्लद्रव्यों से साधित एरण्डतैल वा तिलतैल द्वारा अनुवासन कराना चाहिये ॥ ६५ ॥

अविरेच्यं तु यं विद्याद् दुर्बलं स्थविरं शिशुम् ।
सुकुमारं प्रकृत्याऽल्पदोषं वाऽथोल्बणानिलम् ॥ ६६ ॥
तं भिषक् शमनैः सर्पिर्यूषमांसरसौदनैः ।
बस्त्यभ्यङ्गानुवासैश्च क्षीरैश्चोपाचरेद्बुधः ॥ ६७ ॥

जो रोगी विरेचन योग्य न हो, दुर्बल हो, वृद्ध हो, शिशु हो वा प्रकृति से ही सुकुमार हो अथवा दोष स्वल्प हो अथवा वातप्रधान हो उसका संशमन औषधों से घी यूष मांसरस ओदन आदि पथ्य से बस्ति अभ्यङ्ग अनुवासन और दूध के प्रयोगों से वैद्य उपचार करे। सुश्रुत चि० अ० १२ में वातोदर की चिकित्सा इस प्रकार कही है—

'तत्र वातोदरिणं विदारिगन्धादिसिद्धेन सर्पिषा स्नेहयित्वा तिल्वकविपक्केनानुलोम्य चित्राफलतैलप्रगाढेन विदारिगन्धादिकषायेणास्थापयेदनुवासयेच्च शाल्वणेन चोपनाहयेदुदरम् । भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन क्षीरेण जाङ्गलरसेन चाभीक्ष्णं स्वेदयेत् ॥६६—६७॥

पित्तोदरे तु बलिनं पूर्वमेव विरेचयेत् ।
दुर्बलं त्वनुवास्यादौ शोधयेत् क्षीरबस्तिना ॥ ६८ ॥

पित्तोदर में चिकित्साक्रम—पित्तोदर में बली पुरुष को पूर्व ही

विरेचन करावे और दुर्बल को पूर्व अनुवासन कराकर दूधप्रधान बस्ति से शोधन करे ॥ ६८ ॥

सञ्जातबलकायाग्निं पुनः स्निग्धं विरेचयेत् ।
पयसा सत्रिवृत्कल्केनोरुबूकशृतेन वा ॥ ६९ ॥
सातलात्रायमाणाभ्यां शृतेनारग्वधेन वा ।
सकफे वा समूत्रेण सवाते तिक्तसर्पिषा ॥ ७० ॥

जब बल और कायाग्नि हो जांय तब स्नेहन करके १ त्रिवृत् (निसोत)के कल्क और एरण्डबीजके क्वाथ से साधित अथवा २ सातला और त्रायमाण से साधित अथवा ३ अमलतास से साधित दूध से पुनः विरेचन करावे ॥

यदि उदर कफपित्त से हो तो गोमूत्रयुक्त दूध से और वातपित्त से हो तो तिक्तघृतयुक्त दूध से विरेचन कराना चाहिये ।

अथवा अभी जो विरेचनार्थ तीन योग (त्रिवृदादि के) बताये हैं उन्हें तीन योग न मानकर चार योग मानें । दूध में त्रिवृत् का कल्क डालकर—प्रथमयोग । एरण्डबीज से साधित दूध--द्वितीययोग । त्रायमाण और सातला से साधित दूध--तृतीययोग । अमलतास से सिद्ध किया दूध--चतुर्थयोग । यदि पित्त के साथ कफ मिश्रित हो तो इन्हीं दूधों में से किसी एक में गोमूत्र मिलाकर मात्रा में पिलावें । यदि वात मिश्रित हो तो इन्हीं दूधों में से किसी एक में तिक्त द्रव्यों से साधित घी (तिक्तक घृत आदि) मिलाकर रोगी को पिलाना चाहिये ॥ ६९–७० ॥

पुनः क्षीरप्रयोगं च बस्तिकर्म विरेचनम् ।
क्रमेण ध्रुवमातिष्ठन् युक्तः पित्तोदरं जयेत् ॥ ७१ ॥

शोधन होने के पश्चात् मण्डपेया आदि संसर्जनक्रम कराकर दूध का प्रयोग करावे । तदनन्तर बल सञ्चय होने पर अनुवासन आदि बस्ति विरेचन दुग्धपान आदि पुनः पुनः क्रम से कराने पर

योग्य वैद्य निश्चय से पित्तोदर को जीत लेता है। सुश्रुत चि० अ० १४ में पित्तोदर की चिकित्सा इसप्रकार कही है—

' पित्तोदरिन्तु मधुरगणविपक्वेन सर्पिषा स्नेहयित्वा श्यामात्रिफला-त्रिवृद्विपक्वेनानुलोम्य शर्करामधुघृतप्रगाढेन न्यग्रोधादिकषायेणास्थापये-दनुवासयेच्च। पायसेनोपनाहयेदुदरं, भोजयेच्चैनं विदारिगन्धादिसिद्धेन पयसा ॥ ७१ ॥

स्निग्धं स्विन्नं विशुद्धं तु कफोदरिणमातुरम्।
संसर्जयेत्कटुक्षारयुक्तैरन्नैः कफापहैः ॥ ७२ ॥

कफोदर में चिकित्साक्रम—स्नेहन स्वेदन और शोधन के पश्चात् कफोदर के रोगी को कटु एवं क्षारयुक्त कफनाशक अन्नों से संसर्जन क्रम (विरेकानन्तर किये जाने वाला मण्ड पेया आदि पथ्य) करावे। शोधन से अभिप्राय विरेचन से ही है क्योंकि उदररोग में वमन का निषेध है—

'न वामयेत्तैमिरिकं न गुल्मिनं न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्।'७२॥

गोमूत्रारिष्टपानैश्च चूर्णायस्कृतिभिस्तथा।
सक्षारैस्तैलपानैश्च शमयेत्तु कफोदरम् ॥ ७३ ॥

गोमूत्र और अरिष्टों के पिलाने से चूर्णायस्कृतियों से (यथा नवायस चूर्ण आदि) अथवा चूर्णों से और अयस्कृतियों (रसायनाधिकारोक्त लौहप्रयोगों अथवा रसशास्त्र में उदररोगोक्त लौहभस्म आदि युक्त औषधों) से तथा क्षारयुक्त तैलों के पान द्वारा वैद्य कफोदर को शान्त करे। कफोदर की सुश्रुतोक्त चिकित्सा यह है—

' श्लेष्मोदरिणं पिप्पल्यादिकषायासिद्धेन सर्पिषोपस्नेह्य स्नुहीक्षीर-विपक्वेनानुलोम्य त्रिकटुकमूत्रक्षारतैलप्रगाढेन मुष्ककादिकषायेणास्था-पयेदनुवासयेच्च शणातसीधातकीकिण्वसर्षपमूलकबीजकल्कैश्चोपनाहये-दुदरं, भोजयेच्चैनं त्रिकटुकप्रगाढेन कुलत्थयूषेण पायसेन वा स्वेदये-च्चाभीक्ष्णम् ॥' चि० अ० १४ ॥ ७३ ॥

सन्निपातोदरे सर्वा यथोक्ताः कारयेत्क्रियाः ।
सोपद्रवं तु निर्वृत्तं प्रत्याख्येयं विजानता ॥ ७४ ॥

सन्निपातोदर में चिकित्सा—सन्निपातोदर में सब यथोक्त (वातज आदि उदरों में कही गईं) क्रियायें करनी चाहियें । यदि सन्निपातोदर में उपद्रव भी उपस्थित हों तो विज्ञ वैद्यों को उसका परित्याग करना चाहिये । सुश्रुत चि० अ० १४ में इसकी चिकित्सा इस प्रकार कही है—

'दूष्योदरिणन्तु प्रत्याख्याय सप्तलाशङ्खिनीस्वरससिद्धेन सर्पिषा विरेचयेन्मासमर्द्धमासं वा, महावृक्षक्षीरसुरागोमूत्रसिद्धेन वा, शुद्धकोष्ठन्तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत् । इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत् । वल्लीफलानि वा, मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत् । तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते ' ॥ ७४ ॥

उदावर्तरुजानाहैर्दाहमोहतृषाज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैश्चानिलादीन् यथाक्रमम् ॥ ७५ ॥
(विद्यात्समस्तैः सर्वैस्तु सन्निपातं तथा भिषक्)
लिङ्गैः[1] प्लीह्यधिकं दृष्ट्वा रक्तं वापि स्वलक्षणैः ।

प्लीहोदर के भेद और उनकी पहिचान—प्लीहोदर में यदि उदावर्त्त वेदना और आनाह हो तो उसे वातज, यदि मोह पिपासा दाह और ज्वर हो तो उसे पित्तज, यदि गुरुता अरुचि और कठोरता हो तो उसे कफज जाने । यदि वातज पित्तज कफज तीनों दोषों के उक्त सब लक्षण उपस्थित हों तो उसे सन्निपातज जाने । यदि रक्ताधिक्य के कारण प्लीहोदर होगा तो वहां विधिशोणितीयाध्याय (सूत्र० २४ अ०) में कहे गये रक्त के लक्षण विद्यमान् होंगे । विदाह तृष्णा विरसता देह का भारीपन तथा मूर्च्छा आदि लक्षण रक्त की दुष्टि से होते हैं ॥ ७५ ॥

चिकित्सां संप्रकुर्वीत यथादोषं यथाबलम् ॥ ७६ ॥

---

१ 'लिङ्गैः प्लीह्यधिकां तृष्णां रक्तञ्च पित्तलक्षणैः ' ग. ।

स्नेहं स्वेदं विरेकं च निरूहमनुवासनम् ।
समीक्ष्य कारयेद्बाहौ वामे वा व्यधयेत् सिराम् ॥७७॥

प्लीहोदर में चिकित्साक्रम—प्लीहोदरों में दोष और रोगी के बल के अनुसार चिकित्सा करनी चाहिये । वैद्य सम्यक् प्रकार से परीक्षा करके स्नेह स्वेद विरेचन और अनुवासन करावे । तथा वाम बाहु में सिरावेध करे । सुश्रुत चि० अ० १४ में भी कहा है—

'प्लीहोदरिणः स्निग्धस्विन्नस्य दध्ना भुक्तवतो वामबाहौ कूर्पराभ्यन्तरतः शिरां विध्येद्विमर्दयेत्पाणिना प्लीहानं रुधिरस्यन्दनार्थम्' ७६-७७

षट्पलं पाययेत्सर्पिः पिप्पलीर्वा प्रयोजयेत् ।
सगुडामभयां वाऽपि क्षाराारिष्टगणांस्तथा ॥ ७८ ॥

रोगी को षट्पलकघृत पिलावे अथवा पिप्पलियों का प्रयोग करे । क्षीरषट्पलकघृत गुल्मचिकित्सा (५ म अध्याय) में कहा जा चुका है । वहां गुणों में कहा भी है 'प्लीहकासज्वरापहम्' । अथवा सुश्रुत में इसी अधिकार में षट्पलक घृत कहा है उसका प्रयोग कराना चाहिये । चरक गुल्माधिकारोक्त क्षीरषट्पलक और सुश्रुत प्लीहोदरचिकित्सोक्त षट्पलक घृत में केवल एक ही द्रव्य का भेद है । चरक में कल्कद्रव्यों में चव्य है और सुश्रुत में सैन्धव । क्षीरषट्पलक घृत को वहां (२० ३६पृष्ठ पर)पञ्चकोल घृत नाम से कहा है । सुश्रुतोक्त षट्पलक घृत इस प्रकार है—

'पिप्पलीपिप्पलीमूलचित्रकशृङ्गवेरयवक्षारसैन्धवानां पालिका भागाः घृतप्रस्थं तत्तुल्यं क्षीरं तदैकध्यं विपाचयेत् । एतत् षट्पलकं नाम सर्पिः प्लीहाग्निसादगुल्मोदरोदावर्त्तश्वयथुपाण्डुरोगकासश्वासप्रतिश्यायोर्ध्ववातविषमज्वरानपहन्ति ॥'

यहां पर इसीप्रकरण में आगे रोहीतकघृत भी कहा जायगा । उसे रोहीतकषट्पलक भी कहा जाता है । पिप्पलियों का प्रयोग करने को कहने से रसायनाधिकारोक्त(१७४६ पृष्ठ) पिप्पलीवर्धमान का प्रयोग अभिप्रेत है । अथवा गुडयुक्त हरड़ तथा क्षारों एवं अरिष्टों को प्रयोग करावे । जो अरिष्ट वा

क्षार ग्रहणी अर्श वा गुल्म आदि में हितकर हैं, उन्हीं का ही विचारपूर्वक यहां प्रयोग होगा ॥ ७८ ॥

पिप्पल्यादिचूर्णम्।

पिप्पली नागरं दन्ती चित्रकं द्विगुणाभयम्।
विडङ्गांशयुतं चूर्णमेतदुष्णाम्बुना पिबेत् ॥ ७६ ॥

पिप्पल्यादिचूर्ण—पिप्पली, सोंठ, दन्तीमूल, चित्रक; प्रत्येक १ भाग, हरड़ २ भाग, विडङ्ग १ भाग। इस चूर्ण को उष्ण जल से रोगी पीवे। मात्रा—४ मासे।

कई टीकाकार 'विडङ्गांशयुतं' में 'अंश' से चौथाई भाग का ग्रहण करते हैं। गङ्गाधर ने पाठान्तर पढ़ा है—

'पिप्पली नागरं दन्ती समांशं हिङ्गुनाभयम्।
विडद्वांशयुतं चूर्णमिदमुष्णाम्बुना पिबेत् ॥'

अर्थात् पिप्पली सोंठ दन्तीमूल हींग तथा हरड़ पांचों द्रव्यों का चूर्ण समान भाग और विड लवण आधा भाग मिला कर गरम जल के अनुपान से सेवन करे ॥ ७६ ॥

विडङ्गं चित्रकं शुण्ठीं सघृतां सैन्धवं वचाम्।
दग्ध्वा कपाले पयसा गुल्मप्लीहापहं पिबेत् ॥ ८० ॥

विडङ्गादिक्षार—वायविडङ्ग, चित्रक, सोंठ, सैन्धानमक, वच; इन्हें एकत्र समभाग में मिला एक भाग घी से मर्दन करके मिट्टी के कपाल में डालकर ऊपर उल्टा सकोरा रखकर नीचे से आग देकर जला ले। अथवा दो सकोरों में बन्दकर कपड़मिट्टी करके पुट दे दे। इसको दूध के अनुपान से प्रयोग करावें। यह गुल्म और प्लीहा को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे ॥ ८० ॥

रोहीतकलतानां तु कण्डकानभयाजले।
मूत्रे वा सुनुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत् ॥ ८१ ॥
कामलागुल्ममेहार्शःप्लीहसर्वोदरक्रिमीन्।

तद्धन्याज्जाङ्गलरसैर्जीर्णे स्याच्चात्र भोजनम् ॥ ८२ ॥

रोहड़े की शाखाओं को अधकुटा करके और अधकुटी हरड़ों को ६ गुना वा ८ गुना जल में वा गोमूत्र में सात दिन तक सन्धित करके पीवे । यह कामला गुल्म, प्रमेह अर्श प्लीहा सब उदर तथा क्रिमियों को नष्ट करता है । मात्रा—जल में सन्धित आधी छटांक । गोमूत्र में सन्धित २ छोटे चमचे । औषध के जीर्ण होने पर जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस के साथ भोजन करे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

'रोहीतकलताः खण्डशः कल्पिता हरीतकीश्च तोये गोमूत्रे वा सप्तरात्रमासुनुयात् । स रसः प्लीहगुल्मोदरकृमिमेहकामलार्शांसि साधयति ।'[1]

गंगाधर 'अभयाजले' ऐसा समस्त पद पढ़कर कहता है कि रोहड़े की शाखाओं को खण्डशः करके हरड़ के क्वाथ में अथवा गोमूत्र में सन्धित करे ॥ ८१—८२ ॥

रोहीतकघृतम् ।

रोहीतकत्वचः कृत्वा पलानां पञ्चविंशतिम् ।
कोलद्विप्रस्थसंयुक्तं कषायमुपकल्पयेत् ॥ ८३ ॥
पालिकैः पञ्चकोलैस्तु तैः सर्वैश्चापि तुल्यया ।

---

१ चक्रदत्तेऽपि—

रोहीतकाभयाचोदभावितं मूत्रमम्बु वा ।
पीतं सर्वोदरप्लीहमेहार्शःक्रिमिगुल्मनुत् ॥

अत्र शिवदासः—रोहीतकहरीतक्योश्चूर्णैककर्षेण पलद्वयपरिमितं गोमूत्रमम्बु वा भाव्यमिति केचित् (व्यवहारान्मूत्रं विरेचनार्थमम्बु शोधनार्थमिति व्यवस्था—इति श्रीकण्ठः) । अन्ये तु रोहीतकहरीतक्योः चोदैः खण्डखण्डरूपैः शिलायां किञ्चिदवक्षुण्णैः सप्ताहं भावितं मूत्रमम्बु वेत्याहुः वाग्भटप्रामाण्यात्, यथा रोहीतकलताः क्लृप्ताः खण्डशः साभया जले । मूत्रे वा सुनुयात्तच्च सप्तरात्रस्थितं पिबेत् ॥ '

रोहीतकत्वचा पिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ ८४ ॥
प्लीहाभिवृद्धिं शमयत्येतदाशु प्रयोजितम् ।
तथा गुल्मोदरश्वासक्रिमिपाण्डुत्वकामलाः ॥ ८५ ॥

रोहीतकघृत——गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—रोहड़े की छाल २५ पल, कोल (बेर) २ प्रस्थ (३२ पल), जल आठगुना (४५६ पल), अवशिष्ट क्वाथ ११४ पल । कल्कार्थ—पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ); प्रत्येक १ पल, रोहड़े की छाल उन सबके मिलित प्रमाण के समान अर्थात् ५ पल । यथाविधि घृतपाक करे । मात्रा—आधा तोला । यह घृत शीघ्रही प्लीहावृद्धिको तथा गुल्म उदर श्वास कृमि पाण्डुता और कामलाको शान्त करता है । इस घृत को रोहीतकषट्पलघृत भी कहते हैं परन्तु यह नाम उचित नहीं क्योंकि यहां कल्क का प्रमाण ६ पल नहीं, १० पल है । चिकित्साकलिका में रोहीतकघृत के योग का प्रमाण भिन्न है—

रोहीतकत्वक्तुलया समेतं द्विसङ्गुणं स्याद्बदराढकन्तु ।
पचेदपां द्रोणचतुष्टयेन द्रोणावशेषेण घृताढकन्तु ॥
स्यात्पञ्चकोलात्पलपञ्चकेन रोहीतकत्वक्समभागिकेन ।
सिद्धं तु रोहीतकसर्पिरेतत्प्लीहोदरघ्नं यकृतामयघ्नम् ।

इसके अनुसार घी २ आढक (८ प्रस्थ) । क्वाथार्थ—रोहीतक छाल १ तुला (१०० पल), बेर १ आढक (४ प्रस्थ=६४ पल), जल ८ द्रोण, अवशिष्ट क्वाथ २ द्रोण (५१२ पल)। कल्कार्थ—पञ्चकोल; मिलित ५ पल, रोहेड़े की छाल ५ पल लेकर यथाविधि पकाया जाता है ॥ ८३—८५ ॥

अग्निकर्म च कुर्वीत भिषग्वातकफोल्बणे ।

वातकफप्रधान प्लीहोदर में अग्निकर्म——वातकफ-प्रधान प्लीहोदर में यदि अन्य चिकित्सा से सिद्धि न हो तो वैद्य अग्निकर्म करे । तन्त्रान्तरों में गुल्मोक्त विधान से अग्निकर्म करने का आदेश है । वृद्धवाग्भट चि० अ० १७ में कहा भी है—

' एवमनुपशाम्यत्यप्राप्तपिच्छोदके वातकफोल्बणे गुल्मविधिनाग्निकर्म कुर्यात् ।'

सुश्रुत चि० अ० १४ में तो कहा है—

' मणिबन्धं सकृन्नाम्य वामाङ्गुष्ठसमीरिताम् ।
दहेच्छिरां शरेणाशु प्लीह्नो वैद्यः प्रशान्तये ॥'

पैत्तिके जीवनीयानि सर्पींषि क्षीरबस्तयः ॥ ८६ ॥
रक्तावसेकः संशुद्धिः क्षीरपानं च शस्यते ।
यूषैर्मांसरसैश्चापि दीपनीयसमायुतैः ॥ ८७ ॥
लघून्यन्नानि संसृज्य भजेत्प्लीहोदरी नरः ।
(यकृति प्लीहवत्सर्वं तुल्यत्वाद्भेषजं मतम् ।)

पैत्तिक में विशेष चिकित्सा—पैत्तिक प्लीहोदर में जीवनीय घृत (जीवनीयगण के द्रव्यों से साधित घृत अथवा जीवनीय-गुण युक्त घृत) अथवा जीवनीय गण के द्रव्य और पित्तहर द्रव्यों से साधित घृत, दूध प्रधान बस्तियां, रक्तावसेचन, संशोधन (विरेचन द्वारा) और दूध का सेवन प्रशस्त है । प्लीहोदर का रोगी दीपनीय द्रव्यों से युक्त मूंग आदि के यूषों वा मांसरसों से लघु शालि षाष्टिक आदि के अन्नों को मिश्रित करके सेवन करे । सूत्रस्थान अध्याय ४ पृष्ठ १११ पर दीपनीयगण कहा जा चुका है ।

यकृदुदर में भी यही चिकित्सा है । परन्तु रुधिरावसेचन दक्षिण बाहु से किया जाता है । सुश्रुत चि० अ० १४ में कहा है—

' यकृद्दाल्येऽप्येष एव क्रियाविभागः । विशेषतस्तु दक्षिणबाहौ शिराव्यधः ॥ ८६–८७ ॥

स्विन्नाय बद्धोदरिणे मूत्रैस्तीक्ष्णौषधान्वितम् ॥ ८८ ॥
सतैललवणं दद्यान्निरूहं सानुवासनम् ।
परिस्रंसीनि चान्नानि तीक्ष्णं चैव विरेचनम् ॥ ८९ ॥

---

१ ' दीपनीयरसान्वितैः ' ग. । २ श्लोकार्धममुं गङ्गाधरः पठति । ३ ' मूत्रे तीक्ष्णौषधान्वितम् ' ग. ।

उदावर्तहरं कर्म कार्यं वातघ्नमेव च।

बद्धोदर में चिकित्साक्रम—बद्धोदर के रोगी का स्वेदन करके गोमूत्र तीक्ष्ण औषध तैल लवण इनसे युक्त निरूह और तदनन्तर ऐसा ही अनुवासन देना चाहिये।

निरूह के सामान्यतः तैल लवण युक्त होने पर भी पुनः 'सैतललवणं' कहने का अभिप्राय तैल और लवण का अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में देने से है। यद्यपि बद्धोदर छिद्रोदर और दकोदर में निरूह और अनुवासन का सामान्यतः निषेध (देखो सिद्धिस्थान अ० २) है परन्तु विशेष साध्यावस्था में (जब मल अत्यन्त बद्ध न हो) बद्धोदर में निरूह कराया जा सकता है यही आचार्य का अभिप्राय प्रतीत होता है। अथवा यदि बद्धोदर निरूह वा अनुवासन से ही सिद्ध हो सकता हो तो वे कराने चाहियें। तथा च बद्धोदर में अनुलोमक अन्न और तीक्ष्ण विरेचन देने चाहियें। उदावर्तनाशक और वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिये। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी—

'बद्धोदरे स्विन्नाय सतैललवणमूत्रं तीक्ष्णं निरूहमनुवासनं च दद्यात्। स्रंसनानि चान्नान्युदावर्तहराणि च तीक्ष्णं च विरेचनं यच्च किञ्चिद्वातघ्नम्' ॥ ८८-८९ ॥

छिद्रोदरमृते स्वेदाच्छ्लेष्मोदरवदाचरेत् ॥ ९० ॥
जातं जातं जलं स्राव्यमेवं तत्पातयेद्भिषक्[1]।

छिद्रोदर में चिकित्साक्रम—छिद्रोदर में स्वेद के विना शेष कर्म कफोदर के सदृश ही है। छिद्रोदर में पुनः पुनः उत्पन्न हुए जल का पुनः पुनः स्रावण करके चिकित्सा करनी चाहिये ॥९०॥

तृष्णाकासज्वरार्तं तु क्षीणमांसाग्निभोजनम् ॥ ९१ ॥

छिद्रोदर की असाध्यता—छिद्रोदर में यदि रोगी तृष्णा, कास, ज्वर से पीडित हो और मांस अग्नि एवं आहार क्षीण हो गये हों

१ 'तद्यापयेद्' ग.।

तो वह असाध्य है ॥ ६१ ॥

वर्जयेच्छ्वासिनं तद्वच्छूलिनं दुर्बलेन्द्रियम् ।

इसीप्रकार यदि छिद्रोदर का रोगी श्वास और शूल से पीड़ित हो इन्द्रियां दुर्बल हों तो उसे असाध्य जानें ॥

अपां दोषहराण्यादौ विदध्यादुदकोदरे ॥ ६२ ॥
मूत्रयुक्तानि तीक्ष्णानि विविधक्षारवन्ति च ।
दीपनीयैः कफघ्नैश्च तमाहारैरुपाचरेत् ॥ ६३ ॥
द्रवेभ्यश्चोदकादिभ्यो नियच्छेदनुपूर्वशः ।

जलोदर में चिकित्साक्रम—जलोदर में पूर्व जल के दोषों को नष्ट करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये । अर्थात् जलोदर में जल से जो विकार उत्पन्न होरहे हैं उन को पूर्व हटाना होता है । तदर्थ गोमूत्रयुक्त तीक्ष्ण विविध क्षारों से युक्त औषध तथा दीपनीय एवं कफनाशक आहारों का प्रयोग करना चाहिये । रोगी को जल आदि द्रव पदार्थों के पीने से क्रमशः हटावे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

'दकोदरे तु पूर्वमुदकदोषहरणार्थं रूक्षतीक्ष्णौषधान् समूत्रान्निर्यूहचूर्णक्षारान् कफघ्नानि दीपनीयानि चान्नपानानि योजयेत्' ॥६२-६३॥

सर्वमेवोदरं प्रायो दोषसङ्घातजं मतम् ॥ ६४ ॥
तस्मात्त्रिदोषशमनीं क्रियां सर्वेषु[2] कारयेत् ।

सब उदरों में त्रिदोषशामक चिकित्सा—यतः प्रायः सारे उदर ही दोषों के समूह (त्रिदोष) से उत्पन्न होते हैं अतः सभी में त्रिदोष को शान्त करने वाली चिकित्सा करनी चाहिये ॥ ६४ ॥

दोषैः कुक्षौ हि संपूर्णे वह्निर्मन्दत्वमृच्छति ॥ ६५ ॥
तस्माद्भोज्यानि योज्यानि[3] दीपनानि लघूनि च ।

कुक्षि के दोषों से भर जाने पर अग्नि मन्द हो जाती है अतः

---

१ 'दोषे ग्रहण्यादौ' पा० । २ 'सर्वत्र' ग० । ३ 'भोज्यानि' च० ।

दीपन और लघु भोजनों का प्रयोग करना चाहिये ॥ ९५ ॥

रक्तशालीन्यवान्मुद्गाञ्जाङ्गलांश्च मृगद्विजान् ॥ ९६ ॥
पयोमूत्रासवारिष्टान्मधु शीधूंस्तथा सुराम्[1] ।
यवागूमोदनं वापि यूषैरद्याद्रसैरपि ॥ ९७ ॥
मन्दाम्लस्नेहकटुभिः पञ्चमूलोपसाधितैः ।

दीपन और लघु पथ्य—लाल शालि, जौ, मूंग, जाङ्गल पशु पक्षियों के मांस, दूध, मूत्र, आसव, अरिष्ट, मधु, शीधु (मद्यविशेष) सुरा; ये पथ्य हैं । यवागू अथवा ओदन (लाल शालि का भात) को पञ्चमूल (बृहत्पञ्चमूल) से संस्कृत तथा जिनमें अनारदाना आदि की खटाई, घी आदि स्नेह वा मरिच आदि कटु द्रव्य (मसाले) थोड़ी मात्रा में पड़े हों उन यूषों वा मांसरसों के साथ खावे ॥९६-९७॥

औदकानूपजं मांसं शाकं पिष्टकृतं तिलान् ॥ ९८ ॥
व्यायामाध्वदिवास्वप्नं यानयानं च वर्जयेत् ।

उदर में अपथ्य—औदक (मछली आदि) तथा आनूप मांस, शाक, पिष्ट (चावल का आटा) के बने भोज्य पदार्थ, तिल, व्यायाम, अधिक चलना फिरना, दिन में सोना, सवारी आदि पर जाना; इनका त्याग करे ॥ ९८ ॥

तथोष्णलवणाम्लानि विदाहीनि गुरूणि च ॥ ९९ ॥
नाद्यादन्नानि जठरी तोयपानं च वर्जयेत् ।

तथा उष्ण लवण अम्ल विदाही एवं गुरु अन्न उदर का रोगी न खावे और जलपान न करे ॥ ९९ ॥

नातिसान्द्रं मतं पाने स्वादु तक्रमपेलवम् ॥ १०० ॥
त्र्यूषणक्षारलवणैर्युक्तं तु निचयोदरी ।

उदर में तक्र प्रयोग—उदर के रोगी को मधुर न अत्यन्त घनी न पतली तक्र पीनी चाहिये । निचयोदर (सन्निपातोदर) के रोगी

१ '०मधुसीधूनि चाप्नुयात्' ग. ।

को तक्र में त्रिकटु यवक्षार और सेन्धानमक डालकर पीना चाहिये॥१००॥

वातोदरी पिबेत्तक्रं पिप्पलीलवणान्वितम् ॥ १०१ ॥
शर्करा[1]मरिचोपेतं स्वादु पित्तोदरी पिबेत् ।

वातोदर का रोगी पिप्पली और सेन्धानमक से युक्त तक्र पीवे । पित्तोदर में रोगी को खांड तथा काली मरिच के चूर्ण से युक्त तक्र पीनी चाहिये ॥१०१॥

यमानीसैन्धवाजाजीव्योषयुक्तं कफोदरी ॥ १०२ ॥
पिबेन्मधुयुतं तक्रं व्यक्ताम्लं नातिपेलवम् ।

कफोदर का रोगी अजवाइन सेन्धानमक अजाजी (जीरा) तथा त्रिकटु से युक्त एवं जिसमें उचित मात्रा में शहद डाला गया हो, खट्टी, जो अत्यन्त पतली न हो--छाछ पीवे ॥ १०२ ॥

मधुतैलवचाशुण्ठीशताह्वाकुष्ठसैन्धवैः ॥ १०३ ॥
युक्तं प्लीहोदरी जा[2]तं सव्योषं तूदकोदरी ।

प्लीहोदर के रोगी को तक्र में मधु तैल वच सोंठ सोये कुष्ठ सेन्धानमक, इन्हें उचित मात्रा में डालकर पीना चाहिये । जलोदर में जब जल उत्पन्न हो गया हो तब त्रिकटु चूर्ण-युक्त तक्र हितकर होता है । अथवा 'जातं' का अर्थ शिवदास प्रभृति टीकाकार उत्तम दही से बनाई हुई तक्र--ऐसा करते हैं ॥ १०३ ॥

बद्धोदरी तु हवुषायमान्यजाजिसैन्धवैः॥ १०४ ॥
पिबेच्छिद्रोदरी तक्रं पिप्पलीक्षौद्रसंयुतम् ।

बद्धोदर में रोगी हवुषा (हाऊबेर), अजवाइन, श्वेत जीरा और सेन्धानमक का चूर्ण तक्र में डालकर पीवे । छिद्रोदर में पिप्पली चूर्ण और मधु से युक्त तक्र पीना चाहिये ॥ १०४ ॥

---

१ 'शर्करामधुकोपेतं' इति गङ्गाधरः पठति, तन्न, 'पित्ते सोषणशर्करम्' इति वृद्धवाग्भटविरोधात् ।

२ 'सव्योषं दुग्धं दधिरूपेण जातं पादजलमुद्धृतसारं तक्रमुदकोदरी पिबेत्', इति व्याचष्टे गङ्गाधरः ।

गौरवारोचकार्तानां समन्दाग्न्यतिसारिणाम् ॥ १०५ ॥
तक्रं वातकफार्तानाममृतत्वाय कल्पते ।

तक्र अवस्थाविशेष में अमृत तुल्य है—वात कफ से पीड़ित पुरुष के गौरव (देह वा उदर का भारी प्रतीत होना), अरुचि, मन्दाग्नि, अतिसार आदि लक्षणों से पीड़ित होने पर तक्र अमृत के सदृश लाभ करता है ॥ १०५ ॥

शोफानाहार्तितृण्मूर्च्छापीडिते कारभं पयः ॥ १०६ ॥
शुद्धानां क्षामदेहानां गव्यं छागं समाहिषम् ।

ऊँटनी के दूध का प्रयोगकाल—जो उदर का रोगी शोथ आनाह वेदना प्यास और मूर्च्छा से पीड़ित हो उसे ऊँटनी का दूध अमृत के समान है ॥

गौ आदि के दूध का प्रयोग काल—संशोधन के पश्चात् कृशदेह पुरुषों के लिये गौ बकरी और भैंस का दूध हितकर होता है ॥ १०६ ॥

देवदार्वादिप्रदेहः

देवदारुपलाशार्कहस्तिपिप्पलिशिग्रुकैः ॥ १०७ ॥
साश्वकर्णैः[1] सगोमूत्रैः प्रदिह्यादुदरं शनैः[2] ।

देवदार्वादिप्रदेह—देवदारु, पलाशबीज (ढाक के बीज), आक की जड़, गजपिप्पली, सहिजन की छाल, अश्वकर्ण (शालभेद); इनके चूर्णों को समभाग में मिश्रित कर गोमूत्र से अच्छी प्रकार पीस उदर पर शनैः शनैः सुखोष्ण लेप करें । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'लिम्पेच्च जठरमुदरिणां शिग्रुपलाशाश्वकर्णगजपिप्पलीदेवदारुभिर्मूत्रपिष्टैः सुखोष्णैः' ॥ १०७ ॥

वृश्चिकाल्यादिपरिषेचनम्

वृश्चिकालीं वचां कुष्ठं पञ्चमूलीं पुनर्नवाम् ॥ १०८ ॥

---

१ 'साश्वगन्धैः' पा० । २ 'समैः' ग० ।

वर्षाभूं नागरं धान्यं जले पक्त्वाऽवसेचयेत् ।

वृश्चिकाल्यादिपरिषेचन—वृश्चिकाली (विछाटी), वच, कुष्ठ, पञ्चमूली (बृहत्पञ्चमूल), श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, सोंठ, धनियां; इन्हें जल में पकाकर अर्थात् क्वाथ करके उससे परिषेचन करे । वृद्धवाग्भट चि० अ० १७ में भी—

' वृश्चिकालीकुष्ठषड्ग्रन्थाद्विपुनर्नवधान्यनागरपञ्चमूलक्वाथैर्मूत्रैश्च परिषेचयेत् ' ॥ १०८ ॥

पलाशं कत्तृणं रास्नां तद्वदुत्क्वाथ्य सेचयेत् ॥ १०९ ॥

मूत्राण्यष्टावुदरिणां सेके पाने च योजयेत् ।

पलाशादिपरिषेचन—पलाश (ढाक के बीज), कत्तृण (सुगन्धि तृण), रास्ना; इन्हें भी क्वाथ करके उसीप्रकार परिषेचनार्थ प्रयोग कराना चाहिये ।

वैद्य उदररोगी के लिये परिषेचनार्थ और पानार्थ आठ मूत्रों का प्रयोग करावे । ये आठ मूत्र सूत्रस्थान अध्याय १ में कहे जा चुके हैं—

' अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं तथा ।
हस्तिमूत्रमथोष्ट्रस्य हयस्य च खरस्य च' ॥ १०९ ॥

रूक्षाणां बहुवातानां तथा संशोधनार्थिनाम् ॥ ११० ॥

दीपनीयानि सर्पींषि जठरघ्नानि वक्ष्यते ।

रूक्षदेह जिनमें वात अधिक है तथा जो संशोधन चाहते हैं, उनके लिये उदरनाशक दीपनीय घृत कहे जाते हैं अभिप्राय यह है कि कहे जाने वाले घृत वातप्रधान रूक्षशरीर तथा मन्दाग्नियुक्त उदर रोगियों को सेवन कराने चाहियें । उदररोग में विरेचन भी कराना होता है । विरेचन से पूर्व स्नेहन और स्वेदन का कराना आवश्यक होता है अतः, संशोधन से पूर्व स्नेहनार्थ भी वक्ष्यमाण घृतों का प्रयोग कराया जा सकता है ।

---

१ 'भूतीकां' पा० । २ 'पक्त्वा च सेचयेत्' ग० । ३ 'तद्वत्पक्त्वा च सेचयेत्' ग० । ४ 'स्नेहनीयानि' पा० । 'स्रंसनीयानि' इति वा स्यात् ।

सामान्यतः उदररोगों में स्नेहपान वा स्वेदन का निषेध है। स्नेहपान के निषेध में कहा भी है—

'विवर्जयेत्स्नेहपानमजीर्णी चोदरी ज्वरी।'

तथा स्वेदननिषेध में—

'नोदरी नातिसारी च।'

परन्तु इन वचनों से शोधन के अङ्गभूत स्नेहपान और स्वेद का निषेध न जानना चाहिये। अन्यथा दोष का हरना दुष्कर हो जायगा। संशोधनार्थ तो स्नेहन और स्वेदन कराना ही होगा। हां स्वतन्त्ररूपसे स्नेहपान वा स्वेदन नहीं कराना चाहिये—यही प्रतिषेध-वचनों का अभिप्राय है॥११०॥

पञ्चकोलघृतम्

पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकनागरैः॥ १११॥
सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विःप्रस्थं सर्पिषः पचेत्।
कल्कैर्द्विपञ्चमूलस्य तुलार्धस्वरसेन[1] च॥ ११२॥
दधिमण्डाढकोपेतं तत्सर्पिर्जठरापहम्।
श्वयथुं वातविष्टम्भं गुल्मार्शांसि च नाशयेत्[2]॥ ११३॥

इति पञ्चकोलघृतम्।

पञ्चकोलघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ, यवक्षार; प्रत्येक १ पल। दशमूल ५० पल का क्वाथ। दही का पानी २ आढक (१२८ पल)। यथाविधि घृतपाक करें। मात्रा—आधा तोला। यह घृत उदर-नाशक है। शोथ वातज विष्टम्भ (विबन्ध) गुल्म तथा अर्श को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

---

१ 'तुलार्धस्य रसेन' पा०।

२ इतः परं 'पञ्चकोलघृतस्त्वेतत् कृष्णात्रेयेण भाषितम्' इत्यधिकः पाठः क्वचित्।

' यावशूकपञ्चकोलषट्पलेन वा मस्तुदशमूलक्काथाढकद्वयेन च सिद्धं सर्पिःप्रस्थं प्रयोजयेत् । '

मूलोक्त पाठ में ' अर्धपलिकैर्द्विः ' से आधे पल का द्विगुण १ पल लिया जाता है अतएव पञ्चकोल और यवक्षार प्रत्येक द्रव्य १ पल लेने को कहा है । वृद्धवाग्भट ने भी छहों द्रव्य मिलाकर ६ पल लिये हैं । चक्रपाणि ' द्वि ' का ' प्रस्थं सर्पिषः ' के साथ भी सम्बन्ध करता है । इसप्रकार २ प्रस्थ-द्वैगुण्य परिभाषा के अनुसार ४ प्रस्थ घी लेने को कहता है । अपने संग्रहग्रन्थ में भी उसने इसी अभिप्राय से कहा है--

दशमूलतुलार्द्धरसे सक्षारैः पञ्चकोलकैः पलिकैः ।
सिद्धं घृतार्द्धपात्रं द्विर्मस्तुकमुदरगुल्मघ्नम् ॥

इस में घी को अर्धपात्र लेने को कहा है जो द्वैगुण्यपरिभाषा के अनुसार १ पात्र होता है । पात्र आढक का पर्याय है । आढक ४ प्रस्थ का होता है । परन्तु वृद्धभाग्भट ने ' सर्पिःप्रस्थं ' ही कहा है । जिसके अनुसार द्वैगुण्य परिभाषा से २ प्रस्थ घी लेना ही अभीष्ट है । अतः ' द्विः ' का सम्बन्ध ' प्रस्थं ' के साथ नहीं करना चाहिये । वृद्धवाग्भट के अनुसार दशमूल के क्काथ का प्रमाण भी २ आढक होना चाहिये । अतः ५० पल मिलित दशमूल में ८ आढक (५१२ पल) जल डाल कर २ आढक (१२८ पल) जल अवशिष्ट रखना उचित है । अन्य तो ५० पल दशमूल में ३२ शराव (२५६ पल) जल डालकर आठ शराव (६४ पल) क्काथ अवशिष्ट रखते हैं । इस घृत का नाम तन्त्रान्तरों में दशमूलषट्पलक है ॥

गङ्गाधर तो--घी ४ प्रस्थ को पिप्पली आदि छह द्रव्य पृथक् आधा पल, दशमूल ५० पल का क्काथ ८ शराव, दही का पानी १६ शराव से यथाविधि पकाने को कहता है ॥१११-११३॥

---

१ 'पिप्पलीत्यादौ सक्षारैरर्धपलिकैर्द्विःप्रस्थं सर्पिषः पचेदिति पाठे द्विशब्दः प्रस्थेन तथार्द्धपलिकैरित्यनेन च योज्यः । एतेन पिप्पल्यादीनां द्विरिति द्विगुणार्ध-पलैः षट् पलानि भवन्ति । प्रस्थेन च द्विशब्दयोजनात् घृतप्रस्थद्वयं भवति'॥ चक्रः।

नागरघृतम्

नागरं त्रिफला प्रस्थं घृततैलात्तथाऽऽढकम् ।
मस्तुनः साधयित्वैतत्पिबेत्सर्वोदरापहम् ॥ ११४ ॥
कफमारुतसंभूते गुल्मे चैतत्प्रशस्यते ।

इति नागरघृतम् ।

नागरघृत—गव्यघृत और तिलतैल मिलित २ प्रस्थ । दही का पानी २ आढक । कल्कार्थ—सोंठ और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला); मिलित ८ पल (प्रत्येक २ पल) । यथाविधि सिद्धकर रोगी इसे पीवे । मात्रा—आधा तोला । यह सम्पूर्ण उदरों को नष्ट करता है और कफवातज गुल्म में भी प्रशस्त माना गया है ।

अथवा यहां 'नागरं त्रिपलं' ऐसा पाठ होना चाहिये । तब त्रिफला का कल्क नहीं डाला जायगा और केवल सोंठ का कल्क ३ पल डाला जायगा ॥ ११३ ॥

चित्रकघृतम्

चतुर्गुणे जले मूत्रे द्विगुणे चित्रकात्पले ॥ ११५ ॥
कल्के सिद्धं घृतप्रस्थं सक्षारं जठरी पिबेत् ।

इति चित्रकघृतम् ।

चित्रकघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । गोमूत्र ४ प्रस्थ । जल ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—चित्रक १ पल, यवक्षार १ पल । यथाविधि साधित इस घृत को उदर का रोगी पीवे । मात्रा-१ मासे से चौथाई तोले तक । सामान्य व्याख्या के अनुसार तो कल्कद्रव्यों में यवक्षार को नहीं गिनना चाहिये । घृत के सिद्ध होने पर उसका प्रक्षेप देना चाहिये । परन्तु तन्त्रान्तरोक्त—

---

१ 'नागरत्रिफलाप्रस्थं घृततैलात्तथाढकम् ।' 'नागरं त्रिफला प्रस्थं घृतं तैलं तथाढकम्' । पा० ।

२ इतः परं 'नागराद्यं घृतमिदमात्रेयेण प्रपूजितम्' इति क्वचिदधिकः पाठः ।

'अग्निक्षारपलाभ्यां द्विमूत्रं चतुर्जलं घृतप्रस्थम्'

इस वचन के अनुसार यवक्षार को भी एक पल मात्रा में लेकर घी में कल्क दिया जाता है ॥ ११५ ॥

यवाद्यं घृतम्

यवकोलकुलत्थानां पञ्चमूलभृतेन[1] च ॥ ॥११६ ॥
सुरासौवीरकाभ्यां च सिद्धं वापि पिबेद् घृतम् ।

इति यवाद्यं घृतम् ।

यवाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । जौ, कोल (बेर) और कुलथी का काथ २ प्रस्थ । बृहत्पञ्चमूल का काथ २ प्रस्थ । सुरा २ प्रस्थ । सौवीरक २ प्रस्थ । प्रत्येक द्रव को यदि चतुर्गुण लेना अभीष्ट हो तो प्रत्येक द्रव ८ प्रस्थ । यथाविधि घृतपाक कर रोगी पीवे । मात्रा—आधा तोला । अथवा सुरा और सौवीर को घृत का अनुपान समझना चाहिये । इस पक्ष में अवशिष्ट द्रव घी से चतुर्गुण लिया जायगा । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

' यवकोलकुलत्थपञ्चमूलकषायेण वा सुरासौवीरकयुक्तं सर्पिः ।

इस पाठ के अनुसार जौ बेर कुलथी पञ्चमूल; इनका इकट्ठा ही काथ करना चाहिये । व्याख्याकार इन्दु कहता है कि इस घृत के साधन में इन आठ द्रव्यों का काथ घी के समान लेना चाहिये । और सुरा एवं सौवीर भी मिलाकर घी के समान लेने चाहियें । परिपक्व अन्न (भात) के सन्धान से सुरा तय्यार होती है[2] । जौ अथवा गेहूं से तय्यार की गई कांजी को सौवीर कहते हैं ।

---

१ 'पञ्चमूलरसेन' पा० ।

२ अन्यत्रतु—दिनानि कतिचित् किण्वं गुडादौ स्थापयेद्भिषक् । ततो विक्लि-न्निमापन्नं यन्त्रैश्च नाडिकादिभिः ॥ विधिवत्स्रावयेदस्मादन्यपात्रे स्रुतं रसम् । गृह्णीयात् सा सुरा ख्याता । इति ।

गङ्गाधर तो जौ कोल कुलथी; प्रत्येक को १ पल लेकर कल्क-द्रव्य मानता है। शेष बृहत्पञ्चमूल का क्वाथ और सुरा और सौवीर को समपरिमाण में मिलाकर घी से चतुर्गुण लेता है ॥ ११६ ॥

एभिः स्निग्धाय संजाते बले शान्ते च मारुते ॥ ११७ ॥
स्रस्ते दोषाशये दद्यात्कल्पदृष्टं विरेचनम्।

इन घृतों के प्रयोग से रोगी के स्निग्ध एवं सबल होने पर, वायु के शान्त होने पर, दोष और उस के आशय के शिथिल होने पर कल्पस्थानोक्त उदर में हितकर विरेचन देना चाहिये ॥ ११७ ॥

पटोलाद्यं चूर्णम्

पटोलमूलरजनीविडङ्गत्रिफलात्वचम् ॥ ११८ ॥
कम्पिल्लको नीलिनी च त्रिवृता चेति चूर्णयेत्।
षडाद्यान्कार्षिकानन्त्यांस्त्रींश्च द्वित्रिचतुर्गुणान् ॥ ११९ ॥
कृत्वा चूर्णमतो मुष्टिं गवां मूत्रेण ना पिबेत्।
विरिक्तो मृदु भुञ्जीत भोजनं जाङ्गलै रसैः ॥ १२० ॥
मण्डं पेयां च पीत्वा वा सव्योषं षडहं पयः।
शृतं पिबेत्ततश्चूर्णं पिबेदेवं पुनः पुनः ॥ १२१ ॥
हन्ति सर्वोदराण्येतच्चूर्णं जातोदकान्यपि।
कामलां पाण्डुरोगं च श्वयथुं चापकर्षति ॥ १२२ ॥
पटोलाद्यमिदं चूर्णमुदरेषु प्रपूजितम्।

इति पटोलाद्यं चूर्णम्।

पटोलाद्यचूर्ण—परवल की जड़, हलदी, वायविडङ्ग, हरड़, बहेड़ा, आंवला (तीनों की बक्कल); प्रत्येक १ कर्ष, कमीला २ कर्ष, नीलीबीज ३ कर्ष, त्रिवृता ४ कर्ष; इनका चूर्ण करके १ मुष्टि (पल) प्रमाण में गोमूत्र के अनुपान से पीवे। जब इस चूर्ण के सेवन से विरेचन हो जाय तब जाङ्गल पशु पक्षियों के मांसरस से

१ 'ध्वस्ते' ग०। २ 'विरिक्तो जाङ्गलरसैर्भुञ्जीत मृदु ओदनम्' पा०।

नरम भोजन करे । अथवा मण्ड और पेया पीकर ६ दिन तक त्रिकटु युक्त क्वथित दूध पीवे । तदनन्तर पुनः चूर्ण का प्रयोग करे । इस प्रकार तब तक बारंबार करता जाय जब तक उदर रोग नष्ट न हो जाय । यह चूर्ण सब उदरों को—चाहे जल भी उत्पन्न हो गया हो—नष्ट करता है । कामला, पाण्डुरोग और शोथ को कम करता है । यह पटोलाद्य चूर्ण उदर रोगों में प्रशस्त माना गया है । आधुनिक मात्रा—१ मासे से २ मासे तक ॥ ११८-१२२ ॥

गवाक्षीं शङ्खिनीं दन्तीं तिल्वकस्य त्वचं वचाम् ॥ १२३ ॥
पिबेद् द्राक्षाम्बुगोमूत्रकोलकर्कन्धुशीधुभिः ।

गवाक्षी (इन्द्रायण), शङ्खिनी (यवतिक्ता), दन्तीमूल, तिल्वक (लोध्र-विशेष)की छाल, वच; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण को द्राक्षाक्वाथ, गोमूत्र, कोल (बड़ा बेर) के क्वाथ, कर्कन्धु (झरबेरी का बेर) के क्वाथ अथवा शीधु; इनमें से किसी एक अनुपान से पीवे । मात्रा—१ मासे से २ मासे तक ॥ १२३ ॥

नारायणचूर्णम्

यमानी हवुषा धान्यं त्रिफला चोपकुञ्चिका ॥ १२४ ॥
कारवी[1] पिप्पलीमूलमजगन्धा शटी वचा ।
शताह्वा जीरकं व्योषं स्वर्णक्षीरी सचित्रका ॥ १२५ ॥
द्वौ क्षारौ पौष्करं मूलं कुष्ठं लवणपञ्चकम् ।
विडङ्गं च समांशानि दन्त्या भागत्रयं तथा ॥ १२६ ॥
त्रिवृद्विशालयोर्द्वौ द्वौ शातला स्याच्चतुर्गुणा ।
एतन्नारायणं नाम चूर्णं रोगगणापहम् ॥ १२७ ॥
नैतत्[2]प्राप्यातिवर्तन्ते रोगा विष्णुमिवासुराः ।
तक्रेणोदरिभिः पेयं गुल्मिभिर्बदराम्बुना ॥ १२८ ॥
आनद्धवाते सुरया वातरोगे प्रसन्नया ।

---

१ 'कारवी अजमोदा' इति चक्रदत्तः । २ 'नैनं प्राप्याभिवर्द्धन्ते', पा० ।

दधिमण्डेन विट्सङ्गे दाडिमाम्बुभिरर्शसैः ॥ १२९ ॥
परिकर्ते सवृक्षाम्लमुष्णाम्बुभिरजीर्णके ।
भगन्दरे पाण्डुरोगे श्वासे कासे गलग्रहे ॥ १३० ॥
हृद्रोगे ग्रहणीदोषे कुष्ठे मन्देऽनले ज्वरे ।
दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे ॥ १३१ ॥
यथार्हं स्निग्धकोष्ठेन पेयमेतद्विरेचनम् ।

इति नारायणचूर्णम् ।

नारायण चूर्ण—अजवाइन, हाऊबेर, धनियां, त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), उपकुञ्चिका (कालाजीरा), कारवी (सोये अथवा छोटा कालाजीरा), पिप्पलीमूल, अजगन्धा (अजमोदा), कचूर, वच, शताह्वा (सोये अथवा सौंफ), जीरा, सोंठ, पिप्पली, कालीमिर्च, स्वर्णक्षीरी (चोक, सत्यानाशी की जड़), चित्रक, यवक्षार, सर्जिक्षार, पोहकरमूल, कुष्ठ, पांचों नमक, वायविडङ्ग; प्रत्येक १ भाग, दन्तीमूल ३ भाग, त्रिवृत् (निसोत) २ भाग, विशाला (इन्द्रायण) २ भाग, सातला (चर्मकषा) ४ भाग । इन समस्त द्रव्यों के चूर्ण को मिश्रित करके रखे । यह नारायण चूर्ण रोगों को नष्ट करता है । जिस प्रकार असुर विष्णु से पराभूत होते हैं, उसीप्रकार इस चूर्ण के प्रयोग से रोगसमूह नष्ट होता है । मात्रा—१ मासे से ४ मासे तक । अनुपान—उदररोग में तक्र, गुल्म में बदर (बेर) क्वाथ, आनाहवात में सुरा, वातरोग में प्रसन्ना (मद्य का उपरितन स्वच्छ भाग), मलरोध में दही का पानी, अर्शोरोग में अनार का रस, परिकर्तिका (पेट में कर्तनवत् पीड़ा—Colic) में वृक्षाम्ल (विषांबिल, तिन्तिडीक), अजीर्ण में गरम जल । रोगी उक्तरोगों में उक्त अनुपानों के साथ इस चूर्ण का व्यवहार करे । भगन्दर, पाण्डुरोग, श्वास कास, गलग्रह, हृद्रोग, संग्रहणी, कुष्ठ, मन्दाग्नि, ज्वर, दंष्ट्राविष (सर्प व्याघ्र आदि हिंस्र जन्तु की दाढ़ से उत्पन्न विष),

मूलविष (वत्सनाभ आदि) गर, (संयोगज विष), कृत्रिम विष; इन विकारों में स्निग्ध कोष्ठ (पूर्व स्नेहपान कराकर) रोगी को यह चूर्ण विरेचनार्थ यथायोग्य पीना चाहिये । जो अनुपान इनमें वैद्य उचित समझे उस २ अनुपान से इस चूर्ण को सेवन करने की व्यवस्था दे ।

तीसटाचार्य स्वर्णक्षीरी के स्थान पर कङ्कुष्ठ और सातला के स्थान पर यवतिक्ता (कालमेघ) पढ़ता है—

द्वौ क्षारौ लवणानि पञ्च हपुषाधान्याजगन्धाशटी-
व्योषाजाज्युपकुञ्चिकाकृमिजितः कङ्कुष्ठकुष्ठाग्नयः ।
उग्राग्रन्थिककारवीमिशियुतं योज्यं फलानां त्रयं
मूलं पुष्करजं यवान्यपि भवेदेतानि तुल्यान्यथ ॥
त्रिवृद्विशाले द्विगुणे च दन्तिनी
त्रिसङ्गुणा स्याद्यवतिक्तका भवेत् ।
चतुर्गुणा, चूर्णमुदाहृतं जनै
रिदं हि नारायणमौषधं बुधैः ॥
उष्णोदकेन यवकोलकुलत्थतोयै-
स्तक्रेण मद्यदधिमस्तुसुरासवैर्वा ।
नारायणं प्रपिबतः सकलोदराणि
नश्यन्ति विष्णुमिव दैत्यगणा द्विषन्तः ॥'

पांच नमक सूत्रस्थान अ० १ में ५९ पृष्ठ पर बताये जा चुके हैं—
'सौवर्चलं सैन्धवं च बिडमौद्भिदमेव च ।
सामुद्रेण सहैतानि पञ्च स्युर्लवणानि च ॥' १२४—१३१ ॥

हवुषाद्यं चूर्णम्

हवुषा काञ्चनक्षीरी त्रिफला कटुरोहिणी ॥ १३२ ॥
नीलिनी त्रायमाणा च शातला त्रिवृता वचा ।

सैन्धवं काललवणं[1] पिप्पली चेति चूर्णयेत् ॥ १३३ ॥
दाडिमत्रिफलामांसरसमूत्रसुखोदकैः ।
पेयोऽयं सर्वगुल्मेषु प्लीह्नि सर्वोदरेषु च ॥ १३४ ॥
श्वित्रे[2] कुष्ठेष्वजरके सदने विषमाग्निषु ।
शोथार्शःपाण्डुरोगेषु कामलायां हलीमके ॥ १३५ ॥
वातं पित्तं कफं चाशु विरेकात्संप्रसाधयेत् ।

इति हवुषाद्यं चूर्णम् ।

हवुषाद्य चूर्ण—हाऊबेर, चोक, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कटुकी, नीलीबीज, त्रायमाण, सातला (चर्मकषा, पीले दूध वाला सेहुण्ड), त्रिवृता (निसोत), वच, सैन्धानमक, कालानमक, पिप्पली; इन्हें चूर्णित कर एकत्र मिश्रित करे। इस चूर्ण को अनार के रस, त्रिफला-क्वाथ, मांसरस, गोमूत्र, कोसा जल, इन में से किसी एक अनुपान से सब गुल्मों में, प्लीहा में, सब उदरों में, श्वित्र में, कुष्ठों में, अजीर्ण में, देह की शिथिलता में, विषम अग्नियों में, शोथ अर्श और पाण्डुरोग में कामला में तथा हलीमक में पीना चाहिये। यह विरेचन द्वारा वात पित्त और कफ को शीघ्र शान्त करता है। मात्रा—२ मासे। तन्त्रान्तर में भी कहा है—

'विस्रा[3]शिलात्मकफलत्रयनीलिनीभिः
कृष्णावचारुचकतिक्तकरोहिणीभिः ।
सत्रायमाणविदुला[4]यवचित्रकाभि-
श्चूर्णं त्रिवृद्युतमिदं सकलोदरघ्नम्' ॥१३२-१३५॥

नीलिन्याद्यं चूर्णम् ।

नीलिनीं[5] निचुलं व्योषं द्वौ क्षारौ लवणानि च ॥ १३६ ॥

---

१ 'काललवणं विड्लवणमेव। अन्ये तु सौवर्चलाकारं लवणमाहुः' चक्रः ।
२ 'कुष्ठे श्वित्रे सरुजके सवाते' ग.। ३ विस्रा हवुषा । शिलात्मकं सैन्धवम् ।
४ विदुला सातला । यवचित्रा स्वर्णक्षीरी । ५ 'नीलिनीक्लीबकं' ग० ।

चित्रकं च पिबेच्चूर्णं सर्पिषोदरगुल्मनुत् ।

इति नीलिन्याद्यं चूर्णम् ।

नीलिन्याद्य चूर्ण—नीलीबीज (अथवा नीलीमूल), निचुल (हिज्जलबीज), सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, यवक्षार, सर्जिक्षार, पांचों नमक अर्थात् सौंचल सैन्धव बिड औद्भिद और सामुद्र, चित्रक; इनके चूर्णों को समभाग में मिश्रित करे। इस चूर्ण को घी के साथ रोगी पीवे। यह उदर और गुल्म को नष्ट करता है। मात्रा—३ मासे।

स्नुहीक्षीरघृतम्

क्षीरद्रोणं सुधाक्षीरप्रस्थार्धसहितं[1] दधि ॥ १३७ ॥
जातं विमथ्य तद्युक्त्या त्रिवृत्सिद्धं पिबेद् घृतम् ।

स्नुहीक्षीरघृत—गौ के दूध २ द्रोण में सेहुण्ड का दूध १ प्रस्थ डालकर दही की जाग लगा दें। जब दही जम जाय तब उसे मथ लें। उससे जो घी निकले उसे युक्तिपूर्वक निसोत के कल्क (घी से चतुर्थांश) से पकावे। उदर का रोगी इस घी को पीवे। मात्रा--दो वा तीन मासे। द्रव का नाम न होने से चतुर्गुण जल द्वारा पाक किया जाता है। अथवा द्रवार्थ उस तक्र का प्रयोग करना चाहिये जिसमें से घी निकाला है॥ १३७ ॥

स्नुहीक्षीरघृतम्

[2]तथा सिद्धं घृतप्रस्थं पयस्यष्टगुणे पिबेत् ॥ १३८ ॥
स्नुक्क्षीरपलकल्केन त्रिवृताषट्पलेन च ।

स्नुहीक्षीरघृत (दूसरा)—तथा गौ का घी २ प्रस्थ। दूध—१६ प्रस्थ। कल्कार्थ—सेहुण्ड का दूध १ पल और निसोत ६ पल।

---

१ 'प्रस्थार्धं माहिषं दधि' ग०।

२ 'तथेति पूर्वप्रकारोत्थितं घृतमेव' इति चक्रः। तन्नातिसङ्गतं—समुच्चयवाचक एवात्र तथाशब्दः। एवमेवोत्तरे घृते तद्वतोऽर्थोऽनुसन्धेयः।

यथाविधि घृत पाक कर रोगी पीवे। मात्रा—चौथाई तोला ॥१३८॥

स्नुहीक्षीरघृतम्

दधिमण्डाढके सिद्धात्स्नुक्क्षीरपलकल्किताक्त् ॥ १३९ ॥
घृतप्रस्थात्पिबेन्मात्रां तद्वज्जठरशान्तये ।

स्नुहीक्षीरघृत (तीसरा)—गव्यघृत २ प्रस्थ। दही का पानी २ आढक (८ प्रस्थ)। कल्कार्थ सेहुण्ड का दूध १ पल। यथाविधि पाक कर इस घृत को मात्रा में उदर की शान्ति के लिये पीवे ॥ मात्रा--२ मासे वा तीन मासे ॥ १३९ ॥

एषां चानुपिबेत्पेयां पयो वा स्वादु वा रसम् ॥ १४० ॥

घृतों के अनुपान—इन तीनों घृतों के पश्चात् पेया दूध वा मधुर मांसरस पीवे। ये अनुपान प्रकृति अग्नि बल आदि के अनुसार जानने चाहियें ॥ १४० ॥

घृते जीर्णे विरिक्तस्तु कोष्णं नागरकैः शृतम् ।
पिबेदम्बु ततः पेयां यूषं कौलत्थकं ततः ॥ १४१ ॥
पिबेद्रूक्षस्त्र्यहं त्वेवं भूयो वा प्रतिभोजितः ।
पुनःपुनः पिबेत्सर्पिरानुपूर्व्या तथैव च ॥ १४२ ॥

घी के जीर्ण और उसके द्वारा रोगी को विरेचन हो जाने पर प्रथमदिन रूक्षदेह पुरुष लघु आहार के पश्चात् सोंठ का क्वाथ अथवा उससे षडङ्गपानीय विधि के अनुसार साधित कोसा जल पीवे। द्वितीय दिवस इसीप्रकार घी के पच जाने पर और उसके द्वारा ही विरेचन हो जाने पर आहार के पश्चात् पेया पीवे। तृतीयदिवस घी पचने पर और विरेचन होने पर भुक्त आहार के पश्चात् कुलथी का यूष पीवे। इसप्रकार तीन दिन करे। अन्यत्र कहा भी है—

'प्रथमे नागरयूषं, परेऽहनि पेया, तृतीये कुलत्थौदनमिति।'

---

१ 'पयोऽन्नं' ग०।

यदि दोष अधिक हो और रोगी बलवान् हो तो तीन दिन से अधिक भी इसी अनुक्रम से पुनः पुनः घृतपान कराया जाता है।

घृतान्येतानि सिद्धानि विदध्यात्कुशलो भिषक्।
गुल्मानां गरदोषाणामुदराणां च शान्तये॥ १४३॥

इति स्नुहीक्षीरघृतानि।

कुशल वैद्य को चाहिये कि इन तीनों लाभकर स्नुहीक्षीरघृतों को यथाविधि साधित करके गुल्म गरदोष और उदरों की शान्ति के लिये रोगियों को प्रयोग करावे॥ १४३॥

पीलुकल्कोपसिद्धं वा घृतमानाहभेदनम्।
गुल्मघ्नं नीलिनीसर्पिः स्नेहं वा मिश्रकं पिबेत्॥ १४४॥

अथवा उदर में आनाह के भेदन के लिये पीलु के कल्क से यथाविधि सिद्ध घी रोगी पीवे। अथवा गुल्मचिकित्सित में कहा गया गुल्मनाशक नीलिन्याद्य घृत पीवे अथवा उसी अधिकार में कहा गया मिश्रकस्नेह पीवे। नीलिन्याद्य घृत २०२५ पृष्ठ पर 'नीलिनीं त्रिफलां' इत्यादि द्वारा और मिश्रक स्नेह २०२७ पृष्ठ पर कहा गया है॥ १४४॥

क्रमान्निर्हृतदोषाणां जाङ्गलप्रतिभोजिनाम्।
दोषशेषनिवृत्त्यर्थं योगान्वक्ष्याम्यतः परम्॥ १४५॥

इस प्रकार क्रमशः दोषों का निर्हरण हो जाने पर जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस का सेवन करने वाले पुरुष के अवशिष्ट दोष की निवृत्ति के लिये अब योग कहूंगा—॥ १४५॥

चित्रक[1]कामरदारुभ्यां कल्कं क्षीरेण वा पिबेत्।
मांसयुक्तं तथा हस्तिपिप्पलीविश्वभेषजम्॥ १४६॥

चित्रक और देवदारु के कल्क को रोगी दूध के साथ पीवे।

---

१ 'चित्रकेत्यादौ मांसयुक्तमिति च्छेदः' चक्रः।

तथा जाङ्गल पशुपक्षियों के मांस से युक्त हस्तिपिप्पली और सोंठ के चूर्ण को दूध के साथ पीवे। चक्रपाणि मांस को चित्रक और देवदारु के साथ मिलाने को कहता है। हस्तिपिप्पली और सोंठ के चूर्ण से दूसरा योग स्वीकार करता है ॥१४६॥

विडङ्गं चित्रकं दन्ती चव्यं व्योषं च तैः पयः।
कल्कैः कोलसमैः पीत्वा प्रवृद्धमुदरं जयेत् ॥ १४७ ॥

वायविडङ्ग, चित्रक, दन्तीमूल, चव्य, त्रिकटु; इन सातों द्रव्यों का कल्क एक एक कोल प्रमाण में लेकर उनसे यथाविधि दूध को सिद्ध करें। इस दूध को पीने से बढ़ा हुआ उदर जीता जाता है। क्षीरपाक के लिये दूध द्रव्यों से आठगुना लिया जाता है और दूध से चौगुना जल डाला जाता है। जल के उड़ जाने पर और दूध के अवशिष्ट रहने पर उतार लिया जाता है और छानकर यथायोग्य मात्रा (१ पाव) में व्यवहृत होता है। अथवा साधन करने का आदेश न होने से इस कल्क के साथ दूध वैसे ही पीया जाता है। परन्तु आजकल के नागरिकों के लिये प्रत्येक द्रव्य की एक कोल मात्रा बहुत अधिक है। आधुनिक मात्रा तो इस मिलित कल्क की ४ मासे ही उचित है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'क्षीरं च दन्तीचित्रकविडङ्गचविकात्रिकटुकोपेतम्।'

गङ्गाधर तो 'मांसयुक्तं' से लेकर प्रवृद्धमुदरं जयेत् तक एक योग मानता है अतएव मांस गजपिप्पली आदि दस द्रव्यों से दूध को सिद्ध करने को कहता है ॥ १४७ ॥

पिबेत्कषायं त्रिफलादन्तीरोहीतकैः शृतम्।
व्योषक्षारयुतं जीर्णे रसैरद्याच्च जाङ्गलैः ॥ १४८ ॥

त्रिफलादिकषाय—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला), दन्तीमूल रोहीतक (रोहेड़ा) की छाल; इनसे यथाविधि सिद्ध क्वाथ में त्रिकटु

१ 'समैः' पा०।

(सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली) और यवक्षार का प्रक्षेप देकर रोगी पीवे। क्वाथार्थ त्रिफला आदि द्रव्य मिलाकर अधिक से अधिक १ तोला लेने चाहियें। प्रक्षेपार्थ त्रिकटु और यवक्षार चारों द्रव्य मिलाकर १६ रत्ती पर्याप्त है।

जब औषध जीर्ण हो जाय तब जाङ्गलमांस के रस से ओदन आदि का आहार करना चाहिये ॥ १४८ ॥

मासं वा भोजनं योज्यं सुधाक्षीरघृतान्वितम् ।
क्षीरानुपानं, गोमूत्रेणाभयां वा प्रयोजयेत् ॥ १४९ ॥

अथवा पूर्वोक्त स्नुहीक्षीरघृत से युक्त वा संस्कृत ओदन आदि का भोजन एक मास तक करना चाहिये। और इसका अनुपान दूध होना चाहिये। अथवा हरड़ के चूर्ण को गोमूत्र के साथ प्रयोग करावे। गंगाधर 'मांसं' पढ़ कर उसका अनुपान दूध न कहकर गोमूत्र के साथ सेवित हरड़ के चूर्ण का अनुपान दूध बताता है। अष्टाङ्गसंग्रहकार भी कहता है—

'शोफशूलानाहतृण्मूर्च्छापरीतो विशेषेण पयोऽनुपानं गोमूत्रेण प्राणदां[1] पिबेत्।' चि० अ० १७ ॥

सप्ताहं माहिषं मूत्रं क्षीरं चानन्नभुक्[2] पिबेत् ।
मासमौष्ट्रं पयश्छागं त्रीन्मासान् व्योषसंयुतम् ॥ १५० ॥

अथवा रोगी अन्न का सेवन न करता हुआ एक सप्ताह तक भैंस का मूत्र और दूध पीवे। अथवा एक मास तक त्रिकटु चूर्ण के साथ ऊंटनी का दूध पीवे। अथवा तीन मास तक त्रिकटु युक्त बकरी का दूध पीवे ॥ १५० ॥

हरीतकीसहस्रं वा क्षीराशी वा शिलाजतु ।
शिलाजतुविधानेन गुग्गुलुं वा प्रयोजयेत् ॥ १५१ ॥

---

१ प्राणदा हरीतकी ।

२ 'अनन्नभुगिति गोमूत्रेणेत्यादियोगत्रये योज्यम्।' चक्रः ।

अथवा १००० हरीतकी (हरड़) का यथाविधान सेवन करे। अथवा दूध का सेवन करने वाला पुरुष शुद्ध शिलाजीत का प्रयोग करे। अथवा शिलाजीत के विधान के अनुसार ही विशुद्ध गूगल का प्रयोग करे। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी—

शिलाजतु वा क्षीराशी गुग्गुलुं वा।

१००० हरीतकी का प्रयोग रसायनोक्त(१७४६ पृष्ठ) पिप्पलीवर्धमान के क्रमानुसार कई करने को कहते हैं। यह (१० हरड़ का वर्धमानक्रम) प्राचीनकाल की उत्तम मात्रा है। मध्यम मात्रा दिन में ६ हरीतकी की और अल्प मात्रा ३ हरीतकी की जाननी चाहिये। परन्तु ये सब मात्रायें आधुनिक पुरुषों के लिये अत्यधिक हैं। इससे आजकल के निर्बल पुरुषों को लाभ के स्थान पर हानि होने का भय है। अतः कई ये विधान करते हैं—कि प्रथम १ हरड़ के सेवन से प्रारम्भ करे। १० दिन तक प्रतिदिन एक एक हरड़ बढ़ाता जाय। इसप्रकार प्रथम १० दिन में ५५ हरीतकी का सेवन होगा। तत्पश्चात् ९० दिन तक प्रतिदिन दस २ पिप्पलियों का ही सेवन करना होगा। इन ९० दिनों में ९०० हरड़ों का सेवन हो जायगा। तदनन्तर प्रतिदिन एक एक कम करता जाय अर्थात् पहिले दिन ९ द्वितीय दिन ८ इत्यादि इन ९ दिनों में ४५ हरड़ों का सेवन होता है। इस प्रकार १०९ दिनों में ५५+९००+४५=१००० हरड़ों का सेवन होगा।

परन्तु यह क्रम भी बहुधा ठीक नहीं रहता। वैद्य को चाहिये कि रोगी के बल एवं दोष आदि की जांच करके जैसा योग्य समझे वैसा ही सेवन करावे॥ १५१॥

शृङ्गवेरार्द्रकरसः पाने क्षीरसमो मतः।
तैलं रसेन तेनैव सिद्धं दशगुणेन वा॥ १५२॥

अथवा दूध में समपरिमाण अदरख का रस मिलाकर रोगी पीवे। अथवा तिलतैल को दसगुना अदरख के रस से सिद्ध करके रोगी को पिलाना चाहिये। मात्रा—चौथाई तोले से आधे तोले तक॥ १५२॥

दन्तीद्रवन्तीफलजं तैलं दूष्योदरे हितम् ।
शूलानाहविबन्धेषु सक्तुयूषरसादिभिः ॥ १५३ ॥

दन्तीबीज अथवा द्रवन्ती (बड़ी दन्ती) के बीज का तैल दूष्योदर में शूल आनाह और विबन्ध (मलजबन्ध) के उपस्थित होने पर मस्तु (दही का पानी) यूष अथवा मांसरस के अनुपान से हितकर होता है । दन्तीबीज तैल की मात्रा-½ से १ बूंद जाननी चाहिये ॥१५३॥

सरलामराशिग्रूणां[1] बीजेभ्यो मूलकस्य च ।
तैलान्यभ्यङ्गपानार्थं शूलघ्नान्यनिलोदरे ॥ १५४ ॥

वातोदर में अभ्यङ्गार्थ और पानार्थ चीड़, देवदारु, सहिजन मूली; इनके बीजों के तैलों का प्रयोग करे । ये तैल शूलनाशक हैं । इन तैलों की पानार्थ मात्रा—१०से ३० बूंद तक । यदि चीड़ और देवदारु के निर्यास आदि से तैल निकाला जाय (Turpentine oil) तो उस की मात्रा—२ से १० बूंद तक निश्चित की गई है ॥ १५४ ॥

स्तैमित्यारुचिहृल्लासेष्वल्पाग्नौ मद्यपाय च ।
अरिष्टान् दापयेत् क्षारान्कफस्त्यानास्थिरोदरे ॥ १५५ ॥
श्लेष्मणो विलयार्थं तु दोषं वीक्ष्य भिषग्वरः ।

जो कफोदर गाढे कफ से युक्त और कठिन हो वहां वैद्य दोष की परीक्षा कर के स्तिमितता, अरुचि, हृल्लास (उत्क्लेश) तथा अग्निमान्द्य होने पर कफ को विलीन करने के लिये मद्यपायी पुरुष को अरिष्टों का और क्षारों का प्रयोग करावे । अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० १७ में कहा है—
' स्त्यानकफोदरं क्षारमरिष्टांश्च तीक्ष्णान् पाययेत् ॥ १५५ ॥

पिप्पल्यादिक्षारः ।

पिप्पलीं तिल्वकं हिङ्गु नागरं हस्तिपिप्पलीम् ॥ १५६ ॥
भल्लातकं शिग्रुफलं त्रिफलां कटुरोहिणीम् ।
देवदारु हरिद्रे द्वे सरलातिविषे वचाम् ॥ १५७ ॥

---

[1] सरलामधुशिग्रूणां इति वा पाठः सरलमधुशिग्रुमूलकबीजस्नेहाश्च पानाभ्यञ्जनेन शूलघ्नाः इति वृद्धवाग्भटोक्तसंवादात् । तत्र सरला एला इति केचित् ।

कुष्ठं मुस्तं तथा पञ्च लवणानि प्रकल्प्य च ।
दधिसर्पिर्वसातैलमज्जयुक्तानि दाहयेत् ॥ १५८ ॥
अन्नादूर्ध्वमतः क्षाराद्विडालकपदं पिबेत् ।
मदिरादधिमण्डोष्णजलारिष्टसुरासवैः ॥ १५९ ॥
हृद्रोगं श्वयथुं गुल्मं प्लीहार्शोजठराणि च ।
विसूचिकामुदावर्तं वाताष्ठीलां च नाशयेत् ॥ १६० ॥

पिप्पल्यादिक्षार——पिप्पली, तिल्वक की छाल, हींग, सोंठ, गजपिप्पली, भिलावा, सहिजन की फली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, कटुकी, देवदारु, हल्दी, दारुहल्दी, सरल (चीड़), अतीस, वच, कुष्ठ, मोथा, तथा पांचों नमक; इन्हें एकत्र दही, घी, वसा (चर्बी) तैल और मज्जा से युक्त करके जलावे । एक हांडी में इसको डालकर मुख बन्द करके पुट दे देनी चाहिये । आहार के पश्चात इस क्षार में से एक कर्ष लेकर मदिरा, दही का पानी, गरम जल, अरिष्ट, सुरा वा आसव; इनमें से किसी एक अनुपान से पिलावे । यह क्षार हृद्रोग, शोथ, गुल्म, प्लीहा, अर्श, जठर (उदर), विसूचिका, उदावर्त, वातज अष्ठीला; इन्हें नष्ट करता है । आधुनिक मात्रा—१ मासा १५६-१६०

क्षारवटिका ।

क्षारं चाजकरीषाणां स्रुतं मूत्रैर्विपाचयेत् ।
कार्षिकं पिप्पलीमूलं पञ्चैव लवणानि च ॥ १६१ ॥
पिप्पलीं चित्रकं शुण्ठीं त्रिफलां त्रिवृतां वचाम् ।
द्वौ क्षारौ शातलां दन्तीं स्वर्णक्षीरीं विषाणिकाम् १६२
कोलप्रमाणां वटिकां पिबेत्सौवीरसंयुताम् ।
श्वयथावविपाके च प्रवृद्धे चोदकोदरे ॥ १६३ ॥

क्षारवटिका—बकरी की मैंगनियों के जलाने से उत्पन्न क्षार को छह गुने गोमूत्र में घोलकर २१ वार परिस्रुत करलें । इस क्षारद्रव को पकावें । जब गाढ़ा हो जाय तब पिप्पलीमूल, पांचों नमक अर्थात्

सैन्धव सौवर्चल बिड औद्भिद सामुद्र, पिप्पली, चित्रक, सोंठ, हरड़, बहेड़ा, आंवला, निसोत, वच, यवक्षार, सर्जिक्षार, शातला (चर्मकषा), दन्तीमूल, चोक, विषाणिका (आवर्तकी-मरोड़फली); प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष प्रमाण में डालें और अच्छीप्रकार आलोडन कर नीचे उतार लें। कोलप्रमाण की वटिकायें बनावें । अनुपान—सौवीर (जौ अथवा गेहूं की काञ्जिक) ।

यहां पर क्षार का प्रमाण नहीं दिया । अतः पूर्वाध्याय में कही गई क्षारगुडिका (२२६४ पृष्ठ) के विधान के अनुसार अनुपात से यहां क्षार का प्रमाण लेना चाहिये । अथवा चूर्ण से द्विगुण क्षार लेवे । गंगाधर चूर्ण के समान क्षार लेने को कहता है । आधुनिक मात्रा—१ मासा ।

इसे शोथ में अपचन में और प्रवृद्ध जलोदर में प्रयोग कराया जाता है ॥ १६१–१६३ ॥

भावितानां गवां मूत्रे षष्टिकानां तु तण्डुलैः ।
यवागूं पयसा सिद्धां प्रकामं भोजयेन्नरम् ॥ १६४ ॥
पिबेदिक्षुरसं चानु जठराणां निवृत्तये ।
स्वं स्वं स्थानं [1]व्रजन्त्येषां तथा पित्तकफानिलाः ॥ १६५ ॥

गोमूत्र में सातवार भावना दिये गये सांठी के चावलों की यवागू को यथाविधि दूध से सिद्ध करके रोगी को यथेष्ट खिलावे । यथेष्ट खाने के पश्चात् ईख का रस पीवे । इससे उदर निवृत्त हो जाते हैं । तथा इसप्रकार वात पित्त कफ अपने २ स्थान पर चले जाते हैं । यवागूसाधन की परिभाषा निम्न है—

'अन्नं पञ्चगुणे साध्यं विलेपी तु चतुर्गुणे ।
मण्डश्चतुर्दशगुणे यवागूः षड्गुणेऽम्भसि॥'

यहां जल के स्थान पर दूध लेना है ॥ १६४–१६५ ॥

---

१ 'स्वस्वस्थानं व्रजन्त्येवं' ग० ।

शां[1]ङ्खिनीसुकात्रिवृद्दन्तीचिरिबिल्वादिपल्लवैः ।
शाकं गाढपुरीषाय प्राग्भक्तं दापयेद्भिषक् ॥ १६६ ॥

वैद्य उदररोगी के पुरीष के कठिन होने पर शङ्खिनी (यवतिक्ता) सेहुण्ड निसोत दन्ती करञ्ज आदि के पत्तों के शाक भोजन से पूर्व खाने को दे ॥ १६६ ॥

ततोऽस्मै शिथिलीभूतवर्चोदोषाय शास्त्रवित् ।
दद्यान्मूत्रयुतं क्षीरं दोषशेषहरं शिवम्[2] ॥ १६७ ॥

इसप्रकार रोगी के पुरीषदोष के शिथिल होजाने पर अवशिष्ट दोष को हरने के लिये कल्याणकारक गोमूत्रयुक्त दूध का प्रयोग करावे १६७

पार्श्वशूलमु[3]पस्तम्भं हृद्ग्रहं चापि मारुतम् ।
जनयेद्यस्य तैलं स बिल्वक्षारेण ना पिबेत् ॥ १६८ ॥

जिस उदररोगी में वायु पार्श्वशूल, स्तम्भ, हृद्ग्रह (हृदय में पकड़ने की सी वेदना), को उत्पन्न करता है, वह बिल्वक्षार से यथाविधि साधित तैल पीवे । बिल्ववृक्ष की त्वचा को जला कर उत्पन्न क्षार से तैल को सिद्ध करना चाहिये । मात्रा—२ मासे ।

चक्रपाणि बिल्वफल के क्षार से तैल को सिद्ध करने का विधान करता है । क्षार को षड्गुण जल में घोलकर २१ वार परिस्रुत कर लेना चाहिये । तैल से चतुर्गुण क्षारजल लेकर तैलपाक किया जायगा॥१६८॥

तथाऽग्निमन्थस्योनाकपलाशतिलनालजैः ।
बलाकदल्यपामार्गक्षारैः प्रत्येकशः स्रुतैः ॥ १६९ ॥
तैलं पक्त्वा भिषग्दद्यादुदराणां प्रशान्तये ।
निवर्तते चोदरिणां हृद्ग्रहश्चानिलोद्भवः ॥ १७० ॥

अग्निमन्थ (अरणी), श्योनाक (अरलू), पलाश (ढाक), तिलों के नाल, बला, कदली (केला) वा अपामार्ग; प्रत्येक के क्षार के षड्-

---

१ 'त्रिवृताशङ्खिनीदन्तीसुधापूतिकपल्लवैः । शाकं पक्त्वा प्रयुञ्जीत प्राग्भक्तं गाढवर्चसि' ग० । २ 'परम्' ग० । ३ 'पार्श्वशूलमुरुस्तम्भं' ग० ।

गुण जल में परिस्रुत क्षारजलों से पूर्ववत् तैलपाक करके वे तैल उदरों की शान्ति के लिये प्रयोग कराने चाहियें । इनके प्रयोग से वातज हृद्ग्रह भी शान्त होजाता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में भी कहा है—

'वातकृतेषु पार्श्वशूलोपस्तम्भहृद्ग्रहेषु बिल्वक्षाराम्भसा तैलं पाचयेत् । स्योनाकाग्निमन्थतिलकुन्तल[1]कदल्यपामार्गान्यतमक्षारेण वा विपक्वं तैलम्' ॥ १६९-१७० ॥

कफे वातेन पित्तेन ताभ्यां वाऽप्यावृतेऽनिले ।
बलिनः स्वौषधयुतं तैलमेरण्डजं हितम् ॥ १७१ ॥

वात वा पित्त द्वारा कफ के आवृत होने पर अथवा पित्त वा कफ द्वारा वात के आच्छादित होने पर बली पुरुष को उस २ दोषनाशक औषधों से युक्त एरण्डतैल का पिलाना हितकर होता है । एरण्डतैल की मात्रा—६० बूंद से २॥ तोले तक है ॥ १७१ ॥

सुविरिक्तो नरो यस्तु पुनराध्मतीह[2] तम् ।
सुस्निग्धैरम्ललवणैर्निरूहैः समुपाचरेत् ॥ १७२ ॥

यथावत् विरेचन हो जाने पर जिस उदररोगी को पुनः आध्मान हो जाय उसका प्रभूत स्नेह और अम्ल एवं लवण द्रव्यों से युक्त निरूह बस्तियों द्वारा उपचार करना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'विरिक्तस्य चास्य सदाम्लानमुदरं साल्वणादिभिरुपनद्धं घनेन वाससा वेष्टयेत् । एवमेनमनवकाशो वायुर्न पुनराध्मापयति । तथापि पुनः सुविरिक्तस्याध्माने ऽम्ललवणान् सुस्निग्धान् निरूहान् दद्यात् ।

सोपस्तम्भोऽपि वा वायुराध्मापयति यं नरम् ।
तीक्ष्णैः सक्षारगोमूत्रैर्बस्तिभिस्तमुपाचरेत् ॥ १७३ ॥

---

१ कुन्तलः यवः ह्रीवेरं वा । २ 'पुनराध्मापितो भिषक्' ग० ।

अथवा जब वायु विष्टम्भ और आध्मान करता है तब तीक्ष्णवीर्य द्रव्य, क्षार और गोमूत्र से युक्त बस्तियों से उपचार करना चाहिये।

क्रियातीते[1] त्रिदोषे च जठरे चाप्रशाम्यति।
ज्ञातीन्ससुहृदो दारान्ब्राह्मणान्नृपतीन् गुरून्॥ १७४॥
अनुज्ञाप्य भिषक्कर्म विदध्यात्संशयं ब्रुवन्।
अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्॥ १७५॥

जब कोई उदर अन्य चिकित्साओं को लांघ जाय अर्थात् किसी प्रकार भी सिद्धि न होती हो तथा त्रिदोषज उदर शान्त न होता हो तब बन्धुबान्धवों मित्रों स्त्रियों ब्राह्मणों राजाओं वा गुरुओं को यह कहे--मैंने यथाविधि सब प्रकार से चिकित्सा की है, किन्तु किसी से भी कोई लाभ नहीं हुआ। अतएव रोगी के आरोग्यलाभ में संशय है। अब जो चिकित्सा अवशिष्ट है यदि वह न की जाय तब तो रोगी की निश्चय ही मृत्यु है, यदि चिकित्सा की जाय तो संशय होता है अर्थात् रोगी मर भी सकता है और बचने की भी सम्भावना हो सकती है। यदि आप लोगों की अनुमति हो तो मैं वह अवशिष्ट चिकित्सा भी करूं? वैद्य अनुमति पाने पर कर्म करे॥ १७४-१७५॥

एवमाख्याय तस्येदमनुज्ञातः सुहृद्गणैः।
पानभोजनसंयुक्तं विषमस्मै प्रदापयेत्॥ १७६॥

रोगी के मित्र बन्धुबान्धव वा आत्मीय जनों को ऐसा कहने पर यदि वे अनुमति दें तो पेय पदार्थ में अथवा भोजन में विष मिलाकर दे। सुश्रुत चि० अ० १४ में दूष्योदर की चिकित्सा लिखते हुए कहा है—

'शुद्धकोष्ठन्तु मद्येनाश्वमारकगुञ्जाकाकादनीमूलकल्कं पाययेत्। इक्षुकाण्डानि वा कृष्णसर्पेण दंशयित्वा भक्षयेत् वल्लीफलानि वा। मूलजं कन्दजं वा विषमासेवयेत्। तेनागदो भवत्यन्यं वा भावमापद्यते।'

---

1 'क्रियातिवृत्ते जठरे त्रिदोषे' पा०।

विषप्रयोग के लिये दंष्ट्राविष मूलजविष और कन्दज विष प्रयुक्त होते हैं। इसीप्रकार खनिज आदि विषों का भी प्रयोग हो सकता है। चक्रपाणि का तन्त्रान्तरसंवाद के कारण दंष्ट्राविष के प्रयोग में ही आग्रह है। तन्त्रान्तर में कहा है—

'श्वरोगे दूष्योदरे बद्धगुदे क्षतान्त्रजे जलोदरे दंष्ट्राविषस्यैव प्रयोगो वै विशोधने' ॥ १७६ ॥

यस्मिन्वा कुपितः सर्पो विसृजेद्धि फले विषम् ।
भक्षयेत्तदुदरिणं प्रविचार्य भिषग्वरः ॥ १७७ ॥

अथवा जिस फल में कुपित सर्प ने अपना विष छोड़ा हो वैद्य अच्छी प्रकार विचार करके उसे उदररोगी को खिलावे।

विष प्रयोग के समय वैद्य को चाहिये कि उस २ विष के नाशक कर्म के लिए सब सामग्री पूर्व तय्यार रखे। जिससे प्राणसङ्कट उपस्थित होने पर शीघ्र चिकित्सा हो सके ॥ १७७ ॥

तेनास्य दोषसङ्घातः स्थिरो लीनो विमार्गगः ।
विषेणाशुप्रमाथित्वादाशु भिन्नः प्रवर्तते ॥ १७८ ॥

विषप्रयोग से स्थिर लीन (धातुओं में छिपा हुआ) तथा उन्मार्ग में गया हुआ दोषसङ्घात (दोषसमूह वा दोष का जमघट) विष के शीघ्र प्रमाथी होने के कारण शीघ्र ही टूटकर बाहिर प्रवृत्त होता है। प्रमाथी का लक्षण यह है—

'निजवीर्येण यद्द्रव्यं स्रोतोभ्यो दोषसञ्चयम् ।
निरस्यति प्रमाथि स्यात्तद्यथा मरिचं वचा ॥' शार्ङ्गधर.

जो द्रव्य अपने वीर्य द्वारा स्रोतों में स्थित दोषसञ्चय को बाहिर निकाल फैंकता है उसे प्रमाथी कहते हैं ॥ १७८ ॥

विषेण हृतदोषं तं शीताम्बुपरिषेचितम् ।
पाययेत भिषग्दुग्धं यवागूं वा यथाबलम् ॥ १७९ ॥

विषप्रयोग द्वारा दोष के हर लेने पर वैद्य शीतल जल से परिषेचन

करके रोगी को उसके बल के अनुसार दूध वा यवागू पिलावे ॥ 'दुग्धयवागूं' पाठ होने पर दूध से साधित यवागू-यह अर्थ होगा। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'हृतदोषं च शीताम्बुपरिषिक्तं क्षीरयवागूं पाययेत्' ॥ १७९ ॥

त्रिवृन्मण्डूकपर्ण्योश्च शाकं सयववास्तुकम्।
भक्षयेत्कालशाकं वा स्वरसोदकसाधितम्[1] ॥ १८० ॥
निरम्ललवणस्नेहं स्विन्नास्विन्नमनन्नभुक्।
मासमेकं ततश्चैव तृषितः स्वरसं[2] पिबेत्[3] ॥ १८१ ॥

तदनन्तर अन्न न खाता हुआ रोगी त्रिवृता, मण्डूकपर्णी, यवशाक, वास्तुक (बथुआ) अथवा कालशाक; इनमें से किसी एक शाक को अपने रस और जल से सिद्ध करके खावे। परन्तु इसमें खटाई वा नमक नहीं डालना चाहिये, ना ही इसमें कोई घी तैल आदि स्नेह हो। इन्हें उबाल कर वा बिना उबाले (चटनी के सदृश) भी प्रयोग कराया जा सकता है। और जब प्यास लगे तब इन्हीं का ही स्वरस पीवे। इसप्रकार एक मास पर्यन्त शाकवृत्ति रहे ॥ १८०-१८१ ॥

एवं विनिर्हृते दोषे शाकैर्मासात्परं ततः।
दुर्बलाय प्रयुञ्जीत प्राणभृत्कारभं पयः ॥ १८२ ॥

इसप्रकार एक मास तक शाकों द्वारा दोष के निकल जाने पर तदनन्तर दुर्बलरोगी को ऊंटनी का दूध प्रयोग करावे। यह प्राण-पोषक होता। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १७ में कहा है—

'ततस्त्रिवृद्वास्तुकमण्डूकपर्णीकालशाकयवशाकानामन्यतमं स्वरस-

---

१ 'सुरसोदक०' ग०। २ 'सुरसं' ग०। ३ गङ्गाधरस्त्वेवं व्याचष्टे—तत्र शाककामः त्रिवृताशाकं मण्डूकपर्ण्याः दन्त्याः शाकं यवस्य शाकं वास्तुकशाकं कालशाकं वा सुरसस्य पर्णासस्य क्वाथसाधितं निरम्ललवणस्नेहमम्ललवणतैलघृतादिस्नेहसंस्कारहीनं स्विन्नास्विन्नं स्वल्पस्विन्नं सम्यक्स्विन्नं वाऽनन्नभुक् पञ्चगुणजलसाध्यं तण्डुलकृतमन्नमोदनं न भुक्त्वा यवागूमात्रं भुञ्जानो मासमेकं भक्षयेत्। ततश्चानन्तरं तृषितः स उदरी सुरसं पर्णासरसं पिबेत्।

साधितमनम्ललवणस्नेहं खिन्नास्त्रिन्नमनन्नभुङ्मासमेकमश्नीयात् । तत्स्वरसमेव च तृषितः पिबेत् । ततः शाकैर्निर्हृते दोषे परतो दुर्बलाय कारभं क्षीरं प्रयुञ्जीत ॥ १८२ ॥

इदं तु शल्यहर्तॄणां कर्म स्याद्दृष्टकर्मणाम् ।
वामं कुक्षिं मापयित्वा नाभ्यधश्चतुरङ्गुलम् ॥ १८३ ॥
मात्रायुक्तेन शस्त्रेण पाटयेन्मतिमान् भिषक् ।
विपाट्यान्त्रं ततः पश्चाद्वीक्ष्य बद्धक्षतान्त्रयोः ॥ १८४ ॥
सर्पिषाऽभ्यज्य केशादीनवमृज्य विमोक्षयेत् ।
मूर्च्छनाद्यच्च संमूढमन्त्रं तच्च विमोक्षयेत् ॥ १८५ ॥
छिद्राण्यन्त्रस्य तु स्थूलैर्दंशयित्वा पिपीलिकैः ।
बहुशः संगृहीतानि ज्ञात्वा छित्वा पिपीलिकान् ॥ १८६ ॥
प्रतियोगैः प्रवेश्यान्त्रं प्रेयैः सीव्येद् व्रणं ततः ।

बद्धोदर वा क्षतोदर मे शस्त्रकर्म—दृष्टकर्मा शल्यहर्ता (Surgeon) इसप्रकार शस्त्रकर्म करते हैं—

नाभि से नीचे वामपार्श्व की ओर कुक्षि को चार अंगुल छोड़ कर बुद्धिमान् वैद्य मात्रायुक्त शस्त्र से चीरा दे । तदनन्तर आंत के कुछ भाग को निकाल कर वहां चीरा दे । तदनन्तर अच्छी प्रकार देख कर घी चुपड़ कर बद्धान्त्र व क्षतान्त्र के कारणभूत केश कण्टक आदि को निकाल डाले । और मूर्च्छन (Intussusception वा strangulation) के कारण वक्रीभूत आंतों को भी छुड़ा दे । अब आंत के छिद्रों पर स्थूल पिपीलिकाओं (मकौड़ों) से दंशन करावे । मकौड़ों से दंशन इस प्रकार करवाना चाहिये कि छिद्र वा चीरे के दोनों सिरे आपस में जुड़ जांय । इसके लिये दोनों सिरों को वैद्य जोड़ रखे और जोड़ पर दंशन करावे । इस प्रकार थोड़ी २ दूर पर दंशन करा दें । जब बहुत से मकौड़ों के लगाने से छिद्र मिल जाय तब कैंची से मकौड़ों को ऊपर से कतर डाले । सिर से नीचे का भाग ही कतरना चाहिये । इसप्रकार वहां सिलाई हो जाती

१ 'यच्चावमोक्षयेत् ग० ।

है। इसके साथ ही दंशन के कारण रक्त वा रक्तरस का संक्रमण होता है जिससे छिद्र वा व्रण शीघ्र भर जाता है। इसके साथ ही एक और आवश्यक लाभ यह भी है कि उदर के व्रण को खोलकर पुनः टांके नहीं काटने पड़ते। ये स्वयं ही अन्दर विलीन हो जाते हैं। आंतों की इसप्रकार की सिलाई के पश्चात् जैसे निकाला था उससे विपरीत योग अर्थात् दबाव आदि द्वारा प्रविष्ट और यथास्थान सन्निविष्ट करके उदर के व्रण को सुई से सी डाले। सुश्रुत चि० अ० १४ में कहा है—

'बद्धगुदे परिस्राविणि च स्निग्धस्विन्नस्याभ्यक्तस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या उदरं पाटयित्वा चतुरङ्गुलप्रमाणमन्त्राणि निष्कृष्य निरीक्ष्य बद्धगुदस्यान्त्रप्रतिरोधकरमश्मानं वालं वापोह्य मलजातं वा ततो मधुसर्पिर्भ्यामभ्यज्यान्त्राणि यथास्थानं स्थापयित्वा बाह्यं व्रणमुदरस्य सीव्येत्।'

'परिस्राविण्यप्येवमेव शल्यमुद्धृत्यान्त्रस्रावान् संशोध्य तच्छिद्रमान्त्रं समाधाय कृष्णपिपीलिकाभिर्दंशयेत्। दष्टे च तासां कायानपहरेन्न शिरांसि। ततः पूर्ववत् सीव्येत्। सन्धानञ्च यथोक्तं कारयेत्। यष्टिमधुकमिश्रया च कृष्णमृदाऽवलिप्य बन्धेनोपचरेत्। ततो निवातमागारं प्रवेश्याचारिकमुपदिशेद्वासयेच्चैनं तैलद्रोण्यां सर्पिर्द्रोण्यां वा पयोवृत्तिमिति'॥ १८३–१८६॥

तथा जातोदकं सर्वमुदरं व्याधयेद्भिषक्॥ १८७॥
वामपार्श्वे[1] त्वधो नाभेर्नाडीं दत्त्वा च गालयेत्।
निःस्राव्य च विमृद्नीयात्[2]द्वेष्टयेद्वाससोदरम्॥ १८८॥

जलोदर में शस्त्रकर्म (operation)—वैद्य को चाहिये कि सब जातोदक उदरों में (जिन उदरों में जल उत्पन्न हो गया है—जलोदर) नाभि से नीचे वामपार्श्व में व्यधन करे और नाडी (Canula) लगाकर जल निकाल दे। सम्पूर्ण जलस्राव कराने के पश्चात् हाथ से मर्दन करके

१ 'वामभागे' ग०। २ 'विमृद्यैत०' पा०।

(जिस से जल यदि कुछ अवशिष्ट हो तो निकल जाय) यथावत् व्रण चिकित्सा करे। और उदर पर कसकर चौड़ा वस्त्र लपेट दे। सुश्रुत चि० अ० १४ में—

'उदकोदरिणस्तु वातहरतैलाभ्यक्तस्योष्णोदकस्विन्नस्य स्थितस्याप्तैः सुपरिगृहीतस्याकक्षात्परिवेष्टितस्याधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेणाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येत् । तत्र त्रप्वादीनामन्यतमस्य नाडीं द्विद्वारां पक्षनाडीं वा संयोज्य दोषोदकमवसिञ्चेत् । ततो नाडीमपहृत्य तैललवणेनाभ्यज्य व्रणं बन्धेनोपचरेत् । न चैकस्मिन्नेव दिवसे सर्वं दोषोदकमपहरेत् । सहसा ह्यपहृते तृष्णाज्वराङ्गमर्दातिसारश्वासपाददाहा उत्पद्येरन्नापूर्यते वा भृशतरमुदरमसञ्जातप्राणस्य तस्मात् तृतीयचतुर्थपञ्चमषष्ठाष्टमदशमद्वादशषोडशरात्राणामन्यतममन्तरीकृत्य दोषोदकमल्पाल्पमवसिञ्चेत् । निःस्रुते च दोषे गाढतरमाविककौषेयचर्मणामन्यतमेन परिवेष्टयेदुदरम् । तथा नाध्मापयति वायुः' ॥

आजकल नाभि और भगास्थि के ऊपर के रोममय प्रदेश (Pubes) के मध्य में मध्यरेखा पर यह शस्त्रकर्म किया जाता है। शस्त्रकर्म से पूर्व रोगी का मूत्राशय मूत्र से खाली होना चाहिये। रोगी को शय्या के किनारे पीठ के बल लेटा दिया जाता है और कन्धों के नीचे सिरहाना आदि देकर उसे कुछ ऊंचा कर दिया जाता है। रोगी के नीचे मोमजामा बिछा देते हैं, जिस से बिछौना गीला न हो। कुछ एक गहरे पात्र जिन में दोषोदक को एकत्र किया जा सके पहिले से ही वहां तयार रखते हैं। अब जहां चीरा देना है वा व्यधन करना है उस स्थल को संज्ञाशून्य किया जाता है। जिसके लिये २% नॉवोकेन (Novocain) का त्वचा और उससे नीचे के धात्वंशों (Tissues) में यथाविधान इञ्जेक्शन करते हैं। संज्ञारहित होने पर त्वचा और त्वचाधःस्थित धात्वंशों (Subcutaneous Tissues) में तिहाई इंच चीरा दिया जाता है। इस चीरे में से ट्रोकार और केन्युला (Trocar and Canula) को उदरकला की गुहा जहां जल भरा होता है (Peritoneal cavity) घुसेड़ देते हैं। ट्रोकार (व्रीहिमुख) और केन्युला (नाड़ी) ये दोनों

इकट्ठे ही होते हैं । जब यह जलगुहा में प्रविष्ट हो जाते हैं तब ट्रोकार को निकाल लिया जाता है और कैन्युला (नाडी) को वहीं लगा रहने देते हैं इससे वह दोषोदक बाहिर निकलता है—जिसे पात्र में गिरने देते है । जब सारा दोषोदक बाहिर निकल जाता है तब कैन्युला को बाहिर निकाल कर व्रण पर घोड़े के बाल का टांका लगा देते हैं । शेष चिकित्सा व्रणवत् होती है । व्रणबन्धन करके एक फ़लालैन की लम्बी और चौड़ी पट्टी कसकर उदर के चारों ओर लपेट दी जाती है ।

कुछ वर्ष पहिले कुछ बड़े प्रमाण का ट्रोकार प्रयुक्त होता था । पर वह अनावश्यक है । क्योंकि उससे सहसा जल निकल जाता है और रोगी को मूर्च्छा आदि होजाते हैं । व्रण भी बड़ा होता है जिससे रोहण में भी देर होती है । अण्डवृद्धि के व्यधन में जो ट्रोकार प्रयुक्त होता है वही पर्याप्त है ॥ १८७–१८८ ॥

तथा बस्तिविरेकाद्यैर्म्लानं सर्वं च वेष्टयेत् ।

तथा सभी उदरों में जब पेट बस्ति और विरेचन आदि से सिकुड़ जाय तब वस्त्र लपेट देना चाहिये ॥

निःस्रुते लङ्घितः पेयामस्नेहलवणां पिबेत् ॥ १८९ ॥

अतः परं च षण्मासान् क्षीरवृत्तिर्भवेन्नरः ।
त्रीन् मासान् पयसा पेयां पिबेत्त्रींश्चापि भोजयेत् ॥१९०॥
श्यामाकं कोरदूषं वा पयसाऽलवणं नरः ।
संवत्सरेणैव जयेत्प्राप्तं चैव जलोदरम् ॥ १९१ ॥

जल का स्राव होजाने पर लङ्घित (जिसने लङ्घन किया है) रोगी स्नेह (तैल घी आदि) और नमक से रहित पेया पीवे । इसके पश्चात् ६ मास तक केवल दूध पर ही रहे । तदनन्तर तीन मास तक दूध से सिद्ध पेया पीवे । पश्चात् वैद्य तीन मास तक नमक से रहित श्यामाक (सांवा धान) वा कोरदूष (कोद्रव, कोदों) के ओदन को दूध के साथ

खाने को दे । इस प्रकार जातोदक जलोदर एक वर्ष में ही जीता जाता है । सुश्रुत चि० अ० १४ में भी शस्त्रकर्म के पश्चात् पथ्य कहा है—

' षण्मासांश्च पयसा भोजयेज्जाङ्गलरसेन वा । ततस्त्रीन् मासानर्द्धोदकेन पयसा फलाम्लेन जाङ्गलरसेन वावशिष्टं मासत्रयमन्नं लघु हितं वा सेवेत । एवं सम्वत्सरेणागदो भवति ' ॥ १८९-१९१ ॥

प्रयोगाणां च सर्वेषामनु क्षीरं प्रयोजयेत् ।
दोषानुबन्धरक्षार्थं बलस्थैर्यार्थमेव च ॥ १९२ ॥

उदर में दूध की व्यवस्था—दोषों के अनुबन्ध से बचाने के लिये तथा बल की स्थिरता के लिये सब प्रयोगों के पश्चात् दूध का प्रयोग कराना चाहिये ॥ १९२ ॥

प्रयोगापचिताङ्गानां हितं ह्युदरिणां पयः ।
सर्वधातुक्षयार्तानां देवानाममृतं यथा ॥ १९३ ॥

प्रयोगों से क्षीणाङ्ग तथा सब धातुओं के क्षय से पीड़ित उदररोगियों के लिये दूध हितकर है जैसे देवताओं को अमृत । सुश्रुत चि० अ० १४ में कहा है—

' आस्थापने चैव विरेचने च पाने तथाहारविधिक्रियासु ।
सर्वोदरिभ्यः कुशलैः प्रयोज्यं क्षीरं शृतं जाङ्गलजो रसो वा ' ॥

तत्र श्लोकौ ।

हेतुं प्राग्रूपमष्टानां लिङ्गं व्याससमासतः ।
उपद्रवान् गरीयस्त्वं साध्यासाध्यत्वमेव च ॥ १९४ ॥
जाताजाताम्बुलिङ्गानि चिकित्सां चोक्तवानृषिः ।
समासव्यासनिर्देशैरुदराणां चिकित्सिते ॥ १९५ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते उदरचिकित्सितं
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ।

अध्यायोपसंहार—आठों उदरों का संक्षेप और विस्तार से हेतु, पूर्वरूप, लक्षण, उपद्रव, अपेक्षाकृत प्रधानता वा कष्टसाध्यता, साध्यता और असाध्यता, जातोदक एवं अजातोदक के लक्षण, संक्षेप और विस्तार से उदर चिकित्सा का निर्देश; ये सब ऋषि आत्रेय ने उदरचिकित्सिताध्याय में कहा है ॥ १९४–१९५ ॥

इति उदरचिकित्सा।

चतुर्दशोऽध्यायः।

अथार्शश्चिकित्सितं व्याख्यास्यामः।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः॥ १ ॥

अब हम अर्शचिकित्सित की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

आसीनं मुनिमव्यग्रं कृतजप्यं कृतक्षणम्।
पृष्टवानर्शसां मुक्तिमग्निवेशः पुनर्वसुम् ॥ २ ॥
प्रकोपहेतुं संस्थानं स्थानं लिङ्गं चिकित्सितम्।
साध्यासाध्यविभागं च तस्मै तन्मुनिरब्रवीत् ॥ ३ ॥

एक समय जब पुनर्वसु किसी कार्य में व्यग्र नहीं थे, जप पूजा आदि नित्य नियम करचुके थे—अवकाश का समय था और अपने आसन पर बैठे थे अवसर पाकर अग्निवेश ने अर्शों (बवासीर) की मुक्ति अर्थात् अर्शों से छुटकारा पाने के विषय में पूछा। और उनके प्रकोप का हेतु, संस्थान (आकार), उत्पत्तिस्थान, लिङ्ग (लक्षण), चिकित्सा, उनमें से कौन साध्य हैं, कौन असाध्य हैं—ये सब भी पूछा। पूछने पर मुनि पुनर्वसु ने उक्त सब प्रश्नों का उत्तर दिया।

यद्यपि यहां पर अर्श के संस्थान (आकार) की व्याख्या का अन्तर्भाव लिङ्ग में ही हो सकता था पर उसके अवश्य जानने और बहुत विस्तार से आगे बताये जाने के कारण पृथक् पढ़ दिया है।

'मुक्ति' के स्थान पर 'मुक्तं' ऐसा भी कहीं पढ़ा जाता है, वहां उसका अर्थ जीवन्मुक्त होगा—जो भगवान् पुनर्वसु का विशेषण है॥२-३॥

इह खल्वग्निवेश ! द्विविधान्यर्शांसि सहजानि कानिचित् कानिचिज्जातस्योत्तरकालजानि । तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम् । तत्र द्विविधो बीजोपतप्तौ हेतुर्मातापित्रोरपचारः पूर्वकृतं च कर्म; तथाऽन्येषामपि सहजानां विकाराणाम् । तत्र सहजानि सहजातानि शरीरेण अर्शांसीत्यधिमांसविकाराः ॥ ४ ॥

हे अग्निवेश ! दो प्रकार के अर्श हैं। १--कुछ सहज अर्थात् जन्म-काल से उत्पन्न और २–कुछ जन्म के पश्चात्काल में उत्पन्न होने वाले ।

इनमें से सहज अर्श का हेतु वह शुक्रशोणित रूप बीज है जिसका गुदवली का उत्पादक भाग दुष्ट हो । बीज के उस गुदवली के उत्पादक भाग की दुष्टि में दो प्रकार का हेतु हो सकता है १--माता पिता का अपचार--आहारविहार का उचितरूप में न करना । २—पूर्वकृत कर्म । अन्य भी जितने सहज रोग हैं उनमें भी बीज दुष्टि में यही दो हेतु हैं। सहज अर्श में माता पिता के अपचार वा दैव के कारण गुदवली का उत्पादक बीजावयव ही दुष्ट होता है ।

सहज विकार उन्हें कहते हैं जो शरीर के साथ ही उत्पन्न होते हैं । अर्श अधिमांस विकार हैं—मांस में अधिष्ठित होकर मांसवृद्धिरूप उत्पन्न होते हैं । अर्श और अधिमांस ये पर्याय भी है ।

यह माना जाता है कि अर्श का अंकुर शिराओं के फूलने से बनता है । इन शिराओं को ऊर्ध्वार्शोरक्तवाहिनियां (Superior Hæmorrhoidal vessels) तथा निम्नार्शोरक्तवाहिनियां (Inferior Hæmorrhoidal vessels) कहा जाता है । ऊर्ध्वार्शोरक्तवाहिनियां अन्तःअर्श को उत्पन्न करती है और निम्नार्शोरक्तवाहिनियां

बाह्य अर्श का हेतु होती हैं। अन्दर के अर्श का प्रत्येक अङ्कुर एक शुद्धरक्त-वाहिनी(जिसे आजकल धमनी नाम से व्यवहृत करते हैं) का प्रान्त अशुद्ध-रक्तवाहिनियों (जिन्हें आजकल शिरा नाम से कहा जाता है)के गुच्छे से घिरा हुआ तथा संयोजक धात्वंशुओं वा तन्तुओं (Connective tissues)से बंधा रहता है। इस सारे पर अन्तःकला का आवरण चढ़ा होता है। बाह्यार्शों में मध्य में एक फूली हुई शिरा होती है जिसके चारों ओर त्वचाधःस्थित तन्तु (Subcutaneous tissues) रहते हैं। ये अर्शोऽङ्कुर त्वचा से ढके रहते हैं ॥ ४ ॥

सर्वेषां चार्शसां क्षेत्रं—गुदस्यार्धपञ्चमाङ्गुलेऽवकाशे त्रिभागान्तरास्तिस्रो गुदवलयः, क्षेत्रमिति देशः; केचित्तु भूयांसमेव देशमुपदिशन्त्यर्शसां शिश्नमपत्यपथं गलमुखनासिकाकर्णाक्षिवर्त्मानि त्वक् च। तदस्त्यधिमांसदेशतया, गुदवलिजानां त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन् । सर्वेषां चार्शसामधिष्ठानं मेदो मांसं त्वक् च॥ ५ ॥

सब अर्शों का क्षेत्र—गुदा के ४॥ अङ्गुल अवकाश में तीन भागों के अन्तर से तीन गुदवलियां (Sphincter Ani) हैं। प्रत्येक वली १॥ अङ्गुल होती है। ये वस्तुतः मांसपेशियां हैं और गुदाछिद्र का संकोच करती हैं। सब से नीचे रोमान्त स्थान से १॥ यव ऊपर गुदोष्ठ है। गुदोष्ठ से एक अङ्गुल ऊपर १॥ अंगुल स्थान में प्रथम गुदवलि है। पुनः १॥ अङ्गुल स्थान में दूसरी और उससे ऊपर १॥ अङ्गुल स्थान में तीसरी गुदावलि है । सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

'तत्र स्थूलान्त्रप्रतिबद्धमर्द्धपञ्चाङ्गुलं गुदमाहुः । तस्मिन् वलयस्तिस्रोऽध्यर्द्धाङ्गुलान्तरभूताः प्रवाहणी विसर्जनी संवरणी चेति । चतुरङ्गुलायताः सर्वास्तिर्यगेकाङ्गुलोच्छ्रिताः ।'

'शङ्खावर्त्तनिभाश्चापि उपर्युपरि संस्थिताः ।
गजतालुनिभाश्चापि वर्णतः सम्प्रकीर्तिताः ॥
रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धो गुदौष्ठः परिकीर्तितः ।
प्रथमा तु गुदौष्ठादङ्गुलमात्रे ।'

अर्श का क्षेत्र कहने का अभिप्राय अर्श के उत्पन्न होने के स्थान से है । कई तो अर्श का स्थान इससे अधिक बताते हैं । यथा शिश्न (मूत्रेन्द्रिय), अपत्यपथ (योनि), गला, मुख, नाक, कान, नेत्रों के वर्त्म और त्वचा । यह निर्देश सुश्रुत आदि की ओर है । वहां निदानस्थान द्वितीय अध्याय में इन सब अर्शों का वर्णन है[1] ।

वे इस तन्त्र में अधिमांस का स्थान कहे गये हैं । केवल गुदवली में उत्पन्न होने वाले मांसाङ्कुरों को ही इस तन्त्र में अर्श नाम से कहा है ।

सब अर्शों का अधिष्ठान (दूष्य) मेद मांस और त्वचा है ॥

सुश्रुत के उसी अध्याय में अर्श की सामान्य सम्प्राप्ति भी कही है । वह इसप्रकार है—

'तत्रानात्मवतां यथोक्तैः प्रकोपणैर्विरुद्धाध्यशनस्त्रीप्रसङ्गोत्कटुकासनपृष्ठयानवेगविधारणादिभिर्विशेषैः प्रकुपिता दोषा एकशो द्विशः समस्ताः

---

१ 'प्रकुपितास्तु दोषा मेढ्रमभिप्रपन्ना मांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं जनयन्ति । ततः कण्डूयनात् क्षतं समुपजायते । तस्मिंश्च क्षते दुष्टमांसजाः प्ररोहाः पिच्छिलरुधिरस्राविणो जायन्ते कूर्चकिनोऽभ्यन्तरमुपरिष्टाद्वा । ते तु शेफो विनाशयन्त्युपघ्नन्ति च पुंस्त्वम् । योनिमभिप्रपन्नास्तु सुकुमारान् पिच्छिलरुधिरस्राविणश्छत्राकारान् करीरान् जनयन्ति । त एवोर्ध्वमागताः श्रोत्राक्षिघ्राणवदनेष्वर्शांस्युपनिवर्तयन्ति । तत्र कर्णजेषु बाधिर्यं शूलं पूतिकर्णता च । नेत्रजेषु वर्त्मावरोधो वेदनास्रावो दर्शननाशश्च । घ्राणजेषु प्रतिश्यायोऽतिमात्रं क्षवथुः कृच्छ्रोच्छ्वासता पूतिनस्यं सानुनासिकवाक्यत्वं शिरोदुःखञ्च । वक्त्रजेषु कण्ठौष्ठतालूनामन्यतमस्मिंस्तैर्गद्गदवाक्यता रसाज्ञानं मुखरोगाश्च भवन्ति । व्यानस्तु प्रकुपितः श्लेष्माणं परिगृह्य बहिः स्थिराणि कीलवदर्शांसि निर्वर्तयन्ति तानि चर्मकीलान्यार्शांसीत्याचक्षते ।

शोणितसहिता वा यथोक्तं प्रसृता प्रधानधमनीरनुप्रपद्याधोगत्वा गुद-मागम्य प्रदूष्य बलीमांसप्ररोहान् जनयति विशेषतो मन्दाग्नेः। तथा तृणकाष्ठोपललोष्टवस्त्रादिसङ्घर्षणादभीक्ष्णं शीतोदकसंस्पर्शनाद्वा कन्दान् परिवृद्धानुत्पादयन्ति तान्यर्शांसीत्याचक्षते ॥ ५ ॥

तत्र सहजान्यर्शांसि कानिचिदणूनि कानिचिन्महान्ति कानिचिद्दीर्घाणि कानिचिद्ध्रस्वानि कानिचिद्वृत्तानि कानिचिद्विषमविसृतानि कानिचिदन्तःकुटिलानि कानिचिद्बहिःकुटिलानि कानिचिज्जटिलानि कानिचिदन्तर्मुखानि यथास्वं दोषानुबन्धवर्णानि ॥ ६ ॥

सहज अर्शों का आकार—सहज अर्शों में कोई अणु (अत्यन्त क्षुद्र), कोई महान्, कोई लम्बे, कोई छोटे, कोई गोल, कोई विषम रूप से फैले हुए, कोई अन्दर से कुटिल, कोई बाहिर से कुटिल (वक्र), कोई जटिल (बहुत से सिराजाल वा संयोजक तन्तु आदि रूप जटाओं से युक्त), कोई अन्तर्मुख (इनका मुख बाहिर की ओर नहीं होता) होते हैं। इनका वर्ण अनुबन्धरूप में स्थित दोष के अनुसार होता है। अर्थात् यद्यपि सब अर्श त्रिदोषज होते हैं तथापि जिस अर्श में जो दोष अनुबन्ध रूप में होता है वा अधिक होता है उसी के अनुरूप उसका वर्ण होता है। यथा—वायु से अरुणवर्ण पित्त से पीत नीलवर्ण, कफ से श्वेत वर्ण ॥ ६ ॥

तैरुपहतो जन्मप्रभृति भवत्यतिकृशो विवर्णः क्षामो दीनः प्रचुरविबद्धवातमूत्रपुरीषः शार्करी चाश्मरी वा तथाऽनियतविबद्धमुक्तपक्वामशुष्कभिन्नवर्चा अन्तरान्तरा श्वेतपाण्डुहरितपीतरक्तारुणतनुसान्द्रपिच्छिलकुणपगन्धामपुरीषोपवेशी नाभिवस्तिवङ्क्षणोद्देशे प्रचुरपरिकर्तिकान्वितः सगुदशूलप्रवाहिकापरिहर्ष-प्रमोहप्रसक्तविष्टम्भान्त्रकूजोदावर्तहृदयेन्द्रियोपलेपः प्रचुरविबद्ध-

---

१ 'परिहर्षप्रमेह०' ग०।

तिक्ताम्लोद्गारः सुदुर्बलो सुदुर्बलाग्निरल्पशुक्रः क्रोधनो दुःखोपचारशीलः कासश्वासतमकतृष्णाहृल्लासच्छर्दिररोचकाविपाकपीनसक्षवथुपरीतस्तैमिरिकः शिरःशूली क्षामभिन्नसन्नसक्तजर्जरस्वरः कर्णरोगी शूनपाणिपादवदनाक्षिकूटः सज्वरः साङ्गमर्दः सर्वपर्वास्थिशूली चान्तरान्तरा पार्श्वकुक्षिबस्तिहृदयपृष्ठत्रिकग्रहोपतप्तः प्रध्यानपरः परमालसश्चेति ॥ ७ ॥

इन सहज अर्शों से पीड़ित पुरुष जन्म से लेकर ही अत्यन्त कृश विवर्ण क्षीण एवं दीन होता है, वायु मूत्र और पुरीष (मल) अतिमात्रा में होते हैं परन्तु सम्यक्तया प्रवृत्त नहीं होते। अथवा उसे शर्करा (मूत्र में रेत आना) वा अश्मरी (पथरी) रोग होता है। कभी मल बन्ध (कब्ज) होता है कभी मल खुलकर आ जाता है। कभी मल पका हुआ आता है कभी कच्चा ही आता है। कभी सूखा हुआ मल आता है और कभी दस्त ही होता है। वह व्यक्ति बीच २ में श्वेत पाण्डु हरा पीला लाल अरुण (ईंट का सा) पतला गाढा पिच्छिल (चिपचिपा वा पिच्छायुक्त) कुणपगन्ध (मुर्दे की सी गन्ध वाला) और कच्चा मल त्याग करता है। नाभि बस्ति तथा वंक्षण देश में अत्यधिक परिकर्तिका (कर्तनवत् पीड़ा वा Colic) होती है। गुदा में शूल, प्रवाहिका (dysentery), परिहर्ष (लोमाञ्च), प्रमोह (मूर्च्छा), निरन्तर विष्टम्भ (आनाह), आन्त्रकूजन (आंतों में वायु के कारण गुड़गुड़ आदि शब्द होना), उदावर्त, हृदय का उपलेप (मल वा कफ आदि से लिप्त सा होना), इन्द्रियोपलेप(इन्द्रियों का मललिप्त होना) होता है। डकार भी बहुत और रुके हुए से तथा तिक्त वा अम्लरस के होते हैं। व्यक्ति अत्यन्त दुर्बल होता है। उसकी अग्नि भी अत्यन्त दुर्बल होती है। वीर्य अल्प होता है। क्रोधी होता है। उसका शील ऐसा होता है जिससे उपचार बड़ी कठिनता

१ 'सशूलपाणि०' पा०।

से होता है अथवा दुःखी जनों का सा स्वभाव होता है । कास, श्वास, तमक (दमा), तृष्णा, हृल्लास (जी मिचलाना), कै, अरुचि, अपचन, पीनस (प्रतिश्याय), क्षवथु (छींक), तिमिररोग, शिरोवेदना; इनसे आक्रान्त रहता है । स्वर क्षीण भिन्न (टूटे हुए कांस्य पात्र के सदृश) सन्न (अतिमन्द वा डूबा हुआ) सक्त (रुकरुक कर–तुतलाता हुआ) तथा जर्जर (जैसे कोई कीट आदि से भक्षित पुरानी लकड़ी आदि का शब्द होता है) होता है । इसे कर्णरोग भी रह सकता है । हाथ पैर मुख तथा अक्षिकूट में शोथ, ज्वर अङ्गमर्द (अङ्गों में अकड़ान सी वेदना होनी) तथा सब पोरों अस्थियों में शूल रहता है । बीच बीच में अर्थात् कभी कभी पार्श्व कुक्षि बस्ति हृदय पीठ और त्रिक देशमें ग्रह अर्थात् वात के कारण पकड़े जाने की सी वेदना होती है । वह व्यक्ति सर्वदा ही किसी ध्यान–चिन्ता में पड़ा रहता है और अत्यन्त आलसी होता है ॥ ७ ॥

जन्मप्रभृत्यस्य गुदजैरावृतो मार्गोपरोधाद्वायुरपानः प्रत्यारोहन्समानव्यानप्राणोदानान्पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, ते प्रकुपिताः पञ्च वाताः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त एतान् विकारानुपजनयन्तीत्युक्तानि सहजान्यर्शांसि ॥ ८ ॥

जन्म से ही इस पुरुष के अर्श द्वारा मार्ग के रुके होने से आच्छादित हुआ अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर समान व्यान प्राण उदान इन वायुओं को तथा पित्त और कफ को प्रकुपित करता है । वे प्रकुपित हुए पांचों वायु और पित्त कफ अर्श के रोगी को आक्रान्त करके इन उक्त विकारों को उत्पन्न करते हैं । ये सहज अर्श कह दिये हैं । सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

' सहजानि दुष्टशोणितशुक्रनिमित्तानि । तेषां दोषत एव प्रसाधनं कर्तव्यम् । विशेषतश्चात्र दुर्दर्शनानि परुषाणि पाण्डूनि दारुणान्यन्तर्मुखाणि । तैरुपद्रुतः कृशोऽल्पभुक् शिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः

क्षामस्वरः क्रोधेनाऽल्पाग्निर्घ्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान् सततमन्त्रकूजाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते ॥' ८ ॥

अत ऊर्ध्वं जातस्योत्तरकालजानि व्याख्यास्यामः ॥ ९ ॥

अब हम जात (उत्पन्न हुए) पुरुष के उत्तरकाल (पश्चात्काल) में उत्पन्न हुए अर्शों की व्याख्या करेंगे ॥ ९ ॥

गुरुमधुरशीताभिष्यन्दिविदाहिविरुद्धाजीर्णप्रमिताशनासात्म्यभोजनाद्गव्यमात्स्यवाराहमाहिषाजाविकपिशितभक्षणात्कृशशुष्कपूतिमांसपैष्टिकपरमान्नक्षीरमोदकदधितिलगुडविकृतिसेवनाच्च माषयूषेक्षुरसपिण्याकपिण्डालुकशुष्कशाकशुक्तलशुनकिलाटतक्रपिण्डकबिसमृणालशालूकक्रौञ्चादनकशेरुकशृङ्गाटकतरूटविरूढनवधान्याममूलकोपयोगाद्गुरुफलशाकरागहरितकमर्दकवसाशिरस्पदपर्युषितपूतिशीतसंकीर्णान्नाभ्यवहरणान्मन्दकातिक्रान्तमद्यपानाद्व्यापन्नगुरुसलिलपानादतिस्नेहपानादसंशोधनाद्वस्तिकर्मविभ्रमादव्यवायाद्दिवास्वप्नात्सुखशयनासनोपसेवनाच्चोपहताग्नेर्मलोपचयो भवत्यतिमात्रं, तथोत्कटुकविषमकठिनासनसेवनादुद्भ्रान्तयानोष्ट्रयानादतिव्यवायाद्वस्तिनेत्रासम्यक्प्रणिधानाद्गुदक्षणनादभीक्ष्णं शीताम्बुसंस्पर्शाच्चेललोष्टतृणादिघर्षणात्प्रततनिर्वाहणाद्वातमूत्रपुरीषवेगोदीरणात्समुदीर्णवेगविनिग्रहात्स्त्रीणां चामगर्भभ्रंशाद्गर्भोत्पीडनाद्बहुविषमप्रसूतिभिश्च प्रकुपितो वायुरपानस्तं मलमुपचितमधोगतमासाद्य गुदवलिष्वाधत्ते, ततस्तास्वर्शांसि प्रादुर्भवन्ति ॥ १० ॥

हेतु और सम्प्राप्ति—गुरु (भारी) मधुर शीतल अभिष्यन्दी विदाही (विदाहोत्पादक) तथा विरुद्ध भोजनों से; पूर्व भुक्त के जीर्ण न होने पर पुनः भोजन करने से; स्वल्प भोजन तथा असात्म्य भोजन से;

१ 'तरुण०', पा० । २ 'हरितकमर्दक०', पा० ।

गौ मछली सूअर भैंस बकरा भेड़ इनके मांसों के खाने से; कृश प्राणियों के मांस सुखाये हुए मांस वा पूतिमांस (सड़ा दुर्गन्ध युक्त मांस) के भोजन से; पैष्टिक (पीठी वा चावलों के आटे से बने पदार्थ) परमान्न (खीर) क्षीर (दूध) मोदक (लड्डू) दही तिल से बने भक्ष्य तथा गुड से उत्पन्न द्रव्यों[खांड आदि] के सेवन से; उड़द का यूष गन्ने का रस पिण्याक (तिलकल्क) पिण्डालुक (कचालू वा अरबी) सूखे शाक शुक्त (सिरका) लहसन किलाट (फटे दूध का घन भाग) तक्रपिण्डक (पनीर) बिस (कमलनाल) मृणाल (कमल की जड़) शालूक (कमल आदि का कन्द) क्रौञ्चादन (छोटा कसेरू) कशेरुक (बड़ा कसेरू) शृङ्गाटक (सिंघाड़ा) तरूट (कुमुद का कन्द) विरूढधान्य (वे धान्य जिनमें अंकुर फूट आये हैं) नवीन धान्य कच्ची (अग्नि पर न पकाई हुई) मूली इनके उपयोग से; पचने में भारी फल और शाक, राग (अचार), हरितक (अदरख, हरा धनियां आदि) कासमर्दक (जलसे गीला मसाला, करमर्द पाठ होने पर करौंदा) वसा (चर्बी) शिरस्पद(अर्थात् बकरे आदि के शिर और टांग—उनके अन्दर का मज्जाभाग) वासी सड़े हुए शीतल एवं सङ्कीर्ण(नाना भक्ष्यपदार्थों का मिश्रण)अन्न के आहार से; मन्दक (जो दही पूर्ण रूप से न जमी हो) तथा अतिक्रान्त मद्य (विकृत मद्य-जो शराब बिगड़ गई हो) के पीने से; विकृत तथा भारी जल के पीने से; अत्यधिक स्नेहपान से; यथासमय वमन विरेचन आदि संशोधन न कराने से; वस्तिकर्म के विभ्रम से अर्थात् यथावत् प्रयोग न कराने से; मन के वश में न रहते हुए भी सर्वथा मैथुनत्याग से, दिन में सोने से; सुखदायक गद्देवाली शय्या तथा आसनों [काउच आदि] के सेवन से; अग्निमान्द्य होने पर मलसञ्चय अधिक होता है। तथा उकडू वा विषम (ऊंचे नीचे)

---

१ हिङ्ग्वार्द्रमरिचं जीरं हरिद्रा धान्यकं तथा। क्रमेण वर्द्धितं सर्वं वेसवारमिदं शुभम् ॥ स्तोकेन वारिणा सर्वं वर्टितं वस्त्रगालितम् । मात्रया व्यञ्जने देयं कासमर्दं च तत्स्मृतम् ॥ इति क्षेमकुतूहले ॥

और कठोर आसन पर बैठने से; उद्भ्रान्तयान (दुर्दम्य घोड़े आदि की सवारी) तथा ऊंट की सवारी से; अत्यन्त मैथुन से; बस्तिनेत्र के सम्यक्तया प्रयोग न करने से गुदा में क्षत होने पर; निरन्तर शीतल जल के (गुदा में) स्पर्श से; वस्त्र मिट्टी का ढेला तथा घासफूस आदि का गुदा पर घर्षण होने से; निरन्तर अत्यधिक कुन्थन से; मलवायु मूत्र तथा पुरीष के वेगों के बलात् प्रवृत्त करने से; समुपस्थित वेगों को रोकने से; स्त्रियों में कच्चे गर्भ के गिर जाने से अथवा गुदा में स्थित शिरा आदि पर गर्भ का दबाव पड़ने से; बहुत प्रसव होने पर अथवा विषमप्रसूति के कारण प्रकुपित हुआ अपानवायु अधोगत सञ्चित मल को प्राप्त होकर उसे गुदा की वलियों में धारण करता है। तदनन्तर उन गुदवलियों में (क्लिन्न होने से) अर्श प्रादुर्भूत होते हैं ॥१०॥

सर्षपमसूरमाषमुद्गमकुष्ठकयवकलायापिण्डिटिण्टिकेरखर्जूरकर्कन्धुकाकणन्तिकाबिम्बीबदरकरीरोदुम्बरजाम्बवगोस्तनाङ्गुष्ठकशेरुकशृङ्गाटकशृङ्गीदक्षशिखिशुकतुण्डजिह्वामुकुलकर्णिकासंस्थानानि सामान्याद्वातपित्तकफप्रबलानि ॥ ११ ॥

जन्मोत्तरकालज अर्शों का आकार—सामान्यतः वातप्रबल पित्तप्रबल और कफप्रबल अर्श सरसों मसूर उड़द मूंग मोठ जौ मटर मैनफल टिण्टिकेर(करीर का फल,टींट)खजूर कर्कन्धु(झड़बेरी का बेर) काकणन्तिका (घुंघची, रत्ती) बिम्बी (कुन्दुरी) बदर (बेर) करीर [बांस का अङ्कुर] उदुम्बर (गूलर) जामुन गौ का थन (अथवा बड़ा अंगूर) अंगूठा कसेरू सिंघाड़ा काकड़ासिंगी मुर्गे की चोंच मोर की चोंच तोते की चोंच वा इनकी जिह्वा मुकुल (फूल की डोडी वा कली) तथा कर्णिका (कमल का बीजकोष—पञ्जाबी में इसे चपनी कहते हैं); इनके आकार के होते हैं। अर्थात् सभी दोषों से सामान्यतः इन २ आकार के छोटे बड़े अर्श होते हैं ११

तेषामयं विशेषः—शुष्कम्लानकठिनपरुषरूक्षश्यावानि तीक्ष्णाग्राणि वक्राणि स्फुटितमुखानि विषमविसृतानि शूला-

क्षेपतोदस्फुरणचिमिचिमसंहर्षपरीतानि स्निग्धोष्णोपशयानि प्रवाहिकाध्मानशिश्नवृषणबस्तिवङ्क्षणहृद्ग्रहाङ्गमर्दहृदयद्रवप्रबलानि प्रततविबद्धवातमूत्रवर्चांसि कठिनवर्चांस्यूरुकटीपृष्ठत्रिकपार्श्वकुक्षिबस्तिशूलशिरोऽभितापक्षवथूद्गारप्रतिश्यायकासोदावर्तायासशोषशोथमूर्च्छारोचकमुखवैरस्यतैमिर्यकण्डूनासाकर्णशङ्खशूलस्वरोपघातकराणि श्यावारुणपरुषनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य वातोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १२ ॥

उनमें परस्पर निम्न विशेषतायें हैं—

वातोल्वण अर्श—शुष्क मुरझाए हुए कठिन परुष [कर्कश] रूखे और श्यामवर्ण के होते हैं। उनका अग्रभाग तीक्ष्ण होता है। वे वक्र होते हैं। मुख फटे होते हैं। विषमरूप से फैले हुए तथा शूल आक्षेप तोद [सूचीवधवत् व्यथा] स्फुरण चिमचिम वेदना और लोमाञ्च से युक्त होते हैं। स्निग्ध एवं उष्ण चिकित्सा से शान्त होते हैं। इसमें प्रबल प्रवाहिका और आध्मान होता है। मूत्रेन्द्रिय अण्डकोष बस्ति वंक्षण तथा हृदय में प्रबल ग्रह अर्थात् वातज वेदना रहती है। अतिशय अङ्गमर्द तथा हृदयद्रव [हृदय का शूल] होता है। सदा मलवात मूत्र तथा पुरीष की खुलकर प्रवृत्ति नहीं होती। जो मल आता भी है वह कठोर होता है। ऊरु कमर पीठ त्रिकसन्धि पार्श्व कुक्षि तथा बस्ति में शूल होता है। शिरःपीड़ा छींक डकार प्रतिश्याय [जुकाम] खांसी उदावर्त आयास [थकावट] शोष शोथ मूर्च्छा अरुचि मुख का विरस होना तिमिररोग कण्डू [खुजली] नाक कान शङ्खदेश [कनपटी] में शूल तथा स्वरभेद हुआ करता है। रोगी के नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र एवं पुरीष का वर्ण श्याम वा अरुण होता है। इन लक्षणों से वातप्रधान अर्श समझे जाते हैं। सुश्रुत नि० अ० २ में—

---

१ 'शूलाक्षेपभेद०' ग.।

' तत्र मारुतात् परिशुष्कारुणवर्णानि विषममध्यानि कदम्बपुष्पतुण्डिकेरीनाडीमुखसूचीमुखाकृतीनि च भवन्ति । तैरुपहतः सशूलं संहतमुपवेश्यते । कटीपृष्ठपार्श्वमेढ्रगुदनाभिप्रदेशेषु चास्य वेदना गुल्माष्ठीलाप्लीहोदराणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति । कृष्णत्वङ्नयनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ' ॥ १२ ॥

भवतश्चात्र ।

कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च ।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णमद्यमैथुनसेवनम् ॥ १३ ॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसामिति ॥ १४ ॥

वातोल्बण अर्श का हेतु——कषाय कटु तिक्त रूक्ष शीतल एवं लघु द्रव्य, अत्यन्त अल्प भोजन, मात्रा से हीन भोजन, तीक्ष्ण मद्यपान, अत्यन्त मैथुन, लङ्घन [उपवास आदि], शीतल देश और शीतकाल, व्यायाम (अत्यधिक परिश्रम के कार्य), शोक, वायु वा आतप (धूप, घाम) का स्पर्श; ये वातार्श के हेतु हैं । आतपस्पर्श यद्यपि उष्ण है पर कटु रूक्ष होने से वातकारक भी होता है । कहा भी है——

'आतपः कटुको रूक्षः' ॥ १३—१४ ॥

तत्र यानि मृदुशिथिलसुकुमाराणि स्पर्शासहानि रक्तपीतनीलकृष्णानि स्वेदोपक्लेदबहुलानि विस्रगन्धीनि तनुपीतरक्तस्रावीणि रुधिरवहाणि दाहकण्डूशूलनिस्तोदपाकवन्ति शिशिरोपशयानि संभिन्नपीतहरितवर्चांसि पीतविस्रगन्धप्रचुरविण्मूत्राणि पिपासाज्वरतमकसंमोहभोजनद्वेषकराणि पीतनखनयनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य पित्तोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १५ ॥

पित्तोल्बण अर्श—जो अर्श मृदु शिथिल वा सुकुमार हों, स्पर्शासह (स्पर्शमात्र से अत्यन्त वेदना होना) और लाल पीले नीले काले

१ ' प्रमिताध्यशनं ' इति वा पाठः साधुः ।

वर्ण के हों, जिनमें स्वेद और क्लिन्नता (गीलापन) बहुत रहती हो, आमगन्धि हों, जिनसे पतला पीलालाल सा स्राव निकलता हो, जिनसे रुधिरस्राव होता हो,जो दाह कण्डू शूल निस्तोद (व्यथा)तथा पाकयुक्त हों, शीतक्रिया उपशय हो अर्थात् जो शीतक्रिया से शान्त हों, जिसमें मल पतला पीले हरे वर्ण का आवे, मल मूत्र पीले आमगन्धी (कच्ची गन्धवाले) और प्रचुरपरिमाण में हों, प्यास ज्वर तमक [दमा) संमोह [मूर्च्छा] होता हो, भोजन में अभिलाषा न हो, रोगी के नख नेत्र त्वचा पुरीष पीतवर्ण के हों उन्हें पित्तोल्बण अर्श जानें। सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

' पित्तान्नीलाग्राणि तनूनि विसर्पीणि पीतावभासानि यकृत्प्रकाशानि शुकजिह्वासंस्थानानि यवमध्यानि जलौकोवक्त्रसदृशानि प्रक्लिन्नानि च। तैरुपहतः सदाहं सरुधिरमतिसार्यते, ज्वरदाहपिपासामूर्च्छाश्चोपद्रवा भवन्ति, पीतत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥' १५ ॥

भवतश्चात्र।

कट्वम्ललवणक्षारव्यायामाग्न्यातपप्रभाः।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ १६ ॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम्।
पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ १७ ॥

पित्तोल्बण अर्शों के प्रकोपहेतु—कटु अम्ल लवण तथा क्षार द्रव्य, व्यायाम अग्निप्रभा आतपप्रभा (आग और धूप का तापना) उष्णदेश और उष्णकाल क्रोध मद्यपान असूया (दूसरे के गुणों में दोषारोपण) तथा वह सब अन्नपान और औषध जो विदाही तीक्ष्ण और उष्ण हो पित्तप्रधान अर्शों के प्रकोप में हेतु जानना चाहिये ॥ १६—१७ ॥

तत्र यानि प्रमाणवन्त्युपचितानि श्लक्ष्णानि स्पर्शसहानि श्वेतपाण्डुपिच्छिलानि स्तब्धानि गुरूणि स्तिमितानि सुप्तसुप्तानि

---

१ ' कट्वम्ललवणोष्णानि ' पा०।

स्थिरश्वयथूनि कण्डूबहुलानि प्रततपिञ्जरश्वेतरक्तपिच्छास्रावीणि गुरुपिच्छिलश्वेतमूत्रपुरीषाणि रूक्षोष्णोपशयानि प्रवाहिकातिमात्रोत्थानवङ्क्षणानाहवन्ति परिकर्तिकाहृल्लासनिष्ठीविकाकासारोचकप्रतिश्यायगौरवच्छर्दिमूत्रकृच्छ्रशोषशोथपाण्डुरोगशीतज्वराश्मरीशर्कराहृदयेन्द्रियास्योपलेपास्यमाधुर्यप्रमेहकराणि दीर्घकालानुशयान्यतिमात्रमग्निमार्दवक्लैब्यकराण्यामविकार[1]प्रबलानि च शुक्लनखनयनवदनत्वङ्मूत्रपुरीषस्य श्लेष्मोल्बणान्यर्शांसीति विद्यात् ॥ १८ ॥

कफोल्बण अर्श—जो बड़े स्थूल चिकने हों, स्पर्शसह [वेदना अत्यन्त अल्प होती है अतः स्पर्श के सहने में समर्थ होते हैं] हों, श्वेत वा पाण्डु तथा पिच्छिल [चिपचिपे] हों, स्तब्ध [जड़वत्] गुरु और स्तिमित हों, अत्यन्त सुप्त से हों अर्थात् जिनमें स्पर्शज्ञान न होता हो, जिनकी शोथ स्थिर हो, खुजली बहुत हो, निरन्तर पिञ्जर (श्वेतपीला] अथवा श्वेतरक्तवर्ण की पिच्छा [चिपचिपे स्राव] का स्राव होता हो, जिसमें रोगी के मूत्र और पुरीष भारी चिपचिपे और श्वेत हों, जिनकी शान्ति रूक्ष एवं उष्ण चिकित्सा से हो, प्रवाहिका बारबार मलत्याग के लिये उठना और वंक्षण देश में आनाह परिकर्तिका [कर्तनवत् पीड़ा] हृल्लास [जी मचलाना] निष्ठीविका [थूक का बहुत आना] कास अरुचि प्रतिश्याय देह की गुरुता कै मूत्रकृच्छ्र शोष शोथ पाण्डुरोग शीतज्वर पथरी शर्करा और हृदय इन्द्रिय एवं मुख का उपलेप अर्थात् कफलिप्तता मुख के रस को मधुर तथा प्रमेह इन को करने वाले, दीर्घकालस्थायी, अत्यधिक अग्निमान्द्य और नपुंसकता को करने वाले, जिसमें आमजन्य विकार प्रबलता से हों और जिनके कारण रोगी के नख नेत्र मुख त्वचा मूत्र और पुरीष श्वेत वर्ण के हों उन्हें कफप्रधान अर्श जानें। सुश्रुत नि० अ० २ में—

---

१ 'आमविकारकरप्रबलानि' ग.।

'श्लेष्मजानि श्वेतानि महामूलानि स्थिराणि वृत्तानि स्निग्धानि पाण्डूनि करीरपनसास्थिगोस्तनाकाराणि न भिद्यन्ते न स्रवन्ति कण्डू बहुलानि च भवन्ति। तैरुपहतः सश्लेष्माणमनल्पं मांसधावनप्रकाशमतिसार्यते, शोफशीतज्वरारोचकाविपाकशिरोगौरवाणि चास्य तन्निमित्तान्येव भवन्ति। शुक्लत्वङ्नखनयनदशनवदनमूत्रपुरीषश्च पुरुषो भवति ॥'१८॥

भवन्ति चात्र।

मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥ १९ ॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम्।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥ २० ॥

श्लेष्मोल्बण अर्श के हेतु—मधुर स्निग्ध शीतल लवण अम्ल गुरु आहार, व्यायाम न करना, दिन में सोना, शय्या तथा आसन के सुख में प्रीति अर्थात् सदा लेटे वा बैठे रहना कोई परिश्रम का कार्य न करना, पूर्वदिशा की वायु वा सीधी आती हुई वायु का सेवन, शीतल देश, शीतलकाल, कोई चिन्ता न होनी; ये कफप्रधान अर्शों का कारण कह दिया है ॥ १९–२० ॥

हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद् द्वन्द्वोल्बणानि च।
सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ २१ ॥

द्विदोषोल्बण अर्श—दो दो दोषों के हेतु और लक्षणों के संसर्ग से द्वन्द्वोल्बण अर्श जानने चाहियें।

त्रिदोषज अर्श–जिसमें तीनों दोष ही प्रधान हों उन अर्शों का उपर्युक्त सभी (वात पित्त वा कफ से उत्पन्न अर्श के कहे गये हेतु) हेतु हैं। इसके लक्षण सहज अर्शों के सदृश ही होते हैं। सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है–

' सन्निपातजानि सर्वदोषलक्षणयुक्तानि।'

जब वात आदि दोष इनमें भी विशेषतः पित्त रक्त को प्रकुपित कर के

अर्श को उत्पन्न करते हैं तब वे रक्तज अर्श कहाते हैं। इनके लक्षण सुश्रुत नि० अ० २ में इस प्रकार कहे हैं—

'रक्तजानि न्यग्रोधप्ररोहविद्रुमकाकणन्तिकाफलसदृशानि पित्तलक्षणानि च। यदावगाढपुरीषप्रपीडितानि भवन्ति तदात्यर्थं दुष्टमनल्पमसृक् सहसा विसृजन्ति। तस्यैवातिप्रवृत्तौ शोणितातियोगोपद्रवा भवन्ति।'

प्रकृत संहिता में भी अर्श के दो भेद किये जायगे। १ शुष्कार्श २ आर्द्रार्श। शुष्कार्श वातश्लेष्मोल्वण होते हैं। आर्द्रार्श में रक्तपित्त प्रधान होते हैं। रक्त का अधिक स्राव होने से आर्द्रार्श को रक्तार्श भी कहते हैं।

सुश्रुतसंहिता में मुख्यतः ६ अर्श कहे हैं। वात पित्त कफ सन्निपात तथा रक्त से उत्पन्न होने वाले पांच और छठा सहज। प्रकृत ग्रन्थ में वात पित्त कफ द्वन्द्व सन्निपात से उत्पन्न होने वाले तथा सहज इस प्रकार सामान्यतः गिने हैं। सुश्रुताचार्य ने मुख्य परिगणन में द्वन्द्वज अर्शों का परिगणन नहीं किया क्योंकि द्वन्द्व में दोष प्रकृतिसमसमवाय से अर्श को उत्पन्न करते हैं। रक्त के साथ किसी दोष के प्रकुपित होकर अर्श को उत्पन्न करने पर जो लक्षण होते हैं वे लक्षण रक्तज अर्श में कह दिये हैं। सुश्रुत नि० अ० २ में द्वन्द्वज अर्श के लिये कहा है—

'अर्शःसु दृश्यते तु रूपं यदा दोषद्वयस्य तु।
संसर्गं तं विजानीयात् संसर्गः स च षड्विधः॥'

वह द्वन्द्वज अर्श को छह प्रकार का मानता है। वातपित्त, वातकफ, पित्तकफ, रक्तपित्त, रक्तवात, रक्तकफ इन द्वन्द्वों से उत्पन्न होने पर द्वन्द्वज अर्श छह होते हैं। दोषों का रक्त के साथ जो द्वन्द्व है उनका रक्तज अर्शों से ग्रहण होता है। चरक ने भी रक्तोल्बण और पित्तोल्बण

अर्श को ही आर्द्रार्श कहा है। रक्तज अर्श उपचार से कहे जाते हैं। रक्तार्शों में बहुधा पित्त ही रक्त को भी दूषित एवं कुपित करके रक्तार्श को उत्पन्न करता है क्योंकि पित्त और रक्त बहुत अंशोंमें समान हैं॥२१॥

विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥ २२ ॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्त्तेराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ २३ ॥

अर्श के पूर्वरूप—अन्न का विष्टम्भ अर्थात् उदर में रुक जाना, दुर्बलता, कुक्षि का आटोप (गुड़गुड़ शब्द होना), देह की कृशता, डकारों का बहुत आना, टांगों की शिथिलता, पुरीष का कम मात्रा में आना, संग्रहणी पाण्डुरोग वा उदररोग की आशङ्का; इन पूर्वरूपों से यह जाना जाता है कि अर्श की अभिवृद्धि होगी अर्थात् भविष्य में अर्शोरोग उत्पन्न होगा। सुश्रुत नि० अ० २ में भी पूर्वरूप कहे हैं—

'तेषां तु भविष्यतां पूर्वरूपाणि—अन्नेऽश्रद्धा कृच्छ्रात्पक्तिरम्लीका परिदाहो विष्टम्भः पिपासा सक्थिसदनमाटोपः कार्श्यमुद्गारबाहुल्यमक्ष्णोः श्वयथुरन्त्रकूजनं गुदपरिकर्तनमाशङ्का पाण्डुरोगग्रहणीदोषोदराणां कासश्वासौ बलहानिर्भ्रमस्तन्द्रानिद्रेन्द्रियदौर्बल्यं च'॥२२-२३॥

अर्शांसि खलु जायन्ते नासन्निपतितैस्त्रिभिः।
दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम् ॥ २४ ॥

अर्शों के सन्निपात से उत्पन्न होने पर भी वातजत्व आदि व्यवहार का हेतु—अर्श तीनों दोषों के सन्निपात के विना उत्पन्न नहीं होते अर्थात् सन्निपात से ही उत्पन्न होते हैं परन्तु इनमें वातज पित्तज कफज आदि भेद की कल्पना उस २ दोष की प्रबलता के कारण

---

१ यद्यपि सन्निपतितैरित्युक्ते त्रयाणां मेलको लभ्यते तथापि त्रिभिरिति पदं त्रयाणामप्यत्र अनुबन्ध्यत्वस्य तथा च हीनपादस्यापदर्शनार्थमिति चक्रः।

२ 'दोषविशेषैस्तु' ग.।

होती है। यदि सन्निपात में वात प्रबल हो तो अर्श को वातज कहा जाता है। यदि पित्त की अधिकता हो तो पित्तज और इसीप्रकार यदि कफ की प्रबलता हो तो अर्श को कफज कहा जाता है। यदि दो दोषों की प्रबलता हो तो उन २ दोषों के द्वन्द्व से उत्पन्न तथा यदि तीनों दोष ही प्रबल हों तो सन्निपातज कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम् ।
सर्व एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ २५ ॥

अर्शों की उत्पत्ति में पञ्चात्मक वायु अर्थात् प्राण अपान समान उदान व्यान पांचों प्रकार का वायु तथा पित्त कफ और गुदा की तीनों वलियां सभी प्रकुपित होते हैं।

सहज अर्शों की सम्प्राप्ति बताते हुए 'जन्मप्रभृत्यस्य हि गुदमार्गोपरोधाद् वायुरपानः प्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति, ते प्रकुपिताः पञ्चवाताः पित्तश्लेष्माणौ चार्शसमभिद्रवन्त इत्यादि' कहा है, अर्थात् अपान वायु ऊर्ध्वगामी होकर समान व्यान प्राण उदान इन अवशिष्ट चार वायुओं को तथा पित्त और कफ को प्रकुपित करता है, वे प्रकुपित हुए पांचों वायु और पित्त कफ अर्शों में नाना विकारों को उत्पन्न करते हैं। इसमें वायु के पांचों रूपों को विशेष कहा है परन्तु पित्त और कफ के भेदों का ग्रहण नहीं किया। अतः कुछ एक तो केवल वायु ही पञ्चात्मक रूप से कुपित होता है—ऐसा मानते हैं। दूसरे गङ्गाधर-प्रभृति पित्त और कफ का भी पञ्चात्मक रूप में ही कुपित होना स्वीकार करते हैं। पाचक रञ्जक साधक आलोचक और भ्राजक; ये पांच प्रकार के पित्त के नाम हैं। क्लेदक अवलम्बक बोधक तर्पक श्लेषक भेद से पांच प्रकार का कफ होता है ॥२५॥

तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च ।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ २६ ॥

अर्श के अति दुःखकर होने के हेतु—यतः अर्श की उत्पत्ति में पञ्चात्मक

वायु आदि सभी कुपित होते हैं, अतएव ही अर्श दुःखदायक, बहुत से रोगों को उत्पन्न करने वाले, सम्पूर्ण देह को तपानेवाले और प्रायः सबसे अधिक कष्टसाध्य होते हैं ॥ २६ ॥

हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥ २७॥

अर्श के असाध्य लक्षण—जिस अर्शोरोगी के हाथ पैर मुख नाभि गुदा और अण्डकोषों में शोथ हो तथा हृदय और पार्श्वों में शूल हो वह असाध्य है ॥ २७ ॥

हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥ २८ ॥

हृच्छूल पार्श्वशूल संमोह (मूर्च्छा) कै सर्वाङ्गवेदना ज्वर तृष्णा तथा गुदा का पक जाना; ये अर्शोरोगी की मृत्यु का कारण हैं । अर्थात् यदि अर्शोरोग के कारण ये उपद्रव हो जांय तो रोगी काल का ग्रास है— यह जानना चाहिये ॥ २८ ॥

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ २६ ॥

सहज सन्निपातज तथाच जो अन्दर की वली का आश्रय करके अर्श होते हैं (चाहे एकदोषज वा द्विदोषज हों) उन्हें असाध्य जानें । सुश्रुत नि० अ० २ में भी कहा है—

'सन्निपातसमुत्थानि सहजानि च वर्जयेत् ।'

तथा—'बाह्यमध्यबलिस्थानां प्रतिकुर्याद्भिषग्वरः ।
अन्तर्बलिसमुत्थानां प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्' ॥ २६ ॥

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥ ३० ॥

यदि रोगी की आयु शेष हो, प्रशस्तगुण-युक्त चतुष्पाद (वैद्य परिचारक रोगी और द्रव्य) समुपस्थित हो, रोगी की कायाग्नि प्रदीप्त

हो, तो असाध्यत्वेन उक्त सहज आदि अर्शों का यापन किया जा सकता है। अर्थात् इन हेतुओं के उपस्थित रहने पर सहज सन्निपातज तथा अन्दर की वली में उत्पन्न अर्श याप्य होते हैं। अन्यथा उन्हें असाध्य जान कर चिकित्सा न करनी चाहिये॥

जिन त्रिदोषज अर्शों में लक्षण अल्प हों उन्हें भी याप्य जानना चाहिये—यतः सुश्रुत नि० अ० २ में कहा है—

'त्रिदोषाण्यल्पलिङ्गानि याप्यानि तु विनिर्दिशेत्।' ॥ ३० ॥

द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥ ३१ ॥

कष्टसाध्य अर्श----जो अर्श द्वन्द्वज हैं और जो दूसरी अर्थात मध्य की वलि में आश्रित हैं (चाहे वे एकदोषज वा द्वन्द्वज हों) तथा च जिन्हें उत्पन्न हुए एक वर्ष हो गया हो; उन्हें कष्टसाध्य कहा गया है।

यह श्लोक ऐसा का ऐसा ही सुश्रुत निदानस्थान द्वितीय अध्याय में भी पढ़ा गया है ॥ ३१ ॥

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च।
अर्शांसि सुखसाध्यानि नचिरोत्पतितानि च ॥ ३२ ॥

सुखसाध्य अर्श—जो बाह्यबलि में उत्पन्न हों, जिन में एक ही दोष प्रबल हो (एकदोषज) और जिन्हें उत्पन्न हुए देर न हुई हो वे अर्श सुखसाध्य होते हैं ॥ ३२ ॥

तेषां प्रशमने यत्नमाशु कुर्याद्विचक्षणः।
तान्याशु हि गुदं बद्ध्वा कुर्युर्बद्धगुदोदरम् ॥ ३३ ॥

अर्श की शीघ्रचिकित्सा का आदेश—विज्ञ वैद्य को चाहिये कि वह अर्शों की शान्ति में शीघ्र यत्न करे, यतः वे शीघ्र ही गुदा को बांध कर अर्थात् मार्गरोध करके कष्टकर बद्धगुदोदर रोग को उत्पन्न कर देते हैं॥

बद्धगुदोदर रोग का वर्णन पूर्वाध्याय में हो चुका है ॥ ३३ ॥

तत्राहुरेके शस्त्रेण कर्तनं हितमर्शसाम् ।
दाहं क्षारेण चाप्येके दाहमेके तथाऽग्निना ॥ ३४ ॥

अर्शचिकित्सा—कई आचार्य कहते हैं कि अर्शों को शस्त्र द्वारा काटना हितकर है। कई आचार्य क्षार से दाह करने को हितकर समझते हैं और कई एक आचार्य अग्नि से अर्शों को दग्ध करना श्रेष्ठ मानते हैं। सुश्रुत चि० अ० ६ में कहा है—

'चतुर्विधोऽर्शसां साधनोपायः । तद्यथा भेषजं क्षारोऽग्निः शस्त्रमिति । तत्राचिरकालजातान्यल्पदोषलिङ्गोपद्रवाणि भेषजसाध्यानि । मृदुप्रसृतावगाढानि क्षारेण । कर्कशस्थिरपृथुकठिनान्यग्निना । तनुमूलान्युच्छ्रितानि क्लेदवन्ति च शस्त्रेण' ॥ ३४ ॥

अस्त्वेतद्[1] भूरितन्त्रेण धीमता दृष्टकर्मणा ।
क्रियते त्रिविधं कर्म भ्रंशस्तत्र[2] सुदारुणः ॥ ३५ ॥
पुंस्त्वोपघातः श्वयथुर्गुदे वेगविनिग्रहः ।
आध्मानं दारुणं शूलं व्यथा रक्तातिवर्तनम् ॥ ३६ ॥
पुनर्विरोहो रूढानां क्लेदो भ्रंशो गुदस्य च ।
मरणं वा भवेच्छीघ्रं शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात् ॥ ३७ ॥

यह माना कि ये चिकित्सायें भी हैं और बहुशास्त्रज्ञाता बुद्धिमान् दृष्टिकर्मा चिकित्सक यह तीनों प्रकार का कर्म (अर्थात् शस्त्र द्वारा कर्तन और क्षार वा अग्नि द्वारा दाह) करते हैं परन्तु इन कर्मों में अत्यन्त दारुण कमी है, वह यह कि यदि कथंचित् शस्त्र क्षार वा अग्निकर्म यथावत् न हुए तो पुंस्त्वनाश, गुदा में शोथ, पुरीष आदि के वेगों का रोध, आध्मान, दारुण शूल, व्यथा, रुधिर का अत्यधिक स्राव, अर्श का पुनः उत्पन्न हो जाना, व्रण वा घाव के रोहण हो जाने पर उनका पुनः क्लिन्न हो जाना और गुदभ्रंश (Prolapse of the rectum or anus) हो जाता है। अथवा शीघ्र मृत्यु

१ 'अस्त्येतद्', पा० । २ 'भ्रंशस्तस्य', पा० ।

हो जाती है ।

शस्त्रकर्म और अग्नि वा क्षार द्वारा दाह के विधान के लिये सुश्रुत चिकित्सास्थान अध्याय ६ अथवा अष्टाङ्गसंग्रह चिकित्सास्थान अध्याय १० का स्वाध्याय करना चाहिये ।

आजकल अर्श को काटने के अतिरिक्त उनकी इञ्जेक्शन चिकित्सा भी की जाती है । जिसे दाह ही जानना चाहिये । यह दाह विशेषतः मध्य वा अन्तः वलिस्थित अर्शों (Internal Piles) में हितकर सिद्ध हुई है । पूर्व विरेचन देकर वा बस्ति (Enema) द्वारा रोगी का शोधन किया जाता है । पश्चात् गुदा को रसकर्पूर[1] (Mercury Perchloride) के (१००० में १) घोल को लगाकर स्वच्छ किया जाता है । तदनन्तर अर्शोयन्त्र की सहायता से अर्शों को देखकर प्रत्येक की जड़ में १० या २०% कार्बोलिक एसिड (Carbolic acid) के समभाग ग्लिसरीन (Glycerine) और जल में बने घोल की लगभग ५ बूंदें अन्तः प्रविष्ट (इञ्जैक्ट) करते हैं । इसके पश्चात् श्लेष्मकला पर वैज़लीन (Vaseline) चुपड़ देते हैं । इसके स्थान पर घी भी चुपड़ा जा सकता है । इस प्रकार जब तक सन्तोषप्रद सिद्धि न हो तब तक दो या तीन वार किया जा सकता है । इस कर्म के पश्चात् रोगी को कम से कम २४ घण्टे बिछौने पर लेटे रहना चाहिये ॥ २५–२७ ॥

यत्तु कर्म सुखोपायमल्पभ्रंशमदारुणम् ।
तदर्शसां प्रवक्ष्यामि समूलानां निवृत्तये ॥ २८ ॥

मैं तो अर्शों के समूल नाश के लिये वह कर्म कहूँगा जो कर्म सुखसाध्य है, जिसमें हानि होने का वा कर्मविभ्रम का अल्पाल्प भय है और जो दारुण नहीं है ।

समूल-नाश कहने से अभिप्राय अर्श के कारणभूत दुष्ट वात

---

१ यहां पर सर्वसाधारण में प्रसिद्ध बाज़ारू रसकपूर का प्रयोग नहीं होता ।

आदि दोषों के नाश से भी है जिससे पुनः अर्श की उत्पत्ति न हो सके। शस्त्रकर्म आदि से उत्पन्न अर्श तो नष्ट हो जाते हैं परन्तु पुनरुत्पत्ति से बचने की कोई गारण्टी नहीं ॥ ३८ ॥

वातश्लेष्मोल्बणान्याहुः शुष्काण्यर्शांसि तद्विदः ।
प्रस्रावीणि तथाऽऽर्द्राणि रक्तपित्तोल्बणानि च ॥ ३९ ॥

अर्श सामान्यतः दो प्रकार के हैं—१ शुष्क अर्श और २—आर्द्र अर्श। अर्श का ज्ञान रखने वाले वैद्य वातप्रबल वा कफप्रबल वा वातकफप्रबल अर्शों को शुष्क अर्श कहते हैं। इनसे रक्तस्राव नहीं होता। जो अर्श रक्तप्रबल वा पित्तप्रबल वा रक्तपित्तप्रबल होते हैं उनसे रक्तस्राव हुआ करता है वे आर्द्र अर्श कहाते हैं ॥ ३९ ॥

तत्र शुष्कार्शसां पूर्वं प्रवक्ष्यामि चिकित्सितम् ।
स्तब्धानि स्वेदयेत्पूर्वं शोफशूलान्वितानि च ॥ ४० ॥

इनमें से पूर्व शुष्क अर्शों की चिकित्सा कही जायगी—

जो अर्श स्तब्ध हों, शोथ और शूल से युक्त हों उनका पूर्व स्वेदन करना चाहिये ॥ ४० ॥

चित्रकक्षारबिल्वानां तैलेनाभ्यज्य स्वेदयेत् ।
[1]यवमाषपुलाकानां कुलत्थानां च पोट्टलैः ॥ ४१ ॥
गोखराश्वशकृत्पिण्डैस्तिलकल्कैस्तुषैस्तथा ।
वचाशताह्वापिण्डैर्वा सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥ ४२ ॥

अर्श में पिण्डस्वेद—चित्रक यवक्षार तथा बिल्वमूलत्वक्; इन से यथाविधि साधित तैल को चुपड़ कर तैल आदि स्नेहयुक्त उड़द पुलाक (तुच्छ धान्य) वा कुलथी की पोटलियों से अथवा गौ गदहा घोड़ा; इन के तैल आदि स्नेहयुक्त पुरीषों के पिण्डों से अथवा स्नेहयुक्त तिलकल्क वा तुषों के पिण्डों से अथवा स्नेहमिश्रित वचा वा सोये के पिण्डों से-जो सुहाते गरम हों-स्वेदन करे ॥ ४१-४२ ॥

---

१ 'यवमाषकुलत्थानां पुलाकानामयोऽहशव्' ग.।

शक्तूनां पिण्डिकाभिर्वा स्निग्धानां तैलसर्पिषा ।
शुष्कमूलकपिण्डैर्वा पिण्डैर्वा कार्ष्णगन्धिकैः ॥ ४३ ॥
रास्नापिण्डैः सुखोष्णैर्वा सस्नेहैर्हपुषैरपि ।

अथवा तैल और घी से स्निग्ध सत्तुओं की पिण्डिकाओं से अथवा सूखीमूली के स्नेहयुक्त पिण्डों से अथवा साहिजन की जड़ के स्नेहयुक्त पिण्डों से अथवा रास्ना के स्नेहयुक्त पिण्डों से अथवा हपुषा (हाऊबेर) के स्नेहयुक्त पिण्डों से—जो सुहाते गरम हों—स्वेदन करे ॥ ४३ ॥

इष्टकस्य खराह्वायाः शाकैर्गृञ्जनकस्य च ॥ ४४ ॥
अभ्यज्य कुष्ठतैलेन स्वेदयेत्पोट्टलीकृतैः ।
वृषार्कैरण्डबिल्वानां पत्रोत्क्वाथैश्च सेचयेत् ॥ ४५ ॥

इसीप्रकार कुष्ठतैल (कुष्ठ द्वारा साधित तिलतैल) चुपड़कर ईंट का चूर्ण, खुरासानी अजवाइन वा गृञ्जनक (शलगम वा गाजर) के शाकों से पोटली बनाकर स्वेदन करना चाहिये । तथा वासा, मदार (आक), एरण्ड, बिल्व (बेल); इनके पत्तों के सुहाते गरम क्वाथों से परिषेचन करे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में कहा है—

'अथानवचारणीयशस्त्रक्षाराग्नेर्वातकफोल्बणानि दोषसम्पूर्णत्वान्निर्गतानि संस्तम्भकण्डूशोफशूलानि क्षारचित्रककुष्ठबिल्वमूलकसिद्धेन कृष्णाहिबिडालोष्ट्रजलौकःसूकरवसाभिर्वाऽभ्यज्य पिण्डेन स्वेदयेद् द्रवस्वेदेन वा' ॥ ४५ ॥

मूलकत्रिफलार्काणां वेणूनां वरुणस्य च ।
अग्निमन्थस्य शिग्रोश्च पत्राण्यश्मन्तकस्य च ॥ ४६ ॥
जलेनोत्क्वाथ्य शूलार्तं स्वभ्यक्तमवगाहयेत् ।
कोलोत्क्वाथेऽथवा कोष्णे सौवीरकतुषोदके ॥ ४७ ॥

अर्शःशूल से पीड़ित रोगी को अच्छीप्रकार अभ्यङ्ग करके मूली,

१ 'पत्रोत्क्वाथैः स्वेदयेच्च वृषार्कैरण्डबिल्वजैः' ग. ।

हरड़, बहेड़ा, आंवला, मदार, बांस, वरुण, अरणी, सहिजन और अश्मन्तक; इन सब के पत्तों के कोसे क्वाथ में अथवा बेरों के कोसे क्वाथ में अथवा कोसे सौवीर (निस्तुष जौ से सन्धित काञ्जी) वा तुषोदक (सतुष कच्चे जौ से सन्धित काञ्जी) में अवगाहन करावे ॥४६-४७॥

बिल्वोत्क्वाथेऽथवा तक्रे दधिमण्डाम्लकाञ्जिके।
गोमूत्रे वा सुखोष्णे तं शूलार्तमुपवेशयेत् ॥ ४८ ॥

अथवा सुहाते गरम बेलपत्री के क्वाथ में अथवा सुहाते गरम तक्र (छाछ) में अथवा सुहाते गरम दही के पानी में अथवा सुहाती गरम खट्टी कांजी में अथवा सुहाते गरम गोमूत्र में अर्शःशूल से पीड़ित रोगी को बैठावे ॥ ४८ ॥

कृष्णसर्पवराहोष्ट्रजतुकावृषदंशजाम्।
वसामभ्यञ्जनं दद्याद्,

काला सांप, सूअर, ऊंट, जतुका (चिमगादड़), बिल्ला; इनकी चर्बियों से अर्श पर अभ्यङ्ग करना चाहिये।

धूपनं चार्शसां हितम् ॥ ४६ ॥

नृकेशाः सर्पनिर्मोको वृषदंशस्य चर्म च।
अर्कमूलं शमीपत्रमर्शोभ्यो धूपनं हितम् ॥ ५० ॥

अर्श के रोगियों के लिये अर्शों पर धूपन भी हितकर होता है।

नृकेशाद्य धूपन—नरकेश, सांप की कैंचुली, बिल्ले का चर्म, आक (मदार) की जड़, शमी (जण्डी) के पत्ते; इन से अर्शों पर धूपन करना चाहिये।

अष्टाङ्गसंग्रहकार के अनुसार इस धूप में कुछ घृत भी मिला लेना चाहिये।

'धूपयेच्च सघृतशमीपत्रार्कमूलमानुषकेशाहिनिर्मोकबिडालचर्मभिः।' चि० अ० १० ॥ ४६-५० ॥

---

१ 'स्वस्यक्रमवगाहयेत्' ग.।

तुम्बुरूणि विडङ्गानि देवदार्वक्षता घृतम् ।
बृहती चाश्वगन्धा च पिप्पल्यः सुरसा घृतम् ॥ ५१ ॥

तुम्बुर्वादिधूपन—धनियां, वायविडङ्ग, देवदारु, अक्षत (जौ), घी; इन्हें एकत्र मिश्रितकर धूपन करना चाहिये ।

बृहत्यादिधूपन—बृहती (बड़ी कटेरी), असगन्ध, पिप्पली, तुलसी के पत्ते और घी; इनका अर्शों पर धूपन करना चाहिये ॥५१॥

वराहवृषविट् चैव धूपनं शक्तवो घृतम् ।
कुञ्जरस्य पुरीषं च घृतं सर्जरसो रसः ॥ ५२ ॥

वराहपुरीषादिधूपन—सूअर की बिष्ठा, सांड का गोबर, जौ के सत्तू; इन्हें घृतमिश्रित कर धूपन कराया जाता है ।

हस्तिपुरीषादिधूपन—हाथी की लीद, घी, राल और रस (शिला-रस अथवा पारद); यह भी अर्शों में धूपन है ॥ ५२ ॥

हरिद्राचूर्णसंयुक्तं सुधाक्षीरं प्रलेपनम् ।
गोपित्तपिष्टाः पिप्पल्यः सहरिद्राः प्रलेपनम् ॥ ५३ ॥

हरिद्राचूर्णाद्यप्रलेप—हल्दी के चूर्ण को सेहुण्ड के दूध में मिला अर्शों पर प्रलेप करना चाहिये ।

पिप्पल्याद्यप्रलेप—पिप्पलीचूर्ण और हल्दी के चूर्ण को मिश्रित कर गौ के पित्त से घोटें । जब प्रलेप योग्य हो तब इसका अर्शों पर प्रलेप लगावें ॥ ५३ ॥

शिरीषबीजं कुष्ठं च पिप्पल्यः सैन्धवं गुडः ।
अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं त्रिफला च प्रलेपनम् ॥ ५४ ॥

शिरीषबीजाद्यप्रलेप—सिरस के बीज, कुठ, पिप्पली, सेन्धानमक, गुड़, मदार का दूध, सेहुण्ड का दूध और त्रिफला (हरड़, बहेड़ा, आंवला); इन्हें एकत्र मिश्रितकर अर्शों पर प्रलेप लगाना चाहिये ॥५४॥

पिप्पल्यश्चित्रकः श्यामा किण्वं मदनतण्डुलाः ।
प्रलेपः कुक्कुटशकृद्धरिद्रागुडसंयुतः ॥ ५५ ॥

पिप्पल्याद्य प्रलेप—पिप्पली, चित्रक, श्यामा (काली निसोत), किएव (सुराबीज), मदनतण्डुल (मैनफल के बीज), मुर्गे की बीठ, हल्दी तथा गुड़; इन्हें एकत्र मिश्रितकर अर्श पर प्रलेप करना चाहिये ॥ ५५ ॥

निकुम्भः सामृता[1]सङ्गः पारावतशकृद्गुडः ।
प्रलेपः स्याद्गजास्थीनि निम्बो भल्लातकानि च ॥ ५६ ॥

निकुम्भाद्यप्रलेप—निकुम्भ (दन्ती), अमृतासङ्ग (तुत्थ, तूतिया), कबूतर की बीठ, गुड; यह प्रलेप है ।

गजास्थ्यादिप्रलेप—हाथी की हड्डी, नीम के बीज और भल्लातक (भिलावा); इनका अर्श पर लेप करना चाहिये ।

तीक्ष्ण प्रलेपों में यह ध्यान रखना चाहिये कि वे केवलमात्र अर्श के अङ्कुरों पर ही लगें, अन्यत्र नहीं ॥ ५६ ॥

प्रलेपः स्यादलं कोष्णो वासन्तकवसायुतः ।
शूलश्वयथुहृद्युक्तश्चुलूकीवसयाऽथवा ॥ ५७ ॥

हरितालप्रलेप—ऊँट की वसा से युक्त हरिताल का कोसा लेप शुष्कार्श में हितकर है । अथवा यदि हरिताल को चुलुकी (नक्र, मगरमच्छ) की वसा में मिश्रित कर लेप किया जाय तो अर्श का शूल और शोथ नष्ट होता है ॥ ५७ ॥

आर्कं पयः[2] सुधाकाण्डं कटुकालाबुपल्लवाः ।
करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ॥ ५८ ॥

अर्कक्षीरादिप्रलेप—मदार का दूध, सेहुण्ड का काण्ड (डंठल), कड़वी तुम्बी के पत्ते, करञ्ज; इन्हें एकत्र छागमूत्र से पीसकर अर्शों पर लेप करना चाहिये । यह श्रेष्ठ प्रलेप है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में भी कहा है—

'बस्तमूत्रपिष्टैर्वा सुधाकाण्डार्कक्षीरतुम्बप्रसवकरञ्जैः ।'

---

१ 'दन्ती श्यामामृतासंज्ञः' ग. । २ 'अर्कपत्रं' ग. ।

चक्रपाणि ने अपने संग्रहग्रन्थ (चक्रदत्त) में 'सुधाकाण्ड' के स्थान पर 'सुधाक्षीर' पढ़ा है । वहां पाठ यह है—

'अर्कक्षीरं सुधाक्षीरं तिक्तुतुम्ब्याश्च पल्लवाः ।
करञ्जो बस्तमूत्रं च लेपनं श्रेष्ठमर्शसाम् ॥'

अभ्यङ्गाद्याः प्रदेहान्ता य एते परिकीर्तिताः ।
स्तम्भश्वयथुकण्डूवर्तिशमनास्तेऽर्शसां मताः ॥ ५९ ॥

अभ्यङ्ग से लेकर प्रलेप पर्यन्त जो ये योग कहे गये हैं, वे अर्श स्तम्भ शोथ कण्डू तथा वेदना को शान्त करते हैं ॥ ५९ ॥

प्रदेहान्तैरुपक्रान्तान्यर्शांसि प्रस्रवन्ति हि ।
संचितं दुष्टरुधिरं ततः संपद्यते सुखम् ॥ ६० ॥

प्रदेह (प्रलेप) पर्यन्त कहे गये उपक्रमों के करने से अर्शों में सञ्चित हुआ हुआ दुष्ट रुधिर निकल जाता है और रोगी को आराम हो जाता है ॥ ६० ॥

शीतोष्णस्निग्धरूक्षैर्हि न व्याधिरुपशाम्यति ।
रक्ते दुष्टे भिषक् तस्माद्रक्तमेवावसेचयेत् ॥ ६१ ॥

रक्त के दुष्ट होने पर न शीत न उष्ण न स्निग्ध न रूक्ष क्रिया से रोग की शान्ति होती है, अतः उससमय रक्तावसेचन ही हितकर होता है ॥ ६१ ॥

जलौकाभिस्तथा शस्त्रैः सूचीभिर्वा पुनः पुनः ।
अवर्तमानं रुधिरं शुष्कार्शोभ्यः[2] प्रवाहयेत् ॥ ६२ ॥

यदि प्रदेहान्त उपक्रमों से भी शुष्कार्श में रक्तस्रुति न हो तब जोंकों द्वारा वा शस्त्र से पछकर वा सुइयों द्वारा वेध से रक्तावसेचन करावे ॥ ६२ ॥

त्र्यूषणादिचूर्णम् ।

गुदश्वयथुशूलार्तं मन्दाग्निं पाययेत्तु तम् ।

---

१ '०कण्डूवर्तिनाशनास्ते०' ग० । २ 'रक्तार्शोभ्यः' पा० ।

त्र्यूषणं पिप्पलीमूलं पाठां हिङ्गु सचित्रकम् ॥ ६३ ॥
सौवर्चलं पुष्कराख्यमजाजीं बिल्वपेषिकाम्।
बिडं यवानीं हपुषां विडङ्गं सैन्धवं वचाम् ॥ ६४ ॥
तिन्तिडीकं च मण्डेन मद्येनोष्णोदकेन च।
तथाऽर्शोग्रहणीदोषशूलानाहाद्विमुच्यते ॥ ६५ ॥

त्र्यूषणादिचूर्ण—शुष्कार्श का रोगी जब गुदा की शोथ और शूल से पीड़ित हो और अग्नि मन्द हो तब त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली), पिप्पलीमूल, पाठा (पाढ़), हींग, चित्रक, सौंचरनमक, पुष्करमुल, अजाजी (श्वेत जीरा), बेलगिरी, बिडनमक, हपुषा (हाऊबेर), वायविडङ्ग, सेन्धानमक, वचा, तिन्तिडीक (विषांबिल); इनके चूर्ण को मण्ड मद्य वा गरम जल के अनुपान से पिलाना चाहिये। इसके प्रयोग से रोगी अर्श ग्रहणीदोष शूल और आनाह से विमुक्त होजाता है। मात्रा—२ मासे ॥ ६३–६५ ॥

कुर्याद्वा[1] पाचनं तस्य यदुक्तं ह्यातिसारिके।
सगुडामभयां वाऽथ प्राशयेत्पौर्वभक्तिकीम् ॥ ६६ ॥

अथवा रोगी को अतिसारचिकित्सित में जो पाचन कहा गया है, वह पाचन कराना चाहिये। अथवा भोजन से तत्काल पूर्व ही गुडयुक्त हरड़ खिलानी चाहिये ॥ ६६ ॥

पाययेत त्रिवृच्चूर्णं त्रिफलाया रसेन वा।
हृते गुदाश्रये दोषे गच्छन्त्यर्शांसि संक्षयम् ॥ ६७ ॥

अथवा त्रिवृत (निसोत) के चूर्ण को त्रिफला के क्वाथ के अनुपान से पिलावे। त्रिवृत् चूर्ण की मात्रा—१॥ मासा।

इसप्रकार गुदा में आश्रित दोष के हरे जाने पर अर्श नष्ट हो जाते हैं ॥ ६७ ॥

---

१ 'पाचनं पाययेद्वा तद् यद्वच्याम्यतिसारिये' ग.।

गोमूत्राध्युषितां दद्यात्सगुडां वा हरीतकीम् ।
हरीतकीं तक्रयुतां त्रिफलां वा प्रयोजयेत् ॥ ६८ ॥

अथवा गोमूत्र में एक रात रखी हुई हरड़ को गुड़ के साथ प्रयोग करावे । अथवा हरड़ के चूर्ण को वा त्रिफला के चूर्ण को तक्र के अनुपान से प्रयोग करावे ॥ ६८ ॥

सनागरं चित्रकं वा शीधुयुक्तं प्रयोजयेत् ।
दीपयेच्चव्ययुक्तं वा शीधुं साजाजिचित्रकम् ॥ ६९ ॥

अथवा सोंठ और चित्रक के चूर्ण को शीधु (मद्यविशेष) के साथ प्रयोग करावे । अथवा जीरा चित्रक और चव्य के चूर्ण को शीधु के साथ सेवनार्थ देवे ॥ ६९ ॥

सुरां वा हपुषा[2]पाठायुक्तां सौवर्चलान्विताम् ।
[3]दधित्थं बिल्वसंयुक्तं युक्तं वा च[4]व्यचित्रकैः ॥ ७० ॥
भल्लातकयुतं वाऽथ प्रदद्यात्तत्र तर्पणम् ।
बिल्वनागरयुक्तं वा यवान्या चित्रकेण च ॥ ७१ ॥

अथवा हाऊबेर, पाढ़, सौंचरनमक; इनसे युक्त सुरा को पानार्थ दे । अथवा कैथ और बेलगिरी से युक्त अथवा चव्य और चित्रक से युक्त अथवा भल्लातक (भिलावा) से युक्त तर्पण देने चाहियें । तर्पण जलालोडित सत्तुओं को कहते हैं । आहार में ओषधियां प्रायः अप्रधान हुआ करती हैं, अतः वहां ओषधियों की मात्रा स्वल्प ही डालनी चाहिये । भल्लातक आदि तीक्ष्णवीर्य द्रव्य अत्यल्प मात्रा में डालने चाहियें । तर्पण में प्रयोग करने के लिये भल्लातक चूर्ण का १ भाग और नौ भाग सत्तू के होने चाहियें—ऐसा कइयों का मत है । भल्लातक की आधुनिक मात्रा—१ रत्ती से ३ रत्ती तक वृद्धवैद्यों ने निर्धारित की है । यदि ३ रत्ती भल्लातक हो तो सत्तू २७ रत्ती होंगे ।

---

१ 'चव्यं वा शीधुसंयुक्तमजाजिदीप्यकं पिबेत् ।' पा० ।
२ 'हपुषां पाठां युक्तां' पा० । ३ 'दधित्थं बिल्वसंयुक्तं' पा० ।
४ 'चव्यचित्रकम्' पा० ।

कई प्राचीन वैद्य भल्लातक और सत्तुओं को समपरिमाण में मिलाकर अत्यन्त अल्पमात्रा में व्यवहार करने को कहते हैं । वस्तुतस्तु वैद्य को स्वयं विवेचना करके जैसा उचित हो तर्पण आदि में उतनी मात्रा में औषध मिश्रित करके रोगी को आहारार्थ प्रयोग कराना चाहिये ।

'तत्र तर्पणम्' के स्थान पर 'तक्रतर्पणम्' यह पाठ भी उपलब्ध होता है उसके अनुसार सत्तुओं के आलोडन के लिये तक्र का प्रयोग होगा। अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० १० में कहा है–

'सक्तुमन्थं वा भल्लातकचूर्णयुक्तं नातिलवणं तक्रेण।'

अथवा बेलगिरी और सोंठ से युक्त अथवा अजवाइन और चित्रक से युक्त जलालोडित सत्तू रोगी को देने चाहियें ॥७०-७१॥

चित्रकं हपुषां हिङ्गु दद्याद्वा तक्रसंयुतम् ।
पञ्चकोलयुतं वाऽपि तक्रमस्मै प्रदापयेत् ॥ ७२ ॥

अथवा चित्रक, हाऊबेर, हींग; इनके चूर्ण को तक्र के साथ दे। अथवा रोगी को पञ्चकोलयुक्त तक्र पीने को दे । पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक और सोंठ; इन पांच द्रव्यों को पञ्चकोल कहते हैं ॥ ७२ ॥

तक्रारिष्टः ।

हपुषां कुञ्चिकां धान्यमजाजीं कारवीं शटीम् ।
पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ७३ ॥
यमानीं चाजमोदां च चूर्णितं तक्रसंयुतम् ।
मन्दाम्लकटुकं विद्वान् स्थापयेद् घृतभाजने ॥ ७४ ॥
व्यक्ताम्लकटुकं जातं तक्रारिष्टं सुखप्रियम् ।
प्रपिबेन्मात्रया कालेष्वन्नस्य[1] तृषितस्त्रिषु ॥ ७५ ॥
दीपनं रोचनं वर्ण्यं कफवातानुलोमनम् ।

१ त्रिषु कालेषु पिबेदिति अन्नस्य द्वौ कालौ, यदा तृषितः तत्र चैककालमिति गङ्गाधरः ।

गुदश्वयथुकण्ड्वर्तिनाशनं बलवर्धनम् ॥ ७६ ॥

इति तक्रारिष्टः ।

तक्रारिष्ट—हपुषा (हाऊबेर), कुञ्चिका (उपकुञ्चिका, काला-जीरा), धनियां, श्वेतजीरा, कारवी (छोटा कालाजीरा), शटी (कचूर), पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, अजवाइन, अजमोदा; इनके समभाग में मिश्रित चूर्ण को तक्र में मिला एक घृत भावित पात्र में डाल दें । अभी इसमें अम्ल और कटुरस मन्द होते हैं । कुछ दिन बाद जब रस अच्छीप्रकार खट्टा और कटु होजाय तब भोजन के तीनों कालों में अर्थात् आदि मध्य और अन्त में प्यास लगने पर इस तक्रारिष्ट को मात्रा में रोगी पीवे । यह अरिष्ट मुख को प्रिय लगता है—स्वादु होता है । यह दीपन, रुचिकर, वर्ण के लिये हितकर तथा कफवात का अनुलोमक है । गुदा के शोथ कण्डू तथा पीड़ा को नष्ट करता है और बल को बढ़ाता है ।

यहां पर तक्र तथा प्रक्षेपद्रव्यों का मान ग्रहण्यधिकार में कहे गये तक्रारिष्ट के अनुसार लेते हैं । यदि तक्र २ आढक (८ प्रस्थ= १२८ पल) हो तो हाऊबेर आदि प्रक्षेपद्रव्य मिलित १२ पल लिये जांयगे । गङ्गाधर तक्र से षोडशांश प्रक्षेप की व्यवस्था देता है ।

तक्रारिष्ट का अन्तःप्रयोग होने से अजमोदा से भी अजवाइन का ही ग्रहण होता है । इसप्रकार अजमोदा न लेकर अजवाइन के दो भाग लिये जांयगे । कहा भी है—

' अन्तःसम्मार्जने प्रायोऽजमोदा तु यमानिका ।
बहिःसम्मार्जने ज्ञेया चाजमोदाऽजमोदिका ' ॥७३–७६॥

त्वचं चित्रकमूलस्य पिष्ट्वा कुम्भं प्रलेपयेत् ।
तक्रं वा दधि वा तत्र जातमर्शोहरं पिबेत् ॥ ७७ ॥

चीते की जड़ के छिलके को अच्छीप्रकार पीसकर एक मिट्टी के

घड़े में तिल की मोटाई जितना लेप करें । शुष्क होने पर उस पात्र में दही जमावें । उस दही को अथवा उस दही की छाछ को मात्रा में रोगी पीवे । यह अर्शनाशक है ॥ ७७ ॥

वातश्लेष्मार्शसां तक्रात्परं नास्तीह भेषजम् ।
तत्प्रयोज्यं यथादोषं सस्नेहं रूक्षमेव वा ॥ ७८ ॥

वातकफज अर्शों में तक्र से बढ़कर दूसरी औषध नहीं । इसे दोष के अनुसार स्नेहयुक्त ही वा रूक्ष पीना चाहिये । यदि वातज हो तो तक्र में से मक्खन को पृथक् न करें । यदि कफज हो तो मक्खन निकाल लेना चाहिये ॥ ७८ ॥

सप्ताहं वा दशाहं वा पक्षं मासमथापि वा ।
बलकालविशेषज्ञो भिषक्तक्रं प्रयोजयेत् ॥ ७९ ॥

बल तथा काल के भेदों को जानने वाला चिकित्सक तक्र को सातदिन, दसदिन, पन्द्रहदिन वा एक मास तक प्रयोग करावे ।

अत्यर्थं मृदुकायाग्नेस्तक्रमेवावचारयेत् ।
सायं वा लाजशक्तूनां दद्यात्तक्रावलेहिकाम् ॥ ८० ॥
जीर्णे तक्रे प्रदद्याद्वा तक्रपेयां ससैन्धवाम् ।

जिस रोगी की कायाग्नि अति मन्द हो उसे केवल तक्र का ही प्रयोग करावे, अन्न न दे । जब अग्नि कुछ प्रवृद्ध हो तब प्रातः तक्र पिलावे और सायंकाल लाजा के सत्तुओं का तक्र से बनाया अवलेह चाटने को दे । सत्तुओं में तक्र उतना ही डाले जिससे अवलेह सदृश हो जाय ।

अथवा प्रातःकाल आहार के समय पी हुई तक्र के पचजाने पर रोगी को सायंकाल तक्र द्वारा साधित सैन्धानमक से युक्त पेया देवें ॥८०॥

तक्रानुपानं सस्नेहं तक्रौदनमतः परम् ॥ ८१ ॥
यूषैर्मांसरसैर्वाऽपि भोजयेत्तक्रसंयुतैः ।

१अतः परं 'यूषैे रसेन वाप्यूदूर्ध्वं तक्रसिद्धेन भोजयेत्।' इत्यधिकं पठति गङ्गाधरः।

इसके पश्चात् जब अग्नि अपेक्षया अधिक तीव्र हो गई हो तब घृत आदि स्नेहयुक्त तक्रौदन (छाछ और भात मिलाकर) खाने को देना चाहिये। इस समय अनुपानरूप में भी तक्र का ही प्रयोग होगा। अर्थात् तक्रौदन के भोजन के पश्चात् यदि प्यास हो तो तक्र ही पीवे। तदनन्तर तक्रयुक्त यूष वा तक्रसंयुक्त मांसरसों के साथ भोजन करे।

यद्यपि इस श्लोक में सायंकाल ही तक्रौदन आदि का प्रयोग करने को नहीं कहा परन्तु ऊपर के श्लोक में कहे गये 'सायं' वा 'जीर्णे तक्रे' का अध्याहार करके टीकाकार यही अभिप्राय निकालते हैं कि प्रातःकाल आहारसमय केवल तक्र का ही प्रयोग होगा और सायंकाल जब पूर्वाह्न में पी गई तक्र पच चुकी होगी तब लाजा के सत्तुओं की तक्रावलेहिका वा तक्रपेया की तरह ही सायंकाल तक्रौदन वा तक्रयुक्त यूष वा तक्रयुक्त मांसरस के साथ भोजन का रोगी को आदेश करना चाहिये।

यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि बल काल आदि के अनुसार तक्र का प्रयोग सातदिन दस दिन एक पक्ष (१५ दिन) वा मासपर्यन्त करना चाहिये ॥ ८१ ॥

कालक्रमज्ञः सहसा न च तक्रं निवारयेत् ॥ ८२ ॥
तक्रप्रयोगो मासान्तः क्रमेणोपरमो हितः।
अपकर्षो यथोत्कर्षो न त्वन्नादपकृष्यते ॥ ॥ ८३ ॥

काल तथा उपयोगक्रम को जानने वाले वैद्य को चाहिये कि वह इसप्रकार तक्र का प्रयोग कराने के पश्चात् रोगी को सहसा ही तक्र से निवृत्त न करा दे। अर्थात् एकदम ही तक्र का सर्वथा त्याग न करावे। तक्र का प्रयोग अधिक से अधिक एक मास तक होता है। तदनन्तर तक्र की क्रमशः निवृत्ति ही हितकर है।

जैसे तक्र की वृद्धि की गई थी वैसे ही क्रमशः तक्र की न्यूनता करनी चाहिये। परन्तु अन्न के साथ प्रयुक्त होने वाली तक्र में कमी

नहीं की जाती । अन्न के बिना जो तक्र प्रयुक्त होती है उसी में क्रमशः कमी की जानी चाहिये ।

अथवा यह अर्थ होगा कि जैसे ही तक्र की वृद्धि की गई है वैसे ही तक्र का ह्रास करना चाहिये । परन्तु ह्रास करने का यह तात्पर्य नहीं कि रोगी के भोजन में कमी हो जाय । जितना तक्र को कम किया जाय उसके स्थान पर उतना ही रोगी की भूख और अग्नि के अनुसार दूसरा हितकर भोज्य द्रव्य खाने को देना चाहिये । जिससे रोगी भूखा न रहे और निर्बल न होता जाय। जतुकर्ण ने भी कहा है—

'प्रातस्तक्रप्रयोगः क्रमश उत्कर्षापकर्षौ जीर्णे च सैन्धवान्विततक्रेणौदनं वा अतिमन्दाग्नेस्तक्रमेवेति आमासान्तात्' ॥ ८२–८३ ॥

शक्त्यागमनरक्षार्थं दार्ढ्यार्थमनलस्य च ।
बलोपचयवर्णार्थमेष निर्दिश्यते क्रमः ॥ ८४ ॥

यह तक्र के उत्कर्ष (वृद्धि) और अपकर्ष (ह्रास) का क्रम शक्ति के आने के और आगत शक्ति की रक्षा के निमित्त, अग्नि की दृढ़ता के निमित्त तथा बल पुष्टि एवं वर्ण के निमित्त कहा है । यथाविधान तक्र का सेवन कराने से रोगी शक्तिमान् तीव्राग्नियुक्त बलवान् पुष्टिसम्पन्न तथा शुभवर्ण युक्त होता है ॥ ८४ ॥

रूक्षमर्धोद्धृतस्नेहं यतश्चानुद्धृतं घृतम् ।
तक्रं दोषाग्निबलवित्त्रिविधं तत्प्रयोजयेत् ॥ ८५ ॥

दोष तथा अग्नि के बल को जानने वाला वैद्य रूक्ष (स्नेहरहित-मक्खन रहित), जिसमें से आधा मक्खन निकाला गया हो तथा च जिसमें से मक्खन न निकाला हो; तीनों प्रकार की तक्र को प्रयोग करावे । रूक्ष तक्र कफदोष में, आधामक्खन युक्त तक्र पित्तदोष में तथा जिस में से मक्खन न निकाला हो वह तक्र वातदोष में प्रयुक्त होता है ॥ ८५ ॥

हतानि न विरोहन्ति तक्रेण गुदजानि तु ।

भूमावपि निषिक्तं तद्दहेत्तक्रं तृणोलुपम् ॥ ८६ ॥
किं पुनर्दीप्तकायाग्नेः शुष्काण्यर्शांसि देहिनः ॥ ८७ ॥

तक्र द्वारा नष्ट हुए अर्श पुनः उत्पन्न नहीं होते । भूमि पर भी सींची हुई तक्र वहां के तृणसमूह को जला देती है, जिसकी कायाग्नि दीप्त है ऐसे पुरुष के शुष्क अर्शों का तो क्या कहना । अर्थात् तक्र शुष्क अर्शों का समूल उच्छेद कर देती है ॥ ८६ ॥

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः ॥ ८७ ॥
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ।
वातश्लेष्मविकाराणां शतं चापि निवर्तते ॥ ८८ ॥
नास्ति तक्रात्परं किंचिदौषधं कफवातजे ।

तक्र द्वारा स्रोतों के शुद्ध हो जाने पर जो रस देह में सम्यक्तया पहुंचता है उससे पुष्टि बल वर्ण और प्रहर्ष उत्पन्न होता है अर्थात् शीघ्र ही बल वर्ण एवं ओज की वृद्धि होती है और वातज श्लेष्मज सौ विकार ही निवृत्त हो जाते हैं । कफवातज में तक्र से बढ़कर अन्य औषध नहीं । वातज विकार ८० हैं और कफज विकार २० हैं, दोनों मिलाकर १०० होते हैं । ये विकार सूत्रस्थान के २० वें अध्याय में कहे जा चुके हैं ॥ ८७-८८ ॥

पिप्पलीं पिप्पलीमूलं चित्रकं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ८९ ॥
शृङ्गवेरमजाजीं च कारवीं धान्यतुम्बुरुम् ।
बिल्वं कर्कटकं पाठां पिष्ट्वा पेयां विपाचयेत् ॥ ९० ॥
फलाम्लां यमकैर्भृष्टां तां दद्याद्गुदजापहाम् ।

पिप्पल्यादियवागू—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, सोंठ, अजाजी (श्वेतजीरा), कारवी (सूक्ष्म कालाजीरा), धनियां, तुम्बुरु (नेपाली धनियां), बेलगिरी, कर्कटक (क्षुद्रामलक अथवा काकड़ासिंगी), पाठा; इन्हें पीसकर कल्क से यथाविधि पेया बनावे। यह पेया अनार आदि फलों के रस से कुछ खट्टी कर लेनी चाहिये और

यमक में (घी और तैल मिश्रित) भून लेनी चाहिये । यह अर्शों को नष्ट करती है ॥ ८९—९० ॥

एतैरेव खडान् कुर्यादेतैश्चैवं पचेज्जलम् ॥ ९१ ॥
एतैश्चैव घृतं साध्यमर्शसां विनिवृत्तये ।

अर्शों की निवृत्ति के लिये इन्हीं पिप्पली आदि द्रव्यों से खडयूष प्रस्तुत करने चाहियें । और इन्हीं से ही पानार्थ जल पकावे और इन्हीं द्रव्यों से घृत को सिद्ध करें । खड का लक्षण हम सूत्रस्थान १३ अध्याय में (३३० पृष्ठ पर) कह आये हैं ॥ ९१ ॥

शटीपलाशसिद्धां वा पिप्पल्या नागरेण वा ॥ ९२ ॥
दद्याद्यवागूं तक्राम्लां मरिचैरवचूर्णिताम् ।

अथवा शुष्कार्श के रोगी को आहारार्थ कचूर और पलाशबीज से साधित अथवा पिप्पली से साधित अथवा सोंठ से साधित यवागू—जो तक्र द्वारा अम्लीकृत हो और जिसमें कालीमिर्च का अवचूर्णन किया हो देनी चाहिये ॥ ९२ ॥

शुष्कमूलकयूषं वा यूषं कौलत्थमेव वा ॥ ९३ ॥
दधित्थबिल्वयूषं वा सकुलत्थमकुष्ठकम् ।

अथवा सूखी मूली का यूष अथवा कुलथी का यूष अथवा कुलथी और मोठ से युक्त कैथ और बेलगिरी का यूष देना चाहिये ।

छागलं वा रसं दद्याद्यूषैरेतैर्विमिश्रितम् ॥ ९४ ॥
लावादीनां फलाम्लं वा सतक्रं ग्राहिभिर्युतम् ।

अथवा बकरे के मांसरस को इन उक्त यूषों के साथ मिश्रित करके देना चाहिये । अथवा फलों के रस से अम्लीकृत तथा तक्र और ग्राही (बेलगिरी आदि) औषधों से युक्त लावा आदि पक्षियों के मांसरस का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ९४ ॥

रक्तशालिर्महाशालिः कलमो जाङ्गलः सितः ॥ ९५ ॥

---

१ '०देतैश्च विपचे०' ग. । २ 'दद्याद्धृतैरेभिर्विमिश्रितम्' ग. ।

शारदः षष्टिकश्चैव स्यादन्नविधिरर्शसाम् ।
इत्युक्तो भिन्नशकृतामर्शसां च विधिक्रमः ॥ ९६ ॥

लाल शालि, महाशालि, कलम, जाङ्गल (जङ्गल में स्वयं उत्पन्न होने वाला), सित (गौर धान्य), शारद (शरद् ऋतु में उत्पन्न होने वाला), षष्टिक (सांठी); ये अर्शरोगी के अन्न का विधान है ।

ये उक्त विधिक्रम उन अर्श के रोगियों के लिये है, जिन्हें मल पतला आता है ॥ ९६ ॥

येऽत्यर्थं गाढशकृतस्तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ।
सस्नेहैः शक्तुभिर्युक्तां प्रसन्नां लवणीकृताम् ॥ ९७ ॥

दद्यान्मत्स्यण्डिकां पूर्वं भक्षयित्वा सनागराम् ।

जिन्हें मल अत्यधिक कठोर आता है अब उन अर्शरोगियों की औषध कहूंगा—

रोगी को पूर्व सोंठयुक्त मत्स्यण्डिका (राब) खिलाकर घृत से स्निग्ध सत्तुओं से युक्त तथा सैन्धानमक से लवणीकृत प्रसन्ना (मदिरा का उपरितन स्वच्छ भाग) पिलावें ॥ ९७ ॥

गुडं सनागरं पाठां फलाम्लं पाययेच्च तम् ॥ ९८ ॥
गुडं घृतं यवक्षारं युक्तं वाऽपि प्रयोजयेत् ।

सोंठ, पाठा; इन्हें चूर्णित कर गुड के साथ मिला अनार आदि के रस से खट्टा कर लें । यह कठोर पुरीष वाले अर्श के रोगी को पिलावें । अथवा गुड घी और यवक्षार; इन्हें एकत्र मिश्रित कर प्रयोग करावें ॥ ९८ ॥

यवानीं नागरं पाठां दाडिमस्य रसं गुडम् ॥ ९९ ॥
सतक्रलवणं दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ।

अजवाइन, सोंठ, पाठा; इनके चूर्ण को गुड में मिश्रित कर अनार के रस से खट्टा कर लें । इसे तक्र में आलोडित कर नमक डाल रोगी को पिलावें । यह योग वायु और पुरीष का अनुलोमन

करता है। नमक उतना ही डालें जिससे स्वाद थोड़ा नमकीन हो जाय। अथवा इस तक्र को अनुपान रूप में प्रयुक्त करना चाहिये। अर्थात् रोगी एकत्र मिश्रित अजवाइन सोंठ पाठा गुड तथा अनार के रस को पहिले प्रयोग करले और ऊपर से तक्र पी जाय॥९९॥

दुःस्पर्शकेन बिल्वेन यवान्या नागरेण वा ॥ १०० ॥
एकैकेनापि संयुक्ता पाठा हन्त्यर्शसां रुजम्।

दुरालभा, बेलगिरी, अजवाइन, सोंठ; इन द्रव्यों में से एक एक के साथ भी मिश्रित करके प्रयोग कराई गई पाठा अर्शोरोगियों की पीड़ा को नष्ट करती है। 'एकैकेनापि (एक एक के साथ भी)' कहने से यह अभिप्राय है कि दुरालभा आदि समस्त द्रव्यों के साथ भी मिश्रित करके पाठा का प्रयोग होता है और वह अर्शों के नाश के लिये अत्यन्त हितकर है। इसप्रकार ये पांच योग हैं। १ दुरालभा, बेलगिरी, अजवाइन, सोंठ, पाठा। २ दुरालभा, पाठा। ३ बेलगिरी, पाठा। ४ अजवाइन, पाठा। ५ सोंठ, पाठा ॥ १०० ॥

प्राग्भक्ताद्[1] यमके भृष्टान् सक्तुभिश्चावचूर्णितान् ॥ १०१ ॥
करञ्जपल्लवान् दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनान्।

वात और पुरीष के अनुलोमन के लिये भोजन से ठीक पहिले यमक (घी और तैल मिश्रित) में भूने हुए करञ्ज के कोमल पत्तों को चूर्णित करके सत्तू मिलाकर रोगी को खाने के लिये दें ॥ १०१ ॥

मदिरां वा सलवणां शीधुं सौवीरकं तथा ॥ १०२ ॥
गुडनागरसंयुक्तं पिबेद्वा पौर्वभक्तिकम्[2]।

अथवा भोजन से ठीक पहले मदिरा में सेन्धानमक डालकर अथवा

---

१ 'प्रागुक्तान्' ग.। 'प्रागुक्तानित्यादि-दुःस्पर्शकादीन् सर्वानेकैकान् वा यमके तैलघृते भृष्टान् वातवर्चोऽनुलोमनान् दद्यात्। करञ्जपल्लवांश्च सक्तुभिरवचूर्णितान् यमके भृष्टान् दद्यात्'॥ गङ्गाधरः।

२ 'सगुडामभयां वाथ प्राशयेत्पौर्वभाक्तिकीम्' ग.।

शीधु (मद्यविशेष) में गुड और सोंठ का चूर्ण डालकर अथवा सौवीर (निस्तुष जौ की कांजी) में गुड और सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर पीवे ॥ १०२॥

पिप्पलीनागरक्षारकारवीधान्यजीरकैः ॥ १०३ ॥
फाणितेन च संयोज्य फलाम्लं साधयेद्घृतम् ।

पिप्पल्यादिघृत—घी २ प्रस्थ । कल्कार्थ--पिप्पली, सोंठ, यवक्षार, कारवी (छोटा कालाजीरा), धनियां, श्वेतजीरा; मिलित १ शराव । इनसे यथाविधि घी सिद्ध करें। पश्चात् सिद्ध घृत में फाणित (राब) मिला लें और अनार आदि फलों का रस डालकर कुछ खट्टा करलें । इसे रोगी को प्रयोग करावें । घी की मात्रा—आधा तोला । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में कहा है—

' रूक्षकोष्ठश्चार्शसो नागरक्षारकृष्णाजाजीधान्यकारवीगर्भं फलाम्लं सफाणितं सर्पिः पिबेत् ।'

अथवा गव्यघृत में पिप्पली आदि का चूर्ण तथा फाणित का प्रक्षेप देकर अनार के रस से अम्लीकृत कर रोगी को पिलावें—ऐसा कइयों का मत है । अर्थात् गव्यघृत को पिप्पली आदि के कल्क से अग्नि पर सिद्ध नहीं करना अपितु अपक्व घृत में ही उनका प्रक्षेप देना है ॥ १०३ ॥

पिप्पली पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥ १०४ ॥
शृङ्गवेरं यवक्षारं तैः सिद्धं वा पिबेद्घृतम् ।

पिप्पल्यादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, अदरख, यवक्षार; मिलित १ शराव । यथाविधि सिद्धकर घी को रोगी पीवे । मात्रा—आधा तोला ॥ १०४ ॥

चव्यचित्रकसिद्धं वा गुडक्षारसमन्वितम् ॥ १०५ ॥

पिप्पलीमूलसिद्धं वा सगुडक्षारनागरम्[1] ।

पिप्पल्याद्यघृत—गव्यघृत (२ प्रस्थ) को चव्य और चित्रक के कल्क (१ शराव) से यथाविधि सिद्धकर गुड और यवक्षार का प्रक्षेप देकर मात्रा में रोगी पीवे । अथवा पिप्पलीमूल के कल्क से साधित घी में गुड यवक्षार और सोंठ का प्रक्षेप देकर रोगी पीवे । प्रक्षेप घी से चतुर्थांश देने का सामान्य नियम है ॥ १०५ ॥

पिप्पलीपिप्पलीमूलदधिदाडिमधान्यकैः[2] ॥ १०६ ॥
सिद्धं सर्पिर्विधातव्यं वातवर्चोविबन्धनुत् ।

पिप्पल्याद्य घृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । दही ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—पिप्पली, पिप्पलीमूल, अनारदाना, धनियां; मिलित १ शराव । यथाविधि पाक करे । यह वात और पुरीष के विबन्ध को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला ॥ १०६ ॥

चव्याद्यघृतम् ।

चव्यं त्रिकटुकं पाठां क्षारं कुस्तुम्बुरूणि च ॥ १०७ ॥
यवानीं पिप्पलीमूलमुभे च विडसैन्धवे ।
चित्रकं बिल्वमभयां पिष्ट्वा सर्पिर्विपाचयेत् ॥ १०८ ॥
शकृद्वातानुलोम्यार्थं जाते दध्नि चतुर्गुणे ।
प्रवाहिकां गुदभ्रंशं मूत्रकृच्छ्रं परिस्रवम् ॥ १०९ ॥
गुदवङ्क्षणशूलं च घृतमेतद्व्यपोहति ।

चव्याद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । कल्कार्थ—चव्य, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, पाठा, यवक्षार, धनियां, अजवाइन, पिप्पलीमूल, विडनमक, सेन्धानमक, चित्रक, बेलगिरी, हरड़; मिलित १ शराव । अच्छीप्रकार जमी हुई दही चौगुनी अर्थात् ८ प्रस्थ । यथाविधि साधित यह घृत पुरीष और वात का अनुलोमन करता है । यह घृत प्रवाहिका गुदभ्रंश मूत्रकृच्छ्र परिस्रव (गुदा से पिच्छास्राव होना)

१ 'गुडक्षारसमन्वितम्' ग. । २ '०दधिनागरधान्यकैः' ग. ।

गुदाशूल तथा वंक्षण-शूल को नष्ट करता है । मात्रा—आधा तोला ।

स्नेहपाक में यह स्मरण रखना चाहिये कि जब दही से पाक करने को कहा हो वीर्याधान के लिये साथ ही चतुर्गुण जल भी डाला जाता है । अन्यथा यथावत् पाक नहीं होता ।

'स्वरसक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यत्रेरितः क्वचित् ।
जलं चतुर्गुणं तत्र वीर्याधानार्थमावपेत् ॥'

इस घृत का पाक करते हुए ८ प्रस्थ दही के साथ ही ८ प्रस्थ जल भी डाला जाता है ॥ १०७–१०९ ॥

नागरादिघृतम् ।

नागरं पिप्पलीमूलं चित्रको हस्तिपिप्पली ॥ ११० ॥
श्वदंष्ट्रा पिप्पली धान्यं बिल्वं पाठा यवानिका ।
चाङ्गेरीस्वरसे सर्पिः कल्कैरेतैर्विपाचयेत् ॥ १११ ॥
चतुर्गुणेन दध्ना च तद्घृतं कफवातनुत् ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥ ११२ ॥
गुदभ्रंशार्तिमानाहं घृतमेतद्व्यपोहति ।

इति नागरादिघृतम् ।

नागरादिघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । चाङ्गेरी (तिपतिया) का स्वरस ८ प्रस्थ । दही ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—सोंठ, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, गोखरू, पिप्पली, धनियां, बेलगिरी, पाठा, अजवाइन; मिलित १ शराव । यथाविधि पाक करें । यह घृत कफवात दोषों को नष्ट करता है । यह अर्श ग्रहणीदोष मूत्रकृच्छ्र प्रवाहिका गुदभ्रंश गुदाशूल तथा आनाह को हटाता है । मात्रा—आधा तोला ।

यहां स्वरस के साथ पाक करते समय चतुर्गुण अर्थात् ८ प्रस्थ जल डाला जाता है । इसी प्रकार दही के साथ पाक करते समय भी ८ प्रस्थ जल डाला जाता है ॥ ११०–११२ ॥

पिप्पल्याद्यं घृतम् ।

पिप्पलीं नागरं पाठां श्वदंष्ट्रां च पृथक् पृथक् ॥ ११३ ॥
भागांस्त्रिपलिकान्कृत्वा कषायमुपकल्पयेत् ।
गण्डीरं पिप्पलीमूलं व्योषं चव्यं च चित्रकम् ॥ ११४ ॥
पिष्ट्वा कषाये विनयेत्पूते द्विपलिकं पृथक् ।
पलानि सर्पिषस्तस्मिंश्चत्वारिंशत्प्रदापयेत् ॥ ११५ ॥
चाङ्गेरीस्वरसं तुल्यं सर्पिषा दधि षड्गुणम् ।
मृद्वग्निना ततः साध्यं सिद्धं सर्पिर्निधापयेत् ॥ ११६ ॥
तदाहारे विधातव्यं पाने प्रायोगिके विधौ ।
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नं गुल्महृद्रोगनाशनम् ॥ ११७ ॥
शोथप्लीहोदरानाहमूत्रकृच्छ्रज्वरापहम् ।
कासहिक्कारुचिश्वाससूदनं पार्श्वशूलनुत् ॥ ११८ ॥
बलपुष्टिकरं वर्ण्यमग्निसन्दीपनं परम् ।

इति पिप्पल्याद्यं घृतम् ।

पिप्पल्याद्य घृत—क्वाथार्थ–पिप्पली, सोंठ, पाठा, गोखरू; पृथक् पृथक् ३ पल, जल १६० पल (१० प्रस्थ), अवशिष्ट क्वाथ ४० पल। इस क्वाथ में गण्डीर (शमठ शाक), पिप्पलीमूल, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, चव्य, चित्रक; प्रत्येक का कल्क २ पल मिला दें । इसमें ४० पल घी, घी के समान (४० पल) चाङ्गेरी का स्वरस और दही छहगुना (२४० पल) डालकर यथाविधि मृदु अग्नि से सिद्ध करें । इस सिद्ध हुए घी को स्वच्छ पात्र में रख लें । इसे अन्नपान तथा प्रायोगिक (प्रतिदिन प्रयोग की जाने वाली) विधि में प्रयुक्त कराना चाहिये । मात्रा—आधा तोला । यह ग्रहणी, अर्श, गुल्म,

---

१ 'गण्डीरो महान् कन्दप्रायः कार्तिकेयपुरादौ गिरिराजभूमिषु प्रसिद्धः ।' इत्यष्टाङ्गसङ्ग्रहटीकायामिन्दुः ।

हृद्रोग, शोथ, प्लीहा, उदर, आनाह, मूत्रकृच्छ्र, ज्वर, कास, हिचकी, अरुचि, श्वास, पार्श्वशूल; इन रोगों को नष्ट करता है। यहां बल एवं पुष्टि को करने वाला वर्ण के लिये हितकर तथा परम अग्नि दीपक है।

चक्रपाणि क्वाथ्यद्रव्यों के क्वाथ के लिये ३ प्रस्थ (द्विगुण करके ६ प्रस्थ=९६ पल) जल डालकर ४० पल अवशिष्ट रखने को कहता है। और गङ्गाधर क्वाथ्य द्रव्यों से आठ गुना (९६ पल) ही डाल कर चतुर्थांश (२४ पल) अवशिष्ट रखने को कहता है ११३–११८

सगुडां पिप्पलीयुक्तां घृतभृष्टां हरीतकीम् ॥ ११९ ॥
त्रिवृद्दन्तीयुतां वाऽपि भक्षयेदानुलोमिकीम् ।

अथवा अनुलोमनार्थ घी में भूनी हुई हरड़ के चूर्ण के साथ पिप्पलीचूर्ण और गुड मिलाकर अथवा त्रिवृत् (निसोत) और दन्ती-मूल का चूर्ण मिलाकर मात्रा में रोगी खावे ॥ ११९ ॥

विड्वातकफपित्तानामानुलोम्येन निर्मले ॥ १२० ॥
गुदेऽर्शांसि प्रशाम्यन्ति पावकश्चाभिवर्धते ।

पुरीष वात कफ और पित्त के अनुलोम होने से गुदा के निर्मल हो जाने पर अर्श शान्त होते हैं और अग्नि दीप्त होती है ॥१२०॥

बर्हितित्तिरिलावानां रसानम्लान् सुसंस्कृतान् ॥ १२१ ॥
दक्षाणां वर्तकानां च दद्याद्विड्वातसंग्रहे ।

पथ्य—मलसंग्रह (कब्ज) और वायु के रुके होने पर मोर, तीतर, लावा, मुर्गा, वर्तक (बटेर); इनके अच्छीप्रकार यथाविधि सिद्ध किये मांसरसों को अनार आदि के रस से अम्लीकृत करके रोगी को आहारार्थ दें ॥ १२१ ॥

त्रिवृद्दन्तीपलाशानां चाङ्गेर्याश्चित्रकस्य च ॥ १२२ ॥
सुभृष्टं यमके दद्याच्छाकं दधिसमन्वितम् ।

निसोत, दन्ती, पलाश (ढाक), चाङ्गेरी (तिपतिया), चित्रक;

इनके पत्तों के शाक को यमक (घी और तैल मिश्रित) में भूनकर दही के साथ मिश्रित करके दें । अथवा पूर्व शाक में थोड़ी सी दही मिला लें और पश्चात् यमक में भूनें ॥ १२२ ॥

उपोदिकां तण्डुलीयं वीरां वास्तुकपल्लवान् ॥ १२३ ॥
सुवर्चलां सलोणीकां यवशाकमवल्गुजम् ।
काकमाचीं[1] रुहापत्रं[2] महापत्रं[3] तथाऽम्लिकाम् ॥ १२४ ॥
जीवन्तीशटिशाकं च शाकं गृञ्जनकस्य च ।
दधिदाडिमसिद्धानि यमके भर्जितानि च ॥ १२५ ॥
धान्यनागरयुक्तानि शाकान्येतानि दापयेत् ।

पोई का शाक, चौलाई, वीरा (शतावर अथवा विदारीकन्द), वथुआ के पत्ते, सुवर्चला (सूरजमुखी वा ब्राह्मी), लोणीका (लूणक लूणिया वा कुलफ़ा), यवशाक (क्षेत्रवास्तुक, यह प्रायः जौ के खेत में उत्पन्न होता है), अवल्गुज (कालीजीरी के पत्ते), काकमाची (मकोय, पं०—पीलक), रुहापत्र (मांसरोहिणी के पत्ते), महापत्र (मानकन्द), अम्लिका (इमली), जीवन्ती शाक, शटी (कचूर) शाक, गृञ्जनकशाक (शलगम वा गाजर वा लाल लहसन); ये शाक दही और अनारदाने के साथ सिद्ध किये हुए, यमक (घी और तैल मिश्रित) में भूने हुए तथा धनियां और सोंठ से युक्त प्रयोग कराने चाहियें ॥ १२३–१२५ ॥

गोधाश्वावित्सलोपाकमार्जारोष्ट्रगवामपि[4] ॥ १२६ ॥
कूर्मशल्लकयोश्चैव साधयेच्छाकवद्रसान् ।
रक्तशाल्योदनं दद्याद्रसैस्तैर्वातशान्तये ॥ १२७ ॥

गोह, श्वावित् (सेह का भेद), लोपाक (लोमड़ी), मार्जार

१ 'अम्लीकां समहापत्रीं काकमाचीं रुहां तथा ।' ग. । २ 'रुहापत्रामित्युदम्रशाकः' चक्रः । ३ 'महापत्रीं' पा० ।

४ 'गोधालावकमार्जारश्वाविदुष्ट्रगवामपि ।' ग० ।

(बिल्ला), ऊंट, गौ, कछुआ, शल्लक (सेह); इनके मांसरसों को शाकवत् सिद्धकर रोगी को दें । अभिप्राय यह है कि इनके मांसरसों को दही और अनार के रस से सिद्ध करना चाहिये, यमक में भूनना चाहिये तथा धनियां और सोंठ के मसाले का अवचूर्णन करना चाहिये । वात की शान्ति के लिये इन मांसरसों के साथ लाल शालि का भात खाने को दें ॥ १२६-१२७ ॥

ज्ञात्वा वातोल्वणं रूक्षं मन्दाग्निं गुदजातुरम् ।
मदिरां शार्करं जातं शीधुं तक्रं तुषोदकम् ॥ १२८ ॥
अरिष्टं दधिमण्डं वा शृतं वा शिशिरं जलम् ।
कण्टकार्या शृतं वाऽपि शृतं नागरधान्यकैः ॥ १२९ ॥
अनुपानं भिषग्दद्याद्वातवर्चोऽनुलोमनम् ।

वैद्य अर्शोरोगी को वातप्रधान रूक्षदेह एवं मन्दाग्नि जानकर अनुपानार्थ मदिरा, शार्कर (खांड से तय्यार की हुई मद्य), शीधु (ईख के रस से प्रस्तुत मद्य), तक्र, तुषोदक (सतुष जौ से प्रस्तुत कांजी), अरिष्ट, दही का पानी, उबाल कर ठण्डा किया हुआ जल, कण्टकारी से षडङ्गपानीयविधि द्वारा साधित जल अथवा धनियां और सोंठ से षडङ्गपानीयोक्तविधान द्वारा सिद्ध जल देना चाहिये । ये अनुपान वात और पुरीष का अनुलोमन करते हैं ॥ १२८-१२९ ॥

उदावर्तपरीता ये ये चात्यर्थं विरूक्षिताः ॥ १३० ॥
विलोमवाताः शूलार्तास्तेष्विष्टमनुवासनम् ।

अनुवासन का काल—जो अर्शोरोगी उदावर्त से युक्त हो, देह अत्यन्त रूक्ष हो, वात की गति प्रतिलोम हो, शूल से पीड़ित हो उसे अनुवासन कराना अभीष्ट है ॥ १३० ॥

पिप्पलीं मदनं बिल्वं शताह्वां मधुकं वचाम् ॥ १३१ ॥
कुष्ठं शटीं पुष्कराख्यं चित्रकं देवदारु च
पिष्ट्वा तैलं विपक्तव्यं पयसा द्विगुणेन च ॥ १३२ ॥

अर्शसां मूढवातानां तच्छ्रेष्ठमनुवासनम् ।

पिप्पल्याद्यनुवासन—पिप्पली, मैनफल, बेलगिरी, सोये, मुलहठी, वच, कुष्ठ, कचूर, पुष्करमूल, चित्रक, देवदारु; इनके (तैल से चतुर्थांश) कल्क से और दुगुने (तैल से) दूध से यथाविधि तैलपाक करे । यह अनुवासन मूढवातयुक्त अर्श के रोगियों के लिये श्रेष्ठ है । अर्थात् जब वात की गति अनुलोम न हो प्रतिलोम हो तब अर्शोरोगियों को यह अनुवासन देना चाहिये ॥ १३१—१३२ ॥

गुदनिःसरणं शूलं मूत्रकृच्छ्रं प्रवाहिकाम् ॥ १३३ ॥
कट्यूरुपृष्ठदौर्बल्यमानाहं वङ्क्षणाश्रयम् ।
पिच्छास्रावं गुदे शोफं वातवर्चोविनिग्रहम् ॥ १३४ ॥
उत्थानं बहुशो यच्च जयेत्तच्चानुवासनात् ।

अर्शोरोगी के गुदभ्रंश, शूल,मूत्रकृच्छ्र,प्रवाहिका,कटी ऊरु और पीठ की दुर्बलता, वङ्क्षणदेश में हुआ आनाह,पिच्छास्राव (गुदा से आंव वा चिपचिपे द्रव का आना), गुदा में शोथ, मलवायु का रुका रहना, मल का न आना, मलत्याग की बार बार इच्छा होनी; इन्हें अनुवासन द्वारा जीते ॥ १३३—१३४ ॥

आनुवासनिकैः पिष्टैः सुखोष्णैः स्नेहसंयुतैः ॥ १३५ ॥
दर्व्या तैरौषधैर्देह्याः स्तब्धाः शूना गुदरुहाः ।
दिग्धास्तैः प्रस्रवन्त्याशु श्लेष्मपिच्छां सशोणिताम् ॥१३६॥
कण्डूः स्तम्भः सरुक् शोफः स्रुतानां विनिवर्तते ।

प्रदेह—अनुवासनोक्त औषधों को पीसकर घृत आदि स्नेह से युक्त करके सुखोष्ण ही स्तब्ध सूजे हुए अर्शों पर दर्वी से लेप करे इनसे लेप करने पर रक्तयुक्त कफ और पिच्छा बह जाती है और बहजाने पर कण्डू (खुजली) स्तम्भ वेदना तथा शोथ शान्त हो जाता है ॥ १३५–१३६ ॥

निरूहं वा प्रयुञ्जीत सक्षीरं दाशमूलिकम् ॥ १३७ ॥

समूत्रस्नेहलवणं कल्कैर्युक्तं फलादिभिः ।

निरूहबस्ति—अथवा दशमूल के क्वाथ से प्रस्तुत, दूध गोमूत्र तैल आदि स्नेह तथा सैन्धव नमक से युक्त और मदनफल आदि आस्थापनोपयोगी द्रव्यों के कल्क से युक्त निरूहबस्ति का प्रयोग करना चाहिये ॥ १३७ ॥

अभयारिष्टः

हरीतकीनां प्रस्थार्धं प्रस्थमामलकस्य च ॥ १३८ ॥
स्यात्कपित्थाद्दशपलं ततोऽर्धा[1] चेन्द्रवारुणी ।
विडङ्गं पिप्पली लोध्रं मरिचं सैलवालुकम् ॥ १३९ ॥
द्विपलांशं जलस्यैतच्चतुर्द्रोणे विपाचयेत् ।
द्रोणशेषे रसे तस्मिन्पूते शीते समावपेत् ॥ १४० ॥
गुडस्य द्विशतं तिष्ठेत्तत्पक्षं घृतभाजने ।
पक्षादूर्ध्वं भवेत्पेया ततो मात्रा यथाबलम् ॥ १४१ ॥
अस्याभ्यासादरिष्टस्य नश्यन्ति[2] गुदजा द्रुतम् ।
ग्रहणीपाण्डुहृद्रोगप्लीहगुल्मोदरापहः ॥ १४२ ॥
कुष्ठशोफारुचिहरो बलवर्णाग्निवर्धनः ।
सिद्धोऽयमभयारिष्टः कामलाश्वित्रनाशनः ॥ १४३ ॥
कृमिग्रन्थ्यर्बुदव्यङ्गराजयक्ष्मज्वरान्तकृत् ।

इत्यभयारिष्टः ।

अभयारिष्ट—हरड़ आधा प्रस्थ (८ पल), आंवला १ प्रस्थ (१६ पल), कैथ की मज्जा १० पल, इन्द्रायण इससे आधी अर्थात् ५ पल, वायविडङ्ग २ पल, पिप्पली २ पल, लोध २ पल, काली मिर्च २ पल, एलवालुक २ पल; इन्हें एकत्र ८ द्रोण (२०४८ पल) जल में पकावे । जब २ द्रोण (५१२ पल) अवशिष्ट रह जाय तब

---

१ 'पलार्धेनेन्द्रवारुणी' ग. । २ 'गुदजा यान्ति संक्षयम्' इति वा पाठः ।

३०२

उसे उतार कर निर्मल वस्त्र से छान लें। जब ठण्डा हो जाय तब गुड़ २०० पल उसमें घोल दें और एक घृतभावित मृत्पात्र में डालकर मुख बन्द कर दें। इसे १५ दिन तक पड़ा रहने दें। पश्चात् पुनः छानकर बोतलों में भर लें। रोगी बल के अनुसार इसकी मात्रा पीवे। इस अरिष्ट के नित्य प्रयोग से अर्श शीघ्र नष्ट होते हैं। यह सुसिद्ध अभयारिष्ट ग्रहणी, पाण्डु, हृद्रोग, तिल्ली, गुल्म, उदर, कुष्ठ, शोथ, अरुचि, कामला, श्वित्र, कृमि, ग्रन्थिरोग, अर्बुद, व्यङ्ग, राजयक्ष्मा तथा ज्वर; इनको नष्ट करता है, बल वर्ण एवं अग्नि को बढ़ाता है। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में कहा है—

'अभयापलाष्टकं द्विगुणामलकमिन्द्रवारुणीपलपञ्चकं च द्विगुणकपित्थमध्यं लोध्रविडङ्गैलवालुकपिप्पलीमरिचानि द्विपलांशानि जर्जरितान्युदकभारे विपाच्य पादशेषं रसं पूतशीतं गुडतुलाद्वयेन धातकीपलाष्टकेन संयोज्य घृतभाजनेऽर्धमासस्थं प्रातरन्नकाले वोपयुञ्जीत। अयमभयारिष्टोऽर्शोग्रहणीपाण्डुहृद्रोगकामलायक्ष्माविषमज्वरप्लीहगुल्मोदरश्वयथुकुष्ठकृमिग्रन्थ्यर्बुदघ्नोऽग्निरुचिवर्णकरश्च॥'

इसके अनुसार 'ततोऽर्धा चेन्द्रवारुणी' के स्थान पर 'पलार्द्धेनेन्द्रवारुणी' यह गङ्गाधर का पाठ ठीक नहीं। इसमें क्वाथार्थ २०४८ पल के स्थान पर १ भार जल डालने को कहा है भार २००० पल को कहते हैं, चतुर्थांश शेष रखने पर ५०० पल रहेगा। यहां उत्सेचन की शीघ्रता के लिये ८ पल धातकीपुष्प (धाय के फूल) भी डालने का विधान किया गया है। तन्त्रान्तर में अभयारिष्ट नाम से ही एक और योग भी कहा है, जो इस प्रकार है—

'अभयायास्तुलामेकां मृद्वीकार्द्धतुलां तथा।
विडङ्गस्य दशपलं मधूककुसुमस्य च॥
चतुर्द्रोणे जले पक्त्वा द्रोणमेवावशेषयेत्।
शीतीभूते रसे तस्मिन् पूते गुडतुलां क्षिपेत्॥

श्वदंष्ट्रां त्रिवृतां धान्यं धातकीमिन्द्रवारुणीम् ।
चव्यं मधूरिकां शुण्ठीं दन्तीं मोचरसं तथा ॥
पलयुग्ममितं सर्वं पात्रे महति मृण्मये ।
क्षिप्त्वा संरुध्य तत्पात्रं मासमात्रं निधापयेत ॥
ततो जातरसं ज्ञात्वा परिस्राव्य रसं नयेत् ।
बलं कोष्ठञ्च वह्निञ्च वीक्ष्य मात्रां प्रयोजयेत् ॥
अर्शांसि नाशयेच्छीघ्रं तथाष्टावुदराणि च ।
वर्चोमूत्रविबन्धघ्नो वह्निं सन्दीपयेत् परम् ॥

अर्थात् हरड़ १०० पल, मुनक्का वा किशमिश ५० पल, वायविडङ्ग १० पल, महुए के फूल १० पल; इन्हें ८ द्रोण जल में पकाकर २ द्रोण अवशिष्ट रखें । पश्चात् छानकर शीतल होने पर इसमें १०० पल गुड़ घोल दें और गोखरू, निसोत, धनियां, धाय के फूल इन्द्रायण, चव्य, सौंफ, सोंठ, दन्तीमूल, मोचरस; प्रत्येक २ पल का प्रक्षेप देकर एक बड़े पात्र में डाल दें और मुख बन्द कर दें । मास के पश्चात् जब अरिष्ट तय्यार होजाय तब वस्त्र से छान लें । रोगी के बल कोष्ठ अग्नि के अनुसार मात्रा में प्रयोग करावें । यह अर्श तथा आठों उदरों को नष्ट करता है, मलबन्ध तथा मूत्र की रुकावट को हटाता है और अग्निदीपक है ॥ १३८–१४३ ॥

दन्त्यरिष्टः

दन्तीचित्रकमूलानामुभयोः पञ्चमूलयोः ॥ १४४ ॥
भागान् पलांशानापोथ्य जलद्रोणे विपाचयेत् ।
त्रिफलाया[1] दलानां च प्रक्षिप्य त्रिपलं ततः ॥ १४५ ॥
रसे चतुर्थशेषे तु पूते शीते समावपेत् ।
तुलां गुडस्य तत्तिष्ठेन्मासार्धं घृतभाजने ॥ १४६ ॥

---

१ 'त्रिफलाया इति मिलितत्रिफलाया एव पलत्रयम्, निर्देशस्य मानप्रधानत्वात् ।' चक्रः ।

तन्मात्रया पिबेन्नित्यमर्शोभ्यो विप्रमुच्यते[1] ।
ग्रहणीपाण्डुरोगघ्नं वातवर्चोऽनुलोमनम् ॥ १४७ ॥
दीपनं चारुचिघ्नं च दन्त्यरिष्टमिमं विदुः ।

इति दन्त्यरिष्टः ।

दन्त्यरिष्ट—दन्तीमूल १ पल, चित्रकमूल (चीते की जड़) १ पल, दोनों पञ्चमूल अर्थात् दशमूल (बिल्व, श्योनाक, गाम्भारी, पाटला, अरणी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू) की प्रत्येक ओषधि १ पल, इन सब को अधकुटा करके २ द्रोण (५१२ पल) जल में पकावें। साथ ही इस में बीजरहित त्रिफला (हरड़, बहेड़ा आंवला) का चूर्ण मिलित ३ पल भी डाल दें। जब चतुर्थांश (१२८ पल) क्वाथ अवशिष्ट रह जाय तब उसे छान लें । शीतल होने पर गुड़ १०० पल घोल कर एक घृतभावित मिट्टी के पात्र में डाल मुखरोध कर दें। १५ दिन तक वैसा ही पड़ा रहने दें। पश्चात् इस अरिष्ट को रोगी नित्य मात्रा में पीवे। इसके सेवन से रोगी अर्शों से मुक्त हो जाता है। चिकित्सक इस दन्त्यरिष्ट को ग्रहणी पाण्डु एवं अरुचि को नष्ट करने वाला, वात और पुरीष का अनुलोमक तथा अग्नि-दीपक जानते हैं। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक । अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० १० में भी कहा है—

' दन्तीचित्रकत्रिफलादशमूलानि पालिकान्युदकद्रोणे साधयित्वा पादशेषे पूतशीते तस्मिन् गुडतुलार्धं धातकीकुडवं च प्रक्षिप्य घृतभाजने मासमुषितो दन्त्यरिष्टः समानः पूर्वेण (अभयारिष्टेन) ।'

दन्त्यरिष्ट में भी वृद्धवाग्भट ने उत्सेचनार्थ धातकीपुष्प १ कुडव (४ पल) डालने को कहा है। परन्तु साथ ही गुड़ का प्रमाण ५० पल कर दिया है। प्रकृत ग्रन्थ में एक पक्ष रखने को कहा है वृद्धवाग्भट ने एक मास। परन्तु यह गौण बात है। जितने दिन में

---

१ ' अर्शोभ्योऽपि प्रमुच्यते ' पा० ।

अरिष्ट अच्छी प्रकार तय्यार हो जाय उतने दिन ही रखे रहने देना चाहिये। अथवा सम्भवतः लेखक का प्रमाद ही हो जो 'गुडतुलां' के स्थान पर 'गुडतुलार्धं' ऐसा पाठ और 'मासार्धमुषितो' के स्थान पर 'मासमुषितो' ऐसा लिखा गया हो। यतः अभयारिष्ट में गुड़ की मात्रा उतनी ही रखते हुए भी धातकीपुष्प ८ पल डालने को वृद्धवाग्भट ने कहा है। यहां पर भी वृद्धवाग्भट ने गुड़ की मात्रा को कम न करते हुए धातकीपुष्प ४ पल डालने का विधान किया होगा परन्तु लेखक वा प्रूफ संशोधक के प्रमाद से इसप्रकार 'अर्धं' पद का स्थानपरिवर्तन हो गया हो—ऐसा सम्भव है॥१४४–१४७॥

फलारिष्टः

हरीतकीफलप्रस्थं प्रस्थमामलकस्य च ॥ १४८ ॥
विशालाया दधित्थस्य पाठाचित्रकमूलयोः।
द्वे द्वे पले समापोथ्य द्विद्रोणे साधयेदपाम् ॥ १४९ ॥
पादावशेषे पूते च रसे तस्मिन् प्रदापयेत्।
गुडस्यैकां तुलां वैद्यस्तत्स्थाप्यं घृतभाजने ॥ १५० ॥
पक्षस्थितं पिबेदेनं ग्रहण्यर्शोविकारवान्।
हृत्पाण्डुरोगं प्लीहानं कामलां विषमज्वरम् ॥ १५१ ॥
वर्चोमूत्रानिलकृतान्विबन्धानग्निमार्दवम्।
कासं गुल्ममुदावर्तं फलारिष्टो व्यपोहति ॥ १५२ ॥
अग्निसन्दीपनो ह्येष कृष्णात्रेयेण भाषितः।

इति फलारिष्टः।

फलारिष्ट—हरड़ १ प्रस्थ (१६ पल), आंवला १ प्रस्थ, इन्द्रायण २ पल, कैथफल की मज्जा २ पल, पाठा २ पल, चित्रकमूल २ पल; इन्हें अवकुटाकर ४ द्रोण जल में सिद्ध करे जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहे तब उतार कर छान ले। इस क्वाथ में शीतल होने पर गुड १ तुला घोल दे। इसे एक घृतभावित पात्र में पक्षपर्यन्त बन्द करके रखे। पश्चात

मात्रा में रोगी पीवे। मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। यह फलारिष्ट ग्रहणी, अर्श, हृद्रोग, पाण्डुरोग, प्लीहा, कामला, विषमज्वर, मलबन्ध, मूत्ररोध, वातरोध, अग्निमान्द्य, कास, गुल्म, उदावर्त; इन रोगों को नष्ट करता है और अग्निदीपक है। यह अरिष्टयोग कृष्णात्रेय ने कहा है।

इस योग में भी उत्सेचनार्थ धातकीपुष्प ४ पल डाल सकते हैं॥ १४८–१५२॥

शर्करासवः

दुरालभायाः प्रस्थः स्याच्चित्रकस्य वृषस्य च॥ १५३॥
पथ्यामलकयोश्चैव पाठाया नागरस्य च।
दन्त्याश्च द्विपलान् भागाञ्जलद्रोणे विपाचयेत्॥ १५४॥
पादावशेषे पूते च सुशीते शर्कराशतम्।
दत्त्वा कुम्भे दृढे स्थाप्यं मासार्धं घृतभाजने॥ १५५॥
प्रलिप्ते पिप्पलीचव्यप्रियङ्गुक्षौद्रसर्पिषा।
तस्य मात्रां पिबेत्काले शार्करस्य यथाबलम्॥१५६॥
अर्शांसि ग्रहणीदोषमुदावर्तमरोचकम्।
शकृन्मूत्रानिलोद्गारविबन्धानग्निमार्दवम्॥ १५७॥
हृद्रोगं पाण्डुरोगं च सर्वमेतेन साधयेत्।

इति शर्करासवः।

शर्करासव—दुरालभा १ प्रस्थ, चित्रक २ पल, अडूसे की जड़ का छिलका २ पल, हरड़ २ पल, आंवला २ पल, पाठा २ पल, सोंठ २ पल; दन्तीमूल २ पल; इन्हें २ द्रोण जल में पकावें। जब चतुर्थांश (आधा द्रोण) अवशिष्ट रह जाय तब निर्मल वस्त्रखण्ड से छान लें। सुशीतल होने पर खांड १०० पल घोल दें। तदनन्तर एक घृतभावित दृढ़ मृत्पात्र में—जिसमें पिप्पली चव्य प्रियंगु के चूर्ण को मधु और घी में मिश्रित कर लेप किया हो—डाल दें। इस शार्कर (खांड

से प्रस्तुत) आसव को रोगी बल के अनुसार मात्रा में पीवे । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक । अर्श, ग्रहणीदोष, उदावर्त, अरुचि, मलबन्ध, मूत्ररोध, वातरोध तथा उद्गारों (डकार) की रुकावट, अग्निमान्द्य, हृद्रोग, पाण्डुरोग; इन सब विकारों में इस आसव से सिद्धि प्राप्त करे ।

इसे तन्त्रान्तर में दुरालभारिष्ट नाम से कहा है । यथा अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में—

' दुरालभायाः प्रस्थमभयामलकवृषपाठाचित्रकदन्तीमहौषधीनां प्रत्येकं द्विपलमम्भसां द्रोणे पूर्ववत् (दन्त्यरिष्टवत्) सिद्धं पूतशीतं शर्करातुलयोन्मिश्रं मधुघृतप्रियङ्गुपिप्पलीचविकाकल्कलिप्ते घृतकुम्भे पक्षं निधापयेत् । अयं दुरालभारिष्टः समानः पूर्वेण ।'

कुम्भ के अन्दर कल्क का लेप तिल की मोटाई जितना करना चाहिये । अथवा अरिष्टसाधन की सामान्य परिभाषा के अनुसार प्रक्षेप का जो प्रमाण हो उसका घड़े के अन्दर लेप करना चाहिये । प्रक्षेप गुड़ से वा खांड से दशमांश डाला जाता है । अतः पिप्पली, चव्य, प्रियङ्गु, मधु और घी; इनका मिलित प्रमाण १० पल होगा । जिसमें मधु और घी इतने प्रमाण में होंगे जिस से लेप सा बन जाय । शेष प्रमाण पिप्पली आदि तीनों द्रव्यों का होगा । अष्टाङ्गसङ्ग्रह का टीकाकार इन्दु आधी अङ्गुल मोटा लेप करने को कहता है ॥१५३–१५७॥

कनकारिष्टः

नवस्यामलकस्यैकां कुर्याज्जर्जरितां तुलाम् ॥ १५८ ॥
कुडवांशाश्च पिप्पल्यो विडङ्गं मरिचं तथा ।
पाठां[1] मूलं च पिप्पल्याः क्रमुकं चव्यचित्रकौ ॥ १५९ ॥
मञ्जिष्ठा वालुकं[2] लोध्रं पलिकानुपकल्पयेत् ।
कुष्ठं दारुहरिद्रां[3] च सुराह्वं सारिवाद्वयम् ॥ १६० ॥

---

१ ' यवासः पिप्पलीमूलं ' ग. । २ ' नालुकं ' ग. ।
३ ' दारुहरिद्रा च सुराह्वः ' ग. ।

ईन्द्राह्वां[1] भद्रमुस्तं च कुर्यादर्धपलोन्मितम् ।
चत्वारि नागपुष्पस्य पलान्यभिनवस्य च ॥ १६१ ॥
द्रोणाभ्यामम्भसो द्वाभ्यां साधयित्वाऽवतारयेत् ।
द्रोणावशेषे[2] पूते च शीते तस्मिन्समावपेत् ॥ १६२ ॥
मृद्वीकाद्व्याढकरसं शीतं निर्यूहसंमितम् ।
शर्करायाश्च भिन्नाया दद्याद् द्विगुणितां तुलाम् ॥ १६३ ॥
कुसुमस्य रसस्यैकमर्धप्रस्थं नवस्य च ।
त्वगेलास्रवपत्राम्बुसेव्यक्रमुककेशरान् ॥ १६४ ॥
चूर्णयित्वा तु मतिमान्कार्षिकानत्र दापयेत् ।
तत्सर्वं स्थापयेत्पक्वं सुचौक्षे घृतभाजने ॥ १६५ ॥
प्रलिप्ते सर्पिषा किंचिच्छर्करागुडधूपिते[3] ।
पक्षादूर्ध्वमरिष्टोऽयं कनको नाम विश्रुतः ॥ १६६ ॥
पेयः स्वादुरसो हृद्यः प्रयोगाद्भक्तरोचनः ।
अर्शांसि ग्रहणीदोषमानाहमुदरं ज्वरम् ॥ १६७ ॥
हृद्रोगं पाण्डुतां शोषं गुल्मं वर्चोविनिग्रहम् ।
कासं श्लेष्मामयांश्चोग्रान् सर्वानेवापकर्षति ॥ १६८ ॥
वलीपलितखालित्यं दोषजं च व्यपोहति ।

इति कनकारिष्टः ।

कनकारिष्ट—ताज़े आंवले कुचले हुए १ तुला (१०० पल), पिप्पली १ कुडव (४ पल), वायविडङ्ग, कालीमिर्च, पाठा, पिप्पलीमूल, क्रमुक (सुपारी), चव्य, चित्रक, माञ्जिष्ठा, एलवालुक, लोध्र; प्रत्येक १ पल, कुष्ठ, दारुहल्दी, देवदारु, दोनों सारिवायें (अनन्तमूल,

---

१ मुस्तमिन्द्राह्वयञ्चैव' ग. ।

२ 'पादावशेषे' इति पठित्वा अत्र यद्यपि आमलकादिद्रव्यद्व्याढकमानं भवति तत्र च सामान्यपरिभाषयैव द्विद्रोणजलदानं अर्द्धद्रोणावस्थानं च लभ्यते तथापि स्पष्टार्थं जलक्वाथाभिधानं ज्ञेयमिति व्याख्याति चक्रः । ३ '०च्छर्करागुरु०' पा० ।

श्यामालता), इन्द्राह्वा (इन्द्रायण), नागरमोथा; प्रत्येक आधा पल; ताज़ा नागकेसर ४ पल; इन्हें एकत्र ४ द्रोण जल में सिद्ध करें । २ द्रोण अवशिष्ट रहने पर उतार लें और निर्मल वस्त्र से छान लें । शीतल होने पर इस काथ के समान ही २ आढक मुनक्के का शीतल ही काथ उसमें मिलावें । इसमें खांड २ तुला (२०० पल) और ताज़ा मधु १ प्रस्थ (१६ पल) घोल दें । अब बुद्धिमान् वैद्य दारचीनी, इलायची, प्लव (केवटी मोथा), तेजपत्र, अम्बु (गन्धवाला), सेव्य (खस), क्रमुक (सुपारी), नागकेसर; प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष प्रमाण में इसमें डाल दे । इस सारे को एक स्वच्छ घृतभावित पात्र में—जिसके अन्दर घी चुपड़ा गया हो, और खांड तथा गुड से धूपन किया गया हो—डालकर मुख बन्द कर दें और एक पक्ष (१५ दिन) तक पड़ा रहने दें । एक पक्ष के पश्चात् अरिष्ट को छान लें । इस का नाम कनकारिष्ट प्रसिद्ध है । यह स्वादुरस-युक्त तथा हृदय को प्रिय है । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक । इसके प्रयोग से भोजन में रुचि होती है । यह अर्श, ग्रहणीदोष, आनाह, उदर, ज्वर, हृद्रोग, पाण्डुरोग, शोष, गुल्म, पुरीषरोध वा कब्ज, कास तथा सब दारुण कफरोगों को नष्ट करता है । यह दोषज वली (झुर्रियां), पलित (बालों का श्वेत होना) तथा खालित्य (गञ्जापन) को नष्ट करता है । दोषज कहने से वृद्धावस्था में उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक वलीपलित वा खालित्य के नाश में इसका सामर्थ्य नहीं यह बताया है । २ आढ़क मुनक्के में ४ द्रोण जल डालकर पूर्ववत् २ द्रोण अवशिष्ट रखना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में यह योग आमलकारिष्ट नाम से पढ़ा है—

'नवामलकपलशतं पिप्पलीनागपुष्पकुडवद्वयं पालिकानि चव्य-चित्रकक्रमुकलोध्रपाठामरिचविडङ्गमञ्जिष्ठैलवालुकपिप्पलीमूलान्यर्धपलांशि-

कानि दार्वीशताह्वेन्द्राह्वाशारिवाद्वयमुस्तकुष्ठान्यैकध्यं च जलद्रोणद्वयेऽर्धा-वशेषं साधयेत्। स रसः पूतशीतः समद्राक्षास्वरसः सितापलशतद्वयेन क्षौद्रार्धप्रस्थेन पृथक् कार्षिकेण च त्वगेलालोध्रकुटन्नटाम्बुसेव्यक्रमुककेसर-चूर्णेन युक्तो गुडशर्कराधूपिते घृतभाण्डे प्रक्षिप्य पक्षमुपेक्षितोऽयमा-मलकारिष्टः समानः पूर्वेण (अभयारिष्टेन) अकालवलीपलितखलति-शमनश्च।'

अष्टाङ्गसंग्रह के इस पाठ के अनुसार 'द्रोणावशेषे' के स्थान पर चक्रपाणिसम्मत 'पादावशेषे' यह पाठ उपयुक्त नहीं। क्योंकि 'अर्धावशेषं' यहां पढ़ा है 'अर्धद्रोणावशेषं' नहीं। अतएव हमने मूल में गङ्गाधर द्वारा पठित 'द्रोणावशेषे' यही पाठ स्वीकार किया है। अष्टाङ्गसंग्रह में सुराह्व के स्थान पर शताह्वा पाठ है परन्तु जतू-कर्ण ने सुरदारु पढ़ा है अतः 'सुराह्वं' यही पाठ ठीक है। जतूकर्ण का पूरा पाठ यहां हम उद्धृत नहीं करेंगे क्योंकि अभी तक छपी हुई चक्रपाणि कृत टीकाओं में उद्धृत जतूकर्ण का पाठ अत्यन्त अशुद्ध है। ॥ १५८-१६८ ॥

पत्रभङ्गोदकैः शौचं कुर्यादुष्णेन चाम्भसा ॥ १६९ ॥
इति शुष्कार्शसां सिद्धमुक्तमेतच्चिकित्सितम्।

शुष्कार्श का रोगी मलत्याग के अनन्तर अर्शनाशक पत्तों (घोषापत्र आदि) के क्वाथ से अथवा उष्णजल से शौचक्रिया करे—गुदा को धोवे।

यह शुष्कार्शों की प्रत्यक्ष-फल चिकित्सा कह दी गई है ॥ १६९ ॥

चिकित्सितमिदं सिद्धं स्राविणां शृणवतः परम् ॥ १७० ॥
तत्रानुबन्धो द्विविधः श्लेष्मणो मारुतस्य च।

इसके पश्चात् हे अग्निवेश! स्रावी अर्शों की प्रत्यक्ष-फल चिकित्सा सुन।

स्रावी अर्शों में दो प्रकार का अनुबन्ध हुआ करता है। वहां या तो १ कफ का अनुबन्ध होगा या २ वायु का ॥ १७० ॥

विट् श्यावं कठिनं रूक्षं चाधो वायुर्न वर्तते ॥ १७१ ॥

तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ।
कट्यूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥ १७२ ॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।

रक्तार्श में वातानुबन्ध होने पर लक्षण—यदि पुरीष श्यामवर्ण कठिन और रूक्ष हो, गुदा से अधोवायु न निकलती हो (प्रतिलोमागति होने से) और अर्शों से होने वाला रक्तस्राव पतला अरुणवर्ण का और झागयुक्त हो, यदि कमर ऊरु और गुदा में अधिक शूल हो, दुर्बलता अधिक हो, और यदि वे रूक्षहेतु से उत्पन्न हुए हों तो वहां वात का अनुबन्ध जानना चाहिये ॥ १७१–१७२ ॥

शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥ १७३ ॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत् पाण्डु पिच्छिलम् ।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ॥ १७४ ॥
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ।

रक्तार्श में कफानुबन्ध होने पर लक्षण—यदि पुरीष पतला श्वेत-पीला सा स्निग्ध भारी शीतल हो, यदि रक्तार्श से स्रुत होने वाला रक्त घना तन्तुयुक्त पाण्डुवर्ण वा चिपचिपा हो, यदि गुदा पिच्छायुक्त और स्तिमित (गीले वस्त्र के आच्छादन की सी अनुभूतियुक्त) हो, यदि वे गुरु और स्निग्ध हेतु से उत्पन्न हुए हों तो वहां ज्ञानी चिकित्सकों को कफ का अनुबन्ध जानना चाहिये ॥ १७३–१७४ ॥

स्निग्धशीतं हितं वाते रूक्षशीतं कफानुगे ॥ १७५ ॥
चिकित्सितमिदं तस्मात् संप्रधार्य प्रयोजयेत् ।

रक्तार्श में अनुबन्धभेद के अनुसार संक्षिप्त चिकित्सा—वात का अनुबन्ध होने पर स्निग्ध एवं शीतल वस्तु और कफ का अनुबन्ध होने पर रूक्ष एवं शीतल वस्तु हितकर होती है। अतएव इस बात को समझते हुए रक्तार्शों में चिकित्सा करे ॥ १७५ ॥

पित्तश्लेष्माधिकं मत्वा शोधनेनोपपादयेत् ॥ १७६ ॥

स्रवणं चाप्युपेक्षेत लङ्घनैर्वा समाचरेत् ।

जब रक्ताशों में पित्त और कफ अधिक हों तब पूर्व शोधन (वमन विरेचन) करवावे और रक्तस्राव की उपेक्षा करे अर्थात् स्तम्भन का प्रयत्न न करे अथवा यदि रोगी निर्बल होने के कारण शोधन के योग्य न हो तो उसे लङ्घन करवावे ।

प्रवृत्तमादावर्शोभ्यो यो निगृह्णात्यबुद्धिमान् ॥ १७७ ॥
शोणितं दोषमलिनं तद्रोगाञ्जनयेद्बहून् ।
रक्तपित्तं ज्वरं तृष्णामग्निनाशमरोचकम् ॥ १७८ ॥
कामलां श्वयथुं शूलं गुदवङ्क्षणसंश्रयम् ।
कण्ड्वरुःकोठपिडकाः कुष्ठं पाण्डूवाह्वयं गदम् ॥१७९॥
वातमूत्रपुरीषाणां विबन्धं शिरसो रुजम् ।
स्तैमित्यं गुरुगात्रत्वं तथाऽन्यात्रक्तजान् गदान् ॥ १८० ॥
तस्मात्स्रुते दुष्टरक्ते रक्तसंग्रहणं मतम् ।

दुष्टरक्त के स्तम्भन में हानि—जो मूर्ख प्रारम्भ में ही अर्शों से प्रवृत्त हुए दोष से मलिन रक्त का स्तम्भन करता है वह बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है । यथा—रक्तपित्त, ज्वर, तृष्णा, जाठराग्नि-नाश, अरुचि, कामला, शोथ, गुदा और वंक्षण में शूल, कण्डू (खुजली), फोड़े फुन्सियां, कोठ, पिड़कायें, कुष्ठ, पाण्डुरोग, वातरोध, मूत्ररोध, मलबन्ध, सिरदर्द, स्तिमितता, देह का भारीपन तथा अन्य रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं । अतएव दुष्टरक्त के बह जाने पर रक्त का स्तम्भन करना अभीष्ट है ।

रक्तज रोगों का परिगणन सूत्रस्थान अध्याय २४ में (पृ० ६१३ पर) किया जा चुका है ॥ १७७–१८० ॥

हेतुलक्षणकालज्ञो बलशोणितवर्णवित् ॥ १८१ ॥
कालं तावदुपेक्षेत यावन्नात्ययमाप्नुयात् ।

---

१ 'वाप्युपेक्षेत' ग० । २ 'पाण्ड्वामयं' पा० ।

हेतु लक्षण काल बल तथा रक्त के वर्ण को जानने वाला वैद्य तबतक रक्तस्राव के काल की उपेक्षा करे जब तक अत्यय को प्राप्त न हो—किसी विपद् की आशङ्का न हो। अर्थात् यदि दुष्टरक्त के अशेष निकलने से किसी विपद् की सम्भावना हो तो ऐसी अवस्था में दुष्ट रक्त के स्राव को बन्द कर देना चाहिये। अर्थात् जितना अधिक से अधिक दुष्टरक्त बिना विपद् की आशङ्का के निकल सकता हो उतना निकाल देना चाहिये ॥ १८१ ॥

अग्निसन्दीपनार्थं च रक्तसंग्रहणाय च ॥ १८२ ॥
दोषाणां पाचनार्थं च परं तिक्तैरुपाचरेत् ।

दुष्टरक्तस्राव की उपेक्षा के अनन्तर अग्नि के दीपन के लिये, रक्त के स्तम्भन के लिये और दोषों के पाचनार्थ तिक्त द्रव्यों से उपचार करना चाहिये॥

यत्तु प्रक्षीणदोषस्य रक्तं वातोल्बणस्य च ॥ १८३ ॥
वर्तते स्नेहसाध्यं तत्पानाभ्यङ्गानुवासनैः ।

क्षीणदोष व्यक्ति के वातप्रधान अर्श का जो रक्तस्राव हो वह स्नेहसाध्य है। स्नेहपान, स्नेहाभ्यङ्ग तथा स्नेह के अनुवासन द्वारा उसकी चिकित्सा करनी चाहिये। अर्थात् जब रक्तार्श में वात का अनुबन्ध हो और पित्त की प्रबलता न हो तब प्रवृत्त रक्त की स्नेहपान आदि द्वारा चिकित्सा करनी उचित है ॥ १८३ ॥

यत्तु पित्तोल्बणं रक्तं घर्मकाले प्रवर्तते ।
स्तम्भनीयं तदेकान्तान्न चेद्वातकफानुगम् ॥ १८४ ॥

किन्तु जो पित्तप्रधान रक्तार्श से होने वाला रक्तस्राव ग्रीष्मकाल में प्रवृत्त होता है यदि उसमें वात वा कफ का अनुबन्ध न हो तो वह अवश्य स्तम्भनीय होता है। अर्थात् यदि पित्तोल्बण रक्तार्श से रक्तस्राव हो और वह भी उष्णकाल में तो उसकी प्रारम्भ में ही स्तम्भन चिकित्सा करनी चाहिये। यदि वात और कफ का अनुबन्ध हो तो आदि में रक्त का स्तम्भन न करे। वहां ऊपर कहे गये चिकित्सा क्रमों के अनुसार उपचार किया जाता है ॥ १८४ ॥

कुटजत्वङ्निर्यूहः सनागरः स्निग्धरक्तसंग्रहणः।
त्वग्दाडिमस्य तद्वत्सनागरश्चन्दनरसश्च ॥ १८५ ॥

कुटज (कुड़ा) की छाल के क्वाथ में सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर पीने से स्निग्धरक्त का स्तम्भन होता है। स्निग्धरक्त कहने का अभिप्राय यह है कि जिस रक्तार्श में कफ का अनुबन्ध हो वहां रक्तस्राव के रोध के लिये यह योग देना चाहिये। अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० १० में कुटज की छाल और सोंठ दोनों को एकत्र कर क्वाथ करने का विधान है।

'अथ श्लेष्मोल्बणे कुटजत्वग्विश्वभेषजक्वाथं पिबेत्।'

इसीप्रकार अनार के वृक्ष की छाल वा फल के छिलके के रस वा क्वाथ में भी अल्पमात्रा में सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलाने से स्निग्धरक्त का स्राव बन्द होजाता है। चन्दन के क्वाथ में सोंठ के चूर्ण का प्रक्षेप देकर प्रयोग कराने से भी वही लाभ होता है॥

चन्दनकिराततिक्तकधन्वयवासाः सनागराः क्वथिताः।
रक्तार्शसां प्रशमना दार्वीत्वगुशीरनिम्बाश्च॥ १८६ ॥

चन्दनादिक्वाथ—लालचन्दन, चिरायता, धन्वयवास (दुरालभा), सोंठ; इनका क्वाथ रक्तार्शों को शान्त करता है।

दार्व्यादिक्वाथ—दारहल्दी का छिलका, खस, नीम की छाल; इनका क्वाथ भी रक्तार्शों को शान्त करता है।

इन दोनों योगों को एक योग मान कर भी व्यवहार किया जाता है। अर्थात् लाल चन्दन, चिरायता, दुरालभा, सोंठ, दारहल्दी का छिलका, खस, नीम की छाल; मिलित २ तोला। क्वाथार्थ जल ३२ तोला। शेष ८ तोला। इस क्वाथ को भी वैद्य प्रयोग कराते हैं।

'सनागराः' कहने से सोंठ को क्वाथ्यद्रव्य न मान कर सोंठ के चूर्ण के प्रक्षेप का भी अभिप्राय हो सकता है॥ १८६ ॥

सातिविषा कुटजत्वक् फलं च रसाञ्जनं मधुयुतानि।

रक्तापहानि दद्यात्पिपासवे तण्डुलजलेन ॥ १८७ ॥

अतिविषादि चूर्ण—अतिविषा, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, रसौंत; इनके चूर्ण को मधु में मिला तण्डुलोदक के अनुपान के साथ रक्तार्श के रोगी को प्यास लगने पर देना चाहिये। यह अर्श के रक्तस्राव को शान्त करता है। मात्रा—१ मासा।

कुटजादिरसक्रिया

कुटजत्वचो विपाच्यं पलशतमार्द्रं महेन्द्रसलिलेन।
यावत्स्याद्गतरसं[1] तद्द्रव्यं पूतो रसस्ततो ग्राह्यः॥ १८८॥
मोचरसः ससमङ्गः[3] फलिनी च पलांशिकैस्त्रिभिस्तैश्च[4]।
वत्सकबीजं तुल्यं चूर्णीकृतमत्र प्रदातव्यम्॥ १८९॥
पूतोत्क्वथितः सान्द्रः स[2] रसो दर्वीप्रलेपनो ग्राह्यः।
मात्राकालोपहिता रसक्रियैषा जयत्यसृक्स्रावम्॥ १९०॥
छागलिपयसा युक्ता[5] पेया मण्डेन वा यथाग्निबलम्।
जीर्णौषधश्च शालीन् पयसा छागेन भुञ्जीत॥ १९१॥
रक्तार्शांस्यतिसारं[6] रक्तं सासृग्रुजो निहन्त्याशु।
बलवच्च रक्तपित्तं रसक्रियैषा जयत्युभयभागम्[7]॥ १९२॥
इति कुटजादिरसक्रिया।

कुटजादिरसक्रिया—ताजी, जो सुखाई न हो ऐसी कुटज की छाल १०० पल को वर्षाजल के साथ पकावे। जब देखे कि छाल में से सारा रस निकल आया है तब उस क्वाथ को निर्मल वस्त्रखण्ड से छान ले। इसमें मोचरस, समङ्गा (लाजवन्ती अथवा मंजिष्ठा), प्रियङ्गु; प्रत्येक का बारीक चूर्ण १ पल, इन्द्रजौ का चूर्ण इन तीनों के चूर्ण के बराबर अर्थात् ३ पल डाल दें और पुनः मन्द मन्द

---

१ 'यावत्स्यादर्धरसं' ग०। 'यावत्स्यादरसं' पा०। २ 'स' पा०। ३ 'समङ्गा' पा०। ४ 'पलांशिभिस्त्रि०' पा०। ५ 'पीता' पा०। ६ 'रक्तगुदजातिसारं शूलं' चक्रः। 'रक्तगुदजातिसारं शूलं सासृग्दरं' पा०। ७ 'ह्युभयभागम्' चक्रः।

आंच पर पकावें। जब गाढा हो जाय और कड़छी उससे लिप्त होने लगे तब उसे उतार लें। यह रसक्रिया यथाकाल मात्रा में सेवन कराई जाने पर रक्तस्राव को जीतती है। मात्रा—४ रत्ती। इसे अग्निबल के अनुसार बकरी के दूध अथवा मण्ड के अनुपान से रोगी को पीना चाहिये।

यदि 'पेयामण्डेन' समस्त पद माना जाय तो बकरी के दूध अथवा पेया के मण्ड के अनुपान से अग्नि के बल के अनुसार मात्रा में यथाकाल प्रयुक्त कराने पर रक्तस्राव को जीतती है—यह अर्थ होगा।

जब औषध जीर्ण हो जाय तब बकरी के दूध से शालि का भात खावे। यह रसक्रिया रक्तार्श, अतिसार रक्तस्राव (अथवा रक्तातिसार) तथा रक्तज रोगों को शीघ्र नष्ट करती है। उर्ध्वग और अधोग बलवान् रक्तपित्त को भी यह रसक्रिया जीतती है।

युगपत् उभयभाग रक्तपित्त के असाध्य होने से ऊर्ध्वग और अधोग पृथक् दोनों रक्तपित्तों के कहने का 'उभयभागं' से अभिप्राय है, अतएव यही अर्थ किया है। अधोग रक्तपित्त का यापन करना ही उसका जीतना है।

कुटज की छाल के क्वाथ के लिये 'तुलाद्रव्ये जलद्रोणः' इस परिभाषा के अनुसार २ द्रोण जल डाला जाता है और अवशिष्ट चतुर्थांश (आधा द्रोण) रखा जाता है क्योंकि उससे क्वाथ्य द्रव्य का सारा रस निकल आता है। कहा भी है——

'चतुर्भागजले प्रायो द्रव्यं गतरसं भवेत्।'

व्यवहार इसी के अनुसार है। कई तन्त्रान्तर में कहे——

'द्रोणेऽम्भसः पलशतं विपाच्यं कुटजत्वचोऽष्टभागस्थ०' इत्यादि।

वचन के अनुसार अष्टमांश अवशिष्ट रखते हैं। एक इससे भिन्न योग भी कुटजलेह नाम से मिलता है, वहां पर भी अष्टमांश अवशिष्ट रखने

को ही कहा है। उसके पूरे योग को उद्धृत न करके आवश्यक अंश हम नीचे देते हैं।

' कुटजत्वक्पलशतं जलद्रोणे विपाचयेत् ।
अष्टभागावशिष्टन्तु कषायमवतारयेत् ॥'

यह पूर्णयोग चक्रदत्त में देख सकते हैं। परन्तु 'अष्टभागावशिष्टं' के स्थान पर 'चतुर्भागावशिष्टं' यह पाठ भी चन्द्रट आदि में उपलब्ध होता है—यह शिवदास ने तत्वचन्द्रिका टीका में कहा है। गदनिग्रह में भी कुटजलेह का योग संगृहीत है वहां पर भी 'चतुर्भागावशिष्टं' ही पढ़ा है। व्यवहार में भी चतुर्थांश ही अवशिष्ट रखते हैं, अतः कुटजादिरसक्रिया में भी १०० पल कुटज की छाल को दो द्रोण जल में क्वथित कर आधा द्रोण अवशिष्ट रखना चाहिये।

महेन्द्रजल (वर्षाजल) का संग्रह करते हुए यह ध्यान रखना चाहिये कि वृष्टि के प्रारम्भ का जल न लिया जाय क्योंकि उस समय वायुमण्डल में नाना प्रकार के रजःकण आदि मलिनतायें विद्यमान होती हैं। जब कुछ काल बरस चुका हो तब जल का संग्रह करना प्रशस्त है। कहा है—

' यामार्धोर्ध्वं गृहीतं यद्वृष्टिप्रारम्भकालतः ।
शुद्धपात्रे वृष्टिजलं तन्महेन्द्रजलं स्मृतम् ॥'

यदि वर्षाजल न हो तब परिस्रुतजल (Distilled water) अथवा वर्षाजल के सदृश गुण वाला भूमिस्थ जल ले सकते हैं। तन्त्रान्तर में कहा भी है—

' किञ्चित्तुवरानुरसं तनु लघु शीतं सुगन्धि सुरसं च ।
अनभिष्यन्दि च यत्तत् क्षितिस्थमैन्द्रवज्ज्ञेयम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह में कुटजादिरसक्रिया का योग कुटजावलेह नाम से कहा है—

'कुटजत्वक्पलशतमार्द्रं दिव्याम्बुना क्राथयेत् । मुक्तरसे च पूते तस्मिन् पालिकान् सुश्लक्ष्णपिष्टान् प्रियङ्गुसमङ्गामोचरसान् कुटजबीजत्रिपलं च प्रक्षिप्य मृद्वाग्निना पुनः साधयेदादर्वीलेपात् । अयमवलेहश्छागलीक्षीरेण पेयामण्डेन वा सह्यजक्षीरभुजः प्रयुक्तो रक्तजान्यर्शांस्यतीसारं रक्तपित्तञ्चोर्ध्वमधो वा प्रवृत्तमपहरति ।' १८८-१९२ ॥

नीलोत्पलं समङ्गा मोचरसश्चन्दनं तिला लोध्रम् ।
पीत्वा छागलिपयसा भोज्यं पयसैव शाल्यन्नम् ॥ १९३ ॥

नीलोत्पल, समङ्गा (मञ्जिष्ठा वा लज्जालु), मोचरस, लालचन्दन, तिल, लोध्र; इनके चूर्ण को बकरी के दूध के अनुपान से पीकर शालि के भात को भी दूध (बकरी के) के साथ ही खावे । मात्रा—२ मासा । भोजन औषध के जीर्ण होने पर ही करना अच्छा होगा । वाग्भट्ट ने अर्श चिकित्सा में भी कहा है—

'लोध्रं तिलं मोचरसः समङ्गा चन्दनोत्पलम् ।
पाययेच्छागदुग्धेन शालींस्तेनैव भोजयेत् ॥' १९३ ॥

छागलिपयः प्रयुक्तं निहन्ति रक्तं सवास्तुकरसं च
धन्वविहङ्गमृगाणां रसो निरम्लः कदम्लो वा ॥ १९४ ॥

बथुए के शाक के रस के साथ बकरी के दूध को प्रयुक्त करने से भी रक्तस्राव बन्द होता है । धन्वदेश में उत्पन्न पक्षियों और मृगों का मांसरस अम्लरहित ही वा अनार आंवले आदि फलों के रस से थोड़ा खट्टा करके प्रयुक्त कराने से भी रक्तस्राव नष्ट होता है ॥ १९४ ॥

पाठा वत्सकबीजं रसाञ्जनं नागरं यवान्यश्च ।
बिल्वमिति चार्शसैश्चूर्णितानि पेयानि सशूलेषु ॥ १९५ ॥

पाठाद्यचूर्ण—पाठा, इन्द्रजौ, रसौंत, सोंठ, अजवाइन, बेलगिरी; इनका चूर्ण शूलयुक्त रक्तार्श के रोगियों को पीना चाहिये । मात्रा—२ मासे अथवा पृथक् पृथक् इन द्रव्यों के चूर्णों का शूलयुक्त रक्तार्श में प्रयोग कराना चाहिये—यह अभिप्राय हो सकता है । परन्तु सब द्रव्यों

का मिलित चूर्ण ही अधिक लाभ करता है। इस चूर्ण को जल वा बकरी के दूध आदि से प्रयोग कराया जाता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में तो कहा है--

शूले तु बिल्वयवानीनागररसाञ्जनदुरालभावत्सकबीजानामन्यतमेनापि युक्तं पाठाचूर्णं शृतेन कोष्णेनाम्भसा तक्रेण वा।

अर्थात् रक्तार्श में शूल होने पर बेलगिरी, अजवाइन, सोंठ, रसौंत, दुरालभा, इन्द्रजौ; इनमें से किसी एक द्रव्य को पाठाचूर्ण के साथ मिश्रितकर कोसे क्वथित जल वा तक्र के साथ देना चाहिये। बेलगिरी अजवाइन सोंठ और दुरालभा; इनमें से किसी एक के साथ अर्शःपीड़ा के नाश के लिये प्रयोग प्रकृत ग्रन्थ में भी पूर्व (२३९८ पृष्ठ पर) कहा जा चुका है॥ १९५॥

दार्वी किराततिक्तं मुस्तं दुःस्पर्शकश्च रुधिरघ्नम्।

दारुहल्दी, चिरायता, मोथा, दुरालभा; इनका चूर्ण भी रक्तस्राव को नष्ट करता है। मात्रा--२ मासे।

रक्तेऽतिवर्तमाने शूले च घृतं विधातव्यम्॥ १९६॥

यदि रक्त अत्यधिक बहता हो और साथ ही शूल हो तब संस्कृत घृतों का प्रयोग कराना चाहिये॥ १९६॥

कुटजफलवल्ककेशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः।
सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा॥ १९७॥

कुटजफलाद्यघृत--घृत २ प्रस्थ। कल्कार्थ--इन्द्रजौ, कुटज की छाल, नागकेसर, नीलोत्पल, लोध, धाय के फूल; मिलित १ शराव। पाकार्थ जल--८ प्रस्थ। वैद्य यथाविधि घृत को सिद्धकर रक्तार्श के रोगियों को अर्शःशूल में प्रयुक्त करावे। मात्रा--आधा तोला।

सर्पिः सदाडिमरसं सयावशूकं जयत्याशु।
रक्तं सशूलमथवा निदिग्धिकादुग्धिकासिद्धम्॥ १९८॥

---

१ 'कुटजफलकल्कैः केशरनीलोत्पललोध्रधातकीकल्कैः' ग.।

अनार के रस और यवक्षार के कल्क से यथाविधि घी सिद्ध करें। यह घी शीघ्र रक्तार्श में शूल और रक्तस्राव को हटाता है। मात्रा—चौथाई तोला।

अथवा छोटी कटेरी और दुग्धिका के कल्क से यथाविधि सिद्ध घृत रक्तार्श में होने वाले शूल और रक्तस्राव को शीघ्र हटाता है। मात्रा—आधा तोला ॥ १९८ ॥

लाजापेया पीता चुक्रीकाकेशरोत्पलैः सिद्धा।
हन्त्याशवस्रस्रावं तथा बलापृश्निपर्णीभ्याम् ॥ १९९ ॥

चुक्रिका (चाङ्गेरी अथवा अम्ललोणिका), नागकेसर, नीलोत्पल; इनसे यथाविधि साधित अथवा बला, पृश्निपर्णी; इनसे साधित लाजा की पेया रक्तस्राव को शीघ्र जीतती है ॥ १९९ ॥

ह्रीवेरबिल्वनागरनिर्यूहे साधितां सनवनीताम्।
वृक्षाम्लदाडिमाम्लामम्लीकाम्लां सकोलाम्लाम् ॥ २०० ॥
गृञ्जनकसुरासिद्धां भृष्टां यमकेन वा पिबेत्पेयाम्।
रक्तातिसारशूलप्रवाहिकाशोथनिग्रहणीम् ॥ २०१ ॥

ह्रीबेर (गन्धबाला), बेलगिरी, सोंठ; इनके क्वाथ में यथाविधि साधित, मक्खनयुक्त, वृक्षाम्ल (विषांबिल) तथा अनार के रस से अम्लीकृत अथवा इमली या बेर के रस से अम्लीकृत पेया रोगी पीवे।

अथवा गृञ्जनक (शलगम, गाजर वा पलाण्डुभेद) और सुरा से सिद्ध यमक (घृततैल मिश्रित) से भूनी गई पेया को पीवे।

ये दोनों पेयायें रक्तातिसार शूल प्रवाहिका तथा शोथ को पराभूत करती हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में 'सुरा' के स्थान पर 'सुरस' पाठ है ॥

काश्मर्यामलकानां सकर्बुदारफलाम्लानाम्।
गृञ्जनकशाल्मलीनां क्षीरिण्याश्चुक्रियायाश्च ॥ २०२ ॥

न्यग्रोधशुङ्गकानां खडांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम्।

दध्नः सरेण सिद्धान्दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति ॥ २०३ ॥

अनार वा इमली आदि के रस से अम्लीकृत गाम्भारी, आंवला, कर्बुदार; (श्वेत कचनार) इनके अथवा गृञ्जनक, शाल्मली (सेमल की डोडे); इनके अथवा दुग्धिका के अथवा चुक्रिका के अथवा बरगद के पत्राङ्कुरों के तथा कोविदार (लाल कचनार) के फूलों के खडों को दही के सर (मलाई) से सिद्धकर रक्त के अत्यन्त प्रवृत्त होने पर देना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में पाठान्तर है—

'काश्मर्यामलकानां सकर्च्छुराणां खडान् फलाम्लांश्च ।
गृञ्जनकशाल्मलीनां दुग्धीकाचुक्रिकाणां च ॥
न्यग्रोधशुङ्गकानां खडांस्तथा कोविदारपुष्पाणाम् ।
दध्नः सरेण सिद्धान् दद्याद्रक्ते प्रवृत्तेऽति ॥' २०२-२०३ ॥

सिद्धं पलाण्डुशाकं तक्रेणोपोदिकां सबदराम्लाम् ।
रुधिरस्रवे प्रदद्यान्मसूरयूषं च तक्राम्लम् ॥ २०४ ॥

प्याज के शाक को तक्र से सिद्ध करके, पोई के शाक को बेर के रस से खट्टा करके और तक्र से अम्लीकृत मसूर के यूष को रुधिरस्राव में खाने को दें ॥ २०४ ॥

पयसा शृतेन यूषैः सतीनमुद्गाढकीमसूराणाम्[1] ।
भोजनमद्यादम्लैः शालिश्यामाककोद्रवजम् ॥ २०५ ॥

रोगी क्वथित दूध के साथ अथवा मटर मूंग अरहर और मसूर; इनके यूषों के साथ शालि श्यामाक (सेहुआं धान्य) और कोदों का भोजन करे ॥ २०५ ॥

शशहरिणलावमांसैः कपिञ्जलैणेयैः सुसिद्धैश्च ।
भोजनमद्यादम्लैर्मधुरैरीषत्समरिचैर्वा ॥ २०६ ॥

अच्छीप्रकार सिद्ध किये हुए अम्ल मधुर अथवा थोड़े से मरिच चूर्ण से अवचूर्णित शशक, हरिण, लावपक्षी, कपिञ्जल (श्वेत तीतर),

---

१ 'मसूरमुद्गाढकीमकुष्ठानाम्' पा० ।

ऐण (हरिणविशेष); इनके मांसों के साथ शालि आदि का भोजन करे ॥ २०६ ॥

दक्षशिखितित्तिरिरसैर्द्विककुदलोपाकजैश्च मधुराम्लैः।
अद्यादृसैरतिवहेष्वर्शःस्वनिलोल्बणशरीरः ॥ २०७ ॥

वातोल्बण देह वाला रोगी जब रक्त का अत्यधिक स्राव हो मुर्गा, मोर, तीतर; इनके मांसरसों से अथवा ऊंट, लोमड़ी; इनके मधुर अम्ल मांसरसों से शालि आदि का भोजन करे ॥ २०७ ॥

रसखडशाकयवागूसंयोगतः केवलोऽथवा जयति।
रक्तमतिवर्तमानं वातं च पलाण्डुरुपयुक्तः ॥ २०८ ॥

रस खड शाक तथा यवागू के साथ प्याज के अथवा केवल प्याज के ही उपयोग से अत्यन्त बहता हुआ रक्त और वायु जीता जाता है ॥ २०८ ॥

छागान्तराधि तरुणं सरुधिरमुपसाधितं बहुपलाण्डु।
व्यत्यासान्मधुराम्लं विट्शोणितसंक्षये देयम् ॥ २०९ ॥

पुरीष और रक्त के क्षय में तरुण बकरे के मध्य देह को रुधिर-सहित और प्रभूत मात्रा में प्याज डालकर पर्यायक्रम से मधुर वा अम्ल करके देना चाहिये। अर्थात् प्रथम मधुर और अनन्तर अम्ल पुनः मधुर और पुनः अम्ल देना चाहिये। अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि पुरीषक्षय में उससे विपरीत मधुर और रक्तक्षय में उससे विपरीत अम्ल करके देना चाहिये ॥ २०९ ॥

नवनीततिलाभ्यासात्केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति रक्तानि ॥ २१० ॥

मक्खन और तिल अथवा नागकेसर मक्खन और खांड अथवा दही की मलाई के मन्थन से प्रस्तुत छाछ के प्रतिदिन प्रयोग करने

---

१ '०यूष०' पा०। २ '०यवागूघृतयुक्तः' इत्यष्टाङ्गसंग्रहे पाठः।
३ 'गुदजाः शाम्यन्ति रक्तवहाः' इति पाठान्तरं बहुत्रोपलभ्यते'।

से रक्तार्श नष्ट होते हैं। जतूकर्ण ने कहा भी है—

'नवनीतं तिलैर्युक्तं शर्करा केशरेण वा ।
नवनीतं घृतं वाजं दध्नो वा खजितः सरः ॥

'दधिसरमथिताभ्यासात्' का अर्थ दही की मलाई और छाछ के नित्य प्रयोग से यह भी किया जाता है। नागकेसर के स्थान पर पद्मकेशर देने से भी रक्तस्राव रुक जाता है। वाग्भट ने अर्शचिकित्सा में कहा भी है—

'शर्कराम्भोजकिञ्जल्कसहितं सह वा तिलैः ।
अभ्यस्तं रक्तगुदजान् नवनीतं नियच्छति ॥' २१० ॥

नवनीतघृतं छागं मांसं सषष्टिकः शालिः ।
तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा निहन्त्यस्रम् ॥ २११ ॥

बकरी के दूध के मक्खन से निकाला हुआ ताज़ा घी, बकरी का मांस, शालि और सांठी का भात, तरुण सुरामण्ड (नयी सुरा का उपरितन स्वच्छभाग) अथवा नयी सुरा; ये सब रक्तस्राव को बन्द करते हैं।

'नवनीतघृतं के स्थान पर 'नवनीतं घृतं' ऐसा पाठ भी है। वहां मक्खन और घी—यह अर्थ भी हो सकता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में पाठ इसप्रकार है—

'नवनीतघृतं छागं सपयोमांसं सषष्टिकः शालिः ।
तरुणश्च सुरामण्डस्तरुणी च सुरा जयत्यस्रम् ॥' २११ ॥

प्रायेण वातबहुलान्यर्शांसि भवन्त्यतिस्रुते रक्ते ।
दुष्टेऽपि कफपित्ते तस्मादनिलोऽधिकं ज्ञेयः ॥ २१२ ॥

कफ और पित्त के दुष्ट होने पर भी रक्त के अत्यधिक निकलने पर अर्श प्रायः वाताधिक होजाते हैं अतः उस समय वात को अधिक

---

१ 'मांसं छागञ्च' ग० ।
२ 'दुष्टेऽपि' पा० । ३ 'तस्मादनिलोऽधिको ज्ञेयः' पा० ।

जीतना चाहिये ॥ २१२ ॥

दृष्ट्वा तु रक्तपित्तं प्रबलं कफवातलिङ्गमल्पं च ।
शीताः क्रियाः प्रयोज्या यथेरिता वक्ष्यते चान्या[1] ॥२१३॥

रक्त और पित्त को प्रबल और कफ तथा वात के लक्षणों को अल्प जानकर उक्त अथवा पित्तरोगों में कही गई शीतक्रियायें करावे । और जो शीतक्रिया अभी कही जायगी उसका भी प्रयोग करावे ॥ २१३ ॥

मधुकं सपञ्चवल्कं बदरीत्वगुदुम्बर[2]धवपटोलम् ।
परिषेचने विदध्याद्वृषककुभयवासनिम्बांश्च ॥ २१४ ॥

मुलहठी और पञ्चवल्कल (बरगद, पीपल, पलक्ष, गूलर, बेतस; पांचों की छाल); इनका क्वाथ तथा बेरी का छिलका, गूलर की छाल, धव की छाल, पटोलपत्र; इनका क्वाथ और अडूसे की जड़ का छिलका, ककुभ (अर्जुन की छाल), नीम की छाल; इनका क्वाथ परिषेचनार्थ प्रयुक्त कराना चाहिये । इन्हें व्यस्त समस्त रूप से भी प्रयोग करा सकते हैं ॥ २१४ ॥

रक्तेऽतिवर्तमाने दाहे[3] क्लेदेऽवगाहयेच्चापि ।
मधुकामृणालपद्मकचन्दनकुशकाशनिः[4]क्वाथे ॥ २१५ ॥

रक्त के अत्यधिक प्रवृत्त होने पर क्लेद और दाह में मुलहठी, अमृणाल (खस), चन्दन, पद्माख, कुशा की जड़, काश की जड़, इन्हें समस्त रूप में लेकर क्वाथ करके अच्छीप्रकार अवगाहन कराना चाहिये ॥ २१५ ॥

इक्षुरसमधुकवेतसनिर्यूहे शीतले पयसि वा तम् ।
अवगाहयेत्प्रदिग्धं पूर्वं शिशिरेण तैलेन ॥ २१६ ॥

रक्त के अत्यधिक प्रवृत्त होने पर रक्तार्श के रोगी के अर्शों पर

---

१ 'यान्या' ग० । २ '०त्वगुदुम्बरं' पा० । ३ 'क्लेदे दाहे च सम्यगवागहाः' ग. । ४ 'निःक्वाथा' ग. ।

शीतल तैल चुपड़ कर मुलहठी और वेतस के शीतल क्वाथ में ईख का रस मिला कर उसमें अथवा शीतल जल में अवगाहन करावे ।

शीतल तैल से शीतवीर्य द्रव्यों से साधित एवं स्पर्श में भी शीत तैल का ग्रहण है ॥ २१६ ॥

दत्त्वा घृतं सशर्करमुपस्थदेशे गुदे[1] त्रिकदेशे च ।
शिशिरजलस्पर्शसुखा धारा प्रस्तम्भनी योज्या ॥ २१७ ॥

घी और खांड को मिश्रित कर रोगी के उपस्थप्रदेश गुदा और त्रिकदेश पर लगाकर शीतल जल की धारा गिरावें । ये जल-धारा अत्यधिक शीतल न होनी चाहिये । इतनी शीतल हो जो स्पर्श में सुख हो—जिसे रोगी सह सके, किसी प्रकार की वेदना अनुभव न करे । इससे अति रक्तस्राव का स्तम्भन होता है । यह धारापात रोगी के त्रिकदेश और नाभिप्रदेश से नीचे किया जाता है ॥ २१७ ॥

कदलीदलैरभिनवैः पुष्करपत्रैश्च शीतजलसिक्तैः ।
प्रच्छादनं मुहुर्मुहुरिष्टं पद्मोत्पलदलैश्च ॥ २१८ ॥

शीतल जल से सींचे गये केले के कोमल पत्तों से, कमल के पत्तों से, श्वेत पद्म के पत्तों से अथवा नीलोत्पल के पत्तों से बारबार आच्छादन करना अभीष्ट है । अर्थात् यदि रोगी के अर्शों में दाह है और रक्त बहुत बह रहा है तो नाभि के नीचे के रोममय प्रदेश से लेकर त्रिकदेश पर्यन्त ठण्डे जल से सींचे हुए केले आदि के पत्तों से ढक देना चाहिये । कुछ देर बाद उन पत्तों को हटाकर नये पत्ते लगायें । इस प्रकार बारबार पत्तों को बदलते जांय ॥ २१८ ॥

दूर्वाघृतं प्रदेहः शतधौतसहस्रधौतमपि सर्पिः ।
व्यजनपवनश्च शीतो रक्तस्रावं जयत्याशु ॥ २१९ ॥

दूर्वाघृत (दूब के स्वरस और कल्क से सिद्ध किया गया घी),

---

१ 'गुदे' इति गङ्गाधरो न पठति ।

शतधौत घृत (सौबार धोया घी), सहस्रधौत घृत (हज़ार वार धोया घी); इनका प्रदेह (चुपड़ना) और पङ्खे की शीतल पवन; ये रक्तस्राव को शीघ्र जीतते हैं ॥ २१९ ॥

समङ्गामधुकाभ्यां तिलमधुकाभ्यां रसाञ्जनघृताभ्याम् ।
सर्जरसघृताभ्यां वा निम्बघृताभ्यां मधुघृताभ्यां च ॥२२०॥
दार्वीत्वक्सर्पिर्भ्यां सचन्दनाभ्यामथोत्पलघृताभ्याम् ।
दाहे क्लेदे च गुदभ्रंशे गुदजाः प्रतिसारणीयाः स्युः २२१

दाह क्लेद एवं गुदभ्रंश होने पर १ समङ्गा (लाजवन्ती वा मञ्जिष्ठा) और मुलहठी से अथवा २ तिल और मुलहठी से अथवा ३ रसौत और घी से अथवा ४ राल और घी से अथवा ५ नीम और घी से अथवा ६ मधु और घी से अथवा ७ दारहल्दी की छाल और घी से अथवा ८ नीलोत्पल चन्दन और घी से अर्श पर प्रतिसारण करे अर्थात् अङ्गुली से अर्शों पर धीमे २ घर्षण करें ।

अथवा 'सचन्दनाभ्याम्' को प्रत्येक योग का विशेषण मान सकते हैं । ऐसा मानने पर आठों योगों में ही चन्दन मिलाना होगा ॥ २२०–२२१ ॥

आभिः क्रियाभिरथवा शीताभिर्यस्य न तिष्ठति रक्तम् ।
तं काले स्निग्धोष्णैर्मांसरसैस्तर्पयेन्मतिमान् ॥ २२२ ॥

इन क्रियाओं से अथवा अन्य भी जो शीतक्रियायें हो सकती हैं उनसे यदि रक्तस्राव का अवरोध न हो तो बुद्धिमान् वैद्य उचित काल में स्निग्ध एवं उष्ण मांसरसों से रोगी का तर्पण करे ॥ २२२ ॥

अवपीडकसर्पिर्भिः कोष्णैर्घृततैलिकैस्तथाऽभ्यङ्गैः ।
क्षीरघृततैलसेकैः कोष्णैः समुपाचरेदाशु ॥ २२३ ॥

अवपीड़क घृतों से, कोसे घी और तैल के अभ्यङ्गों से तथा कोसे दूध घी और तैल के परिषेचन से शीघ्र उपचार करे ।

अवपीडकघृत वह है जो भोजन के ऊपर पीया जाता है । अथवा

जिसे बड़ी मात्रा में प्रयुक्त कराया जाय उसे अवपीड़क घृत कहते हैं—यह चक्रपाणि कहता है।

अथवा जैसे नस्यों में अवपीड नस्य होता है वैसे ही गुदा में अवपीडन करके प्रयोग किये जाने वाले घृत को अवपीडघृत नाम से कहा हो।

अथवा अवपीडकघृत उस घृत को कह सकते हैं जो अवपीडन वा संकोच करने वाले द्रव्यों से (यथा पञ्चवल्कल) साधित किया गया हो ॥ २२३ ॥

कोष्णेन वातप्रबले घृतमण्डेनानुवासयेच्छीघ्रम्।
पिच्छाबस्तिं दद्यात् काले तस्याथवा सिद्धम् ॥ २२४ ॥

यदि वातप्रबल रक्तार्श हो तो कोसे घृतमण्ड से शीघ्र अनुवासन करे। अथवा समुचित काल में दृष्टफल पिच्छाबस्ति दे ॥ २२४ ॥

पिच्छाबस्तिः।

यवासकुशकाशानां मूलं पुष्पं च शाल्मलम्।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः ॥ २२५ ॥
त्रिप्रस्थं सलिलस्यैतत्क्षीरप्रस्थं च साधयेत्।
क्षीरशेषं कषायं च पूतं कल्कैर्विमिश्रयेत् ॥ २२६ ॥
कल्काः शाल्मलिनिर्यासससमङ्गाचन्दनोत्पलम्।
वत्सकस्य च बीजानि प्रियङ्गुः पद्मकेशरम् ॥ २२७ ॥
पिच्छाबस्तिरयं सिद्धः सघृतक्षौद्रशर्करः।
प्रवाहिकागुदभ्रंशरक्तस्रावज्वरापहः ॥ २२८ ॥

इति पिच्छाबस्तिः।

पिच्छाबस्ति—दुरालभा की जड़, कुशा की जड़, काश की जड़, सेमल के फूल, बरगद के पत्राङ्कुर, गूलर के पत्राङ्कुर, पीपल के पत्राङ्कुर, प्रत्येक २ पल, जल ६ प्रस्थ, दूध २ प्रस्थ, इन्हें एकत्र पकावे। जब सारा जल उड़ जाय और दूध अवशिष्ट रह जाय तब

उतार कर छान ले । पश्चात् उसमें मोचरस, लाजवन्ती, लालचन्दन, नीलोत्पल, इन्द्रजौ, प्रियङ्गु, पद्मकेशर (कमलकेसर); इन सब का कल्क और मधु घी एवं खांड बस्तिविधान के अनुसार मात्रा में मिलावें । यह ही सिद्धफल पिच्छाबस्ति है । इसके प्रयोग से प्रवाहिका, गुदभ्रंश, रक्तस्राव और ज्वर नष्ट होता है ।

बस्ति में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों के प्रमाण का विवेचन सिद्धि-स्थान के तृतीय अध्याय में होगा ॥ २२५–२२८ ॥

प्रपौण्डरीकं मधुकं पेष्यान् बस्तौ यथेरितान् ।
पिष्ट्वाऽनुवासनं स्नेहं क्षीरद्विगुणितं पचेत् ॥ २२९ ॥

प्रपौण्डरीकाद्य अनुवासन—अनुवासनार्थ प्रपौण्डरीक (पुण्डरी-काष्ठ), मुलहठी तथा पिच्छाबस्ति में कहे गये मोचरस आदि कल्क द्रव्यों को पीसकर दुगुने दूध से तैलपाक करके दें । यदि तैल २ प्रस्थ हो तो दूध ८ प्रस्थ और कल्क द्रव्य १ शराव होंगे ।

ह्रीवेरादिघृतम्

ह्रीवेरमुत्पलं लोध्रं समङ्गाचव्यचन्दनम् ।
पाठा सातिविषा बिल्वं धातकी देवदारु च ॥ २३० ॥
दार्वीत्वङ् नागरं मांसी मुस्तं क्षारो यवाग्रजः ।
चित्रकश्चेति पेष्याणि चाङ्गेरीस्वरसे घृतम् ॥ २३१ ॥
ऐकध्यं साधयेत्सर्वं तत्सर्पिः परमौषधम् ।
अर्शोतिसारग्रहणीपाण्डुरोगे ज्वरेऽरुचौ ॥ २३२ ॥
मूत्रकृच्छ्रे गुदभ्रंशे बस्त्याध्माने प्रवाहणे ।
पिच्छास्रावेऽर्शसां शूले योज्यमेतत्त्रिदोषनुत् ॥ २३३ ॥

इति ह्रीवेरादिघृतम्

ह्रीवेरादि घृत—गव्य घृत २ प्रस्थ । चाङ्गेरीस्वरस ८ प्रस्थ । कल्कार्थ—गन्धबाला, नीलोत्पल, लोध्र, समङ्गा (मञ्जिष्ठा वा लाज-वन्ती), चव्य, लालचन्दन, पाठा, अतीस, बेलगिरी, धाय के फूल,

देवदारु, दारुहल्दी की छाल, सोंठ, जटामांसी (बालछड़), मोथा, यवक्षार, चित्रक; मिलित १ शराव। इन्हें एकत्र यथाविधि पकावें। मात्रा—आधा तोला। यह अर्श अतिसार ग्रहणी पाण्डुरोग ज्वर तथा अरुचि में परम औषध है। इसे मूत्रकृच्छ्र, गुदभ्रंश, बस्ति का आध्मान, प्रवाहिका, पिच्छास्राव (गुदा से पिच्छा वा आंव का आना) तथा अर्शों में शूल होने पर प्रयोग कराना चाहिये। यह त्रिदोषनाशक है।

सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम्

अवाक्पुष्पी बला दार्वी पृश्निपर्णी त्रिकण्टकः।
न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थशुङ्गाश्च द्विपलोन्मिताः॥ २३४॥
कषाय एषां पेष्यास्तु जीवन्ती कटुरोहिणी।
पिप्पली पिप्पलीमूलं मरिचं[1] सुरदारु च॥ २३५॥
कालिङ्गाः शाल्मलं पुष्पं वीरा चन्दनमञ्जनम्[2]।
कट्फलं चित्रकं मुस्तं प्रियङ्ग्वतिविषास्थिराः॥ २३६॥
पद्मोत्पलानां किञ्जल्कः समङ्गा सनिदिग्धिका।
बिल्वं मोचरसः पाठा भागाः कर्षसमन्विताः॥ २३७॥
चतु[3]ःप्रस्थे शृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत्।
त्रिंशत्पलानि प्रस्थोऽत्र विज्ञेयो द्विपलाधिकः॥ २३८॥

---

१ 'नागरं' पा०। २ 'चन्दनमुत्पलम्' पा०।

३ यद्यप्यत्रोत्सर्गतः चतुःप्रस्थं जलमेव ज्ञेयम्, तथा शेषोऽपि चतुर्थो भागः प्रस्थ एव भवति तथापि चतुर्गुणजलदानस्य चतुर्थभागशेषतया स्थाप्यक्रषायस्य उत्सर्गविधौ परिभाषासूचनार्थमिदं चरकवचनम्। तथा त्रिंशत्पलानीत्यादिवचनं द्रवद्वैगुण्यपरिभाषासूचकत्वेनैव ज्ञेयम्। किंवा परिभाषासिद्धमपि द्रवद्वैगुण्यं यदिह निर्दिशति, तद् द्रवद्वैगुण्यपरिभाषा क्वचिद्बाधितापि भवतीति सूचयति। तेन कुडवप्रस्थादिकं गृहीत्वैव द्वैगुण्यं न कुडवादर्वाक् इत्यर्थः सिद्धो भवति। केचित्तु दार्ढ्यार्थं संशयितशिष्यबुद्धिवृद्ध्यर्थमेतद्वचनमित्याहुः। त्रिंशत्पलविशेषणतया यद्यपि द्विपलाधिकानीति निर्देशो युज्यते, तथापि प्रस्थविशेषणतया पुंल्लिङ्गस्यैकवचनस्य च निर्देशः समर्थनीयः॥

सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च ।
सर्वैरेतैर्यथोद्दिष्टैर्घृतप्रस्थं विपाचयेत् ॥ २३९ ॥
एतदर्शःस्वतीसारे त्रिदोषे रुधिरस्रुतौ ।
प्रवाहणे गुदभ्रंशे पिच्छासु विविधासु च ॥ २४० ॥
उत्थाने चातिबहुशः शोथशूले गुदाश्रये ।
मूत्रग्रहे मूढवाते मन्देऽग्नावरुचावपि ॥ २४१ ॥
प्रयोज्यं विधिवत्सर्पिर्बलवर्णाग्निवर्धनम् ।
विविधेष्वन्नपानेषु केवलं वा निरत्ययम् ॥ २४२ ॥

इति सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृतम् ।

सुनिषण्णकचाङ्गेरीघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । अवाक्पुष्पी (सोये), बला, दारुहल्दी, पृश्निपर्णी, गोखरू, बरगद की कोंपलें, गूलर की कोंपलें, पीपल की कोंपलें; प्रत्येक २ पल, पाकार्थ जल ८ प्रस्थ, अवशिष्ट क्वाथ २ प्रस्थ । कल्कद्रव्य—जीवन्ती, कटुकी, पिप्पली, पिप्पलीमूल, कालीमिर्च, देवदारु, इन्द्रजौ, सेमल के फूल, वीरा (वीरकाकोली), लालचन्दन, रसौंत, कट्फल, चित्रक, मोथा, प्रियङ्गु, अतीस, शालपर्णी, पद्म और नीलोत्पल के केशर, समङ्गा (मञ्जिष्ठा वा लाजवन्ती), छोटी कटेरी, बेलगिरी, मोचरस, पाठा; प्रत्येक १ कर्ष । सुनिषण्णक(चौपतिया) और चाङ्गेरी (तिपतिया) का स्वरस मिलित ४ प्रस्थ । इन सब से यथाविधि घृतपाक करें । मात्रा—आधे तोले से एक तोले तक । अर्श, त्रिदोषज अतीसार, रक्तस्राव, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, विविध पिच्छास्राव, बारबार मलत्याग के लिये उठना, गुदशोथ, गुदशूल, मूत्ररोध, मूढवात, मन्दाग्नि तथा अरुचि में इस घृत का विधिवत प्रयोग कराना चाहिये । यह बल वर्ण और अग्नि को बढ़ाता है । इस घृत को विविध अन्नपानों के साथ अथवा केवल भी प्रयुक्त कर सकते हैं । इससे किसी हानि की सम्भावना नहीं ।

---

१ ' रक्तस्रावे त्रिदोषजे ' पा० ।

इस योग के मध्य में आचार्य ने पढ़ा है—

' चतुःप्रस्थशृतं प्रस्थं कषायमवतारयेत् ।
त्रिंशत्पलानि तु प्रस्थो विज्ञेयो द्विपलाधिकः ॥'

अर्थात् क्वाथ करने के लिये चार प्रस्थ जल डालकर एक प्रस्थ शेष रखे । परन्तु प्रस्थ को यहां ३२ पल का समझना चाहिये । अर्थात् यहां प्रस्थ सामान्य प्रस्थ से दुगुना है । सामान्य प्रस्थ १६ पल का होता है । यह वचन द्रवद्वैगुण्य परिभाषा का पोषक है । अतएव हमने क्वाथ लिखते समय जल का प्रमाण द्विगुण ही लिखा है ।

अवाक्पुष्पी से कई अन्धाहुली का ग्रहण करते हैं । ' सुनिषण्णकचाङ्गेर्योः प्रस्थौ द्वौ स्वरसस्य च ।' में मान का प्रधानतः निर्देश है अतः दोनों का स्वरस मिलाकर ही ४ प्रस्थ लिया जाता है । परन्तु आजकल बहुधा दोनों में से प्रत्येक का स्वरस ही ४ प्रस्थ लेने का प्रचार हो गया है अतएव हमने भी ' भैषज्यरत्नावली ' में प्रत्येक का रस ४ प्रस्थ लिखा है । परन्तु नियम के अनुसार मिलित ४ प्रस्थ ही लेना चाहिये । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १० में यह योग इस प्रकार पढ़ा है—

' बलादार्व्यवाक्पुष्पीगोक्षुरकपृश्निपर्णीनामश्वत्थोडुम्बरन्यग्रोधप्लक्षबदरीवेतसप्रवालानाञ्च द्विपलोन्मितानां कषायेण जीवन्तीकटुकापञ्चकोलेन्द्रयवदेवदारुशाल्मलीपुष्पवीराचन्दनाञ्जनकट्फलमुस्तश्यामास्थिरातिविषासमङ्गाव्याघ्रीमोचरसबिल्वकमलोत्पलकिञ्जल्कानां चार्धकर्षोन्मितानां कल्केन चाङ्गेरीसुनिषण्णकस्वरसप्रस्थाभ्यां च घृतप्रस्थं पाचयेत् ।'

यहां क्वाथ्यद्रव्यों में प्लक्ष वेतस और बदरी के प्रवाल (कोंपलें) अधिक पढ़े हैं । इस प्रकार क्वाथ्यद्रव्यों का मिलित प्रमाण भी ६ पल अधिक बढ़ जाता है । और कल्क द्रव्यों में मरिच और पाठा के स्थानपर सोंठ और चव्य डालने को कहा है । परन्तु कल्क का प्रमाण प्रकृतग्रन्थोक्त प्रमाण से आधा है । वृद्धवाग्भटने प्रत्येक कल्कद्रव्य को आधा कर्ष प्रमाण

में डालने को कहा है ।

गदनिग्रह में इसी (चरकोक्त) योग को अवाक्पुष्प्यादिघृत नाम से कहा है ॥ २३४—२४२ ॥

भवन्ति चात्र ।

व्यत्यासान्मधुराम्लानि शीतोष्णानि च योजयेत् ।
नित्यमग्निबलापेक्षी जयत्यर्शःकृतान् गदान् ॥ २४३ ॥

उपसंहार—चिकित्सक रोगी के अग्निबल को देखकर पर्यायक्रम से मधुर अम्ल तथा शीत उष्ण द्रव्यों का नित्य प्रयोग करावे । पूर्व मधुर पुनः अम्ल पुनः मधुर तथा पुनः अम्ल इत्यादि परस्पर परिवर्तन करते हुए आहार दे । तथा च पूर्व शीत पुनः उष्ण अनन्तर पुनः शीत पुनः उष्ण इसप्रकार परस्पर परिवर्तन करें । ऐसा करने से अर्श से उत्पन्न विकार जीते जाते हैं ॥ २४३ ॥

त्रयो विकाराः प्रायेण ये परस्परहेतवः ।
अर्शांसि चातिसारश्च ग्रहणीदोष एव च ॥ २४४ ॥
एषामग्निबले हीने वृद्धिर्वृद्धे परिक्षयः ।
तस्मादग्निबलं रक्ष्यमेषु त्रिषु विशेषतः ॥ २४५ ॥

प्रायः अर्श अतिसार और ग्रहणीदोष ये तीन विकार हैं जो परस्पर एक दूसरे के हेतु होजाते हैं । अग्निबल के न्यून होने पर इनकी वृद्धि होती है और अग्निबल के बढ़ने पर क्षय होता है । अतएव इन तीनों रोगों की चिकित्सा में अग्नि के बल की ही विशेषतः रक्षा करनी होती है ॥ २४४—२४५ ॥

भृष्टैः शाकैर्यवागूभिर्यूषैर्मांसरसैः खडैः ।
क्षीरतक्रप्रयोगैश्च विविधैर्गुदजाञ्जयेत् ॥ २४६ ॥

स्नेह में भुने शाक, यवागू, यूष, मांसरस, खड तथा के दूध और तक्र के विविध प्रयोगों से अर्शों को जीते ॥ २४६ ॥

यद्वायोरानुलोम्याय यदग्निबलवृद्धये ।

अन्नपानौषधद्रव्यं तत्सेव्यं नित्यमर्शसैः ॥ २४७ ॥

पथ्य—जो अन्नपान वा औषध वायु का अनुलोमन करती है और जो अग्निबल को बढ़ाती है, अर्श के रोगी को नित्य उसका सेवन करना चाहिये ॥ २४७ ॥

यदतो विपरीतं स्यान्निदाने यत्प्रदर्शितम् ।
गुदजाभिपरीतेन तत्सेव्यं न कदाचन ॥ २४८ ॥

अपथ्य—जो इससे विपरीत हो अर्थात् वायु का अनुलोमन न करती हो, अग्नि को मन्द करे वह और जो अर्श के निदान में कहा है उसका कभी सेवन न करे ॥ २४८ ॥

तत्र श्लोकाः ।

अर्शसां द्विविधं जन्म पृथगायतनानि च ।
स्थानसंस्थानलिङ्गानि साध्यासाध्यविनिश्चयः ॥ २४९ ॥
अभ्यङ्गाः स्वेदनं धूमाः सावगाहाः प्रलेपनाः ।
शोणितस्रावसेकश्च योगा दीपनपाचनाः ॥ २५० ॥
पानान्नविधिरग्र्यश्च वातवर्चोऽनुलोमनः ।
योगाः संशमनीयाश्च सर्पींषि विविधानि च ॥ २५१ ॥
बस्तयस्तक्रयोगाश्च वरारिष्टाः सशर्कराः[1] ।
शुष्कार्णामर्शसां[2] शस्ताः, स्राविणां लक्षणानि च ॥२५२॥
द्विविधं सानुबन्धानां तेषां चेष्टं यदौषधम् ।
रक्तसंग्रहणाः क्वाथाः पेष्याश्च विविधात्मकाः ॥ २५३ ॥
स्नेहाहारविधिश्चाग्र्यो योगाश्च प्रतिसारणाः ।
प्रक्षालनावगाहाश्च प्रदेहाः सेचनानि च ॥ २५४ ॥

---

१ अरिष्टग्रहणेनैव शार्करस्यापि ग्रहणे प्राप्ते शार्करस्य पृथगभिधानं गुडप्रकृष्टेभ्यो भेदेन व्यवहारार्थं तथानुपानाभिधानार्थं पृथक् कृतम् ।' चक्रः । २ 'शुष्कार्शसां प्रशमनाः' ग० ।

अतिवृत्तस्य रक्तस्य विधातव्यं यदौषधम् ।
तत्सर्वमिह निर्दिष्टं गुदजानां चिकित्सिते ॥ २५५ ॥
इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थानेऽर्श-
श्चिकित्सितं नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अर्शों का दो प्रकार का जन्म, पृथक् पृथक् हेतु, स्थान, संस्थान (आकृति), लिङ्ग (लक्षण), साध्यासाध्यता, अभ्यङ्ग, स्वेद, धूम, अवगाह, प्रलेप, रक्तावसेचन, दीपन पाचन योग, वात और पुरीष का अनुलोमन करने वाले मुख्य अन्नपान का विधान, संशमनयोग, विविध घृत, बस्तियां, तक्र के योग, श्रेष्ठ अरिष्ट तथा शर्करारिष्ट—जो शुष्कार्श के रोगियों के लिये प्रशस्त हैं, स्रावी अर्शों के लक्षण, उन अनुबन्ध (वात कफ) युक्त स्रावी अर्शों की दो प्रकार की औषध (शीत और उष्ण), विविध प्रकार के रक्तस्तम्भक काथ और कल्क, प्रधान स्नेहविधि और आहारविधि, प्रतिसारण योग, प्रक्षालन, अवगाह, प्रदेह, परिषेचन, अति प्रवृत्त रक्त की औषध; ये सब इस अर्शचिकित्सित अध्याय में कहा गया है ॥२४६-२५५॥

इति अर्शश्चिकित्सा ।

पञ्चदशोऽध्यायः ।

अथातो ग्रहणीचिकित्सितं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माह भगवानात्रेयः ॥ १ ॥

अब हम ग्रहणीचिकित्सित की व्याख्या करेंगे—ऐसा भगवान् आत्रेय ने कहा था ॥ १ ॥

आयुर्वर्णो बलं स्वास्थ्यमुत्साहोपचयौ प्रभा ।
ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः ॥ २ ॥

आयु, वर्ण, बल, स्वास्थ्य, उत्साह, पुष्टि, प्रभा, ओज, तेज,

---

१ 'चिकित्सितम्' ग० ।

अग्नियां, प्राण; इन सब की स्थिति का देहाग्नि को ही हेतु कहा जाता है । प्रधानतः देहपोषक होने से जाठराग्नि को ही देहाग्नि कहते हैं । 'अग्नियां' कहने से पांच भूताग्नियां और सात धात्वग्नियों का ग्रहण है । 'प्राणाः' बहुवचनान्त प्राण शब्द से एक प्राण का भी ग्रहण किया जा सकता है और प्राण अपान आदि पांचों वायुओं का भी ॥ २ ॥

शान्तेऽग्नौ म्रियते युक्ते चिरं जीवत्यनामयः ।
रोगी स्याद्विकृते मूलमग्निस्तस्मान्निरुच्यते ॥ ३ ॥

अग्नि के शान्त होने पर प्राणी मर जाता है, यदि अग्नि युक्त हो—समभाव से अवस्थित हो तो नीरोग रहता हुआ चिरायु होता है, यदि विकृत हो जाय—मन्द तीक्ष्ण वा विषम हो जाय तो मनुष्य रोगी हो जाता है अतएव ही देहाग्नि को आयु वर्ण आदि का मूल वा प्रधान कारण कहा जाता है ॥ ३ ॥

यदन्नं देहधात्वोजोबलवर्णादिपोषकम् ।
तत्राग्निर्हेतुराहारान्न ह्यपक्वाद्रसादयः ॥ ४ ॥

जो अन्न देह धातु ओज बल वर्ण आदि का पोषक है वहां पर भी अग्नि ही हेतु है । क्योंकि अपक्व आहार से रस आदि की उत्पत्ति नहीं होती । कहा जाता है कि देह की स्थिति में रस रक्त आदि धातुओं की पुष्टि वा पूरण में तथा ओज बल आदि की वृद्धि में आहार हेतु है । परन्तु जब तक आहार पचे नहीं तब तक कुछ भी नहीं । अपि तु भुक्त आहार यदि न पचे तो रोग वा मृत्यु की आशङ्का हो जाती है । पचाने में जाठराग्नि ही कारण है । अतः आहार द्वारा देह धातु आदि के पोषण में भी अग्नि ही प्रधान हेतु है । अग्नि द्वारा परिपक्व आहार से ही रस आदि धातु उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

अन्नमादानकर्मा तु प्राणः कोष्ठं प्रकर्षति ।

तद्द्रवैर्भिन्नसंघातं स्नेहेन मृदुतां गतम् ॥ ५ ॥
समानेनावधूतोऽग्निरुदर्यः[1] पवनेन[2] तु ।
काले भुक्तं समं सम्यक् पचत्यायुर्विवृद्धये ॥ ६ ॥

आहार का परिपाक और धातु रूप में आना—आदान (ग्रहण करना आहार को लेजाना वा निगलना) कर्म वाला प्राण अन्न को कोष्ठ में ले जाता है। द्रव पदार्थ उस अन्न के संघात को छिन्न भिन्न कर देते हैं। स्नेह द्वारा वह अन्नसङ्घात मृदु हो जाता है। काल में समयोग द्वारा खाये गये भिन्न-संघात और मृदु आहार को समान नामक वायु द्वारा प्रज्वलित हुई जाठराग्नि आयु की वृद्धि के लिये सम्यक् प्रकार से पचाता है। द्रव स्नेह वायु काल समयोग; ये पचाने में सहायक होते हैं। कहा भी है—

'आहारपरिणामकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा ऊष्मा वायुः क्लेदः स्नेहः कालः समयोगश्चेति ॥'

कई 'सम्यक्' को 'भुक्तं' का विशेषण मानते हैं वहां हिततम प्रकृति आदि आहारविधिविशेषायतन का होना तथा उपयुक्त मात्रा आदि का ग्रहण होता है।

सब से पूर्व अन्न दांतों से चबाया जाता है। यहां पर इस में थूक मिलता है। अच्छी प्रकार चबाया जा चुकने पर वह निगला जाता है। अब अन्नवहा नाली से जाकर वह आमाशय में पहुंचता है। यहां पर लाला वा थूक के क्लेद से और जो थोड़ा सा पानी पीया जाता है उस द्रव से तथा आमाशय की गति के कारण अन्न-संघात छिन्न भिन्न होता है और अन्न पर लाला की क्रिया होती है। यह लगभग आधा घण्टा तक होती है।

गंगाधर तो 'द्रव' से क्लेदक कफ के द्रवभाग और स्नेह से क्लेदक कफ के स्निग्ध भाग का ग्रहण करता है ॥ ५-६ ॥

---

१ '०ग्निरुदीर्णः' ग०। २ 'पवनोद्वहः' पा०।

एवं रसमलायान्नमाशयस्थमधःस्थितः ।
पचत्यग्निर्यथा स्थाल्यामोदनायाम्बुतण्डुलम् ॥ ७ ॥

जिसप्रकार पतीली में डाले हुए चावल और जल को अधः स्थित अग्नि पकाकर भात बना देती है। इसीप्रकार जाठराग्नि आमाशय में स्थित अन्न को रस और मल के लिये पचाती है। अर्थात् जब आहार का पाक होता है तब उसका प्रसाद भाग रस बन जाता है और शेष मल कहाता है ॥ ७ ॥

अन्नस्य भुक्तमात्रस्य षड्रसस्य प्रपाकतः ।
मधुरा[1]त्प्राक् कफो[2] भावात्फेनभूत उदीर्यते ॥ ८ ॥

खाये गये मात्र षड्रस अन्न का प्रथमपाक में पूर्व मधुर भाव होता है। उससे झाग के सदृश कफ उदीर्ण होता है। अभिप्राय यह है कि अन्न का निशास्ता कुछ तो मुख में ही और कुछ आमाशय में लाला की क्रिया से शर्करा बन जाता है। इसप्रकार अन्न के पाक में सब से पूर्व माधुर्य की अधिकता होती है। मधुरता की अधिकता से इस समय कफ की वृद्धि होती है। कफ के प्रकोपकालों में भुक्तमात्र काल को भी गिना गया है ॥ ८ ॥

परं तु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः ।
आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ ९ ॥

तदनन्तर वह पचता हुआ अन्न विदग्ध होकर अम्लभाव को प्राप्त होता है। यह अम्लीभूत अन्न जब आमाशय से निकल कर पच्यमानाशय में जाता है तब स्वच्छ पित्त उदीर्ण होता है। अभिप्राय यह है कि आमाशय में आहार पर लाला की क्रिया के बाद आमाशय का रस (Gastric juice) क्रिया करता है। यह रस खट्टा होता है। जिससे भुक्त आहार का रस खट्टा

---

१ 'मधुराद्य त्' च० । 'मधुराख्यात्' ग० । २ 'कफोद्भावः' पा० ।

हो जाता है । अब आमाशय से निकलकर आहार ग्रहणी में जाने लगता है। ग्रहणी में अन्न के साथ क्षुद्रान्त्रीयरस और अपनी २ प्रणाली से आकर पित्त और एक दूसरा पाचक रस (जिसे आजकल क्लोमरस कहने लगे हैं) मिलता है । इनमें से पित्त कड़वा होता है ॥ ९ ॥

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना ।
परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात्कटुभावतः ॥ १० ॥

जब भुक्त आहार पक्वाशय में प्राप्त होता है और वह अग्नि द्वारा सुखाया जाता है तब पककर पिण्डित हो जाता है। इसके कटुभाव के कारण इस समय वायु की वृद्धि होती है। आहार के साथ उदीर्ण पित्त के मिलने से उसका रस तो कटु हो ही जाता है। पक्वाशय में अन्न का पूर्ण पाक होता है और यहां ही आहाररस की आत्मीकरण की क्रिया सब से अधिक होती है जिस से मल पिण्डित होजाता है ॥ १० ॥

अन्नमिष्टं ह्युपहितमिष्टैर्गन्धादिभिः पृथक् ।
देहे प्रीणाति गन्धादीन् घ्राणादीनिन्द्रियाणि च ॥ ११ ॥

इष्ट गन्ध आदियों से युक्त प्रिय और हितकर अन्न देह में पृथक् गन्ध आदि गुण तथा घ्राण आदि इन्द्रियों का तर्पण करता है। अर्थात् स्वादु एवं हितकर अन्न के पार्थिव आदि भाग अपने अपने गुणों और अपनी अपनी इन्द्रियों का तर्पण करते हैं ॥ ११ ॥

भौमाप्याग्नेयवायव्याः पञ्चोष्माणः सनाभसाः ।
पञ्चाहारगुणान्स्वान्स्वापार्थिवादीन्पचन्ति हि ॥ १२ ॥

भौम आप्य आग्नेय वायव्य नाभस; ये पांच प्रकार की ऊष्मा आहार के अपने अपने पार्थिव आदि पांच प्रकार के गुण का पाक करती है । अर्थात् भौम ऊष्मा आहार के भौम (पार्थिव) अंश का परिपाक करती है । आप्य (जलीय) ऊष्मा आहार के आप्य अंश

१ '०ह्युपकृत०' ग० । २ '०प्राणादीनि० ग० ।

का, आग्नेय (अग्नि सम्बन्धी) ऊष्मा आहार के आग्नेय अंश का, वायव्य (वायु सम्बन्धी) ऊष्मा आहार के वायव्य अंश का और नाभस (आकाशीय) ऊष्मा आहार के नाभस अंश का परिपाक करती है।

भौम आदि पांच प्रकार की ऊष्मायें पार्थिव आदि द्रव्यों में रहती हैं। जब वे आहार खाये जाते हैं तब जाठराग्नि से बल प्राप्त करके वे ऊष्मायें अपने अपने पार्थिव आदि अंशों का पाक करती हैं। यद्यपि भूताग्नियों द्वारा पाक तो द्रव्य का ही होता है परन्तु उस द्रव्य में विशेष गुण उत्पन्न करना ही पाक कहाता है अतएव आहार-गुणों का पाक करती हैं—ऐसा कह दिया है। अथवा आहार और गुणों को पचाती हैं—ऐसा अर्थ किया जा सकता है। जाठराग्नि तो सब आहार रस आदि का पाक करती है और भूताग्नियां अपने अपने गुणों को उत्पन्न करती हैं ॥ १२ ॥

यथास्वैरेव[1] पुष्यन्ते देहे द्रव्यगुणाः पृथक् ।
पार्थिवाः पार्थिवानेव शेषाः शेषांश्च कृत्स्नशः ॥ १३ ॥

देह में द्रव्यों के गुण पृथक् पृथक् अपने अपने अंशों से ही पुष्ट होते हैं। पार्थिव गुण पार्थिव गुणों को ही साकल्येन पुष्ट करते हैं और आप्य आदि शेष अंश अपने अपने आप्य आदि गुणों का ही पोषण करते हैं। अभिप्राय यह है कि पाञ्चभौतिक आहार के पार्थिव आदि सब अंश परिपक्व होकर पाञ्चभौतिक देह के अपने पार्थिव आदि सब अंशों का पृथक् पोषण करते हैं। जैसे गुरु खर कठिन आदि पार्थिव आहार गुण हैं, ये देह के गुरु खर कठिन आदि भावों को ही उत्पन्न करेंगे। गुरु आहारगुण गुरुता को ही करेगा। खर आहारगुण देह की खरता को ही, कठिन आहारगुण देह की कठिनता को ही करेगा। इसीप्रकार द्रव स्निग्ध शीत आदि आहार के आप्य गुण देह के इन्हीं जलीय भावों की वृद्धि करते हैं। यही बात आग्नेय,

---

१ 'यथास्वं स्वं च पुष्णन्त्याहारद्रव्यगुणाः' इति पाठान्तरम् ।

वायव्य और नाभस आहारगुणों की जाननी चाहिये ॥ १३ ॥

सप्तभिर्देहधातारो धातवो द्विविधं पुनः।
यथास्वमग्निभिः पाकं यान्ति किट्टप्रसादतः ॥ १४ ॥

देह के धारक रस आदि सात धातु अपनी अपनी धात्व-ग्नियों द्वारा दो प्रकार के पाक को प्राप्त होते हैं। १ किट्ट २ प्रसाद। अर्थात् वे मल और प्रसाद रूप में परिणत होते हैं ॥ १४ ॥

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रजायते ॥ १५ ॥

प्रसादज धातु—रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि (हड्डी), अस्थि से मज्जा, उससे वीर्य और वीर्य से गर्भ की उत्पत्ति होती है।

कई यह अर्थ करते हैं कि—रस के अनन्तर रक्त, रक्त के अनन्तर मांस, मांस के अनन्तर मेद, तदनन्तर अस्थि, उसके अनन्तर मज्जा और मज्जा के पश्चात् शुक्र, शुक्र के अनन्तर उससे गर्भ उत्पन्न होता है ॥

धातुओं की उत्पत्ति प्रसाद अंश से होती है। अन्त में शुक्र सर्वथा निर्मल धातु माना गया है। इसमें मल नहीं होता।

रस से धातुओं का परिवर्तन होने में तीन मत है। कई तो यह मानते हैं कि पूर्व पूर्व धातु से उत्तर उत्तर धातु उत्पन्न होती है। जैसे रस के प्रसाद अंश से रक्त रक्त के प्रसाद अंश से मांस और मांस के प्रसाद अंश से मेद इत्यादि। कई रस से सर्वात्मना रक्त बनता है और रक्त से सर्वात्मना मांस आदि—ऐसा मानते हैं। इसे क्षीरदधिन्याय से धातुओं की उत्पत्ति कही जाती है। जैसे दूध से सर्वात्मना दही बनता है और दही को मथकर मक्खन निकाला जाता है और मक्खन से घी तय्यार होता है। दूसरा पक्ष यह है कि सबसे पूर्व रस रक्त को प्लावित करता है। वहां वह मिलकर रक्त के सदृश ही हो जाता है और जो उसमें रक्त का पोषक

१ ०किट्टप्रसादवत्। २ 'प्रसादजः' इति पाठान्तरम्।

भाग होता है उससे रक्त को पुष्ट करता है। तदनन्तर वह रस मांस में पहुंचता है और वहां अपने विशेष भाग से मांस को पुष्ट करता है। इसके पश्चात् मेद में पहुंचकर मेदोधातु को पुष्ट करता है इत्यादि । अर्थात् रस ही उत्तरोत्तर धातुओं को आप्लावित करके उनका पोषण करता है । इसे केदारकुल्यान्याय से धातुओं की उत्पत्ति कहा जाता है । अर्थात् जिसप्रकार कुल्या (छोटी सी नहर) का जल पूर्व केदार (बड़ी क्यारी) को सींचकर पीछे क्रमशः दूसरी क्यारियों को सींचता जाता है वैसे ही रस एक ही मार्ग से क्रमशः उत्तरोत्तर धातु में पहुंचकर उनका पोषण करता है । तीसरे प्रकार को खलेकपोतन्याय कहते हैं जैसे दाना बिखेर देने से बहुत से कबूतर आकर बैठ जाते हैं। अब इन कबूतरों ने भिन्न भिन्न दिशाओं में अपने अपने मार्ग से जाना होता है। वे अपने अपने उद्देशस्थान के पास वा दूर होने से वहां शीघ्र वा देर से पहुंचते हैं। वैसे ही एक ही काल में आहाररस भिन्न मार्गों से जाकर रस रुधिर आदि धातुओं का पोषण करता है । परन्तु जो पास की धातु है उसका शीघ्र पोषण होता है और जो क्रमशः दूर की हैं उनका क्रमशः देर से पोषण होता है। इसमें से सर्वात्मना रस से रक्त में रक्त से मांस में परिणत होने वाला पक्ष तो सर्वथा हेय है । अन्यथा तीन चार दिन के उपवास से देह नीरस हो जायगा । और यदि कथंचित् मासभर उपवास होगया तो शरीर में केवल शुक्र धातु ही बचेगा ॥ १५ ॥

रसात्स्तन्यं स्त्रिया रक्तमसृजः कण्डराः सिराः ।
मांसाद्वसा त्वचः षट् च मेदसः स्नायुसंभवः ॥ १६ ॥

उपधातु–रस से स्त्रियों में स्तन्य (दूध) और आर्त्तव तथा रक्त से कण्डरायें और शिरायें, मांस से वसा और छह त्वचायें, मेद से स्नायु की उत्पत्ति होती है ॥ १६ ॥

३०७

किट्टमन्नस्य विण्मूत्रं रसस्य तु कफोऽसृजः।
पित्तं मांसस्य खमला मलः स्वेदस्तु मेदसः॥ १७॥
स्यात्किट्टं केशलोमाऽस्थ्नो मज्ज्ञः स्नेहोऽक्षिविट् त्वचाम्।
[1]प्रसादकिट्टे धातूनां पाकादेवं द्विधर्च्छतः॥ १८॥

भुक्त अन्न का किट्ट–पुरीष और मूत्र है। रस का किट्ट–कफ। रक्त का किट्ट–पित्त। मांस का किट्ट–कान आदि छिद्रों की मैल। मेद का किट्ट–स्वेद है। अस्थि का किट्ट–केश और लोम। मज्जा के किट्ट–शरीर का स्नेहांश और आंखों की मैल। इसप्रकार धातुओं का प्रसाद और किट्ट रूप में दो प्रकार का पाक होता है॥ १७–१८॥

[2]परस्परोपसंस्तम्भाद्धातुसाम्यपरम्परा।
वृष्यादीनां प्रभावस्तु पुष्णाति बलमाशु हि॥ १९॥

प्रसाद और किट्ट के परस्पर स्तम्भक होने के कारण धातुसमता की परम्परा चली जाती है। सूत्रस्थान २८ अध्याय में कह आये हैं—

'धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते। तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात्स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसात् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः। ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वमानमनुवर्तन्ते यथावयःशरीरम्। एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितौ आश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः।' इत्यादि।

वृष्य आदि औषधों का प्रभाव तो शीघ्र ही बल का पोषण करता है। वृष्य से यहां केवलमात्र ध्वजहर्षकारक तथा शुक्रविरेचक द्रव्य का ग्रहण

---

१ 'प्रसादकिट्टौ धातूनां पाकादेवाविगर्हतः' ग.।

२ 'परस्परोपसंस्तम्भाद्धत्तो देहे परस्परम्' ग०। 'परस्परोपसंस्तम्भा धातुस्नेहपरम्परा' च०।

समझना चाहिये । इन द्रव्यों का प्रभाव वातवहा धमनियों द्वारा होता है अतएव बल के पोषण में देर नहीं लगता । इस कार्य का मुख्य केन्द्र कटिदेश की सुषुम्ना में रहता है । मस्तिष्क में भी केन्द्र होता है । वृष्य औषधें जननेन्द्रियों की ओर वा जननेन्द्रियों में से गुजरने वाली वातवहानाडियों और केन्द्रों को उत्तेजित करके बलाधान तथा शुक्र का त्वरण करती हैं ।

वे औषधें वा अन्नपान जो क्रमशः रस आदि धातु में परिणत होती हुई वीर्य रूप में आती हैं उन में तो अधिक काल लगता ही है । उसमें शीघ्रता नहीं हो सकती । जो औषध वा अन्नपान रस आदि सब धातुओं में परिणत होने के बिना अपना शीघ्र प्रभाव वातवहानाडियों आदि द्वारा करती हैं वहां देर नहीं लगा करती । सुश्रुत सू० अ० १४ में भी कहा है—

'वाजीकरण्यस्त्वोषधयः स्वबलगुणोत्कर्षाद्विरेचनवदुपयुक्ताः शुक्रं शीघ्रं विरेचयन्ति ।'

चक्रपाणि तो कहता है कि दूध आदि वृष्य द्रव्यों का प्रभाव शीघ्र बल को पुष्ट करता है—दूध आदि द्रव्य, प्रभाव से बल पकड़ कर उक्त धातुक्रम से अर्थात् रस रक्त आदि बनते हुए शीघ्र वीर्योत्पादन आदि कार्य करते हैं । परन्तु यह कहां तक ठीक है इसमें वही प्रमाण है । अथवा वह कहता है कि वृष्य आदि प्रभाव से ही शीघ्र वीर्य आदि की उत्पत्ति करते हैं ॥१६॥

षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम् ।
सन्तत्या पोष्यधातूनां परिवृत्तिस्तु चक्रवत् ॥ २० ॥

कई आचार्य छह अहोरात्र (२४ घण्टे का) में धातुपरिवर्तन का पूर्ण होना मानते हैं । अर्थात् रस धातु छह दिन से वीर्यरूप में आता है । अर्थात् सबसे पूर्व आहाररस से रसधातु बनता है । इस

---

१ 'भोज्य०' पा० ।

रसधातु के बाद परिवर्तन होते हुए शुक्रोत्पत्ति छठे दिन होती है । प्रथम दिन रक्त, द्वितीयदिन मांस, तृतीय दिन मेद, चौथे दिन अस्थि, पांचवें दिन मज्जा, और छठे दिन वीर्य । यदि आहाररस और रसधातु की परिणति का दिन भी गिनें तो गणना में शुक्रोत्पत्ति का दिन आठवां कहा जायगा। पराशर ने कहा है—

'आहारोपभोगदिनात् श्वः रसत्वं तृतीयेऽह्नि रक्तत्वं चतुर्थेऽह्नि मांसता मेदस्त्वं पञ्चमे षष्ठे त्वास्थित्वं सप्तमे मज्जता अष्टमे शुक्रता नियमेन भवति ।'

सुश्रुत तो रसधातु से शुक्र का प्रादुर्भाव एक मास में मानता है, वहां सू० अ० १४ में कहा भी है—

'तत्र 'रस गतौ' धातुः, अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः । स खलु त्रीणि त्रीणि कला सहस्राणि पञ्चदश च कला एकैकस्मिन् धातावबतिष्ठते, एवं मासेन रसः शुक्रीभवति, स्त्रीणां चार्तवम् ॥

अथवा 'षड्भिः केचिदहोरात्रैरिच्छन्ति परिवर्तनम् ।' का अर्थ यह भी होता है कि रसधातु से रक्त का परिवर्तन छठे दिन होता है, तदनन्तर छठे दिन मांसरूप में परिवर्तन होता है इत्यादि प्रत्येक परिवर्तन में पांच पांच दिन होने से एकमास में ही रस से शुक्र बनेगा ।

पोष्य रस आदि धातुसमूह का इसीप्रकार चक्रवत् निरन्तर परिवर्तन होता रहता है । अर्थात् देह में धातुपरिवर्तन अविश्रान्त रूप से होता रहता है । चक्रपाणि कहता है कि ' चक्र ' के दृष्टान्त से धातुपरिवृत्ति में काल का विशेष नियम नहीं--यह आचार्य ने बताया है । जैसे यदि फुर्तीला पुरुष कुंए से जल निकाले तो उसकी बाहु में बल के अधिक होने से चक्र में शीघ्र चक्कर दिये जाने से जल शीघ्र निकल आयगा और यदि वह पुरुष जिसकी बाहु में बल न हो जल निकाले तो देर से निकलेगा वैसे ही यदि देह में अग्निबल आदि होगा तो धातु परिवर्तन शीघ्र होगा और यदि

अग्निबल आदि मन्द हो तो धातुपरिवर्तन भी देर से होगा । सुश्रुत सू० अ० १४ में भी शब्दसन्तान आर्चिः(प्रभा)सन्तान तथा जलसन्तान, ये तीन दृष्टान्त इसीलिये कहे हैं—

'स शब्दार्चिर्जलसन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलम् ।'

शब्दसन्तान के सदृश मध्याग्नि पुरुषों में और आर्चिःसन्तान के सदृश तीक्ष्णाग्नि पुरुषों में और जलसन्तान के सदृश मन्दाग्नि पुरुषों में रस की गति होती है । जिससे धातुपरिवृत्ति में भी न्यूनाधिक काल लगता है । अतएव अन्यत्र भी मतभेद दर्शाया है—

'केचिदाहुरहोरात्रात् षड्रात्रादपरे परे ।
मासेन याति शुक्रत्वमन्नं पाकक्रमादिति' ॥ २० ॥

(इत्युक्तवन्तमाचार्यं शिष्यस्त्विदमचोदयत् ।
रसाद्रक्तं[1] विसदृशात्कथं देहेऽभिजायते ॥ २१ ॥
रसस्य च न रागोऽस्ति स कथं याति रक्तताम् ।
द्रवाद्रक्तात्स्थिरं मांसं कथं तज्जायते नृणाम् ॥ २२ ॥
द्रवधातोः[2] स्थिरान् मांसान्मेदसः संभवः कथम् ।
श्लक्ष्णाभ्यां मांसमेदोभ्यां खरत्वं कथमस्थिषु ॥ २३ ॥
खरेष्वस्थिषु मज्जा च केन स्निग्धो मृदुस्तथा ।
मज्ज्ञश्च परिणामेन यदि शुक्रं प्रवर्तते ॥ २४ ॥
सर्वदेहगतं शुक्रं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
तथाऽस्थिमध्यमज्ज्ञश्च शुक्रं भवति देहिनाम् ॥ २५ ॥
छिद्रं न दृश्यतेऽस्थ्नां च तन्निःसरति वा कथम् ।

जब आचार्य इस प्रकार कह चुके तब शिष्य ने यह प्रश्न किया— भगवन् ! रक्त रस के सदृश तो होता नहीं, फिर देह में रस से रक्त कैसे उत्पन्न होता है । रस में तो लालिमा होती नहीं वह लाल (रक्त)

---

१ 'रसादक्ता०' पा० । २ 'रसाद्रक्तात्तथा मांसान्मेदसः श्वेतता कथम्' पा० ।

कैसे हो जाता है ? रक्त तो द्रव पदार्थ है, उससे स्थिर मांस कैसे बन जाता है ? पुनः स्थिर मांस से द्रवधातु मेद की उत्पत्ति कैसे होती है ? मांस और तदनन्तर मेदोधातु तो श्लक्ष्ण होती हैं, अस्थियों में खरता कैसे हो जाती है ? खर अस्थियों में किस हेतु से स्निग्ध और कोमल मज्जा आ जाती है ? यदि मज्जा के परिणाम से ही शुक्र की उत्पत्ति होती है तो मनीषी (मननशील) लोग तो शुक्र को सर्वदेह में व्याप्त मानते हैं, यह कैसे होगा तथा च हड्डियों में छिद्र नहीं दिखाई देता, किस प्रकार शुक्र उसमें से निकलता है ? ॥२१–२५॥

एवमुक्तस्तु शिष्येण गुरुः प्राहेदमुत्तरम् ॥ २६ ॥
तेजो रसानां सर्वेषां मनुजानां यदुच्यते ।
पित्तोष्मणः स रागेण रसो रक्तत्वमृच्छति ॥ २७ ॥

इस प्रकार शिष्य के प्रश्न करने पर गुरु ने यह उत्तर दिया– सब मनुष्यों में जो रसों का तेज कहा जाता है उस तेज और पित्त की ऊष्मा के राग से रस रक्तता को प्राप्त होता है–लाल होकर रक्त बन जाता है । अर्थात् रस से रक्त बनने में रसों का अपना तेज और पित्त की ऊष्मा कारण हैं । इन दोनों से पाक को प्राप्त होकर रस लाल हो जाता है ॥ २६–२७ ॥

वाय्वम्बुतेजसा रक्तमूष्मणा चाभिसंयुतम् ।
स्थिरतां प्राप्य मांसं स्यात्,

वह रक्त, वायु जल तेज और ऊष्मा से युक्त होने पर स्थिरता को प्राप्त होकर, मांस बन जाता है ।

स्वोष्मणा पक्वमेव तत् ॥ २८ ॥
स्वतेजोऽम्बुगुणस्निग्धोद्रिक्तं मेदोऽभिजायते ।

वह मांस अपनी ऊष्मा से परिपक्व और अपने तेज तथा जलीय गुण स्निग्धता की वृद्धि होने पर मेदोरूप में परिणत हो जाता है ॥२८॥

पृथिव्यग्न्यनिलादीनां सङ्घातः स्वोष्मणा कृतः ॥ २९ ॥

खरत्वं प्रकरोत्यस्य जायतेऽस्थि ततो नृणाम् ।

अपनी (मेद की) ऊष्मा से पृथिवी अग्नि और वायु आदि का सङ्घात होकर वह (मेद) खर होजाता है, जिससे मनुष्यों की अस्थि बन जाती है ॥२९॥

करोति तत्र सौषिर्यमस्थ्नां मध्ये समीरणः ॥ ३० ॥
मेदसस्तानि पूर्यन्ते स्नेहो मज्जा ततः स्मृतः ।

उन अस्थियों के मध्य में वायु खोखलापन कर देता है और वह खोखला स्थान मेद से भर जाता है । उस स्नेह को ही मज्जा कहा जाता है ॥ ३० ॥

तस्मान्मज्ज्ञस्तु यः स्नेहः शुक्रं संजायते ततः ॥ ३१ ॥
वाय्वाकाशादिभिर्भावैः सौषिर्यं जायतेऽस्थिषु ।
तेन स्रवति तच्छुक्रं नवात्कुम्भादिवोदकम् ॥ ३२ ॥

उस मज्जा का जो स्नेह होता है उससे शुक्रोत्पत्ति होती है । वायु तथा आकाश आदि के कारण अस्थियां सच्छिद्र होती हैं । उस छिद्र से शुक्र की स्रुति होती है । जैसे नये मिट्टी के घड़े से जल चूआ करता है ॥३१—३२॥

स्रोतोभिः स्यन्दते देहात्समन्ताच्छुक्रवाहिभिः ।
हर्षेणोदीरितं वेगात्सङ्कल्पाच्च मनोभवात् ॥ ३३ ॥

वह उत्पन्न शुक्र, कामजनित सङ्कल्प के कारण उत्पन्न हर्ष से उदीर्ण होकर सम्पूर्ण देह से आकर स्थित शुक्रवाही स्रोतों में बड़े वेग से प्रवाहित होता है ॥३३॥

विलीनं घृतवद्व्यायामोष्मणा स्थानविच्युतम् ।
बस्तौ संभृत्य निर्याति स्थलान्निम्नादि[१]वोदकम् ॥३४॥

योनिलिङ्गसङ्घर्ष-रूप आदि व्यायाम से उत्पन्न ऊष्मा के कारण शुक्र द्रवीभूत तथा स्थान से च्युत होकर बस्तिदेश में आकर मूत्रमार्ग से निकलता

१ 'स्थलान्निम्नमिवो०' ग. ।

है । जैसे जल नीचे स्थान की ओर बह कर निकल जाता है वैसे ही। अभिप्राय यह है कि मज्जा से वीर्य की उत्पत्ति होकर वह सम्पूर्ण देह में फैल जाता है । वहां शुक्रधरा कला इसका धारण करती है। परन्तु जब मन काम से आक्रान्त होता है तब शुक्रवाही स्रोतों में बहता है । शुक्रवह स्रोतों का मूल अण्ड हैं । अण्ड में मथा जाकर वह शुक्ररूप में आता है । वहां से वह शुक्राशय में जाता है। यह स्थान मूत्राशय के नीचे है । सङ्घर्षज ऊष्मा और वायु के कारण वह त्वरित होकर मूत्रमार्ग से बाहिर निकलता है ॥

सुश्रुत शारीरस्थान अ० ४ में कहा है—

'यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे यथा ।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः ॥
द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः ।
मूत्रस्रोतः पथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥
कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा ।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत्सम्प्रवर्तते ॥'

'इत्युक्तवन्तमाचार्यं' से लेकर 'स्थलान्निम्नादिवोदकम्' तक की चक्रपाणिकृत टीका नहीं प्राप्त होती । प्रतीत होता है कि यह पाठ उससे भी पीछे के काल में चरक में डाल दिया गया है। अतएव इसकी उतनी प्रामाणिकता नहीं ॥ ३४ ॥

व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा ।
युगपत्सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ ३५ ॥

विक्षेपकरणशील व्यान वायु रसधातु को सदा देह में सब ओर युगपत् फैंकती रहती है, अर्थात् सर्वत्र पहुंचाती रहती है ।

जिसके कारण हृदय और रसवाहिनी एवं रक्तवाहिनियों में द्रवधातु की निरन्तर गति रहती है, उसे आयुर्वेद में व्यान वायु कहा है ॥३५॥

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः ।
तस्मिन् विकारान् कुरुते खे[1] वर्षमिव तोयदः ॥ ३६ ॥

निरन्तर फेंका जाता हुआ (एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाया जाता हुआ) रस धातु यदि स्रोत की विगुणता वा विकृति के कारण रुक जाता है तो वह उस देश में नाना विकारों को उत्पन्न कर देता है । जैसे वायु से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाये जाते हुए मेघ जहां रुक जाते हैं वहां ही बरस जाते हैं । रस भी इसीप्रकार ले जाया जाता हुआ जिस शरीरदेश में रुक जाता है वहां रसज विकारों को उत्पन्न करता है ॥३६॥

दोषाणामपि चैवं स्यात्तत्र[2] देशे प्रकोपणम् ।
इति भौतिकधात्वन्नपक्तृणां कर्म भाषितम् ॥ ३७ ॥

चलायमान (प्रसर) दोषों का भी इसीप्रकार रुकने पर (स्थानसंश्रय) उस २ देश में प्रकोप हो जाता है । जिससे वहां रोग हो जाते हैं । सुश्रुत में भी कहा है—

' कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम् ।
यत्र सङ्गः खवैगुण्याद्व्याधिस्तत्रोपजायते ॥

यह, भौतिक अग्नि धात्वग्नि तथा अन्नपक्ता अग्नि (जाठराग्नि) तीनों का कर्म कह दिया है ।

अन्नस्य पक्ता सर्वेषां पक्तृणामधिपो[3] मतः ।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः ॥ ३८ ॥

सब अग्नियों में अन्न की पाचक अग्नि प्रधान है । इसी अग्नि पर भूताग्नियां और धात्वग्नियां निर्भर हैं । यदि अन्नपाचकाग्नि की वृद्धि होगी तो उनकी भी वृद्धि होगी । यदि अन्नपाचकाग्नि क्षीण होगी तो वे अग्नियां भी क्षीण होंगी ।

---

१ 'करोति विकृतिं चात्र खे वर्षमिव तोयदः' इति पाठान्तरम् ।
२ 'स्यादेकदेशप्र०' च.। ३ '०माधिको' इति पाठान्तरम् ।

तस्मात्तं विधिवद्युक्तैरन्नपानेन्धनैर्हितैः ।
पालयेत्प्रयतस्तस्य स्थितौ ह्यायुर्बलस्थितिः ॥ ३९ ॥

अतएव प्रयत्नशील होकर विधिपूर्वक प्रयुक्त हिततम अन्नपानरूपी ईन्धन से उस अन्नपाचकाग्नि की रक्षा करनी चाहिये । इसी की स्थिति पर आयु और बल की स्थिति निर्भर है ॥ ३९ ॥

यो हि भुङ्क्ते विधिं मुक्त्वा ग्रहणीदोषजान् गदान् ।
स लौल्याल्लभते शीघ्रं वक्ष्यन्तेऽतः परं तु ये ॥ ४० ॥

जो व्यक्ति विधि का त्याग कर आहार का सेवन करता है, वह लोभवश ग्रहणी के दोष से उत्पन्न होने वाले रोगों को शीघ्र प्राप्त होता है । ये ग्रहणीदोषज रोग अभी आगे कहे जायगे ॥ ४० ॥

अभोजनादजीर्णातिभोजनाद्विषमाशनात् ।
असात्म्यगुरुशीतातिरूक्षसंदुष्टभोजनात् ॥ ४१ ॥
विरेकवमनस्नेहविभ्रमाद्व्याधिकर्षणात् ।
देशकालर्तुवैषम्याद्वेगानां च विधारणात् ॥ ४२ ॥
दुष्यत्यग्निः स दुष्टोऽन्नं न तत्पचति लघ्वपि ।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषतां च तत् ॥ ४३ ॥

अजीर्ण का सामान्य हेतु और सम्प्राप्ति—भोजन न करने से (उपवास से), अजीर्ण पर भोजन से, अति-भोजन से, विषमाशन (बहुत, थोड़ा वा अकाल में भोजन) से, असात्म्यभोजन से, गुरु भोजन से, शीतल भोजन से, अत्यन्त रूक्ष भोजन से वा दुष्ट (बासी आदि) भोजन से, विरेचन वमन वा स्नेह के विभ्रम से—यथावत् प्रयोग न होने से, किसी रोग के कारण कृशता वा निर्बलता होजाने से, देश काल वा ऋतु की विषमता से, मल मूत्र आदि के वेगों के रोकने से अग्नि दुष्ट होजाती है । वह दुष्ट अग्नि लघु अन्न को भी नहीं पचाती । परिपाक न होने से अन्न शुक्तता (अम्लता) और विषगुण को प्राप्त होता है । अर्थात् जिसप्रकार विष बहुत विकारों को यहां तक कि मृत्यु का

भी कारण होता है वैसे ही ये अपरिपक्व अन्न भी। अन्यत्र कहा भी है—

'मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥' ४१-४३ ॥

तस्य लिङ्गमजीर्णस्य विष्टम्भः सदनं तथा ।
शिरसो रुक् च मूर्च्छा च भ्रमः पृष्ठकटिग्रहः ॥ ४४ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दस्तृष्णा च ज्वरश्छर्दिः प्रवाहणम् ।
अरोचकोऽविपाकश्च,

अन्न के जीर्ण न होने पर सामान्य लक्षण—विष्टम्भ (अन्न का कोष्ठ में ही रुका रहना), शिथिलता, शिर में पीड़ा, मूर्च्छा, भ्रम (चक्कर आना), पीठ और कमर में वेदना, जम्भाई, अङ्गमर्द, तृष्णा, ज्वर छर्दि (कै), प्रवाहण (बार बार मलत्याग), अरुचि, अविपाक; ये अजीर्ण के लक्षण हैं ॥ ४४ ॥

घोरमन्नविषं च तत् ॥ ४५ ॥
संसृज्यमानं पित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान् ।
जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चापरान् गदान् ॥ ४६ ॥

वह घोर अन्नविष जब पित्त के साथ मिलता है तब दाह, तृष्णा, मुखरोग (मुख का पकना आदि), अम्लपित्त तथा अन्य पित्तज रोगों को उत्पन्न करता है ॥ ४६ ॥

यक्ष्मपीनसमेहादीन्कफजान्कफसङ्गतम् ।
करोति वातसंसृष्टं वातजांश्चापरान् गदान् ॥ ४७ ॥

कफ के साथ मिश्रित होकर वह अन्नविष यक्ष्मा, पीनस (प्रतिश्याय) तथा प्रमेह आदि कफज रोगों का कारण होता है । वात के संसर्ग से वह घोर अन्नविष विष्टम्भ आदि के अतिरिक्त शूल आध्मान आदि विविध वातज रोगों को करता है ॥ ४७ ॥

मूत्ररोगांश्च मूत्रस्थं कुक्षिरोगान् शकृद्गतम् ।
रसादिभिश्च संसृष्टं कुर्याद्रोगान् रसादिजान् ॥ ४८ ॥

मूत्र में स्थित अन्नविष मूत्ररोगों को और पुरीषगत होकर कुक्षि के रोगों (उदररोगों) को और रस रक्त आदि धातुओं में मिश्रित होकर रसज रक्तज आदि रोगों को करता है । ये रोग सूत्रस्थान २८ अध्याय में कहे जा चुके हैं ॥ ४८ ॥

विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन् ।
तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून्विशोषयति पावकः ॥ ४९ ॥

विषम अग्नि भुक्त अन्न का विषमरूप से पाक करके वात आदि वा रस आदि धातुओं में विषमता कर देती है ।

तीक्ष्ण अग्नि को यदि आहार रूप ईंधन न मिले वा कम मिले तो वह रस आदि धातुओं को सुखा डालती है । यदि ईंधन मिलता जाय तब तो धातुओं का पोषण होगा ही ॥ ४९ ॥

युक्तं भुक्तवतो युक्तो धातुसाम्यं समं पचन् ।
दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा ॥ ५० ॥

युक्त अर्थात् सम अग्नि युक्त अर्थात् हिततम और मात्रा में खाये आहार का समता से परिपाक करती हुई धातुसमता को करती है ।

दुर्बल अग्नि अन्न को विदग्ध कर देती है । वह विदग्ध हुआ अन्न या तो ऊर्ध्वमार्ग—मुख से कै होकर प्रवृत्त होता है अथवा अधोमार्ग—गुदा से प्रवृत्त होता है ॥ ५० ॥

अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः ।
उच्यते, सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते ॥ ५१ ॥

ग्रहणीरोग का स्वरूप—जो अधोमार्ग से पक्का और कच्चा मल प्रवृत्त होता है उसे ग्रहणीरोग कहा जाता है । प्रायः संग्रहणी के रोगी का सारा ही अन्न (चाहे वह स्निग्ध हो वा रूक्ष हो, गुरु हो वा लघु हो) विदाह को प्राप्त हो जाता है ॥ ५१ ॥

अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते ।
तृष्णारोचकवैरस्यप्रसेकतमकान्वितः ॥ ५२ ॥

शूनपादकरः सास्थिपर्वरुक् छर्दनं ज्वरः ।
लोहानुगन्धिस्तिक्ताम्ल उद्गारश्चास्य जायते ॥ ५३ ॥

ग्रहणी के लक्षण—ग्रहणी के रोगी का मल अत्यन्त ढीला, वा बंधा हुआ वा द्रवरूप होता है। अभिप्राय यह है कि रोगी को कभी दस्त आता है और कभी बंधा हुआ पाखाना होता है और कभी जल रूप ही मल आता है। वह तृष्णा अरुचि मुख की विरसता प्रसेक (थूक का बहुत आना) और तमकश्वास से आक्रान्त होता है। हाथ और पैरों में शोथ हो जाता है। हड्डी और पोरों में वेदना होती है। कै होती है। ज्वर हो जाता है। रोगी को डकार आते हैं और वे डकार लोहगन्धि (लोहे की सी गन्ध वाले) तिक्त एवं अम्लरस युक्त होते हैं। सुश्रुत उ० अ० ४० में सम्प्राप्ति स्वरूप और लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

एकशः सर्वशश्चैव दोषैरत्यर्थमुच्छ्रितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥
अथ जाते भवेज्जन्तुः शूनपादकरः कृशः ।
पर्वरुग्लौल्यतृट्छर्दिज्वरारोचकदाहवान् ॥
उद्गिरेच्छुक्ततिक्ताम्ललोहधूमामगन्धिकम् ।
प्रसेकमुखवैरस्यतमकारुचिपीडितः ' ॥ ५२-५३ ॥

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥ ५४ ॥

ग्रहणी के पूर्वरूप—तृष्णा, आलस्य, बल की क्षीणता, अन्न का विदाह, अन्न का देर से पचना, देह में गुरुता; ये ग्रहणी के पूर्व-रूप हैं। सुश्रुत उ० अ० ४० में भी कहा है—

तस्योत्पत्तौ विदाहोऽन्ने सदनालस्यतृट्क्लमाः ।

बलक्षयोऽरुचिः कासः कर्णक्ष्वेडान्त्रकूजनम् ' ॥ ५४ ॥

अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता।
नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥ ५५ ॥
अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः।
दुर्बलाग्निबलाद्दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥ ५६ ॥

ग्रहणी की निरुक्ति कार्य और स्थान—ग्रहणी अग्नि का अधिष्ठान (आश्रयस्थान) है। अन्न का ग्रहण करने से उसे ग्रहणी कहा जाता है। वह नाभि से ऊपर के देश में कोष्ठ में अवस्थित है, वहां वह अग्नि के बल के सहारे स्थित और पुष्ट हुई २ कच्चे अन्न का धारण करती है और दूसरे पार्श्व से पके अन्न का त्याग करती है। अभिप्राय यह है कि आमाशय से जो अन्न ग्रहणी में आता हैं वह पूरा पका हुआ नहीं होता। ग्रहणी में आकर अन्न के साथ पित्त क्लोमरस (Pancreatic juice) तथा क्षुद्रान्त्रीय रस मिलते हैं जिससे अन्न का पूर्ण पाक होता है। पककर अन्न ग्रहणी के दूसरे पार्श्व से निकल कर क्षुद्र आंतों में जाता है। आमाशय के पश्चात् लगभग १२ अङ्गुल लम्बी नाली को ग्रहणी कहते हैं। यह नाली अपूर्ण चक्र के सदृश वामपार्श्व की ओर मुड़ी होती है। इससे आगे की नाली (क्षुद्रान्त्र) के पूर्वभाग में ग्राहकांकुर होते हैं, ये एक वर्गइञ्च में लगभग १२००० होते हैं। इनका कार्य आत्मीकरण का है। इनमें स्थित रसायनियां आहाररस को लेती हैं और पश्चात् रस रक्त आदि धातु बनते हैं।

यदि अग्नि दुर्बल हो तो उसके कारण दुष्ट हुई २ ग्रहणी अन्न को पचाती नहीं और दूसरे पार्श्व से कच्चे अन्न का ही त्याग कर देती है। सुश्रुत उ० अ० ४० में कहा है—

' षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्त्तिता।
पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता ॥

ग्रहण्या बलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीश्रितः ।
तस्मात्सन्दूषिते वह्नौ ग्रहणी सम्प्रदुष्यति ' ॥ ५५-५६ ॥

वातात्पित्तात्कफाच्च स्यात्तद्रोगस्त्रिभ्य एव च[1] ।
हेतुं लिङ्गं चिकित्सां च शृणु तस्य पृथक् पृथक् ॥ ५७ ॥

ग्रहणीरोग के भेद—वात से पित्त से कफ से और सन्निपात से ग्रहणीरोग उत्पन्न होता है।

उस ग्रहणीरोग का पृथक् पृथक् हेतु लक्षण और चिकित्सा सुन ५७

कटुतिक्तकषायातिरूक्षशीताल्पभोजनैः[2] ।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥ ५८ ॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान् ।

वातिक ग्रहणी का हेतु और सम्प्राप्ति—कटु तिक्त कषाय अति रूक्ष शीतल वा अत्यल्प भोजन से, मात्राहीन भोजन से, अनशन (उपवास) से, अत्यधिक मार्ग चलने से, वेगों के रोकने से तथा अति मैथुन से कुपित हुआ वायु अग्नि को आच्छादित करके रोगों को करता है ॥ ५८ ॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥ ५९ ॥
कण्ठास्यशोषः क्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुजोऽभीक्ष्णं विसूचिका ॥ ६० ॥
हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥ ६१ ॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥ ६२ ॥
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात ॥ ६३ ॥

---

१ 'कफात्सर्वाद् ग्रहणीदोष उच्यते ' च. ।
२ 'कषायातिरूक्षसंदुष्टभोजनैः ' पा० ।

वातिक ग्रहणी के लक्षण--वातज ग्रहणी में रोगी का अन्न बड़े कष्ट से पचाता है। अन्न का पाक शुक्त (अम्ल) होता है। देह खर (खरदरा, रूक्ष) हो जाता है। कण्ठ और मुख का सूखना, भूख और प्यास का अधिक लगना, तिमिर (दृष्टि का मन्द होना), कानों में शब्द होना, पार्श्व ऊरु वङ्क्षण तथा गर्दन में निरन्तर वेदना, विसूचिका (मुख और गुदा से भुक्त कच्चे अन्न की प्रवृत्ति—कै और अतीसार), हृदय में पीड़ा, कृशता, दुर्बलता, मुख की विरसता, परिकर्तिका (कोष्ठ में कर्तनवत् पीड़ा) मधुर आदि सब रसों के सेवन की प्रबल अभिलाषा और मानसिक शिथिलता; ये लक्षण होते हैं। भोजन के पचजाने तथा पच रहे होने पर कोष्ठ में आध्मान होता है। भोजन करने पर रोगी स्वास्थ्य का अनुभव करता है। अभिप्राय यह है कि जब रोगी आहार करता है तब तो आध्मान नहीं होता और जब वह पचने लगता है तब आध्मान होना प्रारम्भ हो जाता है और पच जाने पर भी आध्मान बना रहता है। पुनः जब कुछ भोजन करता है तब आध्मान नहीं रहता और पीछे पचनक्रिया होने पर पुनः आध्मान होजाता है। वह पुरुष समझता है कि शायद उसे वातगुल्म हृद्रोग वा प्लीहा (तिल्ली) होगई है (क्योंकि उनसे मिलते जुलते लक्षण इस में होते हैं)। वह रोगी देर देर से और बड़े कष्ट से द्रव अथवा सूखा हुआ, अल्प मात्रा में, कच्चा, शब्द और झाग से युक्त बार बार पाखाना करता है। तथा कास और श्वास से पीड़ित होता है॥५९-६३॥

कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम्।
अग्निमाप्लावयद्धन्ति जलं तप्तमिवानलम्॥ ६४॥

पैत्तिक ग्रहणी का हेतु और सम्प्राप्ति—कटु, अजीर्ण, विदाही अम्ल तथा क्षार आदि के सेवन से प्रवृद्ध पित्त अग्नि को आप्लुत करके अग्नि को नष्ट करता है, जैसे गरम जल आग को। यद्यपि पित्त को अग्नि की वृद्धि करनी चाहिये पर द्रवांश की वृद्धि के कारण उस

अग्नि को मन्द कर देता है; जैसे गरम जल में ऊष्मा के विद्यमान होने पर भी वह ऊष्मा आग को भड़काती नहीं। गरम जल से तो आग बुझती ही है॥ ६४॥

सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम्।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः॥ ६५॥

पैत्तिक ग्रहणी के लक्षण—पैत्तिक ग्रहणी से आक्रान्त रोगी का वर्ण पीली आभा वाला होजाता है और उसका मल कच्चा नीले पीले वर्ण का और द्रव होता है। उसे दुर्गन्धयुक्त खट्टे डकार आते हैं। वह हृदय और कण्ठ में दाह अरुचि एवं तृष्णा से पीड़ित होता है॥ ६५॥

गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात्।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः॥ ६६॥

श्लैष्मिक ग्रहणी का हेतु वा सम्प्राप्ति—गुरु, अतिस्निग्ध, शीत, मधुर, पिच्छिल आदि द्रव्यों के भोजन से, अति भोजन से वा भोजन करते ही सो जाने से कुपित हुआ कफ अग्नि को नष्ट करता है॥६६॥

तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः।
आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः॥ ६७॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम्॥ ६८॥
भिन्नामश्लेष्मभूयिष्ठगुरुवर्चःप्रवर्तनम्।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके॥ ६९॥

श्लैष्मिक ग्रहणी के लक्षण—श्लैष्मिक ग्रहणी के रोगी का खाया अन्न बड़ी कठिनता से पचता है। हृल्लास (जी मिचलाना) कै तथा अरुचि होती है। मुख अन्दर से मललिप्त रहता है। मुख का स्वाद मधुर होता है। कास ष्ठीवन (थूक आना) तथा पीनस

(प्रतिश्याय) से रोगी पीड़ित होता है । रोगी हृदय को स्त्यान (घना वा भारी) अनुभव करता है अर्थात् जैसे हृदय में कोई घना द्रव भरा हो । उदर स्तिमित (बंधा हुआ सा) एवं भारी प्रतीत होता है । दुष्ट तथा मीठे २ डकार आते हैं । देह शिथिल होता है । मैथुन की इच्छा वा मैथुन में शक्ति नहीं होती । रोगी को जो मल आता है वह ढीला कच्चा कफाधिक तथा भारी होता है । देह के कृश न होते हुए भी दुर्बलता होती है । रोगी आलसी होता है । सुश्रुत उ० अ० ४० में संक्षेप से ये लक्षण कहे हैं—

' वाताच्छूलाधिकैः पायुहृत्पार्श्वोदरमस्तकैः ।
पित्तात्सदाहैर्गुरुभिः कफात् त्रिभिस्त्रिलक्षणैः ॥
दोषवर्णनखैस्तद्वद्विण्मूत्रनयनाननैः ।
हृत्पाण्डूदरगुल्मार्शःप्लीहाशङ्की च मानवः ॥' ६७—६९ ॥

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः ।
तं चापि ग्रहणीदोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे ॥ ७० ॥

रोगानीकाध्याय (विमान० ६ अ०) में जो चारप्रकार की अग्नि (मन्द, विषम, तीक्ष्ण और सम) कही जा चुकी है उसमें से समाग्नि को छोड़कर शेष को हम ग्रहणीदोष ही कहते हैं ॥

समाग्नि स्वास्थ्य का कारण है उससे ग्रहणी दूषित नहीं होती। परन्तु अग्नि के मन्द तीक्ष्ण वा विषम होने पर ग्रहणी दुष्ट हो जाती है। वात पित्त कफ द्वारा मन्द अग्नि से ग्रहणी दोष किस प्रकार होता है यह पूर्व ही बता दिया । अग्नि तीक्ष्ण हो परन्तु पुरुष आहार न करे तो वह अग्नि धातुओं को पचाना प्रारम्भ करती है । उसका सम्बन्ध सब से पूर्व ग्रहणी नाडी से ही होता है । अतः उसकी विकृति हो जाती है । यह विकृति पित्तान्तर्गत ऊष्मा के अधिक होने से होती है । अतः तीक्ष्णाग्निजन्य ग्रहणीदोष में तीव्र पित्तलक्षण रहेंगे । विषम अग्नि भी ग्रहणी को दूषित करती है । इससे उत्पन्न ग्रहणी में भी कभी

अन्न पच कर और कभी कच्चा ही रहकर अधोमार्ग से प्रवृत्त होता है। विषमाग्नि यतः वात से होती है अतः वातिक लक्षण अधिक होते हैं। मन्द अग्नि कफ से होती है अतः अग्निमान्द्य में कफ के लक्षण रहते हैं। अपने अधिष्ठान ग्रहणी को यतः ये तीनों अग्नियां दूषित कर देती हैं। अतः इन तीनों अग्नियों को भी ग्रहणीदोष ही कहा जाता है॥७०॥

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेत्,

त्रिदोषज ग्रहणी के लक्षण—वातज पित्तज कफज ग्रहणी दोषों के पृथक् पृथक् कहे गये लक्षणों के एकत्र दिखाई देने पर त्रिदोषज ग्रहणी जाने ।

अष्टाङ्गसंग्रह नि० अ० ८ में अतीसार और ग्रहणी में परस्पर भेद बताया है—

'सामं शकृन्निरामं वा जीर्णे येनातिसार्यते।
सोऽतिसारोऽतिसरणादाशुकारी स्वभावतः ॥
सामं सान्नमजीर्णेऽन्ने जीर्णे पक्वं तु नैव वा ।
अकस्माद्वा मुहुर्बद्धमकस्माच्छिथिलं मुहुः ।
चिरकृद् ग्रहणीदोषः सञ्चयाच्चोपवेशयेत् ॥'

अन्न के पचने पर साम (आमदोषयुक्त) वा निराम मल जब अत्यधिक आता है तब उसे अतिसार (दस्त) कहा जाता है । यह स्वभावतः आशुकारी होता है। ग्रहणीरोग में जब अन्न पचा नहीं होता तब मल साम और भुक्त अन्न से युक्त आता है । जब अन्न पच जाता है तब मल पका हुआ आता है अथवा आता ही नहीं । इसमें अकस्मात् ही बंधा हुआ और अकस्मात् ही शिथिल मल बारबार आता है। यह चिरकारी होता है। इसमें दोष के सञ्चित होने पर मल की प्रवृत्ति होती है ।

तेषां भेषजं शृण्वतः परम् ॥ ७१ ॥

ग्रहणीमाश्रितं दोषं विदग्धाहारमूर्च्छितम्।
सविष्टम्भप्रसेकार्तिविदाहारुचिगौरवैः ॥ ७२ ॥
आमलिङ्गान्वितं ज्ञात्वा सुखोष्णेनाम्बुनोद्धरेत्।
फलानां वा कषायेण पिप्पलीसर्षपैस्तथा ॥ ७३ ॥

अब ग्रहणीदोषों की औषध सुनो—

आमदोषमें चिकित्सा—आहार का विदग्ध होना, विष्टम्भ (मल का कोष्ठ में रुका रहना), लालाप्रसेक, पीडा, विदाह, अरुचि तथा गुरुता आदि लक्षणों से ग्रहणी में आश्रित दोष को आमलक्षणों से युक्त समझ कर सुखोष्ण (सुहाते गरम) जल से अथवा मैन॰ फल के क्वाथ से तथा पिप्पली और सरसों के कल्क से वमन कराकर दोषनिर्हरण करें। मैनफल के क्वाथ में ही पिप्पली और सरसों का कल्क डालकर रोगी को वमनार्थ दिया जा सकता है।

आहार की विदग्धता विष्टम्भ आदि उक्त लक्षणों से दोषों की आमता (अपक्वता) जानी जाती है ॥ ७१–७३ ॥

लीनं पक्वाशयस्थं वाऽप्यामं स्राव्यं सदीपनैः।
शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ॥ ७४ ॥

यदि आमदोष कोष्ठ में लीन हो अथवा पक्वाशय में स्थित हो तब दीपन द्रव्यों से युक्त विरेचन देकर दोष का स्रावण करना चाहिये। पक्वाशय में स्थित कहने का अभिप्राय ग्रहणी (पच्यमानाशय) से निकलकर पक्वाशय में स्थित होने से है। ऐसे समय विरेचन ही लाभकर हो सकता है।

यदि आमदोषयुक्त (अपक्व) रस शरीर में व्याप्त हो गया हो तो लङ्घन और पाचन औषध की व्यवस्था करनी चाहिये ॥७४॥

विशुद्धामाशयायास्मै पञ्चकोलादिभिः शृतम्।

---

१ 'एवमतो वक्ष्यामि भेषजम्' ग.। ' एवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ' पा०।

दद्यात् पेयादि लघ्वन्नं पुनर्योगांश्च दीपनान् ॥ ७५ ॥

जब रोगी का आमाशय शुद्ध हो जाय (दोष के अनुसार वमन विरेचन वा लङ्घन आदि द्वारा) तब पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल चव्य, चित्रक, सोंठ) आदि दीपन द्रव्यों से साधित पेया आदि लघु अन्न देना चाहिये । तथा अन्य दीपनयोगों का प्रयोग कराना चाहिये।

ज्ञात्वा तु परिपक्वामं मारुतग्रहणीगदम् ।
दीपनीययुतं सर्पिः पाययेताल्पशो भिषक् ॥ ७६ ॥

वातजग्रहणी की चिकित्सा--जब वातजग्रहणी में पेया तथा दीपन योगों आदि के प्रयोग से आमदोष का परिपाक हो जाय तब वैद्य को चाहिये कि दीपनीय द्रव्यों से युक्त वा साधित घृत रोगी को थोड़ा थोड़ा पिलावे अर्थात् स्वल्प मात्रा में प्रयोग करावे । दीपनीय द्रव्य सूत्रस्थान अध्याय ४ में कहे जा चुके हैं ॥ ७६ ॥

किञ्चित्सन्धुक्षिते त्वग्नौ सक्तविण्मूत्रमारुतम् ।
द्व्यहं त्र्यहं वा संस्नेह्य स्विन्नाभ्यक्तं[1] निरूहयेत् ॥ ७७ ॥

घृत प्रयोग से जब अग्नि कुछ दीप्त हो जाय तब जिस रोगी के मल मूत्र वा वायु की प्रवृत्ति यथावत् न होती हो उसका दो वा तीन दिन घृतपान आदि द्वारा स्नेहन तथा तत्पश्चात् स्वेदन और तैल आदि से अभ्यङ्ग करके आस्थापन करावे ॥ ७७ ॥

तत एरण्डतैलेन सर्पिषा तैल्वकेन वा ।
सक्षारेणानिले शान्ते स्रस्तदोषं विरेचयेत् ॥ ७८ ॥

आस्थापन द्वारा वात की शान्ति तथा दोष के शिथिल होने पर एरण्डतैल अथवा क्षारयुक्त तिल्वकघृत से विरेचन करावे ॥७८॥

शुद्धं रूक्षाशयं[2] बद्धवर्चसं चानुवासयेत् ।
दीपनीयाम्लवातघ्नसिद्धतैलेन मात्रया ॥ ७९ ॥

जब शोधन हो जाय तब (पेया आदि संसर्गक्रम कराने के

---

१ 'स्नेहाभ्यक्तं' च. । २ 'ज्ञात्वा सर्वशश्चानुवासयेत्' ग. ।

पश्चात्) आशय वा कोष्ठ के रूक्ष होने पर तथा मलबद्धता में दीपनीय अम्ल तथा वातघ्न द्रव्यों से साधित तैल द्वारा मात्रा में अनुवासन करावे ॥ ७९ ॥

निरूढं च विरिक्तं च सम्यक् चैवानुवासितम् ।
लघ्वन्नप्रतिसंभुक्तं सर्पिरभ्यासयेत्पुनः ॥ ८० ॥

निरूह (आस्थापन) विरेचन और अनुवासन कराने के पश्चात् पेया आदि लघु अन्न का भोजन करने वाले रोगी को पुनः प्रतिदिन घृत का प्रयोग करावे। यह घृत का प्रयोग भी अग्नि बल के अनुसार मात्रा में ही कराना चाहिये ॥ ८० ॥

दशमूलाद्यं घृतम् ।

द्वे पञ्चमूल्यौ सरलं देवदारु सनागरम् ।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ८१ ॥
शणबीजं यवान्कोलान्कुलत्थान्सुर[1]भीं तथा ।
पाचयेदारनालेन दध्ना सौवीरकेण वा ॥ ८२ ॥
चतुर्भागावशेषेण पचेत्तेन घृताढकम् ।
स्वर्जिकायावशूकाख्यौ क्षारौ[2] दत्त्वा च युक्तितः ॥ ८३ ॥
सैन्धवौद्भिदसामुद्रविडानां रोमकस्य च ।
ससौवर्चलपाक्यानां भागान्द्विपलिकान्पृथक् ॥८४॥
विनीय चूर्णितान्[3] सिद्धात्ततो द्वे द्वे पले पिबेत् ।
करोत्यग्निं बलं वर्णं वातघ्नं भुक्तपाचनम् ॥ ८५ ॥

इति दशमूलाद्यं घृतम् ।

दशमूलाद्यघृत—गव्यघृत २ आढक (८ प्रस्थ) । क्वाथार्थ--

---

१ 'सुषवीं' ग. ।

२ क्षारौ दत्त्वा च युक्तित इति अनेन क्षारयोरनल्पमानत्वमुच्यते । किन्तु प्रक्षेप्यान्यतमलवणमानेन पृथक् क्षारौ देयौ । युक्तित इत्यनेन योग्ये काले क्षारयोगमाह । स च योग्यः कालः घृतावतारणकाल एव जतूकर्णसंवादात् । इति चक्रपाणिकृतव्याख्याभिप्रायः । ३ 'चूर्णितांस्तस्मात्पाययेत्प्रसृतं भिषक्' ग. ।

दोनों पञ्चमूल अर्थात् बिल्व की छाल, पाटला की छाल, अरलू की छाल, गाम्भारी की छाल, अरणी की छाल (महापञ्चमूल), शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू (क्षुद्रपञ्चमूल), सरलकाष्ठ (चीड़ की लकड़ी), देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, गजपिप्पली, सन के बीज, जौ, कोल (बेर), कुलत्थ, सुरभी (शल्लकी अथवा गन्धमुरा अथवा पुदीना) मिलित १६ प्रस्थ । इसे आरनाल (कांजी) दही सौवीर इनमें से किसी एक द्रव से पकावें । द्रव का परिमाण १२८ प्रस्थ होना चाहिये । क्वाथ चतुर्थांश अर्थात् ३२ प्रस्थ अवशिष्ट रखें । यथाविधि पाक करें । जब घृत सिद्ध हो जाय तब सर्जिक्षार और यवक्षार का प्रक्षेप देकर सेन्धानमक, उद्भिदनमक, सामुद्रनमक, बिडनमक, रोमक (सांभर) नमक सौंचरनमक और पाक्य (पांशुज) नमक; प्रत्येक का २ पल चूर्ण उसमें मिलावे । इस घृत को दो दो पल परिमाण में पीवे । यह अग्नि बल एवं वर्ण को करता है, वातनाशक है तथा भुक्त आहार को पचाता है। जतूकर्ण के अनुसार यवक्षार और सर्जिक्षार की मात्रा पृथक् दो पल होनी चाहिये । उसने कहा है—

'दशमूलं पञ्चकोलं कुलत्थं सुरभिं यवम् ।
शणबीजञ्च कोलञ्च साधयेत् काञ्जिकेन तु ॥
दध्ना सौवीरकेणैव तेन पक्वे घृताढके ।
द्वौ क्षारौ सप्तलवणं दापयेद् द्विपलोन्मितम् ॥'

चक्रपाणि तो क्षारों की मात्रा अधिक देने को कहता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में कुछ भेद से यह योग पढ़ा है—

'द्विपञ्चमूलपञ्चकोलसरलसुरदारुसुरभिगजपिप्पलीशणबीजयवकोलकुलत्थान्मस्तुनारनालेन वा पाचयेत् । तेन पादावशेषेण पञ्चलवणद्विक्षाराम्लबदरयुक्तं सर्पिर्विपक्वम् ॥'

इसमें क्वाथ्यद्रव्यों में चव्य अधिक पढ़ा गया है । दही के स्थान

पर मस्तु (दही का पानी) पढ़ा है। इसीप्रकार सातनमकों के स्थान पर पांच नमक कहे हैं और खट्टे बेर अधिक पढ़े हैं। तथा च पांचनमक दोनों क्षार और अम्ल बदर को यहां प्रक्षेप में न कहकर कल्क रूप में कहा है। अर्थात् दशमूल आदि के क्वाथ और पांचनमक आदि के कल्क से घृत पाक करने का विधान है। इसी के अनुसार ही कई टीकाकार मूलोक्त पाठ में भी सर्जिक्षार यवक्षार तथा सातों नमक के चूर्ण से कल्कपाक करने को कहते हैं। प्रथम क्वाथ से घृत का पाक करके पश्चात् कल्क से पाक किया जाता है। कल्क से पाक करते समय घृत से चतुर्गुण जल डाला जाता है। मूलोक्त मात्रा आजकल के नागरिकों के लिये बहुत अधिक है। इसे आजकल आधा तोला मात्रा में प्रयुक्त कराना चाहिये ॥ ८१—८५ ॥

त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

त्र्यूषणात्रिफलाकल्के बिल्वमात्रे गुडात्पले।
सर्पिषोऽष्टपलं पक्त्वा मात्रां मन्दानलः पिबेत् ॥ ८६ ॥

इति त्र्यूषणाद्यं घृतम्।

त्र्यूषणाद्यघृत—८ पल गव्यघृत को त्रिकटु (सोंठ, मरिच, पिप्पली) और त्रिफला (हरड, बहेड़ा, आंवला) मिलित १ पल, गुड १ पल; इस कल्क से यथाविधि पकावे। सिद्ध होजाने पर उतार कर छान लें। मात्रा—आधा तोला। मन्दाग्नि वाला रोगी इसे पीवे ॥ ८६ ॥

पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च।

पञ्चमूलाभयाजाजिपिप्पलीमूलसैन्धवैः।
विडङ्गत्र्यूषणशटीरास्नाक्षारद्वयैर्घृतम् ॥ ८७ ॥
शुक्तेन मातुलुङ्गस्य स्वरसेनार्द्रकस्य च।
शुष्कमूलककोलाम्बुचुक्रिकादाडिमस्य च ॥ ८८ ॥
तक्रमस्तुसुरामण्डसौवीरकतुषोदकैः।

काञ्जिकेन च तत्पक्वमग्निदीप्तिकरं परम् ॥ ८६ ॥
शूलगुल्मोदरश्वासकासानिलकफापहम् ।
सबीजपूरकरसं सिद्धं वा पाययेद्घृतम् ॥ ९० ॥
सिद्धमभ्यञ्जनार्थं च तैलमेतैः प्रयोजयेत् ।
एतेषामौषधानां वा पिबेच्चूर्णं सुखाम्बुना ॥ ९१ ॥
वाते श्लेष्मावृते सामे कफे वा वायुनोद्धते ।
दद्याच्चूर्णं पाचनार्थमग्निसन्दीपनं परम् ॥ ९२ ॥

इति पञ्चमूलाद्यं घृतं चूर्णं च ।

पञ्चमूलाद्यघृत—बिल्व की छाल, पाटला की छाल, गाम्भारी की छाल, अरलू की छाल, अरणी की छाल, हरड़, श्वेत जीरा, पिप्पलीमूल, सेन्धानमक, वायविडङ्ग, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, कचूर, रास्ना, यवक्षार, सर्जिक्षार; इनके कल्क से तथा शुक्त, मातुलुङ्ग का रस, अदरख का रस, सूखीमूली का क्वाथ, कोल (बेर) का क्वाथ, चुक्रिका (इमली) का क्वाथ, अनार का रस, छाछ, मस्तु (दही का पानी), सुरामण्ड (सुरा का उपरितन स्वच्छ भाग), सौवीर (निस्तुष यव की कांजी), तुषोदक (सतुष जौ की कांजी), कांजी; इन द्रवों से पकावें। यह घृत परम अग्निदीपक है। यह शूल गुल्म उदररोग श्वास कास तथा वातकफ को नष्ट करता है। अर्थात् यह घृत वातज वा कफज वा वातकफज शूल आदि विकारों में प्रयुक्त होता है। मात्रा—आधा तोला।

इसमें यदि घृत २ प्रस्थ हो तो कल्कद्रव्य मिलित मिलित १ शराव होंगे। तथा प्रत्येक द्रव घृत के समान लिया जायगा। जिस द्रव्य का क्वाथ करना है उसे १ प्रस्थ मान में लेकर ८ प्रस्थ जल डाल चतुर्थांश (२ प्रस्थ) अवशिष्ट रखना चाहिये। वृद्धवाग्भट ने

इस घृत का नाम अग्निघृत रखा है—

सैन्धवव्योषक्षारद्वयपञ्चमूलाभयारास्नाजाजीग्रन्थिकशटीविडङ्गगर्भमार्दकमातुलुङ्गकोलाम्लीकादाडिमस्वरसशुष्कमूलकक्वाथमस्तुतक्रशुक्तप्रसन्नासौवीरकतुषोदकारनालोपेतं परमग्निदीपनमग्निघृताख्यम् ।'

पञ्चमूलाद्य घृत (अपर)--अथवा घृत को उपर्युक्त कल्क और विजौरेके रस से सिद्ध कर रोगी को पिलावें।इसमें घृत से चतुर्थांश कल्क और चतुर्गुण बिजौरे का रस डालकर साधन किया जायगा।

कई एक टीकाकार अष्टाङ्गसंग्रह के अनुसार इसे पृथक् घृतयोग न मानकर पूर्वोक्त साधित घृत में ही बिजौरे का रस अच्छीप्रकार मिलाकर सेवन कराने को कहते हैं ॥

पञ्चमूलाद्य तैल—पञ्चमूलाद्य घृत में कहे गये कल्क और द्रवों से यथाविधि साधित तैल का अभ्यङ्गार्थ प्रयोग कराना चाहिये। कल्क, द्रव और तैल का मान पूर्ववत् ही होगा। अथवा पञ्चमूलाद्य घृत अपर नाम से कहे गये घृत के सदृश भी तैलपाक किया जा सकता है। यतः इस तैलयोग को उसी के अनन्तर कहा है।

पञ्चमूलाद्य चूर्ण--अथवा पञ्चमूलाद्यघृत में कहे गये कल्कद्रव्यों का चूर्ण करके कोसे जल से पिलावें। इस चूर्ण को घृत में कहे गये द्रवों से भावना के नियम के अनुसार भावना देकर प्रयुक्त कराने से अधिक लाभ की सम्भावना है। यदि शुक्त आदि सब द्रव प्राप्य न हो तो केवल बीजपूर (बिजौरे) स्वरस की भावना देकर भी प्रयुक्त करा सकते हैं।

चूर्ण को कफ से आच्छन्न वात में अथवा वायु के साथ ही प्रवृद्ध कफ में अर्थात् वातकफ में दोष वा पुरीष के साम होने पर पाचनार्थ देना चाहिये। यह चूर्ण परम अग्निदीपक है। मात्रा–२ मासे। आम के विषय में तन्त्रों में इस प्रकार कहा है—

'आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसञ्चयम्।

प्रथमं दोषदुष्टिञ्च केचिदामं प्रचक्षते ॥'

भोज ने—

' आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः ।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति संज्ञितः ॥'

भद्रसेन ने भी कहा है—

' एवमामाशयेऽप्यन्नं बहु सम्यङ्न जीर्यति ।
चीयमानं तदेवान्नं कालेनामत्वमाप्नुयात् ' ॥ ८७–९२ ॥

मज्जत्यामा[1] गुरुत्वाद्विट् पक्का तूत्प्लवते जले ।
विनाऽतिद्रवसङ्घातशैत्यश्लेष्मप्रदूषणात् ॥ ९३ ॥

आम और पक्व पुरीष की परीक्षा—आम (कच्चा) पुरीष गुरु होने के कारण जल में डूब जाता है और पका हुआ पुरीष जल में तैरता है, डूबता नहीं । परन्तु यदि मल अति द्रव या अत्यन्त संहत (कठिन) हो वा शीतता वा कफ से दूषित हो तब यह परीक्षा ठीक नहीं होती । अति द्रव होने से कुछ भाग तैरता है कुछ भाग डूब जाता है । अत्यन्त संहत हो तो पका हुआ पुरीष भी डूब जाता है । इसी प्रकार शीतता वा कफदूषित होने पर भी पक्व मल डूब जाया करता है । अतएव पुरीष की सामता वा पक्वता की परीक्षा के समय इन बातों का भी ध्यान कर लेना चाहिये ॥ ९३ ॥

परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणम्[2] ।
विधिनोपाचरेत्सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥ ९४ ॥

आमदोष–विशिष्ट ग्रहणी रोगी के मल की सामता वा निरामता (पक्वता) की पूर्व परीक्षा करके यथाविधि पाचन वा संशमन औषध से उपचार करे । यदि मल साम हो तो पाचन और यदि पक्व हो तो संशमन औषध का प्रयोग कराना चाहिये ॥ ९४ ॥

---

१ ' मज्जत्यामाद् ' च. । २ आमदोषशब्देन ग्रहणीदोषो नान्यत्राभिप्रेतः अतोऽत्र निरामं वा सदोषिणमिति पाठो युक्तः इति चक्राभिप्रायः ।

चित्रकाद्या गुडिका

चित्रकं पिप्पलीमूलं द्वौ क्षारौ लवणानि च ।
व्योषं हिङ्ग्वजमोदां च चव्यं चैकत्र चूर्णयेत् ॥ ९५ ॥
गुडिका मातुलुङ्गस्य दाडिमस्य रसेन वा ।
कृता विपाचयन्त्यामं दीपयन्त्याशु चानलम् ॥ ९६ ॥
इति चित्रकाद्या गुडिका ।

चित्रकाद्यगुडिका—चित्रक, पिप्पलीमूल, यवक्षार, सर्जिक्षार, पांचों नमक अर्थात् सौंचर, सेन्धानमक, बिडनमक, औद्भिद नमक तथा सामुद्रनमक, सोंठ, काली मिर्च, पिप्पली, हींग, अजवाइन तथा चव्य; इन्हें चूर्णित कर समपरिमाण में एकत्र मिश्रित करें । इसे मातुलुङ्ग (बिजौरा) अथवा अनार के रस से घोटकर गोलियें बनावें । ये आम का परिपाक करती हैं और अग्नि को उद्दीप्त करती हैं । मात्रा—४ रत्ती । मातुलुङ्ग या अनार का रस इतना डालना चाहिये जिससे गोली का स्वाद थोड़ा खट्टा हो जाय । औद्भिद लवण से यहां कई टीकाकार साम्भर नमक लेते हैं ॥ ९५-९६ ॥

नागरातिविषामुस्तक्वाथः स्यादामपाचनः ।
मुस्तान्तकल्कः पथ्या वा नागरं चोष्णवारिणा ॥ ९७ ॥

नागरादिक्वाथ वा चूर्ण—सोंठ, अतीस, मोथा; इनका क्वाथ आम का पाचन करता है । अथवा सोंठ, अतीस और मोथा; इनके चूर्ण को गरम जल के अनुपान से प्रयोग कराने से भी आमपाचन होता है अथवा आमपाचनार्थ हरड़ के चूर्ण को वा सोंठ के चूर्ण को गरम जल के साथ पिलावें ॥ ९७ ॥

देवदारुवचामुस्तनागरातिविषाभयाः ।
वारुण्यामासुतास्तोये कोष्णे वाऽलवणाः पिबेत् ॥ ९८ ॥
वर्चस्यामे सशूले च,

देवदारु, वचा, मोथा, सोंठ अतीस और हरड़; इनके चूर्ण को वारुणी में सात दिन तक भिगो दें । पश्चात् छानकर उस वारुणी

का मात्रा में प्रयोग करावें। अथवा कोसे जल में देवदारु आदि का चूर्ण और थोड़ा सा सेन्धानमक डालकर पिलावें। अथवा कोसे जल में देवदारु आदि के कल्क से फाण्ट बना उसमें थोड़ा सा नमक डाल रोगी को पिला सकते हैं। इसका प्रयोग पुरीष के आम (अपक्व) होने पर और उदर में शूल होने पर किया जाता है।

पिबेद्वा दाडिमाम्बुना।
बिडेन लवणं पिष्टं बिल्वं चित्रकनागरम् ॥ ९९ ॥

अथवा पुरीष के अपक्व तथा शूल होने पर रोगी बेलगिरी चित्रक, सोंठ; इनके चूर्ण को विडनमक से नमकीन करके अनार के रस से पीवे। बिडनमक इतना ही चूर्ण में डालना चाहिये जिससे चूर्ण का स्वाद थोड़ा नमकीन हो जाय। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में तो कहा है—

'सप्रवाहे वा वर्चसि चूर्णीकृतान् विडलवणयुक्तान् बिल्वमध्यनागरचित्रकान् दाडिमाम्भसा' ॥ ९९ ॥

सामे वा सकफे वाते कोष्ठशूलकरे पिबेत्।
कलिङ्गहिङ्ग्वतिविषावचासौवर्चलाभयाः ॥ १०० ॥

कलिङ्गाद्यचूर्ण—ग्रहणी में पुरीष के साम (अपक्व) होने पर अथवा वातकफ से यदि कोष्ठ में शूल हो तो इन्द्रजौ, हींग, अतीस, वच, सौंचरनमक और हरड़; इनके चूर्ण को गरम जल वा अनार के रस से पीवे। मात्रा—१ मासा ॥ १०० ॥

छर्द्यर्शोग्रन्थिशूलेषु पिबेदुष्णेन वारिणा।
पथ्यासौवर्चलाजाजिचूर्णं मरिचसंयुतम् ॥ १०१ ॥

पथ्यादिचूर्ण—कै, अर्श, ग्रन्थि तथा शूल होने पर हरड़, सौंचर नमक, श्वेत जीरा, कालीमिर्च; इनके चूर्ण को प्रयोग करावे। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी कहा है—

' छर्दिशूलानाहोग्रग्रन्थिषु तु मरिचाजाजिसौवर्चलाभयाः ॥'

अभयां पिप्पलीमूलं वचां कटुकरोहिणीम्।
पाठां वत्सकबीजानि चित्रकं विश्वभेषजम् ॥ १०२ ॥
पिबेन्निष्क्वाथ्य चूर्णानि कृत्वा कोष्णेन वारिणा।
पित्तश्लेष्माभिभूतायां ग्रहण्यां शूलनुद्धितम् ॥ १०३ ॥

अभयादिक्काथ वा चूर्ण—हरड़, पिप्पलीमूल, वच, कटुकी, पाढ़, इन्द्रजौ, चित्रक, सोंठ; इनका क्काथ रोगी पीवे। क्काथार्थ ये सब द्रव्य मिलित २ तोला लेकर सोलह गुने जल में क्काथ करना चाहिये। क्काथ चतुर्थांश अवशिष्ट रखा जाता है। अथवा इन्हीं द्रव्यों का चूर्ण करके २ मासे से ३ मासे तक मात्रा में कोसे जल के अनुपान से पिलावें। यह पित्तकफज ग्रहणी में शूलनाश के लिये हितकर है ॥१०२—१०३॥

सामे सातिविषं व्योषं लवणक्षारहिङ्गुमत्।
निःक्वाथ्य पाययेच्चूर्णं कृत्वा वा कोष्णवारिणा ॥१०४॥

यदि पित्तकफजग्रहणी में पुरीष साम हो तब अभयादिक्काथ के द्रव्यों में ही अतीस और त्रिकटु मिलाकर क्काथ करें और उसमें सेन्धानमक यवक्षार और हींग का प्रक्षेप देकर रोगी को पिलावें। अथवा हरड़ पिप्पलीमूल आदि के चूर्ण में अतीस त्रिकटु सेन्धानमक यवक्षार और हींग मिलाकर कोसे जल से रोगी को पिलावें। चूर्ण की मात्रा—१ मासा ॥ १०४ ॥

पिप्पल्याद्यं चूर्णम्

पिप्पलीं नागरं पाठां सारिवां बृहतीद्वयम्।
चित्रकं कौटजं बीजं लवणान्यथ पञ्च च ॥ १०५ ॥
तच्चूर्णं सयवक्षारं दध्युष्णाम्बुसुरादिभिः।
पिबेदग्निविवृद्ध्यर्थं कोष्ठवातहरं नरः ॥ १०६ ॥

इति पिप्पल्याद्यं चूर्णम्।

---

१ 'पिप्पलीमूलमभयां' पा०।

पिप्पल्याद्य चूर्ण—पिप्पली, सोंठ, पाठा, सारिवा (अनन्तमूल), छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, चित्रक, इन्द्रजौ, पांचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, बिड, औद्भिद, सौंचर), यवक्षार; इन्हें समपरिमाण में मिश्रित करें। इस चूर्ण को दही, गरमजल अथवा सुरा आदि के अनुपान से अग्नि की वृद्धि के लिये रोगी पीवे। यह चूर्ण कोष्ठवात को भी हरता है। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक।

सुरा आदि कहने से सौवीर कांजी मातुलुङ्गरस दाडिमरस आदि का ग्रहण है ॥ १०५—१०६ ॥

मरिचाद्यं चूर्णम् ।

मरिचं कुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लाः कुडवाः पृथक् ।
पलानि दश चाम्लस्य वेतसस्य पलांशिकाः ॥ १०७ ॥
सौवर्चलं बिडं पाक्यं यवक्षारः ससैन्धवः ।
शटीपुष्करमूलानि हिङ्गु हिङ्गुशिवाटिका ॥ १०८ ॥
तत्सर्वमेकतः सूक्ष्मं चूर्णं कृत्वा प्रयोजयेत् ।
हितं वाताभिभूतायां ग्रहण्यामरुचौ तथा ॥ १०९ ॥

इति मरिचाद्यं चूर्णम् ।

मरिचाद्य चूर्ण—कालीमिर्च, उपकुञ्चिका (कालाजीरा), अम्बष्ठा (पाठा), वृक्षाम्ल (तिन्तिडीक, विषांबिल); प्रत्येक १ कुडव (४ पल), अम्लवेतस १० पल, सौंचरनमक, बिडनमक, पाक्य (पांशुज) नमक, यवक्षार, सेन्धानमक, कचूर, पोहकरमूल; हींग, हिङ्गुशिवाटिका (वंशपत्री); प्रत्येक १ पल। इन सबका सूक्ष्म-चूर्ण करके उक्त मात्रा में मिश्रित कर प्रयोग करावें। यह वातज ग्रहणी तथा अरुचि में हितकर है। मात्रा—३ मासे ॥१०७–१०९॥

चतुर्णां प्रस्थमम्लानां त्र्यूषणाच्च पलत्रयम् ।

---

१ 'मरिचौकुञ्चिकाम्बष्ठावृक्षाम्लकुडवान् पृथक् । दशाम्लवेतसपलानीमां-श्चापि पलांशिकान् ॥' ग. । २ 'यवक्षारं ससैन्धवम्' ग. ।

लवणानां च चत्वारि शर्करायाः पलाष्टकम् ॥ ११० ॥
संचूर्ण्य शाकसूपान्नरागादिष्ववचारयेत् ।
कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्ड्वामयशूलनुत् ॥ १११ ॥

चार अम्लद्रव्य १ प्रस्थ, त्रिकटु (सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली) मिलित ३ पल, पांचों नमक (सेन्धानमक, सौंचरनमक, बिड-नमक, औद्भिद नमक और सामुद्रनमक) मिलित ४ पल, खांड ८ पल; इन्हें चूर्णित करके शाक सूप भात राग(अचार चटनी आदि)आदि में प्रयोग करे । यह कास अजीर्ण अरुचि श्वास हृद्रोग पाण्डुरोग तथा शूल को नष्ट करता है । चार अम्ल से वृक्षाम्ल (विषांबिल), अम्ल-वेतस, खट्टा अनार और खट्टे बेर का ग्रहण होता है । परिभाषा यह है—

'कोलदाडिमवृक्षाम्लैः साम्लवेतससङ्गतैः ।
चतुरम्लं तु पञ्चाम्लं मातुलुङ्गसमायुतम् ।'

कई आगे के यवागूयोग में कहे जाने वाले कपित्थ (कैथ), चुक्रिका (इमली वा चाङ्गेरी) वृक्षाम्ल (विषांबिल) तथा अनार; इन चार अम्लद्रव्यों का ग्रहण करते हैं ॥

गङ्गाधर ने पांच नमक न लेकर चार नमक लेने को कहा है । वे चार नमक ये हैं—सैन्धव सौवर्चल विड और औद्भिद ॥११०-१११॥

चव्यत्वक्पिप्पलीमूलधातकीव्योषचित्रकान् ।
कपित्थं[1] बिल्वमम्बष्ठां शाल्मलं हस्तिपिप्पलीम् ॥ ११२ ॥
शिलोद्भवं[2] तथाऽजाजीं पिष्ट्वा बदरसंमितान् ।
परिभर्ज्य घृते दध्ना यवागूं साधयेद्भिषक् ॥ ११३ ॥
रसैः कपित्थचुक्रीकावृक्षाम्लैर्दाडिमस्य च ।
सर्वातिसारग्रहणीगुल्मार्शःप्लीहनाशिनी ॥ ११४ ॥

इति यवागूः ।

चव्य, दालचीनी, पिप्पलीमूल, धाय के फूल, सोंठ, कालीमिर्च,

---

१ 'कपित्थाम्बष्ठकीहस्तिपिप्पलीबिल्वशाल्मलम्' ग. । २ 'शिलोद्भेदं' ग. ।

पिप्पली, चित्रक, कैथ, बेलगिरी, पाठा, मोचरस, गजपिप्पली, शैलज (छैल-छरीला), श्वेत जीरा; प्रत्येक को कोलप्रमाण में लेकर पीस लें वैद्य दही के साथ और घी में भूनकर यथाविधि यवागू को सिद्ध करे । अथवा दही के स्थान पर कैथ, चुक्रिका (इमली वा चाङ्गेरी), वृक्षाम्ल (विषांबिल) वा अनार के रस से यवागू का साधन कर सकते हैं । इसप्रकार यह पांच प्रकार की यवागू कही है। यह यवागू सब अतिसार ग्रहणी गुल्म अर्श तथा प्लीहा (तिल्ली) को नष्ट करती है ॥ ११२–११४ ॥

पञ्चकोलकयूषश्च मूलकानां च सोषणः ।
स्निग्धो दाडिमतक्राम्लो जाङ्गलः संस्कृतो रसः ॥ ११५ ॥
क्रव्यादस्य रसः शस्तो भोजनार्थे सदीपनः ।
तक्रारनालमद्यानि पानार्थेऽरिष्ट एव च ॥ ११६ ॥

पञ्चकोल (पिप्पली, पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, सोंठ) से साधित मूंग मसूर आदि के यूष अथवा मूली के यूष में मरिचचूर्ण का अवचूर्णन कर ग्रहणी के रोगी को भोजनार्थ देना चाहिये । जाङ्गल पशुपक्षियों के दीपन द्रव्यों से संस्कृत मांसरस का जो घृत आदि स्नेह से युक्त हो और जिसे अनार के रस वा तक्र से थोड़ा खट्टा कर लिया हो—भोजनार्थ प्रयोग करावें । अथवा क्रव्याद (मांस-भक्षी) पशुपक्षियों के मांसरस को दीपन द्रव्यों से युक्त कर ग्रहणी रोगी को दें ।

ग्रहणी रोगी के लिये पानार्थ तक्र, आरनाल (कांजी) मद्य और अरिष्ट प्रशस्त हैं ॥ ११५–११६ ॥

तक्रं तु ग्रहणीदोषे दीपनग्राहिलाघवात् ।
श्रेष्ठं मधुरपाकित्वान्न च पित्तं प्रकोपयेत् ॥ ११७ ॥
कषायोष्णविकाशित्वाद्रौक्ष्याच्चैव कफे मतम् ।
वाते स्वाद्वम्लसान्द्रत्वात् सद्यस्कमविदाहि तत् ॥११८॥

तस्मात् तक्रप्रयोगा ये जठराणां तथाऽर्शसाम्।
विहिता ग्रहणीदोषे सर्वशस्तान् प्रयोजयेत्॥ ११९॥

ग्रहणी में तक्रप्रयोग की व्यवस्था और उस में हेतु—ग्रहणी दोष में तक्र के प्रयोग को दीपन ग्राही तथा लघु होने के कारण प्रशस्त माना गया है। तक्र विपाक में मधुर है अतः पित्त को भी प्रकुपित नहीं करती। कषायरस उष्णवीर्य विकाशी तथा रूक्षगुणयुक्त होने के कारण कफ में हितकर मानी गई है। मधुर अम्ल तथा सान्द्र (घनी) होने के कारण वात में हितकर है। ताज़ी बनाई हुई वह तक्र विदाह को भी नहीं करती।

अतः जो तक्र के प्रयोग उदर तथा अर्श के रोगियों के लिये कहे गये हैं उन सब योगों को ग्रहणीदोष में भी वैद्य प्रयोग करावे॥ ११७-११९॥

तक्रारिष्टः।

यवान्यामलके पथ्या मरिचं त्रिपलांशिकम्।
लवणानि पलांशानि पञ्च चैकत्र चूर्णयेत्॥ १२०॥
तक्रकंसासुतं जातं तक्रारिष्टं पिबेन्नरः।
दीपनं शोथगुल्मार्शःक्रिमिमेहोदरापहम्॥ १२१॥

इति तक्रारिष्टः।

तक्रारिष्ट—अजवाइन, आंवला, हरड़, काली मिर्च; प्रत्येक ३ पल, पांचों नमक (सैन्धव, सौवर्चल, औद्भिद, विड, सामुद्र) प्रत्येक १ पल; इनके चूर्णों को एकत्र मिश्रितकर दो कंस (दो आढक) प्रमाण तक्र में डाल दें और कुछ दिन पड़ा रहने दें। जब उसमें अम्लता और औषधों का रस व्यक्त हो जाय तब रोगी छानकर उसे मात्रा में पीवे। यह तक्रारिष्ट अग्निदीपन है तथा शोथ गुल्म अर्श क्रिमि प्रमेह एवं उदर रोगों को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० १२ में कहा है—

'यवानीपथ्यामलकमरिचानि त्रिपलिकानि लवणपञ्चकं च पलांशक-

मेकतश्चूर्णयित्वा कंसे सद्योमथितस्यासुनुयात् । ततो व्यक्ताम्लकटुकं जातं पिबेत् । एष तक्रारिष्टः परमग्निदीपनोऽर्शोगुल्मजठरश्वयथुकृमिप्रमेहहरः ॥'

स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टमग्निनिर्वापकं भिषक् ।
पित्तं ज्ञात्वा विरेकेण निर्हरेद्वमनेन वा ॥ १२२ ॥

पैत्तिक ग्रहणीचिकित्सा—अग्नि को बुझाने वाले (द्रवांशाधिक) पित्त को अपने स्थान में स्थित किन्तु उत्क्लेश को प्राप्त हुए जानकर वैद्य विरेचन वा वमन द्वारा निर्हरण करे । यदि ऊपर की ओर निकलने की प्रवृत्ति हो तो वमन द्वारा अन्यथा विरेचन द्वारा पित्त का निर्हरण करना चाहिये । वृद्धवाग्भट ने तो विरेचन के स्थान पर आस्थापन कराने को कहा है—

' पित्तदुष्टायां तु ग्रहण्यां स्वस्थानगतमुत्क्लिष्टं द्रवमनलनिर्वापणं पित्तमास्थापनेन वमनेन वा निर्हरेत् ।' अ० सं० चि० अ० १२ ।

अविदाहिभिरन्नैश्च लघुभिस्तिक्तसंयुतैः ।
जाङ्गलानां रसैर्यूषैर्मुद्गादीनां खडैरपि ॥ १२३ ॥
दाडिमाम्लैः ससर्पिष्कैर्दीपनग्राहिसंयुतैः ।
तस्याग्निं दीपयेच्चूर्णैः सर्पिर्भिर्वा सतिक्तकैः ॥ १२४ ॥

तिक्त द्रव्यों से युक्त विदाह को न करने वाले लघु अन्नों के प्रयोग से, दीपन और ग्राही द्रव्यों से युक्त अनार के रस से अम्लीकृत तथा घृत से स्निग्ध जाङ्गल पशुपक्षियों के मांसरस मूंग आदि के यूष और खडों के भोजन से अथवा तिक्तद्रव्यों से युक्त चूर्णों वा उनसे साधित घृतों के प्रयोग से उस रोगी की अग्नि का दीपन करें ॥ १२३–१२४ ॥

चन्दनाद्यं घृतम् ।

चन्दनं पद्मकोशीरं पाठां मूर्वां कुटन्नटम् ।
षड्ग्रन्थासारिवास्फोतासप्तपर्णाटरूषकान् ॥ १२५ ॥

पटोलोदुम्बराश्वत्थवटप्लक्षकपीतनान् ।
कटुकां रोहिणीं मुस्तं निम्बं च द्विपलांशिकम् ॥ १२६ ॥
द्रोणेऽपां साधयेत् पादशेषे प्रस्थं घृतात्पचेत् ।
किराततिक्तेन्द्रयववीरामागधिकोत्पलैः ॥ १२७ ॥
कल्कैरक्षसमैः पेयं तत् पित्तग्रहणीगदे ।

इति चन्दनाद्यं घृतम् ।

चन्दनाद्यघृत—गव्यघृत २ प्रस्थ । क्वाथार्थ—लालचन्दन, पद्माख, खस, पाठा, मूर्वामूल, कुटन्नट (केवटी मोथा), वचा, सारिवा, आस्फोता (हाफरमाली), सप्तपर्ण (सतिवन) की छाल, अडूसे की जड़ का छिलका, पटोलपत्र, गूलर की छाल, पीपल की छाल, बरगद की छाल, प्लक्ष (पिलखन) की छाल, कपीतन (गर्दभाण्ड अथवा आम्रातक) की छाल, कटुकी, मोथा, नीम की छाल; प्रत्येक को २ पल प्रमाण में लेकर २ द्रोण जल में सिद्ध करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतार लें। कल्कार्थ—चिरायता, इन्द्रजौ, वीरा (क्षीरकाकोली), पिप्पली, नीलोत्पल; प्रत्येक १ कर्ष। यथाविधि पाककर पैत्तिक ग्रहणी-रोग में रोगी पीवे। मात्रा—आधा तोला ॥ १२५-१२७ ॥

तिक्तकं यद्घृतं चोक्तं कौष्ठिके तच्च दापयेत् ॥ १२८ ॥

जो कुष्ठरोग में तिक्तकघृत कहा गया है उसका भी रोगी को प्रयोग करावें ॥ १२८ ॥

नागराद्यं चूर्णम् ।

नागरातिविषे मुस्तं धातकीं सरसाञ्जनम् ।
वत्सकत्वक्फलं बिल्वं पाठां कटुकरोहिणीम् ॥ १२९ ॥
पिबेत् समांशं तच्चूर्णं सक्षौद्रं तण्डुलाम्बुना ।
पैत्तिके ग्रहणीदोषे रक्तं यच्चोपवेश्यते ॥ १३० ॥
अर्शांसि च गुदे शूलं जयेच्चैव प्रवाहिकाम् ।

नागराद्यमिदं चूर्णं कृष्णात्रेयेण पूजितम् ॥ १३१ ॥

इति नागराद्यं चूर्णम् ।

नागराद्य चूर्ण—सोंठ, अतीस, मोथा, धाय के फूल, रसौंत, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, बेलगिरी, पाढ़, कटुकी; इनके चूर्णों को समपरिमाण में मिश्रित करें। रोगी पैत्तिक ग्रहणीरोग में इस चूर्ण को मधु के साथ चाटकर ऊपर से तण्डुलोदक पीवे। यह रक्तातिसार वा रक्तस्राव युक्त ग्रहणी, अर्श, गुदशूल तथा प्रवाहिका को जीतता है। यह कृष्णात्रेय द्वारा पूजित नागराद्य चूर्ण है। मात्रा–१ मासा।

तण्डुलोदक के निर्माण करने में कच्चे चावलों को छह गुना जल में भिगोकर प्रातः छान लिया जाता है। कई आठगुना जल की भावना देकर तण्डुलोदक प्रस्तुत करते हैं। कई चावलों से दुगुना जल डालकर देर तक रखे रहने देते हैं। पश्चात् जल को ले लेते हैं। कभी कभी चावलों को उसीसमय ६ गुना पानी डालकर हाथ से मलकर जल नितार लेते हैं। चक्रपाणि ने अपने संग्रह (चक्रदत्त) में परिभाषा पढ़ी है—

'शीतकषायमानेन तण्डुलोदककल्पना ।
केऽप्यष्टगुणतोयेन प्राहुस्तण्डुलभावनम् ॥'

अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी यह योग संगृहीत है—

'नागररसाञ्जनातिविषाधातकीघनपाठाकलिङ्गत्वग्बीजबिल्वकटुकाः सक्षौद्रास्तण्डुलाम्बुपीताः पित्तग्रहणीविकारं रक्तातिसारमर्शांसि सप्रवाहिकं गुदशूलं च व्यपोहति' ॥ १२९–१३१ ॥

भूनिम्बाद्यं चूर्णम्

भूनिम्बकटुकाव्योषमुस्तकेन्द्रयवान् समान् ।
द्वौ चित्रकाद्वत्सकत्वग्भागान् षोडश चूर्णयेत् ॥ १३२ ॥
गुडशीताम्बुना पीतं ग्रहणीदोषगुल्मनुत् ।
कामलाज्वरपाण्डुत्वमेहारुच्यतिसारनुत् ॥ १३३ ॥

इति भूनिम्बाद्यं चूर्णम् ।

भूनिम्बाद्य चूर्ण—चिरायता, कटुकी, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, मोथा, इन्द्रजौ; प्रत्येक १ भाग, चित्रक २ भाग, कुटज की छाल १६ भाग। इन्हें चूर्णित कर शीतल जल में बनाये गुड के शरबत से पिलावे। यह ग्रहणीदोष गुल्म कामला ज्वर पाण्डुरोग प्रमेह अरुचि तथा अतिसार को नष्ट करता है। मात्रा—१ मासे से २ मासे तक। गुड का शरबत बनाने के लिये चक्रदत्त में कहा है—

'गुडयोगाद्गुडाम्बु स्याद् गुडवर्णरसान्वितम्।'

अर्थात् गुड का शरबत बनाते समय जल में उतना ही गुड घोले जिससे शरबत का रंग और मिठास गुड की सी हो जाय। वृद्धवाग्भट ने भी अष्टाङ्गसंग्रह में इस योग को उद्धृत किया है॥१३२-१३३॥

वचामतिविषां पाठां सप्तपर्णं रसाञ्जनम्।
श्योनाकोदीच्यकट्वङ्गवत्सकत्वग्दुरालभाः॥ १३४॥
दार्वीं पर्पटकं पाठां यवानीं मधुशिग्रुकम्।
पटोलपत्रं सिद्धार्थान् यूथिकां जातिपल्लवान्॥ १३५॥
जम्ब्वाम्रबिल्वमध्यानि निम्बशाकफलानि च।
तद्रोगशममन्विच्छन् भूनिम्बाद्येन योजयेत्॥ १३६॥

वचाद्य चूर्ण—वच, अतीस, पाठा, सप्तपर्ण (सतौना) की छाल, रसौंत, श्योनाक (अरलू), उदीच्य (गन्धबाला), कट्वङ्ग (श्योनाकभेद), कुटज की छाल, दुरालभा, दारुहल्दी, पित्तपापड़ा, पाठा, अजवाइन, मीठे सहिजन के बीज, पटोलपत्र, सिद्धार्थ (श्वेत सरसों), यूथिका (जूही) के पत्ते, चमेली के पत्ते, जामुन की गुठली, आम की गुठली, बेलगिरी, नीम के पत्ते, नीम के फल (निंबौली) तथा भूनिम्बाद्य चूर्ण में कही गई ओषधियां अर्थात् चिरायता, कटुकी, सोंठ, मरिच, पिप्पली, मोथा, इन्द्रजौ, चित्रक, कुटज की छाल; इन्हें समपरिमाण में मिश्रित करें। यह चूर्ण भूनिम्बाद्य चूर्ण के गुणपाठ में वर्णित रोगों को नष्ट करता है। इसमें पाठा के

दो बार पढ़ने के कारण दो भाग लिये जांयगे । इसी प्रकार श्योनाक भेद के प्राप्त न होने पर श्योनाक के भी दो ही भाग डाले जांयगे । मात्रा—२ या ३ मासे ।

कई कहते हैं कि भूनिम्बाद्य चूर्ण में ही वच अतीस आदि द्रव्यों को पृथक् एक भाग के समान मिलाकर प्रयोग करावें । इसमें भी पाठा और श्योनाक के दो बार पढ़ने के कारण दो दो भाग ही होंगे।

अथवा इसका अभिप्राय यह भी हो सकता है कि जिस दिन भूनिम्बाद्य चूर्ण का प्रयोग हो उस दिन वचा से लेकर नीम के फल पर्यन्त के चूर्णयोग को भी प्रयोग करावें ।

कई 'भूनिम्बाद्येन योजयेत्' का यह तात्पर्य बताते हैं कि वचा से नीमफल पर्यन्त योग को भी भूनिम्बाद्य चूर्ण के सदृश ही गुड के शरबत के अनुपान से प्रयोग कराना चाहिये ॥१३४-१३६॥

किराताद्यं चूर्णम्

किराततिक्तं षड्ग्रन्था त्रायमाणा कटुत्रिकम् ।
चन्दनं पद्मकोशीरं दार्वीत्वक् कटुरोहिणी ॥ १३७ ॥
कुटजत्वक्फलं मुस्तं यमानी देवदारु च ।
पटोलनिम्बपत्रैलासौराष्ट्र्यतिविषात्वचः ॥ १३८ ॥
मधुशिग्रोश्च बीजानि मूर्वा पर्पटकं तथा ।
तच्चूर्णं मधुना लेह्यं पेयं मद्यैर्जलेन वा ॥ १३९ ॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगगुल्मशूलारुचिज्वरान् ।
कामलामतिसारं च मुखरोगांश्च नाशयेत् ॥ १४० ॥

इति किराताद्यं चूर्णम् ।

किराताद्य चूर्ण—चिरायता, वचा, त्रायमाणा, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, लालचन्दन, पद्माख, खस, दारुहल्दी की त्वचा, कटुकी, कुटज की छाल, इन्द्रजौ, मोथा, अजवाइन, देवदारु, पटोलपत्र, नीम के पत्ते, छोटी इलायची, सौराष्ट्री (सोरठी मिट्टी, अभाव में फटकरी),

अतीस, दालचीनी, मधुशिग्रु (मीठा सहिजन) के बीज, मूर्वामूल, पित्तपापड़ा; इनके चूर्णों को समभाग में मिश्रित करे। इस किराताद्य-चूर्ण को शहद के साथ चाटे अथवा मद्य वा जल के अनुपान से सेवन करे। यह हृद्रोग पाण्डुरोग ग्रहणी गुल्म शूल अरुचि ज्वर कामला अतिसार और मुखरोग को नष्ट करता है। मात्रा—२ मासे। अष्टाङ्ग-संग्रह चि० अ० १२ में भी कहा है—

'मूर्वाकिराततिक्तपर्पटकवचाचन्दनमुस्तत्रिकटुकत्रायमाणायवानी-कलिङ्गत्वक्फलकटुरोहिणीदेवदारुदार्वीत्वक्पद्मकोशीरारिष्टपटोलपत्रातिविषा-सौराष्ट्रीत्वगेलामधुशिग्रुबीजचूर्णम्। अयं हि ग्रहणीदोषशूलातिसार-पाण्डुहृद्रोगगुल्मज्वरप्रमेहकामलामुखरोगारोचकनिबर्हणः॥' १३७-१४०॥

ग्रहण्यां श्लेष्मदुष्टायां वमितस्य यथाविधि।
कट्वम्ललवणक्षारैस्तीक्ष्णैश्चाग्निं विवर्धयेत्॥ १४१॥

श्लैष्मिकग्रहणी की चिकित्सा—कफदुष्ट ग्रहणी में यथाविधि वमन कराकर कटु अम्ल लवण क्षार तथा तीक्ष्ण द्रव्यों से अग्नि को उद्दीप्त करे। वृद्धवाग्भट ने कहा है—

' श्लेष्मदुष्टायां पुनर्ग्रहण्यां मागधिकासिद्धार्थकल्कतीक्ष्णेन मदन-फलकषायेण पुनः पुनर्वामयेत्। अम्बातुर्हि प्रवृद्धस्तेजो निर्वापयति। ततः कृतपेयादिक्रमस्य लवणक्षाराम्लकटुकोत्कटैर्यथोक्तैरन्नपानौषधैरनल-मुत्तेजयेत्॥ ' १४१॥

पलाशं चित्रकं चव्यं मातुलुङ्गं हरीतकीम्।
पिप्पलीं पिप्पलीमूलं पाठां नागरधान्यकम्॥ १४२॥
कार्षिकाण्युदकप्रस्थे पक्त्वा पादावशेषितम्।
पानीयार्थं प्रयुञ्जीत यवागूं तैश्च साधिताम्॥ १४३॥

पलाशादिपानीय—पलाश (ढाक) की छाल, चित्रक, चव्य,

१ '०स्तिक्ष्णै०' ग.।

मातुलुङ्ग (बिजौरा), हरड़, पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, सोंठ, धनियाँ; प्रत्येक को १ कर्ष प्रमाण में लेकर २ प्रस्थ जल में सिद्ध करें। जब चतुर्थांश अवशिष्ट रह जाय तब उतारकर छान लें। इसे प्यास लगने पर पीने को दें। और भूख लगने पर इन्हीं द्रव्यों से यथाविधि साधित यवागू भी पीने को दें ॥१४२—१४३॥

शुष्कमूलकयूषेण कौलत्थेनाथवा पुनः।
कट्वम्लक्षारपटुना लघून्यन्नानि भोजयेत् ॥ १४४ ॥

सूखी मूली के यूष से अथवा कुलथी के यूष से—जो कटु अम्ल क्षार और नमकीन हो—रोगी लघु अन्न का भोजन करें। अर्थात् उक्त यूषों का मरिच आदि से कटु, अनार आदि के रस से अम्ल, यवक्षार आदि से क्षार युक्त तथा सैन्धव आदि से नमकीन करके प्रयोग कराना चाहिये ॥ १४४ ॥

अम्लं चानुपिबेत्तक्रं तक्रारिष्टमथापि वा।
मदिरां मध्वरिष्टं वा निगदं शीधुमेव वा ॥ १४५ ॥

अन्नभोजन के पश्चात् खट्टी छाछ, तक्रारिष्ट, मदिरा, मध्वरिष्ट, पुरानी और निर्दोष शीधु (मद्यविशेष); इनमेंसे किसी एक को अनुपानार्थ प्रयोग कराना चाहिये ॥ १४५ ॥

मधूकासवः

द्रोणं मधूकपुष्पाणां विडङ्गानां ततोऽर्धतः।
चित्रकस्य ततोऽर्धं स्यात्तथा भल्लातकाढकम् ॥ १४६ ॥
मञ्जिष्ठात्रिपलं चैव त्रिद्रोणेऽपां विपाचयेत्।
द्रोणशेषे तु तच्छीतं मध्वर्धाढकसंयुतम् ॥ १४७ ॥
एलामृणालागुरुभिश्चन्दनेन च रूषिते।
कुम्भे मासस्थितं जातमासवं तं प्रयोजयेत् ॥ १४८ ॥
ग्रहणीं दीपयत्येष बृंहणः कफपित्तजित्।

१ 'बृंहणोऽनिलरोगजित्' ग.।

शोथं कुष्ठं किलासं च प्रमेहांश्च प्रणाशयेत् ॥ १४६ ॥

इति मधूकासवः

मधूकासव—शुष्क महुए के फूल १ द्रोण (४ आढक), वायविडङ्ग आधा द्रोण (२ आढक), चित्रक १ आढक, शोधित भल्लातक (भिलावे) भी १ आढक, मञ्जिष्ठा ३ पल; इनका ६ द्रोण (२४ आढक) जल में क्वाथ करे । जब दो द्रोण (८ आढक); अवशिष्ट रह जाय तब नीचे उतार लें और निर्मल वस्त्र खण्ड से छान लें । शीतल होने पर १ आढक मधु घोल दें । इसे इलायची, खस, अगर और चन्दन; इनके कल्क से अन्दर लीपे हुए घड़े में डाल दें । एक मास तक मुखरोध करके सुरक्षित रख दें । पश्चात् जब आसव तय्यार हो जाय तब छानकर प्रयोग करावें । यह ग्रहणी को प्रदीप्त करता है, बृंहण है और कफ पित्त को जीतता है । इसके प्रयोग से शोथ कुष्ठ किलास (श्वित्र) और प्रमेह नष्ट होते हैं । मात्रा—आधे तोले से १। तोले तक । वृद्धवाग्भट ने चि० अ० १२ में थोड़े से प्रमाणभेद से इसे पढ़ा है—

'मञ्जिष्ठाचित्रकारुष्करकृमिघ्नमधूकपुष्पाणि क्रमाद् द्विकुडवार्धाढकाढकार्धद्रोणद्रोणांशान्यपां द्रोणत्रये क्वाथयेत् । द्रोणशेषश्च पूतशीतः स निर्यूहो मधुद्विप्रस्थचांश्चन्दनोशीरसूक्ष्मैलागरुरूषितं जतुसृतं घृतकुम्भमध्युषितो मासमासवः । सर्वदोषघ्नोऽग्निजननो बृंहणः शोषकुष्ठकिलासप्रमेहानाहगुल्मपाण्डुहृद्रोगजिच्च ॥'

इसके अनुसार मंजिष्ठा २ कुडव (८ पल), चित्रक आधा आढक, भल्लातक १ आढक, वायविडङ्ग आधा द्रोण और महुए के फूल १ द्रोण लेकर ६ द्रोण जल में काढे जाते हैं और क्वाथ २ द्रोण अवशिष्ट रखा जाता है । शेष पूर्ववत् ही है । कल्क से लिप्त करने से पूर्व लाक्षा को पिघलाकर घड़े को अन्दर से लिप्त कर लेना चाहिये।

१ 'शोथकुष्ठकिलासानां प्रमेहाणां च नाशनः' ग. ।

यह विशेष कहा है । आसव के गुणों को बताते हुए आनाह गुल्म पाण्डु और हृद्रोग को जीतना अधिक कहा है ॥ १४६–१४६ ॥

मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम् ।
क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ॥ १५० ॥
तं पिबन् ग्रहणीदोषान् जयेत्सर्वान् हिताशनः ।
तद्वद्द्राक्षेक्षुकाश्मर्यस्वरसानासुतान् पिबेत् ॥ १५१ ॥

मधूकपुष्पासव (अपर)—महुए के फूलों के रस को मन्द २ आंच से पकावे । जब आधा जल उड़ जाय तब शीतल होने पर उस में उससे चतुर्थांश मधु मिला पूर्ववत छोटी इलायची आदि के कल्क से लिप्त मिट्टी के घड़े में डालकर बन्द कर रखे । जब आसव तय्यार हो जाय तो छानकर पथ्यभोजी रोगी पीवे । इसके प्रयोग से ग्रहणीदोष नष्ट होते हैं । मात्रा–१॥ मासे से ६ मासे तक।

इसीप्रकार अंगूर ईख और गाम्भारी के फल के स्वरसों से साधित आसवों को रोगी पीवे । अर्थात् स्वरस को अग्नि पर आधा उड़ाकर चतुर्थांश मधु मिला छोटी इलायची आदि के कल्क से लिप्त पात्र में रुद्ध करें । आसव के तय्यार होने पर मात्रा में रोगी पीवे । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी—

'मधूकपुष्पाणां स्वरसोऽर्धावशेषकथितः क्षौद्रपादयुक्तः सर्वथा समानः पूर्वेण (मधूकासवेन) । अनेन द्राक्षेक्षुकाश्मर्यफलासवा व्याख्याताः' ॥१५०–१५१ ॥

दुरालभासवः

प्रस्थौ[२] दुरालभाया द्वौ प्रस्थमामलकस्य च ।
मुष्टी चित्रकदन्त्योर्द्वे प्रत्यग्रं चाभयाशतम् ॥ १५२ ॥
चतुर्द्रोणेऽम्भसः पक्त्वा शीतं द्रोणावशेषितम् ।

---

१ '०खर्जूर०' पा० ।
२ 'दुरालभाया द्विप्रस्थं' ।

सगुडद्विशतं पूतं मधुनः कुडवायुतम् ॥ १५३ ॥
तद्वत् प्रियङ्गोः पिप्पल्या विडङ्गानां च चूर्णितैः ।
कुडवैर्घृतकुम्भस्थं पक्षाज्जातं ततः पिबेत् ॥ १५४ ॥
ग्रहणीपाण्डुरोगार्शःकुष्ठवीसर्पमेहनुत् ।
स्वरवर्णकरश्चैष रक्तपित्तकफापहः ॥ १५५ ॥

इति दुरालभासवः ।

दुरालभासव—दुरालभा २ प्रस्थ, आंवले १ प्रस्थ, चित्रक १ मुष्टि (पल), दन्तीमूल १ पल, परिपूर्णवीर्य ताजी शुष्क हरड़ें १०० (संख्या से); इन्हें ८ द्रोण जल में पकावें । जब २ द्रोण अवशिष्ट रह जाय तब छान लें । और शीतल होने पर २०० पल गुड और मधु ८ पल घोल दें । तथा प्रियंगु, पिप्पली, वायविडङ्ग; प्रत्येक का चूर्ण ४ पल डालकर घृतभावित पात्र में रुद्ध करें । एक पक्ष (१५ दिन) के पश्चात् तय्यार होने पर रोगी मात्रा में पीवे । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक । यह ग्रहणी पाण्डुरोग अर्श कुष्ठ वीसर्प तथा प्रमेह को नष्ट करता है, स्वर और वर्ण के लिये हितकर है । रक्त पित्त तथा कफ दोष को नष्ट करता है ॥१५२-१५५ ॥

मूलासवः

द्वि[1]पञ्चमूल्यौ रजनीवीरर्षभकजीवि[2]काः ।
एषां प[3]ञ्च पलान् भागांश्चतुर्द्रोणेऽम्भसः पचेत् ॥ १५६ ॥
द्रोणशेषे रसे पूते गुडस्य द्विशतं भिषक् ।
चूर्णितान् कुडवार्धांशान् प्रक्षिपेच्च समाक्षिकान् ॥१५७॥
प्रियङ्गुमुस्तमञ्जिष्ठाविडङ्गमधुकप्लवान् ।
लोध्रं शाबरकं चैव मासार्धस्थं पिबेत्तु तम् ॥ १५८ ॥
एष मूलासवः सिद्धो दीपनो रक्तपित्तजित् ।

---

१ 'हरिद्रा पञ्चमूले द्वे वीरर्षभकजीवकम्' पा० ।
२ '०जीवकान्' ग. । ३ 'पृथक्' ग. ।

आनाहकफहृद्रोगपाण्डुरोगाङ्गसादनुत् ॥ १५६ ॥

इति मूलासवः ।

मूलासव—दोनों पञ्चमूल (दशमूल) अर्थात् बिल्व की छाल, अरलू की छाल, पाटल की छाल, गाम्भारी की छाल, अरणी की छाल, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, गोखरू, क्षीर-काकोली, ऋषभक, जीवक; प्रत्येक को ५ पल प्रमाण में लेकर ८ द्रोण जल में पकावें। जब दो द्रोण अवशिष्ट रह जाय तब छान ले। शीतल होने पर वैद्य २०० पल गुड और मधु ४ पल घोल दे और प्रियंगु, मोथा, मञ्जिष्ठा, वायविडङ्ग, मुलहठी, प्लव (केवटी मोथा), शाबर लोध्र; प्रत्येक का चूर्ण २ पल डालकर घृतभावित मृत्पात्र में रखकर आधा मास (१५ दिन) तक पड़ा रहने दे। तत्पश्चात् तय्यार हो जाने पर छानकर रोगी मात्रा में पीवे । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक। यह मूलासव अग्निदीपक है और रक्तपित्त को जीतता है। आनाह कफज हृद्रोग पाण्डुरोग तथा देह की शिथिलता को नष्ट करता है। अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी यह योग सङ्गृहीत है—

' दशमूलवीरारजनीत्रिफलाजीवकर्षभकाणां पृथक् पृथक् पञ्चपलान् भागानपां वहे पक्त्वा पादशेषे रसे शीतीभूते गुडतुलाद्वयं दद्यादर्ध-कुडवं च माक्षिकात्तत्प्रमाणांश्च चूर्णितान् मुस्तप्रियङ्गुमाञ्जिष्ठामधुक-विडङ्गप्लवशाबरलोध्रान् एषोऽर्धमासस्थितो मूलासवोऽयं समानः पूर्वेण (मधूकासवेन) ॥'

इसमें क्वाथ्य द्रव्यों में त्रिफला अधिक पढ़ी है ॥१५६–१५६॥

पिण्डासवः

प्रास्थिकं पिप्पलीं पिष्ट्वा गुडं मध्यं बिभीतकात् ।
उदकप्रस्थसंयुक्तं यवपल्ले निधापयेत् ॥ १६० ॥
तस्मात्पलं सुजातात्तु सलिलाञ्जलिसंयुतम् ।
पिबेत्पिण्डासवो ह्येष रोगानीकविनाशनः ॥ १६१ ॥

स्वस्थोऽप्येनं पिबेन्मासं नरः सिद्धं रसायनम्।
इच्छंस्तेषामनुत्पत्तिं रोगाणां ये प्रकीर्तिताः ॥१६२॥

इति पिण्डासवः ।

पिण्डासव—पिप्पलीचूर्ण १ प्रस्थ, गुड १ प्रस्थ, बहेड़े की गुठली की मींगी का चूर्ण १ प्रस्थ; इन्हें २ प्रस्थ जल में डालकर यवराशि में दबा दें। जब आसव तय्यार हो जाय तो छान लें और उसमें से १ पल लेकर १ अञ्जलि (४ पल) प्रमाण जल में घोलकर रोगी पीवे। यह पिण्डासव रोगसमूह को नष्ट करता है।

पूर्वोक्त ग्रहणी आनाह आदि रोगों को उत्पन्न न होने देने की आकांक्षा वाला स्वस्थ पुरुष भी यदि इस सिद्धरसायन को एक मास तक पीवे, तो वे रोग उत्पन्न नहीं होते। आजकल के नागरिकों के लिये १ पल मात्रा बहुत अधिक है। इसे आजकल आधा तोला मात्रा में २ तोले जल मिलाकर प्रयुक्त कराना चाहिये ॥ १६०–१६२ ॥

मध्वरिष्टः

नवे पिप्पलिमध्वाक्ते कलसेऽगुरुधूपिते ।
मध्वाढकं जलसमं चूर्णानीमानि दापयेत् ॥ १६३ ॥
कुडवार्धं विडङ्गानां पिप्पल्याः कुडवं तथा।
चतुर्थिकांशां त्वक्क्षीरीं केशरं मरिचानि च ॥ १६४ ॥
त्वगेलापत्रकशटीक्रमुकातिविषाघनम् ।
हरेणवेलुकतेजोह्वापिप्पलीमूलचित्रकान् ॥ १६५ ॥
कार्षिकांस्तान् स्थितं मासमत ऊर्ध्वं प्रयोजयेत् ।
मन्दं सन्दीपयत्यग्निं करोति विषमं समम् ॥ १६६ ॥
हृत्पाण्डुग्रहणीरोगकुष्ठार्शःश्वयथुज्वरान् ।
वातश्लेष्मामयांश्चान्यान्मध्वरिष्टो व्यपोहति ॥ १६७ ॥

इति मध्वरिष्टः ।

मध्वरिष्ट—एक नवीन घड़े को अन्दर से पिप्पलीचूर्ण और मधु

से लिप्तकर अगर का धूपन करें । पश्चात् २ आढक जल में २ आढक मधु घोलकर वायविडंग २ पल, पिप्पली ४ पल, वंशलोचन १ चतुर्थिका (पल), नागकेसर १ पल, कालीमिर्च १ पल, दालचीनी १ कर्ष, छोटी इलायची १ कर्ष, तेजपत्र १ कर्ष, कचूर १ कर्ष, क्रमुक (सुपारी) १ कर्ष, अतीस १ कर्ष, मोथा १ कर्ष, रेणुका १ कर्ष, एलवालुक १ कर्ष, तेजोह्वा (चव्य) १ कर्ष, पिप्पलीमूल १ कर्ष, चित्रक १ कर्ष; ये चूर्ण डाल दें । इसे एक मास तक घृतभावित मिट्टी के पात्र में रुद्ध करें । पश्चात् छानकर प्रयोग करें । यह मन्द अग्नि को दीप्त करता है । विषम अग्नि को सम करता है । हृद्रोग, पाण्डु, ग्रहणीरोग, कुष्ठ, अर्श, शोथ, ज्वर तथा अन्य वातकफज रोगों को मध्वरिष्ट नष्ट करता है । मात्रा—१। तोले से २॥ तोले तक ॥ १६३–१६७ ॥

पिप्पल्याद्यं चूर्णम् ।

समूलां पिप्पलीं क्षारौ द्वौ पञ्च लवणानि च ।
मातुलुङ्गाभयारास्नाशटीमरिचनागरम् ॥ १६८ ॥
कृत्वा समांशं तच्चूर्णं पिबेत् प्रातः सुखाम्बुना ।
श्लैष्मिके ग्रहणीदोषे बलवर्णाग्निवर्धनम् ॥ १६९ ॥

पिप्पल्याद्यचूर्ण—पिप्पली, पिप्पलीमूल, यवक्षार, सर्जिक्षार, पाँचों नमक (सैन्धव, सामुद्र, बिड, औद्भिद, सौवर्चल), मातुलुङ्ग (बिजौरा), हरड़, रास्ना, कचूर, कालीमिर्च, सोंठ; इनके चूर्णों को समांश में मिलाकर श्लैष्मिक ग्रहणी दोष में प्रातः सुहाते गरम जल से पीवे । यह बल वर्ण एवं अग्नि को बढ़ाता है । पिप्पल्याद्य चूर्ण में मातुलुङ्ग का रस डालकर भावना देनी चाहिये । गङ्गाधर मातुलुङ्ग की जड़ डालने को कहता है । मातुलुङ्ग के फल का छिलका भी दीपक है अतः कई उसे ही डालते हैं । मातृा—१ मासा ॥ १६८–१६९ ॥

एतैरेवौषधैः सिद्धं सर्पिः पेयं समारुते।
गौल्मिके षट्पलं प्रोक्तं भल्लातकघृतं च यत् ॥ १७० ॥

यदि कफ के साथ वात का भी अनुबन्ध हो तो इन्हीं औषधों के कल्क से सिद्ध किया घृत रोगी पीवे। अथवा गुल्मोक्त षट्पलघृत वा भल्लातकघृत का प्रयोग करे ॥ १७० ॥

क्षारघृतम्

विडं काचोत्थलवणं[1] सर्जिकायवशूकजम्।
सप्तलां कण्टकारीं च चित्रकं चेति दाहयेत् ॥ १७१ ॥
सप्तकृत्वः स्रुतस्यास्य क्षारस्य ह्याढकेन तु।
आढकं सर्पिषः पक्त्वा पिबेदग्निविवर्धनम् ॥ १७२ ॥

इति क्षारघृतम्।

क्षारघृत—बिडनमक, काचनमक, सर्जिक्षार, यवक्षार, सप्तला (सातला), छोटी कटेरी तथा चित्रक; इन सब को एकत्र कर जलावे। इस भस्म को छहगुना जल में घोल कर सात बार परिस्रुत कर ले। इस ४ आढक क्षारजल से २ आढक घी को पकाकर रोगी पीवे। यह अग्नि को बढ़ाता है। मात्रा—२ मासे।

चक्रपाणि ने काचोत्थलवणम् के स्थान पर 'काचोषलवणम्' यह पाठ पढ़कर काचलवण और क्षारनमक यह अर्थ किया है।

समूलां पिप्पलीं पाठां चव्येन्द्रयवनागरम्।
चित्रकातिविषे हिङ्गु श्वदंष्ट्रां कटुरोहिणीम् ॥ १७३ ॥
वचां च कार्षिकान् पञ्च लवणानां पलानि च।
दध्नः प्रस्थद्वये तैलसर्पिषोः कुडवद्वये ॥ १७४ ॥
चूर्णीकृतानि निष्क्वाथ्य शनैरन्तर्गते रसे।
अन्तर्धूमं ततो दग्ध्वा चूर्णं कृत्वा घृताप्लुतम् ॥ १७५ ॥

---

1 'काचोत्थलवणं' पा०।

पिबेत्पाणितलं तस्मिञ्जीर्णे स्यान्मधुराशनः ।
वातश्लेष्मामयान्सर्वान्हन्याद्विषगरांश्च सः ॥ १७६ ॥

पिप्पल्याद्यक्षार—पिप्पली, पिप्पलीमूल, पाठा, चव्य, इन्द्रजौ, सोंठ, चित्रक, अतीस, हींग, गोखरू, कटुकी, वच; प्रत्येक १ कर्ष, पांचों नमक (सैन्धा, सौंचर, बिड, औद्भिद, सामुद्र); प्रत्येक १ पल, दही ४ प्रस्थ, तिल-तैल ८ पल, गव्यघृत ८ पल; इन्हें एकत्र मिश्रित कर हांडी में डाल दें और नीचे मन्द मन्द आंच जलावें । जब जलीयांश सूख जाय तब नीचे उतार लें । और एक सकोरे में बन्द कर पुटपाक करें । पश्चात् निकाल कर चूर्ण कर लें । इस चूर्ण को घी में मिला १ कर्ष प्रमाण में रोगी पीवे । इस औषध के पच जाने पर मधुर आहार करना चाहिये । यह सब वातकफ रोगों को और विष एवं गरों (संयोगज विष) को नष्ट करता है । पुटपाक के स्थान पर हांडी में बन्दकर नीचे तीक्ष्ण आंच देकर भी अन्तर्धूम पाक किया जाता है । आज कल के नागरिकों के योग्य मात्रा—१ मासा ॥ १७३–१७६ ॥

भल्लातकाद्यक्षारः

भल्लातकं त्रिकटुकं त्रिफलां लवणत्रिकम् ।
अन्तर्धूमं द्विपलिकं गोपुरीषाग्निना दहेत् ॥ १७७ ॥
स क्षारः सर्पिषा पीतो भोज्ये चाप्यवचारितः ।
हृत्पाण्डुग्रहणीदोषगुल्मोदावर्तशूलनुत् ॥ १७८ ॥

भल्लातकाद्यक्षार—भिलावा, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली, हरड़, बहेड़ा, आंवला, सैन्धवनमक, सौंचरनमक, बिडनमक; प्रत्येक को २ पल प्रमाण में लेकर सकोरों में बन्दकर गौ के उपलों में पुटपाक करें । अथवा नीचे से उपलों की आग देकर जला लें । इस क्षार को घी के साथ पीने से अथवा अन्य भोज्य द्रव्यों में मिलाकर प्रयोग कराने

से हृद्रोग पाण्डु ग्रहणीदोष गुल्म उदावर्त तथा शूल नष्ट होता है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासे तक ॥ १७७-१७८ ॥

दुरालभाद्यक्षारः

दुरालभां करञ्जौ द्वौ सप्तपर्णं सवत्सकम्[1]।
षड्ग्रन्थां मदनं मूर्वां पाठामारग्वधं तथा ॥ १७९ ॥
गोमूत्रेण समांशानि कृत्वा चूर्णानि दाहयेत्।
दग्ध्वा च तं पिबेत्क्षारं ग्रहणीबलवर्धनम् ॥ १८० ॥

दुरालभाद्यक्षार—दुरालभा, दोनों करञ्ज (वृक्षकरञ्ज, लताकरञ्ज), सप्तपर्ण की छाल, कुटज की छाल, षड्ग्रन्था (वच), मैनफल, मूर्वामूल, पाठा, अमलतास; इनके समपरिमाण में मिश्रित चूर्ण में समांश गोमूत्र मिलाकर अन्तर्धूम जलावे। जलाकर इस क्षार को घी के साथ पीवे। यह ग्रहणी के बल को बढ़ाता है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासा तक ॥ १७९-१८० ॥

भूनिम्बाद्यक्षारः

भूनिम्बं रोहिणीं तिक्तां पटोलं निम्बपर्पटम्।
दहेन्माहिषमूत्रेण क्षार एषोऽग्निवर्धनः ॥ १८१ ॥

भूनिम्बाद्य क्षार—चिरायता, कटुकी, पटोलपत्र, नीम की छाल, पित्तपापड़ा; इन्हें समपरिमाण में मिश्रित कर भैंस के मूत्र से पेषण करके अन्तर्धूम दग्ध करे। यह क्षार अग्नि को बढ़ाता है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासा तक।

भैंस का मूत्र चूर्ण के समान लिया जायगा। क्योंकि पूर्व योग में गोमूत्र को मिलित चूर्ण के समान ही लेने का विधान है ॥ १८१ ॥

हरिद्राद्यक्षारः

द्वे हरिद्रे वचा कुष्ठं चित्रकः कटुरोहिणी।
मुस्तं च बस्तमूत्रेण सिद्धः क्षारोऽग्निवर्धनः ॥ १८२ ॥

---

१ 'दुरालभाकरञ्जौ च' ग.।

हरिद्राद्यक्षार—हल्दी, दारहल्दी, बच, कुष्ठ, चित्रक, कटुकी, मोथा; इनके समपरिमाण में मिलित चूर्ण को छागमूत्र से पीसकर अन्तर्धूम दग्ध करें। यह क्षार अग्निवर्धक है। मात्रा—४ रत्ती से १ मासे तक।

यहां पर भी छागमूत्र मिलित चूर्ण के समान ही लेना चाहिये।

क्षारगुडिका

चतुष्पलं सुधाकाण्डात्त्रिपलं लवणत्रयात्।
वार्ताकुकुडवं[1] चार्कादष्टौ द्वे चित्रकात्पले॥ १८३॥
दग्ध्वानि[2] वार्ताकुरसे गुलिका भोजनोत्तराः।
भुक्तं[3] भुक्तं पचन्त्याशु कासश्वासार्शसां हिताः॥ १८४॥
विसूचिकाप्रतिश्यायहृद्रोगशमनाश्च ताः।
इत्येषा क्षारगुटिका कृष्णात्रेयेण कीर्तिता॥ १८५॥

इति क्षारगुडिका।

क्षारगुडिका—सेहुण्ड का काण्ड (शुष्क) ४ पल, सैन्धव नमक १ पल, सौंचरनमक १ पल, बिडनमक १ पल, पके हुए सूखे बैंगन ४ पल, अर्क (मदार) का काण्ड ८ पल, चित्रक १ पल; इन्हें अन्तर्धूम दग्ध करके बैंगन के रस से घोटकर गोलियां बनावें। ये गोलियां भोजन के पश्चात् प्रयोग करानी चाहियें। ये गोलियां जितनी बार भी भोजन किया जाय उसे शीघ्र पचा देती हैं। कास श्वास एवं अर्श के रोगियों के लिये हितकर हैं। विसूचिका प्रतिश्याय और हृद्रोग को शान्त करती हैं। यह क्षारगुटिका कृष्णात्रेय ने कही है। मात्रा--४ रत्ती से १ मासा तक। अष्टाङ्गसंग्रह। चि० अ० १२ में भी--

'महावृक्षकाण्डचतुष्पलं द्विगुणार्ककाण्डं लवणत्रयत्रिपलं पक्व-वार्ताकुकुडवं चित्रकमूलपलद्वयं चान्तर्धूमं दग्ध्वा वार्ताकुरसेन गुलिकाः कुर्यात्, ता भोजनोत्तरं भक्षिता ग्रहणीदुर्नामविसूचिकालसककासश्वास-

---

१ 'वार्ताकीकुडवं' पा०। २ 'दग्ध्वा रसेन वार्त्ताकोर्गुटिकाः' पा०।
३ 'भुक्ता' पा०।

पीनसप्लीहपाण्डुश्वयथुमेहारोचकगुल्महराः ' ॥ १८३–१८५ ॥

वत्सकातिविषे पाठां दुःस्पर्शां हिङ्गु चित्रकम्।
चूर्णीकृत्य पलाशानां क्षारे मूत्रस्रुते पचेत् ॥ १८६ ॥
आयसे भाजने सान्द्रात्तस्मात्कोलं सुखाम्बुना।
मद्यैर्वा ग्रहणीदोषे शोथार्शःपाण्डुमान् पिबेत् ॥ १८७ ॥

वत्सकादियोग—कुटज की छाल, अतीस, पाठा, दुरालभा, हींग, चित्रक; इन्हें चूर्णित कर गोमूत्र से परिस्रुत पलाश (ढाक) के क्षारद्रव के साथ लोहे की कढ़ाई में पकावें। इसे गाढ़ा होने पर नीचे उतार लें। उसमें से एक कोल प्रमाण में लेकर कोसे जल से अथवा मद्यों से ग्रहणी-दोष शोथ अर्श और पाण्डुरोग में रोगी पीवे।

आजकल के नागरिकों के लिये एक कोल मात्रा बहुत अधिक है। इसे ४ रत्ती की मात्रा में प्रयुक्त कराना चाहिये ॥१८६--१८७॥

त्रिफलाद्यक्षारः

त्रिफलां कटभीं चव्यं बिल्वमध्यमयोरजः।
रोहिणीं कटुकां मुस्तं कुष्ठं पाठां च हिङ्गु च ॥ १८८ ॥
मधुकं मुष्ककयवक्षारौ त्रिकटुकं वचाम्।
विडङ्गं पिप्पलीमूलं स्वर्जिकां निम्बचित्रकौ ॥ १८९ ॥
मूर्वाजमोदेन्द्रयवान् गुडूचीं देवदारु च।
कार्षिकं लवणानां च पञ्चानां पलिकान्पृथक् ॥ १९० ॥
भागान्दाध्नि त्रिकुडवे घृततैलेन मूर्च्छितान्।
अन्तर्धूमं शनैर्दग्ध्वा तस्मात्पाणितलं पिबेत् ॥ १९१ ॥
सर्पिषा कफवातार्शोग्रहणीपाण्डुरोगवान्।
प्लीहमूत्रग्रहश्वासहिक्काकासक्रिमिज्वरान् ॥ १९२ ॥
शोषातिसारौ श्वयथुं प्रमेहानाहहृद्ग्रहान्।
हन्यात्सर्वविषं चैव क्षारोऽग्निजननो वरः ॥ १९३ ॥
जीर्णे रसैर्वा मधुरैरश्नीयात्पयसाऽपि वा।

त्रिफलादिक्षार--हरड़, बहेड़ा, आंवला, कटभी (अपराजिता वा किणिहि),चव्य, बेलगिरी,लोहभस्म, कटुकी, मोथा, कुष्ठ, पाठा, हींग,मुलहठी, मुष्कक (मोखा) का क्षार, यवक्षार, सोंठ, कालीमिर्च, पिप्पली,वच, वायविडङ्ग, पिप्पलीमूल,सर्जिक्षार,नीम की छाल,चित्रक, मूर्वामूल, अजवाइन, इन्द्रजौ, गिलोय, देवदारु; प्रत्येक १ कर्ष, सैन्धवनमक, सौंचरनमक, बिडनमक, औद्भिदनमक, सामुद्रनमक; प्रत्येक १ पल; इन्हें दही ६ कुडव और घी तथा तैल मिलित ६ कुडव में मिलाकर मन्द आंच से अन्तर्धूम जलावे । इसमें से १ कर्ष प्रमाण लेकर घी के साथ पीवे । यह कफवातज अर्श ग्रहणी पाण्डुरोग प्लीहा मूत्ररोध श्वास हिचकी कास क्रिमि ज्वर शोष अतिसार शोथ प्रमेह आनाह हृदय में वेदना तथा सब विषों को नष्ट करता है । यह क्षार श्रेष्ठ अग्निदीपक है । आधुनिक मात्रा--१ माशे से २ मासे तक । औषध के जीर्ण होने पर मधुर मांसरसों से अथवा दूध के साथ आहार करे ।

त्रिदोषे विधिवद्वैद्यः पञ्च कर्माणि कारयेत् ॥ १९४ ॥
घृतक्षारासवारिष्टान्दद्याच्चाग्निविवर्धनान् ।

त्रिदोषज ग्रहणी चिकित्सा--वैद्य त्रिदोषज ग्रहणी में विधिपूर्वक पञ्चकर्म करावे । और अग्निवर्द्धक घृत क्षार आसव एवं अरिष्टों का प्रयोग करे ॥ १९४ ॥

क्रिया या चानिलादीनां निर्दिष्टा ग्रहणीं प्रति ॥१९५॥
व्यत्यासात्तां समस्तां च कुर्याद्दोषविशेषवित् ।

जो वातज ग्रहणी आदि की चिकित्सा अभी कही जा चुकी है उसे दोषविशेष को जानने वाला वैद्य व्यत्यास क्रम से अथवा समस्त ही प्रयोग करावे । व्यत्यास से अभिप्राय पर्याय क्रम से है । वात पित्त और कफज ग्रहणी की चिकित्सा पर्याय क्रम से करे । अर्थात् जैसे प्रथम एक वार वातग्रहणीनाशक औषध अनन्तर एक वार पित्तग्रहणीनाशक और उसके पश्चात् एक वार कफग्रहणीनाशक औषध दे । पुनः इसीप्रकार वातग्रहणीनाशक

पित्तग्रहणीनाशक कफग्रहणीनाशक औषधें दे। इस प्रकार सन्निपात की चिकित्सा करे। यह पर्यायक्रम कहाता है। अथवा यदि तीनों दोषों की चिकित्सा को मिलाकर चिकित्सा करना उचित हो तो वैसा करे। अर्थात् वातग्रहणीनाशक पित्तग्रहणीनाशक और कफग्रहणीनाशक तीनों प्रकार के द्रव्यों को मिलाकर प्रयोग करावे।

गङ्गाधर की व्याख्या इस प्रकार है—वातज आदि प्रत्येक ग्रहणी रोग में जो जो चिकित्सा निर्दिष्ट की गई है उस ही समस्त चिकित्सा को सन्निपात में विपरीत भाव से करे। अर्थात् सन्निपात में जो क्रिया (उक्त) जिस दोष वा जिस जिस दोष के विपरीत हो उसे समझ कर करे। अथवा सन्निपात में जिस दोष की प्रधानता हो, वातज ग्रहणी आदि के निर्दिष्ट चिकित्सासमूह में से जिसे उस दोष की प्रधानतः नाशक समझे उसकी व्यवस्था करे ॥ १९५ ॥

स्नेहनं स्वेदनं शुद्धिर्लङ्घनं दीपनं च यत् ॥ १९६ ॥
चूर्णानि लवणक्षारमध्वरिष्टसुरासवाः[1] ।
विविधास्तक्रयोगाश्च दीपनानां च सर्पिषाम् ॥ १९७ ॥
ग्रहणीरोगिभिः सेव्याः,

स्नेहन स्वेदन शोधन लङ्घन और जो दीपन कर्म वा द्रव्य हैं उनका तथा चूर्ण लवण क्षार मध्वरिष्ट सुरासव (सुरा में औषध डाल कर सन्धित) अथवा सुरा और आसव, तक्र के विविध योग, दीपन घृत इनका ग्रहणी के रोगियों को सेवन करना चाहिये ॥ १९७ ॥

क्रियां चावस्थिकीं शृणु ।
ष्ठीवनं श्लैष्मिके रूक्षं दीपनं तिक्तसंयुतम् ॥ १९८ ॥

अब आवस्थिकी (रोगी की अवस्था के अनुसार) चिकित्सा कही जाती है, उसे हे अग्निवेश सुन—

श्लैष्मिक ग्रहणी में रूक्ष दीपन तथा तिक्तद्रव्यों के क्वाथ का कवलधारण कर कफ को निकालना

[1] 'मधुरक्षार०' ग.।

चाहिये । अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० १२ में तो इसप्रकार पढ़ा है—

'प्रसेके श्लैष्मिकेऽल्पाग्नेर्दीपनं रूक्षतिक्तकम् ।'

अर्थात् मन्दाग्नि पुरुष को श्लैष्मिक ग्रहणी में लालाप्रसेक होने पर दीपन रूक्ष एवं तिक्तद्रव्यों का प्रयोग कराना चाहिये । इसके अनुसार 'ष्ठीवनं' के स्थान पर 'ष्ठीवने' ऐसा पाठ ही शुद्ध प्रतीत होता है । कफज ग्रहणी में कफनिष्ठीवन वा लालाप्रसेक लक्षण विद्यमान हुआ करता है ॥ १९८ ॥

सकृद्रूक्षं सकृत्स्निग्धं कृशे बहुकफे हितम् ।
क्षीणक्षामशरीरस्य दीपनं स्नेहसंयुतम् ॥ १९९ ॥

यदि रोगी कृश हो परन्तु कफ की प्रधानता हो तो एक बार रूक्ष और एक बार स्निग्ध इस प्रकार पर्यायक्रम से (Alternately) औषध देनी चाहिये । क्योंकि यदि कफ के नाश के लिये कृश को केवल रूक्ष औषध दी जायगी तो वह अत्यन्त निर्बल हो जायगा और यदि कफ को ध्यान न करके उसके देह की कृशता को दूर करने लिए स्निग्ध औषध दी जायगी तो कफ की वृद्धि होकर अग्नि अत्यन्त मन्द हो जायगी और ग्रहणीरोग बलवान् हो जायगा ॥१९९॥

जिस रोगी का देह क्षीण एवं कृश हो परन्तु कफ की प्रधानता न हो स्नेहयुक्त दीपन औषध देनी चाहिये ।

'क्षीणक्षामशरीरस्य' के स्थान पर 'परीक्ष्यामं शरीरस्य' ऐसा पाठ उपलब्ध होता है । जिसके अनुसार अर्थ यह होता है कि देह के आमदोष की परीक्षा करके स्नेहयुक्त दीपनीय औषधें देनी चाहियें । गङ्गाधर ने आम का यहां अभिप्राय ग्रहणीदोष लिया है । परन्तु 'देह का ग्रहणीदोष' कहने में कुछ स्वारस्य नहीं, अतः 'क्षीणक्षामशरीरस्य' यही पाठ शुद्ध है ॥ १९९ ॥

दीपनं बहुपित्तस्य तिक्तं मधुरसंयुतम् ।

१ 'परीक्ष्यामं शरीरस्य' पा० ।

बहुवातस्य तु स्नेहलवणाम्लयुतं हितम् ॥ २०० ॥
सन्धुक्षति यथा वह्निरेषां विधिवदिन्धनैः ।

जिस ग्रहणी रोगी में पित्त की बहुलता हो उसके लिये तिक्त मधुररस युक्त तथा दीपन औषध हितकर है ।

जब वात की बहुलता हो तब स्निग्ध लवण एवं अम्ल द्रव्यों से युक्त दीपन औषधें हितकर होती हैं ।

जैसे ईंधन को विधिवत् डालने से आग भड़कती है वैसे ही उक्त विधिपूर्वक औषध वा आहार आदि के सेवन से ग्रहणी रोगी की अग्नि उद्दीप्त होती है ॥ २०० ॥

स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानलदीपनम् ॥ २०१ ॥
नालं स्नेहसमिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि ।

दुर्बल अग्नि को दीप्त करने के लिये स्नेह को ही उत्कृष्ट जानना चाहिये । घृत आदि स्नेह के यथावत् प्रयोग से प्रज्ज्वलित अग्नि को अच्छा भला गुरु अन्न भी शान्त करने में समर्थ नहीं होता ।

'दुर्बलानलदीपनम्' का अर्थ दुर्बल पुरुष की अग्नि को दीप्त करने वाला-ऐसा भी किया जाता है ॥ २०१ ॥

मन्दाग्निरविपक्वं तु पुरीषं योऽतिसार्यते ॥ २०२ ॥
दीपनीयौषधैर्युक्तां घृतमात्रां पिबेत्तु सः ।

जिस मन्दाग्नियुक्त ग्रहणीरोगी को अपक्व पुरीष का अतिसार होता है वह दीपनीय औषधों से युक्त घी की मात्रा को पीवे । परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि कफ अधिक न हो, कफ क्षीण हो । अष्टाङ्गसङ्ग्रह चि० अ० १२ में कहा भी है—

'मलमामं कफे क्षीणे मन्दाग्निर्योऽतिसार्यते ।
स पिबेत्सर्पिषो मात्रां दीपनीयौषधैर्युताम् ॥' २०२ ॥

तया समानः पवनः प्रसन्नो मार्गमाश्रितः ॥ २०३ ॥
अग्नेः समीपचारित्वादाशु प्रकुरुते बलम् ।

इसप्रकार घृत की मात्रा पीने से प्रसन्न (निर्दोष) हुआ समान वायु अपने मार्ग में आश्रित हुआ अग्नि के समीपचारी होने से शीघ्र उसके बल को बढ़ाता है ॥ २०३ ॥

काठिन्याद्यः पुरीषं तु कृच्छ्रान्मुञ्चति मानवः ॥ २०४ ॥
स घृतं लवणैर्युक्तं नरोऽन्नावग्रहं[1] पिबेत् ।

जो पुरुष मल की कठिनता के कारण कष्ट से मलत्याग करता है वह लवणों से युक्त घृत को अन्न के मध्य में पीवे ।

अष्टाङ्गसंग्रह का टीकाकार इन्दु 'अन्नावग्रह' का अर्थ अन्न से पूर्व—यह करता[2] है ॥ २०४ ॥

रौक्ष्यान्मन्दे पिबेत्सर्पिस्तैलं वा दीपनैर्युतम् ॥ २०५ ॥
अतिस्नेहात्तु मन्देऽग्नौ चूर्णारिष्टासवा हिताः ।

रूक्षता के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो दीपन द्रव्यों से युक्त घृत वा तैल को पीवे । यदि अतिस्निग्धता के कारण अग्नि मन्द हो तो चूर्ण, अरिष्ट और आसव हितकर होते हैं ॥ २०५ ॥

भिन्ने गुदोपलेपात्तु मले तैलसुरासवाः ॥ २०६ ॥
उदावर्तात्तु मन्देऽग्नौ निरूहाः स्नेहबस्तयः ।

गुदा के मललिप्त होने के कारण यदि मलभेद (मल का पतला होकर आना) हो तो तैल सुरा और आसवों का प्रयोग करना चाहिये ॥

उदावर्त के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो निरूह (आस्थापन बस्ति—रूक्षबस्ति) और स्नेहबस्तियां (अनुवासन) हितकर होती हैं।

दोषवृद्ध्या तु मन्देऽग्नौ शुद्धो दोषविधिं चरेत् ॥ २०७ ॥

---

१ 'अन्नावग्रहमन्नग्रहणेन गृहीत्वा' इति गङ्गाधरः । 'अन्नावग्रहमिति अन्नमध्यप्रयुक्तः' चक्रः। २ 'अन्नमवग्रहः प्रतिबन्धो यस्य अन्नात्पूर्वमित्यर्थः' इतीन्दुः ।

व्याधिमुक्तस्य[1] मन्दे तु सर्पिरेवा[2]ग्निदीपनम् ।

दोष की वृद्धि के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो संशोधन कर्म करने के पश्चात् उस २ दोष को शान्त करने वाली विधि का पालन करे । अष्टाङ्गसंग्रह में 'दोषविधि' के स्थान पर 'अन्नविधि' पढ़ा है—

'दोषातिवृद्धया मन्देऽग्नौ संशुद्धोऽन्नविधिं चरेत् ।'

इन्दु ने अन्नविधि से पेया आदि संसर्जनक्रम का तात्पर्य ग्रहण किया है । अर्थात् यदि दोष की अत्यन्त वृद्धि के कारण अग्नि मन्द हो तो संशोधन के पश्चात् पेया आदि क्रम का पालन करे ।

व्याधि से मुक्त होने पर यदि अग्नि मन्द हो तो उस समय घी को ही अग्निदीपक जानना चाहिये ।

गङ्गाधर ने यहां 'व्याधिमुक्तस्य' के स्थान पर 'व्याधियुक्तस्य' पढ़ा है, जिसके अनुसार वह कहता है—कि ग्रहणीरोग अतिसार ज्वर तथा रक्तज व्याधि आदि से युक्त ग्रहणीरोगी के अग्निमान्द्य में अग्निदीपक द्रव्यों से सिद्ध घृत का प्रयोग कराना चाहिये ॥ २०७ ॥

उपवासाच्च मन्देऽग्नौ यवागूभिः पिबेद् घृतम् ॥ २०८ ॥
अन्नाव[3]पीडितं बल्यं दीपनं बृंहणं च तत् ।

उपवास के कारण यदि अग्नि मन्द हो तो यवागू के साथ घी पीवे । अन्न से पीड़ित हुआ हुआ यह घृत बलकारक दीपन और पुष्टिकारक होता है । अन्न से पीड़ित होने के दो अभिप्राय लिये जाते हैं । एक तो कहते हैं कि भोजन करने से ठीक पूर्व यवागू के साथ घी का सेवन करना चाहिये । दूसरे कहते हैं कि इसका प्रयोग भोजन के मध्य में होना चाहिये तभी उसे अन्नावपीडित कहा जा सकता है ॥ २०८ ॥

दीर्घकालप्रसङ्गात्तु क्षामक्षीणकृशान्नरान् ॥ २०९ ॥

---

१ 'व्याधियुक्तस्य' ग. । २ 'सर्पिरेवेति केवलस्य निरौषधस्य सर्पिषः प्रयोगप्रदर्शनम्' । इतीन्दुः । ३ 'अन्नावपीडिते चालं' ग. ।

प्रसहानां रसैः साम्लैर्भोजयेत्पिशिताशिनाम् ।

दीर्घ काल तक किसी व्याधि से ग्रस्त रहने कारण शुष्क क्षीण वा कृश पुरुषों को मांसभोजी प्रसह पशुपक्षियों के मांसरसों से—जो अनार आंवला आदि के रस से अम्लीकृत हों—भोजन करावे ।

गङ्गाधर ने 'क्षामक्षीणकृशान्नरान्' के स्थान पर 'कामक्षीण-कृशान्नरान्' यह पाठ पढ़ा है । तब दो अर्थ हो सकते हैं । एक तो यह कि दीर्घकाल तक रोग से आक्रान्त रहने के कारण अत्यन्त क्षीण एवं कृश व्यक्तियों को मांसभोजी प्रसह पशुपक्षियों के मांसरस से भोजन करना चाहिये । दूसरा यह कि दीर्घ काल तक निरन्तर स्त्री-प्रसङ्ग करते रहने के कारण काम से क्षीण एवं कृश व्यक्तियों को मांसभोजी प्रसह पशुपक्षियों के मांसरस से आहार दे ॥ २०९ ॥

लघुतीक्ष्णोष्णशोधित्वाद्दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ॥ २१० ॥
मांसोपचितमांसत्वात्तथाऽऽशुतरबृंहणाः ।

लघु, तीक्ष्ण, उष्ण तथा शोधन गुण युक्त होने के कारण प्रसह पशुपक्षियों के मांस अग्नि को शीघ्र दीप्त करते हैं । तथा उस मांस के मांसभोजन से ही पुष्ट रहने के कारण अन्य मांस वा द्रव्यों की अपेक्षा शीघ्र बृंहण होता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में कहा है—

'लघूष्णकटुशोधित्वैर्दीपयन्त्याशु तेऽनलम् ।
मांसोपचितमांसत्वात्परं च बलवर्धनाः' ॥ २१० ॥

नाभोजनेन कायाग्निर्दीप्यते नातिभोजनात् ॥ २११ ॥
यथा निरिन्धनो वह्निरल्पो वातीन्धनावृतः ।

कायाग्नि (जाठराग्नि) सर्वथा भोजन न करने से दीप्त नहीं होती और ना ही अत्यधिक भोजन से दीप्त होती है । जैसे यदि आग में ईंधन न दें तब भी बुझ जाती है और यदि अग्नि अल्प हो और उस में बहुत सी ईंधन डाल दी जाय तब भी बुझ जाती है । अतः यदि

अग्नि को दीप्त रखना वा करना चाहते हैं तो उचित मात्रा में आहार का प्रयोग करना चाहिये ॥ २११ ॥

स्नेहान्नपानैर्विविधैश्चूर्णारिष्टसुरासवैः ॥ २१२ ॥

प्रयुक्तैर्भिषजा सम्यग्बलमग्नेः प्रवर्धते ।

वैद्य द्वारा सम्यक्तया प्रयोग कराये गये विविध स्नेह अन्नपान चूर्ण अरिष्ट सुरा एवं आसवों द्वारा अग्नि का बल बढ़ता है । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी—

'स्नेहासवसुरारिष्टचूर्णक्वाथहिताशनैः ।
सम्यक्प्रयुक्तैर्देहस्य बलमग्नेश्च वर्द्धते' ॥ २१२ ॥

यथा हि सारदार्वग्निः स्थिरः सन्तिष्ठते चिरम् ॥ २१३ ॥

स्नेहान्नविधिभिस्तद्वदन्तरग्निर्भवेत्स्थिरः ।

जैसे सारयुक्त लकड़ी की अग्नि स्थिरभाव से देर तक प्रज्वलित रहती है उसीप्रकार स्नेहयुक्त अन्नपान द्वारा अन्तरग्नि स्थिर भाव से प्रज्वलित रहती है । वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—

'दीप्तो यथैव स्थास्नुश्च बाह्योऽग्निः सारदारुभिः ।
सस्नेहैर्जायते तद्वदाहारैः कोष्ठगोऽनलः' ॥ २१३ ॥

अ० सं० चि० अ० १२ ।

हितं जीर्णे मितं चाश्नंश्चिरमारोग्यमश्नुते ॥ २१४ ॥

पूर्व भुक्त आहार के जीर्ण होने पर मात्रा में हितकर आहार करने से मनुष्य दीर्घ काल तक नीरोग रहता है ।

अवैषम्येण धातूनामग्निवृद्धौ यतेत ना ।

पुरुष को चाहिये कि धातुओं की समता को रखते हुए ही अग्निवृद्धि में प्रयत्न करे । अर्थात् वात आदि धातुओं की समता को दृष्टि में रखते हुए ही अग्नि की वृद्धि में प्रयत्नवान् होना चाहिये । ऐसी अग्निवृद्धि में प्रयत्न न करे जिससे धातुओं में

---

१ 'स्नेहाशनादिभिः' ग. ।

विषमता हो। यथा–पित्त के उद्रेक से भी अग्निवृद्धि होती है अतः कोई पित्त को वात आदि की अपेक्षा अधिक बढ़ाकर अग्निवृद्धि करना चाहे तो वह उचित नहीं। इसप्रकार की तीक्ष्णाग्नि रोग का कारण होगी।

समैर्दोषैः समो मध्ये देहस्योष्माग्निसंस्थितः ॥ २१५ ॥
पचत्यन्नं तदारोग्यपुष्ट्यायुर्बलवृद्धये।

देह में स्थित अग्नि की वह ऊष्मा वात पित्त कफ के समावस्था में होने पर समभाव से रहती हुई आरोग्य पुष्टि आयु और बल की वृद्धि के लिये अन्न को पचाती है ॥ २१५ ॥

दोषैर्मन्दोऽतिवृद्धो वा विषमो जनयेद्गदान् ॥ २१६ ॥

कफ पित्त और वात से मन्द अत्यन्त प्रवृद्ध वा विषम हुई अग्नि रोगों को उत्पन्न करती है। अर्थात् कफ से अग्नि मन्द होकर कफज रोगों को, पित्त से अतिप्रवृद्ध अग्नि पित्तज रोगों को और वात से विषम होकर वातज रोगों को उत्पन्न करती है ॥ २१६ ॥

वाच्यं[1] मन्दस्य तत्रोक्तमतिवृद्धस्य वक्ष्यते।
नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् ॥ २१७ ॥
स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति।
तथा लब्धबलो देहे विरूक्षे सानिलोऽनलः ॥ २१८ ॥
परिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः।
पक्त्वाऽन्नं स ततो धातूञ्छोणितादीन्पचत्यपि ॥ २१९ ॥
ततो दौर्बल्यमातङ्का[2]न्मृत्युं चोपनयेन्नरम्।
भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति ॥ २२० ॥

मन्दाग्नि की चिकित्सा अभी पूर्व कही जा चुकी है। अतिवृद्ध अग्नि की चिकित्सा अब कही जायगी—

जिस मनुष्य में कफ क्षीण हो उसमें वायु से अनुगत कुपित

---

१ 'पाच्यं' ग.। २ 'दौर्बल्यमातङ्कं' ग.।

हुआ पित्त अपनी ऊष्मा से अग्निस्थान (ग्रहणी) में स्थित अग्नि को बलवान् कर देता है । इसप्रकार वातयुक्त वह अग्नि रूखे देह में अपनी तीक्ष्णता के कारण अन्न का पराभव करके बारम्बार शीघ्र पचा देती है । अर्थात् वह अग्नि बलात् अन्न का शीघ्र पाक करती है । जब अन्न पच जाता है, रोगी को भूख लगती है, वह आहार करता है, वह आहार पुनः शीघ्र पच जाता है इत्यादि । यदि रोगी पुनः अन्न नहीं खाता तो भुक्त अन्न को पचाकर वह रक्त आदि धातुओं को भी पचाने लगता है । परिणाम यह होता है कि रोगी रोग से दुर्बल हो जाता है और अन्त में मृत्यु हो जाती है । इसे अन्यत्र भस्मकरोग कहा जाता है। इसमें अन्न के खा लेने पर शान्ति हो जाती है । परन्तु उसके पचते ही रोगी अत्यन्त बेचैन हो जाता है ॥ २१७–२२० ॥

तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ।

अत्यग्नि के कारण तृष्णा, श्वास, दाह और मूर्च्छा आदि विकार उत्पन्न हो जाते हैं । अष्टाङ्गसंग्रह चि० अ० १२ में भी कहा है—

'यदा क्षीणे कफे पित्तं स्वे स्थाने पवनानुगम् ।
प्रवृद्धं वर्धयत्यग्निं तदासौ सानिलोऽनलः ॥
पक्त्वान्नमाशु धातूंश्च सर्वानोजश्च संक्षिपन् ।
मारयेत, स्यात्स ना स्वस्थो भुक्ते, जीर्णे तु ताम्यति ॥
तृट्कासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ॥'

तमत्यग्निं गुरुस्निग्धशीतैर्मधुरविज्जलैः ॥ २२१ ॥
अन्नपानैर्नयेच्छान्तिं दीप्तमग्निमिवाम्बुभिः ।

अत्यग्निचिकित्सा—जैसे प्रज्वलित अग्नि को जल से शान्त किया जाता है वैसे उस अत्यग्नि (भस्मक) को गुरु स्निग्ध शीतल मधुर तथा विज्जल (पिच्छिल) अन्नपानों से शान्त करे। वृद्धवाग्भट ने भी कहा है—

' तमत्यग्निं गुरुस्निग्धमन्दसान्द्रहिमास्थिरैः ।

अन्नपानैर्नयेच्छान्ति दीप्ताग्निमिवाम्बुभिः '।चि०अ०१२ ॥२२१॥
मुहुर्मुहुरजीर्णेऽपि भोज्यान्यस्योपहारयेत् ॥ २२२ ॥
निरिन्धनोऽन्तरं लब्ध्वा यथैनं न विपादयेत् ।

पूर्व भुक्त आहार चाहे अभी पचा भी न हो रोगी को बार बार खाने को दे जिससे कदाचित् ईंधन न मिलने के कारण अवकाश पाकर वह अग्नि मृत्यु का कारण न होजाय। अभिप्राय यह है कि यदि भुक्त अन्न के पचने पर ही आहार खाने को दिया जाय तो कदाचित् ऐसा भी होसकता है कि पचते ही आहार उपलब्ध न हो, तो उस समय रोगी की रक्त आदि धातुओं का पचना प्रारम्भ हो जायगा। इसप्रकार धातुओं की क्षीणता होने से रोगी की मृत्यु हो जायगी । अतः भुक्त आहार के जीर्ण होने से पूर्व ही रोगी को आहार देते जाना चाहिये। उसके पचने की प्रतीक्षा न करनी चाहिये ॥ २२२ ॥

पायसं कृशरां स्निग्धं पैष्टिकं गुडवैकृतम् ॥ २२३ ॥
अद्यात्तथौदकानूपपिशितानि घृतानि च ।
मत्स्यान्विशेषतः श्लक्ष्णान्स्थिरतोयचरांस्तथा ॥ २२४ ॥

पायस (खीर), कृशरा (तिल चावल तथा उड़द की खिचड़ी) घृत आदि से स्निग्ध चावलों के आटे वा पीठी के बने भोज्य और गुड़ से बने खांड आदि द्रव्यों को रोगी खावे । तथा औदक (जलज) एवं आनूपदेश के पशुपक्षियों के मांस, घी और विशेषतः स्थिर जल में रहने वाली चिकनी मछलियों को खावे ॥ २२३—२२४ ॥

आविकं सघृतं मांसमद्यादत्यग्निनाशनम् ।
यवागूं समधूच्छिष्टां घृतं वा क्षुधितः पिबेत् ॥ २२५ ॥

तथा प्रभूतघृत युक्त भेड़ का मांस रोगी खावे । यह अत्यग्नि को नष्ट करता है । अथवा भूख लगने पर मोम से युक्त यवागू वा घी को पीवे ।

'यवागूं समधूच्छिष्टां' के स्थान पर अष्टाङ्गसंग्रह में 'पयः सह मधूच्छिष्टं' ऐसा पढ़ा है ॥ २२५ ॥

गोधूमचूर्णमन्थं वा व्यधयित्वा सिरां पिबेत् ।
पयो वा शर्करां सर्पिर्जीवनीयौषधैः श्रृतम् ॥ २२६ ॥

अथवा सिराव्यध करके गेहुओं के चूर्ण का मन्थ पीवे । गेहूं को भूनकर चूर्ण किया जायगा । पश्चात् जल आदि यथायोग्य द्रव से आलोडित कर रोगी को पानार्थ देना चाहिये । अथवा दूध वा खांड (शरबत) पीने को दें । अथवा जीवनीयगण की औषधों से साधित घृत का पान कराना चाहिये ॥ २२६ ॥

फलानां तैलयोनीनां मृत्कुश्चाश्च सशर्कराः ।
मार्दवं जनयन्त्यग्नेः स्निग्धा मांसरसास्तथा ॥ २२७ ॥

जिन फलों से तैल निकलता है (बादाम तिल आदि) उनका भोजन तथा खांडयुक्त मृत्कुश्च अर्थात् गरम जल में घोले हुए मिट्टी के ढेले का पीना तथा प्रभूत स्नेहयुक्त मांसरस का सेवन अग्नि को मृदु कर देता है ॥ २२७ ॥

पिबेच्छीताम्बुना सर्पिर्मधूच्छिष्टेन वा युतम् ।
गोधूमचूर्णं पयसा ससर्पिष्कं पिबेन्नरः ॥ २२८ ॥

अथवा मोम के साथ घी को मिलाकर शीत जल के साथ पीवे । अथवा गेहूं के आटे को प्रभूत घी में भूनकर उसे दूध के साथ पीवे ।

आनूपरससिद्धान्वा त्रीन्स्नेहांस्तैलवर्जितान् ॥ २२९ ॥
पयसा समितां चापि घनां त्रिस्नेहसंयुताम् ।

आनूप देश के मांसरस में साधित तैलरहित तीन स्नेह अर्थात् वसा मज्जा और घृत रोगी को पानार्थ दें ।

दूध के साथ घी वसा मज्जा डालकर आटा वा मैदे को पकावें जब गाढ़ा होजाय तब उतार कर रोगी को प्रयोग करायें ॥ २२९ ॥

नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम् ।

आभ्यां वा पायसं सिद्धमद्यादत्यग्निशान्तये ॥ २३० ॥

अथवा स्त्री के दूध के साथ गूलर की त्वचा को पीवे । अथवा स्त्रीदुग्ध और उदुम्बर की त्वचा से यथाविधि सिद्ध पायस (खीर) अत्यग्नि की शान्ति के लिये पीवे । प्रथम उदुम्बर (गूलर) की त्वचा से यथाविधि दूध को संस्कृत कर पश्चात् चावल डालकर खीर पकावे ॥ २३० ॥

श्यामात्रिवृद्विपक्वं वा पयो दद्याद्विरेचनम् ।
असकृत्पित्तहरणं[1] पायसप्रतिभोजनम् ॥ २३१ ॥
प्रसमीक्ष्य भिषक् प्राज्ञस्तस्मै दद्याद्विधानवित् ।

विधान को जानने वाला बुद्धिमान् चिकित्सक अच्छीप्रकार दोष बल आदि की विवेचना करके पित्त के हरने के लिये श्याममूल वाली निसोत से साधित दूध को बार बार विरेचनार्थ दे । विरेचन के पश्चात् रोगी खीर का भोजन करे ।

अथवा यह अर्थ भी हो सकता है कि श्यामत्रिवृत (काली निसोत) से साधित दूध को विरेचनार्थ दें । अथवा पित्त के नाश के लिये अनेक बार आहारकालों में खीर खाने को दे ॥ २३१ ॥

यत्किञ्चिन्मधुरं मेध्यं श्लेष्मलं गुरु भोजनम् ॥ २३२ ॥
तदत्यग्निहितं सर्वं भुक्त्वा प्रस्वपनं दिवा ।

अत्यग्नि में पथ्य—जो कोई द्रव्य मधुर मेदुर कफवर्द्धक और गुरु हो उन सब का भोजन तथा भोजन खाते ही दिन में सोना अत्यग्नि में हितकर है । अथवा भोजन खाते ही सो जाना और दिन में सोना प्रशस्त है क्योंकि दोनों ही प्रकार से कफ की वृद्धि होती है ॥ २३२ ॥

मेध्यान्यन्नानि योऽत्यग्नावप्रतान्तः[2] समश्नुते ॥ २३३ ॥

---

१ '०पित्तशान्त्यर्थं '। २ योऽत्यग्नावप्रशान्तः ' ग. ।

न तन्निमित्तं व्यसनं लभते पुष्टिमेव च ।

अत्यग्नि में जो ग्लानि (बेचैनी) से रहित व्यक्ति मेदुर अन्नों का सेवन करता है उसे उससे उत्पन्न होने वाले विकार नहीं होते, अपितु उससे पुष्टि ही होती है। अन्न के पचने पर होने वाली बेचैनी से पूर्व ही अत्यग्नि पुरुष को भोजन का आदेश पूर्व कहा ही जा चुका है।

कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानलः समः ।
समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये ॥ २३४ ॥

कफ के बढ़ जाने पर पित्त और वायु के जीते जाने पर सम हुई अग्नि समधातु (स्वस्थ) पुरुष के भुक्त अन्न को पुष्टि आयु और बल की वृद्धि के लिये पचाती है ॥ २३४ ॥

भवन्ति चात्र ।

पथ्यापथ्यमिहैकत्र भुक्तं समशनं मतम् ।
विषमं बहु वाऽल्पं वाऽप्यप्राप्तातीतकालयोः ॥ २३५ ॥
भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम् ।
त्रीण्यप्येतानि मृत्युं वा घोरान्व्याधीन्सृजन्ति वा ॥ २३६ ॥

समशन का लक्षण—एक ही काल में पथ्य और अपथ्य का एकत्र भोजन समशन कहाता है।

विषमाशन का लक्षण—बहुत वा स्वल्प भोजन अथवा आहार-काल से पूर्व वा आहारकाल के व्यतीत हो जाने पर भोजन विष-माशन कहाता है।

अध्यशन का लक्षण—पूर्व खाये गये अन्न के शेष रहने पर ही पुनः भोजन करना अध्यशन कहाता है। अर्थात् यदि पूर्व भुक्त आहार पूर्णभाव से पचा न हो और उस पर और खा लिया जाय तो उसे अध्यशन कहेंगे।

ये तीनों ही मृत्यु का कारण होते हैं अथवा घोर व्याधियों को उत्पन्न करते हैं ॥ २३५-२३६ ॥

प्रातराशे त्वजीर्णेऽपि सायमाशो न दुष्यति ।
दिवा प्रबोध्यतेऽर्केण[1] हृदयं पुण्डरीकवत् ॥ २३७ ॥
तस्मिन्विबुद्धे स्रोतांसि स्फुटत्वं यान्ति सर्वशः ।

प्रातःकाल किये भोजन के न पचने पर भी सायंकाल का आहार दोषावह नहीं होता । कारण, दिन में सूर्य द्वारा हृदय कमल के सदृश प्रबुद्ध होता है—अच्छीप्रकार अपना कार्य करता है । उसके प्रबुद्ध होने पर स्रोत सर्वशः खुल जाते हैं ॥ २३७ ॥

व्यायामाच्च विचाराच्च[2] विक्षिप्तत्वाच्च चेतसः ॥ २३८ ॥
न[3] क्लेदमुपगच्छन्ति दिवा तेनास्य धातवः ।

दिन में व्यायाम वा श्रम के कारण, गमनागमन के कारण तथा विविध कार्यों में चित्त के विक्षिप्त रहने के कारण उस समय रस आदि वा वात आदि धातु क्लेद को प्राप्त नहीं होते ॥ २३८ ॥

अक्लिन्नेष्वन्नमासिक्तमन्यत्तेषु[4] न दुष्यति ॥ २३९ ॥
अविदग्ध[5] इव क्षीरे क्षीरमन्यद्विमिश्रितम् ।
नैव दूष्यति तेनैव समं संपद्यते यथा ॥ २४० ॥

धातुओं के क्लेद को प्राप्त न होने पर ऊपर से भी खाया हुआ आहार दूषित नहीं होता । जैसे दूध यदि विकृत न हुआ हो उसमें और दूध मिला दें तो वह दूषित नहीं होता अपि तु उसी के सदृश हो जाता है ।

कई 'अन्यत्तेषु न दुष्यति' के स्थान पर 'अत्यन्तेन न दुष्यति' ऐसा पाठ पढ़ते है । अर्थात् क्लेद न होने के कारण ऊपर से किया गया भोजन अत्यधिक दूषित नहीं होजाता । उदर में अन्न के अधिक मात्रा में अवस्थित होने से कुछ दूषित तो हो सकता है ॥२३९-२४० ॥

रात्रौ तु हृदये म्लाने संवृतेष्वयनेषु च ।

---

१ 'प्रबुध्यते' पा० । २ 'विहाराच्च' च. । ३ 'नोत्क्लेदमुपगच्छन्ति' च. । ४ '०मत्यन्तेषु' ग । ५ 'अविदग्धेष्विव पयःस्वन्यत्पयःसंमिश्रितं पयः' ग. ।

यान्ति कोष्ठे च विक्लेदं संवृते देहधातवः ॥ २४१ ॥

रात्रि के समय हृदय के मुरझाये होने के कारण (अपने कार्य में शिथिल होने से), स्रोतों के मार्गों के बन्द होने से और कोष्ठ के संवृत (बन्द—आहार रस से भरे रहने के कारण) होने पर देह की धातुएं क्लेद को प्राप्त हो जाती हैं, उनमें सड़ांद उत्पन्न हो जाती है ॥२४१॥

क्लिन्नेष्वन्यदपक्वेषु तेष्वासिक्तं प्रदुष्यति ।
विदग्धेषु पयःस्वन्यत्पयस्तप्तेष्विवार्पितम् ॥ २४२ ॥

आहाररस के स्रोतों में वहन न होने के कारण एक स्थान पर ही रुके रहने से दूषित होने पर क्लेद होने लगता है । उस रस के क्लिन्न तथा अपक्व होने पर यदि और आहार कर लिया जाय तो वह दूषित हो जाता है । जैसे विदग्ध (अम्लीभूत) हुए गरम दूध में और दूध डाल दें तो वह भी विकृत हो जाता है, वैसे ही ॥ २४२ ॥

नैशेष्वाहारजातेषु नाविपक्वेषु बुद्धिमान् ।
तस्मादन्यत्समश्नीयात्पालयिष्यन्बलायुषी ॥ २४३ ॥

अतएव यदि रात्रि में किया गया भोजन पचा न हो तो बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिये कि अपने बल और आयु की रक्षा चाहते हुए कभी पुनर्भोजन न करे ॥ २४३ ॥

तत्र श्लोकाः ।

अन्तराग्निगुणा देहं यथा धारयते च सः ।
यथाऽन्नं पच्यते यांश्च यथाऽऽहारः करोत्यपि ॥ २४४ ॥
येऽग्नयो यांश्च पुष्यन्ति यावन्तो ये पचन्ति यान् ।
रसादीनां क्रमोत्पत्तिर्मलानां तेभ्य एव च ॥ २४५ ॥
वृष्याणामाशुकृद्धेतुर्धातुकालोद्भवक्रमः ।
रोगैकदेशकृद्धेतुरन्तराग्निर्यथाऽधिकः ॥ २४६ ॥

---

१ 'यान्ति कोष्ठे परिक्लेदं संवृते सर्वधातवः' पा० । 'परिक्लेदं यान्ति कोष्ठे संवृते देहधातवः' ग. ।

संदुष्यति यथा दुष्टो यान् रोगाञ्जनयत्यपि ।
ग्रहणी या समासाच्च ग्रहणीदोषलक्षणम् ॥ २४७ ॥
पूर्वरूपं पृथक् चैव व्यञ्जनं सचिकित्सितम् ।
चतुर्विधस्य निर्दिष्टा तथा चावस्थिकी क्रिया ॥ २४८ ॥
जायते च यथाऽल्पाग्निर्यच्च तस्य चिकित्सितम् ।
उक्तवानिह तत्सर्वं ग्रहणीदोषके मुनिः ॥ २४९ ॥

इत्यग्निवेशकृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते चिकित्सितस्थाने ग्रहणीरोग-
चिकित्सितं नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अध्यायोपसंहार—भगवान् आत्रेय मुनि ने ग्रहणीदोषचिकित्सिताध्याय में अन्तरग्नि (जाठराग्नि) के गुण तथा वह जिसप्रकार देह का धारण करती है, जिस प्रकार अन्न पचता है और आहार जिस प्रकार जिन्हें करता हैं, जो अग्नियां जिन्हें पोषण करती हैं, जितने प्रकार की अग्नियां हैं, जो जो अग्नियां जिन्हें पचाती हैं, रस आदि धातुओं की क्रमशः उत्पत्ति, उन्हीं धातुओं से मलों की उत्पत्ति, वृष्य पदार्थों के शीघ्र प्रभाव करने में हेतु, धातु समूह का कालोत्पत्तिक्रम अर्थात् कितने काल में धातुपरिवर्तन होता है, एक देश (अवयव) में रोगोत्पत्ति में हेतु, अन्तरग्नि की प्रधानता में हेतु, वह जैसे दूषित होती है, दुष्ट होकर जिन रोगों को उत्पन्न करती है, जिसे ग्रहणी कहते हैं (ग्रहणी की निरुक्ति), ग्रहणीदोष के संक्षेप से लक्षण, ग्रहणी के पूर्वरूप, पृथक् पृथक् चारों प्रकार की ग्रहणी के लक्षण और चिकित्सा, आवस्थिकी चिकित्सा, जिसप्रकार अल्पाग्नि होती है और उसकी चिकित्सा; ये सब विषय कह दिये हैं ॥२४४–२४९॥

इति ग्रहणीरोगचिकित्सा ।